लोक अर्थशास्त्र एवं लोकवित्त

(Public Economics and Public Finance)

[अल्पविकसित राष्ट्रों के विशिष्ट संदर्भ में]

(भारतीय विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्र एवं वित्तीय विभाग तथा वाणिज्य के छात्रों के लाभार्थ एक विस्तृत एवं आलोचनात्मक अध्ययन पर सर्वोत्तम पुस्तक)

लेखकगण

के० के० एण्डले
श्रीराम कॉलिज ऑफ कॉमर्स,
दिल्ली

के० पी० एम० सुन्दरम्
श्रीराम कॉलिज ऑफ कॉमर्स,
दिल्ली

प्रो० आर० सी० अग्रवाल
श्री जैन (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय,
बीकानेर (राज०)

पंचम् पूर्णतः संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण
१९७८

रतन प्रकाशन मन्दिर
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता
प्रधान कार्यालय : अस्पताल मार्ग, आगरा-३

पचम् पूर्णतः संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : १९७८

मूल्य : पच्चीस रुपये मात्र

प्रकाशक : रतन प्रकाशन मन्दिर

प्रधान कार्यालय : अस्पताल मार्ग, आगरा-३

शाखाएँ : न्यू मार्केट, राजामण्डी, आगरा-२
५६९३, नई सड़क, दिल्ली
मैस्टन रोड, कानपुर
खजांची रोड, पटना-४
गोराकुण्ड, इन्दौर।

प्रेमचन्द जैन द्वारा
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, १/११, साहित्य कुञ्ज, महात्मा गांधी मार्ग,
आगरा-२ मे मुद्रित

द्वितीय खण्ड

भारतीय लोकवित्त, अथवा राजस्व

(Indian Public Finance)

तृतीय खण्ड

आर्थिक पद्धतियाँ और राज्य जन-कल्याण की कसौटी पर
(Economic System and State in Relation to Welfare)

खण्ड १

लोकवित्त-सिद्धान्त

अथवा

सार्वजनिक वित्त-सिद्धान्त

[Public Finance—Theory]

१

लोकवित्त अथवा राजस्व की प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्व

(Nature, Scope and Importance of Public Finance)

प्रारम्भिक : लोकवित्त का अर्थ एवं परिभाषा :

लोकवित्त दो शब्दों के योग से बना है—लोक + वित्त। लोक (public) का अर्थ जनसमूह अथवा व्यक्तियो के समूह से अथवा सरकार या राज्य से है जबकि वित्त का अर्थ आर्थिक व्यवस्था से है। चूंकि यहाँ जनसमूह का अर्थ सार्वजनिक अधिकारियो से लगाया जाता है जिसमे राज्य के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करने वाली केन्द्रीय सरकार, राज्य-सरकारें, जिला-मण्डल, नगर-पालिकाएं एव ग्राम-पचायतें भी सम्मिलित हैं, अतएव इन सस्थाओ की आय-व्यय सम्बन्धी क्रियाओ का अध्ययन ही लोकवित्त कहलाता है। 'लोकवित्त' को 'राजस्व' भी कहा जाता है। सस्कृत शब्द 'राजस्व' निम्न दो अक्षरो से बना है—'राजन + स्व' जिसका अर्थ होता है 'राजा का धन', राजनैतिक दृष्टि से राजा को समाज का मुखिया कहते हैं। अतएव सरल अर्थों मे 'राजस्व' का अर्थ 'राजा के धन' या राजनैतिक दृष्टि से 'मुखिया के धन' से होता है। इस प्रकार 'राजस्व' के अन्तर्गत हम 'राजा के धन' का अध्ययन करते हैं कि राजा धन कहाँ से और किस प्रकार लाता है और उस धन को किस प्रकार व्यय करता ।

सरल शब्दो मे, लोकवित्त सरकार के वित्तीय पहलुओ (financial aspects) का अध्ययन है। इस शब्द की परिभाषा कई प्रकार से की गई है। एक लेखक के अनुसार, "राजकीय व्यय और राजकीय आय की प्रकृति तथा उसके सिद्धातो की खोज को ही लोकवित्त या राजवित्त कहते हैं।" किन्तु लोकवित्त की यह परिभाषा सकुचित है। इसका का·ण यह है कि सरकारी वित्त के केवल दो पहलुओ अर्थात् सरकार की आय तथा उसके व्यय के अध्ययन से ही यह अपना सम्बन्ध रखती है। अत: व्यावहारिक दृष्टि से वर्तमान समय मे इस परिभाषा को लागू नही किया जा सकता। १९वीं शताब्दी के एक सुप्रसिद्ध लेखक बैस्टेबिल के अनुसार, "लोकवित्त या राजवित्त राज्य की लोक सत्ताओ (public authorities) की आय तथा व्यय और उनके पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है जिसमे कि वित्तीय प्रशासन एव नियन्त्रण भी सम्मिलित है।" डा० डाल्टन (Dr Dalton) के अनुसार, "लोकवित्त के अन्तर्गत, लोक सत्ताओं के आय-व्यय तथा उनके पारस्परिक समायोजन का अध्ययन किया जाता है।"[1] प्रो० फिनलेशिराज के अनुसार, "लोकवित्त सार्वजनिक सस्थाओं की

---

1. Public Finance deals with the income and expenditure of public authorities and with the manner in which the one is adjusted with other. —*Dr. Dalton.*

पूँजीगत लाभो के दो महत्वपूर्ण स्रोत होते है। अधिकतर पूँजीगत लाभ कम्पनियो के शेयरो के मूल्य मे होने वाली वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। उन्नत अर्थव्यवस्था वाले देशो मे इसे सबसे बडा महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। दूसरे वास्तविक सम्पदा (real estate) के मूल्य मे भी वृद्धि हो सकती है और उसके फलस्वरूप पूँजीगत लाभ उत्पन्न होते है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी स्रोत (sources), जो कि पूँजी के मूल्य मे वृद्धि करते है, केवल गौण ही माने जाते है।

विभिन्न प्रकार के ऋण-पत्रो तथा भूसम्पत्तियो (landed property) के मूल्य मे (अर्थात् कीमत मे) वृद्धि होने के कारण है। सर्वप्रथम, मिश्रित पूँजी कम्पनियो (joint stock companies) के अशो (shares) के मूल्य मे होने वाली वृद्धि का एक बडा भाग इसलिए उत्पन्न होता है क्योकि उन कम्पनियो की कमाई (earnings) का व्यवसाय मे फिर से विनियोग (invest) कर दिया जाता है (तकनीकी भाषा मे, इसे लाभो का फिर से विनियोग कर देना कहा जाता है)। दूसरे, किसी विशेष कम्पनी के शेयरो के मूल्य मे इस कारण भी वृद्धि हो सकती है क्योकि उसकी कमाई करने की शक्ति (earning power) मे वृद्धि हुई है। कमाने की शक्ति मे वृद्धि अशत उन्नत प्रबन्ध व्यवस्था के कारण अशत प्रतियोगिता (competition) को कम करने अथवा उसे पूर्णतया समाप्त करने के कारण और अशत इस कारण होती है क्योकि व्यवसाय मे नवीन प्रक्रियाएँ (innovations) लागू की जाती है। तीसरे, जनसख्या की वृद्धि तथा आर्थिक क्रिया मे होने वाली सामान्य वृद्धि भी व्यवसाय की कमाई तथा भूमि के मूल्य मे होने वाली बढोतरी के लिए उत्तरदायी होती है। उदाहरण के लिए, भूमि के मूल्यो मे सबसे अधिक वृद्धि तब होती है जबकि ग्रामीण क्षेत्रो का नागरीकरण (urbanisations) किया जाता है। अन्त मे, यदि कभी ब्याज की बाजार-दर गिरती है तो कुछ निश्चित ब्याज-मूलक ऋण-पत्रो (interest-bearing securities) की कीमतें बढ जाती है।[1]

पूँजीगत लाभ और मूल्य-स्तर की समस्याएँ (Capital Gains and the Price Level Problems)

पूँजीगत लाभ निम्न दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) वास्तविक लाभ (real gains) तथा (२) भ्रामक अथवा मिथ्या लाभ (illusory gains)। प्रथम प्रकार के लाभ उच्चतर आय और उच्चतर आर्थिक कल्याण के सूचक होते है किन्तु दूसरे प्रकार के लाभ उच्चतर आय (higher income) के सूचक तो होते है, पर उच्चतर आर्थिक कल्याण के सूचक नही होते। प्रथम प्रकार के लाभ जहाँ सम्पत्ति (property) अथवा परिसम्पत्ति (asset) के मूल्य मे होने वाली वास्तविक अथवा यथार्थ वृद्धि को प्रकट करते है, वहाँ दूसरे प्रकार के लाभ सामान्य मूल्य-स्तर मे होने वाली वृद्धि की केवल अभिव्यक्ति मात्र है। एक उदाहरण द्वारा इस अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति ने ५ ००० रु० मे एक मकान खरीदा और वह इसको अब २०,००० रु० मे बेच सकता है, और मान लीजिए इस धनराशि से वह ४ मकान खरीदने मे समर्थ है। इस स्थिति मे, चूँकि उसके आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो गई है, अत निश्चय ही वह पहले से अधिक अच्छी स्थिति म होगा। उसकी इस प्रकार बढने वाली आय को वास्तविक अथवा शुद्ध पूँजीगत लाभ कहा जाता है। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति अपने ५,००० रु० मे खरीदे हुए मकान को २०,००० रु० मे बेच सकता है, परन्तु यदि वह समान आकार आदि का एक नया मकान खरीदना चाहता है तो उसे उसके लिए २०,००० रु० खर्च करना होगा। इस स्थिति मे, उसके आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि नही हुई, यद्यपि पूँजीगत लाभ अवश्य उत्पन्न हो गया है। इस दूसरे प्रकार के पूँजीगत लाभो को भ्रामक अथवा मिथ्या पूँजीगत लाभ कहा जाता है क्योकि ये कीमतो मे होने

---

1. मान लीजिए १०० रु० के अकित मूल्य (face value) वाले एक बॉण्ड पर ६% की दर से ब्याज मिलता है और मान लीजिए ब्याज की बाजारी दर गिरकर ४% रह जाती है। इस स्थिति मे बॉण्ड का बाजार मूल्य बढकर $100 \frac{6}{4} \times = 150$ रु० हो जायेगा। इस प्रकार ब्याज की बाजारी दर मे गिरावट से निश्चित ब्याज देने वाले ऋण-पत्रो (securities) का मूल्य बढ जायेगा। दूसरी ओर, बाजारी दर मे वृद्धि होती है तो उसके परिणामस्वरूप ऋण-पत्रो का मूल्य गिर जायेगा।

६

पूँजीगत लाभों का कराधान
(Capital Gains Taxation)

प्रारम्भिक—पूँजीगत लाभो से कैसा व्यवहार किया जाय ?

एक बड़ा ही भ्रमोत्पादक (confusing) तथा विवादास्पद (controversial), किन्तु साथ ही साथ नीति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण, प्रश्न यह है कि पूँजीगत लाभो मे कैसा व्यवहार किया जाये। कुछ देशो मे, पूँजीगत लाभो को आय के कराधान के क्षेत्र से बाहर रखा जाता है किन्तु कुछ अन्य देशो मे ऐसे लाभो से विशिष्ट (special) एव प्राथमिकता का व्यवहार (preferential treatment) किया जाता है। पूँजीगत लाभो से किये जाने वाले व्यवहार के प्रश्न ने अनेको समस्याओ को तथा इस सम्बन्ध मे ठोस विवाद को जन्म दिया है। यहाँ हम प्रश्न का अध्ययन हम निम्नलिखित तीन शीर्षको मे करेंगे —

(क) क्या पूँजीगत लाभ कर-योग्य आय (taxable income) का निर्माण करते है ? (Do capital gains constitute taxable income ?)

(ख) यदि पूँजीगत लाभ पर कर लगाया जाए, तो उसके लिए कौन-सा तरीका अपनाया जाए ? (If capital gains are to be taxed, what should be the method used for taxing them ?)

(ग) यदि ऐसे लाभो पर कर लगाया जाए, तो क्या उनके साथ अन्य सामान्य आय के समान ही व्यवहार किया जाए अथवा कोई विशेष व्यवहार किया जाए ? (If they are to be taxed, should they be treated like any normal income or should they be brought under special treatment ?)

पूँजीगत लाभों का अर्थ (Meaning of Capital Gains) :

पूँजीगत लाभो मे सम्पूर्ण सम्पत्तियो के मूल्य मे होने वाली सब वृद्धियाँ सम्मिलित होती हैं किन्तु इसमे व्यावसायिक क्रिया के रूप मे नियमित रूप से खरीदी और बेची जाने वाली वस्तुओं के व्यापारिक लाभ शामिल नही होते। यदि भूमि, भवन, पूँजीगत सामग्री, स्टाक और शेयर तथा ऐसी ही अन्य कोई सम्पत्ति उस मूल्य से अधिक पर बेची जाए जितने मे कि वह खरीदी गई थी तो कहा जाता है कि पूँजीगत लाभ प्राप्त हुआ, पूँजीगत लाभ एक प्रकार से सामान्य मूल्य-स्तर (general price level) मे होने वाली वृद्धि की ही केवल अभिव्यक्ति (manifastation) अथवा प्रकटीकरण है।

होने वाली सामान्य वृद्धि के अनुपात मे नही बढती। इसके अतिरिक्त, वे व्यक्ति जिन्हे पूँजीगत लाभ प्राप्त होता है, धनी बन जाते है और समाज मे पूँजीगत मूल्यो की गुण-ग्राहकता के कारण उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा मे वृद्धि होती है। यही नही, यदि पूँजीगत लाभो को भ्रामक माना जाता है तो लाभो या मजदूरियो अथवा ब्याजो मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि को भी भ्रामक अथवा काल्पनिक माना जा सकता है और उस स्थिति मे सभी को कर-मुक्त करना होगा।

पूँजीगत लाभो की प्रकृति (Nature of Capital Gains)

पूँजीगत लाभो का वितरण आय के विभिन्न वर्गों के बीच अत्यधिक आरोही तरीके से होता है। फिर भी, यह सम्भव है कि प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत व्यक्ति-व्यक्ति के बीच वितरण सम्बन्धी ठोस विभिन्नताएँ पाई जायें। उच्च आय वाले वर्गों मे पूँजीगत लाभो को आय का एक प्रमुख स्रोत माना जाता है। इसका कारण यह है कि सयुक्त पूँजी कम्पनियो के शेयरो तथा डिबेन्चरो व सरकारी ऋण-पत्रों का स्वामित्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे अपेक्षाकृत धनी वर्ग के लोगो के हाथो मे ही होता है। इसके अतिरिक्त ये लोग वास्तविक सम्पदा (real estate) के भी स्वामी होते है। अत स्टॉक और शेयरो तथा वास्तविक सम्पदा के मूल्य मे वृद्धि होने से उच्चतर आय वाले वर्गों को ही लाभ होता है। इस स्थिति मे यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि यदि पूँजीगत लाभो के साथ कोई अनुकूल व्यवहार किया जाये तो उसमे उच्चतर आय वाले वर्गों को लाभ होगा और इस प्रकार करो के ढाँचे का आरोहीपन (progressiveness) कम हो जायेगा।

पूँजीगत लाभ-कर के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क
(The Case for and against Capital Gains Tax)

जो लोग पूँजीगत लाभो को कर-योग्य आय (taxable income) मानते है वे स्वभावत ही इस बात का समर्थन करते हैं कि पूँजीगत लाभो पर एक विशिष्ट कर (specific tax) लगाया जाए। इनके अनुसार यदि पूँजीगत लाभो पर कर नही लगाया गया तो मजदूरी वेतन तथा अन्य लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की तुलना मे यह उन लोगो के प्रति पक्षपात होगा जो इस श्रेणी की आय प्राप्त करते हैं। यह कहा जाता है कि शेयर बाजार के सट्टे (stock exchange speculation) अथवा भूमि के स्वामित्व से होने वाली आय को पृथक् निकाल देना समता के दृष्टिकोण से भी न्यायोचित नही कहा जा सकता। वास्तव मे ये लोग वही होते हैं जो आर्थिक परिवर्तनो तथा औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ सर्वाधिक लाभप्रद स्थिति मे रहते है। इसके विपरीत, जो लोग पूँजीगत लाभो को उचित आय नही मानते, उनके मतानुसार ऐसे लाभो को या तो पूर्णतया कर-मुक्त कर दिया जाना चाहिए अथवा उनके साथ विशेष व्यवहार किया जाना चाहिए। अब हम इस सम्बन्ध मे पक्ष तथा विपक्ष के विभिन्न तर्कों पर विचार करेंगे तथा उनका मूल्यांकन करेंगे।

(I) पूँजीगत लाभ-कर के पक्ष मे तर्क (Arguments in favour of Capital Gains Tax)

(१) समता एव न्याय की दृष्टि से आवश्यक (Essential from the point of view of Equity and Justice)—पूँजीगत लाभ-कर के पक्ष मे सबसे अधिक शक्तिशाली तर्क यह दिया जाता है कि समता एव न्याय (equity) के दृष्टिकोण से इस कर का लगाया जाना आवश्यक है। पूँजीगत लाभ चूँकि आय का निर्माण करते हैं और चूँकि ये उन लोगो के कल्याण (welfare) मे वृद्धि करते हैं जो इन्हे प्राप्त करत हैं, अत इन पर कर लगाया ही जाना चाहिए। यदि पूँजीगत लाभो को कर-मुक्त कर दिया गया तो इसका तो यह अर्थ होगा कि कुछ कर-दाता शेष जन-समुदाय के व्यय पर उपहार (gift) प्राप्त कर रहे हैं। इसमें जो बुराई है, वह यह कि यह उपहार जनसमुदाय (community) के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित लोगो के बीच नही बाँटा जाना, अपितु केवल धनी व्यक्तियो को ही प्रदान किया जाता है, ऐसा इसलिए होता है क्योंकि (क) धनी व्यक्तियों के पास प्रतिव्यक्ति अधिक पूँजी होती है, (ख) दूसरे वे उस पूँजी को ऐसे विनियोगो (investments) मे लगा देते हैं जिनका मूल्य बढने की सम्भावनाएँ प्राय होती हैं। जैसा कि कैल्डोर (Kaldor) ने कहा है "पूँजीगत लाभो को आय के कराधान की परिधि से बाहर रखने के विचार का समता एव न्याय के आधार पर बिल्कुल भी समर्थन करने का अर्थ होगा करदाताओं के एक विशिष्ट वर्ग

वाली सामान्य वृद्धि के फलस्वरूप होते है (अर्थात् इस सामान्य वृद्धि के फलस्वरूप सभी सम्पत्तियो के मूल्य ऊँचे चढ जाते हैं)।

पूँजीगत लाभ तथा ब्याज की दरो के परिवर्तन (Capital Gains and Interest Rate Changes) :

ब्याज की दरो मे होने वाले परिवर्तन के परिणामस्वरूप जो पूँजीगत लाभ प्राप्त होते है उनको भी इसी प्रकार कुछ सिद्धान्त सम्बन्धी प्रश्नो का सामना करना होता है। ब्याज की दीर्घकालीन दर मे कमी होने से प्रचलित बॉण्डो की कीमतो मे वृद्धि हो जायेगी। कोई व्यक्ति यदि ऐसे बॉण्डो को बेचता है तो उसे पूँजीगत लाभ प्राप्त होगा। परन्तु यदि वह उस धन को फिर से अन्य बॉण्डो मे विनियोग (invest) कर देता है तो उसे पहले की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त नही होगी। अन्य शब्दो मे, ऐसा कोई परिवर्तन नही हुआ है कि जिससे उसके आर्थिक कल्याण मे वास्तव मे वृद्धि हो, और यदि इस दशा मे उसके पूँजीगत लाभो पर कर लगाया जाता है तो उसकी स्थिति पहले की अपेक्षा खराब हो जायेगी। एक उदाहरण द्वारा इसको और अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। मान लीजिए किसी व्यक्ति ने ४ प्रतिशत ब्याज वाले १०,००० रु० के बॉण्ड खरीद रखे हैं जिस पर उसको ४०० रु० वार्षिक की आय होती है। अब मान लीजिए बाजार मे ब्याज की दीर्घकालीन दर गिरकर २ प्रतिशत रह जाती है। इस स्थिति मे ४ प्रतिशत ब्याज वाले बॉण्डो का बाजार-मूल्य इनके प्रारम्भिक अंकित मूल्य से दुगुना हो जायेगा और यदि वह व्यक्ति अपने बॉण्डो को बेचता है। तो उसे २०,००० रु० प्राप्त होंगे—इसका अर्थ यह हुआ कि उसे १०,००० रु० का पूँजीगत लाभ प्राप्त हुआ। परन्तु यदि वह व्यक्ति अन्य बॉण्ड खरीदने का निश्चय करता है तो उसे ब्याज-प्राप्ति की अपनी पहली स्थिति को बनाये रखने के लिए अपनी सारी की सारी धनराशि फिर से विनियोग करनी होगी। अब यदि उसके पूँजीगत लाभो पर कर लगाया जाता है तो वह बचत की पुरानी दर को नही कायम रख सकता। इस प्रकार, एक अर्थ मे, यह पूँजीगत लाभ काल्पनिक अथवा मिथ्या है और इसे वास्तविक आय नही कहा जा सकता।

इसके विपरीत, यदि ब्याज की बाजार दर मे वृद्धि होती है तो चालू बॉण्डो की कीमते तो घट जायेंगी, परन्तु फिर भी उन बॉण्डो के स्वामी जब तक अपना धन उसमे विनियोग किये रखेंगे तब तक उनको कोई वास्तविक हानि नही होगी। किन्तु यदि पूँजी की हानियो को आय मे से घटाये जाने की अनुमति है तो उन बॉण्डो का स्वामी उन्हे बेच सकता है, उस हानि को अन्य आमदनियो मे से घटा सकता है, अपने धन को नये बॉण्डो मे फिर से विनियोग कर सकता है और इस प्रकार कर-कटौती का लाभ उठा सकता है।

अब, यदि कोई व्यक्ति बॉण्डो की कीमतें ऊँची हो जाने पर उन्हे बेच देता है तो यह हो सकता है कि वह उस समय तो पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी आर्थिक स्थिति मे न रहे जबकि वह उस धन को अन्य बॉण्डो मे फिर विनियोग करने का निश्चय करे, किन्तु यदि वह उस धन को अन्य वस्तुओं पर, मान लीजिए, उपभोग्य वस्तुओ (consumption goods) अथवा टिकाऊ वस्तुओ (durable goods) पर व्यय कर देता है या अनिश्चित आय वाले विनियोग (investments) मे लगा देता है, तब तो निश्चय ही उसकी आर्थिक स्थिति पहले से अच्छी हो जायेगी। इस प्रकार, एक अर्थ मे पूँजीगत लाभ जहाँ मिथ्या कृत्रिम है, वहाँ अन्य दृष्टिकोण से वे वास्तविक (real) भी है।

वे लोग जो पूँजीगत लाभो पर कर लगाये जाने का विरोध करते है—और स्वभावत ही उच्चतर आय वाले वर्ग ऐसा करते है—उनका कथन है कि सभी पूंजीगत लाभ भ्रामक (illusory) होते है अर्थात् ऐसे लाभ सामान्य मूल्य-स्तर मे होने वाली वृद्धि अथवा ब्याज की दरो मे होने वाली गिरावट के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते है। यदि इस विचारधारा को मान लिया जाए तो इसका अर्थ तो यह है कि पूँजीगत लाभो पर कर या तो बिल्कुल लगाया ही न जाए अथवा यदि लगाया ही जाये तो बहुत ही हल्के रूप मे। परन्तु स्पष्ट है कि इस विचार को स्वीकार नही किया जा सकता क्योंकि पूँजीगत लाभ सभी स्थितियो में वास्तविक (real) होते है। जब किसी परिसम्पत्ति (asset) का मान मूल्य के रूप मे बढता है तो उसका स्वामी उन श्रमिको तथा वेतन भोगी व्यक्तियों की तुलना मे अधिक अच्छी स्थिति मे हो जाता है जिनकी आय आमतौर पर कीमतो तथा मूल्यो मे

निष्कर्ष (Conclusion) :

ऊपर दिये गये समस्त तर्कों में, पूँजीगत लाभ कर के पक्ष में, स्पष्टत. सबसे अधिक शक्तिशाली तर्क है समता एवं न्याय का तर्क (equity argument)। जैसा कि प्रो० प्रेस्ट का कहना है, "यह एक शक्तिशाली तर्क है। और इसे अस्वीकार करना अथवा इसकी महत्ता को कम करना एक मूर्खता ही होगा।"[4]

(II) पूँजीगत लाभ-कर के विपक्ष में तर्क (Arguments against Capital Gains Tax) :

वे लोग जो पूँजीगत लाभो को आय के कराधान के क्षेत्र से पूर्णतया बाहर रखने का समर्थन करते है अथवा जो उनके विशिष्ट व्यवहार किये जाने की वकालत करते हैं, यह तर्क देते हैं कि पूँजीगत लाभ की किसी निर्धारित मात्रा की करदेय क्षमता (tax paying capacity) उतनी ही मात्रा की अन्य प्रकार की आमदनियो की करदेय क्षमता मे कम होती है। इसके कई कारण हैं।

(१) पूँजीगत लाभो का वास्तविक न होकर भ्रामक होना (Capital gains may not be real but illusory)—यह हो सकता है कि पूँजीगत लाभ वास्तविक (real) न हो बल्कि काल्पनिक अथवा भ्रामक (illusory) हो। यह बात हम पहले स्पष्ट कर चुके है कि मूल्य-स्तर की सामान्य वृद्धि के समय तथा साथ ही उस समय भी जबकि ब्याज की दरें गिरती हैं, पूँजीगत परिसम्पत्तियो (capital assets) के द्रव्यमूल्यो (money values) मे तो वृद्धि हो सकती है परन्तु यह हो सकता है कि उनके वास्तविक मूल्यो (real values) मे वृद्धि न हो। कुछ सीमा तक यह बात सत्य है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति अपनी उस परिसम्पत्ति (asset) को १०,००० रु० मे बेचता है जो कि उसने प्रारम्भ मे, ५,००० रु० मे खरीदी थी, तो कहा जाता है कि उसे पूँजीगत लाभ हुआ, परन्तु जब उसे पहले जितने मूल्य की ही परिसम्पत्ति प्राप्त करने के लिए १०,००० रु० खर्च करने पड़ते हैं तो इस स्थिति में पूँजीगत लाभ वास्तविक न होकर काल्पनिक बने होते हैं। ऐसा ही तब भी होता है जबकि ब्याज की दर गिर जाती है और निश्चित ब्याज वाले बॉण्डो के बाजार मूल्य बढ जाते हैं किन्तु इसके विपरीत, यह भी हो सकता है कि प्राप्त किये हुये पूँजीगत लाभों को उपयोगो मे लगा दिया जाय और इस प्रकार वह व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति मे हो सकता है इसके अतिरिक्त यह कहा जाता है कि भ्रामक किस्म (illusory type) के पूँजीगत लाभ (भले ही वे मूल्य स्तर मे वृद्धि के कारण हुए हो) कराधान के लिए उपयुक्त आधार हैं, क्योकि

(क) मुद्रा-स्फीति की अवधि मे सम्पत्ति धारण करने वाले व्यक्ति सामान्यत उन व्यक्तियो के मुकाबले अधिक अच्छी स्थिति मे होते हैं जिनके पास निश्चित आय वाले ऋण-पत्र (securities) होते हैं,

(ख) सामान्य रूप मे, उन व्यक्तियो को, जो कि ऐसे उपयोगो (investment) मे अपना धन लगाते हैं जिनके मूल्य बढ जाते हैं, हम उस श्रेणी मे रख सकते हैं जिन्हे स्फीति (inflation) के द्वारा न्यूनतम हानि पहुँचती है,और

(ग) "स्फीति से सम्बन्धित बुराइयाँ इतनी बडी हैं कि उनके कारण उत्पन्न होने वाले पूँजीगत लाभो का कराधान असमानताओ (inequalities) मे कोई गम्भीर वृद्धि नही कर सकता और उनको आंशिक रूप से प्रभावित कर सकता है।

फिर भी, कुछ लोगो ने यह सुझाव दिया है कि पूँजीगत लाभो को मूल्य स्तर के परिवर्तनो के सूचनाक (index number) द्वारा समायोजित (adjust) किया जा सकता है और ऐसा करके उन पूँजीगत लाभो को छोडा जा सकता है जो काल्पनिक अथवा भ्रामक (illusory) हो।

इसी प्रसग मे यहाँ कैल्डोर (Kaldor) की निम्नलिखित रुचिकर टिप्पणी का उल्लेख बड़ा सामयिक होगा : "केवल पूँजीगत लाभ ही नही, अपितु किसी भी किस्म की बचत भिन्न-भिन्न

---

4. Ibid. p. 296, "The argument is a strong one and it would be foolish to deny it or to minimise it."

के साथ अन्य करदाताओ के मुकाबले सविशेषाधिकार व्यवहार (privileged treatment) करना।"[2]

(२) **किराया मूल्यों में वृद्धि का आकर्षण** (Attraction of increase in rental values)—पूंजीगत लाभ-कर के समर्थन मे दूसरा महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि शहरी स्थानो (urbon sites) के किराया मूल्यो (rental values) मे जनसख्या तथा पूँजी की वृद्धि के साथ ही तेजी से बढने की प्रवृत्ति पाई जाती है। चूंकि शहरी स्थलो अथवा स्थानों का सम्भरण (supply) अपेक्षाकृत निश्चित होता है अत. भूस्वामियो को पूंजीगत लाभ प्राप्त होते है। इस आय पर कर लगाना उचित ही है। साथ ही इसके समर्थन मे एक अतिरिक्त तर्क यह भी दिया जाता है कि किराया मूल्यों मे वृद्धि के लिए भूस्वामी (land owners) उत्तरदायी नहीं होते। इसके अतिरिक्त, एक बात यह है कि शहरी स्थलो के पूंजीगत मूल्यो के लाभो पर कर लगाने से किसी भी विशेष क्षेत्र मे ऐसे स्थलो के सम्भरण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ेगा।

(३) **प्रतिचक्रीय गुण** (Counter cyclical properties)—पूंजीगत लाभो के कराधान के पक्ष मे तीसरे तर्क के रूप मे इसके प्रतिचक्रीय गुणो (counter cyclical properties) का उल्लेख किया जाता है। तेजी के काल मे, चूंकि पूंजीगत मूल्यो मे वृद्धि होती रहती है अत. पूंजीगत लाभो के कराधान (taxation) से सरकार को भी अपेक्षाकृत अधिक आय प्राप्त होती है। उस सीमा तक, यह कराधान देश मे प्रचलित तेजी की दशाओं (boom conditions) को कम करने मे सहायता करता है। इसके साथ ही, ब्याज की चालू दर मे वृद्धि हो जाती है, परिणामस्वरूप निश्चित ब्याज देने वाले बॉण्डो तथा अन्य ऋण-पत्रो (securities) के बाजार मूल्य मे भी गिरावट आ जाती है। इस प्रकार, पूंजीगत हानियो में वृद्धि होती है और वे गलत दिशा मे मुड़ जाती है। इस स्थिति से भी तेजी की दशाओ (boom conditions) को कम करने मे सहायता मिलती है। प्रो० प्रेस्ट (Prof Prest) का तो यह मत है कि आय के कराधन मे पूंजीगत लाभो को सम्मिलित करने से स्फीति-विरोधी (anti-flationary) अनुकूल प्रभाव पडते है। उनके अपने ही शब्दों मे : "पूंजीगत लाभो तथा उनके साथ ही अन्य आमदनियो पर लगाये जाने वाले आय-कर मे सभवतः, यद्यपि निश्चित रुप से नही, अधिक अच्छे प्रतिचक्रीय गुण पाये जाते है, बमुकाबले उस आय-कर के जो ऐसी आमदनियों पर लगाया जाता है कि जो सरकार को आय तो उतनी ही प्रदान करती है किन्तु उनमें पूंजीगत लाभो को सम्मिलित नही किया जाता। इसके अतिरिक्त, यदि हम आय-कर के इन दोनो विभिन्न रूपो के सापेक्षिक गुणो (relative merits) पर एक दीर्घावधि दृष्टिकोण से अपना ध्यान केन्द्रित करें तो पायेंगे कि यदि पूंजीगत लाभो को कर के आधार मे सम्मिलित किया जाता है तो दीर्घकालीन स्फीति सम्बन्धी प्रवृत्तियो (long Period inflationary tendencies) पर उसके अधिक अच्छे प्रभाव पडेगे।"[3]

(४) **कर परिहार का भय** (Fear of tax avoidance)—अन्त मे आय के कराधान के क्षेत्र से पूंजीगत लाभो को बाहर रखना ही काफी सीमा तक कर-परिहार (tax avoidance) के लिए उत्तरदायी रहा है। होता यह है कि कम्पनियो की कमाइयो (earnings) को फिर से व्यवसाय मे लगा दिया जाता है और बाद मे पूंजीगत लाभो के रूप में उनका वितरण कर दिया जाता है। परन्तु आश्चर्य तो इस बात पर है कि कभी-कभी पूंजीगत लाभो के कराधान का इस आधार पर विरोध किया जाता है कि यह कर-परिहार को घटाने की बजाए उसमे वृद्धि करता है।

---

2. Kaldor : Indian Tax Reform p 29, "The exclusion of capital gains from the scope of income taxation is quite indefensible on grounds of equity since it involves the privileged treatment of a particular class of taxpayer as against other."

3. A. R. Prest Public Finance, p 297, "An income-tax impinging on capital gains as well as other income will probably, though not decisively, have better counter cyclical properties than an equal revenue income-tax which does not include capital gains. Moreover, if we focus our attention on relative merits of the two variants of the tax over the longer period, there will be the better offsets, to long period inflationary tendencies of tax base includes capital gains."

हो सकता क्योंकि ऐसे पूँजीगत लाभ जनसंख्या की लगातार वृद्धि तथा औद्योगीकरण के दबाव के अन्तर्गत जमाबन्दी मूल्यों में होने वाली निरन्तर वृद्धि के ही प्रतीक होते हैं।

(४) सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर प्रभाव (Effect on the Transfer of Property)—पूँजीगत लाभकर, विशेष रूप से तब जबकि इसे आरोही (Progressive) बना दिया जाता है, सम्पत्ति के हस्तान्तरण (transfer) को प्रभावित कर सकता है और इस प्रकार शेयरों तथा बॉण्डो की खरीद की दिशा में द्रव्य-पूँजी (money capital) के प्रवाह की गति धीमी कर सकता है। इस तर्क का आशय यही है कि पूँजीगत लाभ कर या तो लगाया ही न जाए, और यदि लगाया जाए तो कर की दरें तुलनात्मक दृष्टि से नीची हों।

(५) विनियोजनों का बँधकर अथवा जमकर रह जाना (Investments Will Freeze)—यह दावा किया जाता है कि पूँजीगत लाभों पर यदि नियमित समयान्तरों (regular intervals) के पश्चात् उस समय कर लगाया गया जबकि पूँजीगत लाभ उपलब्ध हो तो इससे विनियोग (investments) अपने स्थान पर बधकर (freeze) रह जायेंगे क्योंकि उस स्थिति में लोग अपनी पूँजीगत परिसम्पत्तियों को बेचने में इसलिए हिचकिचायेंगे कि यदि उन्होंने ऐसा किया तो उन पर कर लग जायेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो इस सम्बन्ध में एक विशेष कानून में ऐसी व्यवस्था है कि पूँजीगत लाभ उत्पन्न तो हो जायें किन्तु यदि वे उपलब्ध मृत्यु तक भी न हो तो उन पर कभी कर नहीं लगता। इस व्यवस्था ने लोगों को, विशेषकर बूढ़े लोगों को, चालू विनियोगों को ही बनाये रखने के सम्बन्ध में बड़ा तीव्र एवं अनावश्यक प्रोत्साहन दिया है। इसे सामान्यतः "तालाबन्द समस्या" की संज्ञा दी जाती है।

(६) अंशों के क्रय को हतोत्साहित करना (Discourages purchase of shares)—पूँजीगत लाभों पर लगाये गये ऊँचे कर सामान्य अंशों (common shares) की खरीद को हतोत्साहित करते हैं और इस प्रकार सामान्य अंश पूँजी (equity capital) के प्रभाव को अवरुद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में ऊपर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

पूँजीगत लाभों पर कर लगाये जाने के विरुद्ध जो तीन अन्तिम तर्क दिये गये हैं वे अत्यन्त शंकास्पद हैं। उदाहरण के लिए, यह कहा जाता है कि विनियोग के अपने स्थान पर ही बँधकर रह जाने की समस्या अथवा 'तालाबन्दी की समस्या' इसलिए उत्पन्न नहीं होती क्योंकि पूँजीगत लाभों पर कर लगाये जाते हैं जबकि वे वसूल होते हैं। यदि इन लाभों पर उत्पन्न होने के आधार पर कर लगाये जायें तो पूँजीगत परिसम्पत्ति के विक्रय तथा हस्तान्तरण पर उससे कोई रोक नहीं लगेगी। इसके अतिरिक्त, एक बात यह है कि ये तर्क स्वयं पूँजीगत लाभ कर के विरुद्ध नहीं हैं, अपितु ये तो इस कर की अपेक्षाकृत नीची दरों की वकालत करते हैं।

(७) कर परिहार को प्रोत्साहन (Stimulate Tax avoidance)—पूँजीगत लाभ के कराधान का विरोध इस विचित्र आधार पर दिया जाता है कि इसको लागू करने से कर-परिहार (tax avoidance) कम नहीं होगा अपितु उसको और प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार का तर्क भारत की कराधान जाँच समिति (Taxation Enquiry Committee) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस समिति के अनुसार, "यदि अब पूँजीगत लाभों को लागू किया गया..........तो इससे कर-परिहार का खतरा उत्पन्न होगा क्योंकि इस स्थिति में लोग उन आमदनियों को भी पूँजीगत लाभों के रूप में हटा देने के प्रयत्नों के लिये प्रेरित होंगे जो कि अन्य स्थिति में कर-योग्य आय (taxable income) का ही एक भाग समझी जाती।"[7] जैसा कि कैल्डोर ने कहा है कि "उपर्युक्त विचार में इस तथ्य की उपेक्षा कर दी गई है कि पूँजीगत लाभों को पूर्णतया कर-मुक्त कर देने से तो निश्चय ही कर-परिहार को अपेक्षाकृत अधिक तीव्र प्रोत्साहन मिलेगा बमुकाबले उसके कि भेद मूलक

7. Report of the taxation Enquiry Committee, Vol I, p. 163, "If capital gains were to be introduced now ..... there is a danger of tax avoidance being stimulated by attempts to pass off as capital gains what may otherwise have been treated as part of taxable income."

मात्रा में "भ्रामक" हो सकती है और लगभग एक से कारणों से; अतः यह तर्क इस सम्बन्ध में तो कुछ वैधता या मान्यता (validity) रखता है कि कराधान के आधार के रूप मे (उपभोग अथवा शुद्ध सामर्थ्य की अपेक्षा) आय का चुनाव न किया जाये परन्तु इस सम्बन्ध में नही कि आय की परिभाषा के क्षेत्र मे पूँजीगत लाभो को ही सम्मिलित न किया जाये।"[5] अन्य शब्दो में, पूँजीगत लाभो को इस आधार पर अलग कर देना उचित नही है कि ये भ्रामक अथवा काल्पनिक हैं।

(२) **पूँजीगत लाभों को उपयुक्त आय नहीं माना जाता (Capital gains are not considerd as income proper)**—पूँजीगत लाभो को कोई उपयुक्त आय नही समझा जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि पूँजीगत लाभ नियमित रूप से होने वाली आवर्ती आय (recurrent income) नही है वल्कि यह एक आकस्मिक (casual) अथवा अलग-अलग से होने वाली (isolated) आय है। अनेक देश जहाँ आकस्मिक आय को आय के कराधान के क्षेत्र से बाहर रखते है, वहां कुछ देश ऐसे भी है जो ऐसी आय के साथ एक विशिष्ट और सामान्यतया अनुकूल (favourable) रीति से व्यवहार करना पसन्द करते है। इस बात से तो इन्कार नही किया जा सकता कि एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत अनावर्ती (non-recurrent or casual gains) उतनी करदान सामर्थ्य (taxable capacity) को जन्म नही देते जितनी कि उतनी ही मात्रा को आवर्ती आमदनियां (recurrent incomes) देती है। परन्तु यह सुझाव देना उचित नही है कि पूँजीगत लाभ अनेक प्रकार के अन्य ऐसी सभी लाभो से अधिक अनियमित (more irregular) है जिन पर कि कर लगाये जाते है। वास्तविकता तो यह है कि अधिकतर लाभ अनिश्चित तथा अनियमित ही होते है, कोई व्यवसाय जितना अधिक जोखिमपूर्ण होता है उससे प्राप्त होने वाले लाभ भी उतने अधिक अनिश्चित तथा अनियमित होते हैं। यदि इन लाभो पर कर लगाये जाते है तो फिर पूँजीगत लाभो पर भी कर क्यों नही लगाये जाने चाहिये ? यहां यह सुझाव देना भी गलत है कि सभी अनावर्ती अथवा आकस्मिक लाभ पूंजीगत लाभ हैं, क्योंकि यदि ऐसा माना गया तो इस रीति से अधिकाश व्यावसायिक आमदनियाँ कराधान से बचाई जा सकती हैं। प्रो० कैल्डोर का यह अर्थ निष्कर्ष ठीक ही है कि "जब तक और जिस सीमा तक कराधान आय पर आधारित है, आय की एकमात्र निष्पक्ष विचारधारा वही है जो वसूल किए गये सभी लाभों (gains) से समान व्यवहार करती है।"[6]

(३) **जोखिम युक्त उद्यमो में विनियोगों पर प्रतिकूल प्रभाव (Investments in risky enterprises are adversely affected)**—पूँजीगत लाभो के कराधान का इस आधार पर विरोध किया जाता है कि जोखिम वाले उद्यमो मे पूँजी के विनियोग करने की इच्छा पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार राष्ट्रीय आय की उत्पत्ति पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यह हो सकता है कि व्यवसायी (businessmen) ऐसे नये उद्यमो को आरम्भ करने के इच्छुक न हों जिनसे कि उन्हे पुरस्कारो (rewards) की प्राप्ति अशत. तो वेतनों के रूप मे और अशतः पूंजी की मूल्य-वृद्धि के रूप मे होने की सम्भावना हो, तथा पूंजीगत लाभ सरकार द्वारा करो के रूप मे हस्तगत कर लिये जाते हो। इस तर्क मे कुछ वजन अवश्य है, बशर्ते कि यह सिद्ध किया जा सके "कुछ किस्म के जोखिम वाले उद्यमो के पुरस्कार पूँजी की मूल्य-वृद्धि (capital appreciation) के रूप मे ही प्राप्त होते हैं उस रूप मे नही जिसे साधारण अर्थ मे आय कहा जाता है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि पूंजीगत लाभ-कर जोखिम वाले उद्यमो मे पूंजी के विनियोग की इच्छा को तथा साधनो (resources) के सभरण (supply) एव उस बँटवारे को प्रभावित कर सकते हैं। किन्तु इसके बावजूद, यह तर्क शहरी स्थलो से सम्बन्धित पूंजीगत लाभो के मामले मे लागू नही

---

5. Kaldor : op cit 30, "For not only capital gains, but any kind of saving may be, "illusory' in varying degree and for much the same reasons ; the argument, therefore, has some validity against the choice of income (rather than consumption, or net wealth) as the base of taxation but not against the inclusion of capital profits in the concept of income."

6. Ibid, p. 30, "So long as and to the that taxation is based on income, the only, impartial concept of income is that which treats all realised gains equally."

(ग) यह पूंजी बाजार में प्रतिभूतियों (securities) के स्वतन्त्र आवागमन को रोक सकता है। इससे अर्थव्यवस्था को गम्भीर परिणामों का सामना करना होगा क्योंकि औद्योगिक विकास की यह एक अनिवार्य शर्त होती है कि पूंजीबाजार में पूंजी का स्वतन्त्र रूप से आवागमन होता रहे।

इन तर्कों में से कुछ में वजन हो सकता है परन्तु ये एक अल्पविकसित देश में आय के कराधान से पूंजीगत लाभ कर को पृथक् रखने को न्यायोचित सिद्ध नहीं करते। यह कहा गया है कि इस कर से आय कम होगी। परन्तु ऐसा केवल प्रारम्भ के वर्षों में ही होगा। इसके दो कारण है प्रथम, तो यह है कि प्रशासनिक मशीनरी को इस विषय में अनुभव प्राप्त करना होगा कि समुचित रूप से कर-निर्धारण किस प्रकार किया जाए और इससे सम्बन्धित सभी मामलों से कैसे निपटा जाए ? दूसरे, यह हो सकता है कि प्रारम्भ में विकास की गति धीमी होने के कारण कर-निर्धारितियों (assessees) की संख्या अधिक न हो। परन्तु राजस्व के सम्बन्ध में ऐसी अल्पकालीन स्थितियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती, दीर्घकाल में अधिकाधिक औद्योगीकरण के साथ ही पूंजीगत लाभों के स्रोतों (sources) में वृद्धि हो जाती है—अर्थात् शेयर बाजार के सट्टे (stock exchange speculation) से तथा शहरी सम्पत्तियों के किराया मूल्यों (rental values) में वृद्धि होने से अधिक पूंजीगत लाभ होने लगते हैं।

इसके अतिरिक्त विनियोग (investment) पर कर का जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ने की बात कही गई है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। प्रारम्भिक चरणों में, चूंकि विनियोग बहुत थोड़ा होगा, अतः विनियोग पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी या तो बहुत कम होगा अथवा बिल्कुल नहीं होगा। यही बात पूंजीबाजार में ऋण-पत्रों के स्वतन्त्र आवागमन के सम्बन्ध में कही जा सकती है जिसे कि औद्योगिक विकास की एक अनिवार्य पूर्वशर्त माना जाता है। एक अल्पविकसित देश में, जो अनिवार्य शर्तें एवं दशाएँ आवश्यक होती हैं, वे हैं—सामाजिक एवं बंधी पूंजी (social and overhead capital), तकनीकी जानकारी एवं मशीनरी की व्यवस्था तथा स्थानीय बाजार का विस्तार और ये शर्तें आर्थिक क्रियाओं में सरकार द्वारा भाग लेने से पूरी हो सकती हैं।

वस्तुतः पूंजीगत लाभों के कराधान के पक्ष का प्रबल समर्थन राजस्व (revenue) सम्बन्धी बातों के आधार पर नहीं, अपितु समता एवं न्याय (equity) सम्बन्धी बातों के आधार पर किया जा सकता है। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था (developing economy) में, तीव्रगति से औद्योगीकरण करने का प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि पूंजीगत मूल्यों में वृद्धि होने लगती है। शहरी स्थलों (urban sites) की मांग बढ़ जाती है और उनके किराया मूल्य (rental value) ऊँचे हो जाते हैं। आर्थिक हलचल तीव्र हो जाती है और शेयरों के मूल्य इसलिए ऊँचे हो जाते हैं क्योंकि उनमें लाभ-प्राप्ति की अच्छी गुंजाइश होती है। इस सबका अधिकांश श्रेय आर्थिक क्रियाओं में सरकार के भाग लेने को दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार प्राप्त होने वाला अधिकांश धन कुछ भाग्यशाली व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है जो कि विकास के नये अवसरों में उसका उपयोग कर सकते हैं। अतः समता एवं न्याय (equity and justice) के दृष्टिकोण से तथा इस तर्क के कारण कि आर्थिक विकास के प्रतिफल का समुचित एवं समन्यायपूर्ण वितरण होना चाहिए, यह आवश्यक है कि इन नये धनिक वर्गों पर अधिक मात्रा में कर लगाये जाएँ, और पूंजीगत लाभ इस उद्देश्य की पूर्ति का एक अच्छा स्रोत बन सकते हैं।

राजस्व के विचार से भी, पूंजीगत लाभों का कराधान अल्पविकसित देशों के लिए एक अच्छा स्रोत बन सकता है। प्रो० कैल्डोर का यह मत है कि एक विकासशील देश में चूंकि कीमतों तथा लाभों में निरन्तर वृद्धि की एक सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है अतः पूंजीगत लाभ कर से राजस्व प्राप्ति की सम्भावनाएँ काफी अधिक हो जाती हैं। कैल्डोर ने भारत में ऐसे कर से २५ से ४० करोड़ रु० तक की वार्षिक आय का अनुमान लगाया था।[10]

एक विकासशील देश में पूंजीगत लाभ कर को लागू करने में बड़ी बाधा इसके प्रशासन की ही है। परन्तु प्रशासन-व्यवस्था को सरल एवं व्यापक बनाया जा सकता है और तीन उपायों

---

10. Kaldor : op. cit, p 17

व्यवहार (differential treatment) किया जाए और उसके कारण उत्तरदायित्व मे कमी हो जाए।"[8]

(८) प्रशासनिक समस्या (Problem of Administration)—पूँजीगत लाभो के कराधान की सबसे बड़ी समस्या प्रशासन सम्बन्धी है। प्रशासनिक कठिनाई के कारण ही अनेक देश इस कर को न लगाने को बाध्य हुए हैं, यद्यपि तथ्य यह है कि लगभग सभी देशो मे किसी न किसी प्रकार का पूँजीगत लाभ कर विद्यमान रहा है। इस सम्बन्ध मे कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयाँ विचारणीय अवश्य हैं, विशेष रूप से एक तो ऋण-पत्रों (securities) के सम्बन्ध मे जिनका कि स्टॉक बाजारों (stock markets) में कोई उल्लेख नहीं किया जाता, और दूसरी ऐसी अन्य परिसम्पत्तियों (assets) के सम्बन्ध मे जिनका कि एकदम बतलाया जा सकने वाला बाजार मूल्य नहीं होता। अन्य कठिनाई है, करदाताओं से जानकारी प्राप्त करने के सम्बन्ध मे, तथा उनकी जाँच पड़ताल एवं निरीक्षण के लिए उपयुक्त तरीके खोज निकालने के सम्बन्ध मे, आदि-आदि।

निष्कर्ष (Conclusion) :

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि पूँजीगत लाभ-कर के पक्ष मे सबसे प्रबल तर्क समता एवं न्याय (equity) का है और सबसे निर्बल तर्क है, प्रशासन (administration) का। उपसंहार के रूप मे यहाँ प्रो० कॅल्डोर के निम्न उद्धरण का उल्लेख करना उचित होगा : "पूँजीगत लाभो को आय के कराधान की परिधि से बाहर रखने के विचार का न तो समता एवं न्याय के आधार पर समर्थन किया जा सकता है (क्योंकि ऐसा करने का अर्थ होगा करदाताओ के एक विशेष वर्ग के साथ अन्य करदाताओ के मुकाबले सविशेषाधिकार व्यवहार करना) और न प्रशासनिक कार्य-कुशलता (administrative efficiency) के आधार पर (क्योंकि इससे करदाताओ को इस बात का अवसर मिलता है कि वे अपनी आय को कर-मुक्त लाभ (tax exempt gains) बताकर सरकारी अधिकारियो की दृष्टि से बचायें और लाभो को छिपायें)। इसका समर्थन केवल आर्थिक इष्ट सिद्धि (economic expediency) के आधार पर किया जा सकता है जिसमे कि यह आय के कराधान के उन कुप्रभावो को कम करता है जो बचतो (savings) पर तथा जोखिम उठाने पर, अर्थात् धन के सचय (accumulation) तथा उद्यम (enterprise) पर पड़ते हैं।"[9]

अल्पविकसित देश में पूँजीगत लाभ कर
(Capital Gains Tax in an Underdeveloped Country)

यदि सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश मे जहाँ कि पूँजीगत लाभो के लिए प्राथमिकता कर (preferential tax) लगा हुआ है और जहाँ ब्रिटेन जैसा देश एक विशिष्ट पूँजीगत लाभ कर की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के बारे मे विचार कर रहा है, वहाँ प्रश्न यह है कि एक अल्पविकसित देश मे ऐसे कर का क्या योगदान (role) होना चाहिए ? एक दृष्टिकोण से तो यह कर लगाया ही नही जाना चाहिए। इसको लागू करने की प्रशासनिक कठिनाई के अतिरिक्त यह कर इसलिए भी उपयुक्त (suitable) सिद्ध नहीं होगा क्योंकि :—

(क) कर से प्राप्त आय तुलनात्मक दृष्टि से कम होगी,

(ख) गैर-सरकारी विनियोग (private investment) पर कर का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अच्छा नही होगा और इसका राष्ट्रीय आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा,

---

8. Kaldor : op. cit. p 31-32, "The above view overlooks the fact that the complete exemption of capital gains must necessarily afford a far stronger stimulus to tax avoidance than the reduction of liability arising out of differential treatment"

9. Kaldor : op. cit. p 29, "The exclusion of capital gains from the scope of income taxation is quite indefensible on grounds on equity (since it involves treatment of a particular class of tax-payers as against others), or of administrative efficiency (since it enables tax-payers to comouflage income as tax-exempt gains and to conceal gains). It can only be supported on grounds of economic expediency, in that it reduces the ill effects of the taxation of income on savings and on risk-bearing i. e. on accumulation and enterprise."

आय की प्राप्ति तथा व्यय से सम्बन्ध सिद्धान्तो का अध्ययन है।"[2] श्रीमती यू० के० हिक्स (Mrs. U K. Hicks) के अनुसार, "लोकवित्त का मुख्य विषय ऐसी विधियों का अध्ययन एवं परीक्षण करना है जिसके द्वारा शासन सत्ताएँ आवश्यकताओ की सामूहिक सन्तुष्टि की व्यवस्था करती हैं तथा इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक कोषो को प्राप्त करती हैं।"[3] मैसर्स मेहता एवं अग्रवाल (Mehta and Agarwal) के शब्दो मे, "लोकवित्त मे राज्य के मौद्रिक एव साख साधनो के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है।"[4] लुट्ज के अनुसार, "लोकवित्त उन साधनो की व्यवस्था, सुरक्षा एव वितरण का अध्ययन करता है जिनको सार्वजनिक अथवा राजकीय कार्यों को चलाने के लिए आवश्यकता पडती है।"[5] लोकवित्त के एक उच्चकोटि के विद्वान, हैराल्ड ग्रोव्स ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है "लोकवित्त जाँच अथवा खोज का वह क्षेत्र है जो (सघीय, राज्यीय एव स्थानीय) सरकारो की आय तथा उनके व्यय से सम्बन्ध रखता है। वर्तमान समय मे लोकवित्त के अन्तर्गत चार तत्व सम्मिलित किये जाते हैं, वे ये हैं (i) सरकारी आय, (ii) सरकारी व्यय, (iii) सरकारी ऋण तथा (iv) सम्पूर्ण रूप मे राजकोषीय व्यवस्था (fiscal system) की कुछ समस्याएँ, जैसे—राजकोषीय प्रशासन तथा राजकोषीय नीति।"[6]

लोकवित्त का क्षेत्र
(Scope of Public Finance)

लोकवित्त की उपर्युक्त परिभाषाओ का अध्ययन करने पर हमे इसके क्षेत्र का बोध होता है। सरकार और उसकी सम्बन्धित संस्थाएँ जनकल्याण के लिए किस प्रकार धन एकत्रित करती हैं और किस प्रकार उसका व्यय करती हैं—यही लोकवित्त की विषय सामग्री अथवा क्षेत्र है। डा० डाल्टन (Dr Dalton) ने लोकवित्त के क्षेत्र के सम्बन्ध मे जो सीमा निर्धारित की है, वह हमे माननीय है। उनके अनुसार, "लोकवित्त अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र की सीमा पर स्थित है।" इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ सरकार को राज्य का शासन सुचारु रूप मे चलाने के लिए एक ओर तो राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तो का पालन करना पडता है, वहाँ दूसरी ओर जन कल्याण की अधिकतम वृद्धि के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का सहारा लेना पडता है, क्योंकि लोकवित्त अर्थशास्त्र का ही एक भाग है। लोकवित्त की विषय-सामग्री मे, जिसका निरन्तर विकास होता चला आ रहा है, निम्नलिखित पाँच विभागो को सम्मिलित किया जा सकता है —

(१) सरकारी अथवा सार्वजनिक आय (Public Income or Revenue)—इस विभाग मे सरकारी आय प्राप्ति के विभिन्न उपायों तथा करारोपण (taxation) के सिद्धान्तो को सम्मिलित किया जाता है। सरकारी आय प्राप्त करके ही सरकार अपने कार्यों को कुशलतापूर्वक सचालित कर पाती है।

---

2 "Public Finance is the study of the principles underlying the spending and raising of funds by public authorities" —*Findlay Shirras*

3 "The main content of public finance consists then of the examination and appraisal of the methods by which governing bodies provide for the collective satisfaction of wants and secure the necessary funds to carry out their purposes"—*Mrs U K Hicks*

4 "Public Finance, then constitutes a study of the monetary and credit resources of the state" —*Mehta and Agarwal*

5 Public Finance deals with the provision, custody and disbursement of the resources needed for the conduct of public or governmental functions —*H. L. Lutz*

6 *Financing Government. Fifth Edition*, p 1, "A field of enquiry that treats of the income and outgo of government (federal, state and local) In modern times, this includes four major divisions public revenue, public expenditure, public debt and certain problems of the fiscal system as a whole, such as fiscal administration and fiscal policy"

के द्वारा प्रशासनिक कार्य-कुशलता में वृद्धि की जा सकती है। ये तीन उपाय है : (क) एक सरल व व्यापक (simple and comprehensive) विवरण-पत्र, (ख) कराधान की स्वतः निरीक्षण की व्यवस्था (self checking system) और (ग) रिपोर्ट देने की स्वयचालित पद्धति। ऐसा वैयक्तिक कराधान की एक ऐसी व्यापक रूपरेखा बनाकर किया जा सकता है जिसमें कि आय-कर, पूँजीगत लाभ कर, वार्षिक धनकर, वैयक्तिक व्यय-कर और एक सामान्य उपहार कर सम्मिलित हो।

पूँजीगत लाभों के कराधान से सम्बन्धित प्रशासनिक समस्याएँ (Administrative Problems of Capital Gains Taxation)

पूँजीगत लाभ कर को लागू करने मे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक समस्याएँ सामने आती है। मुख्य कठिनाई समय के बारे मे उत्पन्न होती है कि यह कर कब और किस समय लगाया जाये ?

(क) उत्पन्न होने के आधार का उपयोग (The use of Accrual basis)—यदि व्यक्ति की व्याख्या उपभोग+शुद्ध आय मे वृद्धि के रूप में की जाती है, तो पूँजीगत लाभो पर उसी समय कर लग जाना चाहिए जैसे ही वह उत्पन्न अथवा उद्भूत (accrue) होता हो। पूँजीगत लाभ वैसे-वैसे लगातार उत्पन्न हो सकते है जैसे-जैसे और जब-जब सम्पत्तियो के मूल्यों मे वृद्धि हो जाए अथवा कम से कम प्रतिवर्ष उत्पन्न हो सकते है। पूँजीगत लाभ जैसे ही उत्पन्न हो वैसे ही उन पर कर लगाने का लाभ यह है कि इससे पूँजीगत लाभों तथा अन्य आमदनियों के बीच पूर्ण समान व्यवहार करने मे सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त, यदि पूँजीगत लाभो पर प्रतिवर्ष कर लगाया जाता है तो इससे पूँजीगत परिसम्पत्तियों की बिक्री के स्थगन (postponement) द्वारा होने वाले कर-परिहार (tax-avoidance) को रोका जा सकेगा और इस प्रकार विनियोग का एक ही जगह स्थिरीकरण (freezing) कम होगा। लेकिन इस स्थिति मे अनियमित आमदनियो का औसत निकालने की कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य करनी होगी।

किन्तु कराधान के उत्पन्न अथवा उद्भूत आधार (accrual basis) मे एक बडी गम्भीर प्रशासनिक कठिनाई सामने आती है। यह लगभग असम्भव है कि प्रत्येक करदाता की परिसम्पत्तियो (assets) का प्रतिवर्ष मूल्यांकन किया जाए। भारत जैसे देश मे तो यह समस्या और भी विशाल रूप मे विद्यमान है जहाँ कि जनसख्या का आकार तथा सम्पत्ति का विस्तार विशेष रूप से विचारणीय है। यही कारण है कि पूँजीगत लाभो पर केवल तभी कर लगाया जाता है जबकि वे वसूल किये जाते है।

(ख) वसूल करने के आधार का उपयोग (The use of Realisation basis)—जहाँ कही भी पूँजीगत लाभ कर प्रचलित है वहाँ वसूली आधार (realisation basis) का ही उपयोग किया जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत, पूँजीगत लाभो पर कर उस समय नही लगाया जाता जबकि वे उत्पन्न होते है, बल्कि उस समय लगाया जाता है जब और जैसे ही वे व्यक्तियो द्वारा वसूल किये जाते हैं—अर्थात् जब पूँजीगत परिसम्पत्तियाँ (capital assets) बेची जाती हैं। इससे कर का सग्रह अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। परन्तु वसूली आधार की व्यवस्था मे निम्न तीन मुख्य कठिनाइयाँ सामने आती है :—

(अ) इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीगत लाभ उससे भी अधिक अनियमित (irregular basis) हो जाते हैं जितने कि वे अन्य किसी स्थिति में होते। चूँकि पूँजीगत लाभ अनेक स्थितियो मे कई वर्षों की अवधि मे उत्पन्न होते है किन्तु वे वसूल केवल एक साल मे ही किये जाते हैं, अत. यदि आरोही दरो (progressive rates) से कर को लागू किया जाए तो उसका परिणाम अति-कराधान (over-taxation) के रूप मे सामने आता है। परन्तु यह कठिनाई पूँजीगत लाभो के औसत निकालने की किसी रीति द्वारा, कुछ सीमा तक दूर कर ली जाती है।

(आ) वसूली (realisation) के समय मे करदाताओं की वित्तीय सुविधा के अनुसार हेर-फेर की जा सकती है।

(इ) इस कर की विद्यमानता सामान्यत. सम्पत्ति की बिक्री मे बाधा उत्पन्न करती है—ऐसी सम्पत्ति की बिक्री मे जिस पर कि लाभ (gain) हो सकता है और इस प्रकार

विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति के स्वतन्त्र बाजार मे होने वाले समायोजनो (adjustments) मे हस्तक्षेप करती है।

कुछ महत्वपूर्ण सुझाव (Some important suggestions) :

समुचित पग उठाकर उपर्युक्त कठिनाइयो पर विजय पायी जा सकती है। उदाहरण के लिए, करदाताओ को इस बात की अनुमति दी जा सकती है कि वे कुछ वर्षो को उदाहरणत. ५ अथवा १० वर्षों तक की अवधि के पूंजीगत लाभो तथा अन्य अनियमित आमदनियो का औसत निकाल लें। इस रीति के द्वारा, अनियमित के प्रभावो को समाप्त किया जा सकता है और पूंजीगत लाभो पर भी अन्य आमदनियो के समान ही, बिना किसी विशेष व्यवस्था के कर लगाया जा सकता है। यही नही, पूंजीगत लाभो से (नीची दरो के रूप मे) विशेष व्यवहार भी किया जा सकता है जिसमे कि लाभो की वसूली के समय को परिवर्तित करने की प्रेरणाएँ कम की जा सकें। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूंजीगत लाभो से विशिष्ट व्यवहार करने से अन्य अनेक उलझनें उत्पन्न हो सकती हैं। यह हो सकता है कि लोग प्राथमिकता के व्यवहार (preferential treatment) का लाभ उठाने के उद्देश्य से अपनी अन्य आमदनियो को पूंजीगत लाभो मे परिवर्तित करने लगे। उदाहरणार्थ, यह सम्भव हो सकता है कि कम्पनियो के लाभो (profits) को लाभाशो (dividends) के रूप मे घोषित न किया जाए बल्कि-लाभो के रूप मे ही बनाये रखा जाए। इस स्थिति मे स्टॉक धारको (stock-holders) को जो लाभ प्राप्त होगा वह लाभाशो की आय के रूप मे नही बल्कि शेयरो के विक्रय से पूंजीगत लाभो के रूप मे प्राप्त होगा। सयुक्त राज्य अमेरिका मे एक बात आमतौर पर होने लगी, वह यह कि व्यक्तियो के प्रतिभूतियो (securities) को रखने के लिए विशेष नियन्त्रक कम्पनियाँ (special holding companies) बनायी गयी, उनकी कमाई को लाभाशो के रूप मे अदा न करके पुन विनियोग (invest) कर दिया गया। बाद मे नियन्त्रक कम्पनी को परिसमाप्त (liquidate) कर दिया गया और उसके लाभ पूंजीगत लाभो के रूप मे माने गये। तत्पश्चात् एक नई नियन्त्रक कम्पनी फिर चालू कर दी गई और पहली प्रक्रिया (process) आगे भी जारी रही। इस प्रकार, पूंजीगत लाभो के तरजीही व्यवहार का लाभ उठाने के लिये अनेक तरीके निकाले जा सकते हैं।

कुछ लेखको[11] के मतानुसार, पूंजीगत लाभो के साथ ऐसा व्यवहार कर सकना बड़ा कठिन है जो पूर्णतया सन्तोषप्रद हो। इसका कारण यह है कि पूंजीगत लाभो पर उनके उत्पन्न अथवा उद्भूत होने के आधार (accrual basis) पर लगाया गया कराघात—जो कि सबसे अधिक न्यायपूर्ण (most equitable) एव ऐसी रीति है जिसके प्रतिकूल आर्थिक प्रभाव न्यूनतम होते हैं—प्रशासकीय दृष्टि से सम्भाव्य नही है। किन्तु इसके बावजूद कुछ परिवर्तनो द्वारा स्थिति मे सुधार लाया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे प्रेस्ट (prest) के अनुसार कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव[12] निम्न प्रकार हैं :—

(अ) पूंजीगत लाभो मे छूट (exemption) की व्यवस्था नही होनी चाहिए, यहाँ तक कि उस समय भी नही जबकि परिसम्पत्ति (asset) चाहे मृत्युपर्यन्त रखी जाए अथवा किसी को स्थानान्तरित कर दी जाए।

(आ) पूंजीगत लाभो के बीच समय की उस अवधि के आधार पर कोई भेद नही किया जाना चाहिए जिसमें कि परिसम्पत्तियाँ रखी गई हो।

(इ) पूंजीगत हानियो की क्षतिपूर्ति सामान्य आय मे से नही की जानी चाहिए, अपितु तत्काल ही अथवा भविष्य में पूंजीगत लाभो मे से ही की जानी चाहिए।

(ई) पूंजीगत लाभ कर अधिकार (sur-tax) देने वाले ऐसे व्यक्तियो तक ही सीमित रहने चाहिए जिनके कर-निर्धारण अधिक व्यापक एव गहन रूप मे किये जा सकें।

---

11. John Due : Government Finance, p 152

12. A. R. Prest : op cit. 304-306.

पूंजीगत लाभ-कर, पूंजी कर तथा अनावर्ती पूंजी कर पर टिप्पणी
(A note on Capital Gains Tax, Capital Tax and Capital levy)

यहाँ यह सामयिक होगा कि पूंजीगत लाभ कर, पूंजीकर तथा अनावर्ती पूंजी कर के बीच भेद को संक्षेप मे स्पष्ट कर दिया जाये। पूंजीगत लाभ कर (Capital gains tax) वह कर होता है जो परिसम्पत्ति (asset) अथवा प्रतिभूति (security) के बढ़े हुए मूल्य पर लगाया जाता है। यह एक ऐसा कर है जो व्यक्ति द्वारा अधिकृत पूंजीगत परिसम्पत्तियो के मूल्य मे होने वाली वृद्धियो (increments) पर लगता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के पास १०,००० रु० के मूल्य के बॉण्ड है और वह उन्हे १५,००० रु० में बेच देता है, अब इस परिसम्पत्ति का बढा हुआ मूल्य ५,००० रु० ही पूंजीगत लाभ कहलायेगा और उस पर पूंजीगत लाभ कराधान के अन्तर्गत कर लगाया जायेगा। दूसरी ओर, पूंजी कर (Capital tax) पूंजीगत परिसम्पत्ति के मूल्य पर लगाया जाने वाला कर है और यह दो प्रकार से लगाया जा सकता है :—

(क) यह पूंजीगत परिसम्पत्ति से होने वाली वार्षिक आय पर लगाया जा सकता है। मान लीजिए, एक व्यक्ति के पास १०,००० रु० के बॉण्ड हैं जिन पर उसे ५ प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज मिलता है। इस स्थिति मे उन बॉण्डो की वार्षिक आय ५०० रु० कही जायेगी और यह आय पूंजी कर लगाने के आधार के रूप मे प्रयोग की जा सकती है।

(ख) यह पूंजीगत परिसम्पत्ति के वार्षिक मूल्य पर लगाया जा सकता है। कर की दर पूंजीगत परिसम्पत्ति के मूल्य के एक निश्चित अनुपात के रूप मे रखी जा सकती है अथवा यह भी हो सकता है कि पूंजीगत परिसम्पत्ति के आकार के अनुसार इसे आरोही (progressive) बना दिया जाये।

अन्त मे, अनावर्ती पूंजीकर (Capital levy) वह कर होता है जो सम्पूर्ण पूंजीगत परिसम्पत्तियो पर सदा के लिए केवल एक बार लगाया जाता है। यह "सदा के लिए केवल एक बार लगाया जाने वाला कर" (once-for-all-tax) है, यद्यपि यह हो सकता है कि करदाताओं से कर की राशि अनेक किश्तो मे वसूल कर ली जाए। यदि अनावर्ती पूंजीकर सम्पूर्ण पूंजीगत परिसम्पत्तियो पर किसी विशेष समय मे किसी विशेष उद्देश्य के लिए (उदाहरणतः, युद्ध के एकदम बाद बढ़े हुए राष्ट्रीय ऋण को भुगतान करने के लिए अथवा संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए) लगाया जाता है तो इसे सामान्य अनावर्ती पूंजीकर कहा जाता है। और यदि यह केवल कुछ पूंजीगत परिसम्पत्तियो पर ही लगाया जाता है तो इसे विशेष अनावर्ती पूंजीकर कहा जाता है और इस स्थिति मे यह उत्तराधिकार कर (Inheritance tax) का रूप ले लेता है।

पूंजीकर और अनावर्ती पूंजीकर एक दूसरे से काफी भिन्न हैं; तथापि उनका उद्गम स्थान सामान्य रूप से एक-सा वही है और वह है सामाजिक न्याय (social justice)। पूंजीकर को यदि यथेष्ट रूप मे आरोही बना दिया जाये तो उसका उद्देश्य धन तथा आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को कम करना होता है। इस कर के अनुसार चूंकि पूंजीगत परिसम्पत्तियो का स्वामी अपने धन का एक निश्चित भाग प्रतिवर्ष कर के रूप में अदा करेगा अतः उसके पास धन की मात्रा शनैः-शनैः कम होती जायेगी। इस प्रकार, इसके द्वारा धनी तथा निर्धन के बीच की खाई को पाटा जा सकता है। इसी प्रकार, पूंजीगत लाभकर पूंजीगत परिसम्पत्तियों के बढ़े हुए मूल्य के एक भाग को कर के रूप में लेकर उच्चतर आय वाले वर्गों की आर्थिक शक्ति (economic power) को कम करने का प्रयत्न करता है। अनावर्ती पूंजीकर (capital levy) भी कर दाता की पूंजीगत परिसम्पत्तियो के मूल्य को कम करने का प्रयत्न करता है परन्तु इसका प्रभाव लगातार न होकर यदाकदा ही होता है। दूसरी ओर, यदि अनावर्ती पूंजीकर उत्तराधिकार कर के रूप में लगाया जाता है तो इसका प्रभाव वैसा ही होगा जैसा कि पूंजी कर का होता है। यदि एक ऐसा कर, जो काफी आरोही (progressive) हो, सम्पत्ति के उत्तराधिकार के समय प्रत्येक बार लगाया जाये तो उसमे चोटी के धन (top wealth) को समाप्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है और वह धन तथा आय की तुलनात्मक समानता की दिशा में प्रभावशाली कार्य करता है। उत्तराधिकार कर के

अर्थों मे तो पूँजीकर तथा अनावर्ती पूँजीकर दोनो ही समान कहे जा सकते हैं। परन्तु यहां हमे यह बात भी नही भूलनी चाहिए कि अनावर्ती पूँजीकर राष्ट्रीय ऋण को कम करने अथवा किसी राष्ट्रीय सकट का सामना करने के उद्देश्य से केवल एक बार ही लगाया जा सकता है। साराशत., पूँजीकर तो एक नियमित कर है जबकि अनावर्ती पूँजीकर एक अनियमित कर रहा है। दूसरी ओर, पूँजीगत लाभ कर नियमित (regular) तथा अनियमित (irregular) दोनो ही प्रकार का हो सकता है। इसका नियमित अथवा अनियमित होना इस बात पर निर्भर है कि कराधान के किस आधार (basis) का प्रयोग किया जाता है। यदि उत्पन्न अथवा उद्भूत आधार (accrual basis) का प्रयोग किया जाता है तब तो पूँजीगत लाभ का पूँजी कर के समान ही नियमित वार्षिक कर बन जायेगा (अन्तर केवल इतना होगा कि जहां पूँजीगत लाभकर तो पूँजीगत परिसम्पत्तियो के मूल्य की वृद्धि पर लगाया जायेगा वहां पूँजी-कर स्वय पूँजीगत सम्पत्तियो के मूल्य पर ही लगेगा)। यदि वसूल करने के आधार (realisation basis) का उपयोग किया जाता है—और वस्तुत यही वह आधार है जिसका उपयोग किया गया है—तो पूँजीगत लाभ कर एक अनियमित कर कहलायेगा क्योकि यह पूँजीगत लाभो पर उस समय लगाया जायेगा जबकि कोई पूँजीगत परिसम्पत्ति (capital asset) बेची जायेगी और पूँजीगत लाभ वसूल किया जायेगा।

पूँजी पर कर उपर्युक्त तीनो प्रकारो मे से चाहे किसी भी रूप मे लगाया जाये, उसके विरुद्ध एक सामान्य ऐतराज उठाया जाता है और वह यह कि ये कर आय मे से नही अदा किये जाते बल्कि बचतो मे से दिये जाते हैं और इस प्रकार पूँजी के निर्माण को प्रभावित करते हैं जबकि पूँजी का निर्माण (capital formation) आर्थिक प्रगति एव कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह हो सकता है कि कर देने वाला कोई व्यक्ति अपनी बचत (saving) मे से पूँजीकर को अदा करे और विशेष रूप से तब जबकि कर का भार बहुत ज्यादा हो। परन्तु ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना सरल नहीं है क्योकि कर का भार बहुत ज्यादा होने की स्थिति मे भी व्यक्ति इस बात को प्राथमिकता दे सकता है कि वह कर अदा करने के लिए अपने उपभोग को कम करे अथवा अपनी आय को बढाये बमुकाबले इसके कि वह उसको अपनी उस पूँजी मे से अदा करे जिससे कि उसे समाज मे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। और उस स्थिति मे जबकि पूँजी कर अधिक भारी न हो, इसकी सम्भावना बहुत ही कम है कि कोई व्यक्ति कर की अदायगी के लिए अपनी बचतो मे से व्यय करेगा।

इसी प्रकार, अनावर्ती पूँजी कर, बशर्ते यह कि अत्यधिक ऊँची दर स ही न लगाया जाये, चालू आय मे से अदा किया जा सकता है। परन्तु अनावर्ती पूँजी कर का भार आमतौर पर बहुत अधिक होता है अत चालू आय (current income) मे से उसका पूरा भुगतान नही किया जा सकता, सचित धन का कुछ न कुछ भाग कर के भुगतान मे देना ही पडता है। परिणाम-स्वरूप बचतो पर इसका प्रभाव पडता ही है।

अन्त मे, पूँजीगत लाभ कितने ही अनियमित क्यो न हो, उन्हे आय ही माना जाता है, अत. पूँजीगत लाभो पर लगाया गया कर आय पर लगा हुआ कर ही माना जायेगा। बचतो पर लगा हुआ कर (tax) नही। परन्तु यहां हमे सम्पूर्ण समस्या को केवल सम्बन्धित व्यक्तियो के दृष्टिकोण से न देखकर समुदाय एव समाज के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। यदि यह मान भी लिया जाये कि पूँजी पर लगाये गये कर—चाहे वह पूँजी कर हो अथवा अनावर्ती पूँजी कर—गैर सरकारी क्षेत्र मे पूँजी के निर्माण तथा बचतो मे कमी करते है तो इनके प्रतिकूल प्रभावो की क्षतिपूर्ति सरकारी क्षेत्र (public sector) के पूँजी निर्माण द्वारा की जा सकती है बशर्ते कि सरकार पूँजी करो से प्राप्त कर आय (tax revenue) को विनियोग कार्यों मे लगाने को तैयार हो जाये। पूँजी के निर्माण मे कमी तो केवल तभी उत्पन्न होगी जबकि करदाता करो को अदा करने के लिए उपभोग की मात्रा घटाने के इच्छुक न हो अथवा सरकार ऐसे करो से प्राप्त निधियो (funds) का उपभोग समाज की उत्पादन-क्षमता (productive capacity) बढाने मे न करे। भारत जैसे विकासशील देश मे, जहां कि उत्पादन बढाने तथा उपभोग घटाने का भारी क्षेत्र विद्यमान है, पूँजी के निर्माण मे कमी की ऐसी स्थिति आने की सम्भावना नही है।

अनावर्ती पूँजी कर के गुण तथा दोष
(Merits and Demerits of Capital levy)
अथवा
अनावर्ती पूँजी कर के पक्ष व विपक्ष में तर्क
(Argument in favour and against capital levy)

पूँजीगत लाभ कर के गुणो तथा दोषो पर हम पहले ही विचार प्रकट कर चुके हैं। पूँजी कर के गुणो व दोषो की विवेचना हम अध्याय ६ के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ हम अनावर्ती पूँजी कर के गुण-दोष का ही सक्षेप मे वर्णन करेंगे।

अनावर्ती पूँजीकरो के सम्बन्ध मे विवाद तब उत्पन्न हुआ जबकि प्रथम विश्व युद्ध के एकदम पश्चात् इनके प्रस्ताव सामने आये। इस कर का प्रस्ताव उन भारी राष्ट्रीय ऋणों को कम करने के उद्देश्य से किया गया था जो कि स्वय युद्धकाल की ही देन थे। उस समय ब्रिटेन मे अनावर्ती पूँजीकर के पक्ष मे प्रस्तुत किए गये मुख्य तर्क निम्न प्रकार के थे :—

अनावर्ती पूँजीकर के पक्ष में प्रस्तुत किए गये तर्क (Arguments in favour of Capital levy)

(१) जनहित में होना—भारी मात्रा मे विद्यमान राष्ट्रीय ऋण ब्याज के रूप मे अर्थ-व्यवस्था पर एक स्थायी भार डाल रहे थे अतः उनके भुगतान के लिए भारी कराधान का आश्रय लिया गया। यह कहा गया कि यदि नागरिको की पूँजी का एक भाग लेकर उनका (ऋणो अथवा ब्याज का) भुगतान किया गया तो ऐसा करना जनहित मे ही होगा।

(२) एक ही बार भार डालना—कहा गया कि अनावर्ती पूँजी कर के अभाव मे, सरकारी ऋण (public debt) का भार आगे आने वाले वर्षों मे बँट जायेगा क्योकि करदाताओ पर प्रतिवर्ष नये-नये तथा भारी कर लगाकर उसको पूरा किया जायेगा। इस प्रकार अनावर्ती पूँजी कर केवल एक ही बार भार (burden) डालता है जो कि प्रतिवर्ष पड़ने वाले भार से अच्छा ही है।

(३) कर के रूप मे प्राप्त राशि का लौटाया जाना—वास्तव मे देखा जाये तो अनावर्ती पूँजी कर का भार पडता ही नही क्योकि सरकार कर के रूप मे जो धनराशि वसूल करती है वह सरकारी ऋण की वापिसी के रूप मे जनता के पास फिर लौट आती है। हाँ यह हो सकता है कि सरकारी ऋण-पत्रों तथा बॉण्डो के धारक (holders) उन लोगो से भिन्न हों जिन्हे कि अनावर्ती पूँजीकर का भार वहन करना है। परन्तु ऐसे कुछ इने-गिने उदाहरणों को छोडकर, समाज के धनी वर्ग के वे लोग जो कि अनावर्ती पूँजी कर के एक बड़े भाग का भार वहन करेंगे, वही लोग होगे जो कि सरकारी ऋण की वापिसी से लाभान्वित होंगे।

(४) न्यायोचित होना—यह भी कहा गया कि निम्नस्तर आय वाले वर्गों ने जहाँ युद्ध के भार को अपना खून और जीवन देकर वहन किया, वहाँ धनी वर्गो को कीमतो मे मुद्रा स्फीति सम्बन्धी वृद्धि (inflationery rise) के कारण तथा पूँजी के मूल्य मे युद्धकालीन वृद्धि के कारण लाभ हुआ। इस स्थिति मे यह न्यायोचित ही होगा कि धनी वर्गों के लोग, जिन्हे कि युद्धकाल मे आर्थिक दृष्टि से लाभ हुआ है, युद्ध की लागत मे हिस्सा बटायें और अनावर्ती पूँजीकर इस उद्देश्य की पूर्ति का बड़ा अच्छा साधन है।

अनावर्ती पूँजीकर के विपक्ष में प्रस्तुत किए गये तर्क (Arguments against capital levy).

इस प्रकार सामाजिक न्याय तथा आर्थिक तर्कों के आधार पर, सरकारी ऋण को कम करने के लिए अनावर्ती पूँजीकर लगाये जाने का पक्ष काफी ठोस दिखाई देता है। किन्तु फिर भी, अनावर्ती पूँजीकर को लगाये जाने का विरोध किया गया है। प्रथम, इसलिए, क्योकि अनावर्ती पूँजीकर लागू होने से तथा पूँजी के एक भाग द्वारा उसकी अदायगी करने से पूँजीगत परिसम्पत्तियो के मूल्य मे काफी गिरावट आने की सम्भावना होगी। और दूसरे, अनावर्ती पूँजीकर लोगो को इस

वात के लिए बाध्य कर सकता है कि वे बैंको तथा अन्य वित्तीय सस्थाओ से उधार लें और इस प्रकार साख के निर्माण (credit creation) मे भी वृद्धि सम्भावित है, फलस्वरूप लोगो के पास क्रयशक्ति की मात्रा मे वृद्धि हो सकती है। मुद्रास्फीति सम्बन्धी शक्तियाँ उस समय और भी मजबूत हो जायेंगी जबकि व्यक्तियो तथा सस्थाओ को सरकारी ऋण वापिस किया जायेगा।

निष्कर्ष (Conclusion) :

यद्यपि एक सामान्य अनावर्ती पूँजीकर के पक्ष का ठोस समर्थन नही किया जा सकता, फिर भी उत्तराधिकार कर के रूप मे लगाये जाने वाले अनावर्ती पूँजीकर के पक्ष मे काफी कहा जा सकता है और यही कारण है कि यह अधिकाश देशो मे करो के ढाँचे का एक नियमित अग बन गया है। और यदि कभी सामान्य अनावर्ती पूँजी कर (General capital levy) को लागू करना पडे तो इसका आश्रय केवल गम्भीर सकटकाल में ही लिया जाना चाहिए।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1 A R. Prest : Public Finance, Chapter 15.
2 N Kaldor . Indian Tax Reform, Chapter 3
3 John Due Government Finance, Chapter 8.
4. I. S Gulati Capital Taxation in a Developing Economy, Chap. 1 to 7.
5. L. H Seltzer The Nature and Tax Treatment of Capital Gains and Losses, Chapters 4 and 6-9.
6. Kaldor Indian Tax Reforms

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. पूँजी लाभ कराधान से क्या आशय है ? पूँजी लाभ कर के पक्ष तथा विपक्ष मे अपने तर्क दीजिए।
What is meant by Capital Gains Taxation ? Give your arguments in favour and against Capital Gains Taxation

२ पूँजीगत लाभ-कर, पूँजीकर तथा अनावर्ती पूँजीकर पर एक टिप्पणी लिखिए।
Write a note on Capital Gains Tax, Capital Tax and Capital Levy.

३. अल्पविकसित देश मे पूँजीगत लाभ-कर की विवेचना कीजिए।
Discuss the Capital Gains Tax in an underdeveloped country

४. पूँजीगत लाभो के कराधान से सम्बन्धित प्रशासनिक समस्याओ की विवेचना कीजिए तथा उन्हें हल करने के लिए सुझाव दीजिए।
Discuss the administrative problems relating to Capital Gains Taxation and give your suggestion to solve the same

७

निगम आय का कराधान
(Corporation Income Taxation)

प्रारम्भिक : निगम द्वारा व्यावसायिक क्रियाओं का संचालन :

अब तक हमने आय के कराधान का जो विवेचन किया है वह इस मान्यता पर आधारित था कि सभी आमदनियां अथवा आय (Incomes) प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों द्वारा प्राप्त की जाती हैं। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि ससार के अधिकाश प्रगतिशील देशों में व्यावसायिक क्रियाओं का एक बड़ा भाग निगम तथा सयुक्त प्रकृति के सगठनो द्वारा सचालित किया जाता है। भारत जैसे अल्पविकसित देशो मे भी कृषि के अलावा अन्य किस्म के व्यवसायों मे मिश्रित पूँजी कम्पनियाँ (joint stock companies) ही अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती जा रही है। एक मिश्रित पूँजी कम्पनी जिसे कि व्यावसायिक निगम (business corporation) भी कहा जाता है—आय उत्पन्न करने वाली इकाई तथा व्यक्तियों अथवा उन शेयर धारियो के बीच, जिनका कि कम्पनी पर अपना स्वामित्व होता है, पृथक् रूप से अपना एक कानूनी अस्तित्व रखती है। आय सर्वप्रथम कम्पनी को प्राप्त होती है जो कि कम्पनी द्वारा उसी समय शेयरधारियो मे बाँटी भी जा सकती है और नही भी। कम्पनी तथा व्यक्तिगत स्वामियो के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध ने तथा कम्पनी के पृथक् कानूनी अस्तित्व (separate legal existence) ने अनेक समस्याओ को जन्म दिया है।

आलोचकों (critics) ने निगम आय कर (corporation income-tax) को सैद्धान्तिक दृष्टि से निराधार, व्यावहारिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण तथा आर्थिक प्रगति के लिए विनाशात्मक कह कर इसकी आलोचना की है। इसके विपरीत, ऐसे लोग भी हैं जिन्होने इसका समर्थन किया है और इसे आरोही कर-पद्धति (progressive tax system) का एक आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण अग बताया है। यही नही, उन्होंने यह भी तर्क दिया है कि राजस्व के अन्य वैकल्पिक स्रोतों के मुकाबले इसके आर्थिक प्रभाव वाछनीय है अथवा अपेक्षाकृत कम हानिकारक है।

क्या व्यावसायिक निगमों पर कर लगाया जाये ?
(Should Business Corporations be Taxed)

यह तो सर्वमान्य बात है कि वैयक्तिक आय-कर को सभी प्रकार की निगम आय पर लागू नही किया जा सकता। परन्तु मूलभूत प्रश्न, जिसका कि समाधान होना चाहिए, यह है कि निगमों (corporations) पर कर लगाया भी जाना चाहिए अथवा नहीं।

निगमों पर कर लगाये जाने के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Corporation Taxation) :

हितानुसार सिद्धान्त (The Benefit Theory) :

निगम आयकर न्यायसंगत हैं—कुछ लोग निगम आय-कर को इस आधार पर न्यायोचित ठहराते हैं कि यह व्यावसायिक कार्य करने के लिए प्रदान किये जाने वाली विशेष सुविधाओं अथवा विशेषाधिकारों के बदले में वसूल किये जाने वाली रकम है। एक मिश्रित पूँजी कम्पनी राज्य पर आश्रित रहकर ही कार्य करती है और उसे जो अधिकार, शक्तियाँ, सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार प्राप्त होते है उनके लिए वह राज्य की ऋणी होती है। अतः यह कहा जाता है कि यदि राज्य कम्पनी को प्रदत्त कुछ विशेषाधिकारों के बदले में उससे कुछ रकम वसूल करने के लिए कोई विशेष कर लगाता है तो उसका ऐसा करना न्यायोचित है। कम्पनी को प्रदान किये जाने वाले जिन विशेषाधिकारों (privileges) का उल्लेख किया गया है वे ये हैं—अंशधारियों का सीमित दायित्व (limited liability), कम्पनी का चिरस्थायी अथवा शाश्वत जीवन (perpetual life), स्वामित्व का सरल हस्तान्तरण तथा वित्त प्राप्ति के विस्तृत साधन आदि। मिश्रित पूँजी कम्पनी की ये विशेषताएँ इस बात को सरल बना देती हैं कि वह अपने आकार (size) तथा अपनी शक्ति (power) में वृद्धि कर सके और वित्त प्राप्त के नये-नये स्रोतों तथा बाजारों का पता लगा सके। इन तत्वों पर ही कम्पनी के लाभों का एक बड़ा भाग निर्भर होता है।

निगम आयकर न्यायसंगत नहीं है—परन्तु निगम आय-कर के आलोचकों द्वारा हितानुसार सिद्धान्त अथवा विशेषाधिकार सिद्धान्त (privilege principle) की आलोचना की गई है। सर्वप्रथम तो इसलिए कि एक मिश्रित पूँजी कम्पनी को चालू करना आसान होता है और सरल-सी शर्तों का पालन करके कोई भी इसको प्रारम्भ कर सकता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इसको कोई विशेषाधिकार (special privilege) अथवा विशेष लाभ प्रदान किया गया है। दूसरे, प्राप्त लाभों को वास्तविक रूप में मापा नहीं जा सकता। तृतीय, जो विशिष्ट लाभ कम्पनियों को प्राप्त होते हैं वे ग्राहकों (customers) को भी उपलब्ध हो सकते है, इसके अतिरिक्त ये लाभ केवल उस सरकारी नीति के अनुसार ही दिये जाते हैं जो कि सार्वजनिक हित की रक्षा हेतु निगमों को विशेषाधिकार देने के लिए अपनाई जाती है।

निष्कर्ष (Conclusion)

उपरोक्त आलोचनाओं में यद्यपि अधिक बल नहीं है परन्तु प्राप्त लाभों एवं सुविधाओं के आधार पर निगम आय-कर की न्यायोचितता (justification) भी प्रत्यक्षतः तो अधिक वजनदार प्रतीत नहीं होती।[1]

सामाजिक व्यय का बँटवारा (Allocation of Social Costs)

कभी-कभी कम्पनियों के लाभों पर लगाये जाने वाले कर को इस आधार पर न्यायोचित सिद्ध किया जाता है कि कुछ ऐसे सामाजिक व्यय हैं जो कि उचित रूप से व्यवसाय (business) के ही नाम लिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षा तथा स्वास्थ्य से सम्बन्धित सार्वजनिक कार्यवाहियाँ श्रमिक जनसंख्या को प्रशिक्षित करती हैं तथा उसके स्वास्थ्य की रक्षा में सहायक होती हैं। सरकार कानून व व्यवस्था की स्थापना करती है, जनता की सम्पत्ति की रक्षा करती है, ठेकों को लागू करती है तथा धोखाधड़ी व जालसाजी को दण्डित करती है, आदि। यद्यपि यह सत्य है कि ये सेवाएँ एकता की भलाई के लिये की जाती हैं, ये अनिवार्य होती हैं तथा इन सेवाओं को प्रदान करना सरकार का कर्तव्य है, तथापि ये गैर-सरकारी व्यवसाय की आय उत्पादन करने वाली क्रियाओं (income producing activities) को सुविधाजनक बनाती हैं। धुएँ, गन्दी बस्तियों तथा दुर्घटनाओं आदि के रूप में जनता द्वारा सहन की जाने वाली असुविधाओं एवं बुराइयों को कम करने के लिए अन्य प्रकार का सामाजिक व्यय करना होता है। इन कार्यों में सरकार को

1 A. R. Prest: Public Finance, p 329

बड़ी-बड़ी धनराशियाँ व्यय करनी होती हैं, जो कि वस्तुत. व्यावसायिक इकाइयों द्वारा ही व्यय की जानी चाहिए।

समाजिक व्यय के अस्तित्व से तथा इन व्ययों का भार व्यावसायिक इकाइयो पर डाले जाने की आवश्यकता से कोई इन्कार नही कर सकता। परन्तु तथ्य यह है कि इस प्रकार का तर्क एक ऐसे कर का सुझाव देता है जो कि सभी किस्म के व्यावसायिक उद्यमों पर लगाया जाए, न कि केवल संयुक्त अथवा मिश्रित पूँजी कम्पनियो पर।

कर अदा करने की सामर्थ्य का सिद्धान्त (Ability-to-pay Theory)

सामान्य रूप से कर अदा करने की सामर्थ्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन निगम आय-कर की व्याख्या करने अथवा उसको न्यायोचित सिद्ध करने के लिए नही किया गया है, वास्तविकता तो यह है कि इस कर ने प्रायः अनेक बार सामर्थ्य-सिद्धान्त (ability principle) का उल्लघन किया है। परन्तु फिर भी, सामर्थ्य सिद्धान्त चूँकि एक अत्यन्त व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने वाला है अत. कुछ लोगो ने कम्पनी कराधान को सामर्थ्य सिद्धान्त से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है। प्रोफेसर रिचार्ड गौडे (Prof. Richard Goode) ने सामर्थ्य सिद्धान्त की एक सामाजिक व्याख्या करने का प्रयास किया है—अर्थात् सामाजिक लाभदायिकता की कसौटी। परन्तु वे इस बात को स्पष्ट करने मे असमर्थ रहे है कि सामर्थ्य सिद्धान्त का प्रयोग निगम आय-कर को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए किया जा सकता है या नही।[2] ससार के अनेक देशो मे, निगम कराधान की वर्तमान पद्धति निर्धन तथा धनी अश धारियो के बीच असमानता उत्पन्न करती है क्योकि इसके अन्तर्गत निर्धन अशधारियो को अधिक अदायगी करनी पडती है और धनी शेयरधारियो को अपेक्षाकृत कम। किन्तु इस सबके बावजूद, निगम के लाभो पर कर को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है कि (अ) निगम लाभ (corporation profits) बडी-बडी आय तथा बडी मात्रा मे धन की प्राप्तियो का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत बनते है और इस प्रकार आर्थिक असमानता उत्पन्न करते है तथा (आ) वे निष्क्रिय बचतो के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत का निर्माण करते है। अत ऐसे लाभो पर कर लगाना न्यायोचित ही प्रतीत होता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप मे, यह कहा जा सकता है कि निगम आय-कर का समर्थन आमतौर पर किसी विशुद्ध सिद्धान्त के आधार पर नही किया जाता, बल्कि कराधान के तथाकथित दोषान्वेषी नियम (so-called 'cynical' rule of taxation) के आधार पर किया जाता है—अर्थात् यह कर व्यवहार मे अच्छी प्रकार प्रचलित है और सरकार को अच्छी आय प्रदान करता है। सरकारी आय की उत्पादकता (revenue productivity) के अतिरिक्त, यह कर प्रशासनिक दृष्टि से बडा सुविधाजनक है। यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि व्यवहार में प्रत्येक कर-पद्धति (tax system) तथा प्रत्येक वैयक्तिक कर (individual tax) समन्याय (equity) आर्थिक वाछनीयता (economic desirability), प्रशासनिक सम्भाव्यता (administrative feasibility) तथा राजनैतिक उपयुक्तता (political expediency) के प्रतियोगी दावो (competing claims) के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करता है। सभी मुख्य करो मे गुण तथा अवगुण दोनो ही पाये जाते है, परन्तु जब राजस्व पक्ष को सर्वप्रमुख माना जाए तो अवगुणो को दृष्टि से ओझल करना ही होता है। जहाँ तक निगम आय-कर का प्रश्न है, भेदमूलक राजस्व व्यवस्था (diversified revenue system) मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

निगम करों का सांख्यकीय अध्ययन
(Statistical Study of Corporation Taxes)

निगम करो के अन्तर्गत वे कर आते है जो कम्पनियो पर लगाये जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों

2. Richard Goode : The Corporation Income-Tax, pp. 32-37

में भारत मे निगम करो के रूप मे प्राप्त होने वाली राशि का साख्यकीय अध्ययन निम्न तालिका की सहायता से किया जा सकता है :—

वर्ष	आय (करोड़ रु० मे)
१६५०-५१	१५५
१६५५-५६	१६६
१६६०-६१	१६८
१६६५-६६	३०४·८४
१६६६-६७	३३०·८०
१६६७-६८	३१०·५१
१६६८-६६	२६६·७७
१६६६-७०	३२० ००
१६७०-७१	३४२·००
१६७१-७२	३४५ ००
१६७२-७३	५५८·००
१६७३-७४	५८२·६०
१६७४-७५	७१३·००
१६७५-७६	७८० ५०
१६७६-७७	८०० ००

निगम या कम्पनी के लाभों पर कर के विरुद्ध तर्क
(Argument Against Tax on Company or Corporation Profits)

व्यक्तिगत आय-कर के साथ-साथ निगम के लाभो पर जो कर लगाया जाता है उसके विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। उनमे से प्रमुख आपत्तियाँ निम्नलिखित है —

(१) दुहरा कराधान (Double Taxation)—कुछ लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि चूँकि निगम आय-कर को व्यक्तिगत आय-कर के साथ सयुक्त करना पडता है अत यह दोहरा कराधान (double taxation) उत्पन्न करता है। वैधानिक रूप मे, निगम तथा वैयक्तिक्ता आय-कर दोहरा कराधान उत्पन्न नही करते। कम्पनी तथा इसके अशधारी (shareholders) कानूनी रूप से दो पृथक्-पृथक् पक्ष हैं और उनकी आय भी पृथक् ही होती है। अत इसे दोहरा कराधान कैसे कहा जा सकता है। फिर एक ही आय पर यदि दो या अधिक कर लगा दिये जाएँ तो उससे यह आवश्यक नही है कि अनिवार्यत दोहरा कराधान होगा। उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि किसी व्यक्ति की आय पर कर एक तो उस समय लगे जबकि वह प्राप्त हुई हो और फिर कई कर उस समय लगा दिये जाएँ जबकि वह उस आय को व्यय करे। इसी प्रकार, एक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति के मूल्य पर सम्पत्ति कर (property tax) अदा करना पड सकता है और उसे उस सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय पर आय-कर भी देना पड सकता है। इस प्रकार जब आय के चक्रीय प्रवाह (circular flow) के प्रत्येक चरण (each stage) मे आय कर लगाया जाता है तो वास्तव मे वह दोहरा कराधान नही होता। इस सम्बन्ध मे दोहरे कराधान का जो आरोप लगाया जाता है वह सयुक्त पूँजी कम्पनियों की प्रकृति के सम्बन्ध मे उत्पन्न गलतफहमी का परिणाम है। कम्पनी तथा अशधारियो के बीच यद्यपि आर्थिक हितो की दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु फिर भी उन्हे पूर्णतया पृथक् माना जाता है। सार्वजनिक निगम के लाभो तथा अशधारियो द्वारा प्राप्त किये गये लाभाशो, दोनो पर यदि कर लगाया जाए तो उसे उतना एक ही आय पर दोहरा कराधान नही माना जा सकता जितना कि दो परस्पर सम्बन्धित आर्थिक पक्षो की आमदनियो पर पृथक्-पृथक् कराधान माना जा सकता है।

(२) उपभोक्ताओ पर पड़ना (Shifted on the consumers)—इस कर के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह उठायी जाती है कि निगम आय-कर उन उपभोक्ताओं की ओर को अन्तरित

(२) सरकारी व्यय (Public Expenditure)— इस विभाग में सरकारी व्यय के विभिन्न सिद्धान्तों एवं उसके प्रभावों के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है। व्ययों के आधार पर ही सरकार की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक नीतियों का निर्माण होता है।

(३) सरकारी ऋण (Public Debt)—इस विभाग के अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते है कि राज्य किन सिद्धान्तों के आधार पर ऋण प्राप्त करता है, सरकारी ऋण क्यों लिये जाते है, किस प्रकार से लिए जाते हैं, इनके समाज पर क्या प्रभाव पड़ते हैं और इन ऋणों का भुगतान किस प्रकार किया जाता है आदि ? ये ऋण आन्तरिक व बाहरी दोनों ही साधनों से प्राप्त किये जा सकते हैं।

(४) वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)—इस विभाग के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि राज्य वित्तीय क्रियाओं का प्रबन्ध किस प्रकार करता है। अतएव इस विभाग में बजट की तैयारी व स्वीकृति तथा अंकेक्षण (Auditing) आदि को सम्मिलित करते है।

(५) आर्थिक स्थायित्वीकरण (Economic Stabilisation)—इस विभाग में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि देश में आर्थिक स्थिरता लाने के लिए राजकोषीय नीति (fiscal policy) का उपयोग किस प्रकार किया जाता है।

यद्यपि लोकवित्त की विषय-सामग्री में उपर्युक्त पाँचों विभाग सम्मिलित किये जाते है किन्तु फिर भी इस विषय के लेखकों ने इन पाँचों विभागों को समान महत्व प्रदान नहीं किया है। उदाहरण के लिए, अन्तिम विभाग—(देश की आर्थिक दशाओं तथा व्यवसाय में स्थिरता लाने के लिए राजकोषीय नीति का कैसे उपयोग किया जाये)—अभी हाल की ही एक उपज है। इसकी उत्पत्ति उन असाधारण आर्थिक परिस्थितियों के कारण हुई है जिनके बीच कि सन् १९३० की मन्दी की अवधि में संसार को गुजरना पड़ा। इस प्रसंग में यहाँ यह बात अवश्य जोर देकर कही जा सकती है कि उपर्युक्त पाँचों ही विभाग एक दूसरे से भिन्न अथवा पृथक् नहीं है अपितु परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

लोकवित्त का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

(Relation of Public Finance with other Sciences)

लोकवित्त के छात्र यह अनुभव करेंगे कि लोकवित्त अन्य अनेक शास्त्रों, जैसे अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान (Psychology), समाजशास्त्र (sociology), नीतिशास्त्र (ethics) तथा कानून-शास्त्र (law) आदि का एक अद्भुत मिश्रण है। यह व्यावहारिक जीवन में काम आने वाले सैद्धांतिक नियमों तथा नीति सम्बन्धी विचारों का एक संयुक्त रूप है। अतएव यहाँ पर हम इसके अन्य विज्ञानों से सम्बन्धों का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

(I) लोकवित्त तथा अर्थशास्त्र का सम्बन्ध (Relationship between Public Finance and Economics)

यदि अर्थशास्त्र को ऐसा विज्ञान माना जाये जो कि मानवीय आवश्यकताओं (human wants) को सन्तुष्ट करने वाले सीमित साधनों के प्रशासन से सम्बन्ध रखता है, तो लोकवित्त को अर्थशास्त्र का वह भाग माना जा सकता है जो कि नागरिकों की आवश्यकताओं की केवल राज्य द्वारा की जाने वाली सन्तुष्टि का अध्ययन करता है। लोकवित्त की अनेक समस्याएँ अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री का भी एक भाग है। उदाहरण के लिए, कराधान की समस्याएँ अर्थशास्त्र का एक आवश्यक अंग है। कराधान का उद्देश्य होता है कि निजी क्षेत्र के लोगों के पास से सरकार की ओर को साधनों का विवर्तन (shifting) करना, अर्थात् साधनों के उपयोग को व्यक्तियों तथा वर्गों से हटाकर लोक-सत्ताओं (public authorities) के हाथों में सौंपना। उदाहरणार्थ, विशिष्ट उत्पादन कर (special excise taxes)—साधनों को ऐसी वस्तुओं के उपयोगों से हटाकर, जिन्हें कि उपभोक्ता अधिक महत्वपूर्ण समझता है, ऐसी वस्तुओं की ओर को विवर्तित (shift) कर देते हैं जिन्हें कि वह अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण मानता है। फिर, लोकवित्त से सम्ब-

अथवा (debentures) द्वारा बाजार से उधार लेकर अथवा अतिरिक्त सामान्य अंशपूँजी (equity capital) जारी करके की जाती है। इनमें से अन्तिम विकल्प को तो आमतौर पर इसलिये पसन्द नहीं किया जाता क्योंकि इससे उन लोगों के स्वामित्व, नियन्त्रण एवं लाभों में कमी हो जाती है जो कि पहले से ही कम्पनी पर नियन्त्रण कर रहे होते हैं। दूसरी ओर, ऋण-पत्र पूँजी का उपयोग सदा ही इसलिए आकर्षक नहीं होता क्योंकि ऋण तथा ब्याज की अदायगी अत्यधिक बोझिल सिद्ध हो सकती है और यहाँ तक कि उसमें कम्पनी के दिवालिया होने का खतरा भी उत्पन्न हो सकता है। परिणामस्वरूप, कम्पनियाँ व्यावसायिक विस्तार के लिए अपने ही कोषों के उपयोग को प्रमुखता देती हैं। परन्तु निगम आय-कर चूँकि स्वभावत ही कम्पनी के निजी कोषों को कम कर देता है अत स्पष्ट है कि यह विनियोगों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

(२) **विस्तार की प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव**—(Adverse effect on incentive to expand)—निगम आय-कर व्यवसाय का विस्तार करने की प्रेरणाओं पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालता है। चूँकि विस्तार के फलस्वरूप होने वाली सभी आमदनियों पर निगम आय-कर लगेगा, अत व्यवसाय के विस्तार-कार्य को उस समय तक प्रारम्भ नहीं किया जायेगा जब तक कि वह इतना लाभप्रद न हो कि विस्तार के लिए जो निधियाँ प्राप्त की थी उनकी लागत अदा करने के बाद और नई प्रयोजनाओं (projects) से होने वाली उपज पर निगम आय-कर अदा करने के बाद लाभांश (dividend) में वृद्धि करना सभव हो सके। इस स्थिति में, अधिकांशत: सीमान्त प्रायोजनाएँ हाथ में ली ही नहीं जायेंगी। इसके अतिरिक्त, सामान्य प्रवृत्ति यह होगी कि जोखिम वाले उद्यम आरम्भ करने की बजाए चालू व्यवसाय ही जारी रखा जाये। किन्तु इसके बावजूद, यह हो सकता है कि कम्पनियों को नये-नये विनियोग के लिए प्रोत्साहित करने की दृष्टि से निगम आय-कर में उचित छूटें एवं रियायतें दे दी जायें।

चूँकि निगम आय-कर विनियोग के प्रत्याशित प्रतिफल (anticipated return) को कम कर देता है और कम्पनी की आन्तरिक एवं बाह्य, दोनों ही स्रोतों से प्राप्त होने वाली धन-राशियों की मात्रा में कटौती कर देता है, अत इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि धनराशि की उस मात्रा को सीमित कर देता है जिसे कि कम्पनियाँ किन्हीं भी निश्चित सामान्य आर्थिक दशाओं के अन्तर्गत विनियोग करतीं। निगम आय-करों के प्रभाव यद्यपि काफी स्पष्ट हैं, फिर भी विनियोग पर पड़ने वाले इसके प्रतिबन्धात्मक प्रभावों की मात्रा के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जहाँ कुछ लोगों का कहना है कि विनियोग में काफी कमी होगी, वहाँ अन्य लोग इसकी मात्रा कम बतलाते हैं। यहाँ मूल-भूत कठिनाई यह है कि विनियोग पर कर का कितना प्रभाव पड़ेगा, यह कम्पनी के अधिकारियों एवं शेयरधारियों की व्यक्तिपरक प्रतिक्रियाओं (subjective reactions) पर निर्भर है। ये प्रतिक्रियाएँ अज्ञानता एवं जानकारी की तथा विवेक एवं अविवेक की मात्राओं पर आधारित होती हैं और कुछ ऐसी शक्तियों से प्रभावित होती हैं, जैसे कि आशावाद अथवा निराशावाद की प्रचलित स्थिति तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राज-नैतिक व आर्थिक दशाएँ और तनाव (tensions)। तथापि, आकर्षक विनियोग सुअवसर (attractive investment opportunity) के तथा प्रतिफल की स्वीकार्य दर (acceptable rate of return) के रूढ़िजन्य स्तरों में समयानुसार परिवर्तन होते हैं, और यही नहीं, उसमें भी अधिक तीव्रगति से होते हैं जैसा कि सामान्यत समझा जाता है।

सामान्य मान्यता के रूप में यह कहा जा सकता है कि विनियोग करने के लिए धन की व्यवस्था आन्तरिक निजी निधियों से करने के बजाए यदि बाह्य स्रोतों से की जाए तो कर (tax) के कारण विनियोग के प्रत्याशित प्रतिफल में होने वाली कोई भी कमी अधिक हतोत्साह करने वाली होगी। बाह्य साधनों द्वारा किये जाने वाले विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए, सामान्यत उच्च सम्भावित प्रतिफल का प्राप्त होना अत्यन्त आवश्यक है, यद्यपि यह हो सकता है कि सावधानी न बरतने वाली कुछ कम्पनियाँ सीधे-सीधे ऋणदाताओं के धन को जोखिम-पूर्ण दाँव पर लगा दें।[5]

---

5. Richard Goode · op cit pp 145-148

(shift) होने लगता है जो कि किसी विशिष्ट व्यावसायिक संस्था द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपभोग करते हैं ।

(३) जोखिम वाले उद्यमों में विनियोगों पर कुप्रभाव (Investment in risky enterprises will be discouraged)—तीसरी आपत्ति यह है कि लोग जोखिम वाले उद्यमों में इस भय से विनियोग नहीं करेंगे क्योंकि उसके लाभों पर कर लगा दिया जायेगा। परन्तु यदि इस आधार को मान्यता दी जाए तब तो आय-कर के विरुद्ध भी आपत्ति उठायी जा सकती है ।

(४) साधारण अंशधारियों पर पूर्णभार (Fall completely on ordinary shareholders)—चौथी आपत्ति है निगम कि आय-कर पूर्णतया साधारण अंशधारियों (ordinary shareholders) पर ही पड़ेगा और अधिमान अंशधारी (preference shareholders) इससे बिल्कुल बच जायेंगे। यह सत्य है, परन्तु यदि लाभ-कर के कारण अवितरित लाभों का भी वितरण किया गया तो उसका लाभ साधारण अंशधारियों को ही मिलेगा और उस स्थिति में उन्हें कर का सम्पूर्ण भार वहन करने को तैयार रहना चाहिए ।

(५) ऋणपत्रों को प्रोत्साहन (Debentures will be encouraged)—निगम लाभ-कर के विरुद्ध पाँचवीं आपत्ति यह उठायी जाती है कि यह फर्मों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करेगा कि वे अपने लिए वित्त की व्यवस्था साधारण (equity) अंशों की बजाए ऋणपत्रों (debentures) से करें। यह कथन भी सत्य है परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि फर्म के विस्तार-कार्यक्रमों की वित्तीय व्यवस्था अतिरिक्त शेयर पूंजी के बजाए ऋणपत्रों से करने में मूलत. कोई गलत बात नहीं है ।

(६) पर्याप्त न्यायपूर्णता का अभाव (Will not be adequately equitable)—कहा जाता है कि आरोही वैयक्तिक आय-कर (progressive personal income-tax) की व्यवस्था के कारण निगम आय-कर धनी तथा निर्धन अंशधारियों के बीच यथेष्ठ रूप में समन्यायपूर्ण नहीं बन सकता ।

निष्कर्ष (Conclusion)

कम्पनी के लाभों पर कर के विरुद्ध उठायी जाने वाली उपरोक्त आपत्तियाँ मान्य तो हैं परन्तु इनमें अधिक वजन नहीं है। फिर, प्राय सभी जगह यह प्रयत्न किये गये है कि निगम आय-कर को वैयक्तिक आय-कर के साथ एकीकृत किया जाए जिससे कि इनमें से कुछ आपत्तियाँ दूर की जा सकें ।

निगम आय-कर के आर्थिक प्रभाव
(Economic effects of Corporate Income-Tax)

अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली पर, वैयक्तिक आय-कर से भिन्न, निगम आय-कर के कई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ते है। इन प्रभावों का विश्लेषण भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है, जैसे [I] विनियोग पर, [II] बचत व उपभोग पर, [III] राष्ट्रीय आय तथा रोजगार पर प्रभाव, तथा [IV] कम्पनी वित्त पर प्रभाव। अब हम इन प्रभावों का सक्षेप में अध्ययन करेंगे ।

[I] विनियोग पर प्रभाव (Effects upon Investment)

विनियोग पर निगम आय-कर के प्रभाव निम्न दो प्रकार से पड़ते है —

(१) व्यावसायिक विस्तार के हेतु उपलब्ध धनराशि में कमी होना (Reduce the funds available to finance business expansion)—यह कर निश्चित रूप से उस धनराशि की मात्रा को कम कर देगा जो कि व्यावसायिक विस्तार (business expansion) की वित्तीय व्यवस्था के लिए उपलब्ध होती है। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि कर का काफी भाग उन निधियों (funds) में से अदा किया जायेगा जो कि अन्य स्थिति में व्यवसाय के विस्तार के लिये उपलब्ध होंगी। व्यवसाय के विस्तार के लिए धन की व्यवस्था सामान्यत, कम्पनी की अपनी निधियों से

कम हो जायेंगी और उसके परिणामस्वरूप वे न तो अपने चालू व्यवसाय का विस्तार कर सकेंगी और न नये उद्यम ही आरम्भ कर सकेंगी। दूसरे भारी कर (heavy tax) की विद्यमानता उनको बड़े जोखिम वाले उद्यमों को चालू करने से रोकेंगी।

उपरोक्त सभी विचारों से यह सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि निगम आय-कर के लगने से राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा में कमी होने लगती है और अन्ततः आर्थिक प्रगति (econom c progress) भी मन्द होने लगती है। कारण यह है कि कोई भी चीज जिससे उपभोग, बचत तथा विनियोग में कमी होगी उससे राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा में भी कमी होगी। किन्तु इसके बावजूद, ऊपर निगम आय-कर के जिन प्रभावों का जिक्र किया गया है उनमें से कुछ आधारहीन हैं। **सर्वप्रथम**, जहाँ तक बचत तथा उपभोग में कमी होने का प्रश्न है, यह तर्क निराधार है क्योंकि बचत व उपभोग में कमी केवल निगम आय-कर से ही नहीं होती, अपितु सभी करों से होती है। दूसरी बात यह है कि मितव्ययता अथवा किफायत (economy) के दृष्टिकोण से करों के लगाने का एक प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि लोगों के निजी व्यय को कम किया जाए जिससे कि सरकारी उपयोग के लिए साधन प्राप्त हो सकें। उपभोग तथा विनियोग पर लगे प्रतिबन्ध को इसी आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है। फिर, एक बात यह है कि यदि देश की अर्थव्यवस्था पहले से ही पूर्ण रोजगार (full employment) की दशाओं के अन्तर्गत कार्य कर रही है तो उपभोग (consumption) अथवा विनियोग (investment) अथवा दोनों में वृद्धि की किसी भी प्रवृत्ति से मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी दबाव उत्पन्न होंगे। और मुद्रा स्फीति (inflation) को यदि रोकना है तो कराधान (taxation) का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि उसके द्वारा गैर-सरकारी अथवा निजी व्यय में कमी की जाए और इन मानों में निगम आय-कर एक पूर्णतया न्यायोचित पग है।

किन्तु अवस्फीति (deflation) अथवा मन्दी (depression) के दिनों में, जबकि अर्थव्यवस्था को बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है, अवश्य ऐसा प्रतीत होता है मानो निगम आय कर की आलोचनाएँ उचित हैं। पर आलोचना (criticism) केवल निगम आय कर की ही नहीं, अपितु उन सभी करों की होनी चाहिए जोकि निजी व्यय में कमी करते हैं। तथ्य तो यह है कि निगम आय-कर के प्रभाव अन्य करों के प्रभावों से कम ही होने की सम्भावना है। यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक इकाइयाँ नये विनियोग नहीं करतीं और प्रायः अपने पास उपलब्ध समस्त तरल निधियों को उपयोग में नहीं लातीं। इस स्थिति में यह होगा कि निगम-कर के एक बड़े भाग का भुगतान इन निष्क्रिय निधियों (idle funds) में से किया जायेगा। फलस्वरूप उपभोक्ता के व्ययों पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ने वाले कर के मुकाबले निगम कर से कुल खर्चों में कमी थोड़ी मात्रा में होगी। इसके अतिरिक्त, यह भी नहीं भूलना चाहिए कि निगम आय-कर चूँकि कम्पनियों के लाभों पर लगाया जाने वाला कर है अतः सम्भव है कि कम्पनियों के लिए स्वयं कठिनाइयाँ उत्पन्न न करे।

इस प्रकार, सामान्य रूप में, निगम आय-कर के विरुद्ध की जाने वाली इस आलोचना में अधिक वजन नहीं है कि विनियोग पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्फीति काल (inflationery period) में विनियोग पर जो रोक लगती है उसे एक अत्यावश्यक स्फीति विरोधी कार्यवाही माना जा सकता है और अवस्फीति (deflation) के दिनों में, विस्तार कार्यक्रम में कटौती के रूप में होने वाला इस कर का प्रभाव अन्य करों के मुकाबले सम्भवतः कम प्रतिकूल होगा।

पर इस सम्पूर्ण वाद विवाद में एक बात भुला दी गई है। निगम कर तथा साथ ही अन्य अनेक करों में सदा ही संशोधन तथा परिस्थितियों के अनुसार हेर फेर किया जा सकता है। लोगों पर करों का भार डालने से पूर्व हर एक लोकतन्त्रीय सरकार दो महत्त्वपूर्ण बातों का अवश्य ध्यान रखती है। **प्रथम** तो यह कि प्रत्येक कर से कितनी सरकारी आय प्राप्त की जा सकती है, और **दूसरे** यह कि जनता के किसी भी वर्ग पर करों का अनावश्यक भार नहीं पड़ना चाहिये। वैयक्तिक आय-कर तथा साथ ही निगम आय कर में भी कर-रोक (tax holdings) के रूप में अथवा पूर्ण या आंशिक कर-मुक्तियों (tax exemptions) आदि के रूप में समय-समय पर उपयुक्त हेर-फेर किये जाते रहते हैं। परिणामस्वरूप निगम आय-कर के प्रतिकूल प्रभाव न्यूनतम कर दिये जाते हैं।

निगम आय-कर के विनियोग सम्बन्धी प्रभावो की अन्य करो के प्रभावो से तुलना करने के पश्चात् रिचार्ड गौडे (Richard Goode) इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि निगम आय-कर, किसी भी अन्य बडे कर के मुकाबले, गैर-सरकारी विनियोग (private investment) को अपनी शुद्ध प्राप्ति (net yield) के अनुपात से अधिक हानि पहुँचाता है।

परन्तु विनियोग पर निगम आय-कर के प्रतिकूल प्रभावो को बाजार के तीव्र विस्तार द्वारा काफी मात्रा मे समाप्त किया जा सकता है। भारत जैसे अल्पविकसित देश की स्थिति में विशेष रूप से यह बात सही है जहाँ कि ऊँचे करो के बावजूद नये-नये उद्यमो मे तथा पुराने उद्यमो के विस्तार मे तीव्रगति के साथ विनियोग किया जा रहा है। इस तथ्य से यह बात प्रकट होती है कि निगम आय-कर का उन्नत अर्थव्यवस्था (advanced economy) के अन्तर्गत ही कुछ प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है किन्तु विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था (developing economy) मे नही, जहाँ कि विनियोग का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है।

[II] **बचत तथा उपभोग पर प्रभाव** (Effects on Saving and Consumption) :

निगम आय-कर (corporation income-tax) निगमो और कम्पनियो की बचतो एव उनके उपभोग पर प्रभाव डालता है। यह लाभाशो (dividends) की अदायगियो को तथा निगमो के रुके हुए लाभों अथवा उनकी शुद्ध बचतों (net savings) को प्रभावित करता है। अनुभव से यह पाया गया है कि निगम आय-कर कम्पनियो तथा साथ ही अशधारियो दोनो की ही बचतो मे कमी करने लगता है। व्यक्तियों का उपभोग उस सीमा तक हो जाता है जहाँ तक कि निगम आय-कर द्वारा उनकी लाभाश-आय कम हो जाती है। परन्तु जैसा कि रिचार्ड गौडे ने कहा है कि एक समूह के रूप मे उत्पादन कर (excise taxes) उपभोग पर निगम आय-कर अथवा वैयक्तिक आय-कर के मुकाबले, सभवत, अधिक प्रभाव डालते हैं।

सयुक्त राज्य अमेरिका मे, यह पाया गया कि निगम आय-कर का एक वडा भाग रुके हुये पहले लाभों मे से दिया जाता था, चालू लाभाशो मे से नही। शुद्ध निगम आय-कर के उस भाग के बारे मे, जोकि चालू लाभाशो मे से दिया जाता था, अवश्य यह कहा जा सकता है कि अत्यधिक आरोही वैयक्तिक आय-कर (highly progressive personal income-tax) के मुकाबले पर उसका अधिक प्रभाव पडता था।

[III] **राष्ट्रीय आय तथा रोजगार पर प्रभाव** (Effects on National Income and Employment)

राष्ट्रीय आय पर और अन्तत आर्थिक प्रगति पर पडने वाला निगम आय-कर का सम्भावित प्रभाव भी उपर्युक्त विचारणीय तत्वों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। सामान्यत, निगम आय-कर— अथवा उसी उद्देश्य के लिए किसी और कर के लगने का परिणाम यह होगा कि कुल माँग मे तत्काल कुछ कमी हो जायेगी और उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय द्रव्य आय (money national income) मे कमी हो जायेगी। यदि यह कर न लगाया जाता तो अर्थव्यवस्था के गैर सरकारी क्षेत्र को अधिक द्रव्य-आय प्राप्त होती और इस अतिरिक्त आय का एक भाग निजी अथवा गैर-सरकारी उपभोग और विनियोग मे लगा दिया जाता।

और भी अधिक विशेष रूप से कहा जाए तो स्पष्टत नई फर्में ही निगम आय-कर से मुख्य रूप से प्रभावित होगी। ऐसी फर्मों को जब तक कि कुछ वर्षो तक कर से छुट्टी न दी जाए तब तक उनके लिए यह कठिन होगा कि वे आवश्यक धन सग्रह करें और उसे पुन. व्यवसाय मे लगाएँ। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये नई कम्पनियाँ स्पष्टत. वे हो सकती हैं जिनके विषय मे कि यह सभावना है कि ऐसी नई-नई वस्तुओं का उत्पादन करेंगी और ऐसी नई-नई उत्पादन-विधियाँ अपनायेंगी जो कि आर्थिक प्रगति मे सहायक हो। निगम आय-कर के जारी रहने से इन नई कम्पनियो के विकास-कार्य जिस सीमा तक प्रतिबन्धित होंगे, उतनी ही मात्रा में पहले से चालू कम्पनियाँ एकाधिकारी अथवा अर्ध-एकाधिकारी लाभ प्राप्त करती रहेंगी। नई कम्पनियाँ ही नही, पुरानी तथा सुस्थापित कम्पनियाँ भी निगम आय-कर से प्रभावित होगी। एक तो इस कारण, क्योंकि कर लगाने के कारण इन फर्मों के पास अपनी उपलब्ध निधियाँ (funds)

आय-कर चूँकि शुद्ध (net) लाभो पर लगाया जाता है, अत कम्पनियो के पास बचे हुए शेष माल के मूल्य को तथा भवन एव सयन्त्र (plant) आदि के मूल्यह्रास (depreciation) को कुल लाभो (gross profits) मे से अनिवार्यत घटाना ही पडेगा। ऐसा करते समय व्यवहार मे, अनेक ऐसी उलझनें एव विकट समस्यायें सामने आती है जो कि कम्पनियो के तथा साथ ही राजस्व अधिकारियो के कार्य को अत्यधिक कठिन बना देती है।

शेष माल का मूल्यांकन (Inventory Valuation)

बेची हुई वस्तुओ की लागत (cost) का और उसके फलस्वरूप भौतिक वस्तुओ को बेचने वाली फर्मों की शुद्ध आय का एक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व (determinant) है—प्रारम्भिक तथा अन्तिम स्टॉक अथवा शेष माल का मूल्यांकन करना। किसी भी फर्म के पास वर्ष के प्रारम्भ मे एक निश्चित स्टॉक होता है, वर्ष की अवधि मे वह और माल खरीदती है, कुछ माल बेचती है और वर्ष के अन्त मे फिर उसके पास कुछ माल शेष रहता है। यदि खरीदे हुए माल की कीमतो मे कोई परिवर्तन न हो तब तो किसी भी समस्या का सामना न करना पडे। इस स्थिति मे प्रारम्भिक तथा अन्तिम शेष माल का तथा वर्ष की अवधि मे बेचे गये माल की लागत का मूल्यांकन उन्ही अपरिवर्तित कीमतो द्वारा निकाल लिया जायेगा। किन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जबकि कीमतो के स्तरो मे उतार-चढाव होते हैं। यदि कीमतें बढ रही है बेची हुई वस्तुओ की लागतें वर्ष के अन्त की लागत के आधार पर निकाली जा रही हैं, तो बेची हुई वस्तुओ की कुल लागत अधिक और लाभ कम प्रतीत होगे। दूसरी ओर, यदि उनका मूल्य वर्ष के प्रारम्भ की लागत के आधार पर निकाला गया तो बेची गई वस्तुओ की कुल लागत कम होगी और लाभ अधिक प्रतीत होगा।

शेष माल के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो का अनुमान लगाने के लिए अनेक रीतियो का उपयोग किया जाता है। एक रीति है जिसमे किसी अवधि (period) अथवा वर्ष के प्रारम्भ मे फर्म के पास वर्तमान वस्तु सूची अथवा स्टॉक के सर्वप्रथम प्राप्त भाग की लागत के आधार पर तथा उस अवधि के बीच सर्वप्रथम होने वाली प्राप्तियो के आधार पर बेची गई वस्तुओ की लागत को निकाला जाता है। अन्तिम, वस्तु सूची अथवा अन्तिम स्टॉक का मूल्यांकन अवधि के अन्त की लागत अथवा बाजार मूल्य, जो भी कम हो, के आधार पर कर लिया जाता है। इस पद्धति मे, मूल्य-वृद्धि की अवधि मे रखे गये बिक्री-माल (stock in trade) के बढ़े हुए मूल्य से होने वाले लाभ तथा सामान्य व्यापारिक लाभ कुल लाभ म सम्मिलित होगे। जब कीमतें गिरती हैं तो इस स्थिति मे, बेची गई वस्तुओ की लागत उस ऊंची कीमत से आँकी जाती है जो कि वर्ष के आरम्भ मे होती है और बाद के समस्त शेष-माल का मूल्यांकन वर्ष के अन्त के बाजार-मूल्य के आधार पर निकाला जाता है और इस हानि की धनराशि को आय म से कम कर दिया जाता है। इस दशा मे, कम्पनी के लाभ काफी कम प्रतीत होंगे बमुकाबले उसके जबकि बेची हुई वस्तुओ की लागत पूर्णतया वर्ष के अन्त मे बदली हुई लागत के आधार पर आँकी जाती। माल के मूल्यांकन की यह रीति इस मान्यता पर आधारित है कि वस्तुयें उसी क्रम से बेची जाती हैं जिस क्रम से कि वे खरीदी जाती है। अर्थात् (fifo) प्रथम खरीदी जाने वाली वस्तुये पहले और बाद मे खरीदी जाने वाली वस्तुयें बाद मे बेची जाती हैं। यह रीति उस समय तो ठीक काम करती है जबकि कीमतें स्थिर रहें। किन्तु जब कीमतो मे तेजी से उतार-चढाव होते हैं, तो माल का मूल्यांकन ही शुद्ध आय (net income) की घट-बढ का मुख्य निर्धारक तत्त्व बन जाता है।

माल अथवा स्टाक के मूल्यांकन की दूसरी रीति अँग्रेजी के शब्द 'lifo' के नाम से विख्यात है अर्थात् अन्त मे खरीदी जाने वाली वस्तुये पहले बेची जाती है। इस पद्धति के अन्तर्गत, स्टॉक मे की गई प्राथमिक वृद्धि की अपेक्षा अन्तिम वृद्धि मे से बिक्री की जाती है। बेची गई वस्तुओ की लागत खरीदी गई वस्तुओ की अन्तिम इकाइयो की लागत द्वारा निर्धारित की जाती है। वर्ष के अन्त मे शेष माल का मूल्य वस्तुओ की सर्वप्रथम प्राप्त इकाइयों की लागत के आधार पर निकाला जाता है। इस व्यवस्था मे, वस्तु सूची अथवा शेष माल के लाभो को आय म जोडा अथवा उसमे से घटाया नही जाता।

[IV] कम्पनियों के वित्त पर प्रभाव (Effects on Company Finance) :

निगम आय-कर कम्पनियो की वित्त-व्यवस्था की रीतियो पर प्रभाव डालता है। अपने व्यवसाय के विस्तार के लिए कम्पनियाँ, आमतौर पर, अपनी स्वय की निधियो (funds) का उपयोग करना ही अच्छा समझती है। केवल बहुत थोडी मात्रा मे ही, वे बाजार से उधार लेना अथवा अतिरिक्त सामान्य अश जारी करना पसन्द करती है। उधार गे ऋणो का भारी बोझ उठाना अनिवार्य हो जाता है और अतिरिक्त सामान्य अश स्वामित्व (ownership) को तरल बनाते है। अत निगम आय-कर, यदि भारी मात्रा मे लगाया जाता है तो उसमे कम्पनियो की निजी निधियो (owned funds) मे कटौती हो जाती है। यही नही, इससे चूँकि कम्पनी की कमाई मे कमी हो जाती है अत यह अतिरिक्त शेयरो की बिक्री को भी कठिन बना देता है। इस स्थिति मे, अपनी विस्तार प्रयोजनाओं की वित्तीय-व्यवस्था के लिए कम्पनियां उधार लेने (borrowing) को ही एकमात्र उपयुक्त साधन समझती हैं। चूँकि ब्याज को कर योग्य आय मे से घटा दिया जाता है अत: निगम आय-कर से न तो इस सम्बन्ध मे कोई कठिनाई पैदा होती है और न इस रीति से वित्त की व्यवस्था करने की लागत मे ही कोई वृद्धि होती है।

निष्कर्ष (Conclusion) .

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जाता है कि निगम आय-कर के अनेक प्रतिकूल प्रभाव पडते है। किन्तु यह सिद्ध करना बडा कठिन है कि क्या ये प्रभाव वास्तव मे ऐसे ही होने भी है? अनेक प्रभाव, जो कि निगम आय-कर से सम्बद्ध कर दिये गये है, वस्तुत निगम आय-कर की वर्तमान व्यवस्था के कारण उत्पन्न नही होते अपितु ये तो व्यावसायिक उद्यम पर लगाये जाने वाले किसी भी कर के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो जाते है। समता एवं न्याय के दृष्टिकोण से भी. इस विषय मे काफी विचार-विभिन्नता पायी जाती है। अनेक लोगो का मत है कि यह कर समन्यायपूर्ण (equitable) नही है क्योकि यह दोहरे कराधान को जन्म देता है, यह हो सकता है कि यह थोडी आय वाले वर्ग के उन अशधारियो (shareholders) पर, जो कि वैयक्तिक आय-कर से मुक्त हो, कम भार डाले, ऊँची आय वाले वर्ग के अशधारियो पर यह इसलिए अधिक भारपूर्ण हो सकता है क्योकि उन पर वैयक्तिक आय-कर की दरे ऊँची होती है, और यदि कर उन उपभोक्ताओं पर अन्तरित (shift) किया जा सकता है जो कि कम्पनी द्वारा उत्पन्न की गयी और बेची गयी वस्तुओ का उपयोग करते है, तब तो यह एक प्रकार का बिक्री कर बन जायेगा और उस स्थिति मे इसका भार निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों पर ही पडेगा। निगम कर के बचाव मे यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि सम्पूर्ण रूप मे (on the whole) कर के भार का वितरण आरोही रीति (progressive manner) से होता । ऐसा इसीलिए क्योकि अधिकाश ईक्विटी पूँजी उन लोगो द्वारा अधिकृत होती है जिनका सम्बन्ध उच्चतर आय वाले वर्गों से होता है। जैसा कि रिचार्ड गौंडे (Richard Goode) ने कहा कि करो का सम्पूर्ण ढाँचा निगम आय-कर से युक्त होने पर अधिक आरोही बन जाता है बमुकाबले उसी ढांचे के जिसमे कि उक्त कर सम्मिलित न किया गया हो।

कर-योग्य लाभों का माप
(Measurement of Taxable Profits)

जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, कर योग्य आय (taxable income) की किसी उपयुक्त एव सामान्य परिभाषा की रचना करना, उसको सशोधित एव परिष्कृत करना तथा उसको लागू करना—ये ऐसी समस्याये है जिन्हे लोक वित्त (public finance) के सम्पूर्ण क्षेत्र की सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण समस्यायें कहा जा सकता है। इस विषय के अध्ययन के लिए ऐसे विस्तृत साहित्य की आवश्यकता है जिसकी रचना एव जिनके निर्माण मे अर्थशास्त्रियो, वकीलो, लेखाकारो (accountants) तथा न्यायाधीशो ने अपना योग दिया है। तथापि, इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि इस समस्या का कोई अन्तिम हल ढूँढ लिया गया है। इसका स्पष्टीकरण कर लगाने के उद्देश्य से कम्पनियो की शुद्ध आय (net income) को परिभाषित करने की समस्या से ही हो जाता है। कम्पनियों के कर योग्य लाभो का माप करने मे दो विशेष समस्यायें सामने आती है, अर्थात् स्टॉक अथवा शेष माल का मूल्यांकन (valuation) तथा मूल्यह्रास सम्बन्धी छूटें। निगम

प्रभार नही लगाया करती हैं, परिणामस्वरूप उन्हे उन वर्षों मे करो से मुक्त पूँजी भी वापिस नही मिलती। परन्तु इन हानियों को आगे लाभ के वर्षों मे नही ले जाया जायेगा तो फर्म कभी भी अपनी कर-मुक्त पूँजी प्राप्त करने मे समर्थ नही होगी। इसी प्रकार, यदि कोई पूँजीगत परिसम्पत्ति अचानक ही अप्रचलित (obsolete) हो जाती है तो उसके परिणामस्वरूप होने वाली हानियो को अगले कई वर्षों मे फैला देने की फर्म की असमर्थता का भी ऐसा ही प्रभाव होगा।

इस प्रकार, वार्षिक मूल्यह्रास प्रभार का निर्धारण करने मे कई समस्यायें सामने आती हैं और इस सम्बन्ध मे अधिकांश कठिनाइयां इस तथ्य के कारण उत्पन्न होती है क्योंकि कर लगाने के लिये वर्ष को इकाई (unit) मान लिया जाता है इस बात को स्वीकार कर लेना अच्छा है कि किसी भी एक वर्ष मे निर्धारित मूल्यह्रास प्रभार को अथवा कम्पनी की कर योग्य आय को पूर्णतया ठीक नही माना जा सकता। कर अधिकारियों को, सामान्यत यह बात जरूर देखनी चाहिए कि कम्पनियो को पूँजी पर जो प्रतिफल (returns) प्राप्त हो उन पर कर न लगाया जाए।

मुद्रा-स्फीति तथा मूल्यह्रास प्रभार (Inflation and Depreciation Charges)

सन् १९३९ से सामान्य मूल्य-स्तर मे जो तेजी से वृद्धि हुई है, उसने मूल्य-ह्रास के सम्बन्ध मे एक नई समस्या को जन्म दिया है। समस्या, जो कि काफी विवादास्पद बनी रही है, यह है कि मूल्यह्रास छूट का सम्बन्ध पूँजीगत सामान की मूल लागत (original cost) से होना चाहिए अथवा उसकी प्रतिस्थापित या बदली हुई लागत (replacement cost) से। मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्यों मे जो वृद्धि होती है उससे पूँजीगत सामान की लागतो मे भी भारी वृद्धि हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुराने पूँजीगत सामान पर लगाये गये मूल्यह्रास की धनराशि उस नये पूँजीगत सामान की लागत के लिए पर्याप्त नही होती जो कि पुराने पूँजीगत सामान के स्थान पर खरीदना पडता है। अत यह कहा जाता है कि फर्मों को इस बात की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए कि वे पूँजीगत सामान की मूल लागत के स्थान पर उसकी बदली हुई नई लागत के आधार पर मूल्यह्रास लगा सकें।

जहाँ अनेक लोगो ने पूँजीगत सामान की बदली हुई नई लागत को मूल्यह्रास प्रभार का आधार बनाने के पक्ष म तर्क दिये हैं, वहाँ अन्य लोगो ने इस आधार (basis) की कमजोरियों पर भी प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ, यह कहा जाता है कि समता एव न्याय की माँग तो यह है कि कम्पनी को केवल उतनी ही पूँजी कर मुक्त (tax free) की जानी चाहिए जितनी कि उसने प्रारम्भ मे मूलरूप मे विनियोग (invest) की थी। यह तथ्य कि पूर्ववत् व्यवसाय जारी रखने के लिए अब अपेक्षाकृत अधिक पूँजी की आवश्यकता है इस नीति को न्यायोचित नही ठहराया जा सकता कि कम्पनियों को आय-कर से मुक्त पूँजी की एक सुनिश्चित मात्रा प्राप्त करने की इजाजत दे दी जाये। यह भी कहा जाता है कि पूँजीगत सामान की लागत मे होने वाली वृद्धि मूल्य-स्तर (price level) मे होने वाली सामान्य वृद्धियो का ही प्रत्यक्ष परिणाम होता है। अत यदि सामान्य लोगो को स्फीति के विरुद्ध क्षतिपूर्ति के रूप मे कोई कर सम्बन्धी राहत नही प्रदान की जाती, तो कम्पनियो को ही ऐसी छूट दिये जाने का कोई उचित कारण नही है। यह नही, वास्तविकता यह है कि कम्पनियों ने तो काफी समय तक स्थिति से लाभ उठाया है और वह यह कि उन्होन कम मूल्य पर खरीदी गई मशीनरी आदि का उन वस्तुओ का उत्पादन करने मे उपयोग किया है जिनसे ऊँची कीमतें वसूल होगी। अत स्पष्ट है कि स्फीति-काल मे उत्पादकों को कोई नुकसान नही उठाना पडता, इसके विपरीत उन्हे तो अपेक्षाकृत निश्चित आय वाले वर्गों के व्यय पर और लाभ प्राप्त होता है। अत कर-मुक्ति (tax exemption) तथा उच्चतर मूल्य-ह्रास सम्बन्धी छूट की माँग करना समता एव न्याय के आधार पर उचित नही है। जैसा कि प्रो० प्रैस्ट ने कहा है "ऐसा कोई पवित्र धार्मिक आदेश तो है नही कि पूंजीगत सामान का प्रतिस्थापन अथवा बदली (replacement) केवल सचित की गई मूल्य-ह्रास निधियो मे ही की जा सकती है। अन्य ऐसी अनेक निधियाँ (funds) (उदाहरणत, पहले तथा अब के अवितरित लाभ) है जिनका उक्त कार्य के लिये उपयोग किया जा सकता है, बजाए इसके कि यह निष्कर्ष निकाला जाए कि अधिक मूल्य ह्रास

यह कहा जाता है कि जब तक कि कर स्थिर (constant) है तथा आरोही नही है, चाहे कोई सी रीति क्यो न अपनाई जाए, दीर्घावधि मे कुल लाभ तथा कुल कर देयता लगभग एक समान ही हो जाते हैं। यह अवश्य है कि किसी भी रीति (method) का चुनाव करने से उसका प्रभाव कर अदायगियो के समय पर पडता है। किन्तु यदि करो की दरें बढती-घटती हैं और आरोही (progressive) है तो किसी भी रीति के चुनाव से उसका प्रभाव करो की कुल दीर्घकालीन देनदार पर पड़ेगा।

यहां यह आवश्यक नही है कि हम 'fifo' और 'lifo' पद्धतियों की गहराई मे जायें और उनके गुणो व अवगुणो की विवेचना करें। यहां हमे केवल एक बात अवश्य ध्यान रखनी है। वह यह कि वस्तुसूची अथवा शेष माल का मूल्याकन करने की समस्या हमारे सामने वर्तमान है और किसी कम्पनी के कर योग्य लाभो को ठीक-ठीक अनुमान लगाने के लिए उस समस्या का कोई समुचित समाधान अत्यावश्यक है। किसी भी रीति को कठोरता से लागू करने से सभव है कि सदा ही ठीक परिणाम न निकलें। अत व्यावसायिक फर्मों को इस बात की अनुमति दी जानी चाहिए कि वे स्टॉक के मूल्याकन की विभिन्न रीतियो मे से सुविधानुसार किसी को भी अपना सकें तथा अदलबदल सकें।[6]

ह्रास अथवा मूल्यह्रास की छूटें
(Depreciation Allowances)

प्रत्येक कम्पनी के पास अपना भवन, सयन्त्र (plant), पूँजीगत साज-सज्जा (capital-equipment) व फर्नीचर आदि होते हैं जो सभी एक वर्ष से अधिक समय तक काम मे आते रहते है। इस स्थिति मे यह उचित है कि उनकी लागत को उन विभिन्न वर्षों मे फैला दिया जाए जिनमे कि उनसे काम लिया जाता है। प्रत्येक वर्ष के लिये निर्धारित यह भाग ही मूल्यह्रास प्रभार (depreciation charge) कहलाता है। 'मूल्यह्रास छूट या हिसाब (calculation) इस प्रकार लगाया जाता है कि किसी परिसम्पत्ति (asset) के प्रयोग की अवधि के पश्चात् का उसका अनुमानित रद्दी-मूल्य (scarp value) घटाकर उसकी मूल लागत (original cost) वसूल हो जाये।" मूल्यह्रास छूट (depreciation allowance) उस धनराशि को कहा जा सकता है जोकि कम्पनी की परिसम्पत्ति को उसके प्रयोग की अवधि मे सुचारू एव ठीक बनाये रखने के लिये आवश्यक हो। कम्पनी की प्रत्येक वर्ष की कुल प्राप्तियो (gross receipts) मे एक भाग विनियोग की गई पूँजी का प्रतिफल होता है। स्पष्ट है कि यह एक व्यय होता है, आय नही। इसी कारण इसे कम्पनी के आर्थिक लाभ का एक भाग नही माना जा सकता। अत कर-योग्य लाभो का अनुमान लगाते समय, मूल्यह्रास प्रभार को उसमे से घटा देना चाहिए।

मूल्यह्रास का निर्धारण करने की कठिनाइयां

पूँजीगत साज-सज्जा तथा अन्य परिसम्पत्तियो के मूल्य ह्रास का निर्धारण करने में कई व्यावहारिक कठिनाइयां सामने आती है। सर्वप्रथम, किसी भी फर्म को इस बात का पूर्णतया ठीक-ठीक ज्ञान कभी नही हो सकता कि कोई परिसम्पत्ति कितने वर्षों तक काम करने योग्य रहेगी। फर्म के अनुमान सही भी सिद्ध हो सकते है और गलत भी। दूसरे, ऐसी कोई सन्तोषप्रद एव उपयोगी रीति नही है जिसके अनुसार मूल्यह्रास प्रभार को उन वर्षो के बीच बांटा जा सके जिनमे कि पूँजीगत परिसम्पत्ति (capital asset) प्रयोग मे रहेगी। अन्य शब्दो में कहा जा सकता है कि मूल्यह्रास का हिसाब लगाने का कार्य सभी जगह मनमाने तरीको पर आधारित होता है। तीसरे, किसी विशिष्ट वर्ष मे लगाये गये मूल्यह्रास की रकम का कोई खास महत्त्व नही होता, क्योकि बाद के वर्षो मे जो समायोजन (adjustments) किये जाते है वे शुरू के वर्षों की अपर्याप्त अथवा अत्यधिक धनराशियो की क्षतिपूर्ति कर देते है। इसके विपरीत समस्या तो तब उत्पन्न होती है जबकि किसी फर्म को अपनी एक निश्चित मात्रा से अधिक हानियो को आगे लाभ के वर्षों मे ले जाने की आज्ञा नही होती अथवा तब जबकि करो की दरें आरोही (progressive) होती है या उनमे घट-बढ होती रहती है। उदाहरण के लिये, भारी हानियो के वर्षों मे फर्म मूल्यह्रास

---

6. A. R Prest : Public Finance, p 335

(business corporations) की कुल आय (gross income) में से ब्याज तथा किराये को घटाया जाए या नहीं। यह बात सदा स्वीकार की जाती रही है कि कम्पनी अपने ऋण-पत्रों (debentures) पर जो ब्याज अदा करती है उसे तो कम्पनी की कर-योग्य क्षमता (taxable capacity) का माप करने के लिए उसकी कुल आय में से घटाया जाना चाहिए, किन्तु अंशधारियों को दिये गये लाभांश नहीं घटाये जाने चाहिये। निगमों अथवा कम्पनियों की कर योग्य आय की परिभाषा से सम्बन्धित यह एक ऐसी समस्या है जो चिरकाल से चली आ रही है। कम्पनी की उस आय पर, जो ब्याज अदा करने में उपयोग की जाती है, और उस आय पर जो लाभांश (dividents) देने में व्यय की जाती है। कर लगाते समय किये जाने वाले भेद-भाव को कभी कभी बड़ा तर्कहीन माना जाता है। यही नहीं, यह भी कहा जाता है कि निगमों अथवा कम्पनियों के वित्तीय ढाँचे पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है (जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं)। इस सम्बन्ध में दो सुझाव दिये जाते हैं। पहला तो यह कि लाभांशों को भी कुल आय में से घटाया जाए और दूसरा सुझाव यह है कि दिये गये ब्याज को कुल आय में से घटाने की छूट को भी वापिस लिया जाए। यदि पहले सुझाव को स्वीकार किया जाता है तो उसका परिणाम यह होगा कि निगम आय-कर केवल अवतरित लाभों पर ही लगाय जायेगा, वितरित लाभों पर नहीं। इस प्रश्न पर "एकीकरण" शीर्षक के अन्तर्गत आगे विचार किया गया है। जहाँ तक दूसरे सुझाव का सम्बन्ध है, यह कहा जाता है कि यदि कम्पनी की कुल आय में से ब्याज को घटाने की छूट समाप्त की गई तो यह एक बड़ा कठोर पग होगा क्योंकि ऐसा करने से कम्पनियों की कर-देयताओं (tax liabilities) में वृद्धि हो जायेगी।

ब्याज के प्रश्न के समान ही, एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि फर्मों द्वारा सम्पत्ति के उपयोग के बदले में अदा किये जाने वाले किराये के साथ क्या व्यवहार किया जाए? यदि उधार लिये गये धन पर दिये गये ब्याज को कुल आय में से घटाने की व्यवस्था है, तो अदा किये गए किराये को भी इसी प्रकार क्यों न घटाया जाए? सम्पत्ति (property) को प्राप्त करने के लिए उधार लिये गये धन पर ब्याज की अदायगी तथा ऐसी ही सम्पत्ति का उपयोग करने के लिए दिये गये किराये की अदायगी में कोई बड़ा आर्थिक अन्तर नहीं है। हाँ, इस सम्बन्ध में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं। अत इस समस्या पर—जिसे कि एक आधारभूत (fundamental) समस्या माना जाता है—अधिक विस्तार से विचार कर सकना बड़ा कठिन होगा। निष्कर्ष यह है कि व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण तथा सम्भावित आर्थिक प्रतिक्रियाओं के कारण निगम-कर के आधार को विस्तृत करके अदा किये गये ब्याज तथा शुद्ध किराये को उसमें सम्मिलित करना वाञ्छनीय नहीं होगा।

निष्कर्ष (Couclusion)

कर लगाने के उद्देश्य से यदि निगमों अथवा कम्पनियों की आय के साथ समुचित व्यवहार किया जाना है तो उसके लिए यह आवश्यक होगा कि व्यावसायिक निगम अथवा कम्पनी की कर-योग्य आय की एक उचित एवं उपयुक्त परिभाषा की जाए, उसमें यथेष्ट सुधार किया जाए और उसको ठीक प्रकार लागू किया जाए। इस सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं—एक तो शेष माल के मूल्यांकन (inventory valuation) की और दूसरी मूल्य-ह्रास प्रभार (deqreciation charges) की। इस सम्बन्ध में अभी तक कोई अन्तिम हल नहीं खोजा जा सका है और इस स्थिति के जारी रहने तक कर योग्य लाभों की माप का कार्य अपूर्ण एवं अपर्याप्त ही माना जायेगा।

निगम आय-कर तथा वैयक्तिक आय-करों का एकीकरण
(Integration of Corporate and Personal Income-taxes)

लोकवित्त में एक ऐसा प्रश्न, जिस पर व्यापक रूप से विचार किया जाता रहा है, यह है कि व्यक्तियों एवं निगमों की आय पर लगाये जाने वाले करों के बीच क्या सम्बन्ध हो तथा आंशिक या पूर्ण रूप से इन करों का एकीकरण कहाँ तक आवश्यक है? करों के एकीकरण के सम्बन्ध में किया जाने वाला विचार इस मान्यता पर आधारित है कि आय पर कर, जहाँ तक भी सम्भव हो सके, एक समान दर से लगाया जाना चाहिए—बिना इस बात की परवाह किये कि उस व्यावसायिक संगठन का रूप क्या है जिसके द्वारा कि आय कमाई जा रही है? इस भाग में हम

छूट न देने का यह अर्थ होगा कि पूँजीगत सामान का बदल ही न किया जा सकेगा ।"[7] अनेक बड़े प्रेक्षक तथा कमेंटियाँ इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि जैसा कि संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ दावा करती हैं, स्फीति सम्बन्धी दशाओं के फलस्वरूप उद्योगों की भौतिक पूँजी का क्षरण नहीं हुआ है ।

मूल्य-ह्रास समस्या तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाएँ (Depreciation Problem and Under-developed Economies)

मूल्य-ह्रास की लागत प्रतिस्थापन पद्धति (replacement cost system of depreciation) को यद्यपि कम्पनियों की कर-योग्य आय के माप के एक सिद्धान्त के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, किन्तु फिर भी एक अल्पविकसित देश में विनियोग (investment) को प्रोत्साहन देने वाले एक प्रभावपूर्ण साधन के रूप में अवश्य इसका प्रयोग किया जा सकता है । ऐसे देश की सरकार को विनियोग देने के उद्देश्य से सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करनी होती है । नई चालू की जाने वाली कम्पनियों के लिए तथा पहले से ही चालू कम्पनियों को विस्तार कार्यक्रमों के लिए जो कर-छुट्टियाँ (tax holidays) तथा कर-मुक्तियाँ (tax-exemptions) प्रदान की जाती है उनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है । विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए विशिष्ट आर्थिक सहायताएँ प्रदान की जाती है । मूल्य-ह्रास सम्बन्धी उदार छूटें प्रदान करने की कोशिश की जाती है जिससे कि कम्पनियों की कर-देयताओं (tax liabilities) में इस आधार पर कमी की जा सके कि इससे विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा । इस सम्बन्ध में, टूट-फूट की छूटों (wear and tear allowances) को भी पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से प्रतिस्थापन लागत के आधार (replacement cost basis) के अनुकूल समायोजित (adjust) करने का प्रयत्न किया जाता है । मूल्य-ह्रास के प्रतिस्थापन-लागत-आधार का औचित्य (justification) समता (equity) के आधार पर नहीं, अपितु उपयुक्तता (expediency) के आधार पर सिद्ध किया जाता है । फिर, यह पद्धति उन फर्मों का लाभ पहुँचायेगी जिनके पास अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पूँजीगत साजसज्जा है और साथ ही उन फर्मों को भी, जो कि अपनी पूँजी पर प्रतिफल की निम्न दर प्राप्त कर रही है । संयुक्त राज्य अमेरिका में अनुभव पर आश्रित प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि प्रतिस्थापन लागत आधार को लागू करने से भिन्न-भिन्न उद्योगों तथा भिन्न-भिन्न फर्मों को उसके अत्यधिक असमान लाभ प्राप्त होंगे ।

प्रतिस्थापन लागत आधार के विरुद्ध, कुछ लोगों ने मूल्य-ह्रास प्रभारों (depreciation charges) तथा विनियोग सम्बन्धी छूटों (investment allowances) के मिश्रण का इस उद्देश्य से सुझाव दिया है जिससे कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत विनियोग को प्रोत्साहन मिल सके । इस स्थिति में, मूल्य-ह्रास प्रारम्भिक अथवा मूल लागत की पूर्ति के लिए लगाया जाता है और साथ ही साथ विनियोग के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है । यह कहा जाता है कि यह पद्धति विनियोग करने की क्षमता तथा इच्छा में वृद्धि करेगी ।

अन्त में कहा जा सकता है कि मूल्य-ह्रास सम्बन्धी छूट की व्यवस्था ने जोखिम उठाने की भारी प्रेरणाएँ प्रदान की हैं, किन्तु देखना यह चाहिए कि इसके लाभ, जहाँ तक भी सम्भव हो सके, सभी उद्योगों को प्राप्त हो सकें । मूल्य-ह्रास सम्बन्धी छूटों की व्यवस्था का यदि समुचित रूप से उपयोग किया जाए तो इससे कर-योग्य निगम-लाभों का माप करने में बड़ी सहायता मिल सकती है ।

दिया गया ब्याज तथा शुद्ध किराया
(Interest and Net Rent Paid)

बहुत समय पूर्व से ही यह प्रश्न विवाद का विषय बना हुआ है कि व्यावसायिक निगमों

7. A R. Prest op cit pp, 311-312 "There is no holy writ that replacement of capital equipment can only be met from accumulated depreciation fund. There are many other funds (e g past or current undistributed profit) which would have to be exhausted before it could be deduced that inadequate depreciation accounting would mean failure to replace capital equipment"

न्धित कर-भार (incidence of taxation) की समस्या पूर्णतया अर्थशास्त्र के क्षेत्र से ही सम्बन्धित है। यह हो सकता है कि सरकार कोई कर (tax) यह सोचकर लगाये कि उसका द्रव्य-भार (money burden)—जिसे कि आमतौर पर कर-भार कहा जाता है—लोगो के एक विशेष वर्ग पर पड़े। परन्तु कर-भार (incidence of taxation) मांग और पूर्ति पर निर्भर करेगा जो कि सरकार द्वारा प्रारम्भ मे सोचे गये मार्ग के अनुसार क्रियान्वित हो भी सकता है और नही भी। इस प्रकार कर-भार की समस्या—जो कि लोकवित्त का बड़ा महत्वपूर्ण विषय है—पूर्णतया अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। अन्त मे, राजकोषीय नीति अर्थात् कराधान, सरकारी व्यय तथा सरकारी ऋण के सम्बन्ध मे सरकार की नीति लोकवित्त का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है और सन् १६३० की महान् मन्दी के काल से ही यह अधिकाधिक ध्यान आकर्षित करता रहा है। सी० एफ० बैस्टेबिल (C. F. Bastable) के अनुसार, "अर्थशास्त्र के आधारभूत नियमो के अभाव में लोकवित्त के नियमों का निर्माण करना सम्भव नही है।"

(II) लोकवित्त तथा राजनीति विज्ञान या शास्त्र का सम्बन्ध (Relationship between Public Finance and Political Science).

डाल्टन (Dalton) के अनुसार, लोकवित्त, अर्थशास्त्र एव राजनीति-विज्ञान की मध्यवर्ती सीमा पर स्थित है। इससे यह प्रतीत होता है कि लोकवित्त तथा राजनीति-विज्ञान दोनों का आपस मे बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुत किसी भी देश की आर्थिक नीति एव लोकवित्त व्यवस्था मुख्य रूप मे इस बात पर आधारित होती है कि उस देश का राजनीतिक ढांचा कैसा है तथा उस देश की राजनीतिक अभिलाषाएँ क्या हैं? राजनीति के नियम कुछ ऐसी कच्ची सामग्री प्रदान करते हैं जिनकी सहायता से हम राजस्व के नियमो का निर्माण करते हैं। ब्रिटेन का सवैधानिक इतिहास (constitutional history) उस सघर्ष (struggle) से भरा पड़ा है जो कि वहां के राजा (king) तथा ससद (parliament) के बीच राष्ट्रीय कोष पर नियन्त्रण करने के लिए हुआ करता था। "बिना प्रतिनिधित्व के कराधान एक अत्याचार है" ("Taxation without representation si tyranny")—यह वह सुप्रसिद्ध नारा था जिससे प्रेरणा लेकर अमरीका के १३ उपनिवेश (colonies) स्वतन्त्र हुए और जिनका नाम 'सयुक्त राज्य अमरीका' (United States of America) पड़ा। तथ्य यह है कि मतदान (voting) तथा कराधान (taxation) के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। करदाता यह चाहता है कि वह उन तरीको पर नियन्त्रण करे अथवा कम से कम उन्हे प्रभावित अवश्य करे जिनके द्वारा कि सरकार उससे लिये हुए धन को खर्च करती है। धन का उत्पादन एवं वितरण, देश के उद्योगों का स्थायित्व, नियन्त्रण एवं नियमन सम्बन्धी निर्णय, बहुत कुछ हद तक देश का राजनैतिक ढांचा, राजनैतिक संस्थाओ एवं जनता के राजनैतिक कलेवर पर ही निर्भर रहते हैं।

(III) लोकवित्त तथा मनोविज्ञान का सम्बन्ध (Relationship between public Finance and Psychology)

इनके अतिरिक्त लोकवित्त तथा मनोविज्ञान (Psychology) मे भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है। चूंकि लोकवित्त मनुष्यो से सम्बन्ध रखता है, अत इसकी अधिकाश समस्याएँ मानवीय समस्याएँ (human problems) हैं तथा वे मानव-व्यवहार (human behaviour) पर निर्भर करती हैं, और यह मानव-व्यवहार ही मनोविज्ञान की विषय-सामग्री है। कम्पनियो के लाभो पर लगाये जाने वाले कर के मामले को ही लीजिए। चूंकि लाभ "जोखिम उठाने के पुरस्कार" समझे जाते हैं, अत. यदि कम्पनी के लाभो पर कर मे वृद्धि की जाये, तो यह हो सकता है कि मिश्रित पूंजी वाले उद्यमो (Joint stock ventures) में होने वाले विनियोग (investment) पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़े, परन्तु यह भी सम्भव है कि लोगो में जुआ खेलने की भावना (gambling spirit) अत्यन्त तीव्र रूप में विद्यमान हो। अतएव वे औद्योगिक उद्यमो (industrial ventures) मे उस समय तक विनियोग करना जारी रखेंगे जब तक कि उनमे जोखिम रहेगी, तथा कुछ न कुछ लाभ प्राप्त होने की सम्भावना रहेगी। अनेक सरकारो ने लोगो की जुए की इस प्रवृत्ति के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से पूंजी प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। भारत मे प्रचलित 'इनामी बॉण्ड पद्धति' इसका

एकीकरण के स्वरूप एवं उद्देश्यो पर तथा एकीकरण के लिए अपनायी जाने वाली विभिन्न रीतियो पर विचार करेंगे।

एकीकरण का स्वरूप तथा उद्देश्य (Nature and Purpose of Integration)

निगम आय-कर तथा वैयक्तिक आय-कर के एकीकरण की मूलभूत मान्यता के पीछे लोगो का यह विश्वास है कि व्यावसायिक निगम अथवा कम्पनियाँ कर लगाने के लिए उपयुक्त पात्र ही नही हैं। एकीकरण का उद्देश्य यह है कि वैयक्तिक आमदनियो के कराधान पर निगम जैसे सगठनो के प्रभाव को न्यूनतम किया जा सके और यदि सम्भव हो तो उसे पूर्णतया समाप्त किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, कराधिकारियो (tax authorities) से कहा जाता है कि वे निगमो की आमदनियो सहित सभी प्रकार की आय को वैयक्तिक कराधार (individual tax base) के पैमाने से ही नापें। इस लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय यह है कि सभी अशधारियो पर कुल लाभ मे उनके द्वारा प्राप्त किये गये अपने-अपने भाग के अनुसार ही कर लगाया जाये। इस व्यवस्था मे, चूँकि सगठन के सामूहिक स्वरूप को पूर्णतया उपेक्षित कर दिया गया है अत निगम आय-कर स्वयं ही समाप्त हो जायेगा। इसके विपरीत, अशधारियों पर भी कर तब लगेगा जब वे निगम-लाभ (corporate profit) को लाभाशो (dividends) के रूप मे प्राप्त करेंगे। इस पद्धति का मुख्य लाभ यह है कि इसमे कम्पनी के लाभो पर उस समय तक कोई कर नही लगेगा जब तक कि वे कम्पनी मे ही वर्तमान रहेंगे। जैसे-जैसे और जितनी-जितनी मात्रा मे ये लाभ अशधारियो के पास लाभाशो के रूप मे जाते रहेंगे वैसे-वैसे ही और उतने-उतने लाभाशो के आधार पर ही अशधारियो पर कर लगाया जाता रहेगा। इसके अतिरिक्त, यह पद्धति कम्पनियो को इस योग्य भी बनाती है कि वे अपने विस्तार कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था स्वय अपने ही आन्तरिक स्रोतो से कर सकें।

एकीकरण का एक अन्य वैकल्पिक प्रस्ताव यह भी है कि निगम आय-कर को तो जारी रखा जाए और उन लाभाशो को वैयक्तिक आय के कराधान के क्षेत्र से बाहर रखा जाए जो कि अशधारी निगम-लाभो के अपने भाग के रूप मे प्राप्त करे। परन्तु इस प्रस्ताव के सम्बन्ध मे एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि आरोही कर-ढाँचे (progressive structure) से व्यक्तिगत आय के एक बडे भाग को हटा देने का अर्थ समता एव न्याय के सर्वमान्य सिद्धान्त का उल्लघन ही होगा, और यही नही, यह बडी-बडी आमदनियो तथा धनराशियों की जमाखोरी मे भी विशेष रूप से सहायक होगा।

निगम आय-कर तथा वैयक्तिक आय-करो के एकीकरण का समर्थन दो आधारो पर किया जाता है—एक तो समता (equity) के आधार पर और दूसरा आर्थिक दृष्टिकोण के आधार पर। समता के दृष्टिकोण से इस बात पर जोर दिया जाता है कि व्यावसायिक निगम या कम्पनी कर लगाने की दृष्टि से उपयुक्त पात्र नही हैं और यह कि निगम के लाभो पर विशेष रूप से कर लगाया जाए तो उसे कर की दृष्टि से आय का कोई तर्कसगत वर्गीकरण नही माना जा सकता। पूर्ण एकीकरण से कर-पद्धति मे पाया जाने वाला स्वेच्छाचारिता अथवा मनमानेपन का वह लक्षण भी समाप्त हो जायेगा जिसके अन्तर्गत कि वितरित तथा अवितरित दोनो ही प्रकार के निगम-लाभो पर अशधारियो की अन्य आय की तुलना मे न्यूनाधिक रूप मे भारी कर लगाये जाते है। इसके अतिरिक्त एकीकरण से कर-पद्धति के आरोही स्वरूप (progressive character) मे भी वृद्धि होगी क्योकि इसके द्वारा एक ऐसा कर समाप्त कर दिया जायेगा जो कि कम आय वाले अशधारियो के विरुद्ध भेद-भाव करता है।

आर्थिक दृष्टिकोण से, इन दोनो ही प्रकार के आय करो के एकीकरण से यह आशा की जाती है कि व्यक्तियो के पास से नई इक्विटी पूँजी अधिक आने के कारण विनियोग (investment) की मात्रा मे वृद्धि हो जायेगी। यह भी कहा जाता है कि एकीकरण के कारण चूँकि व्यावसायिक सगठनो के स्वरूप पर तथा उनके द्वारा की जाने वाली वित्तीय व्यवस्था के साधनो पर करो के प्रभाव (tax influence) मे कमी हो जायेगी अत व्यावसायिक उद्यमो एव उद्योगों मे विनियोग का बँटवारा अधिक ठीक प्रकार मे हो सकेगा। कुछ लोग यह भी दावा करते हैं कि एकीकरण

(integration) से करों का यह दबाव भी समाप्त हो जायेगा जिसके कारण वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती है और मजदूरियाँ कम हो जाती हैं।

निगम तथा वैयक्तिक आय-करों के एकीकरण के प्रश्न के हल के लिए दो प्रमुख उपाय अपनाये जाते है। प्रथम उपाय, जिसे कि 'पूर्ण एकीकरण दृष्टिकोण' कहा जाता है, के अन्तर्गत निगमों (corporations) को साझेदारियाँ (partnerships) समझा जाता है। दूसरा उपाय, जिसे 'आंशिक एकीकरण दृष्टिकोण' का नाम दिया जाता है, अदा किये गये निगम-करों के बदले में अंशधारियों को उनकी वैयक्तिक आय कर सम्बन्धी देयताओं में छूट प्रदान करता है। अब हम इन दोनों ही उपायों पर पृथक्-पृथक् विस्तार से विचार करेंगे।

पूर्ण एकीकरण—साझेदारी रीति (Full Integration—Partnership Method).

साझेदारी रीति (partnership method) जो कि पूर्ण एकीकरण करने की एकमात्र रीति है, व्यावसायिक निगम को पूर्णतया उपेक्षित करती है और इसमें कम्पनी की सम्पूर्ण आमदनियों के लिए प्रत्यक्ष रूप से अंशधारियों पर ही कर लगाया जाता है। इस रीति के अन्तर्गत, निगम आय कर का तो परित्याग कर दिया है परन्तु निगम के लाभों में से जो लाभांश दिए जाते हैं उन पर नियमित आय (regular income) के समान ही कर लगाया जाता है। यही नहीं, यहाँ तक कि अवितरित लाभों (undistributed profits) का भी पृथक्-पृथक् अंशधारियों के नाम बँटवारा कर दिया जाता है और तदनुसार अंशधारियों पर कर लगा दिया जाता है, भले ही वे लाभ चाहे अंशधारियों द्वारा प्राप्त न भी किए गये हों। अन्य शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि कर के सम्बन्ध में साझेदारियों के साथ जो व्यवहार किया जाता है, वही व्यवहार इस रीति के अन्तर्गत कम्पनियों से किया जाता है। इस प्रकार, इस रीति के अन्तर्गत निगमों अथवा कम्पनियों की सभी आमदनियों पर कर-भार (tax burden) उतना ही पड़ता है जितना कि अन्य किसी आय पर।

यह कहा जाता है कि साझेदारी रीति ऐसी छोटी-छोटी एवं सीमित परिधि वाली प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों अथवा ऐसे निगमों पर लागू होती है जिनमें तथा साझेदारियों में कोई मौलिक भिन्नता नहीं होती। छोटी-छोटी कम्पनियों की कमाई (earnings) का विभिन्न अंशधारियों के बीच सरलता से बँटवारा किया जा सकता है। फिर, चूँकि निगम की लाभांश नीतियों के निर्धारण में अंशधारियों का प्रत्यक्ष हाथ होता है, अतः वे ऐसी किन्हीं भी कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं जो कि कम्पनी की उस आय पर कर लगान के कारण उत्पन्न हुई हों जो वास्तव में उन्हें लाभांश के रूप में प्राप्त ही न हुई हों। दूसरी ओर, साझेदारी रीति बड़ी-बड़ी सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियों (public limited companies) के लिए उपयुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में दो बड़ी कठिनाइयाँ सामने आती है। प्रथम कठिनाई तो यह है कि सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनी के शेयर अनेक प्रकार के हो सकते है और इस स्थिति में निगम की आय का उन भिन्न-भिन्न अंशधारियों के बीच बँटवारा करना कठिन होगा। दूसरी कठिनाई यह है कि औसत अंशधारी का कम्पनी के प्रबन्ध पर कोई प्रभाव या नियन्त्रण नहीं होता और न ही वह लाभांश नीति को प्रभावित कर सकता है। इस स्थिति में, अंशधारियों का ऐसी राशियों पर कर अदा करने के लिए बाध्य किया जा सकता है जो कि उन्होंने प्राप्त नहीं की हैं (अर्थात अवितरित लाभ) और जिनके (रकमों के) वितरण पर वे वस्तुतः अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि अंशधारियों के लिए अनावश्यक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी और उसके फलस्वरूप पुराने तथा नये उद्यमों में सामान्य अंश खरीदने के बारे में लोग हतोत्साहित होंगे।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि उपयुक्तता (expediency) तथा सिद्धान्त (principle), दोनों ही कारणों से निगम-कर तथा वैयक्तिक करों के एकीकरण की साझेदारी रीति (partnership method) का सामान्य रीति (general method) के मुकाबले सीमित ही माना जाता है।

आंशिक एकीकरण (Partial Integration)

पूर्ण एकीकरण की कमियों के कारण, आंशिक एकीकरण के अनेक सुझाव दिये गये है। आंशिक एकीकरण इस मान्यता पर आधारित है कि निगम आय-कर तथा वैयक्तिक आय-कर, दोनो को एक साथ लगाने से दोहरा कराधान (double taxatoin) हो जाता है। आंशिक एकीकरण के प्रस्तावो द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि वितरित लाभों के इस तथाकथित (so called) दोहरे कराधान को कम किया जाए अथवा इसे पूर्णतया समाप्त कर दिया जाए। इस रीति का साराश यह है कि लाभो के उस भाग पर जो कि लाभाशो के रूप मे दिया जाता है, कम्पनी द्वारा अदा किए जाने वाले करों मे छूट प्रदान कर दी जाती है। आंशिक एकीकरण की इस रीति को तीन विभिन्न रूपो मे अपनाया जा सकता है जिनका विवेचन नीचे किया गया है।

(१) लाभांश भुगतान छूट रीति (Dividends paid credit method)—इस रीति मे, निगम आय-कर को जारी रखा जाता है और वैयक्तिक आय-कर के स्वरूप मे भी कोई परिवर्तन नही होता; परन्तु कम्पनियो द्वारा अदा किए गए ब्याज के लिए उन्हे प्रदान की जाने वाली घटौनी अथवा छूट के साथ ही साथ भुगतान किए गए लाभाशो के लिए छूट प्रदान की जाती है। भुगतान किये गए लाभाशो की पूर्ण छूट प्रदान किए जाने के पश्चात् निगम आय-कर का वितरित लाभो से कोई सम्बन्ध नही रहेगा बल्कि यह एक ऐसा निगम-कर होगा जो अवितरित लाभो पर लगेगा। इसी कारण, इस रीति को 'अवितरित लाभ-कर रीति' (undistributed profits-tax method) का भी नाम दिया जाता है।

(२) उगाही रोक रीति (Withholding levy method)—इस रीति के अन्तर्गत, लाभो पर लगाये गये निगम कर को ठीक उसी प्रकार एक रोकी हुई उगाही माना जाता है, जैसे कि मजदूरियों तथा वेतनों पर लगाये गये वैयक्तिक आय-कर के लिए रोकी हुई वसूली (withholding collections)। कम्पनी लाभाश-आय पर जो कर अदा करती है उसकी सूचना अशधारियो को दे देती है। अशधारी जब अपनी आय-कर देयताओ (income-tax liabilities) का निर्धारण करता है तो वह अपनी आय मे लाभाशो के साथ ही साथ, लाभाश-आय (dividend income) पर कम्पनी द्वारा अदा किये गये कर को भी सम्मिलित करता है। अपनी कर-देयता का हिसाब लगाने के बाद, वह अपने कर (tax) मे से कम्पनी द्वारा अदा किये गये निगम-कर का सूचित भाग (reported share) घटा देता है और तत्पश्चात् शेष कर का भुगतान कर देता है। परन्तु यदि उसकी कुल आय इतनी है कि 'रोकी हुई धनराशि' (with-held amount) उसकी कुल आय कर देयता से अधिक हो जाती है तो उसे शेष धनराशि वापिस मिल जाती है। इस रीति से लाभाश-आय के साथ पूर्णतया समान एव न्याययुक्त व्यवहार का आश्वासन मिलता है।

(३) प्राप्त लाभांश जमा रीति (Dividend received credit method)—इस रीति मे—जिसे कि 'प्राप्त लाभाश जमा रीति' (dividends received credit method) का नाम दिया जाता है—निगम लाभ-कर को तो जारी रखा जाता है परन्तु प्राप्त किये गये लाभाशो को वैयक्तिक आय-कर की दरो के एक भाग से मुक्त कर दिया जाता है। यह रीति सन् १९३६ से पूर्व सयुक्त राज्य अमेरिका मे अपनाई गई थी।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथम दोनो रीतियाँ, अर्थात् लाभाश भुगतान छूट रीति तथा उगाही रोक रीति, ऐसी बनाई जा सकती है कि उनके द्वारा प्रत्येक अशधारी पर तथा निगम पर पूर्णतया एक समान कर लगे। दोनों ही प्रकार की रीतियाँ लाभाशो तथा अन्य व्यक्तिगत आय पर लगने वाले करो की पूर्णतया समान कर सकती हैं। यही नही, ये वितरित लाभो पर लगने वाले निगम कर के किसी भी वांछित भाग को पूर्णतया समाप्त भी कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी नोट करने योग्य है कि पहली रीति तो कम्पनी-स्तर पर समायोजन (adjustment) करती है और दूसरी रीति वैयक्तिक कर-दाता के स्तर पर। यही नही, तथ्य यह भी है कि दोनो ही प्रकार की योजनाओ से स्टॉक पर मिलने वाले प्रतिफल मे, बिना इस बात की परवाह किये कि मालिक (owner) की आय कितनी है, समान मात्रा मे ही वृद्धि होगी। किन्तु इसके विपरीत, तीसरी रीति के अन्तर्गत जो लाभ प्राप्त होंगे वे विभिन्न कर-दाताओ के लिए भिन्न-भिन्न होंगे।

जिन अंशधारियों की आय कम है और जिन पर वैयक्तिक आय-कर नहीं लगता है, उन्हे उस छूट का लाभ प्राप्त नहीं होगा जो कि प्राप्त किये गये लाभांशों पर दी जाती है। अन्य सभी अंशधारियों को प्राप्त किये गये लाभांशों की धनराशि पर समान रूप से कर-घटौती की छूट प्राप्त होगी।

निष्कर्ष (Conclusion)

यह आवश्यक नहीं है कि आंशिक एकीकरण की इन विभिन्न रीतियों का अधिक गहन अध्ययन किया जाए। यह कहा जा सकता है कि इन सभी रीतियों में 'लाभांश भुगतान छूट रीति' (dividends paid credit method) सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु जहाँ तक छोटे तथा सीमित परिधि वाले व्यवसाय का प्रश्न है, उसके लिए साझेदारी नीति सर्वोत्तम है।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के एकदम पूर्व तथा उसके पश्चात् वैयक्तिक आय-कर तथा निगम आय कर के एकीकरण की आवश्यकता को व्यापक महत्ता एवं मान्यता प्राप्त हुई है। पर अभी हाल के कुछ वर्षों में इसके विपरीत अब इस विचार को अधिकाधिक समर्थन प्राप्त हुआ है कि कर लगाने की दृष्टि से तथा सामान्य राजकोषीय तत्वों के आधार पर कर को अधिकाधिक न्यायोचित बनाने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कम्पनियों का पृथक् अस्तित्व मानकर ही उनसे व्यवहार किया जाये।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1 Richard Goode The Corporation Income-Tax Chap 3, 7, 10.
2 A. R. Prest Public Finance, Chapters 16 and 17.
3 John Due Government Finance, Chapter 18.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१ निगम आय का कराधान से क्या आशय है ? क्या आपकी सम्मति में व्यावसायिक निगमों पर कर लगाया जाना चाहिए ?
What is meant by Corporation Income Tax ? Should in your opinion the Business Corporations be taxed ?

२ निगम आय-कर के आर्थिक प्रभावों की विवेचना कीजिए।
Discuss the economic effects of Corporation Income-tax

३. निगमों के कर योग्य लाभों के माप को समझाइए।
State and explain the measurement of taxable profit of Corporations.

४. निगम आय-कर तथा वैयक्तिक आय-करों के एकीकरण पर एक टिप्पणी लिखिए।
Write a note on intigration of Corporation and Personal Income-taxes

५ निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए —
(i) हितानुसार सिद्धान्त (The Benefit Theory)
(ii) कर अदा करने की सामर्थ्य का सिद्धान्त (Ability to-pay Theory)
(iii) ह्रास की छूटें (Depreciation Allowances)
(iv) ह्रास समस्या तथा अल्प-विकसित अर्थव्यवस्थाएँ (Depreciation problem and underdeveloped economies)

८

व्यय का कराधान
(Expenditure Taxation)

प्रारम्भिक—व्यय के कराधान की आवश्यकता (Need of Expenditure Taxation)

यद्यपि यह बात सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि आय (income) किसी भी व्यक्ति के आर्थिक कल्याण (economic welfare) का सबसे अधिक उपयुक्त मापक है, पर इसके बावजूद, कराधान के आधार के रूप मे व्यय (expenditure) को भी आय का प्रमुख विकल्प (alternative) माना जाता है। शताब्दियों पूर्व हॉब्स (Hobbes) के समय से ही इस सम्बन्ध मे अनेक तर्क दिये जाते रहे है कि कराधान की दृष्टि से व्यक्ति की आय के मुकाबले उसके व्यय पर अधिकाधिक, और कुछ लोगो के अनुसार पूर्ण भरोसा किया जा सकता है।[1] १७वी शताब्दी में ही हॉब्स ने लिखा था कि "कर लगाने में समता एवं न्याय से आशय एकसा उपभोग करने वाले व्यक्तियों के धन की समानता से उतना नहीं, जितना कि धन के उस भाग की समानता से है जिसका कि वे उपभोग करते हैं। वह कौन-सा कारण है जिसकी वजह से उस व्यक्ति पर अधिक कर लगाया जाए जो अधिक परिश्रम करता है और अपने परिश्रम के फल को अपने पास बचाकर थोड़ा सा उपभोग करता है, बमुकाबले उस व्यक्ति के जो सुस्त जीवन बिताता है, कम कमा पाता है और जो कमाता है उसे सबका सब इसलिये खर्च कर देता है क्योंकि वह समझता है कि उसे अन्य व्यक्ति की तुलना मे समाज के धन से और अधिक सरक्षण नहीं प्राप्त हो सकेगा ? परन्तु जब कर ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाते हैं जिन्हें कि सभी लोग उपभोग करते हैं तो उस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति वस्तु के उस भाग पर समान रूप से कर अदा करता है जिसका कि वह उपयोग करता है। इस स्थिति में कुछ लोगो की विलासिता पूर्ण फिजूल खर्चों द्वारा समाज के धन का दुरुपयोग भी नहीं होता है।" इस प्रकार हॉब्स ने समानता एव न्याय के आधार पर इस बात का समर्थन किया कि लोगों पर उनके द्वारा किये गये उपभोग के अनुसार ही कर लगाया जाए।

इसके पश्चात्, १९वी शताब्दी मे जॉन स्टुआर्ट मिल (John Stuart Mill) ने तर्क प्रस्तुत किये और 'आय तथा सम्पत्ति कर पर सन् १८६१ की चुनाव समिति (Select Committee), के समक्ष विशेष रूप से व्यय-कर के पक्ष का समर्थन किया। बाद मे, इगलैण्ड मे मार्शल और पीगू

---

१. व्यय-कर के सम्बन्ध मे निकोलस कॅल्डोर ने "An Expenditure Tax" नामक अपनी पुस्तक मे एक बडा सुन्दर ऐतिहासिक उद्धरण दिया है। देखिए उक्त पुस्तक की पृष्ठ संख्या ११-१७।

ने सयुक्त राज्य अमेरिका मे इविंग फिशर ने और इटली मे इनौडी ने प्रत्यक्ष करों के आधार के रूप मे व्यय का समर्थन किया। किन्तु प्रत्येक समय ही व्यय पर लगाये जाने वाले कर को सिद्धान्त रूप मे तो अच्छा माना गया, पर बाद मे उसे इसलिये छोड दिया गया क्योंकि प्रशासनिक दृष्टि से इसे लागू करना असम्भव सिद्ध हुआ। उदाहरण के लिए, मार्शल ने यह विचार व्यक्त किया कि व्यक्तिगत व्यय पर लगाया गया क्रमवर्धी कर (graduated tax) अन्य प्रकार के सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष करो से श्रेष्ठ है परन्तु साथ ही उसने व्यय-कर को एक "काल्पनिक लक्ष्य" (Utopian goal) बताया। कीन्स ने राष्ट्रीय ऋण व कराधान की काल्विन समिति (Colwyn Committee) के समक्ष साक्षी देते हुए व्यय-कर को यह कहते हुए रद्द कर दिया कि "**सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह कर संभवत उचित है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसको लागू करना सभव नहीं।**"[2] इस प्रकार, अधिकाश अर्थशास्त्रियों ने एक सैद्धान्तिक मामले के रूप मे ही इस प्रश्न पर विचार किया। इविंग फिशर मे पहले तक इस प्रश्न पर सैद्धान्तिक रूप मे ही विचार होता रहा। बाद मे फिशर ने यह बतलाया कि व्यय-कर को किस प्रकार एक व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है। यहाँ तक कि सन् १९५०-५१ तक मे भी, लाभ तथा आय के कराधान पर विचार के लिए नियुक्त शाही आयोग (Royal Commission) ने व्यय कर को अपनी विषय-सूची मे सम्मिलित करने मे इन्कार कर दिया। भारत म व्यय कर सन् १९५७ मे लगाया गया था तथा १९६२-६३ मे हटा लिया गया। सन् १९६४-६५ मे इसे पुन लगाया गया किन्तु १९६६-६७ मे इसे हटा लिया गया। भारत मे यह कर इस उद्देश्य से लगाया गया था कि इससे बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा तथा सरकार की आय मे वृद्धि होगी। किन्तु दुर्भाग्यवश इन उद्देश्यो की पूर्ति मे सफलता प्राप्त नही हो सकी और इस प्रकार अन्त मे सन् १९६६-६७ मे भारत मे इसे समाप्त कर दिया गया।

कर अदा करने की सामर्थ्य के मापक के रूप मे—व्यय बनाम् आय (Expenditure Versus Income as the Index of Ability)

लोकवित्त के लेखको ने आय-कर को कराधान (taxation) का एक आदर्श रूप माना है। साधारणतया आय को ही व्यक्तिगत करदाता की कर अदा करने की क्षमता के एक पूर्ण माप के रूप मे मान्यता दी गई है। आय पर प्रत्यक्ष रूप से लगाया गया कर सामान्यत अन्य किसी पर अन्तरित (shift) नही किया जा सकता है। इसी कारण यह कर आमतौर पर उन्ही लोगो पर पडता है जिन पर कि यह लगाया जाता है। इस कर मे प्रत्येक करदाता की व्यक्तिगत परिस्थितियो के अनुसार, अर्थात् उसके परिवार के आकार तथा चिकित्सा एव शिक्षा सम्बन्धी व्यय आदि के अनुसार, कमी-बेशी किये जाने की क्षमता है। अन्त मे, इस कर को आखिर तक क्रमवर्धी अथवा आरोही (graduated) बनाया जा सकता है। और इस प्रकार यह समता एव न्याय की प्रचलित विचारधाराओ की कसौटी पर भी खरा उतरता है। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जाता है कि आय-कर विभिन्न प्रकार के खर्चों के मध्य तटस्थ (neutral) रहता है, जबकि वस्तु करो (Commodity taxes) मे यह विशेषता नही पायी जाती। वस्तु कर तो कर दाताओं को इस बात के लिए प्रेरित करते है कि वे अपने खर्चों को इस प्रकार पुनर्व्यवस्थित करें कि जिसमें ऐसी वस्तुओं के प्रयोग मे किफायत हो सके जिन पर भारी कर लगे हैं। इस प्रकार, आयकर एक अच्छे कर की सभी शर्तों को पूरा करता है।

किन्तु इसके बावजूद, व्यय-कर के समर्थक व्यक्तिगत करदाता की कर अदा करने की सामर्थ्य के माप के रूप मे आय के तथाकथित लाभों पर आपत्ति करते हैं। यह तो सभव हो सकता है कि आय-कर के सब लाभो को स्वीकार कर लिया जाए, परन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आय व्यक्ति की करदेय क्षमता (taxable capacity) को मापने की सबसे अधिक सन्तोषजनक एवं खरी कसौटी है?

व्यक्तियो के मामले मे करदेय क्षमता की विचारधारा की व्याख्या हम पहले ही कर चुके है, अतः यहाँ उन सभी तर्कों को फिर से दोहराने की कोई आवश्यकता नही है। **कर अदा करने की योग्यता के अनुसार कराधान** (taxation according to ability) एक ऐसा सर्वमान्य

---

2. Kaldor An Expenditure Tax p 12, "It was perhaps theoretically sound but it was practically impossible"

सिद्धान्त है जिसे न केवल राजनीति एवं अर्थशास्त्र के लेखकों ने, अपितु जनता ने स्वीकार किया है परन्तु कर अदा करने की योग्यता की विचारधारा का विश्लेपण विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। १९वीं शताब्दी में जे० एस० मिल (J S Mill) ने "ऐसे कराधान (taxation) का समर्थन किया जो साधनों (means) के अनुसार आरोही (progressive) हो।" परन्तु इस व्याख्या से दो कठिनाइयाँ सामने आईं। एक तो यह कि 'साधनों का ठीक-ठीक अर्थ क्या है; और दूसरी यह कि कर को किस सीमा तक आरोही बनाया जाए कि जिससे समता एवं न्याय की प्रचलित विचारधारा का सही रूप में अनुसरण हो सके ?

"साधनों" (means) की सर्वाधिक व्यापक रूप से स्वीकृति परिभाषा के अनुसार इसका अर्थ है "व्यय करने की शक्ति (spending power), अर्थात् अपनी निजी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की व्यक्ति की योग्यता अथवा शक्ति। लोगों का यह विश्वास है कि करदेय क्षमता के मापक के रूप में वास्तविक व्यय की तुलना में 'व्यय करने की शक्ति' की विचारधारा अधिक श्रेष्ठ है। इसका आंशिक कारण तो यह धारणा है कि वास्तविक व्यय (actual expenditure) के मुकाबले व्यय-शक्ति पर लगाया गया कर अधिक आरोही होता है, क्योंकि एक निश्चित न्यूनतम सीमा के पश्चात, किसी व्यक्ति की व्यय करने की शक्ति जितनी अधिक होती है, उसको उतने ही कम अनुपात में व्यय करने की सम्भावना होती है। इसका दूसरा आंशिक कारण लोगों का यह सामान्य मत है कि कराधान की एक न्यायपूर्ण पद्धति, जहाँ तक भी सम्भव हो सके, व्यक्तियों के निर्णयों एवं उनकी मानसिक प्रवृत्तियों से स्वतन्त्र होनी चाहिए। इस स्थिति में यह अच्छा है कि व्यक्ति की करदेय क्षमता के एक अधिक उपयुक्त मापक के रूप में उस धनराशि को मान्यता दी जाए जिसे कि वह व्यक्ति खर्च कर सकता है, बमुकाबले उस धनराशि के जिसे कि वह खर्च करने का निर्णय करे।

व्यय-कर के पक्ष में तर्क
[The Case for an Expenditure-Tax]

(१) आय-कर की कमियाँ (Weaknesses of Income-Tax) :

व्यय-कर के पक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं उनका उद्गम स्थान वे कमियाँ हैं जो कि किसी व्यक्ति की कर अदा करने की योग्यता के एकमात्र आधार के रूप में आय के अन्तर्गत पाई जाती हैं। जैसा कि कॅलडोर ने कहा है कि "कोई भी कर-व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत उपभोग तथा बचत दोनों (अर्थात् आय) पर कर लगाया जाता हो, यह निश्चित है कि देर अथवा सवेर अपने लक्ष्य से पथभ्रष्ट हो जायेगी और विभिन्न व्यक्तियों के बीच समता एवं न्याय की दृष्टि से उसके गम्भीर परिणाम होंगे।[3] व्यय-शक्ति (spending Power) के स्रोत—अर्थात् आय, अनेक हैं और एक दूसरे से भिन्न है। इस भिन्नता के कारण ही इन स्रोतों को किसी एक ही समान मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता। उदाहरण के लिए, मजदूरियों एवं वेतनों के रूप में होने वाली आय एक नियमित एवं समान प्रवाह (flow) की सूचक होती है, जबकि स्टॉक तथा अंशों अथवा असल सम्पत्ति के ब्याज के रूप में होने वाली आय का रूप कुछ भिन्न होता है। इन बाद के स्रोतों से न केवल आय ही प्राप्त होती है, बल्कि बेची जा सकने वाली उस सम्पत्ति पर अधिकार होने से व्यक्ति को एक ऐसी सम्भाव्य व्यय-शक्ति (potential spending power) प्राप्त होती है जो उससे होने वाली आय से बिल्कुल पृथक् होती है। इसी प्रकार, पूँजीगत लाभों के रूप में होने वाली आय अथवा उपहार (gift) और वसीयत (bequests) के द्वारा प्राप्त होने वाली आय पूर्णतया अनियमित होती है तथा उस पर बिल्कुल निर्भर नहीं रहा जा सकता। वर्तमान आय-कर पद्धति अत्यधिक मनमानेपन पर आधारित है क्योंकि कुछ किस्म की बचतों को तो यह कर-मुक्त कर देती है, कुछ के साथ यह प्राथमिकता का व्यवहार (Preferential treatment) करती है और कुछ आमदनियाँ ऐसी है जिन पर यह पूरी शक्ति से कर लगाती है। इसीलिए यह कहा

---

3. *Kaldor* : An Expenditure Tax, p. 46 "Any system which sets out to tax consumption plus saving (i. e income) is bound to fall long or short of its objecti serious consequences for equity as between persons."

जाता है कि आय की कोई उचित परिभाषा मिलने की कठिनाई के भी अथवा आय को कर अदा करने की योग्यता की एक सही कसौटी नहीं माना जा सकता। अनेक विभिन्न प्रकार के स्रोतो (sources) से प्राप्त होने वाली आय को व्यय-शक्ति (spending power) की एक ऐसी समान इकाई (common unit) का रूप नहीं दिया जा सकता जो किसी निर्धारित कसौटी पर कसी जा सके। समस्याएँ इसलिये उत्पन्न होती है क्योंकि काम से होने वाली आमदनियो एव सम्पत्तियो से होने वाली आमदनियो के बीच, आय के अस्थायी एव स्थायी स्रोतो के बीच वास्तविक एव काल्पनिक पूँजीगत लाभो के बीच, नियमित एव पूर्णत अनियमित स्रोतो के बीच तथा इसी प्रकार की अन्य विभिन्न आमदनियो के बीच तुलना करना एव उन्हे समरूप देना सभव नही होता है। इसीलिए यह सुझाव दिया जाता है कि व्यक्ति की करदेय क्षमता के माप के रूप मे उसके द्वारा किये जाने वाले वास्तविक व्यय को ही आधार मानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, आय-कर के दो ऐसे मूलभूत दोष है जिनका विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। पहला है आय-कर का वह प्रतिकूल प्रभाव, बचत (saving) तथा पूँजीनिर्माण (capital formation) पर पडता है। चूँकि उपभोग के लिए काम आने वाली आय तथा बचत की जाने वाली आय मे कोई अन्तर नही किया जाता, अत आय-कर सामान्यत बचत पर ही पडता है। फिर कर की दर चूँकि अत्यधिक आरोही (highly progressive) होती है और उसके परिणामस्वरूप ऐसी बडी-बडी आमदनियो पर ही भारी कर लगाये जाते हैं जो कि किसी अर्थव्यवथा (economy) के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से बचत का सबसे बडा स्रोत बनाती हैं, अत इस स्थिति मे निश्चित रूप से बचतो मे काट-छाँट हो जाती है। आय-कर का दूसरा दोष यह है कि यह कर-दाताओ को बडी मात्रा मे ऐसे अवसर प्रदान करता है कि वे आय को छिपा सकें और कर से बच सकें। कर के आरोहण की दर (rate of progression) जितनी तीव्र होती है, कर-दाता को कर टालने तथा उससे बचने का उतना ही अधिक प्रलोभन मिलता है और सच्चाई यह है कि आय-कर की स्थिति मे, देश मे जो भी बचत और पूँजी का निर्माण होता है वह वस्तुत करो को छिपाने (tax evasion) तथा करो को टालने अथवा कर परिहार (tax avoidance) के कारण ही सम्भव होता है।

व्यय की यथार्थ एवं सक्षिप्त परिभाषा (Expenditure can be Defined Precisely)

कैल्डोर का कहना है कि व्यय-कर आय-कर की तुलना मे दो कारणो से अधिक श्रेष्ठ है, एक तो इसलिये क्योंकि कराधान के आधार के रूप मे आय के मुकाबले व्यय की परिभाषा अधिक यथार्थरूप मे की जा सकती है, और दूसरे इसलिये क्योंकि आय की अपेक्षा व्यय करदेय क्षमता का अधिक अच्छा सूचक है। विभिन्न स्रोतो से प्राप्त होने वाली आमदनियो की जहाँ यथार्थरूप मे तुलना भी नही की जा सकती, वहाँ "सभी व्ययो मे एक ऐसे मापदण्ड के रूप मे समता स्थापित की जाती है जिसके अन्तर्गत वे सभी (व्यय) रहन-सहन के वास्तविक स्तरो *(actual standards of living) का प्रतिनिधित्व एवं समर्थन करते हैं।"* *व्यय-कर के अन्तर्गत* यह भी आवश्यक नही होता कि इस बात का पता लगाया जाए कि कौनसी आय कहाँ तक अर्जित (earned) अथवा अनर्जित (unearned) अस्थायी अथवा स्थायी और वास्तविक अथवा काल्पनिक है। उदाहरण के लिए, पूँजीगत लाभ (capital gains) यदि वास्तव मे खर्च हो गये हैं—फिर चाहे प्राप्तकर्त्ता उनको वास्तविक (genuine) समझे अथवा काल्पनिक (fictitious)—वे खर्च की श्रेणी मे ही गिने जायेंगे। अत इस सम्बन्ध मे मूलतर्क (basic argument) यही है कि किसी व्यक्ति की कर अदा करने की योग्यता का माप करने के लिये आय की तुलना मे व्यय ही एक अच्छा आधार है।

(२) उपभोग की असमानताओ को कम करने मे प्रभावशाली (Effective in reducing inequalities in consumption) :

व्यय कर का इस आधार पर भी समर्थन किया जाता है कि आय-कर के मुकाबले यह उपभोग सम्बन्धी असमानताओ को कम करने का एक अधिक प्रभावपूर्ण साधन (effective mean) है। पूँजीगत लाभ तथा अनियमित स्रोतो (irregular sources) से होने वाली अन्य कोई आय

करो से बच सकती है परन्तु व्यय-कर के द्वारा वे उसी सीमा तक तो पकड मे आ ही सकते हैं जहाँ तक कि वे व्यय किये जाएँ। इसी प्रकार, यदि संचित पूँजी (accumulated capital) मे से अविव्यय (dissaving) किया जाये तो उस पर भी व्यय-कर के अन्तर्गत तो कर लगेगा किन्तु आय-कर के अन्तर्गत नही लगता। इन बातो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आय-कर के मुकाबले व्यय-कर के कुछ अतिरिक्त लाभ है। परन्तु वास्तविक कठिनाई इस बात का पता लगाने मे होती है कि इसके द्वारा उपभोग सम्बन्धी कितनी असमानतायें कम हो सकेंगी। वैसे तो व्यय-कर के एक आलोचक (critic) प्रो० प्रेस्ट तक का यह कहना है कि "यदि हम दोनो ही करो (आय-कर तथा व्यय-कर) को उपभोग सम्बन्धी समानता लाने वाले एक अधिक श्रेष्ठ उपाय के रूप मे तौलें, तो हम यह पायेंगे कि व्यय-कर मे (भले ही हम व्यय-कर को पसन्द करते हो अथवा नही) ऐसी सम्भावनाएँ वर्तमान है जो कि किसी एक समय से व्यक्तियो अथवा व्यक्तियो के समूहो के बीच और साथ ही पृथक् समयो मे भी, उपभोग सम्बन्धी समानताएँ अधिक मात्रा मे उत्पन्न करती है।"[4]

(३) बचत तथा पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित करता है (Stimulates saving and capital formation) :

व्यय-कर के पक्ष मे एक बडा महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि यह कर चूँकि बचतो को मुक्त कर देता है अत यह पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहित करता है। यदि आय के उस भाग पर, जो कि बचतो के रूप मे रख लिया गया है, कोई कर नही लगाया जाता है तो इससे उन लोगो अथवा वर्गों (groups) के हाथों मे, जो कि काफी बचतें करते है, न केवल अधिक आय ही वर्तमान रहती है अपितु उन्हे बचत करने की और प्रेरणा भी मिलती है। एक अल्प-विकसित देश के लिये तो यह तर्क बडा ही उपयुक्त है जहाँ कि पूँजी की अत्यधिक एव तीव्र आवश्यकता होती है। परन्तु एक उन्नत देश (advanced country) के लिये, जहाँ कि पूँजी-निमाण की दर पर्याप्त हो, यह हो सकता है कि यह तर्क वजनदार प्रतीत न हो। इन सब बातो के अतिरिक्त, बचतो मे वृद्धि सम्बन्धी इस तर्क की विशेष आलोचनायें की जाती है जो कि निम्न प्रकार हैं :—

(१) यह कहा जाता है कि पूँजी के निर्माण की दर केवल द्रव्य-पूँजी (money capital) की प्राप्ति पर ही निर्भर नही होती, अपितु उपभोग की वस्तुओ की बिक्री पर भी निर्भर होती है। बचतो की मात्रा मे यदि वृद्धि होती है तो यह आवश्यक नही है कि द्रव्य-पूँजी की माँग मे भी उसके साथ ही आप से आप वृद्धि हो जायेगी, क्योकि द्रव्य-पूँजी की माँग मे होने वाली वृद्धि तो इस बात पर निर्भर होती है कि विनियोग (investment) के अवसर तथा सुविधायें कहाँ तक उपलब्ध हैं। वस्तुस्थिति यह है कि विनियोग, उपज (output), राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के वास्तविक स्तर (actual level) मे केवल तभी वृद्धि होगी जबकि बचतो को कर-मुक्त करने से उसके द्वारा विनियोग करने की प्रेरणायें प्राप्त हो।

(२) यह हो सकता है कि इस बात का विश्वास करने का कोई कारण न हो कि पूँजी-निर्माण की चालू दर (exsisting rate) इष्टतम वाञ्छित दर (optimum needed) दर से कम हैं। यदि पूँजी-निर्माण की वास्तविक दर इतनी कम है कि उसमे की जाने वाली किसी भी वृद्धि से थोडे ही वर्षो की अवधि मे रहन-सहन के स्तरो मे तीव्र वृद्धि हो जाये—और अनेक अल्प-विकसित देशो मे ऐसा ही होता है—तब तो व्यय-कर के द्वारा बचत की उच्चतर दर के लिए मिलने वाले प्रोत्साहन को न्यायोचित ठहराया जा सकता है। किन्तु यदि पूँजी-निर्माण की दर पहले से ही पर्याप्त ऊँची है अथवा यह इष्टतम दर है, तब उस स्थिति मे इस बात की कोई आवश्यकता नही है कि बचतो को और अधिक प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई जाये।

---

4. A. R. Prest : Public, Finance p. 130. "If we are judging the two taxes (income and spending taxes) as methods of securing greater equality of consumption "the expenditure tax carries with it, whether we like it or not, the potentiality of consumption over time as well as between any two any individuals or groups of individuals at any one time."

(३) यह कहा जाता है कि बचतो को कर-मुक्त करने से धन के वितरण मे होने वाली असमानता मे और वृद्धि हो जायेगी क्योकि इसके द्वारा बडी-बडी धनराशियो का सचय करना अत्यधिक सरल हो जायेगा। यह बात केवल कुछ सीमा तक ही सच है और इसमे अधिक वजन नही है। इसका एक कारण तो यह है कि धन के सचय (accumulation of wealth) को व्यय-कर मे क्रमवर्धन अथवा आरोहण (progression) का उपयोग करके नियन्त्रित किया जा सकता है। दूसरे, व्यय-कर की उस स्थिति मे भी न्यायोचित ही ठहराया जा सकता है, जबकि यह विशिष्ट आदमियो को उद्यम (enterprise) के द्वारा धनी होने का अवसर प्रदान करे। ऐसी स्थिति मे, पूँजीसचय की वृद्धि मे स्पष्टत सामाजिक लाभ निहित होता है और यह लाभ सामाजिक अथवा आर्थिक असमानता के भय मे होने वाली किसी भी हानि को दुरस्त करता है। इसके अतिरिक्त, उत्तराधिकार करो (inheritance taxes) का उपयोग करके सचय तथा उसके केन्द्रीयकरण के सम्बन्ध मे अधिक सावधानी बरती जा सकती है।[5]

निष्कर्ष (Conclusion)

किन्तु उपर्युक्त आलोचनाओ के बावजूद, व्यय-कर के द्वारा बचतो को जो सुनियोजित प्रोत्साहन दिया जाता है वह अल्पविकसित देशो के लिए बडा ही उपयुक्त तथा लाभकारी है।

(४) विनियोग पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता (No adverse effect on investment) :

एक अन्य तर्क जो कि उपर्युक्त तर्क से ही सम्बन्धित है, आय-करो के उन सम्भावित प्रतिकूल प्रभावो पर आधारित है जो कि विनियोग करने, उदाहरणत नये व्यवसाय चालू करने और पुरानो का विस्तार करने की प्रेरणाओ पर पडते हैं। जहाँ तक विनियोग का सम्बन्ध है, उस पर आय-कर के निम्न दो प्रतिकूल प्रभाव पडते हैं।

(क) यह विनियोग कार्यों के लिए उपलब्ध धनराशियो का एक बडा भाग छीन लेता है।

(ख) यह विनियोगो से होने वाले शुद्ध प्रतिफल (net return) को कम करता है और इस प्रकार लोगों की विनियोग करने की प्रेरणाओ को कमजोर करता है।

व्यय के कराधान के अन्तर्गत चूँकि बचतो पर कोई कर नही लगाया जाता, अत स्वभावत ही व्यवसायी लोग विनियोग के लिए बडी-बडी धनराशियाँ एकत्र करने मे समर्थ हो जाते हैं, और इसके पश्चात वे विनियोग करने को भी इसलिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं क्योकि वे जानते है कि विनियोग से कमाये जाने वाले धन को भी यदि उपभोग करने के बजाय बचा लिया गया तो उस पर भी कर नही लगेगा। इसी प्रकार, यदि अत्यधिक आरोही आय-कर (highly progressive income-taxes) काम करने की प्रेरणाओ को कम कर रहे हैं तो (आय-कर के स्थान पर व्यय-कर के उपयोग द्वारा) आय के बचत किये हुए भाग को कर-मुक्त करके प्रतिकूल प्रेरणात्मक प्रभावो (adverse incentive effects) को दूर किया जा सकता है। यह तर्क एक ठोस आधार तथा अपना विशेष महत्व रखता है।

(५) मुद्रा-स्फीति का नियन्त्रण करने मे उपयोगी (Useful in Controlling Inflation)

व्यय के कराधान के पक्ष मे एक तर्क जो कि पहले तर्कों से ही सम्बन्धित है, यह है कि यह मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी दबावो पर नियन्त्रण स्थापित करता है परन्तु यह बात केवल कुछ विशिष्ट अवधियो के लिए ही ठीक है और उनमे ही लागू भी होती है। स्फीति-काल मे इस बात की भारी आवश्यकता होती है। लोगो द्वारा अपने खर्चों मे कटौती की जाए और बचतो को प्रोत्साहन मिले। इस स्थिति मे, व्यय कर के उपयोग को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है कि यह न केवल व्ययो मे कटौती कराता है, अपितु उन्हे दण्डित भी करता है। परन्तु इस तर्क का महत्व केवल स्फीति काल (inflationary period) मे ही होता है। गैर स्फीतिकाल

---

५. यहाँ यह बात अवश्य ध्यान रखी जानी चाहिये कि उत्तराधिकार सम्बन्धी कराधान का मामला चालू आमदनियो के कराधान के प्रश्न से भिन्न है।

ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार, लोकवित्त का अध्ययन तभी अधिक फलदायक हो सकता है जबकि उसे मनोविज्ञान के पर्याप्त ज्ञान से भी सम्बद्ध किया जाये।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि लोकवित्त तथा मनोविज्ञान—दोनो का आपस मे गहरा सम्बन्ध है।

(IV) लोकवित्त तथा नीतिशास्त्र व कानून शास्त्र में सम्बन्ध (Relationship between Public Finance and Ethics & Law) :

अन्त मे लोकवित्त तथा नीतिशास्त्र व कानून शास्त्र के सम्बन्धों पर भी कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। "साम्य" (equity) तथा "न्याय" (Justice) की अनेक वित्तीय समस्याएँ धनिको के पास से निर्धनों की ओर को धन का स्थानान्तरण तथा मानव-कल्याण सम्बन्धी अन्य अनेक प्रश्न निर्णयो के लेने से सम्बन्धित हैं और उनकी जड़ें दर्शनशास्त्र (Philosophy) तथा नीतिशास्त्र (Ethics) के क्षेत्र मे गहराई तक पहुँची हुई हैं। इसी प्रकार लोकवित्त की समस्याओ के सम्मुख अनेक कानूनी मसले खड़े हो सकते हैं। कानूनी मसलों से हमारा आशय सरकारी नीति को लागू करते समय उत्पन्न होने वाले कानून-सम्बन्धी प्रश्नो से है। उदाहरण के लिए, किसी कर को लगाना लाभदायक हो सकता है, परन्तु यह भी सम्भव है कि उसके कारण कभी न समाप्त होने वाला विवाद अथवा मुकदमेबाजी आरम्भ हो जाये। अतः ऐसी स्थिति मे सरकार यह निर्णय कर सकती है कि वह कर लगाया ही न जाय।

(V) लोकवित्त तथा इतिहास (Public Finance and History)

लोकवित्त का इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतिहास के अध्ययन के द्वारा हम अतीत की घटनाओं एवं उसके प्रभावों का अध्ययन करते हैं तथा उसी के आधार पर भावी योजनाओं का निर्माण करते हैं। कोई भी लोकवित्त नीति बिना अतीत के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखे बिना नही बनायी जा सकती है। इतिहास हमें तथ्य, आँकड़े व अनेक उदाहरण प्रदान करता है जो कि लोकवित्त की नीति एव उसकी क्रियाओ के निर्धारण मे बहुत सहायक होते हैं। भूतकाल मे लोकवित्त के विभिन्न सिद्धान्तों का क्या प्रभाव पडेगा इसका अध्ययन भी इतिहास के आधार पर ही किया जा सकता है। विभिन्न देशो के इतिहास के अध्ययन के आधार पर ही वहाँ के लोकवित्त के विभिन्न सिद्धान्तो की सफलता एव असफलता का ज्ञान सरलता से किया जा सकता है और उसी के अनुरूप लोकवित्त की नीति में आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे सी० एफ० बेस्टेबिल ने लिखा है कि "वित्त विज्ञान का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसमे वित्त के सिद्धान्तो के उदाहरणो, सत्यापन तथा पुष्टीकरण किया जाता है।"

इस प्रकार लोकवित्त या राजवित्त अनेक ऐसे सामाजिक विज्ञानो से सम्बन्ध रखता है जो कि मानव-व्यवहार के विभिन्न पहलुओं से सम्बद्ध है।

लोकवित्त तथा निजी वित्त : तुलनात्मक अध्ययन
(Public Finance and Private Finance : A Comparison)

यह एक प्रथा पड़ गई है कि अर्थशास्त्र अथवा लोकवित्त की प्रत्येक पाठ्य पुस्तक मे लोक-वित्त तथा निजी वित्त का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। लोकवित्त तथा निजी वित्त के बीच ऐसी तुलना केवल आवश्यक ही नही है, अपितु लाभदायक भी है। इसका कारण यह है कि ऐसी तुलना छात्रो को इस योग्य बना देगी कि वे इन दोनो शाखाओ की प्रकृति एव समस्याओ को अधिक अच्छी प्रकार से समझ सकें तथा उनके गुण व दोषो का विवेचन कर सकें। सरकार की वित्तीय कार्यवाहियो तथा गैर-सरकारी व्यवसाय की आर्थिक कार्यवाहियो के बीच जहाँ अनेक समानताएँ है, वहाँ उनमे अनेक विभिन्नताएँ भी पाई जाती हैं।

समानताएँ :

एक व्यक्ति जहाँ अपने पास उपलब्ध श्रम व पूंजी का उपयोग अपनी कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए करता है, वहाँ राज्य—श्रम, पूंजी तथा अन्य साधनो का उपयोग सामाजिक

कारण यह है कि एक ओर तो व्यवसायी वर्ग के लोगो द्वारा करो से बचने तथा करो को छिपाने की काफी सम्भावनाएँ वर्तमान रहती हैं और दूसरी ओर नौकरी पेशा लोगो, प्रशासको तथा बुद्धि-जीवियो द्वारा ऐसा किये जाने मे भारी कठिनाइयाँ होती है। आर्थिक तथा सामाजिक असमानता को स्थिर बनाये रखने के अलावा, वर्तमान आय-कर जहाँ जनता के कुछ वर्गों पर अत्यधिक भार डालता है, वहाँ कुछ अन्य वर्गों के लोग इससे बडी सरलता से बच पाते है। अन्य प्रत्यक्ष करो के साथ लगाया जाने वाला व्यय-कर अन्य करो की कमियो को इस प्रकार दूर करेगा और जाँच (checking) तथा प्रति जाँच (counter checking) मे इस प्रकार मदद करेगा कि उससे करो के भार को समता एव न्याय के साथ बाँटा जा सके। इस सम्बन्ध मे इस बात का उल्लेख करना भी उचित होगा कि आवश्यकता इस बात की है कि व्यय-कर को आय-कर के एक विकल्प (alternative) के रूप मे न लगाकर आय-कर के साथ ही जाना चाहिए।

व्यय-कर के विरुद्ध तर्क
(Arguments against Expenditure Tax)

(१) व्यक्तियों के बीच असमानताओं का माप करने के लिए अनेक साधनों की उपलब्धता (Thera are other measures of inequality between persons)—व्यय-कर के पक्ष मे दिये जाने वाले अनेक तर्कों को विचारको ने स्वीकार नही किया है। व्यय-कर के आलोचको (critics) का कहना है कि व्यक्तियो के बीच विषमताओ अथवा असमानताओ का माप करने के अनेक साधन है, उदाहरण के लिए, आय, उपभोग, धन तथा आय के परिवर्तन की दर आदि। अत. इस तर्क को न्यायोचित नही माना जा सकता कि आर्थिक समानता अथवा असमानता को नापने की एकमात्र कसौटी उपभोग अथवा व्यय-शक्ति (spending power) है।[8] यदि हम कुछ क्षणो के लिए इस तर्क को स्वीकार भी कर लें, तो भी इससे यह तो प्रकट नहीं होता कि कराधान (taxation) का मुख्य आर्थिक उद्देश्य उपभोग को सीमित करना है। यदि यह भी मान लिया जाये कि व्यय-कर उपभोग को कम कर सकता है, तो व्यावहारिक कठिनाई यह सामने आती है कि 'व्यक्तिगत उपभोग' एक ऐसा शब्द है जिसकी परिभाषा करना सरल नही है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि व्यक्तिगत उपभोग (personal consumption) के व्ययो और उत्पादन सम्बन्धी व्ययो मे कोई स्पष्ट भेद नही किया जा सकता क्योंकि प्रथम किस्म के अनेक व्यय बडी आसानी से दूसरी किस्म के खर्चों मे डाले जा सकते हैं (उदाहरण के लिए, मनोरजन के लिए की गई यात्राओ को व्यावसायिक यात्राओ (business trips) के रूप मे दिखाया जा सकता है)। दूसरे, उपभोग तथा बचत के बीच किया जाने वाला भेद भी हमेशा स्पष्ट नही होता। एक कार अथवा मकान की खरीद को उपभोग की क्रिया के रूप मे भी दिखाया जा सकता है और बचत की क्रिया के रूप मे भी। अत यह सम्भव नही है कि व्यय आधार (expenditure basis) को कराधान के आय-आधार (income basis) के मुकाबले किसी भी प्रकार श्रेष्ठ माना जाए, यद्यपि यह हो सकता है कि सैद्धान्तिक रूप मे व्यय-कर को एक अधिक प्रभावशाली साधन मान लिया जाये।

(२) व्यय किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति की सही एव पर्याप्त कसौटी नहीं है (Expenditure can not be an adequate criterion)—जोजाया स्टाम्प (Josiash Stamp) तथा कुछ अन्य लेखको ने व्यय-कर की इस आधार पर आलोचना की है कि व्यय को किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति की सही एव पर्याप्त कसौटी नही माना जा सकता। उनका कहना है कि व्यक्ति जितना धनी होगा, उसका वास्तविक व्यय उतना ही कम होगा और उसकी बचत करने की योग्यता उतनी ही अधिक। यह बात केवल तभी सत्य हो सकती है जबकि समानुपाती कराधान (proportional taxation) की पद्धति अपनाई जाये। परन्तु जैसा कि कैल्डोर ने कहा है, ऐसा होना आवश्यक नही है। कैल्डोर के अनुसार, 'मान लीजिये ५००० डालर की वार्षिक आय वाले व्यक्ति औसतन अपनी आय का आधा भाग व्यय करते हैं और १००० डालर की वार्षिक आय वाले व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आय खर्च कर देते हैं तो आय-कर के मुकाबले व्यय-कर के अन्तर्गत

8. A. R. Prest : Public Finance, p 129.

मे, व्यय-कर के उपयोग का प्रत्यक्ष रूप से अवस्फीति सम्बन्धी प्रभाव (deflationary effect) पड़ता है। उदाहरण के लिये, जब कोई अर्थव्यवस्था (economy) अवसाद-काल (मन्दी की अवधि) से गुजर रही होती है, तब उपभोग के निम्न स्तर के कारण माँग (demand) का स्तर भी इतना नीचा होता है कि ऐसी दशा मे कराधान के लिए उपभोग को आधार बनाया जाए तो उसका प्रभाव यह होने लगेगा कि माँग और भी कम हो जायेगी। व्यय-कर का भार वैसे तो उन व्यक्तियो पर अधिक पड़ता है जो अपनी आमदनियो के बड़े-बड़े भाग व्यय करते हैं परन्तु साथ ही यह लोगो को इस बात की कुछ निश्चित प्रेरणा भी अवश्य देता है कि वे उपभोग पर कम व्यय करें और उपभोग मे कमी होने का परिणाम यह होता है कि विनियोग के अवसर (investment opportunities) भी कम उपलब्ध होने लगते है। कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार, यही वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण तर्क है जो व्यय-कर के प्रयोग के विरुद्ध प्रस्तुत किया जाता है।[6]

(६) समता एवं न्याय के सिद्धान्त को सन्तुष्ट करता है (*Satisfies equity principle*) :

कॅल्डोर का यह मत है कि 'न्याय एव 'समता' के दृष्टिकोण से व्यय-कर आय-कर से बहुत अधिक श्रेष्ठ है। कॅल्डोर के अनुसार, "व्यय-कर द्वारा लोगो पर इस आधार पर कर नही लगाया जाता कि वे सामूहिक कोष (common pool) मे अपना कितना अशदान देते है, अपितु इस आधार पर लगाया जाता है कि उस कोष से कितना धन बाहर निकालते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए शेष समाज पर केवल व्यय द्वारा ही बोझ डालता है, अपनी कमाई अथवा बचत द्वारा नही।"[7] यह प्राइवेट व्यक्तियो द्वारा विलासिता एव ऐशो-आराम की चीजो पर *किया जाने वाले अपव्यय (waste) ही है जिसके द्वारा समाज अथवा समुदाय को ठगा जाता है*, काम करने वाले अथवा बचत करने वाले या जोखिम उठाने वाले लोगो की प्रशसनीय क्रियाओं के माथे इसका दोष कदापि नही मढा जा सकता। इस दृष्टिकोण से, व्यय-कर जो कि अपव्ययपूर्ण उपभोग को कम करने का प्रयास करता है, एक अत्यधिक श्रेष्ठ कर है। इस सम्बन्ध मे, हॉब्स के *निम्नलिखित प्रसिद्ध कथन को, जिसके द्वारा कि कल्डोर ने अपनी पुस्तक का आरम्भ किया है*, हम फिर दोहराते हैं—"कर लगाने मे समता एव न्याय से आशय एकसा उपभोग करने वाले व्यक्तियो के धन की समानता से उतना नही, जितना कि धन के उस भाग की समानता से है जिसका कि वे उपभोग करते हैं।.......जब कर ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाते हैं जिन्हे कि सभी लोग उपभोग करते है तो उस स्थिति मे प्रत्येक व्यक्ति वस्तु के उस भाग पर समान रूप से अदा करता है जिसका कि यह उपयोग करता है। इस स्थिति मे कुछ लोगो की विलासितापूर्ण फिजूलखर्ची द्वारा समाज के धन का दुरुपयोग भी नही होता है।

यह हो सकता है कि इस प्रकार के तर्क द्वारा सभी अर्थशास्त्रियों को सन्तुष्ट न *किया* जा सके। कारण यह है कि असमानता (inequality) का माप करने के साधन अनेक एव भिन्न हैं, जैसे कि आय, उपभोग, धन (wealth), आय मे परिवर्तन की दर आदि-आदि, और इनमे से किसी भी साधन का अन्तिम रूप मे चुनाव अनेक प्रकार के विस्तृत तर्कों के आधार पर ही किया जाना चाहिये। उपभोग अथवा व्यय शक्ति को समानता अथवा असमानता के माप की एकमात्र कसौटी बताना एक कमजोर तर्क है। यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि कराधान (taxation) का मुख्य आर्थिक उद्देश्य उपभोग को सीमित करना है, तो भी इसका यह अर्थ तो नही हो जाता कि हमे इसे उपभोग पर आधारित कराधान द्वारा ही प्राप्त करना है।

फिर, समता एव न्याय (equity) की विचारधारा की माँग यह भी है कि आय की कोई समुचित परिभाषा करने मे कठिनाई होने के कारण जो लोग आय-करो से बचने मे समर्थ हो जाते हैं उनको अपने इस प्रकार के धन के लाभो का उपभोग करने की अनुमति नही दी जानी चाहिए। वास्तविकता यह है कि नई असमानताएँ (inequalities) तथा अन्याय (injustice) बढ़ने का

6. John due ; Government Finance, pp. 274-275.

7. Kaldor : op. cit p 53, "An expenditure tax would tax people not on the basis of what they contribute to the pool but according to what they take out of it. It is only by spending not by earning or saving that an individual imposes burden on the rest of the community in attaining his ends."

उसके अतिरिक्त व्यय पर कर लगाया जायेगा। इस प्रकार, आय-आधार (income base) के मुकाबले व्यय आधार (expenditure base) में तो परिवारों की आवश्यकताओं के अनुसार छूटों की यथेष्ट व्यवस्था किये जाने की और भी अधिक जरूरत है। परन्तु जैसा कि कॅल्डोर ने कहा है कि असमर्थता अथवा दुर्घटना आदि के कारण उत्पन्न आवश्यकताओं की भिन्नता के अनुसार छूटों की व्यवस्था करने में अथवा परिवार की परिस्थितियों की भिन्नता के अनुसार उनके अनुसार उनके लिए करों की एक सन्तोषजनक व्यवस्था करने में सिद्धान्त रूप में कोई कठिनाई नहीं है।

(५) **व्यय में समय-समय पर होने वाले उतार-चढ़ावों की समस्या** (Problems of fluctuations in expenditure from time to time)—इसके अतिरिक्त, आलोचक समय-समय पर व्यय में होने वाले उतार-चढ़ाव का भी जिक्र करते हैं। खर्चों में ये उतार-चढ़ाव, मुख्य रूप से कार अथवा फरनीचर जैसी टिकाऊ अथवा स्थायी वस्तुओं (durable goods) की सामयिक खरीद (occasional purchase) के कारण होते हैं। अत यदि व्यय-कर की आरोही दरें (progressive rates) सभी वर्षों के लिये समान रूप से लागू की गई, तो करदाता को उस वर्ष में भारी करों के कारण हानि उठानी होगी जबकि वह इन टिकाऊ वस्तुओं को क्रय करेगा। इसके अतिरिक्त, उस वस्तु से प्राप्त होने वाले आनन्द का उपभोग कई वर्षों तक किया जायेगा। परन्तु यह कोई बड़ी गम्भीर समस्या नहीं है, क्योंकि यह सम्भव है कि औसत निकालने की किसी ऐसी उपयुक्त पद्धति की खोज कर ली जाये जिससे कि कर-भार को उन वर्षों में फैलाया जा सके जिनमें कि खरीदी गई वस्तु के लाभ प्राप्त होने की आशा हो। वास्तविकता यह है कि आमदनियों में समय-समय पर होने वाले इन उतार-चढ़ावों (fluctuations) से आय-कर के अन्तर्गत निपटना कठिन है किन्तु व्यय-कर की व्यवस्था के अन्तर्गत इनसे निपटना बड़ा आसान है।

(६) **प्रशासनिक व्यावहारिकता का अभाव** (Lack of administrative feasibility)—अन्त में, आलोचकों ने व्यय-कर की इस आधार पर भी आलोचना की है कि यह प्रशासनिक दृष्टि से व्यावहारिक एवं सम्भाव्य (feasible) नहीं है। यहाँ तक कि उन लोगों ने भी, जिन्होंने कि सिद्धान्त रूप में इस कर को सही बताया था, इसको व्यावहारिक दृष्टि से लागू किये जाने में सन्देह प्रकट किया। यह कहा जाता है कि प्रशासन एवं इसको लागू किये जाने की दृष्टि से वर्तमान आय-कर के मुकाबले यह कर अधिक जटिल एवं उलझनपूर्ण है। आलोचकों का कहना है कि कर-दाता को अपने व्यय का विवरण-पत्र तैयार करने में कठिनाइयों का सामना करना होगा और राजस्व अधिकारियों को उसकी जाँच-पड़ताल करने में भी वैसी ही कठिनाइयों से जूझना होगा। परन्तु प्रशासनिक दृष्टि से इन समस्याओं का हल न खोजा जा सके, ऐसी बात नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका के एक भूतपूर्व राजकोष विशेषज्ञ कैनेथ ई० पूल (Kenneth E Poole) ने लिखा है कि "प्रशासनिक दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष ठीक ही प्रतीत होता है कि व्यय-कर कोई ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं करता जिनका हल न हो। सबसे अधिक गम्भीर समस्या यदि कोई हो सकती है तो यह कि व्यय के विवरण-पत्रों की पर्याप्त एवं पूर्ण जाँच-पड़ताल कैसे हो, क्योंकि एक ओर जहाँ कर-दाताओं की संख्या अत्याधिक है वहाँ जाँच अधिकारियों व कर्मचारियों की भारी कमी है। अन्त में, यह भी कहा जा सकता है कि प्रशासन सम्बन्धी वे अधिकांश बातें एवं कठिनाइयाँ, जिनके कारण व्यय-कर अव्यावहारिक एवं कष्टकारक प्रतीत होता है आय-कर में भी वैसी ही परेशानियाँ पैदा करती हैं।"

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप में, यह दिखाया जा सकता है कि समता एवं न्याय (equity), प्रेरणाओं (incentives) तथा आर्थिक कुशलता (economic efficiency) की दृष्टि से आय-कर के मुकाबले व्यय-कर अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि अनेक देशों को आय-कर के प्रशासन का तो बीसियों वर्षों का अनुभव प्राप्त है जबकि व्यय-कर के प्रशासन का ऐसा कोई अनुभव नहीं है। अत सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यय-कर को आय-कर के साथ ही साथ लागू करके इसका आरम्भ बड़ी सतर्कता एवं सावधानी से किया जाना चाहिए जिससे कि

---

11. American Economic Review, March 1943.

द्वितीय वर्ग के लोगो की अपेक्षा प्रथम वर्ग के लोगो के साथ केवल तभी अधिक सरल व्यवहार किया जायेगा जबकि कर के क्रमवर्धन अथवा आरोहण की दर (rate of progression) दोनो ही के मामलो मे एक समान मान ली जाये। परन्तु यह कोई जरूरी नही है कि ऐसी कोई बात मानी ही जाये। वास्तविकता यह है और पूर्णरूप से सभावना इसी बात की है कि दोनो ही मामलो में आरोहण की दर मे इस प्रकार अन्तर रहेगा कि पहले वर्ग के लोग आय-कर के मुकाबले व्यय-कर के अन्तर्गत अपेक्षतया अधिक खराब स्थिति मे रहेंगे।[9]

वास्तव मे, कैल्डोर ने यह तर्क दिया है कि यदि आय के स्थान पर व्यय को कर लगाने का आधार बनाते समय आय-कर की वर्तमान नाममात्र की अथवा सामान्य दरो को ही प्रभावशाली समझा गया और यदि आय-कर की बडी-बडी कमियो को दूर करने तथा कर-वचन (*tax evasion*) व कर-परिहार (*tax avoidance*) को रोकने के लिए उपयुक्त पग उठाये गये तो आरोहण के पैमाने को कम करना अत्यावश्यक हो जायेगा। इगलैंड का उदाहरण देते हुए कैल्डोर ने यह सिद्ध किया कि जब तक कि कर की दरें काफी कम नही की जायें, आय-आधार से व्यय-आधार के परिवर्तन का अर्थ तो यह होगा कि उस बहुसख्यक धनी वर्ग की कर देयताओ मे भारी एव आकस्मिक वृद्धि कर दी गई है जो कि आय पर नही बल्कि पूंजीगत लाभो पर अपना जीवन-यापन कर रहे है। इस स्थिति मे उन पर कर-भार मे १२ से लेकर २० गुनी तक वृद्धि हो सकती है[10] इस प्रकार, कैल्डोर ने बार-बार प्रस्तुत किये जाने वाले इस तर्क को स्वीकार नही किया है कि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का माप करने के लिए व्यय एक पर्याप्त कसौटी (criterion) नही।

(३) **प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान व्यवहार** (It treats everybody equally) : व्यय कर की एक अन्य आलोचना यह की जाती है कि यह बिना इस बात की परवाह किये कि लोगो की रुचियो तथा उनके स्वभावो मे अन्तर होता है, प्रत्येक के साथ समान व्यवहार करता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए दो व्यक्तियो की एक समान आय है और दोनो की ही परिस्थितियाँ एक समान है। अब व्यय-कर के अन्तर्गत, इनमे वह व्यक्ति तो कर से सरलता से बच जायेगा जो बहुत थोड़ा खर्च करता है और दूसरे पर, जो कि अत्यधिक खर्च करता है, भारी कर लगाया जायेगा (किन्तु आय-कर के अन्तर्गत, इन दोनो के ही साथ समान व्यवहार किया जायेगा)। अत यह सत्य है कि आय-कर की अपेक्षा व्यय-कर के अन्तर्गत एक कजूस व्यक्ति अधिक अच्छी स्थिति मे रहेगा। पर इस सम्बन्ध मे बात यह है कि कोई कर-पद्धति व्यक्तियो की स्वभाव सम्बन्धी विचित्रताओ को भी दृष्टिगत रखे, यह तो बड़ा कठिन कार्य है। फिर, यदि इन अपवादो (exceptions) को एक ओर छोड दिया जाये तो यह कहा जा सकता है कि अधिकाश व्यक्तियो का व्यय का ढग व आकार एकसा ही होता है और उसका निर्धारण उसकी सामाजिक एव अन्य परिस्थितियो द्वारा होता है।

(४) **विभिन्न करदाताओं के बीच उनकी आवश्यकताओं की भिन्नता के अनुसार अन्तर का अभाव** (Lack of provisions for differences in needs between different taxpayers) —व्यय—आधार (expenditure) के विरुद्ध एक अन्य आलोचना यह है कि व्यय-कर के अन्तर्गत विभिन्न कर-दाताओ के बीच उनकी आवश्यकताओ की भिन्नता के अनुसार अन्तर करने की कोई पर्याप्त व्यवस्था नही है। आजकल आय-कर की व्यवस्था तो ऐसी है कि उसके अन्तर्गत परिवारो के आकार के अनुसार छूटें प्रदान की जाती हैं और कुछ देशो मे तो परिवारो की शिक्षा तथा चिकित्सा सम्बन्धी खर्चो के लिये भी छूटो की व्यवस्था है। यह सत्य है कि स्वय आय-कर भी परिवारो की विभिन्न आवश्यकताओ के लिये यथेष्ट मात्रा मे छूटो (allowances) की व्यवस्था नही कर पाता। परन्तु आलोचको का कहना है कि यदि कर लगाने का आधार आय से बदलकर व्यय को बना दिया गया तब तो स्थिति और भी बदतर हो जायेगी। इस तर्क मे काफी जान है क्योंकि अतिरिक्त व्यय करने वाले व्यक्ति को दो बार नुकसान उठाना होगा—एक तो प्रत्यक्ष रूप मे तब, जब वह अतिरिक्त व्यय करेगा और दूसरे परोक्ष रूप मे तब, जब

---

9. Kaldor : op cit, p. 49.
10 Ibid, pp. 232-239.

उच्च दरों पर लागू किया जाए क्योंकि यदि ऐसा किया गया तो कराधान (taxation) अत्यधिक कठोर हो जायेगा। दूसरे व्यय-कर की अन्य प्रचलित प्रत्यक्ष करों के साथ टकराव हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि आय-कर का स्थान व्यय-कर ने लिया, तो उससे बचतों को तो अवश्य प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु दूसरी ओर इससे धन का केन्द्रीयकरण भी अधिक मात्रा में हो जायेगा। यदि सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकने के लिए आरोही सम्पत्ति कर (progressive property taxes) भारी मात्रा में लगाये गये तो उससे बचत करने की प्रेरणाओं के सम्बन्ध में मिलने वाले व्यय-कर के लाभ ही समाप्त हो जायेंगे। तीसरे, आय-कर के मुकाबले व्यय-कर को प्रशासनिक दृष्टि से लागू करना तथा इसकी व्यवस्था करना कठिन होगा। चौथे, चूंकि कृषकों की आमदनियाँ बहुत थोड़ी होती हैं। अत कराधान के क्षेत्र से उनको बाहर रखना जरूरी हो सकता है। इससे लोगों को इस बात का प्रोत्साहन मिलेगा कि वे अपने व्यय के एक अच्छे भाग को कृषि आय की आड में कर से मुक्त कराने की कोशिश करें।

उपरोक्त तर्कों को बिल्कुल निर्मूल तो नहीं कहा जा सकता, पर यह भी सत्य है कि उनमें अधिक जान नहीं है। कैल्डोर ने यह तर्क दिया है कि व्यय की चूंकि स्पष्ट रूप से परिभाषा की जा सकती है और चूंकि आय के मुकाबले व्यय करदेय क्षमता का अधिक अच्छा मापक है अत निश्चय ही व्यय-कर आय-कर से अधिक श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त, उनका मत तो यह है कि आय कर और व्यय-कर दोनों को ही रखा जाए और ऐसा करने में कतई कोई बुराई नहीं है। एक तो इसलिये कि आय-कर तथा सम्पत्ति-कर, दोनों ही प्रभावपूर्ण एव कारगर ढग से लागू नहीं किये जाते। दूसरे, व्यय-कर को मितव्ययता की दृष्टि से इस आधार पर उचित ठहराया जाता है कि यह व्यक्तिगत खर्चों को सीमित करना है जबकि यह लक्ष्य आय कर और सम्पत्ति कर के द्वारा, संभव है, प्राप्त न हो। इसके अतिरिक्त, कैल्डोर का यह भी कहना है कि यदि व्यक्तिगत व्यय-कर तथा सम्पत्ति कर को साथ-साथ लागू किया जाय तो ऐसी बात नहीं है कि वे एक-दूसरे के विपरीत दिशा में काम करेंगे और यह कि एक कर का अच्छा प्रभाव दूसरे कर द्वारा नष्ट कर दिया जायेगा। इसके विपरीत, एक ओर तो व्यय-कर का प्रभाव यह होगा कि वह धनी व्यक्तियों के फिजूल के खर्चों में कटौती करेगा और उससे बचतों तथा बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के सचय की गति तीव्र होगी तथा दूसरी ओर सम्पत्ति कर सचय की मात्रा में कुछ कमी करेगा और व्यय को प्रोत्साहन देगा। अत कैल्डोर ने निष्कर्ष के रूप में कहा कि "इन दोनों करों के मिश्रण के बजाए इसके कि दोनों एक-दूसरे के अच्छे प्रभावों को नष्ट करें, सम्भावना इस बात की है कि ये सम्पत्ति के अधिक समान वितरण के दीर्घकालीन लक्ष्य का बलिदान किये बिना ही धनी व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के स्तरों को कारगर ढग से सीमित करेंगे।"[12]

इसके साथ ही, व्यय-कर को लागू करना भी अधिक कठिन नहीं होगा और सत्य यह है कि अन्य प्रत्यक्ष करों के साथ ही इनको लागू करने से जाँचों (checks) और प्रति-जाँचों (counter-checks) के द्वारा काफी मात्रा में कर वचन तथा कर-परिहार पर रोक लग जायेगी। व्यय-कर-आय-कर के प्रशासन को भी अधिक प्रभावशाली बनायेगा।

निष्कर्ष (Conclusion)

एक अल्पविकसित देश (underdeveloped country) में व्यय-कर को लागू करने के पक्ष तथा विपक्ष में जो जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं उन सबको यदि एक ओर भी छोड़ दिया जाए, तो भी एक ऐसी महत्वपूर्ण बात है जो इस कर को लागू करने के पक्ष में जाती है और जिसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार भी करेगा। वह यह कि आरोही व्यक्तिगत व्यय कर (progressive personal expenditure tax) धनी व्यक्तियों के व्यक्तिगत में मितव्ययता की प्रेरणा देने का एक बड़ा शक्तिशाली अस्त्र है। इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि एक अल्पविकसित देश में इस बात की भारी आवश्यकता होती है कि कुल राष्ट्रीय आय में बचत और विनियोग (saving &

---

12. *Kaldor*. Indian Tax Reform, p 40, "A combination of two taxes therefore far from cancelling the good effects of either, makes it possible to restrict effectively the living standards of the rich without sacrificing the long run egalitarian objective of a more even distribution of property."

उच्च काष्ठकों (top brackets) के केवल थोड़े से कर दाताओं पर ही इसे लागू किया जा सके। फिर, जैसे-जैसे अनुभव प्राप्त हो, इसे कुछ अन्य वर्गो पर भी लागू किया जा सकता है। तथापि, व्यय-कर को वर्तमान आय-कर का स्थान लेने मे अभी काफी समय लगेगा।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में व्यय-कर
[Expenditure tax in an underdeveloped Economy]

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे व्यय कर को लागू करने के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of expenditure tax in an underdeveloped economy) :

जब उन्नत देशो ने व्यय-कर को लागू करना उचित अथवा आवश्यक नही समझा है तो प्रश्न यह उठता है कि क्या एक अल्पविकसित देश को अपने यहाँ इसे लागू करना चाहिए ? उत्तर मे कहा जा सकता है कि निश्चय ही व्यय कर एक अल्पविकसित देश के लिए बडा उपयोगी एव लाभकारी हो सकता है। इसके अनेक कारण है। **सर्व प्रथम**, यह कर गैर सरकारी बचत (private saving) तथा गैर सरकारी पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहित कर सकता है जिसकी कि एक अल्प-विकसित देश मे अत्यधिक आवश्यकता होती है। ऐसे देशो मे पूँजी निर्माण की वृद्धि के द्वारा आर्थिक विकास की गति तेज की जा सकती है। **दूसरे**, विनियोग करने की प्रेरणाओं पर आय-कर के जो प्रतिकूल प्रभाव पडते हैं, वैसे प्रभाव व्यय-कर के अन्तर्गत नही पडते। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि आय-कर विनियोग कार्यो (investment purpose) के लिए उपलब्ध होने वाले धन का काफी भाग खीच लेता है, यह विनियोग मे प्राप्त होने वाले शुद्ध प्रतिफल (net return) को कम करता है और इस प्रकार लोगो की विनियोग करने की प्रेरणाओ को कमजोर बनाता है। व्यय-कर के अन्तर्गत, चूँकि बचतो पर कर नही लगाया जाता, अत व्यवसायी लोगो को स्वभावत: ही बचत करने तथा विनिमय करने की अधिक प्रेरणायें प्राप्त होती हैं। **तीसरे**, आय-कर के अन्तर्गत ऐसी अनेक कमियाँ वर्तमान है जिनके कारण इससे बचना अथवा इसको टालना बडी मात्रा मे सभव हो जाता है। और आय-कर की दर जितनी ऊँची होती है, करो को छिपाने तथा उनसे बचने का क्षेत्र भी उतना ही व्यापक हो जाता है। इसके विपरीत, व्यय-कर आय-कर से सम्बद्ध सभी कठिनाइयों एव कमियो को दूर कर सकता है। आरोही कराधान (progressive taxation) को यदि प्रभावशाली (effective) तथा साथ ही साथ निष्पक्ष (impartial) बनाना है तो आय-आधार (income-base) के द्वारा इसे एक निश्चित मात्रा से आगे नही ले जाया जा सकता किन्तु व्यय-आधार (expenditure base) के द्वारा ऐसा किया जा सकता है। **चौथे**, एक विकासशील अर्थव्यवस्था (developing economy) के अन्तर्गत, सरकार द्वारा विकास सम्बन्धी खर्च भारी मात्रा मे किये जाने के कारण स्फीति सम्बन्धी दबाव (inflationary pressures) उत्पन्न हो जाते है। ऐसा अशत तो जनता की क्रय-शक्ति मे वृद्धि हो जाने के कारण होता है और अशतः वस्तुओ की कमी के कारण। इस स्थिति मे व्यय-कर का उपयोग करके सभी प्रकार के उपभोग और विशेष रूप से फिजूल खर्चों के उपभोग मे इस प्रकार कटौती की जा सकती है कि विनियोग पर भी उसका कोई प्रतिकूल प्रभाव न पडे। **पाँचवें**, यदि आय और सम्पत्ति पर तो भारी कर लगाये जाएँ, और दूसरी ओर सचित धन से किये जाने वाले खर्चों को सीमित न किया जाए अथवा उन पर कर न लगाया जाए तो उसका प्रभाव यही होगा कि पूँजीपतियो को इस बात का प्रोत्साहन मिलेगा कि वे अपना धन बिलासिता के कार्यों मे खर्च करें जिससे हो सकता है कि उनके रहन-सहन के स्तर गिर जाएँ। इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक अल्पविकसित देश द्वारा व्यय-कर को लागू करना उसके लिए लाभप्रद ही होगा।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे व्यय कर को लागू करने के विरुद्ध दिये गये तर्क (Arguments against expenditure tax in an underdeveloped economy)

उपर्युक्त विवरण के बावजूद, एक अल्पविकसित देश मे व्यय-कर को लागू किये जाने के प्रस्ताव के विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते है। व्यय-कर के विरुद्ध सामान्य रूप मे जो अनेक तर्क दिये जाते है उनकी विस्तृत रूप से व्याख्या हम पहले ही कर चुके है। यहाँ हम केवल उन्ही मुख्य-मुख्य तर्कों (arguments) की विवेचना करेंगे जो कि एक अल्पविकसित देश से विशेष रूप से सम्बन्धित होते हैं। **सर्व प्रथम**, यह व्यावहारिक नही होगा कि व्यय-कर को वर्तमान आय-कर की

कि व्यय-कर को लागू करना प्रशासनिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। स्वयं कीन्स जैसे अर्थशास्त्रियों तक ने ऐसा ही विचार प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में जिन कठिनाइयों का जिक्र किया जाता है वे हैं—उपभोक्ता के पूँजीगत व्यय की समस्या से कैसे निपटा जाए, उपहारों (gifts), वसीयत की धन-राशियों तथा बाजी या दाव (bettings) तथा लाटरियों के खर्चों को सम्मिलित किया जाये या नहीं, और अनिवार्य आवश्यकताओं के खर्चों में छूट दी जाय या नहीं, आदि। इसके अतिरिक्त, परिवार से उसके सदस्यों के पृथक् होने के परिणामस्वरूप कर-परिहार (tax avoidance) सम्भव हो सकता है अथवा करों को टालने के लिए व्यापक रूप से इस स्थिति का उपयोग किया जा सकता है। इन प्रशासनिक कठिनाइयों को समाप्त करना असंभव सा लगता है। परन्तु जैसे-जैसे जनता अधिक शिक्षित होगी और उसमें अधिकाधिक सहयोग प्राप्त होगा तो ऐसा कोई कारण नहीं कि इन प्रशासनिक कठिनाइयों पर विजय न पाई जा सके।

निष्कर्ष (Conclusion)

व्यय-कर के सम्बन्ध में एक मात्र वास्तविक कठिनाई है इसकी नवीनता एवं अनूठापन, और सभी नये विचारों की तरह लोगों द्वारा इसे स्वीकार करने में समय लगेगा। यदि व्यय-आधार (expenditure base) आय-आधार (income-base) से वास्तव में श्रेष्ठ है—जैसा कि हौब्स से लेकर कैल्डोर तक अनेक लेखकों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—तो ऐसा कोई कारण नहीं कि यह नया विचार भी लोगों द्वारा अन्ततः स्वीकार न किया जाए। बात केवल समय की है और यह निश्चित है कि देर या सवेर व्यय-कर सभी जगह वैयक्तिक कराधान (personal taxation) का एक महत्वपूर्ण अंग बन जायेगा।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1 American Economic Review — March, 1943
2 Nicholas Kaldor — An Expenditure Tax
3 ,, ,, — Indian Tax Reform, Chapter 4
4 W Vickery — Agenda for Progressive Taxation Chapter 12
5 K E Poole — "The Spending Tax Problems of Administration and equity" in American Economic Review (March 1943)

UNIVERSITY QUESTIONS

१ व्यय के कराधान से क्या आशय है? व्यय कर के पक्ष में अपने तर्क दीजिए।

What is meant by expenditure Taxation? Give your arguments in favour of expenditure Taxtion

२ व्यय के कराधान के महत्व की परीक्षा कीजिए। क्या यह उपभोग की असमानताओं को दूर करने तथा मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रण करने के लिए एक औजार के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है?

Examine the importance of expenditure taxation Can it be used as a fool in reducting in equalities in consumption and controlling inflation

३. व्यय-कर के पक्ष तथा विपक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत कीजिए।

Give your arguments in favour and against expenditure tax.

४ अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की दशा में व्यय-कर के पक्ष व विपक्ष से प्रस्तुत किये जाने वाले तर्कों का परीक्षण कीजिए।

Examine the arguments in favour and against expenditure tax in case of an under developed economy.

investment) का अनुपात बढ़ाकर आर्थिक विकास की गति को तेज किया जाए। और चूंकि बचतों में वृद्धि का कार्य उस निर्धन जनता द्वारा जो पहले से ही न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर पर अथवा उससे भी नीचे स्तर पर अपना बिता रही होती है—सम्पन्न नहीं किया जा सकता। अतः इस स्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि यदि आर्थिक विकास के कार्य को तेजी से आगे बढ़ाना है तो उच्च आय वाले वर्गों द्वारा अपने उपभोग में कटौती की जाए। इस प्रकार, कैल्डोर के शब्दों में, 'वास्तव में विलासितापूर्ण उपभोग (luxury consumption) ही राष्ट्रीय व्यय का एक मात्र ऐसा भाग है जिसे पूंजी-संचय की मात्रा बढ़ाने वाले साधनों की प्राप्ति के लिये निचोड़ा जा सकता है, और व्यक्तिगत उपभोग पर क्रमवर्धी दरों से लगाया जाने वाला कर ही एक ऐसा आदर्श मार्ग है जिससे इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।''[13]

व्यय कर—एक सामान्य मूल्यांकन
(Expenditure Tax—A General Evaluation)

व्यक्तिगत उपभोग के खर्चों पर कर, यदि लगाया जा सके और इसका क्रियान्वयन प्रशासनिक दृष्टि से सम्भव बनाया जा सके तो इसका एक बहुत बड़ा लाभ यह हो कि यह मुद्रा-स्फीति विरोधी एक प्रभावशाली उपाय के रूप में कार्य करेगा। यह अनावश्यक एवं व्यर्थ के खर्चों पर रोक लगाये रखेगा और बचत एवं विनियोग करने की प्रेरणाओं पर आय-कर के मुकाबले कम प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। यह संचित धनराशियों से किये जाने वाले खर्चों पर रोक लगायेगा और कुछ ऐसी असमानताओं को भी दूर करेगा जो कि अत्यन्त ऊँचे आय-करों के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। एक अत्यन्त व्यापक कर होने के कारण व्यय-कर उस कर-परिहार (tax avoidance) तथा कर वंचन (tax evasion) को भी रोकेगा जो कि अत्यधिक आरोही आय-करों (highly progressive income taxes) से अत्यधिक विस्तृत रूप से सम्बद्ध है। इन गुणों के अलावा, सैद्धान्तिक रूप में भी, किसी व्यक्ति की करदेय क्षमता का माप करने के लिए उसका वास्तविक व्यय (actual spending) ही अधिक अच्छा आधार (basis) है बजाए इसके कि वह कितना व्यय कर सकता है।

अल्पविकसित देशों के दृष्टिकोण से, व्यय-कर के पक्ष में काफी कुछ कहा जा सकता है। यह कर उच्च आय वाले उन वर्गों के फिजूल के खर्चों में कटौती करता है जो कि एक मात्र ऐसे लोग होते हैं जो बचत करने की स्थिति में होते हैं। इस प्रकार, यह कर बचत तथा पूंजी-निर्माण की दर में वृद्धि करता है और ऐसी वृद्धि ऐसे देशों में तीव्रगति से आर्थिक विकास करने के लिए अत्यावश्यक होती है। तथापि, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि केवल व्यय-कर का उपयोग कर लेने मात्र से ही आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा।

इन सबके बावजूद, व्यय-कर में अनेक गम्भीर कमियाँ वर्तमान हैं। एक तो यह कि यह कर चूंकि उपभोग में कमी करने का प्रयास करता है अतः हो सकता है कि सामान्य शान्ति काल के दिनों में यह एक मुद्रा-अवस्फीति सम्बन्धी उपाय (deflationary measure) के रूप में कार्य करे। परन्तु यह केवल सन्देह ही है, वास्तविकता नहीं, क्योंकि व्यय-कर बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहित करता है। दूसरी कमी यह बताई जाती है कि यदि आय-कर के स्थान पर व्यय-कर का उपयोग किया गया तो सम्भावना यह है कि उच्च आय वाले वर्गों पर कर-भार (tax burden) कम हो जायेगा और यह स्थिति कराधान (taxation) में समता एवं न्याय (equity) के स्वीकृत सिद्धान्तों के विरुद्ध है। परन्तु कैल्डोर ने इसको दृढ़तापूर्वक अस्वीकार किया। उन्होंने तो वास्तव में व्यय-कर की दर में कमी करने की ही सिफारिश की और कहा कि यदि आय-कर और अति कर (super tax) की वर्तमान दरें व्यय-कर पर भी लागू कर दी गईं तो इंगलैण्ड में उच्चतर आय वाले वर्गों (higher income groups) का पूरी तरह सफाया ही हो जायेगा। तीसरी कमी यह है

13. Ibid, p 42. "Luxury consumption is in fact, the only past of the national-expenditure that could be compressed for the sake of releasing resources for a higher rate of capital accumulation , and a graduated progressive tax on personol consumption is undoubtedly the ideal instrument for attaining this end."

श्रीमती हिक्स ने, सामान्य रूप से स्वीकृत स्थिति का ही अनुकरण करते हुए, पूँजी कर उस कर को माना है जिसका भुगतान पूँजी में से ही किया जाए। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह हो सकता है कि एक कर आय पर लगाया जाय और उसकी अदायगी पूँजी में से की जाए, इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि एक कर पूँजी पर लगाया जाए और उसका भुगतान चालू आय में से किया जाए। अत पूँजी कर की उचित परिभाषा यही हो सकती है कि **पूँजी-कर पर लगाया जाने वाला कर है।** इस सम्बन्ध में डा० आई० एस० गुलाटी का यह कथन बड़ा उपयोगी है कि **"जिस प्रकार मदिरा-कर (beer-tax) मदिरा पर लगाया जाने वाला कर है, घोड़ा कर (horse tex) वह है जो घोड़ो पर निर्धारित किया जाता है और आय कर आय पर लगाया जाने वाला कर है, उसी प्रकार पूँजी-कर वह कर है जो पूँजी पर लगाया जाता है।"**[1] यहाँ जोर इस बात पर है कि कर के निर्धारण का अथवा कर के लगाने का आधार क्या है, जबकि पहली परिभाषाओ मे जोर इस बात पर दिया गया था कि कर अदायगी कहाँ से होती है अर्थात् कर की अदायगी का स्रोत कौन-सा है। **कर-निर्धारण के आधार** (basis of assessment) की कसौटी निश्चित ही कर की **अदायगी के स्रोत** (source of payment) की कसौटी से श्रेष्ठ है।

वस्तुतः कर की परिभाषा मे अदायगी के स्रोत पर तो कतई विचार भी नही किया जाना चाहिए। जैसा कि पीगू (pigou) ने कहा है कि "यह कोई नही कहता कि मदिरा पर लगाया गया कर अनिवार्य रूप से मदिरा मे से ही अदा किया जाए अथवा ऐसे साधनो मे से अदा किया जाए जो कि मदिरा मे ही परिणित हो जायेंगे।" इसी प्रकार से आय पर लगाया गया एक कर किसी भी स्रोत से अदा किया जा सकता है। अत पूँजी पर निर्धारित किया जाने वाला कर भी पूँजी मे से भी अदा किया जा सकता है अथवा अन्य किसी स्रोत (source) से भी।

भारत मे धन-कर (Wealth Tax in India)

भारत मे धन-कर सर्वप्रथम सन् १९५७ मे तत्कालीन वित्त मंत्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी द्वारा लगाया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य व्यक्तियो, हिन्दू सम्मिलित परिवारो तथा कम्पनियो की शुद्ध सम्पत्तियो पर एक वार्षिक कर लगाना था। इसे सम्पत्ति कर भी कहते हैं। धन-कर से मुक्त सीमा १ लाख रु० है। सन् १९७६-७७ के बजट के अनुसार भारत मे धन की दरें इस प्रकार थी—

प्रथम ५ लाख रुपये तक	१/२%
५,००,००१ रु० से १० लाख रु० तक	१½%
१० लाख से १५ लाख तक	२%
१५ लाख से अधिक पर	२½%

गत कुछ वर्षों मे भारत मे धन-कर से प्राप्त होने वाली आय इस प्रकार थी

वर्ष	आय (करोड रु० मे)	वर्ष	आय (करोड रु० मे)
१९५७-७८	७ ०४	१९७०-७१	१९ ००
१९६०-६१	८ १९	१९७१-७२	३० ००
१९६५-६६	१२ ६२	१९७२-७३	३० ००
१९६६-६७	१० ७५	१९७३-७४	३५ ८०
१९६७-६८	१० ७३	१९७४-७५	४० ००
१९६८-६९	११ १२	१९७५-७६	४३ ००
१९६९-७०	१४ १०		

धन या पूँजी करों के प्रकार
(Types of wealth or Capital Taxes)

पूँजी कर तीन प्रकार के होते हैं, अर्थात् (१) **वार्षिक पूँजी कर** (annual capital-tax)

---

1. *I S Gulati* Capital Taxation in a Developing Economy, p 10, "Just a beer tax is a tax on beer, horse tax is a tax assessed on horses and income-tax is a tax assessed on income so is captal tax a tax assessed on capital."

९

धन का कराधान
(Taxation of Wealth)

प्रारम्भिक · धन के कराधान का अर्थ (Meaning of Taxation of Wealth)

धन के कराधान के सम्बन्ध मे, जिसे कि कभी-कभी पूँजी का कराधान (capital taxation) अथवा सम्पत्ति का कराधान (property taxation) भी कहा जाता है, काफी भ्रम (confusion) तथा अनिश्चितता पाई जाती है। आय-कर से भिन्न (जो कि आय पर लगाया जाता और आय मे से ही अदा किया जाता है) पूँजी-करो (capital taxes) को निम्न दो वर्गो मे बाँटा जा सकता है

(क) एक तो वे कर जो पूँजी पर लगाये जाते है परन्तु उनका भुगतान आय मे से किया जाता है।

(ख) दूसरे वे कर जो पूँजी पर लगाये जाते हैं और पूँजी मे से अदा किये जाते हैं। इस वर्ग मे, दो प्रकार के कर सम्मिलित किये जाते हैं प्रथम, अनावर्ती पूँजी कर (capital levey) जो कि सम्पूर्ण सम्पत्ति पर केवल एक बार अथवा विशेष अवसर पर लगाया जाता है, जैसे कि—किसी सन्कटकाल मे अथवा युद्ध के एकदम बाद भारी सरकार ऋणो की अदायगी के लिए, द्वितीय, पूँजी कर जो ऐसे प्रत्येक बार लगाया जाता है जबकि एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से उत्तराधिकार के रूप मे धन प्राप्त करता है। इसे सामान्यत मृत्यु-कर (death duty) कहा जाता है।

आय-करो तथा पूँजी-करो के बीच ऊपर हमने जो भेद किया है, उन पर कुछ लोगो ने इस आधार पर आपत्ति की है कि यदि दरें (rates) साधारण हो, तो मृत्यु-कर तक चालू आय (current income) मे से अदा किया जा सकता है और पूँजी पर लगाया जाने वाला एक कर, यह हो सकता है कि उस आय में से न अदा किया जाए जो कि उपभोग के लिए है बल्कि उस आय मे से दिया जाए जो कि बचतो के लिए नियत है। यह कथन सत्य तो है परन्तु सभी व्यावहारिक कार्यों की दृष्टि से ऊपर किया गया भेद बडा उपयोगी है। अत. इसकी उपेक्षा नही की जानी चाहिए।

श्रीमती उर्सला हिक्स (Mrs Ursula Hicks) के अनुसार, एक पूँजी को दो कसौटियो पर खरा उतरना चाहिए अर्थात् (क) एक तो कर की धनराशि इतनी बडी होनी चाहिए कि उसका भुगतान आय मे से न किया जा सके, और (ख) दूसरे यह आकस्मिक (unexpected) होना चाहिए

आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निजी वित्त तथा लोकवित्त, दोनो का मोटे तौर पर, एकसा ही उद्देश्य है—अर्थात् मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना। किन्तु इसके उपरान्त भी निजी वित्त जहाँ वैयक्तिक हितो (individual interests) पर जोर देता है, वहाँ लोकवित्त सम्पूर्ण समाज के कल्याण मे वृद्धि का प्रयत्न करता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोकवित्त निजी वित्त का केवल विस्तार मात्र है और यह कि व्यक्तिगत कल्याण को अधिकतम करने के लिए जो सिद्धान्त तथा नियम निजी वित्त मे लागू किये जाते हैं वे सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने के लिए लोकवित्त मे भी लागू किये जा सकते हैं। परन्तु यह बात सही हो भी सकती है और नही भी, क्योंकि जैसा कि कीन्स (Keynes) ने कहा है कि एक व्यक्ति की स्थिति मे जो सत्य होता है, वह सम्पूर्ण रूप मे एक राज्य के लिए सत्य हो भी सकता है और नहीं भी। इसमे कोई सन्देह नही है कि दोनो मे कुछ समानताएँ अवश्य हैं। उदाहरण के लिए, व्यक्ति तथा सरकार, दोनो ही उस समय उधार लेते हैं जब उनकी चालू आय (current income), चालू व्यय को पूरा करने के लिए अपर्याप्त होती है। फिर, जैसे कि गैर-सरकारी व्यवसाय की आय निश्चित नही होती है, वैसे ही सरकार की आय भी अनिश्चित होती है। इसके अतिरिक्त, गैर-सरकारी व्यवसायी पहले अपने खर्च मे वृद्धि करके प्रायः अपनी आय बढा लेते हैं। इसी प्रकार सरकार भी करप्राप्तियो की आशा मे उधार ले सकती है। सरकार खर्च करने के लिए इस उद्देश्य से उधार लेती है कि उससे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी और ऐसा होने पर वह अपनी करो की आय मे अधिक वृद्धि की आशा कर सकती है। इसी प्रकार लोकवित्त तथा निजी वित्त के बीच और भी अनेक समानताएँ गिनाई जा सकती हैं।

असमानताएँ :

(१) आय और व्यय के समायोजन के सम्बन्ध मे व्यक्ति तथा लोक सत्ताओं के दृष्टिकोण मे अन्तर (Difference in approach between Individuals and Public Authorities as regards the adjustment of Income and Expenditure)

आय तथा व्यय के समायोजन (adjustment) के सम्बन्ध मे व्यक्ति (individual) तथा लोक सत्ता (public authority) के दृष्टिकोण (approach) मे अन्तर है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि व्यक्ति तो आय के अनुसार ही अपने व्यय को समायोजित करने का प्रयत्न करता है किन्तु सार्वजनिक अथवा लोक सत्ता व्यय के अनुसार अपनी आय को समायोजित करती है। दूसरे शब्दों मे व्यक्ति, आमतौर पर, अपनी आय की सीमा मे ही रहने का प्रयत्न करता है और अपनी आय के ढाँचे के अनुसार ही अपने खर्चों मे हेर-फेर कर लेता है, किन्तु दूसरी ओर, सार्वजनिक सत्ता सर्वप्रथम अपने व्यय की विभिन्न मदो का अनुमान लगाती है और तत्पश्चात, उसके लिए आवश्यक धन की प्राप्ति के उपायो की खोज करती है। बैस्टेबिल के अनुसार, "व्यक्ति कहता है कि मैं इतना व्यय कर सकता हूँ। वित्तमन्त्री कहता है कि मुझे इतनी धनराशि की व्यवस्था करनी है।"[7] व्यक्ति तथा सार्वजनिक सत्ता के बीच आय व व्यय के समायोजन का यह अन्तर इस कारण उत्पन्न होता है कि व्यक्ति तो साधारणत अपनी आय के आकार (size) से परिचित होता है, किन्तु सरकार को इसका ज्ञान नही होता। परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी आय के अनुसार ही अपने व्यय की व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है। इस सम्बन्ध मे एक कहावत भी है कि 'जितनी चादर देखो उतने पाँव पसारो' या अग्रेजी कहावत 'कपडे के आधार पर ही वस्त्र बनाइए' ('cut your coat according to cloth') है। किन्तु इसके विपरीत लोक सत्ता सामान्यतया अपने विभिन्न विभागो (departments) से उनके खर्चों के अनुमानो की माँग करती है, व्यय के कुल मूल्य का निर्धारण करती है और तब उसके लिए आवश्यक धन इकट्ठा करने के लिए कर लगाती है एव अन्य उपाय अपनाती है। उदाहरण के लिए, लोकवित्त मे सरकार वस्त्र के आकार के आधार पर ही कपड़े का प्रबन्ध करती है। किन्तु इसके बावजूद, लोकवित्त तथा निजी वित्त के बीच ५ पा जाने वाला यह अन्तर सदैव सही ही होना हो, ऐसी बात नही है। उदाहरण के लिए, व्यक्ति भी पाय.

---

7 "The individual says, I can spend so much, the Finance Minister says, I have to raise so much" —*C F. Bastable*

अथवा शुद्ध धन (net wealth) पर वार्षिक कर (२) अनावर्तो पूँजी कर (capital levy) और (३) मृत्यु-कर (death)। एक ओर वार्षिक पूँजी कर एक ऐसा नियमित वार्षिक कर है जिसका निर्धारण व्यक्ति के शुद्ध धन के आधार पर किया जाता।[२] इसमे विभिन्न प्रकार के धन अथवा पूँजी के बीच कोई भेद नहीं किया जाता। दूसरी ओर अनावर्तो पूँजी कर का निर्धारण भी करदाता की पूँजी अथवा उसके धन के आधार पर किया जाता है (ठीक उसी प्रकार जैसे कि वार्षिक पूँजी कर निर्धारित किया जाता है) परन्तु यह एक ऐसा कर है जो सदा के लिये केवल एक बार लगाया जाता है। वार्षिक पूँजी कर जहाँ एक नियमित रूप से लिया जाने वाला वार्षिक कर है, वहाँ अनावर्तो पूँजी कर बिल्कुल अनियमित (regular) है और यह एक पीढ़ी (generation) में एक बार लगाया भी जा सकता है और नहीं भी। मृत्युकर एक आवर्ती कर (recurrent tax) है जो कि करदाता की पूँजी अथवा सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह आवर्ती इन मानों में है कि जितनी बार भी सम्पत्ति उत्तराधिकार में हस्तान्तरित होती है उस पर कर अदा करना होता है। इसके साथ ही, यह एक अनावर्ती कर भी है क्योंकि यह जीवन में केवल एक बार उस समय अदा करना होता है जबकि सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त की जाती है। तीनों ही करों के उक्त विवेचन से इनकी दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ प्रकट होती हैं, (क) एक तो यह कि ये सभी कर पूँजी कर लगाये जाते हैं, और (ख) दूसरे, ये सब सामान्य प्रकृति के है क्योंकि उनका निर्धारण करदाता के पूँजीमूल्य के आधार पर किया जाता है, करदाता की कुल पूँजी की किसी विशिष्ट मद के आधार पर नहीं।

क्या धन-कर लगाना न्यायोचित है?
(Is Wealth Tax justified ?)

लोगों की समृद्धि का पता लगाने का आधार क्या हो—इस सम्बन्ध में किया जाने वाला विचार यद्यपि सामान्यत. आय तथा व्यय तक ही सीमित रहा है, तथापि आर्थिक कल्याण एवं समृद्धि के माप का एक अन्य वैकल्पिक उपाय भी है और वह उनका व्यक्तिगत धन[१] (personal wealth)। धन (अर्थात् वास्तविक धन तथा दावे, दोनों) से आशय है वस्तुओं का मूल्य दावे (claims) तथा सम्पत्ति के अधिकार (property rights) जो कि प्राप्त हो। आय जहाँ एक दावे प्रभाव (flow) एवं चश्मे (steam) के समान है वहाँ धन एक भण्डार (stock) तथा एक निधि अथवा कोष (fund) के समान है। चूँकि किसी भी व्यक्ति का कल्याण (welfare) उसकी उस आय पर (जो कि वह उपयोग करता है) और साथ ही उसके धन पर (जो कि उसके पास है और उसे अनेक लाभ प्रदान करता है) निर्भर होता है। अत यह सुझाव दिया जाता है कि धन को भी कराधान के आधार के रूप में अपनाया जाए, भले ही उसे एकमात्र आधार न माना जाए पर कम से कम आय तथा व्यय के एक पूरक आधार (complementary base) के रूप में तो अवश्य ही माना जाना चाहिए। अर्जित (earned) तथा अनर्जित (unearned) आय के बीच भेद करते समय जैसे कि हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रथम, धन पर अधिकार होने से उसके स्वामी को अनेक प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होते हैं। दो व्यक्ति जो एक समान कि आय प्राप्त कर रहे हैं पर एक की आय का स्रोत, श्रम (labour) और दूसरे की आय का स्रोत है धन, तो इस स्थिति में दूसरा व्यक्ति अनेक विशिष्ट लाभों का उपयोग करता है। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति को आय धन से प्राप्त हो रही है, वह आय के बन्द होने पर भी अपनी स्थिति पूर्ववत् बनाये रख सकता है। क्योंकि उसका वह अपनी सम्पत्ति बेचकर अपना काम चला सकता है। दूसरे, उसे बचत करने को बाध्य नहीं होना पड़ता क्योंकि उसका धन तो स्वयं ही उसकी भूतकालीन बचत का एक रूप है। अन्त में, सम्पत्ति सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती है अत यह स्वयं ही सन्तुष्टि प्रदान करने का एक स्रोत है। अत धन कर का मूलभूत औचित्य (basic justification) यही है कि व्यक्तिगत धन प्रत्यक्ष कराधान का एक अच्छा आधार होता है।

२ जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पूँजी कर तथा धन-कर पूर्णतया समान कर है और इनमें कोई अन्तर नहीं है (अध्याय ६)।

३. ऐतिहासिक दृष्टि से, आय के मुकाबले धन को अति प्राचीनकाल से कराधान (tax base) माना गया है परन्तु विगत सौ वर्षों से ससार में हुई औद्योगिक प्रगति के साथ-साथ, आय ही सरकार के वित्त का मुख्य आश्रय और लोगों की करदेय क्षमता का माप बन गई है।

समता एवं न्याय के दृष्टिकोण से विचार (Equity consideration)

करारोपण में समता एवं न्याय (equity) का यदि ध्यान रखना है तो उसका अर्थ यह है कि लोगों पर करों का भार उनकी करदेय क्षमता (taxable capacity) के अनुसार ही पड़ना चाहिए। विगत वर्षों से, व्यक्ति की आय को ही उसकी करदेय क्षमता की एक कसौटी माना जाता रहा है। परन्तु अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञ अब इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि अकेली आय-व्यक्ति की करदेय क्षमता का पर्याप्त माप नहीं है और (क) श्रम से होने वाली आय तथा सम्पत्ति से होने वाली आय के बीच और (ख) विभिन्न सम्पत्तियों के स्वामियों के बीच आय के पैमाने से उनका पूर्ण एवं सही आर्थिक मूल्यांकन नहीं हो सकता। इस बात को हम कुछ उदाहरणों द्वारा और अधिक स्पष्ट कर सकते हैं।

उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण—मान लीजिए दो व्यक्ति हैं जिनकी कुछ भी आय नहीं है—एक तो भिखारी है जिसकी न तो कोई सम्पत्ति है और जो न कुछ कमाता ही है, दूसरा व्यक्ति वह है जिसके पास १० लाख रु० के गहने व जेवरात हैं और उनसे उसे कोई आय नहीं प्राप्त होती है। अब यदि केवल आय को ही करदेय क्षमता का पैमाना माना जाए तो इन दोनों में से किसी भी व्यक्ति से कर अदा करने के लिये नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि वह व्यक्ति, जिसके पास १० लाख रु० के मूल्य के जेवरात हैं, आर्थिक दृष्टि से अधिक समृद्ध है यद्यपि वे जेवरात उसे कोई आय प्रदान नहीं करते।

अब हम एक अन्य उदाहरण लेते हैं मान लीजिए, अ और ब दो व्यक्ति हैं जिनकी आय समान है, अर्थात् मान लीजिए १०,००० रु० है। अ की यह आय वेतन के रूप में प्राप्त होती है और ब अपनी आय अपनी सम्पत्ति (property) से प्राप्त करता है। यदि हम इनकी करदेय क्षमता को मापने के लिये आय के पैमाने का ही उपयोग करें तो हमें अ और ब दोनों की ही करदेय क्षमता समान प्रतीत होगी। परन्तु जैसाकि पहले बताया जा चुका है, वास्तविकता यह है कि ब की आय को अ की आय पर कुछ आर्थिक श्रेष्ठता (economic superiority) प्राप्त होगी। एक तो इसलिए क्योंकि अ की आय का आगमन तभी रुक जायेगा जबकि वह बीमारी, असमर्थता, वृद्धावस्था अथवा मृत्यु के कारण कार्य करना बन्द कर देगा, परन्तु ब की आय का प्रवाह उस समय तक जारी रहेगा जब तक कि उसकी सम्पत्ति वर्तमान रहेगी। दूसरे, सम्पत्ति से कुछ ऐसे लाभ भी प्राप्त होते हैं जैसे कि सुरक्षा (security) तथा प्रतिष्ठा (prestige) आदि। अतः स्पष्ट है कि ब की कर देय क्षमता अ से अधिक होगी।

एक और उदाहरण से स्थिति का अधिक स्पष्टीकरण किया जा सकता है। मान लीजिए, चार व्यक्ति हैं जिनके पास एक-एक लाख रु० का संचित धन है। इसमें से पहला व्यक्ति अपने धन को एक मकान में लगा देता है, दूसरा अपना धन साधारण ईक्विटी शेयरों में विनियोग करता है जिससे उसे १० प्रतिशत की वार्षिक आय होती है, तीसरा अपने धन को ३% ब्याज वाले बचत खाते में जमा करता है, और चौथा अपने धन को एक बैंक में चालू खाते (current account) में जमा कर देता है। इनमें से पहले तीनों व्यक्ति चूंकि आय प्राप्त करते हैं अतः ये तीनों ही आय-कर की परिधि में आ जाते हैं। पहला व्यक्ति आय-कर की परिधि में आया माना जायेगा, यदि उसके मकान से प्राप्त किराये को उसकी कर-योग्य आय के एक भाग के रूप में सम्मिलित कर लिया जाए। दूसरे और तीसरे व्यक्तियों की आमदनियाँ बड़ी आसानी से आय-कर कानून के दायरे में आ जाती हैं, हाँ यह अवश्य है कि दूसरे व्यक्ति के मुकाबले तीसरे व्यक्ति पर अपेक्षाकृत हल्का कर लगेगा। दूसरे व्यक्ति का यह तो हो सकता कि अधिक आय प्राप्त हो परन्तु यह भी सत्य है कि वह जोखिम उठाता है और अनिश्चितता (uncertainty) का सामना करता है, जबकि तीसरे व्यक्ति की आय का एक भाग नगद रूप में है और जोखिम रहित है। इस प्रकार, जो व्यक्ति साधारण शेयर खरीदता है उसे तो उसके सम्पूर्ण प्रतिफल (full return) पर कर देना होता है परन्तु जो व्यक्ति कम जोखिम वाले ऋण-पत्र (securities) खरीदता है अथवा जो अपने को नगद अथवा तरल रूप (liquid form) में रखता है वह कुछ कर-भार से बच जाता है। चौथा व्यक्ति, जो कि अपने धन को एक बैंक में चालू खाते में रखता है और जिससे उसे कोई ब्याज प्राप्त नहीं होती, यद्यपि आय-कर की पहुँच से बिल्कुल ही बाहर रह जाता है किन्तु फिर भी स्पष्ट है कि वह

आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति मे होता है, बमुकाबले उस स्थिति के जबकि उसके पास उक्त धन न होता (इसके बावजूद कि उसे उस धन से कोई आय प्राप्त नहीं हो रही है)।

ये उदाहरण स्पष्ट रूप से बतला रहे हैं कि धन तक पहुँच करने मे आय-कर पूर्णतः समर्थ नही है। आय-कर एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत लोगो के शुद्ध आर्थिक लाभ के आधार पर उन पर भार डालता है और आय प्रदान न करने वाले विनियोगो (investments) द्वारा प्रकट की जाने वाली कर देय क्षमता की उपेक्षा कर देता है। अत समता एव न्याय के दृष्टिकोण से, यदि करो के भार को समुचित रूप से उन सभी तत्त्वो के बीच वितरित करना है जोकि आर्थिक कल्याण को प्रभावित करते हैं, तो आय-कर के अनुपूरक (supplement) के रूप मे धन पर भी किसी न किसी रूप मे कर अवश्य लगाया जाना चाहिए। आय-कर तथा सम्पत्ति करो को केवल सयुक्त रूप से लागू करके ही कराधान को लगभग वैसा रूप प्रदान किया जा सकता है जो कि कर अदा करने की योग्यता (ability to pay) के सिद्धान्त के अनुकूल हो। आय कर के आधार (income tax base) को घटा-बढाकर अथवा कर-पद्धति (tax system) मे कोई सशोधन या हेर-फेर करके उक्त उद्देश्यो की पूर्ति पूर्णतया नही की जा सकती। समता एव न्याय की माँग है कि सम्पूर्ण धन पर एक ऐसा समानुपाती (proportional) अथवा हल्का आरोही कर (slightly progressive tax) लगाया जाना चाहिए जिसमे कि समुचित छूटो की व्यवस्था हो। इस उपाय से आय-कर की उच्च सीमान्त दरो (high marginal rates) पर निर्भरता कम होगी, विभिन्न प्रकार के धन के स्वामियो के बीच कर-भार का अधिक समन्यायपूर्ण वितरण होगा और भारी जोखिम एव अनिश्चितता से पूर्ण किन्तु उच्च लाभाश प्रदान करने वाले ईक्विटी शेयरो के स्वामियो पर करो का बहुत अधिक भार नही पडेगा।

समता एव न्याय (equity) के आधार पर, आय-कर के अनुपूरक के रूप मे वार्षिक पूँजी कर (annual capital tax) का उपयोग करने से निम्न चार परिणाम (results) प्राप्त होंगे :—

(क) यह श्रम द्वारा आय प्राप्त करने वाले लोगो की तुलना मे सम्पत्ति द्वारा आय प्राप्त करने वाले लोगो पर अधिक बोझ डालेगा।

(ख) यह आय प्रदान न करने वाली सम्पत्तियो—जैसेकी नगदी (cash), बैंक मे चालू खाते की जमा धन राशि और जेवरात आदि तक पहुँच करने मे सहायता करेगा।

(ग) यह कम आय और न्यूनतम जोखिम वाले विनियोग (investment) के साथ अधिक उपयुक्त व्यवहार करेगा।

(घ) यह मकानो के रूप मे विद्यमान धन (wealth) तक पहुँच करने का एक अधिक समन्यायपूर्ण (equitable) साधन प्रदान करेगा बमुकाबले इसके कि मकानो से प्राप्त होने वाले किराया-मूल्य (rental value) को कर योग्य आय (taxable income) मे सम्मिलित करने का प्रयत्न किया जाए।

निष्कर्ष (Conclusion) :

इस प्रकार, धन-कर (wealth tax) को लागू करने से कर-पद्धति अधिक समन्यायपूर्ण हो जायेगी और तब कराधान के भार का वितरण भी अधिक न्यायपुक्त रीति से किया जा सकेगा।

धन के कराधान के पक्ष में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्क
(Arguments in favour of Taxation of Wealth)

[I] आर्थिक प्रभावो का तर्क (Economic Effects Argument) :

सम्पत्ति अथवा धन पर लगाया जाने वाला वार्षिक कर (annual tax) आय कर से इसलिये श्रेष्ठ होता है क्योंकि यह जोखिम वाले विनियोगो (risky investments) के विरुद्ध कोई पक्षपात नहीं करता जैसा कि आय-कर के अन्तर्गत किया जाता है। परिणामस्वरूप इसका कोई अप्रेरणात्मक प्रभाव (disincentive effect) नहीं पडता। मान लीजिए दो व्यक्ति हैं जिनके पास

एक-एक लाख रु० का संचित धन है। इनमें से पहला व्यक्ति अपने धन को साधारण अंशों में विनियोग करता है जिनसे उसे अत्यधिक घटती-बढ़ती आय (highly fluctuating income) प्राप्त होती है जबकि दूसरे ने अपने धन को ३% ब्याज वाले सरकारी बॉण्डों में लगा दिया है। यह हो सकता है कि पहले व्यक्ति को प्राप्त होने वाली आय औसतन १२% हो परन्तु आय में जो यह ६% की वृद्धि का अन्तर है (बशर्ते कि सम्पूर्ण आय सुरक्षित एवं नियमित रूप से प्राप्त हो जाए) इसे तो उसके जोखिम उठाने का प्रतिफल माना जाना चाहिए। जहाँ तक आय-कर का प्रश्न है वह तो जोखिम उठाने के लिये कोई छूट प्रदान नहीं करता और उसके अन्तर्गत अंशों में विनियोग करने वाले व्यक्ति की अतिरिक्त आय पर कर लगाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि आय-कर जोखिम उठाने वालों के साथ न्याय न करके पक्षपात करता है तथा एक ओर जहाँ व्यावसायिक विकास या जोखिम उठाने के इच्छुक व्यक्तियों पर कर का अत्यधिक भार डालता है, वहाँ कम ब्याज प्रदान करने वाले स्तर के प्रतिभूतियों (high grade securities) पर अपेक्षाकृत कम भार डालता है। किन्तु वार्षिक धन-कर के अन्तर्गत ऐसा नहीं होगा। इसमें तो समान मूल्य वाली सम्पत्ति पर—चाहे उससे आय कुछ भी प्राप्त होती हो—एक समान ही कर-भार डाला जाता है।

डा० आई० एस० गुलाटी का कहना है कि आय के ऊँचे स्तरों पर आय-कर की अत्यधिक ऊँची सीमान्त दरों (very high marginal rates) का उद्यम (enterprise) पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति सोचता है कि और अधिक आय बढ़ाने से तो उसका अधिकांश भाग आय-कर के रूप में चला जायेगा अतः उसे उद्यम का और विस्तार न करने का अथवा उसे छोड़ने का तथा आराम के साथ निष्क्रिय (inactive) बने रहने का प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु सम्पत्ति के कराधान (taxation) के बीच ऐसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, अतः आय-कर के स्थान पर व्यक्ति के शुद्ध वार्षिक धन (net annual wealth) पर कर लगाने में काफी औचित्य (Justification) दिखाई देता है। डा० गुलाटी के शब्दों में, **"पूँजी पर आधारित एक आवर्ती कर (recurrent tax) का विनियोग करने की प्रेरणा पर आय-कर के मुकाबले निश्चय ही कम घातक प्रभाव पड़ता है।"**[4]

इसके अतिरिक्त, आय-कर के अन्तर्गत कुछ किस्म के धन मुक्त कर दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए, सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक धन जैसे कि सोना तथा जेवरात आदि को इस आधार पर पूर्णतया कर से मुक्त कर दिया जाता है क्योंकि इनसे कोई आय प्राप्त नहीं होती। परन्तु वार्षिक धन कर के अन्तर्गत ऐसे धन से भी समुचित व्यवहार किया जायेगा जो सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक (unproductive) है। इस अर्थ में भी, सम्पत्ति कर आर्थिक दृष्टि से लाभकारी है।

पर इसके बावजूद, आयकर की वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत भी, जिसमें कि पूँजीगत लाभों (capital gains) को मुक्त कर दिया जाता है, जोखिम उठाने का कोई कर नहीं देना पड़ता। इसका कारण यह है कि जोखिम उठाने (risk bearing) की क्रिया अन्त में अधिकतर पूँजीगत लाभों का ही रूप ले लेती है, कर योग्य आय (taxable income) का नहीं। परिणाम यह होता है कि आय-कर की वर्तमान पद्धति के अन्तर्गत ये कर-मुक्त कर दिये जाते हैं। दूसरी ओर धन-कर पूँजीगत लाभों पर वर्ष के वर्ष प्रभावी ढंग से कर लगाता है और इन मानों में यह कहा जा सकता है कि एक सम्पत्ति कर आय-कर की तुलना में अधिक अप्रेरणात्मक प्रभाव डालता है। परन्तु कैल्डोर जैसे प्रमुख अर्थशास्त्रियों का कहना है कि **'पूँजी के उत्पादक उपयोग पर वर्तमान सीमित आय-कर की तुलना में वार्षिक पूँजीकर का कम अप्रेरणात्मक प्रभाव पड़ता है।'**[5] जैसा कि हम पहले के गद्यांश में बता चुके हैं, ऐसा इसलिये होता है क्योंकि स्वर्ण तथा जेवरात के रूप में संग्रह किये जाने वाले धन को, जो कि सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक होता है, सम्पत्ति कर हतोत्साहित करता है।

---

4. I S. Gulati op. cit, p 36, "A recurrent tax based on capital exercises a decreedly less deleterious effect on the incentive to invest that does a tax on income"
5. Kaldor. Indian Tax Reform, p 21, "An annual capital tax provides a smaller disincentive on the productive employment of capital than even the present restricted income tax.

इस प्रकार, अनुकूल आर्थिक प्रभावों के आधार पर धन पर लगाये जाने वाले वार्षिक कर को न्यायोचित सिद्ध किया जाता है।

[II] प्रशासनिक कार्यकुशलता का तर्क (Administration Efficiency Argument) :

प्रशासनिक दृष्टिकोण से, केवल आय कर को लागू करने की अपेक्षा आय-कर तथा सम्पत्ति कर को संयुक्त रूप से लागू करना अधिक अच्छा होगा क्योंकि केवल कोई-सा एक कर लगा देने के मुकाबले आय तथा सम्पत्ति, दोनों पर ही कर लगाने से "करो से बचने तथा आय सम्पत्ति को छिपाने की अधिक अच्छी जाँच पड़ताल हो सकेगी।"[6] यद्यपि सम्पत्ति का मूल्य सम्पत्ति से होने वाली आर्थिक आय से भिन्न होता है, फिर भी ये दोनों परस्पर इसलिये घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं क्योंकि दोनों सम्पत्ति का ही प्रतिनिधित्व करते है। सामान्यत अधिकतर सम्पत्तियाँ कुछ न कुछ आय प्रदान करती हैं और अधिकतर आमदनियाँ [मजदूरियाँ और वेतनो के रूप मे प्राप्त होने वाली वृतिक आमदनियो (professional income) को छोड़कर] सम्पत्ति की ही उपज होती हैं। अत यदि आय तथा सम्पत्ति पर साथ-साथ एक ही कराधिकारी (tax authority) द्वारा कर निर्धारण किया जाये तो निश्चय ही प्रशासनिक कार्यकुशलता मे काफी वृद्धि होगी क्योंकि मनुष्य की सम्पत्ति के स्वामित्व की जाँच-पड़ताल से तो उसकी छिपी हुई आय प्रकाश मे आ जावेगी और इसी प्रकार उसकी आय की प्राप्तियो (income receipts) की जाँच पड़ताल से निश्चित रूप से, छिपाई गई सम्पत्ति का पता चल जायेगा।"[7] इस प्रकार कैल्डोर का यह निष्कर्ष ठीक ही प्रतीत होता है कि आय तथा सम्पत्ति, दोनों पर कर लगाने से कर से बचने तथा आय अथवा सम्पत्ति के छिपाने की जाँच-पड़ताल सभव हो सकेगी।

इस प्रकार, शुद्ध धन (net wealth) पर वार्षिक कर के पक्ष मे काफी कुछ कहा जा सकता है। आय कर की व्यवस्था मे अनेक दोष तथा कमियाँ है इसके अतिरिक्त सिद्धान्त रूप मे भी आय आधार (income base) पर्याप्त नही हैं। अत. समता एव न्याय के दृष्टिकोण से, आय कर तथा धन कर का सयुक्तीकरण (combination) ही आदर्श स्थिति है और इसके द्वारा करो का सम्पूर्ण ढांचा वास्तविक रूप मे कुशल एवं समन्यायपूर्ण बन जायेगा।

धन के कराधान के विरुद्ध तर्क
(The Case against Wealth Tax)
or
(Arguments against Wealth Tax)

तथापि, आलोचको द्वारा धन-कर के विरुद्ध अनेक तर्क उन्ही बातो के आधार पर प्रस्तुत किये जाते हैं जिन पर कि धन कर के समर्थकों ने इस कर को लागू किये जाने की वकालत की है और इसे न्यायोचित सिद्ध किया है। यह तथ्य कि अब तक धन कर को बहुत ही थोड़े देशों ने अपने यहां लागू किया है, संभवतः कर के उस विरोध पर प्रकाश डालता है जो कि अनेक सम्बन्धित व्यक्तियो द्वारा किया जाता है।

आलोचकों के मुख्य स्तम्भ निम्नलिखित है :—

(१) धन का कराधान समन्यायपूर्ण नही है (Taxation of wealth is not equitable).

धन-कर के विरुद्ध सबसे पहली आलोचना (criticism) है कि यह समन्यायपूर्ण (equitable) नही है। आलोचको का कहना है कि धन-कर उन व्यक्तियो पर भारी बोझ डालता है जिनके पास धन तो है परन्तु उससे चालू आय या तो बिलकुल नही है अथवा बहुत थोड़ी है। सारी की सारी सम्पत्ति आय प्रदान नही करती है। इस स्थिति मे, आय प्रदान न करने वाली सम्पत्ति पर कर

6. Ibid, p. 21, "better check on evasion and concealment than a tax on either."

7. Kaldor. op. cit p 21. "For, the examination of a man's property ownership is bound to lead to the discovery of his concealed income and similarly the examination of his income receipts is bound to lead to the discovery of concealed property."

समाने ने व्यक्ति उसको उस हालत में भी अदा करने को बाध्य होगा जबकि उसके पास उसे अदा करने के लिए आय भी न हो। कभी-कभी सामान्य मन्दी के कारण यह हो सकता है कि सम्पत्तियों के मूल्य गिर जायें और तब ऊँची छूटों की माँग की जा सकती है। परन्तु जैसाकि कैल्डोर ने स्पष्ट किया है कि इस सम्बन्ध में उन लोगों के मस्तिष्क में कुछ भ्रम है जो यह तर्क देते हैं कि उस सम्पत्ति के मूल्य को कर-मुक्त रखा जाए जो कि आय प्रदान नहीं करती। कैल्डोर के अनुसार, "आय प्रदान न करने वाली सम्पत्ति का अस्तित्व असम्भव बात है क्योंकि किसी भी विशिष्ट सम्पत्ति का मूल्य ही केवल इस आधार पर निकाला जाता है कि उसमें कुछ आय प्राप्त होती है। यह अवश्य सत्य है कि कुछ किस्म की सम्पत्तियों—जैसे जेवरात, बैंक में चालू खाते की जमा अथवा घर में रखी नगदी (cash) आदि—से यह हो सकता है कि किसी प्रकार की द्रव्य आय (money income) प्राप्त न हो, परन्तु यह भी सम्भव है कि उन सम्पत्तियों से द्रव्य-आय के स्थान पर उसके तुल्य किसी न किसी प्रकार का मानसिक तोषण (psychic income) प्राप्त हो—जैसे कि सम्पत्ति के पूँजीगत मूल्य में आशानुकूल वृद्धि, या उससे प्राप्त होने वाली सुरक्षा (security) तथा सामाजिक प्रतिष्ठा (social prestige) आदि। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि ऐसी कोई सम्पत्ति नहीं होती जिसमें कि आय न प्राप्त होती हो, अत: ऐसी सम्पत्ति का तर्क देना उचित नहीं है।" अत अब तक सम्पत्ति कर के विरुद्ध जो उपर्युक्त तर्क दिया गया है वह तो आय-कर के ही इस अन्तर्निहित दोष पर प्रकाश डालता है कि "यह (आय-कर) सम्पत्ति से होने वाली एक विशिष्ट प्रकार की आय अर्थात् द्रव्य-आय पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है, अन्य प्रकार की आय पर नहीं।"[8]

यही नहीं, धन की छोटी-छोटी रकमों का अस्तित्व (existence) तथा कुछ विशेष समयों में (उदाहरणतः, मन्दी के समय में) सम्पत्ति के सम्भावित नीचे मूल्य इस आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं कि कर में न्यूनतम छूट की व्यवस्था की जाय, इसकी दरें भी अपेक्षाकृत नीची हों और कर की अदायगी की रीति भी सुविधाजनक हो, विशेषरूप से तब जबकि कठिन परिस्थितियों आदि के कारण करदाता को अपनी सम्पत्ति को ही बेचने को बाध्य होना पड़ रहा हो। इस प्रकार, स्पष्टतः धन कर एक समन्यायपूर्ण कर है, यद्यपि यह हो सकता है कि यह सभी जगह सरकारी आय का मुख्य स्रोत न बन सके।

(२) आर्थिक आधारों पर आलोचना :

धन-कर की आलोचना आर्थिक आधार पर भी की जाती है। एक आलोचना (criticism) यह है कि धन-कर उत्पादकीय उद्यम (productive enterprise) को हतोत्साहित करता है। लेकिन एक प्रकार से यह बात तो सभी करों के बारे में कही जा सकती है कि वे उत्पादकीय प्रयत्नों को हतोत्साहित करते हैं। इस सम्बन्ध में अनेक बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों का मत यह है कि करदाता से आय कर के रूप में ली जाने वाली रकम सम्पत्ति कर के रूप में ली जाने वाली उतनी ही रकम के मुकाबले अधिक हतोत्साहित करने वाला प्रभाव डालती है। एक दूसरी आलोचना यह है कि सम्पत्ति कर के भार को अन्तिम उपभोक्ताओं की ओर को अन्तरित (shift) किया जा सकता है। परन्तु आलोचक इस आलोचना के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। जैसाकि कैल्डोर ने कहा है कि "आय कर के मुकाबले सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले उतने ही वार्षिक कर के भार को दूसरों पर डाल देने की बहुत कम सम्भावना है।"[9]

(३) प्रशासनिक दृष्टिकोण से धन-कर कम आय प्रदान करने वाला कर है (*Poor tax from the administrative point of view*)

अन्त में, प्रशासनिक दृष्टिकोण से धन-कर कोई अधिक आय (revenue) प्रदान करने वाला कर नहीं है। इस सम्बन्ध में दो समस्यायें विशेष रूप से सामने आती हैं। अर्थात् एक तो

8. Kaldor: op cit., p 22, "So far, therefore, from this constituting an argument against the property tax, it shows the inherent defect of income tax which concentrates on one particular from of accruel from property, namely money income, to the exclusion of other forms"

9. Ibid. p. 24, 'The possibility of shifting the incidence of an annual tax on property is far smaller than that of an equivalent tax on income"

धन का पता लगाने की और दूसरी उसके मूल्यांकन (valuation) की। धन के पता लगाने की समस्या इसलिये उत्पन्न होती है क्योंकि सम्पत्ति को छिपाने तथा उसका मूल्य कम बताने की काफी सम्भावना रहती है। परन्तु यदि गहराई से देखा जाए तो यह कोई आलोचना नही है क्योंकि यदि कोई सम्पत्ति छिपाई जाती है तो उस सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय भी तो स्वय ही छिप जाती है। और यदि आय का पता चलता है तो उससे सम्बन्धित सम्पत्ति का भी स्वयं पता चल जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि धन-कर ही कोई अतिरिक्त प्रशासनिक समस्या उत्पन्न करता हो, ऐसी बात नही है। मूल्यांकन की समस्या का अर्थ है कि सम्पत्ति का प्रतिवर्ष मूल्य निकालना होगा और ऐसा करना व्यावहारिक नही है। परन्तु यह आलोचना भी वजनदार नही है क्योंकि जहां तक मूल्यांकन का प्रश्न है यह तो कुछ अन्य करो के मामले मे भी करना होता है जैसे कि आस्ति कर अथवा मृत-सम्पदाकर (estate duty), पूँजीगत लाभ कर (capital gains tax) तथा उपहार कर (gift tax)। फिर, यह कोई आवश्यक भी नही है कि राजस्व अधिकारी सम्पत्ति का प्रति वर्ष नये सिरे से मूल्यांकन करें। यह पर्याप्त होगा कि सम्पत्ति का केवल एक बार मूल्यांकन कर दिया जाए, अर्थात् प्रारम्भ मे ही जबकि कर लगाया जाए। बाद मे उस अवधि के लिए जब तक कि विक्रय अथवा उपहार द्वारा सम्पत्ति का हस्तान्तरण हो, प्रारम्भिक किताबी मूल्य को ही कर-निर्धारण (tax assessment) का आधार बनाया जाये।[10]

निष्कर्ष (conclusion)·

वस्तुस्थिति यह है कि धन-कर को लागू करने के विरुद्ध की गई अनेक आलोचनाये सारहीन है। दूसरी ओर इसके पक्ष मे दिया जाने वाला समता एव न्याय का तर्क (equity argument) काफी शक्तिशाली है।

एक अल्प विकसित देश के लिए वार्षिक धन-कर के पक्ष का समर्थन
(The Case for an Annual Wealth Tax for an Underdeveloped Country)

एक अल्पविकसित देश मे वार्षिक धन-कर लागू करने के पक्ष में काफी कुछ कहा जा सकता है। जैसा कि पहले कहा चुका है, एक विकासशील अर्थव्यवस्था (developing economy) मे कर ऐसा होना चाहिए जो साधनो (resources) को उपयोग की ओर से विकास की ओर मोड सके। इसके साथ ही साथ, गैर-सरकारी विनियोग (private investment) पर भी उसका न्यूनतम प्रतिकूल प्रभाव पडना चाहिए। पूँजी अथवा धन पर लगाया जाने वाला एक वार्षिक कर धन प्राप्ति का एक बडा अच्छा स्रोत सिद्ध हो सकता है। इसका पहला लाभ तो यह होगा कि यह करदाताओं की उपभोग की चालू मांग को कम करेगा और साधनों को आर्थिक विकास की ओर मोडेगा। दूसरे, पूंजी-कर की अदायगी तथा विनियोग के बीच कोई सम्बन्ध नही स्थापित होने देता और उसके परिणामस्वरूप यह गैर सरकारी विनियोग को कम नही करता। तीसरे, पूँजी-कर सभी सम्पत्तियो पर समान रूप से लगता है और कम नगद प्रतिफल (low cash return) देने वाले परन्तु अधिक से अधिक सुरक्षित एव नगद रूप मे रहने वाले विनियोगों के मुकाबले अधिक प्रतिफल देने वाले जोखिम पूर्ण विनियोगो (risky investment) के विरुद्ध यह कोई पक्षपात नही करता। (हम पहले ही बता चुके हैं, यह वह कमी है जो आय कर मे पाई जाती है।) जोखिम वाले उद्यमो के लिए किश्त तय करके, पूँजी कर इन उद्यमो मे लोगो की अच्छी रुचि उत्पन्न करने मे सहायक होगा—"और यह एक ऐसी प्रवृत्ति होगी कि यदि इसको समुचित रूप से बढावा मिला तो यह आर्थिक विकास के क्षेत्र मे बडा महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है।" चौथे, अल्पविकसित देश जिन्होंने कि समाजवादी ढग की समाज की स्थापना के लिए कराधान का उपयोग करने का प्रयत्न किया है, पूँजी के कराधान को अपने लिये लाभदायक ही पायेंगे। कारण यह है कि आय पर कर लगाने के साथ ही साथ यदि पूँजी पर भी कर लगाया जाए तो उससे कर पद्धति उस स्थिति के मुकाबले अधिक समन्यायपूर्ण हो जाएगी जबकि केवल आय को ही कराधान का आधार बताया जाए। अन्त मे, एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे कृषि तथा सिंचाई आदि मे अधिकाधिक सरकारी विनियोग के कारण चूँकि कृषि-क्षेत्र के पूँजीगत मूल्यों मे वृद्धि हो जायेगी। अत इस स्थिति मे

10. प्रशासनिक समस्याओ के बारे मे विस्तार से आगे बताया जायेगा।

एक सामान्य पूँजी कर (general capital tax) द्वारा अधिक राजस्व (revenue) प्राप्त किया जा सकता है। फिर, जहाँ तक कृषि का सम्बन्ध है, ऐसा कर वर्तमान कर-भार के असन्तुलन को भी कुछ, सीमा तक देर करने में मदद करेगा।[11]

इस प्रकार, पूँजी के कराधान को विकास-कार्यों के लिये वित्त-प्राप्ति के एक अच्छे स्रोत के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। कैल्डोर के परामर्श के अनुसार भारत सरकार ने देश में वैयक्तिक शुद्ध धन-कर (personal net wealth tax) लागू किया है। यदि उद्देश्य यह हो कि करों का उपयोग साधनों को गैर-सरकारी क्षेत्र (private sector) के सरकारी क्षेत्र (public sector) को स्थानान्तरित करने के लिये किया जाना है, तो व्यक्तियों पर लगाया जाने वाला वार्षिक पूँजी कर सबसे अधिक उपयुक्त है क्योंकि एक तो यह उपभोग के चालू व्यय को कम करने में सहायक होता है और दूसरे, गैर-सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत विनियोग की क्रियाओं पर भी यह न्यूनतम रोक लगाता है।

पूँजी करों के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Capital Taxes)

सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि सभी कर उपभोग तथा बचत में कटौती करते हैं। यदि उद्देश्य यह है कि कर उपभोग में कटौती करके उससे ही अदा किया जाये तो इसके लिये यह आवश्यक है कि वह (कर) इतना कम हो कि जिसे सम्पूर्ण रूप में (as a whole) सारा समाज अपने कुल उपभोग-व्यय की सीमा में से अदा कर सके। यदि कर इस कुल उपभोग व्यय की एक निश्चित अधिकतम सीमा को लाँघ गया तो समाज (community) उस कर को अपने उपभोग-व्यय में से देने को तैयार नहीं होगी और इसका परिणाम यह होगा कि इस सीमा से अधिक लगाया जाने वाला प्रत्येक कर पूँजी सम्बन्धी व्यय में कटौती करके अदा किया जायेगा।

पूँजी कर और उनकी अदायगी का स्रोत (Capital Taxes and Source of Payment) :

पूँजी पर आवर्ती कर (recurrent tax) लगाये जाने की स्थिति में, करदाता में सामान्य प्रवृत्ति यह पायी जाती है कि वह बचतों की कमी करने के बजाए अपने उपभोग-व्यय (consumption expenditure) में ही अधिकाधिक कटौती करता है।[12] यह बात सामान्य विवेक (common sense) पर आधारित है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिगत करदाता कर अदा करने के बाद भी अपने उपभोग तथा बचत के बीच यथासम्भव पहले जैसा अनुपात ही बनाये रखना चाहेगा। यदि पूँजी कर लगाया जाए और उसे पूर्णतया बचतों में से ही अदा किया जाये तो करदाता द्वारा उपभोग तथा बचत के बीच किया जाने वाला अपनी आय का बँटवारा पूरी तरह गड़बड़ा जायेगा। दूसरी ओर, यदि वह उक्त कर पूर्णतया उपभोग में से अदा करता है तब भी स्थिति उससे अच्छी नहीं होगी। इस प्रकार, यह अत्यावश्यक है कि करदाता कर को उपभोग तथा बचत, दोनों में से ही अदा करे। परन्तु चूँकि यह आशा की जाती है कि करदाता की औसत आय में उपभोग व्यय का अनुपात अपेक्षाकृत बड़ा होगा, अतः यह माना जा सकता है कि पूँजी पर लगाया जाने वाला कर बचत की अपेक्षा उपभोग पर ही बोझ डालेगा।[13]

परन्तु यह तर्क एक ऐसे व्यक्ति पर ठीक प्रकार लागू नहीं हो सकता जिसकी आय बहुत अधिक हो और जिसकी आय में उपभोग के अनुपात के मुकाबले बचतों का अनुपात काफी अधिक हो। इस मामले में कर के कारण उपभोग में कमी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परिणामस्वरूप, पूँजी कर का भुगतान केवल बचतों में से ही किया जायेगा।

---

11. I. S Gulati op cit, p 104
12. I S. Gulati · op cit, p 22
१३ पर इसके बावजूद यदि पूँजी कर की दर ऊँची है तो उसका बचत पर काफी प्रभाव पड़ेगा क्योंकि कोई भी करदाता अपने उपभोग में अधिकतम सम्भव सीमा से अधिक कटौती नहीं कर सकता।

यदि पूँजी कर अनावर्ती किस्म (non-recurrent type) का है तो इस बात की संभावना है कि कर वर्तमान पूँजीगत धन में से अदा किया जायेगा क्योंकि देयता (liability) का निपटारा केवल एक बार हो रहा है। दूसरी ओर, यदि करदाता यह समझता है कि वह उपभोग व्यय में कमी करके इसे अदा कर सकता है और यह कि उसे अपनी वचित पूँजी को छूना भी नहीं है, तो उसे ऐसा लगेगा कि एक वर्ष में इतना कर-भार बहुत ही ज्यादा है। इसके अतिरिक्त, केवल एक बार ही लगाया जाने वाला अनावर्ती पूँजी-कर (non-recurrent capital tax) आमतौर पर मात्रा में बहुत अधिक होता है अत करदाता उसे अपने पूँजीगत धन में से अदा करने को बाध्य हो जाता है। इस निष्कर्ष को इस तथ्य से और भी बल मिलता है कि एक सामान्य आदमी भविष्य की तुलना में वर्तमान को ही प्रमुखता देता है। इस प्रकार, सामान्य निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि पूँजी पर लगाया जाने वाला एक वार्षिक कर तो साधारणत. व्यक्तिगत करदाता द्वारा अपने चालू उपभोग-व्यय में कमी करके अदा कर दिया जाता है किन्तु केवल एक बार लगाया जाने वाला अनावर्ती पूँजी कर आमतौर पर पूँजी में से ही अदा किया जाता है।

पूँजीकर और विनियोग (Capital tax and Investment) :

अनेक व्यवसायी (businessmen) तथा कुछ अर्थशास्त्री यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि विनियोग पर पूँजीकर का प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। फलस्वरूप, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार पर भी यह प्रतिकूल प्रभाव (adverse effect) डालेगा। इस तर्क के समर्थन में निम्न दो कारण प्रस्तुत किये जाते हैं —

[1] पूँजी कर चूँकि बचतो में कमी करेगा अत उससे विनियोगो में भी कमी होगी।

और,

[II] यदि विनियोग का उद्देश्य सचय (accumulation) के लिये आय (earnings) का उपयोग करना है तो इस कर का विनियोग पर प्रभाव पड़ेगा।

अब हम इन दोनों ही कारणो पर पृथक्-पृथक् करके विचार करते हैं।

[1] पूँजी कर बचतो मे कमी करके विनियोगों को घटा देगा (Capital tax will reduce saving and this reduce investment)—पहले कारण मे जो यह तर्क दिया गया है कि पूँजी पर लगाया जाने वाला कर बचतो पर प्रतिकूल प्रभाव डालकर विनियोग को प्रभावित करता है, वह इस मान्यता पर आधारित है कि विनियोग बचतो पर निर्भर होता है। बचतो (savings) की मात्रा जितनी अधिक होती है विनियोग (investment) का आकार भी उतना ही बडा होता है। इसके अतिरिक्त बचते जितनी अधिक होती है, ब्याज की दर उतनी ही कम होती है और यह नीची ब्याज की दर और विनियोग को प्रोत्साहित करती है। वास्तव मे यह तर्क बड़ा ही आपत्तिजनक है क्योंकि नया विनियोग करने के सम्बन्ध मे विनियोग-कर्त्ता का निर्णय जिन तीन बातो पर निर्भर होता है वे है (क) नये विनियोग से प्राप्त होने वाला सम्भावित प्रतिफल, (ख) ब्याज की चालू दर, और (ग) धन का उपलब्ध होना।

यदि यह मान लिया जाए कि विनियोग के लिये धन प्राप्त हो जायेगा, बशर्ते कि विनियोगकर्त्ता उसकी आवश्यक कीमत (ब्याज की दर) अदा करने को तैयार हो, तो विनियोग से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण शर्ते हैं—नये विनियोग से प्राप्त होने वाला सम्भावित प्रतिफल और ब्याज की प्रचलित दर। वास्तविकता यह है कि आवर्ती पूँजी कर उन कारणो मे से किसी को भी प्रभावित नही करेगा जिस पर की विनियोग निर्भर होता है। यदि कोई व्यक्ति अपने निजी सचित धन से विनियोग की वित्तीय व्यवस्था करता है तो पूँजी पर लगाया जाने वाला कर उसके विनियोग सम्बन्धी निर्णय को किसी भी प्रकार से प्रभावित नही करेगा क्योकि उसे तो हर हालत मे अदा करना है चाहे वह अपने धन को नगद रूप मे रखे अथवा उसे विनियोग कर दे। यह तथ्य इस बात पर प्रकाश डालता है कि व्यक्ति की बचतें विनियोग करने के उसके निर्णय को प्रभावित नही करती तथापि यह कहा जा सकता है कि बचतो की कुल मात्रा विनियोग के आकार को प्रभावित कर सकती है विशेष रूप से ब्याज की दर के द्वारा। परन्तु जैसा कि डा० गुलाटी ने कहा कि विनियोग सम्बन्धी निर्णय करने मे बचते वास्तव मे कोई अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व नही हैं।[14] परिणामस्वरूप

14. I. S. Gulati : op. cit., p 26

सचित बचतो (accumulated saving) पर लगाया जाने वाला कर लोगो के विनियोग करने के निर्णयो को प्रभावित नही करेगा ।

फिर कोई कर विनियोग पर केवल तभी प्रतिकूल प्रभाव डालता है जबकि कर की देनदारी विनियोग के पुरस्कार से काफी भिन्न हो । उदाहरण के लिये, आय पर लगाया जाने वाला कर लाभो की मात्रा में होने वाली प्रत्येक वृद्धि के साथ अधिक भारपूर्ण होता जाता है । परिणामस्वरूप, कोई विनियोगकर्त्ता (investor) जितना अधिक विनियोग करता है, उतना ही अधिक वह लाभ प्राप्त करता है और उसकी कर सम्बन्धी देनदारी मे भी उतनी ही वृद्धि होती जाती है । इस प्रकार आयकर की व्यवस्था के अन्तगत, विनियोगकर्त्ता अधिकाधिक आय प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी प्रयत्न करता है उस प्रत्येक प्रयत्न के साथ कर की मात्रा मे होने वाली वृद्धि के द्वारा उसका दायित्व भी बढता जाता है । इसके विपरीत, पूँजी कर चालू कमाई के आधार पर नही निर्धारित किया जाता बल्कि उसका निर्धारण भूतकाल मे करदाता द्वारा सचित की गई पूँजी के आधार पर किया जाता है । फिर, किसी व्यक्ति ने सम्पत्ति का जो सचय किया है, यह कोई आवश्यक नही है कि वह विनियोग करने के लिये ही किया हो, और न उसके लिये यही आवश्यक है कि जबजब वह किसी विशेष विनियोग (investment) मे अपना धन लगाने का निश्चय करे, तबतब वह कर की अपनी देनदारी के सम्बन्ध मे भी विचार करे। इस प्रकार यही वह दूसरा कारण है जो यह प्रदर्शित करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है कि पूँजी कर विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है ।

[II] सचय के लिये आय प्राप्त करने का उद्देश्य होने पर विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव (Adverse influence on investment if the purpose is to use earnings for accumulation)—यह कहा जाता है कि यदि किसी विनियोग का उद्देश्य उपभोग के लिये नही बल्कि सचय (accumulation) के लिए आय प्राप्त करना है तो ऐसे विनियोग पर पूँजी कर प्रतिकूल प्रभाव डालता है । एक विनियोगकर्त्ता जिसके पास कि पहले से ही अपर्याप्त आय है, यदि और भी आगे विनियोग करने का निश्चय करता है तो सभावना यही है कि उससे प्राप्त होने वाली आय का उपयोग उपभोग (consumption) के लिये न करके पूर्णतया बचत तथा धन के सचय के लिये किया जायेगा । तर्क यह दिया जाता है कि यदि पूँजी कर लगाया गया तो वह ऐसे विनियोग को प्रभावित करेगा । यह हो सकता है कि ऐसा प्रभाव पडे परन्तु इस सम्बन्ध मे निम्न दो बातें अवश्य बडी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय हैं —

(क) किसी भी विनियोग से जो आय प्राप्त होती है, आमतौर पर उसका काफी बडा भाग उपभोग कार्यों मे लगाया जाता है और केवल थोडा-सा ही भाग बचत तथा सम्पत्ति के सचय मे लगता है । अत इस सीमा तक तो पूँजी कर विनियोग पर कोई घातक प्रभाव नही डालेगा ।

(ख) दूसरे, किसी भी उन्नत अर्थव्यवस्था (advanced economy) मे अधिकतर विनियोग, सामान्यत कम्पनियो द्वारा किया जाता है और उन पर पूँजी कर लगता ही नही है (क्योकि पूँजी कर साधारणतया व्यक्ति पर ही लगाया जाता है, कम्पनियो पर नही) ।

इस सम्बन्ध मे यहाँ पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख करना भी उचित होगा और वह यह है कि कर देयता (tax liability) के सम्बन्ध मे सतत् जानकारी एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो कि विनियोग करने की प्रेरणा को प्रभावित करता है । यदि किसी विनियोगकर्त्ता को कर अदायगी की सम्भावना के बारे मे निश्चित रूप से पता है तो उससे उसकी विनियोग करने प्रेरणा कम हो जायेगी । दूसरी ओर, कर अदायगी की सभावना के विषय मे वह जितना कम निश्चित (less certain) होगा, विनियोग करने की प्रेरणा पर उसका हानिकारक प्रभाव उतना ही कम शक्तिशाली होगा । इस दृष्टिकोण से, यह कहा जा सकता है कि एक वार्षिक पूंजी कर की देयता निश्चित होती है क्योकि यह नियमित रूप से और सामान्यत. थोडे समयान्तरो (intervals) के पश्चात् लगाया जाता है, जबकि अनावर्ती पूंजी कर जैसा बार-बार न दोहराया जाने वाला कर बिना किसी पूर्व चेतावनी अथवा जानकारी के ही लगाया जाता है और इसकी देयता (liability)

अपनी वचन-बद्धताओ (commitments) तथा अपने दायित्वो (obligations) का अनुमान लगाता है (अर्थात् वह अपने व्यय का अनुमान लगाता है) और तत्पश्चात्, उसके लिए आवश्यक आय की प्राप्ति के लिए कदम उठाता है। यही नहीं, यदि कभी उसके उत्तरदायित्वो मे वृद्धि होती है (मान लीजिए उसके बच्चो की सख्या बढ जाती है), तो वह उन उत्तरदायित्वो को पूरा करने के लिए अतिरिक्त आय के साधनो की तलाश करता है। इसी प्रकार, यह बात भी सदा ही सत्य नही होती कि सार्वजनिक या लोकसत्ता अपने खर्चो के अनुसार आय का प्रबन्ध करती है, क्योकि कुछ विशिष्ट परिस्थितियो में उसे इस बात के लिए बाध्य होना पड सकता है कि वह अपने व्यय को आय के अनुसार ही सीमित करे। उदाहरण के लिए, बुरे समय मे सरकार छँटनी के द्वारा अपने खर्चों मे कमी कर सकती है ताकि वह अपनी आय की सीमाओ मे ही रहे। इसके अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि सरकार करदाताओ की क्षमता को ध्यान मे रखे बिना सार्वजनिक व्यय की योजनाएँ न बनाये। इस सम्बन्ध मे यह बता देना आवश्यक है कि यह कथन कि राज्य अपने व्यय के अनुसार ही आय का समायोजन करे, का वास्तविक आशय यह है कि राज्य को इस बात की स्वाधीनता होनी चाहिए कि वह अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए अपनी आय मे समायोजन (घटा-बढ़ी) करे।

(२) साधनों की प्रकृति के सम्बन्ध मे अन्तर (Difference between the Nature of the Resources) :

व्यक्ति तथा सार्वजनिक सत्ता के बीच साधनो की प्रकृति के सम्बन्ध मे भी अन्तर पाया जाता है। व्यक्ति के पास जहाँ केवल सीमित साधन होते हैं, वहाँ सार्वजनिक सत्ता समाज का सम्पूर्ण धन भी हस्तगत कर सकती है, चाहे इसके लिए उसे आवश्यकता पडने पर शक्ति का प्रयोग ही क्यो न करना पडे। कोई भी करदाता, जिस पर कि कर लगा हो, कर देने से इन्कार नही कर सकता। अतः सरकार करो से होने वाली आय के सम्बन्ध मे तब तक लगभग चिन्तामुक्त रहती है जब तक अकाल अथवा भूचाल जैसी कोई बडी प्राकृतिक विपत्ति न आ जाए अथवा ऐसी ही कोई अन्य बडी दुर्घटना घटित न हो जाए और सरकार करों मे छूट देने को बाध्य न हो जाए। करो से प्राप्त होने वाली आय के अतिरिक्त, सार्वजनिक सत्ता सामान्य जनता से उधार ले सकती है और कुछ परिस्थितियो मे तो वह विदेशी स्रोतो से भी उधार ले सकती है। यही नही, सकट के अवसरो पर सरकार के पास आय का एक और भी साधन होता है, और वह है—नोट छापना। इस साधन से सरकारो के हाथो मे अधिक क्रयशक्ति आ जाती है। सरकार को वित्त प्रदान करने वाले इन स्रोतो (sources) के मुकाबले निजी व्यक्तियों तथा व्यवसाय-गृहो (business houses) के वित्त-प्राप्ति के स्रोत अत्यन्त सीमित होते हैं। उन्हे साधारणतया अपनी चालू आय से, पहले से की गई बचतो से तथा ऋणो से धन प्राप्त होता है। वे आय प्राप्त करने के लिए सरकार के समान शक्ति का प्रयोग नही कर सकते (बशर्ते कि वे गुण्डे अथवा डाकू न हों)। वे स्वयं अपने से उधार भी नही ले सकते जैसे कि सरकार देश के अन्दर ही ऋण जारी कर देती है। अन्त मे, वे अपने धन मे वृद्धि करने के लिए नोट छापने का सहारा भी नही ले सकते।

(३) बल-प्रयोग के अधिकार में अन्तर (Difference between Coercive Authority) :

लोकवित्त तथा निजीवित्त के बीच एक अन्तर उनके बल प्रयोग के अधिकार (coercive authority) की विभिन्न मात्राओ के सम्बन्ध मे है। गैर-सरकारी व्यक्ति तथा व्यवसाय-गृह जहाँ आय प्राप्ति के लिए कभी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते, वहाँ सरकार अपनी कर-आय (tax income) को प्राप्त करने के लिए विभिन्न मात्राओ मे बल प्रयोग भी कर सकती है। जब एक लोकप्रिय जनतन्त्रीय सरकार कार्य करती है, तो कर-नीति का निर्धारण भी जनतन्त्रीय रीति से ही होता है, परन्तु एक बार नीति निर्धारण होने के बाद फिर कर-सम्बन्धी कार्यवाहियों मे कोई ढिलाई नही बरती जाती। किसी भी करदाता पर यदि कर बाकी है तो वह उसे देने से इन्कार नही कर सकता। वस्तु करों (commodity taxes) से बचने का एक मात्र विकल्प (alternative) यही है कि उन्हे न खरीदा जाय। मृत्यु कर (death duty) का विकल्प यही है कि सम्पत्ति का संचय ही न किया जाय। इसी प्रकार आय-कर अदा करने से बचने का विकल्प केवल यही है कि

धन के कराधान की कुछ समस्याएँ
(Some problems of Wealth Taxation)

हम इस बात की व्याख्या कर चुके हैं कि कराधान के आधार के रूप मे आय के साथ ही साथ, जोकि प्रत्यक्ष कराधान का विश्वव्यापी आधार बन गयी है, धन (wealth) का कैसे प्रयोग किया जा सकता है एव उसका किस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए। आय-कर के अनुपूरक (supplement) के रूप में धन-कर (wealth tax) मे ऐसे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं जो समता एव न्याय (equity) के दृष्टिकोण से बड़े महत्वपूर्ण हैं। परन्तु व्यवहार मे ऐसे कर को अनेक कठिनाइयो एव समस्याओ का भी सामना करना होता है। प्रमुख कठिनाइयाँ एव समस्यायें निम्नलिखित हैं —

(१) निगम पूँजी से व्यवहार करने की समस्या (Problem of Treatment of Corporate Capital).

यह बात लगभग सार्वदेशिक रूप से (universally) स्वीकार की जाती है कि वार्षिक धन कर अथवा पूँजीकर व्यक्तियो पर ही लगाया जाना चाहिए, व्यावसायिक कम्पनियो पर नही। इस सम्बन्ध मे अनेक कारण प्रस्तुत किये जाते हैं कि व्यावसायिक फर्मों (business firms) के धन पर वार्षिक कर क्यो नही लगाया जाना चाहिए? प्रथम, जे० आर० हिक्स के अनुसार, निगम-धन (corporate wealth) तक पहुँचने का साधन वह कर होना चाहिए जिसका निर्धारण व्यक्तियो द्वारा अधिकृत (held) ऋण-पत्रो (seurities) के मूल्य के आधार पर किया गया हो, न कि वह कर जिसका निर्धारण (assessment) स्वय निगम-सम्पत्ति के आधार पर किया गया हो, क्योकि एक ओर व्यक्तियो पर उनके द्वारा अधिकृत निगम-शेयरो के आधार पर कर लगाना और उसके साथ ही साथ निगम-सम्पत्ति पर कर लगाने का अर्थ होगा—दोहरा कराधान (double taxation)।[16] दूसरे, निगम-सम्पत्ति पर पूँजी कर लगाने से इस बात की भारी गुंजाइश रहेगी कि कीमतो मे वृद्धि करके कर के भार को उपभोक्ताओ की ओर को अन्तरित (shift) कर दिया जाये। इस स्थिति मे, कर का भार उन व्यक्तियो पर नही पड़ेगा जिन पर कि राज्य डालना चाहता है। तीसरे निगम-सम्पत्ति पर कर लगाने से वाणिज्यिक उद्यमो (commercial enterprises) के मुकाबले औद्योगिक उद्यम (industrial enterprises) हानिप्रद स्थिति मे रहेगे क्योकि वाणिज्य एव व्यापार मे लगी फर्मो की तुलना मे औद्योगिक व्यवसायो का सामान्यत अधिक स्टॉक तथा अधिक निधियाँ (funds) रखनी पड़ती हैं।[17] इस स्थिति मे निगम-सम्पत्ति पर धन-कर लगाने के फलस्वरूप यह हो सकता है कि आर्थिक क्रियाएँ अर्थव्यवस्था के औद्योगिक क्षेत्रो से वाणिज्यक क्षेत्रो की ओर को स्थानान्तरित होने लगें। ऐसा अन्तरण (shifting) सम्भव है किसी भी देश के लिये ठीक न हो और एक अल्पविकसित देश के लिए तो विशेष रूप से, क्योकि ऐसे देश मे पहले से ही यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि विनियोग-निधियाँ (investment funds) औद्योगिक क्षेत्रो की अपेक्षा वाणिज्यिक क्षेत्रो की ओर को ही प्रवाहित होती हैं। अन्त मे, यदि निगम-सम्पत्ति पर पूँजी कर लगाया जाता है तो इसे आरोही (progressive) बनाना कठिन हो सकता है, आरोही इन मानो मे कि जिससे धनी कर का अधिक भार उठा सकें। धन-कर का आरोही होना तभी सम्भव है जबकि यह कर कम्पनियो पर न लगाकर व्यक्तियों पर ही लगाया जाए।

किन्तु इसके बावजूद, कुछ अर्थशास्त्री यह नही चाहेंगे कि निगम-सम्पत्ति को धन कर से मुक्त रखा जाए। उदाहरण के लिए, कलेकी (Kalecki) ने व्यक्तियों तथा फर्मों, दोनो पर ही पूँजी-कर लगाये जाने का समर्थन किया परन्तु उन्होंने कहा कि दोहरा कराधान न किया जाए। दोहरे कराधान से बचने के लिए उन्होंने सुझाव दिया कि जब व्यक्तियो पर इस कर का निर्धारण किया जाए तो अशो तथा ऋण-पत्रो (shares and debentures) को पूँजी के मूल्याकन के पृथक् रखा जाए।[18] कलेकी के प्रस्ताव को इस दिशा मे एक सुधार (improvement) माना जाता है

---

16 J. R. Hicks, U. R. Hicks and R Rostos The Taxation of War Wealth p 206

17. I. S. Gulati : op. cit, p 37

18. Kalechi : Economics of Full employment pp. 44-45

सदा के लिए एक बार निश्चित होती है । जहाँ तक विनियोग सम्बन्धी लाभों के संचय का सम्बन्ध है, जब कोई व्यक्ति इनका हिसाब लगाता है तो उसमें वार्षिक पूँजी कर को अवश्य ही सम्मिलित करता है । अनावर्ती पूँजी कर की स्थिति में, कर देयता के सम्बन्ध में पूर्व जानकारी चूंकि लगभग ना के बराबर होती है, अत: विनियोग सम्बन्धी प्रेरणा पर उसका प्रतिकूल प्रभाव भी नगण्यसा ही होता है ।

निष्कर्ष (Conclusion) .

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अनेक अर्थशास्त्रियों का यह विचारपूर्ण मत है कि पूँजी का कराधान विनियोग पर कोई सूक्ष्म तथा प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालता ।[15] हाँ बचत करने की प्रेरणा पर हो सकता है कि यह प्रतिकूल प्रभाव डाले परन्तु विनियोग करने की प्रेरणा पर इसका प्रतिकूल प्रभाव अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण ही होता है ।

पूँजी करों का महत्त्व
(Importance of Capital Taxes)

इसी प्रसंग में यहाँ इस विषय पर कुछ विचार प्रकट करना भी उचित होगा कि क्रियाशील वित्त (functional finance) के एक अस्त्र के रूप में पूँजी के कराधान की क्या महत्ता है । पूँजी कर का प्रभाव दोहरा होता है—एक तो यह करदाता के पास आय के रूप में कम धन छोड़ता है और दूसरे यह अपने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों के सम्बन्ध में उसे अपेक्षाकृत निर्धन बना देता है । प्रथम किस्म के प्रभाव को आय-प्रभाव (income effect) और दूसरे किस्म के प्रभाव को धन-प्रभाव (wealth effect) कहा जाता है । इन दोनों ही प्रभावों के फलस्वरूप, करदाता इस बात के लिए बाध्य हो जाता है कि वह कम व्यय करे । आवर्ती पूँजी कर (recurrent capital tax) का बड़ा गुण यही है कि समय, मात्रा तथा अन्य सम्भावित बातों के बारे में व्यय पर इसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप में निश्चयात्मक (determinate) ही होता है । किन्तु इसके विपरीत, क्रियाशील वित्त के एक अस्त्र (instrument) के रूप में यह आय-कर से घटिया होता है क्योंकि इसमें पर्याप्त लचक (flexibility) का अभाव होता है । उदाहरण के लिए, आरोही आय-कर (progressive income-tax) की व्यवस्था में आय में होने वाले परिवर्तनों के साथ ही साथ तत्सम्बन्धी कर-प्राप्ति में भी आप से आप ही परिवर्तन हो जाता है । इसलिए आमदनियाँ (incomes) बढ़ती है तो उनसे उपलब्ध होने वाली प्राप्तियाँ (tax yields) भी स्वयं बढ़ जाती है (और इस प्रकार व्यय करने पर भी अपने आप ही रोक लग जाती है), इसी भाँति जब आमदनियाँ कम होती हैं तो कर-प्राप्तियाँ भी घट जाती हैं और व्यय पर पड़ने वाला दबाव भी स्वयं ही प्रतिबन्धित रहता है । दूसरी ओर, पूँजीकर जिसका निर्धारण पूँजीगत मूल्यों (capital values) के आधार पर किया जाता है, यह हो सकता है कि आय में होने वाले परिवर्तनों का पूँजी के साथ पूर्णतया यह सम्बन्ध (correlation) स्थापित न कर सके । परिणामस्वरूप, तेजी तथा मुद्रास्फीति के दिनों में चूँकि पूँजीगत मूल्यों में आय के समान तीव्रगति से वृद्धि नहीं होती अत स्पष्टत. इस स्थिति में पूँजी कर से उपलब्ध होने वाली कर-प्राप्तियों में कोई वृद्धि नहीं होती । मन्दी अथवा अवसाद (depression) के दिनों में, आय तो पूर्णत. समाप्त हो सकती है परन्तु पूँजीगत मूल्य भी घटकर जीरो तक पहुँच जाएँ, ऐसी बात नहीं है । अत पूँजी कर तो कम करने का अपना कार्य बराबर जारी रखेगा, यद्यपि इस अवधि में अत्यधिक आवश्यकता इस बात की होती है कि व्यय करने की प्रवृत्ति को ठीक प्रोत्साहन दिया जाए ।

दूसरी ओर, एक अनावर्ती पूँजी कर (non-recurrent capital tax) चूँकि आय की अपेक्षा पूर्णत पूँजी पर ही पड़ता है अत यह चालू व्यय पर बहुत कम प्रभाव डालता है । फिर अनावर्ती पूँजी कर के अवस्फीति सम्बन्धी प्रभाव (deflatinary effects) काफी लम्बी अवधि तक फैले होते हैं । अत क्रियाशील वित्त के दृष्टिकोण से, एक अनावर्ती पूँजीकर अधिक लाभदायक नहीं होता ।

15. I S. Gulati : op. cit., p. 27.

किया जाए। कैल्डोर का यह दृढ़ मत है कि वार्षिक धन कर को प्रशासनिक दृष्टि से सम्भव तथा सुविधाजनक बनाया जा सकता है।

(३) मूल्यांकन तथा पुनर्मूल्यांकन की समस्या (The Problem of Valuation and Revaluation).

वार्षिक शुद्ध धन कर (annual net wealth tax) की सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या सम्पत्ति के मूल्यांकन की ही है। अनेक विचारक जो धन-कर को अन्य सभी दृष्टियों से ठीक समझते हैं, उनका भी यह मत है कि सम्पत्ति के मूल्यांकन की समस्या बड़ी कठिन तथा लगभग अजेय है। धन-कर को लागू करने की स्थिति में सम्पत्ति के मूल्यांकन का कार्य इतना विशाल रूप धारण करता है कि उससे धन-कर को लागू करना ही उपयोगी प्रतीत होने लगता है। इस सम्बन्ध में समस्याएँ दो हैं—एक तो सम्पत्ति का प्रारम्भिक मूल्यांकन (initial valuation) और फिर बाद में उसका पुनर्मूल्यांकन। देश भर की गोचर (tangible) तथा अगोचर (intangible), सभी प्रकार की सम्पत्तियों का प्रारम्भ में मूल्यांकन करना बड़ा कठिन कार्य है। वास्तव में, एक स्वीकार्य सामान्य कर के लिए सम्पत्ति के प्रारम्भिक मूल्यांकन की सम्भावनाओं के बारे में श्रीमती हिक्स को भी सन्देह था। परन्तु एक बार जब ऐसा प्रारम्भिक मूल्यांकन कर दिया जाता है, फिर उसके बाद अनेक नियमित समयान्तरों पर किया जाने वाला सम्पत्ति का पुनर्मूल्यांकन अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

इस सम्बन्ध में, कैल्डोर के सुझाव के अनुसार हिसाब-किताब के सामान्य नियमों का ही पालन किया जाना चाहिए और सम्पत्ति के प्रत्येक मद का मूल्यांकन उस समय तक उसके किताबी मूल्य के आधार पर किया जाना चाहिए जब तक कि वह बेची न जाए। सम्पत्ति के प्रारम्भिक मूल्यांकन की जिम्मेदारी करदाता पर ही डालनी होगी और करदाता को सम्पत्ति की सभी मदों का मूल्यांकन प्रचलित बाजार मूल्य के आधार पर करना होगा। करदाता अपनी सम्पत्तियों के जो मूल्य निर्धारित करे उनकी जाँच के लिए एक केन्द्रीय मूल्यांकन विभाग (central valuation department) और उसके अधीन क्षेत्रीय तथा उपक्षेत्रीय मूल्यांकन कार्यालय होने चाहिए। इस सब व्यवस्था की आवश्यकता मुख्य रूप से इसलिये होगी जिससे कि सम्पत्तियों के प्रारम्भिक मूल्यांकन की जाँच-पड़ताल की जा सके। प्रारम्भिक मूल्यांकन होने तथा व्यक्तिगत खाते तैयार होने के बाद प्रत्येक चार या पाँच वर्षों में सम्पत्ति का पुनर्मूल्यांकन बड़ी आसानी से किया जा सकता है। ऐसा मूल्यांकन तथा पुनर्मूल्यांकन न केवल धन कर के लिए ही उपयोगी होगा, अपितु उपहार कर (gift tax) तथा पूँजीगत लाभ कर (capital gains tax) की दृष्टि से बड़ा लाभप्रद होगा है।

वास्तव में, सम्पत्ति के मूल्यांकन तथा पुनर्मूल्यांकन के लिए यदि केन्द्र-स्तर पर उपयुक्त (suitable) प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना की जाए और समुचित कार्य विधियाँ (proper techniques) अपनाकर उसका यथेष्ट विकास किया जाए तो निश्चय ही सभी प्रत्यक्ष करों के प्रशासन में कार्यकुशलता एवं मितव्ययता लाना सम्भव हो सकता है।[21]

निष्कर्ष (Conclusion):

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सम्पत्ति कर सभी जगह एक सीमित पैमाने पर, मुख्य रूप से म्युनिसिपल तथा स्थानीय सत्ताओं (local authorities) द्वारा ही लागू किये गये हैं। सभी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एक सामान्य कर (general tax) के रूप में तो बहुत थोड़े देशों ने ही इसे लागू किया है। परन्तु यदि कोई देश करारोपण की एक ऐसी पद्धति लागू करना चाहता है जो काफी विस्तृत हो एवं जिसमें करों के छिपाये जाने की कोई गुंजाइश न हो, तो वह धन-कर की उपेक्षा नहीं कर सकता। अन्य सभी बातों को यदि एक ओर छोड़ दिया जाए, तो भी समता एवं न्याय के दृष्टिकोण से धन-कर (wealth tax) का भारी महत्व है। परन्तु इसको लागू करने की समस्या इतनी जटिल एवं कठिन है कि अनेक देशों ने इसे अपनाने का साहस

21. I. S. Gulati : op cit, p. 41 and Kaldor : op. cit., p. 26.

क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण पूँजीगत स्टॉक आ जाता है चाहे उस पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो अथवा निगम-स्वामित्व। परन्तु तथ्य यह है कि कम्पनियों की व्यावसायिक परिसम्पत्तियों (business assets) का मूल्यांकन (valuation) करने में अनेक व्यावसायिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं।

(२) अमूर्त अथवा अगोचर तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सूचना प्राप्त करने की समस्या (Problem of Reporting of Intangibles and Presonal property).

धन के कराधान से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण समस्या यह है कि अमूर्त अथवा अगोचर धन (intangible wealth) के बारे में सही-सही सूचना कैसे उपलब्ध हो? ऐसे अंशों के मामले में कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी जिनका कि रिक्त हस्तान्तरण (blank transfer) कर दिया गया है। इसी प्रकार; इसका निर्धारण करना भी कठिन होगा कि व्यक्तियों के पास कितनी-कितनी नकद धन-राशियाँ हैं। दूसरी ओर, आय प्रदान करने वाले ऋण-पत्रों (securities) तथा बैंक में जमा धन-राशियों का पता लगाना बड़ा सरल है। एक सम्बन्धित समस्या यह भी है कि गोचर व्यक्तिगत सम्पत्ति (tangible personal property) विशेष रूप से हीरे जवाहरात एवं आभूषणों आदि की जाँचपड़ताल कैसे हो?

यद्यपि सम्पत्ति को छिपाने तथा उसका मूल्य कम बताने की समस्या को उपेक्षित (ignored) नहीं किया जा सकता, तथापि कैल्डोर ने यह स्पष्ट किया है कि इस सम्बन्ध में प्रशासन को अधिक मजबूत एवं सक्रिय बनाना किस प्रकार सम्भव हो सकता है। उन्होंने लिखा है कि "छिपी हुई सम्पत्ति की खोज के दृष्टिकोण से, वार्षिक सम्पत्ति कर को लागू करने से वस्तुत. उन समस्याओं के अलावा, जो कि आय-कर के कारण पहले से ही वर्तमान रहती है, कोई और अतिरिक्त उग्र समस्याएँ उत्पन्न नहीं होती।"[19] कैल्डोर का मत है कि यदि सम्पत्ति छिपाई जाती है तो उसके साथ आय भी तो छिपा ली जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि यदि आय का पता चलता है तो उस आय से सम्बद्ध सम्पत्ति भी खोजी जा सकती है। अत यदि आय-कर, और धन-कर, दोनों को ही साथ-साथ लागू कर दिया जाए तो सम्पत्ति को छिपाने (concealment) तथा उसे कम बताने (understatement) की समस्या सरलता से हल हो सकती है। कैल्डोर के अपने ही शब्दों में, "करदाता पर जो यह दायित्व डाला जाना है कि वह प्रतिवर्ष अपना कुल शुद्ध धन (total net wealth) तथा साथ ही साथ अपनी आय बताए, इससे आय-कर को छिपाने का पता चलने में बड़ी मदद मिलेगी, ठीक उसी प्रकार जैसे कि आय कर की उपस्थिति से वार्षिक सम्पत्ति कर को छिपाने का पता चलने में सहायता मिलती है।"[20]

कैल्डोर के अनुसार, छिपाई गई सम्पत्ति की खोज की समस्या को हल किया जा सकता है बशर्ते कि निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाए। सर्व प्रथम, शहरी तथा साथ ही साथ ग्रामीण एवं कृषि-सम्पत्ति को दर्ज करने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए एक केन्द्रीय अभिलेख कार्यालय (central record office) की स्थापना की जाए। दूसरे, शेयरों के रिक्त अथवा अनाम-हस्तान्तरण (blank transfers) की पद्धति को समाप्त किया जाए जिससे कि सभी शेयरों तथा डिबेन्चरों के हस्तान्तरण का रिकार्ड रहे। तीसरे, सभी सरकारी ऋण-पत्रों (Government securities) के स्वामियों को देश के केन्द्रीय बैंक में पंजीकृत किया जाये और उस सम्बन्ध में होने वाले सभी परिवर्तनों को वहाँ दर्ज किया जाए। चौथे, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जिसके अन्तर्गत सम्पत्ति के सभी प्रकार के स्वामित्व (ownership) को अनिवार्य रूप से प्रकट

---

19. N. Kaldor: Indian Tax Reform, p. 23, "Introducing an annual property tax does not, therefore, really raise into formidable additional problems, from the point of view of discovery to those that already have to be faced on account of the income tax"

20. Ibid, p. 23, "The obligation on a taxpayer to return annually his total net wealth as well as his income should help considerably in checking the evasion of income tax, just as the existence of income-tax should help in checking the evasion of an annual property tax."

१०

मृत्यु तथा उपहार सम्बन्धी कराधान
(Death and Gifts Taxation)

प्रारम्भिक मृत्यु कर का अर्थ (Meaning of Death Duty or Tax) :

किसी व्यक्ति को उपहार अथवा वसीयत[1] के रूप में जो धन प्राप्त होता है उसे आर्थिक लाभ (economic gain) माना जाता है और उससे उस व्यक्ति के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है। ऐसी प्राप्तियों (receipts) को आय की ही सज्ञा दी जाती है, और ऐसी आय की परिभाषा चाहे किसी प्रकार से की जाये परन्तु परम्परा यह रही है कि ऐसी आमदनियों पर आय कर कभी नहीं लगाया जाता अपितु उन पर पृथक् कानून के अन्तर्गत कर लगाये जाते हैं। मृत्यु-कर (death tax or death duty) सम्पत्ति पर लगाया जाने वाला एक प्रकार का वैयक्तिक कर (personal tax) है जो कि उस समय लगाया जाता है जबकि सम्पत्ति किसी व्यक्ति की मृत्यु के समय उसके पास से किसी दूसरे व्यक्ति के पास को हस्तान्तरित होती है। मृत्यु-कर से प्राप्त होने वाली कर-आय (tax revenue), यह हो सकता है कि काफी थोडी हो परन्तु उसका महत्त्व उसकी मात्रा से नहीं अपितु उसके तथाकथित सामाजिक प्रभावों से आँका जाता है।

मृत्यु कर के रूप—मृत-सम्पदा कर और उत्तराधिकार कर
(Forms of Death Duty—Estate Duty and Inheritance Tax)

मृत्यु करों के दो मुख्य रूप हैं जिनमें एक को आस्ति कर अथवा मृत-सम्पदा कर (estate duty) कहा जाता है और दूसरे को उत्तराधिकार कर (inheritance tax) का नाम दिया जाता है। आस्ति कर अथवा मृत-सम्पदा कर एक ऐसा कर है जो व्यक्ति द्वारा छोड़ी गई सम्पूर्ण सम्पदा अथवा जायदाद (estate) पर लगाया जाता है, जबकि उत्तराधिकार कर उस कर को कहते हैं जो कि जायदाद के उन पृथक्-पृथक् हिस्सों पर लगाया जाता है जो कि लाभ प्राप्तकर्ताओं को (beneficiaries) हस्तान्तरित किये जाते हैं। वैसे आस्ति कर में आमतौर पर केवल एक ही समान छूट (uniform exemption) की व्यवस्था की जाती है, यद्यपि यह हो सकता है कि इसके अन्तर्गत आश्रितों (dependents) की सख्या के अनुसार और आश्रितों एवं मृत व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के अनुसार विशेष छूट (specific exemptions) भी प्रदान किये जाएँ। इसके अतिरिक्त, इसमें दरों (rates) का क्रमवर्धन (graduation) किया जाता है और कर-कोष्ठक (tax brackets) शुद्ध जायदाद (net estate) पर सम्पूर्ण रूप में

---

१ व्यक्ति द्वारा अपने जीवन काल में ही किया जाने वाला सम्पत्ति का नि शुल्क हस्तान्तरण "उपहार" (gift) कहलाता है किन्तु मृत्यु के समय होने वाला हस्तान्तरण "वसीयत" (bequest) कहा जाता है।

ही नहीं किया। किन्तु इसके बावजूद, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, प्रशासनिक दृष्टि से भी धन-कर को सम्भव एव सुविधाजनक बनाया जा सकता है, बशर्ते कि करदाताओ से अनिवार्य रूप से विवरण-पत्र (returns) प्रस्तुत करने को कहा जाए।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. I. S. Gulati : Capital Taxation Part I & II.
2. Kalecki : Economics of Full Employment.
3. N. Kaldor : Indian Tax Reform, Chapter II.
4 Ursula Hicks . Public Finance, Chapter XIII.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. धन के कराधान का अर्थ समझाइए। क्या धन-कर लगाना न्यायोचित है ?
State and explain the meaning of wealth-tax. Is wealth tax justified ?

२. धन के कराधान के पक्ष तथा विपक्ष मे अपने तर्क प्रस्तुत कीजिये।
Give your arguments in favour and against the taxation of wealth

३. पूँजी करो का क्या महत्व है ? पूँजी करो के आर्थिक प्रभावो का परीक्षण कीजिये।
What is the importance of capital taxes ? Examine the economic effects of capital taxes

४. धन के कराधान की समस्याओ की विवेचन कीजिए।
Discuss the problems of wealth taxation.

५. एक अल्प विकसित देश के लिए वार्षिक धन-कर पर एक टिप्पणी लिखिये।
Write a note on annul wealth tax for an underdeveloped country.

(२) **उत्तराधिकारियों को अनर्जित आय के रूप में प्राप्ति** (As an unearned income to heirs)—मृत्यु-करों के पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि उत्तराधिकारियों को मृतक का धन प्राप्त होता है वह एक प्रकार से उनके लिये अनर्जित आय (unearned income) होती है। उत्तराधिकारी ऐसी आय प्राप्त करते हैं जो कि किसी अन्य व्यक्ति के ही परिश्रम और त्याग का फल होता है। यह ठीक है कि उत्तराधिकारी इस बात का अधिकारी (entitled) होता है कि उसे बालिग होने के लिए प्राप्त सहायता तथा शिक्षा मिले, परन्तु इससे अधिक यदि वह कुछ प्राप्त करता है तो उसे विशेषाधिकार (special privilege) ही कहा जायेगा। मृतक तथा उसके उत्तराधिकारी के बीच सम्बन्ध जितना अधिक दूर का (remote) होता है, उत्तराधिकार में प्राप्त धन उतना ही अधिक अनर्जित बन जाता है। समता एवं न्याय के दृष्टिकोण से भी अनर्जित आय की अर्जित आय की तुलना में करों का अधिक बोझ उठा सकती है।

(३) **धन के गलत वितरण को ठीक करना** (Tend to correct a bad distribution of wealth)—मृत्यु-करों को इस आधार पर भी न्यायोचित ठहराया जाता है कि ये धन उस गलत वितरण को जो कि सभी स्वतन्त्र अर्थव्यवस्थाओं (free economics) का एक विशेष लक्षण है ठीक करते है। यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि हम आय की असमानता, उसके कारणों तथा परिणामों से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रश्न की गहराई में जाएँ। तथापि, यह कहा जा सकता है कि किसी सम्पत्ति का अस्तित्व (existence of private property) तथा उत्तराधिकार की प्रथा (system of inheritance) जिसके द्वारा कि सम्पत्ति एक पीढी (generation) से दूसरी पीढ़ी के पास जाती है—ये दो ऐसे महत्वपूर्ण तत्व हैं जो कि बड़ी-बड़ी धनराशियों एवं सम्पत्तियों के सचय (accumulation) तथा साथ ही साथ उनके स्थायित्व के लिये उत्तरदायी है। वास्तविकता यह है कि मृत्यु-करों को जो भी राजनैतिक समर्थन प्रदान किया जाता है उसका काफी श्रेय समान वितरण के विचार को ही है। अधिकाश लोग इस बात को बडी ही असमता एवं अन्यायपूर्ण समझते हैं कि कुछ व्यक्तियों को सौभाग्यवश इतनी अधिक सम्पत्ति उत्तराधिकार मे मिल जाती है कि वे कभी भी कार्य करने की आवश्यकता नहीं समझते। इसके अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि ये लोग देश की अर्थव्यवस्था (economy) के हित की दिशा में अपना कुछ भी योगदान न करें। अतः मृत्यु-करों का उपयोग इसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाता है कि व्यक्ति की मृत्यु के समय अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित किये जाने वाले धन की मात्रा मे कमी की जा सके। फिर, बड़ी-बडी सम्पत्तियों के सचय को विभाजित एवं भग करने का एक परिणाम यह होता है कि एकाधिकारी शक्ति के उत्पन्न होने एवं उसके बने रहने का खतरा भी कम हो जाता है।

(४) **अवसर की समानता** (Equality of Opportunity)—उपर्युक्त तर्क से ही सम्बन्धित एक तर्क, जिसे कि उत्तराधिकार कर को न्यायोचित ठहराने के लिये प्रयोग किया जाता है, यह है कि इसके द्वारा सभी को अवसर उपलब्ध होंगे। चूँकि आमदनियों की असमानता की वर्तमान पद्धति असमान अवसरों (unequal opportunities) की स्थिति उत्पन्न करती है अत यह कहा जाता है कि यदि मृत्यु करों को लागू किया गया तो उससे सभी किस्म की असमानताएँ दूर होंगी और वे सभी समान अवसर उपलब्ध करायेंगे। वास्तव मे, वह तर्क कोई नया नहीं है बल्कि पिछले तर्क का ही एक भिन्न पहलू है।

(५) **आयकर मे लाभदायक तथा आवश्यक वृद्धि** (Useful and necessary addition to income-tax)—अन्त में कहा जाता है कि मृत्यु-कर बडा लाभदायक कर है तथा यह आय-कर में एक आवश्यक वृद्धि है। यह ऐसे ऋण-पत्रों (securities) से होने वाली आय तथा कुछ ऐसी कमाई, जो कि आय-कर से मुक्त होती है, और कुछ ऐसी सम्पत्ति तथा आय तक भी अपनी पहुँच कर लेता है जो कि मालिक के जीवन-काल में कराधान से मुक्त रहती है। इसके अलावा, मृत्यु-कर का एक बड़ा लाभ यह भी है कि इसका निर्धारण (assessment) तथा सग्रह (collection) बड़ा सरल है।

मृत्यु-करों के विपक्ष मे तर्क (The case against Death Duties) :

(१) **सम्पत्ति की प्राप्ति प्राप्तकर्त्ता के आर्थिक कल्याण मे कोई वास्तविक वृद्धि नहीं** (Receipt of title to the property does not represent a real improvement in the

(as a whole) ही लागू होते हैं। दूसरी ओर, उत्तराधिकार कर मे निम्नलिखित तीन सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं : (क) इसमे उत्तराधिकारियो अथवा वारिसो (heirs) का विस्तृत वर्गीकरण किया जाता है; (ख) इसमे विशेष छूटें प्रदान की जाती है, और (ग) इसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग के लिए करो की दरो का एक विशिष्ट पैमाना नियत होता है।

उत्तराधिकार कर (inheritance tax) भी क्रमवर्धन पर आधारित होता है और इस क्रमवर्धन का सम्बन्ध जिन दो बातो से होता है वे हैं—(i) प्रत्येक उत्तराधिकारी के हिस्से की मात्रा, और (ii) उत्तराधिकारी एवं मृतक के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध (relationship) की गहनता एव घनिष्ठता।

मृत्यु करो की इन दोनो ही किस्मो का सूक्ष्म अध्ययन करने से इनके गुणों एवं अवगुणो का पता चलता है। उदाहरण के लिए, आस्ति कर अथवा मृत सम्पदा कर अधिक सरल तथा अधिक उत्पादक हैं। इसका कारण यह है कि इसके अन्तर्गत विभिन्न उत्तराधिकारियो को मिलने वाले हिस्सो के मूल्य के निर्धारण जैसे अत्यधिक जटिल कार्य की पूर्णतया उपेक्षा कर दी जाती है—जटिल इसलिये भी, क्योकि यह हो सकता है कि विभिन्न उत्तराधिकारियो को किया जाने वाला जायदाद का हस्तान्तरण अनेक परिस्थितियो, शर्तों एव योग्यताओ (qualification) पर निर्भर हो। परन्तु मृत सम्पदा कर उत्तराधिकारी की कर अदा करने की योग्यता पर कोई विशेष ध्यान नही देता है। दूसरी ओर, उत्तराधिकार कर इस बात का बराबर ध्यान रखता है कि मृतक (deceased) तथा उत्तराधिकारियो के बीच क्या सम्बन्ध हैं और प्रत्येक उत्तराधिकारी का हिस्सा कितना है। इस प्रकार, यह उत्तराधिकारी की कर अदा करने की योग्यता को विशेष महत्त्व प्रदान करता है जिसका परिणाम यह होता है कि दूर के रिश्तेदारो की तुलना मे विधवा एव पुत्रो जैसे निकट के उत्तराधिकारियो पर कर का अपेक्षाकृत कम भार पडता है। अत उत्तराधिकार कर को अस्ति कर अथवा मृत-सम्पदा कर का ही एक परिष्कृत (refined) रूप माना जाता है।

मृत्यु-करों के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क
(Case for and against Death Duties)

एक समय था जबकि मृत्यु-करो को लागू करने के बारे मे भारी विवाद पाया जाता था परन्तु आजकल उन्नत देशो मे इन करो को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है। हाँ, इस सम्बन्ध मे अभी भी काफी मतभेद है अल्पविकसित देशो (underdeveloped countries) मे इनको लागू करना कहाँ तक न्यायोचित है और इन देशो मे ये कर क्या योगदान करते हैं ?

मृत्यु-करो के पक्ष में तर्क (The Case for Death Duties)

(१) समता एवं न्याय सिद्धान्त पर आधारित होना (Based on equity)—मृत्यु करो के पक्ष मे दिया जाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क (argument) समता एव न्याय (equity) अर्थात् अदा करने की योग्यता के सिद्धान्त (principle of ability to pay) पर आधारित है। जैसा कि हम पहले ही बतला चुके हैं, सम्पत्ति (property) को कराधान का एक उपयुक्त (suitable) आधार माना जाता है और मृत्यु कर सम्पत्ति पर ही लगाया जाने वाला एक वैयक्तिक कर (Personal tax) हैं। फिर, यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति की मृत्यु होने पर किये जाने वाले धन के हस्तान्तरण का समय ही राज्य के लिये वह महत्त्वपूर्ण अवसर होता है जबकि वह भी उस धन मे अपने भाग का दावा प्रस्तुत करे। इस सम्बन्ध मे यह कहना बडा सरल है कि यहाँ कर अदा करने की योग्यता का विचार स्पष्ट नहीं है और वह इन मानो मे कि सिद्धान्त का लक्ष्य मृतक भी हो सकता है और उसके उत्तराधिकारी (heirs) भी। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जा सकता है कि मृत्यु-करो को लगाने का समय उत्तराधिकारी के लिये सभव है, सदा ही उपयुक्त न हो और विशेष रूप से तब जबकि उत्तराधिकारी विधवा (widow) हो। तथापि, उत्तराधिकारी रिश्तेदारी मे मृतक से जितना ही अधिक दूर का होता है, उसकी (उत्तराधिकारी की) कर अदा करने की योग्यता उतनी ही अधिक होती है क्योकि उसे वह धन प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति की संभवत उसे आशा भी नही थी। अत. उत्तराधिकारी द्वारा सम्पत्ति की प्राप्ति का समय ही राज्य के लिये वह उचित अवसर होता है जबकि उसे राष्ट्रीय राजकोष के लिये उस सम्पत्ति मे से अपना अशदान देना चाहिए।

इनके पक्ष में सबसे प्रबल तर्क यही है कि सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के कानून के कारण जो आय सम्बन्धी असमानतायें उत्पन्न होती हैं, ये उनको कम करने में सहायक होते हैं।

मृत्यु करों के प्रभाव
(Effects of Death Duties)

सामान्य कर ढांचे (general tax structure) में मृत्यु करो के योगदान का यदि समुचित अध्ययन किया जाये तो उससे इन करो के आर्थिक प्रभावो (economic effects) पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस सम्बन्ध में अनेक मुद्दो (points) का स्पष्टीकरण पहले ही अन्यत्र किया जा चुका है। यहाँ तो, हम सावधानीपूर्वक मृत्यु करो के आर्थिक प्रभावो का ही मूल्यांकन करेंगे, और वह भी विशेष रूप से आर्थिक प्रेरणाओ (economic incentives) के दृष्टिकोण से और देश मे धन के वितरण के दृष्टिकोण से।

[I] मृत्यु-कर तथा प्रेरणाएं (Death Duties and Incentives)

इस बात पर सामान्य सहमति पाई जाती है कि ऐसी कोई सम्भावना नही है कि मृत्यु कर लोगो को काम करने से, अधिक जिम्मेवारी के पद सभालने से अथवा व्यवसाय का विकास एव विस्तार करने से रोके। अनेक मामलो मे तो मृत्यु-कर कोई नियन्त्रक प्रभाव (controlling effect) डालने मे अत्यधिक तटस्थ रहता है। इसका प्रभाव उन आय-करो की तुलना मे निश्चित ही कम पडता है जो कि प्रत्यक्ष रूप से एक दम उन लाभो तक पहुँच जाते हैं जो कि व्यक्ति द्वारा की जाने वाली आर्थिक क्रियाओ से उसे प्राप्त होते हैं। यहाँ इस बात को नही भूलना चाहिये कि ऐसी अनेक प्रेरणायें (motives) हैं जिनसे प्रभावित होकर व्यक्ति सम्पत्ति का सचय कर सकता है और वसीहत के रूप मे सम्पत्ति छोड जाने की इच्छा तो उन प्रेरणाओ मे से केवल एक है। जैसा कि पीगू ने कहा है कि "ये सब प्रेरणाएं (incentives) उस व्यक्ति के जीवन-काल मे विद्यमान रहती हैं जो कि बचत करता है और वस्तुत. वह इन प्रेरणाओ के दबाव के कारण ही बचत करने को इच्छुक होता है, और जहाँ तक उन प्रेरणाओ से इस तथ्य का सम्बन्ध है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् कही उसकी सम्पत्ति भी न मर जाये, यह तो एक असम्बद्ध घटना है।"[2] इसके अतिरिक्त यह भी स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति जैसे-जैसे सम्पत्ति के स्वामित्व की उच्चतर सीढी पर चढता है वसीयत के रूप मे सम्पत्ति छोड जाने की उसकी इच्छा अधिकाधिक कम होती जाती है जबकि अन्य प्रेरणाएं—जैसे कि आर्थिक शक्ति की प्राप्ति तथा समाज मे सामाजिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति आदि—अधिकाधिक दृढ होती जाती हैं। अत यह स्पष्ट है कि मृत्यु कर काम करने तथा धनोपार्जन करने की प्रेरणा पर कोई प्रभाव नही डालता। डा० गुलाटी के शब्दो में "एक क्रमवर्धी मृत्यु-कर (progressively rising death tax) जो कि छोटी छोटी सम्पत्तियो के स्वामियो पर कर का बहुत हल्का और बडी सम्पत्तियो के स्वामियो पर अधिकाधिक भारी बोझ डालता है, उसी का आकार के एक समानुपाती कर (proportionate tax) के मुकाबले प्रेरणाओ पर कम हानिकारक प्रभाव डालता है।"[3]

यह सभव है कि कुछ व्यक्ति मृत्यु कर के कारण सम्पत्ति का सचय करने से रुक जा परन्तु यह भी हो सकता है कि बहुत से लोग अन्य लोगो की अपेक्षा इसलिए अधिक सचय क जिससे कि वे कर के बाद भी अपने वारिसो के लिए काफी मात्रा में सम्पत्ति छोड जाने की अपन इच्छा को पूर्ण करने मे समर्थ हो सकें। अत सम्पूर्ण रूप मे, मृत्यु कर लोगो की आयोपार्जन क क्रियाओ (income earning activities) पर कोई अप्रेरणात्मक प्रभाव (disincentive effec नही डालता।

---

2 A C Pigou A study of Public Finance, "All those motives are conceive only with the life time of the man who contemplates saving under the stress c them, the fact that after his death, his fortune does not also die, is, so far a they are concerned, an irrelevent accident"

3 I. S Gulati; op cit, p. 51, "A progressively rising death tax which taxes th smaller property owners lightly and gets heavier and heavier on owners of larg fortunes would, therefore, have less effects on incentives than a proportionate ta of the same size."

economic will being of the recipient):—मृत्यु-करों के विपक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि वसीयत के रूप में जो धन अथवा सम्पत्तियाँ छोडी जाती है वे अधिकाशतया तो मृतक से उसकी विधवा अथवा नाबालिग बच्चो को ही हस्तान्तरित होती है। अत. यह नही माना जा सकता कि केवल सम्पत्ति उनके नाम हो जाने अथवा सम्पत्ति पर उनका अधिकार हो जाने मात्र से उनके आर्थिक कल्याण मे कोई वास्तविक वृद्धि होगी। क्योकि सम्पत्ति उनके नाम होने से पहिले भी तो वे उसका पूरा उपयोग करते थे। इसके अतिरिक्त, सच्चाई तो यह है कि व्यक्ति की मृत्यु से परिवार की आय का एक प्रमुख स्रोत (chief source) ही छिन जाता है और उसके परिणामस्वरूप उत्तराधिकारी और भी खराब दशा मे छोड दिये जाते है। अत मृत्यु कर को लागू करना अन्यायपूर्ण माना जाता है। वैसे इस तर्क मे काफी बल है। परन्तु फिर भी यह मृत्यु-कर के विरोध मे उतना ही नही है जितना कि वसीयतों (bequests) तथा उपहारों से विशिष्ट व्यवहार किये जाने के पक्ष मे है। फिर, एक बात यह है कि वसीयत मे छोडी हुई कुछ सम्पत्तियाँ बिल्कुल आकस्मिक लाभ के रूप मे प्राप्त हो जाती हैं अत इनको सामान्य आय के मुकाबले अधिक कर-देय क्षमता (tax paying capacity) का सूचक माना जा सकता है।

(२) पूँजी के निर्माण पर घातक प्रभाव (Deleterious effect on capital formation)—मृत्यु-कर के विरुद्ध दिया जाने वाला सबसे अधिक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि पूँजी के निर्माण पर यह बडा घातक प्रभाव डालता है। यदि व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति को बेच सकने की स्वतन्त्रता होती है तो यह स्थिति पूँजी के सग्रह के लिए निश्चय ही बडी प्रेरणादायक होती है। अन्यथा तो, धन का सचय करने के बाद व्यक्ति अपने धन तथा समय को आलस्य एव व्यसनो से पूर्ण जीवन बिताने मे ही बर्बाद करता है। किन्तु मृत्यु कर लगाये जाने के बाद, ऐसा प्रतीत होता है मानो सरकार ने धन सचय करने वाले व्यक्ति के सर पर तलवार लटका दी हो। जब किसी व्यक्ति को यह पता होगा कि उसके सचित धन का एक भाग—जो कि काफी बडा भी हो सकता है—सरकार द्वारा ले लिया जायेगा, तो धन का सचय करने मे निश्चय ही उसकी रुचि समाप्त अथवा कम हो जायेगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि धन को बचाने तथा उसका सचय करने की प्रेरणा पर मृत्यु कर का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(३) बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव (Adverse effect on the ability to save)—यही नही, मृत्यु कर बचत करने की योग्यता पर भी अनुकूल प्रभाव नही डालता। यह पिछली बचतो (past saving) मे कटौती करता है अन्यथा बचतें उत्तराधिकारियो को प्राप्त होती और उनके न मिलने से अब यह होगा कि उनकी भविष्य मे बचत करने की क्षमता भी कम हो जायेगी। तथापि इस बात से तो कोई इन्कार नही करता कि मृत्यु करो से बचतें प्रभावित होती है परन्तु फिर भी कुछ अन्य कारणों से इसे तरजीह (preference) दी जाती है।

(४) प्रभावी उत्पादक इकाइयों तथा राष्ट्रीय आय पर प्रतिकूल प्रभाव (Adverse effect on effective productive units and national income)—यह भी कहा जाता है कि मृत्यु कर लगाने से यह हो सकता कि बडे अच्छे ढंग से चलने वाली कुछ उत्पादक इकाइयाँ (productive units) भंग हो जायें और इस स्थिति मे उसका प्रभाव राष्ट्रीय आय (national income) पर पडेगा। इस बात का एक नही, बल्कि अनेको उदाहरण दिये जा सकते हैं कि मालिक की मृत्यु के बाद छोटी-छोटी स्वतन्त्र व्यवसायिक इकाइयाँ किस प्रकार भग हो गईं। मृत्यु कर लगने के कारण छोटे-छोटे व्यवसाय इस बात के लिए बाध्य हो जाते हैं कि वे स्वय को बडी-बडी एकाधिकारी सस्थाओ के हाथो बेच दें। यही नही, मृत्यु कर अदा करने की तैयारी मे सम्पत्ति अथवा जायदाद (estate) को तरल (liquid) रखने के प्रयत्नो से यह हो सकता है कि उसका उपयोग जोखिम वाले उद्यमो मे न किया जा सके। पर इस सबके बावजूद, व्यवसायियो (businessmen) के पास अनेक ऐसे साधन होते हैं जिनके द्वारा वे मृत्यु करों से निबट सकते हैं, उदाहरण के लिये, बीमा, मृत्यु से पूर्व उपहार तथा मृत्यु के बाद किश्तें (instalments) आदि।

निष्कर्ष (Conclusion) :

मृत्यु करो के विरुद्ध दिये गये तर्कों मे विद्यमान अनेक गुणो के बावजूद, लगभग प्रत्येक उन्नत देश (advanced country) ने किसी न किसी रूप मे मृत्यु कर को अवश्य लागू किया है।

बड़ी मात्रा में आय न कमाई जाए। परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि ये सब विकल्प सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही सही प्रतीत होते है किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से उन्हें व्यवहार में लाना लगभग असम्भव सा प्रतीत होता है। जैसा कि एक लेखक ने जोर देकर कहा है कि इस सम्बन्ध में मनुष्य के सामने केवल दो ही निश्चितताएं (certainties) थी, जिनमें से उसे एक चुननी थी। और वे थी (i) मृत्यु तथा (ii) कर। इस कथन से कर सम्बन्धी कार्यवाहियों में बल प्रयोग के अधिकार का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। परन्तु बलप्रयोग का अधिकार तो गैर-सरकारी व्यवसाय में भी पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यवसाय में एकाधिकार (monopoly) स्थापित हो जाए और यदि वस्तु की किस्म (quality) तथा कीमत मे चुनाव का कोई अवसर विद्यमान न हो, तो यह कहा जायेगा कि यहाँ उपभोक्ता के साथ जोर-जबरदस्ती की जा रही है, क्योंकि इस स्थिति मे उसे वह एकाधिकारी वस्तु खरीदनी पड़ेगी, और वह भी उस मूल्य पर जो उससे माँगा जायेगा किन्तु इसके बावजूद भी यह निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि सरकार का बल प्रयोग अधिकार गैर-सरकारी व्यवसाय गृहो के मुकाबले कहीं अधिक विस्तृत होता है।

(४) बजट बनाने के सम्बन्ध में अन्तर (Difference in the matter of Budgeting) :

लोकवित्त तथा निजी वित्त के बजट बनाने के सम्बन्ध मे भी कुछ विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। जहाँ व्यक्ति आमतौर पर अपने बजट को, अर्थात् अपनी आय तथा व्यय को, अल्पकालीन अवधि (उदाहरणत. एक मास के अन्तर्गत) मे ही सन्तुलित करने का प्रयत्न करता है, वहाँ सार्वजनिक सत्ता की स्थिति में, ऐसी अवधि सामान्यत एक वर्ष की होती है जिसमे उसे अपना बजट सन्तुलित करना होता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति साधारणतया जहाँ आधिक्य का बजट (surplus budget) बनाने का प्रयत्न करता है, वहाँ सार्वजनिक सत्ता सदा ही आधिक्य का बजट बनाना पसन्द नही करती। एक व्यक्ति के लिए आधिक्य का बजट अच्छा होता है और प्राय आवश्यक भी होता है क्योंकि आधिक्य का बजट बनाने का अर्थ होता है बचत करना और व्यक्ति द्वारा बचत करना उसके सद्गुण का प्रतीक होता है। केवल बचत के द्वारा ही व्यक्ति पूँजी का सचय करता है और धनी बन जाता है दूसरी ओर, सार्वजनिक सत्ता आधिक्य का बजट बना भी सकती है और नही भी। वह या तो कराधान के ऊँचे स्तर द्वारा बजट बनाती है या व्यय के नीचे स्तर द्वारा बजट बनाती है। परन्तु ये दोनो ही बातें सामान्य जनता द्वारा पसन्द नही की जाती। इसके साथ ही, कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जबकि सरकार को कर घटाने तथा सरकारी व्यय बढाने की नीति अपनानी पड़े। उदाहरण के लिए, बेरोजगारी दूर करने के उद्देश्य से ऐसा करना पड सकता है। इस स्थिति मे उसे आधिक्य (surplus) के बजट के स्थान पर घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) की नीति अपनानी पड सकती है। इस प्रकार, व्यक्ति तथा सार्वजनिक सत्ता के बीच बजट बनाने के सम्बन्ध मे एक अनिवार्य अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर एक तो बजट को सन्तुलित करने की अवधि के सम्बन्ध मे होता है, दूसरे, बजट की उस किस्म के सम्बन्ध मे जिसे कि वे साधारणत. अपनाते हैं।

(५) व्यय करने के उद्देश्यों मे अन्तर (Difference as regards the motives of Expenditure) :

लोकवित्त तथा निजी वित्त के बीच एक महत्वपूर्ण अन्तर इस सम्बन्ध मे पाया जाता है कि व्यक्तियो का तथा सरकार का व्यय करने का उद्देश्य क्या है। व्यक्ति के मामले मे, व्यय के सम्बन्ध मे मुख्य विचारणीय बात लाभ की होती है। अर्थात् यह कि प्रत्याशित आय (anticipated income) उस राशि से अधिक होगी या नही जितनी कि व्यय की गई है। हाँ, व्यक्ति की स्थिति मे कुछ ऐसे व्यक्तिगत खर्चे हो सकते हैं जिनकी उपेक्षा वह न कर पाये, किन्तु एक गैर-सरकारी व्यवसाय-गृह के मामले मे तो वित्तीय सौदो के सम्बन्ध मे एकमात्र विचारणीय बात 'लाभ' की ही होती है। इसके विपरीत, आमतौर पर लाभ तथा बचत की प्रेरणाएँ सरकारी विभागो को प्रभावित नही कर सकती, सिवाय कुछ वाणिज्यिक विभागो (commercial department) के जैसे—कि रेलवे तथा डाक व तार विभाग आदि। सरकार को सामान्य किस्म के सुधारो तथा कुछ ऐसी क्रियाओ की वित्तीय व्यवस्था करनी होती है जिनसे वित्तीय प्रतिफल प्राप्त होना या तो अनिश्चि

[II] मृत्यु कर तथा पूँजी का संचय (Death Duties and Capital Accumulation) :

मृत्यु कर काम करने की इच्छा पर यह हो सकता है कि प्रभाव न डालें परन्तु यह कहा जाता है कि बचत करने की इच्छा पर वे अवश्य प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे। चूँकि मृत्यु कर उस धन को ले लेते हैं जो कि अन्य स्थिति मे व्यावसायिक विस्तार के लिये उपलब्ध होता और चूँकि मृत्यु करो का भुगतान चालू आय की अपेक्षा संचित धन मे से ही किया जाता है अतः यह माना जा सकता है कि पूँजी के निर्माण पर इसका अधिक गंभीर प्रभाव पड़ेगा। परन्तु यहाँ दो तथ्यों को भी अवश्य दृष्टिगत रखा जाना चाहिये। प्रथम तो यह कि मृत्यु-कर संचय हो जाने के बाद ही धन लेते है। दूसरे, मृत्यु-कर देश मे वर्तमान कुल पूँजी के योग मे कोई कमी नही करते, क्योंकि देश की चालू परिसम्पत्तियाँ (existing assest) तो पूर्ववत् ही बनी रहती है, हाँ मृत्यु-करो के कारण उनके स्वामित्व मे अवश्य परिवर्तन हो जाता है।

पर इसके बावजूद, यह कहा जा सकता है कि मृत्यु-कर नई परिसम्पत्तियों (assests) के निर्माण पर प्रभाव डालते है। चूँकि पूँजी का निर्माण (capital formation) विनियोग करने के निर्णयो पर निर्भर होता है और ये निर्णय ब्याज की चालू दर से सम्बन्धित होते हैं, अत यह सभव हो सकता है कि मृत्यु-कर विनियोग करने के निर्णयो को प्रभावित करें और वह इस प्रकार कि विनियोगकर्त्ताओं (investors) की लाभ-प्राप्ति की आशायें निम्नलिखित दो प्रकार मे प्रभावित की जा सकती है : (क) यदि विनियोगकर्त्ता को मृत्यु-करो की जानकारी है तो वह अपने लाभो की पूर्व गणना करते समय इनको भी अवश्य ही हिसाब मे सम्मिलित करेगा और इस स्थिति मे यह हो सकता है कि उद्यम की सामान्य प्रेरणाओ पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पडे, (ख) मृत्यु-करो के कारण, यह भी हो सकता है कि कुछ चालू पूँजीगत परिसम्पत्तियाँ (capital assets) बेचने के लिये बाजार मे लानी पडे और इसके परिणामस्वरूप माँग (demand) मे कोई वैसी वृद्धि हुये बिना ही विनियोग की गई पूँजी के सभरण (supply) मे वृद्धि सभावित हो सकती है, और इसका अन्तिम प्रभाव यह होगा कि लाभ-प्राप्ति की आशाओ मे कमी हो जायेगी। इन तथ्यो से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मृत्यु-कर, कुछ सीमा तक, अवश्य ही नई पूँजीगत परिसम्पत्तियो के निर्माण रोक सकते है। पर इसके विपरीत, इगलैड मे पिछले ७० से भी अधिक वर्षों से मृत्यु-कर लागू किये जा रहे हैं किन्तु आज तक ऐसा कोई उदाहरण सामने नही आया कि इनके कारण सम्पत्ति का पूर्णतया उन्मूलन हो गया हो अथवा नई पूँजी के निर्माण मे इनसे रोक लगी हो।

[III] मृत्यु-कर और सम्पत्ति का नकदीकरण अथवा तरलता (Death Duty and Liquidity of Estates) .

मृत्यु-करो का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव जायदादों के नकदीकरण (liquidity of estates) पर पड़ता है। आस्ति करो अथवा मृत्युसम्पदा करो (eitath taxes) के कारण एक ऐसा व्यक्ति बड़ी हानिप्रद स्थिति मे पड जाता है जिसने कि अपने निजी व्यवसाय को काफी विनियोग (investment) कर रखा हो परन्तु उसके पास नकद पूँजी (liquid capital) थोडी हो। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मृत्यु-कर द्रव्य (money) मे अदा किया जाता है और उपर्युक्त स्थिति मे व्यक्ति के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह कर अदा करने के लिये अपनी विनियोग की गई पूँजी के एक भाग को नकदी रूप दे। इस बलाद् नकदीकरण (forced liquidation) का परिणाम यह होगा कि उत्तराधिकारियो को भारी हानियाँ उठानी होगी, व्यवसाय के नियन्त्रण मे हेर-फेर होगा और व्यापार का सामान्य सगठन छिन्न-भिन्न होने की सम्भावना हो जायेगी।

कुछ वर्षों पूर्व तो चाहे जो स्थिति रही हो, परन्तु आजकल ऐसे उपाय अपनाये जा सकते हैं जिनके द्वारा बलाद् नकदीकरण की सभावना को, सामान्य रूप से रोका जा सके। मृत्यु से पूर्व ही सम्पत्ति को हस्तान्तरित करने की प्रवृत्ति उत्तराधिकारियो को किश्तो मे कर अदा करने की अनुमति प्रदान किया जाना तथा मृत्यु-कर तथा अन्य कोई सम्पत्ति कर अदा करने के लिये बीमे की व्यवस्था आदि—ये ऐसे कुछ उपाय हैं जिनके द्वारा कर योग्य जायदादो के साथ-साथ काफी मात्रा मे नकदी बनी रह सकती है और उसके द्वारा कर की अदायगी की जा सकती है।

तथापि, कुछ लेखको का यह कहना है कि हो सकता है कि बलाद नकदीकरण से कोई गम्भीर समस्या उत्पन्न न हो, परन्तु फिर भी, बलाद् नकदीकरण से बचने के लिये जो पग उठाये जायेंगे

उनके बड़े उल्लेखनीय कुप्रभाव पड सकते हैं। एक तो इसलिये क्योंकि मृत्युकर व्यक्ति को ऐसी स्थिति में ला रखता है जिससे कि उसे अपनी जायदाद को किसी अन्य स्थिति के मुकाबले अधिक नक्द रूप में रखना पड़ता है। उदाहरण के लिये, वह धन जो कि व्यवसाय के विस्तार के काम में आता, अब सरकारी बॉण्डों तथा अन्य सुरक्षित ऋण-पत्रों में लगाकर रखा जाता है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे कुछ देशों में, नक्दीकरण की मजबूरी ने व्यवसायों के विलय (merger) को भी प्रोत्साहन दिया है। यह देखा गया है कि मृत सम्पदा कर के कारण सीमित आकार वाले व्यवसायों के मालिकों को इस बात का प्रोत्साहन मिला है कि वे मृत्यु के समय बलात् नक्दीकरण के किसी भी खतरे से बचने के लिए अपने उद्यमों (enterprises) को अन्य फर्मों के हाथ बेच दें।

[IV] मृत्यु-करों के वितरण-सम्बन्धी प्रभाव (Distributional Effects of Death Duties) :

मृत्युकरों का सबसे बड़ा औचित्य (justification) समता एवं न्याय (equity) के दृष्टिकोण से दिया जाता है। इनका एक प्रभाव यह पड़ता है कि ये बड़े-बड़े विशाल आकार वाली सम्पत्तियों को टुकड़ों में विभाजित कर देते हैं। बड़ी-बड़ी धनराशियों एवं सम्पत्तियों के अस्तित्व (existence) को तथा उत्तराधिकार-कानून (law of succession) के द्वारा उनके स्थायित्व को बड़ा ही अन्यायपूर्ण माना जाता है। यह बड़ी ही अन्यायपूर्ण बात है कि कुछ व्यक्तियों को ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि वे उत्तराधिकार में इतनी सम्पत्ति प्राप्त कर लें कि उन्हें भविष्य में ऐसा काम करने की आवश्यकता ही न रहे। फिर हो सकता है कि इस स्थिति में ये व्यक्ति देश के कल्याण के कार्यों में भी अपना कुछ योगदान न दें। अतः यदि सभी लोगों को अवसरों की न्यायपूर्ण समानता प्रदान की जानी है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि उत्तराधिकार में प्राप्त किए जाने वाले धन की मात्रा पर कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगाया जाए और मृत्यु-कर इस लक्ष्य की पूर्ति का सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय है। यदि किसी समाज में इस बात पर जोर दिया जाता है कि आय तथा धन की समानता का एक न्यायपूर्ण स्तर कायम किया जाये तो उसे उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाले धन की मात्रा कम करने के लिए मृत्यु-करों पर ही निर्भर रहना होगा जिससे कि असमानताओं (inequalities) का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्रोत निरन्तर और क्रमिक रूप से नष्ट किया जा सके। अतः वितरणात्मक दृष्टिकोण से, आय-कर तथा मृत्यु-कर दोनों ही एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं।

परन्तु मृत्यु-करों का उक्त प्रभाव काफी मात्रा में इसलिए कम हो जाता है क्योंकि लोगों को इस कर की व्यवस्थाओं से बचने के अनेक अवसर उपलब्ध हो जाते हैं। जायदाद (estate) का मृत्यु से पूर्व ही दे देने के अनेक उपायों के द्वारा—अर्थात् धर्मार्थ संस्थाओं एवं प्रन्यासों को अनुदान देकर तथा अन्य तरीकों द्वारा—कोई भी व्यक्ति मृत्यु-कर से बच सकता है और इस स्थिति में इस सीमा तक मृत्यु-करों द्वारा धन के बड़े-बड़े संग्रहों एवं केन्द्रों को भंग करना संभव नहीं हो सकता।

निष्कर्ष (Conclusion) :

निष्कर्ष के रूप में, इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि मृत्यु करों का प्राथमिक लाभ, जो कि आय-करों में प्राप्त नहीं होता, यह है कि काम करने की अधिक उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवसायों एवं कार्यों को हाथ में लेने को तथा व्यवसाय का विकास एवं विस्तार करने की प्रेरणाओं पर इसका अपेक्षाकृत कम प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, इसका एक विशेष गुण यह है कि सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के कारण आय की जो असमानतायें उत्पन्न हो जाती हैं उनको भी यह कम करता है। इस कर के विपक्ष में, यह कहा जा सकता है कि यह पूँजी के संचय तथा निवेश को प्रभावित करता है परन्तु यह प्रभाव कोई अधिक गंभीर नहीं प्रतीत होता। यहाँ तक कि बलात् नक्दीकरण (forced liquidation) की सम्भावना तथा बड़े व्यवसायों में विलय की अधिकाधिक प्रेरणा के प्रभाव भी अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय नहीं माने जाते। अतः संपूर्ण रूप में (on the whole), कहा जा सकता है कि किसी भी देश के करों के ढाँचे में मृत्यु-करों को एक बड़ा उपयोगी एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

[V] विकासशील देश में मृत्यु-कर (Death Duties in a Developing Country) :

एक विकासशील देश मे भी, मृत्युकरो को एक बड़ा महत्वपूर्ण योगदान करना होता है। केवल यही नही कि इससे प्राप्त सरकारी आय काफी अधिक होगी और देश के आर्थिक विकास मे उसका उपयोग किया जा सकेगा, बल्कि यह भी कि धनी व्यक्तियो पर कर लगने से निर्धनो पर अच्छा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडेगा और वे यह सोचेंगे कि करो की दृष्टि से धनियो को यूँ ही नही छोड दिया गया है। इसके अतिरिक्त, आर्थिक, विकास के कार्यों मे वृद्धि होने के साथ ही साथ, राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी और ठेकेदारो, निर्माताओं (manufactrers) तथा व्यावसायियो (busınessmen) क हाथा मे आय का केन्द्रीयकरण भी अधिक हो जायगा। अत यदि अपेक्षाकृत न्यायपूर्ण समाज की रचना का लक्ष्य प्राप्त करना है तो इस केन्द्रीयकरण (concentration), को कम करना अत्यन्त आवश्यक है। यही वह दृष्टिकोण है जिसके सदर्भ मे एक विकासशील देश की अर्थव्यवस्था के लिये मृत्यु कर अत्यावश्यक होते है।

उपहारों का कराधान
(Taxation of Gifts)

उपहारों से आशय (Meanıng of Gıfts)

सपत्ति का नि शुल्क एव ऐच्छिक हस्तान्तरण दान देने वाले (donor) के जीवन-काल मे भी हो सकता है और उसकी मृत्यु पर भी। व्यक्ति के जीवन-काल मे ही सम्पत्ति का जो हस्तान्तरण होता है उसे उपहार (gıft) कहा जाता है, और मृत्यु के समय होने वाले हस्तान्तरण को वसीयत या उत्तरदान (bequest) की सज्ञा दी जाती है। मृत्यु-करो के शीर्षक के अन्तर्गत वसीयत अथवा उत्तराधिकार मे प्राप्त धन के साथ किये जाने वाले व्यवहार की व्याख्या हम पहले ही कर चुके है। यहाँ हम इस बात की विवेचना करेंगे कि उपहारो के साथ करो की दृष्टि से क्या व्यवहार किया जाये। लेकिन इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम यह बात ध्यान मे रखी जानी चाहिये कि उपहार तथा वसीयतो के रूप मे छोडी गई सम्पत्तियाँ, दोनो ही पूर्णतया एक समान प्रकृति की है। अत: यह निश्चित है कि एक के कराधान का प्रभाव दूसरे के हस्तान्तरण पर अवश्य पडेगा। उदाहरण के लिये, मृत्यु-कर लगाने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उपहार के द्वारा पहले ही सम्पत्ति का हस्तान्तरण (transfer) कर दिया जायेगा और इस प्रकार मृत्यु-कर को प्रभावहीन बना दिया जायेगा। अत मृत्यु कर से ही सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उपहारो के साथ क्या व्यवहार किया जाए? समस्या का हल इस प्रकार हो सकता है कि या तो एक ऐसा सामान्य कर (general tax) लगाया जाये जिसमे कि मृत्यु-कर तथा उपहार-कर, दोनो ही सम्मिलित हो अथवा वसीयतो की सम्पति तथा उपहारो के लिए पृथक्-पृथक् कर लगाये जाने चाहिये।

भारतीय सम्पदा कर अधिनियम, १६५३
(Indian Estate Duty Act 1953)

भारतीय सम्पदा कर अधिनियम सन् १६५३ से भारत मे लागू हुआ। यह कर १५ अक्टूबर, १६५३ के बाद मरने वाले व्यक्ति द्वारा छोडी गई सम्पत्ति पर ही लगाया जाता है। यह चल तथा अचल दोनो प्रकार की सम्पतियो पर लगाया जाता है। इसमे छूट की न्यूनतम सीमा ५०,००० रु० निर्धारित की गई है। कर चुकाने का दायित्व मृतक के सभी उत्तराधिकारियो पर है। सम्पदा कर की दरें इस प्रकार हैं :—

प्रथम ५०,००० रु० तक""शून्य
अगले ५०,००० रु० पर ४%
अगले १,००,००० रु० पर १०%
अगले १,५०,००० रु० पर १५%
अगले १,५०,००० रु० पर २५%

अगले ५,००,००० रु० पर ३०%
अगले ५,००,००० रु० पर ४०%
अगले ५,००,००० रु० पर ५०%
शेष रु० पर ८५%

गत कुछ वर्षों में भारत मे सम्पदा कर से होने वाली आय इस प्रकार थी :—

वर्ष	आय (करोड रु० मे)	वर्ष	आय (करोड रु० मे)
१९५४-५५	०० ८१	१९७०-७१	७ ००
१९५५-५६	१ ८१	१९७१-७२	८ ००
१९६०-६१	३ ०६	१९७२-७३	९ २५
१९६५ ६६	७ ०४	१९७३-७४	१० ००
१९६८-६९	६ ७४	१९७४-७५	१० ००
१९६९-७०	७·५०	१९७५-७६	९ ७०

उपहार कर से आशय उस कर से है जोकि किसी व्यक्ति द्वारा अपने जीवन काल मे एक निश्चित मूल्य से अधिक के उपहारो पर लगाया जाता है। डा० जे० के० महत्ता (Dr. J. K. Mehta) के अनुसार, "यह एक प्रत्यक्ष कर है जोकि व्यक्ति, हिन्दू अविभाजित परिवार, कम्पनियो, फर्मों तथा व्यक्तियो के सगठनो द्वारा दिये गये उपहारो पर लगाया जाता है।"[4]

उपहार के प्रकार (Types of gift) :

उपहार दो प्रकार के होते हैं—प्रथम कानून की भाषा मे उन्हे मृत्यु शैय्या के उपहार (gifts monis causa) और जीवन काल के उपहार (gifts inter vivos) की सज्ञा दी जाती है। मृत्यु-शैय्या के उपहारो से आशय उन उपहारो से है जो कि व्यक्ति द्वारा मरते समय मृत्यु-शैय्या पर ही प्रदान किये जाते हैं, और जीवन-काल के उपहार व्यक्ति द्वारा अपने जीवन-काल मे ही किसी समय प्रदान किये जाते है। मृत्यु-शैय्या के उपहार (death-bed gifts) उस समय कार्यशील नही होते जबकि या तो दान देने वाला (donor) अपनी मृत्यु से पूर्व ही उनको रद्द कर देता है या वह अपनी बीमारी से ठीक हो जाता है अथवा यदि प्राप्तकर्त्ता (receiver) दान देने वाले अथवा दातार (donor) से भी पहले मर जाता है। ये, वास्तव मे, सशर्त उपहार (conditional gifts) होते हैं और दातार की मृत्यु होने पर ही ये हस्तान्तरित होते है। दूसरी ओर, जीवन-काल के उपहारो के मामले मे, इस विषय मे स्पष्ट कानूनी व्यवस्था होती है कि मृत्यु से कितने समय पूर्व ये दे दिये जाने चाहिए। इन उपहारो के समय की अवधि का निर्धारण एक निश्चित उद्देश्य से किया जाता है क्योकि प्राय ऐसा होता है कि आस्ति कर अथवा मृत-सम्पदा कर (estate duty) से बचने की भावना से व्यक्ति अपनी मृत्यु से थोडे ही समय पूर्व उपहार देने का सिलसिला जारी कर देता है।

ऐसे उपहार जो कि कानून द्वारा निर्धारित अवधि से पूर्व न दिये जाकर उसी अवधि के अन्तर्गत दिये जाते हैं, वे उस सम्पत्ति मे ही सम्मिलित कर लिये जाते हैं जो कि मृत्यु के समय वास्तव मे हस्तान्तरित की जा रही होती है और इस स्थिति मे इन पर भी मृत्यु-कर लगाया जाता है। यह सम्भव हो सकता है कि ये उपहार जो कि कानून द्वारा निर्धारित अवधि के अन्तर्गत दिये गये हैं, आस्ति कर से बचने के उद्देश्य से न दिये गए हो, परन्तु फिर भी उनको मृत्यु के समय हस्तान्तरित की जाने वाली सम्पत्ति का एक भाग ही मानकर उन पर कर लगाया जाता है। पर जो उपहार कानून द्वारा निर्धारित अवधि से पूर्व ही दे दिये जाते हैं। भले ही उनके विषय में यह सिद्ध कर दिया जाए कि वे केवल मृत्यु करो मे बचने के लिए ही दिये गये हैं। उनको न तो

4 "This is a direct tax and is to be charged on gifts mode by individuals, hindu undivided families, companies, firms and association of persons"

Dr. J. K. Mehta.

हस्तान्तरित की जाने वाली सम्पत्ति मे जोडा जाता है और न उन पर मृत्यु कर ही लगाया जाता है। चूँकि कानून सम्मत अवधि से पूर्व दिये गये उपहारो अर्थात् जीवन-काल मे दिये गये उपहारो पर मृत्यु-कर नही लगाया जाता, अतः लोगो मे यह स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है कि वे अपने जीवन-काल मे काफी समय पूर्व ही अपनी जायदाद का अधिकतम सम्भव भाग उपहारों के रूप मे दे देते हैं और उन व्यक्तियो के मामले मे विशेष रूप से ऐसा होता है जो कि अपनी सन्तान के लिए कुछ इन्तजाम कर जाने के मुख्य उद्देश्य से ही धन की बचत तथा उसका सचय करते है।

मृत्यु-शैय्या के उपहार और जीवन-काल के उपहारो के साथ किये जाने वाले व्यवहार मे अन्तर होने के परिणामस्वरूप, करदाताओ के साथ किये जाने वाले व्यवहार मे भी काफी असमानता पाई जाती है। कुछ लोग तो ऐसे हो सकते है जो कि मृत्यु करो से पूर्ण मुक्ति पाने के उद्देश्य से निर्धारित समय से पूर्व ही अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति हस्तान्तरित करने मे समर्थ हो जाए, जबकि कुछ ऐसे भी रह सकते हैं जो अनेक कारणोवश अपनी सम्पत्ति का सम्पूर्ण अथवा थोडा भाग भी उपहारो के रूप मे दे सकने मे समर्थ न हो सकें और उसके फलस्वरूप उनको ही करो का सारा बोझ उठाना पडे। इस समस्या पर यद्यपि अनेक अर्थशास्त्रियो ने विचार किया है किन्तु फिर भी इसका कोई सर्वसम्मत हल नही खोजा जा सका है।

वर्तमान समय मे, सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे कुछ देश ऐसे है जहाँ कि जीवन-काल के उपहारो (gifts inter vivos) पर भी कर लगाया जाता है परन्तु कर की दर निर्धारित करने के उद्देश्य से इन उपहारो के साथ पृथक् व्यवहार किया जाता है। परन्तु चूँकि उपहारो के साथ पृथक रूप से और अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल एव उदार दरो से व्यवहार किया जाता है, अत लोगो मे यह स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है कि वे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को उपहारो एवं वसीयतो (bequests) के रूप मे इस प्रकार से *बिखरा देते हैं जिससे कि राज्य को, सम्पूर्ण रूप मे न्यूनतम* कर-आय (tax revenue) प्राप्त हो।

यदि सच कहा जाए तो होना यह चाहिये कि सभी उपहारो पर कर लगाया जाए और वह भी ऐसी दर से जिससे कि वे वसीयतो (bequests) के मुकाबले लाभप्रद स्थिति मे न रहे। यदि कोई ऐसा भेद-भाव किया गया जो उपहारो के अनुकूल पड़ता हो तो इसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि सम्पत्ति के हस्तान्तरण के एक उपाय के रूप मे उपहारो को विशेष लाभ प्रदान किया जा रहा है। फिर, यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि कराधार (tax base) उपहार-कर तथा मृत्यु-कर, दोनो के लिए ही समरूप (homogeneous) तथा अविभाज्य (indivisible) हो। अन्यथा एक *आरोही कर ढाँचे (progressive tax structure) के अन्तर्गत, किसी भी व्यक्ति द्वारा अपनी* जायदाद (estate) को उपहारो तथा वसीयतो के रूप मे फैला देना बडा लाभप्रद होगा। अन्त मे कर निर्धारण के उद्देश्य से, उपहारो को मृत्यु के समय हस्तान्तरित की जाने वाली सम्पत्ति के साथ जोडा जाना चाहिए। इस प्रकार, करपरिहार (tax avoidance) की दृष्टि से, उपहार-कर तथा मृत्यु-कर का एकीकरण (integration) किया जाना चाहिए। ऐसा एकीकरण दरो के ढाँचे (rate structure) मे तथा दरो के वृद्धिकरण (aggregatation) मे विशेष रूप से होना चाहिये।

कैल्डोर का सामान्य उपहार कर[5] (Kaldor's general gift Tax) :

कैल्डोर ने सभी प्रकार के उपहारो पर केवल एक ही एकीकृत कर (integrated tax) लगाने का सुझाव दिया है। कैल्डोर के इस सामान्य उपहार कर (general gift tax) मे वसीयतो एव उत्तराधिकारो की सम्पत्ति पर लगने वाले वर्तमान कर भी सम्मिलित होगें और साथ ही साथ सम्पत्ति अथवा उपहारो को उन समस्त नि.शुल्क एव ऐच्छिक हस्तान्तरणो (transfers) पर भी कर लगाया जायेगा जिन पर कि आजकल नही लगाया जाता है। कैल्डोर ने केवल एक ही एकीकृत सामान्य उपहार कर की वकालत "समता एवं न्याय, उपयुक्तता तथा प्रशासनिक कार्यक्षमता के आधार पर" की है।

---

5. Kaldor : Indian Tax Reform, Chapter V.

धन (wealth) एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास को उत्तराधिकार (inhertance) द्वारा, वसीयत (bequest) द्वारा, जीवन-काल के उपहारों (gifts inter vivos) द्वारा अथवा निपटारों (settlements) द्वारा हस्तान्तरित किया जाता है। व्यक्ति द्वारा अपने उत्तराधिकारियो को अपनी सम्पत्ति हस्तान्तरित करने की उसकी स्वतन्त्रता को सरकार ठीक उसी प्रकार सीमित करने का प्रयत्न करती है जिस प्रकार कि वह व्यक्ति द्वारा अपनी सम्पत्ति का इच्छानुसार किसी भी तरीके से उपभोग करने के उसके अधिकार को प्रतिबन्धित एव नियन्त्रित करने का प्रयास करती है। समता एव न्याय (equity) के दृष्टिकोण से ऐसा कोई कारण प्रतीत नही होता कि वसीयत अथवा उपहार द्वारा सम्पत्ति हस्तान्तरित किये जाने से व्यक्ति के अधिकार (right) के बीच कोई भेद किया जाए। यदि वसीयतो पर कर लगाया जा सकता है तो ऐसा कारण नही कि अन्य हस्तान्तरणो पर कर न लगाया जाए। यदि मृत्यु-कर को न्यायोचित सिद्ध किया जा सकता है तो जीवन-काल मे दिये जाने वाले उपहारो पर लगाये गये कर को भी न्यायोचित सिद्ध किया जा सकता है। अतः समता एव न्याय के दृष्टिकोण से, यह उचित ही प्रतीत होता है कि सम्पत्ति के सभी निःशुल्क एव ऐच्छिक हस्तान्तरणो पर कर लगाया जाए—भले ही हस्तान्तरण का ढग अथवा रूप चाहे कोई भी क्यो न हो।

उपहारो के कराधान की एकीकृत (integrated system) के पक्ष मे जो अन्य कारण प्रस्तुत किया जाता है वह यह है कि यह व्यवस्था कर-वचन (tax evasion) तथा कर-परिहार (tax avoidance) के सभी अवसरो एव उनकी सभी सम्भावनाओ को समाप्त कर देगी। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यदि मृत्यु-कर अकेला ही लगाया जाए और उसके साथ जीवन-काल के उपहारो पर कोई अथवा विशेष कर न लगाया जाए तो इससे लोगो को इस बात के लिए प्रोत्साहन मिलेगा कि वे अपनी सम्पत्ति अपने उत्तराधिकारियो और वारिसो को अपने जीवन-काल मे ही हस्तान्तरित कर दें जिससे कि या तो कर बिल्कुल बचाया जा सके अथवा सम्पत्ति को बिखराकर कर का बोझ कुछ कम किया जा सके।

कॅल्डोर का यह भी कहना है कि उपहार कर सम्पूर्ण रूप मे (as a whole) जायदाद (estate) पर नही पडना चाहिए, बल्कि लाभ प्राप्तकर्त्ताओ (beneficiaries) पर पडना चाहिए। अत समता एव न्याय के दृष्टिकोण से, कर के क्रमवर्धन की दर (rate of progression) मे व्यक्ति द्वारा प्राप्त की गई धनराशि के अनुसार ही अन्तर होना चाहिए, व्यक्ति छोडी गई सम्पत्ति की कुल मात्रा के आधार पर नहीं। फिर समता एव न्याय की दृष्टि से ही, मृत्यु कर जो कि धन के केन्द्रीयकरण को रोकने तथा बडे-बडे आकार वाली सम्पत्तियो को भग करने के उद्देश्य से लगाया जाता है, कर ऐसे धनी व्यक्ति पर हल्के रूप मे लगना चाहिए जो अपनी सम्पूर्ण जायदाद किसी एक व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं, अपितु अनेक व्यक्तियो के लिए छोड रहा है—क्योकि वह तो स्वय सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने की प्रवृत्ति की दशा मे आचरण कर रहा है। इसके अतिरिक्त यदि आस्ति कर अथवा मृत-सम्पदा कर की कठोर दरें लागू की गई तो इससे धनी व्यक्तियो को इस बात का सतत् प्रलोभन मिलेगा कि वे अपनी सम्पत्ति को अपने जीवन-काल मे ही व्यय करके इधर उधर कर दें। करो की एकीकृत व्यवस्था द्वारा इस प्रलोभन को भी रोका जा सकता है क्योकि करो की वर्तमान पद्धति तो जीवन-काल मे दिये जाने वाले उपहारो को कर-मुक्त कर देती है। कॅल्डोर के मतानुसार, व्यक्ति द्वारा अपनी सम्पत्ति को अपने जीवन-काल मे ही इधर उधर कर देने अथवा हटा देने के प्रलोभन (temptation) को कम किया जा सकता है बशर्ते कि धनी व्यक्ति को इस की अनुमति दी जाए कि वह अपनी जायदाद को लाभ प्राप्तकर्त्ता (beneficiries) की एक बडी सख्या में फैला सके और वह भी (जीवन-काल के उपहारो द्वारा) भिन्न-भिन्न समयो मे।

निष्कर्ष (conclusion) ;

कॅल्डोर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी निःशुल्क हस्तान्तरणो (gratuitous transfers) पर, चाहे वे वसीयतो के रूप मे हो अथवा उपहारो के रूप मे, एक ही समान कर (uniform tax) लगाया जाना चाहिए। ऐसे कर की अदायगी का कानूनी दायित्व (legal liability) लाभ प्राप्तकर्त्ता पर पडना चाहिए, दातार अथवा दानकर्त्ता पर नही। कॅल्डोर के मतानुसार, कर के आरोहण अथवा क्रमवर्धन की दर (rate of progression) भी न तो उपहार की मात्रा पर निर्भर होनी चाहिए और न दातार के धन पर, अपितु प्राप्तकर्त्ता (recipient) के कुल धन (total

wealth) पर अर्थात् उपहार सहित उसकी निबल सम्पत्ति पर निर्भर होनी चाहिए। यदि सभी किस्म के उपहारो पर ऐसा केवल एक ही एकीकृत कर लगाया गया तो उसमे करो को छिपाना बड़ा कठिन हो जायेगा।

इस प्रकार, समता एव न्याय की मांग यह है कि सभी उपहारो के साथ एक समान व्यवहार किया जाना चाहिए और जीवन-काल के उपहारो के पक्ष मे उनमे कोई भेद-भाव नही होना चाहिए। आर्थिक उपयुक्तता (economic expediency) की दृष्टि से, रिक्त कर (legacy duty) (अर्थात् उपहार-कर) निश्चित रूप से आस्तिकार अथवा मृत सम्पदा कर से श्रेष्ठ है। अन्त मे, प्रशासनिक दृष्टि से, केवल एक एकीकृत उपहार कर उस कर-वचन (tax eveasion) को रोक सकता है जो कि आस्ति कर मे आमतौर पर सम्भव होता है। इस अवस्था को कर-सुधार की उन अन्य कार्यवाईयो के साथ सयुक्त किया जा सकता है जिनका कि कॅल्डोर ने भारत जैसे देश के लिए सुझाव दिया है। कॅल्डोर ने सभी प्रकार के व्यक्तिगत कराधान के लिए कर-सम्बन्धी जिस प्रकार का विस्तृत विवरण-पत्र बनाये जाने की सिफारिश की है, यदि उसे अपनाया गया तो उससे सभी उपहारो को उपहार-कराधान की परिधि मे ला सकना अपेक्षाकृत सरल हो जायेगा।

भारतीय उपहार-कर अधिनियम, १९५८
(Indian Gift Tax Act, 1958)

प्रो० कॅल्डोर की सिफारिशो पर भारत मे उपहार कर सन् १९५८ से लगाया गया है। यह कर उपहार देने वाले व्यक्ति से वसूल किया जाता है। उपहार कर मे प्रारम्भिक छूट ५,००० रु० की है। यह कर प्रगतिशील दर के आधार पर लगाया जाता है। यदि उपहार देने वाला व्यक्ति उपहार देने के १५ दिन के अन्दर उपहार कर जमा कर देता है तो उसे जमा की गई कुल मात्रा पर १०% की छूट दी जाती है। उपहार कर की वर्तमान दरे इस प्रकार हैं —

उपहार का खण्ड	उपहार कर की दर (प्रतिशत मे)
शुरू के ५,००० रु० तक	शून्य
५,००१ से २०,००० रु० तक	५%
२०,००१ से ५०,००० रु० तक	१०%
५०,००१ से १,००,००० रु० तक	१५%
१,००,००१ से २,००,००० रु० तक	२०%
२,००,००१ से ५,००,००० रु० तक	२५%
५,००,००१ से १०,००,००० रु० तक	३०%
१०,००,००० से १५,००,००० रु० तक	४०%
१५,००,००१ से २०,००,००० रु० तक	५०%
२०,००,००० रु० से ऊपर	८५%

गत वर्षों मे भारतीय उपहार कर से प्राप्त होने वाली आय इस प्रकार है —

वर्ष	आय (करोड रु० मे)	वर्ष	आय (करोड रु० मे)
१९५८-५९	० ९८	१९७०-७१	२ ०२
१९५९-६०	१ २०	१९७१-७२	२ ००
१९६०-६१	० ८८	१९७२-७३	४ ००
१९६५-६६	२ २७	१९७३-७४	४ ५०
१९६८-६९	०·५१	१९७४-७५	५ ००
१९६९-७०	१ ५०	१९७५-७६	४ ५०

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. A. C. Pigou : A Study of Public Finance.
2. I S. Gulati : Capital Taxation, part I and II.
3. R N, Bhargava . The Principles and Problems of Inheritance Taxation
4. N. Kaldor : Indian Tax Reform Chaptar 5
5. W. Vickrey : Agenda for Progressive Taxation, Chapters 7-9.

UNIVERSITY QUESTIONS

१ मृत्यु कर क्या है ? इसके लागू करने के पक्ष व विपक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों, इनका वितरण, निवेश और बचतो पर पडने वाले प्रभावो और इससे बचने के लिए अपनाये जाने वाले तरीकों की विवेचना कीजिए।

What are death duties ? Examine the arguments for and against their imposition, their juridical distribution, their effects on savings and investments and methods of evasion

२ कैल्डोर के सामान्य उपहार कर की विवेचना कीजिए।

Discuss the Kaldor's general gift tax

३ निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये

(i) भारतीय उपहार कर अधिनियम, १९५८
(ii) भारतीय सम्पदा कर अधिनियम, १९५३

Write short notes on the following
(i) Indian Gift Tax Act, 1958
(ii) Indian Estate Duty Act, 1953

११

वस्तुओं का कराधान—बिक्री कर तथा उत्पादन कर
(Commodity Taxation—Sales Tax and Excise Duty)

प्रारम्भिक : वस्तु-करों का अर्थ एवं उनका प्रभाव .

वस्तु-करो (commodity taxes) के लगाने का उद्देश्य यह होता है कि सरकारी क्रियाओं को सम्पन्न करने की लागत (cost) को उपभोग-व्यय के अनुपात में बांट दिया जाये। वास्तव में, इन करो से वही कार्य परोक्ष रूप से (indirectly) कराया जाता है जो कि एक व्यक्तिगत व्यय कर (personal expenditure tax) प्रत्यक्ष रूप से (directly) करता है। "वस्तु-कर वस्तुओं के उत्पादन तथा उनकी बिक्री पर लगाये जाते हैं और विक्रेताओ से वसूल किये जाते हैं।" इन करो से, आमतौर पर, उन वस्तुओं की कीमतें ऊंची हो जाती है जिन पर कि ये लगाये जाते हैं। परिणामस्वरूप, उपभोक्ता (consumers) उन वस्तुओ की बढी हुई कीमतो के रूप मे जिन्हे कि वे खरीदते हैं, कर को सहन करते हैं। वस्तुओ पर लगाये जाने वाले कर दो प्रकार के होते है—जो कर उपभोग मे काम आने वाले सभी अथवा अधिकाश वस्तुओ पर लगाये जाते हैं उन्हे 'बिक्री-कर' (sales taxes) कहा जाता है और जो कर केवल कुछ विशिष्ट वस्तुओं पर ही लगाये जाते हैं उन्हें 'उत्पान-कर' (excise taxes) की सज्ञा दी जाती है।

बिक्री कर अथवा बिक्री का कराधान[1]
(Sales Tax or Sales Taxation)

बिक्री कर एक प्रकार से उतना ही प्राचीन है जितने कि संगठित राज्य (organised states)। ये कर किसी न किसी रूप मे प्राचीन भारत, मिश्र, ग्रीस तथा रोम मे प्रचलित रहे हैं। परन्तु एक राजकोषीय उपाय (fiscal meature) के रूप मे बिक्री कर को केवल प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक लगभग ३० देशों ने सामान्य बिक्री कर (general sales tax) को अपना लिया था। इन देशो ने सैद्धान्तिक कारणों से कर का विरोध होने के बावजूद ऐसा किया था। सन् १६२० मे ही लोकवित्त के एक प्रसिद्ध लेखक, सैलिगमैन (seligman) ने यह कहा कि "सामान्य बिक्री कर एक कष्टदायी व्यवस्था का एक बदनाम अवशेष है, निश्चय ही इसकी प्रकृति (nature) अलोकतन्त्रीय (undemocratic) है; और यदि इसको लागू किया गया तो इससे धन तथा अवसरो की वर्तमान असमानताएं घटने की

---

1. बिक्री कर को अनेक बार हस्तान्तरण कर (transfer tax) तथा पण्यावर्त कर (tarnover tax) कहा जाता है।

बजाये बढ़ाती ही हो।"[2] वह मुख्य कारण, जिसकी वजह से विरोध के बावजूद बिक्री कर सरकारी आय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन बन गया, इसकी उच्च उत्पादकता (high productivity) है। उन सरकारों ने इस कर का भारी स्वागत किया जिन्हें कि अपनी निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वित्त के अतिरिक्त साधनों की तलाश थी। बिक्री कर का महत्व इस तथ्य से आँका जा सकता है कि रूस में कुल राजस्व में बिक्री कर का अनुपात द्वितीय विश्व युद्ध से पहले ७०% और इस युद्ध के पश्चात् ५०% से ५५% के बीच था। यह अनुपात जर्मनी और फ्रांस में ४०% और इटली में २४% था।[3] इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्तमान कर-ढाँचे में उपभोग पर आधारित सबसे अधिक महत्वपूर्ण किस्म का कर यदि कोई है तो वह बिक्रीकर ही है।

बिक्री के कराधान की विचारधारा (The Concept of Sales Taxation).

जॉन ड्यू (John Due) के अनुसार, "बिक्री कर एक ऐसा कर है जो सभी अथवा अधिकांश वस्तुओं की बिक्री पर अथवा बिक्री से सम्बन्धित तत्वों—जैसे कि उनसे होने वाली प्राप्तियों (receipts) पर लगाया जाता है।"[4] हेग व शॉप के अनुसार, "बिक्री कर उस कर को कहते हैं जो कि कर के विधान में उल्लिखित अपवादों को छोड़कर फुटकर-थोक एवं निर्माता की दृश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति की समस्त व्यावसायिक बिक्री पर लगाया जाता है।" संक्षेप में, "बिक्री-कर से आशय उस कर से है जो राज्य सरकारों द्वारा वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है।" बिक्री कर उन सभी सौदों (transactions) पर लगाया जा सकता है जिनके मध्य कि वस्तुएँ गुजरती हैं अथवा यह भी हो सकता है कि यह सभी सौदों पर न लगाया जाकर बिक्री के केवल एक अथवा थोड़े ही स्तरों (stages) पर लगाया जाये। यह मान लिया जाता है कि कर उपभोक्ताओं की ओर को अन्तरित (shift) कर दिया जायेगा और विक्रेता फर्म (selling firms) तो केवल कर को इकट्ठा करने वाली एजेण्ट मात्र है।

बिक्री करों का वर्गीकरण (Classification of sales taxes)—वर्तमान समय में जो बिक्री कर प्रचलित हैं, उन्हें तीन प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है—**(१) बहुस्तर कर** (multiple stage taxes), **(२) एक स्तर कर** (single stage taxes) और **(३) मूल्य जुड़े कर** (value-added taxes)। **(१) बहुस्तर कर** वस्तु के उत्पादन एवं वितरण के सभी स्तरों पर लगाया जाता है, अन्य शब्दों में, यह प्रारम्भिक उत्पादन से लेकर उपभोक्ता को की जाने वाली अन्तिम बिक्री तक के सभी सौदों (transactions) पर लगाया जाता है। यद्यपि व्यवहार में, यह हो सकता है कि बहुस्तर कर सभी स्तरों पर लागू न हो और कुछ स्तरों को या तो इस कर से मुक्त कर दिया जाय अथवा मूलभूत दर की तुलना में अपेक्षाकृत नीची दरों से कर लगाया जाये। **(२) एक स्तर कर** वस्तुओं पर उनके उत्पादन से लेकर वितरण तक के प्रवाह में केवल एक बार लगाए जाते हैं। ऐसे कर तो उत्पादकों द्वारा की जाने वाली बिक्री पर लगाये जा सकते हैं। **(३) मूल्य जुड़े कर** में बहु-स्तर तथा एक स्तर, दोनों ही प्रकार के करों में विशेषताएँ पाई जाती हैं क्योंकि "इसमें करों की दरें तो गुणनशील होती हैं किन्तु वस्तुओं पर उनका कुल वितरण एक स्तर कर जैसा ही होता है।"

विभिन्न देशों में बिक्री कर अपनी एवं व्यापकता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में ही छः भिन्न-भिन्न प्रकार के कर हैं। कुछ देशों में, बिक्री कर

---

2. "The general sales tax is a discredited remnannt of an outwarn system, it is essentially un-democratic in nature and, it would, if enacted, exaggerate rather than attenuate the present inequalities of wealth and opportunity"—*Seligman*: Studies in Public Finance, Page 138,

3. A.B. Ghosh : Sales Tax in India, pp 4-5.

4. John F. Due : Sales Taxation, p. 3. "A Sales tax is a levy imposed upon the sales, or element incidental to the sales, such as receipts from them, of all or a wide range of commodities."

होता है अथवा बहुत देर से प्राप्त होता है। कुछ सेवाएं ऐसी होती हैं, जैसे कि जल तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ, जिनसे सरकार कुछ आय प्राप्त करने मे समर्थ हो भी सकती है और नही भी। कुछ परिस्थितियों मे यह भी हो सकता है कि सरकार अर्थव्यवस्था (economy) को सहारा देने तथा व्यावसायिक समृद्धि लाने के लिए व्यय करे और फिर बाद में अतिरिक्त कर लगा कर बढी हुई सारी की सारी अथवा थोड़ी राष्ट्रीय आय स्वय ले ले। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सदा ऐसा ही हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यय करने के सम्बन्ध मे सरकार के उद्देश्य तथा प्रयोजन सामान्यतया, व्यक्तियो अथवा निजी व्यवसायो के उद्देश्यो तथा प्रयोजनों से भिन्न होते हैं।

(६) व्यय के विचारपूर्ण आयोजन के सम्बन्ध में अन्तर (Difference as regards the deliberation in Expenditure) :

लोकवित्त तथा निजी वित्त के बीच व्यय के विचारपूर्ण आयोजन (deliberation in expenditure) के सम्बन्ध मे भी अन्तर पाया जाता है। एकाकी व्यक्ति अथवा गैर-सरकारी व्यवसाय के व्यय के ढाँचे का निर्माण उन रूढियो, रिवाजो व आदतो आदि के आधार पर किया जाता है जो या तो उस समाज से प्रभावित होती हैं जिससे वह व्यक्ति सम्बन्धित होता है, अथवा आर्थिक व व्यावसायिक दशाओ से प्रभावित होती है। इसके विपरीत, सरकारी व्यय का ढाँचा सरकार द्वारा अपनाई जाने वाली सुविचारित आर्थिक नीति के द्वारा प्रशासित एवं नियन्त्रित होता है। उदाहरणार्थ, एक उन्नत देश मे, सरकार अपने खर्च की व्यवस्था इस प्रकार कर सकती है कि जिससे पूर्ण रोजगार की स्थिति लाई जा सके। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था वाले देश मे, सरकारी व्यय का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि चिरकालीन बेरोजगारी (chronic unemployment) को दूर किया जाये तथा उत्पादन के स्तर को बढाया जाये। दूसरे शब्दो मे, सरकार का व्यय तटस्थ (neutral) रहना आवश्यक नही है। अपितु वह निश्चयात्मक हो सकता है। यह अर्थव्यवस्था की प्रकृति तथा गति (nature and race) को परिवर्तित करने के काम मे लाया जा सकता है।

(७) व्यय तथा कल्याण के परस्पर सम्बन्ध के बारे मे अन्तर (Difference in the matter of the relation between Expenditure and Welfare) :

लोकवित्त तथा निजी वित्त के बीच एक अन्तर व्यय तथा कल्याण (welfare) के परस्पर सम्बन्ध के बारे मे भी पाया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सन्तुष्टि (satisfaction) की मात्रा अधिकतम करना चाहता है और इसके लिए वह अपनी सीमित आय को विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ पर इस प्रकार व्यय करता है कि सभी वस्तुओ पर खर्च किये गये धन की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) लगभग समान हो। दूसरी ओर, सरकार अपनी आय को इस प्रकार व्यय करती है कि जिससे समाज के कुल कल्याण की मात्रा अधिकतम की जा सके। इस प्रकार, लोकवित तथा निजी वित्त मे वास्तविक अन्तर यह है कि जहाँ व्यक्ति अपने निजी व्यक्तिगत हित अथवा कल्याण को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है, वहाँ सरकार सम्पूर्ण समाज के कल्याण का लक्ष्य अपने सामने रखती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि जिस प्रकार व्यक्ति हमेशा ही अपने निजी व्यक्तिगत हितो से प्रभावित होता है, वहाँ यह आवश्यक नही है कि सरकार भी ठीक उसी प्रकार से हमेशा सम्पूर्ण समाज के कल्याण के विचारों से प्रभावित हो। देश के अन्दर विभिन्न प्रकार के राजनैतिक तथा आर्थिक वर्गों द्वारा प्राय अनेक प्रकार के दबाव डाले जाते हैं। परिणामस्वरूप, सरकार कुछ ऐसी कार्यवाहियाँ करने को बाध्य हो सकती है जो सम्पूर्ण समाज के लिए हितकर न होकर केवल देश के किसी विशेष वर्ग के लिए ही लाभदायक हो। इस प्रकार, जहाँ व्यक्ति अपनी निजी सन्तुष्टि को अधिकतम करने के लिए ही अपनी आय को व्यय करता है, वहाँ सार्वजनिक सत्ता सम्पूर्ण समाज के कल्याण मे अधिकतम वृद्धि करने के उद्देश्य को सामने रखकर व्यय कर भी सकती है और नही भी।

(८) भविष्य के लिए की जाने वाली व्यवस्था के मामले में अन्तर (Difference in the matter of the provision made for the future) :

लोकवित्त तथा निजी वित्त के बीच एक भूलभूत अन्तर दोनो के द्वारा भविष्य के लिए

शर्तों की पूर्ति होनी आवश्यक है (क) एक तो यह कि प्रत्येक वस्तु पर कर की मात्रा बिल्कुल समान होनी चाहिए, बिना इस बात की परवाह किये कि किस वस्तु मे उत्पादन के कितने स्रोत लगे है, और दूसरे (ख) कर केवल अन्तिम उपभोग्य पदार्थों (final consumption goods) पर ही लगाये जाने चाहिए। यदि उत्पादक कार्यों (production goods) को भी इसमे सम्मिलित किया गया तो अन्य पदार्थों के मुकाबले उन पदार्थों की उत्पादन लागत मे कुछ उपायो द्वारा वृद्धि कर दी जायेगी और इसका परिणाम यह होगा कि उत्पादन-विधियो (production techniques) के चुनाव मे भी परिवर्तन हो जायेगा।

(२) समता एव न्याय के सिद्धान्तो के अनुरूप होना चाहिए (Should conform to the principle of equity and justice)—बिक्री कर मे दूसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि यह, जहाँ तक भी सम्भव हो सके, समता एव न्याय (equity) के सिद्धान्त के अनुरूप होना चाहिए। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, समता एव न्याय के सिद्धान्त को बिक्री कर जैसे परोक्ष करो पर लागू करना बड़ा कठिन है। चूँकि निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्ग के लोग अपनी आय का एक बड़ा अनुपात उपभोग पर व्यय करते हैं, अत यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि इस स्थिति मे बिक्री कर के भार का एक बड़ा भाग इन लोगो को ही वहन करना होगा। और इस सीमा तक यह कर अवरोही (regressive) हो जाता है। किन्तु इसके बावजूद, यह सभव हो सकता है कि बिक्री कर की एक ऐसी व्यवस्था की रचना की जाये जो कि लोगो पर उनके कुल उपभोग खर्चों के आधार पर कर लगाये। फिर, खाद्यान्न तथा अनिवार्य आवश्यकताओ के कुछ ऐसे पदार्थ कर-मुक्त किए जा सकते हैं जिन पर निम्न वर्गों के लोग व्यय करते है। इस प्रकार से बिक्री कर के भार के वितरण को समता एव न्याय के आधुनिक स्वीकृत के अनुरूप बनाया जा सकता है।

(३) व्यक्तियों के मध्य पक्षपात को दूर करना चाहिए (Should avoid discrimination between individuals)—इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि बिक्री कर को विभिन्न वस्तुओ को प्रदान की जाने वाली सापेक्षिक प्राथमिकताओ (relative preferences) के आधार पर तथा साधनो के बँटवारे के सम्भावित अन्यायपूर्ण बिगाड़ने (possible unjustifiable distortion) के आधार पर व्यक्तियो के बीच भेदभाव एव पक्षपात नही करना चाहिए। सभी कार्यों के लिए किये जाने वाले उपभोग खर्चों पर कर का भार एक समान प्रतिशत मे ही पडना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि (क) कर की धनराशि की मात्रा अन्तिम उपभोक्ता से लिए जाने वाले विक्रय-मूल्य (selling price) का एक निश्चित एव समान प्रतिशत होनी चाहिए, (ख) यह देखा जाना चाहिए कि अन्तिम उपभोक्ता की ओर को कर का अन्तरण (tax shifting) ठीक उतनी ही मात्रा मे हो जितनी कि कर की धनराशि है, अर्थात् न उससे अधिक और न कम, और (ग) कर के द्वारा उत्पादन के साधनो की कीमतें प्रभावित नही होनी चाहिए।

(४) कर के भार का वितरण (Distribution of sales tax burden)—तीसरे, बिक्री कर के भार का वितरण व्यवहार मे भी वैसा ही होना चाहिए जैसा कि प्रारम्भ मे निश्चित किया गया हो। यहाँ दो बातें उल्लेखनीय हैं पहली तो यह कि यदि अधिकारियो का इरादा यह है कि कर का भार अन्तिम उपभोक्ताओ पर ही पडना चाहिए तो देखना यह चाहिए कि यह इरादा ही बनकर न रह जाये बल्कि व्यवहार मे कार्यरूप मे परिणत भी किया जाये दूसरी बात यह है कि बिक्री कर का भार उपभोक्ता पर कर की धनराशि से अधिक नही पड़ना चाहिए। कर के अन्तरण तथा कर की बाह्यता (incidence of tax) की समस्याओं के कारण यह हो सकता है कि किसी बिक्री कर के भार को वे लोग वहन न करे जिनके द्वारा कि वह वहन किया जाना था, अथवा यह भी हो सकता है कि वस्तु की कीमत कर की धनराशि की मात्रा से अधिक बढ जाये। अत यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि बिक्री कर ऐसी रीति से लगाए जाने चाहिए कि कर के भार का वास्तविक वितरण, जहाँ तक भी अधिकतम सम्भव हो सके, उतना तथा वैसा ही होना चाहिए जैसा कि प्रारम्भ मे निश्चित किया गया हो। इस सम्बन्ध मे, इस बारे मे आश्वस्त होना बड़ा लाभप्रद होगा कि अन्तिम उपभोक्ताओ को, जिन्हे कि कर का बोझ उठाना है, कर के भार की मात्रा से अवगत रखा जाये। अन्यथा तो यह होगा कि

या तो केवल उत्पादकों की बिक्री पर लगाया जाता है अथवा थोक व्यापारियों (wholesalers) या केवल खुदरा व्यापारियों (retailers) की बिक्री पर। अनेक देश ऐसे भी हैं जिनमें अभी कुछ समय पूर्व तक भी खुदरा व्यापारियों की बिक्री पर कोई कर नहीं लगाया जाता था। इसके अतिरिक्त, बिक्री कर आमतौर पर वस्तुओं पर ही लगाया जाता है, यद्यपि कुछ स्थितियों में यह सेवाओं (services) पर भी लगाया गया है।

बिक्री के कराधान के सिद्धान्त—एक सर्वश्रेष्ठ बिक्री कर ढांचे की आवश्यकताएं (Principles of Sales Taxation—Requirements for an Optimum Sales Tax Structure)

अधिकांश आधुनिक समाजों में, यह माना जाता है कि किसी भी कर पद्धति (tax system) में तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएं पायी जानी चाहिए अथवा यह कहिए कि उसे तीन सिद्धान्तों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। ये विशेषताएं (characteristics) अथवा सिद्धान्त (principles) निम्नलिखित हैं —

(क) **आर्थिक तटस्थता (Economic neutrality)**—सामान्य रूप में सम्पूर्ण कर पद्धति और विशेष रूप से प्रत्येक कर ऐसा होना चाहिए कि वह साधनों (resources) के सर्वोत्तम वितरण एवं उपयोग के लक्ष्य की प्राप्ति में कोई हस्तक्षेप न करे।

(ख) **समता एवं न्याय (Equity)**—कराधान के भार का वितरण करदाताओं के आर्थिक कल्याण पर आधारित होना चाहिए, और

(ग) **कर के संग्रह में किफायत (Economy in Collection)**—कर को लागू करने तथा उसका संग्रह करने की लागत न्यूनतम होनी चाहिए परन्तु इतनी न्यूनतम न हो कि कर प्रभावशाली ढंग से लागू ही न हो सके।

ये सिद्धान्त अथवा विशेषताएं किसी कर विशेष के लिए नहीं हैं, बल्कि सामान्य हैं; अत. जहाँ तक भी सम्भव हो ये प्रत्येक कर पर लागू होनी चाहिए। जहाँ तक बिक्री कर का सम्बन्ध है, वह भी इनका अपवाद (exception) नहीं हो सकता। अतएव यह आवश्यक है कि बिक्री कर में भी कुछ विशेषताएं होनी चाहिए और इन विशेषताओं को ही बिक्री के कराधान के सिद्धान्तों की संज्ञा दी जा सकती है।

(१) **तटस्थता (Neutrality)**—सबसे पहली बात तो यह है कि प्रभाव डालने की दृष्टि से इसे तटस्थ (neutral) रहना चाहिए अर्थात् यह कि अर्थव्यवस्था (economy) पर इसके अवान्छनीय (undesirable) दबाव नहीं पड़ने चाहिए। एक दो उदाहरणों से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, किसी एक वस्तु पर तो बिक्री कर लगाया जाता है परन्तु दूसरी पर नहीं लगाया जाता तो दोनों की सम्बन्धित कीमतों में अन्तर हो जायेगा, अर्थात् पहली वस्तु दूसरी की तुलना में अधिक मँहगी हो जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि दोनों ही वस्तुओं की उपभोक्ता खरीद की मात्रा में भी परिवर्तन हो जायेगा। यदि स्थिति यह है कि उपभोक्ता (consumers) क्रय की अनुकूलतम् अथवा इष्टतम् स्थिति (optimum position) पर पहले ही पहुँच चुके हैं, तो एक वस्तु पर बिक्री कर लगाने और दूसरी पर न लगाने का नतीजा यह होगा कि उपभोक्ता की आवश्यकताओं (consumer wants) की दृष्टि से वह साधनों के इष्टतम् अथवा अनुकूलतम् बँटवारे की स्थिति से पीछे रह जायेगा। अब हम एक अन्य उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए, बिक्री कर उस प्रत्येक बिक्री पर लगाया जाता है जिसमें से कि वस्तु को गुजरना होता है, तो इससे व्यवसायों के एकीकरण (integration) को प्रोत्साहन मिलेगा ताकि प्रत्येक स्तर के बिक्री कराधान से बचा जा सके। इसका परिणाम यह होगा कि छोटे-छोटे व्यवसायी (businessmen) व्यवसाय से बाहर निकाल दिये जायेंगे।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक क्रियाओं पर बिक्री कर अवान्छनीय दबाव नहीं पड़ने चाहिए, बल्कि इनके स्थान पर इसको तटस्थ आर्थिक प्रभाव (neutral economic effects) डालने चाहिए। किन्तु यदि इस लक्ष्य को प्राप्त करना है तो दो अनिवार्य

मात्रा में वृद्धि कर दे बशर्ते कि वह अपने पुराने जीवन स्तर को बनाये रखने में रुचि रखता हो। दूसरी ओर, बिक्री कर का प्रेरणाओं पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि अधिकांश मामलों में व्यक्ति अपने खर्च आदि का हिसाब लगाने में बिक्री कर की कोई गणना नहीं करता। जैसा कि प्रो० एफ० डब्लू० पेश ने कहा कि "व्यक्ति उस समय अतिरिक्त काम करने को तैयार नहीं होगा जबकि उसे यह ज्ञात होगा कि उसके कमाये हुए धन का आधा भाग उससे आय-कर के रूप में ले लिया जायेगा, परन्तु तम्बाकू खरीदने के लिए धन कमाने हेतु वह अवश्य ही काम करेगा, यद्यपि होता यह है कि उस तम्बाकू के लिए जो धनराशि वह अदा करता है उसका तीन चौथाई भाग सरकार के पास चला जाता है।"[7]

(२) बिक्री-कर और पूँजी-निर्माण (Sales tax and capital formation)—बिक्री कर के समर्थकों का दावा है कि बिक्री-कर बचत करने की प्रेरणा को कम नहीं करता जबकि आय-कर ऐसा करता है। बिक्री का भार जिन व्यक्तियों पर अधिक मात्रा में केन्द्रित होगा वे बचतों को बजाए उपभोग को ही कम करने को मजबूर होंगे। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जाता है कि कर-राजस्व (tax revenue) की एक निश्चित रकम प्राप्त करने के लिए जो बिक्री कर लगाया जाता है उसका एक बड़ा भाग उन धनराशियों में से लिया जाता है जो कि अन्य स्थिति में उपभोग कार्यों में खर्च कर दी जाती हैं जबकि आय-कर में ऐसा नहीं होता। इसका परिणाम यह होगा कि आय के कराधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय के बचतों का कुल अनुपात अपेक्षाकृत अधिक रहेगा और पूँजी-निर्माण की दर मुद्रा-स्फीति (inflation) की सम्भवना के बिना ही अधिक हो जायेगी।[8]

अल्पविकसित देशों के लिए यह तर्क बड़े महत्त्व का है। जैसा कि सर्वविदित है, इन देशों में पूँजी-निर्माण की कमी पाई जाती है अतः बिक्री के कराधान द्वारा पूँजी-निर्माण में जो वृद्धि सम्भव होती है, उसके कारण बढ़ते हुए जीवन-स्तर में तेजी से गिरावट आती है। इस प्रकार, स्पष्टत. पूँजी-निर्माण तथा आर्थिक विकास की दृष्टि से बिक्री का कराधान अधिक लाभप्रद है।

(३) बिक्री कर और सरकार को सामान्य अंशदान (Sales-tax and general-contribution to government)—बिक्री कर का और वस्तुत सभी उपभोग करों का—इस आधार पर भी समर्थन किया जाता है कि इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति सरकार को अपना अंशदान देता है। जब सरकार सबकी है और सरकार की सेवाओं के लाभ सभी व्यक्ति प्राप्त करते हैं तो यह, बिल्कुल उचित तथा स्वाभाविक ही है कि सरकार के व्ययों का बोझ भी सभी उठायें और इस कार्य के लिए गरीबों तक पहुँचने का केवल एक ही रास्ता है और वह है—वस्तुओं का कराधान। वस्तु-करों की ही एक किस्म के रूप में, बिक्री कर सरकार को इस योग्य बनाते हैं कि वह निर्धन से निर्धन किसान से भी धन प्राप्त कर ले। परन्तु परोक्षकर (Indirect tax) होने के कारण चूँकि बिक्री कर नागरिक चेतना (civil consciousness) उत्पन्न नहीं करते, अत. बिक्री के कराधान का वास्तविक उद्देश्य समाप्त हो जाता है। यह हो सकता है कि निर्धन व्यक्ति कराधान के भार से पूर्णतया अवगत न हो, और इस स्थिति में वे सरकार की वित्तीय क्रियाओं के प्रति कभी भी आलोचनात्मक रुख नहीं अपना सकते। इस सन्दर्भ में तो, प्रत्यक्ष कर को अधिक प्रभावशाली कहा जा सकता है जो कि प्रत्येक व्यक्ति में कर-चेतना अथवा कर-अनुभूति (tax consciousness) तो उत्पन्न करता है।

(४) बिक्री कर और भ्रमणशील जनसंख्या (Sale tax and fluid population)—बिक्री करों के पक्ष में एक अत्यन्त ठोस तर्क जो कि महत्त्वपूर्ण नगरों एवं पर्यटक केन्द्रों (tourist centres) पर विशेष रूप से लागू होता है, यह है कि बिक्री कर ही एक मात्र वह उपाय है जिसके

7. Quoted by R R Bhargava : Public Finance, p 285 "A man ward a overtime if half the extra amount he earns is taken from him in income tax, but he will work to earn money to buy tobacco although three-quarters of what he pays for it goes to the Government"

8. John F. Due ' Sale Taxation, p. 32.

कर की निश्चित अथवा उससे भी अधिक धनराशि उपभोक्ता द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं में ही विलीन हो जायेगी।[5]

(५) सग्रह की लागत न्यूनतम होनी चाहिए (Collection costs should be minimised)—बिक्री कर मे अन्तिम विशेषता यह होनी चाहिए कि उसके सग्रह की लागत (Cullection cost) न्यूनतम (minimum) हो। प्रशासनिक दृष्टि से, सग्रह की लागतें न्यूनतम तब हो सकती हैं जबकि करो को उत्पादन अथवा थोक व्यापार के स्तर पर लगाया जाए तथा इसी स्तर पर उनका सग्रह किया जाए। खुदरा व्यापार के स्तर पर चूंकि ऐसा व्यापार करने वाली फर्मों की सख्या अत्यधिक होगी अत सग्रह करने की लागत अधिक होगी और साथ ही सग्रह का कार्य भी बडा असुविधाजनक हो जायेगा। इसके अतिरिक्त, बिक्री कर की व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिए कि उपयुक्त लागत लगाकर प्रशासन को प्रभावशाली बनाया जा सके और साथ ही साथ कर अदा करने वाली फर्मों की कर सम्बन्धी नियमो को पालन करने की कठिनाइयाँ तथा अदा करने सम्बन्धी उनका व्यय न्यूनतम हो। साथ ही करवचन रोका जा सके और अतिरिक्त लागतें कम हो जाएँ।

निष्कर्ष (Conclusion) :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बिक्री-कर के ढाँचे की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि वह कुछ सिद्धान्तो की कसौटी पर खरा उतरे और उसमे कुछ आवश्यक विशेषताएँ वर्तमान हो।

बिक्री करों के गुण
(Merits of Sales Taxes)

जहाँ प्रत्यक्ष करो (direct taxes) के प्रस्तावको ने सदा ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बिक्री का कराधान और वस्तुत सम्पूर्ण परोक्ष कराधान ही—"रूपरेखा (design) मे आयुक्तिपूर्ण (irrational) तथा भार की दृष्टि से अन्यायपूर्ण एव अनुचित है"[6] वहाँ बिक्री कर के समर्थकों का यही कहना है कि यह कर अदा करने मे सबसे सरल है और प्रेरणाओ (incentives) के लिए यह कम से कम कठोर है। यहाँ हम बिक्री कर के उपयोग से सम्बन्धित मूलभूत तर्कों तथा इसके अनेक गुणो की विवेचना करेंगे।

(१) बिक्री कर तथा प्रेरणात्मक प्रभाव (Sales-tax and incentives effects)—यह बात सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि आय कर, और विशेष रूप से अत्यधिक आरोही आय-कर, आर्थिक प्रेरणाओ (economic incentives) पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है क्योंकि निवेश (investment) से होने वाली सभी आमदनियो का कुछ भाग लेकर आय-कर नये व्यवसायों के विकास तथा पुराने व्यवसायों के विस्तार को प्रतिबन्धित करता है; ऐसा अशतः (partly) तो इस कारण होता है क्योंकि व्यवसाय के विस्तार व विकास के लिए उपलब्ध द्रव्य-पूँजी (money capital) की प्राप्ति मे कमी हो जाती है और अशतः इसलिए क्योंकि विस्तार प्रेरणाओ मे कमी हो जाती है। दूसरी ओर, बिक्री कर नये पूँजी निवेश से होने वाली आमदनियो को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नही करता क्योंकि उस पूँजी-निवेश से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की कुल माँग कर द्वारा अप्रभावित हो रहती है।

इसके अतिरिक्त उन-व्यक्तियो के मामले में, जो कि अपनी आय मजदूरियों और वेतनो के रूप मे प्राप्त करते हैं, आय-कर उनकी काम करके प्राप्त की हुई आमदनी का एक भाग लेकर काम करने की विशेष रूप से, समयोपरि काम (Overtime work) करने की उनकी प्रेरणाओ मे परिवर्तन कर देता है। किन्तु यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त स्थिति मे व्यक्ति अपने कार्य की

---

5. John Due · Government Finance, p 307.
6. Harold M. Groves : Financing Government (V. Edition), p. 251, "Irrational in design and unfair and capricious in incidence."

ऐसी बातो का उल्लेख करेंगे जो केवल एक अल्पविकसित देश मे बिक्री के कराधान (sales taxation) के महत्त्व पर प्रकाश डालती है ।

(१) **उपभोग को सीमित करने की प्रवृति द्वारा बचत तथा पूँजी-निर्माण के अनुपात मे वृद्धि** (Tendency to restrict consumption and thus bring a higher ratio of saving and capital formation)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, बिक्री कर बचत तथा पूँजी-निर्माण पर उतनी रोक नही लगाता जितनी आमतौर पर आय-कर लगाता है। तथ्य यह है कि बिक्री करो का भार चूँकि उपभोग के लिए काम आने वाली आय पर पडता है अत इनमे उपभोग को सीमित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है जिसके परिणामस्वरूप बचत तथा पूँजी-निर्माण का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है। एक अल्पविकसित देश के लिए इस तर्क का भारी महत्त्व है क्योकि ऐसे देशो मे मानव-शक्ति (man power) के मुकाबले पूँजीगत सामग्री की मात्रा कम होती है । अत इन देशो मे बिक्री के कराधान के कारण पूँजी निर्माण की दर मे जो वृद्धि होगी उसके फलस्वरूप रहन-सहन के सम्पूर्ण स्तर में तेजी से वृद्धि होगी ।

(२) **मुद्रा स्फीति के दबावों को रोकने का एक अस्त्र** (An instrument to check inflationary pressures)—विकासशील अर्थव्यवस्था (developing economy) मे बिक्री के कराधान का उपयोग मुद्रास्फीति सम्बन्धी दबावो (inflationary pressure) को रोकने के एक अस्त्र के रूप मे भी किया जा सकता है ।[10] एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे, चूँकि विनियोग में तीव्रगति से वृद्धि होती है और लोगो के पास द्रव्य-आय की मात्रा बढ जाती है तथा साथ ही, चूँकि उपभोग्य-वस्तुओ (consumption goods) का सभरण अथवा पूर्ति (supply) माँग से पीछे रह जाता है, अत निश्चित रूप से मुद्रास्फीति सम्बन्धी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। अन्य करो के साथ ही बिक्री कर का उपयोग लोगो की फालतू क्रयशक्ति को कम करने मे तथा वस्तुओं एव सेनाओ की उनकी माँग को कम करने में किया जा सकता है। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसी नीति की भी अपनी कुछ सीमाएँ (limitations) हैं ।

(३) **आदर्श रूप में उपयुक्त** (Ideally suited)—अन्त मे कहा जा सकता है कि बिक्री कर एक अल्प-विकसित देश के लिए आदर्श रूप से उपयुक्त है । सर्वप्रथम, इसलिये क्योकि ऐसे देश की अर्थव्यवस्था पर निम्न आय वाले वर्गों का प्रभुत्व होता है और यदि उन पर आय कर लगाया जाये तो उसके सग्रह की लागत बहुत अधिक बैठेगी । अत यह आवश्यक है कि ऐसा देश आय-कर कम और बिक्री कर पर अधिक निर्भर रहे । दूसरे, ऐसे देशो मे कर के प्रशासन (tax administration), कर के अनुपालन (tax compliance) तथा साक्षरता (literacy) का स्तर अपेक्षाकृत नीचा होता है । अत उनमे आय-कर अथवा अन्य प्रत्यक्ष करो का प्रभावपूर्ण संग्रह यदि असम्भव नही तो काफी कठिन अवश्य होता है । इस स्थिति मे बिक्री करो पर ही अधिकाधिक निर्भर रहना अनिवार्य हो जाता है । और यही वह मुख्य कारण है, यद्यपि हो सकता है कि यह एक मात्र कारण न हो, जिसकी वजह से संसार के अधिकाश देशो मे विशेष रूप से अल्पविकसित देशो मे बिक्री के कराधान का महत्त्व अधिकाधिक बढ रहा है ।

बिक्री के कराधान के दोष

(Demerits of Sales Taxation)

बिक्री के कराधान की आलोचना उन लोगों द्वारा की जाती है जो कि यह चाहते हैं कि प्रत्यक्ष करो पर अधिक जोर दिया जाये । बिक्री के कराधान के विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं वे मुख्य रूप से समता एव न्याय के चारो ओर केन्द्रित है । बिक्री के कराधान की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

---

10 मुद्रास्फीति विरोधी उपाय के रूप मे बिक्री कर के योगदान का पूर्ण विवेचन इसी अध्याय में आगे किया गया है ।

द्वारा भ्रमणशील जनसख्या से भी यह आशा की जा सकती है कि वह सरकार की सामान्य सेवाओ की प्राप्ति के उपलक्ष में कुछ अदा करे। भ्रमणशील जनसख्या मे ऐसे सभी लोग सम्मिलित किये जाते हैं जो कि ग्रामीण क्षेत्रों से नगरो मे अथवा विदेशो मे बसने के लिए नही बल्कि भ्रमण के लिए अथवा अस्थायी रूप से ठहरने के लिए आते हैं। स्पष्ट है कि इन भ्रमणशील व्यक्तियो अथवा पर्यटकों (tourists) से यह आशा नही की जा सकती कि वे आय-कर अथवा अन्य कोई प्रत्यक्ष कर अदा करें। अत: इस उद्देश्य की पूर्ति का एक मात्र रास्ता, जिसके द्वारा कि उन तक पहुँच की जा सकती है, वस्तुओ का कराधान ही है और बिक्री कर उसका एक महत्वपूर्ण अग है।

(५) बिक्री कर—मुद्रास्फीति विरोधी उपाय के रूप में (Sales tax as an anti-inflatoinary measure)—युद्ध काल मे तथा अन्य मुद्रा-स्फीति की अवधियों मे, एक सामान्य बिक्री कर (General sales tax) का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि इसके द्वारा मुद्रास्फीति के दवाव को कम किया जा सकता है। ऐसा दो प्रकार से किया जा सकेगा। (क) प्रथम तो इस प्रकार कि यह लोगों के हाथों मे उपलब्ध फालतू क्रयशक्ति को कम करेगा; और दूसरे (ख) यह उपभोग-व्यय को सीमित करेगा और इस प्रकार अपर्याप्त सभरण (Short supply) पर मांग (demand) के पडने वाले दवाव को कम करेगा। परन्तु यह भी सम्भव है कि इस सम्बन्ध मे एक विरोधी तर्क यह दिया जाए कि ऊँची दरो से लगाया जाने वाला बिक्री कर लोगो को इस बात के लिए प्रेरित करेगा कि वे अधिक मजदूरी और वेतन की मांग करें तथा उसे प्राप्त करें; और यदि ऐसा हुआ तो कीमतो पर मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी दवाव घटने की बजाए बढ जायेगा।

(६) बिक्री कर और प्रशासन में सरलता (Sales tax and ease of administration)—अन्य वस्तु करो के समान ही, बिक्री कर का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि सामान्यत. इसको वसूल करना बडा सरल होता है। चूँकि बिक्री कर खरीदी गई वस्तुओं की कीमतों मे छिपा रहता है अत लोगो को शायद ही कभी इसका आभास होता हो कि वे कर दे रहे हैं। फिर, जब भी खरीद की जाती है, यह आप से आप ही अदा कर दिया जाता है।

इसके अतिरिक्त, आय-कर और व्यय-कर की तुलना मे बिक्री कर का प्रबन्ध एवं प्रशासन बडा सरल होता है। एक तो इस कारण, क्योकि वह बडी सख्या मे पृथक्-पृथक् व्यक्तियों से वसूल न किया जाकर थोडी व्यावसायिक फर्मों से वसूल कर लिया जाता है। दूसरे इसका सग्रह दर्ज की हुई कुल बिक्री के आधार पर किया जाता है, और इसमे शुद्ध आमदनियो (net incomes) की अनेक व्याख्याओ तथा उनके विभिन्न स्रोतो की छान-बीन नही करनी पडती।

प्रशासनिक दृष्टिकोण से, एक अल्पविकसित देश के लिए बिक्री कर का बडा महत्त्व है और इसके पक्ष मे काफी कुछ कहा जा सकता है। इस विषय पर आगे प्रकाश डाला गया है। बिक्री करो के तीव्रगति से प्रचार का एक प्रमुख कारण यही है कि आय-करो की तुलना में बिक्री-करो का प्रशासन अपेक्षाकृत सरल तथा प्रभावी होता है।

(७) सघीय प्रशासन-व्यवस्था में बिक्री कर (Sales tax in a federal set-up)—बिक्री कर पक्ष मे कही जाने वाली एक और महत्वपूर्ण बात का उल्लेख किया जाना अभी शेष हैं और इसका सम्बन्ध विशेष रूप से सयुक्त राज्य अमेरिका अथवा भारत जैसे सघीय ढाँचे (federal structure) वाले देशो से है। ऐसे देशो मे, सघ सरकार आय-कर के कारण बडी अच्छी स्थिति मे रहती है और राज्य सरकारों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी आय का एक बडा भाग प्राप्त करने के लिए वे बिक्री करो पर निर्भर रहें। परन्तु जैसा कि जॉन ड्यू ने कहा है कि कुछ देशो मे, इससे उल्टी ही बात है, अर्थात् आय-कर पर राज्य-स्वामित्व होने के कारण केन्द्र सरकारो को बिक्री के कराधान पर निर्भर होना पडा है।[9]

बिक्री कर और अल्पविकसित देश
(Sales Tax and Underdeveloped Countries)

अब तक हमने सामान्य रूप मे बिक्री करो के उन तर्कों की ही विवेचना की है जो कि उन्नत (advance) तथा अल्पविकसित, दोनो ही प्रकार के देशो पर लागू होते हैं। यहाँ हम कुछ

9. John Due : Sales Taxation, p. 35.

चुका है, इसी कारण से बिक्री कर का उपयोग मुद्रास्फीति विरोधी उपाय के रूप में किया जा सकता है। परन्तु इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि अवस्फीति अथवा मन्दी के काल में, जबकि वस्तुओं की कीमतें स्वयं ही गिर रही होती हैं और बेरोजगारी अपनी चरमसीमा पर होती है, यदि बिक्री कर लगाया जाए तो उससे अवस्फीति अथवा मन्दी की स्थिति और भी बदतर हो जाती है। बिक्री कर के द्वारा उपभोग की मात्रा कम होने लगती है और उसके फलस्वरूप माँग में कमी होने के कारण विनियोग (investment) की मात्रा भी घटने लगती है। अर्थव्यवस्था के लिए यह प्रवृत्ति बड़ी खतरनाक होती है। इस स्थिति में तो यह आय-कर से निश्चय ही घटिया है, क्योंकि मन्दी-काल में आय कर से होने वाली सरकारी आय में कमी हो जाती है और करदाताओं के पास अधिक मात्रा में आय रह जाती है जिससे उनकी उपभोग्य वस्तुओं की मांग बढ़ने की आशा की जा सकती है। बिक्री कर जहाँ तक उपभोग्य-पदार्थों की बिक्री में कमी करता है उस सीमा तक इसे अवस्फीति सम्बन्धी प्रभाव (deflationary effects) डालने वाला ही कहा जायेगा।

(iii) बिक्री कर और आर्थिक तटस्थता (Sales Tax and Economic Neutrality) :

यदि कुछ आवश्यक शर्तें पूरी हो जाएँ तो सिद्धान्त रूप में बिक्री कर को प्रभाव डालने की दृष्टि से तटस्थ (neutral) माना जा सकता है किन्तु व्यवहार में, यह स्पष्टतः तटस्थ तथा अनर्कपूर्ण (irrational) है। उदाहरण के लिए, यदि कुछ वस्तुओं को इस कर से मुक्त किया गया तो उस वस्तु के उपभोग में अपेक्षतया वृद्धि हो जायेगी। इसी प्रकार, यदि कर का अन्तरण (shifting) पूर्ण रूप में नहीं हो पाता है अथवा यदि वस्तुओं की कीमतों में कर की राशि से अधिक वृद्धि होती है, तो उससे वस्तुओं का उत्पादन तथा उपभोग प्रभावित होगा। फिर, यदि बिक्री कर उत्पादक-पदार्थों (producers goods) पर भी लगाया गया तो यह सम्भव हो सकता है कि उत्पादन की कुछ रीतियाँ अन्य के मुकाबले अधिक खर्चीली अथवा इष्टतम कार्यक्षमता (optimum efficiency) की प्राप्ति की आशा क्षीर्ण हो सकती है।

इसलिए बिक्री कर के आलोचकों का कहना है कि बिक्री कर अत्यधिक अवरोही, अतटस्थ (non-neutral) तथा अतर्कपूर्ण है।

बिक्री के कराधान के गुण-दोषों का मूल्यांकन

(Evaluation of the Merits and Demerits of Sales Taxation)

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अब हम इस स्थिति में हैं कि बिक्री के कराधान की अच्छाइयों और बुराइयों का मूल्यांकन करके यह निष्कर्ष निकाल सकें कि यह कर अच्छा है अथवा बुरा। बिक्री कर के पक्ष तथा विपक्ष में जिन बातों का उल्लेख किया गया है उनमें एक बात तो स्पष्ट ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह यह कि बिक्री कर अत्यधिक अवरोही (highly regressive) है। यह एक कठोर तथा अन्यायकर है, इन मानों में क्योंकि यह लोगों पर अधिक तीव्र प्रहार करता है जिनकी कर अदा करने की सामर्थ्य न्यूनतम है। यद्यपि यह सत्य है कि खाद्य पदार्थों तथा अनिवार्य आवश्यकता की कुछ अन्य वस्तुओं को कर-मुक्त करके इसका अवरोहीपन कम किया जा सकता है परन्तु केवल इतना करके ही बिक्री कर को समता एवं न्याय (equity) की दृष्टि से न्यायोचित सिद्ध करना सम्भव नहीं है। तथापि, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं (modern economies) में बिक्री कर को एक स्थायी स्थान प्राप्त है। ऐसा अनेक कारणों से है। सर्वप्रथम, यह कि आधुनिक सरकारों के खर्चे इतने अधिक बढ़ गये हैं कि आय-कर तथा प्रत्यक्ष व परोक्ष किस्म के अन्य उपयुक्त कर (suitable taxes) प्रेरणाओं पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले पर्याप्त मात्रा में राजस्व प्रदान नहीं कर सकते। आय कर यदि आरोहण अथवा क्रमवर्धन (progression) के निश्चित स्तरों को भी लाँघ जाएँ, तो स्पष्ट रूप से वे काम करने व बचत करने की प्रेरणाओं पर प्रभाव डालते हैं और इस प्रकार वे राष्ट्रीय आय के स्तर को कम करते हैं। यही वह कमी है जिसकी पूर्ति के लिए बिक्री कर को अपना योगदान करना होता है। दूसरे, भारत जैसे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं को यदि गरीबी और पिछड़ेपन के दलदल से बाहर निकालना है तो यह बड़ा जरूरी है कि उनमें पूँजी निर्माण व विनियोग की दर को

(I) बिक्री कर और समता एवं न्याय (Sales Tax and Equity)

बिक्री कर के विरुद्ध दिया जाने जाने वाला मूलभूत एवं सबसे अधिक व्यापक तर्क यह है कि यह अत्यधिक अवरोही (highly regressive) है—अर्थात् यह धनी व्यक्तियों की तुलना मे थोडी आय वाले लोगों से उनकी आय का अधिक प्रतिशत वसूल करता है। चूँकि यह कर उपभोक्ताओ की ओर को अन्तरित (shift) किया जा सकता है, अत स्पष्टत यह उन लोगो पर अधिक बोझ डालता है जो कि अपनी आय का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत कर योग्य पदार्थों (taxable goods) पर व्यय करते है। व्यावहारिक दृष्टि से, यह स्थिति बड़ी अन्यायपूर्ण है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि थोडी आय वाले वर्गों के लोग उपभोग पर अपनी आय का एक बडा प्रतिशत व्यय करते हैं जिसके परिणामस्वरूप बिक्री करों का भारी बोझ उन्हे ही उठाना होता है। इसके अतिरिक्त, छोटे परिवारो की तुलना मे अपनी ही आय वाले बडे परिवारो पर बिक्री कर का अधिक बोझ पडता है क्योकि बडे परिवारो को एक निश्चित जीवन-स्तर तक पहुँचने के लिये आय का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत उपभोग्य वस्तुओं पर व्यय करना पडता है। एक बडे परिवार की कर अदा करने की क्षमता यद्यपि कम होती है; फिर भी उसे बिक्री कर का अधिक भार वहन करना होता है। फिर, ऐसे लोगों को भी उसे बिक्री कर का अपेक्षाकृत भारी बोझ उठाना होता है जो कि बीमार होते है और जिन्हे ऐसी कीमती औषधियां खरीदनी पडती हैं जिन पर बिक्री कर लगता है। इसी कारण बिक्री कर को कठोर तथा अवरोही माना जाता हैं और समता की दृष्टि से इसे न्यायपूर्ण नही समझा जाता।

यह भी कहा जाता है कि सामान्य बिक्री कर मे यदि खाद्य पदार्थो तथा अनिवार्य आवश्यकता की अन्य वस्तुओं को सम्मिलित किया गया तो इसकी अवरोही प्रकृति (regressive nature) और भी बदतर रूप मे सामने आयेगी। परन्तु अधिकाश देश, आमतौर पर अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ (necessaries) को बिक्री कर की परिधि से बाहर ही रखते हैं।

जॉन ड्यू (John Due) ने निम्नलिखित चार कारणो के आधार पर यह प्रदर्शित किया है कि बिक्री कर सर्वाधिक सन्तोषजनक रूप मे ही क्यो न लगाया जाये, यह असमान तथा अन्यायपूर्ण होता है।

(क) ये कर शायद ही कभी सार्वलौकिक (universal) होते हों; क्योंकि जो लोग केवल कर-रहित वस्तुओ का ही उपभोग करते हैं, उन्हे कर का लेशमात्र भी कोई भार नही वहन करना होता।

(ख) इसमे कर का अन्तरण (shifting) भी पूर्ण तथा ठीक होने की कम सम्भावना होती है जिसके फलस्वरूप या तो व्यावसायिक इकाइयो को उसका कुछ भाग वहन करना पड़ता है, अथवा उपभोक्ताओ को ही कर की राशि से अधिक मात्रा मे रकम अदा करनी होती है।

(ग) यदि यह मान लिया जाये कि पूर्णरूप से कर का अन्तरण हो जाता है, फिर भी यह हो सकता है कि बिक्री कर का विभिन्न वस्तुओं के फुटकर मूल्यों (retail prices) के एक समान प्रतिशत पर न लगाया जाये।

(घ) बिक्री कर के परिणामस्वरूप यह हो सकता है कि मजदूरियो में वृद्धि की जाये और ये वृद्धियाँ सभी मामलो मे एक समान (uniform) हो सकती है।

ऊपर बताये गये चारो कारण इस बात के प्रतीक हैं कि बिक्री के कराधान का भार सदा समाज के निर्धन वर्गो को ही अधिक उठाना होता है और इसी कारण बिक्री कर को अवरोही कहा जाता है।

(ii) बिक्री कर और मुद्रा अवस्फीति (Sales tax and Deflation) :

बिक्री कर का सामान्य प्रभाव यह होता है कि कीमतें बढ जाती है और उसमे उपभोक्ताओ को अपने उपभोग मे कटौती करने की प्रेरणा मिलती है। जैसा कि पहले बतलाया जा

मुद्रास्फीति से होने वाली वृद्धि मे वस्तुओ तथा उत्पादन के उपादानों की कीमतों तथा द्रव्य आय मे होने वाली वृद्धि भी सम्मिलित होती है ।

मुद्रास्फीति विरोधी उपाय के रूप मे बिक्री कर की योग्यता एक शर्त की पूर्ति पर निर्भर होनी है । बिक्री कर केवल अन्तिम उपभोग्य वस्तुओं (final consumption goods) कीमतों मे वृद्धि करता है जिससे कि लोगो की उपभोग की मांग को कम किया जा सके, अत इसके द्वारा उत्पादन के उपादानो की कीमतो मे वृद्धि को कोई प्रोत्साहन नही मिला करता । परन्तु व्यवहार मे यदि यह हो कि श्रमिक अधिक मजदूरियों की इसलिये मांगें करें और उन्हें प्राप्त भी कर लें क्योंकि बिक्री कर लगने के कारण वस्तुओ की कीमतें बढ गई है, तो इन ऊँची मजदूरियो द्वारा स्वय ही वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि हो जायेगी । इस स्थिति में अवश्य बिक्री कर के प्रभाव भी निश्चय ही वैसे होंगे जैसे कि मुद्रास्फीति के कारण होने वाली कीमतो मे वृद्धि के होते हैं । वास्तव मे, इस अवस्था मे बिक्री कर मुद्रास्फीति को रोकने की बजाए कीमतो की मुद्रास्फीति सम्बन्धी वृद्धि को और प्रोत्साहन देगा। इसके विपरीत, यदि श्रमिक संघो (tradex unions) को इस बात के लिए प्रेरित किया जा सके कि वे वस्तुओं की कीमतो मे बिक्री कर के अंश को सम्मिलित न करें और निर्वाह खर्च-सूचकांक (cost of living index number) से भी इसको बाहर रखें, तो निश्चय ही मजदूरियो में वृद्धि की मांग का खतरा काफी टल जायेगा और उस स्थिति मे, मुद्रास्फीति विरोधी उपाय के रूप मे बिक्री कर बडा अच्छा प्रभाव डालेगा ।

बिक्री कर का स्वरूप और स्फीति नियन्त्रण (The Form of the Sales tax and Inflation Control) :

स्फीति विरोधी उपाय के रूप मे लगाये जाने वाले बिक्री कर मे कुछ विशेष लक्षण होने चाहिए । **सर्व प्रथम,** यह कि बिक्री कर फुटकर अथवा खुदरा स्तर (retail stage) पर लगाया जाए । स्फीति विरोधी उपाय मे ऐसे कर के कुछ विशेष लाभ होते हैं । उदाहरणार्थ, चूँकि कर के बारे में उपभोक्ता को पृथक् रूप से बताया जा सकता है अत इस स्थिति मे उपभोक्ता को कर की पूर्ण जानकारी रहेगी कर को खुदरास्तर पर लगाने से कर की मात्रा में वृद्धिकरण की सम्भावना न्यूनतम हो जायेगी । दूसरे, बिक्री कर का दायरा अधिक से अधिक व्यापक होना चाहिये जिससे कि उपभोग को अधिक से अधिक मात्रा मे हतोत्साहित किया जा सके । व्यापक दायरा वही सर्वोत्तम माना जा सकता है जिसमे सभी वस्तुएँ और यहाँ तक कि सेवाएँ भी शामिल हो, चूँकि व्यवहार मे यह सम्भव नही है, अत नैतिकता एव राजनीति, दोनो के ही विचारो को दृष्टिगत रखते हुए अनेक छूटें (exemptions) देना आवश्यक हो जाता है । तीसरे, बिक्री कर की दरो मे समुचित रूप से अन्तर होना चाहिए—या तो इसलिए ताकि करो के भार का वितरण अधिक उपयुक्त तरीके से हो सके अथवा कुछ ऐसी किस्म की वस्तुओ के उपयोग को हतोत्साहित करने के लिए, जिसकी अत्यधिक कमी हो । अन्त मे, पूँजीगत माल (capital goods) को बिक्री कर की परिधि से बाहर रखना चाहिए और यह केवल उपभोग की वस्तुओं पर ही लगाना चाहिए।

स्फीति नियन्त्रण के अस्त्र के रूप में बिक्री कर की श्रेष्ठता
(Superiority of Sales Tax as a Tool of Inflation Control)

(१) बचतो मे वृद्धि को प्रोत्साहन (Incentive to increase saving)—बिक्री कर चूँकि उपभोग मे कमी करता है अत यह बचतों की वृद्धि के लिए एक निश्चित प्रेरणा प्रदान करता है । परन्तु यह स्थिति व्यवहार मे प्रभावशाली होगा या नही, यह कई बातो पर निर्भर है, जैसे कि कर की दर तथा अवधि (period) जिसके लिए कर लगाया जा रहा है, आदिआदि । यदि कर स्पष्टत मुद्रास्फीति को रोकने के लिए लगाया जा रहा है और यदि लोगो को यह बात समझा दी गई है कि स्फीति सम्बन्धी दबाव कम होने पर कर नहीं रहेगा तो उपभोग को स्थगित कराने मे यह अत्याधिक प्रभावी होगा । इसके अलावा, यदि उपभोक्ता-व्यय मे सामान्य कमी (general reduction) करने की दृष्टि से बिक्री कर को प्रभावशाली बनाना है तो यह इस बात पर निर्भर है कि बिक्री कर का क्षेत्र अथवा दायरा कितना है । उदाहरण के लिए, यदि कुछ वस्तुओ पर तो कर लगा दिया जाए और कुछ को कर मुक्त कर दिया जाये, तो स्पष्टत उपभोक्ता

ऊंचा किया जाए। बिक्री कर उपभोग मे कमी करके बचत तथा पूँजीनिर्माण को ऊँची दरो के विषय मे हमे आश्वस्त करते है और इसी कारण बिक्री का कराधान अल्पविकसित देशो मे बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। तीसरे, यहाँ आय-कर को लागू करना कठिन होता है, विशेषरूप से वहाँ जहाँ अधिकाश लोगो की आमदनियाँ बहुत थोडी होती हैं और जहाँ सरकारी प्रशासन अकुशल (Inefficient) होता है, वहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि बिक्री के कराधान पर निर्भर रहा जाए। चौथे, सघीय ढाँचे वाले देशो मे आय-करो तथा बिक्री करो को बडी आसानी के साथ सघ या राज्य सरकारो के बीच बाँटा जा सकता है जिससे कि प्रत्येक सरकार को राजस्व का एक निश्चित तथा उपयुक्त स्रोत मिल जाये।

निष्कर्ष (Conclusion) :

बिक्री का कराधान न केवल जारी ही चला आ रहा है अपितु यह सरकारी आय का एक बडा ही महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गया है। इसका उपयोग सभी अथवा कुछ थोडी सी विशिष्ट वस्तुओं के उपभोग को सीमित करने मे किया जा सकता है। यही नही, इसको पूंजी-निर्माण के एक स्रोत के रूप मे ही प्रयोग किया जा सकता है। इसको उत्पादन-शुल्कों से श्रेष्ठ माना जाता है किन्तु सामान्यतया आय-कर से घटिया समझा जाता है। तथापि जॉनड्यू के इस कथन से हर कोई सहमत होगा कि 'सम्पूर्ण रूप मे, बिक्री कर को दूसरा सर्वोत्तम कर माना जाना चाहिए—एक ऐसा कर जो कि केवल तभी लगाया जाना चाहिए जबकि अनेक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाएँ जिनके कारण आय-कर तथा अन्य उपयुक्त करो पर पूर्णतया निर्भर रहना अवाञ्छनीय हो जाये।[11]

बिक्री कर—मुद्रास्फीति विरोधी एक राजकोषीय नीति के रूप में

(Sales Tax as an Instrument of anti-Inflationary Fiscal Policy)

हम इस बात का विवेचन पहले ही कर चुके है कि बिक्री कर का उपयोग उपभोग को सीमित करने के लिए किया जा सकता है और इस प्रकार मुद्रास्फीति सम्बन्धी दबावो को नियन्त्रित करने वाले एक राजकोषीय अस्त्र के रूप मे काम कर सकता है। भूतकाल मे अवश्य अर्थशास्त्रियो तथा शासको ने बिक्री कर को केवल सरकारी आय की प्राप्ति की नजर से ही देखा और इसका उपयोग राजकोषीय नीति (fiscal policy) के एक विवेकपूर्ण उपाय के रूप मे कभी नही किया। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के समय से, इस बात की ओर लोगो का काफी ध्यान गया है कि बिक्री कर का इस्तेमाल मुद्रास्फीति विरोधी राजकोषीय नीति के एक अस्त्र के रूप मे किया जाए।

यह बात बडी मजेदार है कि बिक्री कर, जिसके बारे मे यह माना जाता है कि वह मूल्यस्तर (price level) मे होने वाली वृद्धि को रोकेगा, वस्तुओं के मूल्यो मे और वृद्धि करता है। सीधी सी बात है, कोई कर जो मूल्य-स्तर मे वृद्धि करता है, मुद्रास्फीति (inflation) को कैसे रोक सकता है ? इस परस्पर विरोधी विचार की उलझन को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि बिक्री कर द्वारा होने वाली कीमतो की वृद्धि और उन कीमतो की वृद्धि मे, जिसे कि मुद्रास्फीत कहा जाता है, भेद किया जाए। बिक्री कर से उन वस्तुओ की कीमतें बढ जाती है जिन पर कर लगाया जाता है और इस प्रकार समाज की वास्तविक क्रयशक्ति कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त, बिक्री कर से वस्तुओं की कीमतो (commodity price) मे जो वृद्धि होती है वह उत्पादन के उपादानो की कीमतों (factor prices) को देखते हुए केवल सापेक्षिक वृद्धि (relative increase) होती है। इसके विपरीत, मुद्रास्फीत के अन्तर्गत, वस्तुओं की कीमतो तथा उत्पादन के उपादानो की कीमतो, दोनो मे ही वृद्धि होती है। इससे लोगो के हाथो मे अतिरिक्त द्रव्य-आय की मात्रा बढ जाती है और उससे मुद्रास्फीति और अधिक बढती है। इस प्रकार, जहां बिक्री कर वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि करके वस्तुओं की माँग और उपभोग को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है, वहाँ

11. John Due : Sales Taxation, p. 41, "On the whole, the sales tax must be regarded as a second best tax—one to be employed only if various circumstances make complete reliance on income and other more suitable taxes undesirable."

की जाने वाली व्यवस्था के सम्बन्ध मे पाया जाता है। व्यक्ति आमतौर पर भविष्य के मुकाबले वर्तमान को अधिक प्राथमिक्ता (preference) देना पसन्द करता है। इसका कारण यह है कि उसे केवल थोडे समय तक ही जीने की आशा रहती है और वह वर्तमान आवश्यकताओ को अधिक तीव्रता से अनुभव करता है। इसीलिए वह वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति का पहले प्रबन्ध करता है और अपनी आय का बहुत थोडा भाग ही भविष्य के लिए बचाता है क्योकि भविष्य अनिश्चित है। अतएव इसका सम्पूर्ण एव सही अनुमान कैसे लगाया जा सकता है। दूसरी ओर, राज्य एक स्थायी सगठन होता है तथा वह केवल वर्तमान पीढी (generation) का ही नही, अपितु भावी पीढी का भी परिरक्षक (custodian) होता है। इसी कारण वह अपने धन का एक बडा भाग प्राकृतिक साधनों के सरक्षण तथा भावी हितो (future interests) की वृद्धि के लिए खर्च करता है। उदाहरण के लिए कोयला खान का व्यक्तिगत स्वामी खान का शोषण उस अधिकतम सीमा तक कर सकता है जहां तक कि उसे अधिकतम सम्भव लाभ प्राप्त हो सके। परन्तु राज्य की रुचि इस बात मे होती है कि वह देश के सीमित मात्रा के कोयला साधनो को सरक्षण प्रदान करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह ऐसे प्राकृतिक साधनो के शोपण पर तथा उनके निर्यात पर प्रतिबन्ध भी लगा सकता है। आधुनिक सरकारें धन की बडी-बडी राशियाँ वन-रोपण (afforestation), भूमि सरक्षण (soil conservation), सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रमो, शिक्षा तथा जन-स्वास्थ्य आदि पर व्यय करती हैं। खर्च की ये सभी मदें ऐसी होती हैं कि जिनसे उन्हे यद्यपि तुरन्त ही किसी प्रतिफल के प्राप्त होने की आशा नही होती, किन्तु फिर भी समाज के दृष्टिकोण से वे अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं।

(९) गोपनीयता बनाम प्रचार के सम्बन्ध मे अन्तर (Difference in the matter of Secrecy Vs. Publicity)

निजी वित्त को सामान्यतया गुप्त रखा जाता है क्योकि कोई भी व्यक्ति आमतौर पर अपने वित्तीय मामले अन्य लोगो के सामने प्रकट करना नही चाहता। किन्तु इसके विपरीत, सरकार अपने बजट प्रस्तावो का अधिक से अधिक प्रचार करती है और वास्तविकता यह है कि इस प्रचार से सरकार की साख मे वृद्धि ही होती है, कमी नही।

(१०) नियोजन के आकार के सम्बन्ध मे अन्तर (Difference in the matter of size of Planning)

सभी जानते है कि सरकारी नियोजन का आकार विस्तृत और गहन होता है। हमारी चतुर्थ पचवर्षीय योजना इसका ज्वलन्त उदाहरण है जिसके अन्तर्गत विभिन्न मदों पर करोडो रुपये व्यय करने का आयोजन किया गया है। इसके विपरीत, व्यक्ति भी अपनी आय और व्यय का नियोजन करता है, किन्तु उसके नियोजन का आकार बहुत छोटा और सकुचित होता है। इसका कारण यह है कि एक व्यक्ति की तुलना मे राज्य दीर्घजीवी होता है।

(११) अवधि के सम्बन्ध मे अन्तर (Difference in the matter of Duration or Period)

निजी वित्त की दशा मे सामान्य रूप मे व्यक्ति किसी निश्चित अवधि के लिए अपनी आय-व्यय का लेखा तैयार नही करता। यद्यपि कुछ व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जिन्हे साप्ताहिक अथवा मासिक वेतन मिलता है और वे उसी हिसाब से अपना बजट तैयार करते हैं तथापि उसमे कुछ बचत दिखाकर भावी कठिनाइयो मे उसका उपयोग करने के लिए सचय कर लेते हैं। इसके विपरीत लोकवित्त मे सरकार एक सम्पूर्ण वित्तीय वर्ष के लिए अपना बजट तैयार करती है। उसमे बचत अथवा आधिक्य का बजट बनाना खराब माना जाता है। यही कारण है कि अधिकाश सरकारी बजट घाटे के ही बनते हैं और बाद मे आय के स्रोतो का विस्तार करके उक्त घाटे को पूरा करने का प्रयास किया जाता है। फिण्डले शिराज के अनुसार यदि किसी राज्य का बजट बचत प्रदर्शित करता है तो उससे उक्त राज्य के वित्तमन्त्री की अकुशलता का परिचय मिलता है। सरकार प्राय: हीनार्थ प्रबन्धन की नीति का ही पालन करती है और प्रति वर्ष के आधार पर अपने बजटो का निर्माण करती है।

अपनी खरीद को कर लगी वस्तुओं से कर-मुक्त वस्तुओ की ओर को स्थानान्तरित कर देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उपभोक्ता के खर्च में कोई कमी नही होगी और स्फीति सम्बन्धी दबाव बराबर जारी रहेंगे। स्फीति के नियन्त्रण (control of inflation) के दृष्टिकोण से तो खाद्यान्न *तथा अनिवार्य आवश्यकता के अन्य पदार्थों को भी कर-मुक्त नही करना चाहिये।* परन्तु ऐसी छूटें (exemptions) आमतौर पर इसीलिये दी जाती हैं जिससे कि निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों पर कर का अत्यधिक भार न पड़े। इस प्रकार, उपभोग सम्बन्धी खर्चों को सीमित करने मे बिक्री कर लाभकारी सिद्ध होता है।

(२) **उपभोक्ता को उसके द्वारा की गई क्रय तथा उस पर देयकर की मात्रा की जानकारी** (It makes the consumer aware of his purchases and the amount of taxes payable)—बिक्री कर का एक अन्य गुण यह है कि इसमे उपभोक्ता को इस बात की जानकारी रहती है कि उसे वस्तु की खरीद मे कितनी और कर के रूप मे कितनी धनराशि देनी है? ऐसा इसलिये होता है क्योंकि बिक्री कर की अदायगी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ता की खरीद से होता है। उपभोक्ता (consumer) इस बात को अच्छी तरह जानता है कि वस्तु को अदायगी से बचा सकता है। आय-कर की स्थिति मे कर की अदायगी तथा वस्तुओं की खरीद के *बीच ऐसा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही पाया जाता।*

(३) **आय का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत व्यय करने वालो पर भार** (Falls on those who spend a comparatively high percentage of their incomes)—समता एव न्याय (equity) की दृष्टि म चाहे उसके परिणाम कुछ भी क्यो न हो, तथ्य यह है कि बिक्री कर उन लोगो पर पडता है जो कि अपनी आमदनियो का अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत व्यय कर देते हैं। इनमे निम्न आय वाले वर्गो के ये लोग तथा वे बडे-बडे परिवार सम्मिलित होते है जिनकी सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) ऊँची होती है। ये वर्ग, हो सकता है कि आय-कर की परिधि मे न आते हों। इसके अतिरिक्त, इन लोगो को वस्तुओं की अपनी माँग मे उन लोगों की अपेक्षा अधिक कटौती करनी पडती है जिनका सम्बन्ध उच्चतर आय वाले वर्गों से होता है। स्पष्ट है कि बिक्री कर चूँकि इन्ही (निम्न आय वाले) लोगों पर अधिक पडता है अत: उसे समन्यायपूर्ण नही कहा जा सकता। परन्तु यहां मुख्य विचारणीय बात समता व न्याय की नहीं है, अपितु स्फीति के नियन्त्रण की है।

(४) **काम करने की प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं** (Will not effect adversely incentives to work)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आय-कर से चूँकि कमाई गई अतिरिक्त आय पर स्वय ही कर लग जाता है अत: काम करने की प्रेरणाओ पर इसका प्रभाव पड सकता है, परन्तु बिक्री कर का ऐसा कोई प्रतिकूल प्रभाव प्रेरणाओ (incentives) पर नही पड़ता है। कारण यह है कि इसके अन्तर्गत तो कमाई हुई अतिरिक्त आय पर अतिरिक्त कर केवल तभी लगेगा जबकि वह आय उन वस्तुओ को खरीदने मे व्यय कर दी जायेगी जिन पर कि कर लगा है। अत. जब कोई व्यक्ति इस बात का निश्चय करेगा कि अधिक काम करे या नही और अधिक कमाये या नही, तो उस समय वह आय-कर से सम्बन्धित अपनी देनदारी पर अवश्य विचार करेगा किन्तु बिक्री कर के सम्बन्ध मे ऐसी कोई बात नही है। इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्फीति को रोकने के लिए आवश्यक आय-कर की दर चूँकि काफी ऊँची होगी अत प्रेरणाओ को क्षति पहुँचने के आसार भी उतने ही अधिक होगे। सम्पूर्ण रूप मे, कहा जा सकता है कि आय-कर के मुकाबले बिक्री कर स्फीति-नियन्त्रण (inflation control) का एक अच्छा साधन है।

स्फीति-नियन्त्रण के अस्त्र के रूप में बिक्री-कर की हीनता
(Inferiority of Sales Tax as a Tool of Inflation Control)

किन्तु उपर्युक्त कथन के बावजूद, स्फीति विरोधी राजकोषीय नीति (anti-inflationary fiscal policy) के एक अस्त्र के रूप मे बिक्री कर आय-कर से हीन (inferior) है। इसके निम्न कारण है :—

(क) बिक्री कर के द्वारा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह हो सकता है कि मजदूरियों में वृद्धि को प्रोत्साहन मिले। और यदि ऐसा हुआ तो उससे तो स्फीति सम्बन्धी दबावों को और बढ़ावा मिलेगा।

(ख) बिक्री कर उत्पादक-वस्तुओं (producers goods) पर भी लगाया जा सकता है। इन वस्तुओं पर कर लगाने से मुद्रा-स्फीति की स्थिति और भी बदतर होती जायेगी क्योंकि इसमें वस्तुओं की उत्पादन-लागत (cost of production) में वृद्धि होगी और उसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ेंगी। फिर, कीमतें बढ़ने से उनकी वृद्धि का एक पिरेमिड-सा बनना शुरू हो जाता है, अर्थात् कीमतें वस्तु के उत्पादन-स्तर से उसकी बिक्री के खुदरा स्तर (retail stage) तक बढ़ती ही जाती है। इसके अतिरिक्त, जब कीमतों पर नियन्त्रण लगाया जाता है तो उत्पादकों की वस्तुओं पर बिक्री कर लगाने के कारण। चूँकि उत्पादन-लागतें भी बढ़ जाती हैं अतः नियन्त्रित कीमतों (controlled prices) में व्यापक परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है और इससे मूल्य-नियन्त्रण करने वाले *प्रशासन का कार्य बड़ा उलझनपूर्ण एवं जटिल हो जाता है।*

(ग) जैसा कि सुझाव दिया जाता है, यदि बिक्री कर खुदरा स्तर पर न लगाया जाकर उत्पादन के प्रारम्भिक स्तरों पर लगाया जाए तो सम्भावना यही है कि उसमें कीमतों की वृद्धि का एक पिरेमिड-सा बनना शुरू हो जायेगा और उसका *परिणाम यह होगा कि कीमतों में होने वाली अन्तिम वृद्धि (final rise) कर की* मात्रा से भी आगे बढ़ जायेगी।

उपर्युक्त तर्कों का मूल्यांकन
(An Evalution of the above Argument)

स्फीति-नियन्त्रण के एक उपाय के रूप में बिक्री कर के पक्ष तथा विपक्ष में ऊपर जिन तर्कों का उल्लेख किया गया है, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि आय-कर के मुकाबले बिक्री कर अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है बशर्ते कि लोग यह समझें कि नया बिक्री कर अथवा बिक्री कर की नई ऊँची दरें अस्थायी रूप से केवल मुद्रा स्फीति का नियन्त्रण करने के लिये लगाई *गई हैं। परन्तु यदि बिक्री कर के द्वारा मजदूरियों में वृद्धि को प्रोत्साहन मिला तो यह बड़ा ही* असन्तोषजनक सिद्ध होगा। इसी प्रसंग में, यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि बिक्री कर में, जो कि विशेष रूप से मुद्रास्फीति विरोधी एक अस्थायी उपाय के रूप में लगाया जाता है, देश के कर-ढाँचे का एक स्थायी अंग बनने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

तथापि, मुद्रा-स्फीति विरोधी राजकोषीय नीति (anti-inflationary fiscal policy) के एक अस्त्र के रूप में बिक्री-कर व्यक्तिगत व्यय अथवा खर्च कर से बहुत अधिक हीन (inferior) है। व्यक्तिगत व्यय-कर एक प्रत्यक्ष कर होता है और उसको आरोहण अथवा क्रमवर्धन (progression) के किसी भी स्तर पर लागू किया जा सकता है। यदि कर का क्रमवर्धन काफी ऊँचा है तो एक निश्चित सीमा से अधिक व्यय अवरुद्ध हो सकता है। इसके विपरीत, बिक्री कर को आरोही *अथवा क्रमवर्धी (progressive) नहीं बनाया जा सकता। दूसरे, व्यय कर में कुछ न्यूनतम आम*-दनियों को कर-मुक्त कर दिया जाता है जिससे कि निम्न आय वाले तथा आर्थिक दृष्टि से कमजोर, अन्य वर्गों के लोगों को व्यय-कर के क्षेत्र से बाहर रखा जा सके। अन्य शब्दों में, कराधान के भार का वितरण व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार किया जा सकता है। बिक्री-कर में ऐसा होना कतई भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसा कि हम पहले ही बतला चुके हैं, बिक्री कर की प्रारम्भिक कमजोरी यही है कि वह कर-भार के वितरण में समन्यायपूर्ण (equitable) नहीं है। अन्त में, व्यय-कर बिक्री-कर के मुकाबले अधिक तटस्थ (neutral) हो सकता है। पर इसके बावजूद, एक ऐसा लाभ भी है जो बिक्री कर में पाया जाता है, व्यक्तिगत व्यय-कर में नहीं। बिक्री कर का प्रशासन एवं प्रबन्ध अपेक्षाकृत सरल है, जबकि व्यक्तिगत व्यय-कर (personal expenditure tax) के सम्बन्ध में सभी यह मानते हैं कि प्रशासनिक दृष्टि से इसको लागू करना बड़ा कठिन है।

भूतकाल मे, बिक्री करो का उपयोग राजस्व-प्राप्ति के अलावा अन्य किसी उद्देश्य के लिए नही किया गया। परन्तु यह सभव है कि ये कर स्फीति सम्बन्धी दवावो को नियन्त्रित करने वाले एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र के रूप मे कार्य करें। इस दृष्टिकोण से, इन करो को भारत जैसे विकासशील देशो मे बडा महत्त्वपूर्ण योगदान करना है—और वह भी दो रूपो मे, एक तो विकास कार्यो के लिए अतिरिक्त राजस्व की प्राप्ति के स्रोतो के रूप मे और दूसरे उन स्फीति सम्बन्धी दवावो को नियन्त्रित करने के लिए जो तीव्र आर्थिक विकास के अगभूत बन गये है।

उत्पादन का कराधान
(Excise Taxation)

उत्पादन कर अथवा उत्पादन शुल्क (excise taxes or excise duties) कुछ विशिष्ट वस्तुओ अथवा-वस्तुओ के विशेष वर्गो के उत्पादन तथा बिक्री पर लगाये जाते है। उत्पादन-करो तथा बिक्री करो मे अन्तर केवल मात्रा का है, किस्म का नही। वास्तविक उत्पादन कर जहाँ वस्तुओ की थोडी सख्या तक ही सीमित रहते है और भिन्न-भिन्न दरो से लगाये जाते हैं, वहाँ बिक्री कर सामान्य (general) होते है और बहुत अधिक वस्तुओ पर लगाये जाते है, तथा इनकी दर भी आमतौर पर एक सी होती है। उदाहरण के लिये, उत्पादन-कर तम्बाकू पर एक दर से लग सकता है और माचिस अथवा पेट्रोल पर भिन्न दर से। इसके विपरीत, बिक्री कर उन सभी वस्तुओं पर, जो किसी कर की परिधि मे आती है, एक समान दर, उदाहरणत एक रु० पर २% की दर से लगाया जा सकता है। फिर उत्पादन कर क्रियाओ (activities) पर लगाये जाते है बिक्रियो पर नही। एक प्रकार से, उत्पादन करो की एक विस्तृत व्यवस्था उस बिक्री कर व्यवस्था के ही सदृश्य होती है जिसमे कि कुछ वस्तुओ तथा सेवाओ को कर-मुक्त कर दिया जाता है।

उत्पादन-करो के उद्देश्य (Purpose of Excise Taxation) :

उत्पादन विलासिता अथवा ऐशो-आराम की कुछ वस्तुओ (luxury commodities) पर लगाये जाते है। "विलासिता की वस्तुओं पर उत्पादन कर" लगाये जाने के पीछे यह सिद्धान्त निहित है कि कुल उपभोग व्यय के मुकाबले कुछ विशिष्ट वस्तुओ के उपभोग-व्यय को कर अदा करने की योग्यता का एक श्रेष्ठतर माप माना जा सकता है और यह कि विलासिता की वस्तुएँ कराधान के भार के वितरण का एक अच्छा साधन बन सकती है। कभी-कभी उत्पादन शुल्क कुछ वस्तुओ के उपभोग मे कटौती करने के लिये इसलिये लगाये जाते हैं क्योकि उन वस्तुओ को हानिकारक समझा जाता है। कभी-कभी उद्देश्य यह होता है कि उन लोगो को दण्डित किया जाए जो कि कर लगाने के बावजूद कुछ पदार्थो का उपयोग जारी रखते हैं। शराब और तम्बाकू आदि वस्तुएँ इस श्रेणी मे आती है और इन वस्तुओ पर लगाये जाने वाले उत्पादन करो को 'व्यय-नियन्त्रण उत्पादन शुल्क' (sumptuary excises) कहा जाता है। कुछ मामलो मे, उत्पादन शुल्क इसलिए लगाये जाते है जिससे कि कर-भार को प्राप्त लाभो के अनुसार बाँटा जा सके। पेट्रोल कर इस किस्म के उत्पादन-कर का एक अच्छा उदाहरण है। पेट्रोल कर की प्राप्तियो को सड़क-निर्माण के लिये सुरक्षित रखा जा सकता है। यदि सरकार की सेवाओ से प्राप्त लाभो तथा किसी वस्तु के उपभोग के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध है तो उस वस्तु की बिक्री पर उत्पादन कर लगाने से प्राप्त लाभो के अनुसार ही कर-भार को वितरित करने का एक बडा प्रभावशाली साधन मिल जायेगा और इस स्थिति मे प्रदान की जाने वाली सेवाओ के अनुकूलतम अथवा सर्वोत्तम स्तरो (optimum levels) का निर्धारण करना बडा सरल हो जायेगा। कभी-कभी प्रत्यक्ष की कार्यवाहियो की आवश्यकता न होते हुए भी, युद्ध काल मे तथा अन्य मुद्रा-स्फीति की अवधियो मे उत्पादन कर इसलिए भी लगाये जा सकते हैं कि कुछ पदार्थो के उपयोग मे इसलिये कटौती की जा सके क्योकि उन पदार्थो की कमी है। ऐसी अवधियो मे, सरकार यह कर सकती है कि कुछ वस्तुओ की अधिकतम दर निश्चित कर दे और साथ ही उन पर उत्पादन शुल्क भी लगादे जिससे कि उन वस्तुओ के मालिको को मिलने वाले लाभो का कुछ भाग उसे मिल सके। भारत मे, उत्पादन करो के पीछे निहित सिद्धान्त यह रहा है कि स्थानीय उद्योगो (local industries) को, जो कि सरक्षण-टैरिफ (protective tariff) के अन्तर्गत पनपे है। उस हानि की पूर्ति का अवसर प्रदान किया जा सके जो कि आयातो (imports) पर सीमा-कर (customs) देने के कारण उन्हे उठानी पड़ी है।

अन्त मे, यह भी हो सकता है कि उत्पादन-कर केवल राजस्व प्राप्त करने के लिये ही लगाये जायें तथा इसमें अन्य किसी भी सिद्धान्त को दृष्टिगत न रखा जाए।

उत्पादन के कराधान के गुण व दोष
(Merits and Demerits of Excise Taxation)

उत्पादन के कराधान के गुण (Merits of Excise Taxation)

उत्पादन य कराधन के गुणो का उल्लेख हम उस स्थान पर पहले ही कर चुके हैं जहाँ कि हमने उन विभिन्न उद्देश्यो का वर्णन किया था जिनके लिये कि उत्पादन-कर लगाये जाते हैं। सामान्य रूप में, उत्पादन-कर आय करो पर सरकार की निर्भरता को कम करते है और इस सीमा तक, काम करने तथा बचत करने की प्रेरणाओ पर पड़ने वाले आय-करो के सभावित प्रतिकूल प्रभावो (adverse effects) को कम करते है और ऐसा होना स्पष्टत समाज के हित मे होता है। अब हम विभिन्न प्रकार के उत्पादन-करो क गुण-दोषो का सक्षिप्त मूल्याकन करते हैं।

विलासिता की वस्तुओ पर लगाये जाने वाले उत्पादन-करो की स्थिति मे, करो की अदायगी उन उच्चतर आय वाले वर्गों द्वारा की जाती है जिनमे कि करो को अदा करने की योग्यता होती है। इस अर्थ मे, समता एव न्याय के दृष्टिकोण से उन उत्पादन-करो को उचित कहा जा सकता है जो कि धनी व्यक्तियो पर लगाय जाते है। यदि कर लगायी जान वाली विलासिता की वस्तुओ का चुनाव सावधानी के साथ किया जाए तो यह सम्भव हो सकता है कि गरीबो पर भारी कराधान को रोका जा सके और आम बिक्री करो के अवरोहीपन (regressiveness) को समाप्त किया जा सके। यह भी कहा जाता है कि विलासिता की वस्तुएँ वे होती हैं जो एक तर्क सगत एव उपयुक्त जीवन-स्तर क लिए कतई भी आवश्यक नही होती अत कुल व्यय (total expenditure) की तुलना म इन अनावश्यक वस्तुओं पर किये जाने वाल व्यय को कराधान का अधिक उपयुक्त आधार (more suitable basis) माना जा सकता है। परन्तु विलास करो (luxury excises) की अनेक सीमायें भी हैं जिनमे निम्नलिखित मुख्य हैं —

(क) विलासिता की वस्तुओ पर लगाये जाने वाले कर लोगो के बीच उनकी पसन्द अथवा प्राथमिकताओ (preferences) के आधार पर भेद करते हैं। कुछ वस्तुओ को जो लोग उच्च प्राथमिकताओ (higher preferances) देते हैं उन पर तो अधिक कर लगता है जबकि अन्य लोग जो यद्यपि उतने ही धनी होते है परन्तु उन वस्तुओ को तरजीह नही देते, बिना कर दिये ही रह जाते हैं।

(ख) फिर इस बात का चुनाव करना भी बडा कठिन है कि वास्तव मे विलासिता की वस्तुएँ कौन सी है, क्योकि जो वस्तु एक वर्ग के लिये अनिवार्य (necessary) होती है, वह दूसरे वर्ग के लिये विलासिता की श्रेणी मे आ सकती है। यदि अत्यधिक महगी तथा प्रतिष्ठा की वस्तुओ (costly and prestige goods) को विचारार्थ लिया गया तो उससे सरकारी आय के रूप मे प्राप्त होने वाली धनराशि थोडी रह सकती है।

व्यय-नियन्त्रक उत्पादन करो (sumptuary excises) के मामलो मे, उनको न्यायोचित सिद्ध करने के लिए मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि ये शराब व तम्बाकू जैसी कुछ हानिकारक वस्तुओ के अत्यधिक उपयोग को रोकते है। व्यक्ति के स्वास्थ्य, उसके कार्य अथवा उसके आश्रितो (dependents) आदि पर शराब के अत्यधिक उपयोग (excessive use) के जो प्रभाव पडते है वे सर्वविदित हैं। अत व्यय-नियन्त्रक उत्पादन करो को न्यायोचित सिद्ध करना बडा सरल है। परन्तु इन उत्पादन करों की आलोचना मुख्यत. निम्न दो कारणो के आधार पर की जाती है। प्रथम तो इसमे यह दोष है कि ये उन लोगो की बहुसख्या पर कर का भारी बोझ डालते हैं जो कि इन वस्तुओं का उपयोग केवल सीमित मात्रा में ही करते है। इसके अतिरिक्त, कोई वस्तु वास्तव मे हानिकारक अथवा अनावश्यक है या नही, इस बात का निर्णय नैतिक आधार (moral basis) पर

किया जाता है और आर्थिक सिद्धान्त मे नैतिकता (morality) को कराधान का आधार बनाना कभी भी न्यायोचित नही माना जा सकता। इसे आमतौर पर बेकार तथा सारहीन समझा जाता है। अन्त मे, चूँकि निम्नतर आय वाले वर्गो पर इसका अधिक भार पड़ेगा, अत व्यय-नियन्त्रक उत्पादन कर निश्चय ही अवरोही समझे जाते है। हैनरी साइमन ने ऐसे कराधान को निम्न आधार पर रद्द किया है :—

"अनेक उदार व्यक्ति—तम्बाकू कर जैसे करो का इस विचित्र आधार पर समर्थन करते पाये जाते है कि तम्बाकू कोई अनिवार्य आवश्यकता (necessity) नही है और निर्धन व्यक्ति यदि चाहे तो इन वस्तुओं का उपयोग न करके कराधान से बच सकते है। इस कथन की दो आलोचनाएँ है। प्रथम, यह कहना शायद ही सही हो कि यदि वस्तु के बिना रह जाए तो व्यक्ति पर कोई कर भार नही पडता। दूसरे, इस तर्क का सहारा लेना बड़ा भद्दा सा लगता है कि गरीब लोग तम्बाकू के बिना रह सकते है अथवा उन्हे रहना चाहिए, विशेष रूप से तब जबकि उस पर कर लगाया जाए क्योकि तथ्य यह है कि गरीब लोग बिना इसके कुछ कर ही नही सकते फिर कराधान के लिए इनका चुनाव ही इसलिए किया गया था क्योकि यह आशा थी कि वे इसे छोड़ेंगे नही, और यदि उन्होने छोड़ दिया तो सरकार को अधिक कर-आय प्राप्त नही होगी।"[12]

व्यय-नियन्त्रक उत्पादन करो की इन सामान्य आलोचनाओ (criticism) के अतिरिक्त एक आलोचना और भी है जिसे आमतौर पर भुला दिया गया है और इसलिए उस पर समुचित जोर नही दिया जाता परन्तु वह भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। वह आलोचना है इन करो के वंचन अथवा छिपाने की। उत्पादन कर जब अत्यधिक तथा दमनकारी (oppressive) हो जाते है तो उससे शराब के अवैध उत्पादन (illicit production) तथा तस्कर व्यापार (smuggling) को प्रोत्साहन मिलता है।

प्राप्त लाभों पर आधारित उत्पादन कर (benefit based excise taxes)—बहुत कम विवादग्रस्त हैं, यद्यपि कभी-कभी उनकी आलोचना की जाती है। सड़कों की व्यवस्था निश्चय ही सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली एक व्यापारिक सेवा है और उन सड़को के निर्माण तथा उनके रखरखाव (maintenance) की वित्तीय व्यवस्था के लिए सरकारें उन सड़को का उपयोग करने वालो से पैट्रोल पर उत्पादन-कर के रूप मे कुछ रकम वसूल करती है। पैट्रोल के उपभोग का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से मोटर अथवा अन्य वाहन द्वारा तय की जाने वाली दूरी से होता है और इसी कारण पैट्रोल का उपभोग समान न होकर पृथक्-पृथक् होता है। यह उपभोग सस्ती कारो की तुलना मे मँहगी बढ़िया कारो के मामले मे अधिक होता है और हल्के वाहन (lighter vehicle) के मुकाबले भारी वाहनो की स्थिति मे अधिक होता है। इसके अतिरिक्त, इस कर का संग्रह बिना किसी कर-वंचन (tax evasion) तथा कर-परिहार (tax avoidance) के हो सकता है।

उत्पादन के कराधान के दोष अथवा सामान्य आलोचनाएँ (Demerits of Excise Taxation or General Criticism of Excise Taxation) :

उत्पादन करों की मुख्य आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उनमें साधनो का ऐसा पुन बँटवारा (reallocation) करने की प्रवृत्ति पाई जाती है जो कि अनुकूलतम अथवा सर्वोत्तम (optimum) नही होता। उदाहरण के लिए, उत्पादन शुल्क लगने के कारण जब किन्ही विशिष्ट वस्तुओ की कीमतें बढ़ती है तो हो सकता है कि उनकी माँग घट जाए और उसके फलस्वरूप उत्पादन भी कम हो जाए। व्यय-नियन्त्रक उत्पादन कर (sumptuary excises) तो वस्तुत: लगाये ही इस उद्देश्य से जाते है कि वे कुछ ऐसी वस्तुओ के उत्पादन को रोके जो कि जनसमुदाय के कल्याण मे सहायक नही होती। परन्तु अन्य उत्पादन करो के बारे मे इसी प्रकार तर्क दे सकना सम्भव नही है। वास्तव मे जो हो सकता है वह यह कि जब किसी वस्तु विशेष की बिक्री पर उत्पादन कर लगाया जाता है तो कुछ सीमान्त क्रेता (marginal buyers) या तो उस वस्तु को

12. Henery C. Simons : Personal Income Taxation, pp. 39-40.

खरीदना ही बन्द कर देते हैं अथवा वह वस्तु थोडी मात्रा में खरीदते है और उसके स्थान पर अन्य वस्तुएँ खरीद लेते है। परिणामस्वरूप, वे अपनी आमदनियो से अनुकूलतम अथवा इष्टतम सन्तुष्टि प्राप्त करने में असफल रहते हैं, यही नही, इस स्थिति मे सरकार को भी कोई राजस्व प्राप्त नही होता। इस प्रकार, उत्पादन कर लगाये जाने के परिणामस्वरूप, कर लगी वस्तु का उत्पादन कम हो जायेगा तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन मे वृद्धि हो जायेगी और यदि अर्थव्यवस्था (economy) में पहले से ही साधनो का अनुकूलतम बँटवारा चला आ रहा था तो उत्पादन-कर लगाये जाने के कारण अब साधनों का बँटवारा पहले से खराब हो जायेगा। फिर, अधिकाश मामलो मे उत्पादन-कर ऐसी वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जो घटती लागत (diminishing cost) के अन्तर्गत उत्पन्न की जा रही होती हैं। ऐसे मामलो मे, उत्पादन की वृद्धि को ही प्रोत्साहन मिलेगा। उत्पादन करो के कारण कुल उपज में कमी नही होगी।

इस प्रकार, उत्पादन करो की प्रामाणिक आलोचना (standard critism) यही है कि उत्पादन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और यह विभिन्न उद्योगों के बीच साधनो के बँटवारे को बिगाड़कर रख देता है। इस तर्क मे काफी वजन है। पर फिर भी, तथ्य यह है कि ऐसी आलोचना इस सदेहास्पद मान्यता पर टिकी हुई है कि किसी उत्पादन-कर विशेष के लगने से पूर्व साधनों का अनुकूलतम अथवा इष्टतम बँटवारा किया हुआ था। परन्तु ऐसा होना कोई आवश्यक नही है। इसके विपरीत, धनी व्यक्तियो द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं पर (विलास कर लगाकर) प्रतिबन्ध लगाना और अधिकतर निम्न आय वाले वर्गों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओ का विस्तार एव प्रसार करना तो जन-समुदाय के हित मे ही होगा और इससे साधनो का बँटवारा पहले से भी अधिक अच्छा हो जायेगा। किसी भी मामले मे ऐसा कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नही है जिसमे साधनों के बँटवारे के बिगडने के तर्क को किसी न किसी रूप मे आधार माना गया हो।

विभिन्न प्रकार के उत्पादन करों के उपयोग के विरुद्ध जो अन्य आपत्तियाँ (objections) उठाई जाती हैं उनमे मुख्य है—कुछ मामलो मे करों की ऐसी विशिष्ट दरों का प्रयोग करना जो कि उत्पादित वस्तु के मूल्य के साथ न बदलें (जिसके परिणामस्वरूप सस्ती किस्म की वस्तुओं का उपयोग करने वालो पर गैर समानुपाती भार पडता है), चूँकि उत्पादन कर सामान्यत विनिर्माण स्तर (manufacturing level) पर लगाया जाता है। अत मूल्य वृद्धि का प्रत्यक्ष पिरेमिड का बनाना, कर दाताओ से कर-भार को छिपाना आदिआदि।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप मे, उत्पादन कर इस आधार पर तो न्यायोचित ठहराये जा सकते हैं कि ये प्राप्त लाभो के आधार पर कर-भार के वितरण के साधन के रूप मे कार्य करते है, ऐसी वस्तुओ के उत्पादन को सीमित करते है जो जनसमुदाय के कल्याण में सहायक नहीं होती और यदि कर लगाये जाने वाले पदार्थों का सावधानी से चुनाव कर लिया जाए तो निर्धनो के मुकाबले धनियो पर कर का अधिक भार डालने का प्रयास करते हैं। परन्तु प्रोफेसर हैनरी सी० साइमन (prof Henry C Simons) ने जो कि उत्पादन-करो के तीव्र आलोचक रहे हैं, लिखा है कि "मेरे विचार मे ये कर हमारी राजस्व व्यवस्था (revenue system) के सबसे खराब तत्त्व है। ये बिक्री करो से भी अधिक अवरोही (regressive) होते हैं। ये लगभग पूरे के पूरे छिपाये जा सकते हैं और व्यक्तियो को इस बात का ज्ञान नही होने देते कि उन पर वास्तविक कर-भार कितना है? वे व्यय-नियन्त्रक विधानों (sumptuary legislation) की गुमराह माँगो मे सहायक होते हैं..........। वे दिखाते तो ऐसा हैं मानो "विलासिता की वस्तुओ" (luxuries) पर लगाये जा रहे हैं किन्तु वास्तव मे खर्चों को कर लगी विलासता की वस्तुओ की ओर से नही बल्कि "अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं" (necessities) की ओर से अन्य दिशा की ओर को मोड देते हैं। निगम करो की तरह, ये कर उन राजनैतिक कायरो की राजस्व प्राप्त करने की युक्तियाँ (devices) हैं जो मत देने वाले करदाताओ से भयभीत और सरकार की विवेकपूर्ण आलोचना से भयग्रस्त रहते हैं।"[13]

13. H. C. Simons : Federal Tax Reform, pp. 36-37.

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. John Due : Sales Taxation, Part I.
2. A. B. Ghosh : Sales Tax in India, Chapter I.
3. Harold Groves : Financing Government, Chapter II.
4. Henry C. Simons : Personal Income Taxation.
5. R. N. Bhargava : Public Finance.
6. S. Seligman : Studies in Public Finance

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. बिक्री-कर किसे कहते है ? एक सर्वश्रेष्ठ बिक्री कर ढाँचे की आवश्यकताओं की विवेचना कीजिये।

What is meant by sales tax ? Discuss the requirements for an optimum sales tax structure.

२. बिक्री कर के पक्ष तथा विपक्ष मे अपने तर्क दीजिए।

Give your arguments for and against the sales tax.

३. आय के साधन के रूप मे बिक्री कर के स्वभाव, भार, दोष तथा महत्व का वर्णन कीजिए।

Describe the nature, incidence, defects and importance of sales tax as a source of revenue.

४ बिक्री कर के लाभ दोषो का वर्णन कीजिए। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की दशा मे इसके महत्व की विवेचना कीजिए।

Describe the merits and demerits of sales tax. Discuss its importance in case of an underdeveloped economy.

५ स्फीति नियन्त्रण के अस्त्र के रूप मे बिक्री की श्रेष्ठता तथा हीनता की विवेचना कीजिए।

Discuss the superiority and inferiority of sales tax as a fool of inflationary control.

६ उत्पादन के कराधान से क्या आशय है ? इसके गुण-दोषो की विवेचना कीजिए।

What is meant by excise taxation ? Discuss its merits and demerits.

(१२) आय के साधनों में लोच सम्बन्धी अन्तर (Difference in the matter of Flexibility of sources of Income) :

निजी आय के साधन सरकारी आय के साधनो की तुलना में कम लोचपूर्ण होते हैं। सरकार आय के पुराने करों मे वृद्धि कर, नये कर लगाकर आन्तरिक तथा बाहरी ऋण प्राप्त करके तथा पत्र मुद्रा छापकर अपनी आय मे वृद्धि कर सकती है, जबकि निजी वित्त व्यवस्था मे आय के साधन लगभग बेलोच रहते हैं। डा० डाल्टन ने इसका कारण बताते हुए एक स्थान पर लिखा है कि "मुख्य कारण स्पष्ट है, इसके (राज्य) पास साधन प्राप्त करने के लिए समुदाय का सारा धन है, इसके अतिरिक्त बाहरी ऋण प्राप्त करने की सम्भावना भी बनी रहती है।"[8]

(१३) ऋणों की प्रकृति में अन्तर (Difference in the matter of Nature of loans) :

निजी वित्त की दशा मे जब कोई व्यक्ति ऋण लेना चाहता है तो पूर्णत ऋणदाता की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह ऋण दे अथवा नही। दूसरे शब्दो मे, वह ऋणदाता को ऋण देने के लिए बाध्य नही कर सकता है। इसके विपरीत, चूंकि सरकार का अपने नागरिकों पर प्रभुत्व रहता है अतएव वह अपने नागरिको को ऋण देने के लिए बाध्य कर सकती है। किन्तु ऐसा तानाशाही राष्ट्रो मे ही सम्भव हो पाता है, प्रजातान्त्रिक देशो मे लोगो की इच्छा से ही ऋण लिया जा सकता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निजी वित्त व लोकवित्त दोनो मे पर्याप्त अन्तर विद्यमान है। अत यह मान लेना उचित नही है कि निजी वित्त का सचालन करने वाले सिद्धान्त तथा नियम वैसे के वैसे ही लोकवित्त पर भी लागू होते हैं। फिर कुछ अर्थशास्त्री लोकवित्त तथा निजी वित्त की भिन्नताओ की गणना करने की बजाए इनकी समानताओ (similarities) पर ही अधिक जोर देते है। परन्तु उनके बीच कितनी ही विभिन्नताएँ क्यो न हो, वास्तविकता यह है कि ये दोनो एक ही अर्थव्यवस्था (economy) के अन्तर्गत कार्यशील रहते हैं। उदाहरण के लिए, सरकार सामान्य आय स्रोत (general income stream) से कर-आय (tax revenue) प्राप्त करती है और यह अपने धन को इसी स्रोत मे व्यय भी कर देती है। यह उन्ही साधनो से धन उधार लेती है जिनमे कि गैर-सरकारी व्यक्ति लेते हैं। यह धन उत्पन्न करने मे गैर-सरकारी सस्थाओ तथा व्यक्तियों तक का उपयोग करती है और सरकार की राजस्व नीति (fiscal policy) की सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर होती है कि उसका निजी अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पडता है। राजस्व नीति तभी सफल होगी जबकि हम सरकार को अर्थव्यवस्था व समाज का एक अग मानें।

लोकवित्त की प्रकृति तथा उसका योग
(Nature and Role of Public Finance)

राजकोषीय अथवा राजवित्त सिद्धान्त-वेत्ताओं ने लोकवित्त की प्रकृति के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ प्रस्तुत की है। सैलिगमैन (Seligman) तथा अन्य अनेक अर्थशास्त्रियो ने 'लोकवित्त के शुद्ध सिद्धान्त' (pure theory of public finance) का उल्लेख किया है। यह सिद्धान्त सरकारी आय, सरकारी व्यय तथा सरकारी ऋण की समस्याओ पर बिना कल्याण की विचारधारा से कोई सम्बन्ध रखे तटस्थ रूप से विचार करता है। उदाहरणार्थ, लोकवित्त का शुद्ध सिद्धान्त इस बात की मांग नही कर सकता कि राज्य धन की असमानताओं को दूर करे। दूसरी ओर, वैगनर (Wagner), एजवर्थ (Edgeworth) तथा पीगू (Pigou) द्वारा प्रतिपादित 'लोकवित्त का सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्त' (Socio-political theory of public finance) इस

8 The chief reason is obvious, it has the whole wealth of the community on which to draw, in addition to the possibilities of raising external loans." —*Dr. Dalton*

बसेरा लेने के लिए पहुँचते हैं।"[1] अथवा यह कहिये कि कर के प्रत्यक्ष अथवा अन्तिम द्रव्य-भार के पडने का स्थान कौन सा है ? कर वाह्यता तथा कर देयता (impact of the tax) दो अलग अलग चीजें है। कर देयता इस बात की ओर संकेत करती है कि मूल कर-निर्धारण (original assessment) का बिन्दु कौन है अर्थात् वह व्यक्ति कौन है जिस पर सरकार कर लगाती है और जो वस्तुत सरकार को रकम देता भी है, यदि वह व्यक्ति, जो कि पहली बार में ही सरकार को कर अदा करता है, यह समझता है कि वह कर-भार को अन्य किसी व्यक्ति पर नही डाल सकता तो कहा जायेगा कि कर की देयता तथा साथ ही साथ कर की वाह्यता भी उसी व्यक्ति पर है "इस स्थिति में द्रव्य भार वही स्थिर हो जाता है जहाँ कि वह डाला गया था।" किन्तु यदि मूल करदाता अथवा पहला करदाता कर के भार को अन्य किसी व्यक्ति पर डालने मे समर्थ हो जाता है तो यह कहा जायेगा कि कर का अन्तरण (tax shifting) हो गया है और इस करान्तरण की स्थिति में सबसे पहला करदाता कर की वाह्यता अथवा कर के द्रव्य-भार को अपने कन्धो से स्थानान्तरित करने मे समर्थ हो गया है। मान लीजिए, सरकार चीनी पर कर लगाती है और कर की रकम को चीनी के विनिर्माता (manufacturer) से वसूल करती है। इस स्थिति में कर का द्रव्य-भार—अर्थात् कर की रकम चीनी के विनिर्माता के कन्धो पर पडती है। कर की देयता विनिर्माता पर पड़ी है। यदि चीनी का विनिर्माता चीनी की कीमतो मे कर राशि के बराबर वृद्धि करके कर के द्रव्य-भार को किसी अन्य व्यक्ति पर, मान लीजिए थोक व्यापारी पर डालने मे सफल हो जाता है तो कहा जायेगा कि चीनी निर्माता ने कर का अन्तरण (shifting) कर दिया है अर्थात् कर के द्रव्य भार को स्थानान्तरित कर दिया है। यदि अन्तरण की यह प्रक्रिया (process of shifting) विनिर्माता से थोक व्यापारी (whole saler), थोक व्यापारी से फुटकर व्यापारी (retailer) तथा अन्त मे फुटकर व्यापारी से अन्तिम उपभोक्ता (consumer) की ओर को जारी रहती है और यदि उससे आगे अन्तरण की कोई सम्भावना नही है तो यह कहा जायेगा कि कर वाह्यता उस अन्तिम उपभोक्ता कर पडी है जो कि सबसे अन्त मे कर के द्रव्य-भार को वहन करता है अथवा यह कहिये कि जो कर को अन्तिम रूप से अदा करता है।

कर की वाह्यता और अन्तरण में अन्तर

(Districtiion between Incidence and Shifting of a Tax)

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि कर की वाह्यता के अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते है कि कर की राशि का भुगतान वास्तव में कौन करता है ? इसके विपरीत कर अन्तरण एक ऐसी विधि है जिसके अन्तर्गत कर का भार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर हस्तान्तरण कर दिया जाता है। यदि कर का अन्तरण नही होगा तो ऐसी स्थिति मे करारोपण व वाह्यता दोनों एक ही व्यक्ति पर पड़ेंगे।

वाह्यता का सिद्धान्त—रूढ़िवादी विश्लेषण

(The Theory of Incidence—Conventional Analysis)

हमने बताया है कि "वाह्यता" (incidence) का अर्थ है द्रव्य-भार (money burden) और "कर वाह्यता" का अर्थ है कर के द्रव्य-भार का अन्तिम विश्राम स्थल (final resting point)। परन्तु तथ्य यह है कि "वाह्यता" शब्द का कोई भी स्पष्ट तथा शुद्ध अर्थ नही है और जितने लोग इस शब्द का प्रयोग करते रहे है उतने ही इसके अर्थ हैं। सेलिगमैन[2] ने इस विषय पर, जिनके विचारो ने काफी समय तक अधिकाश लेखको को प्रभावित किया है, यह दिखाने का प्रयास किया है किस प्रकार विभिन्न करों का अन्तरण (shifting) आगे की ओर तथा पीछे की ओर होता है और यह अग्रान्तरण (forward shifting) तथा पश्चान्तरण (backward shifting) वस्तुओ की कीमतों अथवा उत्पादन के उपादानो (factors of production) की कीमतो को किस प्रकार प्रभावित करता है। सेलिगमैन ने कहा है कि "वाह्यता" का अर्थ है अन्तिम करदाता पर कर के भार का

---

1 E H Plank : Public Finance, p 193, "Tax chickens finally come to roast "

2. Seligman : The shifting and Incidence of Taxation, Chapter 1. reproduced in the "Readings in Economics of Taxation."

१२

करों की वाह्यता व अन्तरण का सिद्धान्त
अथवा
करापात तथा कर विवर्तन का सिद्धान्त
(The Theory of Incidence and Shifting of Taxes)

प्रारम्भिक : कर की वाह्यता व अन्तरण से आशय :

यह समझना भी बडा आवश्यक है कि विभिन्न करो के क्या-क्या आर्थिक और सामाजिक प्रभाव पडते हैं। इनमे से कुछ प्रभाव तो प्रत्यक्ष रूप से कर की आदायगी से सम्बन्धित होते हैं जबकि अन्य कर लगाने के ही परिणाम होते हैं। करो के प्रभावो का विश्लेषण करने के लिए हमे यह निश्चय करना होगा कि :—

(क) कर को पहली बार मे ही (in the first instance) कौन अदा करता है, और

(ख) कर के भार को वास्तव मे कौन वहन करता है ?

कानून के अनुसार तो कर किसी व्यक्ति विशेष अथवा व्यावसायिक इकाई (business unit) पर पडता है और उससे ही एकत्र किया जाता है। परन्तु यह हो सकता है कि कर अदा करने वाला वह व्यक्ति अथवा व्यावसायिक इकाई कर की रकम किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यवसाय से वसूल कर ले। यदि कर का इस प्रकार अन्तरण (shifting) हो जाता है तो कहा जायेगा कि मूल करदाता (original tax payer) ने तो केवल कर-सग्रह करने वाले एजेन्ट के रूप में ही कार्य किया है। एक वास्तविक समस्या तब उत्पन्न होती है जबकि सरकार किसी व्यक्ति विशेष पर कर इस स्पष्ट इच्छा के साथ लगाती है कि उसे कर का भार वहन करना चाहिए किन्तु यदि करदाता कर की रकम को अन्य किसी व्यक्ति से एकत्र करने मे समर्थ हो जाता है अथवा कर के भार को अन्य किसी व्यक्ति पर डालने की व्यवस्था कर लेता है तो सरकार की इच्छा धरी की धरी रह जाती है। दूसरी ओर, यह हो सकता है कि सरकार किसी व्यक्ति पर कर इस उद्देश्य से लगाए कि उसके द्वारा कर किसी अन्य व्यक्ति की ओर को आन्तरित (shifs) कर दिया जायेगा; परन्तु व्यवहार मे, सम्भव है कि वह कर-भार को किसी अन्य व्यक्ति पर डालने मे समर्थ न हो सके। यहाँ भी कर प्रशासन की इच्छा, सम्भव है पूरी न हो। अत. यह स्पष्ट है कि सरकार को करो के द्रव्य-भार (money burden) की विचारधारा के बारे मे सही ज्ञान होना चाहिए।

परम्परागत दृष्टि से, कर की वाह्यता (incidence of a tax) का अर्थ यही लगाया जाता रहा है कि कर-अदायगी का प्रत्यक्ष भार अन्तिम रूप से किस पर पड़ता है। कर वाह्यता वस्तुत: उस बिन्दु अथवा स्थान की ओर सकेत करती है जहाँ कि "कर रूपी मुर्गी के बच्चे अन्तिम रूप से

सिद्धान्त मे सम्मिलित नहीं किये जाते।"[5] वाह्यता का यह विवेचन भी वैसा ही है जैसा कि सैलिगमैन तथा डाल्टन ने किया था।

यहां इस बात का उल्लेख करना भी उचित होगा कि कुछ लेखकों, विशेषत. केनन ने उपर्युक्त दृष्टिकोण मे विद्यमान कमी को प्रकाश मे लाने का प्रयत्न किया है। केनन ने कहा कि कर की वाह्यता तथा कर के प्रभावों मे भेद करना अनावश्यक है तथा स्वेच्छाचारिता का सूचक है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कर वाह्यता के विचार को रद्द कर दिया जाये और केवल कर के सामान्य प्रभावो पर ही विचार किया जाए। बाद मे इसी आलोचना को डन्कन ब्लैक ने भी अपने शब्दों मे व्यक्त किया।[6]

श्रीमती हिक्स ने औपचारिक वाह्यता (formal incidence) और प्रभावी वाह्यता (effective incidence) मे भेद किया। उनके मतानुसार, औपचारिक वाह्यता "लोगों की आमदनियों के उस अनुपात को मापती है, जो उन व्यक्तियों को आय प्रदान करता जो उन्हें वस्तुएं व सेवाएं प्रदान करते हैं बल्कि शासकीय संस्थाओं (governing bodies) को इसलिये दिया जाता है ताकि वे सामूहिक सन्तुष्टियों की वित्तीय व्यवस्था कर सकें।"[7] इन मानो मे तो, औपचारिक वाह्यता का सम्बन्ध कर के द्रव्य-भार से ही है और यह वही व्याख्या है जैसी कि सैलिगमैन और डाल्टन ने की है। श्रीमती हिक्स के अनुसार, प्रत्यक्ष करो की वाह्यता तो उन व्यक्तियों पर पड़ती है जो कि प्रारम्भिक एवं मूल रूप मे उन्हें अदा करते हैं और परोक्ष करो की वाह्यता वस्तुओं के क्रेताओं द्वारा वहन की जाती है। दूसरी ओर, प्रभावी वाह्यता का सम्बन्ध कर के विस्तृत प्रभावो मे है। श्रीमती हिक्स ने प्रभावी वाह्यता की परिभाषा इस प्रकार की है। "कर के सम्पूर्ण आर्थिक परिणामों का पता लगाने के लिए हमे दो तस्वीरें खींचनी होंगी और उन दोनों मे तुलना भी करनी होगी—एक तस्वीर तो उस आर्थिक ढांचे (अर्थात् उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं व आमदनियों के वितरण तथा उत्पादन के उपादानों के बंटवारे) की खीचनी होगी जो कि करों के लागू होने के बाद देश मे वर्तमान है और दूसरी ऐसी ही तस्वीर उस आर्थिक ढांचे (economic set up) की खीचनी होगी जो कर न लागू होने की दशा मे पाया जाता है। इन दोनों चित्रों के अन्तर को कर की प्रभावी वाह्यता कहना सुविधाजनक होगा।"[8] वाह्यता की यह विचारधारा इसके परम्परागत अर्थ से भिन्न है और इसकी विस्तृत विवेचना हम आगे चल कर करेंगे।

कर के अन्तरण की दिशाएं
(Directions of Tax Shifting)

कर के अन्तरण की विद्यमानता की अनिवार्य शर्त यह है कि कर लगी वस्तु की बिक्री अथवा अदला बदली अवश्य होनी चाहिए। कर का अन्तरण आमतौर पर कर लगी वस्तु (taxed commodity) की कीमत मे घटा बढ़ी (multipulation) करके किया जाता है परन्तु उत्पादक

---

5 Otto Von Mering "The shifting and Incidence of Taxation," p 4. "Further effects which may follow the placing of the ultimate burden of tax on certain persons or groups are not part of the theory of shifting "

6 Duncan Black Incidence of Income Tax.

7. Ursula Hicks Public Finance, p 158, "The proportion of people's incomes which goes not to provide incomes of those who furnish them with goods and services, but is paid over to governing bodies to finance collective satisfaction"

8 Mrs Hicks Public Finance, p. 159 भारत मे कराधान जांच आयोग ने भारत मे कराधान की वाह्यता के अपने अध्ययन मे श्रीमती हिक्स के अन्तर को ही स्वीकार किया है। आयोग (Commission) ने कहा है कि "औपचारिक वाह्यता करों के उस द्रव्य-भार को कहते हैं जो कि उस व्यक्ति पर पडता है जिस पर कि कर प्रशासन डालना चाहता था" और "प्रभावी वाह्यता अन्तरण के पश्चात् कर-भार के उस वास्तविक अथवा अन्तिम वितरण को कहते हैं जो कि कर लगी वस्तु अथवा सेवा की मांग और उसके सभरण की दशाओं के परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है', देखिये कराधान जांच आयोग की रिपोर्ट का पृष्ठ 45.

निश्चय या निपटारा करना।" सन् १९२७ में, कालिवन समिति ने "वाह्यता" की परिभाषा को सकुचित कर दिया। इसने सापेक्षिक उपज तथा काम मे लगे उत्पादन के उपादानो के संभरण (supply) पर पडने वाले दीर्घकालीन अथवा अन्तिम प्रभावो की बजाए केवल अल्पकालीन अथवा प्रारम्भिक वितरणात्मक परिणामों (distributional consequences) को ही इसके अर्थ मे सम्मिलित किया।

प्राचीन लेखको मे डाल्टन ही प्रमुख थे जिन्होंने कर वाह्यता की वास्तविक प्रकृति या स्वरूप को प्रकट किया और कर के प्रभावो (effects of tax) मे और उसमे स्पष्ट भेद किया। डाल्टन ने लिखा है कि "सरकार द्वारा राजस्व के रूप मे प्राप्त किये जाने वाले प्रत्येक शिलिंग के साथ ही किसी व्यक्ति को एक शिलिंग का प्रत्यक्ष द्रव्य-भार (direct money burden) अथवा उसकी कर वाह्यता वहन करनी होती है।"[3] उनके मतानुसार, कर वाह्यता की समस्या यह है कि उस व्यक्ति अथवा उन व्यक्तियो का पता लगाया जाए जिनको कि अन्तिम रूप से यह एक शिलिंग अदा करना पडता है। इसके अलावा, कर लगाने से सम्बन्धित अन्य सब बातों तथा स्थितियो को कर वाह्यता नही अपितु कर के प्रभाव कहा जा सकता है।

डाल्टन का विचार था कि कर लगाने से लोगो पर दो प्रकार का कर भार पड़ता है, अर्थात् द्रव्य-भार (mony burden) और वास्तविक भार (real burden) द्रव्य-भार कर के अंशदान की वह धनराशि है जो करदाता द्वारा सरकार को अदा की जाती है। द्रव्य-भार भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, दो प्रकार का हो सकता है। (१) प्रत्यक्ष द्रव्य भार (direct money burden) कर की उस वास्तविक धनराशि का सूचक होता है जो कि द्रव्य के रूप मे सग्रह की जाती है, कर वाह्यता की समस्या का सम्बन्ध उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियो से होता है जो कि कर का प्रत्यक्ष द्रव्य भार वहन करते हैं। कर के (२) परोक्ष द्रव्य भार (indirect money burden) का उदय तब होता है जबकि करदाता को कर की निर्धारित रकम से अधिक धनराशि देने को बाध्य कर दिया जाता है। डाल्टन के अनुसार, कर के वास्तविक भार का सम्बन्ध उस त्याग (sacrifice) से है जो कि कर लगने के बाद करदाता को करना पड़ता है। वास्तविक भार को दो किस्मों मे विभाजित किया जा सकता है—अर्थात् प्रत्यक्ष वास्तविक भार और परोक्ष वास्तविक भार। कर के प्रत्यक्ष वास्तविक भार (direct real burden) का सम्बन्ध आर्थिक कल्याण के उस त्याग से होता है जो कि कर करदाता के लिए निर्धारित करता है। दूसरी ओर परोक्ष वास्तविक भार का सम्बन्ध किसी वस्तु के उपभोग (consumption) में होने वाली उस कमी (reduction) से है जो कि कर लगने के कारण करदाता को करनी पड़ती है। डाल्टन के मतानुसार कर वाह्यता के सिद्धान्त के विषय-क्षेत्र (subject matter) मे केवल प्रत्यक्ष द्रव्य-भार के अध्ययन को ही शामिल किया जाता है। अन्य सभी भारों (burdens) का सम्बन्ध करो के प्रभावो से हैं, कर वाह्यता से नहीं। एक सरल उदाहरण द्वारा इसको समझा जा सकता है। यदि सिगरेटो पर लगाया जाने वाला कर अन्तिम उपभोक्ताओ (final consumers) से सग्रह कर लिया जाता है तो कहा जायेगा कि कर की वाह्यता (incidence of the tax) उपभोक्ताओ पर ही है किन्तु यदि कर लगने के कारण सिगरेटो के उपभोग मे कमी को और अन्त मे उनके उत्पादन मे कमी को प्रोत्साहन मिलता है, तो स्पष्ट रूप से इसे कर का प्रभाव ही कहा जायेगा।

प्रो० आर० ए० मुसग्रेव के अनुसार, "कर की वाह्यता जिसका सामान्य रूप मे प्रयोग होता है, कर के अन्तिम या प्रत्यक्ष मौद्रिक भार के स्थान से सम्बन्धित होती है।"[4] प्रो० मेहता एवं अग्रवाल के शब्दो मे, "कर का भार एक कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार है।"

थोन मेरिंग ने वाह्यता की परिभाषा कर के अन्तिम भार के स्थान निर्धारण के रूप मे की है। "कर के अन्तिम भार का स्थान-निर्धारण करते समय उसके साथ ही कुछ व्यक्तियों अथवा व्यक्तियो के समूहो पर कर के जो अतिरिक्त प्रभाव पडते हैं वे करान्तरण (tax shifting) के

3. Hugh Dalton: Public Finance, p. 36, "To every shilling of revenue raised, there corresponds a shilling of direct money burden or incidence falling upon someone."

4. R. A. Musgrave: "The term incidence as commonly used refers to the location of the ultimate or direct money burden of the tax as such."

करने का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही साथ, क्रेता उस वस्तु की माँग पर अपने नियन्त्रण द्वारा कर के *अन्तरण का प्रतिरोध करते हैं। अतः इस स्थिति में, किये गये अन्तरण की मात्रा तथा* उसका स्वरूप क्या होगा, यह बात विभिन्न पक्षों की अपनी-अपनी सौदा-शक्ति (bargaining power) पर निर्भर होगी और दोनों पक्षों की सौदा-शक्ति कर लगी वस्तु की माँग व उसके *समरण की लोच (elasticity) पर निर्भर होगी अथवा इससे प्रतिबन्धित होगी।*

कर की वाह्यता को प्रवाहित करने वाले दो सिद्धान्तों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता हैं। वे हैं : (क) यदि अन्य बातें समान रहे तो कर लगी वस्तु के लिए माँग की लोच जितनी अधिक होगी, कर की वाह्यता उतनी ही अधिक विक्रेता पर होगी, और (ख) सभरण की लोच जितनी अधिक होगी, वाह्यता उतनी ही अधिक क्रेताओं पर होगी। अब हम इन दोनों ही सिद्धान्तों पर विस्तार से विचार करते हैं।

माँग का योगदान और वाह्यता (Role of Demand and Incidence)

किसी वस्तु की माँग को लोचदार (elastic) तब कहा जाता है जबकि वस्तु की कीमत मे जरा-सा भी परिवर्तन होने पर उपभोक्ता द्वारा खरीदी जाने वाली उसकी मात्रा मे उल्लेखनीय परिवर्तन होते हैं। वस्तु की माँग को बेलोचदार (inelastic) तब कहा जाता है जबकि वस्तु की कीमत मे काफी परिवर्तन होने पर भी उसकी माँग में अधिक परिवर्तन न हो। माँग की अधिक लोचहीनता को प्रेरित करने वाले तत्व हैं—स्थानापन्न वस्तुओं (substitutes) का अभाव, रिवाजी उपयोग (customary use), नीची कीमतें तथा लगातार बार-बार खरीदारी करना। इसके सुन्दर उदाहरण हैं—नमक, चीनी, तम्बाकू, चाय आदि। यदि कोई विक्रेता देखता है कि वस्तु की माँग बेलोच है तो वस्तु की कीमत बढ़ाकर कर का द्रव्यभार उपभोक्ताओं पर डाल देना उसके लिए बड़ा सरल होता है। दूसरी ओर, यदि वस्तु की माँग लोचदार होती है—आरामदायक एवं विलासिता की वस्तुएँ इसके उदाहरण हैं—तो विक्रेता वस्तु के मूल्य में वृद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि यदि वह ऐसा करता है तो उस वस्तु की माँग मे काफी कमी हो जायेगी, कर का भार उठाने वाले विक्रेता को इसके कारण जो हानि होती है, वस्तु की मात्रा में कमी उससे भी अधिक होती है। इस प्रकार, कर की वाह्यता आंशिक रूप से माँग की प्रकृति पर निर्भर होगी। माँग की लोचहीनता (inelasticity) जितनी अधिक होगी, उपभोक्ता पर कर वाह्यता के अन्तरण की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी, दूसरी ओर, माँग की लोचशीलता (elasticity) जितनी अधिक होगी, कर वाह्यता उतनी ही अधिक विक्रेता (sellers) पर होगी। निम्नलिखित दो रेखाचित्रों (diagrams) में माँग के लचीलेपन की दो चरम स्थितियाँ (extremes) दिखाई गई हैं। यहाँ यह मान लिया गया है कि वस्तु के सभरण की मात्रा निश्चित है।
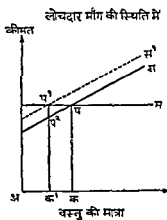
चित्र—१
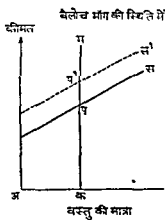
चित्र—२

कर लगी वस्तु की किस्म (quality) अथवा मात्रा(quantity) मे कमी करके भी कर के भार को अन्तरित (shift) कर सकता है। अर्थशास्त्रियो ने करान्तरण (tax shifting) की इन दिशाओं को अग्रान्तरण (forward shifting), पश्चान्तरण (backward shifting) तथा इन दोनो के सम्मिलित अन्तरण का नाम दिया है। **अग्रान्तरण अथवा आगे की ओर अन्तरण**—जो कि कर के अन्तरण का सबसे अधिक सामान्य रूप है—तब हुआ माना जाता है जब किसी वस्तु का उत्पादक (producer) कर के द्रव्य भार को किसी भी अन्य व्यक्ति पर, उदाहरणत. थोक व्यापारी पर पूरी तरह डाल देने मे सफल हो जाता है और थोक व्यापारी उसे फुटकर व्यापारी पर डालता है और वह उसे आखिर मे अन्तिम उपभोक्ता की ओर अन्तरित (shift) करने मे सफल हो जाता है। आगे की ओर अन्तरण मे, या तो कीमत इस प्रकार बढाई जाती है अथवा वस्तु की मात्रा अथवा किस्म मे इस प्रकार कमी की जाती है कि करो की सम्पूर्ण रकम मूल करदाताओं (original tax payers) से अन्य किसी भी व्यक्ति की ओर अन्तरित हो जाती है। **पश्चान्तरण अथवा पीछे की ओर अन्तरण** तब होता है जब किसी वस्तु पर लगाया गया कर उत्पादन के उपादानों (factors of production) की ओर को अन्तरित कर दिया जाता है। यदि किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो क्रेता विक्रेता को इस बात के लिए बाध्य करने का प्रयत्न कर सकता है कि वह अपेक्षाकृत कम कीमत वसूल करे। मान लीजिए किसी वस्तु के थोक वितरणकर्त्ता (wholesale distributor) पर कर लगाया जाता है, तो थोक व्यापारी उत्पादक को अपेक्षाकृत कम कीमत लेने को बाध्य कर सकता है। इसी प्रकार जब किसी वस्तु के उत्पादक पर कर लगाया जाता है तो वह इस बात का प्रयास कर सकता है कि अपने मजदूरो को पहले से कम मजदूरी लेने को बाध्य करे अथवा उत्पादन के उपादानों के अन्य स्वामियो को पहले से कम पारिश्रमिक (lower remuneration) लेने को बाध्य करे। इस प्रकार, पीछे की ओर अन्तरण तब हुआ माना जाता है जबकि उस वस्तु की कीमत तो पूर्ववत् रहती है जिस पर कर लगाया जाता है और कर का भार या तो विक्रेता को अथवा उत्पादन के उपादानो को वहन करना होता है। तथापि, पीछे की ओर का अन्तरण इतना प्रचलित नही है जितना कि आगे की ओर अन्तरण। अन्त मे **अग्रान्तरण और पश्चान्तरण का सम्मिलित** रूप तब पाया जाता है जब उत्पादक किसी कर लगी वस्तु के कर के द्रव्य-भार का कुछ भाग तो कीमत मे आंशिक वृद्धि करके उपभोक्ताओ की ओर को अन्तरित कर देता है और कुछ भाग उत्पादन के उपादानो के स्वामियो की ओर को, उन्हे पहले से कम मजदूरी स्वीकार करने को बाध्य करके अन्तरित कर देता है। यह भी सभव है कि उत्पादक कर लगी वस्तु के कर के द्रव्य-भार का कुछ अश स्वय ही वहन करे (ऐसा तब होता है जबकि वह कर-भार को आगे की और अथवा पीछे की ओर अन्तरित करने मे पूर्णतया सफल नही होता)।

कर के अन्तरण तथा कर की वाह्यता से सम्बद्ध कारण
(Factors Involved in Tax Shifting and Incidence)

किसी वस्तु पर लगाये गये कर का द्रव्य-भार क्रेताओ की ओर पूर्णतया या अशतया अन्तरित होता है अथवा *बिल्कुल अन्तरित नही होता—यह बात कई कारणो* पर निर्भर है। इन कारणो का वर्गीकरण बडी सरलता से इन दो विस्तृत शीर्षकों (heads) के अन्तर्गत किया जा सकता है: (क) वे कारण अथवा तत्व (factors) जो कर लगी वस्तु की कीमत के निर्धारण को अर्थात् वस्तु की मांग और उसके सभरण को प्रभावित करते हैं, और (ख) वे कारण जो कर की प्रकृति, उसकी देयता (impact) तथा सरकारी नीति से सम्बन्ध रखते है।

कर का अंतरण तथा कर की वाह्यता मूल्य-निर्धारण की समस्या के ही अंग हैं और इसी कारण ये मांग (demand) और संभरण (supply) की शक्तियों पर निर्भर रहते हैं। यदि कीमतो पर करो का कोई प्रभाव नही होता है तो करो के भार का अन्तरण नही होगा, इस स्थिति मे, वस्तुतः, करान्तरण अथवा कर वाह्यता का कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होगा। अतः वे सभी कारण अथवा तत्व, जिन पर किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण निर्भर होता है, करान्तरण तथा कर वाह्यता को भी प्रभावित करते हैं और ये तत्व और कुछ नही, मांग और सभरण की शक्तियाँ ही है। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु की कीमत तभी प्रभावित हो सकती है जबकि मांग की या सभरण की अथवा इन दोनो की ही शक्तियो को प्रभावित किया जाए। विक्रेता कर लगी वस्तु के सभरण (supply) पर अपना नियन्त्रण स्थापित करके कर की वाह्यता को उपभोक्ताओ की ओर अन्तरित

पिछले पृष्ठ पर दिया गया रेखाचित्र माँग की लोच की विभिन्न किस्मो के अन्तर्गत कर के अन्तरण तथा कर की वाह्यता को प्रकट करता है :—

चित्र न० ३ मे तीन माँग वक्र (demand curves) दी गई हैं। म' सबसे अधिक लोचदार (most elastic) और म' सबसे कम लोचदार है। स रेखा कर के पूर्व की सभरण वक्र (supply curve) को और स' रेखा कर लगाने के बाद की सभरण वक्र को प्रदर्शित करती है। प्रथम स्थिति मे जबकि माँग कम लोचदार है, कर का त'य' भाग उपभोक्ताओं द्वारा अदा किया जाता है और शेष भाग अर्थात् य'ब' विक्रेताओ द्वारा वहन किया जाता है। दूसरी स्थिति मे, उपभोक्ताओ पर पड़ने वाला भार कम है (त'य' रेखा त'य' रेखा से छोटी है) और विक्रेताओ द्वारा वहन किया जाने वाला द्रव्य-भार अपेक्षाकृत अधिक है तीसरी स्थिति मे, उपभोक्ताओ द्वारा वहन किया जाने वाला द्रव्य-भार न्यूनतम है और उत्पादकों द्वारा वहन किया जाने वाला भार अधिकतम है। यदि हम एक ऐसी माँग वक्र और खीच दें जो पूर्णतया लोचदार हो तो कर का सम्पूर्ण द्रव्य-भार (money burden) स्वय उत्पादकों द्वारा ही वहन किया जायेगा।

अब हम कर की वाह्यता पर माँग की लोच के प्रभाव को निम्न शब्दो मे व्यक्त कर सकते हैं :—

(क) यदि माँग पूर्णतया लोचदार (perfectly elastic) है तो कर की सम्पूर्ण वाह्यता विक्रेता पर पड़ेगी।

(ख) यदि माँग पूर्णतया बेलोच (perfectly inelastic) है तो सम्पूर्ण वाह्यता क्रेता पर पड़ेगी।

(ग) माँग की लोच जितनी अधिक होगी, करवाह्यता उतनी ही अधिक विक्रेता (seller) पर पड़ेगी।

(घ) माँग का बेलोचपन जितना अधिक होगा करवाह्यता उतनी ही अधिक क्रेता (buyer) पर पड़ेगी।

करान्तरण (shifting) तथा करवाह्यता (incidence) अन्य कई बातो पर भी निर्भर हो सकती है जैसे कि माँग की नियमितता (regularity), कुल माँग की स्तर और रूढ़िगत मूल्यों (charm prices) की विद्यमानता। यदि किसी वस्तु के लिए उपभोक्ता की माँग अनियमित है तो कर-भार को उपभोक्ता पर डालना बड़ा कठिन हो जायेगा। फिर यदि राष्ट्रीय आय (national-income) और कुछ माँग (aggregate demand) के स्तर मे वृद्धि हो रही है तो कर का अन्तरण करना सरल हो जायगा। दूसरी ओर, यदि राष्ट्रीय आय और कुल माँग के स्तर मे कमी हो रही है तो करो का अन्तरण करना कठिन होगा। इस प्रकार कुछ करों का अन्तरण तथा उनकी वाह्यता प्रत्यक्ष रूप से कुल माँग के स्तर तथा राष्ट्रीय आय के रुख पर निर्भर होते है। अन्त मे, सामान्य उपभोग की अनेक वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी कीमतें स्थायी एव रूढ़िगत (customary) बन जाती हैं। इन वस्तुओ की उपभोक्ता की माँग इन रूढ़िगत स्थिर कीमतो के चारो ओर मडराती है। ऐसे मामलो मे कर का अन्तरण (shifting) करना कठिन हो जाता है बशर्ते कि वस्तु की किस्म (quality) ही न गिरा दी जाए और ऐसा करना भी उस समय कठिन हो जायेगा जबकि उपभोक्ता प्रत्येक वस्तु की निश्चित किस्म चाहेगे। अत रूढ़िगत मूल्यो वाली वस्तुओ के मामले मे, कर भार सामान्यत विक्रेताओ को ही वहन करना होता है।

सम्भरण का योगदान और कर की वाह्यता (Role of Supply and Incidence of Tax) :

कर का अन्तरण तथा कर की वाह्यता वस्तु के सम्भरण (supply) पर भी निर्भर होते हैं। जहाँ तक किसी कर लगी वस्तु के सम्भरण का प्रश्न है, कर का अन्तरण करने की दो रीतियाँ काम मे लाई जाती हैं। इनमे सबसे अधिक प्रचलित रीति है अग्रान्तरण अथवा आगे की ओर अन्तरण (forward shifting) की जिसके अन्तर्गत वह विक्रेता अथवा उत्पादक, जिस पर कर लगाया जाता है, वस्तु की कीमत मे कर की पूरी रकम के बराबर वृद्धि कर देता है और इस प्रकार कर-भार को कर लगी वस्तु के क्रेताओ (buyers) की ओर को अन्तरित कर देता है। दूसरी रीति मे, जिसे कि पश्चान्तरण अथवा पीछे की ओर अन्तरण (backward shifting) कहा

दोनो ही चित्रों मे म रेखा माँग वक्र (demand curves) की सूचक है और स रेखा कर से पूर्व सभरण वक्र (supply curves) की तथा स' रेखा कर के बाद की सभरण वक्र की सूचक है। इन दोनो ही सभरण वक्रो का अन्तर प्रति इकाई (per unit) कर की धनराशि को प्रकट करता है, सभरण की ये दोनों ही वक्र रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर (parallel) हैं और उनकी यह स्थिति प्रकट करती है कि प्रति इकाई कर की धनराशि समान ही है चाहे कुल उत्पादन कितना भी क्यो न हो। कर से पूर्व, सन्तुलन कीमत (equilibrium price) पक थी और सन्तुलन मात्रा (equilibrium quantity) अक। कर के लगने के पश्चात् नई कीमत प' है। प्रथम चित्र मे जहाँ कि माँग वक्र पूर्णतया लोचदार (perfectly elastic) है, नई कीमत पुरानी कीमत के बराबर है (पक=प'क')। कर लगने के बावजूद चूँकि वस्तु की कीमत पूर्ववत् रहती है अत कर के द्रव्य-भार का अन्तरण नही होता है और कर की वाह्यता विक्रेता पर ही रहती है। यह ध्यान देने की बात है कि चित्र न० १ मे उपभोक्ता द्वारा अदा की जाने वाली कीमत प'क' मे से विक्रेता (seller) को केवल प'क' ही मिलती है। दूसरे चित्र मे, जहाँ कि माँग वक्र पूर्णतया बेलोच (perfectly inelastic) है, वस्तु का मूल्य कर की पूर्ण धनराशि की बराबर मात्रा मे बढ जाता है, (प'प कर की धनराशि है)। इस स्थिति मे, वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा मे कोई परिवर्तन नही है और विक्रेता अपनी प्रारम्भिक कीमत पक पूर्ववत् वसूल कर रहा है। अत. अब करवाह्यता उपभोक्ता पर अन्तरित हो गई। इस प्रकार, उस स्थिति मे जबकि वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार होती है, कर-भार विक्रेता पर पडता है और माँग के पूर्णतया बेलोच होने पर कर का भार उपभोक्ता पर पडता है। इन दोनो मे ही पूर्णतया विपरीत स्थितियो मे कर-भार दोनो ही वर्गों के बीच बँट जायेगा। यदि माँग अधिक लोचदार (more elastic) है, तो उपभोक्ता की ओर को अन्तरित हो सकने वाला द्रव्य-भार कम होगा और विक्रेता को द्रव्य-भार का एक बडा भाग स्वय वहन करना होगा। दूसरी ओर, यदि माँग अधिक बेलोच (more inelastic) है तो करवाह्यता अधिकतर उपभोक्ता पर ही होगी और विक्रेता कर के द्रव्य-भार का केवल थोडा अनुपात ही वहन करेंगे।
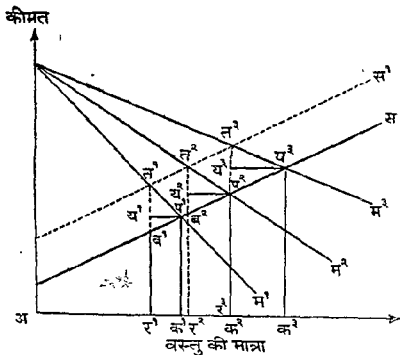
चित्र—३

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत (under perfect competition)—यहाँ उन तत्वों एव दशाओ का उल्लेख करना भी बडा महत्वपूर्ण है जिन पर कि सभरण का लोच निर्भर करता है। जैसा कि हम पहले बतला चुके है, सभरण की लचक या लोच से आशय यह है कि कीमतो मे परिवर्तन होने पर वस्तु के सभरण मे कहाँ तक परिवर्तन होता है। सभरण की लोच निम्न तत्वो पर निर्भर कही जा सकती है (क) उत्पादन की प्रकृति और मूल्य निर्धारित करने की दशाएँ, तथा (ख) लागत (cost) की परिस्थितियो का स्वरूप। पूर्ण अथवा शुद्ध प्रतियोगिता की दशा के अन्तर्गत, फर्मो की सख्या अगणित होती है और वस्तु के मूल्य का निर्धारण समस्त उद्योग (entire industry) द्वारा होता है, इसमे व्यक्तिगत किसी उत्पादक अथवा विक्रेता का मूल्य पर कोई प्रभाव अथवा नियन्त्रण नही होता। परिणामस्वरूप, इस स्थिति मे फर्म के लिए, यह संभव नही हो सकेगा कि वह अल्पकाल मे, मूल्य मे कोई परिवर्तन कर सके। लेकिन दीर्घकाल मे चूँकि लागतो (costs) मे वृद्धि हो जायेगी, अत मूल्य वृद्धि की दिशा मे कुछ हेर-फेर करना आवश्यक हो जायेगा इसके फलस्वरूप, कर का भार भी क्रेताओ की ओर को अन्तरित हो जायेगा। परन्तु ऐसे अन्तरण का एक अनिवार्य परिणाम यह होगा कि पूँजी, श्रम तथा उत्पादन के अन्य साधन इस उद्योग से अन्य उद्योगो मे स्थानान्तरित हो जायेंगे। ऐसा इसलिये होगा क्योकि कर लगी वस्तु की बिक्री मे कमी हो जायेगी।

एकाधिकार के अन्तर्गत (under monopoly)—पूर्ण एकाधिकार के अन्तर्गत, फर्म को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह संभरण पर अपने नियन्त्रण द्वारा वस्तु की कीमत मे वृद्धि कर सकती है। एकाधिकारी व्यक्ति तो केवल एक बात से प्रभावित होगा, और वह यह है कि उसके लिये क्या अच्छा है—कर का अन्तरण (shifting) करना अच्छा है या उसको स्वय ही वहन कर लेना अच्छा है। यदि कर एक मुश्त रकम के रूप मे लगाये जाएँ तो बात और है। वरना तो एकाधिकार के अन्तर्गत कुछ अन्तरण अवश्य होता है। इसके अन्तर्गत वस्तु की कीमत कितनी बढ़ेगी, यह मांग की लचक पर तथा साथ ही लागत की वक्र रेखाओं (cost curves) की लचक पर निर्भर होता है। निम्न दोनो चित्रो मे एकाधिकार पर लगाये जाने वाले कर प्रदर्शित किये गये हैं :—
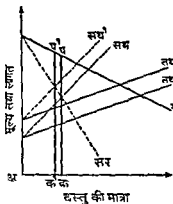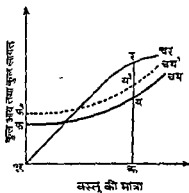
चित्र—६ चित्र—७

चित्र न० ६ मे, वस्तु की कर से पूर्व की कीमत क प है जो कि स य और स र की समानता पर आधारित है। वस्तु पर कर लगने से उसकी उत्पादन-लागत (cost of production) बढती है अत: तय' और तय' कर लगने के बाद की नई लागत वक्र रेखाएँ (cost curves) हैं। वस्तु की नई कीमत क'प' है जो कि पुरानी कीमत कप से अधिक है। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि कीमत मे जो वृद्धि हुई है वह कर की पूरी रकम के बराबर नहीं है, बल्कि कम है। वस्तुतः एकाधिकारी कीमत मे कितनी वृद्धि होगी, यह बात मांग की वक्ररेखा (demand curve) की लोच (elasticity) पर निर्भर करेगी।

जाता है, उत्पादक यह प्रयत्न करता है कि कर-भार (tax burden) को उत्पादक के उपादानो के स्वामियों की ओर अन्तरित कर दे। अपने इस प्रयत्न के अन्तर्गत वह उन्हे अपने साधनो की कम कीमत स्वीकार करने को बाध्य कर सकता है। इस स्थिति मे, वस्तु की कीमत पूर्ववत् रहती है और अन्तिम उपभोक्ता को इस विषय मे कोई शिकायत नही होती। तथापि, इसमे उत्पादक कर के बराबर धनराशि किसी से प्राप्त नही करता, बल्कि श्रम तथा उत्पादन के अन्य साधनो को प्रदान करने वाले व्यक्तियो को इस बात के लिए बाध्य करता है कि वे अपने साधनो अथवा उपादानो (factors) की अपेक्षाकृत कम कीमतें स्वीकार कर लें। पीछे हम यह बतला चुके है कि मांग की सामान्य स्थिति, विशेष रूप से मांग की लोचशीलता (elasticity of demand) किस प्रकार करान्तरण की वाञ्छनीयता (desirability) तथा दिशा को प्रभावित करती है। तथापि, लघुमार्ग के करान्तरण (short run shifting) की सम्भावना तथा कर की अन्तिम वाह्यता सम्भरण की मूल दिशा (basic situation) पर निर्भर होती है। वस्तु के *सम्भरण से आशय कर लगी वस्तु की उन विभिन्न किस्मो की मात्रा से है जो कि अनेक सम्भावित* कीमतो पर बाजार मे बिक्री के लिए प्रस्तुत की जायेंगी। वस्तु का सम्भरण लोचदार (elastic) भी हो सकता है और बेलोच (inelastic) भी। यदि किसी वस्तु का सम्भरण लोचदार है तो, अन्य बातें समान रहने पर, कर का भार क्रेता पर पड़ेगा। दूसरी ओर, यदि कर किसी ऐसी वस्तु पर लगाया जाता है जिसका सम्भरण बेलोच अथवा स्थिर है तो कर की वाह्यता विक्रेता पर पड़ेगी। ये दोनो ही बातें निम्न रेखाचित्रो में दिखाई गई है :—
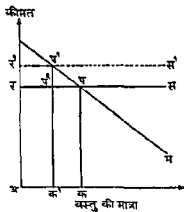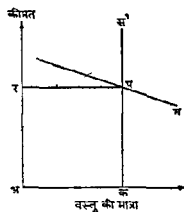
चित्र—४ चित्र—५

चित्र नं० ४ मे, जहाँ सम्भरण वक्र (supply curve) पूर्णतया लोचदार है, वस्तु के मूल्य मे कर की पूरी रकम (प'प') के बराबर वृद्धि हो गई है, अत इस स्थिति मे कर की वाह्यता क्रेता पर पड़ेगी। चित्र नं० ५ मे, चूँकि सम्भरण वक्र पूर्णतया बेलोच है, अत कर लगने के बावजूद वस्तु की कीमत पूर्ववत् रहेगी और कर की सम्पूर्ण रकम का बोझ स्वय विक्रेता को उठाना होगा। यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि कर लगने से सम्भरण (supply) की कोई नई वक्र रेखा (new curve) नही बनती क्योकि बेलोच सम्भरण की स्थिति मे वस्तु की मात्रा (quantity), जिसका कि संभरण किया जा सकता है निश्चित अथवा स्थिर (fixed) होती है। ऊपर के चित्र मे यह अ क है। इस प्रकार, यदि वस्तु का संभरण यदि पूर्णतया लोचदार (perfectly elastic) होता है, तब तो कर की वाह्यता क्रेता पर पड़ती है, और वस्तु का सभरण पूर्णतया बेलोच होने की स्थिति मे, यह विक्रेता पर पड़ती है। इन दोनों ही विपरीत स्थितियो में अनेक संभावनाएँ होती हैं। वस्तु के सभरण की लोचशीलता जितनी अधिक होगी, कर की वाह्यता उतनी ही अधिक उपभोक्ता (consumer) पर पड़ेगी (उसका केवल थोड़ा-सा भाग ही विक्रेताओ द्वारा वहन किया जायेगा), और दूसरी ओर संभरण की लोचहीनता जितनी अधिक होगी, कर की वाह्यता उतनी ही अधिक विक्रेता पर पड़ेगी।

बात पर जोर देता है कि राजकोषीय नीति के द्वारा राज्य को धनिकों के पास से निर्धनों की ओर को धन का स्थानान्तरण इस उद्देश्य से करना चाहिए कि जिससे समुदाय (community) के सामाजिक कल्याण मे अधिकतम वृद्धि की जा सके। इसके बाद कीन्स (Keynes) तथा हैन्सन (Hansen) ने 'नवीन अर्थशास्त्र' (new economics) का प्रतिपादन किया जो कि मुख्यतः लोकवित्त की ही एक नई विचारधारा है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि उपभोग मे स्थायित्व लाने तथा उसका नियमन (regulate) करने के लिए राजकोषीय नीति के द्वारा क्षतिपूरक कार्यवाही (compensatory action) की जाय। उनकी धारणा थी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था (capitalist economy) इस दिशा में स्वयं कार्य नहीं कर सकती। अत अर्थव्यवस्था के उद्धार के लिए राज्य को आगे आना ही होगा। लोकवित्त की कीन्स की विचारधारा को ए० पी० लर्नर (A. P. Lerner) ने 'क्रियाशील वित्त' (functional finance) का नाम दिया है। क्रियाशील वित्त से आशय उस पद्धति से है जिसके अन्तर्गत राजकोषीय उपायों (fiscal measures) का मूल्यांकन उन कार्यों के द्वारा किया जाता है जो कि अर्थव्यवस्था मे क्रियाशील रहते हैं। क्रियाशील वित्त कराधान सरकारी व्यय तथा सरकारी ऋण की राजकोषीय कार्यवाही मे कमी करके नीति-सम्बन्धी कार्यवाहियाँ बढ़ा देता है जिससे देश मे मुद्रा की मात्रा को प्रभावित किया जा सके तथा कुल माँग में वृद्धि हो सके। उदाहरण के लिए, क्रियाशील वित्त के अनुसार, कराधान (taxation) का मुख्य कार्य राज्य के लिए धन एकत्र करना नहीं है बल्कि एक ऐसा अस्त्र बनाना है जिसके द्वारा लोगों की क्रयशक्ति कम की जा सके। इसी प्रकार, सरकारी व्यय का मुख्य उद्देश्य कुल माँग की मात्रा को इस प्रकार प्रभावित करना है कि जिससे वह कुल पूर्ति (aggregate supply) के बराबर हो जाय।[9]

अन्त मे एक विचारधारा 'सक्रियकारी वित्त'[10] (activating finance) की है जो क्रियाशील वित्त से भिन्न है। क्रियाशील वित्त (functional finance) इस मान्यता (assumption) को लेकर चलता है कि व्यय अपूर्ण (deficient) हुआ करता है और इसी कारण माँग तथा उत्पादन के बीच अन्तर रहता है। दूसरी ओर, सक्रियकारी वित्त इस मान्यता को लेकर चलता है कि राष्ट्रीय आय प्रत्येक समय और सभी स्थानों पर बचत तथा विनियोग की कार्यवाहियों का परिणाम होती है, और यदि लोग गरीब होते हैं तो इसलिए कि राष्ट्रीय आय की मात्रा कम है। राष्ट्रीय आय की मात्रा मे वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि साधनों का अनुकूलतम बँटवारा किया जाय। अर्थात् यह कि सभी सम्भाव्य (potential) तथा ऐसे सम्पूर्ण साधनों (resources) को काम मे लगा दिया जाना चाहिए जिन्हें कि काम मे लगाया जा सकता है, और यही नहीं, उन्हे सर्वोत्तम सम्भव तरीके से काम में लगाया जाना चाहिए। सक्रियकारी वित्त यह आशा करता है कि राज्य ऐसे राजकोषीय समायोजन (fiscal adjustments) करे कि विनियोग (investment) का एक प्रवाह चालू हो जाय और उससे साधनों का अनुकूलतम बँटवारा हो सके। क्रियाशील वित्त ने जहाँ व्यय (spending) को अपना प्रस्थान बिन्दु (starting point) माना है, वहाँ सक्रियकारी वित्त ने

---

9. ए० पी० लर्नर ने क्रियाशील वित्त (functional finance) की व्याख्या इस प्रकार की है, "क्रियाशील वित्त 'ठोस वित्त' (sound finance) के परम्परागत सिद्धान्तों को पूर्णतया अस्वीकार करता है ''''''''यह सर्वप्रथम, (अर्थव्यवस्था में सरकार सहित प्रत्येक के द्वारा किये जाने वाले) कुल व्यय का इसलिए समायोजन (adjustment) करता है कि जिससे बेरोजगारी तथा मुद्रा-स्फीति, दोनों को ही दूर किया जा सके, और जब कुल व्यय अत्यधिक हो तो उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सरकारी व्यय का भी प्रयोग करता है। दूसरे, यह सरकारी उधार अथवा ऋण की वापसी के द्वारा धन के सार्वजनिक संग्रह तथा सरकारी बॉण्डों का इसलिए समायोजन करता है कि जिससे ब्याज की एक ऐसी दर प्राप्त की जा सके जो धन की सर्वाधिक वांछनीय मात्रा उपलब्ध कराये—उतनी मात्रा जो कार्यक्रम के प्रथम दो भागों को पूरा करने के लिए आवश्यक हो।"

10. This truth was used by Dr Baljit Singh, for the first time

चित्र न० ७ मे, खडी रेखा अ ई कुल आय (total revenue) तथा कुल लागत (total cost) को प्रकट करती है । कुल लागत की वक्र रेखा फ से आरम्भ होती है क्योंकि अ फ को कुल स्थिर लागत मान लिया गया है । कर से पूर्व अ क उपज पर अधिकतम लाभ र य है । एक मुश्त रूप मे लगाया गया कर फ फ' है और एकाधिकारी फर्म द्वारा यह धनराशि अवश्य ही अदा की जायेगी, चाहे वह उत्पादन कितना ही क्यों न करें । इस स्थिति मे भी, उपज की सर्वोत्तम मात्रा अ क ही होगी क्योंकि कर को एक मुश्त रकम की अदायगी के बाद अधिकतम एकाधिकारी शुद्ध आय (highest monopoly net revenue) र य' होगी । इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु की कीमत अथवा मात्रा मे कोई परिवर्तन नही है और कर द्रव्य-भार को स्वय एकाधिकारी (monopolist) ने ही वहन कर लिया है ।

द्वियाधिकार (duopoly) तथा अल्पाधिकार (oligopoly) के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण का कार्य मूल्य-नेता अर्थात बडी एव शक्तिशाली फर्म द्वारा किया जाता है । अल्पाधिकार की दशा मे जहाँ यह हो सकता है कि अनेक फर्मे हो, किन्तु मूल्य नेता के रूप मे कार्य एक या दो ही करती हैं वह कर जो कि मूल्य नेताओ (price leaders) की उत्पादन-लागतो को प्रभावित करता है, अन्तरित (shift) किया जा सकता है बशर्ते कि माँग ही अत्यधिक लोचदार (highly elastic) न हो । इसके विपरीत उस कर का आसानी से अन्तरण नही किया जा सकता जो कि केवल छोटी फर्मों की लागत वक्र रेखाओ (cost curves) को ही प्रभावित करता है छोटी फर्मे कीमत को इसलिए प्रभावित नही कर सकती क्योंकि उन्हे तो मूल्य-नेता अर्थात् बड़ी तथा अधिक शक्तिशाली फर्म द्वारा निर्धारित कीमत का ही अनुसरण करना होता है अतः उन्हे अपने ऊपर पडने वाले कर-भार को स्वीकार करना होता है । अब यदि कर थोड़ा है और यदि यह इन फर्मो के अधिसामान्य लाभों (super-normal profits) का केवल कुछ भाग ही लेता है तब तो ये फर्मे निस्सदेह बिना किसी कठिनाई के कर का बोझ उठा लेंगी । परन्तु यदि कर लाभो का अधिकाश भाग ले लेता है, तो चू कि ये फर्मे अनिवार्यत: ही क्षेत्र से हट जायेंगी । अत. कर का भार उपभोक्ताओ की ओर को अन्तरित हो जायेगा ।

लागत सम्बन्धी विभिन्न दशाएँ (*Different Cost Conditions*)

इस प्रकार, करो का अन्तरण (shifting) तथा उनकी वाह्यता (incidence) उत्पादन की प्रकृति पर तथा विभिन्न प्रकार के उद्योगो की मूल्य सम्बन्ध दशाओ पर निर्भर होते हैं । तथापि ऊपर हमने जो व्यापक निष्कर्ष निकाले हैं उनमे फर्मो की लागत वक्र रेखाओ (cost curves) की प्रकृति को भी सम्मिलित करना होगा, अन्यथा वे निष्कर्ष अपूर्ण ही रहेगे । प्रथम उदाहरण के रूप मे बँधी अथवा स्थिर लागत (fixed costs) और घटती-बढती लागत (variable cost) के बीच सम्बन्ध पर भी जोर देना होगा । यदि किसी उद्योग मे मशीनरी, सयन्त्र, भवन व सामग्री आदि के रूप में स्थिर पूँजी (fixed capital) अधिक मात्रा में चाहिए, तो यह स्वाभाविक है कि उसमे कुल लागतो का एक बड़ा अनुपात बँधी अथवा स्थिर लागतो का ही होगा । ऐसी स्थिति मे, दो महत्वपूर्ण विशिष्टताएँ दृष्टिगोचर होंगी । एक तो यह कि जैसे-जैसे कुल उपज मे वृद्धि होगी, घटती-बढ़ती लागतो के मुकाबले स्थिर लागतो की ऊँची दरो के परिणामस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन घटती लागत (decreasing cost) पर प्राप्त होगा । दूसरे, पूँजी को सम्भावित वैकल्पिक उपयोगो मे स्थानान्तरित करना कठिन होगा । फलस्वरूप, यदि ऐसे उद्योग पर लगाये गये कर का अन्तरण किया जाता है तो उससे कीमतो मे वृद्धि होगी, बिक्री कम हो जायेगी और लागतें भी बढ जायेंगी (*जब कुल उपज बढाई जायेगी तो लागत अपने आप ऊँची हो जायेगी*) । अत: जो फर्मे घटती लागत के अन्तर्गत उत्पादन कर रही होती हैं, उनके द्वारा यदि कर का अन्तरण किया जाता है तो उससे कीमत मे कर की रकम से भी अधिक वृद्धि हो जाती है ।

दूसरी ओर, यदि किसी उद्योग मे ऐसी फर्मे कार्य कर रही है जिनमे पूँजी व संयन्त्र आदि का विनियोग थोड़ी मात्रा मे हुआ और जिनमे बँधी लागतो के मुकाबले घटती-बढती लागतो का अनुपात अधिक है तो आमतौर पर प्रति इकाई उत्पादन स्थिर लागत (constant cost) अथवा बढती लागतो (rising costs) पर प्राप्त होगा । ऐसी स्थिति मे, यदि कर लगाया जाता है तो उससे श्रम व पूँजी अन्य उद्योगों की ओर अपेक्षाकृत अधिक आसानी से स्थानान्तरित हो जायेगी ।

परिणामस्वरूप, उस उद्योग के लिए कर का अन्तरण करना सरल होगा। इसके अतिरिक्त, चूँकि उत्पादन की लागत-वक्र (cost curve) या तो स्थिर होती है अथवा बढ़ती हुई होती है, अतः कर-भार के अन्तरण के लिये वस्तु के मूल्य में जो वृद्धि आवश्यक होती है वह या तो कर की रकम के बराबर होती है अथवा उससे कम। नीचे चित्र स० ८, ६ व १० में लागत सम्बन्धी विभिन्न दशाओ के अन्तर्गत कर का अन्तरण तथा कर की वाह्यता दिखाई गई है।
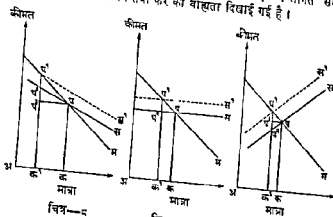
चित्र—८ चित्र—६ चित्र—१०

इन चित्रों में, म तथा स रेखायें माँग तथा सभरण की सामान्य वक्रो (curves) को प्रदर्शित करती है। स¹ रेखा कर लगने के पश्चात् नई संभरण वक्र (new supply curve) को प्रदर्शित करती है। यह मूल सभरण वक्र रेखा के समानातर (parallel) है जो इस बात की सूचक है कि सभी उपजो के लिए कर की दर एक समान है। कर लगने के फलस्वरूप वस्तु की नई कीमत क¹प¹ होगी और इस स्थिति में सरकार को अदा की जाने वाली कर की राशि होगी—प¹प²। चित्र स० ८ में, कीमत में कर की रकम से अधिक वृद्धि हुई है और चित्र स० ६ में कीमत में जो वृद्धि हुई है वह ठीक कर की धनराशि के बराबर है। अन्त में, चित्र स० १० में जो कीमत की वृद्धि दिखाई गई है वह कर की रकम से कम है। कीमतो में इन विभिन्न प्रकार की वृद्धियों का कारण लागत सम्बन्धी दशाओ में पाई जाने वाली भिन्नताएँ ही है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि माँग और सभरण की शक्तियो (forces of demand and supply) की लोचशीलताओ (elasticities) के प्रभाव विपरीत दिशाओ में प्रतिबिम्बित (reflect) होते है। जब दोनों ही शक्तियाँ एक ही दिशा में कार्यशील होती हैं तो परिणाम उस स्थिति में पूर्णतया क्रेताओ के पक्ष में हो सकता है (जबकि माँग अधिक लोचदार हो और सभरण कम लोच-दार हो), और इसके विपरीत (जब माँग कम लोचदार और सभरण अधिक लोचदार हो) तो परिणाम विक्रेताओ (sellers) के पक्ष में हो सकता है। परन्तु जब दोनो शक्तियां विपरीत दिशाओ में कार्य करती है तो वास्तविक परिणाम विपरीत दिशाओ में कार्य करने वाली दोनों शक्तियो के सापेक्षिक बल (relative strength) पर निर्भर होता है। अतः पहले से उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में कुछ भी हो सकता है—कीमत बढ़ भी सकती है तथा नहीं भी बढ़ सकती और यह भी हो सकता है कि कीमत बढ़े तो किन्तु लगाये गये कर की रकम से कम मात्रा में बढ़े।

अन्य दशायें (Other Conditions).

वह क्षेत्र कितना बड़ा है जिसमें कर लगाया जा रहा है, कराधान की प्रकृति (nature of the tax base), करो की दरो की प्रकार कर तथा सरकारी नीति के मूल प्रभाव—ये सब ऐसी दशाएँ है जो करो के अन्तरण तथा करो की वाह्यता पर गहरा असर डालती हैं। एक स्थानीय कर (local tax) का अन्तरण (shifting) करना बड़ा कठिन होता है, विशेष रूप से तब जबकि वह बहुत भारी हो। भारी मात्रा में लगाया जाने वाला उत्पादन शुल्क (heavy excise duty), जो कि केवल किसी क्षेत्र-विशेष (particular locality) में ही लगाया जा रहा हो, छिपाया जा सकता

है अथवा उससे बचा जा सकता है यदि लोग यह निश्चय कर लें तो वे अन्य क्षेत्रों से वस्तुएँ खरीद लेंगे। इसके विपरीत, एक हल्का स्थानीय कर बड़ी सरलता से अन्तरित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, स्थानीय करों की तुलना में ऐसे कर अधिक आसानी से अन्तरित किये जा सकते हैं जो कि देश भर में लागू किये हों। इसका कारण यह है कि कर समरूप (uniform) तथा अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र में फैले होते हैं।

अनन्य किस्म (exclusive type) के कर के मुकाबले एक ऐसे कर के अधिक आसानी के साथ अन्तरित होने की सम्भावना है जिसका आधार (base) अधिक व्यापक हो, क्योंकि ऐसा कर अत्यधिक प्रतियोगिता करने वाली (most competing) तथा वैकल्पित (alternative) वस्तुओं अथवा क्रियाओं तक व्यापक रूप से फैला रहता है और अन्तरण के प्रयत्न (shifting attempt) में अपेक्षाकृत अधिक रुचि उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, यह बात भी कर के अन्तरण को प्रभावित करती है कि करों की दरों की प्रकृति (nature) कैसी है और उनका स्तर क्या है? आरोही दरें (progressive rates) जो कि विभिन्न व्यक्तियों अथवा सगठनों पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ती हैं, हो सकता है कि आसानी से अन्तरित न की जा सकें। वस्तुओं पर जब विशिष्ट दरें (specific rates) लागू की जाती है तो निम्नतर स्तर (lower grade) तथा निम्नतर कीमत वाली वस्तुओं पर उनका भारी बोझ पड़ता है, और इस स्थिति में कर का अन्तरण करना कठिन हो सकता है। फिर, करों की दरें जितनी अधिक तथा ऊँची होंगी, क्रेताओं में कर-भार से बचने की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक पाई जायेगी। परिणामस्वरूप करान्तरण (tax shifting) अपेक्षाकृत उतना ही कठिन हो जायेगा।

करान्तरण की प्रक्रिया क्या होगी यह उस व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग पर निर्भर होता है जिस पर कि कर लगाया जाता है। करान्तरण के मामले में कुछ वर्ग तो बड़ी अनुकूल परिस्थितियों में होते है परन्तु अन्य के मामलों में स्थित ऐसी नही होती। उदाहरण के लिए, उपभोक्ताओं (consumers) पर जो कर लगाया जाता है वह निश्चित रूप से उन पर ही पड़ता है क्योंकि उनके लिए यह बड़ा ही कठिन होता है कि वे अपना कर-भार किसी अन्य वर्ग पर डाल सकें। वस्तुतः कर-भार को अन्तरित करने का उपभोक्ताओं को या तो बिल्कुल ही अवसर नही मिलता अथवा बहुत थोड़ा मिलता है। उनके लिए एकमात्र विकल्प (only alternative) यही होता है कि वे उच्चतर मजदूरियों तथा लाभों की माँग करें। इसके विपरीत, यदि कर उत्पादकों पर लगाया जाता है तो वे इस बात में समर्थ हो जाते हैं कि उसे थोक व्यापारियों की ओर को अन्तरित कर दें और वे फुटकर व्यापारियों के माध्यम से उस कर-भार को उपभोक्ताओं पर डाल दें। एक ओर तो उत्पादक तथा दूसरी ओर उपभोक्ता, इन दोनों के बीच जो मध्यवर्ती वर्ग आते है वे करान्तरण के दृष्टिकोण से बड़ी अनुकूल स्थिति में होते है क्योंकि वे आगे की ओर अन्तरण (forward shifting) तथा पीछे की ओर अन्तरण (backward shifting) दोनों में से किसी का भी आश्रय ले सकते है।

अन्त में, कर के अन्तरण तथा सरकारी नीति के सम्बन्ध का उल्लेख करना भी बड़ा उचित है। कर प्रशासन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ऐसे अवसर अथवा तरीके उपलब्ध करा सकता है जिनके द्वारा कर-भार उपभोक्ताओं की ओर को अन्तरित हो जाये और कई स्थितियों में तो वह कर के अन्तरण को अनिवार्य बना सकता है। भारत में, बिक्री कर कानून में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि कर का भार उपभोक्ताओं द्वारा वहन किया जायेगा। कभी-कभी सरकार कीमतों पर नियन्त्रण और मजदूरियों की वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगा देते है (जैसा कि युद्ध काल में सामान्यतः होता है), इस स्थिति में कीमतों में हेर-फेर करके कर का अन्तरण करना असम्भव हो जाता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि सरकारी नीति के अन्तर्गत किये जाने वाले कुछ प्रयत्न इसलिये निष्प्रभावी सिद्ध हो जायें क्योंकि आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल नही थी। फिर भी, प्रत्येक स्थिति में ये प्रयत्न अथवा ये सरकारी कार्यवाहियाँ या तो कर का अन्तरण करने को अथवा करान्तरण न करने को न्यायोचित अवश्य ठहराते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion) :

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कर का अन्तरण तथा कर की ग्राह्यता अनेक तत्वों द्वारा प्रभावित तथा प्रशासित होती है। इनमे सबसे महत्वपूर्ण

तत्व हैं—माँग की लोच (elasticity of demand) तथा संभरण की लोच। माँग की लोच पर विचार करते समय उन तत्वों (factors) का भी विश्लेषण करना होगा जिन पर कि माँग की लोच निर्भर होती है। दूसरी ओर, सभरण (supply) के योगदान पर विचार करते समय लागत सम्बन्धी दशाओ (cost conditions) तथा बाजार की परिस्थितियों (पूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार आदि की स्थितियों), दोनों पर ही ध्यान देना होगा। इन दोनों तत्वों के अलावा, कुछ अन्य परिस्थितियो अथवा दशाओ को भी विचारार्थ लेना होगा, जैसे कि कर के क्षेत्र की व्यापकता, कराधार (tax base), कर की दो की प्रवृति तथा अन्तरण के प्रति सरकारी नीति आदि।

कुछ विशिष्ट करों की वाह्यता
(The Incidence of Particular Taxes)

कर के अन्तरण को प्रभावित करने वाले सामान्य तत्वो अथवा कारणो (general factors) का ऊपर विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है। इन सामान्य सिद्धान्तो के संदर्भ मे अब हम कुछ विशिष्ट करो के अन्तरण एव उनकी वाह्यता पर प्रकाश डालेंगे।

(१) व्यक्तिगत शुद्ध आय-कर (Personal Net Income Taxes) :

व्यक्तिगत आय-करों को आजकल सभी जगह महत्वपूर्ण माना जाता है और अल्प-विकसित देशो मे आर्थिक विकास की तीव्रगति तथा आय के स्तरो मे तीव्र वृद्धि होने के कारण यही आशा की जा सकती है कि ये भविष्य मे अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान करेंगे। अत. यह आवश्यक है कि इन करो की वाह्यता पर विचार किया जाए।

व्यक्तिगत आय मजदूरियो, ब्याज अथवा किरायो के रूप मे प्राप्त हो सकती है। इस सम्बन्ध मे परम्परागत विश्वास है कि व्यक्तिगत शुद्ध आय पर लगाये गये आरोही करों की वाह्यता आमतौर पर स्वय कर दाताओ पर पड़ती है, बशर्ते कि आयकर निर्वाह-स्तर (level of subsistence) की सीमा को ही न लांघ जाए। इस परम्परागत विश्वास (conventinnal belief) के निम्नलिखित तीन कारण हैं :—

(क) आरोही आय-करो का क्षेत्र सीमित होता है और द्रव्य-भार (money burden) असमान (unequal) होता है।

(ख) इनका भार आय के अतिरिक्त अथवा फालतू भाग पर पड़ता है, और

(ग) मजदूरियो तथा अन्य व्यक्तिगत प्राप्तियो से सम्बन्धित बाजार-शक्तियाँ (market forces) आमतौर पर अन्तरण के प्रयत्नो के अनुकूल नही होतीं।

अब हम इन तीनों ही कारणो की एक-एक करके विवेचना करेंगे और यह देखेंगे कि उनमे कहाँ तक सचाई है। व्यक्तिगत आय-कर एक निश्चित स्तर तक की आमदनियों को मुक्त कर देते हैं और आश्रितो (dependents) के लिए छूटो की व अन्य घटौतियों (deductions) की व्यवस्था करते हैं तथा न्यूनतम आमदनियों से ऊपर वे जितनी अधिक आय होती है उस पर उतने ही अधिक आरोही अथवा क्रमवर्धी रूप से पड़ते हैं। आय प्राप्तकर्त्ताओं की एक बड़ी सख्या आय-कर से मुक्त हो जाती है और उसे आय-कर नहीं अदा करना पड़ता। यह सख्या कितनी होगी, यह बात किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि की मात्रा पर निर्भर होती है। इस प्रकार स्पष्टत. आय-करो का क्षेत्र सीमित होता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत करो की आरोही दरें (progressive rates) अत्यधिक असमान भार डालती है। आय-करो के ये दो लक्षण—अर्थात् इनका सीमित क्षेत्र और अत्यधिक असमान भार—"सम्पूर्ण कर को अन्तरित करने के व्यापकीकृत दबाव (generalised pressure)" की सभावना को समाप्त कर देते है। यदि छूटें (exemptions) काफी अधिक प्रदान की जाती है और निर्वाह योग्य आय (subsistence income) को मुक्त कर दिया जाता है और यदि करो की दरें निर्वाह-स्तर से ऊपर की आय पर भी अधिक नही है, तब व्यक्तिगत आय-करों की वाह्यता उन पर ही पड़ती है जो उनको अदा करते हैं।

दूसरा यह तर्क, कि आय-कर की देयता तथा वाह्यता (impect and incidence of income-tax) स्वय व्यक्तिगत करदाताओ पर ही पड़ती है, इस मान्यता (assumption) पर

आधारित है कि आय-कर का द्रव्य-भार आय के फालतू भाग पर पड़ता है और परम्परागत विचार-धारा के अनुसार आयाधिक्य (surplus) पर लगाया गया कर अन्तरित (shift) नहीं किया जा सकता। चूँकि आय-कर उस निर्वाह योग्य आय को मुक्त कर देता है जो कि विशुद्ध उपयोग की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जरूरी होती है, अतः यह कहा जाता है कि यह न्यूनतम जीवन-स्तर से अधिक बच जाने वाली आय पर पड़ता है। इस परम्परागत तर्क मे कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं। सर्वप्रथम वस्तुनिष्ठ रूप मे (objectively) इस बात का निश्चय करना यदि सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि निर्वाह का न्यूनतम स्तर (minimum level of subsistence) क्या हो। न्यूनतम निर्वाह स्तर के अन्तर्गत केवल भौतिक आवश्यकताओ (physical needs) को सम्मिलित करने के विचार को तर्कपूर्ण नहीं कहा जा सकता। समाज का अंग होने के नाते भी मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती है और उनको भी न्यूनतम निर्वाह-स्तर मे शामिल किये जाने के पक्ष मे काफी कुछ कहा जा सकता है। फिर, न्यूनतम निर्वाह-स्तर के विचार के सम्बन्ध मे क्षेत्रीय तथा अन्य प्रकार की अनेक विविधतायें पाई जा सकती है। दूसरे, अनेक सरकारें निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों को लाभ पहुँचाने के लिए समाज-कल्याण (social welfare) के अनेक कार्यक्रम लागू करती हैं। इन कार्यक्रमो के द्वारा वे मजदूरियो तथा ब्याज की अदायगियों को होने वाली क्षति को पूरा कर सकती हैं और इस प्रकार वैयक्तिक आय-करो के प्रतिकूल प्रभावो को समाप्त कर सकती है। पर इसके बावजूद यदि कर बहुत थोड़ी आमदनियो वाले वर्गों पर भी इतना भारी बोझ डालते है कि व्यक्ति अपनी न्यूनतम उपभोग आवश्यकताओ को भी पूरा नही कर सकता तो उस स्थिति मे जनसख्या वृद्धि की दर मे गिरावट के रूप मे करान्तरण होगा।

अन्त मे, परम्परागत विचारधारा (traditional view) के अनुसार, आय की प्राप्तियो से सम्बन्धित बाजार शक्तियाँ (market forces) करान्तरण के लिए अनुकूल नही होती। श्रम का बाजार स्थानीय कहा जाता है और इसीलिए यह लोचहीन (inelastic) होता है। यह बार-बार होने वाले उन उतार-चढावो (fluctuations) से प्रभावित होता है जो कि किन्ही विशिष्ट क्षेत्रो मे तथा सम्पूर्ण देश भर मे होने वाली व्यावसायिक क्रियाओ के स्तर पर निर्भर होते है। श्रम (labour) की माँग एक उत्पन्न माँग (derived demand) होती है और यह वस्तुओ तथा सेवाओं की उस माँग पर निर्भर होती है जो उत्पादन मे सहायक होती है। अतः जब भी वस्तुओ और सेवाओ की कीमतें बढती है अर्थात् व्यावसायिक समृद्धि (business property) तथा आमदनियो व कीमतो की वृद्धि की अवधियो मे परिस्थितियाँ इस बात के लिए बड़ी अनुकूल होती हैं कि मजदूरियों मे वृद्धि हो और मजदूरियो की आय पर लगाये जाने वाले करो का अन्तरण हो। तथापि, कीमतो तथा मजदूरियो की वृद्धि आमतौर पर साथ-साथ नही होती, अपितु उनके बीच कुछ समय का अन्तर अवश्य रहता है और यहाँ तक कि कर लगने से पूर्व तक भी, बहुसख्यक श्रमिको की मजदूरियाँ कीमतो की वृद्धि से पिछड जाती है और इस स्थिति मे चूँकि श्रम का सभरण (supply of labour) मूल्य निरपेक्ष अथवा लोचहीन (inelastic) होने लगता है अतः यह स्थिति करान्तरण के अनुकूल नही रहती। तथापि, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के सुसगठित श्रमिको ने निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों पर ऊँचे कर लगाये जाने का विरोध किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमिको के दबाव से करो के अन्तरण की सभावना उत्पन्न हो सकती है। यदि श्रमिको का प्रभाव काफी है तो मजदूरियो की दरों मे वृद्धि कराई जा सकती है और उससे बढ़े हुए आय-कर भी लग सकते है।[9] दूसरी ओर, युद्ध तथा सकट की अन्य अवधियो मे अन्य श्रमिक सघो (trade unions) द्वारा मजदूरियो मे वृद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयत्नो को कीमतो और मजदूरियो पर नियन्त्रण द्वारा रोका जा सकता है। इस प्रकार करो के अन्तरण को प्रभावी रीति से रोका जा सकता है।

---

9. यह एक अलग बात है कि मजदूरियो मे वृद्धि का श्रमिक वर्गों को अन्ततः कोई लाभ प्राप्त होगा या नही। मजदूरियो मे वृद्धि के साथ ही साथ यदि कीमतें भी बढ सकती हैं तो श्रमिको के निर्वाह-व्यय (cost of living) मे वृद्धि हो सकती है और इस प्रकार बढी हुई मजदूरियों का लाभ समाप्त हो सकता है।

आय के अन्य स्रोतो, जैसे ब्याज तथा किरायो आदि के मामलों में दशाएँ करान्तरण के लिए अनुकूल प्रतीत नही होती। ब्याज तथा लाभाश (dividends) एक मात्र विनियोगकर्त्ताओ के नियन्त्रण मे नही हुआ करते। इसी प्रकार, भू-सम्पत्ति के किराये भी काफी लम्बे समय तक स्थिर ही रहते हैं। अतः सामान्यतया, चूँकि बाजार दशाएँ अनुकूल नही होती इसलिए व्यक्तिगत आय-करो का अन्तरण नही हुआ करता। परन्तु यदि सम्बन्धी प्रतिकूल बाजार दशाएँ अधिक लम्बे समय तक बनी रहती है तो विनियोग मे कमी और प्रतिफल (return) की दर मे वृद्धि के माध्यम से कम से कम आशिक करान्तरण अवश्य हो सकता है।

अनेक सभावित आलोचनाओ तथा स्पष्ट अपवादो (apparent exceptions) के बावजूद यह परम्परागत विचार कि व्यक्तिगत आय-करो का अन्तरण नही किया जा सकता तथा इन करो की वाह्यता वैयक्तिक करदाताओं पर ही पडती है, सही प्रतीत होता है। मजदूरियो से होने वाली आय का आमतौर पर अन्तरण नही किया जा सकता, यद्यपि शक्तिशाली श्रमिक सघ ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं। अन्य प्रकार की आमदनियो के मामलो मे, अन्तरण (shifting) लगभग असम्भव ही होता है। हाँ, कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ ऐसी अवश्य हो सकती हैं जिनके कारण आशिक (partial) अथवा अस्थायी (temporary) अन्तरण सम्भव हो जाए परन्तु उनका विशेष महत्व नही होता।

(२) व्यावसायिक लाभो पर कर (taxes on business profits) :

लोकवित्त (public finance) के सैद्धान्तिक अध्ययन मे व्यावसायिक लाभ करो (business profits taxes) के अन्तरण (shifting) तथा उनकी वाह्यता (incidence) का प्रश्न भी एक अत्यन्त विवादस्पद प्रश्नों मे से एक रहा है। कोई समय था जबकि सामान्यतः यह माना जाता था कि व्यावसायिक लाभो पर लगाये जाने वाले करो का अन्तरण नही हो सकता।[10] परन्तु अभी हाल के वर्षो मे यह मत परिपक्व होता जा रहा है कि कम्पनियो की आमदनियों पर लगाये जाने वाले कर भी अन्तरित किये जा सकते हैं।

व्यावसायिक आय पर लगाये जाने वाले कर तीन विभिन्न प्रकारो के हो सकते हैं :—

(क) स्वामित्व (proprietorships) तथा साझेदारियो (partnerships) की आय पर कर,

(ख) निगम आय-कर (corporate income-tax),

(ग) अतिरिक्त लाभो (excess profits) पर कर।

सैद्धान्तिक तथा अनुभवीय आधारो (imperical grounds) का सहारा लेकर यह तर्क देना सम्भव हो सकता है कि व्यावसायिक आय पर लगाये जाने वाले कर अन्तरित (shift) नही किये जा सकते। यहाँ सर्व प्रथम हम अतिरिक्त लाभ कर पर विचार करते हैं। अतिरिक्त लाभ कर (excess profits tax) को विशुद्ध लाभो (pure profits) पर लगाया जाने वाला कर कहा जा सकता है, अर्थात् वे लाभ जो श्रम, पूँजी, प्रबन्ध तथा अन्य लागतो (costs) से सम्बन्धित सभी आवश्यक खर्चो के पश्चात् अधिकता मे (in excess) होते हैं। ऐसा कर न तो निजी पहल (private initiative) अथवा विनियोग (investment) को हतोत्साहित (discourage) कर सकता है और न कुल उत्पादन को ही कम कर सकता है। इसका कारण यह है कि यह कर केवल उन अतिरिक्त लाभो पर पडता है जो कि व्यावसायिक क्रिया को जारी रखने के लिये आवश्यक आय के अलावा अधिशेष अथवा बेशी (surplus) का निर्माण करते है। फिर, यह कर उद्यमो (enterprises) के बीच कोई भेद-भाव नही करता और सभी प्रकार के उद्यमो के विशुद्ध लाभो पर समान रूप से लगाया जाता है चाहे उन लाभो की प्राप्ति का स्रोत कोई भी क्यो न हो। इसके साथ ही, ऐसी व्यावसायिक इकाइयाँ इस कर की परिधि मे नही आती जिन्हे केवल सामान्य लाभ

---

10. See the Report of the Committee on National Debt and Taxation (Colwin Committee) pp. 108-119, and the shifting and Effects of the Federal Corporation Income-Tax.

(normal profits) ही प्राप्त हो रहे हैं। इस प्रकार, अतिरिक्त लाभ कर उन अवशिष्ट लाभो (residual profits) पर पडता है जो कि अधिकतम लाभ प्रदान करने वाली कीमतें निर्धारित करने के परिणामस्वरूप प्राप्त होते है। स्पष्ट है कि ऐसे कर से कीमतो के स्तर मे कोई परिवर्तन नही होता और इसीलिए इस कर का अन्तरण भी नहीं किया जा सकता।

व्यवहार मे, अतिरिक्त लाभ कर युद्धो की अवधियो मे तथा अन्य संकटकालीन अवसरों पर लगाये जाते रहे है। अनेक मामलो मे, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मे तथा उसके एकदम बाद की अवधि मे तो सभी लाभो का ८५% तक भाग अतिरिक्त लाभ करो द्वारा ले लिया गया था। यह व्यापक रूप से देखा गया है कि युद्धकाल मे तथा अन्य आपातकालीन परिस्थितियों मे, वस्तुओं की माँग अत्यधिक बढ जाया करती है और यह स्थिति अतिरिक्त लाभ कर के अन्तरण के लिए बडी अनुकूल होती है।

अतिरिक्त लाभों पर कर के अलावा, वे सामान्य कर हैं जो कि व्यावसायिक आय पर लगाये जाते है अर्थात् वह आय जिसमे से शेयरधारियो की पूँजी का ब्याज नही घटाया गया है। व्यवहार मे, निगम आय-कर (corporate income taxes) ऐसी सभी प्रकार की फर्मों से वसूल किये जाते रहे है जो कि अपने शेयरधारियो (shareholders) के लिए कोई भी आय कमा रही है। चूँकि मालिको की पूँजी पर दिया जाने वाला ब्याज एक आवश्यक व्यावसायिक लागत (necessary business cost) है अत स्पष्ट है कि कम्पनियों पर लगाये जाने वाले ये कर लागत के ही एक महत्वपूर्ण तत्व पर पडते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियो ने यह तर्क दिया है कि निगम आय-कर गैर-सरकारी विनियोग तथा पहल अथवा प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं और व्यावसायिक विस्तार तथा नये-नये उद्यमो के प्रारम्भ को हतोत्साहित करते हैं। उनका कहना है कि दीर्घकाल मे वस्तुतः ही इस कर का अन्तरण हो जाता है। अधिकाश व्यवसायी व्यक्तियो के अनुसार, निगम कर (corporation taxes) एक प्रकार से व्यावसायिक लागत (business costs) ही है और इस स्थिति मे ये कुल लागतों मे और अन्तत कीमतो मे जोड दिये जाते हैं। अतः अधिकतर व्यवसायी यह तर्क देते हैं कि वे कीमतो को प्रभावित कर सकते है और परिणामस्वरूप करो को उपभोक्ताओ की ओर को अन्तरित कर सकते हैं। इसके विपरीत, जैसा कि अनेक उद्यमियो द्वारा दावा किया जाता है, यह भी बहुत सम्भव है कि निगम कीमतो पर ऐसा नियन्त्रण स्थापित न कर सके और छोटे व्यावसायिक उद्यमो के सम्बन्ध मे तो विशेष रूप से यह सत्य होता है। इसके अतिरिक्त, व्यवसाय कर (business tax) आय पर तब लगाये जाते हैं जबकि बिक्री का कार्य पूरा हो जाता है और खाते बन्द कर दिये जाते हैं। अन्त मे, कुछ व्यवसायी तथा अर्थशास्त्री यह कहते है कि व्यवसाय-कर अन्य लोगो की ओर को केवल आशिक रूप से ही अन्तरित किया जा सकता है—अर्थात् अशतः तो कीमतें बढाकर उपभोक्ताओ की ओर को और अशतः (partly) मजदूरियाँ घटाकर श्रमिको की ओर को, परन्तु कर का एक भाग अभी भी व्यवसायियो के ही पास रहता है जो कि उन्हे स्वय वहन करना होता है। अत: यह कहा जाता है कि निगम आय-कर इन मानों मे निश्चय ही एक बुरा कर है क्योंकि इसकी वाह्यता (incidence) बड़ी अनिश्चित होती है, अतः इसे समाप्त कर देना चाहिए। इस प्रकार, निगम आय-करो के अन्तरण तथा उनकी वाह्यता के बारे मे सभी प्रकार के मत व्यक्त किये जाते है।[11]

निगम आय-करो के अन्तरण के सम्बन्ध में जो ये भ्रम तथा मत विभिन्नताएँ पाई जाती हैं उनके निम्न कारण है :—

---

11. अनेक लोग ब्रिटेन की कालिवन समिति तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय औद्योगिक सम्मेलन के अध्ययन (Study of the National Industrial Conference) का हवाला देते हैं, यह दिखाने के लिए कि निगम आय करो का अन्तरण नही किया जा सकता। तथापि अर्थशास्त्रियों का सामान्य मत यह है कि इन समितियों की सांख्यिकीय खोजे इतनी पर्याप्त नही है कि उनके द्वारा किसी एक पक्ष या विपक्ष को सही रूप मे सिद्ध किया जा सके।

सर्वप्रथम, वे बाजार-शक्तियाँ (market forces), सामान्य (general) तथा विशिष्ट (specific) दोनों, जिनके अन्तर्गत कि व्यावसायिक आय कमाई जाती है, इतनी विविध (numerous) तथा जटिल होती है कि अन्तरण की प्रक्रिया (process of shifting) का अध्ययन करना बडा कठिन हो जाता है।

दूसरे, प्रत्येक उद्योग (अथवा फर्म) को विभिन्न प्रकार की माँग अनुसूचियो (demand schedules) का सामना करना होता है—ऐसी माँग अनुसूचियाँ जो पूर्ण लोचहीनता (perfect elasticity) से लेकर पूर्ण लोचहीनता (absolute inelasticity) तक अनेक प्रकार की होती हैं। यदि किसी व्यावसायिक इकाई (business unit) की उत्पादित वस्तुओं की माँग लचकहीन (inelastic) है और साथ ही यदि वह इकाई सभरण (supply) पर अपने नियन्त्रण (control) के द्वारा वस्तु की कीमत पर भी नियन्त्रण रखती है तो उसकी आय पर लगाया जाने वाला कर अन्तरित हो जायगा। दूसरी ओर, यदि किसी फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग मूल्य सापेक्ष अथवा लचकदार (elastic) है और यदि वह फर्म वस्तु की कीमत मे कोई घटा-बढी नही कर सकती तो फर्म आसानी से निगम आय-कर को अन्तरित नही कर सकती। माँग की दशाएँ चाहे कुछ भी क्यो न हो, जब तक वस्तु के सभरण पर एकाधिकारी नियन्त्रण (monopolistic control) तथा कीमत मे घटा-बढी करना सम्भव न हो अल्पावधि (short run) मे कर का अन्तरण करना बडा कठिन होगा।[12] तथापि, माँग सम्बन्धी दो ऐसी दशाएँ हैं जो कि निगम आय कर के अन्तरण (shifting) के लिए अनुकूल हैं। वे दशाएँ हैं (क) दिये हुए मूल्य (given price) पर विशिष्ट वस्तुओं अथवा सेवाओं की माँग में वृद्धि, और दुसरी (ख) समस्त माँग (aggregate demand) मे वृद्धि। इन दोनों ही स्थितियो मे वस्तुओं के मूल्य बढाये जा सकते हैं, परिणामस्वरूप निगम आय-कर का द्रव्य-भार (money burden) उन वस्तुओं के क्रेताओं पर डाला जा सकता है। परन्तु ऐसा अन्तरण केवल अस्थायी ही होगा क्योंकि दीर्घकाल में कुल उत्पादन माँग के बढ़े हुए स्तर में ही फिट हो जायेगा।

तीसरे, व्यावसायिक आय-करो का अन्तरण अनिवार्यत सभरण पर और इसके फलस्वरूप उन वस्तुओ अथवा सेवाओं की कीमत पर पडेगा जिनसे निगम आय उत्पन्न होती है। माँग की उन दो विशिष्ट परिस्थितियो को छोडकर, जिनका कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, व्यावसायिक आय-करो के अल्पकालीन अन्तरण के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि सभरण पर प्रत्यक्ष नियन्त्र रहे। दीर्घकाल मे, निगम आय-करो का अन्तरण करने के लिए सामान्यत इस बात की आवश्यकता होगी कि कराधान उद्योग मे लगे उत्पादन के उपादानो (factors of production) का स्थानान्तरण करके कुल उत्पादन में कटौती की जाए।

इस सम्बन्ध मे, हमें इस बात का भी अध्ययन करना चाहिए कि निगम आय-कर के अन्तरण के प्रश्न पर विभिन्न प्रकार की बाजार सम्बन्धी दशाओं का क्या प्रभाव पडता है। एकाधिकारी उत्पादक (monopoly producer) का अपनी वस्तुओं के सभरण पर और उसके फलस्वरूप उनकी कीमतो पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। अतः स्पष्ट है कि वह ऐसे किसी भी कर को अन्तरित (shift) करने की स्थिति मे होता है जो कि उसके लाभो पर लगाया जाता है परन्तु इस कथन में कुछ सुधार की आवश्यकता है क्योंकि यदि कोई एकाधिकारी माँग और लागत (demand and cost) की कुछ निश्चित परिस्थितियो के अन्तर्गत पहले से ही अधिकतम लाभ प्राप्त कर रहा है तो उस स्थिति मे निगम आय-कर का भार उसे ही वहन करना होगा क्योंकि अब उस एकाधिकारी के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह उस कीमत से ही भी कोई श्रेष्ठतर कीमत प्राप्त कर ही उसको अधिकतम लाभ प्रदान कर सके जो कि पहले से कर रही है।

जो व्यावसायिक इकाइयाँ अल्पाधिकार (oligopoly) अथवा एकाधिकारी प्रतियोगिता (monopolistic competition) की दशाओ के अन्तर्गत कार्य कर रही होती है, उनका उपज के सभरण (supply) पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं होता और इसी कारण अपनी उत्पादित वस्तुओं की कीमत पर भी उनका पूर्ण अधिकार नही रहता। परिणाम यह होता है कि ये फर्में करो का केवल कुछ भाग ही अन्तरित करने मे समर्थ होती है, हाँ यदि माँग मे ही वृद्धि हो जाए, तब बात दूसरी है।

---

12. E.H. Plank Public Finance, p 207.

चूँकि प्रत्येक फर्म की उत्पादिक वस्तुओं में कुछ न कुछ अन्तर होता है और उसके परिणामस्वरूप लागतो की मात्राओ तथा माँग अनुसूचियो (demand schedules) मे भी भिन्नता होती है अतः सामान्य रूप मे अन्तरण की प्रकृति का उल्लेख करना बडा कठिन है।

यदि व्यावसायिक फर्में पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) अथवा लगभग पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करती है तो लाभो पर लगाये गये करों का अन्तरण केवल तभी हो सकता है जबकि समस्त उद्योग द्वारा ही कीमतों मे वृद्धि कर दी जाए (क्योंकि पृथक्-पृथक् फर्मों को इतना अधिकार प्राप्त नही होता कि वे मूल्य का स्वयं निर्धारण कर सके)। यदि निगम आय-कर इतना अधिक है कि फर्में अपनी ईक्विटी पूँजी का पर्याप्त प्रतिफल (adequate return) तक अदा करने मे समर्थ नही हैं तो दीर्घकाल मे बचत तथा विनियोग मे कमी करके काफी भाग को अन्तरित किया जा सकता है।

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि इस परम्परागत सिद्धान्त में कि व्यावसायिक लाभो पर लगाये गये करो का अन्तरण नही हो सकता, कुछ जान अवश्य है और वह भी इस मान्यता के आधार पर कि व्यावसायिक लाभो से आर्थिक बेशी (economic surplus) अर्थात् 'लागतो (costs) के अलावा आय' का निर्माण होता है और इस बेशी अथवा आयाधिक्य (surplus) पर लगाये गये कर का अन्तरण नही किया जा सकता। परन्तु नियमित निगम आय-कर सामान्यतः लागत की किसी न किसी मद को प्रभावित करते है फलत. शेयरधारियो की पूँजी के प्रतिफल (return) को प्रभावित करते हैं। अत यह सम्भव है कि वे कुल लागतों का ही अंग बन जायें और तत्पश्चात् कीमत का ही एक भाग बन जाएँ और इस प्रकार उन वस्तुओ के क्रेताओं की ओर को अन्तरित कर दिये जाएँ। पर इसके बावजूद, इस लागत तत्त्व (cost factor) तथा व्यावसायिक फर्मों के शुद्ध लाभो (net profits) के बीच चूँकि सम्बन्ध पूर्णतः स्पष्ट नहीं हैं अतः यह कहना कठिन है कि कर के भार का सभी मामलो मे तथा सभी स्थितियो मे अन्तरण होता है या नहीं। यदि माँग अनुसूची का रुख वृद्धि की ओर है अथवा समस्त माँग मे वृद्धि हो रही है तो मूल्य मे वृद्धि होने की सम्भावना काफी बलवती होती है और अपूर्ण प्रतियोगिता (imperfect competition) की दशाओ के अन्तर्गत तो विशेष रूप से ऐसा होता है। दूसरी ओर, पूर्ण प्रतियोगिता की बाजार दशाओ के साथ-साथ यदि उत्पादित वस्तुओ की माँग मूल्य सापेक्ष अथवा लोचदार होती है तो यह स्थिति निगम आय-करो के अन्तरण के लिए अनुकूल नही होती। इन स्थितियो का अपवाद (exception) केवल यह हो सकता है कि निगम आय कर इतना अधिक हो कि वह शेयरधारियों की पूँजी के आवश्यक प्रतिफल (necessary return) तक का गम्भीररूप से अतिक्रमण कर जाए।

(२) बिक्री कर तथा उत्पादन करो की वाह्यता (The Incidence of Sales Tax and Excise Taxes)

बिक्री कर तथा उत्पादन कर सभी देशो मे बहुत प्रचलित है। बिक्री कर जहाँ वस्तुओ की कुल बिक्री (turnover) पर लगाये जाते हैं, वहाँ उत्पादन कर वस्तुओ की उत्पत्ति पर लगाये जाते है। वाह्यता के विश्लेषण (analysis) की दृष्टि से इन दोनो ही करो को मिलाकर वस्तु करो (commodity taxes) के नाम से पुकारा जा सकता है।[13] वस्तु कर विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं और उनका क्षेत्र तथा उनके लगाने के विशिष्ट उद्देश्य अलग-अलग हो सकते हैं। लेकिन इन सभी करो के बारे मे यदि कोई चीज सामने होती है तो यह कि वे उपभोक्ताओं पर डालने की इच्छा से लगाये जाते है। वस्तु कर एक तो सभी के साथ समान अथवा आनुपातिक व्यवहार करते हैं और उनमे छूट (exemption) कोई व्यवस्थाएँ नही होती। फिर, वे कर लगी वस्तुओं अथवा क्रियाओ की लागत मे प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से जोड दिये जाते हैं। चूँकि ये कर

---

13. कुछ अर्थशास्त्री वस्तुओ के कराधान के अन्तर्गत सीमा शुल्को (custom duties) को भी सम्मिलित करते हैं। परन्तु यदि स्पष्ट कहा जाए तो यह सही नही है क्योंकि सीमा शुल्क यद्यपि वस्तुओ पर लगाये जाते है तथापि वह आयात अथवा निर्यात कर लगाये गये कर होते हैं। अत. ऐसे करो की वाह्यता का अध्ययन पृथक् से ही किया जाता है।

उत्पादनलागत (cost of production) का ही एक अंग बन जाते हैं अतः यह बड़ा सरल तथा वान्छनीय होता है कि उनका अन्तरण कर दिया जाए। यह नही, वस्तु करो से सम्बन्धित कानूनो मे, सम्पूर्ण रूप मे, इनको अन्तरित करने की बिल्कुल स्पष्ट व्यवस्थाएं होती हैं और करदाताओं को इस बात का पूरा ज्ञान होता है कि वस्तु कर उनकी ओर को अन्तरित किये जा रहे हैं। ये सभी स्थितियाँ इस बात का स्पष्ट संकेत करती हैं कि वस्तु करो का अन्तरण किया जाता है अथवा यह कहिये कि इन करो के सम्बन्ध मे ऐसे कारण वर्तमान हैं जो इन करो के अन्तरण (shifting) को सरल एव सुविधाजनक बनाते हैं।

बिक्री करो तथा उत्पादन करो का आमतौर पर अग्रान्तरण अथवा आगे की ओर अन्तरण (forward shifting) हुआ करता है, यद्यपि इनका पश्चान्तरण अथवा पीछे की ओर अन्तरण (backward shifting) भी सम्भव है। इनके अन्तरण का आम तरीका यह है कि इन करो का द्रव्य-भार, उत्पादको (producers) की ओर से, जिन पर कि ये मूलरूप मे लगाये जाते हैं, मध्यवर्ती एजेन्सियों—जैसे थोक व्यापारियो एव फुटकर व्यापारियो—के माध्यम से अन्तिम उपभोक्ता (final consumer) की ओर को स्थानान्तरित (transfer) कर दिया जाता है। यह आगे की ओर अन्तरण का सामान्य रूप है और इसमे कर के कारण वस्तु की कीमत मे वृद्धि हो जाती है। कर के ऐसे खुले अन्तरण का यदि उपभोक्ता द्वारा कुछ प्रतिरोध किया जाता है तो उत्पादक करान्तरण के अन्य तरीके अपनाते है जिनमें एक यह भी है कि वे कर लगी वस्तु की किस्म (quality) या मात्रा (quantity) मे अथवा दोनों मे ही कमी कर देते हैं। कभी-कभी उत्पादक उपभोक्ताओ के प्रतिरोध के कारण जब यह देखते है कि कर का आगे की ओर अन्तरण करना सम्भव नही है और साथ ही वे उत्पादित वस्तु की किस्म अथवा मात्रा मे भी कोई कमी करना नही चाहते तो कर को पीछे की ओर अन्तरित करने का प्रयास करते हैं, और वह इस प्रकार कि वे या तो श्रमिको को कम मजदूरी ले लेने को बाध्य करते है अथवा कच्चा माल (raw material) देने वाले व्यक्तियो पर यह दबाव डालते हैं कि वे अपनी वस्तुओ की अपेक्षाकृत कम कीमतें लेना स्वीकार कर लें। यदि आगे की ओर तथा पीछे की ओर दोनों मे कोई भी अन्तरण करना सम्भव नही होता है तो उपभोक्ताओं की ओर को कर का अन्तरण करने का केवल एक ही अन्तिम उपाय शेष रहता है। इस उपाय के अन्तर्गत, सीमान्त फर्मो (marginal firms) को शनै शनै उद्योग (industry) से बाहर कर दिया जाता है, और इस प्रकार उत्पादित वस्तु की पूर्ति मे कमी करके उसके मूल्य वृद्धि कर दी जाती है। तथापि, ये सब तरीके ऐसा कोई आश्वासन नही दे सकते कि कर भार अन्तिम उपभोक्ताओ की ओर को अन्तरित हो जायेगा। यह हो सकता है कि उत्पादक वस्तु कर का पूर्ण अथवा आशिक भार स्वय ही वहन करने को बाध्य हो जाय।

वस्तु कराधान (commodity taxation) का अन्तरण तथा उसकी वाह्यता उत्पादन करो तथा बिक्री करो की प्रकृति तथा उनके क्षेत्र पर निर्भर होती है। भारत मे उत्पादन कर संघ सरकार द्वारा लगाये जाते है और उनका क्षेत्र सभी राज्यो तक विस्तृत होता है। इन करो का विस्तृत क्षेत्र तथा इनकी व्यापकता की स्थिति अन्तरण के लिए अनुकूल होती है। पर इसके बावजूद, यह भी आवश्यक है कि माँग और सभरण (demand and supply) की दशाओ का अध्ययन किया जाए यदि वह वस्तु जिस पर कि उत्पादन कर लगाया जा रहा है अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु है और उसकी माँग मूल्य निरपेक्ष अथवा लचकहीन (inelastic) है तो लगभग सम्पूर्ण कर-भार उपभोक्ताओं की ओर को अन्तरित कर दिया जायेगा। इस प्रवृत्ति (tendency) को उस समय और भी बल मिलता है जबकि वस्तु का सम्भरण मूल्य सापेक्ष अथवा लोचदार होता है। परन्तु यदि किसी ऐसी उत्पादित वस्तु की माँग जिस पर कि उत्पादन-कर लगाया गया है, लोचदार है तो कर की वाह्यता विक्रेताओ पर पडने लगती है क्योकि उपभोक्ता कीमतो मे वृद्धि का प्रतिरोध करते हैं। इस प्रवृत्ति को भी उस समय और बल मिलेगा जबकि वस्तु का सभरण मूल्य निरपेक्ष अथवा लचकहीन होगा। इस स्थिति मे सम्भरणकर्त्ता (suppliers) उच्चतर अथवा निम्नतर कीमतें स्वीकार कर लेंगे। इस प्रकार, सामान्य रूप से, यह माना जाता है कि उत्पादन-कर अन्तरित हो जाते हैं और कभी कभी तो उत्पादन करो से सम्बन्धित कानूनो मे भी इसकी व्यवस्था होती है, परन्तु कर का वास्तव मे अन्तरण होगा या नही—यह बात माँग और सभरण की शक्तियो की

उत्पादन को अपना प्रस्थान बिन्दु स्वीकार किया है। यही कारण है कि सक्रियकारी वित्त की विचारधारा क्रियाशील वित्त के मुकाबले एक श्रेष्ठ विचारधारा है।[11]

उन्नत देशों में लोकवित्त

(Public Finance in Developed Countries)

पुराने अंग्रेज अर्थशास्त्रियों के प्रभाव के कारण, बहुत समय तक, लोकवित्त के अध्ययन की उपेक्षा की जाती रही। परन्तु २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ-साथ और विशेष रूप से सन् १९३० की महान मन्दी के कारण लोकवित्त के अध्ययन को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाने लगा। राजकोषीय नीति का अर्थ है कुछ आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कराधान, सरकारी व्यय तथा सरकारी ऋण का उपयोग करना। आजकल इस नीति को आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण अस्त्र माना जाता है। यह बात अब सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि औद्योगिक अथवा उच्च आय वाली अर्थव्यवस्थाओं की मुख्य समस्या व्यावसायिक दशाओं में स्थिरता (stability) लाने की होती है, जबकि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था (underdeveloped economy) की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं (i) तीव्र प्रगति, और (ii) ढाँचे सम्बन्धी परिवर्तन। उन्नत अर्थव्यवस्था में स्थायित्वीकरण (stabilisation) के एक प्रभावपूर्ण साधन के रूप में राजकोषीय नीति की महत्ता को स्वीकार किया जाने लगा है। इसीलिए अब यह माना जाता है कि उच्च आय वाले देशों के लिए आर्थिक नियोजन का अन्य कोई उपाय इतना प्रभावशाली नहीं है जितना कि एक सही राजकोषीय नीति को अपनाना।

लोकवित्त तथा अल्पविकसित देश

(Public Finance and Underdeveloped Countries)

एक प्रकार से, विकसित तथा अल्पविकसित देशों में राजकोषीय नीति के लक्ष्य (objectives) लगभग समान ही होते हैं। उदाहरण के लिए, वाल्टर हैलर (Walter-Heller) का कहना है कि राजकोषीय नीति (fiscal policy) का उद्देश्य होता है—विनियोग में वृद्धि करना, आर्थिक स्थिरता कायम करना तथा धन व आय की असमानताओं को कम करना। ये उद्देश्य विनियोजित दक्षता (allocative efficiency), आर्थिक प्रगति, आर्थिक स्थिरता तथा अनुकूलतम आय-वितरण के आर्थिक उद्देश्यों से मूल रूप में भिन्न नहीं हैं।[12] परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उन्नत तथा कम विकसित अर्थव्यवस्थाओं के बीच कुछ मूलभूत विभिन्नताएँ निश्चित रूप से पाई जाती है। वास्तविकता यह है कि एक उन्नत अर्थव्यवस्था की मुख्य आर्थिक समस्या स्थिरता (stability) की होती है किन्तु अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की मुख्य आर्थिक समस्या उत्पादन के साधनों की कमी तथा पूँजी निर्माण व विनियोग की न्यूनता की होती है। कुछ राजकोषीय सिद्धान्तवेत्ताओं का यह मत है कि अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति सम्भवतः इसलिए प्रभावशाली नहीं होती क्योंकि ऐसे देशों में आधुनिक, आर्थिक एवं वित्तीय संस्थाएँ सुविकसित नहीं होतीं। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था वाले देश में राजकोषीय नीति को एक सकारात्मक (Positive) तथा महत्वपूर्ण योग देना होता है।[13] उदाहरण के लिए, सर्वप्रथम राज्य से यह माँग की जाती है कि आर्थिक विकास की गति तेज करने के लिए वह एक सक्रिय (active) तथा महत्वपूर्ण योग प्रदान करे। विशेष रूप से आर्थिक जीवन के नियन्त्रण (control) एवं नियमन (regulation) के द्वारा यह देखा गया है कि नियन्त्रण का सबसे अधिक शक्तिशाली और सबसे कम अवाछनीय अस्त्र जिसे कि राज्य आर्थिक विकास को तीव्र करने के लिए प्रयुक्त कर सकता है, यदि कोई हो सकता है तो वह राजकोषीय नीति ही है। दूसरे, एक अल्पविकसित देश

---

11. Van Philips : *Public Finance and Less Development Economics*, p 83.
12. *Walter Heller* · *Fiscal Policies for Underdeveloped Economics*, in Taxes and *Fiscal Policy in Underdeveloped Countries*, P 1.
13. R. J. Chelliah Fiscal policy in underdeveloped countries, p. 21-23.

के वे उपभोक्ता जिनके लिये उस वस्तु की माँग मूल्यसापेक्ष अथवा लोचदार है, उस फर्म से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकते हैं। इसलिये कर लगी फर्म इस बात के लिए बाध्य हो जायेगी कि वह कर-भार को पूर्णतया स्वय ही वहन करे। परन्तु सदा ही ऐसी स्थिति होती हो, ऐसी बात नही है। विशिष्ट बिक्री कर ऐसे पदार्थों पर लगाये जा सकते है जिनका स्थान लेने वाली कोई अन्य महत्वपूर्ण वस्तुएँ न हों। तम्बाकू और पेट्रोल पर लगाये जाने वाले कर इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। फिर, ऐसी वस्तुओं की मांग अत्यधिक मूल्यनिरपेक्ष अथवा अत्यधिक लचकहीन (highly inelastic) होती है। अत ऐसी वस्तुओं पर लगायें जाने वाले विशिष्ट बिक्री कर अन्तरित किये जा सकते हे क्योंकि हो सकता है कि उन्हे उपभोक्ता के कर सम्बन्धी कोई विशेष प्रतिरोध का सामना न करना पडे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिक्री कर सामान्यत अन्तिम उपभोक्ताओं पर आगे की ओर को अन्तरित कर दिये जाते है। यह अन्तरण (shifting) अनिवार्य अथवा आदेश प्राप्त (mandatory) हो सकता है और बिक्री कर के विधान मे इसका स्पष्ट उल्लेख हो सकता है। फिर, करान्तरण के विभिन्न तरीकों के बारे मे एक ओर तो व्यवसायी लोगो को अनुभव प्राप्त हो जाता है और दूसरी ओर उपभोक्ता भी स्वय ही बिक्री कर के तथ्य (fact) को स्वीकार करने लगते है। तथापि, कुछ परिस्थितियां ऐसी अवश्य हो सकती है जिनके अन्तर्गत इन करो का अन्तरण न हो सके और उत्पादक कर के भार को पूर्णतया अथवा अशतया स्वय ही वहन करने को बाध्य हो जायें। इन परिस्थितियो के उदाहरण निम्न है —

(क) बिक्री कर का क्षेत्र इतना सीमित हो कि वह केवल कुछ राज्यो (states) तक ही विस्तृत हो अथवा जिसके अन्तर्गत वैकल्पिक अथवा स्थानापन्न वस्तु (alternative or substitute good) पर कर न लगाये जा सके,

(ख) ऊँची लागत (high cost) की स्थिति मे यह हो सकता है कि कम कुशल फर्में कर का अन्तरण तब न कर सकें जबकि उन्हे नीची लागत (low cost) तथा ऐसी अधिक कुशल फर्मों का सामना करना पडे जिन्होने कि बिक्री कर के भार को स्वय ही वहन करने का निश्चय कर रखा हो, और

(ग) वे एकाधिकारी फर्में जो पहले से ही अधिकतम लाभ प्राप्त कर रही होती हैं।

ये तथा कुछ अन्य अपवाद (exceptions) ऐसे है जिनके बारे मे यह माना जा सकता है कि इन्होंने इस आम धारणा के महत्व को कुछ कम किया है कि बिक्री करों की वाह्यता उपभोक्ताओ पर ही पडती है। पर इसके बावजूद, व्यावहारिक दृष्टि से ये अपवाद कोई विशेष महत्वपूर्ण नही है।

(४) सीमा करो की वाह्यता (The Incidence of Custom Duties)

विदेशी व्यापार पर लगाये जाने वाले सीमा-कर अथवा सीमा शुल्क दो प्रकार के होते है—(१) आयात-कर और (२) निर्यात कर। (१) आयात कर उन करो को कहते हैं जो विदेश मे उत्पादित वस्तुओं पर लगाये जाते हैं, और सामान्यत आयातकर्त्ताओं (importers) से वसूल किये जाते है, यद्यपि इन करो के सम्बन्ध मे सरकार की इच्छा यह होती है कि ये उपभोक्ताओं की ओर को अन्तरित कर दिये जाये (२) निर्यात कर देश मे ही बनी उन वस्तुओ पर लगाये जाते हैं जो निर्यात की जाती हैं। इन करो की देयता (impact of the taxes) यद्यपि प्रारम्भ मे निर्यातकर्त्ताओं (exporters) पर पडती है, तथापि उनके सम्बन्ध मे इच्छा यह होती है कि वे निर्यात की गई वस्तुओ के विदेशी उपभोक्ताओ पर डाल दी जाए। सीमा करो की वाह्यता के सम्बन्ध मे सामान्य विचार यही व्यक्त किया जाता है कि यह कर लगी वस्तुओं के उपभोक्ताओं (consumers) पर ही पडती हैं। यह विचार एव दृष्टिकोण आमतौर पर स्वीकार किया जाता है, यद्यपि इससे सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण मर्यादाओं का भी उल्लेख किया जाता है।

आयात कर की वाह्यता (incidence of import duty)—सर्वप्रथम हम आयात करों को लेते हैं। इन करों की वाह्यता के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि यह आयात करने वाले देश के उपभोक्ताओ पर पड़ती है। देश के उपभोक्ता जब तक उस वस्तु की माँग करते है

परस्पर क्रिया (inter action) पर निर्भर होती है। व्यावहारिक दृष्टि से, करान्तरण के मामले में, उत्पादन-कर लगी वस्तुओं की माँग की प्रकृति बड़ी महत्वपूर्ण होती है। भारत में, उत्पादन-कर तम्बाकू, माचिस, कपड़े तथा चीनी जैसी वस्तुओं पर लगाये गये हैं। ये वस्तुएँ विलासिता की वस्तुएँ नहीं हैं और आमतौर पर इनकी माँग मूल्यनिरपेक्ष अथवा लचकहीन होती है। परिणाम-स्वरूप, इन वस्तुओं पर लगाये जाने वाले उत्पादन-करों का अन्तरण अपेक्षाकृत सरल होता है।

बिक्री कर दो प्रकार के होते हैं, एक तो सामान्य बिक्री कर (general sales taxes) और दूसरे विशिष्ट अथवा चुनीदा बिक्री कर (special or selective sales taxes)। सामान्य बिक्री कर सभी प्रतियोगी वस्तुओं तथा सेवाओं पर समान रूप से पड़ते हैं किन्तु विशिष्ट अथवा चुनीदा बिक्री कर केवल कुछ खास-खास वस्तुओं पर ही लगाये जाते हैं। सामान्य बिक्री करों को सरलता से अन्तरण किया जा सकता है क्योंकि एक तो उनका क्षेत्र व्यापक होता है और दूसरे सभी प्रतियोगी वस्तुओं (competing goods) पर वे एक समान दर से लगाये जाते हैं। इसमें उपभोक्ताओं को प्रतिरोध की बहुत थोड़ी छूट प्राप्त होती है और उसे इस कारण बढ़ी हुई कीमत अदा करनी पड़ती है क्योंकि वे अपने उपभोग को अन्य कर न लगी वस्तुओं के लिए स्थानान्तरित नहीं कर सकते। फिर, सामान्य बिक्री कर के कानूनों में अन्तरण की स्पष्ट एवं अनिवार्य व्यवस्थाएँ होती हैं जिससे इनका अन्तरण और आसान हो जाता है। इसके अलावा एक बात यह है कि लोग चूँकि बिक्री कर लगाने के अभ्यस्त (accustomed) हो जाते हैं, अतः अन्तरण (shifting) को सामान्य स्थिति के रूप में स्वीकार करने लगते हैं। इसके साथ ही, व्यवसायी लोगों को भी सामान्य बिक्री करों के अन्तरण से सम्बन्धित विभिन्न तरीकों के सम्बन्ध में अधिक अनुभव प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, बिक्री कर से वस्तु की उत्पादन-लागत (cost of production) तथा बाजार में लाने की लागत बढ़ जाती है और इससे कर लगी फर्मों को कर के भार का अन्तरण करने की एक निश्चित प्रेरणा मिलती है। उपर्युक्त सभी स्थितियाँ यह प्रकट करती हैं कि सामान्य बिक्री करों का अन्तरण कितना सरल तथा सामान्य रूप से स्वीकृत है।

उत्पादन की दशाएँ तथा उसके साथ ही माँग की मूल्य सापेक्षता अथवा लोचशीलता की स्थितियाँ भी सामान्य बिक्री कर के अन्तरण की सम्भावनाओं पर प्रभाव डालती हैं। यदि कर लगा उद्योग एक प्रतियोगी उद्योग (competitive industry) है तो कर का अन्तरण अन्ततः केवल तभी होगा जबकि सबसे कम कुशल फर्म असफल हो जायेंगी और उसके फलस्वरूप कुल उत्पादन में कमी हो जायेगी। एकाधिकारी दशाओं के अन्तर्गत कर का अन्तरण इसलिये हो जायेगा क्योंकि एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के प्रयत्नों में जुटा रहता है। परन्तु यदि पूर्ण एकाधिकारी (absolute monopolist) यह समझता है कि अधिकतम लाभ देने वाली कीमत निर्धारित हो चुकी है तो हो सकता है कि वह कीमत में और वृद्धि करके उससे छेड़छाड़ पसन्द न करे और कर को स्वयं ही वहन करने का निश्चय कर ले। अन्य सभी स्थितियों में करों का अन्तरण हो जायेगा, परन्तु करों का अन्तरण पूर्णरूप से होगा अथवा केवल आंशिक रूप से, यह बात माँग वक्र (demand curve) की प्रकृति पर निर्भर होगी—अर्थात् माँग की लोच जितनी अधिक होगी, कीमतों में वृद्धि उतनी ही कम होगी। फिर सम्भरण वक्र (supply curve) की प्रकृति भी—अर्थात् यह स्थिर है, वृद्धि पर है अथवा गिरावट पर, यह बात भी—कीमतों की वृद्धि को तथा करान्तरण को प्रभावित करेगी। एक स्थिर माँग-वक्र कर की राशि के बराबर ही कीमत में वृद्धि को प्रेरित करेगी, ऊपर उठती हुई सम्भरण वक्र (rising supply curve) कीमत में कर की राशि मात्रा से अधिक वृद्धि का कारण बनेगी।

विशिष्ट अथवा चुनीदा बिक्री कर का अन्तरण कठिन हो सकता है। इसका कारण यह है कि ऐसे कर के लागू होने का क्षेत्र बड़ा सीमित होता है। यह अन्तरण कर लगी फर्म पर दो स्थितियों में बुरा प्रभाव डाल सकता है, एक तो तब जबकि वैकल्पिक वस्तुओं (alternative goods) पर कर नहीं लगाये जाते और दूसरे तब जबकि कर लगी वस्तुओं की माँग मूल्य सापेक्ष अथवा लोचदार होती है। ऐसी स्थिति में, कर लगी फर्म यदि कर लगने के कारण कीमत में वृद्धि करती है तो वह दो प्रकार से घाटे में रहती है। एक तो इस प्रकार कि इस स्थिति में वस्तु का बाजार इसके हाथ से निकल जायेगा और प्रतियोगी फर्में जिनकी उत्पादित वस्तुओं पर कर नहीं लगा है, बाजार पर कब्जा कर लेंगी। दूसरे यदि फर्म कीमत में वृद्धि करती है तो उस फर्म

किया जा सकता है। मालिक उसे किस सीमा तक उपभोक्ताओं पर विवर्जित कर सकता है, यह विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर होगा। यह सभी जानते हैं कि प्राय सभी राष्ट्रों में सामाजिक सुरक्षा की विभिन्न योजनाएँ होती है, जैसे—बीमारी भत्ता, बेकारी भत्ता, वृद्धावस्था पेंशन आदि।

(६) गृह कर की वाह्यता (Incidence of House Tax)

सामान्यत. नगरपालिका अपने नगर के मकानों पर कर लगाती है जिसे मकान या गृह कर कहते हैं। प्राय इस कर का भार किरायेदार को ही सहन करना पड़ता है। जब मकानों की माग बहुत अधिक होती है और पूर्ति बहुत कम होती है, तो कर का सारा भार किरायेदार को ही सहन करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि मकान मालिक मकान का किराया बढ़ा देता है जिसके परिणामस्वरूप गृह कर का भार किरायेदार के पास हस्तान्तरित हो जाता है। इसके विपरीत, यदि मकान की मांग लोचदार हो अर्थात् माग के साथ-साथ पूर्ति भी पर्याप्त हो और किराये पर सरकारी नियन्त्रण हो तो गृह कर का भार मकान के मालिक को ही सहना पड़ेगा।

यदि विक्रेता मकान मे रहता है तो कर द्वारा मकान का किराया बढ़ाने पर वह वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि कर देगा और इस प्रकार गृह कर का भार उपभोक्ताओं पर विवर्जित हो जायेगा।

वाह्यता तथा अन्तरण की परम्परागत विचारधारा का मूल्यांकन
(Evaluation of the Conventionl Concept of Incidence and Shifting)

अब तक हमने वाह्यता तथा अन्तरण की समस्या पर परम्परागत रीति के अनुसार विचार किया है। अत अब वाह्यता के कुछ आधुनिक विचारों का अध्ययन करने से पूर्व वाह्यता तथा अन्तरण के परम्परागत सिद्धान्त का मूल्यांकन करना लाभप्रद होगा।

परम्परागत विचारधारा (conventionally) के अनुसार "वाह्यता से आशय कर के प्रत्यक्ष द्रव्य-भार (direct money burden) से है।"[14] यह परोक्ष द्रव्य-भार (indirect money burden) से तथा प्रत्यक्ष एव परोक्ष वास्तविक भार (real burden) से भिन्न होता है। पर कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष वाह्यता अथवा द्रव्य-भार तथा परोक्ष प्रभावों (indirect effect) के बीच किया जाने वाला यह भेद कितना काल्पनिक है क्योंकि कर लगने के कारण होने वाले सम्पूर्ण परिवर्तन को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभावों मे समुचित रूप से पृथक्-पृथक् किया ही नही जा सकता। किसी भी कर के वितरणात्मक प्रभावों (distributional effects) पर विचार करते समय यह बड़ा महत्वपूर्ण होता है कि इस पर असर डालने वाले सभी तत्वों का अध्ययन किया जाए। केवल प्रत्यक्ष द्रव्य परिवर्तनों अथवा प्रत्यक्ष द्रव्य भार को ही कोई विशेष महत्व प्रदान करने जैसी कोई बात नही होनी चाहिए। जैसा कि मसग्रेव (Musgrave) ने कहा है कि, "सभी परिवर्तनों पर समायोजन (adjustment) के परस्पर निर्भर अगों के रूप मे ही विचार किया जाना चाहिए—वह समायोजन जो सामान्य सन्तुलन (general equilibrium) की एक ही सामान्य व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यशील हो।"[15]

वाह्यता की परम्परागत विचारधारा की दूसरी कमी इसकी यह गलत धारणा है कि प्रत्येक कर का अन्तिम भार अवश्य होता है। यह कहा जाता है कि हो सकता है कि कर लगाये जायें, हटा लिए जायें और स्थानापन्न कर लगा दिये जायें, परन्तु फिर भी कर का कोई भार न पड़े और वह इस मानो मे कि सार्वजनिक उपयोग के लिए साधनों का कोई स्थानान्तरण नहीं हुआ। अन्य शब्दों मे, दो प्रकार के कर हो सकते है—एक तो वे जिनके द्वारा साधनों का गैर-सरकारी उपयोग मे सरकारी उपयोग की ओर स्थानान्तरण होता है और दूसरे वे जिनके द्वारा ऐसा कोई स्थानान्तरण नही होता है। वाह्यता की परम्परागत विचारधारा जिसके अन्तर्गत कर के अन्तिम

---

14. "Incidence of a tax is the direct money burden of a tax."
15. R. A. Musgrave : The Theory of Public Finance, p 238, "The changes must all be considered as interdependent parts of the adjustment, proceeding in one and the same system of general equilibrium."

और आयात की हुई उस वस्तु को देश मे उत्पादित वस्तु से श्रेष्ठ समझते है तब तक ही वे आयात करो के कारण उसकी कीमत ऊँची होने के बावजूद उसे खरीदने को तैयार रहते है। अत आयात करो के अन्तरण (shifting) को सामान्यतया उपभोक्ताओं द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है पर इसके साथ ही, आयात करो का *अन्तरण प्रतियोगिता की प्रकृति (nature of competition)* पर भी निर्भर होता है। यदि आयात शुल्क कम है और उनसे आयातो पर कोई रोक नही लगती है, तो प्रतियोगिता के अभाव मे आयातकर्त्ता कर को अन्तरित कर देगा, और यदि उसे प्रतियोगिता का सामना करना पडता है (चाहे वह प्रतियोगिता वास्तविक हो अथवा सम्भावित) तो वह वस्तु की कीमत को उस मात्रा तक बढ़ायेगा जो कि विदेशी उत्पादकों द्वारा प्राप्त किये जाने वाले प्रतियोगी लाभ को निष्प्रभावी बना दे। यदि प्रतियोगिता की स्थिति वर्तमान है तो यह हो सकता है कि आयातकर्त्ता कर-भार को उपभोक्ताओं पर डालने मे समर्थ न हो। परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियो मे पीछे की ओर अन्तरण सम्भव हो सकता है, अर्थात् यह कि विदेशियो को वह कर अदा करने को बाध्य किया जा सकता है। आयात की गई वस्तु की माँग यदि मूल्यसापेक्ष अथवा लोचदार (elastic) है और यदि आयातक देश (importing country) उस वस्तु का महत्वपूर्ण खरीदार है तो आयात कर पीछे की ओर अन्तरित कर दिया जायेगा, और कम से कम आशिक रूप से वह उस वस्तु के विदेशी उत्पादको पर अन्तरित किया जायेगा। इसका कारण यह है कि वस्तु की कीमत मे आयात कर के बराबर मात्रा मे वृद्धि करने का परिणाम यह होगा कि उस वस्तु की माँग कम हो जायेगी और इस प्रकार उस उत्पादक देश मे उस वस्तु के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। इन विशिष्ट परिस्थितियो को छोडकर अन्य दशाओं में आयात करो से कर लगी *वस्तुओं की कीमतें बढ जाती हैं और इस प्रकार कर की वाह्यता आयात करने वाले देश के उपभोक्ताओ द्वारा वहन की जाती है।*

अन्य देशो की तरह, भारत मे भी यह हो सकता है कि आयात कर लगने के कारण वस्तु की कीमत मे कर की दर से भी अधिक वृद्धि हो जाये। यदि ऐसा होता है तो यह जरूरी नही कि इसका अर्थ सदा ही यह हो कि सारा का सारा ही कर अन्तरित कर दिया गया है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि विदेशी वस्तुओं पर प्रतिबन्ध से स्थानीय उत्पादको को उत्पादन बढाने का प्रोत्साहन मिला और इससे वे धीरे धीरे एकाधिकारी हो जाते हैं (और इसी कारण ऊँची कीमतें वसूल करते हैं) अथवा देशी उत्पादको की कार्यक्षमता घट जाने के कारण चूँकि उत्पादन लागत मे वृद्धि हो जाती है। अतः वस्तु की कीमतें भी बढ जाती हैं।

निर्यात कर की वाह्यता (incidence of export duty)—ऐसे ही तर्क निर्यात करो की वाह्यता के सम्बन्ध मे भी दिये जा सकते हैं। इन करो से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमते बढ जाती हैं और इस प्रकार कर की वाह्यता विदेशियो पर डाल दी जाती है। तथापि यदि विदेशी बाजार प्रतियोगी बाजार (competitive market) है तो वहाँ वस्तु की कीमत केवल इस आधार पर नही बढाई जा सकती कि निर्यात करने वाले देश ने उस वस्तु पर निर्यात कर लगा दिये हैं। उस स्थिति मे कर का भार स्वय निर्यातकर्त्ताओं को ही वहन करना होगा। इसके विपरीत, *यदि निर्यात करने वाले देश को निर्यात की वस्तु के सम्बन्ध मे एकाधिकार प्राप्त है अथवा यदि* वह सबसे अधिक महत्व वाला निर्यातक देश है, अथवा यदि वह सम्बन्धित वस्तु एक ऐसा महत्वपूर्ण कच्चा माल (raw material) है जिसकी विदेशो मे आवश्यकता है, अर्थात् चाहे यह कह लीजिए कि उस वस्तु की माँग मूल्य निरपेक्ष अथवा लचकहीन (inelastic) है तो निर्यात कर आगे की ओर *विदेशी उपभोक्ताओ पर अन्तरित किये जा सकते है। इसके अलावा अन्य सभी परिस्थितियो मे,* कर का भार या तो स्वय निर्यातको को ही वहन करना होगा अथवा वे उस कर-भार को देश मे ही उस वस्तु के उत्पादको पर पीछे की ओर अन्तरित कर देगे।

(५) सामाजिक सुरक्षा की वाह्यता (Incidence of Social Security).

सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं के हेतु मालिको व श्रमिको के द्वारा अशदान किया जाता है। श्रमिको का अशदान तो उनके पारिश्रमिक पर लिया जाता है। मालिको का अशदान श्रमिको की इकाई के अनुसार उन पर होता है। मालिको व श्रमिको के अशदान का कर भार उद्योगो मे श्रमिको की माँग एव पूर्ति की सापेक्षित लोच द्वारा निर्धारित होता है। यदि श्रमिको की माँग पूर्ति की तुलना मे अधिक लोचदार है तो कर भार मालिको पर हस्तान्तरित

विशेष रूप से नट विकसैल (Knut Wicksell), को वाह्यता का एक नया भिन्न अर्थ देने का श्रेय प्राप्त है।

वाह्यता की नवीन विचारधारा[17]
(A new Concept of Incidence)

उर्सुला हिक्स, मसग्रेव तथा कुछ अन्य लेखकों ने स्वीडन के अर्थशास्त्रियों—विशेष कर विकसैल का अनुसरण करते हुए वाह्यता को एक नयी दिशा प्रदान की है। इन लेखकों के अनुसार "वाह्यता" का अर्थ है आय के वितरण में होने वाले वे परिवर्तन जो कराधान तथा सरकारी व्यय (अर्थात् बजटनीति) में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न हो। यह कहा जाता है कि जब कभी बजट-नीति में परिवर्तन किया जाता है, तो तीन महत्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं : (क) साधनों के स्थानान्तरण में परिवर्तन (जनता से सरकार की ओर को) (ख) कुल उत्पादन सम्बन्धी प्रभाव, और (ग) लोगों के बीच आय के वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव। "वाह्यता" शब्द का उपयोग तीसरे प्रकार के प्रभाव के लिए किया जाता है। यह विचार वाह्यता की उस परम्परागत विचारधारा से स्पष्टत बिल्कुल भिन्न है जिसमें वाह्यता को कर का द्रव्य-भार माना जाता है और यह पता लगाया जाता है कि इस भार को अन्तत कौन वहन करता है। इसके अतिरिक्त, नई विचारधारा उन सभी वितरण सम्बन्धी परिवर्तनों का उल्लेख करती है जो कि सरकार की आय तथा व्यय दोनों में ही होने वाले परिवर्तनों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु परम्परागत विचारधारा (traditional concept) ने सरकारी व्यय के पक्ष को पूर्णतया उपेक्षित कर दिया है।

यहाँ हम वाह्यता से सम्बन्धित ऐसी पाँच भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का उल्लेख कर सकते हैं जोकि विभिन्न प्रकार की बजट-नीतियों पर निर्भर होती है।

कर वाह्यता (Tax Incidence)

मान लीजिए, केवल कर-नीति (tax policy) में होने वाले परिवर्तनों पर ही विचार किया जाता है और सरकारी व्यय (public expenditure) स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील रहता है। कर नीति में परिवर्तन अथवा संशोधन किसी एक विशेष कर में होने वाले परिवर्तन के कारण हो सकते हैं, जैसे कि आय-कर की दरों में कमी अथवा वृद्धि करना। वितरण में होने वाले इस प्रकार के परिवर्तन को **विशिष्ट कर वाह्यता** (specific tax incidence) कहा जाता है। उदाहरण के लिए, पूर्ण रोजगार की दशाओं के अन्तर्गत, यदि आय-कर की करों में कमी कर दी जाए तो उसके फलस्वरूप लोगों के हाथ में अधिक आय आ जायेगी जिससे वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रति उनकी माँग बढ़ सकती है। इससे वस्तु की कीमत में तथा उसकी लागतों में वृद्धि सम्भव हो सकती है और यह वृद्धि अधिक सरकारी खर्च को प्रोत्साहन देगी जिससे कि वास्तविक श्रम का पूर्वस्तर कायम रखा जा सके। इस प्रकार स्फीति (inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इसी तरह, यदि आय-कर की दरों में वृद्धि कर दी जाए तो उससे गैर सरकारी खर्च में कमी करने को प्रोत्साहन मिलेगा और उसके फलस्वरूप अवस्फीति की स्थिति (deflationary situation) उत्पन्न हो जायेगी। स्फीति तथा अवस्फीति, दोनों ही आय के वितरण को प्रभावित करती है। उदाहरणत, अवस्फीति (deflation) से आय तथा धन निर्धन लोगों की ओर से धनी व्यक्तियों की ओर को स्थानान्तरित होता है। इस प्रकार, दो प्रकार की ऐसी वाह्यता होती है जो कि वास्तव में स्थिति को और जटिल बना देती है—पहली वाह्यता वह है जो किसी विशेष कर में परिवर्तन के कारण उत्पन्न होने वाली वाह्यता (specific incidence) यद्यपि प्रकटत बड़ी सरल दिखाई देती है, पर यथार्थ में बड़ी जटिल होती है।

दूसरे प्रकार की वाह्यता को 'भेदमूलक कर वाह्यता' (differential tax incidence) कहा जा सकता है जो कि वितरण सम्बन्धी उन परिवर्तनों की ओर संकेत करती है जो उस समय घटित होते हैं जबकि एक कर के स्थान पर दूसरा कर यह मानते हुए लगाया जाता है कि दोनोंही

17. See R. A. Musgrave op. cit, Chapter 10 and Ursula Hicks Public Finance, Chapter XVI.

भार (ultimate burden) के स्थान को केन्द्रित किया जाता है, इन दूसरे प्रकार के करों पर, सभव है, लागू न हो।

वाह्यता की परम्परागत विचारधारा के सम्बन्ध मे एक तीसरी कठिनाई यह है कि यह करो के प्रत्यक्ष द्रव्य भार पर तो विचार करती है परन्तु व्यक्तियो की वास्तविक आय मे होने वाले सभी परिवर्तनों की उपेक्षा कर देती है। यदि सच कहा जाए तो व्यक्ति के सम्बन्ध मे कर की वाह्यता का विश्लेषण दो भिन्न-भिन्न पहलुओ से किया जाना चाहिए क्योकि प्रत्येक व्यक्ति जहाँ आय कमाने वाला (earner) होता है वहाँ वह खर्च करने वाला (spender) भी होता है। अत व्यक्ति की वास्तविक आय (real income) मे होने वाले परिवर्तनो मे निम्न को सम्मिलित किया जाना चाहिए :—

(क) व्यक्तियो द्वारा बेची जाने वाली सेवाओ की विशुद्ध कीमतो (net prices) मे (कर के पश्चात्) होने वाले परिवर्तन—अर्थात् कर लगने के फलस्वरूप, मजदूरियो, वेतनों, लाभो, ब्याजो तथा किरायो मे होने वाले परिवर्तन।

(ख) व्यक्तियो द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की कुल कीमतो (gross prices) मे होने वाले परिवर्तन। इस सम्बन्ध मे जो बात वस्तुत महत्वपूर्ण है वह यह कि वितरण मे अन्तिम परिवर्तन क्या हुए, यह नही कि कैसे हुए। अन्य शब्दो मे, वास्तविक आय मे परिवर्तन कर लगे अथवा करमुक्त पदार्थो (goods) अथवा उपादानो (factors) की कीमतो के परिवर्तनो द्वारा हो सकते हैं, या ये परिवर्तन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष तरीके से हो सकते है, अथवा ये व्यक्ति के बजट के आय-पक्ष अथवा व्यय-पक्ष, दोनो मे से किसी के द्वारा भी उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु परम्परागत विचारधारा मे इन तथ्यो एव विचारो की उपेक्षा कर दी गई है।

चौथे, वाह्यता की परम्परागत विचारधारा मे यह माना गया है कि कर लगने से किसी न किसी को हानि उठानी होती है और वाह्यता की समस्या यही है कि उस व्यक्ति का पता लगाया जाए जो उस हानि को सहन करता है। पर वास्तव मे, वितरण सम्बन्धी उस परिवर्तन का विश्लेषण करते समय, जो कि बजट नीति मे समायोजन करने के फलस्वरूप उत्पन्न होते है, अलग-अलग व्यक्तियो को होने वाले लाभो एव हानियो, दोनो पर ही विचार किया जाना चाहिए। यदि यह मान लिया जाता है कि कर-परिवर्तनो के फलस्वरूप गैर-सरकारी उपयोग के लिए उपलब्ध साधनो मे कोई कमी नही हुई है, तो समाज मे जहाँ कुछ को हानियाँ होंगी वहाँ कुछ को लाभ भी होंगे। यदि कराधान (taxation) तथा सरकारी व्यय, दोनो पर साथ-साथ विचार किया जाए तो उससे जहाँ हानियाँ सामने आयेंगी वहाँ लाभ अथवा उपलब्धियाँ (gains) भी सामने आयेगी। अतः यह आवश्यक है कि वाह्यता की समस्या के अध्ययन मे जहाँ कर लगने के फलस्वरूप होने वाली हानि को सम्मिलित किया जाए, वहाँ उन लाभो एव उपलब्धियो का भी ध्यान रखा जाए जो सरकारी व्यय के कारण कुछ लोगो को प्राप्त होती हैं। इस सम्बन्ध मे, मसग्रेव का मत है कि "हम यह कभी नही कर सकते कि हानि की कुछ विशिष्ट मदो का ही उल्लेख करें और उनका सम्बन्ध नये कर के भार से अथवा साधनो के नये स्थानान्तरण की लागत से जोड दें, अथवा अन्य लाभो एव हानियों को परोक्ष प्रभावो के स्तर पर लाकर छोड दें। इसके विपरीत हमे वितरण मे होने वाले उन समस्त परिवर्तनो पर ही विचार करना चाहिए जिनमे सभी व्यक्तिगत लाभ तथा हानियाँ सम्मिलित हों।"[16]

निष्कर्ष (Conclusion)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाह्यता की परम्परागत विचारधारा दोषपूर्ण है अतः अच्छा यह होगा कि वित्त की क्षतिपूर्ति व्यवस्था (compensatory system of finance) के सदर्भ मे, जो कि बड़ी अस्पष्ट है, इस विचारधारा को और व्यापक अर्थ मे लिया जाए। स्वीडन के अर्थशास्त्रियो,

16. R. D. Musgrave · op, cit., p. 30, "We can never point to particular items of loss and identity these with the burden of the new tax or the cost of the new resource transfer while reducing other gains or losses the status or indirect effects. Rather we must consider the entire change in distribution including all individual gains as well as losses."

प्रकार हम प्रयोग करते है वह तो उन परिवर्तनों तक ही सीमित है जो गैर-सरकारी उपयोग मे काम आने वाली आय के वितरण मे होते है ।"[18]

सन्तुलित बजट वाह्यता (Balanced Budget Incidence) .

अन्त मे, हम वितरण सम्बन्धी उन परिवर्तनो का भी उल्लेख कर सकते है जिनके कारण कर तथा व्यय, दोनों से ही सम्बन्धित नीतियों में हेर-फेर करनी होती है । उदाहरण के लिए, सरकारी व्यय मे ऐसा परिवर्तन हो सकता है जो साधनो के स्थानान्तरण के स्तर मे ही परिवर्तन कर दे और इसके कारण कर सम्बन्धी ढाँचे मे रद्दोबदल करनी पड सकती है जो कि वांछित वित्त के लिए आवश्यक हो । वितरण में होने वाले इन परिवर्तनों को ही 'सतुलित बजट वाह्यता' (balanced budget incidence) कहा जा सकता है' वाह्यता की यह विचारधारा सर्वोत्तम मानी जाती है क्योकि यह **"वाह्यता के सरल व सामान्य अर्थ के सबसे निकट है और सरकारी सेवाओ की लागत को समूह के उन सदस्यो के बीच बाँट देती है जो सरकारी व्यय से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे लाभ उठाते हैं ।"**

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1	R A Musgrave	The Theory of Public Finance, Chapter 10
2	Otto Von Mering	The Shifting and Incidence of Taxation Chapters III-V & XI
3	John	Government Finance Chapter 16
4	Hugh Dalton	Public Finance, Chapters VII & VII
5	Ursula Hicks	Public Finance, Chapter XVI
6	E H Plank	Public Finannce
7	Duncan Blank	Incidence of Income Taxes
8	Seligman	The shifting and Incidence of Taxation, Chapter I

UNIVERSITY QUESTIONS

१ कर भार से क्या आशय है ? कर भार के विभिन्न सिद्धान्तो का वर्णन कीजिये ।

What is meant by incidence of tax ? Mention the various theories of incidence of tax

२ "वस्तुओ पर लगे सभी करो का भार पूर्णत उपभोक्ताओ पर पडता है ।" इस कथन की सत्यता की जांच कीजिये ।

"The incidence of all taxes on commodities is entirely on consumers" Examine the validity of this statement

---

18 मसग्रेव ने प्रदर्शित किया है कि वस्तुओ व सेवाओ पर किया गया सरकारी व्यय निजी उपयोग के लिए उपलब्ध होने वाली सापेक्षिक आय के निर्धारण मे किस प्रकार हस्तक्षेप करता है । परन्तु उनके अनुसार, सापेक्षिक आमदनियाँ केवल सरकारी व्यय का ही प्रत्यक्ष परिणाम नही होती, अपितु "सरकारी व्यय की नीतियो का केवल गौण उत्पादन मात्र होती हैं ।" दूसरी ओर, कर तथा उसके अन्तरण की नीति का मुख्य उद्देश्य वितरण को प्रभावित करना होता है और इसी कारण "वितरण सम्बन्धी परिवर्तन अथवा वाह्यता की समस्याओ का करान्तरण की नीति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है ।"

करो से प्राप्त द्रव्य-आय बराबर है। जब एक कर के स्थान पर दूसरा कर लगाया जाता है जिसमे कुल द्रव्य-आय पूर्ववत् रहती है तो उसका अर्थ यह होता है कि सरकारी व्यय की मात्रा पूर्ववत् रहेगी और यह कि वस्तुओ एव सेवाओ की सरकारी तथा गैर-सरकारी माँग में कोई परिवर्तन नही है। तथापि, विभिन्न प्रकार के कर गैर-सरकारी माँग को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं और इस प्रकार मूल्य-स्तर को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। इस स्थिति मे, द्रव्य के रूप मे सरकारी व्यय मे अनिवार्यत. परिवर्तन होगा बशर्ते कि वास्तविक व्यय के स्तर को बनाये रखना है। इस प्रकार, दोनों करो की द्रव्य-आय एक समान होने की मान्यता पर आधारित भेदमूलक कर वाह्यता की परिभाषा, सभव है, इतनी अच्छी सिद्ध न हो। भेदमूलक कर वाह्यता की परिभाषा करने का दूसरा तरीका यह है कि दोनो ही करो के वितरण सम्बन्धी परिणामों मे अन्तर पर विचार किया जाय और समान आय-प्राप्ति की व्यवस्था की जाए। इसका अर्थ यह है कि दोनों मे से प्रत्येक प्रकार के कर के अन्तर्गत जो मूल अथवा सापेक्षिक कीमतें प्रचलित होती है उनके आधीन सरकार के निश्चित वास्तविक खर्चो की वित्तीय व्यवस्था के लिए उस कर से प्राप्त द्रव्य-आय पर्याप्त है। भेदमूलक कर वाह्यता की विचारधारा उस समय के लिए वास्तव मे महत्वपूर्ण है जबकि अर्थव्यवस्था (economy) के स्थिरीकरण (stabilisation) के सदर्भ मे एक समुचित कर-नीति पर विचार किया जा रहा हो।

व्यय वाह्यता (Expenditure Incidence)

यदि कर स्थिर रखे जाएँ—अर्थात् कर-निर्धारण का सूत्र तथा दरो का ढाँचा अपरिवर्तित रहे—और सरकारी व्यय मे परिवर्तन हो तो कुछ वितरण सम्बन्धी प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होंगे। इसे ही व्यय वाह्यता कहा जा सकता है। यदि सरकारी व्यय द्रव्य के रूप मे घटता या बढता है तो सरकारी उपयोग की ओर को साधनो के स्थानान्तरण मे कमी या वृद्धि होगी। सरकारी व्यय मे होने वाले परिवर्तनो के फलस्वरूप लोगों की आय मे होने वाले ये परिवर्तन ही 'विशिष्ट व्यय वाह्यता' (specific expenditure incidence) के नाम से पुकारे जाते है। मान लीजिए किसी विशिष्ट समय मे, सरकारी व्यय मे वृद्धि होती है, तो इसका अर्थ होगा कि जनता के हाथो मे सामान्यत. अधिक आय आ जाएगी। परन्तु सरकारी व्यय मे वृद्धि के साथ ही वस्तुओ तथा सेवाओ में भी वृद्धि की आशा की जा सकती है और इससे स्फीति सम्बन्धी स्थिति (inflationary situation) उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार सरकारी, व्यय मे कमी होने से न केवल लोगो द्वारा प्राप्त की जाने वाली आय मे ही कमी होगी बल्कि अवस्फीति सम्बन्धी शक्तियाँ (deflationary forces) उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार, जब व्यय मे परिवर्तन होता है तो वितरण सम्बन्धी प्रभाव दो प्रकार से प्रकट होते हैं (क) सरकारी व्यय के कारण होने वाले परिवर्तन और (ख) उस स्फीति तथा अवस्फीति के कारण होने वाले परिवर्तन जो कि सरकारी व्यय के परिवर्तनो के फलस्वरूप ही उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार, 'विशिष्ट व्यय वाह्यता' की विचारधारा मे भी वही कमियाँ पाई जाती हैं जो कि 'विशिष्ट कर वाह्यता' मे पाई जाती है।

सरकारी व्यय के परिवर्तनों से ही सम्बद्ध स्फीति (inflation) तथा अवस्फीति (deflation) की वाह्यता से बचने के लिए, हम सरकारी व्यय के परिवर्तनो पर विचार तो करना चाहिए परन्तु ऐसा सन्तुलित वजट के ढांचे के अन्तर्गत ही होना चाहिए। इसका अर्थ यह होगा कि सरकारी व्यय मे किसी एक दिशा मे जो वृद्धि होगी वह अन्य दिशा मे होने वाली सरकारी व्यय की कमी द्वारा निष्प्रभावी बना दी जाएगी। ऐसे सरकारी व्यय के वितरण सम्बन्धी प्रभावो को ही 'भेद मूलक व्यय वाह्यता' (differential expenditure incidence) की सज्ञा दी जा सकती है। मसग्रेव का तो यह मत ह कि विशिष्ट (specific) तथा भेदमूलक, दोनो ही प्रकार की कर वाह्यता वास्तव मे इतनी उपयोगी अथवा रुचिकर नही है जितनी भेदमूलक कर वाह्यता की विचारधारा है। मसग्रेव (Musgrave) के ही शब्दो मे, "वाह्यता की समस्या स्वाभाविक रूप से ही, वस्तुओ तथा सेवाओ पर सरकारी व्यय मे परिवर्तनो की इतनी नही है जितनी कि कर मे तथा स्थानान्तरण की नीति (transfer policy) में होने वाले परिवर्तनो मे अधिक रुचि लेने की है। सरकारी सेवाओ द्वारा प्रदान किए जाने वाले लाभ जहाँ वितरणात्मक महत्व रख सकते हैं, विशेष रूप से उच्च आवश्यकताओं की स्थिति मे, वहाँ ये लाभ वाह्यता का अग नहीं होते। इस 'शब्द' का जिस

१३

कराधान के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Taxation)

वैसे हम विभिन्न प्रकार के करो का वर्णन करते समय पीछे सभी महत्वपूर्ण करो मे से प्रत्येक के आर्थिक प्रभावो का उल्लेख कर चुके है। इस अध्याय मे हम उन्ही प्रभावो का, जिनका कि पहले ही काफी विस्तार से वर्णन कर चुके हैं, सक्षेप मे उल्लेख करेंगे।

सर्वप्रथम तो हम इस बात का उल्लेख करेंगे कि कराधान (taxation) सहित लोकवित्त (public finance) की विचारधाराओ मे कितना आमूल परिवर्तन हुआ है। एक समय ऐसा भी था जब अर्थशास्त्री लोकवित्त के बारे मे एक सीमित दृष्टिकोण ही अपनाते थे। परन्तु कीन्स (Keynes) ने जो आर्थिक विचारधारा प्रस्तुत की थी उसमे क्रान्तिकारी परिवर्तन होने के साथ ही साथ लोकवित्त की विचारधारा मे भी काफी परिवर्तन हो गया। पहले लोग कराधान को जहां राजस्व का केवल एक स्रोतमात्र ही समझते थे, वहां अब इसका उपयोग एक ऐसे अस्त्र के रूप मे किया जाता है जो कि आय के उत्पादन तथा वितरण को एव देश मे स्फीति (inflation) तथा अवस्फीति (deflation) की स्थिति को प्रभावित कर सकता है और सत्य तो यह है कि आर्थिक क्रियाओ का ऐसा कोई पहलू नही है जो कराधान द्वारा प्रभावित न होता हो। जहां प्राचीन लेखक कराधान की आर्थिक तटस्थता (economic neutrality)[1] का उल्लेख किया करते थे, वहां अधिकतर आधुनिक लेखक, जिन्होंने क्रियोचित वित्त (functional finance) की विचारधारा मे अपना योगदान किया है, यह मत प्रकट करते हैं कि सरकारी व्यय और कराधान, दोनो ही ऐसे महत्वपूर्ण साधन है जिनके द्वारा आर्थिक जीवन एव आर्थिक क्रियाओ मे स्थिरता लाई जा सकती है और तेजी व मन्दी की बारम्बारता को रोका जा सकता है। इन लेखको के मत मे, इस सम्बन्ध मे राजस्व या सरकारी आय (revenue) का तत्व कोई विचारणीय तत्व नही है और स्वय कराधान भी केवल गौण महत्व रखता है। राजकोषीय अधिकारियो का मुख्य लक्ष्य होता है आर्थिक स्थिरता (economic stability) को बनाये रखना। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकारी प्राधिकारी

---

1. डाल्टन ने, जिसकी लोकवित्त पर लिखी पुस्तक इगलैण्ड तथा राष्ट्रमण्डल देशो मे अभी हाल तक इस विषय की प्रसिद्ध पाठ्यपुस्तक मानी जाती थी, लिखा है कि "आर्थिक दृष्टिकोण से कराधान की सबसे अच्छी व्यवस्था वह है जो सबसे अच्छे तथा कम से कम बुरे आर्थिक प्रभाव डालती है।"

३. "किसी वस्तु पर लगाये गये कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार क्रेता और विक्रेता के बीच उस वस्तु की माग और पूर्ति के लोच के अनुपात में विभाजित किया जाता है।" (डाल्टन)। इस कथन की विवेचना कीजिये और बताइए कि एकाधिकार में लगे करो को कर भार के सिद्धान्त के आधार किस प्रकार संशोधित किये जाने चाहिये?

"The direct money burden of a tax imposed on any object is divided between the buyers and the sellers in the proportion of the elasticity of supply of the object taxed to the elasticity of demand for it." (Dalton). Discuss and consider how far the theory of incidence should be modified in the cases of taxes on monopolies?

४. भारत के सम्पत्ति कर, आयात एवं निर्यात कर तथा वस्तु कर के कर भार की व्याख्या कीजिये।

Discuss the incidence of property tax, export and import duties and commodity taxes in India

५. औपचारिक एवं प्रभावी कर भार से आप क्या समझते हैं? प्रतियोगी एवं एकाधिकारी दशाओ में कर-भार का विश्लेषण कीजिये।

What do you understand by formal and effective incidence of taxation? Analyse the incidence of outlay taxes under competitive and monopoly conditions

६ आप कर भार से क्या समझते हैं? दर्शाइये कि किस प्रकार कर भार अन्तत 'अतिरेक' पर पड़ता है?

What do you understand by incidence of taxation? Show how incidence of a tax falls on 'surplus'?

७ "किसी कर का विवर्तन हो सकता है या नही, यह किसी प्रतिपक्षी की शक्ति पर निर्भर करता है जिसके द्वारा उसका विवर्तन रोका जा सकता है। यह रक्षात्मक शक्ति मांग और पूर्ति के लोच द्वारा प्रदर्शित होती है।" (टेलर) विवेचना कीजिए।

Whether or not a tax can be shifted will depend upon the strength of the defence which can be maintained against shifting. The strength of this defence is reflected in the elasticity of demand and supply." (Taylor) Discuss

८ किसी एक वस्तु विशेष का कर-भार समझाइये जबकि वह (अ) पूर्ण प्रतियोगिता तथा (ब) एकाधिकार की स्थिति में उत्पन्न की जा रही हो।

Discuss the incidence of a tax on a particular commodity produced (a) under conditions of perfect competition, and (b) under conditions of *monopoly*

९ "कर भार का टाला जाना केवल मूल्य सरचना के द्वारा ही सम्भव है।" व्याख्या कीजिये तथा कर-भार तथा उसके विवर्तन को स्पष्ट कीजिये।

The shifting of a tax comes about through price transaction." Discuss and illustrate this statement, explaining the meaning of shifting and incidence of taxes.

१० विभिन्न भारतीय करो के कर भार टालने की समस्या का विवेचन कीजिये।

Discuss the problems of the shifting of the incidence of tax in respect of the different taxes levied in India

की मूल समस्या पूंजी के सचय की होती है और यह कार्य कराधान के द्वारा किया जा सकता है। जैसा कि नर्कसे (Nurkse) ने कहा है "मेरा विश्वास है कि कम विकसित देशो मे पूँजी के निर्माण की समस्या को हल करने मे लोकवित्त को नई महत्ता प्राप्त हुई है।"[14] अन्त मे, लोकतन्त्रीय नियोजन (democratic planning) मे भी राजकोषीय नीति को एक महत्वपूर्ण योग देना होता है। वित्तीय योजना (financial plan) भी उतनी ही महत्वपूर्ण होती है जितनी कि भौतिक योजना (Physical plan), और वित्तीय योजना को क्रियान्वित करना, स्पष्टत इस बात पर निर्भर होता है कि राजकोषीय कार्यवाहियो का उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है।

निष्कर्ष (Conclusion) ·

इस प्रकार, स्पष्ट है कि लोकवित्त का बडा भारी महत्व है और प्रत्येक दशाब्दी (decade) के साथ इसका महत्व इसलिये और अधिक बढता जा रहा है, क्योंकि अनेक कारणोवश राज्य ने बहुत से कार्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना और लोगो के आर्थिक जीवन मे उल्लेखनीय रूप से भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Ursula Hicks — A Study in Public Finance Chapter I.
2. H. Dalton — Public Finance, Chapter II.
3 Harold Groves — Financing Government, Chapter I.
4. Water Heller — Fiscal Policies in Underdeveloped Economies, Chapter I
5. R Nurkse — Problems of Capital Formation in Underdeveloped Countries
6 Pigou — A Study of Public Finance.
7. C.F, Bastable — Public Finance.

विश्वविद्यालीय प्रश्न (UNIVERSITY QUESTIONS) :

१ लोकवित्त की परिभाषा दीजिए तथा इसके क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
Define Public Finance and discuss its scope

२. राजस्व के स्वरूप एव योगदान की विवेचना कीजिए।
Examine the nature and role of Public Finance

३. किसी राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर राज्य लोकवित्त द्वारा किस प्रकार प्रभाव डाल सकता है ? विवेचना कीजिए।
How can the State influence the economic life of a nation through the machinery of Public Finance ? Discuss.

४. लोकवित्त तथा निजी वित्त में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
Explain the difference between public finance and private finance

५. राजस्व की विषय-सामग्री तथा क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
Discuss the subject-matter and scope of public finance

६. "राजस्व अर्थशास्त्र के सामान्य अध्ययन का एक भाग होने से वास्तविक व आदर्श पक्ष रखता है, लेकिन कला के क्रियाशील होने से वे अपने विशेष लक्षण भी रखते है।" (यू० हिक्स)।
उपर्युक्त विवरण के सदर्भ मे राजस्व के क्षेत्र की विवेचना कीजिए तथा उसके वास्तविक एव आदर्श पक्षो का विवेचन कीजिए।

---

14 R Nurkse · Problem of capital formation in Underdeveloped Countries p 143, "I believe that Public Finance assumes a new significance in the face of the problem of capital formation in underdeveloped countries"

(public authorities) किसी भी स्रोत से धन प्राप्त कर सकते है—चाहे कराधान से या उधार से अथवा नोट छापकर भी। यह हो सकता है कि अनेक लोग क्रियोचित वित्त की विचारधारा को अत्यधिक तीव्र माने, तथापि इस बात से इन्कार नही किया जा सकता है कि पिछली तीन चार दशाब्दियो (decades) मे राजकोषीय नीति (fiscal policy) देश मे आर्थिक क्रियाओ के स्तर को प्रभावित करने वाली एक महत्वपूर्ण शक्ति बन गई है।

कराधान के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Taxation)

कराधान के आर्थिक प्रभावो का अध्ययन करने से पूर्व हमें विशेषतः निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) **सम्पूर्ण करने प्रणाली पर प्रभाव**—किसी एक कर का प्रभाव न देखकर हमे सम्पूर्ण कर-प्रणाली के सामूहिक प्रभाव को देखना चाहिए, तथा

(२) **व्यय करने का ढग**—करों से प्राप्त आय को किस प्रकार व्यय किया जाता है, इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए क्योकि करो के सग्रह से जो बुरे प्रभाव पडते है उन्हे व्यय के अच्छे प्रभाव से समायोजित किया जा सकता है।

डाल्टन (Dalton) के अनुसार कराधान के आर्थिक प्रभावो का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

कराधान के आर्थिक प्रभाव

- (अ) कराधान का उत्पादन पर प्रभाव
  - (I) कार्य करने व बचत करने की योग्यता पर प्रभाव
  - (II) कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर प्रभाव
  - (III) कराधान तथा आर्थिक साधनो का दिशा परिवर्तन
- (ब) कराधान का वितरण पर प्रभाव
- (स) कराधान के अन्य प्रभाव
  - (१) उपभोग पर प्रभाव
  - (२) रोजगार पर प्रभाव
  - (३) पूँजी निर्माण पर प्रभाव
  - (४) आर्थिक स्थिरता पर प्रभाव
  - (५) कराधान एव मुद्रा प्रसार
  - (६) कराधान एव मुद्रा सकुचन
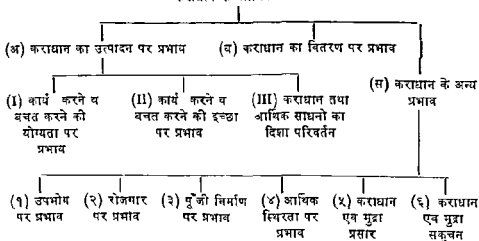
(अ) कराधान का उत्पादन पर प्रभाव
(Effect of Taxation on Production)

डाल्टन के अनुसार, "आर्थिक दृष्टि से कर की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था वह है जिसका कि सर्वश्रेष्ठ अथवा सबसे कम खराब आर्थिक प्रभाव पड़ता है।"[2] उनका कहना है कि कराधान का जो उत्पादन पर प्रभाव पडता है, उसको निम्न तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है —

(I) **कराधान तथा काम करने तथा बचत करने की योग्यता** (taxation and ability to work and save),

2. 'The best system of taxation from the economic point of view is that which has the best, or the least bad, economic effects.'—*Dalton.*

(II) **कराधान तथा काम करने तथा बचत करने की इच्छा** (taxation and willingness to work and save), और

(III) **कराधान तथा आर्थिक साधनों का दिशा परिवर्तन** (taxation and diversion of economic resources)

कराधान इन तीनो ही बातो को प्रभावित करके राष्ट्रीय आय की उत्पत्ति को भी प्रभावित कर सकता है । अब हम इन तीनो ही स्थितियो पर सक्षेप मे विचार करते हैं ।

(I) कराधान तथा काम करने व बचत करने की योग्यता (Taxation and Ability to Work and Save)

कराधान के द्वारा व्यक्तियों तथा संगठनों के पास आय की मात्रा में कमी हो जाती है क्योकि इन व्यक्तियो तथा सगठनो को करो के रूप मे अपनी द्रव्य-आय का एक भाग सरकार को देना पडता है । एक ऐसा व्यक्ति जो आय-कर के रूप मे अपनी आय का एक बडा प्रतिशत दे देता है, हो सकता है कि यह अनुभव करे कि वह तो अपने लिए सामान्य सुविधाएँ तक नही जुटा सकता, यहाँ तक कि बच्चो की शिक्षा भी नही—इसका अर्थ होगा उसकी काम करने की योग्यता मे कमी । इसके अतिरिक्त, एक आरोही आय-कर बचत करने की योग्यता को भी कम कर देता है—जैसा कि कीन्स (Keynes) ने कहा है कि बचत तो आय के स्तर पर ही होती है । अतः कर द्वारा जब आय कम होती है तो उसके साथ बचत भी कम हो जाती है । काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर केवल प्रत्यक्ष कराधान ही नहीं, अपितु परोक्ष कराधान भी ऐसे ही प्रभाव डालता है ।

तथापि, यह कहा जा सकता है कि कराधान, जो कि करदाता की क्रय-शक्ति (purchasing power) को कम कर देता है, धनी व्यक्तियो के मुकाबले निर्धन वर्ग के लोगो को ही अधिक प्रभावित करता है, क्योंकि यह एक निर्धन व्यक्ति ही होता है जो कि कर लगने के बाद जीवन की अनिवार्य, आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओ को खरीदने मे असमर्थ हो जाता है, जबकि एक धनी व्यक्ति तो हमेशा ही जो भी वह खरीदना चाहे खरीद सकता है । अतः वे कर जो कि अनिवार्य आवश्यकताओ पर पडते है, काम करने लगते है, किन्तु आय-कर, मृत सम्पदा शुल्क (estate duties) तथा अन्य कर जो कि उच्चतर आय वाले वर्गों पर लगाये जाते हैं, उनकी बचत करने की योग्यता को कम करते हैं । इस प्रकार, काम करने की योग्यता का सम्बन्ध जहाँ निर्धन वर्ग के लोगो मे होता है, बचत करने की योग्यता धनी वर्ग के लोगो पर लागू होती है ।

(II) कराधान तथा काम करने व बचत करने की इच्छा (Taxation and Willingness to Work and Save) :

जहाँ यह बतलाना बडा सरल है कि काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर कराधान के क्या प्रतिकूल प्रभाव पडते है, वहाँ यह प्रकट करना कठिन है कि कराधान तथा काम करने की प्रेरणाओ (अर्थात् काम करने व बचत करने की इच्छा) के बीच क्या सम्बन्ध है । इस प्रश्न का समाधान हमे दो शीर्षकों के अन्तर्गत करना होगा, (क) एक तो यह कि कराधान के प्रति, विशेष रूप से कराधान की ऊँची दरों के प्रति व्यक्तियो की क्या प्रतिक्रिया होगी और (ख) दूसरे करो की ऊँची दरें, लगने के प्रति व्यावसायिक फर्मे तथा उद्यम किस प्रकार क्रियाशील होते है ? इनमे से पहला प्रश्न और कुछ नही, केवल काम करने की प्रेरणाओ पर विचार विमर्श करना मात्र है, जबकि दूसरे के अन्तर्गत विनियोग करने की प्रेरणाओ पर विचार किया जायेगा ।

(१) **प्रेरणाएँ तथा व्यक्ति** (incentives and individuals)—व्यक्ति के मामले मे, कर की अदायगी कमाई हुई आय मे से की जाती है । कर की प्रत्याशा (anticipation of tax) और अपनी निश्चित आय मे से उसको अदा करने की आवश्यकता व्यक्ति को इस बात के लिए भी प्रेरित कर सकती है कि वह कठिन श्रम करे और अधिक कमाये, अथवा इस बात के लिए भी कि वह काम की मात्रा को पूर्ववत् ही रखे और पूर्ववत् ही आय प्राप्त करे और कर की राशि की अदायगी अपनी बचतो मे से कर दे । परन्तु बिना विचारे ही एक दम यह कह देना बडा कठिन है कि कोई व्यक्ति कर के फलस्वरूप अधिक कठिन श्रम करना आरम्भ कर देगा अथवा कम दाम

करना। कुछ सीमा तक यह बात करदाताओं की मनोवैज्ञानिक स्थिति और लगाये गये कर की प्रकृति तथा उसकी दर पर निर्भर होती है।

लगाये जाने वाले करों की प्रकृति (nature) को ही यदि पहले लिया जाए तो इस सम्बन्ध में यह बात व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है कि प्रत्यक्ष करों, विशेष रूप से आय-कर की प्रेरणाओं (incentives) पर अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत, वस्तुओं के कराधान का प्रेरणाओं पर आमतौर पर या तो कोई प्रभाव नहीं पड़ता अथवा बहुत ही थोड़ा प्रभाव पड़ता है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि आय-करों की स्थिति में करदाता को कर की एक निश्चित धनराशि सरकार को प्रत्यक्ष रूप में अदा करनी होती है। अत, स्पष्टतः ही, इस स्थिति में वह अधिक काम करने का इच्छुक नहीं होगा क्योंकि उसे अपने काम के पुरस्कार का एक भाग सरकार को अदा करना पड़ेगा। दूसरी ओर, वस्तु कर चूँकि कीमतों में ही निहित होते हैं अतः औसत करदाता को उनकी विद्यमानता का पूरा ज्ञान तक भी नहीं होता। इस प्रकार, प्रत्यक्ष कर जहाँ काम करने की प्रेरणाओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं, वहाँ वस्तु करों का गुण यह है कि ये इन प्रेरणाओं पर कोई प्रभाव नहीं डालते।

फिर, आय-कर तथा अन्य प्रत्यक्ष करों की हल्की दरें, यह हो सकती हैं कि बिना चीं-चों (mur-mur) किये ही अदा कर दी जाएँ परन्तु करों की ऊँची दरें, जो कि कुछ स्तरों पर अतिरिक्त आय की लगभग ८० या ९०% तक हो जाती है, ऐसे लोगों को अवश्य ही प्रभावित करेंगी जो कि अतिरिक्त आय कमाने की परेशानी तथा असुविधा इसलिये नहीं उठाना चाहते क्योंकि उस पर उन्हें ऐसी ऊँची दरों से कर अदा करना पड़ेगा। ये ऊँची दरें करों को छिपाने तथा उनसे बचने को भी प्रोत्साहित करेंगी।

अब हम पहली बात—अर्थात् करदाताओं की **मनोवैज्ञानिक स्थिति**—पर विचार करते हैं। कराधान के द्वारा करदाता अधिक कठिन श्रम करने लगेंगे या पूर्ववत् ही काम करेंगे अथवा पहले से कम काम करेंगे—यह बात करदाताओं की आय की मूल्य सापेक्षता अथवा लोचशीलता (elasticity) पर निर्भर होगी, अर्थात् यह एक निश्चित आय प्राप्त करने की कितनी तीव्र लालसा उनके मन में है। उनकी आय की मांग लोचदार (elastic) भी हो सकती है और लोचहीन (inelastic) अथवा एक समान भी हो सकती है। आय की मांग एक समान तब कही जाती है जबकि प्रत्याशित आय चाहे कुछ भी न हो, व्यक्ति की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पूर्ववत् बनी रहती है। ऐसा तब हो सकता है जबकि कठिन श्रम करने, अतिरिक्त समय में काम करने अथवा अतिरिक्त कार्य मिलने आदि के अवसर वर्तमान न हों। सरकारी विभागों में काम करने वाले व्यक्तियों में से अधिकांश की यही स्थिति होती है। इसके अतिरिक्त, (व्यवसायी लोगों की तरह) कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कि काम करने तथा बचत करने के अभ्यस्थ हो जाते है, फिर चाहे सरकार द्वारा लगाये जाने वाले कर किसी भी प्रकार के क्यों न हों। इन व्यक्तियों की स्थिति में, आय के प्रति उनकी मांग को एक समान (unity) माना जा सकता है और इस परिस्थिति में कराधान लोगों की काम करने तथा बचत करने की प्रेरणाओं पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगा।

आय की मांग लोचदार तब कही जाती है जबकि कोई व्यक्ति अपनी एक निश्चित आय को बनाये रखने का इच्छुक नहीं होता अथवा वह इस बात के लिए तैयार नहीं होता कि वह अपनी आय की पूर्व राशि को ही प्राप्त करने के लिए कठोर श्रम करे। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को १०,००० रु० की वार्षिक आय प्राप्त हो रही है और उससे १,००० रु० वार्षिक आय-कर के रूप में अदा करने को कहा जाता है। अब यदि उसके मन में अपनी आय को बनाये रखने की तीव्र लालसा नहीं है तो इस बात का कष्ट नहीं उठायेगा कि वह कठिन श्रम करे और इतना अतिरिक्त धन कमाये कि कर अदा करने के बाद भी उसे १०,००० रु० वार्षिक प्राप्त होते रहे। यह आय की मूल्य सापेक्ष अथवा लोचदार मांग का एक उदाहरण है।

आय की मांग उस स्थिति में मूल्य निरपेक्ष अथवा लचकहीन कही जाती है जबकि व्यक्ति में एक निश्चित आय को बनाये रखने की लालसा अत्यधिक तीव्र होती है। ऊपर के ही उदाहरण में, वह व्यक्ति जिसे १०,००० रु० की वार्षिक आय प्राप्त हो रही है और जिसे १,०००रु०

वार्षिक कर अदा करना पड़ता है, यदि कठिन श्रम करता है और इतना अतिरिक्त कष्ट उठाने को तैयार हो जाता है जिससे कि वह अपनी १०,००० रु० की सामान्य आय को पूर्ववत बनाये रख सके तो यह कहा जायेगा कि आय के प्रति उसकी मांग मूल्यनिरपेक्ष अथवा लचकहीन है।

इस प्रकार, यदि किसी व्यक्ति की आय की मांग लोचदार होती है तो हो सकता है कि उसकी काम करने एव बचत करने की प्रेरणा कम हो जाए और यदि ऐसा हुआ तो उत्पादन मे कमी आ जायेगी। दूसरी ओर, यदि किसी व्यक्ति की आय की मांग लचकहीन है तो करारोपण के द्वारा उसकी आय करने तथा बचत करने की प्रेरणा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडेगा, बल्कि प्रेरणा में और वृद्धि होगी।

तथापि, व्यवहार मे आय की मांग आमतौर पर लचकहीन हुआ करती है। यह निष्कर्ष सार्वलौकिक रूप से स्वीकार किया जाता है और इसे सैद्धान्तिक विचारो तथा अनेक अनुभवपूर्ण अध्ययनो का समर्थन प्राप्त है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति ही न्यूनतम जीवन-स्तर बिताने का अभ्यस्त होता है और वह सम्भव तरीको से उस जीवन-स्तर को बनाये रखने का प्रयत्न करता है। सभी उन्नत अर्थव्यवस्थाओ के अन्तर्गत शिक्षा के व्यापक प्रसार के साथ ही साथ लोगो के लिए यह लगभग असम्भव हो जाता है कि वे उन वस्तुओ तथा सेवाओ का त्याग करे जिनका प्रयोग करने के वे सामान्यत आदी हो गये हैं। इस स्थिति मे, अतिरिक्त करारोपण लोगो को अधिक और कठिन श्रम करने को प्रेरित करेगा और वे अपनी आय को बढाने का प्रयत्न करेंगे। दूसरे, अधिकाश लोगो मे यह प्रवृत्ति (tendency) बड़ी दृढता से पाई जाती है कि वे अनेक कारणोवश धन का सचय करें। यह प्रवृत्ति चाहे अपने उत्तराधिकारियो को धन देने के लिए हो सकती है अथवा इसलिए हो सकती है कि धन के द्वारा समाज मे शक्ति एव श्रेष्ठता प्राप्त की जाये या यह कार्य तथा उद्यम के प्रति प्रेम के कारण भी हो सकती है। शिक्षा का विश्वव्यापी प्रसार होने के कारण तथा प्रदर्शन की भावना के कारण ऐसे लोग एव भारी सख्या मे पाये जाते है जो भविष्य मे—चाहे अपने लिए जबकि वे बूढे हो, अथवा अपने आश्रितो के लिए छोड जाने को—एक निश्चित न्यूनतम आय प्राप्त करने के लिए कठिन श्रम करते हैं। इन सभी मामलो मे, आय-प्राप्ति की लालसा इतनी तीव्र है कि "आय-कर की दर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि के साथ ही साथ व्यक्ति के सफलता के साथ किये जाने वाले प्रयत्नो मे भी इसलिए वृद्धि हो जाती है ताकि उसकी आय बढ जाये और वह उसमे से कर अदा कर सके।"[3]

(२) प्रेरणाएं तथा व्यावसायिक इकाइयां (incentives and business units)—अब हम अपना ध्यान इस प्रश्न की ओर केन्द्रित करते हैं कि व्यावसायिक फर्मो के करारोपण का काम करने तथा विनियोग करने की प्रेरणाओ पर क्या प्रभाव पडता है। यहाँ उन सम्पूर्ण प्रभावो का अध्ययन करना बडा आवश्यक होगा जो उद्यमकर्त्ताओं (entrepreneurs) को इस बात के लिये प्रोत्साहित करते हैं कि वे बाजार की यन्त्र रचना से सम्बन्धित जोखिमो एव सकटो को झेलें। साहस की भावना, जुआ खेलने अथवा जोखिम उठाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति, लाभ कमाने की प्रेरणा, प्रतियोगिता की भावना, नये-नये आविष्कार अथवा नये नये तरीके अपनाने की लालसा, व्यावसायिक अथवा औद्योगिक साम्राज्य स्थापित करने की आकाक्षा, धन का सचय करने की इच्छा, समाज मे शक्ति एव प्रतिष्ठा की एक सम्मानीय स्थिति प्राप्त करने तथा आर्थिक शक्ति के द्वारा राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने की चाह, कठिन श्रम, आत्म-सयम तथा धन के एकत्रीकरण की धार्मिक भावना—ये कुछ वे प्रेरक शक्तियाँ (motive forces) है जो कि काम करने वाली मुख्य एव विनियोग करने की प्रेरणाओ को प्रभावित करती है। पश्चिमी अर्थशास्त्रियों ने व्यक्तिगत लाभ की इच्छा को ही उद्यम (enterprise) की भावना के पीछे काम करने वाली मुख्य प्रेरक शक्ति माना है। यदि अन्य बातें समान रहें तो जिन बातो से लाभो मे वृद्धि की आशाएं बलवती होती है, वे सभी बातें उद्यम को भी प्रोत्साहित करती है, और जिन बातो से लाभो की प्रत्याशा कम होती है वे उद्यम की भावना में बाधायें उत्पन्न करती है। अत कर और विशेष रूप से ऊँचे कर

3. *Dalton:* Public Finance, p. 77, "Every raising of rate at which income tax is levied has been followed by increased efforts, successfully made, to increase incomes out of which to pay the tax."

प्रेरणाओ तथा उद्यमों पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं या नही, यह इस बात पर निर्भर है कि लाभ-प्राप्ति की सभावनाओ पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। परन्तु लाभ निम्न दो तत्वों पर निर्भर हुआ करते है: —

(क) व्यावसायिक इकाई द्वारा काम में लाये जाने वाले उत्पादन के उपादानों (factors of production) की कीमतें (अर्थात् उत्पादन लागत), और

(ख) व्यावसायिक इकाई द्वारा उत्पादित एव बेची गई वस्तुओ की कीमते।

इन दोनो ही किस्म की कीमतो मे जितना ही अधिक अन्तर होगा, लाभ की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी (और यदि प्रथम प्रकार की कीमतें दूसरी प्रकार की कीमतो से आगे बढ जाएं तो लाभ के नाम पर उसका उल्टा)। अन्ततः, कराधान उत्पादन के उपादानो की तथा तैयार माल की बाजार माँग तथा पूर्ति को अवश्य प्रभावित करेगा और इससे लाभ की आशाएं प्रभावित होगी और तत्पश्चात् लाभ प्रेरणाओ एव साहस को प्रभावित करेंगे।

उत्पादन के उपादानो (factors of production) पर लगाये गये करो की ऊँची दरो के कारण, स्पष्टतः, उत्पादन-लागतो (costs of production) मे वृद्धि होने लगती है। यदि तैयार माल (finished goods) की कीमतें पूर्ववत् रहती है तो लाभ घट जाते है और तत्पश्चात् प्रेरणाओ तथा साहस मे भी कमी हो जाती है। यदि फर्म इस योग्य है कि वह कर के भार को या तो (कीमतें बढाकर) वस्तु के उपभोक्ताओं की ओर को अथवा (उत्पादन के उपादानो की कीमतें घटा कर) उपादानो के स्वामियो की ओर को अन्तरित कर दे, तब तो एक अप्रेरणात्मक तत्व के रूप मे कर की कोई समस्या ही नही है।

दूसरी ओर, यदि वस्तुओ की ऊँची दरो से कर लगाये जाते हैं तो उससे वस्तुओ की कीमतो मे वैसी ही वृद्धि होने लगती है। अब समस्या यह है कि व्यावसायिक फर्म कर के भार को अन्तिम उपभोक्ताओं पर डाल भी सकती है या नही (और कुछ थोडे से मामलों में तो उत्पादक यह प्रयत्न करता है कि वह कर भार को पीछे की ओर उत्पादन के उपादानो के स्वामियो पर डाल दें)। यदि समुदाय की माँग स्थिर होती है तो फर्म के लिए कीमत मे वृद्धि करना और कर-भार को उपभोक्ताओ पर डालना सम्भव हो जाता है। दूसरी ओर, यदि (कर लगने से) वस्तु की कीमत में वृद्धि हो जाने के कारण मांग घटती है तो व्यावसायिक इकाइयाँ कम उत्पादन करने को बाध्य हो जायेंगी। अन्ततः, प्रेरणाएं तथा साहस इस बात पर निर्भर होंगे कि जनता के पास क्रय-शक्ति कितनी मात्रा मे है और विशिष्ट वस्तुओ के प्रति लोगो की माँग किस प्रकृति (nature) की है। जब तक कर सम्बन्धी कार्यवाइयां खर्च के लिए उपलब्ध धन की मात्रा को प्रभावित नही करती अथवा जब तक कीमतो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन होने पर भी मांग अप्रभावित रहती है, तब तक करों की ऊँची दरें कोई अप्रेरणात्मक प्रभाव नही डालती। अन्य शब्दो मे, चाहे कर कितने ही क्यो न हो, और करो की दरें चाहे कितनी ही कम या अधिक क्यो न हो, उद्यमकर्त्ताओं के काम करने तथा विनियोग करने पर उस समय तक उनका कोई अप्रेरणात्मक (disincentive) प्रभाव नही पड़ेगा जब तक कि उनके लाभों को स्पर्श न किया जाए।

निष्कर्ष (Conclusion) :

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि वे कर ही प्रेरणाओ तथा साहस पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं जो कि निगम-लाभो को कम कर देते हैं और जो कर लाभों को प्रभावित नही करते, वे प्रेरणाओ (incentives) तथा साहस (enterprise) को भी प्रभावित नही करते। निगम-आय-कर से लाभो की मात्रा कम हो जाती है अतः यह कर उद्यमकर्त्ताओ (enterpreneurs) की नये उद्यम चालू करने और प्रचलित उद्यमो का विस्तार करने की इच्छा पर प्रभाव डालते हैं। परन्तु छप्पर-फाड लाभो (windfall profits) पर लगाया जाने वाला कोई भी कर अथवा एकाधिकारी आयाधिक्य (monopoly surplus) पर लगाया गया कोई एकमुश्त कर (lumpsum tax) प्रेरणाओ को प्रभावित नही करता। छप्पर-फाड अथवा अप्रत्याशित लाभो की स्थिति मे, चूँकि आय अप्रत्याशित (unexpected) होती है, छप्पर-फाड़ लाभो पर लगाया जाने वाला कर भी अप्रत्याशित ही होता है। अत. स्पष्ट है कि ऐसा कर प्रेरणाओ को हानि कोई नही पहुँचा

सकता। इसी प्रकार, चूँकि एकाधिकारी लाभ, कर से पहले अधिकतम होता है, अतः उस पर लगाया जाने वाला एक-मुश्त कर, कराधान के पश्चात् भी उस लाभ को अपेक्षाकृत अधिकतम मात्रा में ही छोड़ेगा। वस्तु कर—उत्पादन कर तथा बिक्री कर—साधारणतः उपभोक्ताओं की ओर अन्तरित (shift) कर दिये जाते हैं और व्यावसायिक इकाइयों द्वारा स्वयं बहुत ही कम मामलों में वहन किये जाते हैं। इस सीमा तक उनका उत्पादन बिना किसी कमी के बराबर जारी रहता है। परन्तु यदि वस्तुकरों के कारण कीमतों में भारी वृद्धि होती है और उसके फलस्वरूप सम्बन्धित वस्तुओं की माँग में कटौती होती है तो उत्पादन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। परिणामस्वरूप, प्रेरणाओं तथा साहस पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। परन्तु आमतौर पर, वस्तु पर काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की इच्छा को व्यक्तिगत आय-करों एवं निगम आय-करों की तुलना में कम मात्रा में घटाते हैं।

कम विकसित देश में कराधान की प्रेरणाएँ
(Taxation and Incentives in the Underdeveloped Country)

कराधान का उपयोग प्रेरणाओं तथा साहस में वृद्धि करने वाले तथा बचत व विनियोग (saving and investment) को बढ़ाने वाले एक साधन के रूप में किया जा सकता है। ऐसा तीन महत्वपूर्ण तरीकों से किया जा सकता है। सर्वप्रथम, एक अल्पविकसित देश में राजकोषीय अधिकारी (fiscal authorities) कराधान की व्यवस्था इस प्रकार कर सकते हैं कि वह प्रत्यक्ष रूप से बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहित करे। उदाहरण के लिये, नये चालू उद्यमों को प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक कर सम्बन्धी छूटें तथा रियायतें दी जा सकती हैं जिससे उन्हें कि दृढ़ता के साथ अपने पैरों पर खड़े होने में मदद मिले। पहले से प्रस्थापित उद्यमों के मामले में भी उनके विस्तार एवं विकास की स्थिति में कर सम्बन्धी रियायतें तथा विकास सम्बन्धी छूटें प्रदान की जा सकती हैं। कराधान-नीति में यथेष्ट हेर-फेर करके गैर सरकारी क्षेत्र को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है कि वे अपने उद्यम का तेजी के साथ विस्तार तथा विकास करें। दूसरे, कराधान के द्वारा उन विदेशी वस्तुओं के आयात को प्रतिबन्धित किया जा सकता है जो देशी वस्तुओं से प्रतियोगिता करती हों। स्थानीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने की यह एक पुरानी रीति है। इस स्थिति में देशी उद्योगों का जो विस्तार होगा, बाद में उसका उपयोग उत्पादन करों के एक स्रोत के रूप में किया जा सकता है। अन्त में, स्वयं कराधान का ही उपयोग सम्पूर्ण समुदाय की एक प्रकार की सामूहिक बचत के रूप में किया जा सकता है। अन्त में, स्वयं कराधान का ही उपयोग सम्पूर्ण समुदाय की एक प्रकार की सामूहिक बचत के रूप में किया जा सकता है। अब यह माना जाता है कि एक अल्पविकसित देश की सरकार को आय-कर (tax revenues) का उपयोग केवल चालू व्यय (current expenditure) के लिए ही नहीं, अपितु आर्थिक विचारों के विकास कार्यों के लिए भी करना चाहिए। सरकार को आय-कर का उपयोग सामाजिक निर्माण में भी करना चाहिए क्योंकि आर्थिक विकास के लिए ऐसा करना अत्यावश्यक होता है। कराधान जहाँ व्यक्तियों तथा कम्पनियों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है, वहाँ सरकार के पूँजी-निर्माण के द्वारा इसकी क्षतिपूर्ति भी की जा सकती है। इस प्रकार, कराधान सम्पूर्ण समुदाय के पूँजी-निर्माण का ही एक रूप बन सकता है।

(III) कराधान तथा आर्थिक साधनों का दिशा परिवर्तन (Taxation Division of Economic Resources):

किसी भी देश में उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय की मात्रा जहाँ काम करने तथा बचत करने की योग्यता एवं इच्छा पर निर्भर होती है, वहाँ उत्पादन का ढाँचा (pattern of production) उस रीति पर निर्भर होता है, जिसके द्वारा आर्थिक एवं मानवीय साधनों का बँटवारा किया जाता है। कराधान उस रीति को प्रभावित कर सकता है जिसके अनुसार इन साधनों का वितरण होता है और विभिन्न धन्धों तथा स्थानों के बीच साधनों की न्यूनाधिक रूप में अनुकूल दिशा-परिवर्तन कर सकता है। परिणामस्वरूप, कराधान केवल उत्पादन की मात्रा को ही नहीं, अपितु उत्पादन के नमूने एवं ढाँचे को भी प्रभावित कर सकता है।

हितकारी दिशा परिवर्तन (Beneficial Diversions) :

धन्धो तथा स्थानो के बीच कराधान के कारण होने वाला साधनो का दिशा-परिवर्तन अथवा अन्तरण अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी। हानिकारक औषधियो पर लगाया गया कर उन औषधियो की कीमत मे इतनी वृद्धि कर देता है कि जिसके फलस्वरूप उसकी मांग मे काफी कमी हो जाती है। मांग मे कमी होने से ऐसी वस्तुओ का उत्पादन हतोत्साहित होता है और उन वस्तुओ के बनाने मे लगे हुये उत्पादन के साधन शनै शनै अन्य उद्योगो की ओर को अन्तरित (shift) होने लगते है। इस स्थिति मे, उपभोग पर लगे प्रतिबन्ध को और अन्य वस्तुओ की मांग अथवा उनकी ओर को उपभोग के दिशा-परिवर्तन को हितकारी दिशा परिवर्तन कहा जा सकता है। इसी प्रकार, उत्पादन पर लगे प्रतिबन्ध को और उसके फलस्वरूप उत्पादकीय साधनो के अन्य तथा अधिक उपयोगी उद्योगो की ओर को होने वाले स्थानान्तरण को भी हितकारी अन्तरण कहा जा सकता है। परन्तु यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि कल्याण सम्बन्धी बातो के आधार पर इसे कहाँ तक न्यायोचित ठहराया जा सकता है। एक कल्याणकारी राज्य मे, विलासिता की वस्तुओं पर कर इसलिए लगाये जा सकते है जिससे कि इन वस्तुओ के उत्पादन मे लगी पूँजी और श्रम को ऐसी वस्तुओ के उत्पादन की ओर को मोडा जा सके जो कि निम्नतर आय वाले वर्गो की उपभोग की आवश्यकताओ की श्रेणी मे आती है।

फिर, विशेष रूप से पिछडे क्षेत्रो मे यदि कर सम्बन्धी छूटे एव रियायतें प्रदान की जाएँ तो इससे भीड-भाड वाले घने बसे क्षेत्रो मे लगे आर्थिक साधनो को पिछडे क्षेत्रो की ओर को मोड़ा जा सकता है। इससे जहाँ पिछडे क्षेत्रो की उन्नति एव उनके विकास मे सहायता मिलेगी, वहाँ सभी क्षेत्रो का सन्तुलित आर्थिक विकास भी सभव हो सकेगा।

हानिकारक दिशा-परिवर्तनो के उदाहरण (Example of Harmful Diversions)

यदि कर ऐसे उपयोगी पदार्थो पर लगाये जाते है जो कि अनिवार्य आवश्यकता के पदार्थ नही है तो सभावना इस बात की है कि उपभोग तथा उत्पादन सीमित हो जायेंगे और मांग एव तत्पश्चात उत्पादन भी कम उपयोगी वस्तुओ की ओर को अन्तरित हो जायेंगे। ऐसा दिशा-परिवर्तन अथवा अन्तरण, स्पष्टत ही, समाज के हित मे नही होता। हानिकारक दिशा-परिवर्तन का एक अन्य उदाहरण यह हो सकता है कि जब सरक्षण करो (protective duties) के द्वारा कुछ ऐसे देशी एव स्थानीय उद्योगो का विकास किया जाता है जिन्हे कि वास्तव मे कोई लाभ उपलब्ध नही होते। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन-लागत मे वृद्धि हो जाती है और उपभोक्ताओ को कर का स्थायी भार वहन करना होता है। इसके अतिरिक्त साधन (resources) सरक्षण प्राप्त उद्योगो की ओर को मोड़े जा सकते है परन्तु अच्छा यही होगा कि उनको चालू उद्योगो मे जार रहने दिया जाये। परन्तु यह स्थिति उससे भिन्न होगी जबकि सरक्षित उद्योगो की स्थापनासे पूर्व उत्पादन के साधन खाली पडे हों।

राजनैतिक ढाँचे की सघीय पद्धति के अन्तर्गत, साधनो के अन्तरण का एक सामान्य रूप तब उत्पन्न हो सकता है जबकि विभिन्न राज्य भिन्न-भिन्न प्रकार के कर लगायें अथवा एक से हो करो को विभिन्न दरो से लगायें। इसका एक सुन्दर उदाहरण है भारत मे बिक्री कर की भिन्न-भिन्न दरो का लागू होना जिसके कारण ही कुछ सीमा तक साधनो की उथल-पुथल तथा उनका अन्तरण हुआ है।

अन्त मे, साधनो का हानिकारक दिशा-परिवर्तन सम्भव हो सकता है जबकि पूँजी किसी एक देश से अन्य देशो को इसलिये जाने लगे क्योंकि पहले देश मे भारी कर लगा दिये गये है। परन्तु इस अन्तरण को कुछ सीमा तक तब रोका भी जा सकता है जबकि विदेशो मे कमाई हुई आय पर भी कर लगा दिया जायें।

यदि थोडी सी सावधानी और सतर्कता बरती जाए तो यह सम्भव हो सकता है कि साधनो के हानिकारक दिशा परिवर्तन से बचा जा सके और विभिन्न उद्योगो क्षेत्रो तथा अवधियो के बीच हितकारी दिशा-परिवर्तन किये जा सके। विनियोग तथा आर्थिक विकास के ढाँचे को कुछ सीमा तक कर सम्बन्धी कार्यवाइयो द्वारा प्रभावित किया जा सकता है पर इसके बावजूद, यह नहीं

भूलना चाहिए कि भारत जैसे एक विकासशील देश में, सरकार अपना योगदान उच्च प्रबन्धकों की व्यवस्था करके तथा अन्य उद्योगों की स्थापना करके ही दे सकती है और अन्य ऐसी प्रत्यक्ष कार्यवाहियाँ कर सकती है जो कि न केवल उत्पादन की मात्रा को, अपितु उत्पादन के ढाँचे को भी प्रभावित करें।

निष्कर्ष (Conclusion) :

इस प्रकार, उत्पादन, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार अनेक तत्वों पर निर्भर होते हैं और इन सभी तत्वों को कराधान के द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। यह कोई जरूरी नहीं है कि यह प्रभाव प्रतिकूल ही होगा। उदाहरण के लिए, प्रत्यक्ष करों के द्वारा काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, परन्तु परोक्ष करों के प्रभाव, सम्भव है, सदा ही स्पष्ट न हों। प्रेरणाओं तथा साहस का जहाँ तक सम्बन्ध है, प्रत्यक्ष कर इन्हें कम करते हैं परन्तु कर के ढाँचे में उचित हेर-फेर तथा संशोधन करके यह सम्भव हो सकता है कि काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की इच्छा को बढ़ावा मिले। अन्त में, आर्थिक साधनों का अन्तरण अथवा दिशा-परिवर्तन इस प्रकार किया जा सकता है कि जिससे आर्थिक गतिविधि की रफ्तार बढ़ सके, यद्यपि यह हो सकता है कि करों को लागू करने में यदि सावधानी नहीं बरती गई तो उसके फलस्वरूप आर्थिक साधनों का हानिकारक दिशा-परिवर्तन हो जाए और तत्पश्चात राष्ट्रीय आय पर उसके हानिकारक प्रभाव पड़े तो देखना यह है कि जहाँ तक कराधान तथा उत्पादन के बीच सम्बन्ध का प्रश्न है, निष्कर्ष क्या निकलता है? कुछ विशिष्ट व्यवसायी यह समझ सकते हैं कि सभी प्रकार का कराधान उत्पादन के लिए बुरा तथा हानिकारक होता है परन्तु यह बात सत्य से काफी दूर है। एक तो इस कारण, क्योंकि कराधान का उपयोग प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन की वृद्धि के लिए किया जा सकता है। दूसरे, कराधान के सभी हानिकारक प्रभावों को सरकारी व्यय के अनुकूल प्रभावों के द्वारा लाभप्रद बनाया जा सकता है।

कराधान और वितरण
(Taxation and Distribution)

अधिकांश आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं के अन्तर्गत कराधान का नवीन उद्देश्य यह माना जाता है कि इसका उपयोग आय की असमानताओं को दूर करने में तथा एक समाजवादी समाज की रचना में किया जाए। फेबियन समाजवादियों (Fabian socialists) के प्रभाव के कारण, पिछली अनेक दशाब्दियों से इंगलैण्ड ऐसी ही नीति को अपना रहा है। यहाँ भी, जो विचार-विमर्श किया जाए वह कराधान तथा वितरण के रूप में नहीं, बल्कि राजकोषीय नीति (fiscal policy) और वितरण के रूप में होना चाहिए, क्योंकि उक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कराधान तथा सरकारी व्यय, दोनों का साथ-साथ ही उपयोग किया जाता है।

इस बात में संदेह व्यक्त किया जा सकता है कि कराधान अथवा राजकोषीय नीति का उपयोग आय तथा धन के अधिक न्यायपूर्ण वितरण करने में किया जा सकता है। यद्यपि इस बात से कोई इन्कार नहीं करता कि आय की असमानताएँ दोषपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण हैं परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में अनेक लोग शंका प्रकट करते हैं कि कराधान एवं सरकारी व्यय का उपयोग इस प्रकार की समानता लाने के लिए कहाँ तक ठीक ठीक किया जा सकता है। जैसा कि १९वीं शताब्दी के प्रसिद्ध लोकवित्त विशेषज्ञ, बेस्टिविल (bastable) ने लिखा है कि "यदि समाजवादी ढंग की समाज की रचना करना ही लक्ष्य है तो उसकी प्राप्ति के अधिक प्रत्यक्ष एवं अधिक प्रभावशाली अन्य अनेक उपाय मौजूद है, बजाए इसके कि उक्त लक्ष्य के लिए कराधान का उपयोग किया जाए।" परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था को क्रान्तिकारी एवं हिंसात्मक उपायों द्वारा उखाड़ फेंकने की बात केवल कट्टरपन्थी कम्युनिस्ट ही सोच सकते हैं, अन्य कोई नहीं। अत: इस स्थिति में, आय की असमानताएँ कम करने का तथा एक शोषण रहित समाज की स्थापना करने का सम्भवतः सबसे अधिक प्रगतिशील एवं सर्वाधिक तर्कपूर्ण तरीका राजकोषीय नीति (fiscal policy) के उपयोग का ही रह जाता है।

प्रत्यक्ष कर तथा वितरण (Direct Taxes and Distribution) :

कराधान मुख्यत. उच्चतर आय वाले वर्गों की आय की मात्रा मे कमी करता है और उस आय को सरकारी एव अर्ध-सरकारी प्रशासन की ओर को स्थानान्तरित कर देता है और वह प्रशासन उस कर-आय का उपयोग निर्धन लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने मे कर सकता है। अत. सामान्य रूप मे, वे सभी कर जो कि उच्चतम आय वाले वर्गों पर ही अधिक मात्रा मे अथवा पूर्णतया पड़ते हैं, वितरण सम्बन्धी अनुकूल प्रभाव भी डाल सकते हैं। इस सन्दर्भ मे, प्रत्यक्ष कर जो कि आरोहण (progression) पर आधारित होते हैं और जो करदेय क्षमता की अनेक कसौटियो का उपयोग करते हैं, वितरण सम्बन्धी सर्वाधिक अनुकूल प्रभाव डालते हैं।

सर्वप्रथम तो, यह स्पष्ट है कि उन व्यक्तियो की कर अदा करने की योग्यता अधिक होती है जो अधिक आय, और विशेष रूप से अर्नजित आय (unearned income) प्राप्त करते हैं। कराधान के लिए एक उपयुक्त आधार क्या हो, इस प्रश्न को यदि एक ओर छोड दिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि आय तथा धन से दो ऐसे महत्वपूर्ण तत्वो का निर्माण होता है जो कि आय की वर्तमान असमानताओ के लिए उत्तरदायी है। परिणामस्वरूप, आय तथा धन पर आधारित करो का प्रभाव यह होता है कि आय की असमानताओं के मुख्य स्रोतो पर चोट पड़ती है। यदि आय-कर लोगो द्वारा प्राप्त की जाने वाली आय मे कमी करता है, यदि वार्षिक शुद्ध धन कर (annual net wealth tax) व्यक्ति के धन को कम करता है और यदि मृत्यु कर अथवा उपहार कर आदि उत्तराधिकार मे दी जाने वाली सम्पत्ति की मात्रा मे कमी करते हैं तो यह निश्चित है कि कुछ समय बीतने पर केवल लोगो की आय मे ही कमी नही होगी अपितु सम्पत्ति के आकार मे भी कमी होगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष कर जो कि लोगों पर उनकी कर अदा करने की योग्यता के आधार पर लगाये जाते हैं, आय के वितरण पर अनुकूल प्रभाव डालते है।

दूसरे, प्रत्यक्ष करो मे आरोहण अथवा क्रमवर्धन (progression) को मान्यता दी जाती है, अर्थात् जैसे जैसे करदाता की कर अदा करने की योग्यता बढती है, वैसे-वैसे ही कर की भी बढती जाती है। उदाहरण के लिए, आय-कर इस प्रकार लगाये जा सकते हैं कि एक उपयुक्त अधिकतम आय की सीमा से ऊपर, कर कमाई हुई सम्पूर्ण अतिरिक्त आय को छीन सकता है। इसी प्रकार, मृत्यु करो को इतना आरोही अथवा क्रमवर्धी बनाया जा सकता है कि बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ भी दो या तीन पीढियो मे ही घट कर छोटी हो जाएँ। तथ्य यह है कि यदि प्रत्यक्ष करो को तीव्र आरोही बनाया जाता है तो होगा यह कि एक निश्चित सीमा से ऊपर की सभी आय तथा धन राजकोषीय अधिकारियो द्वारा ले लिये जायेंगे।

प्रत्यक्ष करो को काफी तीव्र आरोही बना दिये जाने के बावजूद भी, किसी भी उन्नत देश मे आवश्यक मात्रा मे समानता (equality) नही लायी जा सकी है। इसका मुख्य कारण रहा है प्रत्यक्ष करो को छिपाने तथा उससे बचने की गुंजाइश। कुछ सीमा तक तो प्रत्यक्षकरो के साथ ही साथ लोगो की काम करने, बचत करने तथा धन का सचय करने की इच्छा भी बढी है।

परोक्ष कर और वितरण (Indirect Taxes and Distribution) :

वस्तु कर (commodity taxes) अथवा परोक्ष कर चूँकि आरोहण के सिद्धान्त पर लागू नही किये जा सकते, अत जहाँ तक कर-भार के वितरण का सम्बन्ध है, वे निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों पर ही अधिक बोझ डालते हैं क्योंकि यही वर्ग अपनी आय का एक बडा भाग वस्तुओ पर खर्च करते हैं। प्रत्यक्ष कर जहाँ आरोही (progressive) होते है, वहाँ वस्तु कर आमतौर पर अवरोही (regressive) हुआ करते हैं, परन्तु वे वितरण सम्बन्धी पहलू छोडकर अन्य बातो के विचार से लगाये जाते है।

यद्यपि, सामान्य रूप मे, वस्तु कर—उत्पादन कर तथा बिक्री कर—अवरोही होते हैं और धनी तथा निर्धन लोगो पर समान रूप से पड़ते है, तथापि यह सभव हो सकता है कि विशेष कराधान के लिए कुछ ऐसी वस्तुएँ छाँट ली जाएँ जो कि सामान्यत. धनी लोगो द्वारा प्रयोग की जाती हैं। विलासिता की वस्तुओ पर लगाये जाने वाले उत्पादन इसी सिद्धान्त पर आधारित होते हैं और घटिया किस्म की वस्तुओ को कर-मुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार, बिक्री कर

भिन्न दरों से लगाये जा सकते है—अर्थात् सुख चैन की वस्तुओं (deluxe goods) के लिए ऊँची दर और सामान्य एवं औसत किस्म की वस्तुओं के लिए अपेक्षाकृत नीची दर। परन्तु व्यवहार में एक कठिनाई यह सामने आती है कि उन वस्तुओं को कैसे छाँटा जाए जो कि केवल अथवा पूर्णतया धनी व्यक्तियों द्वारा ही उपभोग की जाती हैं। फिर, यदि बिक्री कर भिन्न-भिन्न दरों से लगाये गये तो उनके संग्रह में बड़ी उलझन उत्पन्न होगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वस्तु कर, साधारण तया, वितरण सम्बन्धी अनुकूल प्रभाव नहीं डालते। अतः यह स्पष्ट है कि यदि कोई देश एक शोषण विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है तो उसे परोक्ष करों पर निर्भर रहने की बजाए प्रत्यक्ष करों पर ही अधिक जोर देना होगा।

वितरण सम्बन्धी प्रभाव तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाएँ
(Distributional Effects and Underdeveloped Economics)

किसी भी देश में, पुनर्वितरण कराने वाले कराधान का क्षेत्र वर्तमान है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि वहाँ आय तथा धन की असमानताएँ कितनी मात्रा में तथा किस स्तर की हैं। पुनर्वितरण सम्बन्धी कराधान (redistributive taxation) का उद्देश्य आय तथा धन की उन विषमताओं को कम करना होता है जो कि स्वतन्त्र उद्यमों वाली अर्थव्यवस्था का एक सामान्य लक्षण होती हैं।

एक विकसित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, पूर्ण रोजगार की स्थिति के कारण और साधनों के उच्च स्तर के उपयोग के कारण उत्पादन की मात्रा तथा राष्ट्रीय आय का आकार काफी ऊँचा तथा बड़ा होता है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि इन देशों में, अर्थशास्त्री अर्थव्यवस्था के उत्पादन-पक्ष (production aspect) पर जोर नहीं देते बल्कि राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण से ही अपना सम्बन्ध रखते है। जिससे कि लोगों के कुल आर्थिक कल्याण की मात्रा को अधिकतम किया जा सके। किन्तु एक अल्पविकसित देश में समस्या पूर्णतया उससे भिन्न होती हैं। वहाँ दोनों ही प्रकार की समस्याएँ होती है—राष्ट्रीय आय में वृद्धि की भी और आय के श्रेष्ठतर वितरण की भी। यदि उन्नत देशों के मुकाबले वहाँ उत्पादन का स्तर नीचा है तो आय तथा धन का वितरण भी वहाँ अन्यायपूर्ण ही होगा। इन देशों में, जहाँ एक ओर भारी संख्या में लोग निर्धनता एवं कष्टों के चक्र में पिसते हुए अपनी जीवन की गाड़ी लुढ़काते रहते हैं वहाँ दूसरी ओर थोड़े से धनी लोग—जमींदार, महाजन तथा उद्योगपति—राष्ट्रीय आय के एक काफी बड़े भाग का उपभोग करते हैं। अतः यही वह स्थिति है जिसके सन्दर्भ में, एक अल्पविकसित देश में कराधान के उत्पादन बनाम वितरण सम्बन्धी पहलू की समस्या का अध्ययन किया जाता है।

एक विचारधारा के अनुसार, एक अल्पविकसित देश में मुख्य लक्षण हुआ करता है कि उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जाए कि रोजगार का स्तर ऊँचा किया जाए। एक अधिक समान एवं न्यायपूर्ण वितरण को, इसके बावजूद कि आगे चलकर यह बड़ा वाछनीय सिद्ध हो सकता है, ऐसे देशों में, एक तत्कालिक लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता, यद्यपि यह सम्भव है कि भारत जैसे कुछ विकासशील देशों में इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए। तथापि कराधान के वितरण सम्बन्धी प्रभावों का यदि सावधानी के साथ सूक्ष्म निरीक्षण किया जाए तो उससे यह स्पष्ट पता चलेगा कि इन दो उद्देश्यों—अर्थात् उत्पादन की वृद्धि और लोगों के बीच धन तथा आय के अधिक समान एवं न्यायपूर्ण वितरण—में परस्पर विरोधाभास पाया जाता है। जहाँ उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा में वृद्धि करने के लिये एक ऐसे कर-ढाँचे (tax structure) की आवश्यकता होगी जो काम करने और बचत करने की योग्यता पर तथा प्रेरणाओं एवं साहस पर बहुत कम भार डाले, वहाँ देश में धन का पुनर्वितरण करने के लिए एक अत्यधिक आरोही प्रत्यक्ष कराधान की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त, यदि उत्पादन को हतोत्साहित किया गया और उसके फलस्वरूप यदि उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय में कमी हुई तो यह निश्चय है कि आय के वितरण पर भी उसका स्वयमेव प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि राष्ट्रीय आय की मात्रा जितनी कम होगी, प्रति व्यक्ति आय भी उतनी ही कम होगी। अतः कुछ अर्थशास्त्री यह तर्क देते हैं कि उत्पादन-पक्ष की अनुकूलता के लिए वितरण सम्बन्धी विचारों में संशोधन किया जाए। इस विचार में यद्यपि काफी वजन है परन्तु यह सिद्ध करना सम्भव है कि एक विकासशील देश में भी उत्पादन सम्बन्धी तथा वितरण सम्बन्धी, दोनों ही लक्ष्य साथ-साथ प्राप्त किये जा सकते हैं।

"Public finance being a part of the general study of economics also possesses a positive and normative side but they have their special characteristics due to the field of operation of the art" (U. Hicks). Discuss the scope of public finance in the light of the above statement and elucidate its positive and normative sides.

७. एक अल्प विकसित अर्थव्यवस्था मे लोकवित्त की प्रकृति एव महत्व का परीक्षण कीजिए।
Examine the nature and importance of public finance in an under-developed economy.

८. लोकवित्त की परिभाषा दीजिए और आधुनिक अर्थव्यवस्था में उसके महत्व का परीक्षण कीजिए।
Define public finance and examine its importance in a modern economy.

९. राजस्व की परिभाषा दीजिए। वित्त का उपयोग आर्थिक कल्याण बढाने मे किस प्रकार किया जा सकता है ?
Define public finance How can finance be used as an instrument for increasing economic welfare ?

१० "लोकवित्त, लोक सत्ताओ की आय तथा उसके व्यय से तथा एक दूसरे के साथ समजन से सम्बन्धित है।" इस कथन की टीका कीजिए।

११. क्रियात्मक वित्त तथा कार्यशील वित्त से क्या तात्पर्य होता है ? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि विकसित और अर्द्धविकसित देशो मे राजकोषीय नीति के उद्देश्यो मे भिन्नता होती है ? कारण देते हुए समझाइए।
What is meant by Functional Finance and Activating Finance ? Do you agree with the view that for developed and under-developed countries the objectives of fiscal finance are different ? Explain giving reasons.

१२. "वर्तमान दशाब्दियो मे आर्थिक विश्लेषण के क्षेत्र मे राजस्व के अध्ययन ने बहुत अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है।" इस कथन को समझाते हुए राजस्व के महत्व को बताइए।
"The study of public finance has assumed increasing importance in the field of economic analysis in recent decades." Explain this statement and state the importance of public finance.

आय वाले वर्गों पर भी पड़े। अन्त मे, यदि धनी व्यक्तियो पर समुचित रूप से कर नही लगाये गये, तो उससे असमानताएँ बढ़ेंगी और विभिन्न आय वाले वर्गों के बीच की खाई और चौड़ी हो जायेगी तथा राजनैतिक एव सामाजिक सन्तुलन अस्त व्यस्त हो जायेगा। एक अल्पविकसित देश, जो कि राजनैतिक दृष्टि से स्थिर नही होता है, क्रान्ति के लिये पहले ही तैयार होता है। अतः यह उच्चतर आय वाले वर्गों के हित में ही होता है कि कराधान के द्वारा उनकी आमदनियाँ बराबर कम होती रहें।

यहाँ दो विशेष आपत्तियाँ की जा सकती है। पहली यह कि आय तथा धन की असमानताएँ बचतो के सचय को आगे बढाने वाली होती हैं, अत पुर्नवितरण सम्बन्धी करोधान का भार यदि धनी लोगों की बचतों पर ही डाला गया तो वह हानिकारक ही सिद्ध होगा। दूसरे, करोधान की पुनर्वितरण सम्बन्धी योजना (जब सरकारी व्यय के साथ सयुक्त कर दी जाती है) तो वह निम्नतर आय वाले उन वर्गों के लिये अपेक्षाकृत अधिक आय उपलब्ध कराती है जिनकी उपभोग-प्रवृत्ति (propensity to consume) पहले से ही ऊँची होती है। परिणाम यह होता है कि अर्थ-व्यवस्था मे बचत तथा विनियोग प्रतिबन्धित हो जाता है। परन्तु इन दोनों ही आपत्तियो (objections) मे गम्भीर कमियाँ वर्तमान हैं। पहला तर्क, यद्यपि सत्य है परन्तु वह उच्चतर आय वाले वर्गों के व्यर्थ के उपभोग की उपेक्षा करता है। इसके अतिरिक्त, यह बात भी नही भुलायी जानी चाहिए कि केवल धनी लोगों की बचतें ही एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को गरीबी की दलदल से बाहर नही निकाल सकती—यदि वे निकाल सकती होती तो पहले ही ऐसा हो गया होता और फिर अल्पविकसित देशो के पिछड़ेपन की यह समस्या ही उत्पन्न नही होती। दूसरे तर्क में इस मूल तथ्य की उपेक्षा कर दी गई है कि वस्तुओ के करोधान द्वारा निर्धन लोगों पर भी कर लगाये जाते हैं जिससे कि वे भी विकास के बोझ के सहभागी बन सकें। फिर, उपभोग के निम्न स्तरो का निर्माण करके राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता को जो हानि पहुँचती है उसे आसानी से नही भुलाया जा सकता। ऐसी प्रत्येक कार्यवाई, जो निम्नतर आय वाले वर्गों की आय से वृद्धि का प्रयास करती है, राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता में भी वृद्धि करती है। यह मान लेना गलत है कि निर्धन वर्ग के लोगो का बढा हुआ उपयोग पूँजी निर्माण की सम्भावनाओ को कम कर देता है।

इस प्रकार, एक विकासशील देश के आर्थिक विकास के सदर्भ मे, करोधान के द्वारा उत्पादन-वृद्धि का तथा आय के पुनर्वितरण का, ये दोनों ही लक्ष्य साथ-साथ प्राप्त किये जा सकते हैं और एक उपयुक्त कर ढाँचे का निर्माण किया जा सकता है। पुनर्वितरण सम्बन्धी करोधान की सामान्य योजना को शिथिल करने की कोई आवश्यकता नही है और वस्तुस्थिति तो यह है कि इस योजना की और भी अधिक आवश्यकता है।

(स) करोधान के अन्य प्रभाव
(Other Effects of Taxation)

करोधान के उपरोक्त प्रभावों के अतिरिक्त अन्य प्रभाव भी पड़ते है, जो कि निम्न-लिखित हैं—

(१) करोधान का उपभोग पर प्रभाव (Effect of Taxation on Consumption)

सामान्यत. उपभोग की सामग्री पर लगाये गये कर करदाता की क्रयशक्ति को कम कर देते हैं जिसके कारण उसे अपने उपभोग की मात्रा कम करनी पडती है। अतएव उपभोक्ता का जीवन-स्तर भी गिर जाता है। यदि कर का भार निर्धन वर्ग पर पडता है, तो उन्हे अपनी जीवन-रक्षक वस्तुओ के उपभोग मे भी कमी करनी पडती है जिसके कारण उनका स्वास्थ्य गिर जाता है और कार्यक्षमता का हनन हो जाता है। अतएव ऐसे कर सर्वथा अनुचित माने जाते हैं जिनका प्रभाव निर्धन वर्ग पर पडता हो। इसके विपरीत यदि कर का भार धनी वर्ग पर पडता हो तो उसका भुगतान वे अपनी बचत मे से कर सकते हैं। अतएव उनके उपभोग पर उसका प्रतिकूल प्रभाव नही पडता है। यदि मादक (नशीली) वस्तुओं पर कर लगा दिया जाय तो उनके मूल्य मे वृद्धि होगी जिसके कारण मादक वस्तुओं के उपभोग मे कमी होगी। फलतः लोगो के स्वास्थ्य मे सुधार होगा क्योंकि वे मादक वस्तुओं का उपभोग करना या तो बन्द कर देंगे अथवा उसमे कमी कर देंगे।

(१) सर्वप्रथम तो, काम करने तथा बचत करने की इच्छा को सभी कर प्रभावित नहीं करते (all taxes do not affect the willingness to work and save)—वस्तु कर काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर कोई प्रभाव नही डालते। प्रत्यक्ष कर, विशेष रूप से आय-कर तथा उत्तराधिकार कर काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते है। परन्तु अन्य स्थान पर हम बतला चुके है कि जब लोगो की आय की माँग लचकहीन होती है तब किस प्रकार लोग काम करना और यहाँ तक कि काम की मात्रा मे वृद्धि करना जारी रखते हैं। फिर, बचत करने और सचय करने की प्रेरणा मृत्यु करो अथवा पूँजी करो से प्रभावित नही होती क्योकि, जैसा कि पीगू ने स्पष्ट किया है, सचय करने की प्रेरणाएँ इतनी अधिक होती है तथा इतनी विविध होती है कि मृत्यु कर अथवा पूँजी कर उन्हे कम नही कर सकते। यही नही एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे, नये उद्यमो को आरम्भ करने तथा पुरानो का विस्तार करने की सम्भावनायें इतनी बलवती होती है, सम्पत्ति के सचय का क्षेत्र इतना व्यापक होता है और औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रमुत्व के निर्माता के अवसर इतने आशाप्रद होते है कि आय-कर अथवा सम्पदा कर की कोई भी धनराशि प्रेरणाओ तथा साहस को, पूँजी के निर्माण को और विनियोग को प्रभावित नही कर सकती। इसके अतिरिक्त, आयोजनाबद्ध आर्थिक विकास के सदर्भ मे, विनियोग की दर बराबर बढती रहती है और जनता की आय मे भी लगातार वृद्धि होती रहती है, फिर यह वृद्धि ही वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग को बढाती है। इन सबका परिणाम स्फीति दबावो (inflationary pressures) तथा अधिक लाभ की गुजाइशो के रूप मे सामने आता है। व्यवसायी सट्टेबाज तथा उद्योगपति लाभान्वित होते है। अधिक लाभ प्राप्ति के बढते हुए अवसरो से पुनवितरण सम्बन्धी कराधान से सम्भावित प्रेरणात्मक प्रभावो के विषय मे उत्पन्न सभी भय भी दूर हो जाते है।

इसके भी अलावा, कर-प्रशासन की कार्य-कुशलता के कारण तथा कर-वचन (tax evasion) तथा कर-परिहार (tax avoidence) की व्यापक सम्भावनाओ की विद्यमानता के कारण न तो प्रेरणाएँ ही हतोत्साहित होंगी और न उत्पादन ही घटेगा। अपितु प्रवृत्ति यह होगी कि उत्पादन तेजी से बढ़े। ऐसा ही निष्कर्ष तब भी सामने आता है जबकि सरकार द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक उच्च केन्द्रो की व्यवस्था की जाती है जो कि बडे आवश्यक होते हैं और औद्योगीकरण को बडा प्रोत्साहन देते हैं। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली कर-नीति चाहे किसी भी प्रकार की क्यो न हो, ऐसी कोई सम्भावना नही है कि उसका उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा।

(२) दूसरे, एक अविकसित अर्थव्यवस्था के विकास के आयोजनाबद्ध कार्यक्रम के संदर्भ में, इस बात की भारी आवश्यकता है कि उपभोग सीमित हो और बचतो तथा विनियोग (investment) में वृद्धि की जाए। राजकोषीय अधिकारी जनता की बचतों को गतिशील करते है और उनका उपयोग देश की उत्पादन-क्षमता बढाने मे करते है। इससे यह आवश्यक हो जाता है कि अनेक ऐसे समवर्गीय लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिये कराधान का उपयोग किया जाए, जैसे कि सामान्य जनता के उपभोग को सीमित करना, उच्च आय वाले वर्गो के अनावश्यक उपयोग (अर्थात् ऐशो-आराम के लिए कोठियाँ, उनकी कीमती साजसज्जा तथा बेकार के जवाहरात आदि) मे कटौती करना, धन को उत्पादकीय विनियोग की ओर को मोड़ना और सरकारी क्षेत्र (public sector) का वितरण करना। यह कहा जा सकता है कि एक आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (planned economy) मे कराधान अर्थव्यवस्था के सभी वर्गो पर पडता है, यहाँ तक कि निर्धन से निर्धन वर्ग पर भी, जो कि वास्तव मे उसे अदा करने मे भी समर्थ नही होते, परन्तु इस सम्बन्ध मे मूलभूत लक्ष्य यह होता है कि राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता का विस्तार किया जाए।

(३) तीसरे, एक विकासशील देश को अपने सम्मुख यह लक्ष्य रखना चाहिए कि वह आरोही अथवा क्रमवर्धी प्रत्यक्ष करो का उपयोग करके कुछ थोड़े से लोगो के हाथो में धन के जमा होने को रोके। एक तो इस कारण क्योकि साधारण जनता को इस विषय मे मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करना बड़ा आवश्यक होगा कि धनी लोगो को यूँ ही नही छोड दिया गया है। इसके अतिरिक्त, वस्तु कर जो कि सख्या तथा आकार की दृष्टि के बराबर वृद्धि पर हैं, अवरोही प्रभाव डालते हैं। अत. समुचित सन्तुलन बनाये रखने के लिये यह आवश्यक कि ऐसा ही समान कर-भार उच्चतर

लोगो की क्रय-शक्ति को कम करके मूल्य वृद्धि को रोकना होता है। अतएव मुद्रा प्रसार की स्थिति मे सरकार भारी कर लगाकर प्रचलन मे अतिरिक्त मुद्रा की मात्रा को खीच लेती है, जिससे लोगो के पास मुद्रा की मात्रा घट जाती है और इस प्रकार उनके व्यय करने की क्षमता अथवा शक्ति मे कमी हो जाती है। अतएव मुद्रा प्रसार की स्थिति समाप्त होने लगती है तथा मूल्य गिरने लगते हैं। मुद्रा प्रसार मे आय कर तथा व्यय-कर दोनो ही लगाये जाते हैं। जहाँ आय-कर व्यक्ति की आय को कम करके उसकी क्रय-शक्ति मे पर्याप्त कमी कर देता है वह दूसरी ओर व्यय-कर उसे व्यय करने से रोकता है, जिसके कारण वस्तुओ की माँग नही बढ़ने पाती अन्तत. मूल्य गिर कर बाद मे स्थिर हो जाते हैं।

(६) कराधान तथा मुद्रा संकुचन (Taxation and Deflation)

मुद्रा सकुचन मुद्रा प्रसार से ठीक उलटा है। अतएव मुद्रा सकुचन की अवस्था मे चलन मे मुद्रा की मात्रा कम होती है जिसके कारण व्यक्ति की व्यय करने की शक्ति घट जाती है। फलत. वस्तुओं की माँग घट जाती है और इस प्रकार वस्तुओ के मूल्य भी गिर जाते है। अतएव इस काल मे करो की मात्रा पहले से कम कर दी जाती है। जिसके कारण जनता की क्रय-शक्ति बढ जाती है और इस प्रकार वह वस्तुओ को अधिक मात्रा मे क्रय करने लग जाती है। इसके कारण वस्तुओ की माँग बढ जाती है और उनके मूल्य भी बढने लगते हैं। अतएव मुद्रा-सकुचन की अवस्था मे धीरे-धीरे मन्दी की स्थिति समाप्त होने लगती है और बाद मे मूल्यो मे स्थायित्व आना शुरू हो जाता है।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Dalton — Public Finance, Chapters X to XVIII
2. Allen and Browne — Economics of Public Finance, Chapter XIII
3. Rhys Williams — Taxation and Incentive, Chapters I to IV
4. Phillip E Taylor — Economics to Public Finance Chapter 26
5. Lerner — The Economics of Control

UNIVERSITY QUESTIONS

१ किसी समाज मे उत्पादन और सम्पत्ति के वितरण पर पडने वाले कराधान के प्रभावो को सक्षेप मे समझाइए।

Outline briefly the effects of taxation on production and distribution of wealth in a community

२. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि कराधान का कार्य निजी व्यय को रोकना है न कि सरकार के लिए आय को बढाना? अपने उत्तर के कारण दीजिए।

Do you agree with the view that the function of taxation is that of checking private spending not of raising revenue for the government? Give reasons for your answer.

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे कराधान के वितरण पर पडने वाले प्रभावों को बताइए तथा इस कथन के समर्थन मे तर्क दीजिए।]

३. कराधान के आर्थिक प्रभावो के अध्ययन का महत्व स्पष्ट कीजिए।

Explain the importance of the study of economic effects of taxation

[सकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे कराधान के आर्थिक प्रभावो का (i) उत्पादन, (ii) वितरण तथा (iii) अन्य पर प्रभाव का सक्षेप मे महत्व बतलाते हुए वर्णन कीजिए।]

४. कराधान के उत्पादन पर पडने वाले प्रभावो का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

Examine critically the effects of taxation on production

प्रो० जे० के० महत्ता के शब्दो मे, "एक कर का अच्छा प्रभाव हो सकता है यदि वह व्यक्ति को हानिकारक वस्तुओ का उपभोग त्यागने को तैयार करता है।"[4]

(२) कराधान का रोजगार पर प्रभाव (Effect of Taxation on Employment) :

कराधान का रोजगार पर भी प्रभाव पडता है। जब कराधान मे उपभोग की मात्रा कम होती है तो उत्पादन भी कम करना पडता है। साथ ही बचत की कमी से पूँजी भी कम हो जाती है तथा निवेश अथवा विनियोग घटता है। अत. इन दशाओं मे रोजगार मे कमी होती है। डाल्टन (Dalton) के अनुसार, "वास्तव मे कराधान मे हर सम्भव बडा एव अचानक परिवर्तन हो सकता है जिसके कारण श्रमिको के बडे पैमाने पर हटने पर बेरोजगारी मे वृद्धि हो सकती है।"[5] किन्तु कराधान से बेरोजगारी सदैव ही नही बढती है। इसका कारण यह है कि कराधान के रूप मे जो सरकार को आय प्राप्त होती है यदि उसे उत्पादन अथवा पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे लगाया जाय तो उससे पूँजीगत वस्तुओ का उत्पादन बढ़ेगा जिसके परिणामस्वरूप देश मे रोजगार मे वृद्धि होगी। इस सम्बन्ध मे प्रो० डाल्टन का कथन है, "कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि मुख्यतः धनी वर्ग पर लगाये गये कराधान से बेरोजगारी मे वृद्धि होती है। किन्तु उनमे से अनेक जो इस विचारधारा से सहमत हैं शायद यह कल्पना करते हैं कि कराधान से एकत्रित किये गये धन का या तो सग्रह किया जाता है अथवा उसे समुद्र मे फेंक दिया जाता है।"[6]

(३) कराधान का पूँजी निर्माण पर प्रभाव (Effect of Taxation on Capital Formation):

पूर्ण विकसित देशो मे सरकार कराधान से प्राप्त होने वाली आय को विकास कार्यो पर व्यय करती है जिससे बडी-बडी योजनाओ का निर्माण होता है तथा देश मे सुविधाओ का विकास होता है। इसके परिणामस्वरूप कराधान की सहायता से पूँजी निर्माण मे सहायता मिलती है, अर्थात् पूँजी निर्माण मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष करो का व्यक्तियो की आय पर बुरा प्रभाव पडता है। उनकी आय कम हो जाती है जिसके कारण पूँजी का निर्माण हतोत्साहित हो जाता है। अर्धविकसित देशो मे पूँजी का अभाव पाया जाता है क्योंकि वहाँ पर निर्धनता विद्यमान रहती है।

(४) कराधान का आर्थिक स्थिरता पर प्रभाव (Effect of Taxation on Economic Stability) :

किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक स्थिरता का होना परम आवश्यक है। यह करो की सहायता से स्थापित की जा सकती है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है करो मे वृद्धि या कमी करके सरकार वस्तुओ के उपभोग को कम या अधिक कर सकती है।

इसी प्रकार सरकार करो की सहायता से मूल्य-स्तर मे भी स्थिरता ला सकती है। जब मूल्य स्तर ऊँचा होने लगता है तो सरकार करो मे छूट देकर मूल्य वृद्धि को रोक देती है। इसके विपरीत जब मूल्य-स्तर गिरने लगता है, तो सरकार भारी कर लगाती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य ऊँचे हो जाते है। इस प्रकार कर नीति द्वारा मूल्यो को स्थिर बनाया जा सकता है। अतएव आर्थिक स्थिरता के कार्यान्विन मे कराधान का महत्वपूर्ण स्थान है।

(५) कराधान एवं मुद्रा प्रसार (Taxation and Inflation) :

मुद्रा प्रसार की अवस्था मे चलन मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है जिससे लोगो मे व्यय करने की शक्ति भी बढ जाती है। फलतः वस्तुओ की माँग मे वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा प्रसार मे मूल्यो मे भी वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति मे कराधान का उद्देश्य

---

4. "A Tax can produce a desirable effect if it cause a man to give up the consumption of harmful commodities." J. K. Mehta—Public Finance.
5. "There is indeed a possibility that large and sudden changes in taxation may increase unemployment through large and sudden displacement of labour." —Dalton
6. It is sometimes suggested that taxation, especially of the rich, increases unemployment. But many of those who entertain this idea, seem to suppose that the money collected in taxation is put into a stocking or thrown into the sea." —Dalton

करारोपण—कुछ समस्याएँ (I) करदेय क्षमता, (II) कराधान और स्फीति, तथा (III) कराधान और पूंजी निर्माण

(Taxation—Some Problems (I) Taxable Capacity, (II) Taxation and Inflation and (III) Taxation and Capital Formation)

[I] करदेय क्षमता अथवा करदान सामर्थ्य
(Taxation Capacity)

करदेय क्षमता का अर्थ एवं परिभाषा

करदेय क्षमता से आशय किसी विशेष समुदाय की कर देने की अधिकतम क्षमता अथवा सामर्थ्य से होता है। **भारत के कराधान जांच आयोग** (taxation enquiry commission) के अनुसार, "*समुदाय के भिन्न-भिन्न वर्गों की करदेय क्षमता अथवा करदान-सामर्थ्य से तात्पर्य कराधान* की उस मात्रा से लगाया जा सकता है जिससे आगे चलने पर उत्पादकीय प्रयत्न तथा क्षमता सम्पूर्ण रूप में, घटने लगती है।"[1] लोकवित्त के एक सुप्रसिद्ध लेखक, **जोशिया स्टाम्प** (Josiah Stamp) के अनुसार, "करदान सामर्थ्य कुल उत्पादन में से उस धनराशि को घटाने के बाद शेष बची रकम को कहा जा सकता है, जो कि जनता के निर्वाह-स्तर (subsistence level) को बनाये रखने के लिए आवश्यक हो।"[2] इस परिभाषा में, कुल उत्पादन (total production) से आशय लोगों द्वारा उत्पादित एवं उपलब्ध आय की कुल मात्रा से है, परन्तु सरकार इस सारी की सारी आय को कराधान के रूप में नहीं ले सकती क्योंकि इसमें से कुछ न कुछ रकम लोगों के पास उनके उपभोग के लिए अवश्य छोड़नी होगी। अतः जनता की करदान सामर्थ्य का माप उत्पादन की उस कुल मात्रा से किया जा सकता है जिसमें से लोगों के गुजारे के लिए आवश्यक रकम घटा दी गई हो। इस परिभाषा में, जहाँ तक उत्पादन की मात्रा का सम्बन्ध है उसे तो आँकड़ों द्वारा मापा जा सकता है परन्तु जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि कितनी होगी, यह निश्चित तथा स्पष्ट नहीं है क्योंकि इस धनराशि में व्यक्ति, स्थान, समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं।

---

1. Taxation Enquiry Commission Report, I, p. 150, "Taxable capacity of different sections of the community may be said to reffer to the degree of taxation, broadly *speaking, beyond which productive effort and efficiency as a whole begin to suffer.*"
2. "Taxable capacity is the total production minus the amount required to maintain the population at subsistence level." —*Josiah Stamp.*

५. करों के उत्पादन एवं वितरण पर होने वाले प्रभावों का विश्लेषण कीजिए। अपने विश्लेषण की पुष्टि मे भारतीय कर पद्धति से उदाहरण दीजिए।

"Analyse the effect of taxation on production and distribution. Cite examples from the Indian Tax System in support of your analysis.

६. 'जबकि एकमात्र करारोपण सम्भवत: उत्पादन को नियन्त्रित करता है तब सार्वजनिक व्यय को इसमे निश्चित रूप से वृद्धि करनी चाहिए।' विवेचना कीजिए।

"Where Taxation, taken alone, probably checks production ; public expenditure, taken alone should almost certainly increase it " Discuss.

७. आय-कर और उत्पादन-करो के सन्दर्भ मे, करो की ऊँची दर का पहल तथा उद्यम पर क्या प्रभाव पडता है ? स्पष्ट कीजिए ?

Discuss the effects of high tax rates on incentive and enterprise, with special reference to income-tax and death duties

८ लोगो की काम करने और बचाने की योग्यता पर पडने वाले करो के प्रभाव की विवेचना कीजिये।

Examine the effects of taxation on People's ability to work and save.

९ निम्नलिखित शीर्षक के अन्तर्गत करारोपण से प्रभावों का विवेचन कीजिए—

(अ) बचत करने की शक्ति व काम करने की शक्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव।
(ब) बचत और काम करने की इच्छा पर प्रत्यक्ष प्रभाव।
(स) बचत और काम करने की शक्ति पर अप्रत्यक्ष प्रभाव।

Discuss the effects of taxation under the following heads—
(a) Direct effects on ability to work and save
(b) Direct effects on desire to work and save
(c) Indirect effects on ability and desire to work and save

१० व्यक्तिगत आर्थिक प्रेरणाओ पर कराधान के प्रभावों का परीक्षण कीजिए।

Examine the effects of taxation upon individual economic incentives

करदान सामर्थ्य के विचार का माप करना जहाँ कठिन है, वहाँ डाल्टन तथा शिराज जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण करदान सामर्थ्य (absolute taxable capacity) तथा सापेक्ष करदान सामर्थ्य (relative taxable capacity) के बीच भेद किया है। (१) पूर्ण करदान सामर्थ्य का अर्थ है, नागरिकों को न्यूनतम निर्वाह की छूट देने के पश्चात् राज्य द्वारा उनसे जो कुछ भी लिया जा सके अथवा जैसा कि शिराज ने कहा है "पूर्ण करदान सामर्थ्य निचोडने की सीमा है।"[5] परन्तु जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं "न्यूनतम निर्वाह-स्तर" के स्पष्ट एवं यथार्थ क्षेत्र अथवा "निचोडने की सीमा" के बारे में कोई एक मत नहीं हो सकता। पूर्ण करदान सामर्थ्य का अर्थ है कि एक नागरिक के लिये जो कुछ अथवा जितना वास्तव में जरूरी है उससे अधिक उसके पास जो भी शेष रहता है वह राज्य द्वारा लिया जा सकता है। अथवा इसका यह अर्थ हो सकता है कि कराधान को उस सीमा तक ले जाना चाहिये जहाँ पर कि करदाता के पास कुछ भी शेष न बचे। इसके विपरीत, (२) सापेक्ष अथवा अनुपाती करदान सामर्थ्य का अर्थ है—एक समुदाय की तुलना दूसरे समुदाय की करदान सामर्थ्य। उदाहरण के लिये, निर्धनों की तुलना में धनी व्यक्ति अधिक कर-भार वहन कर सकते हैं (अर्थात् उनकी करदान सामर्थ्य अधिक होती है)। इस सम्बन्ध मे डाल्टन ने कहा है कि "यदि सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि होती है तो धनी करदाताओं द्वारा अदा किये जाने वाले अनुपात मे तो वृद्धि होनी चाहिए और निर्धन करदाताओं द्वारा अदा किये जाने वाले अनुपात में कमी होनी चाहिए।" इस प्रकार, यदि दो पृथक् पृथक् समुदायों को किसी सामूहिक व्यय का भार उठाना है तो वह उनकी सापेक्ष करदान सामर्थ्यों के अनुपात मे हो सकता है। यह सिद्धान्त एक सघीय पद्धति की सरकार मे आमतौर पर लागू किया जाता है जहाँ भिन्न-भिन्न राज्यों से देश के सामूहिक व्यय में अपना-अपना अशदान देने की आशा की जाती है। परन्तु समस्या यह है कि किसी समुदाय विशेष की सापेक्ष करदान सामर्थ्य का निर्धारण कैसे किया जाए। किसी समुदाय (community) की सापेक्ष करदान सामर्थ्य कुछ ऐसे तत्वों पर निर्भर होती है जैसे कि राष्ट्रीय आय का भाग, आय के वितरण का ढाँचा, जनसख्या का आकार, जनसख्या मे वृद्धि की दर के साथ ही साथ आय की वृद्धि की दर, रहन-सहन के परम्परागत स्तर, सरकारी प्रशासन की क्षमता, देशप्रेम तथा कर्तव्य-पालन की वह भावना जो सरकार लोगो मे उत्पन्न कर सकती है आदि आदि।

दोनों विचारधाराओं मे से कौन सी श्रेष्ठ है ?

इन दोनो ही विचारधाराओं मे, **पूर्ण करदान सामर्थ्य** का विचार अधिक यथार्थ, स्पष्ट तथा "सैद्धान्तिक दृष्टि से अच्छा" प्रतीत होता है परन्तु इसमे व्यावहारिक दृष्टि से कोई जान नही है क्योंकि इसमें माप (measurement) करना आवश्यक होता है (जो कि वस्तुतः असम्भव है)। दूसरी ओर, **सापेक्ष अथवा अनुपाती करदान सामर्थ्य** बडी सरल है क्योंकि इसके अन्तर्गत विभिन्न *समुदायों की कर अदा करने की योग्यता की केवल तुलना करनी होती है।* यदि हम पूर्ण करदान सामर्थ्य का सिद्धान्त भारत पर लागू करें तो भारतीयों की एक बडी सख्या सरकार को कर देने मे मुक्त हो जायगी (क्योंकि उनकी आय बहुत ही कम है)। परन्तु यदि सापेक्ष करदान सामर्थ्य का सिद्धान्त लागू किया जाए तो यह कहना सम्भव है कि लोगों की बहुसख्या को अधिकाधिक कर-भार वहन करना होगा ताकि पूँजी-निर्माण मे वृद्धि हो सके इस प्रकार कहा जा सकता है कि ***पूर्ण करदान सामर्थ्य की विचारधारा की तुलना में सापेक्ष करदान सामर्थ्य की विचारधारा अधिक उपयोगिता रखती है।***[6]

करदान सामर्थ्य का माप

(Measurement or Taxable Capacity)

अनेक अर्थशास्त्रियों ने किसी भी देश की करदान सामर्थ्य को मापने के प्रयत्न किये है। **कोलिन क्लार्क** (Colin Clark) ने कहा है कि ससार के अधिकाश देशो के लिए अधिकतम करदान

5. Ibid p 229, "Absolute taxability is the limit of squeezability."
6. डाल्टन का मत है कि सापेक्षिक करदान सामर्थ्य वही है जिसे कि "अदा करने की योग्यता" (ability to pay) कहा जाता है।

उपर्युक्त परिभाषा के अतिरिक्त, सर जोशिया स्टाम्प ने करदान सामर्थ्य की दो और परिभाषाएँ भी दी हैं। उनके मतानुसार, करदान सामर्थ्य वह न्यूनतम धनराशि है जो कि किसी देश के नागरिक, "दुःखी तथा पतित जीवन बिताए बिना और आर्थिक सगठन को अधिक अस्त-व्यस्त किये बिना,"[3] सरकारी खर्चों के लिए दे सके। इस परिभाषा के सम्बन्ध में भी वही कठिनाई सामने आती है जो कि पहली परिभाषा में सामने आई थी—अर्थात् स्पष्टता एव निश्चितता का अभाव। उदाहरण के लिए, इस परिभाषा में जो यह कहा गया है कि "दुःखी तथा पतित जीवन बिताए बिना" और "आर्थिक सगठन को अधिक अस्त-व्यस्त किये बिना" इनका कोई स्पष्ट अर्थ निकालना, यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। एक अन्य प्रसग मे, स्टाम्प ने उत्पादित तथा वितरित आय को ही उन तत्वों के रूप मे माना है जिन पर करदान सामर्थ्य निर्भर होती है। यह सत्य है कि आय का उत्पादन तथा साथ ही साथ उसका वितरण, ये दोनों ही ऐसे महत्वपूर्ण तत्व है जिन पर कि किसी समुदाय की करदान सामर्थ्य निर्भर होती है—अर्थात जितनी आय अधिक होती है और लोगों के बीच उस आय का वितरण जितना अधिक श्रेष्ठ होता है, ऐसे लोगों की कर अदा करने की सामर्थ्य भी उतनी ही अधिक होती है। तथापि, करदान-सामर्थ्य की विचारधारा को उत्पादित तथा वितरित आय की केवल एक ही कसौटी पर आधारित नहीं किया जा सकता। लोग करों के रूप मे राज्य को कितनी धनराशि देने मे समर्थ हो सकेंगे अथवा वह कुल कर-भार कितना होना चाहिए जोकि लोगों पर डाला जा सकता है, यह बात केवल लोगों द्वारा प्राप्त की जाने वाली कुल आय पर ही नही, अपितु कुछ अन्य तत्वों पर भी निर्भर है।

फिण्डले शिराज (G Findlay Shirras) ने करदान सामर्थ्य की परिभाषा इस प्रकार की है : "करदान सामर्थ्य निचोडने की सीमा है। यह उस न्यूनतम उपभोग के ऊपर उत्पादन की कुल वेशी (surplus) है जो ऐसे उत्पादन-स्तर को बनाये रखने के लिए आवश्यक है जिसमे रहन-सहन का स्तर पूर्ववत् कायम रहे।"[4] जैसा कि शिराज द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि करदान सामर्थ्य उस अधिकतम धनराशि की द्योतक होती है जो कि राज्य, लोगों के समुदाय से करों के रूप मे प्राप्त कर सकता है और उससे अधिक यदि कोई कर लगाया गया तो उससे सभवत क्रान्ति तथा गृह-युद्ध को ही प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु "लोगों के न्यूनतम निर्वाह-स्तर के लिए आवश्यक न्यूनतम उपभोग" की विचारधारा तथा 'उद्योग व वाणिज्य के विस्तार के लिए पूंजी के पुनर्स्थापन तथा उसमे वृद्धि करने के लिए धनराशि" की विचारधारा बडी सदिग्ध है और इसका कोई स्पष्ट अर्थ तथा माप नही प्रस्तुत किया जा सकता। अतः यह स्पष्ट है कि आंकडों मे माप सकने योग्य केवल एक तत्व (अर्थात् उत्पादित तथा वितरित आय) के आधार पर की गई लेखकों की ये परिभाषाएँ कोई अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं।

करदेय क्षमता का वर्गीकरण

(Classification of Taxable Capacity)

करदेय अथवा करदान क्षमता को निम्न दो भागों मे बाँटा जा सकता है —

---

3. Sir Josiah Stamp Wealth and Taxable capacity p 134, "Without having a really unhappy and downtrodden existence and without dislocating the economic organisation too much."

4 Findlay Shirras. The science of Public Finance, p. 132, "Taxable capacity is the limit of squeezability It is the total surplus of production over the minimum consumption required to produce that level of production, the standard of living remaining unchanged."

धनराशि निर्धारित करना असम्भव है जिसके बारे मे कि यह कहा जा सके कि यह किसी भी विशेष समय मे देश की करदान सामर्थ्य की सीमाओ का प्रतिनिधित्व कर सकती है।"[8]

वे तत्व जिन पर करदान सामर्थ्य निर्भर रहती है अथवा करदान क्षमता के निर्धारित तत्व

(Factors on which Taxable Capacity Depends or Foctors Determining Taxable Capacity)

सबसे पहले तो इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि "कराधान का ऐसा कोई विशिष्ट स्तर नहीं है जो सभी देशों पर लागू होता हो।' अथवा किसी विशेष देश पर सभी समयो मे लागू होता हो और उसके विषय मे कहा जा सके वह करदान सामर्थ्य की एक सीमा निश्चित करता है। इसके अतिरिक्त, देश की करदान सामर्थ्य की सीमाओ का विश्लेषण करने वाले तत्वो पर विचार करते समय हमे आर्थिक तथा राजनैतिक, दोनो प्रकार की परिस्थितियो को भी दृष्टिगत रखना होगा, सक्षेप मे, करदान सामर्थ्य निम्नलिखित तत्वो पर निर्भर करती है :—

(१) राष्ट्रीय आय का आकार (size of natinal income)—*किसी भी देश की करदान सामर्थ्य उसकी राष्ट्रीय आय के आधार पर निर्भर होती है और यह आकार स्वय अनेक ऐसे तत्वो पर निर्भर होता है जैसे कि प्राकृतिक तथा अन्य साधनो की मात्रा, इन साधनो के उपयोग की सीमा, तकनीकी ज्ञान की स्थिति आदि। कोई समुदाय जितना अधिक धनी होता है उसकी कर अदा करने की क्षमता भी उतनी ही अधिक होती है।*

(२) ऐसी आय का वितरण (distribution of such income)—राष्ट्रीय आय की मात्रा के अलावा, लोगो के बीच ऐसी आय का वितरण भी लोगो की करदान सामर्थ्य को प्रभावित करने मे बड़ा महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। चूंकि एक धनी समुदाय कराधान की एक अपेक्षाकृत ऊँची प्रतिशत अदा कर सकता है, अतः आय के वितरण की एक ऐसी व्यवस्था भी, जोकि कुछ थोड़े से लोगो के हाथो मे ही धन को केन्द्रित करती है, उस व्यवस्था के मुकाबले जो आय का न्यूनाधिक रूप मे समान वितरण करती है, कर-आय की अधिक मात्रा प्रदान कर सकती है। यह तर्क इस विचार पर आधारित है कि अनेक साधारणतया खाते पीते आदमियों की तुलना मे थोड़े से धनी व्यक्तियो की बचत करने तथा कर अदा करने की योग्यता अधिक होती है।

(३) देश की जनसंख्या का आकार एवं वृद्धि दर (size of country's population and the rate of growth)—एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व जिस पर कि करदान-सामर्थ्य निर्भर होती है यह है कि देश की जनसंख्या का आकार एव वृद्धि की दर क्या है और उसके साथ ही राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की दर क्या है ? यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय की मात्रा निश्चित रहे तो उसकी करदान सामर्थ्य प्रत्यक्ष रूप से देश की जनसख्या के आकार पर निर्भर होगी—अर्थात् जनसख्या जितनी अधिक होगी, करदान सामर्थ्य उतनी ही कम होगी। फिर करदान सामर्थ्य इस बात *पर भी निर्भर होगी कि जनसख्या तथा राष्ट्रीय आय मे तुलनात्मक रूप मे कितनी वृद्धि हो रही* है। यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय की तुलना मे यदि जनसख्या तीव्रगति से बढ़ती है तो देश अपेक्षाकृत गरीब हो जायेगा और करो का बोझ उठाने की उसकी क्षमता भी घट जायेगी।

(४) कराधान का प्रतिरूप (pattern of taxation)—*एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व जो कराधान सामर्थ्य को प्रभावित करता है, यह है कि कराधान का प्रतिरूप (pattern) क्या है ? यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि एक ऐसी कर-व्यवस्था जो देश की राष्ट्रीय आय का केवल १०% भाग लेती है, आर्थिक प्रगति एव विकास को अवरुद्ध कर सकती है, किन्तु करो का एक अन्य ढांचा जोकि देश की राष्ट्रीय आय का २५% अथवा उससे अधिक लेता है, राष्ट्रीय आय के उत्पादन पर, सम्भव है, कोई प्रतिकूल प्रभाव न डाले। जहां कुछ-कर लोचदार (elastic) तथा*

---

8. Dalton : Public Finance, p. 119, '*It is impossible to fix any definite sum which could be said to represent the limits of the country's taxable capacity at any particular time.*

सामर्थ्य राष्ट्रीय आय का २५% होगी। उसके अपने ही शब्दो मे "कराधान की सुरक्षित उच्चतम सीमा राष्ट्रीय उत्पादन का १५ प्रतिशत है।"[7] वार्षिक आय के २५% से ऊपर कराधान का कोई भी स्तर देश तथा जनता के लिये अत्यधिक असुखद परिणामो के रूप मे सामने आयेगा। २५% से ऊपर का कर-स्तर सर्वप्रथम तो काम करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा और उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय के स्तर को भी गिरा देगा। जब मालिक तथा मजदूरो, दोनो पर ही इतनी भारी मात्रा मे कर लगाये जाते हैं कि वे सोचने लगते हैं कि अब आगे और काम करना शायद उपयोगी सिद्ध नही होगा, तो स्वभावत. ही उत्पादन कम हो जाता है। दूसरे कराधान का ऊँचा स्तर बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है और इसका पूँजी के निर्माण तथा आय के उत्पादन पर प्रतिकूल असर पड़ता है। उदाहरण के लिए, व्यवसायी तथा पेशेवर लोग (professional men) जब यह देखते है कि उनकी बचतो का एक बड़ा प्रतिशत करो के रूप मे लिया जा सकता है तो वे अपनी आय को अधाधुन्ध खर्च करने लगते है जिससे कि उसे सरकार के हाथो मे जाने से रोक सके। अन्त मे, कोलिन क्लार्क का विश्वास है कि कराधान की ऊँची दर का प्रतिकूल राजनैतिक प्रभाव भी पड़ सकता है। आमदनियो तथा वस्तुओ पर ऊँचे स्तरो से अधिक मजदूरियो तथा वस्तुओ की ऊँची कीमतो को प्रोत्साहन मिलेगा और इससे स्फीति सम्बन्धी परिस्थितियाँ उत्पन्न होगी। इस प्रकार कोलिन क्लार्क का मत है कि ब्रिटेन जैसे देशो के लिये कराधान की सुरक्षित उच्च सीमा राष्ट्रीय उत्पादन का २५% है और इस सुरक्षित सीमा से यदि आगे बढ़ा दिया तो उसका निश्चित परिणाम यह होगा कि मुद्रा के मूल्य मे ह्रास होगा और मुद्रा-स्फीति बढ़ेगी।

कोलिन क्लार्क के करदान सामर्थ्य सिद्धान्त की आलोचनायें :

कोलिन क्लार्क की करदान सामर्थ्य की माप को अमेरिका तथा अन्य देशो मे काफी लोकप्रियता तथा स्वीकृति प्राप्त हुई परन्तु अनेक लेखको ने इसकी आलोचना भी की। सर्वप्रथम, यह कहा गया कि ब्रिटेन जैसे देश की उन्नत अर्थव्यवस्था पर जो बात लागू होती है, सभव है भारत जैसी *विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था (economy)* पर वह लागू न हो। एक *विकासोन्मुख तथा* विस्तारवादी अर्थव्यवस्था मे, जिसके अन्तर्गत कि आय मे तीव्रगति से वृद्धि होती है, लोगो पर कर-भार आसानी से बढ़ाया जा सकता है। दूसरे, कराधान के प्रतिकूल प्रभावो पर सरकारी व्यय के अनुकूल प्रभावो के साथ ही विचार करना होगा; इस स्थिति से २५% की सीमा सही नही हो सकती। तीसरे, कराधान की एक पद्धति के अन्तर्गत जिस स्थिति को कराधान की सुरक्षित सीमा माना जाता है, कराधान की अन्य पद्धति मे सम्भव है वह खरी न उतरे। जैसाकि एक अधिकारी का कहना है कि यदि करो का कोई ढाँचा देश की राष्ट्रीय आय का केवल १०% भाग ही लेता है तो वह देश की आर्थिक प्रगति को अवरुद्ध कर सकता है जबकि करो की दूसरी व्यवस्था जो कि राष्ट्रीय आय का २५% से भी अधिक भाग लेती है, सम्भव है अर्थव्यवस्था पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न डाले। कैल्डोर ने इस सम्बन्ध मे एक बड़ा रुचिकर उदाहरण दिया है। उन्होंने कहा है कि आय के ऊँचे स्तरो पर लगाये जाने वाले भारी आय-कर आय की उत्पत्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे। दूसरी ओर, व्यय पर लगाये जाने वाले करो का भार अधिक आय वाले वर्गों द्वारा ही वहन किया जायेगा और इसमे जहाँ व्यक्ति के खर्चों को कम करने मे मदद मिलेगी, वहाँ साथ ही उसकी आय के उत्पादन मे कोई कमी नही होगी। इसी कारण कैल्डोर ने आय-करो के स्थान पर व्यय-कर के उपयोग की वकालत की है। इस प्रकार, करदान सामर्थ्य विभिन्न प्रकार के कर-ढाँचों (tax structures) पर निर्भर होती है। चौथे, यह कहा जाता है कि जैसा कि कोलिन क्लार्क ने प्रकट किया है, कराधान स्फीति-सम्बन्धी कोई प्रभाव नही डालता, वस्तुत: यह तो सरकारी व्यय ही होता है जो कि स्फीति सम्बन्धी प्रभाव डालता है। यह कहना गलत है कि किसी भी देश में सभी समयो के लिए कराधान की एक सुरक्षित उच्च सीमा निर्धारित की जा सकती है। इस सम्बन्ध मे *डाल्टन के निष्कर्ष को सरलता से* स्वीकार किया जा सकता है "ऐसी कोई निश्चित

---

7. Colin Clark : Welfare and Taxation, p. 5, "The safe upper limit of taxation is 25% of national production."

२

अच्छी कर पद्धति की विशेषताएँ अथवा लक्षण
(Characteristics of a Sound Tax System)

प्रस्तावना (Introduction)

एडम स्मिथ (Adam Smith) से लेकर अब तक के लोकवित्त के सभी लेखको ने एकी प्रथा के रूप मे उन तत्वो का विवेचन किया है जिनसे कि एक अच्छी कर पद्धति की विशेषताओ का निर्माण होता है। तथ्य यह है कि कुछ सीमाओ तक इस प्रश्न पर पृथक् रूप से कोई निश्चित विवेचन नही किया जा सकता। एक अच्छी कर-पद्धति की क्या विशेषताएँ होनी चाहिए, यह सरकारी व्यय की प्रकृति, सरकारी कर्तव्यो के बारे में लोगो के विचारो तथा ऐसी ही कुछ अन्य बातो पर निर्भर करता है। किसी समय मे जो कार्य राज्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य माना जाता था, यह हो सकता है कि अब उसे अनेक सामान्य कार्यों मे से केवल एक कार्य ही समझा जाता हो। उदाहरण के लिए, १६वी शताब्दी मे यह एक सामान्य विचार था कि राज्य का मुख्य कार्य आन्तरिक अव्यवस्था (internal disorder) और बाह्य आक्रमण (external aggression) से नागरिको की रक्षा करना है। दूसरे शब्दो मे उस समय राज्य को एक पुलिस राज्य माना जाता था। इस स्थिति मे, स्वभावत ही, अनेक प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियो ने जिन्होने कि राज्य के केवल पुलिस कार्यों पर ही जोर दिया था, यह तर्क प्रस्तुत किया कि राज्य को कर पद्धति के द्वारा लोगो की अधिक आय अपने हाथो मे नही लेनी चाहिए, क्योकि ऐसा करने का अर्थ होगा—साधनो का उत्पादक उपयोगो से अनुत्पादक उपयोगो की ओर को अन्तरण (diversion) करना। परन्तु वर्तमान शताब्दी मे, समाजवादी विचारो की लोकप्रियता के साथ ही साथ, पुलिस राज्य शनै शनै कल्याणकारी राज्य (welfare state) मे बदलता जा रहा है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य मे, एक अच्छी कर-पद्धति वह हो सकती है जो न केवल राज्य के समस्त आवश्यक कार्यों को पूरा करने के लिए पर्याप्त आय का प्रबन्ध कर दे, बल्कि आय का पुनर्वितरण करने तथा आर्थिक स्थिरता कायम करने मे भी सहायता करे। इसके अतिरिक्त, एक अच्छी कर पद्धति की कल्पना उन्नत देशो (advanced countries) के लिए भिन्न होगी और उन देशो के लिए भी जो कि अभी विकास कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि विकास कर रहे देशो मे राज्य एक सक्रिय (active) तथा गतिशील (dynamic) योग प्रदान करता है। अब हम एक अच्छी कर पद्धति की उन विशेषताओ का सक्षेप मे वर्णन करेंगे जोकि अनेक लेखको ने प्रस्तुत की हैं और तत्पश्चात् अच्छी कर-पद्धति की विवेचना एक-एक देश के दृष्टिकोण से करेंगे जो अल्पविकसित (under-developed) तो हो, परन्तु भारत की तरह उसकी अर्थव्यवस्था (economy) का विकास हो रहा हो।

अत्यधिक आय प्रदान करने वाले होते हैं, दूसरे ऐसे भी हो सकते हैं जो कम मात्रा में ऐसे हो। किसी भी देश की करदान सामर्थ्य मे वृद्धि की जा सकती है बशर्ते कि उसकी कर-व्यवस्था की रचना इतनी सावधानी के साथ की गई हो कि कराधान का लोगो को महसूस होने वाला कष्ट न्यूनतम हो जाए।

(५) **करदाता की मानसिक स्थिति** (Psychology of the tax-payer)—करदाता की मानसिक स्थिति का भी करदान सामर्थ्य पर काफी प्रभाव पडता है। नागरिको मे सरकार के प्रति जितनी अधिक श्रद्धा व देशभक्ति होगी तथा सरकारी नीतियो का जितना अधिक समर्थन प्राप्त होगा, उतनी ही अधिक जनता की **करदान सामर्थ्य होगी**। राष्ट्रीय भावनाओ तथा भावुकता के कारण प्राय लोग भारी करो का बोझ उठाने के लिए सहर्ष तत्पर हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत व पाकिस्तान के मध्य युद्ध छिड़ने पर भारत के लोग अधिक मात्रा मे कर देने को तत्पर हो गये थे। इसके विपरीत, यदि जनता को सरकार मे विश्वास नही है तथा वह सरकारी नीतियो को उचित नही समझती है तो ऐसी स्थिति मे नागरिको की करदान सामर्थ्य कम हो जाती है।

(६) **सरकारी व्यय की प्रकृति तथा मात्रा** (nature and extent of public expenditure)—जैसे कि कराधान का रूप करदान सामर्थ्य को निर्धारित करता है, उसी प्रकार **सरकारी व्यय की प्रकृति तथा उसकी मात्रा** भी करदान सामर्थ्य पर काफी प्रभाव डालती है। **प्रथम** तो इसलिये कि सरकारी व्यय राष्ट्रीय आय की मात्रा को प्रभावित करता है, क्योकि सरकारी खर्च जितना अधिक होता है जनता की द्रव्य आय उतनी ही अधिक होती है। और यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि आयु मे वृद्धि होने के साथ ही साथ, लोगो की करदान सामर्थ्य मे वृद्धि होने की भी आशा की जा सकती है। **दूसरे**, भारत जैसे विकासोन्मुख देशो की अर्थव्यवस्थाओ (economics) मे राजस्व का काफी भाग प्रायोजनाओ (protects) की वित्तीय व्यवस्था मे लगा दिया जाता है जिसका उद्देश्य यही होता है कि देश मे राष्ट्रीय आय की मात्रा बढ़े। सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि सरकारी व्यय के वे सभी रूप जो पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहित करते हैं और आर्थिक प्रगति तथा विकास की गति तेज करते हैं, करदान सामर्थ्य को भी बढाते हैं, किन्तु सरकारी व्यय के वे अन्य रूप जो कि अनुत्पादक प्रायोजनाओ के निर्माण एवं उनके रख रखाव मे लगाये जाते हैं और जो राष्ट्रीय आय मे कमी कर सकते हैं, करदान सामर्थ्य को भी घटा देते हैं।

(७) **समुदाय का जीवन-स्तर** (standard of living of the community)—एक अन्य तत्व जिस पर करदान सामर्थ्य निर्भर हुआ करती है, यह है कि समुदाय का जीवन-स्तर कैसा है। कोई व्यक्ति अधिकतम कितनी धनराशि राज्य को दे सकता है उसकी गणना करने की रीति यह है कि उसकी कुल आय मे से उस न्यूनतम राशि को घटा दिया जाय जो उसके तथा उसके परिवार के पालन पोषण के लिए आवश्यक हो। इसी प्रकार, कोई देश अथवा समुदाय कितनी अधिकतम राशि, राज्य को दे सकता है इसका निर्धारण इस प्रकार होगा कि राष्ट्रीय आय की कुल मात्रा मे से उस धनराशि को घटा दिया जाये जो लोगो के सामान्य जीवन-यापन के लिए तथा पूँजी को यथापूर्व बनाये रखने के लिए आवश्यक हो। परन्तु जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, जीवन-यापन के लिये आवश्यक न्यूनतम धनराशि अथवा न्यूनतम निर्वाह स्तर (minimum level of subsistance) या जीवन स्तर—एक व्यक्तिपरक (snbjective) तथ्य है जो कि व्यक्ति, समुदाय तथा समम के अन्तर से पृथक्-पृथक् हो सकता है। यदि जीवन-स्तर को स्थिर मान लिया जाये, तो राष्ट्रीय आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ करदान सामर्थ्य मे वृद्धि होगी।

(८) **मुद्रा-स्फीति** (inflation)—मुद्रा-स्फीति के समय मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। और वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है। जनता को उन्ही वस्तुओ के उपभोग पर अपेक्षाकृत अधिक व्यय करना पडता है। इससे जनता की वास्तविक आय कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप जनता की कर देने की क्षमता मे कमी हो जाती है। इस सम्बन्ध मे प्रो० फिण्डले शिराज ने कहा है "मुद्रा-स्फीति का भार करारोपण जैसा ही होता है।"

(९) **देश का आर्थिक विकास** (economic development of a country)—किसी देश के आर्थिक विकास पर भी लोगो की कर देने की क्षमता निर्भर करती है। आर्थिक दृष्टि से

उन्नत देश (जैसे अमरीका, जापान, फ्रांस, जर्मनी, रूस, कनाडा आदि) के लोगों की कर देने की क्षमता अविकसित तथा अर्ध-विकसित देशों के लोगों की तुलना में काफी कम होती है। यही कारण है कि अमरीका व जापान के लोगों की तुलना में भारत के निवासियों की कर देने की क्षमता काफी कम है।

(१०) **राजनैतिक परिस्थितियाँ** (political conditions)—हम पहले भी बता चुके हैं कि आर्थिक कारणों के अलावा इस सम्बन्ध में राजनीतिक परिस्थितियाँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, लोगों की करों को सहन करने की इच्छा पर इस बात का काफी प्रभाव पड़ता है कि देश में किस प्रकार की सरकार स्थापित है। विदेशी सरकार के मुकाबले एक राष्ट्रीय सरकार इस बात में अधिक समर्थ हो सकती है कि वह बिना कोई प्रतिकूल प्रभाव डाले ही कर-आय की एक ऊँची प्रतिशत लोगों से वसूल कर सके। यही बात एक तानाशाही के मुकाबले उस लोकतन्त्रीय सरकार के बारे में भी सही हो सकती है जो कि लोकप्रिय प्रतिनिधित्व (popular representation) पर आधारित हो। इसके साथ ही साथ, सरकार यह भी कर सकती है कि वह लोगों को कर अदा करने के लिए प्रेरित करे तथा उनमें नागरिकता की अच्छी भावना पैदा करे और इस प्रकार करदान सामर्थ्य में वृद्धि करे। इसके अतिरिक्त, युद्ध तथा संकट के अन्य अवसरों पर, जबकि देश की आजादी खतरे में पड़ जाती है, यह हो सकता है कि लोग राजकोष में अपनी आय का अपेक्षाकृत अधिक भाग देने को स्वयं ही इच्छुक हों। इस प्रकार, देशभक्ति, संकट के अवसर, सरकारी प्रशासन की प्रकृति एवं किस्म आदि ये सब ऐसे तत्व हैं जो कि सरकारी खर्चों के लिए अपना अंशदान देने की लोगों की इच्छा को प्रभावित करते हैं। **मनोवैज्ञानिक तत्व करदान-सामर्थ्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं।**

करदान सामर्थ्य का महत्व
(Significance of Taxable Capacity)

करदान सामर्थ्य की धारणा के महत्व के बारे में अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। कुछ लेखकों का मत है कि इस धारणा की न तो समुचित रूप से परिभाषा ही की जा सकती है और न माप हो, अतः अच्छा यह होगा कि कर-भार के कुल स्तर पर जोर देने की बजाय देश के कर-ढाँचे को अधिक महत्व दिया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक विवादों तनावों (tensions) और संघर्षपूर्ण आर्थिक विकास के वर्तमान काल में एक ऐसे कर-ढाँचे की रचना करना आवश्यक है जो कि कम से कम प्रतिकूल आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभाव डाल कर आवश्यक आय-कर प्रदान करे। इस दृष्टिकोण से तो, करदान सामर्थ्य की धारणा का कतई भी कोई महत्व प्रतीत नहीं होता। डाल्टन का कहना है कि "सापेक्ष करदान सामर्थ्य एक वास्तविकता है, यद्यपि उसको अन्य शब्दों में भी वैसे ही व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु पूर्ण करदान सामर्थ्य एक कल्पनामात्र है जिसमें गम्भीर भूलें उत्पन्न करने की क्षमता है। स्पष्ट विचार के हित में अच्छा तो यह होगा कि "करदान सामर्थ्य" इन शब्दों को ही लोकवित्त के सम्पूर्ण गम्भीर अध्ययनों से बाहर निकाल दिया जाय।" पर इसके बावजूद, कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं जो इस विचारधारा को काफी महत्व प्रदान करते हैं।

किसी देश या समुदाय की करदान सामर्थ्य का यह ज्ञान उस देश की सरकार के लिए अनेक प्रकार से तथा अनेक परिस्थितियों में बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। **सर्वप्रथम**, ऐसी जानकारी आर्थिक नियोजन (economic planning) के उद्देश्य के लिए आर्थिक साधनों को गतिशील करने में बड़ी लाभकारी सिद्ध होगी। **दूसरे**, युद्ध की अवधियों में, सरकार के लिए यह जानना बड़ा आवश्यक होता है कि कितनी अधिकतम धनराशि, लोग युद्ध के सफल संचालन के लिए आसानी से दे सकते हैं। **तीसरे**, सामान्य शान्तिकाल में भी, करदान सामर्थ्य की सीमाओं की जानकारी सरकार को इस योग्य बनाती है कि वह जनता पर ऐसे अनावश्यक कर न लगाये जो उत्पादक (productive) होने की बजाए और कष्टकारक हों और जिनसे लोगों में असन्तोष उत्पन्न हो। **चौथे**, संघीय वित्त की व्यवस्था में, इस विचारधारा का बड़ा महत्व है। संघ सरकार (federal government) तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों की अनेक समस्याओं के समाधान के लिए यह बड़ा आवश्यक है कि इस विचारधारा का एक सन्तोषजनक विश्लेषण (analysis) किया जाए।

इस प्रकार, करदान सामर्थ्य की विचारधारा की परिभाषा तथा माप के सम्बन्ध मे पहले उल्लेख की गई अनेक कठिनाइयो के बावजूद, इस धारणा का काफी व्यावहारिक महत्व है।

करदान-सामर्थ्य और भारत
(Taxable Capacity and India)

जैसा कि हम पहले भी बतला चुके है, किसी भी देश की करदान सामर्थ्य की सीमाओं के किसी भी अध्ययन मे यह पता लगाना बडा जरूरी होता है कि वहाँ राष्ट्रीय आय मे कुल कर-आय (tax revenue) का अनुपात क्या है? भारत मे कुल कर-आय राष्ट्रीय आय की १२% है। यह कहा जाता हैं कि यह अनुपात अन्य अनेक देशो के अनुपात स, जिनमे दक्षिणी पूर्वी एशिया के देश भी सम्मिलित हैं, नीचा (Lower) है। राष्ट्रीय आय मे कर-राजस्व के इस निम्न अनुपात से दो विभिन्न प्रकार के निष्कर्ष निकाले गये हैं। एक ओर तो कुछ लोग यह तर्क देते है कि भारत मे कराधान का स्तर बहुत नीचा है और करदान सामर्थ्य की चरम सीमा पर पहुँचने के लिए अभी अतिरिक्त कराधान का काफी क्षेत्र वर्तमान है। दूसरी ओर, कुछ लेखको का यह तर्क है कि भारत मे कराधान का निम्न स्तर इस देश की बहुसख्यक जनता की भारी गरीबी की ओर स्पष्ट सकेत करता है और अब आगे अतिरिक्त कराधान की कोई गुजाइश नही है, अर्थात् करदान सामर्थ्य की उच्च सीमा पर पहले ही पहुँचा जा चुका है।

यहाँ उन विभिन्न कारणो की व्याख्या करना बडा सरल है जोकि भारत मे राष्ट्रीय आय के कुल कराधान के निम्न स्तर के लिए उत्तरदायी हैं। सर्वप्रथम बात यह है कि भारत के अधिकाँश लोग रहन-सहन के अत्यन्त निम्न एव दयनीय स्तर के अन्तर्गत जैसे तैसे अपना गुजारा-मात्र कर रहे है। प्रति व्यक्ति आय बहुत ही थोडी है और निर्वाह-स्तर की सीमा पर ही जीवन बिताने वाले अधिकाश व्यक्तियों की करदान सामर्थ्य बहुत कम है। अत अधिकाश आबादी के लिए अतिरिक्त कराधान की कोई सम्भावना नही है। इसके साथ ही, ऐसे लोगो का प्रतिशत बहुत कम है जो आय की दृष्टि से बेशी (surplus) की स्थिति मे है और यदि उन पर कोई अतिरिक्त कर लगाया गया तो उसका उनकी काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। इस प्रकार, निर्धनता तथा रहन-सहन का नीचा स्तर ही भारत मे निम्न कर-आय के लिए उत्तरदायी है। दूसरे, भारत में मुद्राविहीन खर्चो का एक बडा क्षेत्र विद्यमान है। उत्पादन का एक बड़ा भाग बाजार मे बिकने के लिए नही आता और वह या तो स्वय उत्पादको द्वारा ही उपभोग कर लिया जाता है (उदाहरणार्थ, कृषि-उपज) अथवा उनके द्वारा श्रमिको को वस्तु-मजदूरी के रूप मे दे दिया जाता है या वस्तु-विनिमय के आधार पर बदल लिया जाता है। एक अनुमान के अनुसार, लगभग ३७% उपभोग द्राव्यिक अर्थव्यवस्था (money economy) के बाहर ही किया जाता है और खाद्यान्नो, दालो, दूध व दूध की वस्तुओ पर किया जाने वाला ६६ से लेकर ७३% तक का ग्रामीण व्यय बिना द्रव्य के ही कर लिया जाता है। अत. ऐसे वड़े मुद्रा-विहीन क्षेत्र (non-monetary sector) की विद्यमानता कराधान के क्षेत्र को सीमित कर देती है। उदाहरण के लिए, मुद्राविहीन क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओ पर बिक्री कर जैसा कोट भी वस्तु कर नही लगता। तीसरे, भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और उसके फलस्वरूप बडे पैमाने का व्यापार-क्षेत्र भी काफी कम है और यह भी कराधान के क्षेत्र को सीमित कर देता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आयात और निर्यात करो के रूप मे वस्तु कराधान के लिए एक अच्छा क्षेत्र प्रस्तुत करता है। भारत का विदेशी व्यापार इसकी राष्ट्रीय आय के समानुपाती (proportionate) नही है, अत सीमा करों (costoms duties) से होने वाली आय अधिक नही होती। अन्त मे, भारत, मे उत्पादन की छोटे पैमाने की इकाइयाँ अपना विशेष स्थान रखती है जिससे करवचन तो सरल हो जाता है और कुशलता के साथ कर-सग्रह करना कठिन। कृषि क्षेत्र मे और साथ ही साथ औद्योगिक एवं वाणिज्यिक क्षेत्रो मे भी, सगठन की इकाई आमतौर पर इतनी छोटी होती है कि कर का सग्रह करना या तो असम्भव होता है अथवा अत्यधिक कठिन। इस प्रकार, ऐसे अनेक कारण है जो इस बात को स्पष्ट करते है कि भारत मे राष्ट्रीय आय की मात्रा मे कर-आय का कम अनुपात क्यों है?

जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि 'कराधान का नीचा अनुपात इस बात को प्रकट करता है कि भारत में करदान सामर्थ्य अपनी उच्च सीमा पर पहुँच चुकी है, भारत के कराधान जाँच आयोग ने स्पष्ट कहा है कि स्वतन्त्रता से पहले सभवत: अवश्य करदान सामर्थ्य अपनी उच्च सीमा पर पहुँच चुकी थी।[9] ऐसा इसलिए था क्योंकि उस समय कराधान तथा उसके व्यय से समाज को होने वाले लाभो के बीच कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नही था। परन्तु स्वाधीनता मिलने के बाद से, करो से होने वाली प्राप्तियो (proceeds) का उपयोग अधिकाधिक रूप से सामाजिक सेवाओ के विस्तार तथा आर्थिक विकास के लिए किया जा रहा है। करदाताओ की अधिकाधिक सख्या ने इस तथ्य को बहुत पसन्द किया है और इसके परिणामस्वरूप और आगे कराधान का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है। इस सम्बन्ध मे, हमे उन अनेक अनुकूल परिस्थितियो का भी उल्लेख करना चाहिए जो भारत मे वर्तमान है और जो उन तत्वो पर विजय पाने में सहायक हैं जो इस देश मे कर-आय के नीचे स्तर के लिए उत्तरदायी हैं।

सर्वप्रथम तो, स्वतन्त्रता के पश्चात् से, सरकारी व्यय की प्रकृति मे पूर्ण परिवर्तन हो गया है। खर्च अधिकाधिक मात्रा मे देश मे कानून व व्यवस्था की स्थापना एव विदेशी आक्रमणो से बचाव की मदो से हटाकर आर्थिक विकास और समाज कल्याण के कार्यों में किया जा रहा है। इस सम्बन्ध मे कराधान जाँच आयोग का यह कथन है कि "यदि कर-प्राप्तियो का वास्तव मे समाज सेवाओ के विस्तार एव आर्थिक विकास के लिए उपयोग किया गया और यदि इसकी स्पष्ट रूप मे कदर की गई, तो सामर्थ्य मे अवश्य वृद्धि होगी।" यह स्थिति स्पष्टत: वही है जो कि आजकल भारतवर्ष मे घटित हो रही है।

दूसरे पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। अत यह सम्भव है कि अतिरिक्त कराधान का आश्रय लिया जाए और यह अतिरिक्त कराधान कमाई हुई अतिरिक्त आय पर ही पड सकता है। अन्य शब्दो मे, अतिरिक्त कराधान से गैर-सरकारी उपभोग अथवा विनियोग मे कटौती नही होगी।

तीसरे, आयोजनाबद्ध आर्थिक विकास के अन्तर्गत भी, कुछ क्षेत्र तथा कुछ वर्ग ऐसे हो सकते हैं जो विशेष रूप से अधिक लाभप्रद स्थिति मे रहे, अत कर सम्बन्धी पग ऐसे तरीके से उठाये जा सकते है जिससे उन लाभो का कुछ भाग राज्य को मिल सके। इसका उदाहरण अनेक राज्यो मे लगाया गया वह समुन्नति कर (betterment levy) है जो इसलिए लगाया गया ताकि सिंचाई योजनाओ के परिणामस्वरूप पूँजीगत मूल्यों में होने वाली वृद्धि का कुछ भाग सरकार द्वारा वापिस लिया जा सके। ऐसे कराधान को 'हितानुसार कराधान" (benefit taxation) कहा जा सकता है।

चौथे, सुनियोजित आर्थिक विकास, सम्पूर्ण रूप मे, देश अथवा समुदाय को अनेक लाभ प्रदान करता है। इस स्थिति में, यह आवश्यक हो जाता है कि वस्तु कराधान का अधिकाधिक आश्रय लिया जाय क्योकि यही एकमात्र वह तरीका है जिसके द्वारा निम्न आय वाले उन वर्गों तक पहुँचा जा सकता हैं जो आय-कर तथा सम्पत्ति करो के दायरे मे नही आते। इसके अतिरिक्त, आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (planned economy) मे, वस्तु कराधान को एक ऐसी यान्त्रिक-रचना माना जा सकता है जो वस्तुओ की उपलब्ध मात्रा मे उसकी माँग को फिट कर दे।

अन्त में, भारत मे घाटे की वित्त व्यवस्था का अधिकाधिक मात्रा मे आश्रय लेने का परिणाम यह होगा कि समय बीतने के साथ ही साथ मुद्राविहीन क्षेत्र (non-monetised sector) समाप्त होने लगेगा और लोगो की द्रव्य-आय तथा वास्तविक आय मे भी वृद्धि होने लगेगी। यह स्थिति भी, अतिरिक्त कराधान का एक व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करती है, विशेष रूप से मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए जो कि घाटे की व्यवस्था (deficit financing) के कारण उत्पन्न हो सकती है।

9 Report of the Taxation Enquiry Commission, Vol. I. p. 153.

निष्कर्ष (Conclusion) :

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि भारत के करदान सामर्थ्य अभी अपनी उच्च सीमा पर नही पहुँची है और अतिरिक्त कराधान के लिए अभी भी काफी क्षेत्र है। कराधान जांच आयोग का निष्कर्ष तो यह है कि "जहाँ इस बात मे विश्वास करने के कारण वर्तमान है कि करदान सामर्थ्य मे वृद्धि हुई है, वहाँ इस तथ्य से भी इन्कार नही किया जा सकता कि युद्ध से पूर्व की अवधि की तुलना मे राष्ट्रीय आय मे कर-आय का अनुपात यथापूर्व है और उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ है। अपने वर्तमान ढाँचे तथा दरो के आधार पर भारतीय कराधान ने देश के कर योग्य साधनो का पूर्ण दोहन नही किया है। जब इस बात पर अतिरिक्त साधनो की विशाल आवश्यकता के सन्दर्भ मे विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय कराधान मे कुछ वृद्धि करने का औचित्य (justification) वर्तमान है।"[10]

[II] कराधान और स्फीति अथवा मुद्रा प्रसार
(Taxation and Inflation)

स्फीति विरोधी नीति (anti-inflationary policy) के एक अस्त्र के रूप मे बिक्री कर पर विचार करते समय हमने उस रुचिकर विवाद का जिक्र किया था जो कि कराधान और स्फीति के बीच के सम्बन्ध के बारे मे वर्तमान है। जहाँ अधिकाश अर्थशास्त्री कराधान को स्फीति सम्बन्धी दबावो पर नियन्त्रण करने वाला एक अस्त्र बतलाते हैं और इसको मुद्रा सम्बन्धी नीति (monetary policy) के बाद के दूसरे महत्वपूर्ण अस्त्र के रूप मे स्वीकार करते हैं, वहाँ कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं जो यह कहते है कि कुछ निश्चित सीमाओ को बाँध कर लगाया गया कराधान स्फीति सम्बन्धी दबावो की उत्पत्ति के लिए भी उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। इस विवाद का साराश यह है कि कराधान का ऊँचा स्तर अपने प्रभावों की दृष्टि से स्फीतिजनक होता है अथवा स्फीति-विरोधी ? इस विवाद को समझने के लिए, यह आवश्यक है कि एक ओर तो स्फीति की प्रकृति तथा प्रक्रिया (process) की व्यापक छान-बीन की जाए और दूसरी ओर उन तर्को पर भी विचार किया जाए जो कि इन दोनो परस्पर विरोधी मतो का समर्थन करते हैं।

स्फीति की परिभाषा (Definition of Inflation) :

सामान्य अर्थ मे, स्फीति मूल्य-स्तर मे वृद्धि की सूचक होती है, परन्तु अधिक यथार्थ रूप मे, इसका तात्पर्य सामान्य मूल्य-स्तर (general price level) की उस वृद्धि से होता है जो कि अपेक्षाकृत मूल्य निरपेक्ष अथवा लचकहीन सभरणो (supplies) की स्थिति मे द्रव्य-आय के विस्तार के कारण होती है। यह अर्थ यथार्थत, वैसा ही है जैसा कि कीन्स और पीगू ने व्यक्त किया था। उन्होने स्फीति की परिभाषा करते हुए कहा था कि स्फीति मूल्य-स्तर मे होने वाली वह वृद्धि है जो कि पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुचने के पश्चात् उत्पन्न हुई हो, क्योकि इस स्थिति मे आगे द्रव्य-आय और उसके परिणामस्वरूप द्रव्य-माँग तो बढ सकती है परन्तु कुल उपज नही बढ सकती (क्योकि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुच चुकी होती है) इस प्रकार, स्फीति के पीछे दो तत्व काम करते हैं : द्रव्य-आय (money incomes) का विस्तार जो कि सचयी (cumulative) होता है, और वस्तुओ के सभरण की मूल्य-निरपेक्षता अथवा लचकहीनता। इस सम्बन्ध मे कराधान इसलिए प्रकाश मे आता है क्योकि यह द्रव्य-आय के प्रभाव को तथा वस्तुओ के उत्पादन, सभरण एव मूल्यो को भी प्रभावित कर सकता है। उदाहरण के लिए, कराधान सामान्य जनता के पास वर्तमान द्रव्य-आय की मात्रा को कम कर सकता है अथवा उच्च वेतनो एव मजदूरियो के द्वारा द्राव्यिक धारा (monetary strem) के प्रवाह मे वृद्धि कर सकता है। इसके साथ ही, यह वस्तुओ के उत्पादन तथा सभरण की मात्रा को भी कम कर सकता है और उनकी कीमतो मे वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार, कराधान द्रव्य-आय के प्रवाह और वस्तुओं के सभरण—इन दोनो ही तत्वो से निकट का सम्बन्ध रखता है।

---

10. Report of the Taxation Enquiry Commission, Vol. I, p. 152.

स्फीति के एक कारण के रूप में कराधान (Taxation as a Cause of Inflation) :

वे लोग, जो यह कहते है कि कराधान को यदि सीमा से आगे बढ़ाया गया तो वह स्फीति उत्पन्न कर देता है, अपने तर्कों के निम्न आधार बतलाते हैं :—

(१) आय-कर का एक ऊँचा स्तर, जो सामान्य जनता की क्रयशक्ति की मात्रा को घटा देता है, मजदूरों तथा वेतनभोगी लोगों को अधिक मजदूरी तथा अधिक वेतन माँगने के लिए प्रेरित करता है। यदि वे इसमें सफल हो जाते हैं तो कीमतें स्वभावत बढ़ जाती है। परिणाम-स्वरूप, मजदूरी, कीमतों तथा फिर मजदूरी और फिर कीमतों की वृद्धि का चक्र आरम्भ हो जाता है।

(२) जब सरकार बड़े पैमाने पर कर लगाने और खर्च करने का निश्चय करती है, तो काफी द्रव्य कार्यशील हो जाता है। ऐसा अंशत तो सरकार के कारण होता है और अंशतः गुणक व गति सिद्धान्तों (multiplier and acceleration principles) के कारण। इसके अतिरिक्त, कराधान का ऊँचा स्तर ही इस बात को सभव बनाता है कि बड़ी मात्रा में खर्च किया जाए और कर-आय के अभाव में वह काफी कम हो जाता है। फिर, यह भी सम्भव है कि कराधान द्वारा प्राप्त की गई आय का कम से कम कुछ भाग प्रयोग में ही न आये और मौद्रिक प्रवाह (monetory stream) में प्रविष्ट ही न हो, बल्कि कराधान और सरकारी व्यय के लिए रखा जाये। इसका अर्थ यही है कि कुछ सीमाओं से आगे बढ़ कर लगाया गया कराधान स्फीति सम्बन्धी शक्तियों को जन्म देता है।

(३) सरकार की कराधान नीति विनियोग (investment) करने की प्रेरणा को प्रभावित कर सकती है। मान लीजिए, भेदमूलक कराधान (differential taxation) के द्वारा सरकार इस प्रकार के विनियोग को भारी मात्रा में प्रोत्साहन देती है जिसका प्रतिफल दीर्घकाल में प्राप्त होगा, तो इसका परिणाम यह होगा कि द्रव्य के आय के प्रवाह में तो वृद्धि हो जायेगी किन्तु वस्तुओं के उत्पादन में समवर्ती वृद्धि (corresponding increase) नहीं होगी। इस प्रकार, कराधान स्फीति सम्बन्धी दशाओं की उत्पत्ति को प्रेरणा देगा।

(४) कराधान के ऊँचे स्तरों से वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत बढ़ जायेंगी। अन्य बातें समान रहने पर, इसका परिणाम यह होगा कि बचतों में कमी और खर्च में वृद्धि हो जायेगी। कुल उपभोक्ता व्यय में वृद्धि होने का प्रभाव यह होगा कि स्फीति सम्बन्धी दबावों की स्थिति और भी बदतर हो जायेगी।

(५) अन्त में, कराधान की ऊँची दरों के द्वारा वस्तुओं का कुल उत्पादन तथा सभरण घट सकता है। ऐसा केवल वस्तुओं तथा उत्पादन के साधनों की ऊँची कीमतों के कारण ही नहीं होगा, अपितु श्रम सम्बन्धी दिक्कतों एवं उत्पादन सम्बन्धी कुछ अन्य कठिनाइयों के कारण भी होगा एक ओर मौद्रिक आय की वृद्धि और दूसरी ओर वस्तुओं के सभरण की लचकहीनता के कारण निश्चय ही स्फीति सम्बन्धी दबाव उत्पन्न होगें। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि बिक्रीकर उत्पादक वस्तुओं पर भी लगा दिये गये तब तो कीमतों की वृद्धि का एक पिरेमिड सा ही बनना आरम्भ हो जायेगा। पहले कारण के साथ-साथ यह कारण भी स्फीति सम्बन्धी दबावों के रूप में ही सामने आयेगा।

इस प्रकार जो लोग यह कहते हैं कि कराधान की ऊँची दरें स्फीति सम्बन्धी दबाव (inflationary pressure) उत्पन्न करती हैं वे मुख्यतः इस आधार पर अपने तर्क देते हैं कि :—

(क) मौद्रिक प्रवाह में वृद्धि हो जाती है, और

(ख) वस्तुओं तथा सेवाओं की स्थिति में कोई सुधार नहीं होता, अपितु उनकी स्थिति और खराब हो सकती है।

स्फीति विरोधी अस्त्र के रूप में कराधान (Taxation as an Anti-inflationary Instrument) :

पर उपर्युक्त विवेचन के बावजूद, सामान्य रूप से स्वीकृत मत यह है कि कराधान स्फीति को प्रेरणा देना तो दूर रहा उसको नियन्त्रित करने का ही एक साधन है। ऊपर इस बात

के पक्ष में जो तर्क दिये गये है कि कराधान एक स्फीति उत्पन्न करने वाला तत्व है, उन्हे स्वीकार नही किया जाता और उनके बजाए वैसे ही तर्क यह दिखाने को प्रस्तुत किये जाते है कि कराधान से अन्दर स्फीति विरोधी शक्तियाँ विद्यमान है।

(१) **कराधान क्रयशक्ति की मात्रा को कम करता है** (Taxation reduces the volume of purchasing power)—सर्वप्रथम बात यह है, कि कराधान करदाताओ के पास वर्तमान क्रयशक्ति की मात्रा को कम कर देता है और इस प्रकार मौद्रिक धारा के प्रवाह को धीमा कर देता है। द्रव्य आय मे कमी हो जाने से वस्तुओ और सेवाओं की माँग मे भी कमी हो जाती है और इस प्रकार कीमतो पर पड़ने वाला स्फीति सम्बन्धी दबाव कम हो जाता है। परन्तु कराधान यह स्फीति विरोधी कार्य केवल तभी कर सकता है जबकि सरकार की व्यय नीति भी इस प्रकार बनाई जाए कि वह कराधान के उद्देश्यो एव लक्ष्यो से मेल खाती हो। स्फीति विरोधी नीति का उद्देश्य जहाँ यह होता है कि लोगो की क्रयशक्ति की मात्रा मे कटौती की जाए वहाँ व्यय नीति भी ऐसी नही होनी चाहिए कि द्रव्य को फिर चलन (circulation) मे वापिस भेज दे अर्थात् यह कि करो के द्वारा प्राप्त धन को उपयोग नही करना चाहिए, क्योकि यदि कर से प्राप्त धनराशियाँ व्यय के द्वारा फिर वापिस चली जाती है तो मुद्रा की कुल मात्रा कुल माँग पूर्ववत् ही बने रहेगें। परन्तु प्रश्न यह है कि यह कहाँ तक सम्भव हो सकता है कि सरकार अपने व्ययो मे कमी कर सके? व स्तव मे सरकार द्वारा अपने खर्चो मे कमी किए जाने की सम्भावना बहुत कम है क्योकि युद्ध की अवधि तथा तीव्रगति से किये जाने वाले आर्थिक विकास की स्थिति मे सरकार का व्यय तो और बढ़ ही जाता है और स्फीति सम्बन्धी दबाव उत्पन्न कर देता है। परन्तु इसे स्फीति विरोधी उपाय के रूप मे कराधान के प्रभावो की आलोचना नही माना जा सकता बल्कि यह वस्तुत सरकारी व्यय की आलोचना है।

(२) **कठोर वस्तु-कर वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि तथा माँग में कमी करता है** (stiff-commodity taxes raise the price of goods and curtail the demand)—कठोर वस्तु कर वस्तुओं की कीमतो मे वृद्धि और उनकी माँग मे कटौती करते हैं। वस्तु करो के कारण होने वाली कीमतो की वृद्धि और स्फीति के रूप मे कीमत-स्तर मे होने वाली वृद्धि मे मुख्य अन्तर यह है कि कीमतो की पहली वृद्धि तो कराधान के कारण होती है और दूसरी मौद्रिक माँग (monetary demand) मे वृद्धि के कारण होती है। इसके अतिरिक्त, कीमतो की पहली वृद्धि मे माँग मे कमी होगी किन्तु दूसरी से काल्पनिक अथवा अपेक्षी माँग (speculative demand) मे वृद्धि होगी। फिर, वस्तु करो से कीमतें सदा के लिए केवल एक बार बढती है, किन्तु स्फीति कीमतो को निरन्तर ऊँचा करती रहती है। इस सीमा तक, कि वस्तु कर कीमतो में वृद्धि और उनकी माँग मे कमी करते है, मुद्रा स्फीति सम्बन्धी प्रभाव अवश्य दूर होगें। परन्तु कुल माँग मे कमी कहाँ तक होगी यह इस बात पर निर्भर होगा कि करो के लगाये जाने की अवधि के सम्बन्ध मे लोगो की आशाये तथा प्रत्याशाएं क्या है। उदाहरण के लिए यदि वे यह अनुभव करते है कि कर केवल अस्थायी रूप से ही लगाये गये हैं और वे केवल स्फीति काल मे ही लगे रहेंगे, तब तो उपभोक्ता अपनी माँग को स्थगित करने के इच्छुक होगे और इस प्रकार स्फीति सम्बन्धी दबावो को कम करने मे अपना अशदान दे सकेंगे। परन्तु यदि वस्तु करो को कर ढांचे का एक स्थायी अग बना दिया गया है तो सम्भव है ऐसे प्रभाव न हो।

(३) **विनियोग तथा उत्पादन के साधनों में कटौती** (Curtailment of Investment and factors Production)—सरकार एक ओर तो मूल्य-नियन्त्रण लागू कर सकती है और दूसरी ओर उत्पादन कराधान (excise taxation)। इसका अर्थ यह होगा कि उपभोक्ता तो वही सामान्य कीमतें देते रहेगे और दूसरी ओर उत्पादन कर उद्यमकर्ताओ की लाभ की मात्रा को कम कर देंगे। इसका परिणाम होगा विनियोग तथा उत्पादन के साधनो मे कटौती। इससे भी स्फीति सम्बन्धी दबाव कम होंगे।

परन्तु कराधान को स्फीति विरोधी अस्त्र के रूप मे प्रयोग करने मे एक खतरा है। वह यह कि कराधान से यह हो सकता है कि लोग ऊँचे वेतनो तथा ऊँची मजदूरियो की माँग करने लगें। प्रत्यक्ष करों से लोगो के पास वर्तमान द्रव्य-आय की मात्रा मे कमी हो जायेगी जिससे उन्हे मजदूरियाँ बढाने की माँग करने की प्रेरणा मिलेगी। दूसरी ओर, वस्तु करों से कीमतों मे तथा

रहन सहन की लागतो मे वृद्धि होगी और इस स्थिति से मजदूरो और वेतन भोगी लोगो को अधिक पारिश्रमिक मांगने का प्रोत्साहन मिलेगा। यदि करारोपण के दबाव के कारण मजदूरियां और वेतन बढते हैं तो कराधान के अच्छे प्रभाव समाप्त हो जायेगे।

जो लोग इस बात का समर्थन करते है कि कराधान एक स्फीति विरोधी उपाय है, वे अपने निष्कर्ष के निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करते हैं —

(क) कराधान मौद्रिक धारा के प्रवाह (flow of monetary stream) को धीमा कर देता है और इस प्रकार कुल मांग मे कमी कर देता है।

(ख) यह वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढा देता है और इस प्रकार उनकी मांग घटा देता है।

कराधान स्फीतिजनक है अथवा विरोधी है—इस विवाद का मूल्यांकन
(An Evaluation of the Controversy)

ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनो ही दृष्टिकोणो मे सचाई का अश वर्तमान है। कराधान उस समय स्फीतिजनक (inflationary) होता है जबकि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनो ही प्रकार से मौद्रिक धारा के प्रवाह को तीव्र कर देता है। यह वस्तुओ व सेवाओ की कीमतें बढा देता है। यह सरकार को अपना व्यय बढाने के लिए राजस्व के स्रोत प्रदान करता है। इस प्रकार, आधुनिक सरकारो तथा उनकी व्यय-नीतियो के आलोचक यह तर्क देते हैं कि कराधान की ऊँची दरें निश्चित रूप से देश को स्फीति के गर्त मे धकेल देती हैं। दूसरी ओर, कराधान को स्फीति के नियन्त्रण का साधन मानने वाले लोग मौद्रिक प्रवाह तथा कुल मांग की कमी पर जोर देते हैं। परन्तु ये लोग इस बात को अवश्य स्वीकार करते हैं कि मजदूरियो और वेतनो मे वृद्धि भी सम्भव हो सकती है, *और यदि ऐसा हुआ तो कराधान के स्फीति विरोधी प्रभाव भी समाप्त हो जायेंगे।* वस्तुत सत्य इन दोनो ही मतो के कही बीच मे निहित प्रतीत होता है, और वह यह कि कराधान की एक समुचित नीति अपनाकर, कुछ सीमा तक, स्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है परन्तु इस विषय मे बडी सावधानी रखी जानी चाहिए कि कराधान की वृद्धि के साथ ही साथ वेतन और मजदूरियो मे वृद्धि न हो। इसके अतिरिक्त, इस बात को भी नही भूलना चाहिए कि मांग और सभरण की शक्तियो के उस कुल समूह मे, जिस पर कि स्फीति निर्भर होती है, कराधान तो केवल एक उसका अग मात्र है। कराधान के अलावा भी अनेक ऐसे तत्व है जो स्फीति सम्बन्धी दबावो को उत्पन्न करने व बढाने मे तथा साथ ही साथ उनको नियन्त्रित करने मे, सम्भवत. उससे भी अधिक महत्वपूर्ण हैं।

[III] कराधान तथा पूंजी-निर्माण
(Taxation and Caiptal Formation)

अल्प विकसित देशो मे कराधान का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य पूंजी के निर्माण का हुआ करता है। इस भाग मे, हम विस्तार से इस बात पर विचार करेंगे कि उन्नत तथा अल्पविकसित देशो मे पूंजी के निर्माण के सम्बन्ध मे कराधान क्या योगदान करता है।

पूंजी-निर्माण की परिभाषा (Definition of Capital Formation)

पूंजी की परिभाषा मशीनरी, भवन व परिवहन सामग्री जैसे उत्पादन के उन सभी टिकाऊ साधनो के रूप मे की जा सकती है जो मानव-निर्मित होते हैं और जो उत्पादन के प्रत्येक अगले क्रम मे *अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करते हैं।* परन्तु कम विकसित देश की स्थिति मे, पूंजी शब्द के अन्तर्गत ऐसी सभी वस्तुओं एव सेवाओं को सम्मिलित करना होगा, जैसे कि मानवीय चातुर्य तथा स्वास्थ्य (human skills and health) और यहाँ तक कि अन्न भी, जिनकी पूर्ति आर्थिक विकास के लिए आवश्यक होती है और जिनके अभाव मे आर्थिक प्रगति रुक जाती है। यहां अपने अध्ययन मे, हम पूंजी से *आशय उन सभी वस्तुओ से लगायेंगे, जैसे कि भवन* मशीनरी, परिवहन, बिजली व शक्ति, कच्चा माल, श्रम-प्रशिक्षण और सबसे ऊपर कुछ मात्रा मे अन्न तथा अन्य मजदूरी पदार्थों (wage goods) की बेशी।

आजकल, प्रत्येक अर्थव्यवस्था पूँजी के संचय का लक्ष्य अपने सामने रखती हैं जिससे कि वह चालू पूँजी को सुरक्षित रख सके और वस्तुओ व सेवाओ के उत्पादन मे और वृद्धि कर सके। एक उन्नत अर्थव्यवस्था वह होती है जिसमे पूँजी का सचय ऊँची दरो से होता है और फलस्वरूप जिसकी उत्पादन-क्षमता अधिक होती है। ऐसे देश मे लोगो की प्रति व्यक्ति आय अधिक होती है और उनका रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा होता है। दूसरी ओर अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओ का एक उल्लेखनीय लक्षण होता है, उनकी पूँजी-निर्माण की अत्यधिक नीची दर जो कि राष्ट्रीय आय की लगभग ५ से ६ प्रतिशत तक होती है। इन देशो की सर्वोपरि आवश्यकता यह होती है कि वे अपनी पूँजी की वृद्धि की दर को १२ से १५% तक बढ़ाये। यह वही दर है जो कि उन्नत देशो में आमतौर पर पाई जाती है।

पूँजी-निर्माण में निम्न तीन बातें निहित होती हैं :

(क) उन साधनो का दिशा-परिवर्तन (diversion) जो कि उपभोग के लिए काम मे लाये जाते है अथवा जो पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन नही करते और बेकार पड़े रहते है।

(ख) एक ऐसी बैंकिंग व वित्तीय पद्धति की विद्यमानता, जो दो मूलभूत कार्यों को सम्पन्न करे : (१) जनता की बचतो को गतिशील करे, और (२) निवेशकर्ताओं को इस योग्य बनाए कि वे उनके दावे कर सके, और

(ग) मौद्रिक तथा अन्य साधनो का पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन मे विनियोग (investment)।

पूँजी का सचय केवल मौद्रिक एवं वित्तीय सस्थाओ मे ही निहित नही होता अपितु उपभोग को सीमित करने मे, बचतो की वृद्धि करने मे और उनको उत्पादकीय विनियोग मे लगाने मे भी निहित होता है।

उन्नत अर्थव्यवस्था में कराधान एवं पूँजी-निर्माण (Taxation and Capital Formation in an Advanced Economy)

सामान्यत., अधिकाश उन्नत देशो में पूँजी-निर्माण की ऊँची दर—१२% से १५% तक—पाई जाती है। इन देशो मे सरकार को इस बात की आवश्यकता नही होती कि वह पूँजी-निर्माण की इस दर को बनाये रखने अथवा उसमे वृद्धि करने के लिए गैर-सरकारी क्षेत्र (private sector) की मदद को आगे आए।

पर इसके बावजूद, उन्नत देशो मे भी, कराधान पूँजी-निर्माण का एक स्रोत हो सकता है। इन देशो मे, लोगो की करदान सामर्थ्य अल्पविकसित देशो के मुकाबले काफी अधिक होती है। परिणामस्वरूप, राष्ट्रीय आय का वह प्रतिशत भी काफी ऊँचा होता है जो कि सरकारे अपने लिए ले सकती है। ऊँची आमदनियो तथा कराधान के ऊँचे प्रतिशत के साथ ही साथ, सरकारे कराधान की उन प्राप्तियों से पूँजी-निर्माण की महत्वाकाक्षी योजनाओ को आरम्भ कर सकती हैं। इन सरकारो ने वास्तव मे जो कुछ किया है उसका स्पष्ट प्रदर्शन सडको, रेलो, जलकल (water works) विद्युतीकरण तथा सचार जैसे व्यापक सामाजिक तथा आर्थिक कार्यों की विद्यमानता से हो जाता है। इन सबकी वित्तीय व्यवस्था या तो कराधान मे से की जाती है अथवा कर्जो द्वारा, और बाद मे इन कर्जो का भुगतान कराधान की प्राप्तियो मे से कर दिया जाता है। इस प्रकार उन्नत देशो मे कराधान को पूँजी-निर्माण का एक स्रोत माना जा सकता है।

सैद्धान्तिक रूप मे यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष कर काम करने तथा बचत करने की प्रेरणा को प्रभावित करें और इस प्रकार पूँजी-निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव डाले। उदाहरण के लिए; अत्याधिक आरोही आय-कर काम करने की प्रेरणा को कम करता है, परिणामस्वरूप बचत करने की योग्यता को भी कम करता है। इसी प्रकार, वैयक्तिक धन कर और बडी मात्रा मे मृत्युकर बचत तथा सचय करने की इच्छा को प्रभावित करते है, फलस्वरूप उससे पूँजी-निर्माण प्रभावित होता है। वस्तु कराधान, साधारणत, प्रत्यक्ष रूप से पूँजी के निर्माण को प्रभावित नही करता; हाँ परोक्ष रूप से यह अवश्य ऐसा कर सकता है। उदाहरण के लिए, उत्पादन कर लगाने के कारण

वस्तु की कीमत में जो वृद्धि होगी उसमें उस वस्तु की मांग घटेगी और फिर उत्पादन भी कम होगा। परिणामस्वरूप, उस उद्योग का विस्तार सीमित हो जायेगा और इस सीमा तक विनियोग तथा पूँजी का निर्माण कम हो जायगा।

तथापि, अनेक प्रेक्षकों का विचार है कि एक उन्नत अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत यह सम्भव है कि प्रत्यक्ष कराधान की ऊँची दरों के बावजूद नागरिकों की बचत करने की योग्यता तथा विनियोग करने की इच्छा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि करदाताओं को इस सम्बन्ध में बड़ी मात्रा में ऐसे अवसर उपलब्ध रहते हैं जिनके द्वारा कि वे अच्छी आय कमाने का अपना क्रम बराबर जारी रख सकें। कराधान के कारण बचत तथा विनियोग करने की क्षमता और विनियोग की प्रेरणा को कोई हानि नहीं पहुँचती क्योंकि ये तो लाभ की सम्भावनाओं पर निर्भर होती हैं। फिर भी, यहाँ जिन बातों का उल्लेख किया गया है उनमें से अनेक सन्देहास्पद हैं। यह बात सर्वविदित है कि तीव्र कराधान निश्चित रूप से काम करने तथा बचत करने की इच्छा तथा योग्यता को कम करेगा।

परन्तु यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि कराधान के प्रतिकूल प्रभावों का असर सरकारी खर्च के अनुकूल प्रभावों द्वारा समाप्त कर दिया जाए। इसके अतिरिक्त, अधिकांश उन्नत देशों में, सरकारें कराधान तथा सरकारी व्यय का उपयोग ऐसी क्षतिपूरक नीति (compensatory policy) को जारी रखने वाले अस्त्रों के रूप में करती हैं जिसमें कि अर्थव्यवस्था बिना अनावश्यक उतार-चढ़ावों के सरल रूप से कार्य कर सके। ऐसा तब होता है जबकि आय के स्तर स्थिर बने रहें और उसके साथ ही बचत तथा विनियोग (Investment) के स्तर भी स्थिर रहें। हम कह सकते हैं कि एक उन्नत अर्थव्यवस्था में

(क) सरकार आमतौर पर कोई पूँजी-निर्माण का कार्य नहीं करती, हाँ केवल सामाजिक तथा आर्थिक निर्माण के कार्यों की व्यवस्था अवश्य करती है;

(ख) अर्थव्यवस्था सामान्यतः पूँजी-निर्माण की ऐसी दर का प्रबन्ध करती है जो कि पूँजी को यथापूर्व बनाये रखने तथा पर्याप्त मात्रा में उस अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था करने के लिए आवश्यक हो जो कि जनसंख्या की वृद्धि में तथा नए साधनों की खोज आदि में सहायक होती है,

(ग) कर सम्बन्धी उपाय पूँजी निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं परन्तु आमतौर पर, आमदनियों में और पूँजी के निर्माण में स्थिरता पाई जाती है; और

(घ) मन्दी आदि की अवधियों में, यदि कोई ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जो कि गैर-सरकारी क्षेत्र के पूँजी-निर्माण को कम करे तो सरकार द्वारा पूँजी का निर्माण करके उसकी क्षतिपूर्ति की जा सकती है।

सामान्य रूप से, पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में सरकार का रुख तटस्थता (neutrality) का होता है।

एक अल्प विकसित देश में कराधान तथा पूँजी का निर्माण (Taxation and Capital Formation in an Underdeveloped Country)

यह बात सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि "अल्पविकसित देशों की आर्थिक स्थिति में, दीर्घकाल में, उल्लेखनीय सुधार केवल तभी हो सकता है जबकि पूँजी-निर्माण की वृद्धि की दर को ऐसे स्तर तक पहुँचाया जा सके जिसके पश्चात् फिर सरकार को पूँजी-निर्माण को स्थिर रखने के लिए कोई विशेष प्रयत्न न करने पड़ें।"[11] अल्पविकसित देशों में, पूँजी-निर्माण की

11. *Van philips* : Public Finance in less Developed Economics, p 122, "A significant improvement in the economic situation of underdeveloped countries in the long run is attainable only through a substantial increase in the rate of capital formation to a level at which special efforts by the government to sustain capital formation will no longer be necessary."

एडम स्मिथ के कराधान के सिद्धान्त
(Adam Smith's Canons of Taxations)

एडम स्मिथ सम्भवतः पहला लेखक था जिसने कराधान के सिद्धान्तों के बारे में अपनी पुस्तक 'राष्ट्रों का धन' ('Wealth of the Nations') में सामान्य रूप से विचार प्रकट किये। उसने कराधान की किसी भी अच्छी कर-पद्धति में समावेश (incorporate) करने के लिए निम्न चार सिद्धान्त प्रस्तुत किये :—

(१) समानता अथवा न्याय का सिद्धान्त (Canon of Equality or Equity)—एडम स्मिथ के सिद्धान्तों में सबसे पहला सिद्धान्त समानता का सिद्धान्त था। उनके अनुसार—"सभी नागरिकों को यथासम्भव अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अंशदान करना चाहिए, अर्थात् उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की सरक्षता में प्राप्त करते हैं।" उन्होंने आगे चलकर स्वयं ही 'समानता' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, "धनी व्यक्तियों को अपनी आय के अनुपात में नहीं वरन् इस अनुपात से अधिक कर देना चाहिए।" इस सिद्धान्त का अनुकरण करने से कराधान की समानता प्राप्त की जा सकती है और इसकी उपेक्षा करने से कराधान की असमानता।

(२) निश्चितता का सिद्धान्त (Canon of Certainty)—स्मिथ के मतानुसार "प्रत्येक व्यक्ति को जो कर देता है, निश्चित होना चाहिए—मनमाना नहीं। भुगतान का समय, भुगतान की विधि, भुगतान की राशि आदि करदाता तथा प्रत्येक अन्य व्यक्ति को स्पष्ट होनी चाहिए।" वस्तुतः निश्चितता करदाता तथा राज्य दोनों की दृष्टि से ही लाभप्रद होती है क्योंकि एक ओर तो व्यक्ति अपनी आय तथा व्यय में हेरफेर कर सकता है क्योंकि उसे यह ज्ञात होता है कि कब और कितना भुगतान कर के रूप में करना है तथा दूसरी ओर राज्य अपने बजट का अनुमान निश्चितता पूर्वक कर सकता है क्योंकि उसे यह भी ज्ञात होता है कि उसे कब और कितनी राशि कर के रूप में प्राप्त होगी। निश्चितता के सिद्धान्त का आशय यह है कि कर सग्रह करने वाले अधिकारी अथवा राज्य द्वारा करदाता का शोषण नहीं किया जा सके।

(३) सुविधा का सिद्धान्त (Canon of Convenience)—स्मिथ के मतानुसार—"प्रत्येक कर ऐसे समय तथा ऐसी नीति से वसूल किया जाना चाहिए जिससे कि उसको अदा करना कर-दाता के लिए सबसे अधिक सुविधाजनक हो।" उदाहरण के लिए, भूमि अथवा मकानों के किराये पर लगाया गया कर यदि उस समय वसूल किया जाय जबकि किराया भूमि या मकान मालिक को चुकाया जाता है, तो करदाता को इसके देने में बहुत सुविधा रहेगी। इसी प्रकार बिक्री कर की वसूली वस्तु के विपणन के समय करने से करदाता को सुविधा रहती है।

(४) मितव्ययिता का सिद्धान्त (Canon of Economy)—कराधान का चतुर्थ एवं अन्तिम सिद्धान्त मितव्ययिता का सिद्धान्त है। स्मिथ के मतानुसार—"प्रत्येक कर की रचना ऐसी होनी चाहिए कि जो भी राजकीय कोष को प्राप्त हो, उसके अतिरिक्त व्यक्तियों की जेब से कम से कम निकले।" इसका अर्थ यह है कि कर के सग्रह करने की लागत कम से कम हो, क्योंकि कर को एकत्रित करने में जितना अधिक व्यय होगा उतनी ही कम आय राज्य को प्राप्त होगी, जबकि नागरिकों पर कर का भार अधिक रहेगा।

लोकवित्त के बाद के लेखकों ने कराधान (taxation) के कुछ अन्य सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने कर ढांचे में सरलता (simplicity) लाने की वकालत की। उनका आशय यह था कि कर पद्धति इतनी सरल होनी चाहिए कि एक सामान्य आदमी भी उसको आसानी से समझ सके। यही नहीं, सम्पूर्ण रूप में (as a whole) कर पद्धति तथा विशेष रूप से वैयक्तिक कर (individual taxes) उत्पादकता के सिद्धान्त (principle of productivity) के अनुरूप होने चाहिए, अर्थात् यह कि सरकारी व्यय की पूर्ति के लिए उनसे पर्याप्त आय प्राप्त हो जाए। इनके अतिरिक्त, कराधान के अन्य सिद्धान्त हैं लोच (elasticity), लचक (flexibility), विभिन्नता (diversity) तथा तटस्थता (neutrality) के सिद्धान्त।

आधिक निर्माण के लिए पूंजी की व्यवस्था कर सकती है जो कि औद्योगीकरण की मूल आवश्यकता है। दूसरे, सरकार आर्थिक गतिविधियों में प्रत्यक्ष रूप से भी भाग ले सकती है; ऐसा करने के लिये वह ऐसे उद्योगों में तथा ऐसे क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों की स्थापना कर सकती है जहाँ कि विस्तार एवं विकास का बड़ा क्षेत्र वर्तमान हो। इसका मूल उद्देश्य यह है कि सरकार बचत तथा पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन दे।

सीमायें एवं कठिनाइयाँ (Limitations and difficulties)—इस प्रकार, एक अल्प-विकसित देश में, कराधान का उपयोग समुदाय की बचत के रूप में किया जा सकता है। परन्तु इसकी भी कुछ सीमाएँ हैं। इन देशों में चूँकि लोगों की आय का स्तर बहुत नीचा होता है अतः लोगों की करदान सामर्थ्य भी बहुत कम होती है। जिन लोगों को प्रत्यक्ष कर अदा करने होते हैं उनकी संख्या उँगलियों पर गिनने लायक होती है। उदाहरण के लिए, भारत में, जिन लोगों पर आय-कर लगता है उनकी मात्रा कुल जनसंख्या का १% से भी कम है और इन लोगों में भी अधिकतर संख्या उस निम्न मध्यम वर्ग की है जिसकी करदान सामर्थ्य अधिक नहीं होती। यहाँ तक कि वस्तु कर भी, जो कि निम्न आय वाले वर्गों पर ही भारी बोझ डालते हैं, सम्भव है महत्व-पूर्ण सिद्ध न हों क्योंकि निर्वाह-स्तर (subsistence level) पर अथवा उससे भी नीचे जीवन-यापन करने वाली बहुसंख्या की क्रय-शक्ति बहुत कम होती है।

समृद्ध लोग प्रत्यक्ष कराधान के बढ़ते हुए उपयोग की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि **ऊँचे करों से पूँजी के निर्माण में बाधा उत्पन्न होती है।** उच्च आय वाले वर्गों में बचत तथा संचय करने की योग्यता अधिक होती है परन्तु प्रत्यक्ष करों की ऊँची दरें इस योग्यता एवं क्षमता को कम कर देती है। इस आलोचना में कुछ सार अवश्य है और कराधान का प्रतिकूल प्रभाव उस अनुकूल प्रभाव से अधिक होता है जो कि विनियोग के अवसरों की बढ़ती हुई उपलब्धता से पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्ष कराधान का औसत कोटा अपेक्षाकृत कम है और सीमान्त भार अभी तक अधिक आरोही नहीं है। फिर ऐसे अनेक स्रोत वर्तमान हैं जो प्रत्यक्ष कराधान के अन्तर्गत लाये जा सकते हैं तथा जिन्हें अभी छुआ तक नहीं गया है और गैर-सरकारी पूँजी-निर्माण तथा उत्पादन पर भी उनका कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ेगा। यही नहीं, अतिरिक्त प्रत्यक्ष करों के गैर-सरकारी क्षेत्र पर पड़ने वाले प्रतिबन्धात्मक प्रभावों को छूटों तथा रियायतों की व्यवस्था द्वारा दूर किया जा सकता है। तथापि, वैन फिलिप्स (Van Philips) के अनुसार, 'अतिरिक्त प्रत्यक्ष कराधान को यदि उपयुक्त स्थान पर बढ़ाया गया तो विकास के प्रथम चरणों में गैर सरकारी पूँजी-निर्माण को निश्चित रूप से हो वह कोई अधिक हानि नहीं पहुँचायेगा। और यदि कोई हानि हुई भी, तो उसकी क्षतिपूर्ति जनता की उत्पादन शक्ति में तथा उस गैर-सरकारी विनियोग में वृद्धि से हो जायेगी जो कि अतिरिक्त कर प्राप्तियों द्वारा सम्भव बना दी जायेगी।"[14]

अन्य कठिनाई है अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत एक बड़े मुद्राविहीन क्षेत्र (nonmonetised sector) का विद्यमान होना। इस क्षेत्र के लोगों की आय का पता लगाना बड़ा कठिन होता है और फिर इन लोगों की बचतों को गतिशील करना तो और भी कठिन होता है। अच्छी बचत आदतों की कमी के अलावा, ग्रामीण बचतों तथा शहरी क्षेत्रों की अल्प बचतों को गतिशील करने के लिए अभी हाल के वर्षों में वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की गई है। इस स्थिति में, कराधान की अधिक उपयोगिता नहीं रहती।

निष्कर्ष (conclusion) ;

पर इसके बावजूद, इन सारी अन्धकारपूर्ण स्थिति में दो महत्वपूर्ण आशाएँ पाई जाती हैं। प्रथम यह कि अत्यधिक आरोही किस्म के कराधान द्वारा धनी अल्पसंख्यकों को इस बात के

14. *Paul Van Philips* Public Finance in Less Developed Economics, p 117. Additional direct taxation if raised at the proper place, will not—certainly not excessively—hamper private *capital formation during* the phases of development. As far as it does, this loss will be compensated by the increase in high productivity of public as well as private investments, made possible by the additional tax proceeds."

दर मुख्यतः निम्न तीन कारणो से नीची होती है : (अ) एक तो भारी सख्या मे लोगों की निर्धनता, (ब) उच्चतर आय वाले वर्गो का कीमती एवं बेकार का उपभोग, जिसको बचाया तथा संचित किया जा सकता है, और (स) विनियोग के समुचित अवसरो का अभाव। यदि अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्था को जीवित रहना है और प्रगति करनी है तो यह अत्यावश्यक है कि पूँजी-निर्माण की दर को ऊँचा किया जाए। यह हो सकता है कि लोग पूँजी-निर्माण की दर को बढाने मे स्वयं समर्थ न हो सकें, अत यह सरकार का कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह ऐसा करे। यही कारण है कि एक अल्पविकसित देश मे कराधान को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। "कर-नीति गैर-सरकारी बचतो तथा विनियोग को प्रोत्साहन देने और बेकार पड़े साधनो को गतिशील करने का एक महत्वपूर्ण अस्त्र होती है।"[12]

बहुसंख्यक जनता द्वारा कर-भार उठाया जाना—पूँजी-निर्माण की गति को तेज करने मे जो बोझ पडेगा वह देश की बहुसख्यक जनता को उठाना होगा। यह कहा जा सकता है कि वे लोग तो पहले से रहन-सहन के न्यूनतम सम्भव स्तर पर अपना जीवन गुजार रहे होते है अतः यह बडा कठिन है कि वे अपने इस स्तर को और अधिक गिरायें। परन्तु उपभोग को सीमित करना इसलिये बडा आवश्यक हैं कि जिससे साधनो को पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे लगाया जा सके। इस प्रश्न पर मत-विभिन्नता बनी हुई है। जहाँ कुछ लोग यह कहते है कि उपभोग मे वृद्धि होने पर भी पूँजी का निर्माण सम्भव हो सकता है क्योंकि कम विकसित देशो मे बेकार मनुष्य तथा उपयुक्त साधन उपलब्ध हो जाते है, वहां अन्य लोगो का कहना यह है कि अल्पावधि के लिए साधनो को केवल पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे ही लगाना होगा और उपभोग वस्तुओ के निर्माण को गौण स्थान देना होगा। तथापि, एक अधिक सन्तुलित मत वह है जो कि **जान एडलर (Jhon Adler)** ने प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है कि "अधिकाश अल्पविकसित देशो मे पाये जाने वाले उपभोग के निम्न स्तरो की स्थिति मे (और विशेष रूप से उस स्थिति मे जब बहुसख्यक जनता का उपभोग का स्तर नीचा होता है) यदि उपभोग मे अस्थायी कटौती भी की जाती है तो उससे जनता को भारी त्याग करना होता है जिसकी क्षतिपूर्ति भविष्य मे अधिक उपभोग करने की सम्भावनाओं द्वारा की जाती है।"[13] अत **एडलर** का मत यह है कि प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा,की प्रारम्भिक स्तर से नीचे नहीं गिरने देना चाहिये और **अतिरिक्त उत्पादन के बढ़ते हुए अनुपात को** अतिरिक्त पूँजी-निर्माण मे लगाना चाहिए। इस स्थिति मे यदि यह वाञ्छनीय समझा जाता है कि निम्न आय वाले वर्गो के उपभोग को सीमित किया जाए तथा उसे बढने से रोका जाए तो इस कार्य के लिए वस्तु कराधान ही सुविधाजनक रहेगा क्योकि निम्न आय वाले वर्गों को इस परिधि मे नही ला सकते।

उच्च आय वाले वर्ग व्यर्थ के उपभोग मे कटौती—उच्च आय वाले वर्गो के व्यर्थ के उपभोग मे प्रभावपूर्ण कटौती करने के लिए भी कराधान का उपयोग किया जा सकता है। यहाँ, प्रत्यक्ष कर अधिक लाभकारी सिद्ध होते है। आय-कर, व्यय कर, मृत्यु कर तथा धन-कर आदि सभी धनी लोगो की अनिवार्य उपभोग की आवश्यकताओ पर नहीं पडते, अपितु उपभोग की अनावश्यक मदो पर ही पडते है। ऐसे उपभोग मे कमी करने का दोहरा महत्व है। एक तो यह कि इन उद्योगों मे लगे हुए साधन लाभदायक रूप से, ऐसे उद्योगो मे लगाये जा सकते है जो कि पूँजीगत वस्तुओ का उत्पादन करते है। दूसरे, मौद्रिक साधनों की ओर को जो स्थानान्तरण होता है उसका उपयोग देश मे पूँजी-निर्माण की वृद्धि के लिए किया जा सकता है।

उत्पादन वृद्धि में कर आय का उपयोग—अन्त मे सरकार अपनी कर आय का उपयोग देश मे उत्पादन की सम्भावनाओ को बढाने मे कर सकती है। एक ओर तो वह सामाजिक एवं

---

12. *John H Alder* Fiscal Problems in Economic Development quoted by Van Philips, P 60 "*Tax policy is an important tool for stimulating private savings* and investments and mobilising idle resources"
13. Quoted by *Van Philips* · op cit, p 60, "With the low levels of consumption which prevail in most underdeveloped countries more specifically, the low level of consumption prevailing among the large majority of the population even a temporary curtailment of consumption involves for great a sacrifice to be compensated by the prospects of a greater consumption *in* the future."

५. लोगों की करदेय क्षमता से आप क्या समझते हैं ? भारत में आप इसका माप कैसे करेंगे ?

What do you understand by taxable capacity of people ? How would you measure it in India ?

६. किसी अर्थ-व्यवस्था में आप कराधान की सीमा किस प्रकार निर्धारित करेंगे ?

How would you determine the limit of taxation in an economy ?

७ कराधान की स्फीति के एक कारण के रूप में विवेचना कीजिये। क्या कराधान को स्फीति विरोधी अस्त्र के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है ?

Discuss taxation as a cause of inflation Can taxation be used as an anti-inflationary instrument ?

८ पूँजी निर्माण से आप क्या समझते है ? पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में कराधान के योगदान की विवेचना कीजिये।

What do you understand by capital formation ? Disscuss the role of taxation in capital formation

लिये बाध्य किया जा सकता है कि वे अपने अनावश्यक उपभोग को कम करें और पूँजी-निर्माण में धन लगायें। दूसरे, उपयुक्त भेदमूलक कराधान का प्रभाव यह होता है कि यह धनी तथा उच्च मध्यमवर्ग के लोगों को बचत तथा विनियोग करने की प्रेरणा प्रदान करता है। यदि समुचित विनियोग के अवसर प्रदान किये जाएँ तब तो विशेष रूप से यह सही होता है। भारत मे, अभी हाल के वर्षों में सरकार द्वारा प्रदान किये कर-अवकाश तथा रियायतों से और नये क्षेत्रों की खोज, बिजली की व्यवस्था, उच्च सामान्य व तकनीकी शिक्षा आदि के द्वारा आन्तरिक बाजार का विस्तार होने से औद्योगिक गतिविधियों की वृद्धि मे बड़ी सहायता मिली है। अतः आज जिस चीज की वस्तुतः आवश्यकता है वह यह कि किसी भी प्रकार से कुल माँग तथा कुल राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो, उसका अधिकाधिक भाग विनियोग किया जाए और उसे पूँजी-निर्माण की दिशा मे मोड़ दिया जाए। इसका ज्वलन्त उदाहरण सोवियत रूस है जिसने बिक्री कर का उपयोग उपभोग को सीमित करने वाले, एक उपाय के रूप मे किया और राष्ट्र की बचतों को गतिशील किया तथा पूँजी-निर्माण मे वृद्धि की।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Taxation Enquiry Commission : Report Vol I, Chapter VIII
2. Van Philips : Public Finance in Less Developed Countries , Chapter VIII.
3. Lewis H Kimmel : Taxes and Economic Incentives, Chapter I.
4. Nurkse : Problems of Capital Formation in Underdeveloped Countries, Chapter VII.
5. H. Dalton : Public Finance.
6. Colin Clark : Welfare and Trxation.

UNIVERSITY QUESTIONS .

१ "सापेक्ष करदान क्षमता एक वास्तविकता है जबकि निरक्षेप करदान क्षमता कल्पना है।" व्याख्या कीजिए। क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत है कि स्पष्ट विचारों के हित मे करदान क्षमता शब्दावली को राजस्व के गम्भीर विचार विमर्श से निकाल देना चाहिए?

"Relative taxable capacity is a reality while absolute taxable capacity is a myth" Discuss Do you agree with the view that in the interest of clear thinking the phrase taxable capacity should be vanished from all serious discussions of public finance

२. "करदान सामर्थ्य एक धुँधला एवं भ्रान्तिमय विचार है।" स्पष्ट कीजिए।

"Taxable capacity is a him and confused conception " Discuss.

३. करदेय क्षमता के विचार की परिभाषा दीजिये। उदाहरण देते हुए उन महत्वपूर्ण घटकों को स्पष्ट कीजिए जो किसी देश की करदान क्षमता को निर्धारित करते हैं।

Define the concept of taxable capacity. Explain with illustrations the factors that determine the taxable capacity of people

४ यह प्राय कहा जाता है कि भारत मे वर्तमान कर अत्यधिक है और करदान क्षमता की सीमा तक पहुचा जा चुका है। इस विचारधारा का परीक्षण कीजिये और बताइए कि भारतीय कर प्रणाली मे सुधार द्वारा वर्तमान स्थिति को कैसे सुधारा जा सकता है?

It is often said that present tax burden in India is too heavy and the limit of taxable capacity have been reached. Examine this view and show how a reform in the Indian tax system can improve the present situation?

जो एडम स्मिथ (Adam Smith) द्वारा बताये गये राज्य के तीन कर्त्तव्यों पर आधारित है। सर्वप्रथम, श्रीमती हिक्स ने उस प्रतिरक्षा व्यय (defence expenditure) का उल्लेख किया है जिसमें पूँजीगत साजसज्जा, फैक्टरियाँ, आयुधशालाएँ (arsenals) तथा सैनिक अधिकारियों एवं कर्मचारियों के वेतन की अदायगी आदि सम्मिलित है। दूसरे, श्रीमती हिक्स ने उस असैनिक व्यय (civil expenditure) अथवा प्रशासनिक व्यय का उल्लेख किया है जो कि देश में कानून व व्यवस्था तथा न्याय की स्थापना के लिए किया जाता है। तीसरे, प्रकार का सरकारी खर्च आर्थिक लक्ष्यों अथवा आर्थिक व्यय की पूर्ति के लिये किया जाता है जिसमें उपादान (subsidies) के रूप में गैर-सरकारी उद्यमों के लिए प्रत्यक्ष सेवाओं की व्यवस्था तथा सरकार के अपने उद्योगों द्वारा लाभों की व्यवस्था सम्मिलित होती है। अन्त में सामाजिक व्यय (social expenditure) का उल्लेख किया जाता है जो कि आधुनिक समय में अनेक देशों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण किस्म का व्यय बन गया है। इस व्यय में शिक्षा, जनस्वास्थ्य तथा सामाजिक बीमे की योजनाओं आदि पर किये जाने वाले खर्चे सम्मिलित किये जाते है।

उन लाभों के आधार पर जो कि सरकारी व्यय के द्वारा लोगों को पहुचाये जाते हैं, इसका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है (क) वह खर्च जो सभी को सामान्य लाभ पहुँचाता है, (ख) वह खर्च जो सबको विशिष्ट लाभ पहुँचाता है, (ग) वह व्यय जो कुछ लोगों को विशिष्ट लाभ और साथ ही साथ अन्य लोगों को सामान्य लाभ पहुँचाता है, और (घ) वह व्यय जो कुछ व्यक्तियों को विशिष्ट लाभ पहुँचाता है। ऊपर जैसा ही एक वर्गीकरण इस आधार पर किया जाता है कि लोगों के कल्याण पर सरकारी व्यय का क्या प्रभाव पडता है। इस आधार पर किये जाने वाले वर्गीकरण में सरकारी व्यय या तो सरंक्षित (protective) हो सकता है (नागरिकों के जीवन एवं उनकी सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए), अथवा वाणिज्यिक (commercial) हो सकता है (व्यापार व वाणिज्य की देखभाल करने के लिए), अथवा विकासोन्मुख (developmental) हो सकता है (देश के विकास-कार्यों को आगे बढाने के लिए)।

एक वर्गीकरण और भी है जिसमें कुछ गुण हैं। यह एक ओर तो उपभोग व विनियोग कार्यक्रम और दूसरी ओर स्थानान्तरण क्रियाओं (transfer activities) के मध्य स्थित है। यह इस बात पर निर्भर होता है कि सरकार एक उपभोक्ता के रूप में कार्य कर रही है अथवा विनियोग-कर्त्ता के रूप में या गैर-सरकारी वर्गों को मौद्रिक अथवा पैतृक सहायता प्रदान कर रही है। प्रथम स्थिति में, सरकार समाज को प्रत्यक्ष सेवाएँ प्रदान करती है। चूँकि सरकार साधनों का उपयोग प्रत्यक्ष रूप से करती है, अत ऐसे खर्च को प्राय 'उपादान क्रय' (factor purchase) अथवा साधनों के उपयोग का व्यय (resource using outlays) कहा जाता है। ऐसे खर्च के उदाहरण है, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा, कानून व व्यवस्था की स्थापना, परिवहन, शिक्षा आदि। दूसरी ओर, सरकार एक धन एकत्र करने वाली एवं वितरण करने वाली एजेन्सी के रूप में कार्य कर सकती है जिससे कि सामान्य जनता में पाई जाने वाली आय की वर्तमान असमानताओं को दूर किया जा सके और आय में अपेक्षाकृत समानता लाई जा सके। ऐसे सरकारी व्यय के उदाहरण हैं—सामाजिक कल्याण की योजनाएँ, कृषि मूल्यों का समर्थन आदि।

सरकारी व्यय का एक प्रसिद्ध वर्गीकरण **कार्यात्मक वर्गीकरण** (*functional classification*) के नाम से विख्यात है। कार्यात्मक अथवा क्रियाशील वर्गीकरण का उदाहरण नीचे दिया गया है। यह सयुक्त राज्य अमेरिका के संघीय खर्च का वर्गीकरण है —

(१) मुख्य राष्ट्रीय सुरक्षा (Major National Security)
(२) अन्तर्राष्ट्रीय मामले और वित्त (International Affairs and Finance)
(३) वयोवृद्ध सेवाएँ तथा लाभ (Veteran Service and Benefits)
(४) श्रम तथा कल्याण (Labour and Welfare)
(५) कृषि (Agriculture)
(६) प्राकृतिक साधन (Natural Resources)
(७) वाणिज्य तथा आवास (Commerce and Housing)
(८) सामान्य प्रशासन (General Government)
(९) ब्याज (Interest)।

१५

सार्वजनिक अथवा सरकारी व्यय
(Public Expenditure)

प्रारम्भिक : सरकारी व्यय का अर्थ तथा उसका वर्गीकरण (Meaning of Public Expenditure and its Classification)

अत्यन्त सरल शब्दो मे, सरकारी व्यय सरकारी अधिकारियो द्वारा किये जाने वाले व्यय को कहते है। सरकारी व्यय उन व्ययो का सूचक होता है जो कि सरकारी प्रशासन—अर्थात् केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारो—द्वारा अपने नागरिको की रक्षा करने मे अथवा उनके आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण की वृद्धि करने मे किये जाते हैं। सरकारी व्यय का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है परन्तु प्रत्येक वर्गीकरण एक सीमित उद्देश्य की ही पूर्ति करता है और वह खर्चो के केवल उन विशिष्ट पहलुओ पर ही जोर देता है जिन्हे कि कोई विशेष लेखक सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझता है। डाल्टन (Dalton) के ही अनुसार सरकारी व्यय का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

(१) राज्य के औपचारिक प्रधान (ceremonial head) का अनुरक्षण-व्यय जिसमे विदेशों मे स्थित राजनायिक प्रतिनिधि (diplomatic representative) भी सम्मिलित हैं।

(२) असैनिक प्रशासन (civil administration) की मशीनरी का अनुरक्षण व्यय (maintenance), जिसमे कार्यपालिका (executive) तथा विधान मण्डल (legislative) के खर्चे भी सम्मिलित है।

(३) देश को विदेशी आक्रमण से बचाने के लिए तथा देश के अन्दर कानून व व्यवस्था की स्थापना करने के लिए सेना तथा पुलिस पर किया जाने वाला व्यय।

(४) न्याय के प्रशासन का व्यय।

(५) कृषि, उद्योग, वाणिज्य, परिवहन व संचार, डाक व तार, मुद्रा तथा टकसाल आदि के विकास पर किया जाने वाला व्यय।

(६) शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुरक्षा (social security) आदि की योजनाओ पर किया जाने वाला व्यय।

(७) सरकारी ऋण का भुगतान, जिसमे ब्याज की अदायगी तथा मूलधन की वापिसी सम्मिलित है।

इन मदो मे सभी प्रकार के सरकारी प्रशासन के व्यय की लगभग सभी मदें सम्मिलित है। श्रीमती हिक्स (Mrs Hicks) ने सरकारी व्यय के एक ऐसे वर्गीकरण का प्रतिपादन किया है

(५) लोच का अन्तर—निजी व्यय मे लोच बना रहता है और व्यक्ति अपनी आय के आधार पर व्यय मे कमी अथवा वृद्धि कर सकता है। इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय मे लोच का अभाव होता है, अर्थात् उसके व्यय को घटाया अथवा बढाया जाता असम्भव नही तो अत्यधिक कठिन अवश्य होता है।

(६) कार्य क्षेत्र का अन्तर—चूँकि निजी व्यक्ति का कार्यक्षेत्र सीमित होता है अतएव उसके व्यय का क्षेत्र भी सीमित होता है। इसके विपरीत सार्वजनिक सस्थाओ का कार्यक्षेत्र व्यापक होने के कारण व्यय का क्षेत्र ही व्यापक होता है।

(७) प्रभाव का अन्तर—निजी व्यय यदि सतर्कतापूर्वक नही किया जाय तो उसका प्रभाव उक्त व्यक्ति विशेष पर ही पडता है। इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय का प्रभाव समूचे समाज पर पडता है। अतएव यदि सतर्कतापूर्वक न किया जाय तो समूचा सामाजिक जीवन ही अस्त-व्यस्त हो जाता है।

सार्वजनिक या सरकारी व्यय का उद्गम
(Growth of Public Expenditure)
अथवा
सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण
(Causes of Increase in Public Expenditure)

ससार के सभी देशो मे सरकारी व्यय मे अधिक एव लगातार वृद्धि हो रही है। वैसे तो १९वी शताब्दी मे ही यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी थी, परन्तु २०वी शताब्दी में यह बिल्कुल स्पष्ट एवं निश्चित हो गई। एडोल्फ वेगनर (Adolf Wagner) ने, जो कि एक प्रसिद्ध जर्मन राजकोषीय सिद्धान्त वेत्ता था, इस अनुभवाश्रित कानून (empirical law) का प्रतिपादन किया कि सरकारो के कार्य अधिकाधिक बढ रहे हैं। और अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक या सामूहिक क्षेत्र (collective sector) मे अपना आकार तथा महत्व बढाने की एक निहित प्रवृत्ति पाई जाती है। वेगनर ने अपने प्रसिद्ध 'राज्य की क्रियाओं मे वृद्धि के कानून' को निम्न प्रकार व्यक्त किया : "विभिन्न समयो मे विभिन्न देशो की जो व्यापक तुलनाएँ की गई है उनसे प्रकट होता है कि प्रगतिशील देशो मे, जिनके सम्बन्ध मे हमें एकमात्र रूप मे विचार करना है, केन्द्र तथा स्थानीय सरकारो की क्रियाओ मे नियमित रूप से वृद्धि हो रही है। यह वृद्धि क्षेत्र की दृष्टि से भी है और मात्रा की दृष्टि से भी। केन्द्र तथा स्थानीय सरकारें जहाँ एक ओर निरन्तर नए-नए कार्यों को अपना रही हैं, वहाँ दूसरी ओर वे नए तथा पुराने दोनो ही प्रकार के कार्यों को अधिक कुशलता एवं पूर्णता के साथ सम्पन्न कर रही है।" वेगनर के अनुसार, सरकारी क्रियाओ का क्षेत्र भी बढ रहा है और उनकी मात्रा भी, सरकारें नये-नये कार्यों को आरम्भ कर रही हैं और पुराने तथा नये, दोनो ही प्रकार के कार्यो को अधिक कार्यक्षमता के साथ पूरी तरह सम्पन्न कर रही हैं। इटली के एक अर्थशास्त्री, एफ एस निट्टी (F. S. Nitte) ने अनेक देशो के प्राचीन काल से लेकर अब तक के खर्चो का बडी सावधानी के साथ व्यापक अध्ययन किया और तत्पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चाहे केन्द्रीकृत सरकारें हों अथवा विकेन्द्रीकृत, युद्धप्रिय राष्ट्र हो अथवा शान्तिप्रिय, बडे राष्ट्र हो अथवा छोटे, सभी मे सरकारी खर्च मे उल्लेखनीय वृद्धि की समान प्रवृत्ति पाई जाती है। ऐसे अनेक कारण हैं जो इस बात की व्याख्या करते हैं कि राज्य की क्रियाओ मे उसके फलस्वरूप सरकारी खर्च मे यह निरन्तर वृद्धि क्यो हो रही है। प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं —

(१) कल्याणकारी राज्य की विचारधारा (The concept of the walfare state)—इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि सरकार की क्रियाओ का निरन्तर विस्तार हुआ है। जहाँ, प्राचीन समय मे सरकारें अपने को विदेशी प्रतिरक्षा की समस्याओ तथा कानून व व्यवस्था की स्थापना तक ही सीमित रखती थी वहाँ अब उन्होंने अनेक ऐसे कार्यों तथा सेवाओ को सम्पन्न करने का जिम्मा ले लिया है जो कि प्राचीन समय मे सम्पन्न नही किये जाते थे। उन्नत देशो मे भी, सरकारी क्षेत्र अथवा सगठन का महत्व तथा उसका विस्तार इसलिए अधिक बढ गया है क्योंकि इस शताब्दी के मन्दी काल मे गैर-सरकारी क्षेत्र के कार्य-सम्पादन मे बडी गम्भीर कमियाँ पाई गई। आज ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसे सरकार अपने हाथ मे नही ले सकती हो, ऐसा कोई क्षेत्र

ऊपर दी गई प्रत्येक बडी मद मे अनेक सहायक कार्य निहित है। कुछ मदे ऐसी है जिन्हे ऊपर के वर्गीकरण की किसी भी श्रेणी के अन्तर्गत लाना बडा कठिन है अथवा यह कहिए कि कुछ मदे एक से अधिक वर्गो मे आ सकती है। उदाहरण के लिए, विदेशी सहायता (foreign aid), जो कि अमेरिका के संघीय बजट का महत्वपूर्ण भाग है, उपर्युक्त वर्गीकरण की प्रथम श्रेणी अर्थात राष्ट्रीय सुरक्षा के अन्तर्गत भी लाई जा सकती है क्योकि विदेशी सहायता का मुख्य उद्देश्य नैतिक होता है, अथवा यह 'अन्तर्राष्ट्रीय मामले तथा वित्त' की मद मे भी आ सकती है। इन कठिनाइयो के बावजूद अधिकाश अमेरिकन लेखको का यह मत है कि कार्यात्मक वर्गीकरण इस बात को सुविधाजनक बनाता है कि बजट के विभिन्न अगो की सामान्य जानकारी मिल जाए और इस बात का ज्ञान हो जाए कि सरकार करदाताओ के धन का किस प्रकार उपयोग कर रही है तथा बजट सम्बन्धी नियन्त्रण किस प्रकार कर रही है।

एक अन्य वर्गीकरण, जिसे एजेन्सी वर्गीकरण (agency classification) का नाम दिया गया है, कार्यात्मक वर्गीकरण से अधिक उपयोगी बनाया जाता है क्योकि इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक विभाग (department), एजेन्सी अथवा उपइकाई (sub-unit) को यह पता रहता है कि उसे कितना धन सौपा गया है। अत इस वर्गीकरण मे, प्रत्येक विभाग के लिए अलग-अलग धन नियत कर दिया जाता है—जैसे कि श्रम विभाग (department of labour), प्रतिरक्षा विभाग तथा कृषि-विभाग आदि। उपर्युक्त वर्गीकरण के अलावा अन्य बहुत से वर्गीकरण भी है। इसमे से कुछ सामान्य वर्गीकरण वे हैं जिनमे सरकारी खर्च को उत्पादक तथा अनुत्पादक व्यय के बीच स्थानान्तरित तथा अस्थानान्तरित व्यय के बीच एव अनुदान तथा क्रय मूल्यो के बीच बांट दिया जाता है। सरकारी खर्च का वर्गीकरण स्वय मे इतना महत्वपूर्ण नही है, अपितु जो बात अधिक महत्वपूर्ण है, वह यह कि सभी जगह सरकारी खर्च मे वृद्धि हो रही है।

सार्वजनिक व्यय तथा निजी व्यय में अन्तर
(Difference between Public and Private Expenditure)

सार्वजनिक व्यय तथा निजी व्यय दोनो मे काफी समानताएँ पाई जाती है, जैसे—दोनो को समान समस्याएँ होती है, दोनो मे ही आय-व्यय के सम्बन्ध मे प्रायः समान नीति अपनाई जाती है। दोनो पर आर्थिक नियम प्राय समान रूप से लागू होते है, दोनो मे आय-व्यय के बीच प्रायः सामजस्य स्थापित किया जाता है और इस प्रकार दोनो मे वित्त व्यवस्था का समान रूप होता है। इन समानताओ के होते हुए भी सार्वजनिक व्यय तथा निजी व्यय मे पर्याप्त अतर विद्यमान है जोकि इस प्रकार है :

(१) **उद्देश्य का अन्तर**—निजी व्यय का उद्देश्य सीमित होता है अर्थात् यह प्राय अपने परिवार तक ही सीमित होता है। प्रत्येक व्यक्ति सदैव ऐसी मदो पर ही व्यय करता है जिससे उसे स्वय अथवा उसके परिवार के सदस्यो को लाभ प्राप्त होता हो। इसके विपरीत सरकारी व्यय का उद्देश्य व्यापक होता है। सरकारी व्यय जनहित की भावना पर आधारित होता है, अर्थात् यह ऐसी मदो पर व्यय किया जाता है जिससे जनसाधारण को लाभ पहुचता हो।

(२) **आय-व्यय के समायोजन में अन्तर**—निजी व्यय सदैव आय के अनुसार ही किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अपनी आय का अनुमान लगाता है और बजट तैयार करता है और फिर उसी के अनुसार व्यय करता है। इस सम्बन्ध मे यह कहावत ही है कि 'कपडे के अनुसार ही कोट को काटना चाहिए' ('cut your coat according to cloth')। इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय राज्य की आय पर नही अपितु व्यय की मदो पर निर्भर करता है। सार्वजनिक व्यय मे सबसे पहले होने वाले व्यय का अनुमान लगाया जाता है और उसके पश्चात् व्यय की पूर्ति के लिए आय के साधनो की खोज की जाती है।

(३) **मितव्ययता का अन्तर**—सार्वजनिक व्यय की तुलना मे निजी व्यय मे मितव्ययता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

(४) **नियन्त्रण का अन्तर**—निजी व्यय पर तो केवल स्वय व्यक्ति का ही नियन्त्रण रहता है जबकि सार्वजनिक पर ससद एव अकेक्षक का नियन्त्रण रहता है।

(५) जनसंख्या की वृद्धि और नगरों का विकास (growth of population and rise of towns)—सरकारी खर्च में वृद्धि के लिए एक अन्य महत्वपूर्ण कारण भी उत्तरदायी है और वह है जनसंख्या की वृद्धि और जनता का शहरों में विकेन्द्रीकरण, जिसके कारण अनेक सरकारी कार्यों के स्तरों को ऊँचा करना आवश्यक हो गया है। अब शिक्षा के लिए बच्चों की संख्या बढ़ गई है तो ऐसे बूढ़े लोगों की संख्या भी अधिक हो गई है जिनकी देखभाल की जाती है। नागरीकरण (urbanisation) की निरन्तर प्रक्रिया के कारण ऐसे खर्चों में वृद्धि हो गई है जो कि जान व माल की रक्षा के लिए आवश्यक होते हैं। जनसंख्या के केन्द्रीयकरण के कारण जनस्वास्थ्य, सड़कों, सार्वजनिक शिक्षा तथा ऐसे ही अन्य कार्यों को सरल स्तर पर करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त, शहरी जीवन की परिस्थितियाँ सरकार पर अतिरिक्त जिम्मेदारी डालती है, जैसे कि खाद्य पदार्थों का निरीक्षण तथा उसके वितरण की दशायें, जनस्वास्थ्य में सुधार, अस्पतालों का निर्माण व उन्हें चलाना, खेल के मैदानों तथा सामूहिक मनोरंजन केन्द्रों का निर्माण आदि। कुछ ऐसी सेवायें हैं (जैसे कि पानी की व्यवस्था तथा मलमूत्र के स्थानों का प्रबन्ध) जिनकी व्यवस्था ग्रामीण क्षेत्रों में तो प्रत्येक परिवार द्वारा स्वयं ही कर ली जाती है। परन्तु नगरों में लोग स्वयं इनका प्रबन्ध नहीं कर सकते। बढ़ती हुई आवश्यकताओं जैसे कि शिक्षा के ऊँचे स्तर, भारी मात्रा में सड़कों, रेलों तथा परिवहन के अन्य साधनों का विकास, जनकल्याण की व्यवस्था तथा सहायता आदि के कारण आधुनिक समाज का रूप बड़ा जटिल हो गया है।

(६) बड़ी मन्दी (the great depression)—पिछले लगभग ३० वर्षों से सरकार के कार्यों में वृद्धि के लिए जिम्मेदार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण सन् १९२९-३३ की बड़ी मन्दी भी रही है। इस बड़ी मन्दी के कारण सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया और इस कारण भी सरकार को अनेक नए कार्य हाथ में लेने पड़े। सर्वप्रथम सरकार ने अनेक ऐसी कार्यवाइयाँ कीं जिससे कि उद्योग, कृषि तथा श्रम को प्रोत्साहन मिले। दूसरे, सरकार ने अर्थव्यवस्था पर भी अपना नियन्त्रण बढ़ा लिया। अन्त में, सरकार ने अपने कन्धों पर यह जिम्मेदारी भी ले ली कि वह पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करेगी और जन-कल्याण के लिए कार्य करेगी। जन-कल्याण के कार्यों में ऐसे लोगों एवं वर्गों के लिए सुविधायें जुटाना शामिल है जिन्हें कि समाज में कुछ मामलों में बहुत कम सुविधायें तथा अवसर प्राप्त हैं। मन्दी के कारण उत्पन्न कार्यों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व था—सहायता कार्यों (relief works) का आरम्भ करना जिससे कि बेकार लोगों को रोजगार दिया जा सके। सरकार आर्थिक विकास पर भी भारी धनराशियाँ खर्च करती है। आधुनिक सरकारों की विनियोग सम्बन्धी क्रियायें भी २०वीं शताब्दी में सरकारी खर्च में होने वाली वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण है।

(७) उद्योगों का समाजीकरण एवं राष्ट्रीयकरण—समाजवादी विचारधारा का विकास होने के कारण आजकल सरकारें विभिन्न उद्योगों का समाजीकरण एवं राष्ट्रीयकरण करने की नीति का अनुकरण कर रही है। भारत में जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण करने के उपरान्त अभी हाल में ही १४ बड़ी-बड़ी व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया है। राष्ट्रीयकरण किए जाने के फलस्वरूप सरकार को उनकी क्षतिपूर्ति करने एवं उनका संचालन करने के हेतु विशाल धनराशि व्यय करनी पड़ती है। इसके परिणामस्वरूप भी सरकारी व्यय में वृद्धि होती है।

(८) लोकतन्त्रीय संस्थायें (democratic institutions)—एक कारण और भी है जो यद्यपि राज्य की क्रियाओं में वृद्धि के वेगनर के नियम से तो प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं है परन्तु सरकारी खर्च पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। यह कारण है लोकतन्त्रीय संस्थाओं का अधिकाधिक उपयोग। आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्य को राज्य के औपचारिक प्रधान पर व्यय करना होता है तथा केन्द्र, राज्य व स्थानीय स्तरों पर विधान मण्डलों एवं संस्थाओं पर भी खर्चों की व्यवस्था करनी होती है। इसके अतिरिक्त, सरकारों को संसार के सभी देशों में राजनायिक (diplomatic) तथा वाणिज्यिक (consular) सम्बन्धों को भी बनाये रखना होता है। यही नहीं, लगभग सभी अथवा अधिकांश राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ (U N O), अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F) तथा विश्वबैंक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सदस्य हैं जिसके कारण वार्षिक चन्दे के अलावा, स्थायी प्रतिनिधियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों आदि पर भी व्यय करने होते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी सामयिक होगा कि उन्नत देश अल्पविकसित देशों का अब अधिकाधिक ध्यान रखने लगे है और पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने अपने साधनों का कुछ

नही हैं जिसमें यह प्रवेश न कर सकती हो। राज्य की क्रियाओ में वृद्धि का मूल कारण यह है कि पिछले सौ वर्षो की अवधि मे वे मूलभूत उद्देश्य एवं लक्ष्य ही बदल गए हैं जिनके लिए कि राज्य की स्थापना होती है। १९वी शताब्दी का राज्य मुख्य एव मूल रूप से एक पुलिस राज्य था जिसका मुख्य कार्य नागरिको की विदेशी हमलो से रक्षा करना तथा देश के अन्दर कानून व व्यवस्था की स्थापना करना था। परन्तु पुलिस राज्य की इस पुरानी विचारधारा का स्थान अब २०वी शताब्दी की कल्याणकारी राज्य की विचारधारा ने ले लिया हैं जिसका मुख्य लक्ष्य अपने नागरिको का आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक कल्याण करना है। राज्य की प्रकृति एव उद्देश्य मे भारी परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप, आधुनिक सरकारें अब यह समझती हैं कि देश के आर्थिक एव सामाजिक जीवन मे सुधार करने के अलावा उनका आधारभूत कार्य व्यावसायिक चक्रो (business cycles) को समाप्त करना देश मे पूर्ण रोजगार की दशायें उत्पन्न करना तथा आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊँचा उठाना भी है। यहां आर्थिक क्रियाओ के तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रो का उल्लेख किया जा सकता है। **सर्वप्रथम**, सरकारें पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाए रखने के लिए क्षतिपूरक व्यय करती हैं। **दूसरे**, भारत जैसे अल्पविकसित देश मे, भारी मात्रा मे धन आर्थिक विकास तथा प्रगति के लिए विकास कार्यों पर व्यय किया जा रहा है। **तीसरे**, सरकारें शिक्षा पर, विशेष रूप से नि.शुल्क शिक्षा पर तथा सामाजिक सुरक्षा के उपायो पर बड़ी रकमें खर्च करती हैं। इस प्रकार राज्य की मूलभूत विचारधारा मे ही परिवर्तन हो गया है जिसके परिणामस्वरूप अब राज्यो द्वारा नए-नए कार्य सम्पन्न किये जा रहे हैं जिससे सरकारी खर्च मे वृद्धि हो रही है।

(२) **युद्ध तथा युद्ध की तैयारियां** (war and preparations for war)—२०वी शताब्दी मे सरकारी खर्च मे वृद्धि का सबसे अधिक महत्वपूर्ण एकमात्र कारण युद्ध है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा पर जो व्यय किया जाता है वह आमतौर पर कुल व्यय का आधा होता है। देश जितना बड़ा होता है, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिये नियत किया जाने वाला राजस्व का प्रतिशत भी उतना ही अधिक होता है। विभिन्न देशों के बीच होने वाले युद्ध तथा युद्ध की अफवाहे देशो को इस बात के लिए बाध्य कर देती हैं कि वे सदा सशस्त्र (armed) रहे और युद्ध के लिए तैयार रहे। इतिहास बताता है कि प्राचीन काल से अब तक प्रतिरक्षा की लागत मे भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। युद्ध की कला तथा सैनिक विज्ञान मे इतनी तीव्र गति से प्रगति हुई है कि युद्ध की सामग्री को खरीदना बड़ा महगा हो गया है और पुराने हथियारो के अप्रचलन की गति बहुत तेज हो गई है। फिर, प्रतिरक्षा व्यय के अन्तर्गत केवल युद्धकाल मे अथवा दो युद्धो के बीच की अवधि मे मनुष्यो, सामग्रियो तथा उनकी देखभाल पर किए जाने वाले खर्चे ही सम्मिलित नही किये जाते, अपितु सेवानिवृत्त होने वाले सैनिको एव कर्मचारियो को दी जाने वाली पेंशन तथा युद्धकालीन ऋण का ब्याज आदि भी सम्मिलित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, युद्धकालीन व्यय ऐसे समय में किये जाते है जबकि कीमतें बहुत ऊँची होती हैं और युद्धकालीन ऋण तथा पेन्शन आदि अन्य युद्धकालीन देनदारियों का निर्धारण भी उस समय किया जाता है जबकि कीमतें, आमदनियां व जीवन-यापन की लागतें ऊँची होती है, और फिर इन्ही देनदारियो का सिलसिला शांतिकाल मे भी जारी रहता है जबकि यह युद्धकालीन ऊँचे स्तरो का प्रतिनिधित्व करती हैं। एक अनुमान के अनुसार, सयुक्त राज्य अमेरिका अपनी सम्पूर्ण आय का लगभग ८५% भाग केवल प्रतिरक्षा पर खर्च करता है जिसमे सेवानिवृत्त होने वाले सैनिको के लाभ, अणुशक्ति की खोज, विदेशी सहायता और युद्धकाल मे खर्चे किये गये ऋणों का ब्याज भी सम्मिलित है।

(३) **गैर-सरकारी उत्पादको को सरकारी सहायता**—आधुनिक काल मे प्राय: सभी, सरकारो की यह नीति रहती है कि गैर सरकारी उत्पादकों—कृषको व उद्योगपतियो को ऋण, दान व सरकारी अनुदान, तान्त्रिक ज्ञान व अन्य सूचनायें प्रदान करके उनके उत्पादन के प्रयत्न में अधिकाधिक सहायता प्रदान की जाय।

(४) **आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि**—आजकल आवश्यकताओ की सामूहिक सन्तुष्टि को भारी महत्व दिया जाने लगा है क्योंकि एक तो इससे मितव्ययता होती है और दूसरे इससे नागरिको को व्यक्तिगत असुविधाओ का सामना नही करना पड़ता है। यही कारण है कि पहले अधिकतर जो कार्य व्यक्तियों द्वारा किये जाते थे वे अब राज्य द्वारा किये जाते है। नगरो मे सरकार द्वारा पानी, बिजली व यातायात की व्यवस्था किया जाना इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन पर सरकार को भारी व्यय करना पड़ता है।

एडम्‌ स्मिथ द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त चारों सिद्धान्तों तथा बाद के लेखकों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों पर यदि थोड़ी भी गहराई से विचार किया जाये तो यह ज्ञात होगा कि वे सभी वास्तव में मूलभूत सिद्धान्त हैं ही नहीं। और तथ्य तो यह है कि ये सिद्धान्त बिल्कुल नहीं हैं, वे तो अधिकतर कर-अधिकारियों को दिये जाने वाले प्रशासकीय निर्देश (administrative directions) है।

अच्छी कर पद्धति के सम्बन्ध में आधुनिक विचार
(Modern Views on Sound Tax System)

अनेक आधुनिक लेखकों ने एक अच्छी कर पद्धति की आवश्यकताओं में और वृद्धि की है। उनका ऐसा करना उचित भी माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि कर-पद्धति की समस्या अब अत्यधिक जटिल हो गई है। यह कहा जाता है कि एक अच्छी कर-पद्धति आरोहण के सिद्धान्त (principle of progression) पर आधारित होनी चाहिए, अर्थात्‌ यह कि आमदनियों में वृद्धि होने के साथ ही साथ करों की दरों में भी वृद्धि होनी चाहिए और करों का भार अधिकाधिक रूप में धनी वर्गों पर ही पड़ना चाहिए। जहां तक भी सम्भव हो सके अनुपाती (proportional) तथा अवरोही (regressive) कर नहीं लगाये जाने चाहिए। यह भी कहा जाता है कि प्रत्यक्ष (direct) तथा परोक्ष (indirect) करों में दूसरे की अपेक्षा प्रथम को प्रमुखता दी जानी चाहिए। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष करों में आरोहण के सिद्धान्त को लागू करना सरल होता है। कर-पद्धति एक या दो करों में ही केन्द्रित होने की बजाय अनेकरूपी (diversified) होनी चाहिए, यद्यपि यह हो सकता है कि कुछ दृष्टिकोणों से आय पर लगाया गया एकीकार (single tax) सर्वोत्तम किस्म का कर सिद्ध हो। इसके साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि करों की बहुतायत न हो जाये। अनेक अर्थशास्त्री आजकल **आर्थर यंग** (Arthur Young) के इस सुप्रसिद्ध वक्तव्य से सहमत नहीं हैं "यदि मुझसे एक अच्छी कर-पद्धति की परिभाषा करने को कहा जाये तो मैं कहूँगा कि कर-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि उसमें असीमित संख्या वाले करों का भार सभी मदों पर अधिक न होकर कम ही होना चाहिए।"

श्रीमती हिक्स के अनुसार अच्छी कर प्रणाली के लक्षण—

लोकवित्त की एक सुप्रसिद्ध आधुनिक लेखिका श्रीमती हिक्स (Mrs. Hicks) ने एक'अच्छी कर-पद्धति की इन विशेषताओं का उल्लेख किया है **प्रथम**, तो यह कि कराधान का उपयोग सार्वजनिक सेवाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए किया जाना चाहिए। **दूसरे**, जनसाधारण पर कर उनकी अदा करने की योग्यता (ability to pay) के अनुसार ही लगाया जाना चाहिए, यह योग्यता उनकी आय तथा पारिवारिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है। **तीसरे**, कर इन मानों में सार्वलौकिक (universal) होने चाहिए कि एकसी वित्तीय स्थिति वाले व्यक्तियों के साथ बिना किसी भी प्रकार के भेद-भाव के समान व्यवहार किया जाये। **चौथे**, कर प्रणाली अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए ताकि देश के आर्थिक विकास पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ सके। **पांचवें** एक अच्छी कर प्रणाली करारोपण के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए, जैसे—(i) कर प्रणाली का व्यावहारिक एवं लोचदार होना, (ii) सरल एवं पर्याप्त होना, (iii) कर प्रणाली उत्पादक होनी चाहिए, (iv) निश्चितता का होना, (v) मितव्ययिता का होना, (vi) कर पद्धति का आधार विस्तृत होना, (vii) कर के भार का उचित ढंग से वितरण होना, (viii) धन सचय में बाधाएँ उत्पन्न नहीं करना आदि। **छठे**, कर प्रणाली ऐसी हो जिसके द्वारा समाज पर अनुकूल आर्थिक प्रभाव पड़ता हो। **सातवें**, कर प्रणाली न्यायसगत होनी चाहिए, अर्थात्‌ कर भार का वितरण कर देय क्षमता के आधार पर होना चाहिए। **आठवां**, कर प्रणाली ऐसी हो जिस पर जनता का सहयोग प्राप्त होता हो। **नवम्‌** कर प्रणाली में उत्पादकता का तत्व विद्यमान होना चाहिए, अर्थात्‌ उसके द्वारा सरकार को पर्याप्त मात्रा में आय होनी चाहिए। **दशम्‌**, कर प्रणाली लोचपूर्ण होनी चाहिए ताकि बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप उसमें परिवर्तन किया जा सके।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य लेखकों का भी यह कहना है कि कर-पद्धति ऐसी होनी चाहिए

भाग पिछड़े देशों के आर्थिक विकास मे लगाना शुरू कर दिया है। इसका आशिक कारण तो यह है कि इन देशो मे रहन सहन के अपने दयनीय स्तर को सुधारने के लिए जागृति उत्पन्न हो गई और आशिक कारण है साम्यवाद (communism)। वास्तविक कारण चाहे कुछ भी क्यो न हो, तथ्य यह है कि पश्चिमी योरोप और अमेरिका के अनेक देशो ने अपने साधनो का कुछ थोड़ा सा भाग अल्पविकसित देशो को सहायतार्थ देना शुरू कर दिया है।

(९) **आर्थिक नियोजन**—आर्थिक नियोजन वर्तमान सदी की प्रमुख धारणा है। आर्थिक नियोजन के द्वारा देश के उपलब्ध साधनो का इस प्रकार नियोजित शोषण किया जाता है तथा अर्थव्यवस्था का इस प्रकार चहुँमुखी विकास किया जाता है कि जिससे नागरिकों का जीवन-स्तर ऊँचा हो तथा राष्ट्रीय समृद्धि एव खुशहाली मे अभिवृद्धि हो। आर्थिक नियोजन की केन्द्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न विकासशील योजनाओं को पूरा करने के लिये सरकार को अपार धनराशि व्यय करनी पड़ती है। यहाँ तक कि देश मे उपलब्ध साधनो के अतिरिक्त हीनार्थ प्रबन्धन तथा विदेशी ऋण भी लेने पड़ते है। इसके परिणामस्वरूप सरकारी व्यय मे वृद्धि होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

(१०) **मूल्य-स्तर मे वृद्धि** (*rise in prise level*)—एक अन्य कारण भी है जिसने सरकारो के खर्चों की वृद्धि मे अपना मुख्य योग दिया है, और वह है सन् १९३९ से सभी जगह मूल्य-स्तर का ऊँचा उठना। जहाँ तक किसी देश की सरकार का सम्बन्ध है, मूल्य-स्तर म वृद्धि के दो महत्वपूर्ण प्रभाव होते है। एक यह कि सरकार को उन सभी वस्तुओं और सेवाओ के लिए ऊँची कीमतें अदा करनी पडती है जिन्हें कि वह खरीदती है। दूसरे, अपने बढते हुए खर्चों को पूरा करने के लिए उसे अधिक मात्रा म वित्तीय साधनो की खोज करनी पडती है। कुछ सीमा तक तो, बढा हुआ सरकारी खर्च स्वय एक ऐसा तत्व होता है जो कि कीमतो मे वृद्धि क लिए उत्तरदायी होता है।

सरकारी सेवाओ के विस्तार के मूलभूत कारण (Basic Reasons for Extension of Government Services) :

इस प्रकार, अनेक ऐसे तत्व हैं जो सरकारी खर्च मे निरन्तर वृद्धि के कारणो की व्याख्या करते है। तथापि, कुछ राजकोषीय सिद्धान्त वेत्ताओ ने सरकारी सेवाओ मे विस्तार के मूलभूत कारणो का पता लगाने की कोशिश की है। एक कारण है सरकारी सेवाओं की आय की सापेक्षता (income elasticity)। आय की सापेक्षता वास्तविक आय मे परिवर्तन होने पर माँगो मे होने वाले परिवर्तनो की एक माप है। जैसे-जैसे वास्तविक आय बढती है, सभी वस्तुओ व सेवाओं की माँग भी बढती है, और यह तथ्य इस बात की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है कि लोग अधिक सरकारी सेवाओ की माँग क्यो करते हैं। फिर, दूसरा कारण यह है कि सरकारी सेवाएँ स्वभावत ही अविभाज्य होते है अत उनका सामूहिक रूप से ही चुनाव करना होता है। गैर-सरकारी क्षेत्र की स्थिति मे, मूल्य का सीधा सम्बन्ध किसी विशेष वस्तु अथवा सेवा की प्राप्ति से होता है। परन्तु सरकारी सेवाओ की अदायगियो को, पूर्णत अथवा अशत ऐसी सेवाओ के लाभों की प्राप्ति से अलग करना पडता है। सामूहिक आवश्यकताओं को लागतो से पृथक् रखकर चुनना होता है। कुछ लोगो ने वेगनर के नियम की बढते हुए श्रम-विभाजन (division of labour) के रूप मे व्याख्या करने की कोशिश की है, अर्थात् यह कि व्यक्ति अपनी अधिकाधिक आवश्यकताओ को राज्य की सहायता से सन्तुष्ट करने लगता है। परन्तु जैसाकि डाल्टन ने ठीक ही कहा है, श्रम-विभाजन के अर्थों मे इसकी व्याख्या अपर्याप्त है क्योंकि यह इस तथ्य का उल्लेख नही करती कि राज्य लगातार नए-नए कार्यों को अपने हाथ मे ले रहा है और पुराने कार्यो पर अपना पजा दृढ कर रहा है।

डाल्टन के अनुसार ऐसे तीन मूलभूत कारण हैं जो वेगनर के नियम (Wagner's law की व्याख्या करते है। सर्वप्रथम, अनेक क्षेत्रों मे किए जाने वाले आधुनिक विकास-कार्यों ने निजी सगठनों के मुकाबले सरकारी प्रशासन की कार्यक्षमता मे अधिक वृद्धि की है। प्राइवेट एजेन्सी की तुलना मे सरकारी अधिकारियो का चुनाव (*choice*) बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकता है। दूसरे, कुछ क्षेत्रो मे किए जाने वाले आधुनिक विकास कार्यों ने सरकारी अधिकारियो (public authorities) के

लिए यह आवश्यक बना दिया है कि वे ऐसे नए कार्यों को अपने हाथ में लें जो कि वस्तुतः गैर-सरकारी उद्यम द्वारा आरम्भ नहीं किये जा सके हैं। इसका एक सुन्दर उदाहरण है आधुनिक-नगरों में जन-स्वास्थ्य (public health) की व्यवस्था करना। तीसरे, जहाँ गैर-सरकारी अथवा निजी खर्च अनेक वस्तुओं और सेवाओं के व्यक्तिगत एवं अनन्य उपयोग (individual and exclusive use) की व्यवस्था करता है, वहाँ सरकारी खर्च एक सामुदायिक तथा सम्मिलित उपयोग (communal and inclusive use) की व्यवस्था करता है, उदाहरण के लिए, पार्क, अजायबघर और आर्ट गैलरी आदि।

सरकारी खर्च के सिद्धान्त
(Principles or Comons of Public Expenditure)

एक पिछले अध्याय में, हमने लोकवित्त (public finance) के कुछ ऐसे सिद्धान्तों का विवेचन किया था जिनके बारे में हमने यह कहा था कि ये सभी राजकोषीय कार्यवाहियों का मार्ग दर्शन करेंगे। यहाँ हम कुछ ऐसे सिद्धान्तों पर विचार करेंगे जोकि सभी सरकारी सत्ताओं के खर्च का मार्ग-दर्शन करते हैं।

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Principle or Comon of Maximum Social Advantage)

सरकारी व्यय तथा साथ ही उसकी वित्तीय व्यवस्था के लिए लगाये जाने वाले कर देश की बहुसंख्या के आर्थिक जीवन को प्रभावित करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी कोई कसौटी अथवा नियम होना चाहिये जिसके द्वारा कि कोई व्यक्ति सरकारी खर्च को न्याय की तुला पर तौल सके। ऐसी कसौटी अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त में निहित है।[1] डाल्टन (Dalton) ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया है, "प्रत्येक दिशा में सरकारी खर्च उस सीमा तक किया जाना चाहिये कि किसी भी दिशा में यदि समुदाय को प्राप्त होने वाले लाभ में थोड़ी सी भी वृद्धि हो तो वह कराधान में तथा सरकारी आय के अन्य स्रोत से होने वाली प्राप्तियों में वैसी ही थोड़ी सी वृद्धि से होने वाली हानि द्वारा सन्तुलित हो जाये। यह सरकारी खर्च तथा सरकारी आय का एक आदर्श प्रस्तुत करता है।"[2] पीगू (Pigou) ने भी इसी सिद्धान्त की लगभग इन्हीं शब्दों में व्याख्या की है "सभी दिशाओं में सरकारी खर्च एक ऐसे बिन्दु (point) तक बढ़ाया जाना चाहिये जिस पर खर्च किये जाने वाले अन्तिम शिलिंग से जो सन्तुष्टि प्राप्त हो वह उस सन्तुष्टि के बराबर हो जो कि सरकारी सेवाओं के लिये अन्तिम शिलिंग देने से नष्ट हो गई हो।"[3]

अतः यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि जब भी हम किसी ऐसे सिद्धान्त पर विचार करें जो सभी प्रकार के सरकारी खर्चों का मार्गदर्शन करे तो हमें जहाँ उन लाभों को दृष्टिगत रखना चाहिए जो कि राष्ट्र के सभी अथवा कुछ वर्गों को प्राप्त होते हैं, वहाँ सरकारी व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए किये जाने वाले त्याग (sacrifice) का भी ध्यान रखना चाहिये। जैसा कि पहले

---

1 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त स्वयं लोकवित्त की जड़ों में गहराई तक पहुँचा हुआ है, यही कारण है कि पीगू ने इसे लोकवित्त का सिद्धान्त कहा है। कारण यह है कि कराधान सरकारी खर्च तथा सरकारी ऋण का मूल्यांकन आर्थिक कल्याण की कसौटी से ही करना चाहिए।

2. *Dalton* Public Finance p 7, "Publ c expenditure in every direction must be carried first so farthat advantage to the community of a further small increase in any direction is just balanced by the disadvantage of a corresponding small increase in taxation and in receipts from any other source of public income This gives the ideal of public expenditure and of public income "

3. *Pigou* : Public Finance, p 31 "Expenditure should be pushed in all direction up to the point, at which satisfaction of ained from the last shilling evpended is equal to the satisfaction lost in respect of the last shilling called upon government service."

ही बताया जा चुका है, लोकवित्त (कराधान के द्वारा) लोगों के पास से सरकार की ओर को और (सरकारी खर्च के द्वारा) सरकार के पास से लोगों की ओर के क्रय-शक्ति के स्थानान्तरण का एक क्रम उत्पन्न कर देता है। वे लोग तो नुकसान मे रहते है जिन्हे कर अदा करने के लिए बाध्य किया जाता है और वे लोग फायदे मे रहते है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे सरकारी खर्च से होने वाले लाभ प्राप्त करते है। वित्त की एक आदर्श व्यवस्था, जिसमे कि सरकारी खर्च भी सम्मिलित है ऐसी होनी चाहिए जहां कि प्राप्त सन्तुष्टि की मात्रा किये गये त्याग से अधिक हो और यह सन्तुष्टि की बेशी अधिकतम हो। यही तत्व अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त मे निहित है।

अधिकतम सामाजिक लाभ तथा सम-सीमान्त तुष्टिगुण (maximum social advantage equi-marginal utility)—अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त बिलकुल वैसा ही है जैसा कि अधिकतम अथवा सन्तुष्टि अथवा तुष्टि का सिद्धान्त (principale of maximum satisfaction or utility) जिसे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रतिदिन के खर्चों मे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए अपनी उपलब्ध सीमित आय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का विवरण ऐसे तरीके से करता है कि खर्च की सभी मदो मे धन का सीमान्त तुष्टिगुण (marginal utilities) लगभग समान हो। यदि एक स्थिति मे सीमान्त तुष्टिगुण अन्य स्थिति के सीमान्त तुष्टिगुण से अधिक है तो व्यक्ति के लिए यही अच्छा होगा कि वह उस वस्तु पर तो अधिक खर्चा करे जिनके विषय मे कि द्रव्य का सीमान्त तुष्टिगुण अधिक हो और उस दूसरी वस्तु पर कम जो उसे कम सीमान्त तुष्टिगुण प्रदान करती हो। ऐसा करके वह सन्तुष्टि को अधिकतम कर सकता है। इसी प्रकार, सरकार को भी अपनी सीमित आय ऐसी रीति से खर्च करनी चाहिए कि सभी मदो के सीमान्त सामाजिक तुष्टिगुण अथवा लाभ समान हो। मान लीजिये भारत के वित्तमन्त्री यह अनुभव करते हैं कि शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय का सीमान्त तुष्टिगुण सेना पर किये जाने वाले खर्च के सीमान्त तुष्टिगुण के अधिक है अर्थात् यदि एक करोड रु० शिक्षा पर व्यय किया जाये तो उससे समाज को अधिक तुष्टिगुण अथवा लाभ प्राप्त होगा, व मुकाबले उसके कि उतनी ही धनराशि सेना पर खर्च की जाय। इस स्थिति मे स्पष्टत: यह वाञ्छनीय होगा और समाज के हित मे होगा कि धन को प्रतिरक्षा से हटाकर शिक्षा मे लगाया जाये और यह कि खर्च की एक मद से अन्य मद की ओर को किया जाने वाला यह स्थानान्तरण (transfer) उस समय तक जारी रहना चाहिए जब तक वित्तमन्त्री यह न महसूस करें कि अब दोनो ही मदो से प्राप्त होने वाला सीमान्त लाभ बराबर है। अत यह स्पष्ट है कि अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त सम-सीमान्त तुष्टिगुण के सिद्धान्त के ही समान है और इसी पर आधारित है। दोनो सिद्धान्तो मे यदि कोई अन्तर हैं तो यह कि व्यक्तियो तथा सरकार की स्थितियो मे आय के स्रोत भिन्न-भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये, व्यक्ति तो अपनी निजी आय खर्च करता है जिसमे उसके अलावा अन्य किसी को कोई त्याग (sacrifice) नही करना पडता। इसके विपरीत सरकार की आय चूँकि जनता से प्राप्त की जाती है अत उसमे सम्पूर्ण समाज का त्याग अथवा भार छिपा होता है। परिणामस्वरूप, सरकार को अपने खर्चों के मामले मे बडा सावधान रहना पडता है।

सम्पूर्ण समाज के लिए लाभ (benefits for whole community)—अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का अर्थ है कि सरकारी खर्च से सम्पूर्ण समाज को ही लाभ पहुँचना चाहिए, समाज के केवल किसी एक भाग या वर्ग को ही नही। अत यह आवश्यक है कि सरकार इस विषय मे बडी सावधानी बरते कि समाज से सम्पूर्ण रूप मे प्राप्त होने वाले धन का उपयोग केवल किसी वर्ग विशेष के लाभ के लिए ही न किया जाए। इस सदर्भ मे, डाल्टन तथा श्रीमती हिक्स जैसे लोकवित्त के लेखको द्वारा दी गई कुछ उन कसौटियो का उल्लेख करना भी बडा महत्वपूर्ण होगा जिनका जिक्र हम एक पिछले अध्याय मे पहले ही कर चुके है। ये कसौटियाँ यह बतलाती है कि सरकारी खर्च सम्पूर्ण समाज के आर्थिक कल्याण के लिए अपना योग प्रदान कर रहा है या नही। समुचित सरकारी व्यय की प्रथम कसौटी (first test), जो कि सामाजिक कल्याण मे अपना योगदान करती है, प्रतिरक्षा पर किया जाने वाला व्यय है जिसके द्वारा विदेशी आक्रमण से जनता की रक्षा की जाती है और देश मे कानून व व्यवस्था की स्थापना की जाती है। यह व्यय करना सभी सभ्य सरकारो का मुख्य कर्तव्य होता है। इसके अलावा ये व्यय सामान्य आर्थिक विकास

जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करते है। डाल्टन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक लाभ की एक अन्य कसौटी यह है कि खर्च के द्वारा राष्ट्रीय आय के उत्पादन तथा उसकी मात्रा मे वृद्धि हो, इसका अर्थ है कि उत्पादकीय सेवाओं के संगठन में भी सुधार होना चाहिए। सामाजिक लाभ की एक तीसरी वस्तुनिष्ठ कसौटी (objective test) यह है कि सरकारी व्यय के द्वारा इस प्रकार आय का समान वितरण किया जाए कि उत्पादित कुल राष्ट्रीय आय सभी मे समान रूप से वितरित हो सके। सामाजिक लाभ की चौथी कसौटी देश में आर्थिक स्थिरता की स्थापना करना है जिसका अर्थ है कि देश म स्फीति तथा अवस्फीति (inflation and deflation) की परिस्थितियाँ न उत्पन्न होने दी जाएँ और अर्थव्यवस्था (economy) को पूर्ण रोजगार के स्तर पर रखा जाए। अन्त मे, पांचवी कसौटी यह है कि सरकारी व्यय को केवल वर्तमान समय के हितो का ही ध्यान नहीं रखना चाहिए बल्कि भावी पीढ़ियो (future generations) के हितों की भी चिन्ता करनी चाहिए क्योकि राज्य भविष्य के हितो का भी सरक्षक (custodian) है। यदि सरकारी खर्च को सामाजिक कल्याण के इन सभी सिद्धान्तो मे अनुसार किया जाए तो अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को भी सन्तुष्ट किया जा सकता है और अधिकतम कल्याण भी प्राप्त किया जा सकता है।

सिद्धान्त की कठिनाइयाँ (difficulties as to principle)—सामान्य सिद्धान्त के रूप मे, अधिकतम सामाजिक लाभ का कोई स्थानापन्न (substitute) अथवा विकल्प (alternative) नही है। परन्तु इस सिद्धान्त को लागू करने मे अनेक कठिनाइयाँ तथा बाधाएँ है। उदाहरण के लिए, उन लाभो का सही-सही अनुमान लगाना अथवा माप करना यदि असभव नही तो कठिन अवश्य है, जो कि सरकारी व्यय की कुछ अथवा अनेक मदो से प्राप्त होते हैं, जैसे सशस्त्र सेनाओ पर किये गये व्यय से प्राप्त होने वाले लाभ का अनुमान लगाना बड़ा कठिन है किन्तु रेलो सिंचाई अथवा औद्योगिक विकास पर किया जाने वाला सरकारी खर्च अधिक मूर्त (concrete) तथा स्पष्ट होता है अत उसको मापा जा सकता है। साथ ही, प्रतिरक्षा तथा पुलिस पर किया जाने वाला व्यय सामाजिक दृष्टिकोण से एक अनिवार्य व्यय होता है, अत सरकार को उसे सम्पन्न करना ही होता है। परन्तु ऐसा खर्च चूँकि समाज के भौतिक कल्याण (material welfare) मे वृद्धि नही करता और साथ ही, आर्थिक साधनो को उत्पादकीय स्रोतो मे लगा देता है, अत सरकार के लिए स्पष्टत यह उचित होगा कि वह प्रतिरक्षा तथा पुलिस पर किये जाने वाले व्यय को कम करके उस न्यूनतम मात्रा पर ले आये जो कि देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो।

यहाँ एक अन्य महत्वपूर्ण बात का उल्लेख करना भी उचित होगा। यह सत्य है कि अधिकतम सामाजिक कल्याण का लक्ष्य इस बात को आवश्यक बना देता है कि सरकारी खर्च सम्पूर्ण रूप मे (as a whole) समाज पर किया जाए किसी एक समूह या वर्ग पर नहीं। परन्तु कभी कभी यह आवश्यक हो सकता है कि सरकारी खर्च किसी विशेष वर्ग पर ही किया जाए और हो सकता है कि उससे सम्पूर्ण समाज के ही कल्याण मे वृद्धि हो। उदाहरण के लिए, हरिजनो पर किया जाने वाला भारत सरकार का व्यय अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के विरुद्ध नही। पडता क्योंकि हरिजनो का सामाजिक एव आर्थिक स्तर ऊँचा करने से सम्पूर्ण समाज ही धनी, मजबूत तथा स्वस्थ बनता है इसी प्रकार, देश के किसी पिछडे क्षेत्र के विकास पर किया जाने वाला सरकारी व्यय सम्पूर्ण देश को ही लाभ पहुँचाता है क्योंकि एक क्षेत्र की समृद्धि स्वय ही अन्य क्षेत्रों मे स्थानान्तरित हो जायेगी। परन्तु अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की इन कुछ कठिनाइयो तथा सीमाओ से हमे इस निष्कर्ष पर नही पहुँचना चाहिए कि इस सिद्धान्त का कोई वास्तविक एव व्यावहारिक महत्व ही नहीं है। सरकार द्वारा किये जाने वाले विवेकपूर्ण व्यय का लक्ष्य सामाजिक लाभ को अधिकतम होना चाहिए। अत सरकारी खर्च के अध्ययन मे और वस्तुत जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, स्वय लोकवित्त के ही अध्ययन में इस सिद्धान्त का मौलिक महत्व है।[4]

---

4. वे अर्थशास्त्री, जो राजकोषीय तटस्थता (fiscal neutrality) की वकालत करते हैं और जो यह तर्क देते हैं कि एक अल्पविकसित देश के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था सबसे अधिक उपयुक्त है और यह कि राजकोषीय तटस्थता मिश्रित अर्थव्यवस्था की एक अनिवार्य शर्त है, यह विश्वास करते हैं कि सरकार खर्च और राजकोषीय नीति के मुख्य लक्ष्य का सम्बन्ध सामान्यत: अधिकतम सामाजिक लाभ के "अस्पष्ट" लक्ष्य से नहीं होना चाहिए।

सरकारी खर्च के अन्य सिद्धान्त (Other Principles of Public Expenditure) .

अधिकतम सामाजिक लाभ के इस मूलभूत सिद्धान्त के अलावा शिराज जैसे अनेक सुप्रसिद्ध राजकोषीय सिद्धान्त वेत्ताओं ने सरकारी खर्च के अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इन सिद्धान्तों की अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त से तुलना करना आवश्यक नहीं है क्योंकि लेखकों ने इन सिद्धान्तों को गौण स्थान दिया है।

(१) **मितव्ययता का सिद्धान्त** (principle or canon of economy)—ऐसे ही एक सिद्धान्त को मितव्ययता के सिद्धान्त के नाम से पुकारा जाता है। मितव्ययता का अर्थ कंजूसीपन अथवा लालचीपन से कतई नहीं है, इसका अर्थ तो केवल यह है कि बेकार के अनापशनाप खर्च न किये जायें। सरकारी अधिकारियों को अपने पास विद्यमान साधनों को बर्बाद नहीं करना चाहिए क्योंकि ये साधन उन लोगों से लिये जाते हैं जो कि उनको ऐसे उपयोग में लगा सकते हैं जिन्हें कि वे सर्वोत्तम तथा सबसे अधिक आवश्यक समझें। अतः यह आवश्यक है कि सरकार अपने खर्चों को बड़ी सावधानी और विवेक के साथ करे। खर्च की किसी भी मद पर केवल न्यूनतम आवश्यक धनराशि ही खर्च करनी चाहिए। अधिकांश लोकतन्त्रीय देशों में, नियोजन तथा दूरदर्शिता का अभाव, सरकारी अधिकारियों में उत्तरदायित्व की भावना की कमी तथा अपर्याप्त वित्तीय नियन्त्रण—ये कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तत्व हैं जो अनेक सरकारी विभागों के व्यर्थ के अन्धाधुन्ध खर्चों के लिए जिम्मेदार है।

(२) **बेशी या बचत या आधिक्य का सिद्धान्त** (Principle or canon of surplus)—सरकारी खर्च के एक अन्य सिद्धान्त को बेशी अथवा आधिक्य का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि सरकारी अधिकारियों को अपने खर्च के मुकाबले आय की बेशी का लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए और उन्हें घाटे की स्थिति से बचना चाहिए। जिस प्रकार बुद्धिमान आदमी अपने खर्च को अपनी आय के अनुसार ही रखने का प्रयत्न करता है, और यदि सम्भव हो सके तो अपने खर्च को अपनी आय से कम ही रखता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक सरकार को भी यह कोशिश करनी चाहिए कि वह अपनी आय तथा खर्च को सन्तुलित करे (अर्थात् सन्तुलित बजट बनाये), और यदि सम्भव हो तो थोड़ी सी बेशी अथवा आधिक्य का ही लक्ष्य सामने रखें। बेशी के सिद्धान्त का आशय यह है कि राज्य के रोजाना के खर्चे अनिवार्यतः चालू आय में से ही किये जाने चाहिए और ऐसे खर्चों को करने के लिए उधार का आश्रय नहीं लेना चाहिए। इस सिद्धान्त का आशय यह भी है कि सम्भव है वर्ष प्रतिवर्ष बेशी के बजट (surplus budgets) न बनाये जा सकें परन्तु जिस बात की वास्तव में आवश्यकता है वह यह कि सरकार को स्वयं अपनी साख (credit) एवं प्रतिष्ठा के हित मे लगातार घाटे के बजटों (deficit budgets) से बचना चाहिए। पर इसके बावजूद, बेशी का बजट बनाना हमेशा ही कोई अच्छी बात हो, ऐसा नहीं है। मन्दी के समय में, जबकि देश की गिरती हुई कीमतों तथा बढ़ती हुई बेरोजगारी का सामना करना होता है, उस समय यह आवश्यक हो सकता है कि सरकार अपने खर्चों मे वृद्धि करके रोजगार तथा माँग की मात्रा को बढ़ाये और इस प्रकार अर्थव्यवस्था की सहायता करे, यह भी हो सकता है कि इस अवधि में, सरकार की आय में कोई वृद्धि न हो, अपितु और कमी हो जाए। मन्दी का सामना करने के लिए जो राजकोषीय नीति अपनाई जाती है उसे 'घाटे की बजट-व्यवस्था' का ही नाम दिया जाता है। दूसरी ओर, तेजी अथवा स्फीति की स्थिति मे, सरकार के लिये यह आवश्यक हो सकता है कि वह अपने खर्चों को सीमित करे और अपनी कर आय को बढ़ाये—जिससे कि वस्तुओं व सेवाओं की माँग घट जाए और कीमतें नीची हो जाएँ। यह है बेशी का बजट। अतः यह स्पष्ट है कि बेशी के सिद्धान्त को लागू करना सदा ही सम्भव नहीं होता।

(३) **स्वीकृति का सिद्धान्त** (Principle or canon of sanction)—अन्त में, स्वीकृति का सिद्धान्त सरकारी खर्च का एक और सिद्धान्त है, जिसका कि लोकतन्त्रीय सरकार के लिए विशेष महत्व है। इसका आशय है कि उस समय तक कोई भी धनराशि खर्च नहीं की जानी चाहिए जब तक कि उस खर्च के लिए उपयुक्त अधिकारी व्यक्ति से अनुमति अथवा स्वीकृति न मिल जायें। उच्च अधिकारी की पूर्वानुमति (prior sanction) प्राप्त करने का उद्देश्य यह है कि अविवेकपूर्ण तथा अन्धाधुन्ध किये जाने वाले खर्चों को रोका जा सके, क्योंकि लोगों का यह अनुभव

है कि सभी जनाधिकृत खर्चे अपव्यय तथा अतिव्यय को प्रोत्साहन देते हैं। स्वीकृति के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह भी आवश्यक होता है कि व्यय करने वाले अधिकारी धन को उसी कार्य मे खर्च करें जिसके लिए कि उसकी स्वीकृति मिली है। यह देखने के लिए कि स्वीकृति धनराशि का दुरुपयोग तो नही हुआ है, वित्तीय वर्ष के अन्त में सदा लेखापरीक्षण (auditing) की व्यवस्था की जाती है। लोकतन्त्रीय सरकार के अन्तर्गत, अनुमति, निरीक्षण, नियन्त्रण तथा लेखा परीक्षण की एक विस्तृत व्यवस्था कार्यशील होती है। उदाहरण के लिए, सरकार को स्वय किसी भी धनराशि को उपलब्ध करने तथा खर्च करने से पूर्व ससद (Parliament) की अनुमति लेनी होती है, सरकार के अन्तर्गत भी, प्रत्येक विभाग (department) को कोई भी खर्च करने से पहले वित्त मन्त्रालय (Ministry of Finance) की अनुमति लेनी पडती है, प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत प्रत्येक अनुभाग (section) को विभागाध्यक्ष (head of the department) की अनुमति लेनी होती है, यही क्रम आगे भी चलता रहता है। यहाँ इस बात को भी नही भूलना चाहिए कि अनुमति लेने की इस विस्तृत व्यवस्था मे काफी समय तथा कार्यक्षमता का ह्रास होता है और लालफीताशाही (red-tapism) पनपती है, परन्तु यह तो वह त्याग (sacrifice) है जो एक लोकतन्त्रीय सरकार को सरकारी धन का दुरुपयोग रोकने के लिये करना ही होता है।

प्रो शिराज के उपरोक्त सिद्धान्तो के अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय के निम्नलिखित सिद्धान्त भी हैं—

(i) उत्पादकता मे वृद्धि का सिद्धान्त (Principle or canon of Increase in Productivity)—इस सिद्धान्त का आशय है कि सार्वजनिक खर्च इस प्रकार से होना चाहिए जिससे कि सम्पूर्ण देश मे उत्पादकता मे वृद्धि हो, नये नये उद्योग धन्धो की स्थापना हो, रोजगार के अवसरो मे वृद्धि हो तथा जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा हो। हेन्सन के शब्दों मे, "कोई भी राष्ट्र देश में सामाजिक तथा सार्वजनिक सेवाओं पर व्यय किये बिना जीवन-स्तर को ऊँचा नही कर सकता।" अल्पविकसित देशो के लिए तो यह सिद्धान्त बडा ही अनुकूल है।

(ii) समान वितरण का सिद्धान्त (Principle or canon of Equal Distribution) —इस सिद्धान्त का आशय है कि सार्वजनिक व्यय इस प्रकार का होना चाहिए कि उससे आय के वितरण की असमानताएँ कम हो। यह सिद्धान्त उन राष्ट्रो के लिए बडा महत्वपूर्ण है जहाँ कि आय के वितरण मे भारी असमानताएँ पाई जाती हैं। यही कारण है कि विश्व के अविकसित एव अर्द्धविकसित देशो मे सरकारी खर्च का मुख्य उद्देश्य धन के वितरण की असमानताओ को दूर करना है।

(iii) लोच का सिद्धान्त (Principle or canon of Elasticity)—इस सिद्धान्त का आशय है कि सरकारी खर्च अथवा व्यय मे पर्याप्त लचक होनी चाहिए अर्थात् सरकारी खर्च आवश्यकतानुसार एव परिस्थितियो के अनुसार होना चाहिए। इस प्रकार सरकारी खर्च का ढांचा ऐसा बनाया जाना चाहिए कि उसे सरलता से कम अथवा अधिक किया जा सके। सरकारी खर्च की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि सकट काल मे यदि साधनो को एक मद से दूसरी मद मे हस्तान्तरित किया जाय तो उससे देश का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त नही होने पाए। ब्यूहलर (Buehler) के अनुसार 'व्यय के परिणामों का अनुमान लगाते समय हमे उन परिणामो की ओर भी ध्यान देना चाहिए जोकि उस व्यय की पूर्ति के सम्बन्ध मे करारोपण अथवा आय के अन्य उपभोगो के परिणामस्वरूप हमारे सामने आ सकते हैं।'[5]

(iv) समन्वय का सिद्धान्त (Principle or canon of Coordination)—सघात्मक शासन व्यय मे केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा स्थानीय सरकारें अलग-अलग सरकारी खर्च करती है। अतएव इस सरकारी खर्च मे इस प्रकार से समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए ताकि कोई खर्च दोबारा न हो।

---

5. A. O Buehler : Public Finance, pp. 61.

निष्कर्ष (Conclusion) :

ऊपर सरकारी खर्च के जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है उनको समान महत्व प्राप्त नही है, तथ्य यह है कि अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त ही सरकारी खर्च का एकमात्र विचारणीय सिद्धान्त है। अन्य सिद्धान्त तो केवल ऐसे प्रशासनिक नियम मात्र हैं जो कि सार्वजनिक धन को खर्च करने के मामलो मे सरकारी अधिकारियो का मार्ग-दर्शन करते है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रंथ

1 Philip E Tavlor : Economics of Public Finance, Chapter III.
2 John Due : Government Finance Cnapter III.
3 Hugh Dalton · Public Finance, Chapters XVI and XVII.
4. Ursula Hicks : Public Finace, Chapter II
5 Harold Groves : Financing Government, Chapters, XXI and XXII
6. H. Dalton : Public Finance
7. A C. Pigou : Public Finance.
8 A. B. Buchler : Public Finance
9. A. ਧ, Hamen : Fiscal Policy and Business cycles.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. "पिछले सौ वर्षों से विश्व के सभी देशो मे सार्वजनिक व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई है।" सार्वजनिक व्यय की इस वृद्धि के कारण बताइये।

"Public expenditure has enormously increased during the last hundred years or so in every country of the world" Give reasons for this increase in public expenditure.

२. सार्वजनिक व्यय के विभिन्न सिद्धान्तो की पूर्ण विवेचना कीजिए। क्या भारत मे सार्वजनिक व्यय इन सिद्धान्तो पर आधारित है ?

Discuss fully the various conons of Public Expenditure. Is public expenditure in India is based on these conons ?

३ "बढता हुआ सार्वजनिक व्यय एक आधुनिक प्रवृति है।" स्पष्ट कीजिए।

"Increasing trend of Public Expenpiture is a modern phenomena." Discuss

४. डाल्टन के अनुसार सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? समझाइए।

How can the Public Expenditure be classified according to Dalton ? Explain

५. वर्तमान काल मे सार्वजनिक व्यय के बढने के कारणो पर प्रकाश डालिये। क्या यह प्रवृति समाजवाद की ओर सकेत है ?

Account for the growth of public expenditure in recent years Does it indicate a saving towards socialism ?

६. सार्वजनिक व्यय किसे कहते हैं ? सार्वजनिक व्यय तथा निजी व्यय का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

What is meant by public expenditure ? Explain fully the difference between public and private expenditure.

७. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के रूप मे सार्वजनिक व्यय की विवेचना कीजिए।

Discuss Public Expenditure as a principle of maximum social advantage.

१६

सार्वजनिक या सरकारी व्यय—आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव
(Public Expenditure—Effects on Economic Activites)

प्रारम्भिक : सार्वजनिक या सरकारी व्यय का आर्थिक क्रियाओ पर प्रभाव के अध्ययन की आवश्यकता

पिछले अध्याय मे, हम यह बतला चुके है कि प्राचीन समय मे इस गलत विश्वास के कारण सरकारी खर्च के अध्ययन की उपेक्षा कर दी गई थी कि सभी प्रकार का खर्च एक बर्बादी है। वास्तव मे, इस विश्वास का प्रत्यक्ष कारण सस्थापक अर्थशास्त्रियो (classical writers), विशेष रूप से एडम स्मिथ (Adam Smith) के लेख थे, जिनका यह कहना था कि सरकार को अपनी क्रियायें "न्याय, पुलिस तथा शस्त्रो" तक ही सीमित रखनी चाहिए, अर्थात् केवल विदेशी आक्रमण व आन्तरिक अशान्ति से नागरिकों की रक्षा करने तक ही सीमित रखनी चाहिए। एडम स्मिथ ने आगे कहा कि चूँकि सरकारी खर्च आमतौर पर एक बर्बादी मात्र है और यह कि लोगो की ओर से सरकार की ओर को स्थानान्तरित किया गया धन, हो सकता है कि सरकार की अपेक्षा लोगो के लिए ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो, अत अच्छा यही होगा कि सरकार अपनी आर्थिक क्रियाओ को केवल उन सेवाओ के सम्पादन तक ही सीमित रखे जिनमे या तो लोग रुचि न लें अथवा उनकी व्यवस्था के लिये कष्ट न उठाना चाहें। १८वी व १९वी शताब्दी के अर्थशास्त्रियो तथा राजनीतिज्ञो, दोनो पर ही एडम स्मिथ का प्रभाव पडा और उन्होने इसी प्रकार के मत प्रकट किये, जैसे कि "धन राज्य के मुकाबले जनता के हाथो मे रह कर ही अधिक फलदायी सिद्ध होगा।" अथवा "खर्च की धनराशि का वह प्रत्येक भाग, जो कि सामाजिक शान्ति बनाये रखने तथा विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने की सीमा से बाहर खर्च किया जाता है, अपव्यय है, अन्यायपूर्ण है और जनता पर भारी दबाव है।" अत स्पष्ट है कि १९वी शताब्दी के अर्थशास्त्रियो ने सरकारी खर्च के सम्भावित अनुकूल प्रभावो को स्वीकार नहीं किया। परिणामस्वरूप, सन् १९२० तक सरकारी खर्च के अध्ययन की पूर्णत उपेक्षा की जाती रही, हाँ इसके बाद सरकारी खर्च की महत्ता पूर्णतया स्वीकार की जाने लगी।

इस बात पर विचार करना बडा महत्वपूर्ण है कि उत्पादन, आय तथा रोजगार के स्तर पर, साधनो का अनुकूलतम बँटवारा करने पर, कीमतो की स्थिरता पर, पूर्ण रोजगार की स्थापना एव उसकी स्थिति को बनाये रखने पर और देश मे आमदनियो के श्रेष्ठतर वितरण पर सरकारी खर्च का क्या प्रभाव पडता है। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि आर्थिक क्रियाओ के स्तरो तथा वितरण पर सरकारी खर्च का प्रभाव इस बात पर निर्भर होता है कि सरकार किस प्रकार की है और सरकारी खर्च किस समय किया जा रहा है। उदाहरण के लिये, स्वतन्त्र अथवा मुक्त अर्थव्यवस्था (free economy) के अन्तर्गत तथा शान्तिकाल मे सरकारी खर्च की मात्रा काफी कम

होती है परन्तु एक समाजवादी अर्थव्यवस्था (socialistic economy) के अन्तर्गत और युद्धकाल मे, जहाँ तक आर्थिक क्रियाओ एव रोजगार के स्तरो का सम्बन्ध है, सरकार के खर्च का अशदान अधिक तथा उल्लेखनीय होता है। सरकारी खर्च के प्रभावों का विश्लेषण हम यहाँ इस प्रकार करेंगे कि पहले तो इस विषय पर डाल्टन द्वारा प्रकट किये गये विचारो का सक्षेप में उल्लेख करेंगे और तत्पश्चात् आधुनिक राजकोषीय सिद्धान्त वेत्ताओ (fiscal theorists) के विचारो पर प्रकाश डालगे।

सरकारी व्यय का उत्पादन तथा रोजगार पर प्रभाव
(Effect of Public Expenditure on Production and Employment)

डाल्टन का मत था कि किसी भी देश मे उत्पादन या तथा रोजगार का स्तर निम्नलिखित तीन तत्वों पर निर्भर करता है —

(क) लोगो की काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की योग्यता,
(ख) काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की इच्छा, और
(ग) विभिन्न उपयोगों तथा क्षेत्रों के बीच आर्थिक साधनो का स्थानान्तरण।

यह सम्भव है कि इन सभी तत्वो को सरकारी खर्च द्वारा प्रभावित किया जाए, यह दूसरी बात है वह प्रभाव अनुकूल होगा या प्रतिकूल।

(क) काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की योग्यता पर प्रभाव (Effect of Public Expenditure on Ability to Work, Save and Invest)

यदि सरकारी खर्च व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता मे वृद्धि करता है तो उससे उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय भी बढ़ेगी। शिक्षा, चिकित्सा सेवाओ, सस्ते मकानो की सुविधाओ तथा मनोरजन की सुविधाओ पर किया जाने वाला सरकारी खर्च लोगो की कार्य करने की क्षमता को बढायेगा। इसके साथ-ही, सरकारी खर्च निम्न आय वाले वर्गो के लिए अतिरिक्त आय की व्यवस्था करके उनकी बचतों मे वृद्धि कर सकता है क्योकि जिन व्यक्ति की आय बढ जायेगी उससे सामान्यत यह आशा अवश्य की जा सकती है कि वह अधिक बचायेगा भी। अन्तत. सरकारी खर्च, विशेषरूप से सरकारी ऋणो की वापिसी पर किया जाने वाला सरकारी खर्च उन लोगो को अतिरिक्त धनराशियाँ प्रदान करेगा जो कि उसे विनियोग (invest) कर सकते हैं। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि सरकारी खर्च, काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की योग्यता मे वृद्धि कर सकता है और तत्पश्चात् उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा को भी बढा सकता है।

(ख) काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की इच्छा पर प्रभाव (Effect of Public Expenditure on Willingness to Work, Save and Invest)

काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की इच्छा पर पडने वाले सरकारी खर्च के प्रभाव स्पष्ट नही हैं। पेन्शन कर्जो पर ब्याज, भविष्य-निधि (Provident fund) तथा इसी प्रकार की अन्य सरकारी अदायगियाँ व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती है। अत: उसकी काम करने तथा बचत करने की इच्छा को कम करती हैं। आखिरकार, कोई व्यक्ति कठिन श्रम करना तथा बचत करना क्यों चाहेगा, जबकि उसे यह अच्छी तरह मालूम है कि यदि वह आय कमाने की स्थिति मे नही होगा तो सरकार ही उसकी देखभाल करेगी।

(ग) विभिन्न उपयोगो तथा क्षेत्रो के बीच आर्थिक साधनो के स्थानान्तरण पर प्रभाव (Effect of Public Expenditure on Diversions of Economic Resources as between Different Uses and Localities) :

विभिन्न वैकल्पिक उपयोगो मे साधनो के प्रयोग पर सरकारी खर्च के बडे दूरगामी प्रभाव होते हैं। सर्वप्रथम, गैर-सरकारी उपयोग से सरकारी उपयोग की ओर को साधनों से किये जाने वाले ऐसे अन्तरण (diversions) है जिनके बारे मे कुछ सन्देह है। डाल्टन ने शस्त्रीकरण (armaments) तथा सशस्त्र सेनाओ पर किये जाने वाले सरकारी खर्च का जिक्र किया है। ऐसे खर्चों को, जिसे कि आर्थिक अपव्यय कहा जाता है, पूरा करने के लिये सरकार आर्थिक साधनो को

सामान्य जनता के पास से अपनी ओर को स्थानान्तरित करती है। अनेक लोगों का विचार है कि यदि वे साधन जनता के पास ही रहने दिये जाते, तो ये आर्थिक कल्याण मे अपना योग दे सकते थे। यहाँ सैनिक खर्च के पक्ष मे एक भावुक तर्क (sensible argument) दिया जाता है। कहा जाता है कि *युद्ध के व्यय से विदेशी आक्रमण का खतरा कम होता है, इस प्रकार यह उस आर्थिक* हानि को भी कम करता है जो आक्रमण की स्थिति मे लोगो को उठानी पडती है। इस प्रकार, यह सत्य है कि शस्त्रीकरण पर किया जाने वाला सरकारी खर्च आर्थिक साधनो को उन उपयोगो से हटा देता है जिनमे लगकर वे (साधन) *आर्थिक कल्याण मे अपना प्रत्यक्ष योगदान दे सकते थे* (उदाहरण के लिए, स्वस्थ व हृष्ट-पुष्ट मनुष्य, लोहा, कोयला, तेल तथा अन्य कच्चा माल, जो आर्थिक कल्याण की वृद्धि के स्थान पर प्रतिरक्षा के लिए काम मे लाये जाते हैं)। परन्तु यह भी सत्य है कि देश की सुरक्षा के लिए प्रतिरक्षा व्यय (defence expenditure) अत्यन्त आवश्यक है जिसके बिना कोई भी देश आर्थिक तथा अन्य किसी भी दृष्टि से फल-फूल नही सकता। इस प्रकार हम प्रतिरक्षा के लिए किये जाने वाले आर्थिक साधनों के अन्तरण को छोड सकते है।

सरकारी खर्च वर्तमान तथा भविष्य के बीच मे आर्थिक साधनों का अधिक श्रेष्ठ वितरण कर सकता है। एक स्वतन्त्र पूँजीवादी समाज मे, भविष्य के लिए बहुत कम व्यवस्था की जाती है। ऐसा इसलिये होता है क्योकि लोग भविष्य के मुकाबले वर्तमान को प्रमुखता देते है। अतः *भविष्य के लिये पर्याप्त व्यवस्था (adequate provision) नही करते*। दूसरी ओर, राज्य चूँकि भावी पीढियो के हितो का भी सरक्षक होता है अतः उसे यह देखना होता है कि भविष्य के लिये पर्याप्त व्यवस्था की गई है। यहाँ हम परिवहन (transport), सिचाई तथा ऐसी ही इन प्रयोजनाओं पर किये जाने वाले सरकारी व्यय का जिक्र कर सकते है जिनसे तत्काल प्रतिफल प्राप्त नही होता बल्कि जो आने वाली पीढियो को सामाजिक तथा आर्थिक लाभ प्रदान करती हैं। **दूसरे,** सरकार ऐसे आर्थिक साधनो को सुरक्षित रखने के लिये धन खर्च करती है जो कि भविष्य के लिए आवश्यक तथा बडे उपयोगी होते हैं। **तीसरे,** सरकार अनुसन्धान तथा खोज को प्रोत्साहन देने के लिये धन खर्च करती है, शिक्षा तथा प्रशिक्षण (training) की व्यवस्था करती है, जन-स्वास्थ्य तथा सफाई की देखभाल करती है और सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित अनेको कार्यो का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती हैं। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो यह कहते हैं कि सरकार को इनमे से अनेक कार्यो *मे किये जाने वाले खर्च मे 'कटौती' करनी चाहिए, परन्तु अधिकाश राजकोषीय सिद्धान्त वेत्ताओ* का यह सामान्य मत है कि "ऐसी अनेक दिशाओ मे किया जाने वाला अधिकाधिक सरकारी खर्च इसलिये वाञ्छनीय है ताकि विभिन्न उपयोगो के बीच राष्ट्र के साधनो का एक वितरण किया जा सके, जिसके सर्वोत्तम परिणाम हो और जो बिना किसी पक्षपात के वर्तमान एव भविष्य के बीच सन्तुलन रख सके।"[1] यहाँ इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि आर्थिक साधनो के अन्तरण से उत्पादन मे भारी वृद्धि होती है।

आर्थिक साधनो के स्थानान्तरण को उन परिस्थितियो मे न्यायोचित ठहराया जा सकता है जबकि नये विनियोग की मात्रा नई बचतों की मात्रा के अनुरूप न हो। जैसा कि कीन्स ने कहा है, इस अनुरूपता का अभाव (lack of this coincidence) ही अर्थव्यवस्था को अस्थिरता का, *स्फीति तथा अवस्फीति का और बेरोजगारी का प्रत्यक्ष कारण है। स्थिरता की दशाएँ उत्पन्न* करने के लिए और गैर-सरकारी क्षेत्र मे बचत तथा विनियोग के बीच समानता लाने के लिए सार्वजनिक निर्माण-कार्यो के रूप मे किया जाने वाला सरकारी खर्च अत्यन्त आवश्यक है। सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमो (public works programmes) पर किया जाने वाला सरकारी खर्च उत्पादन तथा रोजगार पर भी अनुकूल प्रभाव डालता है।

कभी-कभी, सरकारी खर्च के द्वारा आर्थिक साधनो का विभिन्न क्षेत्रो के बीच भी स्थानान्तरण हो सकता है। ऐसा तब हो सकता है जबकि राज्य सरकारें कुछ सेवाओ की अधिक

---

1. Dalton : Public Finance, IV Ed, p 158. "Increased Public expenditure in many of these directions is desirable in order to bring about the distribution of the community's resources between different uses, *which will give the best results*, balancing without bias the present and the future",

कि वह व्यापार तथा उद्योग के विकास मे बाधक न बने, बल्कि देश के आर्थिक विकास के लिए सहायक सिद्ध हो।

स्थूल रूप मे, एक अच्छी कर-पद्धति की चार सामान्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं :—

(I) करो के भार के वितरण मे समानता,

(II) कर-पद्धति की उत्पादकता (productivity),

(III) करदाताओ के अधिकारो तथा उनकी समस्याओ का मूल्यांकन, और

(IV) कर ढांचे मे अनुकूलता (adaptability) जिससे कि अर्थव्यवस्था की बदलती आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

(I) करो के भार के वितरण में समानता (Equality in the Distribution of Tax Burdens)

प्राचीन समय से ही साम्य (equity) अथवा न्याय (justice) को कराधान का एक सर्व स्वीकृत आदर्श माना जाता रहा है। साम्य अथवा समानता की समस्या के दो पहलू विचारणीय हैं। प्रथम, यह कि एक-सी परिस्थितियों मे रहने वाले व्यक्तियो के साथ उचित व्यवहार किया जाय। इस विषय मे नियम यह है कि "समान स्थिति वाले व्यक्तियो के साथ समान व्यवहार हो।" ऐसे सभी व्यक्तियों पर करो का भार समान मात्रा मे डाला जाना चाहिए जो कि एक-सी परिस्थितियो मे रहते हो। कराधान मे समानता का दूसरा पहलू (aspect) यह है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे रहने वाले व्यक्तियो के साथ ऐसा सापेक्षिक व्यवहार (relative treatment) हो जो वाछनीय कहा जा सके, अर्थात् यह कि जो अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में हैं उनसे अधिक कर लिये जायें और उन पर करो का भार भी अधिक हो। यद्यपि इन सब बातो के बारे मे सामान्य सहमति पाई जाती है, परन्तु अर्थशास्त्रियो तथा राजनीतिज्ञो मे इस विषय मे काफी मतभेद है कि व्यवहार मे कराधान में यह साम्य या समता कैसे लाई जाए? उदाहरण के लिए, प्रश्न यह है कि कराधान मे समता लाने वाले वास्तविक तत्व कौन-कौन से है? व्यवहार मे साम्य अथवा समता की यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाये? यह कार्य कर अदा करने की योग्यता के आधार पर किया जाये अथवा सेवा के लाभ की पद्धति के आधार पर? इन प्रश्नो पर पृथक् रूप मे अन्यत्र विचार किया गया है।

(II) कर-पद्धति की उत्पादकता (Productivity of the Tax System)

अच्छी कर-पद्धति का दूसरा तत्व है उत्पादकता। कराधान का मूल उद्देश्य राजस्व (revenue) प्राप्त करना है, यद्यपि इसमे कोई सन्देह नही है कि इसके नियामक (regulatory) तथा राजस्व-स्तर (non revenue) उपयोग भी किये जा सकते है। वास्तव में करो का उद्देश्य केवल राजस्व एकत्र करना ही नही है, बल्कि आय के पुनर्वितरण, अर्थव्यवस्था के स्थिरीकरण (stabilisation) तथा अल्पविकसित देशो मे अर्थव्यवस्था की उन्नति के लिए भी इनका प्रयोग किया जाता है। कर-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि जैसे-जैसे सरकार की आवश्यकताओ मे वृद्धि हो, करो के द्वारा निरन्तर अधिकाधिक आय प्राप्त होती रहे। पिछली कुछ दशाब्दियो (decades) में उन्नत (advanced) तथा विकासोन्मुख (developing) दोनो ही प्रकार के देशो का अनुभव यह रहा है कि बढते हुए सरकारी कार्यक्रमो की मांगो को पूरा करने के लिए साधनो की आवश्यकताओ मे भी वृद्धि ही हुई है। स्थिति यह है कि राजस्व के उपलब्ध साधनों पर निरन्तर दबाव पडता रहा है और इस बात के पूरे लक्षण विद्यमान है कि यह दबाव बराबर जारी रहेगा। विकासोन्मुख देशो मे आर्थिक प्रगति की सम्भावनाओ की दृष्टि से, कर-पद्धति मे उत्पादकता के तत्व को भारी महत्व प्रदान किया जाने लगा है।

करो की उत्पादकता से आशय केवल राजस्व की प्राप्तियो से ही नही है। कर-उत्पादकता के महत्वपूर्ण पहलू है—पर्याप्तता (adequacy), नियमितता (regularity) तथा लोचशीलता। एक अच्छी कर-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि जो अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे तथा नियमित रूप से कर-आय प्रदान करने के बारे मे आश्वस्त कर सके। करो की प्राप्तियो मे लोचशीलता भी होनी चाहिए। परन्तु उत्पादकता केवल एक सापेक्षिक

सरकार द्वारा गैर-सरकारी खर्च की कमी को दूर करने के लिये जो इस प्रकार की पद्धति अपनाई जाती है उसे सामान्यत. क्षतिपूरक व्यय (compensatory spending) कहा जाता है, और सर्वप्रथम, क्षतिपूरक व्यय एक सीमित पैमाने पर उस समय, जबकि राष्ट्रीय आय घट रही होती है, और बेरोजगारी बढ रही होती है, तथा इस आशा के साथ किये जा सकते हैं कि कम से कम और आगे तो इस गिरावट को रोका जा सके। दूसरे, क्षतिपूरक व्यय बड़े पैमाने पर इन आशाओं के साथ किये जा सकते हैं कि जिससे (क) माँग, उत्पादन तथा रोजगार मे होने वाली कमी को रोका जा सके और (ख) गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा किये जाने वाले व्यावसायिक पुनरुद्धार की ताकतों को बल प्रदान किया जा सके। इस दूसरे प्रकार के क्षतिपूरक व्यय को 'समुद्दीपन व्यय' (pump priming expenditure) भी कहा जाता है। क्षतिपूरक सरकारी व्यय के अन्तर्गत, गैर-सरकारी व्यय की कमी को पूरा करने के लिए सरकारी व्यय का उपयोग किया जाता है। जिससे आय के पूर्ण रोजगार-स्तर को बनाये रखा जा सके। ऐसी नीति अपनाने से विभिन्न समयो मे विभिन्न प्रकार के कार्य करने होते हैं। उदाहरण के लिए, मन्दी की अवधि मे, क्षतिपूरक व्यय के अन्तर्गत सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमो पर सरकार द्वारा भारी मात्रा मे खर्च किये जाते हैं। उसके पश्चात् सुधरती हुई स्थिति की अवधि मे, जबकि गैर-सरकारी विनियोग की मात्रा बढने लगती है, सरकारी खर्च की मात्रा शनै. शनै उसी अनुपात मे घटने लगती है जिस अनुपात मे कि गैर सरकारी खर्च की मात्रा बढती है, और अन्त मे, व्यावसायिक समृद्धि (business prosperity) तथा तेजी की अवधियो मे, जबकि वस्तुओ और सेवाओ की गैर-सरकारी मांग तजी से बढ रही होती है और यहाँ तक कि खतरनाक अनुपात मे, तो उस स्थिति मे सरकारी व्यय की मात्रा काफी कम कर दी जानी चाहिए जिससे कि बेशी (surplus) की स्थिति उत्पन्न हो जाए (अर्थात् सरकारी खर्च के मुकाबले कराधान की मात्रा अधिक हो)। अब हम विस्तृत रूप मे इस बात पर विचार करेंगे कि व्यावसायिक चक्रो (bussiness cycles) की ऊर्ध्वमुखी तथा अधोमुखी अवस्था (upward and downward phase) मे आर्थिक क्रियाओ के स्तर को प्रभावित करने के लिए सरकारी खर्च का उपयोग कैसे किया जा सकता है।

मन्दी की अवधि में (in a period of depression) सरकारी खर्च की एक समुचित नीति घाटे के बजट की होती है, अर्थात् चालू व्यय चालू आय से अधिक होना चाहिए। एक ओर तो सरकारी खर्च के द्वारा बेरोजगारो की सहायता करने के लिए निर्माण एव सहायता कार्यो की अधिकाधिक वित्तीय व्यवस्था की जाती है; दूसरी ओर, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के स्तर मे सामान्य गिरावट आने के कारण कर-आय की मात्रा भी स्वभावत ही कम हो जाती है। इस स्थिति मे, कराधान मे वृद्धि करना ठीक नही होता क्योकि उससे मन्दी की स्थिति और भी बिगडने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण यह है कि ऐसा कराधान वस्तुओ व सेवाओ की गैर सरकारी मांग की मात्रा को कम कर देता है।[3] इस प्रकार क्षतिपूरक व्यय का अनिवार्यतः यही अर्थ होता है कि घाटे का बजट बनाया जाए।

मन्दी की अवधि मे, क्षतिपूरक सरकारी खर्च की एक अन्य उल्लेखनीय बात यह होती है कि इसके लिए घाटे के धन की व्यवस्था कैसे की जाए। क्षतिपूरक व्यय की वित्तीय व्यवस्था करने के तीन सम्भावित तरीके होते हैं, अर्थात् अधिक कराधान, उधार तथा नई मुद्रा निर्माण। ऊँचे कराधान का पहला तरीका एक ऐसे समय मे सम्भव नहीं होता जबकि बेरोजगारी अधिक बढी हुई हो और आमदनियों के स्तर बहुत नीचे हो। जनता से उधार लेना उस समय तक तो ठीक होगा जब तक कि यह गैर-सरकारी खर्च से प्रतियोगिता न करे, परन्तु यह हो सकता है कि सरकार द्वारा लिये जाने वाले उधार से गैर-सरकारी उपभोग तथा विनियोग के लिए उपलब्ध धन की मात्रा मे कमी हो जाए। अन्त मे, सरकार धन प्राप्त करने के लिए देश के केन्द्रीय बैंक मे

3. यहाँ यह तर्क देना भी सम्भव है कि बचतो पर भारी कर लगा दिए जाएँ जिससे कि निसंचित धन (hoarded funds) गैर-सरकारी हाथो से हटकर सरकार के पास आ जाएँ और अन्त मे उन लोगो के पास पहुँच जाएँ जिनकी उपभोग की सीमान्त-प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) ऊँची होती है। परन्तु हमेशा ही ऐसा करना उचित नहीं होता है।

कुशल व्यवस्था करने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा दिये गये अनुदानो (grants) का उपयोग करें। ऐसा तब भी हो सकता है जबकि क्षेत्रीय नियोजन (regional plannig) इतनी सावधानी और ऐसी रीति से किया जाए कि पिछड़े क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से उन्नत हो जाएँ। उदाहरण के लिए, राजस्थान के क्षेत्र में परिवहन व सचार के साधनों का विकास होने से और इन क्षेत्रो मे पानी की सुविधाओं की व्यवस्था होने से तथा सरकार द्वारा कुछ महत्वपूर्ण उद्योग चालू किये जाने से गैर-सरकारी क्षेत्र को भी इस बात का प्रोत्साहन मिला है कि वह वहाँ अनेक उद्योग खोलें। इस प्रकार स्पष्ट है कि सरकारी खर्च का नियोजन यदि विवेकपूर्वक किया जाए तो यह विभिन्न क्षेत्रो के बीच साधनो का ऐसा अन्तरण कर सकता है जिससे कि पिछड़े क्षेत्रो की आर्थिक स्थिति मे निश्चित रूप से सुधार होगा और इस प्रकार उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा मे वृद्धि होगी।

अन्त मे, डाल्टन (Dalton) ने ऐसे देश का उल्लेख किया है जहाँ कि सरकार न केवल राजकोषीय नीति का उपयोग आर्थिक गतिविधियो को प्रभावित करने के लिये करती है, बल्कि अर्थव्यवस्था पर उसका पूरा अधिकार होता है; ऐसा तब होता है जबकि सरकार उत्पादन के सभी साधनो का राष्ट्रीयकरण कर देती है जैसा कि कम्युनिस्ट अथवा समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, गैर-सरकारी क्षेत्र मे सरकारी क्षेत्र की ओर को साधनो के अन्तरण का कोई प्रश्न उत्पन्न नही होता, अपितु उसमे तो सम्पूर्ण नियोजन तथा योजनाओ का कार्यान्वयन (execution) सरकार के ही हाथो मे होता है।

निष्कर्ष (Conclusion).

उत्पादन तथा रोजगार पर सरकारी खर्च के प्रभावो के प्रश्न के सम्बन्ध मे डाल्टन का निष्कर्ष यह है कि "जहाँ केवल कराधान को लिया जायेगा तो उससे उत्पादन अवरुद्ध होगा, और केवल सरकारी खर्च को लिया जायेगा वहाँ उत्पादन मे निश्चित वृद्धि होगी।"[2] यह स्पष्ट है कि यदि सरकारी खर्च का नियोजन लापरवाही से किया गया तो उससे निश्चित रूप से उत्पादन अवरुद्ध होगा परन्तु यदि सरकारी खर्च का नियोजन सावधानी के साथ किया गया तो उससे उत्पादन मे वृद्धि होगी।

सरकारी खर्च—एक क्षतिपूरक प्रतिक्रिया के रूप में
(Public Expediture as a Compensatory Mechanism)

सुस्ती तथा मन्दी (recession and depression) की अवधि में, उत्पादको तथा उपभोक्ताओ दोनो की ही प्रत्याशाओ (anticipations) मे कमी हो जाती है। उत्पादक की निजी माँग मे कमी हो जाने के कारण कीमतो मे गिरावट की तथा लाभो की मात्रा मे कमी की आशा करने लगते है। दूसरी ओर, उपभोक्ताओ को कीमतो के गिरने की आशा होती है। अत वे अपने उपभोग तब तक के लिए स्थगित करने की सोचते हैं जबकि कीमतें गिर कर और भी निम्न स्तर पर न आ जाएँ। निजी उपभोग मे तथा साथ ही साथ विनियोग के खर्चो मे कमी हो जाती है और बचत (saving) सचय (hoarding) करने की प्रवृत्ति बढने लगती है। इन परिस्थितियो मे, क्षतिपूरक व्यय के द्वारा व्यय की धारा (expenditure stream) मे काफी सरकारी धन इसलिये प्रवाहित कर दिया जाता है जिससे कि प्राइवेट खर्च की कमी के कारण माँग तथा आय मे होने वाली गिरावट को रोका जा सके। निजी खर्च मे जितनी अधिक कमी होती है और निसचय का रुझान (propensity to hoard) जितना अधिक होता है, क्षतिपूरक प्रक्रिया के रूप मे सरकारी खर्च की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, क्षतिपूरक कार्यवाही ऐसी होनी चाहिए कि वह कमियो को न्यूनतम करके गुणक प्रभावो (multiplier effects) को अधिकतम करे। फिर, एक बात यह है कि सरकारी खर्च केवल इसलिये ही नही किये जाते कि जिससे राष्ट्रीय आय मे गैर-सरकारी क्षेत्र की घटती मात्रा को रोका जा सके, बल्कि इसलिये भी कि जिससे अर्थव्यवस्था को सम्भालने एव सुधारने के लिये मूल प्रेरणा व प्रोत्साहन दिया जा सके।

---

2. Ibid, Page 162. "Whereas taxation taken alone, may check production, public expenditure taken alone sholud almost certainly increase it."

कारणों से, कुछ अमेरिकन लेखक यह पसन्द नहीं करते कि रोजगार का स्तर ऊँचा उठाने के लिए सरकारी खर्च का उपयोग किया जाए। तथापि, ये कमियाँ अनुभव द्वारा आसानी से दूर की जा सकती है अथवा कम तो की ही जा सकती है। अत यदि अर्थव्यवस्था चक्रीय मन्दी से ग्रस्त है तो सरकारी खर्च मे वृद्धि का उत्पादन बढाने तथा अधिक रोजगार मुहैय्या करने पर अनुकूल प्रभाव पडेगा।

व्यावसायिक चक्र की ऊर्ध्वमुखी अवस्था में क्षतिपूरक व्यय

(Compensatory spending during the upward phase of a Business Cycle)

प्रश्न यह है कि व्यावसायिक चक्र की ऊर्ध्वमुखी अवस्था मे सरकारी खर्च का योगदान क्या होना चाहिए ? हम यह मान लेते है कि निराशावाद ने ही आशावाद को जन्म दिया है और यह कि इस काल मे सभी ओर सामान्य वृद्धि की आशाएँ वर्तमान होती हैं। उपयोग तथा विनियोग व्यय बढ जाते हैं। अत इन परिस्थितियों मे सरकारी खर्च की व्यवस्था तथा उसका नियन्त्रण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि सामान्य तरीके से ही पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त किया जा सके।

जब अर्थव्यवस्था मन्दी के निम्न स्तर से वापिसी लौटती है और शनै शनै सुधार की ओर अग्रसर होती है, तो पिछली अवधि का क्षतिपूर्वक व्यय, जो काफी उच्चस्तर का होता है, जारी रहता है और एकदम समाप्त नही होता। अन्य शब्दो मे, सुधरती हुई अर्थव्यवस्था के काल मे व्यावसायिक क्रियाओ का जो विस्तार होता है, उसके कारण सरकारी खर्चो की एक दम समाप्ति आवश्यक नहीं होती। इसका एक कारण तो यह है कि कुछ सरकारी खर्च तो इस प्रकार के होते हैं (जैसे कि सडको अथवा बाँधो का निर्माण) कि उन्हे बीच मे ही एकदम समाप्त कर देना असम्भव होता है। दूसरे, सरकारी खर्च को एकदम समाप्त कर देने से अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है और उसके फलस्वरूप मन्दी की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। अन्य शब्दो मे, ऐसा कोई कार्य नही किया जाना चाहिए जिससे आशावादिता (optimism) खत्म हो अथवा व्यवसाय के क्रमिक विस्तार मे बाधा उत्पन्न हो। इस प्रकार, अर्थव्यवस्था के सुधार की प्रारम्भिक स्थिति मे, सरकारी खर्च की वृद्धि जारी रहती है और सरकारी बजट भी घाटे का ही रहता है।

जब अर्थव्यवस्था मे पर्याप्त सुधार हो जाए, तब सरकार को अपने खर्चों मे क्रमश कमी करनी चाहिये। धीरे-धीरे जैसे-जैसे खर्च घटता है, वैसे-वैसे (आय तथा रोजगार मे वृद्धि होने के साथ ही साथ) सरकार की आय भी बढती है और बजट सन्तुलित हो जाता है। जैसे ही अर्थ व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुँच जाए, सरकारी क्षतिपूरक व्यय को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहिए। सरकारी बजट बेशी (surpulus) का बनाया जाना चाहिए जिससे कि पहले ऋण का भुगतान किया जा सके। अर्थव्यवस्था के पूर्ण रोजगार की स्थिति मे पहुँचने के बाद भी, यदि सरकार अपने क्षतिपूर्वक व्यय मे कटौती करने मे असफल रहती है तो उससे विस्तार की प्रक्रिया (expansion process) मे बाधायें उत्पन्न हो जायेंगी, क्योंकि जब पूर्ण रोजगार का लक्ष्य प्राप्त कर लिया जाता है तो उत्पादन मे उपादानो (factors of production) के सभरण (supply) मे कमी उत्पन्न हो जाती है और इस स्थिति मे यदि सरकार उपलब्ध साधनो के लिए गैर-सरकारी क्षेत्र से प्रतियोगिता करती है तो उससे उनकी कीमतें ऊँची हो जाती है जिसके फलस्वरूप स्फीति सम्बन्धी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके साथ ही क्षतिपूरक व्यय द्वारा अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार की स्थिति पर स्थिर रख कर पूर्ण रोजगार की स्थितियाँ बनाई रखी जानी चाहिए और अर्थव्यवस्था को तेजी अथवा मन्दी की ओर बढने से रोकना चाहिए। अर्थव्यवस्था को तेजी की ओर जाने मे रोकने के लिए अपनाई जाने वाली क्षतिपूरक नीति (compensatory policy) जनता की माँग को सीमित रखने के लिए[4] अधिकतर कराधान पर निर्भर रहती है और अर्थव्यवस्था को मन्दी की ओर जाने से रोकने वाली क्षतिपूरक नीति कराधान एव सरकारी व्यय, दोनो पर ही जोर देती है।

4 क्षतिपूरक वित्त मे सरकारी ऋण के योगदान का विश्लेषण अगले अध्याय मे किया गया है।

अथवा वाणिज्य बैंकों से उधार ले सकती है। ऐसा उधार 'नये द्रव्य' के निर्माण की प्रकृति का होता है जो कि उन धनराशियों को कम नही करता जो गैर-सरकारी विनियोगकर्ताओं के लिए आवश्यक होता है। प्रत्येक स्थिति मे, क्षतिपूरक व्यय के अन्तर्गत घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) करनी होती है जिसका अर्थ हो सकता है या तो व्यक्तिगत बचतों के उधार अथवा बैंकिंग व्यवस्था द्वारा नये द्रव्य का निर्माण।

मन्दी काल मे क्षतिपूरक व्यय की एक तीसरी विशेषता यह होती है कि यह अधिकतम राष्ट्रीय आय की स्थिति उत्पन्न करता है, और यह भी गैर-सरकारी क्षेत्र के उद्योगो से प्रतियोगिता किये बिना ही। बेरोजगारी कम करने के लिए तथा बेरोजगारी के लिये सहायता की व्यवस्था करने के लिए, प्रथम चरण मे सरकार सहायता-कार्यो की योजनाओं (relief works schemes) पर जोर देती है। रोजगार की व्यवस्था करने तथा बेरोजगारो की सहायता करने के अलावा, ऐसा खर्च ऐसे लोगो के हाथो मे धन पहुँचाता है जिनका जीवन स्तर नीचा होता है और इसी कारण उनसे यह आशा की जाती है कि वे अपनी सारी की सारी आय को उपभोग मे लगा देगें। इन लोगो की सीमान्त उपयोग-प्रवृत्ति एक समान होती है और उसका गुणक प्रभाव (multiplier effect) असीमित होता है। इसके पश्चात्, सरकार दूसरे चरण मे कुछ ऐसी योजनाओं को हाथ मे लेती है जैसे कि रेलों, सडको तथा सचार व्यवस्था का निर्माण तथा सिंचाई व बिजली की प्रयोजनाएँ आदि, जो कि और अधिक विनियोग को प्रोत्साहन देकर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करती है। ऐसे क्षतिपूरक व्यय का लाभ यह होता है कि यह राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण मे वृद्धि करता है और विनियोग को और भी अधिक आगे बढ़ाता है।

अन्त में, सरकार द्वारा किये जाने वाले क्षतिपूर्वक व्यय के द्वारा विनियोगकर्त्ताओं (investors) तथा सामान्य जनता मे विश्वास उत्पन्न किया जाना चाहिए और स्थिति को बिगड़ने नहीं देना चाहिए यदि सरकार द्वारा हाथ मे लिए जाने वाले कार्यक्रम विविध प्रकार के नहीं है और वे लोग, जिन्होंने कि सरकारी बॉण्डों एव ऋणो के लिए धन दिया है, यदि सरकार की ऋण-वापिसी की सामर्थ्य के बारे में शकित रहते हैं तो क्षतिपूरक व्यय के कार्यक्रम व्यावसायिक विश्वास उत्पन्न नही कर सकते बल्कि उसमे और कमी ही करेंगे।

इस प्रकार, चक्रीय (cyclical depression) मन्दी की अवधि में गैर-सरकारी माँग मे कमी होने के कारण गैर-सरकारी खर्च मे कमी हो जाती है और उसके फलस्वरूप, उत्पादन, रोजगार तथा आय में भी कमी हो जाती है। क्षतिपूरक व्यय के सिद्धान्तों को लागू करके गैर-सरकारी व्यय की कमी को सरकारी खर्च के द्वारा पूरा किया जाता है। ऐसा इस मान्यता के आधार पर किया जाता है कि यदि सरकारी धन को काफी मात्रा मे आय की धारा (income-stream) मे प्रवाहित कर दिया गया तो मन्दी तथा बेरोजगारी के सामान्य रुख मे परिवर्तन हो जाता है और बिगडी हुई स्थिति सुधर जाती है। इसके अतिरिक्त, यह भी मान लिया जाता है कि इससे गुणक प्रभाव उत्पन्न हो जायेंगे और गतिशीलता का सिद्धान्त निश्चित रूप से लागू हो जायेगा इस रीति से, चक्रीय बेरोजगारी को तथा राष्ट्रीय आय की गिरावट को प्रभावपूर्ण तरीके से न केवल रोका जा सकता है बल्कि आय मे वृद्धि भी की जा सकती है।

परन्तु इसके बावजूद, अनेक राजकोषीय सिद्धान्तवेत्ताओं ने उन खतरो की ओर भी ध्यान दिलाया है जो कि उत्पादन बढाने तथा अधिक रोजगार मुहैय्या करने के लिए सरकारी व्यय उपयोग किये जाने में निहित हैं। सर्वप्रथम, यह हो सकता है कि सरकार के पास सार्वजनिक निर्माण की समुचित योजनाएँ न हो और अधिक रोजगार उपलब्ध कराने के नाम पर वह बेकार भी अनेक अनुपयोगी और प्रयोजनाओं को हाथ मे ले ले। दूसरे, यह भी हो सकता है कि वाणिज्यिक उद्यमों का सचालन करने मे सरकार पर्याप्त कुशल एव सिद्धहस्त न हो। तीसरे सरकार खर्च के लिए धन का प्रबन्ध यदि घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा किया गया तो उससे उस समय स्फीति सम्बन्धी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जबकि सरकार को इस बात का ज्ञान न हो कि जब अर्थव्यवस्था पूर्णरूप से सुधर जायें तो विनियोग की दर में किस प्रकार की कमी की जाए। कभी-कभी सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम ऐसी प्रकृति के होते हैं (जैसे कि सिंचाई बाँध) कि उन्हे एक बार आरम्भ करके बीच मे नही छोडा जा सकता। अन्त मे, सरकार द्वारा लिये जाने वाले ऋणो (borrowings) से सरकारी ऋण की मात्रा तथा उनके ब्याज आदि का खर्च बढ़ जायेगा। इन्ही

एवं अराजकता तथा पूँजी की अस्थिरता के कारण भी सेना तथा पुलिस पर भारी व्यय करने होते हैं। यह सत्य है कि राजनैतिक शान्ति आर्थिक प्रगति की एक अनिवार्य शर्त है परन्तु उस राजनैतिक शान्ति को बनाये रखने का मूल्य बहुत अधिक नहीं होना चाहिए। तीसरे, सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यय का—और विशेष रूप से सामान्य तकनीकी, दोनों ही प्रकार की शिक्षा का—आर्थिक उन्नति के लिये भारी महत्व है। कुछ लोग यह कहते हैं कि नये-नये स्कूल खोलना आर्थिक प्रगति का अंग नहीं है, परन्तु जब तक सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों एवं दृष्टिकोणों में समुचित परिवर्तन नहीं किया जायेगा तब तक आर्थिक विकास करना कैसे सम्भव हो सकता है। एक आयात की गई मशीनरी का क्या उपयोग है जब तक कि उसको चलाने के लिए तकनीकी जानकार न हों? अतः यह आवश्यक है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक खर्चों में वृद्धि की जाए।

अल्पविकसित देशों के विकास-व्यय के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् से इसमें काफी वृद्धि हुई है किसी विशेष देश में विकास खर्च में की गई वृद्धि पर्याप्त है या नहीं, और क्या यह सम्भव है कि अन्य प्रकार के खर्चों को इसलिए, सीमित कर दिया जाए जिससे कि विकास व्यय को बढ़ाया जा सके—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं कि प्रत्येक देश के लिए इनका उत्तर जानना आवश्यक है, और वह भी पृथक-पृथक देशों की विशेष राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों पर विचार करते हुए।

विकास-व्यय का रूप अथवा उसमें सम्मिलित बातें (Content of development Expenditure)

सरकार के विकास-व्यय का उद्देश्य होना चाहिए कि वह **गैर-सरकारी प्रेरणा एवं साहस** को प्रोत्साहन दे और उसका न्यूनतापूरक बने। यह सम्भव है और अल्पविकसित देशों की कुछ सरकारों ने ऐसा करने का प्रयत्न भी किया है। उन्होंने गैर-सरकारी क्षेत्र बिल्कुल समाप्त करके तथा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए सामूहिक रूप में योजना बनाने का प्रयास किया है। इसमें कुछ लाभ अवश्य है। परन्तु अधिकांश प्रेक्षक आर्थिक विकास के कम्यूनिस्ट प्रतिरूप को इसलिए पसन्द नहीं करते कि वह तीव्रगामी तो होता है परन्तु क्रूर तथा अमानवीय भी होता है। लोकतन्त्रीय ढाँचे के अन्तर्गत, जिसमें कि संसदीय संस्थाएँ कार्य करती हैं, जो गैर-सरकारी क्षेत्र के उन्मूलन पर नहीं, अपितु मिश्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना पर देना होगा जिसमें उद्यम (enterprise) को जीवित रहने के लिये न केवल कोई कष्ट ही नहीं करना होगा अपितु उसे और सक्रिय प्रोत्साहन दिया जायेगा और साथ ही साथ, सरकार विकास क्रियाओं की हितैषी तथा सक्रिय भागीदार बन जायेगी।

सर्वप्रथम, सरकार के विकास-व्यय का उद्देश्य गैर सरकारी प्रेरणा तथा साहस को प्रोत्साहन देना होना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रोत्साहन इस प्रकार दिया जा सकता है कि ऋणों (loans) उपादानों (subsidies) कर सम्बन्धी छूटों व रियायतों द्वारा बाजार सम्बन्धी तथा अन्य सूचनाएँ उपलब्ध कराकर और अनुसंधान की सुविधाएँ प्रदान करके गैर-सरकारी क्षेत्र की सहायता की जा सकती है। सरकार ऐसी विशेष बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थाओं की स्थापना कर सकती है जिनका मुख्य उद्देश्य मध्यम तथा दीर्घावधि के लिए नीची दरों पर वित्त प्रदान करना और इस प्रकार गैर-सरकारी क्षेत्र की मदद करना हो। अनेक अल्पविकसित देशों में, सरकार को एक ऐसी दृढ़ वाणिज्यिक एवं बैंकिंग व्यवस्था की स्थापना करनी होगी जिसमें सबसे ऊपर केन्द्रीय बैंक हो। ये सब वे प्रत्यक्ष तरीके हैं जिनके द्वारा गैर-सरकारी क्षेत्र की उसके विस्तार व विकास में मदद दी जाती है।

सरकार गैर-सरकारी क्षेत्र को परोक्ष प्रोत्साहन भी दे सकती है और वह सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रमों की व्यवस्था करके इन कार्यक्रमों में शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत आयेंगे और बिजली, परिवहन तथा संचार की व्यवस्था आदि दूसरे शीर्षक के अन्तर्गत। सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली इन सुविधाओं से गैर सरकारी क्षेत्र के उद्योगों को भारी मात्रा में लाभ अथवा उत्पादन सम्बन्धी किफायतें उपलब्ध होंगी। सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम एवं सुविधाओं का संचालन अत्यन्त आवश्यक है और आर्थिक प्रगति की यह एक अनिवार्य पूर्व-शर्त है। वास्तव में, ऐसे अनेक प्रमुख प्रेक्षक हैं जो यह चाहेंगे कि अल्पविकसित देशों की सरकारें केवल इन सुविधाओं को ही प्रदान करें और फिर शेष कार्य गैर-सरकारी क्षेत्र पर ही छोड़ दें।

यहाँ इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि व्यवसाय चक्र की ऊर्ध्वमुखी अवस्था मे सरकार द्वारा किये जाने वाले क्षतिपूरक व्यय को निम्न दो भागो मे बांटा जा सकता है :—

(क) अर्थव्यवस्था के सुधार के प्रारम्भिक चरण मे, क्षतिपूरक व्यय मुख्यत. घाटे की स्थिति का होगा यद्यपि सरकारी खर्च की मात्रा क्रमश कम होती जायेगी;

(ख) व्यावसायिक सुधार एव समृद्धि के बाद के चरण मे मुख्यत बेशी का बजट बनाया जाता है जिससे कि अर्थव्यवस्था तेजी की ओर बढ जाए और कीमतो मे अत्याधिक वृद्धि न होने लगे।

सन् १६३० की महान मन्दी (great depression) अवधि मे सरकारी खर्च के उपयोग के सम्बन्ध मे जो अनुभव प्राप्त हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि क्षतिपूरक व्यय केवल तभी सफल हो सकता है जबकि सरकारें उनका समुचित उपयोग करने मे पूरी सावधानी बरतें। सर्वप्रथम, मन्दी की अवधि मे, क्षतिपूरक व्यय के साथ-साथ कराधान मे वृद्धि नही होनी चाहिए। दूसरे, केन्द्रीय बैंक की मुद्रा सम्बन्धी नीति (monetary policy) का उपयोग सरकार की राजकोषीय नीति (fiscal policy) की कमियो को दूर करने के लिए किया जाना चाहिए अर्थात् केन्द्रीय बैंक को ब्याज की नीची दरें बनाये रखनी चाहिए और बडी मात्रा ऐसे सुरक्षित कोष रखने चाहिए जिनमे से कि सरकार उधार ले सके। तीसरे, सरकारी प्राधिकारियो को सहायता कार्यो (relief works) तथा साथ ही साथ, अर्थव्यवस्था के सुधार के कार्यक्रमो, दोनो पर ही जोर देना चाहिए। चौथे, सरकार के पास ऐसी सुविचारपूर्ण योजनायें तैयार रहनी चाहिए कि जैसे ही और जब भी बेरोजगारी का स्तर बढ़े, उनको लागू किया जा सके। पांचवें, व्यावसायिक सुधार की प्रक्रिया मे सरकार को निजी क्षेत्र की सहायता करनी चाहिये और गैर-सरकारी आर्थिक गतिविधियो मे कोई बाधा नही उत्पन्न करनी चाहिये। अन्त मे, सरकार क्षतिपूरक व्यय के योगदान के बारे मे बिल्कुल स्पष्ट होनी चाहिये, कही ऐसा न हो कि वह इसको गैर-सरकारी व्यय का स्थानापन्न (substitute) मात्र समझ ले।

सरकारी खर्च तथा आर्थिक उन्नति
(Public Expenditure and Economic Growth)

जान एडलर (John Adler) के अनुसार, अतिरिक्त उत्पादन का अधिकाधिक भाग पूंजी के निर्माण मे लगाना चाहिये जिससे की एक अल्पविकसित देश की आर्थिक प्रगति की रफ्तार तेज की जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये, सरकारी बजट मे तीन प्रकार के परिवर्तन किये जाने चाहिये। सर्वप्रथम, सरकारी बजट मे वृद्धि की जानी चाहिये ताकि अतिरिक्त उत्पादन का अधिकाधिक अनुपात विकास-कार्यों के लिये उपलब्ध हो सके। दूसरे, सरकारी आय का अधिकाधिक अनुपात विकास-कार्यों के लिये उपलब्ध हो सके। तीसरे, सरकारी आय का अधिकाधिक अनुपात विकास के खर्चो की वित्तीय व्यवस्था के लिये काम मे लाया जाना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक उन्नति की प्रक्रिया मे सरकारी खर्च को एक महत्वपूर्ण भाग अदा करना होता है।

खर्चों मे परिवर्तन (Changes in Expenditure)

यदि विकास कार्यो पर अधिकाधिक मात्रा मे सरकारी खर्च किया जाना आवश्यक है, तो अन्य खर्चो की वृद्धि की दर मे भी काफी कटौती की जानी चाहिए। सर्वप्रथम तो, ऐसे प्रयत्न किये जाने चाहिए कि जिससे प्रशासन को कसा जा सके जो कि अधिकाश अल्पविकसित देशो मे अनावश्यक रूप से विस्तृत, अकुशल तथा सुस्त पाया जाता है। यह सभव हो सकता है कि प्रशासन के कार्य की गति तेज की जाये, उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि की जाये और उसमे से अनावश्यक तत्वों को निकाल फेंका जाये तथा इस प्रकार उसकी उत्पादिता (productivity) मे वृद्धि कर दी जाये। प्रशासनिक खर्चों मे यदि कटौती नही की जा सकती, तो उनको स्थिर अवश्य रखा जा सकता है और इस प्रकार प्रशासन की उत्पादिता मे और वृद्धि की जा सकती है। दूसरे, भारत जैसे अनेक अल्पविकसित देश अपनी कर-प्राप्तियो का एक बडा भाग प्रतिरक्षा (defence) पर व्यय करते हैं, जबकि वह आर्थिक विकास मे लगाया जाना चाहिए। कुछ मामलो मे, कुछ अल्पविकसित देश अत्यधिक प्रतिरक्षा व्यय करने को विवश हो जाते है। कुछ देशो मे, आन्तरिक अशान्ति

साधनों पर भी निर्भर होता है क्योंकि इन साधनों से ही इस बात का पता चलता है कि प्रयोजनाएँ (projects) किस प्रकार की हैं और यह कि निर्धारित समय में वे पूरी भी हो सकती हैं या नहीं। तीसरे, प्राथमिकता-निर्धारण में इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि कोई प्रयोजना देश की विदेशों पर निर्भरता को किस सीमा तक कम करेगी। परन्तु अन्तत प्राथमिकता-निर्धारण की समस्या का हल "गणना (calculation) की बजाय मूल्यांकन (assessment) से" अधिक सम्बन्धित है। ऐसा इसलिए है क्योंकि विभिन्न योजनाओं की निबल प्राप्तियों (net yeild) की गणना करना बड़ा कठिन है।

इसी से सम्बन्धित एक प्रश्न यह है कि अर्थव्यवस्था के किस क्षेत्र में विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता प्रदान की जाए ? इस सम्बन्ध में जहाँ कुछ लोग भूमि सम्बन्धी क्षेत्र (agrarian sector) तथा निर्यातों के विकास पर जोर देते हैं, वहाँ दूसरे लोग गौण तथा तृतीय श्रेणी के क्षेत्रों के विकास के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। एक तीसरा, दृष्टिकोण भी है जो सम्भवत: पहले दोनों से ही अधिक महत्वपूर्ण है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सभी क्षेत्रों (sectors) पर समान जोर दिया जाना चाहिए जिससे कि सन्तुलित रूप से विकास हो सके। डब्लू० ए० ल्यूइस (W A Lewis) ने सन्तुलित विकास के पक्ष में ही अपना मत दिया है। उनके शब्दों में, "विकास कार्यक्रमों में, अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का साथ-साथ ही विकास होना चाहिये जिससे कि उद्योग तथा कृषि के बीच और घरेलू उपभोग के लिये उत्पादन तथा निर्यात के लिये उत्पादन के बीच समुचित सन्तुलन बनाया जा सके।"[6]

निष्कर्ष (conclusion) ·

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सरकारी खर्च पूँजी-निर्माण तथा आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। यह गैर-सरकारी निवेश को प्रोत्साहन देता है और उसका उपयोग प्राय उसकी कमियाँ पूरी करने के लिए भी किया जाता है।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1	H Dalton	Public Finance
2	Philips E Taylor	The Economics of Public Finance, Chapters V and VI
3	Hugh Dalton	Public Finance, Chapters XVIII-XX
4	John Due	Government Finance, Chapter XX III
5	Van Philips	Public Finance in Less Developed Countries Chapter VI.
6	W A Lewis	The Theory of Economic Growth

UNIVERSITY QUESTIONS

१. सार्वजनिक व्यय के उत्पादन तथा रोजगार पर प्रभावों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the economic effects of public expenditure on production and employment

२. व्यापार चक्र के समय सार्वजनिक व्यय के क्षतिपूरक कार्य को समझाइए।
   Discuss the role of public expenditure as a compensatory mechanism during business cycles.

---

6 W. A. Lewis The Theory of Economic Growth, p, 274. "In Development programmes, all sectors of the economy should grow simultaneously, so as to keep a droper balance between industry and agriculture, and between production for home consumption and production for export." इस विवाद का विवेचन इस पुस्तक के चौथे अध्याय में पहले भी किया जा चुका है।

पर इसके बावजूद कुछ ऐसे उद्यम (enterprises) भी है जिन्हे संभव है गैर-सरकारी क्षेत्र (private sector) अपने हाथ मे न लेना चाहे, या तो इस कारण क्योकि उनमे लाभ की गु जाइश या तो बिल्कुल नही है अथवा थोडी है, या इस कारण क्योकि उनमे बडी मात्रा मे पूंजी निवेश करना पड़ता है और उसका प्रतिफल मिलने मे काफी समय लगता है। कुछ मामलो मे, ये उद्यम, हो सकता है कि वाणिज्यिक दृष्टिकोण से गैर-सरकारी क्षेत्र को न भाते हो परन्तु समाज के आर्थिक कल्याण तथा आर्थिक विकास की दृष्टि से उनका भारी महत्व हो सकता है। इस वर्ग मे समस्त मूलभूत तथा आधार भूत उद्योग, सिचाई साधनों का विकास तथा अणुशक्ति उद्योग आदि सम्मिलित है। वास्तव मे, ऐसा प्रत्येक उद्योग जो देश के लिए आवश्यक हो और जो अर्थव्यवस्था के विकास मे सहायक हो, सरकार द्वारा अपने हाथ मे लिया जा सकता है। परन्तु उद्देश्य यह है कि सरकारी क्षेत्र गैर-सरकारी क्षेत्र का प्रतियोगी न बने बल्कि उसका अनुपूरक एव सहायक बने।

सरकारी खर्च तथा चक्रीय उतार-चढ़ाव (Public Expenditure and Cyclical Fluctuations)

एक अल्पविकसित देश मे सरकारी खर्च की योजना इतनी सतर्कता से बनाई जानी चाहिये कि वह एक विवेकपूर्ण प्रतिचक्रीय राजकोषीय नीति (deliberate anticyclical fiscal policy) के एक अग के रूप मे कार्य कर सके। **मन्दी की अवधियो में विकास-कार्यक्रम तेजी से लागू किए जाएं और व्यावसायिक तेजी (*business boom*) के काल में उनमें कमी कर दी जाए।** जैसा कि वेन फिलिप्स (Van Philips) का कहना है, "इस नीति के प्रत्यक्ष प्रभाव का पता कुल प्रभावी माग (total effective demand) से नही चलता बल्कि (सरकारी तथा गैर-सरकारी) पूंजीगत वस्तुओ की उस मात्रा से चलता है जो कि सरकारी क्रियाओ के फलस्वरूप अधिक मात्रा मे निरन्तर बढती रहती है, बमुकाबले उसके जबकि उसे चक्रीय उतार-चढावो के भँवर मे छोड दिया जाता। इस प्रकार सरकार लगातार निवेश की क्रियाओ मे हिस्सा लेती है, और मन्दी के दिनो मे और भी अधिक मात्रा मे, जबकि स्वय को अर्थव्यवस्था के ऊर्ध्वमुखी विकास तक ही सीमित करके यह गैर-सरकारी निवेशो मे वृद्धि की गु जाइश छोड देती है।"[5]

परन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना भी उचित है कि यदि कोई अल्पविकसित अर्थव्यवस्था स्वय को कठोर नियोजन (strict planning) तक ही सीमित रखती है तो कुछ सीमा तक यह चक्रीय उतार-चढावो की उन शक्तियो से अलग-अलग जा पडेगी जो कि बाहर से उत्पन्न होती है। विभिन्न विकास कार्यक्रमो के समय केवल सही नियोजन की आवश्यकता ही नहीं, अपितु उद्देश्य यह होना चाहिये कि सरकारी खर्च के द्वारा अर्थव्यवस्था का एक स्थायी एव सन्तुलित विकास किया जा सके।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कम विकसित देशो की आर्थिक प्रगति मे विकास-व्यय का भारी महत्व है। इसके अतिरिक्त, विकास-व्यय की केवल मात्रा का ही नहीं, अपितु उनकी प्रकृति (nature) का भी बहुत महत्व है।

विकास खर्च मे प्राथमिकताएं (Priorities in Development Expenditure).

एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था का मूलभूत लक्ष्य यह होता है कि वह किसी भी प्रकार के स्थायी एव सन्तुलित विकास के लिए कार्य करे, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न विकास प्रयोजनाओ के बीच प्राथमिकता-निर्धारण (priority determination) मूलभूत उद्देश्यो पर निर्भर होता है, अन्य स्थितियाँ समान रहने पर प्राथमिकता-निर्धारण सन्तुलित विकास की अधिकतम दर की गारण्टी देता है। दूसरी ओर, प्राथमिकता का निर्धारण उपलब्ध

---

5. Van Philips. Public Finance in Less Developed Countries, p 97. "The direct impact of this policy is not formed by total effective demand but by the volume of capitol goods (private as well as public) which as a result of government activity will show on balance a more continuous increase than if it were left to cyclical fluctuations. The government thus continuously takes part in investment activity, to a larger extent during a depression, while by restricting itself in the upswing, it leaves room for the increase in induced private investment."

१७

सरकारी अथवा सार्वजनिक ऋण
(Public Debt)

प्रारम्भिक : सरकारी अथवा सार्वजनिक ऋण का अर्थ (Meaning of Public Debt) ·

सरकारी ऋण आधुनिक काल की देन है। जब सरकार अपने देश अथवा विदेश से ऋण लेती है तो उसे सरकारी ऋण अथवा सार्वजनिक ऋण कह्ते हैं। किसी देश की सरकार को विभिन्न कार्यों का निष्पादन करना पडता है। इन कार्यों के लिए बडी मात्रा मे साधनों की आवश्यकता पडती है। सरकारी ऋण भी सरकार की आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। डा० डाल्टन (Dalton) के अनुसार, "सरकारी अधिकारियो की आय का साधन सरकारी ऋण भी है।"[1] १८ वीं शताब्दी से पूर्व तो इसका नाम भी नही सुना जाता था। प्राचीन अर्थशास्त्री सरकारी ऋण को बुरा मानते थे। प्रो० बेस्टेबल के अनुसार, "जिस प्रकार एक व्यक्ति हमेशा ऋण की सहायता से अपना काम नही चला सकता है उसी प्रकार सरकार भी हमेशा ऐसे साधनो से काम नही चला सकती है"। एडम स्मिथ के शब्दो मे, "सरकारी ऋण से व्यर्थ के व्यय, व्यर्थ के युद्ध तथा बुरी आर्थिक परिस्थितियां उत्पन्न होती है।" किन्तु वर्तमान समय मे, राज्य द्वारा लिया जाने वाला ऋण (borrowing) सरकारी वित्त की प्राप्ति के कर व शुल्क जैसे अन्य साधनो के साथ ही एक सामान्य साधन बन गया है। सरकार बैंको, व्यवसाय गृहो तथा अन्य सगठनो व व्यक्तियो से ऋण ले सकती है। यही नही, यह देश के अन्दर से अथवा देश के बाहर से भी ऋण ले सकती है। सरकारी ऋण आमतौर पर बॉण्डो के रूप मे (अथवा यदि ऋण थोडे समय के लिए ही चाहिए तो राजकोष पत्र के रूप मे) हुआ करता है। ये बॉण्ड एक प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र हैं जिनमे सरकार इनके धारको (holders) से यह वायदा करती है कि वह उन्हे मूलधन तथा स्वीकृत दर से ब्याज की अदायगी करेगी।

सरकारी ऋण बनाम कराधान—एक तुलनात्मक अध्ययन
(Government Loans Verses Taxation—A Comparision)

कर तथा सरकारी ऋण (यहां हमारा आशय केवल आन्तरिक ऋण से ही है) मे कुछ समानताएं पाई जाती है। दोनो का ही निर्गम स्थान सामान्य जनता है। दोनो के ही मामलो मे, देश मे द्रव्य (money) की मात्रा समान रहती है, कर अथवा ऋण, दोनो ही के द्वारा सरकार की आय मे उतनी ही वृद्धि होती है जितनी जनता के पास उपलब्ध धन मे कमी होती है।

---

1. "One method by which a public authority may obtain income is by borrowing" *Dalton*

३. देश की आर्थिक उन्नति के क्षेत्र मे सार्वजनिक व्यय के योगदान की विवेचना कीजिये।

Discuss the role of public expenditure in the field of economic growth in a country.

४. उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावो की पूर्णत: विवेचना कीजिये। डा० डाल्टन के इस कथन से आप कहाँ तक सहमत है कि सार्वजनिक व्यय की उचित नीति उत्पादन को बढाती है ?

Fully discuss the effects of public expenditure on production. How far do you agree with the view of Dr. Dalton that a wise policy of public expenditure increases production ?

५. आप इस कथन से कहाँ तक सहमत है कि सार्वजनिक व्यय की उचित नीति से समाज का आर्थिक कल्याण बढता है ?

How far do you agree that wise policy of public expenditure advances economic welfare of society ?

६. यह बतलाइए कि रोजगार स्थायित्व के लिए सार्वजनिक व्यय की नीति का उपयोग कैसे किया जा सकता है।

Show how public expenditure policy be used to stabilise employment.

(relative) विचार है क्योंकि मन्दी के काल मे ऐसा समय भी आ सकता है कि कर-राजस्व मे स्थिरता केवल तभी लाई जा सके जबकि करदाता पर अत्यधिक कष्टकारक प्रभाव पड़े और सामान्य अवस्फीति सम्बन्धी प्रभावो (deflationary effects) मे वृद्धि हो।

सम्पूर्णरूप मे कर-पद्धति को छोड़कर, अब हमे पृथक् रूप से करो की उत्पादकता के बारे मे भी कुछ विचार करना चाहिए। किसी भी कर से प्राप्त होने वाले राजस्व की मात्रा अनेक बातों पर निर्भर होती है, जैसे कि कराधार (tax base), कर की दर, करो मे दी जाने वाली विभिन्न छूटें (exemptions), कर प्रशासन की कार्य-कुशलता और विशिष्ट करदाताओं की मनोदशा। सीमित आधार (restricted base) वाले करो, जैसे कि अत्यन्त ऊँची आय अथवा असाधारण रूप से बड़ी सम्पदा (estate) अथवा महँगी विलास वस्तुओ आदि पर लगाये जाने वाले करो मे राजस्व-उत्पादकता पाई जाती है चाहे उनकी दर कुछ भी हो। साथ ही, ऐसे कर, जिनको लागू करना कठिन होता है अथवा जिनके बारे मे करदाताओं की ओर से प्रतिरोध का सामना करना होता है, अत्यधिक असन्तोषजनक होते हैं और उनसे प्राप्त होने वाली आय भी कम हो जाती है। अतः यह आवश्यक है कि सार्वजनिक सत्ता जब भी एक अच्छी कर-पद्धति के ढांचे का निर्माण करे, उसे अत्यन्त सावधानी के साथ, सम्पूर्ण रूप मे केवल कर-पद्धति पर ही नही बल्कि पृथक् पृथक् प्रत्येक कर पर भी विचार करना चाहिए।

(III) करदाताओ के अधिकार तथा उनकी समस्याओ का मूल्यांकन (Appreciation of the rights and problems of the Tax-payers)

एक अच्छी कर-पद्धति के लिए यह भी आवश्यक होता है कि वह करदाताओ के हितो की रक्षा का ध्यान रखे। लोकतन्त्रीय ढांचे मे करदाताओ के अधिकारो को निरन्तर दृष्टिगत रखना होता है। इसके अतिरिक्त कराधान के वर्तमान स्तर तथा उससे की जाने वाली भावी आशाओ ने यह आवश्यक बना दिया है कि करदाताओं के हितो (interests) तथा अधिकारो को पर्याप्त मान्यता प्रदान की जाय। उन करदाताओ के निहित अधिकारो को छोड़कर, जो कि सरकारी कार्यों का समर्थन करते हैं, यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि सभी करदाताओ का नैतिक स्तर (morale) ऊँचा हो क्योंकि ऐसा होने पर ही कर-सम्बन्धी कानूनो को प्रभावपूर्ण ढग से लागू किया जा सकता है। करदाताओ की समस्याओ को बुद्धिमतापूर्ण ढग से निपटाने के लिये यह आवश्यक होगा कि सार्वजनिक सत्ता (public authorities) निम्न बातो की व्यवस्था करे —

(क) वह किसी भी कर से सम्बन्धित कार्यवाहियो के बारे मे करदाताओ को अधिक से अधिक जानकारी देने के लिए पग उठाये,

(ख) करो की अदायगी तथा करो के सग्रह से सम्बद्ध हस्तक्षेप (interference) तथा असुविधा को न्यूनतम करने का प्रयास करे, और

(ग) करदाता की शिकायतो पर शीघ्रता के साथ उचित कार्यवाही करने की व्यवस्था करे।

इसमे जहाँ तक प्रथम पहलू का सम्बन्ध है, यह नितान्त आवश्यक है कि कर सम्बन्धी कानून सरल हों और उनकी मूलभूत धाराएँ तथा उनके नियम ऐसे हो कि एक सामान्य व्यक्ति भी उनको आसानी से समझ सके। दूसरे पहलू के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि करो के भुगतान का असुविधाजनक समय तथा असुविधाजनक तरीके, इसके बावजूद कि करदाता कर अदा करना चाहता हो, उसको अत्यधिक उत्तेजित करने वाले सिद्ध हो सकते हैं। कर-पद्धति की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि उत्तेजना (irritation) तथा रोष (resentment) उत्पन्न करने वाले कारणो को न्यूनतम (minimum) किया जा सके। अन्त मे, कर सम्बन्धी दायित्वो (tax obligations) को सभी करदाताओ पर सम-न्यायपूर्ण रीति से लागू करने से यह हो सकता है कि कुछ असुविधा तथा हस्तक्षेप की स्थिति उत्पन्न हो जाय। वास्तविकता यह है कि करों को लागू करने का कार्य बड़ा कठिन एव कष्टप्रद (irksome) कार्य है और इसको सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए बड़े चातुर्य (tact), शिष्टाचार (courtesy), निर्णयक्षमता तथा कर की चोरी (tax evasion) की दिशा मे निरन्तर सतर्कता (continuous vigilance) की आवश्यकता होती है।

तथापि, जहाँ कर की किसी भी वर्ग या व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से वापिस अदायगी नही की जाती, वहाँ ऋण की रकम ऋणदाताओं (lenders) को अर्थात् सरकारी बॉण्डो के धारकों को वापिस करनी पड़ती है। परन्तु ऋण की वापिसी की स्थिति मे भी, देश मे द्रव्य की मात्रा मे कोई परिवर्तन नहीं होता क्योंकि जो कुछ लोगो को अदा किया जाता है, वह लोगो से ही प्राप्त किया जाता है। फिर, कर चालू आय मे से अदा किया जाता है अतः यह पहले उपभोग को प्रभावित करता है और तत्पश्चात् बचत को। किन्तु कर्ज या तो बचत मे से दिया जाता है अथवा पूँजी मे से; अतः यह उपभोग को प्रभावित नहीं करता बल्कि बचत को प्रभावित करता है।[2]

सरकारी तथा गैर-सरकारी ऋण की तुलना (Comparision between Public and Private Debt) :

गैर-सरकारी अथवा निजी ऋण (Private borrowing) तथा सरकारी ऋण (public borrowing) के बीच अनेक समानताएं तथा असमानताएं पाई जाती है। प्राइवेट व्यक्ति और व्यवसाय गृह (business houses) उधार लिये गये धन का उपयोग कुछ साधनों की प्राप्ति के लिए करते हैं। अत: निजी ऋण के द्वारा धन का एक किस्म के उपयोग से दूसरे उपयोग की ओर को स्थानातरण हो जाता है, फलस्वरूप एक उपयोग (use) को दूसरे उपयोग के लिए त्याग करना पड़ता है। इसी प्रकार, सरकारें भी धन उधार लेती हैं और उनका उपयोग कुछ साधनों की प्राप्ति के लिए करती है। वास्तव मे, सरकारी ऋण का अर्थ है उन उत्पादकीय उपयोगों (productive uses) का, जिन्हें कि गैर-सरकारी क्षेत्र पसन्द करता है, उन उपयोगों के लिए त्याग (sacrifice) करना जिन्हे कि सरकार पसन्द करती है। इस प्रकार, मूलतः, सरकारी तथा गैर-सरकारी उधार से धन का एक उपयोग से दूसरे उपयोग की ओर को स्थानान्तरण होता है।

फिर, एक प्राइवेट उधार लेने वाला (private borrower) ऋण को अदायगी उस समय तक नही कर सकता जब तक कि वह अपने उधार की धनराशि का लाभप्रद रीति से उपयोग न कर ले। इसी प्रकार, सरकार भी अपने उधार को लाभकारी अथवा उत्पादकीय योजनाओं मे लगा देती है जिससे कि बाद मे उस सरकारी ऋण की वापिसी का प्रबन्ध हो सके।

जब कोई व्यक्ति उधार लेता है तो वह उस रकम को अपने लिये ही खर्च करता है किन्तु जब सरकार उधार लेती है तो वह उस धन का उपयोग सम्पूर्ण समाज के लिए करती है। फिर, जब कोई व्यक्ति अपना ऋण वापिस करता है तो उसकी वापिसी का भार वह स्वयं ही उठाता है किन्तु जब सरकार अपने ऋण की अदायगी करती है तो वह कराधान के द्वारा होती है, अर्थात् उसका भार सम्पूर्ण समाज अथवा राष्ट्र द्वारा उठाया जाता है। परन्तु यहाँ रुचिकर बात यह है कि उधार देने वाला (lender), जो कि सरकार से ऋण की अदायगी प्राप्त करता है, उस अदायगी के लिए करो के रूप मे स्वय अशदान भी देता है।

गैर-सरकारी ऋण मे, उधार देने वाला उधार देते समय धन का त्याग करता है और उधार लेने वाल व्यक्ति (borrower) द्वारा खर्च किये गये धन से उसे कोई लाभ नही पहुँचता। दूसरी ओर, सरकारी ऋण मे, चूँकि सरकार द्वारा उधार लिया गया धन सम्पूर्ण रूप मे (as a whole) समाज के लिए खर्च कर दिया जाता है अत- उससे उधार देने वाले (lender) को भी लाभ पहुँचता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि जब कोई व्यक्ति सरकार को उधार देता है तो वह स्वय को ही उधार देता है।

इस प्रकार, यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि जो व्यक्ति सरकार को उधार देता है वह अच्छी स्थिति मे भी रहता है और साथ ही साथ बुरी स्थिति मे भी। अच्छी स्थिति मे इसलिए रहता है क्योंकि उसे सरकार द्वारा खर्च किए धन का लाभ प्राप्त होता है, और बुरी स्थिति मे इसलिये रहता है क्योंकि उसे मूलधन की वापिसी तथा ब्याज की अदायगी में स्वयं भी हिस्सा लेना पड़ता है। इस प्रकार, सरकारी तथा गैर-सरकारी ऋण मे मूलभूत अन्तर पाया जाता है।

---

2. कर तथा कर्ज की तुलना, जहाँ तक उनके प्रभावों का तथा उन्हे विकास वित्त के साधनो के रूप मे अपनाने का सम्बन्ध है, इसी अध्याय मे अन्यत्र की गई है।

सरकारी तथा गैर-सरकारी उधार मे अन्य भी कई महत्वपूर्ण अन्तर हैं। जहां सरकार समस्त विश्व मे कही से भी उधार ले सकती है, एक प्राइवेट व्यक्ति अथवा निगम केवल देश के अन्दर से ही उधार ले सकता है। फिर, एक व्यक्ति उत्पादन कार्यों के लिए भी उधार ले सकता है और उपभोग कार्यो के लिए भी, किन्तु इसके विपरीत, सरकार सामान्यत: केवल उत्पादकीय कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था के लिए ही उधार लेती है। इसके अलावा, सरकारी ऋण के मुकाबले गैर-सरकारी ऋण के ब्याज की दर साधारणतया ऊँची होती है क्योकि व्यक्तियो के मुकाबले सरकार की साख तथा ऋणवापिसी की क्षमता अधिक होती है।

सरकारी ऋण का वर्गीकरण
(Classification of Public Debt)

सरकारी ऋण का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है, यद्यपि सभी वर्गीकरण समान रूप से लाभदायक नही है। एक अत्यन्त सामान्य एव प्रचलित वर्गीकरण के अनुसार सरकारी ऋण को आन्तरिक ऋण तथा बाह्य ऋण (internal and external debt) के रूप मे बाँटा जाता है। आन्तरिक ऋण उस सरकारी ऋण को कहते हैं जो देश के अन्दर से ही लिया जाता है, जबकि बाह्य ऋण विदेशी सरकारों, विदेशी व्यक्तियों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ के प्रति देश की देनदारियों अथवा दायित्वो (obligations) का सूचक होता है। यद्यपि आजकल बाह्य ऋण बहुत प्रचलित होता जा रहा है, किन्तु फिर भी इसके विरुद्ध सामान्य पूर्वाग्रह (prejudice) पाया जाता है जो कि अज्ञानता एव दोषपूर्ण आर्थिक विचारो पर आधारित है।

सरकारी ऋण का एक और वर्गीकरण भी है जो कि कभी बहुत प्रचलित था; इसके अनुसार सरकारी ऋण के उत्पादक ऋण (productive debt) तथा फलहीन ऋण (Dead weight debt) के रूप मे दो भेद किए जाते हैं। सरकारी ऋण को उत्पादक तब कहा जाता है जबकि उस ऋण के विनियोग से इतनी आय हो जाती है जिससे कि ऋण के केवल वार्षिक ब्याज को ही नही चुकाया जाता, अपितु जिससे दीर्घकाल मे मूलधन (principal) की वापसी मे भी सहायता मिलती है, सरकारी ऋण एक अन्य अर्थ मे उत्पादक भी कहा जा सकता है। सरकार कर्ज लेकर कुछ ऐसी प्रायोजनाओ (projects) को चालू कर सकती है जो कि हो सकता है ऊपर जैसे अर्थो मे उत्पादक न हो परन्तु वे राष्ट्र के लिऐ वास्तव मे बडी उपयोगी हो सकती हैं, उदाहरण के किए, पिछडे क्षेत्र को जोडने वाली एक रेलवे लाइन, किसी क्षेत्र मे अकाल की स्थिति को रोकने के लिए सिचाई योजना आदि। इस अर्थ मे, अधिकाश सरकारी ऋण उत्पादक होते हैं। परन्तु सरकारी ऋण युद्ध की वित्तीय व्यवस्था के लिए भी किया जा सकता है। ऐसा ऋण अनुत्पादक (unproductive) होता है क्योकि इससे किसी परिसम्पत्ति (asset) का निर्माण नही होता; यही ऋण फलहीन ऋण है अथवा समाज पर एक व्यर्थ का भार है।

परिपक्वता (maturity) के आधार पर, सरकारी ऋण का वर्गीकरण प्रतिदेय तथा अप्रतिदेय ऋण (Redemable and Irredeemable debt) के रूप मे भी किया जाता है। प्रतिदेय ऋण वे ऋण होते हैं जिन्हे कि सरकार भविष्य मे एक विशिष्ट तिथि को भुगतान का वायदा करती है, ऐसे ऋण मियादी ऋण (terminable debts) कहलाते हैं। अप्रतिदेय ऋण उस ऋण को कहा जाता है जिनके भुगतान के सम्बन्ध में कोई वायदा नही किया जाता। परन्तु सरकार यह वायदा अवश्य करती है कि वह उनके ब्याज का भुगतान नियमित रूप से करती रहेगी। इन ऋणो को बेमियादी ऋण (perpetual debt) कहा जाता है। प्रतिदेय ऋणो का अल्पावधि तथा दीर्घावधि ऋण (short period and long period loans) के रूप मे और वर्गीकरण किया जाता है। यह वर्गीकरण ऋण के भुगतान की अवधि पर निर्भर होता है।

सरकारी ऋण का वर्गीकरण निधिजन्य तथा अनिधिजन्य अथवा अस्थायी ऋण (funded and unfunded or Floating debt) के रूप मे भी किया जाता है। मोटेतौर पर, निधिजन्य ऋण दीर्घकालिक ऋण (long term debt) होते हैं जो कि स्थायी परिसम्पत्ति के निर्माण के लिए लिये जाते हैं और सरकार साधारणतया इस बात का प्रबन्ध एव निश्चय करती है कि उनकी अदायगी कब और कैसे की जायेगी। अनिधिजन्य अथवा अस्थायी ऋण अपेक्षाकृत अल्पकालिक ऋण (short period debt) होता है और यह चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के

लिए लिया जाता है । सरकार अनिधिजन्य ऋण का बहुत थोड़े समय, उदाहरणतः ६ माह की अवधि में ही वापिस कर देती है ।

कभी-कभी अनिवार्य ऋण तथा ऐच्छिक ऋण (Compulsory loan and Voluntary loan) के रूप में भी अन्तर किया जाता है । आमतौर पर, सरकारी ऋण ऐच्छिक किस्म का ही होता है, अर्थात् इनमे व्यक्तियो तथा संस्थाओ को सरकारी बॉण्ड लेने के लिये निमन्त्रित किया जाता है । दूसरी ओर, अनिवार्य ऋण, जिसे लेने मे शक्ति का प्रयोग किया जाता है, वर्तमान समय मे प्रचलित नही है । तथापि, कभी-कभी सरकार द्वारा बॉण्डो की बिक्री कराने के लिए दबाव डाला जा सकता है ।

सरकारी ऋण के अन्य वर्गीकरणो (*classifications*) मे, विक्रेय तथा अविक्रेय ऋण (marketable and non-marketable debt) का भी उल्लेख किया जा सकता है । ये वर्गीकरण सरकारी ऋणो की बेचनीयता (negotiability) पर निर्भर होता है । इसी प्रकार, ब्याज सहित तथा ब्याज-रहित ऋण (interest-bearing and non-interest-bearing loans), अविलम्बित तथा बिलम्बित ऋण (callable and non-callable debt) और सकल तथा शुद्ध ऋण (gross and net debt) के रूप मे भी इसका वर्गीकरण किया जा सकता है । तथापि, यह कहा जा सकता है कि सरकारी ऋण के वर्गीकरणो का व्यावहारिक दृष्टि से विशेष महत्व नही है ।

सरकारी ऋण क्यों लिया जाता है ?
(Why Public Debt is Incurred ?)
अथवा
सार्वजनिक ऋण के उद्देश्य
(Objects of Public Debt)

आधुनिक समय मे सरकारी ऋण इसलिए लिये जाते हैं जिससे कि कुछ महत्वपूर्ण परिस्थितियो का सामना किया जा सके । सर्वप्रथम, आधुनिक सरकारो के पास ऐसा कोई बड़ा संचित धन अथवा खजाना नही होता जिससे कि वह बजट सम्बन्धी घाटो की पूर्ति कर सकें । सरकार का वार्षिक खर्च तो, सामान्यत वार्षिक आय से ही पूरा कर लिया जाना चाहिए और किया भी जाता है । परन्तु अनेक परिस्थितियों के कारण, यह सम्भव हो सकता है कि कराधान तथा अन्य स्रोतो से प्राप्त की हुई आय वास्तविक व्यय के बराबर न हो । इसी प्रकार, कुछ ऐसी अनियोजित (un-planed) सकटकालीन स्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती है जैसे कि किसी बड़े युद्ध का छिड जाना, बाढ आ जाना तथा अकाल पड़ जाना इन सकटकालीन परिस्थितियो का सामना करने के लिए साधारणत अल्पकालिक उधार लिया जाता है ।

एक दूसरा तत्व जो सरकारी ऋण को आवश्यक बना देता है, युद्ध है । आधुनिक युद्ध इतने मँहगे हो गए हैं कि कराधान के द्वारा प्राप्त की गई सामान्य युद्ध के वास्तविक व्यय से कम पड़ जाती है । फिर, कराधान के मामले मे यदि कुछ सीमाओ से बाहर आया जाए तो वह उत्पादन पर बड़े हानिकारक प्रभाव डाल सकता है और इस प्रकार युद्ध-काल के सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य—युद्ध को जीतने मे बाधा उत्पन्न कर सकता है । इसके अतिरिक्त, कराधान के मुकाबले सरकारी ऋण राजस्व प्राप्ति का एक अधिक श्रेष्ठ तथा सरल तरीका है । इसीलिये, सरकार को युद्ध की वित्तीय व्यवस्था के लिए व्यक्तियो तथा संस्थाओ से बडी मात्रा मे उधार लेना पडता है। तथ्य यह है कि अधिकाश देशो के सरकारी ऋण मे जो असाधारण वृद्धि हुई है उसका मुख्य कारण प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध हो रहे है ।

तीसरे, मन्दी को दूर करने के लिए भी सरकारी उधार को बडा लाभदायक समझा जाता है और वास्तव मे सरकारी ऋण के समर्थन का सबसे बडा तर्क यही है कि यह मन्दी (depression) का एक समाधान प्रस्तुत करता है । मन्दी की अवधि मे, आर्थिक क्रियाओ का स्तर नीचा हो जाता है जिससे उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा भी घट जाती है । मन्दी तथा बेरोजगारी सामान्यतः वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग मे कमी के कारण उत्पन्न होती है । कीन्स जैसे

अनेक अर्थशास्त्रियों ने ऐसे अधिकाधिक सरकारी व्यय की वकालत की है जिसकी वित्तीय व्यवस्था उधार के द्वारा की गई हो, करारोपण के द्वारा नहीं, क्योंकि करारोपण तो लोगों की आय को और वस्तुओं के प्रति उनकी मांग को और भी कम कर देता है किन्तु उधार का ऐसा कोई प्रभाव नहीं होता। इसके अतिरिक्त, ऋण सरकार को इस योग्य बनाते हैं कि वह जनता के बेकार पड़े हुए अप्रयुक्त धन का उपयोग कर सके। इस प्रकार बेरोजगारी दूर करने के लिए सरकारी उधार के पक्ष में काफी औचित्य (justification) विद्यमान है।

चौथे, विकास कार्यक्रमों के लिए भी सरकारी ऋणों का सहारा लिया जाता है। यहाँ तक उन्नत देश भी, अपनी आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने के लिए सार्वजनिक निर्माण के अनेक ऐसे कार्यक्रम अपने यहाँ लागू करते हैं जैसे कि सड़कों, रेलों, सिंचाई योजनाओं तथा बिजली घरों आदि का निर्माण। अल्पविकसित देश, जो कि अपने प्राकृतिक साधनों को अनुकूलतम स्तर (optimum level) तक विकास करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, अनेक विकास कार्यक्रमों की वित्तीय व्यवस्था के लिए सरकारी उधार को ही एक बड़ा उपयोगी साधन मानते हैं। भारत जैसे देश में, इसी तत्व के कारण पिछले कुछ वर्षों में सरकारी ऋण में काफी वृद्धि हुई है।

ऊपर जिस पहले कारण का उल्लेख किया गया है वह केवल अस्थायी कठिनाइयों के हल का उपाय है और बाद के वर्षों में कर-आय बढ़ाकर उसे समाप्त कर दिया जाता है। सरकारी उधार का दूसरा कारण है युद्ध का संचालन, और यह संसार के सभी बड़े देशों द्वारा सरकारी ऋण लेने का सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण है। परन्तु यह तथा पहला, दोनों ही कारण एक अनियोजित किस्म (Unplanned type) के हैं। परन्तु तीसरे और चौथे कारणों को नियोजित उधार (planned borrowing) कहा जा सकता है क्योंकि सरकार कुछ विशिष्ट प्रायोजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए सरकारी ऋण की प्राप्तियों के उपयोग की एक जानीबूझी एवं विवेकपूर्ण योजना बनाती है। इस स्थिति में, सरकार ऐसे साधनों को उधार ले सकती है जो कि अन्य स्थिति में गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा प्रयोग किये जाते। इसके अतिरिक्त, सरकार ऐसे साधन भी उधार लेती है जो कि बेकार पड़े रहते हैं।

उधार के स्रोत
(Sources of Borrowing)

प्रत्येक सरकार को उधार के दो बड़े स्रोत उपलब्ध होते हैं—आन्तरिक (internal) और बाह्य (external)। आन्तरिक रूप में (internally), सरकार व्यक्तियों, वित्तीय संस्थाओं, वाणिज्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंकों से उधार ले सकती है। बाह्य रूप में (externally), सरकार आमतौर पर, व्यक्तियों तथा बैंकों से, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से तथा विदेशी सरकारों से उधार लेती है। यह बात प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि उधार के सही-सही प्रभाव, एक बड़ी मात्रा में उन स्रोतों पर निर्भर होते हैं जिनसे कि धन उधार लिया जाता है।

(१) व्यक्तियों से ऋण या उधार (Borrowing from Individuals)

जब व्यक्ति सरकारी बॉण्ड खरीदते हैं तो ऐसा करके वे धन को गैर सरकारी उपयोग से सरकारी उपयोग की ओर को स्थानान्तरित करते हैं। व्यक्ति सरकारी बॉण्डों में अपना धन लगाने में या तो चालू उपभोग की आवश्यकतायें कम करके समर्थ होते हैं (ऐसा बहुत कम स्थितियों में होता है), अथवा वे अपने निजी व्यवसाय के लिए रखे गये धन को या ऋणपत्रों या प्रतिभूतियों (securities) में लगे धन को वहाँ से हटाकर सरकारी बॉण्ड खरीदते हैं। आमतौर पर, व्यक्तियों को जब सरकारी बॉण्ड बेचे जाते हैं तो उससे उनके उपभोग अथवा व्यवसाय के विस्तार में कोई कटौती नहीं होती। बड़ी मात्रा में, बॉण्ड उस धन से खरीदे जाते हैं जो या तो बेकार पड़ा होता है अथवा जिसका उपयोग अन्य स्थिति में ऋणपत्रों को खरीदने में किया जाता।

(२) गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं से उधार (Borrowing from Non-banking Financial Institutions)

सरकारी बॉण्डों में धन लगाने वाले व्यक्तियों से ऐसी वित्तीय संस्थायें अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, जैसे कि बीमा कम्पनियाँ, प्रन्यास (trust) तथा आपसी बचत बैंक (mutual savings banks) आदि। ये गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थायें सरकारी बॉण्डों को एक तो इसलिए अधिक प्राथ-

मिकता देती हैं क्योंकि वे सुरक्षित होते हैं और दूसरे इस कारण क्योंकि वे आसानी से बेचे जा सकते है तथा उनको चाहे जब नगदी रूप दिया जा सकता है। परन्तु इनमे ब्याज की दर नीची होती है अतः अनेक मामलो मे यह हो सकता है कि वित्तीय सस्थाये जोखिम वाले एव उच्च प्रतिफल देने वाले ऋण-पत्रो, (securities) विशेप रूप से ईक्विटी को पसन्द करे। बैंकिंग कार्य न करने वाली वित्तीय सस्थायें जब सरकारी बॉण्ड खरीदती है तो वे अपनी नगदी को कम करने के लिए ही ऐसा करती हैं।

(३) वाणिज्य-बैंको से उधार (Borrowing from Commercial Banks) .

व्यक्ति तथा गैर-बैंकिंग वित्तीय सस्थायें जहाँ सरकारी बॉण्डो को अपने निजी धन से खरीदती है, वहाँ वाणिज्य वैंक अतिरिक्त क्रय-शक्ति का निर्माण करके अर्थात् साख का निर्माण कर के ऐसा कर सकते हैं। सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था अनेक बार उस अधिकतम मात्रा तक अतिरिक्त ऋण दे सकती है जितनी कि उसकी अतिरिक्त नकद आरक्षित निधि (excess cash reserve) होगी। ऐसा इसलिए सम्भव होता है क्योंकि बैंक जो ऋण देते है वे नकद नही दिये जाते बल्कि उधार लेने वालो के नाम से केवल खाता बही मे लेखा कर दिया जाता है। ये उधार लेने वाले भी अन्य लोगो को चैंक के द्वारा भुगतान करते हैं और वे भुगतान पाने वाले व्यक्ति भी चैंक को बैंक मे भेज मात्र देते है क्योंकि उनके खाते स्वय बैंक मे खुले होते है। परिणाम यह होता है कि जब तक बैंको से नकदी निकाली जाती, तब तक इस नकदी का उपयोग ऋणों के विस्तार के रूप मे किया जाता है।

वाणिज्य बैंक साख (credit) का निर्माण करके भी सरकार को ऋण दे सकते है। ऐसा करने के लिए उन्हे अपने अन्य ऋण मे तथा अग्रिमो (loans and advances) को कम करने की आवश्यकता नही होती। बैंक के पास जब भी अतिरिक्त नकद आरक्षित निधि होती है, तभी वह उस नीधि से काफी अधिक मात्रा मे सरकारी बॉण्ड खरीद सकता है। यहाँ यह समझना भी महत्व-पूर्ण है कि बॉण्ड खरीदने की शक्ति अनिवार्यत निर्माण की जाती है, केवल उसका स्थानान्तरण मात्र होता हो, ऐसी बात नही है। इस प्रकार, यदि वाणिज्य बैंक अतिरिक्त क्रय-शक्ति का निर्माण करते हैं और उसे सरकार को अपने खर्चों की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए सौप देते है तो उससे स्फीति सम्बन्धी दवाव (inflationary pressure) उत्पन्न हो जाते है (बशर्ते कि अर्थव्यवस्था पहले ही पूर्ण रोजगार की स्थिति मे कार्य कर रही हो)।

(४) केन्द्रीय बैंक से उधार (Borrowing from the Central Bank) :

देश का केन्द्रीय बैंक भी सरकार को ऋण दे सकता है। यह भी इस कार्य के लिए ठीक वैसी ही कार्यवाही करता है जैसी कि वाणिज्य बैंको द्वारा अतिरिक्त क्रय-शक्ति का निर्माण करके की जाती है। सरकारी बॉण्ड खरीद कर केन्द्रीय बैंक सरकार के खाते मे लेखा कर देता है। सर-कार अपने लेनदारो (creditors) को केन्द्रीय बैंक मे स्थित अपने खाते से ही भुगतान दे देती है। जो लोग सरकार से केन्द्रीय बैंक के चैंक प्राप्त करते है वे भी अपनी धनराशियाँ अपने बैंको मे जमा करते हैं इस प्रकार, इन बैंको के पास बडी मात्रा मे नक्द आरक्षित निधियाँ (Cash reserves) उत्पन्न हो जाती है और ये निधियाँ ही और कर्जो तथा उधार का आधार बन जाती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि केन्द्रीय बैंक से लिया गया उधार अन्य सभी स्रोतो के मुकाबले अधिक विस्तार-वादी होता है क्योंकि इसके द्वारा न केवल सरकार को ही अपने खर्चों के लिए धन प्राप्त होता है, बल्कि वाणिज्य बैंको को भी अतिरिक्त नकदी मिल जाती है और इस नकदी का उपयोग और साख के विस्तार के लिए किया जा सकता है।

व्यक्तियों तथा वित्तीय सस्थाओ से लिये जाने वाले उधार जहाँ केवल गैर-सरकारी उपयोग से सरकारी उपयोग की ओर को स्थानान्तरण मात्र होते है अत उनका अर्थव्यवस्था पर कोई विस्तारवादी प्रभाव (Expansonary Effect) नही पडता (बशर्ते कि वे धनराशियाँ पहले से ही बेकार न पडी हों और अब सरकारी उधार के द्वारा ही उनको क्रियाशील न किया जा रहा हो), वहाँ वाणिज्य बैंको तथा केन्द्रीय बैंक से लिए जाने वाले उधार विस्तारवादी प्रभाव डालने हैं।

(५) बाह्य स्रोतों से उधार (Borrowing from External Sources) :

सरकार अन्य देशो से भी उधार ले सकती है। इन उधारो का उपयोग युद्ध-व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए (या प्रतिरक्षा सामग्री प्राप्त करने के लिए) किया जा सकता है अथवा विकास प्रयोजनाओ के खर्चों के लिए या प्रतिकूल अदायगी-शेष (edverse balance of payments) के भुगतान के लिए भी किया जा सकता है। पहले तो, रेलो के निर्माण जैसी किसी विशिष्ट विकास प्रयोजना के लिए ऋण व्यक्तियो तथा बैंकिंग व अन्य वित्तीय सस्थाओ से लिये जाते थे। परन्तु आजकल, इस स्रोत के अलावा, दो महत्वपूर्ण स्रोत प्रमुख हो गये हैं। वे हैं: (क) अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्थायें, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F), अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (I B R D), अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ (I D A.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I. F. C), जो कि अस्थायी अदायगी-शेष कठिनाइयो को दूर करने के लिए अल्पकालिक ऋण देती हैं और विकास कार्यो के लिए दीर्घकालिक ऋण, और (ख) सरकारी सहायता जो कि आमतौर पर विकास योजनाओ के लिए प्रदान किये जाते हैं। भारत जैसे विकासशील देशो के लिए, आजकल उधार के विदेशी स्रोत काफी महत्वपूर्ण बनते जा रहे हैं।

सरकारी उधार अथवा लोक उधार के आर्थिक प्रभाव[3]

(Economic Effects of Public Borrowing)

वेगनर (Wagner) का ही अनुसरण करते हुए, अनेक अर्थशास्त्री यह तर्क देते हैं कि सरकार को कराधान का उपयोग तो चालू व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए करना चाहिए। और जनता से लिए गये उधार का उपयोग पूंजी व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए करना चाहिए पिछले कुछ वर्षो मे इस प्रश्न पर आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करने मे काफी परिवर्तन हुआ है। आजकल यह बात सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि कराधान तथा उधार का उपयोग किसी भी प्रकार के खर्च के लिए किया जा सकता है और ऐसा करना परिस्थितियो पर निर्भर हुआ करता है। कम से कम विकासशील देशो के मामलो मे तो, उधार तथा कराधान दोनो का ही उपयोग विकास प्रयोजनाओ की वित्तीय व्यवस्था के लिए किया जाता है। मूलत, उधार लेकर किये जाने वाले सरकारी खर्च के आर्थिक प्रभाव कराधान द्वारा किये जाने वाले वैसे ही खर्च के प्रभावो से दो महत्वपूर्ण दृष्टियो से भिन्न होते हैं —

(क) जनता से पास के सरकार की ओर धन का स्थानान्तरण कराधान मे तो अनिवार्य होता है और उधार मे ऐच्छिक।

(ख) कराधान जहाँ करदाताओ के पास उपलब्ध धन मे कमी करता है, वहाँ कर्ज (loans) उधार देने वालो (lender) के धन मे कोई कमी नही करते बल्कि केवल उसका रूप बदल देते है,

(ग) कराधान के द्वारा वित्त की व्यवस्था करने के प्रभाव अधिक सिकुड़न लाने वाले होते हैं किन्तु उधार के द्वारा की गई वित्तव्यवस्था अधिक विस्तारवादी प्रभाव डालती है। कराधान के अर्थव्यवस्था (economy) पर सिकोड़ने वाले प्रभाव (contractionary effects) पड़ते हैं क्योकि इसके द्वारा उपयोग मे कमी हो सकती है। पर दूसरी ओर, सरकार को उधार देने का कार्य चूंकि ऐच्छिक होता है अत उधार बचतो मे से दिया जाता है, उपभोग मे कटौती करके नहीं। फिर, उधार देने से धन की मात्रा मे कोई कमी नही होती, और प्रेरणाओ तथा साहस पर इसका कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ता, जैसा कि कराधान की स्थिति मे होता है।

उधार के इन सामान्य पहलुओं को छोड़कर, अब हम विशेष-शीर्षको के अन्तर्गत सरकारी उधार के आर्थिक प्रभावो पर विचार करेंगे।

(१) उपभोग पर उधार के प्रभाव (Effects of Borrowing upon Consumption) :

जैसा कि पिछले गद्यांश मे बताया गया है कि सरकारी उधार के फलस्वरूप, सामान्यत,

---

3. सरकारी उधारो के पृथक् सरकारी ऋण के प्रभावो का विवेचन अन्य स्थान पर किया गया है।

उपभोग में कटौती नहीं होती। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि सरकार को उधार देना एच्छिक होता है अतः उधार बचतो (savings) मे से दिया जाता है, उपभोग-व्यय मे कटौती करके नहीं। परन्तु युद्धकाल मे अथवा संकटकालीन अवसरो पर, लोगों को इस बात के लिए प्रेरित करने का दबाव भी डाला जा सकता है कि वे अपने उपभोग मे कटौती करें और सरकार को कर्ज दें। इस सम्बन्ध मे एक और सम्भावना तब हो सकती है जबकि सरकारी कर्जों पर कुछ विशेष लाभ व सुविधायें प्रदान की जाएं और ऊंची दरो से ब्याज दिये जायें। इस स्थिति मे, कुछ व्यक्ति और वित्तीय सस्थायें इस बात के लिए प्रोत्साहित हो सकते हैं कि फिर वे अधिक बचत करें और उन बचतो को सरकारी बॉण्डो मे निवेश करें। परन्तु आमतौर पर, उधार से उपभोग-व्यय मे कोई कमी नही हुआ करती।

(२) **विनियोग पर उधार के प्रभाव** (Effects of Borrowing on Investment) :

सरकारी उधार विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है, यद्यपि इसके तटस्थ प्रभाव (neutral effects) भी हो सकते है। उदाहरण के लिए, सरकार द्वारा देश के केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंको से लिया गया उधार इस प्रकृति का होता है कि उसके द्वारा अतिरिक्त क्रय-शक्ति का निर्माण होता है, अत इससे विनियोग के लिए उपलब्ध निधियो मे कोई कटौती नही होती। परन्तु यदि शक्ति व वित्तीय सस्थायें और वाणिज्य बैंक भी उन निधियो (funds) मे से सरकार को कर्ज देते हैं जो कि विनियोग के लिए अथवा स्टॉक के सचय के लिए रखी थी तो अवश्य विनियोग-व्यय मे कटौती होगी। परन्तु यदि ब्याज की दरें अधिक ऊंची नही हैं और नये सरकारी बॉण्ड चालू ऋणपत्रो (existing securities) के मुकाबले कोई विशेष लाभ या सुविधायें प्रदान नही करते, तो गैर-सरकारी विनिमोग पर उसका कोई प्रभाव नही पड़ता।

मान लीजिए, ब्याज की दरें ऊंची हैं और सरकारी बॉण्डो से सम्बन्ध लाभ भी काफी अधिक है; तो इस स्थिति मे कम्पनी के शेयरो की मांग घट जायेगी और उसके परिणामस्वरूप स्टॉक और शेयरो की कीमतें भी नीची हो जायेगी। इससे ईक्विटी शेयरो मे किये जाने वाले गैर-सरकारी विनियोग मे कमी आ सकती है। तथापि, सरकारें, स्वय अपने हित मे ही, नीची ब्याज दरो की सस्ती मुद्रा-नीति (cheep money policy) को ही लागू करना पसद करती है। (क्योकि इसका अर्थ होता है सरकार पर ब्याज का कम भार)। और यदि ब्याज की दरें ऊंची भी हो, तो भी व्यक्तियो तथा कम्पनियों द्वारा दिया जाने वाला विनियोग उधार (investment borrowing) कोई विशेष रूप से प्रभावित नही होता। एक तो इसलिए क्योंकि विनियोग उधार ब्याज की दर की अपेक्षा व्यावसायिक सम्भावनाओ (business prospects) पर तथा विनियोग की लाभोत्पादकता (profitability) (पूंजी की सीमान्त क्षमता) पर निर्भर होता है। दूसरे, पिछली कमाई द्वारा प्राप्त निधियो (funds) से बहुत बडी माता मे किया गया विनियोग ब्याज-दर के प्रति आमतौर पर उदासीन होता है।

तथापि, सम्पूर्ण रूप मे, कुछ विशेष परिस्थितियो को छोड़कर सामान्यत: सरकारी उधार गैर-सरकारी विनियोग-व्यय पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही डालता। उदाहरण के लिए, ब्याज की दरें बहुत ऊंची हो सकती हैं और विनियोग की मात्रा ब्याज की दरो पर निर्भर हुआ करती है, अथवा बॉण्ड ऐसे व्यक्तियो और सस्थाओं को बेचे जा सकते हैं जो कि सरकारी बॉण्डों को खरीदने के लिए व्यावसायिक विस्तार के लिए रखे अपने धन मे कटौती करें। परन्तु ये विशेष परिस्थितियां आमतौर पर हुआ नही करती। इसके अलावा एक और परोक्ष तरीका हो सकता है जिसके द्वारा सरकारी उधार, विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है। यह हो सकता है कि सरकारी ऋण की मात्रा मे बहुत तेजी से वृद्धि हो, इस स्थिति मे विनियोग करने वाली जनता को राष्ट्र का दिवाला निकलने का भय हो सकता है अथवा वह यह सोच सकती है कि इन ऋणो को उतारने के लिए कही निकट भविष्य में ही सरकार भारी कर न लगा दे।

दूसरी ओर उधार लेकर किया गया सरकारी खर्च आमतौर पर विस्तारवादी होता है। जब उधार केवल वाणिज्य बैंको और केन्द्रीय बैंक से ही लिया जाता है तो अतिरिक्त क्रय-शक्ति का निर्माण होता है और यह अतिरिक्त क्रय-शक्ति (additional purchasing power) ही गैर-सरकारी विनियोजको को दिये जाने वाले ऋणों एव उधारो का आधार बन जाती है।

इसके अतिरिक्त, उधार लेकर किये गये सरकारी खर्च से वस्तुओं तथा सेवाओं की अतिरिक्त, माँग उत्पन्न हो जाती है, इसमें सभरण (supply) को यथापूर्व मान लिया जाता है। इसका परिणाम यह होना है कि कीमतों में वृद्धि हो जाती है और लाभ की गुंजाइश भी बढ जाती है। यदि अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति में नीचे कार्य कर रही होती है तो (अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से) उससे विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार जहाँ कराधान में अर्थव्यवस्था को सिकोड़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है, वहाँ आधार आमतौर पर अर्थव्यवस्था का विस्तार करता है।

(३) आय के वितरण पर उधार के प्रभाव (Effects of Borrowing upon Distribution of Income)

कर्ज द्वारा वित्त की व्यवस्था करने का एक परिणाम यह होता है कि जिन लोगों को सरकारी खर्चों से लाभ पहुँचता है उसकी वास्तविक आय अधिक हो जाती है। इसके साथ ही कर्ज-वित्त (loan finance) उन लोगों की वास्तविक आय में कोई कमी नहीं करता जिन्होंने सरकारी बॉण्डों में धन लगाया है। यदि सरकारी व्यय का उद्देश्य है कि निम्न आय वाले वर्गों का अधिक आर्थिक कल्याण हो, तो उसके परिणामस्वरूप असमानताएँ कम हो जायेंगी और लोगों के बीच आय का अधिक समान वितरण हो जायेगा। परन्तु यदि कर्ज-वित्त स्फीति उत्पन्न करता है तो उस सीमा तक, आय के वितरण पर पड़ने वाले उन अच्छे प्रभावों में से कुछ, जिनका हमने ऊपर जिक्र किया है, फलहीन हो सकते हैं। यहाँ एक अन्य विचारणीय बात ब्याज की अदायगी है। ब्याज की अदायगी का अर्थ है वास्तविक आय का कर दाताओं की ओर से बॉण्ड-धारकों की ओर को स्थानान्तरण (क्योंकि बॉण्ड धारकों को ब्याज की अदायगी करने के लिए और बाद में मूल धन चुकाने के लिए सरकार को लोगों पर कर लगाना होता है)। यदि बॉण्ड-धारक (bond holders) तथा करदाता एक ही हैं, आय का विनियोग पुर्नवितरण (net redestribution) नहीं होगा। परन्तु ऐसी स्थिति होनी आवश्यक नहीं है। परिणामस्वरूप, आय का कुछ न कुछ पुर्नवितरण उस समय तक होता रहता है जब तक कि कर-दाता और बॉण्ड-धारक भिन्न-भिन्न वर्गों से सम्बन्ध रखते हैं।

(४) विदेशी ऋणों का प्रभाव (Effect of Foreign Loans):

विदेशी ऋण उपभोग तथा विनियोग अनुकूल प्रभाव डाल सकते हैं। विदेशी ऋण वस्तुओं के आयात की वित्तीय व्यवस्था के वास्ते लिये जाते हैं जिससे कि आयात की वस्तुओं के लिए निर्यात के रूप में तुरन्त ही अदायगी किये बिना ही उन्हें प्राप्त किया जा सके। यदि विदेशी (foreign imports) में उपभोक्ता वस्तुएँ (consumer goods) सम्मिलित हैं तो उससे ऐसा कोई भी स्फीति सम्बन्धी दबाव कम हो जाता है जो कि वस्तुओं की कमी के कारण उत्पन्न हो सकता है। दूसरी ओर मशीनरी, औद्योगिक कच्चे माल तथा तकनीकी जानकारी के आयात का यह अनुकूल प्रभाव पड़ता है कि देश में औद्योगीकरण की गति तेज हो जाती है। यदि विदेशी ऋण युद्ध की वित्तीय व्यवस्था के लिए अथवा सेना का आधुनिकीकरण करने के लिए प्राप्त किये जाते हैं, तो स्पष्टतः वे देश के विनियोग पर कोई प्रभाव नहीं डालते।

जब विदेशी ऋण लिये जाते हैं तो उनके द्वारा विदेशी मुद्रा की माँग कम हो जाती है। परन्तु ब्याज की अदायगी करने के लिए और बाद में मूलधन की वापसी के लिए अधिकाधिक निर्यात (export) बढ़ाने पड़ते हैं। इसके फलस्वरूप, वास्तविक जीवन-स्तर में गिरावट सम्भव हो सकती है।

सरकारी सार्वजनिक ऋण के प्रभाव
(Effects of Public Debt)

हमें सरकारी उधार (public borrowing) से आर्थिक प्रभावों और सरकारी ऋण (public debt) के आर्थिक प्रभावों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। उधार (borrowing) निधियाँ (funds) प्राप्त करने की विधि का सूचक होता है और यह सरकार को उपलब्ध चार विकल्पों में से एक है—अन्य स्रोत हैं कराधान, सरकारी उद्यमों के लाभ और मुद्रा

का निर्माण। अतः उधार के प्रभाव सरकारी खर्चों के उन कार्यक्रमों पर पड़ते हैं जिनकी वित्तीय व्यवस्था उधार लेकर की जाती है, ये प्रभाव उन प्रभावों से भिन्न होते हैं जो कराधान के वित्त से किये जाने वाले सरकारी खर्चों के ऐसे ही कार्यक्रमों पर पड़ते है। दूसरी ओर, सरकारी ऋण के प्रभाव *अर्थव्यवस्था* (economy) पर पड़ने वाले उन प्रभावों के सूचक होते हैं जो कि सरकारी ऋण की विद्यमानता से तब उत्पन्न होते है जबकि वह खर्च कर दिया जाता है।

सरकारी ऋण और उपभोग (Public Debt and Consumption) :

सरकारी ऋण की विद्यमानता (existence) का उपभोग पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन लोगों के पास सरकार की अदायगी के दायित्व को प्रकट करने वाले सरकारी बॉण्ड होते हैं वे उन्हे अपना व्यक्तिगत धन (personal wealth) समझते हैं।[4] यह धन उस समय उत्पन्न नही होता, यदि सरकार अपने खर्चों की वित्तीय व्यवस्था कराधान के द्वारा करने का निर्णय करती। फिर, बॉण्ड धारक यह भूल जाते हैं कि बॉण्ड अतिरिक्त कराधान के रूप मे करदाताओं के समान ही उन पर दावों के सूचक होते है। इसका परिणाम यह होता है कि सरकारी बॉण्डो को धारण करने से लोगो को न केवल अपनी अदायगी का अधिक प्रतिशत खर्च करने की बल्कि अपनी आमदनी से भी अधिक खर्च करने की प्रेरणा मिलती है क्योकि वे जानते है कि अपने फालतू खर्च की अदायगी के लिए वे बॉण्डो को बेच सकते है। फलस्वरूप, सरकारी ऋण का विशुद्ध प्रभाव यह होता है कि उपभोग पर खर्च की जाने वाली कुछ आय के प्रतिशत मे वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार उनका अर्थव्यवस्था पर विस्तारवादी प्रभाव पड़ता है।

सरकारी ऋण और तरलता अथवा नकदीपन (Public Debt and Liquidity) :

सरकारी ऋण का प्रतिनिधित्व बॉण्ड करते हैं जो कि सरलता से बेचनीय (negotiable) होते हैं। जिनके पास बॉण्ड होते हैं उनके पास अत्यन्त बेचनीय तथा अत्यन्त तरल अथवा नकदी किस्म की परिसम्पत्ति (asset) होती है। जब भी कभी व्यक्ति को किसी भी कार्य के लिए सौदो के लिए अथवा ऐहतियाती (precautionary) अथवा सट्टे के दृष्टिकोण से—अधिक धन की आवश्यकता होती है वे बड़ी आसानी से अपने बॉण्डो को नक्दी मे बदल सकते हैं। इस प्रकार परिसम्पत्तियों की सबसे अधिक नक्दी किस्म की विद्यमानता के लिए सरकारी ऋण ही उत्तरदायी हैं। अत्यधिक तरल सरकारी बॉण्डो का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव वाणिज्य बैंको की स्थिति पर पड़ता है। वाणिज्य बैंको के पास बड़ी मात्रा में सरकारी बॉण्ड होते हैं जो कि आवश्यकता के समय नकदी में परिवर्तित किये जा सकते हैं। स्फीति के समय मे, किसी देश का केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंको की नकद आरक्षित (cash reverves) को कम करने के लिए बैंक-दर का उपयोग कर सकता है, खुले बाजार की कार्यवाहियाँ कर सकता है तथा अन्य उपायों का प्रयोग कर सकता है, और इस प्रकार उनके साख-विस्तार (credit expansion) को कम करता है।[5] परन्तु वाणिज्य बैंक सरकारी बॉण्डो को बेचकर अपनी नक्द आरक्षित निधियो मे वृद्धि कर सकते है।

सरकारी ऋण तथा निवेश (Public Debt and Investment) :

यह स्पष्ट नही है कि विनियोग पर सरकारी ऋण का क्या प्रभाव पड़ता है। दो ऐसे प्रभाव अवश्य दिखाई देते है जो परस्पर विरोधी हैं एक ओर तो भारी मात्रा मे सरकारी ऋणो की विद्यमानता से तथा बाद मे उनको चुकाने के लिए कराधान की लगाई जाने वाली ऊँची दरो से विनियोक्ताओं के मन मे एक भय तथा बड़ी अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त, बड़े ऋणो की विद्यमानता से, जिनमे कि ब्याज की भारी अदायगियाँ करनी पड़ती है,

---

4. वास्तव मे अन्य बॉण्डो के समान ही सरकारी बॉण्ड भी केवल दावे (claims) मात्र ही होते हैं और वास्तविक धन (real wealth) से भिन्न होते हैं। वे व्यक्तिगत दृष्टिकोण से तो धन नही हैं क्योंकि एक-दूसरे पर किये जाने वाले दावे अन्त मे समाप्त हो जाते है।
5. यह बात स्मरण रखनी चाहिए एक सीमा से अधिक बैंक-ऋण अथवा उधार स्फीतिजनक हो जाते हैं। इस स्थिति मे केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको की नकदी की मात्रा को कम करने के लिए अनेक कार्यवाहियाँ कर सकता है ताकि वे बैंक उस समय अपनी साख (credit) को सिकोड़ सकें जब वे धन की कमी महसूस कर सकते हो।

इस बात की सम्भावना हो सकती है कि सरकार पूँजी कर (capital levy) लागू करे अथवा ऋण-नकार (debt repudiation) के तीव्र तरीके काम में लाएँ। इन सबका दीर्घकालिक विनियोगो पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर, बड़ी मात्रा मे सरकारी ऋणों की विद्यमानता से सरकार की ब्याज की नीची दर बनाये रखने के लिए इसलिए बाध्य हो जाती है ताकि वह अपने ब्याज के दायित्वो (interest obligations) को न्यूनतम सम्भव मात्रा मे रख सके। उसके परिणामस्वरूप, उधार और विनियोग प्रोत्साहित होते है। इस प्रकार, यह बात स्पष्ट रूप से कहनी कठिन है कि सरकारी ऋण की विद्यमानता विनियोग को प्रोत्साहित करेगी अथवा हतोत्साहित।

सरकारी ऋण तथा उत्पादन (Pnblic Debt and Production)

अब हम उत्पादन पर सरकारी ऋण के प्रभावो का अध्ययन करेंगे और वह भी डाल्टन की उन तीन कसौटियो का उपयोग करके जिन पर कि उत्पादन निर्भर होता है। काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की क्षमता मे उस समय तो वृद्धि होती है जबकि या तो निधियाँ (funds) बेकार पड़ी हो, अथवा सरकार (विकास प्रयोजनाओ के द्वारा उत्पादकता (productivity) मे वृद्धि करने के लिए बैंको से लिये गये उधार का उपयोग करती है। फिर, मजदूरो पर (उनकी शिक्षा स्वास्थ्य आवास तथा जल-सुविधाओ आदि पर) जो धन खर्च किया जाता है उससे मजदूरो की काम करने की योग्यता बढ़ती है। लेकिन फिर, ऋणो की अदायगी करने अथवा ब्याज का भुगतान करने के लिए जो कर लगाये जाते हैं वे काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

जहाँ तक काम करने तथा बचत करने की इच्छा का सम्बन्ध है। सरकारी ऋण सामान्यत इसको कम करता है। सरकारी ऋण, सरकारी बॉण्डो मे विनियोग का एक सुरक्षित एव स्थायी स्रोत प्रदान करके बचतो को प्रोत्साहित कर सकता है। परन्तु मूलधन तथा ब्याज को चुकाने के लिए लगाया गया कराधान (taxation) बचतो को हतोत्साहित करता है। इसके अतिरिक्त, सरकारी बॉण्डो के धारको द्वारा ब्याज की प्राप्ति उनकी काम करने तथा बचत करने की इच्छा को एक सीमा तक कम कर सकती है।

अन्त मे, जहाँ तक साधनो के अन्तरण अथवा दिशा-परिवर्तन (diversion) का प्रश्न है, सरकारी ऋण द्वारा निधियो (funds) का उपभोग ऐसे खर्चो में किया जाता है जिन्हे आवश्यक तथा उपयोगी समझा जाता है बमुकाबले उस स्थिति के यदि उन निधियो को अन्य प्रकार से खर्च किया जाता। यदि बेकार पड़ा हुआ धन रेलो, सिंचाई तथा बिजली की प्रयोजनाओ आदि के विकास के लिए अन्तरित कर दिया जाता है तो उसे न्यायोचित ही कहा जायेगा। यह बात उस स्थिति मे होती है जबकि बैंको से लिये गये उधार का उपयोग स्थायी तथा उत्पादक परिसम्पत्तियो के निर्माण के लिए किया जाता है। साधनो का गलत अन्तरण अथवा दिशा-परिवर्तक केवल तब होता है जबकि ऐसी निधियों को, जिनका कि अन्य स्थिति मे उत्पादन उद्यमो में उपयोग हो सकता था, प्रतिरक्षा (defence) पर व्यय कर दिया जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे कोई भी निर्णय परिस्थितियाँ देखकर ही किया जाना चाहिए।

यह कहा जा सकता है कि डाल्टन द्वारा दिये गए तर्कों के आधार पर, सरकारी ऋण प्रत्येक स्थिति में उत्पादन, आय तथा रोजगार को बढ़ाने की दृष्टि से अनुकूल होता है।

आन्तरिक और बाह्य ऋण के प्रभाव
(Effects of Internal and External Debt)

साधारणतया आन्तरिक ऋण काफी महत्वपूर्ण माने जाते हैं परन्तु पिछली कुछ दशाब्दियो (decades) मे अल्पविकसित देशो ने विदेशी स्रोतों से भी काफी ऋण लिया है। ये ऋण अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्य एजेन्सियो तथा सरकारो से लिये गये हैं कभी-कभी विदेशी ऋण अदायगी शेष (balance of payment) की अस्थायी कठिनाइयों को दूर करने के लिये भी लिये जा सकते हैं परन्तु अधिकाश मामलो मे ये आर्थिक विकास के लिए, लिये जाते हैं। विकासशील देशो के लिये विदेशी ऋणों का विशेष रूप से महत्व होता है क्योकि इन देशो मे विदेशी मशीनरी तथा कच्चे माल की माँग अधिक होती है और उनकी अदायगी के लिए इनके पास पर्याप्त मात्रा मे निर्यात करने की व्यवस्था

करों को लागू करने वाले अधिकारी एवं कर्मचारी वर्ग के व्यवहार से यह हो सकता है कि करदाता स्वयं को असन्तुष्ट एवं खिन्न अनुभव करे। करदाताओं की शिकायतों का शीघ्रता के साथ न्यायपूर्ण निपटारा कर-पद्धति का एक ऐसा विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण पहलू है जो कुशल प्रशासन की तथा करदाताओं का नैतिक स्तर (morale) बनाये रखने की सामान्य समस्या के हल में बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है।

(IV) कर ढांचे में अनुकूलता (Adaptability) जिससे कि *अर्थव्यवस्था* की बदलती हुई आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें :

एक अच्छी कर-पद्धति की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि वह अर्थव्यवस्था की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं अथवा लक्ष्यों को पूरा कर सके। अर्थात् अर्थव्यवस्था की बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। सन् १९३० की मन्दी के समय से ही कुछ ऐसी समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है—जैसे कि आर्थिक उतार-चढ़ावों (economic fluctuations) पर नियन्त्रण, *पूर्ण रोजगार की स्थापना, चिरकालीन गतिहीनता (secular stagnation)* की प्रवृत्तियों को रोकना और युद्धकाल अथवा प्रतिरक्षा सम्बन्धी संकटकाल में मुद्रा स्फीति (inflation) पर नियन्त्रण। एक उन्नत अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक स्थिरता सरकारी नीति के महत्वपूर्ण लक्ष्य होते हैं। वहाँ एक पिछड़ी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास को महत्वपूर्ण माना जाता है।

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में कर-पद्धति

(Tax System in a Developing Economy)

अच्छी कर-पद्धति की जिन विशेषताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, वैसे तो वे एक विकसित (devoeloped) परन्तु विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में समान रूप से लागू होनी चाहिए। *अर्थव्यवस्था तथा विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ* कुछ इस प्रकार की होती हैं कि उसमें, अनिवार्यत ही एक भिन्न प्रकार की कर-पद्धति अपनानी पड़ती है। एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था (backward economy) की सबसे बड़ी आवश्यकता यह होती है कि उत्पादन के निम्न स्तर एवं निर्धनता के उच्चस्तर के दुश्चक्र (vicious circle) को तोड़ा जाए और समर्थ माँग (effective demand) के स्तरों को ऊँचा उठाया जाय तथा इसके द्वारा उत्पादन रोजगार तथा आय के स्तरों में भी वृद्धि की जाय। यह वह स्थिति होती है जिसमे कि सरकार को महत्वपूर्ण भाग अदा करना होता है। कराधान तथा सरकारी व्यय का सावधानी के साथ उपयोग करके, सरकार तीव्रगति से आर्थिक विकास तथा आय का श्रेष्ठतर वितरण कर सकती है और ऐसा करके जनता के आर्थिक कल्याण में वृद्धि कर सकती है।

"एक अच्छी कर नीति, अनिवार्यत. एक व्यापक आर्थिक नीति का ही एक भाग होती है।" एक विकासोन्मुख देश (developing country) में कर-नीति (tax policy) का उपयोग आर्थिक विकास की गति को तेज करने में किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कर पद्धति के द्वारा लोगों में काम करने, बचत करने तथा विनियोग करने की प्रेरणाएँ उत्पन्न की जानी चाहिए जिससे कि आर्थिक विकास में मदद मिल सके। एक अल्पविकसित देश में चूंकि मूल समस्या पूँजी की कमी की तथा पूँजी निर्माण की धीमी दर की होती है, अत कर-नीति, और इसी उद्देश्य के लिए, सरकार की सामान्य आर्थिक नीति का निर्देशन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह लोगों को जोखिम उठाने तथा अधिक विनियोग (invest) करने के लिये प्रोत्साहित करे, तथा उनमें यह भावना उत्पन्न करे कि उनके प्रयत्नों का पुरस्कार अवश्य मिलेगा और इस प्रकार पूँजी के निर्माण में सहायता करे। कराधान को केवल राजस्व की प्राप्ति का साधन ही नहीं माना जाना चाहिए, अपितु यथासम्भव बचत तथा विनियोग के स्तरों को ऊँचा उठाने तथा उनका पोषण करने का साधन भी माना जाना चाहिए। अत: कराधान के द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि "उन सब लोगों को, जो बचत करते हैं, विनियोग करने की प्रभावपूर्ण प्रेरणाएँ (incentives) मिलें और जो पहले से ही विनियोग में रुचि रखते हैं उन्हें उत्पादक उद्यमों में (productive *enterprises*) में और अधिक *विनियोग करने का प्रोत्साहन मिले।*"

बाह्य अथवा बाहरी अथवा विदेशी ऋण का प्रभाव (Burden of External Debt)

एक अर्थ में तो विदेशी ऋण का भार वैसा ही होता है जैसा कि आन्तरिक अथवा देशी ऋण का, अर्थात् सरकार के अतिरिक्त कराघात के द्वारा ही उसकी अदायगी करनी पड़ती है। परन्तु देशी ऋण में जहाँ ब्याज की अदायगियाँ तथा ऋणों की वापसियाँ देश के ही लोगों को प्राप्त होती हैं। वहाँ विदेशी ऋण की स्थिति में वे विदेशियों को मिलती हैं। अन्य अर्थ में, बाह्य ऋण का कुल द्रव्य-भार अधिक होता है कि इसमें अतिरिक्त स्थानान्तरण की समस्या (additional transfer problem) होती है, अर्थात् विदेशी ऋण का भुगतान करने के लिए सरकार को आवश्यक मौद्रिक साधनों (monetary resources) की खोज करनी पड़ती है और इसके लिए अतिरिक्त विदेशी मुद्रा की भी तलाश करनी पड़ती है (क्योंकि बहरहाल विदेशियों को तो उनकी अपनी मुद्रा में ही अदायगियाँ करनी होती हैं)। अतः इस स्थानान्तरण की समस्या के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि ऋण की अवधि में व्यापार-सन्तुलन (balance of trade) में अनुकूल सुधार किये जाएँ। अन्य शब्दों में, विदेशों को ब्याज तथा मूलधन की नियमित अदायगी तभी सम्भव हो सकती है जबकि निर्यात मूल्य आयात-मूल्यों से कम से कम इतने तो अधिक हों जितने कि ऋणों से उत्पन्न दायित्व (obligation) हैं।

यह कहा जाता है कि देशी ऋण से, सामान्यतः, अर्थव्यवस्था पर कोई निवल भार (net burden) नहीं पड़ता बल्कि उसमें तो राष्ट्रीय आय का केवल पुनर्वितरण होता है। परन्तु विदेशों से लिये हुए ऋण अर्थव्यवस्था को दरिद्र बनाते हैं। विदेशों को ब्याज की अदायगी और ऋण की वापसी का अर्थ होता है राष्ट्रीय आय का समवर्ती शोषण (corresponding exhaustion), और इससे देश के विदेशी विनिमय के साधनों की तथा स्वर्ण की माँग बढ़ जाती है। यह वही स्थिति है जिसे कि अभी पीछे स्थानान्तरण समस्या कहा गया था। परन्तु सत्यता यह है कि इससे अर्थव्यवस्था में दरिद्रता जैसी कोई बात पैदा नहीं होती। वास्तव में जो होता है वह यह, कि प्रारम्भ में जब विदेशी ऋण लिये गये थे तो वे मशीनरी, कच्चा माल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के रूप में देनदार देश (debtor country) में प्रविष्ट हुए थे जिनके लिए उस समय कोई समवर्ती निर्यात नहीं किये गये थे। कुछ समय बीतने के पश्चात्, देनदार देश इस बात का प्रबन्ध करता है कि वह आयात के मुकाबले अपने निर्यात की मात्रा बढ़ाये जिससे कि विदेशी ऋणों का भुगतान किया जा सके। इसमें, अर्थव्यवस्था के शोषण हास जैसी अथवा उसके दरिद्र होने जैसी कोई बात नहीं है अपितु वास्तविकता यह है कि वस्तुओं के लिए वस्तुएँ अदा की जाती हैं। परन्तु यदि विदेशी ऋण का उपयोग प्रारम्भ में ही युद्ध के खर्चों को पूरा करने के लिए कर लिया गया तो अवश्य वह फलहीन ऋण (dead weight debt) बन जायेगा। निर्यात-बेशी (export surplus) के द्वारा ऋण की अदायगी भूतकाल में किये गये वस्तुओं और सेवाओं के उस आयात को रद्द नहीं करती जिसका देश की उत्पादन-क्षमता पर प्रभाव पड़ा था। इस स्थिति में, युद्ध-कालीन ऋण को अदा करने के लिए निर्यात-बेशी (export surplus) से अवश्य देनदार देश के नागरिक वस्तुओं और सेवाओं की कुछ मात्रा से वंचित हो जायेंगे। यह विदेशी ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार (net direct real burden) होगा।

इसके बावजूद, एक स्थिति ऐसी है जिसमें विदेशी ऋण देनदार देश के लिए परेशानी का कारण बन सकता है। निर्यात-बेशी (export surplus) के निर्माण को आवश्यक बनाने वाली स्थानान्तरण-समस्या का अर्थ "देश की आयात करने की भावी क्षमता का शोषण" जो कि विकास की दृष्टि से बड़े महत्व की होती है। परन्तु यदि विदेशी ऋण केवल तभी लिए जाएँ जबकि ऐसा करना पूर्णतया आवश्यक हो गया हो तथा आन्तरिक स्रोतों का यथासम्भव उपयोग कर लिया गया हो, और यदि विदेशी ऋण का उपयोग कुल राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने में किया जाए, विशेष रूप से ऐसी वस्तुओं का उत्पादन जिनकी निर्यात के लिए आवश्यकता हो, तो ऐसा कोई कारण नहीं कि देनदार देश (debtor country) को भविष्य में किसी प्रकार की हानि उठानी पड़े।

एक अल्पविकसित देश जो अपने मूलभूत उद्योगों तथा सामाजिक व आर्थिक कार्यक्रमों के विकास के लिए विदेशों से उधार लेता है उसे प्राप्त होने वाले लाभ ऋण की अदायगी के भार से अधिक होते हैं। इस प्रकार, विकास कार्यों के लिए लिया जाने वाला विदेशी कर्ज भार नहीं है

नही होती । अतः इन देशो को लगातार अदायगी शेष की प्रतिकूल परिस्थितियो एव विनिमय-दर (exchange rate) की कठिनायो का सामना करना पड़ता है। विदेशी ऋण लेने या न लेने के बारे मे लोगो मे काफी भ्रम (confusion) तथा पूर्वाग्रह (prejudice) पाया जाता है अत यहाँ आन्तरिक व बाह्य ऋणो की तुलना करना उचित होगा।

आन्तरिक ऋणों का भार (Burden of Internal Debt) :

आन्तरिक ऋण की स्थिति मे समाज पर, सम्पूर्ण रूप मे (as a whole) कोई प्रत्यक्ष द्रव्य-भार (direct money burden) नही पड़ता क्योकि ब्याज की अदायगियाँ और उनकी पूर्ति के लिए कराधान केवल एक वर्ग के व्यक्तियो की ओर से दूसरे वर्ग की ओर को क्रय-शक्ति का केवल स्थानान्तरण-मात्र होता है। यदि बॉण्ड धारक तथा करदाता एक ही है तो उस सीमा तक यह हो सकता है कि समाज पर कतई भी शुद्ध भार (net burden) न पड़े। परन्तु यदि बॉण्ड-धारक और कर-दाता आय के विभिन्न वर्गों से सम्बन्ध रखते हैं तो उस स्थिति मे अवश्य समाज मे लोगो के विभिन्न वर्गों के बीच आय के वितरण मे परिवर्तन होगे।

आन्तरिक ऋण एक भार है और कहना बड़ा तर्कहीन है कि आन्तरिक ऋणो का कतई कोई भार नही पडता। सर्वप्रथम तो, ऋण का उद्देश्य ही विचारणीय है। उत्पादक उद्यमो अथवा विनियोग की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए जो ऋण लिये जाते है वे उस विनयोग के लाभो मे से अदा किये जाते हैं। दूसरी ओर, युद्ध की वित्तीय-व्यवस्था के लिए जो ऋण लिये जाते है वे फलहीन ऋण (dead weight debt) कहलाते है और उनकी अदायगी कराधान द्वारा की जाती है। उपरोक्त पहले उदाहरण मे स्पष्टत ही कोई भार नही पडता। पर यह भी कहा जाता है कि दूसरे उदाहरण मे भी इसलिए कोई भार नही पडता क्योकि कराधान के द्वारा जो भार पडता है वह उन लाभो से समाप्त हो जाता है जो कि सरकार द्वारा ब्याज की अदायगियाँ करने से प्राप्त होते हैं।

दूसरे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सरकारी ऋण का वास्तविक भार (real burden) पड़ता है या नही, यह एक तो उन लोगो की किस्म (type) पर निर्भर होता है जिनके पास बाण्ड होते है और जो ब्याज की अदायगियाँ प्राप्त करते है; और दूसरे उन लोगो की किस्म पर जो कर अदा करते हैं। चूँकि अधिकाश मामलो मे सरकारी बॉण्डो के धारक (holders) तो उच्च आय वाले वर्गों के लोग होते है किन्तु कर-दाता धनी भी होते हैं और निर्धन भी, अत समाज के भार मे शुद्ध (net) वृद्धि होती है।

तीसरे, ऋण की अदायगी का वास्तविक भार निश्चित रूप से उससे अधिक होता है जितना कि उसके बारे मे पहले अनुमान लगाया जाता है। उदाहरण के लिए, सरकार द्वारा उन लोगो के लाभ के लिए, (जो अदायगी प्राप्त करते है) और जो निष्क्रिय (passive) तथा बेकार पड़े रहते है तथा बूढ़े होते हैं, उन लोगो पर कर लगाये जाते हैं जो उत्साही, देशभक्त, सक्रिय (active) और परिश्रमी होते हैं।

चौथे, युद्धकाल मे जब ऋण लिया जाता है तो (ऊँची कीमतो के कारण) मुद्रा का मूल्य कम होता है। किन्तु बाद मे युद्ध के पश्चात् जबकि कीमतें आमतौर पर गिरती हैं तो वे लोग, जो सरकारी बॉण्डो के स्वामी होने के कारण ब्याज की आय प्राप्त करते है, वास्तविक आय की दृष्टि से लाभ मे रहते है।

अन्त में, ब्याज की अदायगी तथा ऋण की वापिसी के लिए कर लगाने पड़ते हैं जो काम करने तथा बचत करने की योग्यता तथा इच्छा को प्रभावित करते है। अनावर्ती पूँजी कर (capital levy) लगाकर अथवा कुछ अत्यधिक आरोही (highly Progressive) कर लगाकर जितनी भी जल्दी ऋणो की वापिसी कर दी जाती है उतना ही समाज के लिए वह अच्छा होता है। तथापि, यह आवश्यक है कि ऋण की वापिसी अदायगी की व्यवस्था ऐसे तरीके से और ऐसे समय में की जानी चाहिए कि उत्पादन पर उसका कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि आन्तरिक अथवा देशी ऋण भी भार डालता है। यह कहना, कि आन्तरिक ऋण का देश की अर्थव्यवस्था पर कोई भार नही पडता है, सैद्धान्तिक रूप से तर्क-हीन और व्यावहारिक दृष्टि से अवास्तविक है।

ऋण इसका एक अच्छा उदाहरण है—तब तो जितनी भी जल्दी इसको अदा कर दिया जाए, सरकार तथा जनता के हित में उतना ही अच्छा होता है।

सरकार अपने ऋणों का निपटारा करने के लिए भिन्न-भिन्न तरीके अपनाती है। इनमें से कुछ तरीके तो बहुत तीव्र हैं—जैसे कि ऋण-नकार (repudiation of debt) जबकि कुछ अन्य तरीकों में ऋण का शोधन बिल्कुल होता ही नहीं, अपितु एक ऋण की सहायता से दूसरे ऋण का अदा कर दिया जाता है। अब हम उन अनेक तरीकों का विवेचन करेंगे जो सरकार को अपना ऋण चुकाने के लिए उपलब्ध होते हैं।

(१) ऋण से इन्कारी अथवा ऋण-निषेध (Repudiation of Debt) :

ऋण-नकार का अर्थ है कि सरकार अपने दायित्वों (obligations) को स्वीकार नहीं करती और ब्याज तथा मूलधन, दोनों ही की अदायगी से इन्कार करती है। इन्कारी का अर्थ ऋण को पूर्णत न चुकाना ही नहीं है बल्कि उसे नष्ट करना भी है। सामान्यत एक सरकार अपने ऋणों की अदायगी से इन्कार नहीं करती क्योंकि ऐसा करने से सरकार में सामान्य जनता का विश्वास हिल जाता है। तथापि, चरम परिस्थितियों में, कोई भी सरकार अपने आन्तरिक अथवा बाह्य ऋण-दायित्वों से इन्कार करने को बाध्य हो सकती है। उदाहरण के लिए, आन्तरिक रूप में, हो सकता है कि वित्तीय विनाश और दिवालियेपन का सामना करना पड रहा हो और बाह्य रूप में, विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ उसके सामने मुँह बाये खडी हों। आमतौर पर, सरकार अपने आन्तरिक ऋणों की अदायगी में इन्कार नहीं करती क्योंकि इससे आन्तरिक विद्रोह पनपता है—अर्थात् वे लोग जिन्होंने सरकार को उधार दिया था, सरकार के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। तथापि, अपने विदेशी ऋण दायित्वों से मुकरने का प्रलोभन कभी-कभी सरकार में बडी दृढता से पाया जा सकता है। ऋणों के निपटारे के इन सभी तरीकों में ऋण-नकार का तरीका सबसे अधिक तीव्र है, वास्तव में इसका अर्थ है ऋण का बिल्कुल ही शोधन न करना।

(२) ऋणों का परिवर्तन अथवा बदली (Conversion of Loan)

ऋणों के शोधन अथवा प्रतिदान (redemption) का एक अन्य तरीका ऋणों की बदली का है, अर्थात् इसके अन्तर्गत एक पुराना ऋण नये ऋण में परिवर्तित कर लिया जाता है। ऋणों की बदली का आश्रय निम्न परिस्थितियों में लिया जा सकता है :—

(क) जब ऋण के शोधन के समय पर सरकार के पास आवश्यक धन न हो और,

(ख) जब ब्याज की चालू दर उस दर से नीची होती है जिससे कि अपने वर्तमान ऋणों का ब्याज चुका रही है। ऐसा करके सरकार अपनी ब्याज की अदायगियों को कम कर सकती है। ऋण की बदली हमेशा नये कर्ज लेकर की जाती है। अत उससे सरकारी ऋण के परिमाण (volume) में कोई कमी नहीं होती। अतः वस्तुत ऋण की बदली को ऋण का शोधन नहीं कहा जा सकता।

कभी-कभी ऋण की वापिसी (refunding of debt) और ऋण की बदली (conversion of debt) के बीच भेद किया जाता है, यद्यपि कभी-कभी दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। स्पष्ट कहा जाए तो ऋण की वापिसी कम ब्याज वाले नये ऋण द्वारा अधिक ब्याज वाले पुराने ऋण की अदायगी की रीति की सूचक है, अतः वापिसी का अर्थ है नये ऋण लेकर पुराने ऋण की अदायगी। दूसरी ओर बदली का अर्थ है—ब्याज की दर तथा अन्य बातों में परिवर्तन। उदाहरणार्थ, ऋण की शोधन-तिथि पर सरकार अपने वर्तमान बॉण्ड-धारकों को यह छूट दे सकती है कि वे या तो वे अपना रुपया नकद ले लें अथवा वे अपने पुराने बॉण्डों को नये बॉण्डों में बदल लें। मोटेतौर पर, ऋण की वापिसी और ऋण की बदली एक ही बात है।

(३) क्रमिक बॉण्ड शोधन या प्रतिदान (Serial Bond Redemption) :

सरकार ये निश्चय कर सकती है कि वह पहले जारी किये गए बॉण्डों का कुछ भाग प्रति वर्ष अदा करती रहे। अतः ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि सरकारी ऋण का कुछ भाग

वल्कि एक लाभदायक उद्यम है। यह बिल्कुल वैसा ही होता है जैसा कि विकास कार्यों के लिए लिया जाने वाला आन्तरिक ऋण।

क्या कोई देश सरकारी ऋण से दिवालिया हो सकता है? (Can a Country Become Bankrupt Through Public Debt ?) :

कभी कभी, लोग यह सोचते हैं कि लगातार बढते हुए सरकारी ऋण से राष्ट्र दिवालिया हो सकता है। यह बात आंशिक रूप से सत्य है और आंशिक रूप से गलत। यदि दिवालियेपन (bankruptcy) का अर्थ है, उधार लिये हुए धन को लौटाने में असमर्थता, तब तो एक देश कभी दिवालिया नहीं हो सकता, चाहे उसका आन्तरिक ऋण कितना ही अधिक क्यों न हो जाए। सरकार अधिक कराधान द्वारा अथवा नोट छापकर सदा ही अपने दायित्वों को पूरा कर सकती है। सरकार को इस बात की भी छूट होती है कि भारी मात्रा में अनावर्ती पूंजी कर (capital levy) लगा दे। और एक झटके में ही ऋणों का भुगतान कर दे। यहाँ तक कि यदि सरकारी ऋण से इन्कार भी हो जाए, यद्यपि ऐसा होना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है, तो भी उससे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि जो लोग सरकार से ब्याज प्राप्त करते है, आखिरकार उन्हें ही तो इसलिये कर देने पड़ते है जिससे कि सरकार ब्याज अदा कर सके। इस स्थिति में क्या यह अच्छा नहीं होगा कि ऋणों को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया जाए अथवा कम से कम उनकी मात्रा घटा दी जाये जिससे कि ब्याज की अदायगियाँ तथा साथ ही साथ कर उसी अनुपात में कम हो जाएँ? किसी भी स्थिति में, सरकार अपने आन्तरिक ऋण के कारण दिवालिया नहीं होती। तथापि, ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती है जब कोई सरकार विदेशों के प्रति अपने ऋण-दायित्वों को पूरा करने में असमर्थ हो जाए। जब विदेशी ऋणों का ब्याज और ऋण की अदायगी की धनराशि काफी बड़ी हो जाती है और जब अनेक कारणों से पर्याप्त मात्रा में निर्यात-बेशी (export surplus) का निर्माण नहीं हो पाता, तो हो सकता है कि देनदार देश की सरकार अपने ऋण-दायित्वों को पूरा करने में असमर्थ हो जाए। इस स्थिति में, वह या तो ऋणों को स्थगित करने की मांग कर सकती है अथवा पुराने ऋणों को अदा करने के लिए नये ऋण ले सकती है। केवल अत्यन्त चरम स्थितियों में ही, वह विदेशी ऋणों से इन्कार कर सकती है। ऋण-नकार (debt repudiation) एक अत्यन्त तीव्र कार्यवाही है क्योंकि इससे देश अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजार में अपनी साख खो देता है और फिर विदेशी स्रोतों से उसे कभी उधार नहीं मिलता।

निष्कर्ष (Conclusion) :

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उधार, चाहे वह देशी हो या विदेशी, अनेक लाभ प्रदान करता है। परन्तु यह समाज पर भार डालता है—वास्तविक एवं मौद्रिक, दोनों ही रूपों में और प्रत्यक्ष रूप से भी एवं परोक्ष रूप से भी। चूंकि विदेशी ऋणों के मामले में अतिरिक्त लाभ उठाना पड़ता है, अतः ऐसे ऋणों को लेने में विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए। सभी प्रकार के सरकारी ऋण समाज अथवा राष्ट्र पर भार डालते है और कहना बड़ा ही तर्कहीन है कि आन्तरिक अथवा देशी ऋण वास्तविक भार (real burdens) नहीं डालते।

सरकारी ऋण का शोधन अथवा प्रतिदान
(Redemption of Public Debt)

जिस प्रकार एक व्यक्ति अथवा संगठन को उधार लिया हुआ ऋण लौटाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार सरकार को भी न केवल सरकारी ऋण का ब्याज अपितु मूलधन (principal) भी अदा करना होता है। अनुभव बतलाता है कि बढ़ते हुए सरकारी ऋण, इस तथ्य के अलावा कि वे जनता पर करों का बोझ डालते है, लोगों पर अनैतिक प्रभाव भी डालते हैं। अतः जितनी भी जल्दी ऋण अदा हो जाएँ उतना ही सरकार के लिये अच्छा होता है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि सरकारी ऋणों का उपयोग उत्पादक-कार्यों के लिये किया गया है तो यह हो सकता है कि उससे छुटकारा पाना इतना आवश्यक न हो, क्योंकि इस स्थिति में सरकार को ऋण का ब्याज अदा करने के लिए आय का एक स्रोत मिला होता है। यदि सरकारी ऋण का अधिकांश भाग अनुत्पादक अथवा फलहीन ऋण (dead weight debt) के रूप में है—युद्ध कालीन

(ख) युद्धकालीन ऋण अनुत्पादक (unproductive) तथा समाज के लिए फलहीन (dead weight) होता है अत. वर्ष के वर्ष भारी कर लगाना आवश्यक हो जाता है। यह अच्छा है कि कोई विशेष कर लगाकर इसको सदा के लिए एक बार मे ही निपटा दिया जाए।

(ग) युद्धकालीन स्फीति तथा मँहगाई के कारण, व्यवसायियो, उत्पादको तथा सट्टेबाजो (speculators) के पास बडी-बड़ी सम्पत्तियाँ जमा हो जाती है अत: उनके लिए अनावर्ती पूँजी कर मे अपना अशदान देना आसान होता है, और एक प्रकार से यह न्यायोचित भी है कि वे युद्ध के भार का कुछ भाग वहन करें।

(घ) अनावर्ती पूँजी कर द्वारा सरकारी ऋण का शोधन करने के उच्च आय वाले वर्ग के लोग उसी पूर्व स्थिति मे बने रहते हैं क्योकि वे अनावर्ती पूँजी कर के रूप मे सरकार को जो कुछ देते हैं वे ऋण-वापिसी के रूप मे सरकार से प्राप्त कर लेते हैं।

विशेष कर लगा कर सरकारी ऋण का शोधन करने की रीति शोधन-निधि (sinking fund) की रीति से श्रेष्ठ बताई जाती है क्योकि यह विशेष कर केवल एक बार लगाया जाता है जबकि शोधन-निधि के निर्माण के लिए वर्ष के वर्ष कर लगाने पडते है। अनावर्ती पूँजी का सबसे बड़ा गुण यह है कि करो के उस भारी बोझ को कम कर देता है जो कि सरकारी ऋण के निपटारे के लिए अन्य किसी भी स्थिति मे आवश्यक होता है। परन्तु अनावर्ती पूँजी कर मे एक खतरा भी निहित है और वह यह कि सरकार कहीं बार-बार इसका आश्रय लेने को उत्सुक न हो जाए।

(७) विदेशी ऋण का शोधन अथवा प्रतिदान (Redemption of External Debt) :

विदेशी ऋण का शोधन केवल तभी किया जा सकता है जबकि उसको अदा करने के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय (foreign exchange) का सचय कर लिया जाए। ऐसा निर्यात-बेशियो (export surpluses) का निर्माण करके किया जा सकता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि विदेशी ऋणो का विनियोग बडी सावधानी से ऐसे उद्योगो मे किया जाए जिनमे कि उत्पादन की भारी सम्भावनाएँ मौजूद हो और जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से निर्यात मे वृद्धि करे। इसके साथ ही निर्यात बेशियो को वस्तुओ के रूप म रखना चाहिए जो कि तत्काल विदेशियो द्वारा खरीद ली जाती है। हाँ अस्थायी रूप से यह हो सकता है कि नय कर्ज लेकर उससे पुराने ऋण का भुगतान कर दिया जाए।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि ऋण शोधन की उपर्युक्त रीतियो मे से किसी एक का चुनाव करना कोई बडी बात नहीं है (किन्तु ऋण-नकार को छोड़कर, जिसका आश्रय नही लिया जा सकता) क्योकि प्रत्येक रीति के अपने लाभ तथा दोष है। परन्तु इनमे सबसे अधिक प्रचलित एव उपयुक्त रीति यही है कि सरकारी ऋण का कुछ भाग प्रतिवर्ष निपटा दिया जाए, ताकि ऋण की मात्रा बढती न चली जाए।

विकास-वित्त के साधन के रूप में कर, कर्ज और घाटे की वित्त व्यवस्था
(Tax, Loan and Deficit Financing as Sources of Development Finance)

प्रत्येक सरकार के पास अपने खर्चों की पूर्ति के लिए आय के अनेक स्रोत होते हैं। इनमे सबसे प्रमुख स्रोत है—कर, कर्ज तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था। अब हम सरकारी खर्च के लिए धन-प्राप्ति के इन तीनो ही स्रोतो के क्षेत्र की व्याख्या करेंगे। विषय को अच्छी प्रकार समझने के लिए हम सरकारी खर्च का भी चालू व्यय अथवा राजस्व व्यय और पूँजीगत व्यय अथवा विकास व्यय मे वर्गीकरण करेंगे।

चालू व्यय (Current Expenditure) का अर्थ है नागरिक प्रशासन, पुलिस तथा सेना पर किया जाने वाला व्यय और साथ ही साथ शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुरक्षा (social security) आदि पर किया जाने वाला व्यय। यह सामान्य आवर्ती खर्च (normal recurring expenditure) का सूचक होता है। इसे सचालन व्यय अथवा राजस्व व्यय (revenue expenditure) भी कहा जाता है क्योकि इसको चालू आय (current revenue) अर्थात् कराधान द्वारा

प्रतिवर्ष परिपक्व (mature) हो जाया करे। उन बॉण्डों की क्रमसंख्या के बारे में भी प्रारम्भ मे ही निर्णय किया जा सकता है जो कि प्रतिवर्ष परिपक्व होंगे। इस पद्धति से ऋण का निश्चित भाग प्रतिवर्ष अदा कर दिया जाता है। इस प्रकार के ऋण-शोधन की एक किस्म यह भी है कि प्रतिवर्ष परिपक्व होने वाले बॉण्डो की क्रम संख्या का निर्णय लाटरी द्वारा कर लिया जाए। ऋण-शोधन की पहली किस्म मे, बॉण्ड-धारकों को यह पता रहता हैं कि कौन-कौन से बॉण्ड कब परिपक्व होगे और वे अपनी सुविधानुसार ही बॉण्ड खरीद सकते है। दूसरी किस्म, मे बॉण्ड-धारक अदायगी के समय के बारे मे अनिश्चित स्थिति मे रहते हैं और इस स्थिति मे यह भी हो सकता है कि उन्हे अपना धन सबसे अधिक असुविधाजनक समय मे वापिस मिले।

(४) ऋणो को खरीदना अथवा क्रय करना (Buying up Loans)

सरकार बाजार से ऋणो को खरीद कर भी अपने ऋण का निपटारा कर सकती है। जब भी कभी सरकार के पास बेशी की आय (surplus income) होती है तो वह उस आय को, सरकारी बॉण्डो को बाजार से, जहाँ कि उनका क्रय-विक्रय होता है, खरीदने मे खर्च कर देती है स्पष्ट कहा जाए तो यह ऋण का शोधन नही, बल्कि ऋण की खरीदारी है। यह एक अच्छी पद्धति है, बशर्ते कि सरकार के पास बजट बेशी वर्तमान हो। ऋणो के निपटारे की इस रीति का एकमात्र दोष यह है कि वह व्यवस्थित (systematic) नही है।

(५) शोधन-निधि के निर्माण द्वारा (By Sinking Fund Construction)

शोधन-निधि सरकारी ऋण के निपटारे का बडा सुव्यवस्थित एव सर्वश्रेष्ठ तरीका है। इसका अर्थ है एक ऐसी निधि का निर्माण तथा उसमे धन का क्रमिक सचय, जो कि सरकारी ऋण की अदायगी के लिए पर्याप्त हो। शोधन-निधि अनेक प्रकार की होती है। इसका सबसे अधिक प्रचलित रूप यह है :—

मान लीजिए कि सरकार ने सडक निर्माण के लिए १० करोड रु० का ऋण लिया है जिसका निपटारा १० वर्षों मे होता है। सरकार ऋण लेने के समय से ही पेट्रोल पर कर लगा सकती है और इसकी प्राप्तियो को एक निधि (fund) मे जमा कर सकती है। यह निधि ही शोधन-निधि कहलाती है। प्रतिवर्ष करो की प्राप्तियाँ तथा विनियोग से प्राप्त होने वाला ब्याज उस निधि मे जुडता रहता है और इस प्रकार १० वर्ष पश्चात् यह उधार ली गई मूल धनराशि के बराबर हो जाती है; और तब उस समय इससे ऋण की अदायगी कर दी जाती है। शोधन निधि रीति का एक खतरा यह है कि सरकार आवश्यकता के समय सम्भव है इतना धैर्य न रख सके कि ऋण की परिपाक तिथि तक का इन्तजार करे और उसका उपयोग उस कार्य के अलावा, जिसके लिए कि मूलतः शोधन-निधि का निर्माण किया गया था, अन्य किसी कार्य के लिए कर ले।

वर्तमान समय मे शोधन-निधि का सचय इस प्रकार नही किया जाता और न वर्ष के वर्ष वह जारी रहती है, जैसा कि ऊपर बताया गया है। इसके बजाए, कुछ धन प्रतिवर्ष निकाल लिया जाता है और उससे उसी वर्ष ऋण के कुछ भाग की अदायगी कर दी जाती है। इस प्रकार निकाले गये धन को किसी निधि (fund) मे नही रखा जाता और न उसका सचय ही किया जाता है, अपितु उसका उपयोग या तो उन बॉण्डो को अदा करने मे कर दिया जाता है जो प्रतिवर्ष परिपक्व (mature) होते है अथवा उनका उपयोग बाजार के बॉण्डो को खरीदने मे कर लिया जाता है।

(६) अनावर्ती पूँजी कर (Capital Levy) :

सरकारी ऋण का निपटारा अनावर्ती पूँजी कर लगा कर भी किया जा सकता है। यह कर, जैसा कि हम पहले बतला चुके है, सरकारी ऋण के निपटारे के विशेष उद्देश्य से एक बार ही लगाया जा सकता है। इसको आमतौर पर युद्ध के एकदम बाद लगाने की वकालत की जाती है जिसके निम्नलिखित कारण है :—

(क) युद्धकाल मे युद्ध के संचालन के लिए बड़ी मात्रा मे सरकारी ऋण लेकर खर्चा किया जाता है अतः युद्ध के एकदम पश्चात् सरकार पर ऋण का भारी बोझ हो जाता है।

यह समाज को चालू उपभोग पर उसेअधिक वास्तविक भार (real burden) नही डालता जितना कि इतनी ही मात्रा में उधार लेने से पडता ।"[7]

विकास-वित्त के एक स्रोत के रूप मे कराधान का उपयोग करने के बारे मे जो लोगो का विश्वास बढ रहा है, उसके कई कारण हैं, सर्वप्रथम, एक पिछडे देश मे पूंजी-निर्माण की दर और इसी कारण उत्पादन तथा आय का स्तर बहुत नीचा होता है; इस स्थिति मे यह आवश्यक है कि कराधान का उपयोग पूंजी-निर्माण तथा निवेश के एक साधन के रूप मे किया जाय। दूसरे, उधार—आन्तरिक और बाह्य दोनो—की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं अत उसकी न्यूनतापूर्ति अन्य साधनो से करनी होगी, ऐसा ही एक साधन है कराधान। तीसरे, जहाँ तक निवेश-कार्य-क्रम के भार का प्रश्न है, उस सम्बन्ध मे कराधान तथा उधार के बीच चुनाव का कोई महत्व नही है, वास्तविक साधनो के अर्थ मे, निवेश का अर्थ है उपभोग मे कमी और साधनो का निवेश की ओर को अन्तरण। साधनों का यह अन्तरण अथवा दिशापरिवर्तन (diversion) कराधान द्वारा होगा अथवा उधार द्वारा—यह तो बडी छोटी सी बात है, वास्तविक यह है कि प्रत्येक स्थिति मे (उपभोग मे कटौती होने के कारण) वर्तमान पीढी को कष्ट उठाना होगा। चौथे जैसा कि डाल्टन ने कहा है कि ऋणो से कर अच्छे होते हैं क्योकि ये अर्नाजत आय (unearned income) की उत्पत्ति नही करते (किन्तु ऋण के अन्तर्गत चूंकि आगे चलकर ब्याज की अदायगियाँ की जाती हैं अत आगामी पीढी के लिये वे अनर्जित आय का साधन बन जाती हैं) इसके अतिरिक्त, करो की स्थिति मे पूर्ण हुई प्रयोजनाओ से ठोस अतिरिक्त लाभ प्राप्त होते हैं और ब्याज की अदायगी की कोई चिन्ता नही करनी पडती। इस प्रकार आर्थिक विकास के लिये वित्त की व्यवस्था कर्ज तथा कराधान, दोनो से ही की जा सकती है।

अल्पविकसित देश मे विकास-वित्त का एक और भी स्रोत होता है, और वह है घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) 18 घाटे की वित्त-व्यवस्था उस स्थिति मे मानी जाती है जबकि कोई सरकार अपने सभी स्रोतो की प्राप्तियो (receipts) से अधिक खर्च की स्थिति का सामना करती है और उससे हुए घाटे की पूर्ति या तो नई मुद्रा जारी करके अथवा केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर करती है। जब सरकार यह देखती है कि उसकी कुल प्राप्तियाँ उसके राजस्व तथा पूंजीगत खातो के कुल खर्चों से कम पड गई है तो वह जनता से अतिरिक्त ऋण लेने की सोच सकती है। यदि वे ऋण पर्याप्त सिद्ध न हो तो उसे या तो केन्द्रीय बैंक से उधार लेना पडता है अथवा नये नोट जारी करने होते है। केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने का अर्थ भी असल मे नोट जारी करने से ही होता है क्योकि केन्द्रीय बैंक सरकारी अदायगियो को निपटाने के लिए ही नोट छापता है।

अधिकाश अर्थशास्त्री अब यह स्वीकार करते है कि एक अल्पविकसित देश मे आर्थिक विकास को आगे बढाने के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था का एक बडा सहायक उपाय है और बहुमूल्य अस्त्र है, (घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण) द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि होने से श्रम तथा अन्य साधनो की माँग मे वृद्धि होती है अवस्फीति की स्थितियो (deflationary situations) का सामना करने के लिए राजकोषित नीति के एक अस्त्र के रूप भी घाटे की वित्त-व्यवस्था बहुत लोकप्रिय है। परन्तु आर्थिक विकास की वित्तीय व्यवस्था की इस रीति का उपयोग करते समय अत्यधिक सावधानी तथा सतर्कता बरतने की आवश्यकता है, क्योकि घाटे की वित्त-व्यवस्था स्वभाव से ही स्फीतिजनक (inflationary) होती है। अत. उस पर समुचित नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण अत्यधिक मात्रा मे नोट छापे जा सकते है और उसके फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य काफी गिर सकता है। "आग की तरह ही, घाटे की

---

7. Taxation Enquiry commission, Vol. I, p 153 "Financing a part of development by budgetory surpluses is a legitimate form of development finance and does not cause any greater real burden on the current consumption of the community than would be done by an equivalent amount of public borrowing"

8. स्थूल रूप मे, घाटे की वित्त-व्यवस्था का अर्थ है चालू आय के मुकाबले खर्च की अधिकता, इसलिए इसमे कर्ज भी सम्मिलित हैं। परन्तु यहाँ अपने विश्लेषण (analysis) मे हमने घाटे की वित्त-व्यवस्था के क्षेत्र से कर्जों को बाहर रखा है।

रा किया जाता है। इस खर्च की वित्त-प्राप्ति के तरीके के विषय मे कोई विवाद नही है क्योकि
ोकवित्त के प्रत्येक लेखक ने इस बात पर जोर दिया है कि चालू व्यय की पूर्ति केवल कराधान
ारा ही की जानी चाहिए। उनका तर्क है कि यह तो स्पष्टत बडा गलत होगा कि आवर्ती व्यय
ो वित्तीय व्यवस्था कर्जो द्वारा ही की जाए, क्योकि यदि ऐसा हुआ तो सरकारी ऋणो का ढेर
ग जायेगा, व्याज की अदायगी का खर्च बहुत बढ जायेगा और उस स्थिति मे मूलधन तथा ब्याज,
ोनो की ही अदायगी के लिए भारी कर लगाने आवश्यक हो जायेंगे। अत सभी आवर्ती खर्चो की
वित्तीय व्यवस्था करो द्वारा ही की जानी चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि चालू व्यय
ा यदि कोई असाधारण वृद्धि हो जाए (उदाहरणत युद्ध का व्यय) तो उसकी भी पूर्ति कराधान
ारा हो सकती है; क्योकि युद्ध-व्यय इतना अधिक हो सकता है कि केवल कराधान द्वारा उसकी
ूर्ति कर सकना सम्भव न हो। इन अपवादो (exceptions) को एक ओर छोड कर सामान्य
सिद्धान्त के रूप मे यह कहा जा सकता है कि चूंकि चालू व्यय से किसी परिसम्पत्ति (asset) का
निर्माण नही होता अत इसकी पूर्ति केवल चालू आय (current revenues) मे से ही की जानी
चाहिए। इस बात पर इस तथ्य की दृष्टि से भी जोर दिया जाता है कि चालू व्यय वर्तमान
पीढी (present generation) को कुछ लाभ पहुँचाता है अत. उसका भार भी वर्तमान पीढी पर
ही पड़ना चाहिए।

वास्तव मे समस्या पूंजीगत खर्च (capital expenditure) के बारे मे है, अर्थात् वह खर्च जो कि सरकार द्वारा कुछ ऐसी स्थायी परिसम्पत्तियो (permanent assets) के निर्माण के लिए किया जाता है जैसे कि सडकें, रेलें तथा परिवहन व सचार के अन्य साधन, सिंचाई तथा बिजली की योजनाएँ आदि। पूंजीगत व्यय, जिसे विकास व्यय[6] (developmental expenditure) भी कहा जा सकता है, के कुछ विशिष्ट लक्षण है। उदाहरण के लिए, इसमें आमतौर पर बहुत बडी धनराशि वाले खर्च सम्मिलित होते हैं, जैसे एक बाध (dam) का निर्माण जिसमे १ करोड़ से लेकर २०० करोड़ रु० तक खर्च हो सकते है। दूसरे, पूंजीगत व्यय को स्थायी परिसम्पत्ति का निर्माण करने मे कुछ समय लगता है। तीसरे, पूंजीगत व्यय से होने वाले लाभ एकदम प्राप्त नही होते, बल्कि उसमे समय लगता है और कभी-कभी तो वर्षो। परन्तु एक बार जब लाभो का प्रवाह चालू हो जाता है, वो फिर वह पीढियो तक जारी रहता है।

अब प्रश्न यह है कि पूंजीगत व्यय की वित्तीय व्यवस्था कैसे की जाए? पहले तो, अर्थशास्त्री इस बाता पर एकमत थे कि पूंजीगत व्यय की वित्तीय व्यवस्था पूर्णतया कर्जो द्वारा ही की जाए, इसका कारण यह दिया गया है कि पूंजीगत खर्चों के लाभ चूंकि केवल आगामी पीढियाँ (coming generations) को ही प्राप्त होते हैं अतः भावी सन्तति को ही उसे अदा करना चाहिए। ऐसा केवल उधार लेकर ही किया जा सकता है क्योकि इस स्थिति मे ब्याज की अदायगी और ऋण की वापसी भावी पीढ़ियो को ही वहन करनी होगी। अतः विकास खर्चो की वित्तीय व्यवस्था के लिए कर्ज पूर्णतया उपयुक्त (suitable) होते हैं।

परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे, इस प्रश्न पर अर्थशास्त्रियो के दृष्टिकोण मे काफी परिवर्तन हुआ है। जब से रूस ने कराधान का उपयोग पूंजी के सचय के एक बड़े साधन के रूप मे तथा विकास कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था के लिए किया है तभी से यह विश्वास जोर पकडता जा रहा कि कराधान (taxation) का उपयोग विकास-वित्त (development finance) के स्रोत के रूप में किया जा सकता है। भारत मे, कराधान जाँच आयोग ने इस बात की स्पष्ट वकालत की है कि विकास-वित्त के एक स्रोत के रूप मे कराधान का उपयोग किया जाए। "विकास के एक भाग के लिए वित्त का प्रबन्ध बजट की बेशियों से करना विकास-वित्त का एक उचित एव बंध रूप है और

---

6. भारत जैसे अल्पविकसित देशो मे, सरकार परिवहन, उद्योग तथा कृषि आदि के विकास के लिए ऐसे सभी प्रकार के खर्च करती है जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिले, रोजगार का स्तर ऊँचा उठे और रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो।

विकसित देशों मे, बैंकिंग व्यवस्था अभी तक अविकसित है और वित्तीय संस्थाएं भी इतनी थोड़ी हैं कि उनका अधिक महत्व नही है।

यद्यपि यह हो सकता है कि देशी उधार (internal borrowing) आर्थिक विकास के प्रारम्भिक वर्षों मे अधिक महत्वपूर्ण न हो, परन्तु समय बीतने के साथ ही साथ इसके महत्व मे वृद्धि होती है। आर्थिक विकास की गति बढ़ने के साथ ही साथ आय मे वृद्धि हो जाती है और तत्पश्चात् बचत मे भी वृद्धि हो सकती है। सरकार को भी शिक्षा के द्वारा, प्रचार के द्वारा तथा कर सम्बन्धी रियायतें व छूटें प्रदान करके बचतों को प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, सरकार यह भी कर सकती है कि एक ठोस बैंकिंग पद्धति तथा सुसगठित मुद्रा एव पूंजी-बाजारो की स्थापना करे। ये सस्थायें बचतों को गतिशील करने मे और उन्हे सरकार को निवेश के लिए प्राप्त कराने मे सहायक होगी।

परन्तु सरकार उस समय तक प्रतीक्षा नही कर सकती कि सभी वित्तीय सस्थाएं पूर्णतया विकसित हो जायें और वे सरकार को अधिक बचतें उपलब्ध कराने लगे। सरकार को विकास-प्रयोजनाएं यथाशीघ्र चालू करनी होनी हैं अत यह निश्चित है कि उसे वित्त के अन्य वैकल्पिक साधनो—उदाहरणत उधार, कराधान तथा स्फीति (Inflation) पर निर्भर रहना होगा। अनिवार्य ऋण, सम्भव है अधिक उपयोगी न हो क्योंकि उनमे कराधान तथा ऐच्छिक बचतो के सभी दोष पाये जाते हैं। विकास वित्त के कराधान तथा स्फीति जैसे अन्य वैकल्पिक साधनो पर हम पीछे विचार कर चुके हैं अत उन तर्कों को यहां दोहराने की कोई आवश्यकता नही है।

विदेशी स्रोतों से सरकारी उधार
(Public Borrowing from Foreign Sources)

एक अल्प-विकसित देश तीन विदेशी स्रोतो से उधार ले सकता है। वे स्रोत हैं—सामान्य जनता, सरकारें तथा अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएं। भूतकाल मे, सरकारो ने सामान्यत: विदेशी पूंजी बाजार से कर्जे लिये हैं और विदेशी नागरिकों से यह आशायें की हैं कि वे उसे कर्जों के रूप मे अपना योग देंगे। परन्तु आजकल निधियों (funds) की माँग इतनी अधिक होती हैं, राजनैतिक होती है तथा गैर-सरकारी विदेशी विनियोग मे इतनी अधिक कठिनाइयां सामने आती है कि सरकारी विनियोग ऋण-पत्रों (government securities) मे विदेशी व्यक्तियों तथा सस्था सम्बन्धी निवेशकर्त्ताओं द्वारा विनियोग करने की सम्भावनायें अनाकर्षक प्रतीत होती हैं। एक अल्पविकसित देश की सरकार उपयुक्त कार्यवाहियां करके राजनैतिक तथा सामाजिक अशान्ति और आर्थिक अस्थिरता को तो कम कर सकती है परन्तु उसके लिए यह बडा कठिन होगा कि वह विदेशी नागरिकों को इस विषय मे सन्तुष्ट कर सके कि वे उसके बॉण्डो को जोखिम रहित मान लें। आखिरकार एक लंबी अवधि तक ब्याज तथा मूलधन की अदायगी करने मे काफी मात्रा मे जोखिम तो निहित होता है और इस बात की ही क्या गारन्टी हो सकती है कि सरकार अपने वायदों को निभायेगी और कभी भी उन्हे रद्द नही करेगी।

दूसरी ओर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का अनुभव भी यह स्पष्ट बताता है कि उन्नत देशो ने अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास मे काफी रुचि ली है। आजकल अन्तर्सरकारी कर्ज (inter-governmet loans) बडे महत्वपूर्ण बनते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएं, जैसे कि विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ (I D A.), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C) तथा सयुक्त राज्य आयात-निर्यात बैंक (United State Import-Export Bank) आदि ऐसे महत्वपूर्ण स्रोत है जिनसे अल्प-विकसित देश विकास कार्यों के लिए उधार ले सकते हैं। परन्तु ये सस्थाएं कर्ज देने से पहले अपनी कुछ न्यूनतम शर्तों के पालन पर जोर देती हैं और अनेक अल्प-विकसित देश, यह सम्भव है उन्हे पूरा न कर सकें।

यहाँ हम उन्नत देशो द्वारा उधार देने की महत्ता पर भी विचार कर सकते है। मन्दी की अवधि मे कम विकसित देशो को ऋणो तथा अनुदानो (loans and grants) को देने से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिरता बनाये रखने मे सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, मन्दी काल मे उन्नत देशो के पास काफी बचते वर्तमान होती हैं और उनके अदायगी शेष balance of payment) अनुकूल होते हैं। दूसरी ओर इसी अवधि मे, कम विकसित देशों की सरकारो को प्रगति की स्थिर

वित्त-व्यवस्था को 'एक अच्छा सेवक तथा बुरा स्वामी' कहा जाता है।"[9] अतः प्रत्येक स्थिति मे अल्पविकसित देशो मे विकास-वित्त के एक स्रोत के रूप मे एक सीमित एव उपयुक्त मात्रा मे घाटे की वित्त-व्यवस्था की अनुमति दी जा सकती है।

विकास प्रयोजनाओ की वित्तीय-व्यवस्था करने की अभी भी एक रीति और है। अधिकाश देशो मे, विशेष रूप से अल्पविकसित देशो मे सरकार अनेक उद्योगो पर अपना अर्द्ध-एकाधिकार (semi-monpoly) अथवा पूर्ण-एकाधिका (full monpoly) रखती है। ऐसे उद्योगो के लाभो को सरकार फिर निवेश कर देती है और इससे विकास वित्त के एक नये स्रोत का निर्माण हो जाता है।

एक अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्था में सरकारी ऋण
(Public Debt in an Underdeveloped Economy)

एक अच्छे तथा समुचित वित्त का सस्थापक (classical) तथा नवसस्थापक (new-classical) दृष्टिकोण यह रहा है कि सरकार को अपनी चालू कर-आय (current tax revenues) तो चालू सरकारी खर्चों मे लगानी चाहिए और पूँजीगत खर्चों की पूर्ति उसे सरकारी उधार लेकर करनी चाहिए। वर्तमान समय में, इस दृष्टिकोण को छोड दिया गया है और सार्वलौकिक रूप से यह विश्वास किया जाता है कि इन दोनो प्रकार के खर्चों के वित्त के बीच कोई ऐसी कड़ी रेखा खीचना अनावश्यक है और यह कि पूँजीगत खर्चों की वित्तीय व्यवस्था आय-कर से भी की जा सकती है। अब यह माना जाता है कि सरकार की वित्तीय नीति अर्थव्यवस्था मे चक्रीय तथा ढांचे सम्बन्धी विकास पर आधारित होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से, ऋण का प्रबन्ध (debt management) अधिक समय तक केवल इस बात पर ही निर्भर नही रहना चाहिए कि विकास-कार्यों के लिए सरकार की वित्तीय आवश्यकताएँ कितनी है। यह आधुनिक दृष्टिकोण अल्पविकसित तथा विकासोन्मुख अर्थव्यवस्थाओ पर विशेष रूप से लागू होता है। जैसा कि हम पीछे बतला चुके हैं, यदि यह आवश्यक है कि बिना किसी देरी के सरकारी निवेश मे वृद्धि की जाए और यदि यह पाया जाता है कि सरकारी ऋण अपर्याप्त है तो सरकार के निवेश-कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था के लिए कर-आय के कुछ भाग का उपयोग करना बिल्कुल सही है। अत. जहाँ तक एक विकासशील अर्थव्यवस्था (economy) का सम्बन्ध हैं, एक उचित एव ठोस वित्त (sound finance) के इस सस्थापक दृष्टिकोण (classical view) को स्वीकार नही किया जा सकता कि पूँजीगत व्यय के लिए केवल उधार का ही उपयोग करना चाहिए, क्योकि यदि इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया तो उससे देश का आर्थिक विकास (economic development) नही, अपितु केवल विलम्बित विकास (retarded development) होगा।

घरेलू अथवा देशी उधार की सम्भावनाएँ (Prospects for Domestic Borrowing)

सरकारी उधार अल्पकाल के लिए भी हो सकता है और दीर्घकाल के लिए भी। परन्तु निवेश-कार्यो के लिए हमारा सम्बन्ध केवल दीर्घकालिक उधार (long term borrowing) से ही है। चूँकि ऐच्छिक कर्ज ऐच्छिक बचतो मे से ही दिये जाते हैं अत देशी उधार का क्षेत्र सीमित ही होता है। इस कारण (reasons) बड़े आसानी से दिये जा सकते हैं—उदाहरणत लोगो की एक बडी सख्या की आय के नीचे स्तर, किसानो तथा मध्यम वर्ग के लोगो की बहुत थोड़ी बचतें, अधिकाधिक उपभोग के लगातार प्रयत्न आदि। अल्पसख्यक धनी लोग अवश्य अपनी आमदनियो का काफी भाग बचा लेते हैं, परन्तु ये बचतें आमतौर पर सरकार को प्राप्त नही होती। अतः सरकार के लिए एकमात्र अच्छा स्रोत बैंको एव वित्तीय सस्थाओ का रह जाता है। बैंक अपनी निधियो का एक भाग सुरक्षित किन्तु कम व्याज देने वाले सरकारी ऋण-पत्रो (government securities) मे लगाना पसन्द करते हैं। यही स्थिति कुछ वित्तीय सस्थाओ—जैसे बीमा कम्पनियो विनियोग प्रन्यासो (investment trust) पर भी वैसे ही लागू होती है क्योकि ये वित्तीय सस्थाएँ अपनी सामूहिक बचतो को सुरक्षित सरकारी बॉण्डो मे लगाना पसन्द कर सकती है। परन्तु अल्प-

9. Deficit financing, like, fire, is called to be a good servant but a bad master."

प्रो० राजा चेलियाह (Prof Raja Chelliah) के अनुसार एक विकासोन्मुख देश (developing country) मे एक अच्छी कर-पद्धति का कार्य यह होना चाहिए कि वह उस आर्थिक वेशी (economic surplus) को गतिशील करे जोकि अर्थव्यवस्था मे अभी हाल मे उत्पन्न हुई हो। आर्थिक वेशी उस अन्तर को कहते हैं जो वास्तविक चालू उपज (actual current output) तथा वास्तविक चालू उपभोग के बीच पाया जाता है, भारत जैसे देश मे, आर्थिक वेशी का एक बडा भाग कृषिक्षेत्र मे उत्पन्न होता है और वह जमीदारो (landlords), व्यापारियो तथा अन्य लोगो द्वारा अपने पास रख लिया जाता है, और ये लोग इस वेशी को उत्पादक विनियोजन मे (productive investment) लगाने के अभ्यस्त नही होते। "आर्थिक विकास की दृष्टि से कर नीति का कार्य यह है कि वह इस वेशी को गतिशील करे, उसे उत्पादनीय स्रोतो (productive channels) की ओर को मोडे तथा उसके आकार मे निरन्तर वृद्धि करे।"[1] पूंजी निर्माण की गति तेज करने तथा आर्थिक वेशी (economic surplus) को गतिशील करने की सबसे प्रभावशाली रीति यह है कि साधनो (resources) का रुख निजी उपभोग से हटाकर सरकारी विनियोग की ओर को मोड़ दिया जाय।

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था मे एक अच्छी कर-पद्धति का अन्य महत्वपूर्ण कार्य आर्थिक वेशी ((economic surplus) मे होने वाली उन वृद्धियो को गतिशील करना होता है जो कि प्रारम्भिक आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हो। एक विकासोन्मुख देश मे विकास सम्बन्धी खर्चों के दबाव के अन्तर्गत जब अर्थव्यवस्था का विस्तार होने लगता है तो उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। अब यदि आय की वृद्धि के अनुपात मे ही उपभोग को भी बढने दिया गया, तो उस स्थिति मे आर्थिक वेशी मे वृद्धि नही होगी और उसकी मात्रा पूर्ववत् ही बनी रहेगी। परन्तु होना यह चाहिए कि आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवधि के कुछ वर्षों मे वेशी की मात्रा मे वृद्धि हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये, कराधान (taxation) का ढांचा इस प्रकार बनाया जाना चाहिए कि वह आय की वृद्धि के अनुपात मे ही होने वाली उपभोग की वृद्धि को रोक सके, और यह कार्य वस्तु-कराधान (commodity taxation) मे वृद्धि करके किया जा सकता है।

यही नही, एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था मे, यह आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति कराधान मे अपना अशदान (contribution) दे, किन्तु उसका यह अशदान आर्थिक विकास मे अपना अश देने की योग्यता के अनुसार होना चाहिए। आर्थिक विकास मे अशदान देने की व्यक्ति की योग्यता (ability) का पैमाना यह हो सकता है कि व्यक्ति को प्राप्त होने वाली आर्थिक वेशी के उस भाग का पता लगाया जाए जिसे कि वह उत्पादक-विनियोजन (productive investment) मे न लगा रहा हो। तथ्य यह है कि न्यूनतम अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरा करने के बाद एक व्यक्ति की आर्थिक वेशी जितनी ही अधिक होगी, उतना ही अधिक उसका अशदान भी होना चाहिए। कार्यक्षमता (efficiency) तथा प्रेरणा (incentive) बनाये रखते हुए न्यूनतम आवश्यकताएं क्या हो—यह बात अनेक कारणो पर निर्भर होगी और जनता के विभिन्न क्षेत्रो के लिए ऐसे न्यूनतम (minimum) का निर्णय सरकार को करना होगा।

उपर्युक्त दोनो बातें विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की कर-पद्धति की न्यायशीलता को प्रगट करती हैं।

इसी प्रसग मे यहां एक ऐसी कर-पद्धति पर विचार करना भी रुचिकर होगा जिसका उद्देश्य विकास कार्यों के लिये अतिरिक्त साधन प्राप्त करना हो तथा करों के भार के वितरण मे समता अथवा न्याय (equity) के सिद्धान्त की खोज करना हो। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था मे, मुख्य लक्ष्य यह हुआ करता है कि आर्थिक विकास की गति को तेज किया जाय और कराधान इस

---

1. Raja Chelliah *Fiscal policy in Underdeveloped Countries.* Chapter III P 66 Dr. Chelliah has an interesting section in this chapter, entitled Canons of Taxation for India. "The task of the tax policy for economic development is to mobilise this surplus, direct it into productive channels and continuously enlarge its size"

गति बनाये रखने के लिए धन की आवश्यकता होती है। पिछड़े देशो मे, निर्यात वस्तुओं की कीमते गिर जाने के कारण सरकारो के अपने वित्त बहुत कम हो जाते हैं और उनके लिये यह बड़ा कठिन होता है कि विदेशो से वे आवश्यक पूँजीगत समान तथा यथेष्ट मात्रा मे पूरक वस्तुएँ मगा सके। यदि उन्नत देशो द्वारा अल्प-विकसित देशो को ऋण दिये गये तो उससे दोनों ही देशो मे आर्थिक गति-विधि मे वृद्धि होगी, उन्नत देशो मे आर्थिक स्थिरता उत्पन्न होगी और अल्प-विकसित देशो मे आर्थिक प्रगति होगी तथा बेरोजगारी घटेगी।

विदेशी ऋणो की आवश्यक शर्तें (Necessary Conditions for Foregin Loans)

विदेशी ऋण प्राप्तकर्त्ता देश को कुछ लाभ प्रदान करते है क्योकि ये उन्हे इस योग्य बना देते हैं कि वे पूँजी व तकनीकी ज्ञान प्राप्त करें जिन्हे कि वे अपने यहाँ नही प्राप्त कर सकते और जो आर्थिक विकास के लिए आवश्यक होते हैं। परन्तु आन्तरिक ऋण के कुल भार से उतनी ही माना के विदेशी ऋण का कुल भार अधिक होता है। इसका कारण यह है कि विदेशी ऋण मे अतिरिक्त स्थानान्तरण की समस्या (additional transfer problem) निहित होती है। इसके अतिरिक्त, विदेशो को ऋण वापिस लौटाने मे राष्ट्रीय आय का भी उतनी ही मात्रा मे शोषण होता है और स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय के साधनो की माँग अधिक बढ जाती है। अत यह बड़ा आवश्यक है कि विदेशी ऋण लेने के मामले मे अत्यधिक सावधानी बरती जाए। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि विदेशी ऋणो को न्यायोचित ठहराने के लिए कुछ निम्नलिखित आन्तरिक शर्तें पूरी की जाएँ :—

सर्वप्रथम, ऋणो का उपयोग प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक प्रगति की गति को तेज करने मे करना चाहिए। यदि यह शर्त पूरी कर दी जाए तो राष्ट्रीय आय मे और करो से होने वाली सरकारी आय मे भी वृद्धि होगी जिससे भविष्य मे ब्याज तथा मूलधन की अदायगी करना सम्भव हो सकेगा। दूसरे, विदेशी ऋण का विनियोग इस प्रकार किया जाना चाहिए कि भविष्य मे अनुकूल व्यापार-सन्तुलन (favourable balance of trade) की स्थिति उत्पन्न हो सके। जैसा कि हम पहले ही बतला चुके है, ऐसा होना इसलिए आवश्यक है क्योकि विदेशी ऋण से स्थानान्तरण की समस्या (transfer problem) उत्पन्न होती है अर्थात् यह आवश्यक हो जाता है कि देनदार देश (debtor country) से लेनदार देश (creditor country) की ओर को मुद्रा का स्थानान्तरण किया जाए। इसमे यह जरूरी हो जायगा कि हमारे निर्यात आयातों के अधिक हो। इस प्रकार, स्थानान्तरण समस्या का अर्थ है देनदार देश की आयात करने की उस भावी क्षमता का शोषण (exhaustion), जो कि उसके आर्थिक विकास के लिए बडे महत्व की होती है। इससे ही एक तीसरी शर्त उत्पन्न होती है, और वह यह कि विदेशी ऋणो को केवल तभी न्यायोचित ठहराया जा सकता है जबकि देश के उत्पादकीय साधन (productive resources) देश का एक सुनियोजित दर से विकास करने की दृष्टि से अपर्याप्त हो। ऐसा इसलिए, क्योकि विदेशी ऋण का कुल भार देशी ऋण के कुल भार से अधिक होता है।

उपरोक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है और वह यह कि एक पिछडे देश का विदेशों से ऋण लेना तब तक न्यायोचित नही माना जायेगा जब तक देश के आन्तरिक साधन अपर्याप्त न हों और ऋण की धनराशि का समुचित रूप से उपयोग न हो। इससे अतिरिक्त, प्रतिकूल अदायगी-शेषो की विद्यमानता को ऋण लेने का एकमात्र पर्याप्त कारण नही माना जा सकता। जैसा कि वेन फिलिप्स (Van Phillips) ने कहा है कि "अदायगी-शेषो मे लगातार असन्तुलन बने रहना, सामान्यत आन्तरिक आर्थिक बीमारी का एक लक्षण है और उस लक्षण के आधार पर लिया गया ऋण यह आवश्यक नही है कि उस बीमारी को ठीक कर ही देगा।"[10] वास्तव मे यह कोई आवश्यक नही है कि विदेशी ऋणो का उपयोग ऐसी प्रयोजनाओ मे किया जाना चाहिए जो निर्यात बढाएँ और आयातो मे कमी करें और इस प्रकार प्रतिकूल अदायगी शेष की स्थिति को समाप्त करें।

---

10 Van Philips : Finance in Less Developed Economies, p. 108. "A lasting disequilibrium in the balance is in general symptom of internal economic ills and borrowing on the basis of the symptoms does not necessarily cure the ills."

मूल रूप मे जिस बात की आवश्यकता है, वह यह है कि देश के कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि की जाए, केवल निर्यात पदार्थों मे ही नही। तथापि, ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनके अन्तर्गत यहां तक कि एक अस्थायी प्रतिकूल अदायगी-शेष भी आर्थिक विकास पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है। इस स्थिति मे, विदेशी ऋण को न्यायोचित ठहराया जा सकता है—प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन को ठीक करने के लिए नही अपितु आन्तरिक अस्त-व्यवस्ता को रोकने के लिए।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि अल्पकाल मे, एक कम विकसित देश को विदेशी सहायता पर अधिकाधिक भरोसा करना होगा। कराधान की अपनी सीमाएँ होती हैं और यही स्थिति देशी ऋणों की है, उधर स्फीतिजनक वित्तीय-व्यवस्था की भी सिफारिश नही की जा सकती। उपहारों (gifts) तथा अनुदानों (grants) के अलावा, अल्पावधि मे, विदेशी ऋण अतिरिक्त वित्त प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन बन सकते हैं। विकासशील अर्थव्यवस्था मे लक्ष्य केवल आर्थिक स्थिरता प्राप्त करना ही नही होता, बल्कि स्थिरता (stability) के साथ-साथ आर्थिक विकास करना भी होता है। सरकारी ऋण-व्यवस्था का उद्देश्य आर्थिक विकास तथा स्थिरता के द्विमुखी लक्ष्य को प्राप्त करना होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, यह आवश्यक है कि उधार, व्यय तथा ऋण की अदायगी मे समुचित समन्वय (proper co-ordination) हो। यह बात न केवल देशी ऋणों पर अपितु विदेशी ऋणो पर भी लागू होती है। तथापि, क्योकि विदेशी *ऋणो का काफी भार पडता है अत उन्हे तभी प्राप्त करना चाहिये जबकि ऐसा करना यथेष्ट रूप* से न्यायोचित हो।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1 Dalton — Public Finance, Chapter XXI-XXIII.
2 Allen and Brownlee — Economics of Public Finance Chapter XXI.
3 Van Philips — Public Finance in Less Developed Economics, Chapter VII
4. Taxation Enquiry Commission Report, Vol I, Chapter VIII.
5 Matsushitra Shutaro — The Economic Effect of Public Debt.

UNIVERSITY QUESTIONS

१ *सार्वजनिक ऋण क्या है ? व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक ऋण मे क्या अन्तर है ?*
What is public debt ? What is the distinction between private debt and public debt ?

२ स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत मे सार्वजनिक ऋण की प्रवृत्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिये।
Comment on the trends in India's public debt after independence.

३. एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे सार्वजनिक वित्त के योगदान की विवेचना कीजिये।
Discuss the importance of public debt in a developing economy.

४. "सार्वजनिक ऋण एक आधुनिक आवश्यकता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए और सार्वजनिक ऋणो के औचित्य तथा आवश्यकता का वर्णन कीजिये।
"Public debt is a modern phenomenon." Discuss this statement and state the expediency and necessity of public debt.

५. भारत सरीखी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे सरकारी ऋण के योगदान की विवेचना कीजिए।
Discuss the role of public debt in a developing economy like that of India.

६ एक विकासशील अर्द्धविकसित अर्थ-व्यवस्था मे सार्वजनिक ऋण के महत्व की विवेचना कीजिये। सार्वजनिक ऋण मे लघु-बचत के महत्व को बतलाइए।

Discuss the role of public debt in developing under-developed economies. Pointout the importance of small savings in public debt.

७ सार्वजनिक ऋण किन-किन उद्देश्यो के लिए लिया जाता है? व्यवसाय तथा रोजगार पर सार्वजनिक ऋण के प्रभाव का अध्ययन कीजिये।

State the objectives for which public debt may be incurred. Study the effects of public debt in bussiness activity and employment.

८. सार्वजनिक ऋण से क्या आशय है? सार्वजनिक ऋण के आर्थिक प्रभावो की विवेचना कीजिये।

What is meant by public debt? Discuss the economic effects of public debt.

९. सार्वजनिक ऋण के वर्गीकरण का वर्णन कीजिए।

Describe the classification of public debt.

१०. सार्वजनिक ऋण किसे कहते हैं? सार्वजनिक ऋण के स्रोतो का वर्णन कीजिए।

What is meant by public debt? Describe the sources of public debt.

११. सरकार ऋण क्यो लेती है? क्या ऋण अनिवार्य है? सरकार द्वारा लिये जाने वाले ऋण का औचित्य दीजिये।

Why do Government borrow? Is borrowing inevitable? Give justification for Government borrowing.

१२. सार्वजनिक ऋण के विभिन्न रूपो को बताइये।

Point out the various forms of public debt.

१३. आन्तरिक और बाहरी ऋणो मे से आप किसे अच्छा समझते है और क्यो?

Out of internal and external debts, which one you prefer best and why?

१४. "विदेशी ऋण अमिश्रित वरदान नही है।" इस कथन को भारत के सन्दर्भ मे समझाइये।

"Foreign loan is not an un-mixed blessing." Explain this statement with reference to India.

१५. सार्वजनिक ऋणो के भुगतान करने की विभिन्न विधियो का सक्षेप मे वर्णन कीजिए।

Describe in brief the various methods of public debt redemption.

अध्याय १८

राजकोषीय नीति और आर्थिक क्रिया
(Fiscal Policy and Economic Activity)

भूमिका (Introduction) :

आर्थिक नियन्त्रण के एक अस्त्र के रूप में राजकोषीय नीति के महत्व पर सर्वप्रथम जोर सन् १९३० की मन्दी के मध्यकाल में कीन्स द्वारा अपने रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा के सामान्य (general theory of employment, interest and money) में दिया गया था। प्राचीन लेखकों ने अर्थव्यवस्था पर राजकोषीय कार्यवाहियों के पहले वाले पृथक्-पृथक् प्रभावों का अध्ययन किया और सरकारों ने यह स्वीकार किया कि आर्थिक कठिनाइयों के समय छोटे-छोटे सार्वजनिक निर्माण कार्यों के रूप में सहायता प्रदान करना उसका उत्तरदायित्व है। परन्तु सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति पर पड़ने वाले लोकवित्त के प्रभावों एवं परिणामों को अर्थशास्त्रियों तथा उस समय के अधिकारियों ने यह नहीं समझा था। जब सरकार सहायता कार्यों (relief works) पर धन खर्च करती थी तो वह धन केवल विशेष करों की अथवा करों की विशेष दरों द्वारा वसूल किये जाते थे, क्योंकि बजट को औपचारिक रूप से सन्तुलित रखना ही आवश्यक समझा जाता था। अतः सरकारी खर्च के गौण गुणक प्रभाव (secondary multiplier effects) नहीं पड़ा करते थे। व्यावहारिक रूप में, सरकारी व्यय सामान्य आर्थिक सुधार करने के लिए कुछ नहीं करता था। कीन्स (Keynes) के विश्लेषण (analysis) से यह प्रकट होता है कि कुल राष्ट्रीय आय को ही आर्थिक क्रिया का सूचक माना जाता था और इस बात पर जोर दिया जाता था कि कुल व्यय से आर्थिक क्रिया का क्या सम्बन्ध है। इस विश्लेषण ने समाज में कुल व्यय पर राजकोषीय कार्यवाही के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभावों का एवं आर्थिक क्रिया पर उनके प्रभाव का स्पष्ट रूप से विवेचन किया और आर्थिक प्रबन्ध के एक अस्त्र के रूप में सरकार की बजट सम्बन्धी नीति को एक नया महत्व प्रदान किया।

राजकोषीय नीति से आशय
(Meaning of Fiscal Policy)

प्रत्येक देश की सरकारें व्यापक पैमाने पर लेन-देन करती है तथा विकास एवं सुरक्षा कार्यों पर नियमित रूप से धन व्यय करती हैं। सरकार का दृष्टिकोण सदैव ही बजट को सन्तुलन करने का होता है। किन्तु कभी-कभी सरकार आय से अधिक व्यय कर देती है। ऐसी स्थिति में सरकार आन्तरिक व बाहरी ऋण लेती है तथा घाटे की अर्थ-व्यवस्था का सहारा लेती है। यही नहीं, घाटे को पूरा करने के लिए सरकार विभिन्न प्रकार के नये कर भी लगाती है। इस प्रकार

कर लगाने, ऋण लेने तथा घाटे की अर्थव्यवस्था करने की नीतियों को ही सामूहिक रूप मे राजकोषीय नीति कहा जाता है। राजकोषीय नीति के निम्न तीन अंग होते हैं—(i) सरकारी कर, (ii) सरकारी व्यय, तथा (iii) सरकारी ऋण।

आधुनिक राजकोषीय नीति एक प्रकार से सरकारी नीति का ही एक रूप है जिसके अन्तर्गत सरकार अपने व्यय व राजस्व कार्यक्रमो का उपयोग कुल उत्पादन तथा रोजगार की वृद्धि पर वाछनीय प्रभावों को डालने तथा अवाछनीय प्रभावों को रोकने के लिए करती है।

राजकोषीय नीति के उद्देश्य
(Objects of Fiscal Policy)

प्राचीनकाल में राजकोषीय नीति के कर अंग का उद्देश्य आय प्राप्त करना तथा व्यय अंग का उद्देश्य देश की सुरक्षा तथा देश मे आन्तरिक शान्ति बनाये रखना था। किन्तु आधुनिक युग मे इसके व्यापक उद्देश्य हैं जोकि निम्नलिखित है—

(१) पूर्ण रोजगार की दशा प्राप्त करना।
(२) आर्थिक स्थिरता स्थापित करना।
(३) देश का आर्थिक विकास सम्भव बनाना।
(४) आय का न्यायोचित वितरण करना।
(५) मुद्रा स्फीति को रोकना।

सरकारी बजट के प्रभाव
(Effects of the Government Budget)

आर्थिक क्रियाओं में वाच्छित परिवर्तन लाने के लिए एक व्यवस्थित लोकवित्त नीति की प्रभावपूर्णता अब आमतौर पर स्वीकार की जाती है। आर्थिक क्रियाओं का स्तर वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मांग पर निर्भर होता है, अत. यह समाज के कुल व्यय तथा आय से प्रभावित होता है। कुल व्यय को और इसलिए समस्त मांग (aggregate demand) को सरकार स्वय अपनी बजट सम्बन्धी कार्यवाहियों से प्रभावित कर सकती है कराधान तथा सरकारी खर्च और दोनो मे विविधता के रूप मे सरकार द्वारा की गई राजकोषीय कार्यवाही कुल व्यय के परिवर्तनों को प्रभावित करती है। सरकार दोनो ही काम कर सकती है; वह समाज के व्यय की धारा मे वृद्धि भी कर सकती है और उसमे से कुछ ले भी सकती है और इस प्रकार कुल मांग का रुख ऊपर की ओर को अथवा नीचे की ओर मोड़कर आर्थिक क्रिया के स्तर मे परिवर्तन ला सकती है।

राजकोषीय नीति कुल व्यय को दो प्रकार से प्रभावित कर सकती है। पहली रीति यह है कि सरकार अपने खर्च को बढ़ाकर या घटाकर, अथवा स्वय अपनी कर-आय मे परिवर्तन द्वारा गैर-सरकारी व्यय को बढ़ा या घटाकर कुल व्यय में प्रत्यक्ष परिवर्तन ला सकती है। सरकारी व्यय मे की जाने वाली वृद्धि से समाज का कुल व्यय बढता है बशर्ते कि कराधान की रद्दोबदल द्वारा गैर-सरकारी व्यय मे वैसी ही समवर्ती कमी करने के लिए कुछ भी न किया जाय। कुल व्यय मे वृद्धि कराधान को कम करके भी की जा सकती है और इस प्रकार व्यक्तियों तथा फर्मों द्वारा खर्च करने को अधिक रकम छोड़ी जा सकती है। सरकारी व्यय तथा आय मे उपयुक्त परिवर्तन करके कुल आय की कमियों को भी इसी प्रकार प्रभावित किया जा सकता है। सरकार की बजट सम्बन्धी कार्य-वाही के परिणामस्वरूप कुल व्यय मे होने वाले प्रत्यक्ष परिवर्तनों के गौण गुणक प्रभाव पड़ते हैं अत: समस्त मांग में होने वाला परिवर्तन अनेक बार प्रारम्भिक परिवर्तन होता है जो कि आय की वृद्धि के आकार पर निर्भर होता है। सरकार द्वारा कुल व्यय (total spending) के परिवर्तनों को प्रभावित करने का दूसरा तरीका है गैर-सरकारी उपभोग तथा विनियोग को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करने का। कुछ करों की दरों मे यदि परिवर्तन कर दिये जाएँ तो उससे निजी व्यक्तियों के उपभोग को और व्यक्तियों एव व्यावसायिक फर्मों द्वारा किये जाने वाले विनियोग को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित किया जा सकता है। इस प्रकार एक परोक्ष मार्ग द्वारा कुल व्यय मे परिवर्तन किये जाते हैं। सरकारी व्यय की कुछ मदों का गैर-सरकारी उपयोग तथा विनियोग क्रिया पर

ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी परिवर्तन अर्थव्यवस्था के केवल कुछ क्षेत्रो मे ही लाये जा सकते हैं अर्थात् कुछ उद्योगो के विनियोग मे अथवा कुछ वर्गों के लोगो के उपभोग व्यय मे; और समस्त माँग मे आवश्यक मोड लाने की दृष्टि से इन परिवर्तनो के गौण प्रभाव काफी दूरगामी हो सकते हैं।

कुछ परिणामों को प्राप्त करने के लिए सरकार की राजकोषीय कार्यवाही या तो बजट-सन्तुलन के परिवर्तन के रूप मे होती है अथवा वैयक्तिक करो तथा व्यय की मदो मे हेर-फेर के रूप मे होती है। सरकारी आय तथा व्यय मे परिवर्तन इसलिये किये जाते हैं ताकि कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वेशी (surplus) अथवा घाटे के सरकारी बजट बनाये जा सकें। सरकारी आय के पृथक्-पृथक् शीर्षक अथवा व्यय की मदें अर्थव्यवस्था पर अपना अलग ही प्रभाव डालती हैं और अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रो मे परिवर्तन लाने के लिए उनमे रद्दो-बदल की जा सकती है। सरकार की बजट सम्बन्धी स्थिति में कभी-कभी स्वयचालित रूप मे ही परिवर्तन होते हैं, अर्थात् ये अर्थव्यवस्था की स्वय अपनी ही दिशाओ मे कुछ सुधार करके लाये जाते हैं। कुछ करो से प्राप्त होने वाली आय तथा कुछ मदो पर किये जाने वाले व्यय दिशाओ मे वाञ्छनीय समझे जाएँ। परन्तु यदि सभी परिस्थितियो पर एक साथ विचार किया जाय तो यह हो सकता है कि अर्थ-व्यवस्था (economy) को सदा स्वस्थ एव उत्साहपूर्ण स्थिति मे बनाये रखने के लिये ऐसी स्वय चालित बजट सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ शक्तिशाली सिद्ध न हो और आर्थिक क्रिया के वाञ्छित स्तरो को प्राप्त करने के लिए राजकोषीय अधिकारियो द्वारा जानबूझ कर कोई विवेकपूर्ण कार्यवाही करना आवश्यक हो जाए।

बजट सन्तुलन (The Budget Balance).

किसी वर्ष के कुल सरकारी खर्चों की पूर्ति उसी वर्ष के करो की आय से हो जाए, इस अर्थ मे एक सन्तुलन बजट की कुल व्यय (total spending) पर और इसी कारण आर्थिक क्रिया पर बहुत थोडा प्रभाव पडने की सम्भावना है। प्रतिवर्ष बजट को सन्तुलित रखने के उद्देश्य से सरकार जो नीति अपनाती है वह देश की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति पर अपने प्रभावो की दृष्टि से न्यूनाधिक रूप से तटस्थ होती है। सरकार ठीक उतना ही व्यय करती है जितना कि वह लोगो से लेती है और यदि न लेती तो वे लोग उसे स्वय खर्च कर देते। ऐसी स्थिति मे, समाज का कुल व्यय उससे कुछ अधिक भिन्न नही होता है जैसा कि वह उस स्थिति मे होता जबकि सरकार द्वारा न कर लगाये जाते और न खर्च किया जाता।

जब राजकोषीय नीति का उद्देश्य आर्थिक क्रिया पर नियन्त्रण करना होता है तो सरकार या तो घाटे का बजट बनाती है अथवा वेशी (surplus) का। बजट के घाटे का प्रभाव यह होना है कि देश के व्यय का स्तर ऊँचा उठ जाता है। सरकार व्यय तथा कर-आय मे जितना अन्तर होता है उतनी ही कुल व्यय (total spending) मे शुद्ध वृद्धि हो जाती है जो कि बाद मे उपभोग मे गौण खर्च के रूप मे वृद्धिजनक प्रभाव डालती है। अत बजट के घाटे मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करते हैं और कुल मांग को बढाकर आर्थिक क्रिया के स्तर को ऊँचा उठाते हैं। बजट की वेशी का इससे उल्टा प्रभाव होता है। *जब सरकारी आय सरकारी व्यय से अधिक होती है तो इसका अर्थ होता है कि राष्ट्र के व्यय की धारा मे से कुछ ले लिया गया है और अपने गुणक प्रभावो* के द्वारा इससे राष्ट्रीय आय तथा कुल माँग मे कमी हो जाती है। अत जब भी आवश्यक समझा जाय, जैसे की तीव्र स्फीति की स्थिति मे, आर्थिक क्रिया के स्तर को नीचा करने के लिए जो साधन काम मे लाये जाते हैं उनमे बजट की वेशी एक बडा प्रभावशाली साधन है। अतः एक वेशी का बजट (surplus budget) प्राय इस बात का सूचक होता है कि सरकार अर्थव्यवस्था मे अधिक व्यय करने को उत्सुक नही है।

सरकार बजट मे घाटा अपने खर्चों मे वृद्धि करके या कराधान को घटाकर, अथवा दोनो ही उपायो द्वारा ला सकती है। जब सरकारी खर्च मे वृद्धि की जाती है, और कराधान की आय पूर्ववत् रहती है तो कुछ व्यय मे एकदम वृद्धि होती है और यह अपने गुणक प्रभाव द्वारा समस्त माँग को उससे अधिक बढा देती है जितनी कि स्वय उसमे वृद्धि होती है। कर-आय मे कमी करने से अर्थात् कुछ करो को समाप्त तथा कुछ करो की दरें कम करने से, व्यक्तियो तथा फर्मो की

उपलब्ध आय में वृद्धि हो जाती है और इससे उन्हे अधिक व्यय करने की प्रेरणा मिलती है। गैर-सरकारी व्यय मे प्रारम्भिक वृद्धि का गुणक प्रभाव पड़ता है और कुल व्यय मे जो अन्तिम वृद्धि होती है वह भी कराधान मे कमी का ही परिणाम होती है। इस दृष्टिकोण से तो ऐसा प्रतीत होता है कि घाटा लाने की इन दोनो ही विधियो मे कोई अन्तर नही है। हां, कार्यवाहियाँ अवश्य भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं और उनके प्रभाव भी भिन्न होते है। कर मे कमी करने के मुकाबले, सरकारी व्यय मे वृद्धि का कुल व्यय पर जल्दी प्रभाव होता है। सरकारी व्यय मे की जाने वाली कोई भी वृद्धि लोगो के हाथो मे तुरन्त क्रयशक्ति पहुँचा देती है जो कि उसका उपयोग उपभोग-व्यय के रूप मे कर सकते हैं। जो मजदूर पहले बेकार थे अब सरकारी उद्यमो मे काम पर लग जाते है और अब जो कमाते हैं उसे खर्च करने मे समर्थ हो जाते है। जब सरकार गैर-सरकारी उद्यमो मे उत्पादित वस्तुओ को खरीद कर अपने खर्चे मे वृद्धि करती है तो प्राइवेट उत्पादको को अधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलता है और वे अधिक मजदूरो को काम पर लगा लेते है, और इस प्रकार मजदूरो के हाथ मे अतिरिक्त क्रय-शक्ति आ जाती है जिसे अब वे खर्च कर सकते है। दूसरी ओर, करों मे कमी करने से ऐसे लोगो के हाथो में अतिरिक्त धन पहुँच जाता है जिन्हे कि बचाने की आदत होती है। कर अदा करने वाला वर्ग, जिसे कि करो की कमी से लाभ पहुँचता है, सम्भव है अपनी बढी हुई आय के कुछ भाग का उपयोग बचतो की वृद्धि मे करे। अत. इस स्थिति मे, कुल व्यय मे वृद्धि आशा से कम हो सकती है। परन्तु करो मे कमी करने से व्यावसायिक फर्मो को लाभ पहुँचता है और वे तुरन्त इस वृद्धि के लाभ उठाकर अपने विनियोग मे वृद्धि करती हैं। अत. कराधान मे छूट देने के परिणामस्वरूप गैर-सरकारी विनियोग मे वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त, सरकारी खर्चों मे एकदम वृद्धि केवल तभी सम्भव है जबकि प्रयोजनाएं (projects) ऐसे खर्चों के लिए तैयार हो, और ऐसा केवल एक आयोजन बद्ध अर्थव्यवस्था (planned economy) मे ही हो सकता है। किन्तु करो मे अधोमुखी हेर-फेर (down ward adjustments) अपेक्षाकृत बहुत कम समय मे जल्दी ही किये जा सकते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकारी व्यय मे वृद्धि करने तथा करों मे कमी करने, इन दोनो ही तरीको की अपनी अपनी सीमाएं है। इसीलिय प्राय सरकार यही उपयुक्त समझती है कि वह घाटे का बजट अशत नो खर्चो मे वृद्धि करके और अशत करो मे कमी करके बनाये। इस स्थिति मे यह आवश्यक है कि खर्च बढाने के लिए प्रयोजनाओ का चुनाव बडी सावधानी से किया जाए और कर सम्बन्धी छूटें प्रदान करने मे भी सतर्कता बरती जाए। इसका और अधिक विवेचन इसी अध्याय मे हम आगे करेंगे।

देश के कुल व्यय (total spending) मे वृद्धि कभी-कभी इस प्रकार भी की जा सकती है कि सरकार अपने निजी खर्चो मे भारी वृद्धि करे जिसमे वे सारे अतिरिक्त खर्चे भी सम्मिलित हो जो बढे हुए कराधान से किये गये हो। बिना घाटे के ही सरकारी व्यय बढाने की इस विधि के अन्तर्गत जहाँ सरकार के खर्चों का काफी मात्रा मे विस्तार होता है, वहाँ साथ ही साथ, कराधान मे भी उतनी धनराशियों की वृद्धि कर दी जाती है, और सरकारी आय तथा सरकारी व्यय के बीच कोई दरार नही छोडी जाती। यह कहा जाता है कि इस प्रकार सरकारी ऋण का भार बढाये बिना ही सरकार राष्ट्र की कुल द्रव्य-आय मे वृद्धि कर सकती है। इस स्थिति मे गैर-सरकारी खर्च मे बिना समवर्ती कमी किये ही कराधान से होने वाली आय मे वृद्धि सम्भव हो सकती है। सम्भावना यही है कि लोग नये कर-दायित्वो का भुगतान उस धनराशि मे करेगे जो कि उन्होने बचाई है अथवा वे अपनी निष्क्रिय जमा की धनराशियो को सक्रिय करके यहाँ तक उनका उपयोग करेंगे। इस प्रकार, सरकार लोगो से उस धनराशि का एक भाग ले लेती है जिसको कि वे अन्य स्थिति मे खर्च नही करते, फिर सरकार उस धन को खर्च करती है जिससे समाज के कुल द्रव्य-व्यय मे वृद्धि होती है। तत्पश्चात् बजट का सन्तुलन बिगाडे बिना अथवा सरकारी ऋण मे भयकारक परिवर्तन किये बिना केवल सरकारी बजट का आकार बदलकर ही सरकार आर्थिक क्रिया मे परिवर्तन ला सकती है। तथापि, इस प्रकार की नीति की कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। कुल राष्ट्रीय आय मे यथेष्ट मात्रा मे परिवर्तन लाने के लिए जिस सीमा तक कराधान तथा सरकारी व्यय में परिवर्तन किया जाना आवश्यक होता है वह सीमा इतनी बडी है कि उस तक पहुँचना लगभग असम्भव होता है। सरकार अपनी आय तथा अपने खर्चों मे अल्प सूचना पर ऐसे बडे हेर-फेर नही कर सकती। फिर, नये करो को इतनी बडी-बडी मात्रा मे लगाने तथा सग्रह करने में राजनैतिक तथा प्रशासनिक कठिनाईयां सामने आती हैं और गैर-सरकारी विनियोग पर भारी कराधान के प्रतिकूल आर्थिक

प्रभाव भी अत्यधिक हतोत्साहित हो सकते हैं। व्यय पक्ष में, यह असम्भव हो सकता है कि सरकारी अधिकारी ऐसी सभी प्रयोजनाओं (projects) को, जिनमें कि धन खर्च किया जा सकता है, ऐसे समय में तैयार पाये जबकि खर्च किये जाने की आवश्यकता हो। इस प्रकार आर्थिक क्रिया के स्तर को ऊँचा उठाने के एक उपाय के रूप में बिना घाटे के खर्च करने की बात अधिक व्यावहारिक नहीं है।

आर्थिक क्रिया पर बजट सम्बन्धी नियन्त्रण एक प्रतिवर्ती अस्त्र (reversible instrument) है, अर्थात् तीव्र स्फीति अथवा तेजी के समय में, स्थिति को सुधारने में बेशी (surplus) के बजट का उपभोग किया जा सकता है। जब वस्तुओं और सेवाओं की कुल मौद्रिक माँग बहुत ज्यादा अर्थात् सम्भरण (demand) से बहुत अधिक होती है तो कुल व्यय (total spending) में कमी करके सन्तुलन को बनाये रखा जाता है और ऐसा सरकारी बजट में बेशी लाकर किया जाता है। सरकार या तो अपनी कर-आय बढ़ाती है अथवा अपने खर्च को घटाती है या दोनों ही काम करती है। इस प्रकार बजट में बेशी उत्पन्न होने के फलस्वरूप कुल द्रव्य-आय में कमी हो जाती है और आर्थिक क्रिया का स्तर नीचा हो जाता है। घाटे की तरह किसी भी बेशी का गुणक प्रभाव पड़ता है और उसके परिणामस्वरूप समाज की कुल व्यय बेशी की मात्रा से भी बहुत कम हो जाता है। सरकार व्यय की धारा (spending stream) में से उससे अधिक निकाल लेती है जितनी कि वह उसमें डालती है और इससे उपभोग पर किया जाने वाला यह गौण व्यय समाप्त हो जाता है जो कि खर्च की पहली मात्रा पर ही आधारित था।

बजट में बेशी लाने के लिए सरकार इन दोनों में जिस विकल्प को भी चुनती है उसके अपने ही परिणाम होते हैं। कराधान में कोई परिवर्तन किए बिना ही सरकारी व्यय में कमी करने से कुल व्यय में प्रत्यक्ष कमी होती है और उसका तात्कालिक प्रभाव होता है। बिना किन्हीं विधान सम्बन्धी औपचारिकताओं के भी ऐसा करना सम्भव है और इसे बहुत जल्दी भी किया जा सकता है। सरकार के पास हमेशा कुछ प्रयोजनाएँ (projects) वर्तमान होती है जिन्हे कि स्थगित किया जा सकता है अथवा उनके निर्माण की गति धीमी की जा सकती है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था में बिना कोई उलट-पुलट किये ही खर्च में कमी की जा सकती है। सरकारी खर्च में कोई परिवर्तन किये बिना कराधान में वृद्धि करना अपेक्षाकृत कठिन होता है। इसके विरुद्ध इस कार्य की अलोकप्रियता का तर्क दिया जाता है। इस सम्बन्ध में अनेक राजनैतिक बाधाओं का सामना करना होता है, और इसके क्रियान्वन में जैसे प्रशासनिक प्रयत्नों की आवश्यकता होती है उससे भी इसको लागू करना कम आसान तथा कम प्रभावशाली हो जाता है, विशेष रूप से तब जबकि तुरन्त कार्यवाही की आवश्यकता हो। परन्तु जब सरकारी खर्च में कमी नहीं की जा सकती तो उस स्थिति में स्फीति का एक मात्र राजकोषीय समाधान कराधान में वृद्धि ही हो सकता है। युद्ध के समय सरकारी व्यय को कम नहीं किया जा सकता और एक आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (planned economy) में विकास के लिए भारी मात्रा में खर्च करना आवश्यक होता है। ऐसे खर्च से उत्पन्न स्फीति सम्बन्धी दशाओं को खर्च की कमी द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। इस विषय में जो कुछ किया जा सकता है वह यह कि अनावश्यक सरकारी व्यय को समाप्त अथवा कम किया जाए। वास्तव में, ऐसी परिस्थितियों में बजट की बेशी एक असम्भव सी बात है। अतः सरकार को जहाँ तक सम्भव हो सके, कराधान द्वारा अपनी आय में वृद्धि करके ही स्थिति पर नियन्त्रण करना होता है। अन्य समयों में, जब सरकारी खर्च में बड़ी कटौतियाँ करना सम्भव नहीं होता, सरकार दोनों ही तरफ कार्यवाहियाँ करके कुल व्यय को कम करना होता है, अर्थात् अंशतः अपने खर्चों में कमी करके और अंशतः अपने कराधान में वृद्धि करके। इन सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि सरकार की राजकोषीय कार्यवाही उस समय अधिक प्रभावशाली हो सकती है जबकि आर्थिक क्रिया का स्तर ऊँचा उठाना हो, बजाए इसके कि नीचे लाना हो।

अलग-अलग करों के प्रभाव
(Effects of Individual Taxes)

आर्थिक क्रिया को नियन्त्रित करने के लिए की गई राजकोषीय कार्यवाही कभी अलग-अलग करों में परिवर्तनों तक ही सीमित रखी जाती है। उपभोग तथा विनियोग पर प्रत्येक कर का अपना अलग प्रभाव पड़ता है और वाञ्छित परिवर्तन लाने के लिए राजस्व-संग्रह की मात्रा

मे तथा करो के ढांचे की रचना में परिवर्तन किये जा सकते है। कुछ करों से प्राप्त आय मे उस समय स्वयमेव परिवर्तन होते हैं और इन करो की दरो मे कोई हेर फेर किये बिना ही आर्थिक क्रिया मे वाञ्छित परिवर्तन सम्भव हो जाता है इन करो के स्वयचालित स्थिरीकरण के प्रभाव (automatic stabilisation) उनको प्रतिचक्रीय नीति (anti-cyclical policy) के अस्त्र के रूप में विशेष रूप से उपयुक्त बना देते हैं।

कर-आय मे स्वयचालित नमनीयता (automatic flexibility) उस समय बड़ी महत्वपूर्ण होती है जबकि राजकोषीय नीति का निर्माण विशेष रूप से गैर-सरकारी व्यय की घट-बढ की क्षतिपूर्ति करने के लिए किया जाता है। गैर सरकारी उपभोग तथा विनियोग व्यय में होने वाले अनाप-शनाप परिवर्तनो को अधिकारियो की जानी-बूझी कार्यवाही द्वारा तुरन्त नही रोका जा सकता। इन परिस्थितियो मे कर-पद्धति की स्वयचालकता (automaticity) बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार की नमनीयता अथवा लोच की कुछ न कुछ मात्रा प्रत्येक कर-पद्धति मे सदा पाई जाती है। जब द्राव्यिक राष्ट्रीय आय गिर रही होती है तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सरकारी आय मे भी कुछ सीमा तक अवश्य कमी होती है। और जब राष्ट्रीय आय बढ रही होती है तो इससे उल्टा होता है। तथापि, कर-पद्धति मे ऐसी नमनीयता लाने के मामले मे कुछ अन्य करो से अधिक महत्वपूर्ण होते है।

स्वयचालित स्थायित्वकारी (automatic stabiliser) के रूप मे आय-कर सबसे अधिक प्रभावशाली माना जाता है। व्यावसायिक क्रियाओ की वृद्धि के समय जबकि आमदनियाँ बढ़ती हैं, आय-करो से प्राप्त होने वाले सरकारी राजस्व मे भी तेजी से वृद्धि होती है और गैर-सरकारी खर्च पर इस वृद्धि का प्रतिबन्धात्मक प्रभाव पडता है। मन्दी के समय में, कुछ आमदनियाँ बिल्कुल समाप्त हो जाती है और उन पर करो से प्राप्त होने वाली आय भी समाप्त हो जाती है करो की आरोही अथवा क्रमवर्धी दरो (progressive rates) तथा छूट की सीमाओ का अर्थ है—आमदनियो मे परिवर्तन। आय-कर का सग्रह चूंकि मूल उद्गम स्थान पर होता है अत. यह राजस्व के परिवर्तन परिवर्तन से भी अधिक लचकदार बना देता है और आय के परिवर्तन तथा राजस्व को आय के मध्य समय-अन्तराल (time lag) को समाप्त कर देता है। निगम-कर जो कि आमतौर पर समानुपाती (proportional) होता है। आय-कर के मुकाबले कम सवेदनशील (less sensitive) होता है। नमनीयता अथवा लचक की दृष्टि से व्यय पर लगाये जाने वाले करों का नम्बर दूसरा है। आमदनियो मे परिवर्तन होने से उपभोग व्यय मे भी वैसे ही परिवर्तन होते हैं परन्तु उपभोग व्यय, आय मे होने वाले परिवर्तन के अनुपात से कम बढता या घटता है और इसी कारण ऐसे कर से उपलब्ध होने वाली प्राप्तियों मे आय कर के मुकाबले कम परिवर्तन होते हैं। सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी अशदान की सम्भावना यही है कि स्वयचालित रूप मे कार्यशील होते हैं। जब व्यवसाय मे मन्दी आती है और काम करने वाले मजदूरो की सख्या कम हो जाती है तो मालिको तथा मजदूरो द्वारा दिये जाने वाले कुछ अशदान (contributions) भी कम हो जाते है। इस सम्बन्ध मे, परोक्ष कर अपने प्रभावो मे एक रूप (uniform) नही होते। ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाने वाले कर, जिनकी माँग की आय सम्बन्धी लोचशीलता (income elasticity of demand) अत्यधिक होती है, काफी प्रभावोत्पादक होते हैं। उदाहरण के लिए, विलासिता की वस्तुओ की माँग और उन वस्तुओ पर लगाये करो से प्राप्त होने वाला राजस्व आय के परिवर्तनो की दृष्टि से काफी नमनीय अथवा लचकदार होता है। तथापि, इन करो के प्रभाव की गति धीमी होती है क्योकि उनका सग्रह थोक व्यापारिक तथा फुटकर व्यापारियो आदि के अनेक स्रोतो से किया जाता है। निवेश पर लगाये गये करो मे भी स्वयंचालकता की मात्रा उससे कम पाई जाती है जितनी कि ऊपर बताये गये अधिकाश करो मे पाई जाती है।

कर-पद्धति की स्वयचालित नमनीयता या लोचशीलता (automatic flexibility) केवल कुछ सीमा तक ही सहायक सिद्ध हो सकती है। यह आर्थिक क्रिया मे अपेक्षाकृत कम परिवर्तन लाती है और यह स्फीति तथा अवस्फीति सम्बन्धी भारी दबावो को भी नही रोक सकती। इसके अतिरिक्त, यह उस समय भी अप्रभावी सिद्ध होती है जबकि अर्थव्यवस्था मे निरन्तर एक ही दिशा मे परिवर्तन लाना वाञ्छनीय होता है। उदाहरण के लिए, कर-पद्धति को स्वयचालित रूप मे कार्य करने की छूट देकर आर्थिक क्रिया मे ऐसी निरन्तर वृद्धि नही की जा सकती जो रोजगार मे उच्च

स्तर पर पहुँचा दे। ऐसे मामलों में, सरकार द्वारा सुनियोजित कार्यवाही की आवश्यकता होती है, और वाञ्छित परिणाम प्राप्त करने के लिए अधिकारियों द्वारा कर-पद्धति में हेर-फेर की जाती है। उपभोग तथा निवेश को प्रभावित करने के लिए करों की दरों तथा करों के ढाँचे में उपयुक्त परिवर्तन किये जाते हैं।

आय-कर इस सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। आय-कर की दर में वृद्धि से गैर-सरकारी निवेश हतोत्साहित होने लगता है, विशेष रूप से तब जबकि ये कर मुख्यतः व्यावसायिक आमदनियों पर लगाये जाते हैं। इसके विपरीत आय-कर की दरों में की जाने वाली कमी से तथा विभिन्न प्रकार की छूटों से गैर-सरकारी विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। तथापि, बचत को रोकने के लिए आयकर की दर में वृद्धि की जा सकती है बशर्ते कि कर-आय को तुरन्त खर्च कर दिया जाए और इस स्थिति में उसका विस्तारवादी प्रभाव पड़ेगा। आय-कर केवल तभी प्रभावशाली हो सकता है जबकि बड़ी संख्या में आय के वर्ग कर की परिधि में आ जाए। पूँजी पर कर लगाकर भी बचत को प्रभावित किया जा सकता है क्योंकि उसकी दर में वृद्धि होने से बचतें कम होंगी और दर में कमी होने से बचतें बढ़ेंगी। व्यय-कर भी उपभोग तथा बचत पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। इन करों की दरों में वृद्धि होने से उपभोग घटता है अतः इसका अर्थव्यवस्था पर परस्पर विरोधी प्रभाव पड़ता है। इन करों की दरें यदि गिराई जाती हैं तो इससे उल्टा प्रभाव होता है। विभिन्न वस्तुओं पर लगाये जाने वाले परोक्ष कर तथा बिक्री कर और क्रय-कर भी व्यय-कर के समान कार्य करते हैं। और उनकी दरों में होने वाले परिवर्तन उपभोग-व्यय को प्रभावित करते हैं सामाजिक बीमे के लिए किये जाने वाले अशदान करों का एक अन्य वर्ग है जिनके परिवर्तनों को भी अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के लिए काम में लाया जा सकता है। प्राप्त होने वाले लाभों में समवर्ती वृद्धि किये बिना ही अशदानों (contributions) में वृद्धि करने से वस्तुओं की लागतें तथा कीमतें बढ़ जाती हैं और उसके परिणामस्वरूप रोजगार तथा उपभोग में कमी आ जाती है। जब रोजगार तथा उपभोग में वृद्धि लानी होती है तो ये अशदान कम कर दिये जाते हैं और मन्दी के समय में इनमें पूर्णत छूट दे दी जाती है।

सरकारी खर्च में होने वाले परिवर्तन
(Variations in Public Expenditure)

कभी-कभी सरकारी कार्यवाही केवल व्यय-पक्ष की ओर से तीव्र रूप में की जाती है। सरकारी व्यय का क्षेत्र अब पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है। अत अर्थव्यवस्था के सरकारी क्षेत्र को अधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करना होता है। कुछ वर्षों पहले तक सरकारी व्यय का एक बड़ा भाग प्रशासन पर हुआ करता था जिसने कि इसे काफी कठोर बना दिया था। परन्तु सार्वजनिक निर्माण के कार्यक्रम अब अधिक महत्वपूर्ण माने जाने लगे हैं और सरकार स्वयं सामग्री के बड़े भण्डार खरीदती है तथा उनका संग्रह करती है। सरकारी अधिकारी कभी-कभी मूल्य स्थिरता कार्यक्रमों में एक अंग के रूप में कृषि उत्पादन की बड़ी मात्रा में खरीद करते हैं। इन सब बातों से सरकारी खर्च में काफी मात्रा में लोच उत्पन्न हो गई है और उन्होंने इसे आर्थिक नियन्त्रण का एक शक्तिशाली अस्त्र बना दिया है।

करों की तरह ही, सरकारी खर्च की कुछ मदों में भी स्वयंचालकता (automaticity) की कुछ मात्रा वर्तमान है। सरकार की व्यापारिक कार्यवाहियाँ अन्य खर्चों के मुकाबले अधिक स्वचालित होती हैं। गैर-सरकारी व्यापारिक संस्थाओं की तरह ही, सरकारी उद्यम भी यह उचित समझ सकते हैं कि सामग्री उस समय खरीदें जबकि कीमतों में गिरने की प्रवृत्ति पाई जाए और अपनी खरीद में वृद्धि करके वे कीमतों पर स्थायी प्रभाव डाल सकते हैं। मूल्य-स्थिरता कार्यक्रम (price-support programme) कीमतों पर तथा व्यवसाय पर प्रत्यक्ष स्थिरकारी प्रभाव डालते हैं। कुछ पदार्थों की कीमतें जैसे-जैसे किसी निश्चित स्तर से नीचे गिरती हैं, वैसे-वैसे ही सरकारी एजेन्सियाँ उन्हें खरीदना आरम्भ कर देती हैं और इस माँग में वृद्धि करके वे कीमतों को निर्धारित स्तर से नीचे जाने से रोकती हैं। जब कीमतें निश्चित स्तरों से भी ऊपर चली जाती हैं तो सरकारी एजेन्सियाँ अपना माल बेचना शुरू कर देती हैं। व्यावसायिक क्रिया पर इन सबका स्वचालित प्रभाव होता है। सामाजिक सुरक्षा व्यय (social security expenditure), विशेषरूप से बेरोजगारी

लक्ष्य की पूर्ति के साधनों मे से एक है। इस स्थिति में, निर्धन से निर्धन व्यक्ति को कुछ न कुछ कर अवश्य देना होगा और आम जरूरत की वस्तुओ पर जो कि गरीबो द्वारा उपभोग की जाने वाली मुख्य मदें है, कर लगाये ही जायेंगे। अतः यह स्पष्ट है कि एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था मे, अदा करने की योग्यता (ability to pay) के दृढ आधार को तथा समता के सिद्धान्त को कर-पद्धति मे दृढता से लागू नही किया जा सकता। परन्तु एक व्यापक दृष्टिकोण से समता अथवा न्याय सम्भव है। न्याय (justice) का अर्थ यह है कि *आर्थिक प्रगति के बोझ को जनता के विभिन्न* वर्गों के बीच समन्वयपूर्ण रीति से बाँट दिया जाय। विशुद्ध रूप से वही बात ऊपर स्पष्ट की गई है। उच्चतर आय वाले वर्गों को अपनी योग्यता अथवा आर्थिक बेशी (economic surplus) की मात्रा के अनुसार कर देना होता है। निम्नस्तर आय वाले वर्गों को इस बात से रोका जाता है कि वे अपने उपभोग की मात्रा उस सीमा तक न बढा सकें जितनी कि उनकी आय मे वृद्धि हुई है।

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था मे एक अच्छी कर-पद्धति का अन्य मुख्य लक्ष्य यह होता है *कि मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी प्रवृत्तियों (inflationary tendencies)* **का प्रतिकार किया जाए।** तथ्य यह है कि विकास के लिए किए जाने वाले सभी खर्चों मे मुद्रास्फीति निहित होती है। लगातार बडी-बड़ी मात्रा मे विनियोग तो किये जाते है किन्तु ऐसी वस्तुओं के उत्पादन मे कोई तात्कालिक वृद्धि नहीं होती जो उपभोग के लिए काम आ सकें। परिणामस्वरूप, द्रव्य आय मे वृद्धि हो जाने के कारण वस्तुओ के उपलब्ध सम्भरण (supply) के मुकाबले मांग (demand) की अधिकता होने से स्फीति सम्बन्धी दबाव उत्पन्न हो जाते हैं। यह बात अब व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है कि कराधान मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने मे महत्वपूर्ण योग दे सकता है। भारत के कराधान जांच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने इस सम्बन्ध मे विचार व्यक्त किया कि "वे कर, जो प्रत्यक्ष रूप से बडी-बडी अतिरिक्त आयो पर पडते है और वस्तु कर (Commodity taxes) जो कि मुद्रास्फीति के परिणामस्वरूप बढी हुई सामान्य क्रयशक्ति पर पडते हैं, मुद्रा स्फीति विरोधी नीति मे अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग अदा करते है।"[2]

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था मे एक अच्छी कर-पद्धति का एक अन्य तत्व यह होना चाहिए कि यह **आय के अधिक श्रेष्ठ वितरण में सहायता करे और आय की असमानताओं को कम करे।** कल्याण-नियमो पर आधारित समाजवाद (socialism) के सिद्धान्तो मे एक सिद्धान्त यह है कि आय की असमानताओं मे कमी करने से तथा लोगो मे आय का अधिक श्रेष्ठ वितरण करने से देश के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो सकती है। कराधान जिस प्रकार पूँजी निर्माण की दर को ऊँचा उठाकर उत्पादन मे वृद्धि करने मे समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार वह आय का अधिक श्रेष्ठ वितरण करके आर्थिक कल्याण मे वृद्धि करने मे भी समर्थ हो सकता है। कराधान जांच आयोग का कहना है कि "आय, धन तथा अवसरो मे बडी मात्रा मे समानता लाना आर्थिक विकास तथा सामाजिक उन्नति का अभिन्न अग होना चाहिए। यह मांग, कि कराधान के साधन को सामाजिक न्याय से भी अधिक मात्रा मे आय का पुनर्वितरण करने वाले उपाय के रूप मे प्रयोग किया जाना चाहिए, असमजस मे नही छोड़ी जा सकती।"[3]

अन्त में, कर-पद्धति का निर्माण तथा उसका क्रियान्वयन (implementation) **इस प्रकार होना चाहिए कि जनता का कोई भी वर्ग यह अनुभव न करे कि उसके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है और यह कि उससे तो उसके देय भाग से अधिक कर-भार को वहन करने को**

2 *Taxation Enquiry Commission Report* (1953-54) Vol I p 161. "Taxes that fall directly on the large additional incomes and commodity taxes that fall on the increase in general purchasing power resulting from inflation have a significant part to play in anti-inflationary policy"

3 Ibid, p 145, "The attainment of wider measure of equality in incomes wealth and opportunities must form an integral part of economic development and social advance currently The demand that the instrument of taxation should be used as a means of bringing about a redistribution of incomes, more in consonance with social justice, cannot be kept in abeyance."

होगा कि अधिकारियो द्वारा राजस्व अथवा व्यय मे कितने परिवर्तन किये गये हैं। इसके अतिरिक्त, *इन परिवर्तनो का ठीक समय भी सफलता का एक आवश्यक तत्व है। अत. राजकोषीय नीति की* एक सीमा यही है कि इन दशाओं को बनाये रखने मे व्यावहारिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। किये जाने वाले अतिरिक्त खर्च को ठीक-ठीक राशि अथवा एकत्र की जाने वाली कर-आय की मात्रा उससे अधिक होती है जितना कि कोई राजकोषीय अधिकारी अनुमान लगाता है। फिर इन कार्यवाइयो के लिए ठीक समय कौन-सा है, इसका पता लगाना भी एक कठिन कार्य है। सरकारी अधिकारियो के लिए यह पता लगाना बडा कठिन है कि आगे तेजी आयेगी या मन्दी। कार्यवाइयाँ करने मे जो राजनैतिक एव प्रशासनिक देरियाँ होती हैं, विशेष रूप से तब जबकि करो की दरो मे परिवर्तन करने के लिए अथवा कार्यक्रमो के खर्चों मे परिवर्तन करने के लिए विधान-मण्डल की अनुमति लेनी आवश्यक होती है, उनसे भी की जाने वाली कार्यवाइयो की क्षमता घटती है। इसके अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि की जाने वाली कार्यवाइयो का प्रभाव धीमे पड़े। करो की दरो मे परिवतनो के प्रभाव पडने मे तथा सरकारी व्यय की गुणक कार्यवाही मे समय लगता है और यह हो सकता है कि काफी समय के बाद ही उन कार्यवाइयो के वाञ्छित परिणाम प्राप्त होते हो।

(२) आय के पुन वितरण पर निर्भरता—की जाने वाली राजकोषीय, कार्यवाइयो के सही-सही प्रभाव उनके परिणामस्वरूप होने वाले आय के पुन वितरण पर भी निर्भर होते हैं। जब आय मे होने वाली किसी भी वृद्धि का एक बडा भाग ऐसे वर्ग के लोगो के पास जाता है जिन्हे बचाने की आदत होती है तो कुल माँग पर आशा से कम प्रभाव पडने की सम्भावना होती है। दूसरी ओर, यदि *अतिरिक्त खर्चों तथा कर सम्बन्धी छूटो से प्राप्त करने वाले लोग वे हैं* जो कि अपनी आय का एक बडा भाग सामान्यत खर्च कर देते हैं तो कार्यवाइयो के गुणक प्रभाव काफी अधिक होने की सम्भावना होती है और आर्थिक क्रिया पर जल्दी प्रभाव पडना सम्भव होता है। उदाहरण के लिए सामाजिक सुरक्षा के लाभो मे अथवा उपभोग के लिए दिये जाने वाले उपादानो (subsidies) मे यदि परिवर्तन किया जाय तो वह श्रमिक वर्ग की उपलब्ध आय को तथा उनके उपभोग-व्यय को प्रभावित कर सकता है। इसके अतिरिक्त, उच्च आय की स्थिति मे बचत करने की प्रवृत्ति भी अधिक होती है और चूँकि कुल द्रव्य-आय मे वृद्धि होती है अत राजकोषीय कार्यवाही के प्रभाव धीमे पड जाते हैं। इसका अर्थ है कि आर्थिक क्रिया मे होने वाले परिवर्तन किसी न किसी प्रकार के ह्रासमान प्रतिफल नियम (law of diminishing return) के अधीन होते हैं।

(३) सरकारी आय की लोचता—सरकारी आय की लोचता (flexibility) स्वय सरकार द्वारा अपनाई जाने वाली राजकोषीय नीति पर प्रतिबन्धात्मक प्रभाव डालती है। जब समाज के कुल व्यय का विस्तार करने के उद्देश्य से सरकारी खर्च मे वृद्धि की जाती है तो यह हो सकता है कि उस खर्च का एक भाग बढी हुई कर-आय के रूप मे सरकार के पास आ जाए, और यदि ऐसा हुआ तो वह सरकारी खर्च की वृद्धि के प्रभाव को न्यून कर देता है। सरकारी *खर्च की कमी से कर-आय भी कम हो सकती है और नीति के स्फीति विरोधी प्रभाव भी कम* हो सकते हैं।

(४) भुगतानों के अवशेषो में परिवर्तन—अन्य प्रतिबन्धात्मक प्रभाव अदायगी शेषो (balance of payments) के परिवर्तनो द्वारा डाला जाता है। सरकारी खर्च मे वृद्धि का प्रभाव कुछ सीमा तक आयातो के मूल्य मे वृद्धि तथा निर्यातो के मूल्य मे कमी के रूप मे पडता है। इसका अर्थ होता है कि निर्यातो से होने वाली आय कम हो जाती है। परिणामत सरकारी खर्च का विस्तारवादी प्रभाव भी कम हो जाता है। इसके साथ ही, लोग अपनी बढी हुई आय का एक भाग देश की बनी वस्तुओं पर नहीं, *बल्कि आयातो पर* खर्च करते हैं और इस प्रकार *सरकारी* खर्च के गुणक प्रभाव को कम कर देते है। सरकारी कार्यवाही के परिणामस्वरूप द्रव्य-आय मे जो वृद्धि होती है वह आशा से कम होती है। खर्चों के परिवर्तनो के अलावा ऐसे ही परिणाम कर-परिवर्तनो के भी होते हैं। कुछ सीमा तक, ऐसे परिवर्तनो स प्रतिबन्धात्मक नीति भी अशत निष्फल बना दी जाती है।

(५) प्रयत्नों की पूर्ति पर निर्भरता—राजकोषीय नीति के प्रभाव प्रयत्नो की पूर्ति पर भी निर्भर करते हैं। जब लोगो की काम करने की इच्छा पर सरकार द्वारा करो अथवा खर्चों मे

के लाभो मे भी काफी मात्रा मे नमनीयता पाई जाती है। मन्दीकाल मे जबकि बेरोजगारी वृद्धि पर होती है बेरोजगारी के लाभ (unemployment benefits) भी बढते हैं जिससे समाज के कुल व्यय मे वृद्धि होती है। तेजी के काल मे ऐसे लाभो पर किया जाने वाला खर्च भी स्वय ही घट जाता है। सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमो पर किया जाने वाला खर्च अपने प्रभाव की दृष्टि से स्वयचालित नही होता क्योंकि इसके लिए दीर्घकालीन नियोजन की आवश्यकता होती है और अल्पसूचना पर उसमें परिवर्तन नही किये जा सकते।

व्यावसायिक क्रिया की छोटी-छोटी अस्तव्यस्तता को दूर करने के लिए सरकारी खर्च के स्वयंचालित परिवर्तनो पर भरोसा किया जा सकता है। और यदि अर्थव्यवस्था मे अराजकता बड़ी मात्रा मे वर्तमान है अथवा यदि अर्थव्यवस्था मे दीर्घकाल तक प्रवृत्तियो को बनाये रखने की आवश्यकता है तो उसके लिए अधिक विवेकपूर्ण एव सुनियोजित कार्यवाही की आवश्यकता होगी। सावधानी के साथ चुने गये कार्यक्रमो पर किये जाने वाले खर्च मे विवेकपूर्ण परिवर्तन करने होते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, सरकारी खर्च की वृद्धि का अर्थव्यवस्था पर विस्तारवादी प्रभाव पडता है। ऐसा विशेष रूप से तब होता है जबकि खर्च की वित्तीय व्यवस्था बजट के घाटे से की जाती है, क्योंकि उस स्थिति मे, यह खर्च गैर-सरकारी खर्च की लागत पर नहीं किया जाता, और इसके द्वारा उत्पन्न गोण उपभोग व्यय के साथ ही साथ यह समाज के कुल व्यय मे निर्बल वृद्धि करता है। परन्तु उस स्थिति मे भी, जबकि अतिरिक्त सरकारी खर्च को कर-आय से पूरा किया जाता है, इसका थोड़ा बहुत विस्तारवादी प्रभाव अवश्य होता है क्योंकि लोग अपने बढे हुए कर दायित्वो का निपटारा अंशतः उस धन से कर सकते हैं जिसे कि वे अन्य स्थिति मे बचा लेते। इस प्रकार, सरकारी खर्च मे होने वाले परिवर्तनो मे समाज की व्ययधारा (spending stream) पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ते हैं। परन्तु कुछ प्रकार के सरकारी खर्च ऐसे होते हैं जो गैर-सरकारी निवेश पर अपना प्रभाव डालकर आर्थिक क्रिया को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, एक उद्योग को दिया जाने वाला उपादान (subsidy) उद्योग के निवेश को प्रभावित करता है और मजदूरियो के लिए दिया जाने वाला उपादान प्राइवेट मालिक (private emyloyer) को अधिक मजदूर रखने के लिए प्रोत्साहित करता है। सरकार तकनीकी प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान के लिए दी जाने वाली असुविधाओ मे परिवर्तन करके कुछ उद्योगो की क्रियाओ को प्रभावित कर सकती है। उपभोग के लिए जो उपादान दिये जाते हैं वे उपभोग-व्यय को बढावा देते है। सामाजिक सुरक्षा पर किये जाने वाला व्यय गैर-सरकारी बचत को घटाता है और उपभोग-प्रवृत्ति (propensity to consume) को बढाता है। इस प्रकार सरकारी खर्च का उपयोग गैर-सरकारी क्षेत्र के कुछ चुने हुए भागो की क्रियाओ को प्रभावित करने वाले एक अस्त्र के रूप मे भी किया जा सकता है।

तथापि, यहाँ इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि सरकार अपने निजी खर्चों मे परिवर्तन लाकर आर्थिक क्रिया पर अधिक प्रभावी नियन्त्रण कर सकती है, बजाए इसके कि वह गैर-सरकारी क्षेत्र को प्रभावित करने का प्रयास करे। इस प्रकार अपने खर्चो का समुचित रूप से नियोजन करना उसके लिए बडा महत्वपूर्ण हो जाता है। सरकारी अधिकारी सामाजिक भलाई की कुछ योजनाएँ हाथ मे ले सकते है जैसे कि सार्वजनिक स्वास्थ्य, आवास, शिक्षा आदि। नये सरकारी उद्यमो की स्थापना तथा पुराने उद्यमो का पुनर्गठन सरकारी निवेश के कार्यक्रम के आवश्यक अग बन सकते हैं। बाढ-नियन्त्रण की कार्यवाइयो के रूप मे नदी घाटी योजनाएँ, जल विद्युत का उत्पादन, तथा सिंचाई सुविधाओ की व्यवस्था—बड़े पैमाने के सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के उदाहरण हैं और इन पर यदि सुनियोजित ढग से खर्च किया जाए तो वह खर्च बडे प्रभावशाली ढंग से आर्थिक क्रिया को प्रभावित कर सकता है। इस किस्म के सरकारी खर्च के दीर्घकालिक कार्यक्रम आर्थिक नियन्त्रण की किसी भी लोकवित्तीय-नीति मे महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं।

राजकोषीय नीति की सीमाएँ
(Limitations of Fiscal Policy)

(१) की गई कार्यवाही के प्रकार व समय पर निर्भरता—राजकोषीय नीति की प्रभावोत्पादकता (effectiveness) की जाने वाली कार्यवाहियों के आकार पर तथा उनके समय पर निर्भर होती है। कुल राष्ट्रीय आय मे ठीक-ठीक कितना परिवर्तन होगा यह इस बात पर निर्भर

जा सकता है। तीसरा उद्देश्य जिसके लिए राजकोषीय नीति को लागू किया जाता है, स्फीति (inflation) को रोकना होता है। स्फीति विरोधी राजकोषीय नीति को द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में बड़ा महत्व मिला भारत में तो इसकी महत्ता और भी अधिकाधिक इसलिये बनी हुई है क्योंकि यहाँ बड़ी मात्रा में किये गये विकास-व्यय के कारण स्फीत सम्बन्धी परिस्थितियाँ मौजूद हैं। इस भाग में हम बजट सम्बन्धी नीति के क्रियान्वयन के पहले दो तरीकों का अध्ययन करेंगे और तीसरे तरीके का अध्ययन अगले साल में करेंगे। चूंकि विभिन्न प्रकार की राजकोषीय कार्यवाहियों की प्रकृति तथा उनके प्रभावों का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं, अतः अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि इन कार्यवाहियों का उपयोग ऊपर बताये गये उद्देश्यों की प्राप्ति की दृष्टि से कहाँ तक वाञ्छनीय तथा सम्भव है।

आर्थिक स्थिरता अथवा स्थिरीकरण के लिए राजकोषीय नीति (Fiscal policy for Economic Stability or Stabilisation).

जैसा कि हम बतला चुके हैं कि अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाये रखने के लिए सरकारी आय तथा व्यय के स्वयचालित स्थायित्वकारी प्रभावों (automatic stabilisation effects) पर पूर्णतया निर्भर नहीं रहा जा सकता। यह ठीक है कि वे आर्थिक क्रिया पर कुछ मात्रा में स्थायित्वकारी प्रभाव डालते है परन्तु ये प्रभाव केवल कुछ छोटे परिवर्तनों तक ही सीमित रहते हैं। अत आवश्यकता इस बात की होती है कि सरकारी अधिकारियों द्वारा विवेकपूर्ण पग उठाया जाए। एक ऐसे लोचयुक्त बजट (flexible budget) की आवश्यकता होती है जिसमें सरकारी खर्च तथा कराधान में इस प्रकार परिवर्तन किये जा सकें कि जिससे गैर-सरकारी खर्च के उतार-चढ़ावों के प्रभावों को निष्फल बना दिया जाए।

प्रतिचक्रीय राजकोषीय नीति (anti-cyclical fiscal policy) के अनेक रूप हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण नीति वह होती है जिसमें सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमों को एक सुनियोजित तरीके से लागू किया जाता है। सरकारी विनियोग का एक ऐसा दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाया जाता है जिसमें कि राज्य द्वारा नियन्त्रित सभी संस्थाएँ, स्थानीय संस्थाओं (local bodies) तथा सामाजीकरण किये गये उद्योग (socialised industries) हिस्सा लेते हैं। इस कार्यक्रम के लिए कितने साधनों की आवश्यकता होगी और वे साधन कहाँ से उपलब्ध होंगे, यह सब सुनियोजित होता है। इस बात का अनुमान भी सावधानी पूर्वक पहले ही लगा लिया जाता है कि परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार कार्यक्रम के विभिन्न अंगों में किस सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है। विनियोग की मात्रा में आर्थिक क्रिया की दशा के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन कर दिया जाता है। जब व्यावसायिक क्रिया में मन्दी के चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं तो सरकारी विनियोग में वृद्धि कर दी जाती है और तेजी के चिन्हों के प्रकट होने पर स्थिति उल्टी होती है। मौद्रिक नीति (monetary policy) और इस कार्यक्रम के संचालन में समन्वय स्थापित कर दिया जाता है और ब्याज की दरों में इस प्रकार हेर फेर की जाती है कि सरकारी विनियोग के साथ ताल-मेल बिठाते हुए गैर-सरकारी विनियोग में परिवर्तन की दशाएँ उत्पन्न कर दी जाएँ। इस प्रकार का कार्यक्रम स्थायी राष्ट्रीय आय के लिए बड़ा सहायक होगा और सरकारी बजट के भारी उतार-चढ़ावों से भी बचा जा सकेगा।

परन्तु ऐसी नीति की भी अपनी कुछ कठिनाइयाँ हैं। ऐसे दीर्घकालीन कार्यक्रम की असुविधाएँ भी बिल्कुल स्पष्ट होती हैं जिसे कि विभिन्न समयों में तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार पूरा किया जाता है। सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमों की एक विशेष समय में आवश्यकता होती है और उनको न तो स्थगित ही किया जा सकता है और न एक दम पूरा ही किया जा सकता है। व्यय में परिवर्तन करने से सम्बन्धित तकनीकी कठिनाइयाँ भी बड़ी बाधक सिद्ध होती है और जब कुछ प्रयोजनाओं पर एक बार काम शुरू कर दिया जाता है तो फिर उसे बिना पूँजी का नुकसान उठाये बीच में नहीं रोका जा सकता। सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमों की आवश्यकता व्यावसायिक क्रिया की स्थिति से पृथक् होती है और इन दोनों को सम्बन्धित करना, हो सकता है सम्भव न हो। सरकारी निवेश का एक बड़ा कार्यक्रम गैर-सरकारी विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव भी डाल सकता है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, सरकारी विनियोग गैर-सरकारी विनि-

किये जाने वाले परिवर्तनों का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता तो द्रव्य राष्ट्रीय आय (money national income) में आशा के अनुकूल वृद्धि होती है। परन्तु आय बढ़ने से प्राय लोग कठिन श्रम करने के प्रति कम इच्छुक हो जाते हैं अतः इस स्थिति में सरकारी नीति के प्रभाव का एक भाग बेकार हो जाता है। इसी प्रकार, एक स्फीति विरोधी नीति भी उस समय आंशिक रूप से निष्फल हो जाती है जबकि सरकार द्वारा हतोत्साहित किये जाने के बावजूद वे और भी अधिक काम करने का प्रयत्न करते हैं।

अन्त में, यदि गैर-सरकारी विनियोग पर सरकारी खर्च के प्रभाव परस्पर विरोधी है तो द्रव्य राष्ट्रीय आय पर उनका पूरा प्रभाव नहीं पड़ता है। ऐसा विशेष रूप से तब होता है जबकि उधार द्वारा पोषित सरकारी विनियोग का कोई कार्यक्रम रोजगार बढ़ाने की नीति के एक अंग के रूप में चालू किया जाता है। यदि सरकार अपना नया विनियोग ऐसे उद्योगों में करती है जिन्हें कि गैर-सरकारी उद्यमी अपना कार्य-क्षेत्र समझते हैं तो प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और गैर-सरकारी विनियोग पर उसकी गम्भीर प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त, सरकारी उधार से ब्याज दरें बढ़ सकती हैं और उससे गैर सरकारी निवेश हतोत्साहित हो सकता है। इस स्थिति में, जब तक कि बैंकिंग व्यवस्था सरकार को अपना हार्दिक सहयोग न प्रदान करे और प्रचलित मौद्रिक पद्धति को बनाये रखने की आवश्यकताएँ मुद्रा-दरों की वृद्धि को जरूरी न बना दें तब तक राजकोषीय नीति से आशा से बहुत कम सफलता मिलने की सम्भावना है। फिर, घाटे की वित्तव्यवस्था द्वारा पोषित सरकारी विनियोग के एक बड़े कार्य-क्रम की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ प्राय प्रतिकूल होती हैं। सरकारी दिवाले (government bankruptcy) की अफवाहों और सरकारी नीति के कारण निर्मित मुद्रा के बारे में अनिश्चितता (*uncertainty*) से गैर-सरकारी निवेश कम हो जाता है। परन्तु सदा ही ऐसा होता हो, ऐसी बात नहीं है, अपितु जब भी ऐसी नीति अपनाई जाती है, सरकारी अधिकारी बड़े सावधान एवं सतर्क रहते हैं।

बजट सम्बन्धी नीति और रोजगार
(Budgetary Policy and Employment)

आर्थिक क्रिया पर बजट सम्बन्धी नीति तथा उस रीति का, जिसके द्वारा इस नीति का संचालन किया जाता है, अध्ययन करने के पश्चात् अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि इस नीति को क्रियान्वित किस प्रकार किया जाता है। जैसा कि बतलाया जा चुका है, राजकोषीय नीति का उपयोग तीन उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। पहला उद्देश्य है आर्थिक क्रिया में होने वाले चक्रीय उतार-चढ़ावों (cyclical fluctuations) को समाप्त करना और उसको एक स्थिर स्तर पर बनाये रखना। गैर-सरकारी व्यय के उतार-चढ़ावों को निष्फल बनाने के लिए की जाने वाली क्षतिपूरक राजकोषीय कार्यवाही द्वारा व्यवसाय के उतार-चढ़ावों को रोका जाता है। इस स्थिति में अपनाई जाने वाली नीति के अन्तर्गत केवल ऐसी कार्यवाहियाँ की जाती हैं जिससे व्यापार-चक्र (trade cycle) की तीव्रताएँ कम हो जाएँ; अतः इसके लिये बड़े घाटों (deficial) अथवा बेशियों (surpluses) की आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त, मन्दी के वर्षों के घाटों की पूर्ति तेजी के वर्षों की समवर्ती बेशियों से कर दी जाती है, फलतः व्यापार चक्र की सम्पूर्ण अवधि में बजट न्यूनाधिक रूप में सन्तुलित हो सकता है। राजकोषीय नीति का दूसरा उद्देश्य यह हो सकता है कि आर्थिक क्रिया में लगातार उर्ध्वमुखी प्रवृत्ति (upward tend) बनाये रखी जाए। इस नीति के अन्तर्गत, ऐसी कार्यवाहियाँ की जाती हैं जिनका उद्देश्य किसी समय में आर्थिक क्रिया को उस स्तर तक ऊँचा उठाना होता है जो कि पूर्ववर्ती अवधि के स्तर से ऊँचा हो। मन्दी काल में कुल व्यय बढ़ाया जाता है परन्तु तेजी काल में उसमें वैसी ही समवर्ती कमी नहीं की जाती। इस स्थिति में नीति का एक प्रमुख उद्देश्य स्थिरता को निरन्तर बनाये रखना होता है परन्तु अब यह वह स्थिरता होती है जिसमें रोजगार के स्तरों में वृद्धि होती रहती है। इस उद्देश्य के लिये अपनाई जाने वाली राजकोषीय नीति के अन्तर्गत वर्षों तक घाटे या व्यय किया जाता है किन्तु उनकी पूर्ति के लिए अन्य वर्षों में वैसी ही समवर्ती बेशियाँ उत्पन्न नहीं की जाती। इस सदर्भ में, यह प्रश्न भी बड़ा रुचिकर है कि इस प्रकार की नीति को कब तक जारी अथवा जीवित रखा

बजट सम्बन्धी प्रति चक्रीय कार्यवाहियो की प्रभावपूर्णता, काफी मात्रा मे, उस नीति पर निर्भर होती है जिसके द्वारा कि मन्दी के समय में घाटों से और तेजी के समय में बेशियो से व्यवहार किया जाता है। एक ऐसे घाटे का जिसकी वित्तव्यवस्था जनता से उधार लेकर की गई हो, यही अर्थ हो सकता है कि सरकारी खर्च ने गैर-सरकारी खर्च की जगह ले ली है। परन्तु लोगों द्वारा सरकारी ऋणो मे जो अशदान दिये जाते हैं वे उनकी बचतों मे से जाते हैं और वे उनकी निष्क्रिय जमा-धनराशियो को सक्रिय बना देते हैं। अत व्यक्तियो से लिया गया सरकारी उधार घाटे के व्यय के प्रभावो को पूर्णतया समाप्त नही करता। घाटे की पूर्ति के लिए धन की व्यवस्था का सबसे प्रभावशाली तरीका यही है कि केन्द्रीय बैंक मे से सरकार की शेष राशियाँ निकाल ली जायें और केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों से उधार लिया जाए। इसके परिणामस्वरूप बैंक-मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि हो जाती है जिसका भी अर्थव्यवस्था पर प्रेरणात्मक प्रभाव पडता है। तेजी के समयों में बजट की बेशी (surplus) का आशिक रूप से तो सरकारी ऋणो की अदायगी के लिए उपयोग किया जा सकता है और अशत उसका उपयोग केन्द्रीय बैंक मे सरकार की बाकियो (balances) को बढाने मे किया जा सकता है। व्यक्तियो तथा फर्मों को सरकारी ऋण की अदायगी करने से बजट की बेशी के कुछ स्फीति विरोधी प्रभाव नष्ट हो जाते हैं क्योंकि ऐसा करने से बेशी का कुछ भाग व्यय की धारा (spending stream) मे मिल जाता है। परन्तु सरकारी ऋण से उस भाग की अदायगी से जो कि केन्द्रीय बैंक से लिया गया था, ऐसा कोई प्रभाव नही पडता। ऐसा करने से जहाँ केन्द्रीय बैंक मे सरकार की बाकियो मे वृद्धि होती है, वहाँ बेशियो से निपटने का यह एक बडा उपयुक्त तरीका है।

दीर्घकाल मे आर्थिक क्रिया (Economic Activity in the Long Period).

दीर्घकाल मे, आर्थिक नीति के निम्न दोनो ही उद्देश्य होते हैं—अर्थात् एक तो चक्रीय उतार चढ़ावो को समाप्त करना और दूसरा प्रगति की तेज रफ्तार बनाये रखना। व्यापार चक्र पर नियन्त्रण लगाने से स्वय प्रगति की रफ्तार तेज होती है। व्यवसाय मे स्थिरता रहती है, तो निश्चितता बनी रहती है और इससे गैर-सरकारी विनियोग को वृद्धि का प्रोत्साहन मिलता है। अत प्रतिचक्रीय नीति उस नीति का एक आवश्यक अग है जिसका निर्माण अर्थव्यवस्था मे तेजी के साथ निरन्तर ऊर्ध्वप्रवृत्ति (upward tendency) उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इसके साथ ही, इस स्थिति मे, सरकारी नीति के अन्तर्गत ऐसी कार्यवाहियाँ भी करनी होती हैं जिनसे दीर्घकाल मे आर्थिक क्रिया का स्तर ऊँचा उठे। सक्षेप मे, उद्देश्य यह होता है कि एक निश्चित लक्ष्य के चारो ओर राष्ट्रीय आय स्थिर बनी रहे, जबकि लक्ष्य स्वय बढ़ रहा होता है और यही नही, उसे तीव्रगति से बढाना भी होना है। इसका अर्थ है कि प्रतिचक्रीय नीति के अन्तर्गत मन्दी को रोकने के लिए बडे साहसपूर्ण एव कठोर कदम उठाने होते हैं किन्तु तेजी के समय अपेक्षाकृत सरल प्रयत्नो से ही काम चल जाता है। जबकि आर्थिक क्रिया को केवल उस स्तर तक लाना होता है जो सबसे ऊँचा होता है जिसे कि पहली तेजी के समय सामान्य समझा गया था।

प्रगति की दीर्घकालीन रफ्तार की वृद्धि अशतः तो उस दीर्घकालीन समस्त माँग पर निर्भर होती है जो कि पूर्ण मानवीय क्षमता एव पूर्ण पूँजीगत साज-सज्जा से युक्त दीर्घकालीन सभरण से कम न पड जाए और अशत पूरी क्षमता के साथ उत्पादन की वृद्धि पर निर्भर होती है। जहाँ तक इस पहले तत्व का सम्बन्ध है, इसके लिए वही राजकोषीय नीति उपयुक्त रहती है जो कि व्यापार चक्र को नियन्त्रित करने के लिए अपनाई जाती है परन्तु पूर्ण क्षमता के साथ उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए, कुल व्यय मे निरन्तर वृद्धि करने की आवश्यकता होगी। इसका अर्थ यह है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा पोषित बढता हुआ सरकारी खर्च सरकार की दीर्घकालीन राजकोषीय नीति का एक आवश्यक अग होना चाहिए।

दीर्घकालीन प्रगति की समस्या पर जरा विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। आर्थिक प्रगति की अनेक दिशायें हैं। इसका अर्थ है भौतिक क्षमता, तक्नीकी ज्ञान के साधनो तथा रोजगार की मात्रा मे वृद्धि। एक क्षेत्र मे वृद्धि के साथ अनिवार्यत दूसरे क्षेत्रो की वृद्धि आवश्यक नही है और एक उद्योग के पूर्ण रोजगार का अनिवार्यत यह अर्थ नही है कि अन्य उद्योगो मे भी पूर्ण रोजगार। उदाहरण के लिए, पूँजीगत सामग्री की क्षमता उस मात्रा से अधिक या कम भी हो सकती है जो कि श्रम-शक्ति को पूर्ण रोजगार प्रदान कर सकै, अर्थात् यह कि पूर्ण रोजगार के

योग से प्रतियोगिता कर सकता है और ब्याज की दरों मे प्रतिकूल परिवर्तनों से गैर-सरकारी निवेश हतोत्साहित हो सकता है, अथवा कभी-कभी यह भी हो सकता है कि सरकारी विनियोग के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ अच्छी एव अनुकूल न हो। जब दीर्घकालीन योजनाओ का निर्माण किया जाए तब ऐसे परिवर्तनो के मन्दीजनक प्रभावों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। सावधानी एव सतर्कता के साथ योजना बना कर ऐसे प्रतिकूल प्रभावों से बचा जा सकता है। इस प्रकार, इस विषय के सभी पहलुओ पर विचार करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि अर्थव्यवस्था को उच्च स्तर पर ले जाने वाले एक उपाय के रूप मे प्रतिचक्रीय कार्यवाही (anti-cyclical measure) की अपेक्षा दीर्घकालीन योजना (long period plan) ही अधिक उपयुक्त है।

प्रति चक्रीय नीति का एक अन्य रूप है, सरकारी अधिकारियो द्वारा वस्तुओ की खरीद और बिक्री। सरकार बुरे समयो मे वस्तुओ की खरीद करती है और इस प्रकार कुल माँग मे वृद्धि कर देती है और फिर अच्छे समयो मे उन वस्तुओ को बेच देती है। कुछ देशो मे सरकारी द्वारा मूल्य स्थिरता कार्यक्रम (price support programmes), विशेष रूप से कृषि उपज के सम्बन्ध मे लागू किये जाते हैं। जब कृषि-पदार्थो की कीमतो को ऊँचा बनाये रखने का प्रयत्न करती है और मन्दीजनक प्रभावो को समाप्त करने मे सहायता करती है। जब बाजार की स्थिति सुधर जाती है और कीमतो मे वृद्धि के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते है, तब वस्तुएँ बेच दी जाती हैं। इस प्रकार, कीमतो को एक अस्थायी स्तर पर बनाये रखा जाता है और आर्थिक क्रिया को स्थिर रखा जाता है। किन्तु इस प्रकार की कार्यवाही सभी वस्तुओ के सम्बन्ध मे नही की जा सकती। ऐसी वस्तुएँ जिनकी माँग मे फैशन तथा रुचि के अनुसार परिवर्तन हुआ करते हैं, सरकार द्वारा बिना बड़ा जोखिम उठाये खरीदी अथवा बेची नही जा सकती। बड़ी मात्रा मे सरकारी क्रय के जो वित्तीय परिणाम सामने आते हैं उन्हे भी ऐसी नीति के एक विरोधी तर्क के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। सरकारी खर्च मे जो धन लगता है, एक लम्बी अवधि तक उसके ब्याज के रूप मे होने वाली हानि इतनी अधिक होती है कि उससे यह नीति ही अव्यावहारिक बन गई। इसके अतिरिक्त वाणिज्यिक उद्यमो मे सरकार के प्रवेश की अवाञ्छनीयता ने भी ऐसे कार्यक्रमो को लोकप्रिय बना दिया है। अत: इतने बड़े पैमाने पर सरकार द्वारा क्रय और विक्रय करना, कि उससे एक लम्बी अवधि तक आर्थिक क्रिया का स्तर स्थिर रह सके, सभी परिस्थितियो मे सम्भव नही है।

इसके अलावा आर्थिक क्रिया को स्थिर रखने का सबसे अधिक व्यावहारिक उपाय करों और सरकारी खर्चों मे हेर-फेर करना ही है। कराधान में कमी और सरकारी खर्च मे वृद्धि—बुरे समयो मे काम आने वाली ये दो सुधारवादी कार्यवाहियाँ है। करो मे कमी होने से फर्मों तथा व्यक्तियो की उपलब्ध आय मे वृद्धि हो जाती है और ऐसे परिवर्तनो के प्रति फर्मों की प्रतिक्रिया बडी अनुकूल होती है और उससे गैर-सरकारी निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। सामाजिक बीमे से मिलने वाले लाभो में कोई परिवर्तन किये बिना ही उसके अश-दानो (contributions) मे कमी करने का आर्थिक क्रिया पर बडा स्वस्थ प्रभाव पडता है क्योंकि इससे न केवल वेकार पड़े मजदूरों के पास क्रय-शक्ति की मात्रा ही बढ जाती है, अपितु यह कार्यवाही मालिको (employers) को और अधिक मजदूर काम पर लगाने के लिए एक किस्म के उत्पादन (subsidy) के रूप मे कार्य करती है। उधर छोटे-छोटे सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमो के सम्बन्ध मे सरकारी खर्च मे वृद्धि करना भी सम्भव होता है। मालिको को मजदूरियो के लिए दिये जाने वाले उपादान को भी एक बडा उपयुक्त मन्दी-विरोधी उपाय बताया जाता है। परन्तु ऐसा उपादान देने मे कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। जब ऐसा उपादान केवल अतिरिक्त मजदूरो के सम्बन्ध मे ही दिया जाता है तो इससे मालिको को इस बात का प्रलोभन मिलता है कि पहले तो मजदूरो को काम से हटा दें और बाद मे उन्हे फिर काम पर लगा लें और इस प्रकार सरकार से उपादान प्राप्त कर लें; स्पष्ट है कि ऐसी कार्यवाही का कुल रोजगार पर कोई शुद्ध प्रभाव नही पड़ता। और जब यह उपादान मालिको द्वारा काम पर लगाये गये सभी मजदूरो के सम्बन्ध मे दिया जाता है तो यह राजकोष पर एक भारी बोझ बन जाता है। तेजी के समय मे इससे उल्टी नीति अपनाई जा सकती है। समाज के कुल व्यय को नीचा रखने के उद्देश्य से कराधान मे वृद्धि और सरकारी व्यय मे कमी कर दी जाती है।

साधनो मे कोई कमी न आये। गैर-सरकारी उपभोग को उच्च स्तर पर बनाये रखकर सरकारी व्यय के गुणक प्रभावो को बढाया जा सकता है। *यह हो सकता है कि कुल विनियोग में जो वृद्धि* होती है और उसके परिणामस्वरूप विनियोग वाली वस्तुओ के उद्योगो के रोजगार मे जो वृद्धि होती है, वह उपभोग वाली वस्तुओ के उद्योगो के रोजगार की लागत हो। तथापि, यह जरूरी नहीं है कि अनिवार्यतः ऐसा होगा ही, विस्तारवादी नीति के अधिकतम प्रभाव डालकर इसके विरुद्ध समुचित सुरक्षात्मक पग उठाये जा सकते हैं। *गुणक प्रभाव राष्ट्रीय आय* को बढाने की किसी भी नीति मे विशेष रूप से दीर्घकाल मे, बडा महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। यदि गुणक (multiplier) स्थिति को उच्च स्तर पर बनाये रखना है तो घाटे द्वारा पोषित सरकारी खर्चों मे अत्यधिक वृद्धि करना आवश्यक नही है। इस प्रकार, राजकोषीय नीति की सफलता, काफी सीमा तक, इस बात पर निर्भर होती है कि नीति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली गुणक स्थिति का आकार क्या है?

घाटे द्वारा पोषित व्यय का मूल्यांकन (Appraisal of Deficit Spending)

आर्थिक क्रिया तथा रोजगार का स्तर ऊँचा उठाने के *लिए घाटे के वित्त द्वारा पोषित* व्यय को दोनो ही दृष्टिकोणो मे बडा उपयोगी माना जाता है—मन्दी-विरोधी कार्यवाही के दृष्टिकोण से भी और अपर्याप्त गैर-सरकारी विनियोग की कमी पूरी करने के लिए एक अर्द्ध-स्थायी यत्र (semi-permanent instrument) के दृष्टिकोण से भी। मन्दी विरोधी उपाय के रूप मे, कुछ वर्षो के घाटे अन्य वर्षो की बेशियो (surpluses) द्वारा पूरे कर दिए जाते हैं और व्यापार चक्र की सम्पूर्ण अवधि मे बजट वास्तव मे घाटे का नही रहता है। सरकार बजट को प्रत्येक वर्ष सन्तुलित नही करती बल्कि अनेक वर्षों मे, सम्पूर्ण रूप मे, वह अवश्य सन्तुलित हो जाता है। घाटे के वर्षों मे जो सरकारी ऋण लिया जाता है वह बेशियो के वर्षो मे पूर्णतः अथवा दिया जाता है; इस प्रकार इस ऋण के भार के सम्बन्ध मे कोई गम्भीर अशत. निपटा समस्याएँ उत्पन्न नही होती। परन्तु जब सरकारें घाटे के वित्त द्वारा पोषित व्यय का उपयोग राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करने वाले एक अर्द्ध-स्थायी उपाय के रूप मे करती हैं तो उसके सम्बन्ध मे कई गम्भीर समस्यायें तथा विवाद उठ खडे होते हैं। इस पद्धति मे, घाटो की पूर्ति अन्य वर्षों की बेशियो द्वारा नही की जाती अपितु वे इकट्ठे होते रहते हैं। अत. सरकारी ऋण बराबर बढता रहता है और साख-निर्माण (credit creation) का उपयोग प्राय घाटे के एक भाग की पूर्ति करने के लिए किया जाता है। ऐसा करना कहाँ तक न्यायोचित है, इस पर अवश्य गम्भीरता के साथ विचार करने की आवश्यकता है।

घाटे के वित्त द्वारा पोषित जो व्यय किया जाता है उसमे *अनार्थिक व्यय (uneconomic spending)* तथा अपव्यय का खतरा छिपा रहता है। जब सरकारी एजेन्सियो तथा विभागो को यह पता रहता है कि उन्हे तो खर्च करना है और वह भी इतना कि जिससे घाटे की स्थिति आ जाये तो वे असावधानी से व्यय करते हैं जिससे साधनो का अपव्यय होता है। यदि सरकारी *व्यय की मात्रा बढाई जाती है, तो इसका अर्थ तो कदापि नही है कि व्यय बढाये चले जाओ*, चाहे उससे कोई प्रतिफल प्राप्त हो या न हो। केवल गड्ढे खोदना और उन्हे भर देना अथवा कपडा फाड़ लेना और फिर उसे सी देना—सरकारी व्यय मे वृद्धि के प्रयत्नो का यह तो उद्देश्य नही है। सरकारी व्यय हमेशा इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे सामाजिक कल्याण मे वृद्धि हो। यह कहना तो सत्य है कि रोजगार मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि समाज के हित मे ही होती हैं परन्तु यदि शान्तिकाल में रोजगार वृद्धि के लिए सरकारी खर्च किया जाता हैं तो उसे तब तक न्यायोचित नही कहा जा सकता जब तक कि रोजगार की वृद्धि से कोई आर्थिक प्रतिफल (economic return) न प्राप्त हो। परन्तु जब तक जोर केवल खर्च करने पर ही दिया जाता रहेगा तब तक मितव्ययता (economy) का विचार तो गौण ही बन कर रह जायेगा। अत. कुछ लोग तो इसी आधार पर सरकारी अधिकारियो द्वारा घाटे के व्यय को जारी रखे जाने का विरोध करते हैं। तथापि, इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता हैं कि सरकारो के कन्धो पर बडी जिम्मेदारी होती है अतः उनसे यह आशा अवश्य की जा सकती है कि जो भी कार्य करेंगी बडी सावधानी एव सतर्कता के साथ करेंगी, चाहे घाटे के वित्त को व्यय करने का कार्य हो अथवा अन्य कोई कार्य। बेरोजगारी के रूप मे श्रम-शक्ति का जो अपव्यय (waste) हो रहा है उसे तो रोका ही जाना

सम्बन्ध मे श्रम व पूँजी के अलग-अलग दृष्टिकोण होते है। भौतिक क्षमता के पूर्ण रोजगार का बिन्दु उन्नत देशों में तो सामान्यतः ऊँचा होता है, किन्तु अल्पविकसित देशो मे नीचा होता है। एक आर्थिक दृष्टि से उन्नत देश मे तो श्रम के पूर्ण रोजगार की स्थिति अप्रयुक्त क्षमता को छोडकर भी प्राप्त कर ली जाती है किन्तु एक अल्पविकसित देश मे श्रम के रोजगार मे एक सीमा से अधिक वृद्धि पूर्णत. नये पूँजी निर्माण पर निर्भर होती है। अतः इन स्थितियो मे अपनाई जाने वाली राजकोषीय नीति, यद्यपि मूल रूप मे एक-सी ही होती है, परन्तु यह निश्चित है कि भिन्न-भिन्न दशाओ के अन्तर्गत कई बातो मे उसमे अन्तर होता है। एक उन्नत देश मे, राजकोषीय नीति का उद्देश्य श्रम के रोजगार की मात्रा मे वृद्धि करना होता है। एक अल्पविकसित देश मे, राजकोषीय कार्यवाहियो का मुख्य लक्ष्य यह होता है कि सरकारी एव गैर-सरकारी दोनो ही क्षेत्रो मे पूँजी का निर्माण बढाया जाए।

दीर्घकालीन विस्तार के लिए घाटे द्वारा पोषित खर्च (deficit spending) प्रकृति मे उससे भिन्न होता है जो कि एक मन्दी विरोधी कार्यवाही के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। इस मामले मे समय का प्रश्न महत्वपूर्ण नही है क्योकि इसमे कुछ वर्षों के घाटो की पूर्ति अन्य वर्षों की बेशियो से नही की जाती। यह भी आवश्यक नही है कि बढते हुए सरकारी ऋण एक समस्या बन जाएँ। इस किस्म के घाटो की वित्त-व्यवस्था साख का निर्माण करके की जा सकती है। यहाँ तक यदि ऋण भी लेने पड़ें तो बढते हुए ऋणो के ब्याज की वित्तीय व्यवस्था भी साख-निर्माण द्वारा की जा सकती है। सरकारी ऋण की मात्रा जब बहुत अधिक बढ जाती है तो ऋण की अदायगी के लिए कराधान मे वृद्धि की आवश्यकता होती है। परन्तु बढाया हुआ कराधान एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे अधिक कष्टकारक प्रतीत नही होगा। यह भी आवश्यक नही है कि बढता हुआ कराधान अपने प्रभावो मे प्रतिबन्धात्मक हो बशर्ते कि करो के ढाँचे मे इस प्रकार परिवर्तन किया जाए कि उसके अधिकाश भाग का भार तो उच्च आय वाले वर्गों पर पडे किन्तु सरकारी व्यय के अधिकांश लाभ निर्धन वर्ग के लोगो को मिलें। जब राजकोषीय नीति के कारण धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की ओर राष्ट्रीय आय का पुनर्वितरण होता है तो उपभोग को प्रोत्साहन मिलता है और उसके गुण के प्रभावो मे वृद्धि होती है। निम्न आय वाले वर्ग के लोगो मे उपभोग-प्रवृत्ति ऊँची होती है और चूँकि वे अपनी आय थोड़े-थोडे समयान्तर पर (दैनिक या साप्ताहिक रूप मे) प्राप्त करते हैं, अतः उनकी आमदनियो मे वृद्धि होने से मुद्रा का आय-वेग (income velocity of money) भी बढ जाता है।

दीर्घकाल मे आर्थिक क्रिया के स्तर को ऊँचा उठाने की दृष्टि से सरकारी व्यय की रचना का भारी महत्व है। यह व्यय विनियोग पर भी हो सकता है और उपभोग पर भी परन्तु तथ्य यह है कि विभिन्न मदो पर किया जाने वाला खर्च अर्थव्यवस्था पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिये, गृह-निर्माण पर किया गया व्यय, जिसे कि विनियोग-व्यय कहा जाता है, हो सकता कि आर्थिक क्रिया पर वैसा उल्लेखनीय प्रभाव न डाले जितना कि तकनीकी शिक्षा पर किये गये व्यय का पडता है, यद्यपि यह व्यय उपभोग-व्यय होता है। जब व्यय का एक बड़ा भाग निर्धन वर्ग के लोगो की सहायता मे लगाया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप जो गौण उपभोग व्यय किया जाता है उसका अत्यधिक गुणक प्रभाव पडता है। अत अधिकतम लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि सरकारी व्यय की नीति का बड़ी सावधानी से नियमन किया जाए।

दीर्घकालीन प्रगति के लिए सरकारी व्यय की प्रभावपूर्णता कुछ अन्य परिस्थितियो पर निर्भर होती है। विनियोग पर किये जाने वाले सरकारी व्यय का गैर-सरकारी विनियोग पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडता। जैसा कि हम पहले ही बतला चुके है यदि सरकार का नया विनियोग ऐसे उद्योगो पर केन्द्रित कर दिया गया है जो कि सामान्यतः गैर-सरकारी क्षेत्र के अग हैं, तब तो गैर-सरकारी विनियोग अवश्य हतोत्साहित होगा। इसके अतिरिक्त, ब्याज की दरो पर इसके जो प्रतिकूल प्रभाव पडे गे और सरकार के घाटे द्वारा पोषित विनियोग पर जो हानिकारक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियायें होंगी उससे भी गैर-सरकारी विनियोग के सिकुड़ने की ही सम्भावना है। यदि सरकारी विनियोग को वास्तव मे प्रभावशाली बनाना है तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न नही होने देनी चाहिये। फिर यह भी देखना चाहिये कि सरकारी खर्च से उपभोग से गैर-सरकारी

अथवा जनता से उधार लेकर अपने घाटे को पूरा कर सकता है। सरकार पर देश के लोगों का जो ऋण होता है उसे राष्ट्र पर भार नही समझना चाहिए। यदि यह समझा जाता है कि सरकारी ऋण की मात्रा बहुत अधिक है और करो मे वृद्धि करने से हानिकारक प्रभाव पड़ने की सम्भावना है तो ऋण की अदायगी साख का निर्माण (credit creation) करके की जा सकती है। ऐसा सरकारी व्यय, जिसकी पूर्ति राजस्व द्वारा न की गई हो, आर्थिक गतिविधि को तेज करता है और हानिकारक प्रभावो के स्थान पर यह समृद्धि (prosperity) मे वृद्धि करता है। घाटे के बजटो के मुकाबले बेरोजगारी बहुत अधिक हानिकारक होता है।

लोग, जो कि युद्ध जैसे सकटकालीन अवसरो पर घाटे के बजटो को न्यायोचित समझते हैं इस बात पर भारी आपत्ति करते हैं कि शान्तिकाल मे भी सरकारें अपनी आय तथा व्यय को सन्तुलित करने मे असफल रहती हैं। तथापि, युद्धकाल में यदि सरकार घाटे के बजट का आश्रय लेती है तो उसे कदापि दोष नही दिया जा सकता क्योकि युद्ध के लिए जितने साधनो की आवश्यकता होती है वे अन्य किसी प्रकार से नही प्राप्त किये जा सकते। इसके अतिरिक्त युद्धकाल मे सरकार स्फीति (inflation) का उपयोग भी, कराधान के समान ही लोगो से क्रय-शक्ति लेने मे करती है। किन्तु शान्तिकाल मे, जबकि बेरोजगारी की समस्या को हल करना होता है, ऐसी कोई सकट की स्थिति नही होती अत घाटे के बजट को न्यायोचित नही कहा जा सकता। परन्तु यह तर्क देते समय शायद बडी मात्रा में फैली बेरोजगारी के गम्भीर परिणामो की कल्पना नही की गई है। भारी मन्दी अथवा अर्थव्यवस्था का अर्द्ध-स्थायी रूप से स्थिर हो जाना बड़ी गम्भीर स्थितियाँ हैं जिनसे निपटने के लिए कडे पग उठाने की आवश्यकता है। इन परिस्थितियो मे घाटे का बजट और स्फीति का एक हल्का सा इन्जैक्शन बडा कारगर असर दिखाता है। हाँ, यह ठीक है कि इन परिस्थितियो में घाटे के बजटो का आकार इतना बडा नही होना चाहिए जितना कि युद्धकाल मे हो जाता है, साथ ही, स्फीति की मात्रा मे अधिक वृद्धि नही होनी चाहिए और न उसको अधिक लम्बे समय तक जारी ही रहने देना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion) ·

निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि यदि पूर्ण रोजगार की सीमा के यथासम्भव निकट से निकट पहुँचना है तो घाटे का व्यय उसके लिए बडा उपयोगी अस्त्र है। घाटे के व्यय की स्थिति में यदि साधनो का उपयोग समुचित रीति से किया जाए तो पूर्ण रोजगार के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अर्द्ध-स्थायी नीति (semi-permanent policy) के रूप मे उसका उपयोग किया जा सकता है। जहाँ तक यह नीति गैर-सरकारी उपभोग तथा विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना अपना कार्य करती है और अपने उन लक्ष्यो को प्राप्त करती है जिनके लिए यह लागू की गई थी, अर्थात् रोजगार के बढते हुए स्तर के साथ अर्थव्यवस्था की स्थिरता, वहाँ तक तो यदि इससे कुछ छोटी-मोटी असुविधा भी हो तो उसकी अपेक्षा की जा सकती है। परन्तु इस बात का बराबर ध्यान रखा जाना चाहिए कि कही ये छोटी-मोटी असुविधाएँ ही बडी कठिनाइयों का रूप धारण कर ले। आवश्यकता इस बात की है इस नीति से अधिकतम लाभ प्राप्त करने हैं तो बडी सावधानी से इसका निर्माण किया जाए और सतर्कता के साथ इसे लागू किया जाए।

स्फीति विरोधी राजकोषीय नीति
(Anti-Inflationary Fiscal Policy)

जब वस्तुओ और सेवाओ की सम्पूर्ण माँग (aggregate demand) सम्पूर्ण संभरण (aggregate supply) से अधिक हो जाती है तो उससे स्फीति उत्पन्न हो जाती है। अतः स्फीति का स्पष्ट राजकोषीय समाधान यही है कि कुल माँग मे कमी कर दी जाए। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, वेशी (surplus) के सरकारी बजट बनाकर ऐसा करना सम्भव हो सकता है। इसके लिए सरकारी खर्च मे कमी और कर-आय में वृद्धि करनी होती है। जब अधिकारियो को व्यापार-चक्र के तेजी-पक्ष को नियन्त्रित करना होता है तो उस समय के लिए ये कार्यवाहियाँ बडी व्यावहारिक होती हैं। उस स्फीति की स्थिति मे, जो कि युद्धकाल मे अत्यधिक सरकारी व्यय के कारण अथवा किसी अल्पविकसित देश के आर्थिक विकास के कारण उत्पन्न हुई हो, इसका सामना करने

चाहिए और इस कार्य के लिए जो भी कार्यवाही आवश्यक एवं उपयुक्त हो, वह की जानी चाहिए, हाँ यह अवश्य है प्रत्येक कार्यवाही बडी सावधानी एव सतर्कता के साथ की जाय। घाटे के व्यय का अर्थ केवल यह है कि गैर-सरकारी व्यय की कमी को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा व्यय किया जाना। जो लोग आर्थिक मामलो मे सरकार का हस्तक्षेप पसन्द नही करते, वे यही दोषारोपण करते है कि सरकार व्यय के मामलों मे सदा ही अपव्यय करती है। परन्तु यह विचार मान्य नही है और आजकल तो घाटे के बजट को अनेक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक महत्वपूर्ण राजकोषीय यत्र माना जाता है। रोजगार की वृद्धि के अलावा अन्य उद्देश्यो का विवेचन इसी पुस्तक मे आगे किया गया है।

यह भी तर्क दिया जाता है कि लगातार घाटे की स्थिति के जारी रहने का अर्थ है सरकारी ऋण की निरन्तर वृद्धि, और ऋण के भार मे यदि लगातार वृद्धि होती है तो उसके बडे आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव पडते है। आर्थिक दृष्टि से तो इसका दुष्प्रभाव यह होगा कि उन ऋणो को चुकाने के लिए देर या सवेर कराधान मे वृद्धि करनी होगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, इससे लोगो के मन मे सरकार की वित्तीय स्थिति की दृढता के सम्बन्ध मे भय तथा सन्देह पैदा होता है। तथापि, आन्तरिक ऋण को इतना भारपूर्ण नही माना जाता क्योकि इसमे तो पूरा का पूरा राष्ट्र अपने ही कुछ सदस्यो का ऋणी होता है। इस ऋण की अदायगी जब कराधान मे वृद्धि करके की जाती है तो उसका अर्थ होता है राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से दरिद्र बनाये बिना करदाताओ के पास से सरकारी बॉण्डो के धारको के पास केवल धन का हस्तान्तरण। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम बतला चुके है, घाटो की पूर्ति साख-निर्माण द्वारा भी की जा सकती है और इस प्रकार बिना कराधान मे वृद्धि किये ही ऋणो की भी अदायगी की जा सकती है। और एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे जो कि समृद्धि की ओर बढ रही हो, कराधान की वृद्धि को भार नही माना जाता। लगातार होने वाले घाटे तथा बढते हुए सरकारी ऋण के मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव अब इतने कठोर नही होते जितने कि पहले हुआ करते थे। लोग, विशेष रूप से उन्नत देशो के लोग, अब इतने जागरूक हो गये है कि ऐसी नीति की प्रकृति तथा उसके उद्देश्य को अच्छी प्रकार समझते है। जब किसी सरकारी नीति को ससद के बाहर तथा अन्दर काफी लम्बे वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श के बाद लागू किया जाता है तो इस स्थिति मे मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव पड़ने की अधिक सम्भावना नही रहती।

बजट के घाटो को पूरा करने के लिए अथवा ऋणो का निपटारा करने के लिए यदि अधिकाधिक साख का निर्माण किया जाता है तो उसका स्फीतिजनक प्रभाव होता है बैंक मुद्रा की माँग मे निरन्तर वृद्धि और उसकी बढती हुए पूर्ति से कीमतें बराबर ऊपर चढती हैं। घाटे के व्यय की नीति को लागू करते समय सरकारी अधिकारियो को यह सावधानी अवश्य बरतनी चाहिए कि घाटे के व्यय को उस बिन्दु से आगे नही ले जाना चाहिए जिससे स्फीति सम्बन्धी दबाव अत्यधिक बढ जायें। कुल माँग मे वृद्धि की अनुमति दी जा सकती है परन्तु इतनी अधिक नही कि कुल सभरण से वह बहुत दूर हो। जैसे ही स्फीति का खतरा दिखाई दे, सरकार को अपने व्यय की गति धीमी कर देनी चाहिए। तथापि, यदि स्फीति (inflation) बहुत हल्की मात्रा मे है तो उसे विनाशकारी नही माना जा सकता। तथ्य यह है कि मूल्य-स्तर में थोडी सी वृद्धि के मुकाबले बेरोजगारी बहुत विनाशकारी होती है। जब अर्थव्यवस्था समृद्धि की ओर बढती है तो उसके साथ-साथ कीमतों मे थोड़ी सी स्फीतिजनक वृद्धि होती है अत सरकारी अधिकारियो तथा जनता को इस तथ्य से अधिक भय मानने की आवश्यकता नही है।

कुछ लोगो का यह विचार है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था (dificit financing) अनैतिक व अन्यायपूर्ण है। ये लोग सरकार पर चादर से अधिक पाँव फैलाने का आरोप लगाते हैं और सरकार के निरन्तर घाटों को इस बात का सूचक मानते हैं कि सरकार अब वित्तीय विनाश की ओर बढ चली है। परन्तु इस विचार मे सचाई का अश बहुत कम है। यह आवश्यक नही है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था सदा ही दिवालियेपन की ओर ले जाए। इस मामले की तुलना एक प्राइवेट व्यापारी से करना सही नही हैं। एक व्यापारी वर्ष के वर्ष अपने खर्चों को अपनी आय की सीमा से अधिक नही बढा सकता, बशर्ते कि दिवालिया बनने का जोखिम न उठा ले। राज्य यदि अपने बजट को सन्तुलित नही करता है तो वह दिवालिया हो जायेगा, ऐसी बात नही है, क्योकि वह नोट छापकर

मांग की जा रही है जबकि कुछ अन्य लोगों पर, जिनकी आय भी न्यूनाधिक रूप से उसके जितनी ही है, कम भार डाला गया है। इसके अतिरिक्त, करदाताओं के मस्तिष्क में यह विश्वास भी होना चाहिए कि करों के रूप में उन्होंने जो धन दिया है, वह बुद्धिमता के साथ व्यय किया जायेगा और प्रशासनिक अकुशलता, अक्षमता (incompetence) अथवा भ्रष्टाचार (corruption) के कारण वह बर्बाद नहीं किया जायगा। "एक अच्छी कर-पद्धति की कसौटी यह है कि उसमें इतनी सामर्थ्य हो कि वह सरकार के राजकोषीय आधार में ऐसा विश्वास उत्पन्न कर सके जो जनता के नैतिक स्तर को बनाये रखे तथा उत्पादकीय प्रयत्नों व आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन दे।"[4]

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Adam Smith 'Wealth of the Nations.'
2 Taxation Enquiry Commission Enquiry Vol. I.
3 Raja Chelliah Fiscal policy in Underdeveloped Countries Chapter, III

विश्वविद्यालीय प्रश्न (UNIVERSITY QUESTIONS) :

१ *एक आदर्श कर प्रणाली से क्या आशय है? मुख्य रूप से एक विकासशील अर्थव्यवस्था की* आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विवेचन कीजिए।
What is an ideal tax system? Discuss with special reference to the requirements of a developing country

२. एक अच्छी कर प्रणाली की महत्वपूर्ण विशेषताओं को समझाइए।
State and explain the characteristics of a good tax system

३ कर क्या है? एक स्वस्थ कर प्रणाली की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
What is tax? Describe the characteristics of a sound tax system

४ एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्तों को समझाइए। दूसरे अर्थशास्त्रियों द्वारा इनमें और कौन से सिद्धान्त जोड़े गये हैं?
Explain the Adam Smith's canon of taxation What other canons have been added in them by other economists?

५ एडम स्मिथ के कर सिद्धान्तों पर टिप्पणी लिखिए।
Write a note on the canons of taxation of Adam Smith

---

4 "The test of a good tax system is its ability to inspire that confidence in the fiscal basis of government which substains public morale and promotes productive effort and economic progress,"

के लिए बेशी का बजट उपयोगी नही रहता। युद्ध के समय मे भारी मात्रा मे किये जाने वाले सरकारी व्यय कम नही किये जा सकते। और न अल्पविकसित देश की कोई सरकार ही अपने उन व्ययो मे कमी कर सकती है जिन्हे कि वह आर्थिक विकास की दीर्घकालीन योजना के एक अग के रूप मे करती है। इन दशाओ मे भारी मात्रा मे सरकारी व्यय करना अनिवार्य हो जाता है और यही स्फीति के उत्पन्न होने का मुख्य कारण बनता है। स्फीति जब एक दीर्घकालीन बुराई बन जाती है तो व्यय-पक्ष से उसका प्रभावी ढग से सामना नही किया जा सकता, अत सरकारी अधिकारियो द्वारा जो भी राजकोषीय कार्यवाहियाँ की जाती है वे केवल राजस्व (revenue) पक्ष तक ही सीमित रहती है।

इसके अतिरिक्त, स्फीति दो प्रकार की स्थितियो मे से एक अथवा दोनो के ही कारण उत्पन्न होती है। इसकी उत्पत्ति का कारण या तो माँग का बढना होता है अथवा लागतो (costs) मे परिवर्तन होना। लागतो मे परिवर्तन अक्सर मजदूरियो मे वृद्धि के कारण हुआ करते हैं। जब कीमतो मे वृद्धि होती है तो मजदूर लोग भी अधिक मजदूरी की माँग करने लगते हैं, अत यदि उनकी माँग पूरी कर दी जाती है तो मजदूरियों की यह वृद्धि ही लागतो तथा कीमतो मे और वृद्धि का कारण बनती है। मजदूरियो द्वारा प्रेरित इस स्फीति पर नियन्त्रण केवल कर बढाकर माँग मे कमी करने से नही हो सकता। वस्तु स्थिति यह है यदि परोक्ष कर लगाये जाते हैं तो उससे कीमतो मे तथा निर्वाह लागत मे वृद्धि हो जाती है जिससे मजदूरियाँ बढाने की माँग उत्पन्न होती है और उसके फलस्वरूप स्फीति की स्थिति और भी बदतर हो जाती है। इस स्थिति मे समस्या के हल का एक आशिक समाधान तब मिलता है जबकि आवश्यक पदार्थों की कीमतें कम करने के उद्देश्य से उपभोग के लिए उपादान (subsidies) दिये जाते हैं।

फिर, बढा हुआ कराधान जब उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है तो स्फीति सबधी दबाव और बढ जाते हैं, जैसाकि एक अल्पविकसित देश मे हुआ करता है। ऐसे देशो मे यदि दीर्घकाल मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करनी है तो यह आवश्यक है कि गैर-सरकारी निवेश मे वृद्धि की जाए। तथापि यह निश्चय करना कठिन है कि एक उपयुक्त स्फीति विरोधी उपाय के रूप मे कराधान मे कहाँ तक वृद्धि की जा सकती है।

इस स्थिति मे, गैर-सरकारी बचतो मे वृद्धि करना ही सबसे अधिक उपयुक्त कार्यवाही है। गैर-सरकारी उपभोग मे कमी करना तथा लोगो के पास वर्तमान सम्पूर्ण फालतू क्रय-शक्ति को उनसे ले लेना ही राजकोषीय नीति का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। अधिकाधिक सरकारी उधार भी इसमे काफी सहायक हो सकता है। कर नीति का निर्धारण भी इस प्रकार किया जा सकता है कि उक्त लक्ष्य की प्राप्ति हो। मौद्रिक कार्यवाहियाँ (monetary measures) तथा पदार्थों पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण भी इस सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण भाग अदा करते है परन्तु इनका विस्तृत विवेचन करना इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है।

सरकार का खर्च (Government Expenditure) :

कुल माँग मे कमी करना स्फीति-विरोधी नीति का सबसे अधिक आवश्यक अग होना चाहिए। चूँकि सरकारी खर्च में वृद्धि होने से ही स्फीति उत्पन्न होती है अत. इस पर रोक लगाना ही सबसे अधिक उपयुक्त पग है। गैर-सरकारी व्यय की वृद्धि को निष्फल बनाने के लिए सरकारी खर्च मे कमी और कर-आय मे वृद्धि की जानी चाहिए। प्राय. सरकारी खर्च का कुछ भाग तुलनात्मक दृष्टि से कम अवश्य होता है अत ऐसे खर्च को अवश्य कम कर देना चाहिए। और यदि स्फीति का सामना सफलता के साथ करना है तो अन्य खर्चों मे भी मितव्ययता बरतना अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु जैसा कि हम पहले बतला चुके है, सरकारी खर्च का काफी भाग बडी महत्वपूर्ण प्रकृति का होता है अत उसमे कमी कैसे की जा सकती है। उदाहरण के लिए, युद्ध काल मे ही सरकारी खर्च का अधिकाश भाग बिल्कुल आवश्यक होता है अतः उसमें कमी नही की जा सकती। शान्ति काल मे भी, प्रतिरक्षा पर जो व्यय करना होता है उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है और इस व्यय मे उस समय तो और भी वृद्धि होती है जबकि विभिन्न देशो के बीच राजनैतिक तनाव

का वातावरण वर्तमान हो जैसा कि आजकल देखते हैं। अधिकांश सरकारों के वित्तीय साधनों का एक बड़ा भाग प्रतिरक्षा तथा उससे ही सम्बन्धित अन्य कार्यों में लगाया जाता है। अल्पविकसित देशों में, सरकारी खर्च का एक बड़ा भाग आयोजनाबद्ध आर्थिक विकास में लगाया जाता है। सरकारों द्वारा खर्च की वही बड़ी रकमें ऐसे दीर्घकालीन आवश्यक सामाजिक कार्यक्रमों में लगाई जाती हैं जैसे कि सामान्य व तकनीकी शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा गृह-निर्माण आदि। इस प्रकार, कुछ न्यूनतम खर्च ऐसा अवश्य होता है जिसे सरकार को करना ही पड़ता है और उसमें कोई कमी नहीं की जा सकती। अतः यह सम्भव नहीं है कि स्फीति विरोधी कार्यक्रम के एक अंग के रूप में सरकारी खर्च में कमी की जाय। अतः इस अस्त्र के द्वारा स्फीति पर भरपूर आक्रमण नहीं किया जा सकता।

फिर सरकारी खर्च में कमी किफायतों (economics) के रूप में ही की जा सकती है। खर्च अनावश्यक हो उसे घटा कर न्यूनतम कर देना चाहिए। आवश्यक खर्च के कुछ भाग की पूर्ति अनावश्यक मदों से आवश्यक मदों की ओर को साधनों का स्थानान्तरण करके की जानी चाहिए। परन्तु इस बात को स्पष्ट करना बड़ा कठिन है कि अनावश्यक खर्च कौन-सा है क्योंकि सभी सरकारी खर्चे कुछ न कुछ मात्रा में आवश्यक ही होते हैं। परन्तु सरकारी नीति के मूलभूत लक्ष्यों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना ही यदि कुछ खर्चों में मितव्ययता लाई जा सकती है तो उसे अवश्य लाना चाहिए। अतः यदि स्फीति सम्बन्धी दबावों को न्यूनतम करना है तो सरकारी खर्च में थोड़ी बहुत कमी अथवा उसकी वृद्धि की रफ्तार धीमी अवश्य करनी चाहिए। शस्त्रीकरण अथवा सरकारी क्षेत्र के अन्य उद्यमों पर किये जाने वाले विशाल सरकारी खर्च में प्रायः कुछ न कुछ अपव्यय होता ही है जिससे स्फीति और तीव्र होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि सरकारी खर्चों में मितव्ययता की गुंजाइश है, उस गुंजाइश की सावधानी के साथ खोज की जानी चाहिए और स्फीति को समाप्त करने के हित में उसका उपयोग किया जाना चाहिए।

सरकारी खर्च में लगातार वृद्धि होने से वस्तुओं की माँग बढ़ने के साथ ही साथ मजदूरियाँ बढ़ने से लागत में जो वृद्धि होती है उसमें स्फीति की स्थिति बहुत खराब हो जाती है और इस स्थिति को सरकारी खर्च की कमी अथवा कराधान की वृद्धि मात्र से नहीं सुधारा जा सकता। तथ्य यह है कि यदि सरकार परोक्ष करों की दरों में वृद्धि करती है तो उससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ती है, फलतः श्रमिक संघ अधिक मजदूरियों की माँग करते हैं जिससे स्फीति सम्बन्धी दबाव और बढ़ता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में भी भारत तथा अन्य अनेक देशों में इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया गया था कि उपभोग के अत्यावश्यक पदार्थों के लिए उपादान (subsidies) स्वीकृति किये गये थे। इन उपादानों से श्रमिक वर्ग के निर्वाह-खर्च (cost-of living) को नीचा रखने में मदद मिली, इस प्रकार मजदूरियों की वृद्धि से लागतों में होने वाली वृद्धि रुक गई। इस प्रकार, सरकारी खर्च में कमी करने के बजाए यदि उत्पादनों के रूप में सरकारी खर्च में वृद्धि की जाय तो कुछ परिस्थितियों में इसका अधिक स्थायित्वकारी प्रभाव होता है। परन्तु ये उपाय समस्या का केवल अल्पकालीन हल ही प्रस्तुत करते हैं। अतः दीर्घकालीन स्फीति विरोधी नीति के रूप में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता।

कराधान (Taxation) :

स्फीति की स्थिति पर बड़ा आक्रमण कराधान की ओर से होता है। कर-आय में वृद्धि होने से सामान्य जानता के पास उपलब्ध क्रय-शक्ति में कमी हो जाती है अतः इसका स्फीति विरोधी प्रभाव पड़ता है। फालतू क्रय-शक्ति का एक बड़ा भाग, जो कि जनता के हाथों में वर्तमान होता है और जो माँग पर भी दबाव डालता है, कराधान की वृद्धि द्वारा छीन लिया जाता है। सरकारी खर्च में जो वृद्धि होती है उसको कर आय की वृद्धि द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है अतः इस कार्य के लिए बड़े घाटे के बजट नहीं बनाये जाते। नये-नये कर लगाये जाते हैं और पुराने करों की दरें बढ़ा दी जाती हैं। स्फीति विरोधी नीति को सफल बनाने के लिए, करों में छूट देने तथा कुछ करों को समाप्त करने की माँगों को हतोत्साहित किया जाता है।

तथापि, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करों का चुनाव बड़ी सावधानी के साथ किया जाना चाहिए। कुछ कर अन्य करों से अधिक उपयुक्त (suitable) होते हैं तथा वे प्रत्यक्ष रूप से

उन्हीं नियमों के अन्तर्गत कार्य करते हैं जो कि स्फीतिजनक अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। इस परिस्थिति में प्रत्यक्ष कर अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। आय-कर विशेष रूप से एक निश्चित तरीके के द्वारा जनता की क्रय-शक्ति का एक भाग छीन लेता है अतः इस दृष्टिकोण से यह एक बड़ा लाभकारी कर है। एक प्रत्यक्ष व्यय-कर अर्थव्यवस्था की केवल फालतू क्रय-शक्ति को ही नहीं ले लेता, अपितु उपभोग पर भी हतोत्साहक प्रभाव डालता है। अतिरिक्त लाभ-कर (excess profits tax) दूसरा उपयोगी कर है जिसका उपयोग द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में अनेक देशों में किया गया था। यह कर स्फीति सम्बन्धी स्थिति को दो प्रकार से प्रभावित करता है। यह समाज के एक वर्ग की उस फालतू उपलब्ध आय को ले लेता है जो कि अर्थव्यवस्था पर स्फीतिजनक दबाव डाल सकती थी। दूसरे, यह व्यापारियों में वर्तमान उस प्रलोभन को भी कम करता है जिससे प्रेरित होकर वे ऊँची कीमतें वसूल करते हैं। यह कर श्रमिकों में वर्तमान असन्तोष को दूर करने में भी सहायक होता है। इस कर द्वारा श्रमिकों को यह अनुभव करा दिया जाता है कि मिल मालिक कीमतों की वृद्धि के कारण कोई अनुचित लाभ नहीं प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु शान्तिकाल के लिए कर उपयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि उत्पादन बढाने के लिए ऊँचे लाभों की प्रेरणा एक बड़ा महत्वपूर्ण तत्व है। युद्ध काल तक में भी, इस कर की दर में शत-प्रतिशत वृद्धि इस भय के कारण नहीं की जा सकती कि कहीं उत्पादन बढाने की सारी प्रेरणाएँ ही समाप्त न हो जाएँ। उन देशों में भी, जहाँ कि इसकी दर १०० प्रतिशत अथवा इसके आस पास थी, यह माना जाता था कि कर का एक भाग ऐसी जमा (deposit) है जिसे युद्ध काल के पश्चात् वापिस कर दिया जायेगा।

सामान्य जनता के पास वर्तमान फालतू क्रय-शक्ति को छीनने का एक अच्छा साधन परोक्ष कराधान (indirect taxation) है क्योंकि प्रत्यक्ष कराधान (direct taxation) के मुकाबले यह जनता के एक बड़े भाग को प्रभावित करता है। भारत जैसे देश में, जहाँ कि जनसंख्या का बहुत थोड़ा भाग ही व्यक्तिगत आय-कर तथा अन्य प्रत्यक्ष कर देता है, परोक्ष करों के द्वारा ही जनता के बड़े भाग तक पहुँचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त परोक्ष कर अ क वस्तुओं की माँग पर शिथिलकारी प्रभाव डालते हैं अत ये कराधान के स्फीति विरोधी प्रयत्नों के रूप में कार्य करते हैं। परन्तु कुछ परोक्ष कर ऐसे है जो श्रमिक वर्ग द्वारा उपभोग किये जाने वाली वस्तुओं की कीमतों में और उसके फलस्वरूप निर्वाह-व्यय में वृद्धि कर देते हैं जिससे श्रमिक लोग अधिक मजदूरी की माँग करने लगते हैं। फिर, इन करों से उत्पादन पर हतोत्साहक प्रभाव पड़ते है उनसे इनका स्फीति विरोधी प्रभाव क्षीर्ण हो जाता है। उत्पादन तथा व्यापार पर लगाये जाने वाले कुछ करों में कमी करने से उत्पादन पर प्रेरणात्मक प्रभाव पड़ता है जिससे स्फीति सम्बन्धी दबाव कम होते है। आयात करों में कमी करने का भी यही प्रभाव होता है क्योंकि इनसे वस्तुओं के कुल संभरण में वृद्धि होती है। परन्तु टैरिफ में कमी (tariff reductions) का देश के उद्योगों पर दीर्घकालीन प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अत अल्पकाल के अलावा इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, हम देखते है कि यदि नीति को वास्तव में प्रभावशाली बनाना है तो स्फीति का विरोध करने के लिए करों का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए।

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में भारत में जिस स्फीति विरोध नीति का अनुसरण किया गया, उसमें अन्य कार्यवाहियों के अलावा नया कराधान तथा उधार भी सम्मिलित था। आय-कर (income tax), अति कर (super tax) तथा निगम कर (corporation tax) के अधिभार (sercharge) की दरों में वृद्धियाँ की गईं। अतिरिक्त लाभ कर लागू किया गया और समय-समय पर इसकी दरों मे वृद्धि की गई। तम्बाकू जैसे पदार्थो पर नये उत्पादन शुल्क (excise duties) लगाये गये। इस प्रकार वे कर जो कि सीधे बड़ी-बड़ी अतिरिक्त आमदनियों पर पड़ते हैं तथा वे वस्तु कर, जो कि स्फीति के कारण बढ़ी हुई क्रय-शक्ति पर पड़ते हैं, स्फीति विरोधी नीति के रूप में बड़ा महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। लोगों की बढ़ी हुई आय के एक बड़े भाग को कराधान के द्वारा गैर-सरकारी खर्चे से बाहर निकालने में सरकार को काफी मात्रा में सफलता मिली।

स्फीति विरोधी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कराधान के उपयोग का महत्व युद्धोत्तर काल में भी बराबर बना रहा। युद्ध के एकदम बाद की अवधि में, अर्थव्यवस्था में वर्तमान क्रयशक्ति का एक बड़ा भाग कराधान के द्वारा ही लिया जा सका। यद्यपि अतिरिक्त लाभ कर सन् १६४६

मे समाप्त कर दिया गया परन्तु उसके साथ ही अनेक नये कर, विशेष रूप से नये-नये उत्पादन कर लगा दिये गये। आय-कर को अधिकाधिक आरोही (porgressive) बनाया जाता रहा। और जब से योजनाओ का कार्य शुरू हुआ है तब से तो कराधान का महत्व और भी बढ गया है। विकास पर भारी मात्रा मे किये जाने वाले खर्चो की वित्तीय व्यवस्था केवल कुछ सीमाओ मे रहते हुए घाटे के बजट बना कर ही की जा सकती है। योजनाओ की वित्तीय व्यवस्था करने मे कराधान अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करता चला आ रहा है। अत्यधिक आरोही आय-कर हमारी कर पद्धति का एक महत्वपूर्ण भाग है। अनेक नये कर जैसे कि सम्पदा-कर अथवा आस्ति कर (estate duty), धन-कर, उपहार-कर, व्यक्तिगत व्यय कर, पूँजीगत लाभ-कर तथा अनेक नये उत्पादन कर इसलिये लगाये गये ताकि सरकार की कर-आय मे वृद्धि हो सके। इनमे अनेक कर, जैसे कि व्यय-कर तथा अनेक वस्तु कई, उपभोग की मांग को सीमित करने मे अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। वे कर राजकोषीय व्यवस्था के महत्वपूर्ण अग हैं जो कि अर्थव्यवस्था के उन क्षेत्रो पर पडते हैं जो कि विकास व्यय के स्फीतिजनक प्रभावों से सबसे अधिक लाभान्वित होते हैं।

सरकारी उधार (Public Borrowing)

स्फीति के लिए मुख्यत जिम्मेदार बडे-बडे बजट-घाटो के प्रभावो को सरकारी उधार द्वारा उनकी पूर्ति करके निष्फल बनाया जा सकता है। इस स्थिति मे, सरकारी खर्च के एक भाग की पूर्ति सामान्य जनता से ऋण लेकर की जाती है। सरकारी ऋण लोगों के पास उपलब्ध क्रय-शक्ति के एक बडे भाग को उनसे ले लेने मे भी बडी मदद करता है और स्फीति सम्बन्धी दबावो को कम करता है सरकारी ऋण का वह भाग जो बैको के अलावा अन्य विनियोक्ताओ से लिया जाता है इस बात का प्रतीक होता है कि लोग वस्तुएँ खरीदने मे उतनी ही मात्रा मे कम क्रय-शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ ली जानी चाहिए कि केवल बैंको के अलावा अन्य ऋणदाताओ से लिया गया सरकारी ऋण ही स्फीति-विरोधी प्रभाव डालता है। सरकारी द्वारा वाणिज्य बैंको से जो ऋण लिया जाता है उसके बॉण्डो को बैंक ऋणपत्रो के बाजार (security market) मे बेचकर अपने नगद साधनो मे वृद्धि करते है जिससे साख-निर्माण (caedit creation) का आधार विस्तृत होता है। यह स्थिति स्फीतिजनक शक्तियो को बलहीन करने के बजाए और शक्तिशाली बनाती है। व्यक्तियो तथा गैर-बैंकिग सस्थाओ से लिया गया उधार वस्तुओ तथा सेनाओ की माँग को कम रखने मे सहायक हाता है अत इसकी प्रकृति स्फीति विरोधी होती है।

सरकारी ऋण से कुल माँग मे कमी केवल तभी होती है जबकि गैर-सरकारी उपभोग तथा विनियोग पर इसका प्रतिबन्धात्मक प्रभाव पडता है। परन्तु लोगो द्वारा सरकार को ऋणो के रूप मे जो धन दिया जाता है वह धन लोग प्राय या तो अपनी बचतो मे से दे देते हैं अथवा अपनी निष्क्रिय धनराशियो को गतिशील एव सक्रिय बना कर। अत इससे लोगो की व्ययशील आय मे बहुत थोडी कमी होती है और इसी कारण उसके स्फीति विरोधी प्रभाव भी हल्के पडते हैं। परन्तु जब सरकार द्वारा भारी मात्रा मे ऋण लिया जाता है तो निजी उपभोग में कुछ न कुछ कमी होना अवश्यम्भावी होता है। व्यक्ति तथा गैर-बैंकिग सँस्थाएँ सरकारी बॉण्डो मे जो धन विनियोग करती हैं उसका एक भाग निश्चय ही उस धन मे से लिया जाता है जिसे कि वे सामान्यतया उपभोग मे खर्च कर देते। अत सरकारी ऋण के कारण क्रय-शक्ति मे कुछ-कुछ कमी होना अवश्यवम्भावी होता है। इसके अतिरिक्त, सरकारी कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था के लिए सामान्य जनता से उधार लेने पर जोर दिया जाता है वह साख-निर्माण की आवश्यकता को कम करता है और इस प्रकार स्फीति के एक गम्भीर कारण को समाप्त करता है।

परन्तु जनता से ऋण प्राप्त होना हमेशा ही आसान होता हो, ऐसी बात नही है। लोकतन्त्रीय देश मे, जहा कि लोगो को सरकारी ऋणो मे धन देने या न देने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, अधिकारियो को वह सम्पूर्ण धनराशि प्राप्त नही होती है जितनी कि इस साधन से प्राप्त करने की योजना बनाते है। अत यह आवश्यक होता है कि लोगो को यथेष्ट मात्रा मे सरकारी बॉण्ड खरीदने के लिए प्रेरित एव प्रोत्साहन किया जाए। ऐसी प्रेरणाओ मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रेरणा, सभवत. ब्याज की दरो मे उपयुक्त वृद्धि करना है। परन्तु ऐसा करने से सरकारी

ऋण अत्यधिक महंगा धन सकता है। जब सरकार सरकारी ऋण का अत्यधिक भार बढाये बिना ही बड़ी-बड़ी धनराशियां प्राप्त करना चाहती है तो ऐसे अवसरो पर उसे सामान्यतः एक सरल एव सस्ती मुद्रा-नीति अपनानी होती है। परन्तु इस नीति का बड़ी-बड़ी धनराशियां प्राप्त करने के प्रयत्नों से कोई मेल नही बैठता और यह नीति राजकोषीय कार्यवाही के स्फीति विरोधी लक्ष्यो को प्राप्त करने मे एक ठोस बाधा बन जाती है। सरकारी ऋणो मे धन लगाने को लोगो को प्रोत्साहित करने के लिए अपनाये जाने वाले अन्य साधनो मे प्रचार तथा सामग्री का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण है। जब विभिन्न प्रकार के ऐसे ऋण जारी किये जाते हैं जो कि विभिन्न वर्गो के लोगो की तथा विभिन्न आय वाले लोगो की अपनी-अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप हो, तो इस स्थिति मे सरकारी अधिकारियो को अन्य किसी भी स्थिति के मुकाबले अधिक धनराशियां प्राप्त करने मे मदद मिलती है। परन्तु इन सभी बातो पर विचार करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि स्फीति विरोधी कार्यवाही के रूप मे सरकारी ऋण की प्रभावपूर्णता के मार्ग मे अनेक गम्भीर बाधाएँ वर्तमान है।

जब अर्थव्यवस्था मे स्फीति जनक दवाब (inflationary pressures) दृढ़ता के साथ वर्तमान हो तो इस स्थिति मे सरकारी कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था के लिए सरकारी उधार की महत्ता इस देश मे द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे अनुभव की गई। भारत सरकार ने भी अपने यहाँ ऋण लेने की योजनाओ को उसी आधार पर लागू किया जिस प्रकार कि वे अन्य मित्र राष्ट्रो मे लागू की गई थी। सरकारी ऋण के भार को यथासम्भव कम रखने के लिए एक सस्ती मुद्रा नीति को अपनाना आवश्यक समझा गया परन्तु ऋण लेने के कार्यक्रमो को सफल बनाने के लिए अन्य प्रकार के उपाय अपनाये गये। लोगो को सरकारी ऋणो मे अपना अशदान देने को प्रोत्साहित करने के लिए प्रचार के सभी प्रचलित साधनो का उपयोग किया गया। विभिन्न प्रकार के विनियोक्ताओ को सतुष्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार के ऋण जारी किये गये, पूंजी जारी करने पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये ताकि लोगो की बचतें कही विनियोग की कम उपयोगी धाराओ मे न प्रवाहित हो जायें। कृषि पदार्थो के सट्टे पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिससे न केवल इन पदार्थों की कीमतो मे तीव्र वृद्धि ही रुकी, अपितु इससे धन को इन क्रियाओ मे लगने से रोकने पर भी अनुकूल प्रभाव पडा और वह धन सरकारी उधार के लिए उपलब्ध हो गया। सस्थागत विनियोक्ताओ, जैसे कि बीमा कम्पनियो पर इस बात का दवाब डाला गया कि अपनी निधियो (funds) का कुछ भाग सरकारी ऋण पत्रो मे अवश्य लगायें। सरकार की नीति को युद्ध की सम्पूर्ण अवधि मे समान रूप से सफलता नही मिली, परन्तु यदि सम्पूर्ण अवधि पर एक साथ विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि प्राप्त सफलता काफी सन्तोषजनक थी।

युद्ध के बाद की अवधि मे भी सरकारी ऋण का महत्व बराबर बना रहा। सन् १९५१ मे जब रिजर्व बैंक द्वारा बैंक दर मे वृद्धि की गई तो सस्ती मुद्रा-नीति (cheap money policy) को कुछ शिथिल किया गया। लोगो को सरकारी ऋणो मे धन लगाने के लिए अन्य अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ दी गई और ऋणो के विभिन्न प्रकारो मे भी वृद्धि की गई। विकास योजनाओ की विशाल वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति कुछ सीमा तक उधार द्वारा की गई। सन् १९६०-६१ के अन्त मे, भारत सरकार की कुल ब्याज-मूलक देनदारियां ६२८० करोड रु० थी जिसमे भारत मे लिये गये ऋणो तथा दायित्वों (obligation) की मात्रा ५४५५ करोड रु० थी; शेष दायित्व भारत के बाहर के थे। भारत के इस ऋण का काफी भाग जनता द्वारा प्रदत्त था। जब से भारत मे योजनाओ का कार्य आरम्भ हुआ है तब से तो ऋण लेने के कार्यक्रमो की महत्ता विशेष रूप से स्वीकार की जाने लगी है। प्रथम योजना की अवधि मे, विभिन्न प्रकार के कुल ३६० करोड रु० और द्वितीय योजना की अवधि मे ११८० करोड रु० उधार लिये गये। इन आँकडो मे बाजार से लिये जाने वाले उधार तथा अल्प बचतो के सग्रह (collections) दोनों ही सम्मिलित हैं। तीसरी योजना मे इन साधनो से १४०० करोड़ रु० उधार लेने की व्यवस्था थी। इन कर्जों का कुछ भाग रिजर्व बैंक तथा अन्य बैंको से लिया गया परन्तु अधिकतर भाग गैर-बैंकिंग जनता से लिया गया।

इस देश मे युद्ध के बाद की अवधि से सरकारी ऋण पर काफी दृढता से जोर दिया गया, विशेष रूप से योजनाओ के आरम्भ के समय से। परन्तु योजनाओ के लिए जितने साधनों की आवश्यकता होती है वे सब के सब कराधान तथा सरकारी ऋण से प्राप्त नही हो जाते अतः

योजनाओं के खर्चों की वित्तीय व्यवस्था में घाटे के बजटों को ही महत्वपूर्ण योग देना होता है। इसका अर्थ होता है कीमतों में वृद्धि तथा उस स्फीति (inflation) का जन्म, जो कि १९५६ के प्रारम्भ से ही बराबर जोर डाल रही है। योजना की सफलता की यह एक अनिवार्य शर्त होती है कि मूल्यरेखा को स्थिर रखा जाए, अतः सरकार का ध्यान इस समस्या पर बराबर केन्द्रित रहता है। सरकार द्वारा चाहे कोई भी संशोधित नीति क्यों न अपनाई जाए, राजकोषीय कार्यवाहियाँ निश्चित ही उस नीति का एक महत्वपूर्ण भाग होती हैं।

गैर सरकारी बचत (Private Savings) :

निजी अथवा गैर-सरकारी बचतों का भी अर्थव्यवस्था पर गहरा स्फीति विरोधी प्रभाव पड़ता है। बचतों में वृद्धि की स्फीति को नियन्त्रित करने वाली एक महत्वपूर्ण कार्यवाही है। अतः सरकारी नीति में बचतों को बढ़ाने वाले उपाय अवश्य सम्मिलित होने चाहिए। लोगों को बचत करने की सबमें अधिक प्रेरणा ब्याज की दर में वृद्धि से मिलती है। परन्तु सरकार की सस्ती अथवा अल्प ब्याज मुद्रा नीति (cheap money policy) से इसका कोई मेल नहीं बैठता। अतः व्यापक मात्रा के सरकारी खर्चों की अवधि में बचत आन्दोलन का सचालन करते समय जो उपाय अपनाये जाने चाहिए वे हैं—प्रचार तथा सामग्री का प्रकाशन, लागों को रु० जमा अथवा विनियोग करने में तथा रु० वापिस लेने में सुविधाओं की व्यवस्था तथा ब्याज की दरों में बिना किसी उल्लेखनीय वृद्धि के ही ब्याज की प्राप्ति।

निजी ऐच्छिक बचतें ऊँचे कराधान से हतोत्साहित होती हैं क्योंकि करों की अदायगी अंशतः तो उपभोग में से और बचतों में से की जाती है। जब भारी कर लगाये जाते हैं तो लोगों में अपने उपभोग व्यय में कटौती करने की इच्छा अधिक तीव्र नहीं होती। वास्तव में, प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज उपभोग के एक-न्यूनतम स्तर के लिए भी खतरा बन जाता है तो व्यक्ति करों की अदायगी के लिए बचतों पर हाथ साफ करता है।

द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में ऐच्छिक बचतों को अपर्याप्त समझते हुए, कीन्स (Keynes) ने ब्रिटेन के लिए प्रत्येक मनुष्य की कमाई के एक भाग के आस्थगन की योजना (scheme of deferment) प्रस्तुत की।[1] यह एक अनिवार्य बचत की योजना थी जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की अपने तात्कालिक उपभोग को छोड़ने की मात्रा का निर्धारण किया जाता था और यह निर्धारित धनराशि उसके वेतन में से काट ली जाती थी और युद्ध के बाद उसकी अदायगी की बात कही जाती थी। योरोप के अन्य अनेक देशों ने भी जनता से जबरी कर्जा (forced loan) लेने की योजनाएँ अपने यहाँ लागू की। इन सभी योजनाओं का उद्देश्य यही था कि उपभोग के स्तर को ऐसे समय में नीचा ही रखा जाए जबकि उपभोग-वस्तुओं की पूर्ति की कमी है, और इस प्रकार स्फीति की शक्तियों को निर्बल बनाया जाए। कहा जाता है कि लोगों ने युद्धकाल में जिस उपभोग का त्याग किया है, वह उन्हें युद्ध के पश्चात् उस समय फिर प्राप्त हो जायेगा जबकि उन वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हो जायेगी और उस समय उपभोग पर किया जाने वाला भारी व्यय युद्धोत्तरक तीव्र मन्दी का सामना करने में बड़ा सहायक सिद्ध होगा। युद्धकाल में इस देश में अनिवार्य जमा की कुछ योजनाएँ भी लागू की गई जिनकी अदायगी युद्ध के बाद होनी थी।

तथापि, जबरी बचत (forced saving) की ऐसी योजनायें युद्धकाल में अथवा अन्य गम्भीर सकटों के समय में ही सम्भव हो सकती हैं। एक लोकतन्त्रीय देश में शान्तिकाल में ऐसी योजनायें मुश्किल से ही लागू हो सकती हैं। राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक, सभी परिस्थितियाँ ऐसी योजनाओं के विरुद्ध पड़ती हैं। शान्तिकाल की स्फीति का मुकाबला इस अस्त्र से नहीं किया जा सकता। वर्तमान समय के स्फीति विरोधी कार्यक्रमों के सदर्भ में ऐसी योजनाओं की व्यावहारिक उपयोगिता बहुत कम है। अतः वर्तमान समय में इस देश में विद्यमान स्फीति का सामना करने के लिए केवल ऐच्छिक बचतों तथा कराधान पर ही निर्भर रहना चाहिए।

---

1. Keynes : How to pay for the War ?

स्फीति विरोधी राजकोषीय नीति का मूल्यांकन (Appraisal of Anti-Inflationary Fiscal Policy) :

युद्धकाल में अथवा तीव्र आर्थिक विकास के काल मे, स्फीति को रोकने मे, राजकोषीय कार्यवाहियाँ पूणतः सफल नही हुई हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, इन परिस्थितियो मे भारी मात्रा मे सरकारी व्यय आवश्यक हो जाता है और उसकी पूर्ति के लिए थोड़ी बहुत मात्रा मे घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेना ही पडता है। युद्ध की अवधि मे, नागरिक उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में भारी कटौती कर दी जाती है और एक ही विकासशील अर्थव्यवस्था में विनियोग को परिपक्व (mature) होने मे समय लगता है। अत द्रव्य-आय की उत्पत्ति सदा ही वस्तुओ व सेवाओ की उपलब्धता से अधिक होती है। सरकारी व्यय को नियन्त्रित करके माँग में कमी करने की बहुत कम गुंजाइश होती है।

कराधान तथा सरकारी व्यय की वृद्धि की भी अपनी सीमायें हैं इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि ऊँचे कराधान का उत्पादन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े और साधारण जनता से लिये जाने वाले ऋण अपनी सम्पूर्ण धनराशि प्रदान नही कर सकते जो कि सरकारी ऋण के लिए आवश्यक होती है। इस प्रकार, केवल राजकोषीय कार्यवाही के द्वारा निजी व्यय को कम नहीं किया जा सकता। सोच-विचार कर बनाया गया करो का ढाँचा तथा सावधानी के साथ निर्धारित की गई करो की दरें स्फीतिजनक दबावो को रोकने मे बडी सहायक सिद्ध होती हैं और इस सम्बन्ध मे सरकारी ऋण भी अपना योगदान करता है। परन्तु इन सभी कार्यवाहियो का कुल प्रभाव यह होता है कि स्फीति सम्बन्धी दवाब हल्के तो पड जाते है किन्तु पूर्णतया समाप्त नही होते।

निष्कर्ष (Conclusion) .

अत निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि स्वय राजकोषीय नीति ही उतना सब कुछ नही कर सकती जो कि स्फाति सम्बन्धी स्थिति को नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक होता है। अन्य उपाय, जंस मौद्रिक नियन्त्रण (monetary control), मूल्य-नियन्त्रण तथा राशनिंग अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। राजकोषीय उपायों का उपयोग यदि अन्य ।कसी नीति के सहायक रूप में किया जाये तो वे अधिक प्रभावशाली तथा सक्षम होते हैं बमुकाबले इसके कि उनको स्वतन्त्र कार्यवाही क रूप मे प्रयुक्त किया जाए।

इस प्रकार, राजकोपीय नीति जहाँ मन्दी को रोकने तथा रोजगार बढाने मे बड़ी प्रभावी सिद्ध होती है, वहाँ स्फीति के विरुद्ध लड़ाई मे इसे साधारणत. केवल गौण स्थान ही प्रदान किया जाता है। अथव्यवस्था में विस्तारवादी परिवर्तनों के लिए, सरकार बिना किसी प्रतिबन्ध के तथा बिना कोई प्रतिकूल प्रभाव डाले राजकोषीय कार्यवाहियों को अपना सकती है बशर्ते कि विस्तार की सही रफ्तार बनाई रखी जा सके। तथापि, स्फीतिकाल मे चाहे कैसी भी राजकोपीय नीति क्यो न अपनाई जाए, उसके सभी प्रकार के परस्पर विरोधी प्रभाव पड़ते हैं और उसकी जाँच-पड़ताल तथा सन्तुलन की व्यवस्था बडी सावधानी के साथ करनी होती है किन्तु फिर भी उससे केवल सामान्य परिणाम ही प्राप्त होते हैं।

कुछ चुने हुये संदर्भ ग्रन्थ

1. Pigou . Public Finance, Part III Chapters I to VI.
1. Hicks : Public Finance, Chapter XVII.
3. Robinson : Introduction to the Theory of Employment, Chapter 12.
4. Prest . Public Finance, Chap. 5.
5. Meade : Economic Analysis and Policy, pp. 37-48.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारत जैसे विकासशील देश मे राजकोषीय नीति के उद्देश्यो की व्याख्या कीजिये और इन उद्देश्यो को प्राप्त करने मे राजकोषीय नीति के योगदान का परीक्षण कीजिये ।

   Explain the objectives of fiscal policy in a developing country like India and examine its role in achieving these objectives.

२. राजकोषीय नीति से क्या आशय है ? स्फीति विरोधी राजकोषीय नीति की विवेचना कीजिये ।

   What is meant by fiscal policy ? Discuss anti-inflationary fiscal policy.

३. किसी देश के आर्थिक स्थायित्व में राजकोषीय नीति की विवेचना कीजिए ।

   Discuss fiscal policy for economic statisbility in a country.

४. बजट सम्बन्धी नीति और रोजगार की विवेचना कीजिये ।

   Discuss budgetary policy and employment.

५. राजकोषीय नीति के क्या उद्देश्य होने हैं ? राजकोषीय नीति की सीमाओ का वर्णन कीजिए ।

   What are the objects of fiscal policy ? Discuss the limitations of fiscal policy.

६. सरकारी बजट के प्रभावो की विवेचना कीजिए ।

   Discuss the effects of the governments budget.

१९

युद्ध-वित्त एवं बजट
(War Finance and Budget)

भूमिका (Introduction) :

युद्धकाल मे सामान्य आर्थिक प्रक्रियायें (normal economic processes) कार्य करना बन्द कर देती हैं। आर्थिक शक्तियो को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की अनुमति नही दी जाती और सरकार द्वारा किया गया विवेकपूर्ण नियोजन (planning) अर्थव्यवस्था का एक विशिष्ट लक्षण बन आता है। आर्थिक क्रियाओ का नियमन इस प्रकार किया जाता है कि जिससे युद्ध-प्रयत्नो को बल मिले। सरकार की आर्थिक नीति का केवल एक तथा सर्वोच्च उद्देश्य होता है—युद्ध का सफल सचालन। इस काल मे अर्थव्यवस्था को ऐसा मोड प्रदान किया जाता है जिससे वह शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था से पूर्णतया भिन्न बन जाती है। इस प्रकार युद्धकाल का अर्थशास्त्र उस आर्थिक पद्धति का अध्ययन है जो कि अत्यधिक साधारण परिस्थितियो म कार्यशील होती है।

युद्धकालीन अर्थव्यवस्था मे, लोक-वित्त के उद्देश्य तथा लक्षण बिल्कुल भिन्न होते हैं। इसका योगदान युद्ध की आवश्यकताओ पर केन्द्रित रहता है। इसका सर्वप्रमुख उद्देश्य साधनों को युद्ध-कार्यो के लिए गतिशील करना होता है। सरकार को उपभोग तथा उत्पादन के साधनो पर पूरा अधिकार रखना होता है और उन्हे नागरिक-उपयोग से हटाना होता है। सरकार वस्तुओ के सम्भरण (supplies) पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण लगाकर, वस्तुओ की खरीद करके और कराधान तथा ऐच्छिक या अनिवार्य बचतो द्वारा व्यक्तियो की खर्च की जाने योग्य आमदनियो मे कटौती करके धन के नागरिक-उपयोग (civilian use) मे कटौती करती है और बाद मे वह धन युद्ध कार्यों के लिए उपलब्ध हो जाता है। वित्त की इन रीतियों से जब समस्या का समाधान नही मिलता है तो फिर बैंकिंग व्यवस्था से ऋण का अथवा नई मुद्रा के निर्माण का आश्रय लेना होता है। इन साधनो से सरकार को वाञ्छित मात्रा मे क्रयशक्ति प्राप्त हो जाती है और स्फीति की रीति द्वारा समाज के सामान्य उपभोग मे कटौती कर दी जाती है।

बड़ी मात्रा मे बैंक-साख का निर्माण होने से जो स्फीतिजनक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उनका सामना पृथक् से राजकोषीय कार्यवाही करके किया जाता है। मौद्रिक कार्यवाहियो तथा वस्तुओ पर प्रत्यक्ष नियन्त्रणो के साथ ही साथ, लोक वित्त भी कीमतो को तेजी से चढने से रोकने की दिशा मे कार्य करता है, गैर-सरकारी आमदनियो तथा ऋणो को कम करने के लिए कराधान, सरकारी ऋण तथा गैर-सरकारी बचत को प्रोत्साहन देना आवश्यक हो जाता है। इन कार्यवाहियो

से सरकार के पास अधिक वित्त आ जाता है जिसका उपयोग युद्ध-कार्यों के लिए किया जा सकता है।

करो का चुनाव तथा वित्त के अन्य साधनो का दोहन ऐसी सावधानी से करना होता है जिससे कि अर्थव्यवस्था पर जरा भी प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना ही सरकार को अधिकतम आय प्राप्त हो जाए। इन सब बातो की सर्वाधिक कुशल व्यवस्था करने के लिए वित्तमन्त्री को अपनी पूर्ण प्रतिभा का उपयोग करना होता है।

युद्ध के लिए साधन
(Resources for War)

युद्ध काल के लिए जिन चीजो की आवश्यकता होती है वे हैं—हथियार, गोला-बारूद, वायुयान, जलयान, तेल, खाद्यान्न तथा सैनिकों के लिए वस्त्र और अन्य वे पदार्थ जो कि वास्तविक धन (real wealth) का ही कोई न कोई रूप है। इन वस्तुओ के उत्पादन के लिए धातुओ, कोयल, बिजली रासायनिक पदार्थो, मानवीय श्रम व चातुर्य तथा उत्पत्ति के अन्य साधनो की आवश्यकता होती है। ये आवश्यक वस्तुयें देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय का ही एक भाग हैं। युद्ध जीतने की देश की क्षमता इसकी सामग्री तथा मानवीय साधनो पर और युद्ध की दृष्टि से उन साधनो का कुशल सगठन करने पर निर्भर है। युद्धकाल तथा शान्तिकाल, दोनो मे ही मूलभूत साधन तो वे ही होते हैं, उनमे कोई परिवर्तन नही होता, हाँ उनका उपयोग भिन्न-भिन्न तरीको से किया जाता है और उनके उपयोग की प्राथमिकता का क्रम (order of priority) बदल जाता है।

राज्य द्वारा युद्ध-कार्यों के लिए आवश्यक साधन प्राप्त किये जाते हैं। सरकार को सेना मे भर्ती के लिए तथा अस्त्र-शस्त्रो एव गोला-बारूद की फैक्टरियो मे काम करने के लिए मानवीय सेवाओ की आवश्यकता होती है और खाद्यान्न वस्त्र तथा उपभोग के अन्य पदार्थो की सैनिको के लिए जरूरत होती है धातुओ, रासायनिक पदार्थो तथा कोयले की आवश्यकता युद्ध-सामग्री के निर्माण के लिए होती है। सरकार देश के मानवीय तथा भौतिक साधनो का यथेष्ट मात्रा मे इतना दोहन करती है कि उसके युद्ध प्रयत्नो को बल मिले। इस कार्य के लिये उसे पर्याप्त मात्रा मे वित्त की आवश्यकता होती है। प्राचीन राज्य तो युद्ध के आवश्यक साधनो पर सीधे तरीके से ही अधिकार कर लेते थे और लोगो को सरकार की इच्छानुसार काम करने को बाध्य कर देते थे और अनिवार्य उगाही द्वारा उनसे वे वस्तुयें ले लेते थे जिनकी राज्य को युद्ध के लिए आवश्यकता होती थी। किन्तु आधुनिक राज्य उन वस्तुओ व सेवाओ को खरीदता है और उसके लिये उसे क्रय-शक्ति की आवश्यकता होती है। यह क्रय-शक्ति अथवा धन उसे सामान्य स्रोतो द्वारा, करो द्वारा तथा जनता व बैंको से उधार द्वारा प्राप्त होता है। फिर भी सरकार को शान्तिकाल की तुलना मे अधिक धनराशियो की आवश्यकता होती है अत. वित्त-व्यवस्था का कुशल प्रशासन भी युद्ध प्रयत्नो का ही एक अभिन्न अग होता है।

वास्तविक साधन (Real Resources) .

देश की आय-उत्पादन की सामान्य शक्ति के अलावा, युद्ध के वास्तविक साधन निम्न-लिखित चार श्रोतो से प्राप्त किये जा सकते है . (१) उत्पादन का विस्तार, (२) गैर-सरकारी उपभोग मे कमी और उपभोग की वस्तुओ को युद्ध की वस्तुओ मे बदल देना, (३) पूँजी के निर्माण मे कमी, और (४) चालू पूँजी भण्डार का उपयोग। इसके भी अतिरिक्त, विदेशी स्रोतो से, विदेशो से ऋण लेकर तथा स्वय अपने विनियोगो का युद्ध-पदार्थों की प्राप्ति के लिए उपयोग करके भी साधन उपलब्ध किये जा सकते है।

(१) उत्पादन का विस्तार (expansion of production)—उत्पादन मे वृद्धि करने की बात, काफी हद तक, इस बात पर निर्भर होती है कि बेकार पडे साधन कहाँ तक-उपलब्ध हैं। बेरोजगार मजदूरो तथा अप्रयुक्त सामग्री का उपयोग धन के अधिकाधिक उत्पादन के लिए किया जा सकता है। किन्तु जब श्रमिक तथा सामग्री पूर्णतया काम मे लगे होते हैं तब उत्पादन वृद्धि की गुंजाइश कुछ कम हो जाती है। तथापि, इस बात की कुछ सम्भावनायें अवश्य वर्तमान होती हैं

३

कराधान के सिद्धान्त
(Principles of Taxation)

प्रारम्भिक · करों का भार (Burden of Taxation)

सरकार की सेवाओ के बदले मे की जाने वाली अदायगी कष्टप्रद तो होती है परन्तु यह एक ऐसी प्रक्रिया (process) है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण को तथा प्रत्येक व्यावसायिक सगठन की लाभ की स्थिति को प्रभावित करती है। अर्थशास्त्रियो ने इसे कर का द्रव्य-भार (money burden of taxation) तथा कर का वास्तविक भार (real burden of taxation) और प्रत्यक्ष व परोक्ष भार भी कहा है।[1]

कर के द्रव्य-भार की कुल राशि से आशय द्रव्य-आय (money income) की उस धनराशि से है जो करो के रूप में लोगो के पास से सरकारी अधिकारियो के पास को स्थानान्तरित की जाती है। दूसरी ओर कर के कुल प्रत्यक्ष वास्तविक भार (total direct real burden of taxation) से आशय है :—

(क) वस्तुओं व सेवाओं का परिमाण (volume) अथवा द्रव्य का वह मूल्य जो लिया गया हो, अथवा

(ख) कर रूप मे द्रव्य-आय के स्थानान्तरण के कारण समुदाय (community) से कराये जाने वाले त्याग (sacrifice) की मात्रा।

यदि उपर्युक्त प्रथम आशय को लिया जाए तो यह ज्ञात होगा कि वास्तविक भार (real burden) से तात्पर्य करो के रूप मे लिए गये उस द्रव्य (money) से है जो वस्तुओं व सेवाओ के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया हो। दूसरी ओर, द्वितीय अर्थ मे वास्तविक भार से तात्पर्य करदाता द्वारा किये जाने वाले उस व्यक्तिपरक त्याग (subjective sacrifice) से है जो आय मे कमी, उपभोग-स्तरो मे कमी अथवा विनियोग मे कटौती आदि के रूप में किया जाए। व्यक्ति के मामले में, वास्तविक त्याग की कसौटी अनिवार्य तथा आरामदायक आवश्यकताओं के उस अनुपात को माना जा सकता है जोकि कर लगने के फलस्वरूप उन्हे छोडना पडा हो। यदि अन्य बातें समान हो, तो एक ऐसे व्यक्ति को कम त्याग करना पडेगा जिसको कर तो एक-सा ही अदा करना पड़ रहा हो किन्तु उसकी आय अपेक्षाकृत अधिक हो। इसी प्रकार, एक से ही कर का वास्तविक

1. Dalton *Public Finance*, Chapter IX.

प्रयोग (co-ercion) प्रत्यक्ष भी हो सकता है और परोक्ष भी। प्रत्यक्ष बल प्रयोग तब होता है जब युद्ध सेवाओ अथवा आवश्यक उद्योगो के लिए लोगो की अनिवार्य भर्ती की जाती है। परोक्ष बल प्रयोग की स्थिति वह होती है जबकि भारी कराधान के द्वारा लोगो की आय मे कमी कर दी जाती है, जिससे वे अधिक काम करने के लिए बाध्य हो जाते हैं ताकि अपने जीवन स्तर को यथापूर्व बनाये रख सकें। श्रम की बढी हुई वास्तविक मांग से वास्तविक मजदूरियो मे वृद्धि को भी प्रोत्साहन मिलता है जिससे काम की मात्रा मे वृद्धि भी प्रोत्साहित होती है।

(२) **निजी उपभोग में कमी** (reduction in private consumption)—युद्ध के लिए सामग्री की प्राप्ति का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत है निजी उपभोग मे कमी करना। स्पष्ट है कि लोग अपने उपभोग मे कटौती करके जो भी बचत करते है, वह या तो युद्ध कार्यों के लिए प्रत्यक्ष रूप से ही उपलब्ध हो जाती है अथवा उसका परिणाम यह होता है कि साधन उपभोग्य वस्तुओ के उद्योगो से हट कर युद्धोपयोगी वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि के लिए काम मे लाये जाते हैं। सेना के लिए खाद्यान्न, वस्त्र, तेल, परिवहन आदि की उपलब्धि तभी होती है जबकि लोग इन वस्तुओ के अपने उपभोग मे कमी करते हैं। इस प्रकार, उपभोग मे अनिवार्य अथवा ऐच्छिक कटौती कराकर युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओ की मात्रा मे वृद्धि कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त, जब गैर-सरकारी उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है, तो उत्पादन के कुछ साधन मुक्त हो जाते हैं और उनका उपयोग अस्त्र-शस्त्र, गोला,बारूद वायुयान तथा जलयान आदि के उत्पादन मे किया जा सकता है। कभी-कभी फैक्टरियाँ तथा अन्य साज-सामान को शान्तिकालीन उत्पादन से युद्धकालीन उत्पादन मे बदल दिया जाता है और इस प्रकार साधन युद्धोपयोगी वस्तुओ के उद्योगो मे स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए, मोटर कार बनाने वाले कारखानो को शस्त्रो का निर्माण करने वाले कारखाने का रूप दिया जा सकता है। कभी-कभी कुछ रेलमार्ग तथा रेल के डिब्बे मोर्चों पर सामान भेजने मे लगा दिये जाते है जिससे नागरिक उपयोग के लिए रेल परिवहन कम मात्रा मे मे उपलब्ध होता है। इस प्रकार, लोगो को विभिन्न वस्तुओ व सेवाओ के अपने उपभोग मे कमी करने को बाध्य किया जाता है जिससे कि युद्ध-कार्यों के लिए अधिकाधिक वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें।

(३) **साधनों को निजी पूँजी निर्माण से हटाकर युद्ध-उत्पादन में लगाना** (diversion of resources from private capital formation to war production)—युद्ध के लिए वास्तविक साधनो की प्राप्ति का तीसरा स्रोत है—साधनो को गैर-सरकारी पूँजी निर्माण से हटाकर युद्ध सम्बन्धी उत्पादन कार्यो मे लगा देना। नागरिक कार्यों के लिए औजारो, मशीनो तथा भवनो आदि मे किए जाने वाले विनियोगो (investments) को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है और उन साधनो का उपयोग युद्ध-सामग्री बनाने मे किया जाता है। नये सयन्त्र तथा साज-सज्जा (new plant and equipment) का निर्माण तथा पुरानो की मरम्मत एव उनका प्रतिस्थापन, दोनो का ही उपयोग युद्ध के लिए उपलब्ध साधनो को बढाने मे किया जाता है। सरकार द्वारा स्कूलो, अस्पतालो तथा नये सरकारी उद्यमो मे किए जाने वाले विनियोग को न्यूनतम सम्भव स्तर पर बनाये रखा जाता है और इस प्रकार शेष बचे हुए धन तथा सामग्री का उपयोग युद्ध सामग्री के निर्माण के लिए किया जाता है।

(४) **चालू पूँजी भण्डार का उपभोग** (use of existing capital stock)—युद्ध-सामग्री की प्राप्ति का चौथा स्रोत है—चालू पूँजी स्टॉक (existing capital stock) का उपयोग जिसे पूँजी-उपभोग भी कहा जाता है। मरम्मत तथा प्रतिस्थापन (repair and replacement) के सम्बन्ध मे वर्तमान पूँजीगत वस्तुओ की उपेक्षा करने और इस प्रकार बचे हुए साधनो को युद्ध कार्यों मे लगाने का, वास्तव मे, अर्थ है—युद्ध-कोष का निर्माण करने के लिए वर्तमान पूँजी को रिक्त करना। इस उद्देश्य के लिए जो पूँजी का उपयोग किया जाता है, उसके कई रूप हैं। खानो मे अधिक गहराई तक खुदाई की जाती है और खनिज-भण्डारो का अधिक तेजी से शोषण किया जाता है ताकि युद्ध कार्यों के लिए अधिक सामग्री उपलब्ध हो सके। वस्तुओ के स्टॉको मे कमी कर दी जाती है और मूल्य-ह्रास निधियाँ (depreciation funds) भी इसी उद्देश्य के लिए काम मे लाई जाती हैं। सोना, जवाहरात तथा कला-कृतियाँ (works of art) विदेशो को निर्यात की जाती हैं और उनके बदले मे युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं। विदेशी ऋण-पत्रो

कि पूर्ण रोजगार की दशाओ मे भी उत्पादन के अतिरिक्त उपादान उपलब्ध हो जायें। श्रमिकों से यह माँग की जाती है कि वे शान्तिकाल के मुकाबले अधिक घण्टो तक तथा सप्ताह मे अधिक दिनों तक काम करें। युवक तथा युवतियो को अपेक्षाकृत छोटी उम्र से काम शुरू कर देने का प्रोत्साहन दिया जाता है और बूढ़े व्यक्तियो की सेवा-निवृत्त होने की आयु बढा दी जाती है तथा अवकाश ग्रहण किये (retired) हुए व्यक्तियो को फिर काम पर वापिस बुला लिया जाता है। यह भी हो सकता है कि स्त्रियो को घर की चहारदीवारी से निकालकर फैक्टरियो तथा खेतो मे काम पर लगा दिया जाये। किन्तु जब तक कि स्त्री श्रमिक केवल उतना ही काम करती है जितना कि घरेलू सेवाओ के रूप मे करती थी, तब तक उनको फैक्टरियो मे लगाने का अर्थ यह नही होगा कि देश की श्रम-शक्ति मे कुछ वृद्धि हुई है, अपितु वह तो एक उपयोग से दूसरे उपयोग की ओर को साधनों का केवल अन्तरण (diversion) मात्र ही होगा। इसके अतिरिक्त, अनेक स्त्रियाँ जो उद्योग मे काम करने आती है, अपने घरों के काम से हट करके ही ऐसा करती हैं, और उनके द्वारा पहले ही किये जाने वाले घरेलू काम से धन के उत्पादन मे शुद्ध (net) वृद्धि होती थी। अत. उद्योग मे उनके काम करने का यह अर्थ नही है कि राष्ट्रीय आय मे कोई वृद्धि हुई है। परन्तु यदि वे घरेलू कामो के मुकाबले उद्योग (industry) मे अधिक परिश्रम करती हैं अथवा उनके द्वारा किया गया श्रम उनकी घरेलू क्रियाओ से मात्रा मे अधिक है तो उससे समाज की वास्तविक आय मे वृद्धि होती है। देश की उत्पादन-क्षमता मे उस समय भी वृद्धि होती है जबकि ऐसे व्यक्तियो से भी काम कराया जाता है जो आमतौर पर काम नही किया करते। देश मे सदा ही कुछ लोग ऐसे होते है जो स्वेच्छा से ही बेकार रहते हैं और सम्पत्ति की आय से अपना गुजारा करते हैं। ऐसे लोग भी या तो राष्ट्र-प्रेम की भावनाओ के कारण अथवा सरकारी दबाव के कारण जब उत्पादन-कार्य मे लग जाते है तो देश की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, जब कार्य को अधिक तीव्रता एव अधिक क्षमता के साथ सम्पन्न किया जाता है तो उससे भी श्रम की मात्रा मे कोई वृद्धि हुए बिना ही उत्पादन मे वृद्धि होती है। युद्धकाल मे, जबकि देशभक्ति की भावना तथा सरकारी दबाव क्रियाशील होते है, श्रम की मात्रा तथा क्षमता मे ऐसे सुधार होना कोई असम्भावित बात नही है।

जब देश के पास पूँजीगत वस्तुओ की मात्रा अथवा उपलब्धि सीमित होती है. तब उपलब्ध साधनो पर अधिक तीव्रता एव गहनता के साथ काम करके ही उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती हैं। ऐसा उस समय किया जा सकता है जबकि फैक्टरियो में अधिक पारियां (shifts) चालू कर दी जाएँ अथवा काम के घण्टो की अवधि बढा दी जाय। युद्ध-काल मे टूट-फूट (wear and tear) मे जो वृद्धि होती है तथा मरम्मत एव प्रतिस्थापन्न (repair and replacement) में जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं, वे चालू उत्पादन-क्षमता का पूरी तरह से उपयोग किये जाने के मार्ग मे बाधाएँ खडी करती है। परन्तु रख-रखाव तथा मरम्मत की थोडी बहुत व्यवस्था करके भी उत्पादन मे कुछ वृद्धि करना सम्भव है। इसके अतिरिक्त, उत्पादन मे वृद्धि तब भी की जा सकती हैं जबकि मालिकों तथा श्रमिकों के झगडो के कारण बीच-बीच मे जो काम रुक जाता है उसे समाप्त कर दिया जाए। एक लोकतन्त्रीय देश मे, शान्तिकाल मे, औद्योगिक सघर्षों एवं विवादो को पूर्णतया समाप्त नही किया जा सकता अत: इन परिस्थितियो मे सदा ही सरकार को उत्पादन मे हस्तक्षेप करना पडता है। परन्तु युद्ध काल मे, कुछ तो इसलिए क्योकि देशभक्ति की भावना के कारण लोग स्वय अधिकतम उत्पादन करने के इच्छुक रहते है और कुछ इसलिये क्योकि हडतालों व ताला-बन्दियो पर कानूनी प्रतिबन्ध लग जाते है, काम का बिना रुके ही बराबर जारी रहना सम्भव हो सकता है। अतः इस स्थिति मे, उत्पादन को अधिकतम सम्भव उच्च स्तर पर बनाये रखा जाता है।

युद्ध-प्रयत्नो मे तेजी लाने के लिए कुछ कार्यवाहियाँ करनी आवश्यक होती हैं। इसमे कोई सन्देह नही है कि लोगो की देशभक्ति की भावना अप्रयुक्त क्षमता का उपयोग करने मे बडी सहायता करती है और विज्ञान तथा प्रचार के कार्य आमतौर पर इतने सुसगठित होते है कि उनके द्वारा बेरोजगार लोगो को भी यह पता चल जाता है कि उन्हें कहाँ काम मिल सकता है यह भी सम्भव हो सकता है कि काम करने के अनिच्छुक व्यक्तियो को काम करने को बाध्य करने के लिए कुछ जबरदस्ती भी करनी पड़े। यह जोर जबरदस्ती अथवा बल

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि मे कुछ देशो मे युद्ध के लिए जो भारी मात्रा मे खर्च किये गये, उनपर विचार करके हम युद्ध की विशाल लागत का अनुमान लगा सकते हैं।[1]

गत युद्ध काल मे, युद्ध मे लगे सभी देशो तथा कुछ तटस्थ देशो के भी राष्ट्रीय खर्च मे विशाल वृद्धि हुई। ब्रिटेन का व्यय जो कि १६३८-३९ मे ११४·७० करोड था सन् १९४४-४५ मे बढकर ६१६·०० करोड पौण्ड हो गया। सयुक्त राज्य अमरीका मे युद्ध प्रयत्न सन् १९४०-४१ से प्रारम्भ हुए और उनका कुल सरकारी खर्च, जो कि सन् १९३९-४० मे २१२·७० करोड डालर था, बढकर ९८६१·२० करोड डालर हो गया। भारत मे सरकारी खर्च सन् १९३८-३९ मे केवल १२१·८ करोड रु० था। इसमे युद्ध के प्रथम तीन वर्षों मे वृद्धि की गति धीमी रही और सन् १९४१-४२ मे यह बढ़कर १८७·४ करोड रु० हो गया। परन्तु अगले तीन वर्षों मे खर्च मे अचानक भारी वृद्धि हुई और सन् १९४४-४५ मे खर्च के अनुमान ५७२·१ करोड रु० तक पहुँच गये। इस तिगुनी वृद्धि मे भारत द्वारा किया गया वह विशाल व्यय सम्मिलित नही है जो कि भारत ने ब्रिटिश सरकार के दायित्व पर किया था और जिसके फलस्वरूप बडी मात्रा मे भारत के पौण्ड-पावने ब्रिटेन मे एकत्र हो गये थे। तटस्थ देशों मे, स्वीडन का खर्च, जो कि सन् १९३८-३९ मे १५७·८० करोड क्रोन था, सन् १९४४-४५ मे बढकर ४८६·६० करोड क्रोन हो गया और स्विट्जरलैण्ड का व्यय सन् १९३८ मे ६७·५० करोड फ्रैंक से बढकर सन् १९४५ मे २४०·७० करोड फ्रैंक हो गया। इन देशो के खर्चों मे होने वाली ये ठोस वृद्धियाँ सकट-काल से जूझने की उनकी तैयारी की सूचक हैं।

स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा प्रतिशत युद्ध कार्यों मे खर्चा किया गया और यही नही, यह प्रतिशत सम्पूर्ण युद्ध की अवधि मे प्रति वर्ष बढता ही रहा। सन् १९३९ मे, ब्रिटेन मे, राष्ट्रीय आय मे सरकारी खर्च का अनुपात २४ प्रतिशत था। यह बढकर सन् १९४१ मे ५३% और सन् १९४३ मे ५५ प्रतिशत हो गया। सन् १९४४ मे यह कुछ घटा और ५४% रह गया। सयुक्त राज्य अमरीका मे, सन् १९३९ मे यह अनुपात २०% था और सन् १९४१ तक इसमे कोई विशेष वृद्धि नही हुई तथा यह २३ प्रतिशत रहा। इस वर्ष के पश्चात् अमरीका के युद्ध प्रयत्नो मे तेजी आयी और सन् १९४३ मे राष्ट्रीय आय मे सरकारी खर्च का अनुपात बढकर ५४% हो गया। सन् १९४४ मे इसमे नाम मात्र की कमी हुई और यह ५२% हो गया। उक्त आकडो से स्पष्ट है कि सरकार को राष्ट्रीय आय का एक बडा भाग युद्ध के कार्यों मे ही खर्च करना पडा और युद्ध काल मे इस खर्च का अनुपात बढता ही चला गया।

विश्व भर मे, कुल सरकारी खर्च का एक बडा भाग अनेक युद्ध कार्यों मे लगाया गया जैसे कि शस्त्रो के निर्माण पर, जलयानो तथा युद्ध सामग्री बनाने वाले कारखानो के निर्माण पर और सशस्त्र सेनाओ तथा सैनिक कारखानो मे लगे आदमियो के वेतन आदि पर। ब्रिटेन मे, सन् १९३९ ४० से लेकर १९४५-४६ तक के छ: वर्षों मे कुल व्यय का ८२% युद्ध व्यय था। सन् १९४५-४६ के बजट अनुमानो के अनुसार इस प्रतिशत मे कुछ गिरावट आई और यह घटकर ७९% हो गया।। ब्रिटेन के युद्ध-व्यय मे प्रतिवर्ष तेजी से वृद्धि हुई और सन् १९३९-४० मे यह ११४·१० करोड पौण्ड से बढकर सन् १९४४-४५ मे ५१२·५० करोड़ हो गया। इस खर्च मे 'उलट उधार, पट्टा (reverse lend lease) अथवा 'पारस्परिक सहायता' (mutual aid) के खर्च भी सम्मिलित हैं। सयुक्त राज्य अमरीका मे युद्ध के प्रथम पाँच वर्षों मे जो कुल खर्च हुआ उसमे युद्ध व्यय का प्रतिशत ८५% था। सन् १९४४-४५ के अनुमानो के अनुसार यह प्रतिशत बढकर ८७% हो गया सयुक्त राज्य अमरीका के खर्चों मे उधार-पट्टा-व्यय, कृषि-व्यय तथा युद्ध से ही सम्बन्धित अन्य असैनिक कार्यों पर किया गया व्यय सम्मिलित है। रूस मे सन् १९३९ तथा ४० मे युद्ध-व्यय कुल सरकारी खर्च का ३० प्रतिशत था और १९४१ मे ३३ प्रतिशत। बाद के वर्षों मे यह तेजी से बढा और सन् १९४३ तथा ४४ मे यह प्रतिशत ५९ हो गया। रूस का प्रतिशत अपेक्षाकृत नीचा है और उसमे वृद्धि भी तुलनात्मक दृष्टि से कम हुई है, इसका एक कारण तो रूस के बजट की व्यापक एव

1. The figures given here are based on information provided by the League of Nations, World Economic Survey, 1942-44.

foreign securities) तथा निवेशों (investments) का भी इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए उपभोग किया जाता है। इस प्रकार किये जाने वाला पूँजी का रिक्तीकरण (depletion of capital) देश की दीर्घकालीन आम-उत्पादन क्षमता को क्षीण करता है। परन्तु यदि युद्ध का सफल संचालन किया जाना है तो उसका यह मूल्य तो चुकाना ही होगा।

(५) **विदेशों से ऋण अथवा अन्य रूप में वस्तुओं को प्राप्त करना** (obtaining goods from foreign countries by borrowing in other ways)—युद्ध के लिए धन तथा सामग्री की प्राप्ति का एक अन्य स्रोत (source) है—उधार द्वारा अथवा अन्य तरीको से विदेशो से वस्तुएँ प्राप्त करना। युद्ध-सामग्री खरीदने के लिए तटस्थ राष्ट्रों से ऋण आदि लिए जाते हैं। जब ऋण देने वाले सभी बड़े देश युद्ध में सलग्न होते हैं, तब छोटे देशों से ऋण लिया जाता है और वहाँ किये गये विनियोगों का उपयोग युद्ध-सामग्री प्राप्त करने से किया जाता है। कभी-कभी मित्र देशों द्वारा पट्टे पर (on lease) अथवा उपहार के रूप मे भी साधन दे दिए जाते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे सयुक्त राज्य के उधार-पट्टा कार्यक्रमों (U. S. lend lease programmes) के अन्तर्गत मित्र राष्ट्रों को भारी मात्रा में युद्ध-सामग्री प्रदान की गई। राष्ट्रमण्डल के कुछ देशों ने इसी उद्देश्य के लिए ब्रिटेन को उपहार (gifts) भी दिए। द्वितीय विश्वयुद्ध-काल की वह व्यवस्था जिसके अन्तर्गत भारत तथा अन्य अनेक देशों ने स्टर्लिंग के बदले मे ब्रिटेन को युद्ध-सामग्री दी और वह स्टर्लिंग लन्दन मे उन देशों के खातो मे जमा कर लिये गये—और कुछ नहीं बल्कि ब्रिटेन द्वारा लिए जाने वाले उधार का ही एक रूप था। इस प्रकार जो स्टर्लिंग अथवा पौण्ड-पावना (sterling balances) इकट्ठा हुआ, वह इन कर्जों का ही सूचक था। जर्मनी ने जिन देशों पर अधिकार कर रखा था उनसे अधिकार के लागत-व्यय को पूरा करने के लिए अनिवार्य कर वसूल किए।

युद्ध के लिए जिन वास्तविक साधनो की आवश्यकता होती है उनके विश्लेषण (analysis) से उस अन्तर की ओर हमारा ध्यान दिया जाता है जो कि अनेक लोगो द्वारा युद्ध की वर्तमान तथा भावी लागत के बीच किया जाता है। लोगो को अपना उपभोग कम करने के लिए बाध्य करके, युद्ध वर्तमान (present) पर प्रहार करता है, किन्तु देश की पूँजी के स्टॉक को रिक्त करके युद्ध राष्ट्र की भावी उत्पादन क्षमता को कम करता है और इस प्रकार युद्ध का भविष्य (future) पर डाल दिया जाता है। उत्पादन का विस्तार, जिसके लिए अतिरिक्त काम करना होता है, और उपभोग मे कमी, जिससे जीवन स्तर नीचा होता है—दोनों ही वर्तमान (present) के मूल्य पर किए जाते हैं। पूँजी-निर्माण मे गिरावट, पूँजीगत साज-सज्जा का घिस जाना और धन के स्टॉक का उपयोग करना—ये ऐसे व्यय हैं जिनका भार भविष्य पर पडता है। इस अन्तर मे कुछ जान तो है परन्तु यह अन्तर पूर्णतया न्यायोचित तथा प्रमाणिक नहीं है वास्तविकता यह है कि युद्ध-प्रयत्नो के सभी स्रोत वर्तमान तथा भविष्य, दोनों पर ही प्रभाव डालते हैं। होता यह है कि वर्तमान साधनो के उपभोग का प्रयोग भावी अर्थव्यवस्था पर भी अवश्य पडता है। वर्तमान समय मे जो मानवीय साधन अतिरिक्त कार्य करते हैं उसका प्रभाव आगामी वर्षों मे उनके कार्य की किस्म तथा उनकी उत्पादन-क्षमता पर अवश्य पडता है। उपभोग की कमी का तथा जीवन-स्तर के गिरने का लोगो के स्वास्थ्य तथा उनकी कार्य-क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है और यह प्रभाव दीर्घकालीन होता है। जब अपने स्वास्थ्य, शिक्षा तथा प्रशिक्षण की लागत पर बच्चे काम करते हैं तो यह स्वाभाविक ही है कि आने वाले वर्षों मे उनके जीवन की कार्य क्षमता घट जायेगी इस प्रकार, जब हम मानवीय साधनो के उपयोग पर, उन्हें भौतिक साधनों से पृथक् करके विचार करते हैं तो युद्ध की भावी लागत की सही मात्रा स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

आधुनिक युद्ध की लागत
(The Cost of Modern War)

अब यह स्पष्ट है कि युद्ध की वास्तविक लागत का अर्थ है उन साधनों का उपयोग करना जो कि अन्य स्थिति मे समाज के उपभोग तथा विनियोग मे लग जाते हैं। राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय पूँजी का काफी भाग युद्ध-कार्यों के लिए खर्च किया जाता है। आधुनिक युद्ध का एक बड़ा मँहगा सौदा है और राष्ट्रीय आय की बड़ी-बड़ी धनराशियाँ इसके संचालन में लगा दी जाती हैं।

में, प्रत्येक वस्तु को जबरदस्ती प्राप्त करने की प्रक्रिया लागू नहीं की जा सकती। उसके लिए कुछ वित्तीय उपाय भी अपनाने पड़ते हैं और सरकार लोगों के पास से क्रय-शक्ति एकत्र करती है तथा उसे उन वस्तुओं पर खर्च करती है जिनकी उसे युद्ध के लिए आवश्यकता है। इस स्थिति में, सरकारी खरीदों के द्वारा युद्ध के लिए वास्तविक साधनों की प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

कराधान तथा ऋण जैसे वित्त प्राप्ति के सामान्य साधन युद्ध-काल में भी उतने ही महत्वपूर्ण होते हैं जितने कि शान्तिकाल में शान्तिकाल के न्यायोचित कराधान की अपेक्षा भारी कराधान द्वारा सरकार बड़ी-बड़ी धनराशियाँ प्राप्त करती है और उनका उपयोग आवश्यक वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने में करती है। चूँकि कराधान उतना वित्त उपलब्ध नहीं करा सकता जितना कि युद्ध के लिए आवश्यक होता है (अंशतः तो भारी करों की अलोकप्रियता के कारण और अंशतः उत्पादन पर उसके प्रतिकूल प्रेरणात्मक प्रभाव के कारण और ऐसे समय जबकि उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता है), अतः सरकारी उधार द्वारा काफी धन प्राप्त करना होता है। कराधान तथा अनिवार्य या ऐच्छिक बचतों से लोगों के उपलब्ध आय में कमी हो जाती है जिसके कारण वास्तविक साधन (real resources) गैर-सरकारी उपयोग से मुक्त हो जाते हैं। जब ये दोनों साधन भी सरकार को यथेष्ट मात्रा में धन उपलब्ध कराने में असफल हो जाते हैं। तब सरकार को बैंकों से उधार लेने तथा नई मुद्रा के निर्माण का आश्रय लेने को बाध्य होना पड़ता है। नये द्रव्य के चलन से लोगों को नई आय प्राप्त होती है किन्तु नागरिक उपभोग के लिए समवर्ती मात्रा में वस्तुओं का सम्भरण (supply) नहीं बढ़ता, अतः इस स्थिति से अर्थव्यवस्था में स्फीति सम्बन्धी दबाव उत्पन्न हो जाते है। किन्तु यदि कराधान तथा सरकारी उधार की मात्रा बढ़ाकर सम्पूर्ण अतिरिक्त आय लोगों में से ले ली जाए और राशनिंग द्वारा गैर-सरकारी उपभोग को सीमित कर दिया जाए तो स्फीतिजनक प्रवृत्तियों पर थोड़ा-बहुत काबू पाया जा सकता है। परन्तु राशनिंग, कराधान तथा सरकारी ऋण जिस सीमा तक उपभोग में यथेष्ट कटौती करने में असफल रहते हैं, उस सीमा तक कीमतों की वृद्धि को नहीं रोका जा सकता। इस स्थिति में, उपभोग में कटौती ऐसे तरीके द्वारा की जाती है जो कम वांछनीय होता है, अर्थात् यह कि ऊँची कीमतों के कारण लोग वस्तुओं की केवल थोड़ी मात्रा ही खरीदने में समर्थ हो पाते हैं। इस प्रकार, सरकार को वित्त की प्राप्ति के जो प्रमुख स्रोत उपलब्ध होते हैं वे हैं—कराधान, उधार तथा साख-निर्माण (credit creation)। ये तीनों ही साधनों की प्राप्ति के लिए क्रय-शक्ति उपलब्ध कराते हैं, व्यक्तियों की क्रय करने की क्षमता को घटाते हैं और वस्तुओं व सेवाओं को गैर-सरकारी उपभोग से मुक्त कराते हैं।

जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं कि एक देश विदेशों से भी कई प्रकार से युद्ध-सामग्री प्राप्त कर सकता है जैसे कि उधार लेकर, चन्दे तथा दान प्राप्त करके उधार-पट्टा तथा उलट उधार-पट्टा (reverse lend-lease) जैसे पारस्परिक सहायता के समझौतों द्वारा, स्वर्ण रिजर्व तथा विदेशी विनियोगों का परि-समापन (liquidation) करके, अधिकृत देशों पर प्रशासन की लागत वसूल करने के लिये कर लगाकर अथवा उन देशों से चन्दे लेकर, जैसाकि जर्मनी ने अपने अधीनस्थ देशों से लिया। इन व्यवस्थाओं से सरकार को विदेशी क्रय-शक्ति पर अधिकार प्राप्त हो जाता है जिसका उपयोग विदेशों से आवश्यक युद्ध-सामग्री का आयात करने में किया जाता है। विनिमय-नियन्त्रण *(exchange control) द्वारा तथा आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर भी सरकार विदेशी मुद्रा प्राप्त* करती है और इस प्रकार वह विदेशी मुद्रा अनावश्यक आयात पर व्यय किये जाने की बजाए आवश्यक युद्ध-सामग्री का आयात करने में व्यय की जाती है। विदेशी व्यय के द्वारा द्रव्य-आय में जो वृद्धि होती है उसका मुद्रा तथा कीमतों पर वही प्रभाव पड़ता है जैसा कि साख-निर्माण द्वारा किये गये आन्तरिक सरकारी खर्च का पड़ता है।

कराधान (Taxation) :

(I) कराधान युद्ध के लिए वित्त प्राप्ति का एकमात्र सबसे बड़ा स्रोत है। यह सामान्य जनता के पास उपलब्ध फालतू क्रय-शक्ति को कम करने की दिशा में बड़ा प्रभावशाली कार्य करता है तथा भारी मात्रा में किये गए सरकारी व्यय से उत्पन्न स्फीति को रोकता है। सामान्यतः युद्ध के प्रारम्भ में तो कर-आय द्वारा पोषित व्यय का अनुपात गिरता है परन्तु बाद में जैसे-जैसे युद्ध लम्बा खिंचता है, यह अनुपात बढ़ता जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि युद्ध में उलझने के कारण

विस्तृत प्रकृति से सम्बन्धित था और दूसरा कारण यह था कि युद्ध से पहले ही देश में युद्ध की काफी तैयारी कर ली गई थी। युद्ध के प्रथम पाँच वर्षों मे, अर्थात् सन् १९४३-४४ तक, भारत मे कुल सरकारी व्यय मे युद्ध-व्यय का प्रतिशत ५६ था। सन् १९४४-४५ मे यह प्रतिशत एकदम बढकर ८० हो गया। जापान के युद्ध के केवल बाद के पाँच वर्षों के ही बजट-अनुमान उपलब्ध हैं। जो भी सूचना उपलब्ध है, वह बतलाती है कि कुल सरकारी व्यय मे तथा कुल व्यय मे युद्ध-व्यय के प्रतिशत मे निरन्तर वृद्धि हुई है। सन् १९३९-४० मे यह प्रतिशत ५० था जो कि सन् १९४३-४४ मे बढकर ६७ हो गया। इसी प्रकार, जर्मनी मे सन् १९३३ के पश्चात् बजट सम्बन्धी कोई हिसाब प्रकाशित नही हुआ, परन्तु सरकारी आंकडो पर आधारित अनुमानों से प्रकट होता हैं कि युद्ध के प्रथम पाँच वर्षों में ५१७००'०० करोड जर्मन मार्क्स के कुल सरकारी खर्चे मे युद्ध-व्यय की मात्रा ४२००० ०० करोड अर्थात् लगभग ८१% थी। कुल तथा युद्ध-व्यय की ये बडी-बडी तथा बढती हुई धनराशियाँ इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आधुनिक युद्ध कितना महँगा पडता है।

प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध के कुल सरकारी व्यय की तुलना करके भी युद्ध के बढते हुए भार का प्रकटीकरण किया जा सकता है। सयुक्त राज्य अमरीका मे, द्वितीय विश्व युद्ध के प्रथम पाँच वर्षों का कुल सरकारी व्यय २२६०० ०० करोड़ डालर था जबकि सन् १९१४ से १९१९ तक के पाँच वर्षों मे इसकी मात्रा ३६०० ०० करोड डालर थी। ब्रिटेन मे अप्रेल १९३९ से मार्च १९४४ तक कुल सरकारी व्यय २४४०'०० करोड पौण्ड था जबकि प्रथम विश्व युद्ध के पाँच वर्षों मे इसकी मात्रा ९६० ०० करोड पोण्ड ही थी। जर्मनी मे ये आँकड़े क्रमश ५०००० ०० और १६४०० ०० करोड जर्मनी मार्क्स थे। तटस्थ देश स्वीडन और स्विट्जरलैण्ड मे ये आंकडे क्रमश. १९७०'०० करोड क्रोनोर व २६०'०० करोड क्रोनोर तथा ८०० ०० करोड फ्रांक व १०० ०० करोड फ्राक थे। ये आँकड़े बतलाते है कि आधुनिक युद्ध के लिए कितने विशाल साधनो की आवश्यकता होती है और जैसे-जैसे युद्ध की प्रकृति तथा विरोधियो मे परिवर्तन हो रहा हैं वैसे-वैसे ही युद्ध का महँगापन भी बढ़ रहा है।

यहाँ हमने युद्ध की लागत का जो विवेचन किया है वह द्रव्य (money) तथा सामग्री (material) के रूप मे किया है। युद्ध की लागत का अनुमान लगाने के कुछ और भी रूप हैं, जैसे मानवीय जीवन की हानियाँ तथा कष्ट, मरने तथा अपंग होने वाले मनुष्यो की सख्या, मृत्यु से होने वाला मानसिक कष्ट मनुष्यो का अपने प्रिय जनो से बिछुडना, धन के विनाश से होने वाली निर्धनता तथा इसी प्रकार के अन्य विनाश। इनकी लागतों का अनुमान द्रव्य के रूप मे नही लगाया जा सकता। इन कष्टो एव दु खो का कुछ अनुमान उन बड़ी-बड़ी धनराशियो को देखकर लगाया जा सकता है जोकि युद्ध के पश्चात् पीड़ितो की सहायता तथा उनके पुनर्वास पर करनी पडती है। विश्व युद्ध के पश्चात् विभिन्न देशो तथा विश्व-सस्थाओ को जिन-जिन विचित्र एव अद्भुत समस्याओ का सामना करना पड़ता है वे भी युद्ध की विशाल लागत के स्पष्ट प्रमाण हैं। युद्ध से लोगो के वर्तमान तथा भावी कल्याण मे कमी होती है। युद्ध के पश्चात् भी राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग पुनर्निर्माण एव पुनरुद्धार कार्यो मे लगाना पडता है और अन्य युद्धजन्य कष्टो एव आपदाओ के साथ ही यह भी युद्ध की कुल लागत का ही एक भाग है।

युद्ध के लिए वित्तीय साधन
(Financial Resources for War)

युद्ध के लिए जिन वस्तुओं एवं सेवाओ की आवश्यकता होती है उन्हें गैर-सरकारी उपयोग से हटाकर उपलब्ध करना होता है। प्रचार करके अथवा गैर-सरकारी खरीदों पर किसी न किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाकर अर्थव्यवस्था को उत्तेजित किया जा सकता है। सरकारी वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण भी लगा सकती है और इस प्रकार अनिवार्य रूप मे उन वस्तुओ एव सेवाओ को स्वयं प्राप्त कर सकती है जिनकी उसे आवश्यकता है, अपनी आवश्यकतायें सन्तुष्ट होने के पश्चात् जो वस्तुये तथा सेवायें शेष बचे केवल उन्हें ही सामान्य जनता के लिए छोड सकती है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण से शान्तिकालीन उत्पादन का युद्धकालीन उत्पादन मे शीघ्र परिवर्तन सम्भव तथा सुविधाजनक हो जाता है। परन्तु एक लोकतन्त्रीय देश की आधुनिक अर्थव्यवस्था

कुल कर-आय मे प्रत्यक्ष करो का अनुपात बढ गया। उदाहरण के लिए कुल कर-आय मे प्रत्यक्ष करो का प्रतिशत जो कि सन् १९३८-३९ मे ब्रिटेन मे ५५ तथा सयुक्त राज्य अमरीका मे ५३ था, सन् १९४३-४४ मे बढकर क्रमश: ६३ और ८६ हो गया। इस वृद्धि का कारण परोक्ष करो के मुकाबले प्रत्यक्ष करो की अधिक निश्चितता (certainty) तथा लोचशीलता (elasticity) थी। केवल ऐसे देशो मे, जहाँ कि प्रत्यक्ष कर देने वाले लोगो की सख्या कम होने के कारण इसका क्षेत्र था, प्रत्यक्ष करो के मुकाबले परोक्ष करो पर ही अधिक भरोसा करना पडा। किन्तु इन देशो मे भी आय तथा सम्पत्ति पर नये प्रत्यक्ष कर लगाये गये और इन करो को अदा करने वाले लोगो की सख्या भी बढ गई।

कराधान को राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित करके करो के भार का माप बडी अच्छी तरह किया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि मे, कराधान द्वारा राष्ट्रीय आय का जो भाग प्राप्त किया गया, अधिकाश देशो मे उसमे वृद्धि हुई। युद्ध से पूर्व केन्द्रीय तथा स्थानीय दोनो ही प्रकार का कराधान सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन मे राष्ट्रीय आय का २३ प्रतिशत था और कनाडा मे यह प्रतिशत कुछ कम अर्थात २१ था। सन् १९४३ तक यह प्रतिशत बढकर ब्रिटेन मे ३७, कनाडा मे ३३ और सयुक्त राज्य अमरीका मे ३० हो गया।

(II) ऋण अथवा कराधान बनाम ऋण (Borrowings or Taxation Vs. Borrowing) :

चूँकि युद्धकाल मे सरकारी खर्च की सम्पूर्ण वित्त-व्यवस्था कराधान द्वारा नही की जा सकती, अतः सरकारी उधार आवश्यक हो जाता है। सरकारी ऋण मे अधिकाश भाग आन्तरिक ऋणो का ही होता है क्योकि विदेशी ऋण आसानी से उपलब्ध नही होते। युद्ध वित्त की व्यवस्था के कारण सरकार की ऋणग्रस्तता (indebtedness) मे जो वृद्धि होती है, वह सदा ही एक विवाद का विषय रही है। और इस प्रश्न पर काफी बहस होती रही है कि युद्ध-वित्त की प्राप्ति का मुख्य स्रोत कराधान को बनाया जाए अथवा सरकारी उधार को।

सामान्य विचार यह है कि कर ही युद्ध-वित्त (war finance) की व्यवस्था करने का एक अच्छा साधन है। इसका कारण यह दिया जाता है कि ऋणो से युद्ध-व्यय का भार भविष्य (future) पर पडता है किन्तु करो द्वारा यह भार वर्तमान (present) पर ही डाला जाता है। कराधान तथा ऋणों द्वारा धन एकत्र करने की तथा बाद मे उन ऋणो को वापिस करने की जो प्रक्रिया (process) है, उसी के कारण उक्त विचार ने जन्म दिया है। जब सरकारी खर्च की वित्त-व्यवस्था कराधान द्वारा की जाती है तो उसका भार उन लोगो पर पडता है जो कर अदा करते हैं किन्तु जब वित्त प्राप्ति का प्रमुख स्रोत सरकारी उधार होता है तो उसका वित्तीय भार उन लोगो पर पडता है जिन्हे कि ब्याज की अदायगी और शोधन निधि (sinking fund) के निर्माण के लिए भविष्य मे सरकार को कर देने पडते है। जहाँ तक आन्तरिक उधार का सम्बन्ध है, उसके विषय मे तो यह तर्क भ्रमपूर्ण है और यह तर्क देते समय युद्ध के वास्तविक भार (real burden) तथा द्रव्य-भार (money burden) के बीच अन्तर की अपेक्षा कर दी जाती है। युद्ध का द्रव्य भार तो विभिन्न प्रकार की वित्तीय पद्धतियो के अन्तर्गत, विभिन्न समयो मे, लोगो के भिन्न-भिन्न वर्गों पर पड़ सकता है किन्तु उपभोग तथा विनियोग की कमी के रूप मे जो वास्तविक भार होता है वह उस समय लोगो पर पडता है जबकि आर्थिक साधन वास्तव मे युद्ध के लिए प्रयोग किये जाते हैं। वित्त तो केवल उस वाह्यता (incidence) के भाग का निर्धारण करता है जो कि भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगो द्वारा वहन की जाती है, और वित्त-प्राप्ति की विभिन्न रीतियो के परिणाम भी भिन्न-भिन्न ही होते है। तथापि, विदेशी ऋणो के सम्बन्ध मे ये तर्क उचित प्रतीत होते हैं। विदेशो से ऋण लेने का एक परिणाम यह होता है कि राष्ट्र उस समय उस ऋण की सीमा तक युद्ध की लागत का भार वहन करने मे बच जाता है और उस युद्ध-लागत (cost of war) का वास्तविक त्याग (real sacrifice) बाद मे तब करना होता हैं जबकि वे कर्ज अदा किये जाते हैं।

वर्तमान भार और भावी भार के बीच जो अन्तर किया जाता है वह एक और धारणा (notion) का भी परिणाम है। यह व्यापक रूप से माना जाता है कि करो की अदायगी तो लोग अपनी चालू आय (current income) मे से करते हैं कि सरकार को ऋण बनतो मे से धन निकाल कर दिये जाते हैं। फलत करो का सम्पूर्ण आर्थिक भार तो लोगो पर उसी समय पड़ जाता है

सरकार को तुरन्त ही अपने व्यय मे वृद्धि करनी होती है किन्तु उसके लिए अतिरिक्त धन कराधान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु समय बीतने के साथ कर प्राप्तियो को बढाने के लिए कर-नीतियो मे हेर-फेर की जाती है और आवश्यक वैधानिक कार्यवाहियाँ की जाती हैं जिनके द्वारा व्यय के एक बड़े भाग की पूर्ति की जाती है।

युद्ध के लिए जितने धन की आवश्यकता होती है वह सब कराधान द्वारा प्राप्त करना सम्भव नही होता। कराधान तो एक कष्टदायी प्रक्रिया (painful process) है और ऊँचे करो के मनोवैज्ञानिक प्रभाव प्राय: अधिक स्वास्थ्यकर नही होते। सरकार की कर-प्राप्तियो की मात्रा जैसे-जैसे बढती है, परोक्ष कराधान मे वृद्धि के कारण वैसे-वैसे ही निम्न आय वाले वर्गो पर पडने वाला पूर्ण तथा सापेक्षिक भार अधिक होता है और इस प्रकार जो राष्ट्रीय आय का वितरण होता है वह निर्धन वर्ग के विरुद्ध पडता है। परन्तु सदा ही ऐसा नही होता, ससार के अधिकाश देशो मे, द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि मे कुल कर-आय मे परोक्ष करो का प्रतिशत गिर गया था। ऐसा केवल तभी होता है जब प्रत्यक्ष कराधान का क्षेत्र सीमित होता है तो परोक्ष कर अनुपात से अधिक बढाने पड जाते है जिससे करो का ढाँचा भी अवरोही (regressive) बन जाता है। कराधान का एक और अवाञ्छनीय लक्षण है इसका उत्पादन पर अप्रेरणात्मक प्रभाव। ऐसे समय मे जबकि उत्पादन भी मात्रा मे अधिकतम सम्भव तेजी से वृद्धि होनी चाहिए, भारी कराधान उत्पादन पर प्रतिबन्धात्मक प्रभाव (restrictive influence) डालता है। इसके अतिरिक्त, चूँकि करो की अदायगी अनिवार्य होती है, इससे करदाता प्राय: कठिनाइयो मे पड जाते है। कभी-कभी कुछ करदाता इस बात के लिए बाध्य हो सकते हैं कि अपनी कर-सम्बन्धी देनदारियो को निपटाने के लिए अपनी आय प्रदान करने वाली परिसम्पत्तियो (assets) को बेचें। जब कभी करदाता करो की अदायगी करने के लिए उधार लेता है तो इस स्थिति मे सरकार को परोक्ष उधार द्वारा ही वित्त प्राप्त होता है। तथापि इस परोक्ष उधार से प्रत्यक्ष उधार अच्छा होता है। इस प्रकार, सरकार को केवल कराधान द्वारा ही शत-प्रतिशत वित्त प्राप्त होना सम्भव नही होता।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रथम वर्ष मे, ब्रिटेन मे कुल व्यय के ४८% भाग की वित्त-व्यवस्था राजस्व (revenue) द्वारा की गई थी जिसमें भी अधिकाश भाग कराधान द्वारा प्राप्त हुआ था। सयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी, जापान तथा भारत का ऐसा ही प्रतिशत क्रमश ४१, ४० ३५ और ७२ था। युद्ध छिडने के एकदम पश्चात् अधिकाश देशो मे यह प्रतिशत गिरा। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि इन दिनो सरकारो खर्च मे तो युद्ध के कारण वृद्धि करनी पड़ी परन्तु उतनी तेजी से कराधान में वृद्धि न हो सकी। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में सन् १९३८-३९ में कुल व्यय मे कर-आय (tax-revenue) का अनुपात ७८% था, सन् १९४२-४३ मे यह प्रतिशत गिरकर ४३ हो गया। सयुक्त राज्य अमरीका में भी यह प्रतिशत गिरा और ६३ से घटकर २९ हो गया। परन्तु इसके पश्चात् कर-आय मे प्रतिवर्ष वृद्धि होती गई और १९४५-४६ मे यह प्रतिशत बढकर ब्रिटेन मे ५७ तथा सयुक्त राज्य अमरीका में ४८ हो गया। ये आँकड़े बतलाते हैं कि युद्ध-काल मे कराधान वित्त-प्राप्ति का एक बड़ा स्रोत तो होता है, परन्तु यह एक मात्र स्रोत होता है, ऐसी बात नही है।[2]

युद्धकालीन कराधान के अन्तर्गत जहाँ पुराने करो की दरो मे वृद्धि की जाती है, वहाँ नये कर भी लगाये जाते हैं। ससार के लगभग सभी देशो में आय-करो और निगम-करो की दरों मे वृद्धि की गई और उत्पादन-शुल्क तथा सीमा-शुल्क भी इतने बढाये गये कि वे अधिक आय प्रदान करने लगे। जो नये कर लगाये गये उनमें अतिरिक्त लाभ कर था और आय तथा सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले अनेक कर थे जो राष्ट्रीय प्रतिरक्षा कर (national defence tax) तथा राष्ट्रीय सुरक्षा कर (national security tax) आदि के नाम से लगाये गये। नये-नये पदार्थो पर उत्पादन शुल्क तथा टैरिफ शुल्क लगाये गये। करो का शीघ्र सग्रह करने के लिए भी अनेक उपाय काम मे लाये गये, उदाहरण के लिए अनेक देशो मे 'जितना कमाओ उतना अदा करो' (pay as you earn) का सिद्धान्त लागू किया गया जो कि पहले कभी लागू नही किया गया था। कराधान के द्वारा सरकारी आय मे वृद्धि करने के जो प्रयत्न किये गये, अधिकाश मामलों मे, उनका परिणाम यह हुआ है कि

2. The source of this in information is again League of Nations "World Economic Survey, 1942-44.

कारण यह है कि सरकारी बॉण्ड ऐसे ऋण-पत्र होते हैं जिनके आधार पर बैंक तुरन्त ही अग्रिम धन (advance money) उधार दे देते हैं।

इसके अतिरिक्त,, ऋणों के वितरण पर जो प्रभाव पड़ता है, वह भी विचारणीय है ऋण ऐसे लोगो से लिये जाते हैं जो कि उन्हे दे सकते हैं और ये लोग स्पष्टत. धनी वर्ग के लोग होते हैं। जोकि बडी-बडी धनराशियाँ ऋणो मे देते हैं। तथापि, युद्ध के बाद जब इन ऋणो की अदायगी के लिए कर लगाये जाते हैं तो यह कोई आवश्यक नहीं है कि उन करो का भार भी विभिन्न वर्गों पर उसी अनुपात मे पडेगा जिस अनुपात मे कि उन्होंने युद्ध ऋणों के लिए अपना अशदान दिया था। काफी सम्भावना यही है कि नये करो के भार का एक बडा अनुपात निर्धन वर्गो को ही वहन करना होगा। अतः कराधान द्वारा पोषित युद्ध-व्यय जहाँ अधिकाश भाग धनी वर्ग के लोगो पर डालता है, वहाँ ऋण रीति (loan method) द्वारा यह भार दीर्घावधि मे, आशिक रूप से धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की ओर को स्थानान्तरित हो जाता है।

कर-रीति (tax-method) से भविष्य के लिए कोई समस्या उत्पन्न नही होती। करो के प्रभाव तथा भार से सम्बन्धित सभी मामलो पर उसी समय विचार हो जाता है जबकि कर लगाये जाते है और उनका सग्रह किया जाता है और युद्ध के पश्चात की अवधि के लिए कोई उलझन शेष नहीं छोडी जाती। किन्तु ऋण रीति के बारे मे ऐसा नही कहा जा सकता। जब ऋण जारी किये जाते हैं तो सरकार के समक्ष केवल यही समस्या होती है कि कर्जों द्वारा उतना धन अवश्य प्राप्त हो जाए जितना कि आवश्यक है। वितरण पर इसके प्रभावो तथा वाह्यता (incidence) की अदल-बदल के प्रश्न केवल बाद मे तब उत्पन्न होते हैं जबकि ब्याज तथा शोधन-निधि की अदायगियाँ करनी होती हैं। अत इस स्थिति मे एक उपयुक्त (suitable) कर-ढांचे का निर्माण भविष्य की समस्या होती है।

युद्ध के लिए सरकारी ऋण के पक्ष मे अनेक तर्क दिये जाते हैं। सरकार को ऋण उन लोगो द्वारा दिये जाते हैं जो कि दे सकने मे समर्थ होते हैं। इसके विपरीत, कर बिना करदाताओ की परिस्थितियो का ध्यान रखे ही लगाये तथा उगाहे जाते है। करो का निर्धारण मुख्यत लोगो के धन के आधार पर किया जाता है और समान धन वाले व्यक्तियो को समान ही अदा करना होता है। यह बिलकुल सभव है कि समान धन वाले दो आदमियो के बीच, एक आदमी तो ऐसा हो सकता है जो कि अपने व्यवसाय से होने वाली आय को और बढाना चाहता हो और दूसरा व्यक्ति ऐसा हो सकता है जिसके पास बेकार साधन काफी मात्रा मे पड़े हो। अत सरकार की माँग को पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक आसानी से पूरा कर सकता है। ऐच्छिक ऋणो (voluntary loans) की स्थिति मे, दूसरा व्यक्ति स्वभावत. ही ऋणो का अधिक भाग वहन करेगा। किन्तु कर-रीति के अन्तर्गत, इन दोनो ही व्यक्तियो को समान अशदान देना होगा, और उस व्यक्ति को करो की अदायगी बडी कठिन प्रतीत होगी जिसके पास काफी मात्रा मे फालतू धन होगा। इसमे कोई सन्देह नही कि वह इस कार्य के लिए उधार ले सकता है परन्तु उधार लेना भी उसके लिए उस समय बडा कठिन होगा जबकि उसके पास देने को उपयुक्त जमानत न हो। अत्यन्त चरम स्थिति मे ही, उसे अपना सम्पूर्ण अथवा थोडा व्यवसाय बेचना पड सकता है जिससे उसे तथा उसके व्यवसाय को, दोनो को ही हानि होगी। इस प्रकार, ऋण लेकर वित्त की व्यवस्था करना अपेक्षाकृत एक सरल रीति है जिसके अन्तर्गत वे लोग बिना किसी कठिनाई के अपना अशदान दे सकते हैं जिनके पास फालतू धन है। कर-रीति के अन्तर्गत, सरकार द्वारा एक ऐसी जटिल प्रक्रिया द्वारा धन प्राप्त किया जाता जिसके अन्तर्गत वे लोग, जिनके पास काफी फालतू धन है, उन लोगों को कर्जे देते है जिनके पास धन की कमी है किन्तु उन्हें कर अदा करने हैं। जब धन बहुत शीघ्रता से प्राप्त करना होता है, जैसे कि युद्ध-काल मे, तब ऐच्छिक ऋणो की रीति ही उपयुक्त रहती है क्योंकि यह कम उथल-पुथल मचाती है।

इसके अतिरिक्त, निरन्तर भारी कराधान से लोगो की श्रम करने की इच्छा कम होती है। गैर-सरकारी विनियोग तथा उत्पादन पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पडता है। किन्तु सरकारी ऋण के बारे मे ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। लोगो की काम करने, बचत करने तथा विनिमय करने की इच्छा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना ही ऋणो द्वारा बडी-बड़ी धनराशियाँ प्राप्त

परन्तु ऋणों का भार उस समय के लिए आगे फैंक दिया जाता है जबकि उन ऋणो की वापिसी के लिए धन प्राप्त करने को कर लगाये जाते है। तथापि, इस विचार का कोई ठोस आधार नही है। जब सरकार किसी से भी कुछ धनराशि की मांग करती है तो वह व्यक्ति किसी स्रोत से उस मांग की पूर्ति करे, यह बात मांग की प्रकृति पर निर्भर नही होती, बशर्ते कि वह व्यक्ति उस भार को अन्य किसी पर डालने मे समर्थ न हो। यह हो सकता है कि व्यक्ति कराधान की अदायगी अपनी बचतो मे से करे और कर्जो के लिए धन अपनी चालू आय मे से दे, इसका निर्णय अदायगी की प्रकृति (nature) पर नही अपितु अदायगी की मात्रा (size) पर निर्भर करता है।

कुछ परिस्थितियो मे, कराधान तथा ऋण, दोनो ही बिलकुल एकसा प्रभाव डाल सकते है। सरकार धन का सग्रह कर लगाकर करती है अथवा ऋण लेकर, इसका उस व्यक्ति पर कोई फर्क नही पड़ता जो कि धन देता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए सरकार ऋण लेती है और यह एक जबरी ऋण (forced loan) है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति से ठीक उतनी धनराशि की मांग की जाती है जो कि उससे तब ली जाती जबकि उस पर कर लगाया जाता। इस स्थिति से कर तथा ऋण का एक समान प्रभाव होगा। एक अन्य उदाहरण के रूप मे मान लीजिए कि प्रत्येक ऋणदाता यह समझ रहा है कि इन ऋणो की वापिस अदायगी के लिए भविष्य मे उसे जो कर अदा करना होगा वह उसे बॉण्डो से प्राप्त होने वाली आय के बराबर होगा। अतः करदाता के दृष्टिकोण से इन दोनो ही योजनाओ मे कोई अन्तर नही है। प्रत्येक स्थिति मे, उसे तत्काल कुछ धन की हानि उठानी होती है और भविष्य मे उसे कोई प्रतिफल प्राप्त नही होता। इसमे कोई सन्देह नही कि ऋण सरकारी बॉण्डों के रूप मे वर्तमान ऋणदाता की परिस्थितियो (lender's assets) को यथापूर्व अछूता छोड देते हैं और वह अपनी आवश्यकताओ के लिए अनेक आधार पर ऋण ले सकता है। अत इस स्थिति मे, सम्भव है वह अपने को अच्छा समझे बमुकाबले उस स्थिति के जबकि उसे कर अदा करना पडता। फिर भी, चूंकि वे लोग, जिन पर कि भारी कर लगाये जाते हैं, धनी होते है और उन्हे पहले से ही काफी सुरक्षा प्राप्त होती है अत. उक्त प्रभाव का कोई विशेष महत्व नही है।

तथापि जबरी ऋण लिये जाने की तथा उसकी अदायगी के लिए भविष्य मे उतना ही कर लगाये जाने की, जितनी कि बॉण्ड-धारको को बॉण्डो से आय हो, हमारी मान्यताएं अवास्तविक है जितना ही हम वास्तविकता की ओर आगे बढते हैं, ऋण तथा कर के प्रभावो के बीच अन्तर उतना ही अधिक स्पष्ट होता जाता है। ऋण प्राय ऐच्छिक होते हैं और अधिकाश उधारदाता सामान्यत. यही आशा करते है कि उन्हे बॉण्डो का जो ब्याज प्राप्त होगा वह सबका सब उन्हे भविष्य मे करो के रूप मे नही देना पडेगा। कर आधारित होते हैं आय पर, व्यय पर, उपभोग पर वस्तुओ पर अथवा ऐसी ही अन्य चीजो पर; और सम्भावना यही होती है कि वे सरकारी बॉण्डो के ब्याज से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं होंगे। अत. हो सकता है कि लोग करो के मुकाबले ऋण की स्थिति मे अपने आपको कम कठिनाई मे समझें। यह भी हो सकता कि जब सरकार कर लगाने की बजाए उधार द्वारा धन प्राप्त करे तो लोग उपभोग मे कमी करने के कम इच्छुक हो और उसके स्थान पर अधिक तथा कठिन श्रम करें और सरकारी ऋणो मे अपना अंशदान केवल उन साधनो मे से दें जिन्हें कि अन्य स्थिति मे गैर-सरकारी उद्योग मे निवेश कर देते। परिणामस्वरूप ऋणो द्वारा की गई वित्त-व्यवस्था का पूंजी तथा भावी उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है और इसके द्वारा युद्ध के भार का एक भाग भावी पीढियो पर डाल दिया जाता है। इस प्रकार, स्पष्टत इस विषय मे प्रकट की गई उक्त प्रसिद्ध धारणा मे सचाई का अश विद्यमान है।

सरकारी ऋण का एक अन्य प्रभाव, जो कि पूर्णतया वाञ्छनीय नही है, बैंक साख का निर्माण है जो कि सरकारी ऋण का ही परिणाम होता है। जब लोग सरकारी ऋणो मे बडी बडी धनराशियां देते हैं तो सम्भावना यही रहती है कि वे उन धनराशियो का कुछ न कुछ भाग बैंको मे उधार लेकर पूरा करेंगे, बावजूद इसके कि ऐसा करने के परिणाम असुखद होते हैं। करो की अदायगी के लिए भी यह सम्भव हो सकता है कि बैंक-उधार का सहारा लिया जाए। परन्तु कर-अदायगी के मुकाबले ऋण देने की स्थिति मे ऐसा होने की सम्भावना अधिक है। इसका आंशिक कारण तो, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, यह है कि लोग जब व्यक्तिगत खर्चो मे किफायतें करके सरकार को ऋण देते हैं तो वे स्वय को अधिक बुरी स्थिति मे नही समझते, और आंशिक

भार अनर्जित आय (unearned income) के मुकाबले अर्जित आय (earned ncome) पर अधिक होगा। अनर्जित आयो, उत्तराधिकार मे प्राप्त सम्पत्तियो तथा छप्पर-फाड लाभो (windfall gains) के मामले मे, चूंकि प्रयत्न तो कुछ करना ही नही पडता अत इन पर लगाये गये करो की अदायगी मे जो त्याग करना पडता है यह अर्जित आय अथवा सम्पत्ति (property) या अन्य परिसम्पत्तियो (assets) की स्थिति मे किये जाने वाले त्याग के अनुपात से कम होता है। यदि करो का वास्तविक भार न्यूनतम किया जाता हो, तो अर्जित आमदनियो के मुकाबले मे अनर्जित आमदनियो पर अधिक ऊँची दर से कर लगाने होंगे।

इस प्रकार किसी समुदाय पर लगाये गये करो के प्रत्यक्ष वास्तविक भार की विचारधारा को समझना सरल है। वास्तव मे जैसा कि हम आगे देखेंगे यह विचारधारा अनेक प्रकार की कमियो से परिपूर्ण है।[2] विशेष रूप से, यह विचारधारा इसलिये अपूर्ण कही जा सकती है क्योकि कराधान जहाँ एक ओर समुदाय (community) पर भार डालता है, वहाँ दूसरी ओर सार्वजनिक सत्ताओ द्वारा किया जाने वाला व्यय समुदाय को लाभ एव सुविधाएँ भी उपलब्ध कराता है (क्योकि सरकारी व्यय की वित्तीय व्यवस्था करो द्वारा ही की जाती है)। अत भार का मूल्याकन करते समय उन लाभो को भी विचारार्थ लेना चाहिए जो कि सरकारी व्यय से प्राप्त होते हैं।

प्रत्यक्ष द्रव्य भार अथवा प्रत्यक्ष वास्तविक भार को छोडकर, किन्ही विशिष्ट करो अथवा सम्पूर्ण रूप मे कर-पद्धति के ही परोक्ष प्रभावो (indirect effects) का मूल्य ढाँचे मे, आमदनियो पर तथा रोजगार एव उत्पादन की मात्रा पर देखा जा सकता है।

प्राचीन काल मे ही, राजवित्त के लेखक सरकार के व्यय के वितरण को महत्व प्रदान करते रहे हैं और यह *वितरण अर्थव्यवस्था के विभिन्न वर्गों के बीच कराधान के द्वारा किया जाता* रहा है।

दो दृष्टिकोण (*Two Approaches*).

सदियो (centuries) से ही अर्थशास्त्रियो ने कराधान के सम्बन्ध मे निम्न दो अलग-अलग दृष्टिकोण सामने रखे है, अर्थात् प्राप्त किये जाने वाले लाभो के अनुसार कराधान, और अदा करने की योग्यता के अनुसार कराधान। लाभ सम्बन्धी प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार करो की अदायगी प्राप्त किये जाने वाले लाभो पर आधारित होती है और यह दृष्टिकोण सरकार तथा करदाता के बीच सम्बन्धो की स्थापना मे आदान-प्रदान (quid pro quo) के सिद्धान्त पर जोर देता है। कर अदा करने की योग्यता पर आधारित दृष्टिकोण मे, सरकारी व्यय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले लाभो के *प्रश्न पर विचार नही किया जाता, बल्कि राजकोष मे दिए जाने वाले अशदान* (contribution) को एक स्वतन्त्र समस्या के रूप मे देखा जाना है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, करो को सरकार को की जाने वाली अनिवार्य अदायगियाँ माना जाता है।

लाभ अथवा हितानुसार कराधान का सिद्धान्त
(*Benefit Principle of Taxation*)

विस्तृत रूप मे कहा जा सकता है कि सरकारी सेवाएँ समुदाय (community) को कुछ लाभ प्रदान करती हैं। *अत इन लोगो को उपलब्ध कराने की लागत व्यक्तियो तथा गैर-सरकारी*

---

2 अर्ल आर॰ रोल्फ (Rolph) ने करो के वास्तविक भार की विचारधारा को पूर्णतया अस्वीकार किया है। "करो के वास्तविक भार डालने की विचारधारा एक ऐसी पुराणकथा (myth) मात्र है जिसने प्राचीन समय से ही इस विषय को उलझाया है। लोग ऐसा सोच सकते हैं कि कर उनको 'हानि' पहुँचाते है, वरना तो कर-भार के बारे मे की जाने वाली बडी-बडी एव कटु टिप्पणियो का कोई सुधारात्मक मूल्य नही है। परन्तु करो के फलस्वरूप *वास्तविक त्याग करना ही होता है और उपादान* (subsidies) से *वास्तविक लाभ प्राप्त* होता है—यदि यह विचार ऐसे लोगो द्वारा प्रस्तुत किया जाय जो अपने प्रचार को अपने विश्लेषण (analysis) से अलग रखते हैं, तो उसे सहन नही किया जा सकता।" *Theory of Fiscal Economics*, p 120

की जा सकती है। ऋण सरकार को इस योग्य बनाते हैं कि वह उतना सभी धन लोगों से प्राप्त कर ले जितना कि वे दे सकते हैं, जबकि कर समय-समय पर इसलिए लगाने पड़ते हैं जिससे आवश्यकता के अनुसार ही उपलब्ध वित्त मे हेर-फेर की जा सके, किन्तु इससे अर्थव्यवस्था मे बराबर अनिश्चितता बनी रहती है।

(III) अन्य साधन—

युद्ध के लिए उपरोक्त दोनों वित्तीय साधनो के अतिरिक्त निम्न दो साधनों का भी उपयोग किया जा सकता है: (i) मुद्रा प्रसार (Inflation)—युद्ध काल मे बढते हुए व्यय को पूरा करने के लिए सरकार मुद्रा प्रसार का सहारा लेती है। इसमे अतिरिक्त पत्र मुद्रा का निर्गमन करके आवश्यक सामग्री का क्रय किया जा सकता है तथा मजदूरी आदि का भुगतान किया जा सकता है। इससे मूल्यों मे वृद्धि होती है तथा देश मे आर्थिक विषमता बढ़ती है। देश मे एक बार मुद्रा स्फीति का चक्र चलने के पश्चात् उस पर नियन्त्रण स्थापित करना कठिन हो जाता है।

(ii) ऐच्छिक योगदान (Voluntary contributions)—युद्धकाल मे देश के नागरिक देश प्रेम की भावना से प्रभावित होकर अपनी इच्छा योगदान देते है। यह योगदान चन्दे के रूप मे, उपहार के रूप मे अथवा दान के रूप मे प्राप्त किया जा सकता है। यदि देखा जाय तो यह योगदान नाम-मात्र का ऐच्छिक होता है। अपितु इसे अनिवार्य बना लिया जाता है। इसीलिए इसे विशेष पसन्द नही किया जाता है।

निष्कर्ष (Conclusion) :

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् अब हम निष्कर्ष पर पहुँचने की स्थिति मे हैं कि युद्ध के लिए वित्त प्रदान करने वाली कौन-सी रीति इनमे सबसे अधिक उपयुक्त है। ऋणो की स्थिति मे भार (burden) का कुछ भाग भविष्य (future) पर डाल दिया जाता है, जिस पर कि कुछ लोगो द्वारा आपत्ति उठाई जाती है। परन्तु युद्ध का महत्व जितना वर्तमान पीढी के लिए है उतना ही भावी सन्तति के लिए भी है। अतः यदि युद्ध की लागत का कुछ भाग भविष्य पर डाल दिया जाता है तो इसमे चौकने की क्या बात है। युद्ध की स्थिति ऐसी सकटकालीन स्थिति जिसमे इस बात की आवश्यकता होती है कि बडी-बड़ी धनराशियां अधिकतम सभव शीघ्रता के साथ प्राप्त की जाएँ। वर्तमान तथा भविष्य के बीच के वितरण की समस्याओ को इस प्रक्रिया मे हस्तक्षेप करने की अनुमति नही दी जा सकती। जो भी स्रोत सामने होता है उसी से यथाशीघ्र धन प्राप्त कर लिया जाता है।

वित्त-प्राप्ति की विभिन्न रीतियो के जो प्रभाव वितरण पर पड़ते हैं उनका इस विषय मे कोई विशेष सम्बन्ध नही है। आय के अनुसार ही लोगो की अदा करने की योग्यता को युद्ध-काल मे आधार नही बनाया जा सकता। राष्ट्रीय सकट-काल मे, हर व्यक्ति को अधिक से अधिक देना चाहिए, केवल अपनी अदा करने की क्षमता के अनुसार नही। जब राशस्त्र सेनाओ मे अथवा गोला-बारूद की फैक्टरियो मे लोग नये भरती किये जाते हैं तो ये वही लोग होते है जो शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ होते है, अर्थात् जिन लोगों के पास शारीरिक शक्ति होती है, वह सारी की सारी सरकार को युद्ध के लिए देनी पडती है। वित्त के सम्बन्ध मे भी हमे इसी सिद्धान्त को लागू करना चाहिए। जिन लोगो के पास वित्तीय शक्ति (financial strength) है उन्हे भी वह सारी की सारी सरकार को युद्ध के लिए दे देनी चाहिए। सामान्य कर-पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित नही होती अतः वित्त-प्राप्ति की सामान्य रीतियो से कुछ विचलन आवश्यक हो जाता है।

उत्पादन तथा विनियोग पर कराधान का प्रभाव
(Effect of Taxation on Production and Investment)

एक अन्य बात जिस पर विचार करना आवश्यक है, वह है कि उत्पादन तथा विनियोग पर कराधान के क्या प्रभाव पडते हैं, विशेष रूप से तब जबकि करो का भार कुछ वर्षो तक बराबर जारी रहता है। यदि युद्ध एक छोटा-मोटा अल्पकालीन मामला होता तो उसके लिए सम्पूर्ण वित्त की व्यवस्था केवल एक कर-उगाही द्वारा ही की जा सकती थी और उस स्थिति मे

अर्थव्यवस्था पर उसके कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ते। युद्ध-काल में लोगों में देश भक्ति की जो भावना उत्पन्न होती है उसके कारण लोग भारी करों का बोझ भी स्वेच्छा से उठा लेते हैं। परन्तु आजकल के युद्ध वर्षों तक खिचते हैं अतः इस स्थिति में लोग करारोपण के निरन्तर बढ़ते हुए भार को उतने उत्साह से वहन नहीं कर सकते। करों की बढ़ती हुई राशि का नागरिकों की काम करने, बचत करने तथा निवेश करने की इच्छा एवं क्षमता पर बड़े गम्भीर एवं प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। यदि वित्त प्राप्ति का एक मात्र उपाय करारोपण ही है, तो जैसे-जैसे युद्ध खिंचता है करों की संख्या तथा करों की दरों में वृद्धि करनी होती है और बढ़ते हुए करों का यह भारी बोझ समाज की वास्तविक आय को कम कर देता है तथा वास्तविक साधनों के समरण (supply) को युद्ध के लिए उपलब्ध कराना है। इस विचार की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह विचार इस बात को प्रकट करता है कि सरकार केवल करारोपण द्वारा ही युद्ध-वित्त की व्यवस्था करने में क्यों हिचकती है। आधुनिक युद्ध के संचालन के लिए वित्त के सभी साधनों का दोहन करना होता है और उन सबका इस प्रकार मिश्रण करना होता है कि युद्ध-प्रयत्नों की तीव्रता के साथ ही साथ वित्त-प्राप्ति की धारा निरन्तर तेजी के साथ प्रवाहित होती रहे।

सरकारी ऋण या उधार (Public Borrowing).

पीछे किये गये विवेचन से यह स्पष्ट है कि करारोपण आधुनिक युद्ध की वित्तीय व्यवस्था का एकमात्र स्रोत नहीं बन सकता। युद्ध-काल में सरकारी खर्च के एक बड़े भाग की पूर्ति अन्य साधनों द्वारा करनी होती है, और इन साधनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सरकारी उधार ही है। युद्ध-काल में चूँकि विदेशी ऋण प्राप्त करना कठिन होता है अतः सरकारी उधार का एक बड़ा भाग देश के अन्दर से ही प्राप्त किया जाता है।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में, अनेक देशों में सरकारी खर्च का केवल कुछ भाग ही कर तथा अन्य राजस्व से पूरा किया गया। शेष खर्च का काफी बड़ा अनुपात आन्तरिक कर्जों द्वारा पूरा किया गया। अतः इस अवधि में, सरकार के देशी उधार की मात्रा काफी बढ़ गई। कुछ देशों के आन्तरिक सरकारी ऋण से सम्बन्धित निम्न आँकड़ों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है[3] .—

तालिका—१

विभिन्न देशों का अन्तरिक सरकारी उधार

राष्ट्रीय मुद्राएँ (लाखों में)

देश	अवधि	युद्ध पूर्व की धनराशि	अन्त में शेष	प्रतिशत वृद्धि
ब्रिटेन	अप्रैल ३९—मार्च ४५	७२,६६०	२,२१,२६०	१६१
संयुक्त राज्य अमरीका	अप्रैल ३९—अप्रैल ४५	४,५८,६५०	२३,६२,२६०	४१५
कनाडा	अप्रैल ३९—मार्च ४४	२८,३२०	१,०३,४४०	२६५
भारत	अप्रैल ३९—मार्च ४४	७१,७००	१,४४,१२०	१०१
जर्मनी	अप्रैल ३९—दि० ४४	२,६५,८६०	३४,५४,०००	१०६७
स्वीडन	जुलाई ३९—फरवरी ४५	२६,४४०	१,०७,५६०	३०८
जापान	अप्रैल ३९—फरवरी ४४	१,६५,५७०	७,४७,६५०	३५२

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि उल्लिखित अवधियों में सरकारों के लिए बड़ी मात्रा में देशी उधार लेना आवश्यक हो गया था। प्रतिशत वृद्धि सबसे अधिक जर्मनी में हुई अर्थात् १०६७%, इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमरीका में ४१५%, जापान में ३५२% और स्वीडन

3 League of Nations. World Economic Survey, 1942-44

में ३०८% प्रतिशत की वृद्धि हुई। ब्रिटेन तथा भारत मे प्रतिशत वृद्धि अपेक्षाकृत कम रही। भारत मे इस कम वृद्धि का कारण वे कठिनाइयाँ थी जो कि किसी अल्पविकसित पूँजी बाजार से कर्जे लेते समय सरकार के सामने आती हैं। सरकारी ऋण मे पूर्ण वृद्धि (absolute increase) काफी ठोस थी। यह वृद्धि सयुक्त राज्य अमरीका मे १६३०२·६० करोड डालर, जर्मनी मे ३१५८९१० करोड जर्मन मार्क्स और जापान मे ५८२०·८० करोड येन थी। छः वर्षों की अवधि में, ब्रिटेन के सरकारी ऋण मे होने वाली वृद्धि भी उल्लेखनीय अर्थात् १३८६ ०० करोड पौण्ड थी। प्रत्येक देश से सम्बन्धित धनराशि उक्त अवधि के कुल सरकारी खर्च के काफी बडे अनुपात का प्रतिनिधित्व करती है।

द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे अनेक देशो ने अपनी चालू आवश्यकताओ से भी अधिक उधार लिया। ऐसा इसलिये किया गया ताकि स्फीति सम्बन्धी शक्तियो को नियन्त्रित करने के लिए लोगो के पास अतिरिक्त क्रय-शक्ति ली जा सके। स्वीडन मे, राजकोष-पत्र (treasury bills) जारी किये गये ताकि 'रिक्स बैंक' (Riks Bank) अपनी खुले बाजार की कार्यवाहियो मे उनका उपयोग कर सके। फ्रास मे, कागजी मुद्रा के चलन को कम करने के उद्देश्य से, नवम्बर १६४३ मे एक विशेष ऋण जारी किया गया। पुर्तगाल तथा डेनमार्क ने भी ऐसे ही उद्देश्यो के लिए ऋण जारी किये।

प्रत्येक देश मे, सरकारी ऋण का कुछ भाग बैंकिंग व्यवस्था द्वारा, अर्थात् केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंको से लिया गया। ऋण मे बैंको का अनुपात जापान में सबसे अधिक था, जहाँ कि अप्रैल १६२६ तथा मार्च १६४३ के बीच मे लिये गये कुल ऋण का ६७६ प्रतिशत भाग बैंक ऑफ जापान (Bank of japan) तथा अन्य बैंको से प्राप्त हुआ। सन् १६४३-४४ के राजकोषीय वर्ष के अन्त तक की अवधि मे सम्बन्धित प्रतिशत सयुक्त राज्य अमरीका मे ४१·८ और ब्रिटेन मे २४७ था। अन्य अनेक देशो मे ये प्रतिशत और भी ऊँचे थे।

युद्ध-ऋणों को देने के लिए प्रभावित करने के तरीके
(Methods of Encouraging Contribution to War-loans)

(१) **ब्याज दर में वृद्धि** (*increase in interest rates*)—युद्ध-काल मे चूँकि वित्त की बहुत शीघ्र आवश्यकता होती है, अत युद्धकालीन उधार लेते समय, सरकारी ऋणों मे धन देने के लिए लोगो को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कुछ विशेष उपाय बरतने होते है। ऊँचा ब्याज इन उपायो में से एक है, परन्तु सामान्यत ऊँचे ब्याज से बचा ही जाता है ताकि सरकारी ऋण का भार कम ही रखा जा सके। किन्तु सस्ते उधार के प्रयत्न सदा ही उचित नही रहते, क्योंकि यदि किसी एक ऋण पर कम ब्याज दिया जाता है तो उससे अन्य ऋणो के लिए धन देने के प्रति लोग हतोत्साहित हो सकते हैं। तथापि कभी-कभी उधारदाताओं को छूट आदि की कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान कर दी जाती हैं, उधारदाताओ को दिये जाने वाले प्रतिफल को बढाने का यह एक परोक्ष तरीका है। इसके अतिरिक्त, सरकारी बॉण्डों को खरीदने तथा भुनाने के लिए भी विशेष सुविधायें प्रदान की जाती हैं।

(२) **विभिन्न प्रकार के ऋणों का निर्गमन** (issue of various types of loans)—लोगो की बहुसख्या से धन प्राप्त करने का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रभावी उपाय यह है कि लोगो की विभिन्न आवश्यकताओ एव रुचियो का ध्यान रखते हुए अनेक प्रकार के ऋण जारी किये जायें। समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग विविध प्रकार के ऋण-पत्रों में रुचि रखते हैं, अतः यदि सभी वर्गों के लोगों की बचत करने तथा सरकार को उधार देने के लिए प्रोत्साहित करना है तो उसके लिए विभिन्न प्रकार के बॉण्ड जारी करने होते हैं। लोगो को, विशेष रूप से निम्न आय वाले वर्गों के लोगो को बचत के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से अल्प बचत योजनायें (small saving schemes) चालू की जाती हैं। व्यावसायिक सस्थाओ की नकद निधियों (liquid funds) को आकर्षित करने के लिए समुचित पग उठाये जाते हैं। बैंकिंग व्यवस्था से विशेष अपील करते हुए ऋण-पत्र जारी किये जाते हैं। इन सब कार्यवाहियों का उद्देश्य यही है कि प्रत्येक वर्ग के लोगो को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाए कि वह अधिकतम बचत करें और उसे सरकारी ऋणों मे लगायें।

(३) **ऋणों के स्वरूप तथा जारी करने के तरीकों मे अन्तर** (change in the form and methods of issuing loans)—ऐसे उपायो के अनेक उदाहरण हमे द्वितीय विश्व युद्ध के समय लिये गये सरकारी उधार मे मिलते हैं जिनके द्वारा कि ऋणो के स्वरूप तथा उनको जारी करने के तरीको मे अनेक नये-नये परिवर्तन किये गये। विनियोक्ताओ के विभिन्न वर्गों को आकर्षित करने के लिए विविध प्रकार के ऋण पत्र (securities) जारी किये गये। सयुक्त राज्य अमरीका मे बचत बॉण्ड तथा ब्रिटेन मे बचत प्रमाण-पत्र जारी किये गये जिनका उद्देश्य निम्न आय वाले वर्गों को बचत के लिए प्रोत्साहित करना था। ब्रिटेन तथा कनाडा मे, मुख्यत. वाणिज्य बैंको की नकद निधियो को आकर्षित करने के लिए राजकोषीय जमा-पत्र जारी किये गये। जर्मनी मे, व्यावसायिक-जमा (business-investment deposits) की व्यवस्था द्वारा व्यावसायिक सस्थाओ की सभी प्रकार की नकद-निधियाँ ले ली गई। अनेक देशो मे बचत-बैंक तथा बीमा कम्पनियो जैसी वित्तीय सस्थाओ तथा सामाजिक सुरक्षा निधियो (social securities funds) के लिये विशेष प्रकार के दीर्घकालीन ऋण-पत्र जारी किये गये। भारत सहित कुछ अन्य देशो मे लाटरी-प्रकृति के कर्जे भी जारी किये गये।

(४) **प्रचार तथा सामग्री प्रकाशन** (publicity and propaganda)—युद्ध-ऋणो के लिए धन देने को प्रोत्साहित करने की अन्य रीति प्रचार तथा सामग्री प्रकाशन की है। विज्ञापनो द्वारा, सार्वजनिक सभाओ द्वारा, युद्ध-ऋण सप्ताह मनाकर, तथा ऐसे ही अन्य उपायो द्वारा लोगो से अपीलें की जाती है और उनमे देश-प्रेम की भावना जाग्रत की जाती हैं। विभिन्न नगरो तथा जिलो के बीच अशदान देने के सम्बन्ध मे प्रतियोगितायें आयोजित की जाती हैं। ऐसे प्रयत्नो के बिल्कुल सही प्रभावो का मूल्याकन करना तो कठिन है, परन्तु इन सभी उपायो को समुचित रूप से सगठित किया जाए तो ऋणो की मात्रा मे कुछ वृद्धि की आशा तो की ही जा सकती है।

(५) **नकारात्मक विधियो का उपयोग** (use of negative methods)—कुछ नकारात्मक विधियाँ (negative methods) अपना कर भी युद्ध-ऋणों के प्रवाह को तेज किया जा सकता है, जैसे कि उपयोग वस्तुओ द्वारा पूँजीगत वस्तुओं को खरीदकर प्रतिबन्ध लगाकर। राशनिग तथा मूल्य-नियन्त्रण से भी वस्तुओ पर किये जाने वाले खर्च मे कमी होती है और आयात प्रतिबन्ध लगाने से भी इस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायता मिलती है। इस प्रकार, सरकार को युद्ध-कार्यों के लिए साधन उपलब्ध हो जाते है। तथापि, केवल कुछ थोडी सी वस्तुओं पर नियन्त्रण लगाने से सम्भव है उक्त उद्देश्य पूरा न हो, क्योकि इससे तो अन्य बाजारो की ओर को क्रय-शक्ति का केवल स्थानान्तरण-मात्र ही होगा। अत यह आवश्यक होता है कि नियन्त्रण व्यापक मात्रा मे लगाये जायें। इसके अतिरिक्त, पूँजी जारी करने पर नियन्त्रण लगाया जाता है तथा अन्य देशो को पूँजी का स्थानान्तरण रोकने के लिए कार्यवाहियाँ की जाती है जिससे कि धन के प्रवाह का रुख गैर-सरकारी निवेश से मोडकर सरकारी ऋणों की ओर को किया जा सके। इस प्रकार, युद्ध-काल मे लगाये जाने वाले अनेक नियन्त्रणो (controls) का एक उद्देश्य यह भी होता है कि धन को अन्य उपयोगो से हटाकर उसे युद्ध की आवश्यकताओ मे लगाया जा सके।

मुद्रा का निर्माण (Creation of Money)

आधुनिक युद्ध के लिये जितने विशाल साधनो की आवश्यकता होती है वे सबके सब कराधान तथा सरकारी उधार द्वारा ही नही प्राप्त किये जा सकते। अत. इस स्थिति मे, मुद्रा-निर्माण तथा बैंको से उधार का आश्रय लेना होता है। फिर करो के सग्रह मे तथा ऋणों द्वारा धन प्राप्त करने मे समय लगता है जबकि सरकार को व्यय सामग्री तथा सवायें प्राप्त होते ही तुरन्त करना होता है। अत. शीघ्र वित्त प्राप्त करने के लिए, नई मुद्रा जारी कर दी जाती है और सरकार केन्द्रीय बैंक से अपनी शेष धनराशियाँ निकाल लेती है तथा केन्द्रीय बैंक व अन्य बैंको से उधार ले लेती है। इस रीति से, मुद्रा तथा बैंक साख (band credit) की पूर्ति मे वृद्धि हो जाती है।

बैंक-साख की पूर्ति मे कुछ वृद्धि तब भी होती है जबकि सरकार बैंको से प्रत्यक्ष रूप से उधार नही लेती। बैंको द्वारा परोक्ष उधार तब दिया जाता है जबकि वे सरकारी बॉण्डो के गैर-बैंक क्रेताओ (non-bank purchasers) को उधार देते है। गम्भीर सकट के अवसरो पर, बैंक

इस उद्देश्य के लिए लोगो को मुक्त-हस्त से उधार देकर सरकारी ऋणों मे धन लगाने को प्रोत्साहित करते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध-बॉण्डो को लोग बैंको से लिए जाने वाले ऋणो की जमानत के रूप मे प्रयोग करते है। बॉण्ड-धारक, जब भी आवश्यक समझें तभी बॉण्डो के आधार पर उधार लेकर उनको नकदी मे परिवर्तित कर सकते हैं। वाणिज्य बैंक समय की माँग के अनुसार अपनी नकदी को कम करने के लिए बिल्कुल तैयार रहते है।

परन्तु बैंक-साख मे सबसे अधिक वृद्धि तब होती है जबकि सरकार वाणिज्य बैंको एव केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष रूप से उधार लेती है। इससे बैंको का नकद रिजर्व तथा केन्द्रीय बैंक मे उनका शेष बढ जाता है जिससे साख-निर्माण का आधार विस्तृत हो जाता है। बैंक द्वारा सरकार को ऋण देने का तरीका यह है कि या तो वह नई कागजी मुद्रा जारी करता है अथवा अपने यहाँ सरकार के खातो की बकाया (balances) मे वृद्धि कर देता है और सरकार को उसमे से धन निकालने की अनुमति दे देता है। जब केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की गई नई कागजी मुद्रा से सरकार वस्तुओ व सेवाओ की खरीद करती है, तो उसमे तो कुछ मुद्रा निश्चित ही वाणिज्य बैंको के पास जमा (deposits) के रूप मे पहुच जाती है जिससे उनका नकद रिजर्व बढ जाता है। जब सरकार केन्द्रीय बैंक के अपने खाते से बकाया रकम निकाल कर आदयगियाँ करती है, लेनदार (creditors) सरकार से प्राप्त चैंको को अपने बैंको मे जमा करते है जिससे केन्द्रीय बैंक मे बैंको की जमा धनराशियो मे वृद्धि हो जाती है। दोनो ही स्थितियो मे, वाणिज्य बैंको को साख-निर्माण का विस्तृत आधार मिल जाता है। वे साख का निर्माण या तो सरकारी ऋण पत्रो मे अपने विनियोगो (investments) की वृद्धि करने के लिए करते हैं अथवा इसलिये ताकि सामान्य जनता अपने विनियोगो मे वृद्धि कर सकें। इस स्थिति मे, बैंको की कुल जमा मे जितनी वृद्धि होती है वह उस प्रारम्भिक उधार से कई गुनी होती है जो कि केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकार को दिया जाता है। यह वृद्धि कितने गुनी होगी, यह उन जमा धनराशियो मे नकदी के अनुपात पर निर्भर करता है जो कि बैंक अमतोर पर अपने यहाँ रखते हैं। एक उदाहरण द्वारा इसको समझाया जा सकता है। सरकार केन्द्रीय बैंक से १० करोड़ रु० का ऋण लेती है। जैसे ही सरकार अपने इस ऋण को खाते मे से निकाल कर खरीदी गई वस्तुओ और सेवाओ के लिए अदायगियाँ करती हैं, तो केन्द्रीय बैंक मे बैंको की जमा धनराशियो (deposits) मे उतनी ही वृद्धि हो जाती है और उनकी अपनी जमा भी इतनी हो मात्रा मे बढ जाती है। यदि कानून यह है कि वाणिज्य बैंको को अपनी कुल जमा रकम का १० प्रतिशत भाग नकद रिजर्व के रूप मे रखना है, तो ऐसा करने के पश्चात् भी केन्द्रीय बैंक मे उसकी बकाया मे वृद्धि हो जाने के कारण ६० करोड रु० की अतिरिक्त जमा उनके पास और रह जाती है। इस धन को वे राजकोष-पत्रो (treasury bills) अथवा अल्पकालीन सरकारी पत्रो मे निवेश कर देते हैं अथवा इसी कार्य के लिए अपने ग्राहको को उधार दे देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सरकार के पास ६० करोड़ रु० और आ जाते है और उतनी रकम से केन्द्रीय बैंक मे बैंको की बकाया कम हो जाती है। परन्तु चूँकि सरकार इस धनराशि को फिर खर्च कर देती है अत बैंको की जमा धनराशियाँ फिर पूर्ववत् हो जाती हैं और उनके जमा-दायित्वो (deposit liabilities) मे ६० करोड़ रु० की वृद्धि हो जाती है। इस सबका अन्तिम परिणाम यह होता है कि केन्द्रीय बैंक मे बैंको की बकाया (balances) मे १० करोड रु० की वृद्धि हो जाती है और बैंको के जमा दायित्वो मे १०० करोड रु० की वृद्धि होती है। सरकार या तो प्रत्यक्ष रूप मे अथवा अपने ग्राहको के माध्यम से १० करोड़ रु० की केन्द्रीय बैंक की ऋणी हो जाती है और ६० करोड़ रु० की वाणिज्य बैंको की।

सरकार जब वाणिज्य बैंको से उधार लेती है तो इन बैंको की जमा धनराशियो मे वृद्धि हो जाती है, परन्तु जब उधार केन्द्रीय बैंक से लिया जाता है तो वह वृद्धि उससे भिन्न होती है। जब सरकार अपने दायित्वो को बेचती है तो केन्द्रीय बैंक मे बैंको की इतनी ही बकाया (balances) सरकार को उपलब्ध हो जाती हैं। इससे बैंको के नकद रिजर्व की मात्रा उस अनुपात से कम हो जाती है जितनी कि उनके द्वारा आमतौर पर रखी जाती है, परन्तु जैसे ही सरकार इस धन को खर्च करती है, केन्द्रीय बैंक मे बैंको की बकाया राशियाँ फिर पूर्वस्तर पर पहुँच जाती है। वाणिज्य बैंको की जमा रकम मे भी सरकारी खर्च की मात्रा के बराबर वृद्धि हो जाती हैं और उनका नकदी का अनुपात सामान्य से भी कुछ कम होता है। बैंक इसमे सुधार या तो केन्द्रीय बैंक से उधार

लेकर करते है अथवा ऋण पत्रों के बाजार में अपने कुछ निवेशों को बेचकर ऐसा करते हैं। जब वे केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर ऐसा करते है तो उधार ली हुई धनराशि के बराबर ही उनके जमादायित्वो में वृद्धि हो जाती है। किन्तु जब वे दूसरा उपाय अपनाते हैं तो इसके उनके कुछ जमा-दायित्वो (deposit liabilities) रद्द हो जाते हैं, पर कुछ दायित्वों की मात्रा प्रारम्भिक मात्रा मे अधिक रहती है इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का निबल प्रभाव यह होता है कि कुल जमा धन में वृद्धि हो जाती है, परन्तु उतनी वृद्धि नही होती जितनी की सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक से उधार लेने की परिस्थिति मे होती है क्योकि इस स्थिति मे बैंको अथवा उनके ग्राहकों द्वारा सरकारी बॉण्डो की द्वितीय खरीद नही की जाती। इसे समझने के लिए हम फिर एक उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए, सरकार वाणिज्य बैंको से १० करोड रु० उधार लेती है। इस स्थिति मे केन्द्रीय बैंक मे बैंको की बकाया राशियाँ इतनी ही मात्रा मे कम हो जायेंगी। किन्तु जैसे ही सरकार इस रकम को खर्च करती है, ये बकाया राशियाँ (balances) फिर अपने पूर्व-स्तर पर आ जाती हैं, पर जमा राशियो मे भी ९० करोड रु० की वृद्धि हो जाती है। अब यदि बैंको को अपना नकद रिजर्व १० प्रतिशत बनाये रखना है तो बैंको के पास १ करोड रु० का अतिरिक्त रिजर्व और हो जायेगा। यह रिजर्व वे केन्द्रीय बैंक से उतनी ही मात्रा मे उधार लेकर रख सकते हैं। किन्तु यदि ऐसा उधार उपलब्ध न हो सके तो वे लगभग ९० लाख रु० के अपने विनियोग बेच सकते है। इससे उनका नकद रिजर्व इतनी ही मात्रा मे बढ जायेगा और उनका अतिरिक्त जमा धन घटकर ८९.१ करोड रु० रह जायेगा। इस प्रकार नकद रिजर्व का अनुपात १० प्रतिशत के लगभग लाया जा सकता है इस प्रकार से बैंक की जमा रकमो मे वृद्धि हो जाती है, परन्तु यह वृद्धि उतनी मात्रा मे नही होती जितनी कि तब होती है जब सरकार केन्द्रीय बैंक से उधार लेती है।

तथापि, एक सभावना ऐसी है जिसमे दोनो ही स्थितियो मे जमा-रकमो की वृद्धि एक समान होती है। ऐसा तब होता है जबकि वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक से उतनी ही मात्रा मे ऋण लेने की मॉंग करते है और उन्हे ऋण की अनुमति मिल भी जाती है जितना ऋण सरकार ने उनसे लिया है। उदाहरण के लिए, यदि वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक से १० करोड रु० उस समय उधार लेते हैं जबकि वे १० करोड रु० के सरकारी बॉण्ड खरीदते हैं, तो इस स्थिति मे उनकी जमा धनराशियो मे १० करोड रु० की वृद्धि हो जाती है और केन्द्रीय बैंक मे वाणिज्य बैंको की बकाया राशियाँ (balances) भी इतनी मात्रा मे बढ जाती हैं। इस प्रकार वाणिज्य बैंक फिर इस स्थिति मे आ जाते हैं कि वे सरकार अथवा अन्य ग्राहको को ९० करोड रु० और उधार दे सकें। अत इस स्थिति मे भी ठीक वही प्रभाव होता है जैसा कि सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक से उधार लेने की स्थिति मे होता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि मे, सरकारी खर्चों मे वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि लगभग सभी महत्वपूर्ण देशो मे मुद्रा की मात्रा मे भारी वृद्धियाँ हुईं। जुलाई १९३९ और दिसम्बर १९४४ की कागजी मुद्रा चलन (note circulation) तथा वाणिज्य बैंको की जमा राशियो की वृद्धि की तुलना करते हुए कहा जा सकता है कि ये वृद्धियाँ क्रमश ब्रिटेन मे १९० और १४५ प्रतिशत, सयुक्त राज्य अमरीका मे २५६ और १०१ प्रतिशत और भारत मे ४६८ व ३६० प्रतिशत थी। इस अवधि मे, कागजी मुद्रा के चलन मे जर्मनी मे ४३५ प्रतिशत और जापान मे ५७६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। जापान मे, जुलाई १९३९ तथा मई १९४४ के बीच वाणिज्य बैंको की जमा रकम मे २१६ प्रतिशत की वृद्धि हुई और जर्मनी मे दिसम्बर १९३८ और दिसम्बर १९४३ के बीच १५६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। अन्य अनेक देशो मे भी ऐसी ही वृद्धियाँ दर्ज की गई। सभी देशो मे सभी प्रकार की मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हुई और कुछ देशो मे तो अधिकारियो द्वारा मुद्रा के साथ ही साथ भुगतान के सहायक साधन भी किये गये।

बैंको को इस योग्य बनाने के लिए, कि वह सरकार की आवश्यकताओ के अनुसार ही मुद्रा की मात्रा का विस्तार कर सकें, मुद्रा रिजर्व (currency reserves) से सम्बन्धित नियम या तो ढीले कर दिये गये अथवा पूर्णत समाप्त कर दिये गये। युद्ध छिडने पर ब्रिटेन मे प्रत्याशी नोट-निर्गम (fiduciary issue) की मात्रा ३० करोड पौण्ड से बढकर ५८ करोड पौण्ड हो गई। बाद मे इसमे और वृद्धियाँ हुईं और दिसम्बर १९४४ मे यह मात्रा बढकर १२५ करोड पौण्ड हो गई। सयुक्त राज्य अमरीका मे, सघीय रिजर्व बैंको (federal reserve banks) का मुद्रा-रिजर्व का अनुपात, जो कि फरवरी १९४२ मे ९१ प्रतिशत था, फरवरी १९४५ मे गिरकर ४८.६ प्रतिशत

रह गया। जापान में प्रत्याशी नोट-निर्गम और अप्रत्याशी नोट-निर्गम (non-fiduciary issue) का अन्तर सन् १९४१ मे समाप्त कर दिया गया और नोट जारी करने की सीमाएँ बाद मे अनेक अवसरो पर बढाई गई। भारत मे, पौण्ड-पावनो (sterling balances) को नोट जारी करने के लिए रिजर्व मान लिया गया। ये पौण्ड-पावने युद्ध-काल मे, रिजर्व बैंक द्वारा भारत मे ब्रिटेन तथा अन्य मित्र देशो के खर्चों की अदायगी के रूप में ब्रिटेन से मिलने वाली धनराशि थी जो पौण्ड-पावनो के नाम से ब्रिटेन मे ही जमा थी। जर्मनी और इटली मे, युद्ध से पूर्व ही रिजर्व की शर्तें समाप्त कर दी गई और अन्य अनेक योरोपीय देश मे भी युद्धकाल के दौरान रिजर्व से सम्बन्धित नियम समाप्त कर दिये गये।

मुद्रा-निर्माण द्वारा युद्ध की वित्तीय व्यवस्था से नये धन का काफी भाग सरकार को ही मिलता है और सामान्य जनता को तो उसका बहुत थोडा अंश प्राप्त होता है। परन्तु जनता के पास उपलब्ध क्रय-शक्ति की मात्रा मे इससे कोई कमी नही होती, जैसी कि कराधान तथा ऋणो की स्थिति मे होती है। अत इसके *परिणाम स्वरूप स्फीति* (*inflation*) उत्पन्न हो जाती है। और जिसके कारण ही लोगो के उपभोग की मात्रा मे कमी हो जाती है। सरकार जनता से साधनो (resources) का कुछ भार जबरदस्ती लेती है और यह कार्य एक प्रकार से गुप्त कराधान का ही कार्य करती है। परन्तु अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव कराधान मे बिल्कुल भिन्न होते हैं। इस कार्यवाही के फलस्वरूप वास्तविक आय का जो पुनर्वितरण होता है, उससे विभिन्न वर्गों पर इसकी *बाह्यता* (*incidence*) *असमान रूप से पडती है। जिन लोगो की आय निश्चित होती है* उन पर अधिक भार पडता है। निर्धन वर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद स्थिति मे रहता है और प्रभावो की दृष्टि से कराधान अवरोही (regressive) होता है। यद्यपि इसमे पूँजी का प्रवाह उतना नही होता जितना कि कराधान की स्थिति मे होता है किन्तु मानवीय पूँजी (human capital) का प्रवाह अवश्य अधिक होता है और भावी उत्पादन पर इसके प्रतिकूल प्रभाव भी कम उल्लेखनीय नही होते। यद्यपि उत्पादन मे वृद्धि करना बडा आवश्यक होता है किन्तु श्रम-विवाद (labour disputes) तथा सामान्य असन्तोष उत्पादन-वृद्धि के मार्ग मे बाधाएँ खडी करते हैं। जहाँ तक सरकार पर पडने वाले भार का सम्बन्ध है यह भी किसी प्रकार कम नही होता है क्योकि सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंको को ब्याज तो दिया ही जाता है। इस स्थिति मे भी ब्याज की अदायगी के लिए भविष्य मे सरकार को कर लगाने की आवश्यकता है, वैसे ही जैसे कि जनता से उधार लेने की स्थिति मे होती है। अत. वित्त प्राप्ति की यह रीति अन्य रीतियो से कम अच्छी है अत इसका आश्रय बडी सावधानी एव सतर्कता के साथ तथा यथासभव कम मात्रा मे लिया जाना चाहिए।

फिर भी, मुद्रा-निर्माण द्वारा वित्त की व्यवस्था को न्यायोचित ठहराया जा सकता है बशर्ते कि इसका उपयोग कुछ निर्धारित सीमाओ मे रहते हुए किया जाए। इससे सरकार को यह लाभ होता है कि उसे आवश्यकता के समय तुरन्त ही धन मिल जाता है। करो का संग्रह करने मे तथा उधार द्वारा धन प्राप्त करने मे काफी समय लगता है जबकि युद्धकालीन खर्चा तुरन्त करना पडता है, वह किसी की प्रतीक्षा नही कर सकता। प्रत्यक्ष एव सार्वजनिक कराधान यदि अधिक ऊँचा होता है तो उससे जनता मे सामान्य असन्तोष पैदा होता है अत उसका उपयोग युद्ध के लिए आवश्यक सम्पूर्ण वित्त की प्राप्ति के लिए नही किया जा सकता। उत्पादन पर इसका जो हानिकारक प्रभाव पडता है वह भी एक तर्क है जो इसके विरुद्ध दिया जाता है। सरकारी उधार का क्षेत्र भी सीमित ही होता है क्योकि सरकार को जितनी धनराशि की आवश्यकता होती है, वह सबकी सब जनता से प्राप्त होने की सम्भावना नही होती। फिर, यदि भारी मात्रा मे जनता से ऋण लिया जाता है तो उससे पूँजी-बाजार मे पूँजी का सभरण (supply) कम हो जाता है जिससे उद्योगो मे विनियोग की मात्रा घट जाती है और इस प्रकार भविष्य मे उत्पादन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर मुद्रा की मात्रा मे विस्तार का उत्पादन पर प्रेरणात्मक प्रभाव पडता है। वित्त-प्राप्ति की इस रीति के हानिकारक प्रभावो को मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग द्वारा कम किया जा सकता है ऐसा करने से लोगो की उपभोग पर व्यय करने की क्षमता भी घटती है जिसका आगे चलकर सरकारी बॉण्ड खरीदने मे किया जा सकता है।

स्वर्ण तथा विदेशी अवशेष
(Gold and Foreign Balances)

एक युद्धग्रस्त देश को युद्ध-कार्यों के लिए जितनी सामग्री की आवश्यकता होती है, यद्यपि उसका काफी भाग वह देशी उत्पादन में वृद्धि करके तथा उपभोग में कमी करके प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसे कुछ साधन विदेशी स्रोतों से भी प्राप्त करने होते हैं। विदेशों में सेनाओं तथा सैनिक अड्डों को बनाये रखने के लिए कभी-कभी ऐसा करना आवश्यक हो जाता है परन्तु देशी उपयोग के लिए अवसर चालू निर्यात से अधिक जो आयात करने पड़ते हैं उनके लिए विदेशी साधनों की आवश्यकता होती है। विदेशों में जो खर्च किया जाता है, उसके लिए वित्त की व्यवस्था करने के अनेक उपाय हैं। मुद्रा-रिजर्व के लिए जो स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा सुरक्षित होती है, इस कार्य के लिए उसका उपयोग कर लिया जाता है। विदेशों में किये गये विनियोगों का नकदीकरण कर लिया जाता है अथवा विदेशों से ऋण ले लिये जाते हैं। अधीनस्थ देशों (occupied countries) से प्रशासन की लागत वसूल की जाती है। इसी प्रकार उधार-पट्टा (lend lease) तथा ऐसे ही अन्य पारस्परिक सहायता समझौते विदेशी साधनों की प्राप्ति में सहायक होते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में ब्रिटेन में जो पौण्ड-पावने एकत्र हो गये थे उसका कारण यही था कि ब्रिटेन ने भारत तथा अन्य देशों में स्थित अपनी मित्र देशों की सेनाओं के खर्च के लिए, इन देशों से सामग्री प्राप्त की थी जिसके मूल्य के रूप में ये पौण्ड-पावने जमा हो गये थे। इन उपायों में से अधिकांश द्वारा निवेश की मात्रा घटती है और विदेशी ऋण में वृद्धि होती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में, ब्रिटेन ने सन् १९४१ के प्रारम्भ में ही अपने लगभग सम्पूर्ण स्वर्ण-रिजर्व का उपयोग कर लिया था। संयुक्त राज्य अमरीका का मौद्रिक स्वर्ण भण्डार (monetary gold stock), जिसमें कि सन् १९४१ के अन्त तक वृद्धि हो रही थी, इसके बाद घटने लगा। इसका कारण युद्ध-सामग्री की खरीद तथा युद्ध-सम्बन्धी अन्य खर्च था।। नवम्बर सन् १९४१ में अमरीका का स्वर्ण-रिजर्व जो कि अपने उच्चतम शिखर पर, अर्थात् २२८० करोड़ डालर था, सन् १९४४ के आखिर में घटकर २०६० करोड़ डालर रह गया। कुछ ऐसे देश जिन पर जर्मनी ने अधिकार किया हुआ था। उनके स्वर्ण-रिजर्व का कुछ भाग युद्ध-प्रयत्नों के लिए "ऐच्छिक" अंशदानों के भेष में जर्मनी द्वारा ले लिया गया।

युद्ध-काल में ब्रिटेन को भारत तथा कुछ अन्य देशों में भारी व्यय करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप उसके चालू अदायगी-शेष (current balance of payments) में बहुत कमी हो गयी। इसके कारण उसे विदेशों में स्थित अपनी परिसम्पत्तियाँ बड़ी मात्रा में बेचनी पड़ी, और उसकी विदेशी देनदारियों में भारी वृद्धि हो गई, मुख्यत. जमा पौण्ड पावनों के रूप में। युद्ध के प्रारम्भ से लेकर सन् १९४४ के मध्य तक ब्रिटेन ने कुल ३३६ ५० करोड़ पौण्ड-के निवेश खर्च कर डाले। इससे १०५ ५० करोड़ पौण्ड की तो विदेशी परिसम्पत्तियाँ (foreign assets) की निबल बिक्री ही शामिल है। इसके अतिरिक्त, जमा पौण्ड-पवनों की मात्रा बढ़कर २३० करोड़ पौण्ड तक पहुँच गई।

अदायगी-शेष के घाटे (balance of payments deficit) और उसके फलस्वरूप विदेशी निवेशों में कमी और भी अधिक होती यदि उधार-पट्टा किस्म की पारस्परिक सहायता की व्यवस्थाएँ न की गई होती। संयुक्त राज्य अमरीका ने उधार-पट्टे के आधार (lend lease basis) पर अपने मित्र देशों को भारी मात्रा में युद्ध-सामग्री तथा कृषि एवं औद्योगिक पदार्थ तथा सेवाएँ प्रदान की। सन् १९४१ से १९४४ तक कुल ३३३८ ३० करोड़ डालर की सहायता दी गई। नवम्बर १९४४ के अन्त तक सहायता-कार्यक्रम के अन्तर्गत अमरीका से वस्तुओं के जो निर्यात किये गये उसमें से ११३३ २० करोड़ डालर की वस्तुएँ ब्रिटेन ने प्राप्त की। बड़े पैमाने की इस सहायता से मित्र देशों को अपने अदायगी-शेष घाटों को कम बनाये रखने में सहायता मिली। बदले में, संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने मित्र देशों से, विशेष रूप से राष्ट्रमण्डल देशों से उलट उधार-पट्टा सहायता (reverse lend lease aid) प्राप्त की। इस सहायता में मुख्यत. सैनिक साज-सामान खाद्य पदार्थ तथा विदेशों में स्थित अमरीकी सशस्त्र सेनाओं को प्रदान की जाने वाली सेवाएँ सम्मिलित थी। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (British Common Wealth) ने सन् १९४४ के अन्त तक

४६६·६० करोड डालर की ऐसी सहायतया प्रदान की। ऐसी सहायता ब्रिटेन द्वारा अन्य मित्र देशो को भी दी गई।

इस प्रकार, युद्ध-ग्रस्त देश युद्ध-सामग्री तथा अन्य आवश्यक पदार्थों का एक बडा भाग विदेशी स्रोतो से प्राप्त करते है। विदेशी निवेशो का नकदीकरण तथा विदेशी दायित्वो (foreign obligations) का एकत्रीकरण बडी भारी कीमतें हैं जो चुकनी पडती हैं; और इसका एक बडा भाग भावी पीढी को आय तथा रहन-सहन के निम्न स्तरो के रूप मे चुकाना पडता है। परन्तु युद्ध एक जीवन-मरण का सघर्ष होता है और उसका जितना सम्बन्ध वर्तमान पीढी से होता है उतना ही भावी पीढियो (future generations) से भी होता है। इस प्रकार कोई भी देश भावी पीढी को युद्ध के भार से बचाने के प्रयत्न मे युद्ध हार का जोखिम नही ले सकता।

दान तथा उपहार
(Donations and Gifts)

ऐच्छिक अशदान (voluntary contributions) भी सरकार को धन प्रदान करते हैं। ये अशदान लोगो द्वारा मुद्रा तथा पदार्थ दोनो ही रूप मे दिये जाते हैं, अर्थात् सशस्त्र सेनाओं के लिए वस्त्र तथा खाद्यान्न आदि के रूप मे और विभिन्न प्रकार की सेवाओं के रूप मे लोग ऐसे अशदान देशभक्ति की भावना के कारण कहते है और इन अशदानो की मात्रा कितनी होगी, यह बात इस पर निर्भर है कि **देश भक्ति की भावना** कितनी तीव्र है।

ये अशदान युद्ध-वित्त की प्राप्ति का कोई बडा स्रोत नही है। इसके अतिरिक्त, यह वित्त-प्राप्ति का एक बडा अनिश्चित स्रोत है। सरकार लम्बे समय तक बडी रकमो की प्राप्ति के लिए इन अशदानो पर भरोसा नही कर सकती। आमतौर पर, द्रव्य के रूप मे दिये जाने वाले ये दान युद्ध के प्रारम्भिक चरण मे तो अधिक होते हैं, परन्तु जैसे-जैसे कराधान तथा सरकारी ऋण के रूप मे लोगो के अशदान बढते है, ये कम हो जाते है, वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे दिए जाने वाले उपहारो का भी सीमित ही महत्व होता है और ये उपहार सरकारी आवश्यकताओ की बहुत थोडी मात्रा की ही पूर्ति करते हैं।

फिर एक बात यह है कि ऐच्छिक अशदान प्राय: पूर्णतया ऐच्छिक नही होते। ऐसे अशदानो के सम्बन्ध मे जनता पर सरकारी तथा सामाजिक दबाव डाला जाता है। परन्तु एक लोकतन्त्रीय देश मे युद्ध की अवधि मे भी, ऐसा दबाव एक सीमा से अधिक नही डाला जा सकता, और वास्तविकता यह है कि जब तक लोगो मे स्वय ही धन देने की इच्छा नही होगी तब तक अधिक धनराशि इकट्ठी नही की जा सकती। इस सम्बन्ध मे सबसे प्रभावशाली तरीका यह है कि प्रचार द्वारा लोगो को प्रेरित किया जाए और जब तक ऐसा किया जाता है तब तक अशदानो (contributions) को ऐच्छिक कहना गलत नही है।

तथापि दान तथा उपहारो को प्रोत्साहन देने का एक कारण इनका मनोवैज्ञानिक मूल्य (psychological value) भी है। ये लोगो मे इस बात की इच्छा तथा भावना पैदा करते हैं कि वे स्वेच्छा से त्याग करें और हर सम्भव तरीके से सरकार की सहायता करें। समाज मे सदा ही एक ऐसा वर्ग होता है जो धनाढ्य होता है और सामान्य दिनो मे अधिक उपयोगी नही होता किन्तु इस रीति द्वारा सरकार को बिना किसी लागत के ही उनकी सेवाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं। लोगो मे उपभोग कम करने की इच्छा जागृत की जाती है और उन्हे इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि स्वेच्छा से रुपया तथा वस्तुएं सरकार को दें। इन अशदानो के रूप मे प्राप्त होने वाली सामग्री यद्यपि थोडी होती है, तथापि लोगो को मानसिक दृष्टि से युद्ध के लिए तैयार करने लिए वे बडे उपयोगी सिद्ध होते हैं।

भारत का सुरक्षा बजट
(Defence Budget of India)

भारत प्रारम्भ से ही एक शान्तिप्रिय देश रहा है। स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश की प्रभुसत्ता व अखण्डता का अपहरण करना प्रारम्भ हो गया। सर्वप्रथम पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण करके उसके एक भाग पर अपना अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् भी पाकिस्तान

ने भारत को अपना शत्रु घोषित करके छुट-पुट हमले बराबर जारी रखे। अभी हाल मे ३ दिसम्बर, १९७१ को पाकिस्तान ने भारत पर एक बड़ा हमला किया। इसके पूर्व सन् १९६२ मे चीन ने भी भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण किया था। फलत. भारत को विवश होकर अपनी सुरक्षा पर भारी व्यय करना पड़ा। सन् १९६०-६१ से भारत ने सुरक्षा पर जो व्यय किया है उसका विवरण निम्नानुसार है —

(करोड रु० मे)

वर्ष	कुल सुरक्षा व्यय	भारत सरकार का कुल व्यय	कुल व्यय का सुरक्षा व्यय प्रतिशत
१९६०-६१	२८० ६४	१,८५५ ५४	१५·१
१९६४-६५	८०६	२,९०२	२७·८
१९६५-६६	८८५	२,९४६	३०·०
१९६६-६७	९०९	३,७९८	२३ ९
१९६७-६८	९६८	३,५३३	२७·८
१९६८-६९	१,०३३	३,४३१	३०·१
१९६९-७०	१,१०१	३,९१२	२८ १
१९७०-७१	१,१९९	४,८५५	२४ ७
१९७१-७२	१,५२५	५,७१९	२६·७
१९७२-७३	१,६५२	५,९४४	२७ ८
१९७३-७४	१,६८१	५,८४४	२८·८
१९७४-७५	२,१५७	८,११८	२६·६
१९७५-७६	२,४१०	८,७९८	२५·८
१९७६-७७	२,६३५	१४,१८४	१८·५
१९७७-७८ (बजट)	२,७५२	१५,५६८	१८·००

Source . India, 1976 and Central Govt. Budget, June, 1977.

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि यद्यपि भारत सरकार के सुरक्षा व्यय मे निरन्तर वृद्धि हो रही है किन्तु गत चार वर्षों से कुल व्यय की तुलना मे सुरक्षा व्यय का अनुपात निरन्तर घट रहा है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Pigou Political Economy of War, Chapters IV, V and VII to X.
2. League of Nations, World Economic Survey 1942-44 Chapter IV.
3. Plehn Public Finance, Part IV, Chapter III

UNIVERSITY QUESTIONS

१ युद्ध वित्त से आपका क्या आशय है? इसकी व्यवस्था की विभिन्न रीतियाँ समझाइए।

What is meant by war finance? Explain the various methods of arrangement of war finance

२ "युद्ध का अर्थशास्त्र केवल एक उद्योग-सशस्त्र की वृद्धि का अर्थशास्त्र है, जोकि अन्य की लागत पर होती है।" के० ई० बोल्डिंग। युद्ध अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

संगठनों के बीच उन सापेक्षिक लाभों के आधार पर बांटी जानी चाहिए जिनका कि वे उपभोग करते हैं। लाभ अथवा हितानुसार सिद्धान्त मे दो आशय निहित है, **प्रथम** यह कि लाभ अथवा हित (benefit) को कराधान का औचित्य (justification) सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, और दूसरे लाभ करो के भार का वितरण करने वाले एक मानक (standard) के रूप मे कार्य करता है। हितानुसार सिद्धान्त के अन्तर्गत, अदा करने का दायित्व (obligation) तथा अदा करने की धनराशि व्यक्तियों मे निश्चित कर दी जाती है। हितानुसार सिद्धान्त की व्याख्या दो रूपो मे की जाती है—**सेवा की लागत के सिद्धान्त** (*cost of service principle*) **के रूप में,** और **सेवा के मूल्य के सिद्धान्त** (value of service principle) के रूप मे। सेवा की लागत के सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को उन सेवाओ की असल लागत के बराबर धनराशि करो के रूप मे अवश्य देनी चाहिए जिनका कि वह लाभ प्राप्त कर रहा है। अन्य शब्दों मे, प्रत्येक व्यक्ति से इतना अवश्य लिया जाना चाहिए जितना कि सरकार ने उसके लिए व्यय किया है। दूसरी ओर, सेवा के मूल्य का सिद्धान्त यह बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सरकार से प्राप्त सेवाओ के गुण अथवा महत्व के अनुसार धनराशि करो के रूप मे देनी चाहिए। परन्तु हितानुसार सिद्धान्त की इन दोनो ही व्याख्याओ का यदि गहराई के साथ अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि उनमे कोई अधिक अन्तर नही है। हितानुसार दृष्टिकोण के अनुसार, चूंकि कराधान का उद्देश्य सरकार को लागत का भुगतान कराना है, अत. उपयुक्त दोनो ही व्याख्याओ मे, अर्थात् सेवा की लागत के अर्थ मे तथा सेवा के मूल्य के अर्थ मे भी, लाभो का मूल्याकन करने का निर्णायक तत्व लागतें (costs) ही होंगी।

हितानुसार सिद्धान्त तथा संस्थापक अर्थशास्त्री (Benefit Principle and Classical Writers):

१८वी शताब्दी के मध्य तक, कराधान का हितानुसार सिद्धान्त राज्य के उस अनुबन्ध सिद्धान्त (contract theory) का एक प्राकृतिक पूरक (natural complement) था जिसे कि उस काल के अधिकाश राजनैतिक विचारको द्वारा सामान्यरूप मे स्वीकार किया जाता था। हौब्स (Hobbes), लॉक (Locke), रूसो (Rousseau), ह्यूम (Hume), प्रकृतिवादियों (physiocrats) तथा अन्य विचारकों के लेखों मे, अनुबन्ध ही संगठित समाज का आधार था और सरक्षण (protection) यदि एकमात्र नही तो मुख्य लक्ष्य अवश्य था। इन लेखकों का विचार था कि कर (taxes) सरक्षण के लिए अदा की जाने वाली प्राकृतिक कीमत हैं; कर 'सगठित समाज की सस्था के सदस्यता-शुल्क'[3] के रूप मे अदा किये जाते है।

एडम स्मिथ से लगभग १०० वर्ष पूर्व, **सर विलियम पैटी** (Sir William Petty) ने यह कहा था कि "यह बात सामान्यत सभी मनुष्यों द्वारा स्वीकार की जाती है कि मनुष्यों को सरकारी व्यय मे अपना योगदान देना चाहिए, परन्तु यह योगदान सार्वजनिक शान्ति मे उनके भाग (share) तथा हितो के अनुसार ही होना चाहिए, अर्थात् उनकी सम्पदा (estate) तथा धन के अनुसार।"[4] पैटी के इस कथन से स्पष्ट है कि उसने हितानुसार सिद्धान्त तथा सामर्थ्य सिद्धान्त (ability principle) दोनो पर ही विचार किया था; अर्थात् यह कि प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त किये जाने वाले लाभ 'अपने हिस्से तथा हितों—के अनुसार अपना अशदान देना चाहिए। साथ ही, उसने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य या योग्यता (ability) के अनुसार—"अपनी सम्पदा और धन के अनुसार" (According to his estates and riches)—कर देना चाहिए। उक्त दोनो ही सिद्धान्तो का ऐसा मिश्रण एडम स्मिथ द्वारा कराधान के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे

---

3. Musgrave : *The Theory of Finance*, p, 64 for an excellent summary of the history of the benfit principle : "Membership fee in the association of organised society,"

4. William Petty : *A Treatise of Taxes and Contributions* Ch. 15, p, 91, "It is generally allowed by all that men should contribute to the public charge but according to the share and *interest they have in the public peace; that is according to their* estates and riches,"

The economics of war is simply the economics of the growth of one industry the armed forces at the expense of other." K. E. Boulding. Discuss the main features of war economy.

३. युद्धकाल मे वित्त प्राप्त करने के लिए आप सार्वजनिक ऋण का सहारा लेंगे या करों का ? दोनो के लाभ व दोष बताइए।

For obtaining money during war time, will you depend upon loan or tax ? Mention the advantages and disadvantages of both.

४ विकास वित्त की युद्ध वित्त से तुलना कीजिए। कहाँ तक सम्भव है कि युद्ध लडने हेतु बडी मात्रा मे धन प्राप्त करने की विधि को आर्थिक विकास के वित्तीय के लिए भी उपयोग मे लाया जा सकता है ?

Compare the problems of development finance with those of was finance. How far it is possible to use the method of raising large sums for fighting a war to finance economic development ?

५. युद्ध वित्त क्या है ? युद्ध के लिए साधनो की विवेचना कीजिए।

What is war finance ? Discuss the resources for war.

६. उत्पादन तथा विनियोग पर कराधान के प्रभाव की विवेचना कीजिए।

Discuss the effect of taxation on production and investment.

७ भारत मे बढते हुए सुरक्षा व्यय के आर्थिक प्रभावो का परीक्षण कीजिए।

Examine the economic effects of rising defence expenditure in India.

द्वितीय खण्ड

भारतीय लोकवित्त, अथवा राजस्व

(Indian Public Finance)

भारत में संघीय वित्त का क्रमिक विकास
(Evolution of Federal Finance in India)
अथवा
भारत में संघीय वित्त का विकेन्द्रीयकरण
(Decentralisation of Federal Finance in India)

पूर्व केन्द्रीयकरण से लेकर वर्तमान सघीय ढांचे तक की यात्रा मे, इस देश की वित्तीय व्यवस्था को अनेक चरणो मे से गुजरना पडा है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से केन्द्र तथा इकाइयो (units) के वित्तीय सम्बन्धो के क्रमिक विकास को चार निम्न कालो (periods) मे बाँटा जा सकता है (i) पहला काल है, सन् १९१९ के भारत सरकार अधिनियम (Government of India Act, 1919) के लागू होने से पूर्व का काल, (ii) १ अप्रैल १९२१ से ३१ मार्च १९३७ तक का वह काल, जिसके बीच सन् १९१९ का भारत सरकार अधिनियम लागू रहा; (iii) वह काल जिसमे १९३५ का भारत सरकार अधिनियम कार्यशील रहा, अर्थात् १ अप्रैल १९३७ से सन् १९५० के उस समय तक का काल जबकि भारत का सविधान लागू किया गया, और (iv) भारतीय सविधान के लागू होने के बाद का काल।

(I) प्रथम काल : वित्तीय विकास का क्रम (First Period : Financial Evolution) :

सन् १८७१ से पूर्व, केन्द्र सरकार देश के सम्पूर्ण राजस्व तथा व्यय पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखती थी। प्रान्तो को अपने खर्चो की पूर्ति करने के लिए निश्चित अनुदान दिये जाते थे। परिणामस्वरूप, केन्द्रीय वित्त मे तो अनिश्चितता बनी रहती थी और प्रान्तो मे फिजूलखर्ची होती थी। वित्तीय-व्यवस्था की यह फलहीन एकरूपता इस दृष्टि से भी अनुपयुक्त थी कि एक विशाल देश है और यहाँ स्थानीय परिस्थितियो मे भारी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। अत सन् १८७१ मे वित्तीय-सत्ता का कुछ विकेन्द्रीकरण किया गया।

इस विकेन्द्रीकरण (decentralisation) का प्रारम्भ 'प्रान्तीय बन्दोबस्तो' (provincial settlement) के रूप मे किया गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यय की कुछ मदें जैसे कि पुलिस, जेल, शिक्षा, चिकित्सा सेवाएँ, रजिस्ट्रेशन, सडको तथा असैनिक निर्माण कार्य जो कि स्थानीय प्रकृति की थी, प्रान्तो को सौंप दी गई। इन विभागो के प्रबन्ध के लिए, राज्यो को प्रतिवर्ष एक मुश्त रकम के रूप मे निश्चित अनुदान दिये जाने लगे और साथ ही कर लगाने की कुछ सीमित शक्तियाँ भी दे दी गई। सन् १८७७ मे, प्रान्तो के कार्यों मे वृद्धि कर दी गई और व्यय की कुछ और मदें—जैसे कि मालगुजारी, उत्पादन शुल्क, स्टाम्प, सामान्य प्रशासन तथा कानून व न्याय—प्रान्तीय बना दी गई। प्रान्तो के साधनो मे वृद्धि करने के लिए, उन्हे विभागीय प्राप्तियो तथा एक मुश्त अनुदानो के अतिरिक्त कुछ नये कर भी सौंप दिये गये जैसे कि उत्पादन शुल्क और स्टाम्प शुल्क केन्द्र की ओर से एकमुश्त अनुदान (lump-sum grants) देने की जो व्यवस्था थी उसमे अधिकतम भाग प्राप्त करने के लिए प्रान्तो मे छीना झपटी हुआ करती थी। अत. यह व्यवस्था सन्तोषप्रद रीति से कार्य नही करती थी।

सन् १८८२ के पश्चात् निश्चित अनुदान देने की प्रथा समाप्त कर दी गई और सरकारी आय के बँटवारे मे समय-समय पर सशोधन किये गये। परिणामस्वरूप, आय के स्रोतो को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया गया—(क) साम्राज्य अथवा केन्द्रीय मदें (imperial or central heads), जिनमे वाणिज्य विभागो से प्राप्त होने वाले लाभ तथा अफीम, नमक व सीमा शुल्को से होने वाली आय सम्मिलित थी, (ख) प्रान्तीय मदें (provincial heads), जिनमे असैनिक विभागो से प्रान्तीय निर्माण कार्यों से होने वाली प्राप्तियाँ सम्मिलित थी, और (ग) विभाजित मदें, (divided heads), जिनमे उत्पादन शुल्क, निर्धारित कर (assessed taxes), स्टाम्प, वन तथा रजिस्ट्रेशन सम्मिलित थे। प्रत्येक पाँच वर्ष पश्चात् स्थिति की समीक्षा की गई और सन् १८८७, १८९२ तथा १८९७ मे नये बन्दोबस्त किये गये। किन्तु प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात् नये बन्दोबस्त की व्यवस्था से बडी अनिश्चितता बनी रही तथा निरन्तरता का अभाव रहा। इन बाधाओ को दूर करने के लिए, सन् १९०४ मे बन्दोबस्त (settlement) को अर्द्ध-स्थायी (semi-permanent) तथा सन् १९१२ मे स्थायी (permanent) बना दिया गया।

२०

भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था का विकास केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्ध

(Evolution of Federal Finance in India Financial Relation Between the Centre and the States)

प्रारम्भिक—संघीय वित्त व्यवस्था से आशय (Introduction-Meaning of Federal Finance)

किसी भी देश मे निम्न दो प्रकार की शासन व्यवस्था हो सकती है—(i) एकाकी (unitary), तथा (ii) सघीय (Federal)। एकाकी शासन प्रणाली मे सम्पूर्ण देश की शासन व्यवस्था एक ही सरकार के आधीन होती है और यह केन्द्रीय सरकार ही होती है। इसके विपरीत सघीय शासन व्यवस्था मे केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों मे भी अपनी-अपनी सरकारें होती हैं। प्रत्येक प्रान्त की सरकार अपने प्रान्त की सीमा मे इच्छानुसार शासन व्यवस्था करने मे पूर्णतः स्वतन्त्र होती है। केन्द्रीय सरकार अपने केन्द्रीय स्तर के कार्यों को ही सम्पन्न करती है और इस प्रकार वह प्रान्तीय सरकारों के कार्यों मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती।

सर राबर्ट गैरन (Sir Robert Garren) के अनुसार, "सघ एक प्रकार की सरकार है जिसमे सर्वोत्तम सत्ता अथवा राजनीतिक शक्ति का विभाजन केन्द्रीय व राज्य सरकारो मे इस प्रकार का होता है जिसमे कि प्रत्येक राज्य अपने क्षेत्र मे दूसरो से स्वतन्त्र होता है।"[1]

इस देश मे लोकवित्त के सघीय रूप का प्रारम्भ पिछड़ी शताब्दी (century) के मध्य भाग से हुआ माना जा सकता है। यद्यपि उस समय देश मे एकात्मक सरकार (unitary form of government) की व्यवस्था चालू थी परन्तु यह समझा जाता था कि केन्द्र तथा प्रान्तो के बीच कार्यों एव वित्तीय शक्तियो का कुछ विभाजन उचित एव वाञ्छनीय है। तभी से समय-समय पर तत्सम्बन्धी व्यवस्थाओ मे सशोधन एवं सुधार होते रहे हैं। भारतीय सविधान के अनुसार, केन्द्र तथा राज्यो के बीच व्यय की मदो तथा आय के स्रोतो का जो वर्तमान वितरण किया गया है वह इस दिशा मे किये जाने वाले दीर्घकालीन क्रमिक विकास की चरमसीमा है।

---

1. "A federation is a form of government in which sovereignty or political power is divided between the centure and the local government, so that each of them within its own sphere is independent" —*Sir Robert Garren*

अथवा मालगुजारी के रूप मे काफी वृद्धि हुई क्योकि इन प्रान्तो मे भू-राजस्व ही आय का सबसे महत्वपूर्ण श्रोत था, वहाँ दूसरी ओर औद्योगिक प्रान्तो को अपने यहाँ व्यावसायिक उद्यमो की समृद्धि से ऐसा कोई लाभ न हो सका। मैस्टन समिति की आशा के प्रतिकूल, प्रान्तो को लगातार भारी घाटो का सामना करना पड़ा। अत. सन् १९२७-२८ मे अशदानो की व्यवस्था रोक दी गई और १९२८-२९ मे यह अन्तिम रूप से समाप्त कर दी गई। अशदानो की समाप्ति से कृषि प्रधान प्रान्तो की स्थिति मे बडा सुधार हुआ क्योकि इन्हे ही अशदानो के रूप मे बडी-बडी रकमे देनी पडती थी। इस प्रकार, मैस्टन समिति द्वारा प्रस्तावित प्रामाणिक अशदान तो कभी लागू ही नही हुए।

इस प्रकार सन् १९१९ मे बनाया गया वित्तीय ढाँचा उस समय तक अपरिवर्तित रहा जबकि सन् १९३७ मे भारत सरकार अधिनियम ११३५ लागू हुआ। सन् १९१९ से १९३७ तक का काल ऐसा काल रहा जिसमे केन्द्र तथा इकाइयो के वित्तीय सम्बन्धो के विषय मे बार-बार विचार किया गया। इस विचार का आशिक उद्देश्य तो यह था कि प्रान्तो को अधिक आय उपलब्ध कराने के उपाय खोजे जायँ और आशिक उद्देश्य केन्द्र तथा प्रान्तो, दोनो को ही इस योग्य बनाना था कि वे राजस्व के अतिरिक्त स्रोत प्राप्त कर सकें। इस अवधि मे समय-समय या वित्तीय सम्बन्धो मे जो परिवर्तन हुए उनका वित्तीय ढाँचे की मूल प्रकृति पर कोई प्रभाव नही पडा।

(III) तृतीय काल प्रान्तीय स्वायत्तता (Third Period Provincial Autonomy)

सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम (Government of India Act) के अन्तर्गत केन्द्र मे सघीय पद्धति की सरकार की स्थापना की व्यवस्था की गई और प्रान्तो के सौपे गये कुछ विषयो मे उन्हे स्वायत्तता प्रदान की गई। अधिनियम मे व्यवस्था की गई कि भूतपूर्व भारतीय रियासतें कुछ विषयो के सम्बन्ध मे भारतीय सघ मे सम्मिलित रहेगी। अत अधिनियम म जो वित्तीय व्यवस्थायें की गई उनके अनुसार साधनो का बिल्कुल स्पष्ट विभाजन कर दिया गया, हाँ कुछ सन्तुलनकारी तत्वो पर अवश्य जोर दिया गया। उधर प्रस्तावित सघ तथा इकाइयो के बीच वित्तीय सम्बन्धो की जो व्यवस्था निर्धारित की गई, भारतीय रियासतो को भी उसमे फिट होना था। किन्तु १९३५ के अधिनियम मे प्रस्तावित सघ (federation) कभी अस्तित्व मे आया ही नही और भारतीय रियासतें भारत की सघीय वित्त की व्यवस्था से पूर्ववत् बाहर ही रहीं। जहाँ तक केन्द्र और प्रान्तो का सम्बन्ध है, इनके विषय मे अधिनियम द्वारा जो व्यवस्थायें की गई उनसे वित्त का एक पूर्णत सघीय ढाँचा अस्तित्व मे आया।

अधिनियम के अन्तर्गत, प्रान्तो को जो आय के स्रोत प्रदान किये गये, वे थे भू-राजस्व (मालगुजारी), सिंचाई प्रभार, मद्य पर उत्पादन शुल्क, अफीम तथा नशीली औषधियाँ, औषधीय एव श्रृंगार सामग्री (medicinal and toilet preparations) जिसमे मद्य अथवा नशीले पदार्थ हो, कृषि आय पर कर और स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन। जो साधन पूर्णत केन्द्र को सौपे गये, वे ये थे . निगम कर, सीमा शुल्क (customs duties), रेलें तार, टेलीफोन, तथा प्रसारण (broadcasting), मुद्रा तथा सिक्का ढलाई और सैनिक प्राप्तियाँ। अधिनियम मे कुछ ऐसे करो की भी व्यवस्था की गई जो केन्द्र सरकार द्वारा लगाये तथा वसूल किये जाने थे किन्तु उनकी प्राप्तिया प्रान्तो के बीच बाँटी जानी थी। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसे भी कर थे जो केन्द्र सरकार द्वार लगाये तथा वसूल किये जाने थे किन्तु उनकी प्राप्तियाँ केन्द्र तथा प्रान्तो के बीच बाँटी जानी थी। इनमे प्रथम वर्ग के कर थे . कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर लगाये जाने वाले कर, विनिमय पत्रो (bills of exchange) व चैको (cheques) आदि के सम्बन्ध मे स्टाम्प शुल्क की दरें, रेल अथवा वायु मार्ग द्वारा आने-जाने वाले यात्रियो तथा माल पर चुंगी (terminal tax) और रेल किरायो तथा भाडो पर कर। दूसरे वर्ग के कर ये थे : कृषि आय को छोडकर अन्य आमदनियो पर कर, नमक कर, तम्बाकू के उत्पादन पर कर तथा भारत मे उत्पन्न होने वाली अन्य वस्तुओ पर उत्पादन-कर (उन करो को छोडकर जो पूर्णतया प्रान्तो को सौंप दिये गये है) और निर्यात कर जिसमे जूट पर निर्यात-कर लगाने की विशेष

(II) द्वितीय काल : भारत सरकार अधिनियम, १६१६ (Second Period : Govt. of India Act, 1919) :

सवैधानिक सुधार पर प्रस्तुत की मॉण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (Montagu Chelmsford Report) मे जिन व्यवस्थाओ का सुझाव दिया गया था उनके अन्तर्गत विभाजित मदो की प्रथा समाप्त कर दी गई। सन् १६१६ का भारत सरकार अधिनियम इसी रिपोर्ट पर आधारित था। इसके अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तो के बीच साधनो का पूर्ण विभाजन कर दिया गया। विभाजित मदो मे आय-कर तथा सामान्य स्टाम्प केन्द्र को सौपे गये और उत्पादन शुल्क, अदालती स्टाम्प, मालगुजारी (land revenue) तथा सिंचाई प्रान्तो को दिये गये। साथ ही, यह भी अनुमान लगाया गया कि प्रस्तावित सुझावो के अनुसार आय के स्रोतो के वितरण से केन्द्रीय बजट को घाटे का सामना करना होगा जिसकी मात्रा लगभग ६ ५ करोड़ रु० होगी। अतः रिपोर्ट मे प्रान्तों द्वारा केन्द्र को अशदान (contributions) देने की व्यवस्था का भी प्रस्ताव किया गया।

मैस्टन निर्णय (The Meston Award)—लार्ड मैस्टन की अध्यक्षता मे सरकार ने एक वित्तीय सम्बन्ध समिति (financial relations committee) की स्थापना की। समिति से कहा गया कि वह सरकार को प्रान्तीय अशदानो की राशि के बारे में परामर्श दे और बम्बई के इस दावे पर विचार करे कि आय-कर की प्राप्तियो मे कुछ हिस्सा उसे भी दिया जाय। समिति की सिफारिशें 'मैस्टन निर्णय' अथवा 'मैस्टन बन्दोबस्त' (meston settlement) के नाम से विख्यात है। इस निर्णय मे, समिति ने कहा कि जहाँ राज्यो का यह दावा स्थायी रूप से रद्द नही किया जा सकता कि उनके लोगो की औद्योगिक एव वाणिज्यिक कमाईयो पर जो प्रत्यक्ष कर लगाये जाते हैं उनका कुछ भाग उन्हे मिले, वहाँ यह उचित नही है कि आय-कर के विभाजन की कोई तात्कालिक व्यवस्था की जाय। समिति ने कहा कि वित्तीय एव प्रशासनिक कारणो से सामान्य स्टाम्प (geneeal stamps) को प्रान्तीय बना दिया जाए। समिति ने प्रारम्भिक अशदानो तथा प्रामाणिक अशदानो की एक योजना को सात वर्षो की अवधि मे लागू करने की सिफारिश की। प्रारम्भिक अशदानो (initial contributions) के हिसाब लगाने का आधार आय के स्रोतो के पृथक्करण के फलस्वरूप प्रत्येक प्रान्त की बढी हुई व्यय-शक्ति (spending power) को बनाया गया। प्रामाणिक अशदानो (standard contributions) के हिसाब के लिये प्रत्येक प्रान्त की उस क्षमता को आधार बनाया गया जिसका पता कई ऐसे तत्वो से लगाया जाता था जैसे कि जनसख्या, आय-कर की प्राप्तियाँ, कुछ आवश्यक पदार्थों का उपभोग और कृषि तथा उद्योगो से सम्बन्धित धन।

मैस्टन बन्दोबस्त की कई प्रान्तो, विशेषकर बम्बई तथा बगाल ने तीव्र आलोचना की। बम्बई ने कहा कि वह तो केन्द्रीय करो के माध्यम से पहले से ही केन्द्रीय राजस्व मे बहुत बडा अशदान दे रहा है। बगाल ने कहा कि स्थायी भूमि बन्दोबस्त (permanent lend settelment) के कारण उसकी आय का स्रोत बढा लोचहीन है और वह जूट पर लगे केन्द्रीय निर्यात कर के रूप मे केन्द्रीय राजस्व मे काफी बड़ा अशदान दे रहा है। इन प्रान्तो ने आय-कर का एक भाग देने की माँग की और बगाल ने यह दावा भी किया कि जूट पर लगाये गये निर्यात कर मे से उसे एक हिस्सा मिले मैस्टन समिति की सिफारिशें सन् १६१६ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत बने अधिकारान्तरण नियमो (devolution rules) मे कुछ संशोधनो के साथ सम्मिलित कर ली गई। अधिकारान्तरण नियम १४ व १५ के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि आय-कर की प्राप्तियों का एक भाग प्रान्तो को मिले। नियम १५ के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि किसी भी वर्ष की निर्धारित आय (assessed income) यदि सन् १६२०-२१ के वर्ष से अधिक होती है तो उस बढ़े हुए भाग के प्रत्येक रुपये मे से ३ पाई प्रान्तो को दी जाएं।

अंशदानों की समाप्ति (abolition of contributions)—वित्तीय सम्बन्धो का इस योजना की अनेक कारणो के आधार पर तीव्र आलोचना की गई। कहा गया कि प्रान्तो को सौंपे गये साधन लोचदार नही थे जबकि उनकी आवश्यकताओ का बराबर विस्तार हो रहा था। दूसरी ओर, अधिक लोचदार एव विस्तारशील साधन केन्द्र को सौप दिये गये थे जिसकी आवश्यकताएं अपेक्षाकृत स्थिर प्रकृति की थी। दूसरे, एक ओर जहाँ कृषि प्रधान प्रान्तो के साधनो मे भू-राजस्व

सरकार द्वारा ओटो नीमेयर की सिफारिशें स्वीकार कर ली गईं और उसी आधार पर केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच साधनों का बँटवारा कर दिया गया। वह बँटवारा अगस्त, १९४७ में देश के विभाजन तक बना रहा। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में केन्द्र सरकार के खर्च में वृद्धि हो जाने के कारण, सन् १९४०-४१ में यह निश्चय किया गया कि आय-कर के प्रान्तों के भाग में से ४५ करोड़ रु० की धनराशि केन्द्र को अपने पास रख लेनी चाहिए। यह व्यवस्था १९४५-४६ तक चलती रही।

देश विभाजन के पश्चात् किये गये समायोजन अथवा हेर-फेर (adjustments after partition)—अगस्त १९४७ में जब देश का विभाजन हुआ तो यह आवश्यक हो गया कि इन वित्तीय व्यवस्थाओं में कुछ रद्दो-बदल की जाए। आय-कर की प्राप्तियों में बंगाल तथा पंजाब को मिलने वाला भाग जनसंख्या के अनुपात में ही कम कर दिया गया और सिन्ध तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त के भाग पुनर्वितरण के लिए फिर कोष में मिला लिये गये। देश-विभाजन के कारण कुछ प्रान्तों का बचा हुआ कोटा भारतीय संघ के प्रान्तों में जनसंख्या के अनुसार फिर बाँट दिया गया और इस प्रकार प्रान्तों के भाग पुनः निर्धारित कर दिये गये। इन पुनः निर्धारण में कुछ परिवर्तन आसाम के पक्ष में और काफी परिवर्तन पश्चिमी बंगाल के पक्ष में हुआ। जूट पर निर्यात कर के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि चूँकि जूट के उत्पादन में काफी क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये हैं अतः जूट, निर्यात करों में प्रान्तीय भाग ६२½ प्रतिशत से घटाकर २० प्रतिशत कर दिया जाय। *किन्तु प्रान्तों के बीच किये जाने वाले वितरण के आधार में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।*

(IV) चौथा काल : भारत का संविधान (Fourth Period : The Constitution of India) :

भारतीय संविधान में दी गई वित्तीय व्यवस्थाओं (financial provisions) का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है। ये व्यवस्थायें सार रूप में वैसी ही हैं जैसी कि सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की व्यवस्थायें थीं। संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार, प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात् एक वित्त आयोग (finance commission) की नियुक्ति की जानी थी। यदि राष्ट्रपति चाहे तो यह नियुक्ति इस अवधि से पूर्व भी हो सकती है। आयोग को कई मामलों पर विचार करना होता है जैसे कि आय-कर तथा अन्य करों को सौंपा जाने वाला भाग, राज्यों के भाग का उनके बीच वितरण, और राज्यों की सहायक अनुदानों की अदायगियाँ। इन मामलों पर विचार करने के बाद आयोग को राष्ट्रपति के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होती है। इन मामलों पर आयोग द्वारा दी गई सिफारिशों पर विचार करने के पश्चात् ही सरकार इस सम्बन्ध में निर्णय करती है।

१९५० का देशमुख-निर्णय (The Deshmukh Award, 1950)—वित्त आयोग की स्थापना चूँकि एकदम न की जा सकी अतः सरकार ने श्री डी० सी० देशमुख को आमन्त्रित किया और उनसे केन्द्र तथा राज्यों के बीच आय-कर के विभाजन के प्रश्न पर विचार करने को कहा। *उनसे कहा गया कि वे राज्यों के बीच आय-कर के पुनः बँटवारे का निर्धारण करें* और इस बात का भी निर्णय करें कि जूट उत्पन्न करने वाले राज्यों को जूट निर्यात करके उनके हिस्से के बदले में कितना अनुदान दिया जाए। उन्होंने ओटो नीमेयर द्वारा प्रस्तावित बँटवारे के मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया, अपितु उनमें केवल ऐसे हेर-फेर किये जो कि देश का विभाजन के कारण आवश्यक हो गये थे। सिन्ध, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, तथा पंजाब व बंगाल के कुछ भाग पाकिस्तान में चले जाने के कारण आय-कर के प्रान्तीय भाग का १४.५ प्रतिशत भाग पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध था। उन्होंने इस प्रतिशत को शेष प्रान्तों में जनसंख्या के आधार पर पुनः वितरित कर दिया। यद्यपि अपेक्षाकृत कुछ छोटे प्रान्तों का अधिक ध्यान रखा गया। उन्होंने सुझाव दिया कि जूट उत्पन्न करने वाले राज्यों को जूट पर निर्यात करके उनके भाग के बदले में कुछ अनुदान दिये जायें। देशमुख-निर्णय सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया। परन्तु यह केवल एक अन्तरिम व्यवस्था (interim arrangement) थी जो कि केवल उस समय तक ही जारी रहनी थी जब तक कि वित्त आयोग की नियुक्ति की जाए और आयोग केन्द्र तथा राज्यों के बीच साधनों के बँटवारे के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कर दे।

व्यवस्था की गई। इनमे से कुछ कर ऐसे थे जो पहले कभी नही लगाये गये अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय विधान-मण्डल को ऐसे करो के लगाने का अधिकार मिल गया। केन्द्रीय विधान-मण्डल को इस बात का भी अधिकार मिल गया कि वह केन्द्रीय कार्यों के लिए उन करो पर अधिभार (surcharges) लगा सके जो कि यह प्रान्तो के लिए लगाता है। इसके अतिरिक्त, अधिनियम मे उन प्रान्तो को सहायक अनुदान देने की व्यवस्था की गई जिन्हे सहायता की आवश्यकता हो।

सर ओटो नीमेयर द्वारा जांच (१६३६) (Enquiry by Sir Otto Niemeyer 1936)—सन् १६३६ मे केन्द्र तथा प्रान्तो के बीच वित्तीय सम्बन्धो की जांच करने के लिए सर ओटो नीमेयर (Sir Otto Niemeyer) की नियुक्ति की गई और उनसे कहा गया कि निम्न मामलो की जांच कर उस सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट दें : आय-कर तथा जूट निर्यात कर की प्राप्तियो का केन्द्र द्वारा प्रान्तो को दिया जाने वाला भाग, सहायक अनुदानो की अदायगी और प्रान्तीय सरकारो की केन्द्र के प्रति वर्तमान देयतायें (liabilities)।

सिफारिशें (Recommendations)—नीमेयर ने सिफारिश की कि आय-कर की शुद्ध प्राप्तियो (net reciepts) का ५० प्रतिशत भाग प्रान्तो को दिया जाना चाहिए। विभिन्न समस्याओ का अध्ययन करने के पश्चात् आय कर के प्रान्तीय हिस्से की धनराशि को विभिन्न प्रान्तो के मध्य वितरित करने के विषय मे उन्होने यह सुझाव दिया कि यह वितरण आशिक रूप से तो प्रत्येक प्रान्त मे किय गये आय-कर के सग्रह के आधार पर किया जाना चाहिए और आशिक रूप से जनसख्या के आधार पर। इस आधार पर उन्होने सुझाव दिया कि प्रान्तो के बीच आय-कर की प्राप्तियो का वितरण निम्न निर्धारित प्रतिशतो के अनुसार किया जाना चाहिए —

प्रान्त	प्रतिशत
मद्रास	१५
बम्बई	२०
बगाल	२०
सयुक्त प्रान्त (U. P.)	१५
पजाब	८
बिहार	१०
मध्य प्रान्त (C P.)	५
आसाम	२
उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त	१
उड़ीसा	२
सिन्ध	२
	१००

नीमेयर ने यह भी सिफारिश की कि यदि आय-कर के केन्द्रीय भाग की धनराशि तथा रेलो के अशदान की धनराशि मिलाकर वर्ष मे १३ करोड रु० से कम रह जाए तो केन्द्र पहले पांच वर्षो मे उस कमी के बराबर रकम आय-कर के प्रान्तीय भाग मे से अपने पास रोक सकता है। यह रोकी हुई धनराशि केन्द्र द्वारा अगले पांच वर्षो मे प्रान्तो को लौटा दी जानी चाहिए।

उन्होने प्रस्ताव किया कि जूट निर्यात कर की निबल प्राप्तियो का ६२½ प्रतिशत भाग जूट उत्पन्न करने वाले प्रान्तो मे बांट दिया जाना चाहिए। उन्होंने सयुक्त प्रान्त (U. P.) तथा आसाम जैसे कुछ प्रान्तो को कुछ वार्षिक अनुदान देने की भी सिफारिश की।

सामान्य योजना के अग के रूप मे सर ओटो नीमेयर ने सुझाव दिया कि बगाल, बिहार, आसाम उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त और उड़ीसा पर केन्द्र के अप्रैल, १६३६ से पहले के जो ऋण हैं उन्हें समाप्त कर दिया जाए और मध्य प्रान्त (C. P) के बकाया ऋणों मे कमी की जाय।

दिये गये वक्तव्य में भी पाया जाता है। स्मिथ का कहना था 'प्रत्येक राष्ट्र के सदस्यों को सरकार की सहायता के लिए यथासम्भव अपनी सापेक्षिक सामर्थ्य के अनुपात में, अर्थात् उस आय के अनुपात में जो वे सरकारी सरक्षण में प्राप्त करते हैं, धन देना चाहिए। एक बडे राष्ट्र के निवासियों के लिए सरकार द्वारा किये जाने वाले खर्चे लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि एक बडी जायदाद के उन सयुक्त किरायेदारों की प्रबन्ध सस्था के खर्चे होते हैं जोकि उस सम्पदा अथवा जायदाद में अपने-अपने सम्बन्धित हितों के अनुपात में अशदान देने को बाध्य होते हैं। इस सिद्धान्त के पालन में ही कराधान की समानता (equality of Taxation) और उनकी उपेक्षा में कराधान की असमानता निहित है।"[5]

एडम स्मिथ के इस कथन का यदि सूक्ष्म अध्यापन किया जाय, तो ज्ञात होगा कि उसने इसमें सामर्थ्य (ability) तथा लाभ (benefit) दोनों ही दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है। दोनों ही दृष्टिकोणों के इस विचित्र सयोग से सार्वजनिक वित्त के अनेक लेखक भ्रम में पड गये है और उनका यह विचार बन गया है कि स्मिथ ने कराधान के सामर्थ्य सिद्धान्त (ability principle of taxation) की वकालत की है। परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि स्मिथ ने अपनी पुस्तक में प्रारम्भ से अन्त तक हितानुसार सिद्धान्त का ही उल्लेख किया है। अपनी पुस्तक "राष्ट्रों का धन" (wealth of Nations) के पाँचवें भाग के अन्त में उसने यह स्पष्ट रूप में कहा है कि सरकारी व्यय का बँटवारा, जहाँ भी सम्भव हो सके, प्राप्त लाभों अथवा हितों के अनुसार किया जाना चाहिए, और केवल उन मामलों में, जिनमें कि सरकारी व्यय को लाभ के आधार पर विभाजित न किया जा सके, सामान्य अशदान की रीति अपनानी चाहिए। एडम स्मिथ ने ऐसी सेवाओं का भी उल्लेख किया है जिन्हें कि राज्य व्यक्तियों के लिये उपलब्ध कराता है तथा व्यक्ति स्वय जिनकी व्यवस्था नही कर सकते। इन सेवाओं से चूँकि प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित होता है अत प्रत्येक को इन सेवाओं को बनाये रखने की लागत में अपना अशदान (Contribution) देना चाहिये। परन्तु चूँकि ऐसा कोई व्यावहारिक तरीका नही था जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले लाभ को मापा जा सके तथा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्रदान की जाने वाली लागत की धनराशि का निर्धारण किया जा सके, अत स्मिथ ने कराधान के एक सामान्य नियम का उल्लेख किया, अर्थात् यह कि "व्यक्तियों पर उनकी सापेक्षिक सामर्थ्य के अनुपात में कर लगाये जायें, अर्थात् उस आय के अनुपात में जोकि वे क्रमश राज्य के संरक्षण में प्राप्त करते है।" इस प्रकार एडम स्मिथ ने कमजोर हितानुसार सिद्धान्त को सहारा टेक देने के उद्देश्य से ही सामर्थ्य-तत्व (ability element) का उल्लेख किया था।

केवल १६ वी शताब्दी में ही ऐसा हुआ कि लेखकों ने राज्य के कार्यों की सचित व्याख्या की। मैकुलोच (McCulloch), थीयर्स (Thiers) तथा अन्य लेखकों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि चूँकि कर सरकारी सरक्षण के लिये अदा की जाने वाली एक किश्त (Premium) है, अत. सरकारी सेवाये भी केवल उन्ही कार्यों तक सीमित रहनी चाहिये जिनसे सरक्षण प्राप्त होता हो। इस प्रकार, जैसा कि मसग्रेव (Musgrave) ने उचित ही लिखा है, "हितानुसार सिद्धान्त का यह रचनात्मक नाभिक रूप (constructive nucleus form), कि नागरिक कर जिन सरकारी सेवाओं को भी प्राप्त करना चाहे उन्हे चुन लें और उनके लिये अदा करें, कराधान के बीमा

---

5 Adam Smith *Wealth of Nation*, Vol, II, p, 310, "The subjects of every state ought to contribute towards the support of the government as nearly as possible in proportion to their respective abilities, that is, in proportion to the revenue which they respectively enjoy under the protection of the state The expense of the government to the individuals of a great nation is like the expense of management to the joint tenants of a great estate who are all obliged to contribute in proportion to their respective interests in the estate In the observation or neglect of this maxim consists what is called the equality of taxation."

भूतपूर्व भारतीय रियासतों का वित्तीय एकीकरण (financial integration of former Indian states)—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के दो वर्ष के अन्दर ही, समस्त भारतीय रियासतें या तो पड़ोसी प्रान्तों मे विलीन हो गई, या कुछ रियासतो को मिला कर उनकी बड़ी इकाई बना दी गई, अथवा केन्द्रशासित प्रदेशो मे मिल गई । इस राजनैतिक एकीकरण के पश्चात् वित्तीय एकीकरण (financial integration) भी आवश्यक हो गया । परिणामस्वरूप, अक्टूबर १९४८ में इस समस्या पर विचार करने के लिए, श्री वी० टी० कृष्णामाचारी की अध्यक्षता में एक भारतीय राज्य वित्त जांच समिति (Indian State Finances Enquiry Committee) की स्थापना की गई । समिति की सिफारिशें कुछ संशोधन के साथ स्वीकार कर ली गई । इन सिफारिशो के आधार पर ही भारत सरकार तथा राज्यो की सरकारो के बीच वित्तीय ठहराव (financial agreement) सम्पन्न हुए ।

एकीकरण के परिणामस्वरू , केन्द्र ने इन रियासतो की परिसम्पत्तियो (assets) तथा देयताओ (liabilities) सहित सविधान के संघ-सूची मे आने वाले सभी विषय तथा सभी सेवाएं उनसे ले ली । यह तय हुआ कि केन्द्र राज्यो को 'राजस्व पूरक अनुदान' दे । अनुदान की मात्रा उस धनराशि के बराबर होनी चाहिए जो कि सघ सूची के विषय राज्यो से ले लेने के बाद उनको होने वाली राजस्व की हानि मे से खर्च की उस बचत को घटाने के बाद शेष बचे जो (बचत) वित्तीय एकीकरण के फलस्वरूप कुछ विषयो तथा सेवाओ को केन्द्र को सौंप देने के कारण उन्हे हुई हो । यह तय हुआ कि वित्तीय एकीकरण से एकदम पूर्व की अवधि को इस धनराशि की गणना का आधार बनाया जाए । यह व्यवस्था की गई कि सघ सरकार राज्यो को होने वाली इस हानि की पाँच वर्ष तक तो पूर्ण रूप से पूर्ति करेगी और अगले पाँच वर्षों तक क्रमश घटती दरो से । इस प्रकार दस वर्ष पश्चात् अनुदान की मात्रा प्रारम्भिक राशि की ६० प्रतिशत होगी । भाग 'ब' के राज्यो को भी भाग 'अ' के राज्यो के समान ही आय-कर जैसे केन्द्रीय राजस्व के विभाज्य स्रोतो (divisible sources) मे हिस्सा मिलेगा इन राज्यो को केन्द्रीय राजस्व मे उनका भाग 'राजस्व पूरक अनुदान' में जो भी अधिक होगा, वही दिया जायगा ।

राज्यो के लिए इस परिवर्तन को सरल एव सुविधाजनक बनाने के लिए, यह व्यवस्था की गई कि इनकी आय-कर की दरें कुछ वर्षो मे शन: शनैं भारतीय दरो के स्तर तक ले आई जाएं और एकीकरण से पूर्व जो राज्य सीमा-शुल्क लगाते थे उन्हे कुछ वर्षों तक अन्तर्राज्यीय यातायात शुल्क (inter-state transit duties) लगाने की अनुमति दे दी जाए ।

भूतपूर्व भारतीय रियासतो को भाग 'अ' के राज्यो मे मिला देने के कारण इन राज्यो मे जो वित्तीय अल्प-व्यवस्तता उत्पन्न हुई उसका समाधान भी उसी प्रकार किया गया जैसा कि भाग 'ब' के राज्यो की स्थिति मे किया गया था उन्हे 'राजस्व पूरक अनुदान' अथवा विलीन (merge) हुए क्षेत्रो के सम्बन्ध मे आयकर का भाग, जो भी अधिक हो, दिया गया ।

संविधान के अन्तर्गत वित्तीय सम्बन्ध
(Financial Relations under the Constitution)

भारत के सविधान मे विभाजन का जो प्रतिरूप निर्धारित किया गया है वह १९३५ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा निर्धारित प्रतिरूप (pattern) से काफी मेल खाता है । हमने देश मे सघीय ढांचे की प्रशासन व्यवस्था लागू की है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत सघ तथा राज्यो के कार्यों एव आय के स्रोतो के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाता है परन्तु अवशिष्ट शक्तियां (residual powers) केन्द्र मे ही निहित होती है । यद्यपि कुछ कर ऐसे हैं जो राज्यो को सौंप दिये गये है और राज्यो द्वारा ही लगाये तथा वसूल किये जाते है, किन्तु राज्यो को कुछ सघीय करो की आय का भाग भी दिया जाता है । इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य कर ऐसे भी हैं जो सघ सरकार द्वारा लगाये जाते हैं तथा उसी के द्वारा वसूल किये जाते है परन्तु उनकी प्राप्तियां पूरी की पूरी राज्यो को सौप दी जाती हैं । फिर, राज्यो को केन्द्र से सहायक अनुदान प्राप्त होते है, इससे भी दो स्तरो की सरकारो के बीच हस्तान्तरित होने वाली धनराशि मे वृद्धि होती है । केन्द्र सरकार की ओर से राज्यो की ओर को साधनो का स्थानान्तरण वर्तमान वित्तीय व्यवस्था का एक अनिवार्य लक्षण है ।

कार्यों का विभाजन (Division of Functions) :

भारत मे, केन्द्र और राज्यों के बीच कार्यो का विभाजन किया गया है, वह क्रमिक विकास की काफी लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। प्रान्तो को कार्य सौंपने का क्रम पिछली शताब्दी के मध्य के पश्चात् आरम्भ हुआ और कार्यों के इस विभाजन मे सुधार करने के लिए समय समय पर परिवर्तित होते रहे। सविधान के अनुसार, वर्तमान मे कार्यो का जो विभाजन किया गया है वह काफी मात्रा मे वैसा ही है जैसा कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत किया गया था। भारत मे केन्द्र तथा राज्यो के बीच कार्यों एव शक्तियो का त्रिमुखी विभाजन किया गया है। कुछ कार्य तो ऐसे हैं जो पूर्णतया सघ सरकार को सौपे गये हैं, कुछ पूर्णतया राज्य सरकार को सौपे गये हैं और कुछ कार्य ऐसे हैं जो सघ तथा राज्य सरकारो के समवर्ती क्षेत्राधिकार (concurrent jurisdiction) मे आते हैं। यद्यपि कार्यों की विस्तृत सूचियां बना दी गई हैं किन्तु फिर भी कोई अवशिष्ट शक्तियां (residuary powers) हो तो वह सघ सरकार के ही क्षेत्र में आती हैं।

सघ सरकार की सूची मे निम्न कार्य सम्मिलित है प्रतिरक्षा, सशस्त्र सेनाएँ, विदेशी मामले, जहाजरानी, नौ-चालन तथा विमान चालन, राष्ट्रीय सडक मार्ग, डाक व तार, टेलीफोन प्रसारण (broadcasting), वेतार का तार तथा सचार के अन्य साधन, मुद्रा तथा सिक्का-ढलाई बैंकिंग तथा बीमा, विदेशी व्यापार तथा वाणिज्य, विदेशी विनिमय तथा कर्ज अन्तर्राज्यीय व्यापार व वाणिज्य, समुद्री सीमा से बाहर मछली पकडना तथा मछली पकडने के क्षेत्र, जनगणना (census) और सघ व राज्यो के खातो का लेखा परीक्षण (audit) राज्य की सूची मे सम्मिलित कार्य इस प्रकार हैं पुलिस, सार्वजनिक व्यवस्था, पणक्रिया अथवा बाजी (betting) और जुआ, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, अस्पताल तथा दवाखाने, अपगों तथा बेरोजगारो की सहायता, शिक्षा, सडकें तथा पुल, कृषि तथा सिंचाई, वन, और अन्तर्राज्यीय व्यापार व वाणिज्य। समवर्ती सूची (concurrent list) मे जो विषय सम्मिलत किये गये हैं वे इस प्रकार है फौजदारी कानून (criminal-law), दिवालियापन (bankruptcy) तथा शोध क्षमता या भुगतान की असमर्थता (insolvency) आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन, श्रम-कल्याण, सामाजिक सुरक्षा (social security) तथा सामाजिक बीमा, औद्योगिक एव श्रम-विवाद, मूल्य-नियन्त्रण तथा खाद्य-पदार्थों व अन्य वस्तुओ मे मिलावट। कार्यों का विभाजन बडी सावधानी से किया गया है और ऐसा करते समय भारत तथा ऐसे अन्य देशो के पिछले अनुभवो से लाभ उठाया गया है जहां कि सघीय व्यवस्था लागू है। परन्तु कार्यों के किसी भी विभाजन को अन्तिम एव पूर्ण नही माना जा सकता है क्योंकि परिस्थितियां बदलने के साथ ही साथ कार्यों के वितरण मे भी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

साधनों का विभाजन (Division of Resources)

भारतीय सविधान (Indian constitution) के अन्तर्गत सघ तथा राज्य सरकारो के बीच राजकोषीय शक्तियां (fiscal powers) का स्पष्ट विभाजन किया गया है। शक्तियों का वर्गीकरण करते समय जो सिद्धान्त अपनाया गया है वह यही है कि अन्तर्राज्यीय आधार (interstate base) वाले कर तो सघ सरकार द्वारा लगाये जाते हैं और स्थानीय आधार (local base) वाले कर राज्य सरकारो द्वारा। अवशिष्ट शक्तियां (residuary powers) सघ सरकार के पास ही रहती है।

सविधान के अन्तर्गत, कुछ सघीय करो की आय राज्यो के बीच बांटे जाने की भी व्यवस्था की गई है। अत: सघीय क्षेत्राधिकार (union jurisdiction) के अन्तर्गत आने वाले करो को चार वर्गों मे बांटा जा सकता है · एक तो वे कर जो कि सघ सरकार द्वारा लगाये तथा वसूल किये जाते हैं और उसी के द्वारा रख लिये जाते है, दूसरे वे कर जो लगाये तथा वसूल तो सघ सरकार द्वारा किये जाते है किन्तु उनकी प्राप्तियां राज्यो मे भी बांटी जाती है, तीसरे वर्ग मे वे कर आते हैं जो सघ सरकार द्वारा लगाये जाते है किन्तु उनकी सम्पूर्ण प्राप्तियां राज्यो को सौप दी जाती हैं, चौथे प्रकार के कर वे है जो सघ सरकार द्वारा लगाये जाते है किन्तु वसूल राज्य सरकारो द्वारा किये जाते है तथा उन्ही के द्वारा रख लिये जाते है।

संविधान की सातवीं अनुसूची की प्रथम तालिका (List Ist of the Seventh Schedule) मे जिन सघीय करो का उल्लेख किया गया है, वे निम्न हैं :—

(१) कृषि-आय को छोडकर अन्य आमदनियो पर कर,
(२) निगम-कर (Corporation tax),
(३) सीमा शुल्क (Customs duties),
(४) मद्य तथा नशीली वस्तुओं (बशर्ते कि ये औषधियो अथवा शृंगार प्रसाधनो मे न मिलाये गये हो) को छोडकर अन्य वस्तुओ पर उत्पादन शुल्क,
(५) कृषि-भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्तियो पर आस्तिकर (estate duty) तथा उत्तराधिकार कर (successions duties),
(६) व्यक्तियो तथा कम्पनियो की कृषि-भूमि को छोडकर अन्य परिसम्पत्तियो (assets) के पूँजीगत मूल्यो पर कर,
(७) वित्तीय दस्तावेजो (financial documents) पर स्टाम्प शुल्क की दरे,
(८) स्टाम्प शुल्क को छोडकर शेयर बाजारो (stock exchangs) तथा वायदा बाजारो (future markets) के सौदो पर कर,
(९) समाचार-पत्रो के क्रय-विक्रय तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापनो पर कर,
(१०) रेल-भाडो तथा किरायो पर कर,
(११) रेल, समुद्र तथा वायु मार्ग द्वारा आने जाने वाले माल तथा यात्रियो पर सीमान्त कर अथवा चुंगी,
(१२) अन्तर्राज्यीय व्यापार के सदर्भ मे वस्तुओ के क्रय विक्रय पर कर।

सातवीं अनुसूची की द्वितीय तालिका (List 2nd of the Seventh Schedule) मे दिये गये राज्य-सूची के करो का विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) भू-राजस्व (land revenue),
(२) समाचार-पत्रो को छोडकर अन्य वस्तुओं के क्रय विक्रय पर कर,
(३) कृषि-आय पर कर,
(४) भूमि तथा भवन पर कर,
(५) कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार तथा आस्ति कर,
(६) मद्य तथा नशीले पदार्थों पर कर,
(७) स्थानीय क्षेत्र मे वस्तुओ के प्रवेश पर कर,
(८) ससद द्वारा लगाये प्रतिबन्धो के अन्तर्गत, खनिज अधिकारों पर कर,
(९) बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर,
(१०) गाडियो, पशुओ तथा नावो पर कर,
(११) वित्तीय दस्तावेजो को छोडकर अन्य प्रपत्रो पर स्टाम्प शुल्क,
(१२) सडक तथा आन्तरिक जलमार्ग द्वारा आने जाने वाले माल तथा यात्रियो पर कर,
(१३) मनोरजन बाजी (betting) तथा द्यूतक्रिया (gambling) सहित विलासिताओ पर कर,
(१४) पथ कर अथवा चुंगी (tolls),
(१५) वृत्तियो, व्यापारो, पेशो तथा रोजगार पर कर,
(१६) व्यक्ति कर (capitation tax),
(१७) समाचार पत्रो के विज्ञापनो को छोडकर अन्य विज्ञापनो पर कर,

जिन करो का उल्लेख राज्य-सूची (state list) अथवा समवर्ती सूची (concurrent-list) मे नही किया गया है उन्हे लगाने का पूर्ण अधिकार सघ सरकार को प्राप्त है। संघ तथा राज्य सरकारो को इस सम्बन्ध मे समवर्ती अधिकार प्राप्त है कि वे ऐसे सिद्धान्तो का निर्धारण कर जिनके आधार पर मोटर गाडियो पर कर लगाये जा सके तथा गैर-अदालती टिकटो पर स्टाम्प

शुल्क लगाये जा सकें। सघ सरकार की सम्पत्ति राज्यीय करो से मुक्त रहती है और राज्यों की सम्पत्ति तथा आय सघीय करो से मुक्त रहते हैं। तथापि, यह ससद चाहे तो ऐसा कानून बना सकती है जिसके द्वारा सघ सरकार राज्य की किसी भी ऐसी व्यापारिक अथवा व्यावसायिक क्रिया पर कर लगा सकती है जो सरकार के सामान्य कार्यों की परिधि से बाहर हो। राज्य भी यदि चाहे तो कर लगाने के अपने कुछ अधिकार केन्द्र सरकार को हस्तान्तरित कर सकते हैं, जैसा कि कृषि-भूमि के सम्बन्ध मे हुआ है और अनेक राज्यो मे इसे आस्ति-कर अधिनियम (estate duty act) की परिधि मे सम्मिलित कर दिया गया है। अन्तर्राज्यीय व्यापार से सम्बन्धित वस्तुओ की बिक्री अथवा खरीद पर कर *लगाने का पूर्णाधिकार ससद (parliament) को प्राप्त है।*

केन्द्रीय राजस्व का बंटवारा तथा आवंटन (Distribution and Association of Central Revenue)

सविधान के अनुसार कुछ कर राज्यो द्वारा लगाये जाते हैं तथा उन्ही के द्वारा वसूल किये जाते है परन्तु इसके अलावा सघ सूची मे कुछ कर ऐसे भी हैं जिनकी प्राप्तियाँ पूर्णत राज्यो मे बाँट दी जाती हैं। ऐसे करो को कई वर्गों मे बाँटा जाता है। सर्वप्रथम, कुछ ऐसे कर होते हैं जो सघ (union) द्वारा लगाये जाते हैं परन्तु राज्यो द्वारा एकत्र किये जाते हैं तथा उन्ही के द्वारा रख लिये जाते है। ऐसे करो मे स्टाम्प शुल्क तथा मद्य अथवा नशीले पदार्थों से युक्त औषधियो पर लगाये जाने वाले उत्पादन शुल्क सम्मिलित हैं। दूसरे वर्ग मे, कुछ ऐसे कर आते है जो सघ सरकार द्वारा लगाये तथा एकत्र किये जाते है परन्तु उनकी सारी प्राप्तियाँ ससद द्वारा निर्धारित अनुपात मे *राज्यो को सौप दी जाती है। ये कर है—उत्तराधिकार कर तथा आस्ति कर, वस्तुओ तथा यात्रियो* पर सीमान्त कर, रेल-भाडा अथवा किरायो पर कर, शेयर बाजारो तथा वायदा बाजारो के सौदो पर कर और समाचार-पत्रो के क्रय-विक्रय तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापनों पर कर। इनमे कृषि भूमि के अलावा अन्य सम्पत्ति पर लगने वाले आस्ति-करो की प्राप्तियो मे से सघ शासित क्षेत्रो का १ प्रतिशत भाग निकाल कर शेष भाग वित्त आयोग की सिफारिशो के आधार पर राज्यो मे बाँट दिया जाता है। रेल किरायो पर कर सन् १९५७ मे लगाया गया था परन्तु १९६१ मे समाप्त कर दिया गया। इस अवधि के बीच इन करो की प्राप्तियाँ प्रत्येक राज्य के क्षेत्रो मे रेलो की सवारी यात्रा की निबल प्राप्तियो के अनुमानो के आधार पर बाँट दी जाती थी। कर की समाप्ति के पश्चात् मे, राज्यो के बीच प्रति वर्ष १२.५ करोड रु० की राशि, जो कि सन् १९५८-५९ तथा १९५९-६० के वास्तविक कर-सग्रह की सूचक है, इस आधार पर बाँट दी जाती है जिससे कि प्रत्येक राज्य को पूर्वस्तर पर रखा जा सके। तीसरे वर्ग, के करो मे, निगम कर को छोड़कर आय पर लगने वाले केन्द्रीय कर, केन्द्र सरकार की उपलब्धियाँ (emoluments) पर अदा किये जाने वाले कर तथा कुछ सघीय उत्पादन कर सम्मिलित हैं। ये कर सघ सरकार द्वारा लगाये तथा एकत्र किये जाते है परन्तु उनकी कुछ प्राप्तियाँ निर्धारित रीति के अनुसार राज्यो मे भी बाँटी जाती है। मिल के बने सूती वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर लगने वाले राज्यीय बिक्री कर के स्थान पर, सन् १९५७ मे इन वस्तुओ पर सघ सरकार द्वारा लगाये जाने वाले अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क की पूरी की पूरी प्राप्तियाँ राज्यो के बीच इस प्रकार बाँट दी जाती हैं जिससे कि उन्हें उतनी आय अवश्य प्राप्त हो सके जितनी की भूतपूर्व बिक्री कर से होती थी।

सहायक अनुदान (Grants-in-Aid)

चूँकि महत्वपूर्ण कल्याण एव विकास सम्बन्धी कार्य राज्यो को सौंपे गये है, अतः उनकी आय तथा खर्च के बीच की खाई को केन्द्र से राज्यो को साधनो का हस्तान्तरण करके पाटना होता है। यह कार्य अशत तो करो की प्राप्तियो के बंटवारे द्वारा किया जाता है। परन्तु सघ सरकार द्वारा विशिष्ट अथवा सामान्य कार्यों के लिए राज्यो को दिए जाने वाले सहायक अनुदानो ने भी भारत मे केन्द्र तथा राज्यो के वित्तीय सम्बन्धो मे महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इन अनुदानों से एक और उद्देश्य की भी पूर्ति होती है और वह यह कि राज्यो के बीच साधनो की जो विषमताएँ होती हैं वे इनके द्वारा दूर हो जाती है। इनसे जहाँ राज्यो पर केन्द्र का कुछ नियन्त्रण लागू करने मे मदद मिलती है वहाँ अनिवार्य कल्याण-सेवाओ तथा विकास कार्यक्रमो के सम्बन्धो मे विभिन्न राज्यो के बीच समन्वय (co-ordination) स्थापित करना भी सभव हो जाता है।

ऋण (Loans)

राज्यों को बाजार से ऋण लेने का अधिकार प्राप्त होता है किन्तु राज्य संघ सरकार से भी ऋण लेते हैं। जब केन्द्र सरकार राज्यों को ऋण देती है तो राज्यों के ऋण तथा खर्च पर इसका कुछ नियन्त्रण भी स्थापित हो जाता है। पिछले कुछ वर्षों में राज्यों द्वारा केन्द्र से ऋण लेने की दर प्रतिवर्ष बढ़ी है। अन्य कार्यों के साथ ही साथ उधार (borrowing) सिंचाई तथा नदी कार्यक्रमों, कृषि के विकास, पुनर्वास (rehabilitation), सामुदायिक विकास तथा औद्योगिक आवास के लिये भी लिये जाते हैं। राज्य भी केन्द्र सरकार के पास कुछ राजकीय तथा स्थानीय निधियाँ जमा करते है। यह एक प्रकार से केन्द्र को दिया जाने वाला एक ऋण होता है जिसका उपयोग फिर सामान्य कार्यों एव उक्त उद्देश्यों के लिए किया जाता है।

केन्द्र द्वारा हस्तान्तरित किये जाने वाले साधन (Resources Transferred)

राज्यों के साधनो मे केन्द्रीय अशदानो की महत्ता अग्र तालिका[1] से स्पष्ट हो जाती है जिसमे कि कुछ चुने हुए वर्षों के मुख्य-मुख्य हस्तान्तरण दिखाये गये हैं :—

ये आँकड़े बतलाते हैं कि राज्यो के साधनो मे केन्द्र का अशदान बराबर बढ़ा है। केन्द्रीय हस्तान्तरण की कुल मात्रा प्रथम योजना से तृतीय योजना तक लगभग चौगुनी हो गई है। सबसे अधिक वृद्धि राजस्व मे से दिये जाने वाले अनुदानों में हुई है जो राज्यों की बढ़ती हुई राजस्व आवश्यकताओ (revenue requirements) की सूचक है। ऋणो मे भी काफी वृद्धि हुई है। करो मे, सघीय उत्पादन शुल्को के राज्य के भाग मे सबसे अधिक वृद्धि हुई है। इसका कारण यह है कि विभाज्य उत्पादन शुल्को की सूची मे वस्तुओ की सख्या मे वृद्धि हुई है। यह बात कि राज्य अधिकाधिक रूप मे केन्द्र पर निर्भर होते जा रहे है, इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि तृतीय योजना की अवधि मे केन्द्र द्वारा राज्यो को हस्तान्तरित कुल साधन राज्यो के कुल व्यय के ५२ प्रतिशत से भी ऊपर रहे।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

B. P. Adarkar : The Principles and Problems of Federal Finance.
Taxation Enquiry Commission, Vol. I pp. 8-14.
B. R. Misra : Indian Federal Finance.
Baljit Singh : Federal Finance and Under-developed economy.

UNIVERSITY QUESTIONS.

१ सघीय वित्त-व्यवस्था से क्या आशय है? भारत मे सघीय वित्त-व्यवस्था के उद्गम एवं विकास का सक्षेप मे वर्णन कीजिए।

What is ment by federal finance? Describe in brief the evolution of federal finance in India.

२ भारत मे सघीय वित्त के विकेन्द्रीयकरण के इतिहास का सक्षेप मे वर्णन कीजिए।

Describe in brief the history of decentralised federal finance in India.

३ भारतीय स्वशासन अधिनियम, १९३५ की प्रमुख बातें बतलाइये।

Mention the main elements of provincial Autonomy Act of 1935.

४. भारत मे राजकीय आय के साधन केन्द्रीय व राज्य सरकारो मे किस प्रकार विभाजित होते हैं? क्या यह विभाजन सन्तोषप्रद है?

How the financial resources are allocated between the centre and the states in India? Is it satisfactory?

---

1. Source : Reserve Bank of India Bulletin, May 1962.

तालिका—१

केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों को हस्तान्तरित किये जाने वाले साधन

(करोड़ रु० में)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	वार्षिक योजना (योग)	१९६९-७०	१९७०-७१	१९७१-७२	१९७२-७३	१९७३-७४
चालू और पूँजीगत खाते का राज्यों का कुल व्यय	३३५१ ९	५८४५ ९	१०,७१९ ५	९९१२ २	४०३९ १	४४६९ १	५३०५ ७	६३४६ ६	६७०१ १
विभाजित कर (Shared Taxes)	३५२ ५	७१० १	११९६·०	१२७९ ३	६२१ ७	७५५ ४	९४५ ०	१०६६ ०	११३६·०
केन्द्र से मिलने वाले अनुदान	२१४ ८	७०० ४	१३०२ ९	१३९९ ३	५३६ १	५७० १	९२३ ०	९५३ ९	८५३ ९
केन्द्र से मिलने वाले ऋण	६३७ ९	१०३७ ९	२११५ २	१४५२ ८	३९८ ३	३४६ ७	३५७ ०	७८६ ०	४७८·४
राज्यों को स्थानान्तरित किये गये साधनों की कुल धनराशि	१२०५ २	२४४८ ४	४६५० १	४१३४ ४	१५५६ १	१६७२ २	२२२५ ०	२८०५ ९	२४६८·०
कुल व्यय में प्रतिशत	३६ ०	४१ ७	४३ ४	४२ ५	३८ ५	३७ ४	४१ ९	४४ २	३६ ८

५. भारत मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के बीच आय के साधनों के विभाजन के सम्बन्ध मे सविधान के प्रावधानो का सक्षिप्त विवरण दीजिये ।

Give a brief account of the constitutional provisions regarding the allocation of resources between the Central and State Government in India.

६. भारत मे केन्द्र तथा राज्य सरकारो के वित्तीय सम्बन्धो की समीक्षा कीजिये ।

Discuss the nature of inter government financial relations in Indian.

७ क्या यह सत्य है कि भारतीय सविधान मे आय के अधिक लोचदार साधन केन्द्र के पास हैं जबकि कम लोचदार एव न बढ़न वाले साधन राज्यो के पास है ? उदाहरणो सहित विवेचन कीजिए।

Is it fact that in the Indian constitution the centre retains more elastic resources of revence whereas the states have been assigned less elastic and non expanding sources of revenue ? Discuss with examples.

८. एक सघ मे कराधान की शक्तियो का केन्द्र व राज्यो के बीच मे वितरण आप किस प्रकार करेंगे ? भारत मे कराधान शक्तियो का वितरण क्या आपकी आवश्यकताओं को पूरा करता है ।

How would you distribute the tax powers among the centre and the states in Federation ? Does the distribution of tax powers in India meet your needs ?

२१

भारतीय वित्त आयोग
(Indian Finance Commission)

प्रारम्भिक वित्त आयोग की आवश्यकता (Introduction-Need of Finance Commission)

किसी भी देश मे सघीय वित्त व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्र व राज्यो के मध्य साधनो क
बँटवारा करना कोई सरल कार्य नही होता। कभी तो यह बँटवारा केन्द्र के पक्ष मे हो जाता
और कभी यह बँटवारा राज्यो के पक्ष मे हो जाता है। यही नही, कभी-कभी ऐसा भी होता
कि राज्यो के बीच भी कुछ राज्यो के अधिक अनुकूल तथा कुछ के कम अनुकूल या प्रतिकूल य
बँटवारा हो जाता है जिसके कारण राज्यो व केन्द्र के सम्बन्ध खराब हो जाते हैं फिर एक दी हु
परिस्थितियो का आदर्श बँटवारा समय परिवर्तन तथा परिस्थितियो मे परिवर्तन होने के कार
अनुपयुक्त अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यद्यपि भारती
सविधान मे केन्द्र व राज्यो के बीच साधनो के बँटवारे के सम्बन्ध मे विस्तृत प्रावधान रखे गये
किन्तु फिर भी इस कार्य को अच्छे ढग से करने के लिए वित्त आयोग की स्थापना का प्रावधा
रखा गया है।

भारत मे वित्त आयोग की स्थापना एवं उसके कार्य (Establishment of Finance Commission in India and its Functions) भारतीय सविधान धारा २८० वं
व्यवस्थाओ के अन्तर्गत, राष्ट्रपति को वित्त आयोग की नियुक्ति करनी होती है। यह कार्य सविधा
के लागू होने के बाद दो वर्ष की अवधि मे और उसके पश्चात् प्रत्येक पाँच वर्ष के अन्त मे, अथव
यदि आवश्यक हो तो उससे पूर्व भी, वित्त आयोग की नियुक्ति करेंगे। इसके अध्यक्ष एव अन्
चार सदस्य होगे। आयोग का कार्य यह निश्चित किया गया कि वह निम्न मामलो के सम्बन्ध मे
राष्ट्रपति को अपनी सिफारिशे प्रस्तुत करे—(१) सघ तथा राज्यो के बीच उन करो की निवल
प्राप्तियो (net proceeds) का वितरण जो कि उनके बीच बाँटे जाते हैं, और ऐसी प्राप्तियो मे
प्रत्येक राज्य के हिस्से का निर्धारण, (२) उन सिद्धान्तो का निर्धारण, जिनके आधार पर सघ
सरकार के राजस्व मे से राज्यों को सहायक अनुदान दिये जा सकें, और (३) सघ तथा राज्यो
के वित्तीय सम्बन्धो को प्रभावित करने समझौतो को जारी रखना एव उनके आवश्यक सशोधन की
सिफारिश करना; तथा (४) देश के वित्तीय हित मे राष्ट्रपति द्वारा सूचित किये जाने पर किसी
अन्य विषय पर विचार करना। आयोग की नियुक्ति का इस दृष्टि से भी भारी महत्व है क्योकि
इसके द्वारा सघ तथा राज्यो के वित्तीय सम्बन्धो मे आवश्यकताओ तथा परिस्थितियो के अनुसार
ही परिवर्तन सम्भव हो जाता है। सविधान की इस व्यवस्था से वित्तीय सम्बन्धो मे जो लोच
उत्पन्न हुआ है उसका महत्व कम नही है।

संविधान के लागू होने के पश्चात् से अब तक सरकार द्वारा छः वित्त आयोगों की नियुक्तियाँ की जा चुकी है, अर्थात् सन् १९५१ मे, १९५६ मे, १९६० मे, १९६४ में, १९६८ मे और १९७२ मे। छठें वित्त आयोग के अध्यक्ष श्री के० ब्रह्मानन्द रेड्डी थे।

प्रथम वित्त आयोग
(First Finance Commission)

भारत के राष्ट्रपति ने २२ नवम्बर १९५१ को श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे प्रथम वित्त आयोग (First Finance Commission) की नियुक्ति की जिसने ३१ दिसम्बर, १९५२ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने राज्यो की इस माँग पर भी विचार किया कि केन्द्र द्वारा राज्यो को दिये जाने वाले अशदानो मे वृद्धि होनी चाहिए और अपनी सिफारिशे तीन सिद्धान्तो पर आधारित की। प्रथम, केन्द्र की ओर से साधनो का अतिरिक्त स्थानान्तरण इस प्रकार होना चाहिए कि देश की प्रतिरक्षा तथा आर्थिक स्थिरता (economic stability) जैसे महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध मे केन्द्र के उत्तरदायित्व को देखते हुए स्थानान्तरण का केन्द्र पर कोई अनुचित बोझ न पड़े और वह उस भार को उठा सके। दूसरे, राज्यो के बीच राजस्व के वितरण तथा सहायक अनुदानो के निर्धारण मे सभी राज्यो के सम्बन्ध मे एक से ही सिद्धान्त लागू किये जाने चाहिए। तीसरे, वितरण की योजना का उद्देश्य यह होना चाहिए कि विभिन्न राज्यों के बीच विद्यमान असमानतायें दूर हो जायें।

कर-आय का विभाजन तथा वितरण—आयोग ने सुझाव दिया कि आय-कर की निवल प्राप्तियो मे राज्यो का भाग ५० से ५५ प्रतिशत कर दिया जाना चाहिए। आयोग ने इस वृद्धि के दो कारण बताये एक तो यह कि राज्यो की आवश्यकताएँ अब बढ गई हैं और दूसरे आय-कर की प्राप्तियाँ अब भाग 'ब' के राज्यो मे भी बाँटी जानी थी। इन प्राप्तियो के $\frac{4}{5}$ भाग का वितरण राज्यों की जनसख्या के अनुसार और $\frac{1}{5}$ भाग का वितरण राज्यों द्वारा किये जाने वाले कर-सग्रह के आधार पर किया जाना चाहिए। आयोग ने कहा कि कुल प्राप्तियो मे प्रत्येक राज्य के प्रतिशत भाग का निर्धारण इसी आधार पर किया जाना चाहिए।

राज्यो को अधिक आय प्रदान करने की दृष्टि से, आयोग ने विभाजन के लिए तीन उत्पादन शुल्को (excise duties) को चुना, अर्थात् तम्बाकू (सिगरेट आदि सहित), दियासलाई तथा वनस्पति तेलो पर उत्पादन शुल्क। ये वस्तुये आम तथा विस्तृत उपभोग की वस्तुएँ हैं और इनसे काफी ठोस एव स्थिर आय प्राप्त होती है। आयोग ने सिफारिश की कि इन शुल्को की निवल प्राप्तियो का ४० प्रतिशत भाग राज्यो में बाँट दिया जाना चाहिए। प्रत्येक राज्य के भाग के निर्धारण के सम्बन्ध मे जनसख्या को आधार माना गया।

सहायक अनुदान (Grants-in-aid)—आयोग ने चार जूट उत्पन्न करने वाले राज्यो को जूट-निर्यात करके उनके भाग के बदले मे अधिक अनुदान देने की सिफारिश की। इस सम्बन्ध मे आयोग ने जिस धनराशि का सुझाव दिया, वह उस रकम पर आधारित थी जो कि जूट के सामान पर लगे निर्यात करके अपने भाग के रूप मे उन्होने १९४३ व १९५० के बीच प्राप्त की थी। आयोग ने सात राज्यो के लिए सामान्य सहायक अनुदानो की सिफारिश की। इन अनुदानो की राशि निर्धारण करते समय आयोग ने कई बातो को दृष्टिगत रखा, जैसे कि राज्यो की बजट सम्बन्धी आवश्यकताएँ, सामाजिक सेवाओ का स्तर, किसी राष्ट्रीय संस्था अथवा असाधारण प्रकृति के कार्य के सम्बन्ध मे राज्यो पर डाला गया विशेष दायित्व अथवा भार और राष्ट्रीय महत्व के कुछ मुख्य कार्य। आयोग ने आठ राज्यो मे प्राइमरी शिक्षा की सुविधाओ मे वृद्धि करने के लिए विशेष अनुदानो की भी सिफारिश की।

सरकार द्वारा इन सिफारिशो को स्वीकार करने के परिणामस्वरूप, राज्यो को मिलने वाले केन्द्रीय अशदान मे २१ करोड रु० की वृद्धि हुई। यह वृद्धि अशत: तो आय-कर के भाग द्वारा हुई और अशत हुई अनुदानो द्वारा।

आयोग ने अपनी सिफारिशें ऐसे समय मे दी जबकि राज्यो की आवश्यकतायें उनके राजस्व के स्रोतो के अनुपात से अधिक बढ रही थी। यह कारण था कि आयोग को केन्द्रीय

अंशदान बढ़ाना पड़ा। आयोग ने आय-कर के विभाजन के लिए जिस आधार (basis) को चुना, यह आवश्यक नहीं है कि वह सर्वोत्तम ही रहा हो, परन्तु किसी भी अन्य आधार को निश्चित करने के लिए चूँकि पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध नहीं थे, अत समस्या का यही एक मात्र व्यावहारिक हल था। आयोग की सिफारिशों की इस आधार पर आलोचना की जा सकती है कि अधिक उदारता के साथ दिये गये सहायक अनुदान राज्यों को नये साधनों की तलाश के प्रति हतोत्साहित और अपव्यय (waste) के लिये प्रोत्साहित करेंगे। तथापि, यहाँ हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि राज्यों की आवश्यकतायें तो वर्धमान प्रकृति (expanding nature) की थी किन्तु उनके आय के स्रोत अपेक्षतया लोचहीन थे, अत इस स्थिति मे केन्द्रीय अनुदान आवश्यक हो गये थे।

द्वितीय वित्त आयोग
(Second Finance Commission)

जून, १९५६ मे श्री के० सन्थानम की अध्यक्षता मे नियुक्त द्वितीय वित्त आयोग ने नवम्बर १९५६ मे अपनी अन्तरिम रिपोर्ट (interim report) प्रस्तुत कर दी जिसमे कि अन्तरिम रिपोर्ट के आने तक केन्द्र से राज्यों को साधनो का स्थानान्तरण सरलता से किया जा सके। अन्तरिम रिपोर्ट मे केवल कुछ ऐसे न्यूनतम परिवर्तनो का सुझाव दिया गया जो राज्यो का पुनर्गठन होने के कारण तथा जम्मू व कश्मीर का भारत के साथ वित्तीय एकीकरण होने के कारण आवश्यक हो गये थे। १९५७ मे आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट (final report) प्रस्तुत की। सरकार द्वारा रिपोर्ट के सम्बन्ध मे किये गये निर्णय सन् १९५७-५८ के वित्तीय वर्ष से लागू कर दिये गये।

करो का वितरण—जिन करो के बँटवारे के सम्बन्ध मे आयोग से सिफारिशें देने को कहा गया था, वे थ आय-कर, सघीय उत्पादन शुल्क, आस्ति कर, रेल किरायो पर कर और राज्यों द्वारा लगाये जाने वाले बिक्री कर के बदले मे कुछ वस्तुओ पर लगाये गये अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क।

आय-कर के सम्बन्ध म आयोग ने सिफारिश की कि इसकी निवल प्राप्तियो म से राज्यों को मिलने वाला भाग ५५ प्रतिशत से बढ़ाकर ६० प्रतिशत कर दिया जाना चाहिए। राज्यो मे वितरित की जाने वाली निवल प्राप्तियों का १० प्रतिशत भाग तो कर-सग्रह के आधार पर और ९० प्रतिशत भाग जनसख्या के आधार पर बांटने का प्रस्ताव दिया गया। आयोग का विचार था कि जनसख्या ही वितरण का एक मात्र आधार होना चाहिए परन्तु यह परिवर्तन शनै-शनै होना चाहिए। आयोग द्वारा राज्यो के प्रतिशत निर्धारित कर दिये गये।

सघीय उत्पादन शुल्को के सम्बन्ध मे, आयोग ने सघ तथा राज्यो के बीच बाँटे जाने वाले उत्पादन-शुल्कों की सूची मे कुछ वस्तुएँ और बढ़ा दी। बढ़ाई जाने वाली वस्तुएँ ये थीं: चीनी चाय काफी, कागज तथा वनस्पति के अनावश्यक तेल। उत्पादन करो की प्राप्तियो मे राज्यों के भाग को घटाकर २५ प्रतिशत करने की सिफारिश की गई। आयोग ने कहा कि राज्यो के भाग का प्रतिशत घटाने से उन्हे जो क्षति हुई है, विभाज्य उत्पादन-शुल्कों की सख्या मे वृद्धि होने से उस क्षति से भी अधिक पूर्ति राज्यो को प्राप्त हो जायेगी। आयोग ने सिफारिश की कि *इन करों के राज्यो के हिस्से का ९० प्रतिशत भाग तो जनसख्या के आधार पर* बाँटा जाना चाहिए और शेष का उपभोग समायोजन अथवा कमी बेशी के लिए करना चाहिए।

भारत मे आस्ति कर (estate duty) सन् १९५३ मे लगाया गया था। सविधान के उपलब्ध के अनुसार, यह कर सघ सरकार द्वारा लगाया जाना था और उसी के द्वारा सग्रह किया जाना था किन्तु उसकी प्राप्तियाँ राज्यो को सौंप दी जाती थी। विधान के बनने तक, इस कर की निवल प्राप्तियाँ (net proceeds) राज्यो के बीच उसी अनुपात मे दी जाती थी जिस अनुपात मे आय-कर का राज्यों का भाग बाँटा जाता था। आयोग ने इसके वितरण पर विचार किया और सिफारिश की कि इस कर की निवल प्राप्तियो का १ प्रतिशत भाग तो सघ शासित क्षेत्रो (union territories) को सौंप दिया जाना चाहिए। शेष प्राप्तियों के वितरण के आधार के रूप मे आयोग ने यह कहा कि यह कर अचल (immovable) तथा चल (movable) दोनो ही प्रकार की सम्पत्ति पर लगाया जाता है। अत इन दोनो के बीच कर की प्राप्तियाँ उन सभी सम्पत्तियो के कुल मूल्य

सिद्धान्त (insurance theory of taxation) की संकुचित सीमाओं मे विलीन हो गया था।[6] रिकार्डो ने सरकारी व्यय को इतना व्यर्थ तथा अनुपयोगी माना कि उसने लाभ अथवा हितानुसार दृष्टिकोण की पूर्णतया उपेक्षा की। अन्य अधिकांश यूरोपीय लेखकों का भी यही रवैया रहा।

हितानुसार सिद्धान्त तथा बाद के लेखक (Benefit Principle and later Writers) :

१९वी शताब्दी के अन्त मे, यूरोपीय लेखकों ने ही हितानुसार सिद्धान्त को फिर से जीवन प्रदान किया। अब करो को सरकारी सेवाओ के बदले मे दी जाने वाली एक कीमत माना जाने लगा और इस बात को साधनो मे कुशल बंटवारे की एक शर्त माना जाने लगा कि करों के रूप मे अदा की जाने वाली कीमत का निर्धारण प्राप्त किये जाने वाले लाभो के अनुसार किया जाए। कुछ लेखकों के अनुसार, चूंकि सरकारी सेवाओ के द्वारा साधन गैर-सरकारी उपयोगों से हटा लिये जाते हैं अतः बजट के कर तथा व्यय, दोनो ही पक्षों का निर्धारण संयुक्त रूप से किया जाना चाहिये। अन्यथा यह बता सकना सम्भव नही होगा कि सरकारी सेवाओं से जो लाभ प्राप्त किये गये हैं वे उन हानियों के बराबर भी हैं या नही जोकि अन्य आवश्यकताओ के असतुष्ट रहने के कारण हुई हों। इन मानो मे, राजस्व तथा व्यय की प्रक्रिया (revenue expenditure process) सामान्य सन्तुलन (general equilibrium) की वालरस की पद्धति (walrasian system) का एक अग बन जायेगी।

कुछ अन्य लेखको जैसे कि मेजोला (Mazzola) ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि प्रत्येक उपभोक्ता से यह मांग की जानी चाहिए कि वह उस सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) के बराबर कीमत अवश्य अदा करे जो कि वह सरकारी अधिकारियों द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवा से व्यक्तिगत रूप से प्राप्त करता हो। मेजोला (Mazzola) के अनुसार, सरकारी सेवाओ के मूल-निर्धारण की रीति उस रीति से भिन्न होनी चाहिये जो कि प्राइवेट रूप मे बाजार मे वस्तुओ के खरीदने के सम्बन्ध मे अपनाई जाती है। यदि सरकारी सेवायें भी सभी को एक ही कीमत पर बेची गईं, तो कुछ उपभोक्ता यह अनुभव करेंगे कि यह कीमत उस सीमान्त उपयोगिता से अधिक है जो कि उन्होंने उन सेवाओं से प्राप्त की है। अत सरकारी सेवायें विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न कीमतों पर उपलब्ध करानी होंगी। सार्वजनिक अथवा राजवित्त के प्रसिद्ध इटालियन लेखक डी० मार्को (De viti Marco) का विश्वास था कि राज्य तथा नागरिकों के बीच विनिमय अथवा आदान-प्रदान का सम्बन्ध (exchange relationship) अर्थात एक ओर नागरिक सरकार को कर अदा करने के अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं और दूसरी ओर राज्य नागरिकों के लिये सामान्य सरकारी सेवाओ की व्यवस्था के अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। हितानुसार सिद्धान्त के आधुनिक दृष्टिकोणो मे निहित मूलभूत विचार यही है कि कर एक प्रकार की कीमत (price) है और इसका निर्धारण इस तरह किया जाना चाहिए कि उपभोक्ता को सरकारी तथा गैर-सरकारी सेवाओ के लिये की गई अदायगी से प्राप्त सन्तुष्टि अधिकतम की जा सके।

हितानुसार सिद्धान्त का मूल्यांकन
(Assessment of Benfit Principle)

हितानुसार सिद्धान्त के गुण (Merits of Benefit Principle) :

हितानुसार सिद्धान्त का मूलभूत गुण यह है कि यह इस मान्यता (assumption) पर आधारित है कि सरकारी सेवाओ द्वारा प्रदान किये जाने वाले लाभ उन करो को न्यायोचित ठहराते हैं जो कि उन सेवाओं के लिए अदा किये जाते है। दूसरे, हितानुसार सिद्धान्त के बजट के आय और व्यय, दोनों ही पक्षो पर सयुक्त रूप से विचार करता है और इस प्रकार, सरकारी सेवाओ तथा करो के हिस्सो (tax shares), दोनो का निर्धारण साथ ही साथ कर देता है। तीसरे, हितानुसार कराधान उन मामलो मे लागू होता है जिनमे कि व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किये गये लाभों को मापा जा सके। उदाहरण के लिए, सड़कों का उपयोग करने वालो पर पैट्रोल कर, पुलिस व्यय के लिए स्थानीय सम्पत्ति कर, अग्नि-सुरक्षा (fire protection) जलमल सेवाओ (sewage services) की वित्तीय व्यवस्था के लिये स्थानीय सार्वजनिक निर्माण कर।

6 Musgrave *op cit* p. 68 "The constructive nucleus of the ben.fit principle that the citizen must choose and pay for whatever public services he wishes to obtain, was lost in the narrow confines of an insurance theory of taxation,"

सिफारिशों पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही—आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्यों को प्रतिवर्ष १४० करोड़ रु० के स्थानान्तरण की व्यवस्था की गई जिसमें १०० करोड़ रु० के भाग के रूप में और ४० करोड़ रु० अनुदानों के रूप में थे। अधिकारान्तरण (devolution) तथा सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में आयोग की सभी सिफारिशें सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गई और उनके सम्बन्ध में समुचित कार्यवाही भी की गई। किन्तु राज्यों को दिये जाने वाले सघीय कर्जों के सम्बन्ध में दी गई आयोग की सिफारिशें स्वीकार नहीं की गई। सरकार ने कर्जों की अदायगियों को स्थगित करने से सम्बन्धित ऋणों के एकीकरण की आयोग की योजना को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया कि इससे सरकार के पास उपलब्ध साधनों की कमी हो जायेगी जिससे वह आगे और ऋणों के रूप में राज्यों को यथेष्ट सहायता न दे सकेगी। सरकार ने आयोग का वह प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया जिसमें कहा गया था कि सभी प्रकार के ऋणों पर एक समान ब्याज की दरें लागू की जायें।

तृतीय वित्त आयोग
(Third Finance Commission)

दिसम्बर, १९६० में, श्री ए० के० चन्दा की अध्यक्षता में तृतीय वित्त आयोग की स्थापना हुई। दिसम्बर १९६२ में आयोग ने सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। भारत सरकार ने तृतीय वित्त आयोग की लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर लीं।

आय-कर—आयोग ने सिफारिश की कि आय-कर की निवल प्राप्तियों का ६६⅔ भाग राज्यों में बाँट दिया जाना चाहिए। आयोग ने सघ शासित क्षेत्रों में बाँटे जाने वाले करों की निवल प्राप्तियों की मात्रा भी एक प्रतिशत से बढ़ाकर २½ प्रतिशत कर दी। राज्यों के बीच आय-कर की निवल प्राप्तियों के वितरण के सम्बन्ध में आयोग का यह विचार था कि जहाँ जनसंख्या मुख्य तत्व बना रहना चाहिए, वहाँ कर-संग्रह के तत्व को द्वितीय वित्त आयोग द्वारा सिफारिश की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। आयोग द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचने के दो कारण थे: (१) विभाज्य कोष (divisible pool) से कम्पनियों द्वारा अदा किये जाने वाले आय-कर के पृथक् हो जाने के कारण (जिसका अधिकांश भाग अखिल भारतीय स्रोत की आय से प्राप्त होता था), जब आय-कर स्थानीय स्रोत की आमदनियों में से पहले की अपेक्षा अधिक प्रतिशत में प्राप्त किया जाता था; और (२) औद्योगिक राज्यों को, जहाँ कि आय-कर का संग्रह अधिक मात्रा में किया जाता है, प्रशासनिक तथा सामाजिक सेवाओं पर अपेक्षाकृत अधिक व्यय करना पड़ता है, अत: यह आवश्यक है कि उनको कर-प्राप्तियों का अधिक भाग दिया जाए। (इसी कारण आयोग ने प्रथम आयोग द्वारा प्रतिपादित सूत्र (formula) को ही पुन: प्रतिष्ठित करते हुए कहा कि आय-कर वितरण ८० प्रतिशत तो जनसंख्या के आधार पर किया जाना चाहिए और २० प्रतिशत कर-संग्रह के आधार पर।

संघीय उत्पादन शुल्क—आयोग ने विभाज्य कोष की उत्पादन शुल्क लगाये जा सकने योग्य पदार्थों की सूची को विस्तृत करने पर विचार किया। आयोग के अनुसार ऐसा करना एक तो इसलिये आवश्यक था क्योंकि आय कर के विभाज्य कोष में कमी हो गई थी और दूसरे इसलिये क्योंकि दो क्रमिक योजनाओं के बढ़े हुए राजस्व व्यय के कारण राजस्व के घाटे की पूर्ति के लिए राज्यों की सहायता की आवश्यकता थी। आयोग का मत था कि नियोजन की प्रक्रिया (planning process) के कारण राज्यों में साधनों की कमी हो गई थी और कुछ वर्षों तक प्रत्येक अगली योजना के साथ यह कमी और बढ़नी थी। अत: इस बात की स्पष्ट आवश्यकता थी कि सघीय उत्पादन शुल्कों के अधिकारान्तरण (devolution) में वृद्धि की जाए। आयोग ने सुझाव दिया कि यह कार्य सभी उत्पादन शुल्कों की प्राप्तियों में राज्यों के भाग की वृद्धि करके किया जाना चाहिए। अत: आयोग ने विभाज्य कोष के उत्पादन शुल्क लगाये जा सकने योग्य पदार्थों की संख्या ८ से बढ़ाकर ३५ कर दी। इनमें उन सभी पदार्थों को सम्मिलित कर लिया गया जिन पर सन् १९६०-६१ में कर लगाये गये थे। मोटर स्प्रिट पर लगाये जाने वाले कर को भी इससे अलग रखा गया क्योंकि इसकी प्राप्तियों के एक भाग को विशिष्ट उद्देश्य अनुदान के रूप में बाँटने की सिफारिश की गई थी। आयोग ने विभाज्य कोष में राज्यों के भाग को २५ प्रतिशत से घटाकर

के अनुपात मे बांट दी जानी चाहिए जिन पर कि उस वर्ष कर-निर्धारण किया गया हो। इस प्रकार, अचल सम्पत्ति से होने वाली प्राप्तियों का भाग राज्यों म प्रत्येक राज्य में स्थित सम्पत्ति के कुल मूल्य के अनुपात मे बांटा जाना था। शेष भाग को राज्यो के बीच उनकी जनसख्या के आधार पर बाटने का सुझाव दिया गया।

रेल किरायो पर कर के सम्बन्ध मे, आयोग ने सुझाव दिया कि प्रत्येक राज्य के अन्दर रेलो की वास्तविक सवारी यात्रा (actual passenger travel) को ही राज्यो के बीच कर की निबल प्राप्तियों के वितरण का आधार बनाना चाहिए। चूंकि सवारी यात्रा के राज्यानुसार सही आँकड़े उपलब्ध नही थे अतः आयोग ने कुछ पूर्व-धारणाओं (assumptions) के आधार पर इन आँकड़ों का अनुमान लगाया और उनके आधार पर कुल निबल प्राप्तियों मे राज्यों के प्रतिशत निर्धारित कर दिये। सघ शासित क्षेत्रो के लिए निबल प्राप्तियो का ¾ प्रतिशत भाग निर्धारित किया गया।

सहायक अनुदान—आयोग ने जूट उत्पन्न करने वाले राज्यो को जूट निर्यात-कर के भाग के बदले मे दिये जाने वाले अनुदानों में किसी परिवर्तन का सुझाव नही दिया, हाँ राज्यों के पुनर्गठन के कारण बिहार से पश्चिमी बगाल मे कुछ क्षेत्रो का स्थानान्तरण होने के फलस्वरूप बाद मे इन दोनों राज्यो के अनुदानों मे कुछ हेर-फेर अवश्य किया गया। सन् १९५९-६० के अन्त म, ये अनुदान स्वय ही समाप्त हो जाने थे और आयोग न अधिकारान्तरण की अपनी योजना मे इस बात की उपयुक्त व्यवस्था भी की थी।

आयोग ने राज्यो को पहले के मुकाबले अधिक सहायक अनुदान देने की सिफारिश की। आयोग ने इस वृद्धि का कारण यह बताया कि पहले जब अनुदानो की मात्रा का निर्धारण किया गया था तब राज्यो की विकास की आवश्यकताओ का पूरी तरह ध्यान नही रखा गया था। आयोग ने सन् १९५७-५८ से १९६१-६२ तक के अगले पाच वर्षों के लिए ग्यारह राज्यों के लिए अलग-अलग अनुदान निर्धारित किये। इस अवधि के लिए कुल अनुदानो की मात्रा १८७ करोड रु० से ऊपर निर्धारित की गई। बम्बई, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश के लिए किन्ही अनुदानो की सिफारिश नही की गई क्योंकि यह समझा गया कि प्रस्तावित अधिकारान्तरण की योजना (scheme of devolution) के अन्तर्गत इन राज्यो को कर-आय का जो भाग दिया जा रहा था वह उनके चालू (current) तथा योजना- व्यय की पूर्ति के लिए पर्याप्त था।

राज्यो को दिये जाने वाले सघीय कर्जे—आयोग से कहा गया था कि वह राज्यों को दिये जाने वाले सघीय कर्जों के सम्बन्ध मे भी अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे। स्वतन्त्रता के पश्चात् स ये कर्जे उल्लेखनीय रूप से बढते रहे हैं। ऐसे कर्जो की मात्रा १५ अगस्त १९४७ को ४४ करोड रु० थी जो कि बढकर ३१ मार्च १९५१ को ११५ करोड रु० और ३१ मार्च १९५५ को लगभग ९०० करोड रु० हो गई। ब्याज की दरें १ से लेकर ५ प्रतिशत तक थी। कुछ कर्जे ब्याज मुक्त भी थे। आयोग ने सिफारिश की कि ब्याज-मुक्त कर्जो (interest free loans) के सम्बन्ध मे कोई रद्दो-बदल नही होनी चाहिए। विस्थापितो को उनके पुनर्वास के लिए जो कर्जे दिये गये थे, उनके सम्बन्ध मे आयोग ने सिफारिश की कि १ अप्रैल १९५७ से राज्य केन्द्र को केवल वही धनराशियाँ वापिस करें जो कि वे विस्थापित व्यक्तियो (displaced persons) से मूलधन तथा ब्याज के रूप मे (उस दिन तक के पिछले बकाया सहित) वसूल करें। अन्य कर्जो के लिए ३ प्रतिशत की दर से ब्याज लिया जाना चाहिए। आयोग ने राज्यो के कर्जों के पुनर्गठन तथा युक्तिकरण (rationalisation) की सिफारिश की, जिसके फलस्वरूप सयुक्त रूप मे सभी राज्यों के ब्याज-खर्च मे ५ करोड रु० वार्षिक की कमी हो गई। भविष्य के लिए, आयोग ने सुझाव दिया कि किसी भी राज्य को वर्ष मे केवल दो प्रकार के कर्ज दिये जाने चाहिए, अर्थात् दीर्घावधि कर्ज (long-term loan) और मध्यावधि कर्ज (medium-term loan)। ब्याज की दर का निर्धारण एक अवधि से सभी सघीय उधारो की लागत का अनुमान लगाकर किया जाना चाहिए। आयोग ने सुझाव दिया कि राज्यो को वित्तीय वर्षों की अवधि मे नियमित रूप से कर्जे नही दिये जाने चाहिए बल्कि केवल अर्थोपाय उधार (ways and means advance) ही दिये जाने चाहिए जो कि वर्ष के अन्त मे ऊपर बताये गये दो कर्जो के रूप मे परिवर्तित किये जा सकते हैं।

संघीय उत्पादन शुल्क—तृतीय आयोग ने उत्पादन शुल्क लगने योग्य ऐसे पदार्थों की संख्या बढ़ाकर ४५ कर दी थी जिनकी प्राप्तियाँ केन्द्र तथा राज्यों के बीच बाँटी जानी थी। चतुर्थ आयोग ने इस संख्या में आगे और वृद्धि की और सिफारिश की कि वे समस्त संघीय उत्पादन-शुल्क जो वर्तमान में उगाहे जा रहे हैं (नियामक शुल्कों, विशिष्ट उत्पादन शुल्कों तथा ऐसे शुल्कों तथा उप-करों को छोड़कर जो विशेष कार्यों के लिए नियत कर दिये गये हों) तथा वे भी जिनके आगामी पाँच वर्षों में उगाहे जाने की सम्भावना है, केन्द्र तथा राज्यों के बीच बाँटे जाने चाहिए। आयोग ने निश्चय किया कि बाँटे जाने वाले उत्पादन-शुल्कों में राज्यों का हिस्सा निवल प्राप्तियों का २० प्रतिशत रहना चाहिए। उत्पादन-शुल्कों की प्राप्तियों को राज्यों के बीच बाँटे जाने के सम्बन्ध में, चतुर्थ आयोग ने सुझाव दिया कि राज्यों के भाग का वितरण ८० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और २० प्रतिशत आर्थिक एवं सामाजिक पिछड़ेपन के आधार पर किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में जिन बातों को आर्थिक एवं सामाजिक पिछड़ेपन का सूचक माना गया, वे ये हैं, कृषि उत्पादन का प्रति व्यक्ति मूल्य, निर्माण से प्रति व्यक्ति मूल्य में होने वाली वृद्धि, कुल जनसंख्या में कर्मचारियों एवं मजदूरों का प्रतिशत आदि।

संघीय उत्पादन-शुल्कों तथा बिक्री करों में समन्वय—आयोग से कहा गया था कि वह निम्न पदार्थों पर लगे करों का राज्यों के बीच बँटवारा होता है उनके उत्पादन, उपभोग तथा निर्यात पर लगने वाले राज्यीय बिक्री कर तथा संघीय उत्पादन-शुल्कों की सम्मिलित बाह्यता (combined incidence) के प्रभाव का पता लगाये। इसके अतिरिक्त, आयोग से यह भी कहा गया था कि ऐसे पदार्थों पर राज्यों के बिक्री कर में यदि आयोग द्वारा उल्लिखित सीमा से अधिक वृद्धि हो जाए तो संघीय उत्पादन-करों के राज्यों के हिस्से में किये जाने वाले हेर-फेर के सम्बन्ध में, यदि कोई आवश्यक हो तो, अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे। आयोग ने अनुभव किया कि इस जाँच से सम्बद्ध पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध न होने के कारण उत्पादन, उपभोग तथा निर्यात पर इन करों में होने वाली किसी भी वृद्धि के प्रभाव का पता नहीं लगाया जा सकता था। इसी कारण एक ऐसे सूत्र (formula) का सुझाव देने का प्रश्न भी उत्पन्न नहीं हुआ जिसमें संघीय उत्पादन-शुल्कों में से दिये जाने वाले राज्यों के भाग में हेर-फेर की तथा उच्चतम सीमा नियत करने की व्यवस्था हो।

आस्ति-कर (Estate duty)—आयोग ने सिफारिश की कि आस्ति करों की प्राप्तियों का २ प्रतिशत भाग केन्द्र शासित क्षेत्रों को सौंप दिया जाना चाहिए और शेष का वितरण राज्यों में उसी आधार पर कर दिया जाना चाहिए जिस प्रकार कि पहले होता था। द्वितीय वित्त आयोग ने इस सम्बन्ध में यह आधार प्रस्तुत किया था कि कर की कुल वितरण-योग्य प्राप्तियाँ अचल तथा चल सम्पत्ति (immovable and movable property) के बीच उन सभी सम्पत्तियों के कुल मूल्य के अनुपात में बाँट दी जानी चाहिए जिन पर कि उस वर्ष कर-निर्धारण किया गया हो। इस प्रकार अचल सम्पत्ति से होने वाली प्राप्तियाँ राज्यों के बीच प्रत्येक राज्य में स्थित अचल सम्पत्ति के कुल मूल्य (gross value) के अनुपात में बाँटी जानी थी।

रेल किरायों पर कर के बदले में अनुदान—आयोग ने कहा कि १२.५० करोड़ रु० के प्रतिवर्ष मिलने वाले तदर्थ अनुदान (ad-hoc grant) का राज्यों के बीच वितरण प्रत्येक राज्य में रेल-पथ की लम्बाई के आँकड़ों के आधार पर तथा सन् १९६४ में समाप्त होने वाले तीन वर्षों के यात्री-यातायात (उपनगरीय रेल यातायात को छोड़कर) में होने वाली वार्षिक औसत कमाई (annual average earnings) के आधार पर किया जाना चाहिए।

सहायक अनुदान—सन १९६६-६७ से १९७०-७१ तक के लिए विभिन्न राज्यों की राजस्व-प्राप्तियों तथा योजनेत्तर व्यय (non plan expenditure) का निर्धारण करने के पश्चात् और विभिन्न करों तथा शुल्कों में से मिलने वाले उनके भागों की धनराशियों का हिसाब लगाने के बाद, आयोग ने यह पाया कि इस अवधि में दस राज्यों को कुल ६१० करोड़ रु० का घाटा रहेगा। अत: आयोग ने, संविधान की धारा २७५ के अधीन, घाटे के $\frac{१}{५}$ भाग के बराबर १२२ करोड़ रु० के वार्षिक अनुदानों की सिफारिश की।

२० प्रतिशत कर दिया। प्रत्येक राज्य के हिस्से का निर्धारण करने के सम्बन्ध मे आयोग ने जहाँ जनसख्या को ही वितरण का मुख्य आधार माना, वहाँ कुछ अन्य ऐसे तत्वो को भी दृष्टिगत रखा जैसे कि राज्य की सापेक्षिक वित्तीय कमजोरियाँ, अब तक हुए विकास के स्तरो मे पाई जाने वाली असमानतायें और परिगणित जाति व परिगणित जनजातियो तथा पिछड़े वर्गों का जनसख्या मे प्रतिशत।

आस्ति कर (Estate duty)—आयोग ने आस्ति कर के वितरण से सम्बन्धित उस सिद्धान्त मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने का प्रस्ताव नही किया जो कि द्वितीय वित्त आयोग द्वारा सुझाया गया था।

सहायक अनुदान—आयोग ने महाराष्ट्र को छोड़कर अन्य सभी राज्यों को सहायक अनुदान के रूप मे कुल ११० करोड रु० के वार्षिक भुगतान की सिफारिश की। आयोग ने अनुभव किया कि इन अनुदानो के द्वारा राज्य अपनी-अपनी योजनाओ के राजस्व भाग के एक अश की पूर्ति के लिए आवश्यक धन के विषय मे आश्वस्त हो जायेंगे और उनको अपने प्रशासन मे स्वायत्तता (antonomy) तथा लचीलापन अधिक मात्रा मे प्राप्त हो सकेगा। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि १९६२ से १९६६ तक के चार वर्ष की अवधि मे, सचार साधनो के विकास के लिये विशिष्ट उद्देश्य अनुदान के रूप मे, दस राज्यों के बीच प्रति वर्ष ९ करोड रु० बाँटा जाए। यह राशि मोटर पर लगाये गये करो की प्राप्तियो की लगभग २० प्रतिशत थी।

चतुर्थ वित्त आयोग
(Fourth Finance Commission)

श्री पी० वी० राजमन्नार की अध्यक्षता मे गठित चतुर्थ वित्त आयोग ने अगस्त, १९६५ मे भारत सरकार के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। आयोग से कहा गया था कि वह ऐसे *सिद्धान्तो का निर्धारण करे जिनके आधार पर कि राज्यो के बीच पूर्णत: अथवा अशत बाँटे जाने* वाले विभिन्न सघीय करो की प्राप्तियो के वितरण का हिसाब लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त आयोग से कहा गया कि वह, जिन पदार्थो पर लगे करो का केन्द्र तथा राज्यो के बीच बँटवारा होता है उनके उत्पादन, उपभोग अथवा निर्यात पर लगने वाले सघीय उत्पादन करो तथा राज्य बिक्री करो की सम्मिलित वाह्यता (combined incidence) का अध्ययन करे और ऐसे पदार्थों पर राज्यो के बिक्री कर मे यदि आयोग द्वारा उल्लिखित सीमा से अधिक वृद्धि हो जाए तो सघीय उत्पादन-करों के राज्यो के भाग मे किये जाने वाले परिवर्तनो का सुझाव दे, यदि ऐसे परिवर्तन आवश्यक हो तो। राज्यो को दिये जाने वाले सहायक अनुदानो के सम्बन्ध मे आयोग से कहा गया कि वह अन्य बातो के अलावा इन बातो पर भी विचार करे। कोई अतिरिक्त व्यय, जिसको राज्यों पर ऋणो की व्यवस्था के लिए डाले जाने की सम्भावना हो और आस्ति कर की प्राप्तियों की (आयोग द्वारा निर्धारित सीमा से) अधिक मात्रा की धनराशि मे से एक निधि (fund) का निर्माण करना जिसके द्वारा राज्य केन्द्रीय सरकार को अपने ऋणो की वापिस अदायगी कर सके।

आय-कर—आमदनियों की प्राप्तियो मे अपने भागो के सम्बन्ध मे, राज्यो ने यह माँग की कि इसमे ठोस वृद्धि की जानी चाहिए और आय के करो की प्राप्तियो मे उनका आय भाग ६६३ के वर्तमान स्तर से अधिक होना चाहिए। राज्यो ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि सन् १९५८ के आय-कर अधिनियम से कम्पनियो द्वारा अदा किये जाने वाले आय-कर मे जो पुन: वर्गीकरण किया गया है उसका विभाज्य कोष की वृद्धि की दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। पिछले १२ वर्षों मे निगम-कर के सग्रहो (collections) मे जहाँ ६ गुनी वृद्धि हुई थी, वहाँ विभाज्य कोष (divisible pool) की वृद्धि केवल ५० प्रतिशत ही थी। आयोग ने इन विचारो से सहमति प्रकट की और सिफारिश की कि विभाज्य कोष मे से राज्यों को दिया जाने वाला आय-कर का भाग बढ़ाकर ७५ प्रतिशत कर दिया जाना चाहिए। राज्यो के आय-कर के हिस्से को उनके बीच बाँटने वाले सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे कुछ निश्चितता एव स्थायित्व लाने के उद्देश्य से आयोग ने निश्चय किया कि आय कर प्राप्तियो के विभाज्य कोष मे प्रत्येक राज्य के भाग का निर्धारण करने के लिए प्रथम तथा तृतीय वित्त आयोग द्वारा सुझाये गये सूत्र (formula) को ही बनाये रखा जाय, अर्थात् ८० प्रतिशत जनसख्या के आधार पर और २० प्रतिशत कर-सग्रह के आधार पर।

(व) १९६७-६८ तथा १९६८-६९ के दो वर्षों मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं है।

(स) १९६९ ७० से १९७३-७४ के वर्षों मे शुद्ध आय का बँटवारा निम्न प्रकार से किया जाना चाहिए—(i) २ ६% केन्द्रीय प्रशासित राज्यो मे, तथा (ii) ७५% राज्यो में।

(द) राज्यों के बीच बँटवारे के सम्बन्ध में इस आयोग ने द्वितीय वित्त आयोग की भाँति १०% सग्रह तथा ९०% जनसख्या के आधार निम्न प्रतिशत के अनुसार बाँटने के सम्बन्ध मे फैसला किया :—

तालिका—२

राज्य का नाम	प्रतिशत	राज्य का नाम	प्रनिशन
(१) उत्तर प्रदेश	१६ ०१	(११) केरल	३ ८३
(२) महाराष्ट्र	११ ३४	(१२) उडीसा	३ ७५
(३) विहार	९ ९९	(१३) आसाम	२ ६७
(४) पश्चिमी वगाल	९ ११	(१४) पजाब	२ ५५
(५) तमिलनाडु	८ १८	(१५) हरियाणा	१'७३
(६) आन्ध्र प्रदेश	८ ०१	(१६) जम्मू और काश्मीर	० ७९
(७) मध्य प्रदेश	७ ०९	(१७) नागालैण्ड	० ०८
(८) मैसूर	५ ४०		
(९) गुजरात	५ १२		
(१०) राजस्थान	४ ३४		

(२) केन्द्रीय उत्पादन शुल्क सम्बन्धी सिफारिशे

पाँचवे आयोग ने केन्द्रीय उत्पादन शुल्क के वितरण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सिफारिशें की —

(i) १९६९-७० से १९७३-७४ के इन पाँच वर्षों मे सम्पूर्ण वस्तुओं पर प्राप्त उत्पादन शुल्क की शुद्ध आय में से २०% राज्यो को देय होगा।

(ii) राज्यो के मध्य इस उत्पादन-शुल्क का वितरण निम्न प्रतिशत मे होगा :—

तालिका—३

राज्य का नाम	प्रतिशत	राज्य का नाम	प्रतिशत
(१) उत्तर प्रदेश	१८ ८२	(१०) मैसूर	४ ६५
(२) विहार	१३ ८१	(११) केरल	४ २८
(३) मध्य प्रदेश	८ ४८	(१३) गुजरात	४ १७
(४) महाराष्ट्र	७ ९३	(१३) आसाम	२ ५१
(५) आन्ध्र प्रदेश	७ १५	(१४) पंजाब	२ १७
(६) पश्चिमी वगाल	६ ८४	(१५) हरियाणा	१ ४९
(७) तमिलनाडु	६ ५०	(१६) जम्मू व काश्मीर	१ १२
(८) राजस्थान	५ २८	(१७) नागालैण्ड	० ०८
(९) उड़ीसा	४ ७२		

सामान्य टिप्पणियाँ—आयोग ने अन्य अनेक मामलो के सम्बन्ध मे अपनी सामान्य टिप्पणियाँ दी। आयोग ने सुझाव दिया कि समान हित के वित्तीय मामलो पर विचार करने के लिए सघ तथा राज्यो के बीच अधिक सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और इस कार्य के लिए किसी सस्था का निर्माण होना चाहिए। आयोग ने वित्त मन्त्रालय मे एक ऐसे स्थायी सगठन का सुझाव दिया जो ऐसे मामलो के सम्बन्ध मे निरन्तर अध्ययन करे तथा ऐसी नवीनतम सूचनाएँ एकत्र करे जिनकी वित्त आयोगो को आवश्यकता होती है। आयोग ने एक ऐसे सक्षम निकाय (comptent body) की स्थापना की भी सिफारिश की जो राज्यो की ऋण ग्रस्तता की सम्पूर्ण समस्या तथा उससे सम्बन्धित मामलो का विस्तार से अध्ययन करे। इसके अतिरिक्त, आयोग ने एक ऐसी प्रतिनिधि विशेषज्ञो की सस्थाओ द्वारा जाँच किए जाने की भी सिफारिश की, जो कि राज्यो द्वारा लिए जाने वाले उधार के परिशोधन (amortisation) की योजना के सिद्धान्तो का निर्धारण करे और इसके द्वारा राज्यो को अगले पाँच वर्षो के अपने खर्चो का अनुमान लगाने के लिए आधार मिल जाए। आयोग का यह भी मत था कि अन्त सरकारी उधार (inter-government borrowing) की वर्तमान पद्धति की उपयुक्तता का सर्वेक्षण (survey) कराया जाय।

सरकार द्वारा की गई कार्यवाही—भारत सरकार ने कुछ सशोधनो के साथ आयोग की सिफारिशे स्वीकार कर ली। आन्ध्र, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश की सरकारो ने जुलाई १९६५ से वेतन क्रमो तथा महँगाई भत्तो मे जो वृद्धियाँ स्वीकार की थी, आयोग ने राज्यो के राजस्व व्यय के निर्धारण से उनको बाहर रखा। किन्तु आयोग ने यह सिफारिश की थी कि सविधान की धारा २७५ के अन्तर्गत अनुदानो का निर्धारण करते समय राज्यो की इन देयताओ (liabilities) का अवश्य ध्यान रखा जाय। परिणामस्वरूप, सरकार ने आयोग के एक सदस्य से यह प्रार्थना की कि वह राज्यो की इन देयताओ की तथा उनको दिये जाने वाले अतिरिक्त अनुदानो की मात्रा का निर्धारण करे। आयोग ने राजस्व-व्यय का निर्धारण करते समय इन मदो को भी उसकी परिधि से बाहर रखा। असम के पहाडी जिलो की विशिष्ट आवश्यकताओ की व्यवस्थाये, मध्य प्रदेश पुलिस सगठन मे सुधार करने तथा उसको शक्तिशाली बनाने की व्यवस्थाये और मैसूर मे पचायतो को दिये जाने वाले अनुदान। आयोग ने सिफारिश की कि यदि रिपोर्ट पर राष्ट्रपति के आदेशो से पहले ही इन प्रस्तावो पर अन्तिम निर्णय हो जाय तो इन राज्यो के लिए सांविधिक सहायक अनुदानो की धनराशि का निर्धारण करते समय इन आवश्यकताओ को भी दृष्टिगत रखा जाना चाहिए। सरकार ने यह निश्चय किया कि वह जब विभिन्न राज्यो की योजनाओ के लिए उनके उपलब्ध साधनो तथा केन्द्रीय सहायता की उनकी आवश्यकताओ का हिसाब लगायेगी, तब उनके इन दायित्वो का भी ध्यान रखेगी।

पाँचवाँ वित्त आयोग—रिपोर्ट का सारांश
(Fifth Finance Commission—Summarised Report)

भारत सरकार ने २९ फरवरी, १९६८ को राष्ट्रपति के आदेश द्वारा १५ मार्च, १९६८ से 'पाँचवे वित्त आयोग' की नियुक्ति की। इस आयोग के अध्यक्ष श्री महावीर प्रसाद त्यागी थे। इस आयोग के अन्य चार सदस्य थे—(१) श्री जी० स्वामीनाथन, (२) श्री एम० शेषाचलपाथी, (३) श्री डी० टी० लकडावाला, तथा (४) श्री बी० एल० गिडवानी। प्रस्तुत वित्त आयोग ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट ३१ सितम्बर, १९६८ को तथा अन्तिम रिपोर्ट ३१ जुलाई १९६९ को प्रस्तुत की। इस पाँचवे वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशे निम्न प्रकार से है :—

(१) आयकर सम्बन्धी सिफारिशें :

आयोग के मतानुसार केन्द्र तथा राज्यो मे किसी धनराशि को बाँटने के सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि शुद्ध धनराशि की पुष्टि भारतीय कन्ट्रोलर एव ऑडिटर जनरल द्वारा की गई हो। इस प्रकार से पुष्टि की गई धनराशि मे से वितरण निम्न प्रकार से होगा।

(अ) १९६६-६७ तक जो धनराशि अग्रिम कर सग्रह के असमायोजित शेष से सम्बन्धित होगी उसका वितरण निम्न प्रकार से होगा—(i) २½% केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रो मे, (ii) ७५% राज्यो मे। राज्यो का भाग तीन समान किश्तो मे १९७१-७२ से १९७३-७४ तक दिया जायगा।

(३) बिक्री कर के बदले अतिरिक्त उत्पादन शुल्क के सम्बन्ध मे सुझाव

बिक्री कर के बदले में अतिरिक्त उत्पादन शुल्क के सम्बन्ध मे इस पांचवे आयोग ने यह सुझाव दिया कि वर्तमान समझौते के स्थान पर राज्यो से आवश्यक परामर्श किया जाना चाहिए। वित्त आयोग के अनुसार प्रचलित समझौते मे अन्य किसी वस्तु को सम्मिलित किया जाना अनुचित होगा। अतिरिक्त उत्पादन शुल्क द्वारा प्राप्त शुद्ध आय का वितरण निम्न प्रकार से होगा— (i) २०५% केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों मे, (ii) ०८३% जम्मू-काश्मीर राज्य मे, (iii) ०.०६% नागालैण्ड मे, तथा (iv) शेष ६७०३% अन्य राज्यो मे।

(४) अनुदान (Grants-in-aid)।

१९६९-७० से १९७३-७४ के इन पांच वर्षो मे निम्न दस राज्यो मे निम्न दर से अनुदान दिया जाना चाहिए —

छटवां वित्त आयोग
(Sixth Finance Commission)

नियुक्ति :

भारत सरकार ने भारतीय सविधान के अनुच्छेद २८० के अन्तर्गत सर्वश्री ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता मे छठवें वित्त आयोग की नियुक्ति की थी। इसके अन्य चार सदस्य इस प्रकार थे—श्री बी० एस० मिन्हास (योजना आयोग के सदस्य), डा० आई० एस० गुलाटी (अर्थशास्त्री), श्री सैय्यद सादत अब्दुल मसूद (कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश) तथा श्री जी० रामचन्दन (सदस्य भारतीय प्रशासनिक सेवा)। इसे सन् १९७४-७९ तक के पाँच वर्षों के लिए सुझाव देने थे। इस आयोग से पाँचवी योजना के लिए वित्तीय साधनों के बँटवारे के सम्बन्ध में सुझाव देने को कहा गया था। सघीय वित्त के प्रमुख सिद्धान्तो के अन्तर्गत इस आयोग को प्रमुख रूप मे केन्द्र तथा राज्यों को आवण्टित किये जाने वाले वित्तीय साधनो का निर्धारण करना था। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत इस आयोग को केन्द्रीय कर जैसे केन्द्रीय उत्पादन शुल्क, निगम कर, आय कर, सम्पत्ति कर आदि मे राज्यो का हिस्सा निश्चित करना तथा उन सिद्धान्तो को भी निश्चित करना जिनके अनुसार केन्द्र द्वारा राज्यों को अनुदान सहायता प्रदान की जानी है, का कार्य सौंपा गया था। उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त वित्त आयोग को इस बार निम्न दो बातो पर विशेष रूप मे सुझाव देने को कहा गया था।

(अ) आगामी पांच वर्षों के लिए राज्यो के गैर योजनागत पूंजीगत अन्तरो को तुलनात्मक दृष्टि से निर्धारित करना, तथा

(ब) आगामी प्राकृतिक विपदाओं से निपटने के हेतु राज्यो द्वारा किये जाने वाले राहत व्ययो के वित्त प्रबन्ध के सन्दर्भ मे नीति निर्धारण की व्यवस्था करना।

इस प्रकार गत वित्त आयोगो की तुलना मे इस बार वित्त आयोग को सामान्य कार्यो के अतिरिक्त उपरोक्त विशेष कार्य भी सौंपे गये थे जिनके सम्बन्ध मे उसे अपनी सिफारिशें केन्द्रीय सरकार को देनी थीं।

सिफारिशें (Recommendations) दिसम्बर, १९७३

छठवें वित्त आयोग के अध्यक्ष आन्ध्र प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने विभिन्न राज्यों का अपने दल के अन्य सदस्यो सहित दौरा किया और उनके आधार पर अपनी सिफारिशें केन्द्रीय सरकार के समक्ष प्रस्तुत की। केन्द्रीय सरकार ने ससद के दोनो सदनों के समक्ष इस आयोग की सिफारिशों को प्रस्तुत किया तथा मंगलवार दिनाक १८ दिसम्बर, १९७३ को यह घोषणा की कि सरकार ने छठवें वित्त आयोग की सिफारिशें स्वीकार करली हैं और उसके अन्तर्गत राज्यो को केन्द्रीय करो से ९६०८ करोड ८५ लाख रुपया (करो की राशि से ७०९९ करोड रु० और सहायता के रूप मे २५०९ ८५ करोड रु०) दिया जायेगा। यह धनराशि पांचवी पचवर्षीय योजना के दौरान दी जायगी।

तालिका—४

(करोड रु० मे)

राज्य का नाम	१९६९-७०	१९७०-७१	१९७१-७२	१९७२-७३	१९७३-७४	योग
(१) उडीसा	२४ ५१	२२ ७२	२० ९४	१९ १४	१७ ३६	१०४ ६७
(२) असम	२० ८०	२० ६०	२० ३९	२० १९	१९ ९९	१०१ ९७
(३) नागालैण्ड	१७ ४०	१६·४९	१५ ५९	१४·६९	१३ ७६	७७ ९५
(४) जम्मू और काश्मीर	१६ ८१	१५ ७७	१४ ७४	१३·७०	१२ ६६	७३ ६८
(५) पश्चिमी बगाल	२२ ४९	१८ ४१	१४ ३२	१० ६०	६ ७६	७२ ६२
(६) आन्ध्र प्रदेश	१५ ५४	१४ २७	१३ ००	११ ७३	१० ४७	६५ ०१
(७) केरल	९·९३	९ ९३	९ ९३	९·९३	९ ९३	४९ ६५
(८) राजस्थान	१२ ३६	११ ३३	१० ३०	९·२७	८ २३	५१ ४९
(९) तामिलनाडु	६ ६१	५ ५९	४ ५६	३ ५४	२ ५२	२२·८२
(१०) मैसूर	६·४८	५ ०४	३·६०	२ १६	० ७१	१७·९९
योग	१५२ ७३	१४० १५	१२७ ५७	११४ ९९	१०२ ४१	६३७ ८५

१४ लाख, हिमाचल प्रदेश ३४ करोड ५७ लाख, मध्य प्रदेश ८७ करोड़ १६ लाख, महाराष्ट्र ६५ करोड ५८ लाख, मणीपुर १५ करोड २३ लाख, मेघालय ७ करोड ६४ लाख, नागालैण्ड ५ करोड ८४ लाख, पजाब ७५ करोड १८ लाख, तमिलनाडु ८७ करोड़ ५ लाख व त्रिपुरा १४ करोड़ ३५ लाख।

(३) राज्यों को अनुदान—५ वर्ष की अवधि मे अनुदान के रूप मे राज्यों को २५०१·८५ करोड रु० दिये जायेंगे। इस राशि मे से आयोग ने विभिन्न राज्यो को इस प्रकार से अनुदान देने की धनराशि सिफारिश की है :—

आध्र २०५ करोड ६३ लाख, आसाम २५४ करोड ५३ लाख, बिहार १०६ करोड ३८ लाख, हिमाचल प्रदेश १६० करोड ६६ लाख, जम्मू-काश्मीर १७४ करोड ४६ लाख, केरल १०८ करोड ६३ लाख, मणीपुर ११४ करोड ७३ लाख, मेघालय ७४ करोड ५७ लाख, नागालैंड १२८ करोड ८४ लाख, उडीसा ३०४ करोड ७३ लाख, राजस्थान २३० करोड ५३ लाख, त्रिपुरा ११२ करोड ५० लाख, उत्तर प्रदेश १६८ करोड ८३ लाख व पश्चिमी बगाल २३४ करोड ८५ लाख रुपया।

(४) *केन्द्रीय उत्पादन शुल्क—उत्पादन शुल्को के सम्बन्ध मे छठवें वित्त आयोग ने* वर्तमान व्यवस्था मे कोई परिवर्तन नही किया है। वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन शुल्को से होने वाली कुल आय का २० प्र श राज्यों को दिया जाता है। किन्तु आयोग ने इस आय के वितरण के आधार मे परिवर्तन किया है जिसमे राज्यो के पिछडेपन को एक मुख्य आधार माना जाएगा।

(५) पूरक उत्पादन शुल्क—आयोग ने पूरक उत्पादन शुल्को से प्राप्त होने वाली रकम मे से भी राज्यो को १६७६ ७७ से देने के लिए कहा है। इस तरह इस आय मे से भी राज्यो को ६८ ५६ करोड रुपया मिलेगा।

(६) करो का भाग—आयोग की सिफारिशो के आधार पर करो एव सहायता के रूप मे राज्यो को ६६०८ ८५ करोड रु० (करो की राशि से ७०६१ करोड रु० तथा अनुदान के रूप मे २५०१ ८५ करोड रु०) प्राप्त होंगे। यह धनराशि पाँचवी योजना के दौरान दी जायेगी।

(७) राहतकार्यों के लिए वित्तीय व्यवस्था—आयोग ने राहत कार्यो के लिए एक राष्ट्रीय वित्तीय कोष स्थापित करने की राज्यो की माँग को अस्वीकार कर दिया, किन्तु यह सिफारिश की कि पांचवी योजना मे सूखा व बाढ नियन्त्रण के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस आधार पर राजस्थान को १० करोड रु० तथा महाराष्ट्र व आध्र प्रदेश मे से प्रत्येक को ४ करोड रु० वार्षिक की धनराशि देने की सिफारिश आयोग ने की।

(८) साधनो का उपयोग—आयोग ने यह सिफारिश भी की कि केन्द्र द्वारा राज्यो के मध्य साधनो का विभाजन करते समय इस सिद्धान्त को ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि देश के साधनो का उपयोग ऐसे कार्यो मे किया जाय जहाँ पर कि उनकी अधिक आवश्यकता हो।

(९) जायदाद कर (Estate Duty)—आयोग ने यह सिफारिश की कि प्रत्येक वित्तीय वर्ष मे जायदाद कर से प्राप्त कुल आय मे केन्द्र शासित प्रदेशो को २ ५% भाग दिया जाना चाहिए तथा शेष धनराशि मे से राज्यो का अश उनके यहाँ अचल सम्पत्ति के कुल मूल्य के आधार पर प्रत्येक वित्तीय वर्ष मे निर्धारित किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion)

प्रत्येक पाँच वर्ष पश्चात् अथवा उससे भी पूर्व वित्त आयोग की नियुक्ति का सघ तथा राज्यो के वित्तीय सम्बन्धो की दृष्टि से भारी महत्व है। इस व्यवस्था के द्वारा साधनो के विभाजन की जो नियतकालिक जांच (periodical examination) होती है और उनमे जो उपयुक्त सशोधन किये जाते हैं उससे केन्द्र तथा राज्य, दोनो के ही वित्त-प्रबन्ध मे लचीलापन उत्पन्न होता है। वर्तमान समय मे, चूँकि आवश्यकताओ एव साधनो मे तेजी से परिवर्तन होते रहते हैं अतः इस दृष्टि से इस लचीलेपन का बडा महत्व है। देश का आयोजनाबद्ध विकास होने के कारण खर्चों मे

वित्तमन्त्री श्री यशवन्तराव चह्वाण ने छठवें वित्त आयोग की सिफारिशों को संसद मे रखते हुए बताया कि केन्द्र राज्यो को ७० ६६ करोड २४ लाख रुपया करो से प्राप्त होने वाली आय से देगा उसके अलावा राज्यों को पाँचवी योजना की अवधि के दौरान २५०९ करोड ६१ लाख रुपया सहायता के रूप मे देगा। केन्द्र ने पहली बार राज्यो को १६१० करोड की कर्ज सम्बन्धी राहत दी है। इसके फलस्वरूप गैर योजना पूँजीगत खर्च का गैप काफी पूरा हो जायगा।

इस आयोग की महत्वपूर्ण सिफारिश यह है कि केन्द्र के करो मे राज्यो को मिलने वाला शेयर अब ७५ से बढाकर ८० प्रतिशत कर दिया गया है। हर राज्य का सहायता आधार उसकी आबादी का ६० प्रतिशत रखा गया है।

छठवें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार है —

(१) **आयकर का वितरण**—छठे वित्त आयोग ने राज्यो से प्राप्त होने वाले आयकर के भाग को ७५% मे बढाकर ८०% भाग वितरित कर देने का सुझाव दिया। इस आय कर की प्राप्ति के वितरण का आधार इस प्रकार रहेगा—

(i) प्रत्येक वित्तीय मे आयकर की शुद्ध प्राप्ति मे से केन्द्र शासित प्रदेशो को १७६% भाग दिया जायेगा।

(ii) शेष धनराशि मे से राज्यो को कुल प्राप्ति का ८०% भाग दिया जायेगा।

(iii) राज्यो को बाँटी जाने वाली आय कर की धनराशि मे से प्रत्येक राज्य का प्रतिशत इस प्रकार रहेगा

राज्य का नाम	प्रतिशत	राज्य का नाम	प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	१५ २३	उडीसा	३'७३
महाराष्ट्र	११ ०५	पंजाब	२ ७५
बिहार	९ ६१	आसाम	२ ५४
पश्चिमी बंगाल	८ ८`	हरियाणा	१ ७७
तामिलनाडु	७ ९४	जम्मू-काश्मीर	०'८१
आन्ध्र प्रदेश	७ ७६	हिमाचल प्रदेश	० ६०
मध्य प्रदेश	७ ३०	त्रिपुरा	० २७
गुजरात	५ ५५	मेघालय	० १८
कर्नाटक	५ ३३	मणिपुर	० १८
राजस्थान	४ ५०	नागालैण्ड	०'०९
केरल	३ ९२		
योग			१००

(२) **राज्यों को ऋण**—ऋणो के सम्बन्ध मे राज्यो को इस प्रकार राहत दी गई है :—

राजस्थान २५८ करोड ६८ लाख, आंध्र १६१ करोड ३० लाख, आसाम १६२ करोड ४६ लाख, उडीसा १५७ करोड ३२ लाख, उत्तर प्रदेश १५० करोड़ ७७ लाख, पश्चिमी बंगाल १५३ करोड १२ लाख।

जम्मू काश्मीर १३३ करोड ४३ लाख, बिहार १३३ करोड ३५ लाख, कर्नाटक १२७ करोड ४ लाख, केरल १०६ करोड ७७ लाख, गुजरात ३६ करोड २५ लाख, हरियाणा ३३ करोड़

हितानुसार सिद्धान्त के दोष (Demerits of Benefit Principle) :

सर्व प्रथम, हितानुसार सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार की विविध एव जटिल क्रियाओ की गणना और प्रत्येक व्यक्ति के लिये ऐसी क्रियाओ का निर्धारण उसके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले लाभों के आधार पर किया जा सकता है तथा किया जाना चाहिए। यह मान्यता बडी अवास्तविक है तथा इसमे उन गम्भीर सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक कठिनाइयो का कोई ध्यान नही रखा गया है जो इसको लागू करने मे सामने आती हैं। दूसरे, हितानुसार दृष्टिकोण का विकास इस आधार पर हुआ था कि कभी उस समय राज्य तथा व्यक्ति के बीच एक विचित्र एव अजीब सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध विनिमय आदान-प्रदान अथवा केवल मूल्य-विनिमय के आधार पर था। सरकार तो कुछ सेवाओ की व्यवस्था करती थी और व्यक्ति से यह आशा की जाती थी कि वह उनके लिये कर अदा करे। व्यक्ति की प्राइवेट आवश्यकताओ की सतुष्टि भी इसी नियम के अनुसार की जाती थी। प्राचीन काल मे इस दृष्टिकोण को चाहे कुछ भी मान्यता मिली हो, परन्तु अधिकाश सरकारी सेवाओं के सम्बन्ध मे राज्य तथा व्यक्तियो के बीच विनिमय का ऐसा आधार आज नही पाया जाता। अजकल अनेक ऐसी सेवायें है जिनकी व्यवस्था राज्य किसी व्यक्ति विशेष के कल्याण के लिये नही बल्कि सामान्य कल्याण (general welfare) के लिये करता है। इन सेवाओ का माप नहीं किया जा सकता और विभिन्न व्यक्तियों तथा जनता के विभिन्न वर्गों के बीच पृथक्-पृथक् इनका बँटवारा भी नही किया जा सकता। कुछ सेवायें हैं, जिनकी सरकार व्यवस्था करती है, जैसे—राष्ट्रीय प्रतिरक्षा तथा पुलिस आदि की सेवायें, इनके सम्बन्ध मे सरकार के कुल व्यय की गणना करना तो आसान है, परन्तु यह अनुमान लगाना बडा कठिन है कि इनमे कितनी-कितनी सेवायें किन-किन व्यक्तियों ने पृथक्-पृथक् प्राप्त की है। तीसरे, पिछली कुछ दशाब्दियो (decades) से, सरकारो ने कल्याण के क्षेत्र मे प्रवेश किया है और वे सभी किस्मकी सेवाओ की व्यवस्था इस उद्देश्य से करती हैं कि देश की सामान्य जनता के कल्याण मे वृद्धि हो। इस विचार के अनुसार, हितानुसार सिद्धान्त का किसी भी प्रकार से सामान्य उपभोग करना असम्भव हो गया है। चौथे, चूंकि लाभ समुदाय (community) को सामूहिक रूप मे प्राप्त करते हैं अत. कराधान को भी सरकार की सेवाओ का पोषण करने वाला एक सामूहिक साधन ही माना जाना चाहिए। पाँचवें, हितानुसार सिद्धान्त को यदि आँख बन्द करके (blinding) अपनाया भी गया तो इससे कराधान मे न्याय होने के स्थान पर भारी अन्याय ही होगा। उदाहरण के लिए, एक पेंशन-भोगी (pensioner) द्वारा प्राप्त किया जाने वाला लाभ निश्चित तथा बिल्कुल स्पष्ट होता है किन्तु हितानुसार सिद्धान्त तो बुढ़ापे मे पेंशन प्राप्त करने वाले उस व्यक्ति से यह आशा करेगा कि वह करो के रूप मे उसे सरकारी कोष को वापिस करे। यही बात तो हितानुसार सिद्धान्त मे स्पष्ट रूप से कही गयी है—अर्थात् यह कि प्रत्येक व्यक्ति सरकार को उन लाभो के अनुसार अदायगी करे जो कि उसने सरकार से प्राप्त किये हैं। ऐसे ही अन्य मामलो के समान पेंशन-भोगी व्यक्ति के मामलो मे भी सरकार ने एक हाथ से उसे जो दिया है, दूसरे हाथ से उसको वह वापिस ले लेगी। इससे तो अच्छी समझदारी की बात यही होगी कि पेंशन योजना को बिल्कुल चालू न किया जाए। इसी प्रकार हितानुसार सिद्धान्त को लागू करने से सरकार को अपने अनेक ऐसे खर्चों मे कटौती करनी पडेगी, जैसे कि शिक्षा, जन-स्वास्थ्य आदि के व्यय। छटवें, हितानुसार दृष्टिकोण का अर्थ यह होगा कि अनेक सेवाओं के मामले मे गरीबो पर प्रति व्यक्ति भार एक समान ही पडेगा, और यह एक समान भार पडना इसलिये हानिकारक है क्योकि अमीरों के पास गरीबो की तुलना मे करों की अदायगी करने के लिये अनेक साधन होते हैं। सातवें, हितानुसार सिद्धान्त वितरण तथा स्थिरीकरण (stabilisation) की समस्या को हल नही कर सकता जबकि वितरण एव स्थिरीकरण सरकारी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण पहलू हैं। उदाहरण के लिये, लाभ अथवा हित पर आधारित कराधान का उपयोग आय के श्रेष्ठतर वितरण तथा अर्थव्यवस्था के स्थिरीकरण के लिए नही किया जा सकता। अन्त मे, हितानुसार सिद्धान्त को केवल सीमित रूप मे ही लागू किया जा सकता है, अर्थात् ऐसी विशिष्ट अथवा प्रत्यक्ष सेवाओ के लिए जो व्यक्तियो को ऐच्छिक आधार पर उपलब्ध कराई जायें। अन्य शब्दो मे, सरकार एक प्राइवेट अथवा वाणिज्यिक उद्यम (commercial enterprise) के रूप मे कार्य कर सकती है और उस स्थिति मे अवश्य हितानुसार सिद्धान्त लागू

वृद्धि होती है और उनकी पूर्ति के लिये अधिक सरकारी आय की आवश्यकता होती है। इस स्थिति मे वित्त की एक लचीली व्यवस्था की महत्ता स्पष्ट है। केन्द्र से राज्यो की ओर को साधनो का हस्तान्तरण करके राजस्व के सघीय स्रोतो का लचीलापन राज्यो के वित्त मे भी स्थानान्तरित हो जाता है। वित्त आयोग समुचित सुझाव देकर इस प्रक्रिया मे सहायता करते है।

उपरोक्त दृष्टि से छँठे वित्त आयोग द्वारा प्रस्तुत किया गया आधार अधिक युक्तिपूर्ण है। आयोग की सिफारिशो के आधार पर राज्यो को अधिक धनराशि प्राप्त होगी।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1. B. R Misra · Indian Federal Finance
2. Taxation Enquiry Commission, Vol I, pp. 8-14
3. The Finance Commission, Reports 1952, 1957, 1961 and 1965.
4. India, 1976

UNIVERSITY QUESTIONS

१ छँठे वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशो का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिये।

Critically examine the major recommendations of the Six Finance Commission

२ पाँचवे वित्त आयोग की सिफारिशो की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

Examine critically the recommendations of the Fifth Finance Commission.

३ छँठे वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशो की विवेचना कीजिए।

Discuss the main recommendations of the Sixth Finance Commission.

४ "केन्द्र तथा राज्यो के बीच राष्ट्रीय साधनो के बँटवारे को गत्यात्मक स्वभाव से देखना चाहिए।" इस कथन को ध्यान मे रखकर इस विषय से सम्बन्धित छँठे वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशो की विवेचना कीजिये।

"Allocation of national resources between the centre and the states should be viewed from dynamic angle" In the light of this statement discuss the main recommendations of the Sixth Finance Commission.

२२

भारत में सरकारी व्यय
(Public Expenditure in India)

केन्द्र सरकार का व्यय
(Expenditure of the Central Government)

जिस प्रकार हम केन्द्र सरकार के बजट को राजस्व और पूंजीगत बजट (revenue and capital budgets) के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार केन्द्र सरकार के व्यय को भी राजस्व व्यय और पूंजीगत व्यय के रूप में विभाजित किया जाता है। संघ अथवा केन्द्र सरकार के राजस्व व्यय (revenue expenditure) की पूर्ति चालू आय में से की जाती है और दूसरी ओर पूंजीगत व्यय की पूर्ति पूंजीगत मदों से होने वाली प्राप्तियों से की जाती है। केन्द्र सरकार के राजस्व व्यय को स्थूल रूप में दो वर्गों में बांटा जा सकता है, अर्थात् (I) प्रतिरक्षा व्यय (defence expenditure), और (II) नागरिक अथवा असैनिक व्यय (civil expenditure)। असैनिक व्यय के पुनः चार भेद किये जा सकते हैं, अर्थात् (i) असैनिक प्रशासन पर व्यय, (ii) ऋण-भार (debt services) समाज, (iii) विकास-सेवाएँ, तथा (iv) राज्य सरकारों को दिये जाने वाला धन। गत पृष्ठ पर दी गई तालिका भारत सरकार के बढ़ते हुए राजस्व व्यय का चित्र प्रस्तुत करती है—

इस तालिका से प्रकट होता है कि सन् १९५१ से १९७७ तक की अवधि में संघ सरकार के व्यय में १३.७ गुनी वृद्धि हुई है। निरपेक्ष रूप में, इस अवधि में प्रतिरक्षा तथा असैनिक, दोनों ही प्रकार के खर्चों में वृद्धि हुई है। परन्तु असैनिक व्यय अपेक्षाकृत अधिक तीव्रगति से बढ़ा है। परिणामस्वरूप, कुल व्यय में असैनिक व्यय का अनुपात जो कि १९५०-५१ में ५३ प्रतिशत था, सन् १९७७-७८ (बजट) में बढ़कर ८२ प्रतिशत हो गया। इस अवधि में प्रतिरक्षा व्यय का अनुपात ४७ प्रतिशत से घटकर १८ प्रतिशत रह गया।

तालिका—१

संघ सरकार का राजस्व व्यय

(करोड़ रुपयों मे)

मद	१९५०-५१	१९६८-६९ (बजट)	१९६९-७० (बजट)	१९७२-७३ (बजट)	१९७३-७४ (बजट)	१९७४-७५ संशोधित	१९७५-७६ (बजट)	१९७६-७७	१९७७-७८ (बजट)
प्रतिरक्षा व्यय (Net)	१६४	८९४ (१०३३)[2]	९८५ ७८ (११०९)[2]	१४०४ १४ (१६५२)[2]	१४०४ ८२ (१७५३)[2]	१९५२	२०३६	२३७४	२४७६
असैनिक व्यय —									
असैनिक प्रशासन	२१	१४०	१६४ ८३	२७३ ८८	२७९ ४४	३०२ ४	३३३ ४	३९३	४०९
ऋण-भार (ब्याज)	३७	५५०	५६८ ८२	७६८ ६४	८३४ ८५	४५० ८	१०२३ ९२	१३९०	१६००
समाज व विकास सेवाएं	४०	२९८	२७२ ३३	४४० ८२	४५८ ६७	४५०	५९८ २८	६२२	७१३
राज्यो को सहायता	२५	४८५	५९६ १८[1]	९८५ ४९	८८१ १४	११४२	१२२८	१७०९	१९१४
अन्य मदें	५९	२२८	३७१ ९७	७१७ ६५	८९३ २०	—	—	२०६६	२३७५
कुल व्यय	३४६	२,५९५	२ ९५९ ९३	४५९० ६२	४७५२ १२			८५५४	९४८७

स्रोत : भारतीय रिजर्व बैंक की विज्ञप्तियां (Bulletins) A Eastern Economist

1. Including Union Territories.
2. Revised figures,
3. Figures not available.

सन् १९७७-७८ के बजट के अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा किये जाने वाले १ रु० के व्यय मे विभिन्न मदो पर किये जाने वाले व्यय का भाग इस प्रकार है :

केन्द्रीय सरकार का व्यय १ रु० मे
(१९७७-७८ के बजट मे)

मद	पैसे
आयोजन	३७ पैसे
विकास कार्य	२० ,,
रक्षा	१८ ,,
ब्याज का भुगतान	१० ,,
राज्यो का अतरण	०६ ,,
अन्य मद	०९ ,,
योग	१ ०० रु०

प्रतिरक्षा व्यय (Defence Expenditure)

केन्द्र सरकार को सशस्त्र सेनाओ पर बडी-बडी धनराशियाँ व्यय करनी होती है। इस व्यय को प्रतिरक्षा व्यय कहा जाता है और इसमे सैनिको व सैनिक अधिकारियो के वेतन, पेन्शन तथा उनको दी जाने वाली अन्य सुविधायें आदि सम्मिलित होती हैं। अन्य देशो के समान ही भारत मे भी प्रतिरक्षा व्यय लगातार बढता रहा है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे, अर्थात् सन् १९६२ से, चीन तथा पाकिस्तान से हमारा सघर्ष हो जाने के कारण तथा देश की प्रतिरक्षा की निरन्तर तैयारियो के कारण, हमारे प्रतिरक्षा व्यय मे बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। भारत को देश की रक्षा के लिए एक बहुत बडी सेना रखनी होती है और अपनी सशस्त्र सेनाओ का आधुनिकीकरण करना होता है। प्रतिरक्षा व्यय अधिक होने का यही कारण है। सन् १९५०-५१ मे भारत का प्रतिरक्षा व्यय १६४ करोड रु० था। परन्तु सन् १९७७-७८ (बजट) मे यह बढकर २७५२ करोड रु० होने का अनुमान है। सन् १९७६-७७ के वित्तीय वर्ष मे वास्तविक रक्षा व्यय २६३५ करोड रु० हुआ था जबकि १९७७-७८ (बजट) के वर्ष मे २७५२ करोड रु० कुल रक्षा व्यय होने का अनुमान है। सन् १९७६-७७ व सन् १९७७-७८ के वर्षों मे रक्षा व्यय की प्रमुख मदो पर होने वाला व्यय इस प्रकार है

(करोड़ रु० मे)

मद का नाम	१९७६-७७ मे व्यय (वास्तविक)	१९७७-७८ मे व्यय (बजट)
पैदल सेना	१७,३८	१७,८३
वायु सेना	५,३४	५,६६
नौ सेना	१,५५	१८७

नागरिक अथवा असैनिक व्यय (Civil Expenditure)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सघ सरकार के नागरिक अथवा असैनिक व्यय के चार उपभेद किये जाते है। इसमे असैनिक प्रशासन का व्यय, ब्याज की अदायगी, समाज तथा विकास सेवाएँ और राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान सम्मिलित किये जाते है।

असैनिक प्रशासन पर किये जाने वाले व्यय मे सन् १९५०-५१ से ही निरन्तर वृद्धि हुई है जिसके अनेक कारण रहे है जैसे केन्द्र सरकार के विभागो का विस्तार, नये विभागो (departments) की स्थापना, सरकारी कर्मचारियो के ऊँचे वेतन तथा महँगाई भत्ता आदि-आदि। इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ने ससार के लगभग सभी देशो के राजनयिक सबध (diplomatic relation)

स्थापित किये हैं। सरकार संयुक्त राष्ट्र संघ (U N. O) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I M F.) तथा विश्व बैंक आदि में अपने प्रतिनिधिमण्डल (delegations) भेजती है। इन्हीं सब कारणों से, प्रशासन पर होने वाला व्यय लगातार बढ़ता ही रहा है। असैनिक प्रशासन पर किया जाने वाला व्यय सन् १९५०-५१ मे २१ २६ करोड रु० था जबकि सन् १९७७-७८ (बजट) में यह बढ़कर ४०६ ७९ करोड रु० होने का अनुमान है।

असैनिक व्यय की एक महत्वपूर्ण मद है, सरकारी ऋणों पर की जाने वाली ब्याज की अदायगी। भारत सरकार एक महत्वपूर्ण उधारकर्ता (borrower) बनी हुई है। यह व्यक्तियो, बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओ आदि से उधार लेती है। इस स्थिति मे, स्वभावत ही इसे ब्याज का भुगतान करना पड़ता है। चूंकि सरकारी ऋण की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि हो रही है, अत आजकल उनके ब्याज की अदायगी का प्रश्न सरकार पर एक बोझ बन गया है। उदाहरण के लिये, ब्याज की अदायगियों के रूप मे किया जाने वाला सरकारी व्यय सन् १९५०-५१ से ३७ करोड रु० था। व्यय सन् १९७२-७३ मे बढ़कर लगभग ७३० करोड रु० हो गया और १९७७ ७८ (बजट) मे यह १६०० २५ करोड रु० का होने का अनुमान है।

असैनिक व्यय की अन्य महत्वपूर्ण मद है, समाज तथा विकास सेवाओ पर किया जाने वाला व्यय। विकास व्यय एक तो (क) समाज सेवाओं, जैसा कि शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्रम तथा रोजगार आदि पर किया जाता है, और दूसरे (ख) आर्थिक सेवाओं (economic services), जैसे कृषि व सम्बद्ध सेवायें उद्योग, निर्यात वृद्धि, सिंचाई एव विद्युत, सार्वजनिक निर्माण, परिवहन व संचार सेवाओं आदि पर किया जाता है। राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से इन सेवाओ का बड़ा महत्व है। ये सेवायें श्रमिकों की कार्यक्षमता को वृद्धि मे सहायता करती हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय आय की वृद्धि में सहायक होती हैं। सरकार समाज तथा विकास सेवाओ की व्यवस्था मे भारी रुचि ले रही है। यह बात इस तथ्य से ही प्रकट है कि इन मदो पर किया जाने वाला व्यय सन् १९५०-५१ मे ४० करोड रु० था किन्तु १९७७-७८ (बजट) में यह बढ़कर ७१३ करोड रु० होने का अनुमान है।

अन्त मे, केन्द्र सरकार द्वारा राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान इस प्रकार के व्यय की श्रेणी मे आते हैं। केन्द्र सरकार राज्यो के कुछ खर्चो के लिए अनुदानों (grants) की व्यवस्था करके उनकी सहायता के लिए आगे आती है। सन् १९५०-५१ मे, केन्द्र से राज्यों को मिलने वाली सहायता की मात्रा २५ करोड रु० थी, १९६१-६२ मे यह राशि बढकर १६५ करोड रु० तक पहुँच गई। सन् १९७७-७८ के बजट मे राज्यो तथा संघशासित क्षेत्रों के लिए १६१४ करोड रु० की सहायता की व्यवस्था की गई। प्रतिरक्षा व्यय और ब्याज की अदायगियों के पश्चात् संघ सरकार के व्यय मदो मे राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान ही तीसरी सबसे बडी मद की श्रेणी मे गिने जाते हैं।

हमने अब तक इस बात का विवेचन किया है कि सन् १९५०-५१ मे संघ सरकार के राजस्व खाते के व्यय की प्रकृति क्या रही है और उसमे किस प्रकार वृद्धि हुई है। निम्न तालिका मे, वर्ष १९५०-५१ तथा १९७७-७८ (बजट) मे संघ सरकार के व्यय की विभिन्न मदो का सापेक्षिक महत्व (relative importance) दिखाया गया है.

तालिका—२

केन्द्र सरकार के व्यय की विभिन्न मदों का सापेक्षिक महत्व

(प्रतिशत में)

मद	१९५०-५१	१९६९-७० (वजट)	१९७०-७१ (वजट)	१९७३-७४ (वजट)	१९७७-७८ (वजट)
प्रतिरक्षा व्यय	४७	३३	३२	२९	१८
नागरिक तथा असैनिक व्यय —	५३	६७	६८	७१	८२
असैनिक प्रशासन	६	६	६	६	३७[1]
ऋण-भार(debt services)	११	१९	१९	१८	१०
समाज तथा विकास सेवाएं	१२	१०	१०	९	२०
राज्यों को सहायता	७	२०	२०	१९	०६
अन्य मदें	१७	१२	१३	१९	०९
कुल राजस्व व्यय	१००	१००	१००	१००	१००

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जहां तक कुल व्यय मे प्रतिशत का प्रश्न है, इस दृष्टि से प्रतिरक्षा व्यय घटा है और असैनिक व्यय बढा है। ऋणो के ब्याज की अदायगी के रूप में किये जाने वाले व्यय तथा राज्यों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता के व्यय मे इन वर्षों में उल्लेखनीय वृद्धियां हुई हैं।

केन्द्र सरकार का पूंजीगत व्यय (Capital Expenditure of the Central Governments) :

व्यय की उपर्युक्त मदो की पूर्ति जहां चालू आय (current revenues) से की जाती है वहां केन्द्र सरकार कुछ ऐसे खर्च भी करती है जो पूंजीगत व्यय की श्रेणी मे आते हैं और उनकी पूर्ति ऋणो (loans) तथा अन्य प्राप्तियों में से की जाती है। सरकार द्वारा पूंजीगत व्यय उद्योगो, रेलो, विमान चालन अथवा उड्डयन (aviation), डाक व तार, नदी प्रयोजनाओ (river projects) तथा विद्युत-प्रयोजनाओ आदि के विकास के लिए किया जाता है। पूंजीगत प्रयोजनाएं चूंकि देश का तीव्रगति से विकास करने के लिए अत्यावश्यक होती हैं अत केन्द्र सरकार १९५०-५१ से ही उनमें काफी रुचि ले रही है। भारत सरकार का पूंजीगत व्यय सन् १९५०-५१ मे १८४ करोड रु० से कुछ अधिक था जो कि १९७७-७८ (वजट) में बढकर लगभग ६०८१ करोड रु० तक पहुंचने की आशा है। इन आंकडो से कोई भी व्यक्ति यह विचार बना सकता है कि सारा का सारा ही पूंजीगत व्यय विभिन्न प्रयोजनाओ के विकास मे लगाया जाता है परन्तु ऐसा नही है। पूंजीगत व्यय की महत्वपूर्ण मदें नीचें दी गई हैं —

1. यह आयोजन पर होने वाला व्यय है।

तालिका—३

संघ सरकार का पूँजीगत व्यय

(करोड़ रु० मे)

मद	१९५०-५१	१९६९-७० (बजट)
उद्योगों तथा अन्य प्रयोजनो पर कुल पूँजीगत व्यय	७१	७६५
सरकारी ऋण का भुगतान	४६	६०८
राज्यो को दी जाने वाली अग्रिम धनराशियाँ	६१	७९९
ऋण तथा अग्रिम धनराशियाँ (Advance)	५	४५७
योग	१८३	२,६२९

तालिका से स्पष्ट है कि सन् १९५०-५१ मे १८३ करोड रु० के कुल पूँजीगत व्यय मे से केवल ७१ करोड रु० ही पूँजीगत लागत के रूप मे व्यय किये गये, जो कि कुल पूँजीगत व्यय मे केवल ३९ प्रतिशत ही थे। सन् १९६९-७० (बजट) में, लगभग २,६३० करोड रु० मे से केवल ७६५ करोड रु० पूँजीगत लागत के रूप मे व्यय किये गये जो कि कुल पूँजीगत व्यय की राशि के लगभग ३२ प्रतिशत था। यह जानना बडा रुचिकर है कि केन्द्र सरकार अपने राजस्व व पूँजीगत खातो के) कुल साधनो का २५ प्रतिशत से भी अधिक भाग राज्यो को हस्तान्तरित कर देती है। ये धनराशियाँ राज्यों को उनकी अपनी विकास योजनाओ के लिए दी जाती हैं जो कि नियोजित कार्यक्रमो का ही अग होती हैं। केन्द्र द्वारा राज्यो को दी जाने वाली इन धनराशियो का कुल योग प्रथम योजना काल मे ७७० करोड रु०, द्वितीय योजना काल के १,४१७ करोड रु० और तृतीय योजना काल में ३,०९२ करोड रु० था। चौथी पचवर्षीय योजना के दौरान (१९६९-७४) राज्यों को ३,५०० करोड रु० की केन्द्रीय सहायता दिये जाने का प्रस्ताव था।

सन् १९७६-७७ (सशोधित बजट) व १९७७-७८ के बजटो मे पूँजीगत व्यय के लिए प्रावधान निम्न प्रकार था :

पूँजीगत व्यय

(करोड़ रु० मे)

मद	१९७६-७७ (सशोधित)	१९७७-७८ (बजट)
(i) सामान्य सेवाएँ	९०	२४३
(ii) रक्षा सेवाएँ	२४१	२७६
(iii) सामाजिक और सामुदायिक सेवाएँ	९०	११७
(iv) आर्थिक सेवाएँ	१५८२	१६४४
(v) ऋण और अग्रिम	३६२७	३८०१
योग	५६३०	६०८१

भारत सरकार का सन् १६७७-७८ का बजट
(तुलनात्मक-दृष्टि से एक नजर में)

(करोड़ रु० में)

	१६७६-७७ बजट	१६७६-७७ संशोधित	१६७७-७८ बजट
राजस्व आय	८,२१६	८,५०७	६४२४
व्यय	७,६६०	८,५५४	६४८७
	+५२६	—४७	—६३
पूंजीगत आय	८,४२३	५२५२	५६४२
व्यय	५२८०	५६३०	६०८१
	—८५७	—३७८	—१३६
कुल आय	१२,६४२	१३,७५६	१५,३६६
कुल व्यय	१२,६७०	१४,१८४	१५,५६८
कुल घाटा	३२८	४२५	२०२
संशोधित (पूरक) बजट प्रस्तावों का प्रभाव			—१३०
शुद्ध घाटा			72

राज्य सरकार का व्यय
(Expenditure of State Government)

राज्य सरकारों के राजस्व व्यय (revenue expenditure) को दो सुविधाजनक शीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है, अर्थात् (i) विकास व्यय (development expenditure), और (ii) गैर-विकास व्यय (non-development expenditure)। प्रथम प्रकार का व्यय राज्यों के विकास कार्यों में लगाया जाता है। दूसरे प्रकार का व्यय, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, विकास के अलावा अन्य कार्यों पर किया जाने वाला व्यय है। निम्न तालिका में इन दोनों प्रकार के व्ययों को दिखाया गया है :—

तालिका—४
राज्यों का राजस्व खाते का व्यय

(करोड़ रु० में)

मद	१६५१-५२	१६७१-७२ संशोधित	१६७२-७३ (बजट)
विकास व्यय	१६६	२१८२	२३८६
गैर-विकास व्यय	१६६	१६६१	१६२६
योग	३६२	४१७३	४३१८

यह तालिका स्पष्ट बताती है कि राज्य सरकारों के कुल व्यय में अत्यन्त तीव्रगति से वृद्धि हुई है। सन् १६५१-५२ की तुलना में अब यह व्यय ग्यारह गुने से भी अधिक बढ़ गया है। परन्तु गैर-विकास व्यय की वृद्धि के मुकाबले विकास की वृद्धि कुछ अधिक तीव्र है।

विकास व्यय (development expenditure)—राज्य सरकारें सामाजिक सेवाओं एवं विकास कार्यों पर व्यय करती हैं। सामाजिक सेवाओं में शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, श्रमिकों के लिए कल्याण योजनाएँ, विस्थापितों की सहायता तथा उनका पुनर्वास आदि सम्मिलित किए जाते है। ये सेवाएँ जन-समुदाय को ठोस लाभ प्रदान करती हैं और ये सेवाएँ जितनी अधिक विकसित होती हैं, जनता उतनी ही अधिक सुखी तथा अच्छी दशा मे रहती है। राज्य निःशुल्क प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, वे उच्च शिक्षा तथा तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा के लिए भी सुविधाएँ एव दशाएँ उपलब्ध कराते हैं। वे औषधालयों तथा अस्पतालों आदि की स्थापना करते है और उन्हें चालू रखते हैं। उनके सचालन के लिए वे डाक्टरो, नर्सो, कम्पाउन्डरो तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य कर्मचारियो आदि का एक बहुत बडा अमला रखते है। वे बीमारियों व छूत के रोगो की रोकथाम की व्यवस्था करते हैं। इन सामाजिक सेवाओ के अलावा, राज्य कुछ ऐसी विकास प्रयोजनाओं (development projects) को भी हाथ मे लेते है जिनमे कृषि, पशु चिकित्सा, सिंचाई, विद्युत, ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास योजनाएँ, सडक-निर्माण, उद्योग आदि सम्मिलित होते है। इन प्रयोजनाओ पर व्यय की जाने वाली बडी-बडी धनराशियाँ देश के आर्थिक विकास मे सहायक होती है। आजकल तो राज्य सरकारो से यह आशा की जाती है कि वे ऐसी अनेक सेवाओ को आरम्भ करें और इसी का परिणाम है कि उनका व्यय बराबर बढता जा रहा है। तालिका ५ द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि जब से इस देश मे नियोजन (planning) का प्रारम्भ हुआ है तब से राज्यों के विकास-व्यय मे किस प्रकार वृद्धि हुई है।

सन् १९५१-५२ मे, राज्यो के राजस्व व्यय की कुल मात्रा ३९३ करोड रु० थी जिसमे आधा व्यय विकास-कार्यो पर किया गया था और आधा गैर-विकास कार्यो पर। सन् १९५१-५२ के बाद विकास मे व्यय मे निरपेक्ष तथा सापेक्ष (absolute and relative) दोनों ही दृष्टियों से वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, सन् १९७५-७६ मे विकास व्यय पर ४,४०६ ८ करोड़ रु० व्यय हुए। यह वृद्धि १९५१-५२ के मुकाबले २२ गुनी से भी अधिक है।

तालिका—५

राज्यों का विकास व्यय

(करोड़ रु० में)

मद	१९५१-५२	१९६८-६९ (बजट)	१९७२-७३ (बजट)	१९७५-७६
शिक्षा	६०	५२८	९०८ ०	२५७६ १
चिकित्सा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य	२९	२२५	४०५ ३	१८३० ७
कृषि, पशु चिकित्सा व सहकारिता	२६	१९८	३०७ ४	
सिंचाई	१८	८५	६३ १	
विद्युत योजनाएँ	४	९	० ४	
ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास	१	७२	१३६ ८	
असैनिक निर्माण-कार्य	४१	१४७	२५१ ९	
उद्योग तथा सभरण	६	२९	४३ ५	
अन्य विकास कार्यक्रम	११	१५७	२०२ ६	
कुल योग	१९६	१,४६०	२३८९ ०	४४०६ ८

राज्यों का गैर-विकास व्यय (Non-development Expenditure of the States)—गैर-विकास व्यय की सबसे महत्वपूर्ण मद नागरिक अथवा असैनिक प्रशासन (civil administration) की है। अन्य मदें हैं, ऋण-भार (debt services) तथा अकाल सहायता। राज्य मे आन्तरिक शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने का दायित्व भी राज्य सरकारो का ही होता है जिसकी व्यवस्था वे पुलिस, न्यायालयो एव जेलो के द्वारा करती हैं। राज्यो के समक्ष कानून व व्यवस्था की अनेक गम्भीर समस्यायें विद्यमान होती है जैसे कि साम्प्रदायिक दगे, डकैतियां, औद्योगिक विवाद तथा छात्रो के आन्दोलन व प्रदर्शन आदि, जिन्हें राज्य सरकारो को हल करना होता है। अभी हाल के वर्षों मे पुलिस शक्ति का विस्तार एव उसके स्तर मे सुधार किया गया है। इसके साथ ही साथ, सरकारी कर्मचारियो मे भी बराबर वृद्धि होती रही है जिसके कारण भी असैनिक प्रशासन का व्यय बढ़ा है। सन् १६७५-७६ मे राज्यो का गैर विकास व्यय २१८५ ३ करोड रु० था। तालिका न० ६ में इस देश मे नियोजन-काल के प्रारम्भ से अब तक राज्यो मे गैर-विकास व्यय मे होने वाली वृद्धि पर प्रकाश डाला गया है —

विकास व्यय के समान ही, राज्यो के गैर-विकास व्यय मे भी पिछले २६ वर्षों में वृद्धि हुई है, यद्यपि यह वृद्धि उतनी नही है जितनी कि विकास व्यय मे हुई है। उदाहरण के लिए, इस अवधि मे गैर-विकास व्यय मे ५ ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है जबकि विकास-व्यय ७ गुने से भी अधिक बढा है। इसके साथ ही, इसी अवधि के अन्तर्गत कुल चालू-व्यय (total current expenditure) में गैर-विकास व्यय का अनुपात घटा है। यह अनुपात सन् १६५१-५२ मे ५० प्रतिशत था किन्तु १६७२-७३ में यह घटकर लगभग ४५ प्रतिशत ही रह गया।

तालिका—६
राज्यों का गैर-विकास व्यय

(करोड़ रु० में)

मद	१६५१-५२	१६६८-६६ (बजट)	१६७२-७३
करो का सग्रह	२७	११२	१८५
ऋण-भार (debt services)	६	४५५	४६०
नागरिक या असैनिक प्रशासन	१०७	३५६	५१७
ऋण भुगतान	—	—	२७१
अकाल सहायता	४	२१	६७
विविध	४६	१६०	३६६
गैर-विकास व्यय का योग	१६६	१,१३७	१८२६

सन् १६७३-७४ से लेकर सन् १६७५-७६ तक राज्यों का गैर विकास व्यय इस प्रकार था

वर्ष	गैर-विकास व्यय (करोड रु० में)
१६७३-७४	१८६७ २
१६७४-७५	१६१६ ०
१६७५-७६	२१८५ ३

होगा। परन्तु राष्ट्रीय कराधान के लिए हितानुसार सिद्धान्त को लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि वह व्यावहारिक नहीं है, तथा समता के दृष्टिकोण से भी यह अस्वीकार्य है।

शताब्दियों तक, अर्थशास्त्रियों तथा लेखकों ने प्राप्त किये जाने वाले लाभों पर आधारित कराधान की ही वकालत की। इसके पीछे मूलभूत उद्देश्य यह था कि ऐसा कराधान समता तथा न्याय प्रदान करने वाला होगा। परन्तु अतीत में इसका महत्व चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो यह सिद्धान्त स्पष्टतः सम्पूर्ण कराधान पर लागू नहीं किया जा सकता। यदि इसका उपयोग एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में किया गया तो निश्चय ही इसका परिणाम असमता तथा अन्याय के रूप में ही सामने आयेगा। इसके अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि सरकार शिक्षा तथा जन-स्वास्थ्य जैसे कुछ अत्यावश्यक खर्चों को छोड़ने पर ही बाध्य हो जाए। तथापि अत्यन्त सीमित मात्रा में हितानुसार सिद्धान्त का प्रयोग करने की सिफारिश की जा सकती है, उदाहरण के लिए, सड़कों तथा गलियों की वित्तीय व्यवस्था करने में। इसके अतिरिक्त, हितानुसार सिद्धान्त के सीमित प्रयोग को इस आधार पर भी उचित ठहराया जा सकता है कि यह सामर्थ्य सिद्धान्त के चरम प्रयोग (extreme application) के प्रतिकारक (antidote) के रूप में कार्य करेगा।

कराधान का सामर्थ्य सिद्धान्त
(The Ability Principle of Taxation)

सामर्थ्य सिद्धान्त इस व्यापक मान्यता पर आधारित है कि जिन व्यक्तियों की आय अथवा जिसके पास धन है उन्हें अपनी सापेक्षिक सामर्थ्य के अनुसार सरकारी कार्यों की सहायता के लिए अपने अंशदान देना चाहिए। सरकार को कर अदा करने का दायित्व एक सामाजिक अथवा सामूहिक जिम्मेदारी माना जाता है, यद्यपि इस बात का निर्णय व्यक्तिगत आधार पर ही किया जाता है कि "कर कौन अदा करे तथा कितनी धनराशि अदा करे।" स्पष्ट है कि जिनके पास है उन्हें अदा करना चाहिए और जिनके पास नहीं हैं उन्हें अदा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कराधान के सामर्थ्य सिद्धान्त को सदा ही सामान्य प्रसिद्धि और समर्थन प्राप्त हुआ है तथा थोड़ी आय वाले वर्गों के लिए यह आकर्षक और प्रिय रहा है।

अतीत अथवा प्राचीन काल में सामर्थ्य सिद्धान्त (Ability Principle in the past).

न्याय तथा समता का विचार—अर्थात् यह कि करों के भार का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिये—अत्यन्त प्राचीन काल से ही अदा करने की सामर्थ्य के सिद्धान्त से सम्बद्ध रहा है। वास्तव में यह सिद्धांत हितानुसार सिद्धांत से भी पुराना है। १६वीं शताब्दी में गिनीसियार्डिनी (Gineciardini तथा जीन बोडिन (Jean Bodin) ने सामर्थ्य के आधार पर कराधान का समर्थन किया। विलियम पैटी (William Petty) तथा एडम स्मिथ ने भी सामर्थ्य सिद्धान्त के बारे में कहा, परन्तु जैसा कि हम पहले ही बतला चुके हैं, उन्होंने सामर्थ्य सिद्धान्त को हितानुसार सिद्धान्त के साथ मिला दिया। सामान्य विश्वास के विपरीत माना यह जाना चाहिए कि एडम स्मिथ का मत सामर्थ्य सिद्धान्त की अपेक्षा हितानुसार के समर्थन का था। सामर्थ्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे अधिक अच्छा वक्तव्य जे० एस० मिल (J S Mill) का है। मिल ने अनुबन्ध (contract) तथा संरक्षण (protection) पर आधारित हितानुसार सिद्धान्त को स्पष्ट रूप में अस्वीकार कर दिया। यदि कराधान को संरक्षण पर आधारित किया गया तो निश्चय ही वह अवरोही कराधान (regressive taxation) हो जायेगा क्योंकि निर्धनों को धनिकों की अपेक्षा अधिक संरक्षण की आवश्यकता होती है इसके अतिरिक्त चूंकि संरक्षण सिद्धान्त राज्य के सभी कार्यों की व्यवस्था करने में बिल्कुल असमर्थ था, अत कराधान के एक नये सिद्धान्त की आवश्यकता थी। नया सिद्धान्त इस उक्ति (dictum) पर आधारित होगा कि कानून के अन्तर्गत सब के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिये, और यह कि यह उक्ति कराधान पर भी लागू होनी चाहिए। मिल के शब्दों में "जिस प्रकार कि एक सरकार को व्यक्तियों अथवा वर्गों के बीच दावों की दृढ़ता के बारे में कोई भेदभाव नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार सरकार उनसे जिन त्यागों (sacrifices) की आशा करती है वे (त्याग) उन सबसे यथा-सम्भव वैसा ही दबाव डालकर कराये जाने चाहिए। यही वह रीति है जिसके द्वारा, सम्पूर्ण रूप में, न्यूनतम त्याग किया जाता है""राजनीति के एक सिद्धान्त के रूप में कराधान में समानता का मतलब

भारत में सरकारी व्यय की प्रवृत्तियाँ
(Trends in Public Expenditure in India)

(१) केन्द्र तथा राज्य सरकारों के राजस्व व्यय में वृद्धि—सरकारी व्यय में पाई जाने वाली सबसे पहली मुख्य प्रवृत्ति यह है कि संघ तथा राज्य सरकारों के राजस्व व्यय (revenue expenditure) में अत्यधिक वृद्धि होती रही है। इसकी पुष्टि निम्न आँकड़ों से होती है :—

तालिका—८
केन्द्र सरकार का राजस्व खाते का व्यय

(करोड़ रु० में)

वर्ष	व्यय
१९२१-२२	७० १२
१९३८-३९	८१ ५३
१९५०-५१	३४६ ६४
१९५५-५६	४६० ७४
१९६५-६६	२००२ ६३
१९७१-७२	४१०३ ००
१९७२-७३ (संशोधित)	४५७३ ००
१९७३-७४	४७५२
१९७४-७५ (संशोधित)	५८९०
१९७५-७६ (संशोधित)	७११७ ००
१९७६-७७ (संशोधित)	८५५४
१९७७-७८ (बजट)	९४८७

उपरोक्त तालिका स्पष्ट बता रही है कि पिछले कुछ दशकों (decades) में संघ सरकार का व्यय किस प्रकार बढ़ता रहा है। इस शताब्दी (century) के द्वितीय दशक में संघ सरकार का व्यय ७० १२ करोड़ रु० से आरम्भ हुआ था और अब यह सन् १९७७-७८ (बजट) में ९४८७ करोड़ रु० तक पहुँच गया। प्रतिरक्षा की बढ़ी हुई जिम्मेदारियाँ, प्रशासन का विस्तार, लोकतन्त्रीय संस्थाओं की कार्यप्रणाली, अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियाँ, शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसे राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में सरकार का अधिकाधिक भाग लेना और कीमतों में वृद्धि होना—ये वे तत्त्व हैं जो कि संघ सरकार के बढ़े हुए व्यय के लिए उत्तरदायी हैं।

केन्द्र के समान ही राज्यों के व्यय में भी वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, सन् १९२१-२२ में राज्यों (उस समय राज्यों को प्रान्त कहा जाता था) का व्यय ७० करोड़ रु० था, सन् १९५१-५२ में यह बढ़कर ३९२ करोड़ रु० हो गया और १९७५-७६ में यह ६६८२·७ करोड़ रु० तक बढ़ गया। राज्यों के सरकारी व्यय में वृद्धि के कारण ये थे प्रशासन का बढ़ता हुआ व्यय, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों की दशाओं को सुधारने की योजनाएँ, शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था और आर्थिक एवं विकास सेवाओं की उपलब्धता।

(२) सरकारी व्यय का बदलता हुआ प्रतिरूप—यद्यपि केन्द्र व राज्य सरकारों के कुल व्यय का तेजी से विस्तार हुआ है, परन्तु सभी प्रकार के व्ययों में समान मात्रा में परिवर्तन हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। विभिन्न मदों के व्ययों में जो समानुपातिक परिवर्तन (proportionate changes) हुए हैं उनमें भारी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। यही कारण है कि व्यय के स्वरूप में उल्लेखनीय अन्तर पाए जाते हैं।

राज्यों का पूँजीगत व्यय (Capital Expenditure of the States) :

जब से हमारे देश में आर्थिक नियोजन का प्रारम्भ हुआ है, तभी से (केन्द्र के समान ही) राज्यों का पूँजीगत व्यय भी तीव्रगति से बढ़ता रहा है। पूँजीगत व्यय की वित्तीय व्यवस्था पूँजीगत प्राप्तियों (capital receipts) से विशेष रूप से राज्यों द्वारा लिये जाने वाले ऋणों एवं उधारों (borrowings) में और केन्द्र द्वारा राज्यों को प्रदान किये जाने वाले अनुदानों (grants) एवं अग्रिम ऋणों में की जाती है। पूँजीगत व्यय के एक भाग में ऐसी विकास प्रयोजनाओं पर व्यय की गई पूँजीगत लागत सम्मिलित होती है, जैसे कि बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाएँ; सिंचाई तथा नौचालन, कृषि अनुसंधान एवं विकास योजनाएँ, विद्युत योजनाएँ, सड़क यातायात, भवन निर्माण, सड़कें तथा जलपूर्ति गृह औद्योगिक विकास आदि। पूँजीगत व्यय के अन्य भाग में स्थायी ऋणों का भुगतान, केन्द्र को कर्जों की वापिसी तथा राज्यों द्वारा दूसरे को दिये गये कर्ज एवं उधार सम्मिलित होते हैं। तालिका नं० ६ में राज्यों द्वारा किये जाने वाले पूँजीगत व्यय एवं उसकी वृद्धि पर प्रकाश डाला गया है —

तालिका—७

राज्यों का पूँजीगत व्यय

(करोड़ रु० में)

मद	१९५१-५२	१९६८-६९ (बजट)	१९७२-७३ (बजट)
विकास कार्यक्रमों पर पूँजीगत लागत	१००	४३२	७७८
गैर-विकास कार्यक्रमों पर पूँजीगत लागत	२७	१०	१९
कुल पूँजीगत लागत	१२७	४४२	७९७
स्थायी ऋणों की अदायगी	१	६८	९१
केन्द्र को ऋणों की वापिसी	११	४५४	७८५
अन्य ऋणों की वापिसी	—	४०	४१
राज्य सरकारों द्वारा दिये गये ऋण एवं उधार	४९	३७२	४५३
कुल पूँजीगत लागत एवं व्यय	१८८	१३७६	२१६७

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि विकास कार्यक्रमों पर किया गया कुल पूँजीगत खर्च, जिसे कि सन् १९५१-५२ में यथेष्ट महत्ता प्राप्त थी, इन वर्षों में बढ़ा है यद्यपि सापेक्षिक रूप में (relatively) नहीं। दूसरी ओर, वित्तीय व्यवहारों (financial transactions) में, जैसे कि सार्वजनिक ऋणों की वापिसी, केन्द्र से लिये गये अन्य कर्जों की वापिसी और राज्यों द्वारा दिये गये उधारों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। अन्य ऋणों की वापिसी नामक मद में जो ऋण (loans) सम्मिलित है उनमें कुछ हैं भारतीय रिजर्व बैंकों की राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य) निधि से लिये गये ऋण, राष्ट्रीय सहकारिता विकास निगम तथा केन्द्रीय गोदाम निगम से लिये गये ऋण और खादी व ग्रामीण उद्योग आय से लिये गये ऋण आदि, यह मद १९५६-५७ में चालू की गई थी। विकास पर किये गये पूँजीगत खर्च में बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओं तथा सिंचाई व नौचालन (navigation) आदि पर किया गया व्यय सम्मिलित है। गैर-विकास कार्यों पर किये गये पूँजीगत व्यय में राज्य व्यापार (state trading) पर किया गया सरकारी व्यय, जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के कारण जमींदारों को दी गई क्षतिपूर्ति और अन्य वित्तीय व्यवहार सम्मिलित हैं। व्यय की यह मद कोई अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यह तो इस तथ्य से ही प्रकट है कि सन् १९७२-७३ (बजट) में इस व्यय के लिए केवल १९ करोड़ की ही व्यवस्था की गई है, जबकि विकास कार्यों पर किए जाने वाले पूँजीगत व्यय के लिए ७७८ करोड़ रु० की व्यवस्था है।

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, भारत में संघ सरकार तथा राज्य सरकारों के बीच कार्य बँटे हुए हैं। संघ सरकार को प्रतिरक्षा (defence), विदेशी मामले, रेलें, डाक व तार आदि सौंपे गये हैं। राज्य सरकारों के खर्च की मुख्य मदें हैं—सार्वजनिक व्यवस्था (public order), पुलिस, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदि। केन्द्र तथा राज्यों के कार्यों पर यदि हम एक साथ विचार करें तो हम उन्हें तीन मुख्य शीर्षकों (heading) में विभाजित कर सकते हैं. (I) सुरक्षा सेवायें (Security Services) जिनमें प्रतिरक्षा पुलिस, अदालतें तथा न्याय और सामान्य प्रशासन आदि सम्मिलित हैं, (II) सामाजिक सेवायें (Social Services) जिनमें शिक्षा, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा सेवाएं और सफाई आदि सम्मिलित है, और (III) विकास सेवायें (Development Services) जिनमें कृषि, पशु चिकित्सालय, औद्योगिक योजनाएं तथा ऐसे ही अन्य कार्यक्रम सम्मिलित हैं। यहाँ हम सरकारी व्यय की विभिन्न मदों का अध्ययन इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत ही करेंगे।

(I) सुरक्षा सेवाओं पर व्यय
(Expenditure on Security Services)

सुरक्षा सेवाओं में वे सभी सेवाएं सम्मिलित हैं जो विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने तथा आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए सम्पन्न की जाती है। प्रतिरक्षा चूँकि एक केन्द्रीय विषय है, अतः इसका प्रसासन तथा संगठन संघ सरकार द्वारा किया जाता है। देश में शान्ति व व्यवस्था को बनाये रखने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है जिसको वे पुलिस, न्यायालयों तथा न्यायपालिका (Judiciary) के माध्यम से पूरा करती हैं।

प्रतिरक्षा (Defence)

वर्तमान समय में, प्रतिरक्षा का व्यय एक निरन्तर विद्यमान प्रकृति (ever increasing nature) का व्यय है। युद्ध तथा प्रतिरक्षा की तकनीकों में इतने सुधार हो गये हैं कि उनके लिये बड़ी मँहगी सामग्री का उत्पादन करना होता है और उसको बनाये रखना होता है। दिन-प्रतिदिन होने वाली वैज्ञानिक खोजों के कारण आज की युद्ध सामग्री कल को और कल की युद्ध-सामग्री परसों को पुरानी पड़ती जा रही है, परिणामस्वरूप बहुत थोड़ी-थोड़ी अवधि के पश्चात् ही उन्नत किस्म की युद्ध सामग्री से उसको प्रतिस्थापित (replace) करना पड़ता है। बड़ी-बड़ी स्थल सेनाएं वायु सेनाएं तथा नौ सेनाएं देश की रक्षा के लिए रखनी पड़ती हैं और उन्हें आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करना पड़ता है। यही कारण है कि प्रतिरक्षा पर किया जाने वाला व्यय वर्तमान समय में किसी भी देश के कुल व्यय का एक बड़ा प्रतिशत होता है और इसमें निरपेक्ष (absolute) तथा सापेक्षिक (relative) दोनों ही प्रकार के व्यय की वृद्धि होती है।

भारत में प्रतिरक्षा सेवाओं पर किये जाने वाले व्यय में निरन्तर बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है। सन् १९५०-५१ में यह व्यय १६४ करोड़ रु० था अर्थात् कुल व्यय का ४७ प्रतिशत। सन् १९६१-६२ में यह २६० करोड़ रु० अथवा कुल सरकारी व्यय का ३२ प्रतिशत था। चीनी आक्रमण के कारण सन् १९६२-६३ में यह बढ़कर ४२५ रु० और १९६३-६४ में ७०४ करोड़ रु० हो गया जो कि कुल व्यय का लगभग ४२ प्रतिशत था। सितम्बर १९६५ में भारत पाक संघर्ष के कारण प्रतिरक्षा व्यय में और वृद्धि करनी आवश्यक हो गयी। सन् १९७७-७८ (बजट) में प्रतिरक्षा व्यय के बजट अनुमान २५५२ करोड़ रु० के थे जो कुल व्यय का १८% ही था।

प्रतिरक्षा का वर्तमान व्यय युद्धपूर्व के ब्रिटिश काल के व्यय से मात्रा में तो बहुत ज्यादा है परन्तु उस समय की तुलना में कुल व्यय में इसका प्रतिशत नीचा है। सन् १९३९-४० में प्रतिरक्षा का व्यय १०० करोड़ रु० था परन्तु कुल व्यय का यह ५४ प्रतिशत अधिक था। उस समय भारत में सेना पर जो व्यय किया जा रहा था वह कुल व्यय में प्रतिशत के रूप अन्य अनेक देशों के मुकाबले काफी अधिक था। भारत के राष्ट्रवादी लोग इस प्रतिरक्षा व्यय के इस ऊँचे प्रतिशत की उन दिनों कड़ी आलोचना किया करते थे। विधान सभा में बजट पर होने वाली वार्षिक बहस के समय प्रतिवर्ष ही इस पर विचार किया जाता था और विरोधी दल बढ़े हुए प्रतिरक्षा व्यय के सम्बन्ध में सरकार की तीव्र आलोचना करते थे। भारतीयों का मत था कि

जहाँ तक सघ सरकार का प्रश्न है, सबसे अधिक वृद्धि सघ (union) द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानो मे हुई है—अर्थात् १९५०-५१ व १९७३-७४ (बजट) की अवधि के बीच लगभग ३५ गुनी वृद्धि। केन्द्र सरकार के व्यय मे दूसरी सबसे अधिक वृद्धि ऋण-भार (debt services) मे हुई है—अर्थात् सन् १९५०-५१ से अब तक लगभग २२ गुनी वृद्धि। इससे प्रकट होता है कि उधार लेकर विकास कार्यो पर किया जाने वाला सरकारी व्यय किस प्रकार बढ रहा है। अन्य महत्वपूर्ण वृद्धियाँ इस प्रकार हैं . प्रतिरक्षा व्यय मे ६ गुनी, समाज और विकास सेवाओ मे ११ गुनी और नागरिक अथवा असैनिक प्रशासन मे १२ गुनी। फिर, कुल व्यय मे प्रतिरक्षा व्यय का अनुपात, जो कि १९५०-५१ मे ४७ प्रतिशत था, १९७७-७८ (बजट) मे घटकर १८ प्रतिशत रह गया।

राज्यो की स्थिति मे, गैर-विकास व्यय की तुलना मे विकास व्यय अधिक महत्वपूर्ण रहा है। सन् १९५१-५२ मे ये दोनो ही प्रकार के व्यय ठीक बराबर थे, अर्थात् दोनो का प्रतिशत ५०-५० था। परन्तु १९७२-७३ (बजट) मे विकास-व्यय कुल व्यय का ५५ प्रतिशत और गैर-विकास व्यय ४५ प्रतिशत हो गया। यही नही, विकास-खर्चो के अन्तर्गत भी कुल व्यय अन्य के मुकाबले अधिक तेजी से बढ़े है। इसका उदाहरण है शिक्षा, जिसमे १९५१-५२ के मुकाबले १६ गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है।

(३) केन्द्र और राज्यो का पूँजीगत व्यय—अन्त मे, सघ तथा राज्य सरकारो के पूँजीगत व्यय मे जो असाधारण वृद्धि हुई है, उसका उल्लेख करना भी सामयिक ही होगा। भारत मे आर्थिक नियोजन के शुभारम्भ के पश्चात् पूँजीगत व्यय को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। सन् १९३८-३९ मे केन्द्र तथा राज्य सरकारो का सम्मिलित पूँजीगत व्यय केवल १३ करोड रु० था। किन्तु सन् १९५०-५१ मे अकेली केन्द्र सरकार का पूँजीगत व्यय (capital expenditure) ही १८३ करोड रु० था जिसमे ७१ करोड रु० पूँजीगत लागत (capital outlay) के थे और शेष मे वित्तीय व्यवहार (financial transactions) सम्मिलित थे। (जैसे कि ऋणो की वापिसी अदायगी तथा राज्यो को दिये गये ऋण व उधार आदि)। सन् १९७७-७८ के बजट मे, केन्द्र सरकार का पूँजीगत व्यय ६०८१ करोड रु० रखा गया।

राज्य भी पूँजीगत परिव्यय अथवा पूँजीगत लागत के माध्यम से आर्थिक विकास पर अधिकाधिक धनराशियाँ व्यय करते है। सन् १९५१-५२ मे, उनका कुल पूँजीगत व्यय १८९ करोड रु० था जिसमे १२८ करोड रु० पूँजीगत लागत के रूप मे लगाये गये और शेष राशि वित्तीय व्यवहारो के रूप मे व्यय कर दी गइ। सन् १९६८-६९ के बजट मे राज्यो के कुल पूँजीगत व्यय की मात्रा १,३७५ करोड रु० निर्धारित की गई जिसमे मे ४४२ करोड रु० पूँजीगत लागत के रूप मे लगाया जायेगा और शेष राशि वित्तीय व्यवहारो के रूप मे व्यय होगी। सन् १९७५-७६ के बजट मे राज्यो के कुल पूँजीगत व्यय की मात्रा ४२७७ करोड रु० थी।

सरकारी व्यय के आर्थिक प्रभाव (Economics Effects of Public Expenditure) :

निरन्तर बढते हुए सरकारी व्यय से अनेक लाभ प्राप्त हुए हैं। सर्वप्रथम, इससे कृषि, उद्योग व परिवहन आदि के ठोस विकास मे सहायता मिली है। आर्थिक व सामाजिक उच्च स्तरो का निर्धारण हुआ। दूसरे, बढ़े हुए सरकारी व्यय के फलस्वरूप शिक्षा व सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसी सामाजिक सेवाओ का विस्तार एव उनमे सुधार हुआ है। तीसरे, सरकारी व्यय की वृद्धि ने राष्ट्रीय आय व रोजगार को बढाया है और रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया है। चौथे, पाँचो योजनाओं की अवधि मे इसने सरकारी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) का विस्तार किया है।

परन्तु सरकारी व्यय मे होने वाली यह वृद्धि मुद्रा-स्फीति (inflation) के लिए भी उत्तरदायी रही है। गत कुछ वर्षो से स्फीतिजनक दबाव (inflationary pressure) तीव्रगति से बढा है और स्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय उस समय तक सफल नही हो सकते जब तक कि सरकारी व्यय की वृद्धि पर ही रोक न लगाई जाए।

सकता था जबकि कराधान तथा उधार में वृद्धि करके अधिक साधन प्राप्त किये जाते और सरकार ने ऐसा किया भी।

पुलिस, न्याय, जेल तथा सामान्य प्रशासन (Police, Justice, Jails and General Administration)

पुलिस, न्याय, तथा जेल राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित विषय हैं। पिछले वर्षों में भारत में पुलिस दल का विस्तार किया गया है और उसको उन्नत तथा सुसज्जित किया गया है। इधर डकैती तथा साम्प्रदायिक दंगो से शान्ति व व्यवस्था की समस्याएँ तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् औद्योगिक हड़तालो की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हुई जिनसे बड़ी सावधानी से निपटने की आवश्यकता हुई है। भ्रष्टाचार में वृद्धि हो जाने के कारण एक विशेष पुलिस संस्थान की स्थापना भी आवश्यक हो गई, जिसका मुख्य कार्य ऐसे मामलों का पता लगाना एवं उनकी खोज करना है। उधर स्वतन्त्रा के बाद की अवधि में पुलिस दल की विभिन्न शाखाओं को शक्तिशाली भी बनाया गया।

भारत में, दण्ड-न्याय (criminal justice) पूर्णतया राज्य के ही खर्च पर प्रदान किया जाता है। सिविल न्याय (civil justice) के लिए अवश्य अदायगियाँ की जाती हैं और इस सम्बन्ध में फीस की मात्रा मामले में सम्बद्ध धन अथवा सम्पत्ति के मूल्य पर निर्भर होती है चूँकि सिविल न्याय आमतौर पर उन लोगों द्वारा प्राप्त किया जाता है जिसके पास धन तथा सम्पत्ति होती है अतः इस सम्बन्ध में फीस की वसूली अन्यायपूर्ण नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में भारत में जेलों में भी काफी सुधार किये गये हैं और वे अब केवल दण्ड भोगने के स्थान मात्र ही नहीं हैं बल्कि सुधारगृह बन गई हैं। इन सब कारणो से भी व्ययो में वृद्धि आवश्यक हो गई।

सामान्य प्रशासन से सम्बन्धित मशीनरी का भी काफी विस्तार हुआ है। यह बडी दयनीय बात है कि प्रशासन की कार्यक्षमता में वृद्धि के प्रयत्नों के बावजूद भी राज्यो में इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है।

इन सब सेवाओ सहित असैनिक प्रशासन के व्यय में भी वृद्धि हो रही है। सन् १९५१-५२ में सभी राज्यों का सम्मिलित प्रशासन व्यय १०७ करोड रु० था। सन् १९६०-६१ में यह बढकर १९७ करोड रु० हो गया। सन् १९७७-७८ (बजट) में ४०९-७९ करोड रु० असैनिक प्रशासन पर व्यय हुए।

सामाजिक सेवाओं पर व्यय
(Expenditure on Social Services)

सामाजिक सेवाओ, जैसे कि शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कर्मचारियों एवं श्रमिकों के लिए कल्याण योजनाओ, विस्थापितो की सहायता एवं पुनर्वास तथा ऐसी ही अन्य सेवाओ पर किया जाने वाला व्यय आधुनिक राज्य के व्यय का एक अनिवार्य अंग है। ये सेवायें उतनी अनिवार्य नही होती जितनी कि सुरक्षा सेवाये होती हैं। सुरक्षा सेवाएँ तो इतनी अनिवार्य होती हैं कि उनकी व्यवस्था अवश्य ही करनी होती है, भले ही वे न्यूनतम मात्रा में हो। इन सेवाओ पर किया गया व्यय केवल नकारात्मक लाभ (negative benefit) प्रदान करता है। दूसरी ओर, सामाजिक सेवाएँ सकारात्मक लाभ (positive benefit) प्रदान करती है। ये सेवाएँ जितनी ही अधिक विकसित होती हैं, समाज के लोग उतने ही अधिक प्रसन्न तथा सुखी दिखाई देते हैं। इन सेवाओं पर किया गया व्यय सुरक्षा सेवाओ पर किये जाने वाले व्यय को कम रखने में सहायक होता है क्योकि सामाजिक सेवाओ की पर्याप्त एवं उच्च कोटि की व्यवस्था होने से देश के लोगो का ईमानदारी एवं नैतिकता का स्तर ऊँचा उठता है जिसके फलस्वरूप पुलिस तथा कानूनी अदालतो आदि की कम आवश्यकता होती है। इस स्थिति में, लोगो में अधिक सन्तोष बना रहता है, कानून तथा व्यवस्था भंग करने की घटनाएँ तथा इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयाँ कम उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार, सामाजिक सेवाओ पर व्यय में वृद्धि करके सरकार सुरक्षा सेवाओं के व्यय में किफायत कर सकती है जिससे साधनो (resources) पर पड़ने वाला दबाव भी कम हो सकता है।

भारत मे जितनी सेना रखी गई है वह उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत अधिक है। अँग्रेज अफसरो तथा सैनिकों को जो ऊँचे वेतन दिये जाते थे उन पर उस समय आपत्ति की जाती थी। वास्तविकता यह थी कि सेना का एक भाग शाही सेना (Imperial Army) के रूप मे था जिसका निर्माण भारतीय उद्देश्यो की पूर्ति के लिए न होकर अन्य उद्देश्यो के लिए किया गया था।

जब द्वितीय विश्व युद्ध छिडा, तब भारत चूँकि ब्रिटेन के अधीन था, अत. उसे अपनी जनता की इच्छा के बिना ही युद्ध मे सम्मिलित होना पडा। देश का प्रतिरक्षा व्यय जो कि सन् १९३९-४० मे १०० करोड रु० था, बढकर १९४४-४५ मे ४६० करोड रु० हो गया। भारत की प्रतिरक्षा पर जो व्यय होता था, उसमे भारत का भाग ब्रिटेन तथा भारत के बीच हुए एक वित्तीय समझौते पर निर्भर था। भारत को जिन व्यय का भार उठाना था, वे थे (१) उसका युद्धपूर्व का प्रतिरक्षा व्यय, (२) कीमतो मे वृद्धि के कारण होने वाले व्यय मे वृद्धि, (३) ऐसे युद्ध कार्यों की लागत जिन्हे भारत की प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक समझा जाता था, और (४) समुद्र पार स्थित भारत की बाहरी प्रतिरक्षा सेनाओ के पोषण पर किये जाने वाले अतिरिक्त व्यय के सम्बन्ध मे की जाने वाली एक-मुश्त अदायगियाँ। इसके अतिरिक्त, भारत को कुछ अन्य अदायगियाँ भी करनी पडती थी जैसे भारतीय युद्ध-कार्यों के लिए प्राप्त सामान का मूल्य, भारत मे बनाई जाने वाली सभी स्थल सेनाओ की भर्ती, उनकी वित्त व्यवस्था तथा उनको सुसज्जित करने का व्यय, और जब तक कि वे भारत-भूमि पर रहे तथा भारत की रक्षा के लिए उपलब्ध रहे तब तक उनके पोषण एव देख-रेख का व्यय। इसके अलावा भारत मे होने वाले युद्ध व्यय का भार ब्रिटिश सरकार ने उठाया था। किन्तु व्यवहार मे, इस बात मे अन्तर करना बडा कठिन था कि कोई भी विशिष्ट कार्य अथवा व्यय भारत की प्रतिरक्षा के लिए था अथवा साम्राज्य की प्रतिरक्षा के लिए। अतः युद्ध-व्यय मे भारत का अशदान उससे बहुत अधिक था जितना कि न्यायोजित रूप मे होना चाहिए था।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् प्रतिरक्षा-व्यय मे कुछ कमी हुई। परन्तु यह कमी आशा से कम हुई। सन् १९४७ मे पाकिस्तान का निर्माण हुआ, जो कि दुर्भाग्यवश एक झगडालू पडोसी सिद्ध हुआ। इस कारण भी भारत मे बडी सेनाओं को बनाये रखना आवश्यक हो गया। उधर कश्मीर मे भारी सैनिक व्यय करना पडा। इसके पश्चात् जब पाकिस्तान का सयुक्त राज्य अमरीका से सैनिक सहायता सम्बन्धी समझौता हुआ तब से भी भारत-पाकिस्तान के बीच तनाव मे वृद्धि हुई। दोनो देशो के मध्य समय-समय पर होने वाली सीमा सम्बन्धी दुर्घटनाओ के कारण भी दोनो देशो का मनमुटाव बढा जिसके कारण भारत मे प्रतिरक्षा पर अधिक व्यय करना आवश्यक हो गया।

चीनी आक्रमण के पश्चात् तो हमारे सैनिक व्यय मे उससे बहुत अधिक वृद्धि हुई जितनी कि कभी पहले आशा भी न की गई थी। सन् १९६३-६४ के बजट में कुल प्रतिरक्षा-व्यय की मात्रा लगभग दुगुनी हो गई। यद्यपि सयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटेन जैसे मित्र देशो द्वारा हथियारो तथा अन्य युद्ध सामग्री के रूप मे कुछ सहायता प्रदान की गई किन्तु फिर भी, प्रतिरक्षा से सम्बन्धित भारी व्यय भारत को स्वय करना पडा। सेना के कई नये डिवीजनो का निर्माण करने के कारण तथा उनके लिए जो युद्ध-सामग्री चाहिए उसके अधिकाश व्यय का उत्पादन भारत मे ही करने के कारण भी भारत को भारी व्यय करना पड रहा है। उधर भारत-पाकिस्तान सघर्ष ने हमारी प्रतिरक्षा आवश्यकताओ मे और भी वृद्धि कर दी।

भारत ने सदा ही यह प्रयत्न किया कि उसकी प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओ मे कमी हो, क्योकि ये उसके विकास-कार्यों मे बाधा डालती हैं। पर ऐसे देश मे जहाँ की साधनो की कमी हो, यह निश्चित है कि इन साधनो को प्रतिरक्षा अथवा विकास के लिए प्राप्त करने मे तीव्र प्रतियोगिता आरम्भ हो जायेगी। अक्टूबर, १९६२ मे चीनी आक्रमण के समय भारत मे प्रतिरक्षा सम्बन्धी जो कुछ कम तैयारी दिखाई दी थी उसका मुख्य कारण यही था कि भारत मे विकास-व्यय को उच्च प्राथमिकता (high Priority) प्रदान की गई थी। बाद मे वह व्यय प्रतिरक्षा कार्यों मे लगाना पडा। इस स्थिति मे विकास प्रयत्नो को पूर्ववत् उच्च स्तर पर केवल तभी बनाये रखा जा

भारत मे, आर्थिक पिछडेपन ने सरकारो को चिकित्सा एव स्वास्थ्य की पर्याप्त एवं उच्च कोटि की सुविधाओ की व्यवस्था करने से रोका है। यही कारण है कि इस देश मे स्वास्थ्य का स्तर बहुत गिरा हुआ है। हमारे देश मे मृत्यु दर ऊँची है, औसत प्रत्याशित आयु (average expectation on life) कम है, औसत शारीरिक शक्ति की कमी है और इसी कारण कार्यक्षमता का स्तर भी नीचा है। यदि हम चाहते हैं कि हम उन स्तरो के निकट पहुँच जायें जहाँ तक कि ससार के उन्नत देश पहुँचे हुए हैं तो हमे चिकित्सा एव स्वास्थ्य सम्बन्धी दशाओ मे भारी सुधार करने होंगे।

सन् १९५०-५१ मे, हमारे देश मे केवल ८,६०० अस्पताल तथा औषधालय थे जिनमे १,१३००० पलग (beds) तथा ५६,००० प्रशिक्षित डाक्टर थे। ७ लाख गाँव वाले देश के लिए यह सख्या बहुत कम है। हिसाब लगाया जाए तो एक अस्पताली पलग ६२० गाँवो के लिये और एक डाक्टर १२५० गाँवो के लिए आता है। और यदि इस बात का ध्यान किया जाए कि अधिकाश अस्पताल एव डाक्टर शहरी क्षेत्रो मे ही केन्द्रित हैं, तो गाँवो के लिए उपलब्ध सुविधायें और भी कम बैठती हैं।

सन् १९६०-६१ मे, अस्पतालो व औषधालयो की सख्या १३,६०० थी जिनमे १,८५,००० पलग थे और डाक्टरो की सख्या ७०,००० थी। इस सम्बन्ध मे तृतीय योजना का लक्ष्य इस प्रकार था : १४,६०० अस्पताल व औषधालय, २,४० १०० पलग और ८१,००० प्रशिक्षित डाक्टर। डाक्टरी शिक्षा की व्यवस्था, छूत की बीमारियो की रोकथाम तथा पीने के साफ पानी के प्रबन्ध मे भी काफी सुधार किये गये हैं।

चिकित्सा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी योजनाओ की लागत प्रथम पचवर्षीय योजना मे १३० करोड रु० तथा द्वितीय योजना काल मे २२५ करोड रु० थी। पाँचवी योजना मे इस कार्य के लिए ७९६ करोड रु० की व्यवस्था की गई है। इन धनराशियो का एक बडा भाग राज्यो मे तथा शेष भाग केन्द्र मे खर्च किया जाता है।

चिकित्सा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य पर राज्यो द्वारा किये जाने वाले व्यय में तेजी से वढने की प्रवृत्ति पाई जाती है। सन् १९५१-५२ मे यह खर्च २९ २२ करोड रु० अथवा कुल व्यय का ७ ४ प्रतिशत था किन्तु सन् १९७५-७६ मे यह व्यय १८३०७ करोड रु० पाँचवी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत चिकित्सा व सार्वजनिक स्वास्थ्य पर राज्य सरकारो द्वारा ५१७ करोड रु० व्यय करने का प्रावधान है।

(III) विकास सेवाओं पर व्यय
(Expenditure on Developmental Services)

आर्थिक विकास से सम्बन्धित सेवाओ मे कृषि, पशु चिकित्सा, सहकारिता, सिंचाई, विद्युत योजनायें, ग्रामीण सामुदायिक विकास योजनायें, असैनिक निर्माण कार्य, उद्योग तथा सभरण, वैज्ञानिक तथा विविध विभाग, उड्डयन (aviation), बन्दरगाह तथा पाइलट का कार्य (*pilotage*) सम्मिलित हैं। *केन्द्र सरकार की स्थिति मे, विकास सेवाओ मे उद्योग तथा सभरण,* प्रकाश-दीप तथा प्रकाश नौकाएँ आदि और सम्मिलित की जाती है। इन मदो पर किया जाने वाला राजस्व खाते का केन्द्रीय व्यय १९५०-५१ मे ४० करोड रु० था और १९७०-७१ के बजट अनुमानो के अनुसार इस मद की धनराशि की मात्रा लगभग ३२० करोड रु० निश्चित की गई। राज्य सरकारो का (राजस्व व पूँजीगत खातो का) कुल विकास व्यय १९५१-५२ मे २२४ करोड रु० था जो कि १९७५-७६ में बढकर २१८५ ३ करोड रु० हो गया।

कृषि, पशु चिकित्सा, सहकारिता, सिंचाई तथा ग्रामीण निर्माण कार्य (agriculture, veterinary, co-operation, irrigation and rural work)—कृषि भारत की सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक क्रिया है। यह कुल जनसख्या का ७५ प्रतिशत से भी अधिक भाग को रोजगार प्रदान करती है। अत. इस मद पर की जाने वाली बडी-बडी धनराशियो का व्यय एक प्रकार से देश के आर्थिक विकास तथा जनसख्या के एक बडे भाग के कल्याण पर किया जाने वाला व्यय ही है। राज्य सरकारो ने सिंचाई, बहु उद्देशीय योजनाओ तथा कृषि से सम्बन्धित अन्य विकास-

शिक्षा (Education) :

यह सरकार का एक अनिवार्य कर्तव्य है कि वह ऐसे पमाने पर शिक्षा की सुविधाओं की व्यवस्था करे जो कि देश की जनसख्या के अनुरूप हो। भारत जैसे एक लोकतन्त्रीय देश मे, जहाँ कि सविधान लोगो को वयस्क मताधिकार (adult franchise) की सुविधा प्रदान करता है, देश का भाग्य वयस्क जनसख्या के हाथो मे ही होता है। अत यह आवश्यक है कि देश की जनसख्या को शिक्षित किया जाए और औसत वयस्क व्यक्ति इस स्थिति मे हो कि वह अपने मताधिकार का उपयोग विवेक एव बुद्धिमानी के साथ कर सके। हमारे सविधान के राजनीति के निर्देशक सिद्धातो मे से एक सिद्धान्त मे इस बात पर जोर दिया गया है कि सविधान के लागू होने से दस वर्षों की अवधि के अन्तर्गत, राज्य १४ वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चो के लिए अनिवार्य एव नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे। किन्तु यह लक्ष्य पूरा नही हो सका। अनिवार्य एव नि शुल्क शिक्षा मे सबसे बडी बाधा साधनो की कमी की थी। सरकार के पास यथेष्ट मात्रा मे धन का अभाव रहा जिसके कारण वह शिक्षा की इस प्रकार की कोई योजना लागू न कर सकी।

नि शुल्क प्राइमरी शिक्षा के साथ ही साथ, राज्य का यह भी एक आवश्यक कर्तव्य है कि वह स्कूल तथा कालेज की उच्च शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था करे। यह भी आवश्यक है कि सरकार तकनीकी एव व्यावसायिक शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दे क्योंकि देश का आर्थिक विकास एक बडी सीमा तक उन प्रशिक्षित कर्मचारी वर्ग की प्राप्ति पर निर्भर होता है जिनकी कि औद्योगिक उद्यमो के लिए आवश्यकता होती है। अत यह जरूरी है कि सरकार के कुछ साधन इसी प्रकार की योजनाओ मे लगा दिए जाएँ। किन्तु साधनो की ही कमी यहाँ भी ऐसी योजनाओ की पूर्ति मे मुख्य बाधा रही है।

प्रथम पचवर्षीय योजना की अवधि मे, शिक्षा पर किया जाने वाला कुल व्यय १५३ करोड रु० था जिसमे ८५ करोड रु० अथवा ५६ प्रतिशत प्रारम्भिक शिक्षा मे लगाया गया था। द्वितीय योजना काल मे, इस मद का कुल व्यय बढकर २५६ करोड रु० हो गया परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा पर जो भाग व्यय किया गया वह केवल ८७ करोड रु० अर्थात् कुल का ३४ प्रतिशत था। तीसरी योजना मे शिक्षा पर ४१३ करोड रुपये व्यय किये गये जिसमे से २०६ करोड रु० प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय हुए। चतुर्थ योजना मे शिक्षा पर ७८६ करोड रु० व्यय किये गये जिसमे से २३६ करोड रु० अर्थात् कुल व्यय का ३०% प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय हुए। पाँचवी योजना के अन्तर्गत शिक्षा पर १७२६ करोड रु० व्यय करने का प्रावधान था जिसमे से ७४३ करोड रु० केवल प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय करने का प्रावधान थे। यह राशि कुल व्यय का ४३% है। अन्य कार्यक्रम जिन पर योजना के अन्तर्गत शिक्षा सम्बन्धी व्यय किये जाते हैं, ये हैं माध्यमिक शिक्षा, सामाजिक एव शारीरिक शिक्षा, सास्कृतिक कार्यक्रम और इजीनियरिंग व औद्योगिक शिक्षा।

पिछले दस वर्षो मे, शिक्षा पर किये जाने वाले राज्य सरकारो के व्यय मे भी तेजी से वृद्धि हुई है। सन् १६५१-५२ मे, सभी राज्यो द्वारा शिक्षा पर किया गया कुल व्यय ६० करोड रु० था। सन् १६७५-७६ मे यह व्यय बढकर २,५७६ १ करोड रु० हो गया। पाँचवी योजना मे सभी राज्यो द्वारा शिक्षा पर १७२६ करोड रु० व्यय करने का प्रावधान है।

चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य (Medical and Public Health) :

चिकित्सा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओ (medical and public health services) की व्यवस्था करना राज्य की अन्य महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी है। जब लोगो का स्वास्थ्य अच्छा होता है तो उससे उनकी कार्यक्षमता का स्तर ऊँचा बना रहता है और धन का उत्पादन भी अधिक मात्रा मे करना सम्भव होता है। अत चिकित्सा एव स्वास्थ्य सेवाओ की व्यवस्था करना न केवल समाज-कल्याण के दृष्टिकोण से ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु आर्थिक प्रगति एव विकास के दृष्टिकोण से भी बडा महत्त्वपूर्ण है। सभी आधुनिक राज्य ऐसी सेवाओ की बडी उच्च कोटि की व्यवस्था करते है। सरकार इस सम्बन्ध मे जनता को अनेक प्रकार की सुविधाये उपलब्ध कराती है जैसे कि औषधालयो तथा अस्पतालो की स्थापना एव उनका सचालन, डाक्टरो तथा कम्पाउण्डरो के एक बडे स्टाफ का प्रशिक्षण एव उनकी नियुक्ति, बीमारियो को रोकने के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवायें तथा ऐसी ही अन्य सुविधायें।

सरकारी व्यय का महत्व
(Significance of Public Expenditure)

सरकार की राजकोषीय नीति के एक अग के रूप मे सरकारी व्यय का क्या महत्व है, इसका पता देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले इसके प्रभावो से लगाया जा सकता है। सरकारी खर्च वितरण सम्बन्धी न्याय (distributive justice) की वृद्धि जैसे महत्वपूर्ण आर्थिक लक्ष्यो की पूर्ति मे कहाँ तक सहायक हो सकता है, यह दो बातो पर निर्भर है, अशत तो इस बात पर कि राष्ट्रीय आय के सदर्भ मे ऐसे व्यय की मात्रा कितनी है, और अशत इस पर कि कल्याणकारी क्रियाओ पर सरकारी व्यय का प्रतिशत क्या है ? इन दोनो ही दृष्टियो से, भारत मे सरकारी व्यय का बहुत कम महत्व है। सन् १९६८-६९ मे, केन्द्र तथा राज्य सरकारो का कुल सम्मिलित व्यय लगभग ५२०० करोड रु० है। यह व्यय उस वर्ष की अनुमानित राष्ट्रीय आय का लगभग २० प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त सामाजिक तथा कल्याण-कार्यो पर किया जाने वाला व्यय भी कुल व्यय का बहुत थोडा भाग रहा है। इस कारण आर्थिक विषमताओ को दूर करने मे सरकारी व्यय का बहुत कम ही प्रभाव पड सका।

भारत मे, सरकारी व्यय के द्वारा कुछ सीमा तक प्रादेशिक एव क्षेत्रीय पुनर्वितरण अवश्य सभव हुआ है। विभिन्न राज्यो तथा क्षेत्रो के बीच, केन्द्रीय व्यय का स्वय ही इस प्रकार समायोजन (adjustment) किया जाता है जिससे कि अधिकाशतया और अपेक्षातया पिछडे क्षेत्रो को लाभ पहुँचे। केन्द्र सरकार द्वारा लागू किये जाने वाले विकास-कार्यक्रमो को प्राय इस प्रकार स्थानीयकरण किया जाता है जिससे कि अपेक्षाकृत निर्धन राज्यो क आय के स्तर तथा उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हो। इसके अतिरिक्त केन्द्र सरकार कम-उन्नत राज्यो को जो अनुदान देती है और विभाज्य करो (shared taxes) क वितरण की योजना मे राज्यो की जनसख्या को जो महत्व प्रदान किया जाता है उसके पीछे भी उद्देश्य यही है कि कम विकसित तथा अधिक जरूरत मन्द क्षेत्रो के पक्ष मे साधनो का पुनर्वितरण किया जा सके। इस उपाय से यद्यपि पूर्ण क्षेत्रीय समानता तो नही लाई जा सकती परन्तु इस सम्बन्ध मे सरकारी खर्च का जो महत्व है उसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

सरकारी व्यय के पुनर्वितरण सम्बन्धी प्रभावो (redistributive effects) का महत्व राज्यो मे भी कम नही है। सरकारी व्यय के द्वारा ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो मे आवश्यकताओ और साधनो के बीच समानता का एक निश्चित स्तर बनाये रखा जाता है। राज्य के राजस्व का एक बडा भाग बडे नगरो से विशेषत जनता के अधिक समृद्ध वर्गो से कराधान द्वारा प्राप्त होता है जबकि सरकारी व्यय का एक भाग ग्रामीण क्षेत्रो मे खर्च किया जाता है। यह भी सत्य है कि कर-आय के आंकडो से करो की प्रभावी बाह्यता (effective incidence) की कोई जानकारी नही मिलती और नगरो मे लगाये जाने वाले कुछ कर नगरो की सीमाओ से भी बाहर स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। पर कुछ भी हो, लोकवित्त (Public Finance) के द्वारा कुछ न कुछ पुनर्वितरण तो होता ही है। इसके अतिरिक्त जब राज्य सरकारें स्थानीय निकायो को सहायक अनुदान देती हैं, तो समानीकरण की यह प्रक्रिया, राज्यो की सीमा के अन्तर, आगे भी जारी रहती हैं, ऐसे अनुदान, कुछ सीमा तक, आवश्यकता के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं, फलस्वरूप कम विकसित स्थानीय क्षेत्र अनुदानो का अधिकाश भाग प्राप्त कर लेते हैं।

जहाँ तक लोगो की भावी करदान सामर्थ्य (future taxabla capacity) का सम्बन्ध है, विकास कार्यो एव सामाजिक सेवाओ पर किये जाने वाले व्यय के बढते हुए योगदान का भारी महत्व है। स्वतन्त्रता के पश्चात् की अवधि मे सरकारी व्यय की एक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि पूँजीगत व्यय का काफी भाग आर्थिक विकास मे लगाया गया है। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त, समाज-सेवाओ पर किये जाने वाले व्यय मे जो अधिकाधिक वृद्धि हुई है, विकास तथा पुनर्वितरण की दृष्टि से उसके बडे अनुकूल प्रभाव पडते हैं। अत. ऐसे व्यय के जो दीर्घकालीन प्रभाव पडते हैं, वे अवश्य विचारणीय तथा अनुपेक्षणीय हैं।

क्रियाओं पर बड़ी-बड़ी धनराशियाँ व्यय की हैं। इन्ही क्रियाओं पर केन्द्र सरकार भी धनराशियाँ व्यय करती है।

बजट व्यवस्थाओ के अनुसार सन् १९५१-५२ में राज्यो ने कृषि, पशु चिकित्सा तथा सहकारिता, सिंचाई और ग्रामीण एव सामुदायिक विकास पर ४४ करोड़ रु० व्यय किये। यह राशि राज्यो के कुल व्यय की ११ प्रतिशत से अधिक थी। सन् १९६०-६१ मे उन क्रियाओं पर किये जाने वाले कुल व्यय की मात्रा १५० करोड रु० हो गई जो कि कुल व्यय के १३ प्रतिशत से कुछ ही अधिक थी। सन् १९६८-६९ के बजट अनुमानो के अनुसार इन मदो पर किया जाने वाला व्यय ३५५ करोड रु० था जो कि कुल व्यय का लगभग १४ प्रतिशत था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कृषि आदि की मदो पर राज्यो द्वारा किये जाने वाले व्यय मे निरपेक्ष (absolute) तथा सापेक्ष (relative), दोनो ही रूप मे वृद्धि हो रही है।

असैनिक निर्माण कार्य (civil works)—असैनिक निर्माण कार्य मे सैनिको का विकास सार्वजनिक भवनो का निर्माण तथा ऐसी ही अन्य क्रियायें सम्मिलित की जाती है। आर्थिक विकास की गति काफी सीमा तक ऐसे निर्माण कार्यों पर निर्भर हुआ करती है। व्यापारिक तथा आर्थिक समृद्धि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश मे सडको का जाल बिछाया जाए। असैनिक निर्माण कार्यों का उपयोग कभी-कभी मन्दी काल मे आर्थिक क्रियाओ को गति प्रदान करने के लिये भी किया जाता है। भारत मे एक कार्य का परिणाम (volume) अपेक्षाकृत कम ही रहा है, इसी कारण इसका उपयोग प्रति चक्रीय कार्यवाही (anti-cyclical measure) के रूप मे अधिक नही किया जा सका है। परन्तु इस सम्बन्ध मे भावी सभावनाओ से इन्कार नही किया जा सकता।

केन्द्र तथा राज्यो की सरकारें यह व्यय अशत. तो राज्य खाते (revenue account) और अशत. पूँजीगत खाते (capital account) मे से करती हैं। ऐसा कोई स्पष्ट पैमाना नही है जिसके द्वारा इस व्यय को पूँजीगत एवं राजस्व व्यय के रूप मे विभाजित किया जा सके। आमतौर पर सडकों तथा भवनो पर किये जाने वाले व्यय को पूँजीगत व्यय माना जाता है अत: उसकी वित्तीय व्यवस्था राजस्व खाते मे से नही की जाती। परन्तु इस मद पर किया जाने वाला राजस्व व्यय भी कुल व्यय का काफी बडा भाग होता है।

सन् १९५१-५२ मे, राज्यो ने असैनिक निर्माण कार्यों पर ४१ करोड रु० व्यय किये। यह राशि राज्यो के कुल व्यय की १०.५ प्रतिशत थी। सन् १९६८-६९ के बजट मे इस कार्य के लिये १४७ करोड़ रु० की राशि की व्यवस्था की गई जो कि कुल व्यय की ८० प्रतिशत थी।

अन्य व्यय (Other Expenditure)

अन्य विकास क्रियाओ के व्यय मे बिजली योजनायें, उद्योग तथा संभरण, और कुछ विविध मदें सम्मिलित की जाती हैं। यह व्यय भी अशतः राजस्व खाते से किया जाता है और अशत पूँजीगत खाते से। फिर भी, इस व्यय को पूँजीगत एव राजस्व व्यय के रूप मे विभाजित करने के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। इन योजनाओ को राज्यो के आर्थिक विकास के लिए बडा आवश्यक समझा जाता है, इसी कारण पिछले कुछ वर्षों से इस व्यय को अधिकाधिक महत्व मिलता जा रहा है। राज्यो के राजस्व बजटो मे इन मदो के व्यय को एक पृथक् मद के रूप मे दिखाया जाता है किन्तु केन्द्रीय बजट मे सभी प्रकार के विकास-व्यय को सामाजिक व्यय के साथ ही एक संयुक्त मद के रूप मे दिखाया जाता है।

राज्यो ने बिजली योजनाओ, उद्योग तथा संभरण (industries and suppy) और अन्य विकास कार्यों पर २१ करोड रु० व्यय किये। यह सभी राज्यों के चालू व्यय का लगभग ५.३ प्रतिशत था। सन् १९६०-६१ मे, इन मदो पर किया जाने वाला व्यय ७६ करोड रु० था जो कि सम्पूर्ण व्यय का ७.७ प्रतिशत था। सन् १९६८-६९ के बजट अनुमानो मे इस व्यय के लिए २७२ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी जो कि कुल अनुमानित व्यय की लगभग १०.५ प्रतिशत थी।

है त्याग की समानता (equality of sacrifice) इसका अर्थ है कि सरकार के खर्चों के लिए प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिए जाने वाले धन का निर्धारण इस प्रकार किया जाये कि कोई भी व्यक्ति माँग की अदायगी से, अन्य प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य की तुलना मे, न तो अधिक असुविधा अनुभव करे और न कम।"[7]

मिल के अनुसार, "कराधान की समानता का अर्थ है त्याग की समानता।" कराधान तभी *समान और न्यायपूर्ण होता है जबकि करो के भाग का वितरण ऐसा हो कि ऐसे सभी व्यक्ति जो* सामान्य भलाई के लिए अशदान दें, समान त्याग करें।

सामर्थ्य सिद्धान्त के लिए औचित्य (Justification for Ability Principle)

सामर्थ्य सिद्धान्त के समर्थकों ने इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए निम्न तीन आधार प्रस्तुत किये है। प्रथम, सामर्थ्य सिद्धान्त का त्याग आधार। जैसा कि डाल्टन (Dalton) ने कहा सामर्थ्य सिद्धान्त की त्याग सम्बन्धी व्याख्याएँ करों की अदायगी के उन मनोवैज्ञानिक प्रभावों का अध्ययन करती हैं जो कि व्यक्तिगत करदाताओं अथवा करदाताओं के प्रत्येक वर्ग पर पड़ते हैं। मिल ने ऊपर उल्लिखित अपने उद्धरण मे त्याग की समानता पर जोर दिया है। परन्तु उस स्थिति से अधिक और समानता क्या हो सकती है जिसके अन्तर्गत कि सरकार की सहायता के लिये प्रत्येक व्यक्ति का अशदान ऐसा हो कि जिसका परिणाम सभी के लिये समान त्याग के रूप मे सामने आये।

सामर्थ्य सिद्धान्त के सम्बन्ध मे दूसरा औचित्य आय की घटती सीमान्त उपयोगिता (diminishing marginal of income) के दो रूप मे दिया जाता है आय की घटती हुई सीमान्त उपयोगिता का विचार घटती सीमान्त उपयोगिता के सामान्य सिद्धान्त से लिया गया है। आय मे वृद्धि का अर्थ होता है अतिरिक्त आय से अपेक्षाकृत कम उपयोगिता प्राप्त होना। स्मरण रहे कि आय से मानवीय आवश्यकताएँ सन्तुष्ट की जाती हैं। ऐसी सभी आवश्यकताएँ अनिवार्य आवश्यकताओं की श्रेणियो मे आती हैं जो जीवित रहने के लिए अत्यावश्यक होती हैं एव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं। ये आवश्यकताएँ सभी व्यक्तियो द्वारा किसी न किसी प्रकार सन्तुष्ट की जाती है। इसके बाद वे वस्तुएं तथा सेवाएँ आती-है जिन्हे रूढ आवश्यकताएँ (conventional necessities) कहा जाता है और इसके पश्चात् नम्बर आता है आरामदायक और विलासिता का। एक व्यक्ति जैसे-जैसे पहले अनिवार्य आवश्यकताओं को, फिर रूढ आवश्यकताओं को और उसके पश्चात् आरामदायक एव विलासिता की आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करता है, उसकी इच्छा की तीव्रता शनै-शनै. कम होने लगती है। अत इन विभिन्न श्रेणियो की वस्तुओ एव सेवाओ को सन्तुष्ट करने के लिये आय मे जो क्रमिक वृद्धियाँ (successive increments) होगी, उन वृद्धियों से प्राप्त होने वाली *उपयोगिता भी, निश्चय ही क्रमश कम होती जायगी। इससे यह परिणाम निकलता है कि करो* का भार बडी आय वाले लोगो पर डाला जाना चाहिये क्योकि इस स्थिति मे उन्हें अधिक भार महसूस नही होगा। साथ ही, थोडी आय वाले व्यक्तियों को, जो कि आय को अत्यावश्यक एव *अनिवार्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि मे व्यय करते हैं, करो से मुक्त कर देना चाहिए।*

सामर्थ्य सिद्धान्त का तीसरा औचित्य उत्पादन-शक्ति (faculty interpretation) के रूप मे दिया जाता है। उत्पादक-शक्ति व्यक्ति की उत्पादन करने की क्षमता (capacity) को कहते

---

7 J S. Mill *Principles of Political Economy, Book* V, chapter II, sec, 2, "As the government ought to make no distinction of persons or classes in the strength of their claims on it, whatever sacrifices it requires of them should be made to be as nearly as yossible with the same pressure upon all, which it must be observed, is the mode by which least sacrifice is occasioned on the whole Equality of taxation, therefore, as a maxim of politics, means equality of sacrifice It means apportioning the contributions of each person towards the expense of the government, so that he will feel neither more nor less inconvenience from his share of the payment than every other person experiences from him"

इस प्रकार, भारतीय सरकारी व्यय के प्रतिरूप अथवा गठन के तथा पिछले वर्षों मे इसकी मात्रा मे जो प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं, उनके महत्वपूर्ण आर्थिक प्रभाव पड़े हैं। यह अवश्य है कि ये प्रभाव थोडी मात्रा मे ही पड़े। इसका कारण यह था कि राष्ट्रीय आय को देखते हुए सरकारी व्यय की मात्रा कम थी। परन्तु जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय मे सरकारी व्यय और सरकारी आय का अनुपात बढ़ेगा, वैसे-वैसे ही उनके विकास तथा पुनर्वितरण सम्बन्धी प्रभावो का महत्व भी बढता जायेगा।

सरकारी व्यय से सम्बन्धित सामान्य समस्याएँ
(General Problems Relating to Public Expenditure)

सरकारी व्यय का उपयोग प्राय: आर्थिक नीति के एक अस्त्र के रूप मे किया जाता है। राज्य नीति (state policy) के कुछ लक्ष्यों की पूर्ति सरकारी व्यय का सावधानी के साथ नियमन करके की जा सकती है। सरकारी व्यय की योजनाएँ इस प्रकार बनाई जाती हैं कि जिससे राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा मे अधिकतम वृद्धि के विषय मे आश्वस्त हुआ जा सके। पिछले वर्षों मे भारत मे सरकारी व्यय की मात्रा मे वृद्धि होती रही है। ऐसा आर्थिक विकास की महत्वाकाक्षी योजनाओं के कारण हुआ है। विकास कार्यक्रमो के साथ ही साथ, प्रशासनिक व्यवस्था का भी विस्तार हो जाता है जिससे प्रशासन पर होने वाला व्यय बढ जाता है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि प्रशासन के व्यय को यथासभव कम रखा जाए बशर्ते कि उससे कार्यक्षमता मे कोई कमी न हो जाए। अन्य शब्दो मे इसका अर्थ है कि यथासभव अपव्यय (wastage) को रोका जाना चाहिए। सरकारी व्यय से अधिकतम लाभ केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि वह व्यय मितव्ययता एव कुशलता के साथ इस प्रकार किया जाए कि रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार भाई-भतीजा-वाद तथा साधनो के असावधानीपूर्ण उपयोग के कारण होने वाली सभी फिजूलखर्चियाँ उससे दूर रहे। केवल ऐसा होने पर ही सरकार मे लोगों का विश्वास बना रह सकता है और करो के प्रति उनका प्रतिरोध कम हो सकता है।

व्यय में वृद्धि के विरुद्ध उठाई जाने वाली आपत्तियाँ (Objection Against Increase in Expenditure)

सरकारी व्यय मे होने वाली इन वृद्धियो के सम्बन्ध मे जनता की शिकायत यह है कि इस वृद्धि के साथ ही साथ सरकारी विभागो मे अकुशलता भी बढ रही है। विभागो मे आवश्यकता से अधिक आदमी भर्ती कर लिये गये हैं। व्यय इस प्रकार किये जाते हैं कि उनसे समाज को कोई प्रत्यक्ष या दृष्टिव्य लाभ नही होता। उदाहरण के लिए, प्रथम तथा द्वितीय योजनाओ की अवधि मे, निर्मित सिंचाई साधनो मे से केवल ८० प्रतिशत का उपयोग किया गया। योजनाओ (plans) के अन्तर्गत, अनेक प्रयोजनाओ (projects) के जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे, अनेक मामलो मे वे पूरे नही किये जा सके। कुछ स्थितियो मे, लक्ष्य पूरे न होने का कारण प्राकृतिक कठिनाइयाँ भी थी और यह भी कि योजनाओ के निर्माताओ ने लक्ष्यो के निर्धारण मे अत्यधिक महत्वकाक्षा से काम लिया था। परन्तु अधिकाश मामलो मे इसका कारण कर्मचारियो की अकुशलता, प्रयोजनाओ का समुचित रूप से एव सावधानी के साथ सचालन न करना और ऐसे ही कुछ अन्य दोष थे। इन परिस्थितियो के कारण सरकारी खर्च मे जो अपव्यय (wastage) हुआ है, उससे निश्चित रूप से बचा जा सकता था।

अकुशलता (inefficiency) ही कोई एकमात्र ऐसा आरोप (charge) नही है जो सरकारी विभागो के विरुद्ध लगाया जाता हो। भाई-भतीजावाद (nepotism), रिश्वतखोरी तथा भ्रष्टाचार सरकारी अपव्यय के अन्य कारण हैं। यह भारत का सौभाग्य है कि उसके पास, प्रशासन के उच्च स्तरो पर, सिविल सेवको का एक ऐसा दल है जो ससार के किसी भी देश के सिविल सेवको के बराबर है। परन्तु केवल उच्च स्तर के अधिकारियो से ही प्रशासन का सम्बन्ध होता हो, ऐसी बात तो नही है। वास्तविकता यह है कि सरकारी पद सोपान (official hierarchy) के सभी स्तरो पर ईमानदार एवं कुशल कर्मचारी वर्ग की आवश्यकता होती है। यह भारत का दुर्भाग्य है कि उच्च स्तर के सरकारी अधिकारी तथा मन्त्री (ministers) भी बेईमानी के आरोप

से बच नही सके हैं। इसके कारण ही भारत मे लोकपाल की नियुक्ति की आवश्यकता अनुभव की गई। यह हो सकता है कि इन आरोपो को लगाते समय सरकार के आलोचकों ने कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया हो। परन्तु उच्च स्तर के लोगो को तो सीजर की पत्नी की तरह, सभी प्रकार के संदेहों से परे रहना चाहिए। अत. यह आवश्यक है कि सरकार किसी ऐसी प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना करे जो उच्च स्तर के व्यक्तियों के विरुद्ध लगाये गये भ्रष्टाचार तथा भाई-भतीजावाद के आरोपो एवं शिकायतों की जाँच कर। तथापि, ऐसी प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना करना बडा कठिन है जिससे उक्त लक्ष्य की पूर्ति भी हो जाए और न तो सरकारी कर्मचारियो का मनोबल (morale) ही गिरे और न सरकार से कार्य-सचालन पर उसका कोई प्रतिकूल प्रभाव ही पड़े। इस अन्तिम बात ने सरकार पर बड़ा बोझ डाला है और यही कारण है कि इस दिशा मे अब तक कुछ भी नही हो सका है।

मितव्ययता के लिए की गई कार्यवाहियाँ (Measures for Economy) :

मार्च, १९५८ मे संसद मे कांग्रेस दल ने एक मितव्ययता समिति (economy committee) की स्थापना की। समिति ने कहा कि भारत सरकार देश मे आज एकमात्र सबसे बड़ी नियोक्ता (employer) है। समिति की रिपोर्ट सरकारी विभागों के व्ययो तथा उनके रोजगारो से सम्बन्धित तथ्यों एवं आंकड़ो की एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गई। समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि सरकार के असैनिक कर्मचारियों की सख्या मे भारी वृद्धि हुई है, विभिन्न विभागो के वेतन बिलो की धनराशियाँ बहुत बढ गई है और सभी दिशाओ मे व्यय बढा है। समिति ने कहा कि सरकारी विभागों मे जरा-जरा से बहाने के आधार पर स्टाफ में बढोतरी करने की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है। समिति ने सिफारिश की कि प्रशासकीय (administrative) अधिशासी (executive), लिपिक वर्गीय (ministerial), तथा कुशल व अकुशल पदो की भर्तियाँ एकदम बन्द कर दी जानी चाहिए और ऐसे सभी पद समाप्त कर दिये जाने चाहिए जो ६ या उससे अधिक महीनो से खाली पड़े हैं केवल उन पदो को छोडकर जहाँ कि तकनीकी कर्मचारियो की आवश्यकता है। समिति से सुझाव दिया कि विभिन्न विभागो के फालतू स्टाफ से कर्मचारियो का एक केन्द्रीय कोष अथवा समूह (central pool) बनना चाहिए और फिर तत्पश्चात् जो भी नई भर्तियाँ की जाएँ वे केवल इसी केन्द्रीय समूह मे से की जानी चाहिए। समिति ने यह भी सिफारिश की कि सभी प्रकार की पुनर्नियुक्तियाँ (re employment) बिल्कुल बन्द कर दी जाएँ और जो लोग सेवा निवृत्ति की आयु तक पहुँच गये हैं उनको सेवा की अवधि का और विस्तार (extension) न किया जाए। इस प्रकार, समिति ने किसी भी प्रकार की छँटनी (retrenchment) की सिफारिश नहीं की, अपितु केवल उस समय तक नई भर्ती को बन्द रखने को कहा जब तक कि सभी विभागो मे कर्मचारियो की संख्या कम होकर समुचित अनुपात मे न हो जाए। सन् १९६०-६१ मे, बजट प्रस्तुत करते समय तत्कालीन वित्त मन्त्री ने यह आश्वासन दिया था कि एक वर्ष तक किसी भी नये पद का निर्माण नही किया जायेगा और न खाली पदो को भरा ही जायेगा जब तक कि वह पद योजना से ही सम्बन्धित न हो अथवा सुरक्षा कार्यों के लिए ही उसकी आवश्यकता न हो।

सरकार ने मन्त्री परिषद् सचिवालय (cabinet secretariat) मे एक **संगठन और प्रणाली संभाग** (organisation and methods division) की स्थापना की है। यह सभाग कार्य करने के तरीको मे सुधार के लिए तथा कार्यक्षमता के साथ-साथ मितव्ययता लाने के लिए प्रत्येक मन्त्रालय (ministry) की क्रियाओ का अध्ययन करता है। वित्त मन्त्रालय के व्यय विभाग मे एक **मितव्ययता संभाग** (Economy Division) स्थापित है। यह सभाग ऐसे सभी प्रस्तावो की जाँच करता है जिन्हे वित्त मन्त्रालय की अनुमति की आवश्यकता होती है। ऐसा करने का उद्देश्य अधिक से अधिक मितव्ययता लाना ही होता है। यह सभाग इस बात की छानबीन करता है कि कोई भी प्रस्तावित व्यय अनिवार्य ही है अथवा इसको कम या पूर्णत. समाप्त किया जा सकता है। इस सभाग की एक विशेष पुनर्गठन इकाई (Special Reorganisation Unit) है जिसका मुख्य उद्देश्य सरकार के कार्यों मे कुशलता एवं मितव्ययता उत्पन्न करना है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह इकाई सरकार के विभागो (departments) तथा मन्त्रालयो के सगठन तथा उनके कार्य करने के तरीको का व्यापक एवं आलोचनात्मक अध्ययन करती है। इन सभी सगठनो का उद्देश्य

यही है कि सरकारी विभागों में कार्यकुशलता बढ़ाई जाए और व्यय के अध्ययन को रोकने में उनकी मदद की जाए।

सन् १९५७ से, विभिन्न मन्त्रालयों तथा विभागों ने आन्तरिक मितव्ययता समितियों (Internal Economy Committees) की स्थापना की है। ये समितियाँ कार्य की प्रकृति, किस्म तथा उसकी मात्रा की जाँच करती हैं और इस बात का पता लगाती है कि क्या उस कार्य को और शीघ्रता के साथ पूरा किया जा सकता है। वे इस बात पर भी विचार करती है कि क्या स्टाफ पर किये जाने वाले व्यय में कमी की जा सकती है और क्या सामान्य व्यय में कमी करने की गुंजायश है? इसके अतिरिक्त एक केन्द्रीय मितव्ययता मण्डल (Central Economy Board) भी स्थापित है जिसका कार्य यह है कि वह देखे कि आन्तरिक मितव्ययता समितियों की सिफारिशें लागू की जा रही है या नहीं। यह मण्डल ऐसे मामलों को भी जाँच करता है जिसके विषय में विशेष पुनर्गठन इकाई तथा सम्बद्ध मन्त्रालय के बीच मतभेद होता है। यह इस बात की जाँच करता है कि विशेष पुनर्गठन इकाई द्वारा किये गये कार्य-अध्ययनों (work-studies) का कहाँ तक पालन किया जा रहा है और उन पर आधारित प्रस्ताव कहाँ तक लागू किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक मन्त्रालय में एक पृथक् आन्तरिक दल होता है। यह दल ऐसे मामलों का अध्ययन करता है और उनके विषय में अपनी रिपोर्ट देता है जिनका सम्बन्ध अकुशलता से होता है। इस प्रकार, सरकारी व्यय पर निरन्तर निगाह रखी जाती है और प्रशासन की मशीनरी को सुप्रवाही एवं निर्दोष बनाने का सतत् प्रयत्न किया जाता है।

सन् १९५९ में राष्ट्रीय विकास परिषद् (national development council) ने एक योजना कार्यक्रम समिति की स्थापना की। उसका उद्देश्य भी सरकारी व्यय में मितव्ययता लाना था। गृह मन्त्री इस समिति के अध्यक्ष है तथा वित्त मन्त्री, योजना मन्त्री और योजना आयोग के उपाध्यक्ष इसके सदस्य हैं। यह समिति विभिन्न प्रयोजनाओं (projects) की छानबीन करती है और ऐसे दलों (teams) की नियुक्ति करती है जिनमें संसद-सदस्य भी होते हैं। ये दल अथवा टोलियाँ कुछ चुनी हुई प्रयोजनाओं का भ्रमण करती है और इस दृष्टि से उनकी जाँच पड़ताल करती है जिससे कि उनमें कार्यकुशलता एवं मितव्ययता लाई जा सके। इस प्रकार, सरकार व्यय के अपव्यय को रोकने के लिए तथा प्रशासन में कुशलता एवं मितव्ययता लाने के लिए यथाशक्ति प्रयास कर रही है।

परन्तु इन सब कार्यवाहियों की सफलता, काफी सीमा तक, कर्मचारी वर्ग के चरित्र एवं उसकी सत्यनिष्ठा (integrity) पर निर्भर है। यदि स्टाफ की ओर से आवश्यक सहयोग एवं प्रत्युत्तर नहीं मिलता है तो अच्छी से अच्छी कार्यवाहियाँ भी असफल हो जायेंगी। अतः यदि प्रशासन की कार्यक्षमता में वृद्धि करनी है और व्ययों में अधिक मितव्ययता लानी है तो इसके लिए आवश्यक है कि सरकारी विभागों में काम करने वाले व्यक्ति ईमानदार, निष्ठावान (loyal) तथा देशभक्त हों। यह तो मेज के पीछे बैठा हुआ व्यक्ति ही होता है जिसे कि किसी प्रस्ताव को लागू करना होता है और अन्त में उसकी सफलता उसकी सद्भावना पर ही निर्भर होती है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. R N Bhargava — The Theory and Working of Union Finance in India, Chapters XVI, XVII and XVIII.
2. R N Bhargava — Indian Public Finances, Chapter XI
3. Third Five Year Plan, Relevant Portions
4. J K Mehta and S N Agarwal — Public Finance, Chapters 31, 32, 33 and 45

UNIVERSITY QUESTIONS

१ भारत सरकार के सार्वजनिक व्यय की मुख्य प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए।

Describe the main feature of public expenditure of Government of India.

२. भारत में बढ़ते हुए सुरक्षा व्यय के आर्थिक प्रभावों का परीक्षण कीजिये। क्या आप समझते हैं कि नई सरकार रक्षा व्यय में कमी करने का प्रयास कर रही है?

Examine the economic effects of rising defence expenditure in India. Do you think that the new government is trying to reduce defence expenditure?

३ "सुरक्षा बजट पिता पर आश्रित कॉलेज के छात्र के बजट की भाँति है न कि एक परिवार के बजट की भाँति, जो निश्चित आय की सीमा में व्यय का कुशल बँटवारा करने की कोशिश करता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये एवं सुरक्षा व्यय में विगत वर्षों में हुई वृद्धि के कारणों पर प्रकाश डालिए।

"The defence budget is more like the budget of a college student being supported by his father, than like the budget of a household trying to allocate its expenditure efficiently within a fixed set of income possibilities." Explain this statement and account for the rise in defence expenditure in India in recent years

४. राज्य सरकारों के बढ़ते हुए व्यय पर प्रकाश डालिए।

Account for the rising expenditure of State Governments.

२३

सरकारी आय के स्रोत—प्रत्यक्ष कर
(Sources of Public Revenue—Direct Taxes)

केन्द्र तथा राज्य सरकारों की आय के स्रोत
(Sources of Revenue of the Central and State Governments)

केन्द्र सरकार को दो मुख्य स्रोतो से आय प्राप्त होती हैं—एक तो करो द्वारा और दूसरे सरकारी उद्यमों व अन्य साधनो द्वारा। एक दूसरे स्रोत से प्राप्त होने वाली आय को कर-इतर आय (non-tax revenue) भी कहा जाता है। करो से जो आय प्राप्त होती है। उसके तीन मुख्य स्रोत हैं (क) आय तथा व्यय पर लगाये जाने वाले कर, (ख) सम्पत्ति तथा धन पर लगाये जाने वाले कर, और (ग) वस्तुओ तथा सेवाओ पर लगाये जाने वाले कर। तालिका न० १ से हमे आय के इन विभिन्न स्रोतो की एक सक्षिप्त झलक मिलती है :

निम्न तालिका न० १ से यह स्पष्ट है कि केन्द्र सरकार को अपनी आय का एक बड़ा भाग करो से प्राप्त होता है। सन् १९५०-५१ मे उसकी करो से प्राप्त आय लगभग ९० प्रतिशत थी और कर-इतर आय १० प्रतिशत। १९७३-७४ के बजट के अनुसार, केन्द्र सरकार को आशा है कि अपनी आय का लगभग ७७ ४७ प्रतिशत भाग उसे करो से और २२ ५३ प्रतिशत कर-इतर स्रोतो से प्राप्त होगा। केन्द्र सरकार के समान ही राज्य सरकारो को भी मुख्य स्रोतो से आय प्राप्त होती है—एक तो करो से और दूसरे कर-इतर साधनो से। करो से प्राप्त होने वाली आय के भी तीन प्रमुख स्रोत हैं : (क) आय पर कर, (ख) सम्पत्ति और पूँजीगत सौदे पर कर, और (ग) वस्तुओ तथा सेवाओ पर कर। राज्य सरकारो की कर-इतर आय मे प्रशासनिक प्राप्तियाँ (administrative receipts), सरकारी उद्यमो का शुद्ध अशदान (net contribution), केन्द्र से प्राप्त राज्य सरकारो की आय का ब्यौरा तालिका न० २ द्वारा प्रदर्शित किया गया है —

तालिका—१

केन्द्र सरकार के आय के स्रोत

(करोड़ रुपयों में)

मद	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६५-६६	१९७०-७१	१९७१-७२	१९७२-७३ संशोधित	१९७३-७४ (बजट)	१९७४-७५ (संशोधित)	१९७५-७६ (बजट)	१९७६-७७ (संशोधित)	१९७७-७८ (बजट)
आय तथा व्यय पर कर	१२५	१९२ ००	४५३ ७	४८४ ६	५४६ ६	६६७ ६	७४२ ७	७४३ ३	७९२ ६		
सम्पत्ति तथा पूँजीगत सौदों पर	४	१३ ५	१९ ८	२६ ९	९९ ३	१३२ १	१२८ ९	४१९६० ७	४६६		
कर वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर	२२७	५२४ ७	१३११ १	१९३९ ९	२२८२ १	२६७२ १	३०६३ ८	८१९६० ७	४६६		
कर आय का योग	३५६	७३० २	१७८४ ६	२४५१ ४	२९२८ ०	३४७१ ८	३९३५ ४	४९०४	५४५८	६३९२[1]	७००८९[2]
कर-इतर आय का योग (Non-Tax-Revenue)	४९	१४७ ३	५३५ ८	८९० ५	१०९९ ८	११५६ ९	११४५ ९	१५८१	१६६१	२११५	२३३५
कुल आय	४०५	८७७ ५	२३२० ४	३३४१ ९	४०२८ ९	४६२८ ०	५०८१ ३	६४८५	७१५४	८५०७	९४२४

१. पृथक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

२. शुद्ध प्राप्तियाँ (राज्यों के हिस्से को घटाकर)

तालिका—२

निम्न तालिका पिछले कुछ वर्षों में राज्यों की आय को दर्शाती है :—

(करोड़ रु० में)

मद	१९६५-६६	१९७०-७१	१९७१-७२ (संशोधित)	१९७२-७३ (बजट)	१९७५-७६ (बजट)
(I) कर सम्बन्धी आय के स्रोत (Tax Revenue)					
(१) आय कर का अंश	१२३ १७	३५९ १०	४५२ ८०	४६० ९०	५४४ ६
(२) कृषि आय कर	९ ८८	१० ५०	११ ८०	१३ ४०	१२ २
(३) भू-राजस्व	१११ ९३	११२ ०६	९४ २०	१०६ ३०	१७७ ६
(४) संघ-उत्पादन-कर	१४५ ८०	३०० ३०	४७१ ८०	५४२ ४०	७७० १
(५) राज्य-उत्पादन-कर	९६ ३७	१०३ ८०	२३५ ५०	२५४ ४०	३८६ ३
(६) सामान्य बिक्री-कर	३३८ ५७	५६१ ६०	६०५ ९०	६७० ००	१६०५ ८
(७) मनोरंजन कर	२९ ४४	५७ ५०	६६ ००	७४ ८०	१३२ ४
(८) विद्युत कर	३५ ३६	६७ २०	७३ ९०	७७ ००	१०११
(९) स्टाम्प व रजिस्ट्रेशन कर	७४ ११	१२१ ८०	१३७ ०८	१४५ ३०	२०९ ८
(१०) मोटर स्प्रिट व मोटर-गाडी पर कर	९३ ४४	१५१ ००	१९२ ८०	२१६ ५०	३३६ ९
(II) कर-इतर आय (Non-Tax Revenue) का योग	७३२ ४६	१०८७ ००	१४५० ००	१४२२ ००	२४७६ ७
राज्यों की कुल आय	१४९० ५३	३१११ ९६	३७२१ ७८	४०८३ ००	६७५३ ८

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि राज्यों की आय के सभी स्रोत इन्हें अधिकाधिक आय प्रदान कर रहे है। सन् १९६५-६६ में राज्यों की कुल आय १४९० ५३ करोड़ रु० थी जो कि सन् १९७५-७६ में बजट अनुमान के आधार पर ६७५३ ८ करोड़ रुपये हो गई। इनमें आय तथा सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले कर तो प्रत्यक्ष कर कहलाते हैं और वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर परोक्ष कर कहलाते है। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत हम केवल प्रत्यक्ष करों पर ही विचार करेंगे।

आय पर कर—केन्द्र
(Taxes on Income—Centre)

"आय पर कर" शीर्षक के अन्तर्गत केन्द्र सरकार दो महत्वपूर्ण कर उगाहती है—एक तो व्यक्तिगत आय-कर (personal income-tax) और दूसरा निगम-कर (corporation tax)। इन दोनों स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय इस प्रकार है —

तालिका—३

आय पर कर

(करोड़ रु० में)

मद	१९५०-५१ (लेखे)	१९६९-७० (बजट)	१९७२-७३ (संशोधित)	१९७३-७४ (बजट)	१९७५-७६ (बजट)	१९७६-७७ (संशोधित)	१९७७-७८ (बजट)
व्यक्तिगत आय-कर	१३३	३६३	६०२	६४३	७ २ ६	९६५ ००	१०१५ ००
घटाओ—राज्यों का भाग	४८	१८५	४९२	५११	५४४ ९	६५२ २२	६८८ ३०
निवल-प्राप्तियां ..	८५	१७८	११०	१३२	२४७ ७	३१२ ७८	३२६ ७०
निगम कर	४०	३२६	५५८	५९७	७८० ५	१११३ ००	१२४३ ००
आय पर करों से प्राप्त कुल राजस्व	१२५	५०४	६६८	७२९	१०२८ २	१४२५ ७८	१५६९ ७०

आय-कर (The Income Tax)

भारत मे वर्तमान आय-कर का आरम्भ सन् १८६० से हुआ माना जाता है जबकि नीची दरों पर हल्का क्रमवर्धी आय-कर लगाया गया था। उस समय यह कर अस्थायी रूप से लगाया गया था और सन् १८६५ मे यह समाप्त कर दिया गया था। किन्तु बजट सम्बन्धी आवश्यकताओ के कारण १८६९ मे इसे फिर अस्थायी रूप से लागू किया गया। सन् १८८६ मे, भारतीय आयकर अधिनियम (Indian Income-Tax Act) द्वारा इसे स्थायी बना दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार आमदनियो पर प्रतिशत के आधार पर एक क्रमवर्धी कर (graduated tax) लगाया गया। अखिल भारतीय कर जॉच समिति की सिफारिश के आधार पर सन् १९२२ का भारतीय आय-कर अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम मे अनेक बार सशोधन किये गये किन्तु उसमे सबसे महत्वपूर्ण सशोधन सन् १९३९ मे विधान मण्डल (legislature) द्वारा किया गया। इस सशोधन के अनुसार, शिला पद्धति के आधार (slabe basis) पर क्रमवर्धी दरें लागू की गई और अति के लिए छूट की सीमा घटाकर ३०,००० रु० कर दी गई। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे सन् १९४० मे अतिरिक्त लाभ कर (exces-profits tax) लगाया गया और आय-कर पर अधिभार (surcharge) भी लागू किया गया। आय-कर तथा निगम-कर की छूट की सीमायें नीची कर दी गई और उनकी दरें बढा दी गई।

विधि आयोग (Law Commission), १९५८ और प्रत्यक्ष कर प्रशासन जाँच समिति (महावीर त्यागी समिति), १९५९ की रिपोर्ट की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार ने १९२२ के आय-कर अधिनियम के स्थान पर आय-कर अधिनियम, १९६१ पास किया। यही अधिनियम आजकल आय पर कर लगाने का आधार बना हुआ है। गत लगभग ८० वर्षों की अवधि मे आय-कर के ढाँचे मे अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनो के लिए उत्तरदायी मुख्य तत्त्व जहाँ राजस्व की बढती हुई आवश्यकता को कहा जा सकता है, वहाँ अन्य अनेक कारण भी आय कर के ढाँचे के पुनर्निर्माण के लिए उत्तरदायी रहे हैं, जैसे कि बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियाँ न्यायायिक निर्णय और अनेक जाँच समितियो द्वारा किये गये प्रस्ताव।

व्यक्तिगत आमदनियो पर कर (Taxation of Personal Incomes).

व्यक्तियो, हिन्दू अविभाजित परिवारो, अपजीकृत फर्मो तथा व्यक्तियो के अन्य संगठनो की निबल आय (net income) पर आय-कर लगाया जाता है। कृषि-आय को कर-योग्य आय (taxable income) मे सम्मिलित नही किया जाता। धार्मिक एव पुण्यार्थ ट्रस्टो (religious and charitable trusts) की आमदनियो को आय-कर से मुक्त कर दिया जाता है। कर का निर्धारण कर-दाता की निबल आय पर किया जाता है। कुल आय मे से कुछ घटौतियाँ (deductions) निकाल देने के पश्चात् निबल आय निकाल ली जाती है। ये घटौतियाँ उन लागतो एव खर्चो से सम्बद्ध होती हैं जो कि आय के कमाने मे किये जाते हैं।

वित्त अधिनियम, १९६८ के अनुसार, व्यक्तिगत आय-कर की निम्न दरें थी :—

(१) कुल आय के प्रथम ५,००० रु० पर	५ प्रतिशत
(२) „ „ के अगले ५,००० „ „	१० „
(३) „ „ के अगले ५,००० „ „	१५ „

(४)	,, ,, के अगले ५,००० ,, ,,	२०	,,
(५)	,, ,, के अगले ५,००० ,, ,,	३०	,,
(६)	,, ,, के अगले ५,००० ,, ,,	४०	,,
(७)	,, ,, के अगले २०,००० ,, ,,	५०	,,
(८)	,, ,, के अगले २०,००० ,, ,,	६०	,,
(९)	,, ,, की शेष धनराशि पर	६५	,,

छोटी आमदनियों को कर से मुक्ति प्रदान की गई। सन् १९६६-६७ तक यह छूट की सीमा (exemption limit) अविभाजित हिन्दू परिवारों के लिए ६,००० रु० तथा अन्य लोगों के लिए ३,००० रु० थी। सन् १९६६ के वित्त अधिनियम (finance act) द्वारा इन सीमाओं में ५०० रु० की और वृद्धि कर दी गई। इस प्रकार अविभाजित हिन्दू परिवारों की स्थिति में ७,००० रु० तक की कुल आय पर अन्य मामलों में ४,००० रु० तक की कुल आय पर कोई आय-कर नहीं देना होगा।

व्यक्तिगत भत्तों के रूप में और भी छूट प्रदान की जाती है। व्यक्तियों तथा अविभाजित हिन्दू परिवारों की स्थिति में, कुल आय पर जो कर निर्धारित किया जाता था उसमें से कर-उन्मुक्ति (tax relief) की निश्चित धनराशियाँ घटा दी जाती थी।

इसके अतिरिक्त जीवन बीमा, निर्वाह निधियों के अंशदानों तथा डाक घर के बचत बैंक में खुले सावधि संचयी जमा खातों (cumulative time deposit accounts) के सम्बन्ध में भी घटौतियाँ तथा छूटें प्रदान की जाती थी। ऐसी अदायगियों का एक भाग कुल आय में से घटा दिया जाता था और फिर शेष बची हुई आय पर कर लगाया जाता था। ऐसी घटौतियाँ कुल आय की अधिक से अधिक २५ प्रतिशत अदायगियों पर ही दी जाती थी। अदायगियों का जो भाग घटाया जाता था वह प्रथम ५,००० रु० का ६० प्रतिशत और शेष अदायगियों का ५० प्रतिशत होता था।

आय कर की दरों में आमूल परिवर्तन (१९७३-७४ का बजट)

संसद के समक्ष सन् १९७३-७४ का बजट प्रस्तुत करते समय आय-कर की दरों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की घोषणा की गई थी। वित्त बिल, १९७३ के अनुसार कुल के चुने हुए स्तरों पर व्यक्ति पर कर इस प्रकार थे (i) व्यक्ति पर कर, (ii) जिनके पास पाँच हजार रु० की कृषि आय थी, (iii) जिसके पास दस हजार रुपये की कृषि आय थी, और (iv) जिसके पास बीस हजार रुपये की कृषि आय थी।

हैं और इसका पता व्यक्ति की आय तथा उसके संचित ढग से लगता है। कुछ मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद व्यक्ति के पास जो कुछ साधन शेष बच रहते हैं वे उसकी कर अदा करने की उच्चकोटि की क्षमता के प्रतीक होते हैं। हौब्सन (Hobson) ने "आर्थिक बेशी (economic surplus) की विचारधारा का प्रतिपादन किया है। यह आर्थिक बेशी उस भेद (distinction) पर आधारित थी जो कि आय के उस भाग, जिसमे कि करों को वहन करने की सामर्थ्य नही थी, और उस भाग के बीच पाया जाता था जिसमे कि करो का बोझ उठाने की सामर्थ्य नही थी, उस आय का सूचक था जो कि उत्पादन सम्बन्धी कार्यक्षमता को बनाये रखने के लिये आवश्यक थी। और जिसे आर्थिक बेशी कहा जाता था वह, हौब्सन के अनुसार भारी कराधान का बोझ उठा सकती थी। पोल बेरन ने वास्तविक आर्थिक बेशी और सम्भावित आर्थिक बेशी के बीच भी भेद किया।[8] वास्तविक आर्थिक बेशी (Actual economic surplus) वास्तविक चालू उपज तथा वास्तविक चालू उपभोग के अन्तर को कहा जाता था। यह अनेक सम्पत्तियो (assets) के वास्तविक सचय (actual accumulation) का सूचक था। सम्भावित आर्थिक बेशी (potential economic surplus) उस उपज (out put) को, जो कि एक निश्चय प्राकृतिक तथा प्रौद्योगिक पर्यावरण (technological environment) मे समस्त काम मे आ सकने योग्य साधनो का उपयोग करके पैदा की गई हो, तथा आवश्यक उपयोग के बीच के अन्तर को कहा जाता था। यह आर्थिक बेशी एक उच्चस्तर के कराधान को भी सहन कर सकती थी और ऐसे कराधान को आर्थिक प्रगति के आधार पर आसानी से न्यायोचित ठहराया जा सकता था क्योकि आर्थिक प्रगति के लिए यह जरूरी था कि इस बेशी का एक बडा अनुपात उत्पादक-विनियोग (productive investment) की ओर को प्रवाहित किया जाये। यदि ऐसा नही हुआ तो इस बेशी का उपयोग अनुत्पादक उपभोग तथा अनुत्पादक विनियोग के लिये किया जायेगा।[9]

उपरोक्त आधारो की कमियाँ

अदा करने की सामर्थ्य को सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध करने के लिये ऊपर जिन तीन आधारो का जिक्र किया गया है, यदि उनका सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इन तीनो ही आधारो मे कुछ कमियाँ हैं। त्याग (sacrifice) व्यक्तिपरक (subjective) है और इसका अर्थ प्रत्येक लेखक अपने-अपने तरीके से लगायेगा। आय की सीमान्त उपयोगिता के आधार पर अवश्य कुछ ठोस गुण हैं परन्तु इसका आधार भी व्यक्तिपरक (subjective plane) ही है। इसके अतिरिक्त, इसने इस बात की भी अपेक्षा कर दी है कि आय का उपयोग बचत तथा विनियोग के लिये भी किया जा सकता है जो कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक, दोनो ही दृष्टियो मे महत्वपूर्ण है। अन्त मे, सामर्थ्य सिद्धान्त का उत्पादक शक्ति आधार वस्तुपरक (objective) है परन्तु व्यवहार में लागू करते समय इसमे अनेक कठिनाइयाँ सामने आती है।

अदा करने की योग्यता तथा त्याग की समानता (Ability to pay and Equality of Sacrifice) :

मिल (Mill) के समय से ही सामर्थ्य सिद्धान्त का अर्थ करदाताओ के लिये त्याग की समानता के रूप मे लगाया जाता रहा है। समान त्याग के सिद्धान्त को वितरण के विशिष्ट ढाँचे मे ढालने के लिए निम्न बातो पर विचार करना होगा :—

(क) अदा करने की योग्यता अथवा सामर्थ्य का सूचक (index) किसे माना जाए ?

(ख) त्याग की समानता की विचारधारा मे 'समान' (equal) का स्पष्ट तथा वास्तविक अर्थ क्या है ?

(ग) भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के त्याग को कैसे मापा जाए और समान त्याग की विचारधारा को "कर की एक विशिष्ट दर" के लिये कैसे व्यक्त किया जाए ?

अब हम इन समस्याओ मे से प्रत्येक पर विचार करेंगे।

---

8. Paul A. Baran : *The Political Economy of Growth*, Monthly Review Press, pp 22, 28.
9. Raja Chelliah : *Fiscal Policy in Underdeveloped Countries*, P. 65.

किन्तु ११.००० रु० की आय के बाद उस पर कर का भार बढ़ता जायेगा। इसका कारण यह है कि उन पर सरचार्ज १०% के स्थान पर १५% की दर से लगेगा। इसके अतिरिक्त जिनकी वार्षिक आय १०,००० रु० से अधिक है उनके लिए छूट की सीमा ८,००० रु० ही रहेगी।

१०,००० से ११,००० रु० के मध्य की आय वालों के लिए एक नया फार्मूला तैयार किया गया है। इसके अन्तर्गत १०,५४० रु० तक की आय-वर्ग के लोगों को वास्तव में उससे कम कर देना होगा जितना कि वर्तमान में देना पड़ता था। किन्तु १०,५५० से अधिक आय वालों को अधिक कर देना पड़ेगा। आय-कर के तुलनात्मक कर-भार का अध्ययन निम्न तालिका की सहायता से किया जा सकता है।

आय-कर का भार

आय	कर (दस प्र श के अधिभार की दर से) पुरानी दरों पर	कर (पन्द्रह प्र श के अधिभार की दर से) दस हजार तक की छूट की सीमा बढ़ाने पर। वर्तमान भार	कर देयता में वृद्धि या कमी
१०,०००	३३०	शून्य	(—) ३३०
१०,५००	३८३	३८५	(+) २
११,०००	४६५	५१८	(+) २३
१२,०००	६६०	६९०	(+) ३०
१२,५००	७४३	७७६	(+) ३३
१५,०००	१ १५५	१,२०८	(+) ५३
२०,०००	२,१४५	२,२४३	(+) ६८
२५,०००	३,५२०	३,६८०	(+) १६०
.४०,०००	९,५७०	१०,००५	(+) ४३५
५०,०००	१,३९७०	१४,६०५	(+) ६३५
६०,०००	१,९४७०	२०,३५५	(+) ८८५
७०,०००	२४,९७०	२६,१०५	(+) १,१३५
८०,०००	३१,०२०	३२,४३०	(+) १,४१०
९०,०००	३७ ०७०	३८,७५५	(+) १,६८५
१,००,०००	४३,१२०	४५,०८०	(+) १,९६०
२,५०,०००	७६,१२०	७९ ५८०	(+) ३,४६०
१,००,०००	१,०९,१२०	१.१४,०८०	(+) ४,९६०
२,५०,०००	१,४२,१२०	१,४८,५८०	(+) ६,४६०
३,००,०००	१,७५,१२०	१,८३,०८०	(+) ७,९६०
५,००,०००	३,०७,१२०	३,२१,०७०	(+) १३ ९६०
१०,००,०००	६,३७,१२०	६,६६,०८०	(+) २८,९६०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहां एक ओर १०,००० रु० तक की आय वर्ग के लोगों को आयकर से मुक्ति मिली है वहां दूसरी ओर अधिक आय वर्ग के लोगों के आय-कर भार में वृद्धि हुई है।

आय कर की दरें (१९७३-७४ के बजट के आधार पर)

कर योग्य कुल आय (Taxable) Income)	(i) चुकाया जाने वाला व्यक्तिगत कर जब कि उसके पास कृषि आय नहीं है	(ii) चुकाया जाने वाला कर, उन दशाओ में, जब कि व्यक्ति के पास पाँच हजार रु० की कृषि आय है	(iii) चुकाया जाने वाला कर उन दशाओं मे जबकि व्यक्ति के पास दस हजार रु० की कृषि आय है	(vi) चुकाया जाने वाला कर, उन दशाओ में जबकि व्यक्ति के पास २० हजार रु० की कृषि आय है
रु०	रु०	रु०	रु०	रु०
५,००० रु०	शून्य	शून्य	शून्य	शून्य
६,००० रु०	११०	१८७	३३२	४६०
७,५०० रु०	२७५	४६८	७२९	१,१५०
१०,००० रु०	५५०	९३५	१,३९०	२,३००
१२,५०० रु०	१,०१८	१,६६४	२,२५३	३,७३८
१५,००० रु०	१,४८५	२,३२५	३,११५	५,१७५
२०,००० रु०	२,८७५	४,०५०	५,८१६	८ ०५०
२५,००० रु०	४,६००	६,३५०	८,२९०	११,५००
३०,००० रु०	६,९००	९,२२५	११,१६५	१४,९५०
४०,००० रु०	१२,६५०	१५,५५०	१८ ०६५	२१,८५०
५०,००० रु०	१८,५५०	२२,४५०	२४,९६५	२९,९००
६०,००० रु०	२६,४५०	२९,९२५	३३,०१५	३७,९५०
७०,००० रु०	३४,५००	३७,९७५	४१.०६५	४६,५७५
८०,००० रु०	४२,५५०	४६ ३१३	४९,६९०	५५,२००
९०,००० रु०	५१,१७५	५४,९३८	५८,३१५	६४।४००
१,००,००० रु०	५९,८००	६३।८५०	६७,५१५	७३,६००
१,५०,००० रु०	१,०५,८००	१,०९,८५०	१,१३,५१५	१,१९,६००
२,००,००० रु०	१,५१,८००	१,५६,१३८	१,६०,०९०	१,६६,७५०
२,५०,००० रु०	२,००,६७६	२,०५,०१३	२,०८ ९६५	२,१५,६३५
३,००,००० रु०	२,४९ ५५०	२,५३,८८८	२,५७.८४०	२,६४,५००
५,००,००० रु०	४,४५,०५०	४,४९,३८७	४,५३,३४०	४,६०,०००
१०,००,००० रु०	९,३३,८००	९,३८,१३८	९,४२,०९०	९,४८,७५०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि सरकार ने आयकर की दर मे पर्याप्त वृद्धि की थी। इससे केन्द्रीय सरकार को १८ ६० करोड रु० की अतिरिक्त आय होने की सम्भावना थी। सरकार ने के० एन० राज समिति की सिफारिशो को स्वीकार करते हुए कृषि आय को भी कर राशि में सम्मिलित किया था। इस प्रकार कृषि तथा गैर कृषि आय का आंशिक एकीकरण किया गया था।

सन् १९७७-७८ के बजट के अनुसार आय पर आय कर की दरें

वित्तमंत्री श्री एच० एम० पटेल ने आयकर की छूट की सीमा ८०० रु० से बढ़ाकर १०,०० रु० कर दी है। इस प्रकार १०,००० रु० तक की आय वालो को कोई कर नही देना पड़ेगा

सभी प्रकार की मशीनरी समन्त्र (plant) तथा स्थिर परिसम्पत्तियों (fixed assets) पर मूल्य-ह्रास सम्बन्धी छूटें प्रदान की जाती हैं। इन सभी व्यवस्थाओ का उद्देश्य यह है कि व्यवसायो (businesses) को निवेश एव विस्तार करने की प्रेरणाएँ मिलें।

इन छूटो के अलावा, कुछ उद्योगो को विशेष परिस्थितियो के अन्तर्गत, और भी छूट प्रदान की जाती है। उदाहरण के लिए, कुछ देशी कम्पनियो को विशेष छूट दी जाती है। यह विशेष छूट उन्हें ऐसे लाभो पर प्रदान की जाती है जो कि बिजली के उत्पादन अथवा वितरण के व्यवसाय से होते हैं अथवा प्राथमिकता वाले उद्योगो (priority industries) से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट पदार्थों के निर्माण अथवा उत्पादन के व्यवसाय से होते हैं। ऐसी कम्पनियो की कुल आय का हिसाब लगाते समय इस प्रकार के लाभो के ८ प्रतिशत के बराबर धनराशि कुल आय मे से घटा दी जाती है।

सन् १९६५ मे एक और योजना लागू की गई है जिसके अन्तर्गत ऐसी कम्पनियों के लिए कर-समजन प्रमाण-पत्र (tax credit certificates) स्वीकार किये गये जो कि उल्लिखित मूल उद्योगो मे लगी हुई है। यह योजना सन् १९६६-६७ से आरम्भ होकर ५ वर्षों की अवधि के लिए लागू की गई थी। कर-हमजन प्रमाण-पत्र की धनराशि की गणना आधार वर्ष मे अदा किये गये अनुरूपी कर (corresponding tax) पर कम्पनी द्वारा दिये गये अतिरिक्त निगम-कर (अधि-कर सहित) के २० प्रतिशत की दर से की जानी थी। इसके अतिरिक्त, कुछ निश्चित सीमाओ तक, कर-मुक्त कर-समजन प्रमाण-पत्र ऐसे विनिर्माताओ (manufacturers) को जारी किये गये जिन्होंने १९६५-६६ से लेकर पाँच वित्तीय वर्षों की अवधि मे किसी भी एक अथवा अधिक वर्ष, अपने आधार वर्ष (base year) के मुकाबले माल का अधिक उत्पादन किया। ये रियायतें इसलिए प्रदान की गई ताकि इनके द्वारा कुछ उद्योगो मे उत्पादन बढ़ाने का तीव्र प्रोत्साहन मिले।

सन् १९६८-६९ के बजट मे कम्पनियो के लाभो पर लगने वाले आयकर को ३५ प्रतिशत से घटाकर २५ प्रतिशत कर दिया गया इसका मूलभूत उद्देश्य कम्पनियो की कुशलता मे वृद्धि करना था।

सन् १९६९-७० के बजट मे निगम कराधान के सम्बन्ध मे यह प्रस्ताव किया गया कि नवीन औद्योगिक उपक्रमो तथा जहाजी उद्योग को दी जाने वाली कर अवकाश सम्बन्धी रियायतो (tax holiday conclussion) की अवधि २ अप्रैल, १९७१ से बढ़ाकर ३१ मार्च, १९७६ तक कर दी जाये।

पिछले वर्षों मे निगम-कर (corporation tax) से प्राप्त होने वाली आय निम्न प्रकार थी :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निगम-कर से प्राप्त आय
१९५०-५१	१५५ ००
१९५५-५६	१९६·००
१९६०-६१	१६८·६०
१९६५-६६	३०४ ८०
१९७०-७१	३६५·००
१९७१ ७२	४४२ ००
१९७२-७३ (सशोधित)	५५८·००
१९७३-७४ (बजट)	५९७·००
१९७५-७६ (बजट)	७८१·००
१९७६-७७ (सशोधित)	१११३ ९०
१९७७-७८ (बजट)	१२४३·००

आय-कर एवं १९७७-७८ का बजट

सन् १९७७-७८ के आयकर सम्बन्धी बजट प्रस्तावों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) आय की न्यूनतम सीमा ८,००० रु० से बढ़ाकर १०,००० रु० कर दी गई है किन्तु जिन लोगों की आय १०,००० वार्षिक से अधिक होगी उनके लिए न्यूनतम सीमा ८,००० रु० ही रहेगी।

(ii) आय-कर की अधिकतम सीमान्त दर ६६% से बढ़ाकर ७०% कर दी गई है।

(iii) आय-कर सरचार्ज की दर १०% से बढ़ाकर १५% कर दी गई है।

(iv) आय कर दाताओं के लिए अनिवार्य जमा योजना चालू रहेगी।

(v) दीर्घकालीन बचतों पर प्रथम ४,००० रु० की पूर्ण राशि, अगले ६,००० रु० की ५०% राशि और शेष का ४०% योग्यता राशि के रूप में घटेगी।

(vi) सन् १९७७ ७८ के वर्ष में आय-कर एवं निगम-कर के रूप में भारत सरकार को प्राप्त होने वाली कुल आय का अनुमान २२५८ करोड़ रु० लगाया गया है जबकि गत वर्ष इस मद में २०७८ करोड़ रु० की आय हुई थी।

निगम आय पर कर (Taxation of Corporate Income)

कम्पनियों पर लगाये जाने वाले कर को निगम कर कहते हैं। कम्पनियों की आय पर भी अनेक कर लगाये जाते हैं। उनमें से दो कर अर्थात् आय-कर और अति-कर (super-tax), सन् १९६५ में एक कर के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। इसके बाद, कुछ निश्चित मात्रा से अधिक के लाभों पर अधि-कर (sur-tax) लगाया गया। सन् १९६८ के वित्त अधिनियम द्वारा एकीकृत आय-कर की दरों का पुनर्निर्धारण तथा सरलीकरण कर दिया गया। ये दरें निम्न प्रकार हैं :—

(१) देशी कम्पनियों (domestic-companies) के लिए अर्थात् ऐसी भारतीय अथवा विदेशी कम्पनियों के लिए जो भारत में ही अपने लाभांशों की घोषणा तथा उनकी अदायगी की व्यवस्थाएँ करती है और जिनमें जनता काफी भाग लेती है, कर की दर, यदि उनकी कुल आय ५०,००० रु० से अधिक नहीं है तो कुल आय की ४५ प्रतिशत और कुल आय ५०,००० से अधिक होने की स्थिति में ५५ प्रतिशत है।

(२) जिन देशी कम्पनियों में जनता अधिक भाग नहीं लेती और जो एक प्रकार से औद्योगिक कम्पनियाँ हैं, उनमें कर की दर कुल आय के पहले दस लाख की रकम पर ५५ प्रतिशत और कुल आय की शेष रकम पर ६० प्रतिशत है।

(३) जिन देशी कम्पनियों में जनता भी अधिक ठोस रूप में भाग नहीं लेती है और जो औद्योगिक कम्पनियाँ भी नहीं है, कर की दर कुल आय की ६५ प्रतिशत है।

(४) ऐसी विदेशी कम्पनियों के मामले में, जिन्होंने भारत में अपने लाभांशों (devidenes) की घोषणा तथा अदायगियाँ करने की निश्चित व्यवस्थाएँ नहीं की हैं। रायल्टी तथा तकनीकी सेवा के शुल्कों से होने वाली आय पर कर की दर ४० प्रतिशत है, बशर्ते कि उनके द्वारा सम्पन्न समझौते केन्द्र सरकार द्वारा अनुमोदित हों, और अन्य आमदनियों पर कर की दर ७० प्रतिशत है।

विनियोग (investment) को प्रोत्साहन देने के लिए कम्पनियों को कुछ रियायतें तथा छूटें प्रदान की जाती हैं। सर्वप्रथम, नई कम्पनियों में उनके कार्य आरम्भ करने से पहले पाँच वर्षों में लाभों के वे भाग कर-मुक्त कर दिये जाते हैं जो कि लगी हुई पूँजी के ६ प्रतिशत से अधिक होते हैं। दूसरे, व्यावसायिक कार्यों के लिए प्रस्थापित (installed) सयन्त्र तथा मशीनरी में किये जाने वाले सभी निवेशों के लिए २५ प्रतिशत की दर से विकास छूट प्रदान की जाती है। तीसरे,

आयकर की अधिकतम सीमा ६६% ही थी। आय कर की ये सीमायें अधिक है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि आय के उच्चतर कोष्ठकों (higher income brackets) मे कर की दरो मे कुछ कमी की जाए और आय के बीच के कोष्ठकों मे दरो मे कुछ वृद्धि की जाए। प्रोफेसर कॅल्डोर ने सिफारिश की कि आय-कर की उच्चतम दरें ४५ प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए क्योंकि अधिक ऊँची दरो से करदाता द्वारा कर वचन (taxevasion) को तथा फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन मिलता है। उनके आँकडो से हम चाहे सहमत हो या नही, परन्तु यह निश्चित है कि भारतीय आय-कर मे आरोहण की दर मे कमी करने का पक्ष काफी सबल है।

आय-कर मे बचतो को प्रोत्साहन देने की बहुत कम व्यवस्था है। व्यक्तिगत आय-कर मे जो छूटें प्रदान की जाती हैं वे केवल निर्वाह निधि के अशदानो तथा बीमे की किश्तो के सम्बन्ध मे हैं। परन्तु ये छूटें इतनी अपर्याप्त हैं कि इनसे बचतो को ठोस प्रोत्साहन नही मिलता। जहाँ निर्वाह निधियों के अशदानो (provident fund contributions) का प्रश्न है, वे तो अधिकाश मामलो मे अनिवार्य होते हैं। अत करो मे छूट से बचतो मे कोई सहायता नही मिलती। बीमे की किश्तो के सम्बन्ध मे जो छूटें प्रदान की जाती हैं उनसे अवश्य बचतो को प्रोत्साहन मिलता है परन्तु वह भी बहुत थोडा। इस माध्यम से किसी विशेष वर्ष मे असाधारण रूप से ऊँची आय मे से बचत नही की जा सकती, क्योंकि उपलब्ध कर-छूटो का लाभ प्राप्त करने के लिए यदि उस वर्ष बीमे की पालिसियाँ ली गई तो उसका अर्थ होगा—आगे आने वाले वर्षों मे अधिक प्रीमियम देना। यह एक ऐसा भार होगा जिसे सम्भव है बहुत से लोग पसन्द न करें अथवा वहन न कर सकें। इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत बचतो के प्रोत्साहन की व्यवस्थाएँ अपर्याप्त ही हैं।

विकास छूट, किसी फर्म के प्रारम्भिक वर्षों मे उसे कर-मुक्त कर देना तथा इसी प्रकार की अन्य छूटें व्यावसायिक आमदनियो के सम्बन्ध मे बडी होती है। इससे कम्पनियो को बचत करने तथा उन्हे फिर से लाभोत्पादन मे लगा देने का प्रोत्साहन मिलता है। नये औद्योगिक व्यवसाय इन उपायो से बड़े प्रोत्साहित होते हैं। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि पुरानी कम्पनियों को भी अधिक छूटें प्रदान की जाएँ। निगम-कराधान के वर्तमान स्तर की आलोचना इसलिये की जाती है कि इससे विनियोग हतोत्साहित होता है। परन्तु यदि सभी बातो एव परिस्थितियो को दृष्टिगत रखा जाए तो कहा जा सकता है कि जो व्यवस्थाएँ विद्यमान हैं वे कम्पनियो की बचतो को प्रोत्साहित करती हैं।

आय-कर का वंचन (evasion of income-tax)—इस बात मे विश्वास के पर्याप्त कारण हैं कि भारत मे आय-कर का बडे पैमाने पर वचन (evasion) होता है। कराधान जाँच आयोग का यह मत था कि भारत मे आय-कर का जानबूझकर किया जाने वाला वचन काफी मात्रा मे प्रचलित है जिसका कि बाद मे आय-कर विभाग द्वारा पता लगा लिया जाता है। और यदि हम इस बात को दृष्टिगत रखें कि भारत का आय-कर विभाग (income-tax department) ऐसे मामलो को पता लगाने के लिए पूर्णतया सुसज्जित नही है, तब तो वास्तविक कर वचन की मात्रा और भी अधिक बैठती है। प्रो० कॅल्डोर के अनुमान के अनुसार, प्रतिवर्ष ५७६ करोड़ रु० की आय को आय-करो मे छिपा लिया जाता है जिससे सरकार को लगभग २०० से ३०० करोड रु० तक के करो का नुकसान होता है। जैसे कि कुछ लोगो का कहना है, हो सकता है इन आँकडो मे अतिशयोक्ति हो, परन्तु इनसे यह तो स्पष्ट है हो कि देश मे कर-वचन निश्चय ही बडी मात्रा मे हो रहा है और उससे राजकोष को प्रतिवर्ष करोडो रु० की हानि हो रही है। कर-वचन से केवल सरकार ही एक ठोस आय से वचित नही हो जाती, बल्कि यह आय-कर को असमान तथा अन्यायपूर्ण भी बना देता है। असमानता अथवा असमता इन मानो मे है कि एक ईमानदार करदाता को एक बेईमान करदाता की तुलना मे करो का अधिक बोझ उठाना होता है।

कराधान जाँच आयोग ने सुझाव दिया था कि करो को लागू करने की प्रशासनिक व्यवस्था मे सुधार करके उसे शक्तिशाली बनाया जाए। प्रो० कॅल्डोर ने सिफारिश की थी कि उच्च आय वाले वर्गों के कर-दाताओ से कहा जाना चाहिए कि वे एक ऐसा विस्तृत विवरण-पत्र प्रस्तुत करें जिसमे करदाता की आय, व्यय, पूँजीगत सौदे तथा उसकी शुद्ध आय दिखाई गई हो। ये

पूँजीगत लाभ-कर (Capital Gains-tax) :

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि मे लोगो द्वारा बडी मात्रा मे पूँजीगत लाभ प्राप्त किये गये थे । अत: सन् १९७४ में पूँजीगत लाभो की प्राप्ति पर कर लगाया गया । यह कर एक क्रम-वर्धी कर (graduated tax) था तथा इसमे छूट की सीमा भी निश्चित थी । किन्तु जनता द्वारा इसकी बहुत आलोचना की गई और कहा गया कि इसको ऐसे समय लागू किया गया है जबकि पूँजीगत मूल्य गिर रहे हैं । परिणामस्वरूप, सन् १९५० मे यह कर समाप्त कर दिया गया ।

प्रो० कैल्डोर की सिफारिशो के अनुसार, सन् १९५६ मे यह कर लागू कर दिया गया। गया । यह कर पूँजीगत परि-सम्पत्तियो की बिक्री, उनके विनिमय अथवा स्थानान्तरण से होने वाले सभी लाभो पर लगाया जाता है । कर की दृष्टि से, एक पूँजीगत परि-सम्पत्ति (Capital asset) से आशय ऐसी किसी भी सम्पत्ति (property) से है जो करदाता के पास हो, चाहे उसका सम्बन्ध उसके व्यवसाय, वृत्ति अथवा पेशे से हो अथवा नही । किन्तु इसमे व्यावसायिक कार्यों के लिए रखी जाने वाली वस्तुसूची (inventory), उपभोग्य वस्तुओ का भण्डार, कच्चा माल (raw material), निजी वस्तुएँ (personal effects) तथा कृषि भूमि सम्मिलित नही हैं । कुछ किस्म के पूँजीगत लाभो को भी कर से मुक्त कर दिया गया है, उदाहरण के लिए उपहार में दी गई किसी पूँजीगत परिसम्पत्ति के स्थानान्तरण से होने वाले लाभ, या अविभाजित हिन्दू परिवार के बँटवारे के समय पूँजीगत परि-सम्पत्ति के वितरण से होने वाले लाभ जो रिहायशी मकान (residential house) की सम्पत्ति की बिक्री से हुए हो, बशर्ते कि वे पूँजीगत लाभ नई रिहायशी सपत्ति की खरीद मे फिर से लगा दिये गये हो ।

पूँजीगत लाभ जब किसी वर्ष ५,००० रु० से अधिक के हो जाते हैं तो करदाता की अन्य आय के साथ ही उन पर कर लगाया जाता है । परन्तु यदि करदाता की कुल आय, १० ००० रु० से अधिक नही होती तो उस पर कर नही लगाया जाता । अल्पकालीन पूँजीगत लाभो को आय माना जाता है और उन पर वह अधिभार (surcharge) लगाया जाता है जो कि अनर्जित आय पर लगता है । भूमि तथा भवन से सम्बन्धित दीर्घकालीन पूँजीगत लाभो पर करदाता की कुल आय पर लगने वाली औसत दर का ७५ प्रतिशत कर लगाया जाता है किन्तु अन्य प्रकार के पूँजीगत लाभो पर कर की दर उक्त औसत दर की ५० प्रतिशत है। दीर्घकालीन पूँजीगत लाभो पर कर की न्यूनतम धनराशि लाभो की १५ प्रतिशत निश्चित की गई है । कर देने वाली कम्प-नियो (company assessees) की स्थिति मे दीर्घकालीन पूँजीगत लाभो पर कर की दर २५ प्रतिशत है ।

पूँजीगत लाभ कर-पद्धति का एक महत्वपूर्ण अग है । पूँजीगत लाभ कराधान का एक उपयुक्त स्रोत है, विशेष रूप से कीमतो तथा पूँजीगत मूल्यो के बढ़ने के काल मे । आर्थिक विकास पर किये जाने वाले खर्च मे जब वृद्धि होती है तो उसके फलस्वरूप कीमतो तथा पूँजीगत मूल्यो मे भी वृद्धि होती है । अत इन परिस्थितियो के कारण उत्पन्न होने वाले लाभो पर यदि सर-कार कर लगाती है तो उसका ऐसा करना हर प्रकार मे न्यायोचित है । यह भी न्यायोचित ही है कि सामाजिक परिस्थितियो के कारण व्यक्ति को जो पूँजीगत लाभ उपलब्ध हुए हैं उनका कुछ भाग समाज को मिले । अत समता एव न्याय के आधार पर कर को न्यायोचित ठहराया जाता है । इसके अतिरिक्त, इस कर के द्वारा सरकार को योजनाओ के लिए कुछ आवश्यक साधन उपलब्ध हो जाते है । इस कर से प्राप्त होने वाली वर्तमान आय तो अधिक नही है, परन्तु भविष्य मे अधिक आय प्राप्त होने की सभावनायें काफी बलवती हैं ।

आय पर लगाये जाने वाले करों का मूल्यांकन (Evaluation of Taxes on Income) :

भारत मे आय-कर अत्यधिक आरोही कर (highly progressive tax) है । यहाँ की दरो के क्रमवर्धन अथवा आरोहण (progression) की तुलना ससार के अधिक उन्नत देशो के स्तर से की जा सकती है । कराधान जाँच आयोग (taxation enquiry commission) के समय मे कर की उच्चतम सीमान्त दर ८२ प्रतिशत थी । सन् १९७७-७८ के बजट के अनुसार आयकर की उच्चतम सीमान्त दर घटाकर ७०% कर दी गई है । इससे पूर्व के वित्तीय वर्ष १९७६-७७ मे

सौदों के बारे में जानकारी दे सकता है जिन पर बिक्री कर अदा किया गया हो। विभिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्राप्त की गई यह जानकारी उनकी पृथक्-पृथक् फाइलों में लगा दी जानी चाहिए और फिर आय-कर का निर्धारण करते समय इस जानकारी का उपयोग करना चाहिए।

कम्पनियों के कराधान का ढाँचा अनावश्यक रूप से जटिल बन गया है और इसलिए प्रो० कॉल्डोर ने भी इसकी आलोचना की थी। करों की बहुलता तथा उनको अदा करने की रीति ऐसी है कि उससे लाभों को फिर उत्पादन में लगा देने का प्रोत्साहन नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, कम्पनी से अवितरित लाभों पर कर अदा करने को कहा जाता है। इससे लाभों का पुनर्विनियोग हतोत्साहित होता है। सन् १९५६ तक तो सरकार अवितरित लाभों पर अदा किये जाने वाले करों में ६३ प्रतिशत की छूट देती थी परन्तु उस वर्ष यह समाप्त कर दी गई और उसके स्थान पर अतिरिक्त लाभांश कर लगा दिया गया। अतिरिक्त लभांश कर (excess dividend tax) लगाने का उद्देश्य लाभांशों के वितरण को प्रतिबन्धित करना था। किन्तु कर का कोई उत्साहजनक प्रभाव दिखाई नहीं दिया। हाँ, इसका परिणाम यह अवश्य हुआ कि सरकार को अतिरिक्त आय प्राप्त होने लगी।

कम्पनियों पर लगाये जाने वाले करों की बहुलता से करों के प्रशासन में कठिनाई उत्पन्न होती है और कर-पद्धति अनावश्यक रूप से बोझिल बनती है। करों की संख्या में यदि कमी कर दी जाए तो प्रशासन की कार्य-कुशलता में निश्चित रूप में वृद्धि हो सकती है। कुछ करों को परस्पर संयुक्त किया जा सकता है, उदाहरण के लिए, आय-कर तथा निगम-कर को, और ऐसा करने से इन संयुक्त करों की अदायगी निश्चित रूप में बड़ी सुविधाजनक हो जायेगी। इस दिशा में अभी हाल में जो परिवर्तन किये गये है उनसे करों का ढाँचा कुछ सरल बना है।

आय-कर की व्यवस्था में एक अन्य गम्भीर कठिनाई यह है कि करों की अदायगी समय पर नहीं की जाती। गत वर्षों में वसूल न होने वाले करों का अनुपात काफी रहा है। केन्द्रीय राजस्व मण्डल ने राज्य सरकारों के साथ मिलकर कुछ ऐसे राजस्व अधिकारियों (revenue officers) की नियुक्ति की व्यवस्थाएँ की है जिनका एकमात्र कार्य आय-कर के संग्रह की देखभाल करना है। आय-कर के संग्रह में तेजी लाने के उद्देश्य से बड़े-बड़े नगरों में विशेष अधिकारी (special officers) तथा छोटे छोटे नगरों में भ्रमणशील अधिकारियों (roving officers) की नियुक्तियाँ की गई है। इस व्यवस्था से, आशा की जाती है कि करों का संग्रह अधिक शीघ्रता से होगा और करदाओं को कम से कम परशानी होगी।

करों के संग्रह में तेजी लाने के उद्देश्य से, सन् १९६३-६४ के बजट के साथ ही आय-कर अधिनियम में कुछ संशोधन लागू किये गये थे। यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कर की अदायगी निर्धारण-वर्ष (assessment year) की प्रथम जनवरी से पहले ही कर दी जायेगी तो कर की राशि में १ प्रतिशत की छूट दी जायेगी। १ जनवरी से पूर्व कर-निर्धारण (tax-assessment) न होने की स्थिति में भी, यदि विवरण-पत्र में दिखाई गई आय के आधार पर कर जमा कर दिया जाता है तब भी यह छूट दी जा सकेगी। दूसरी ओर, यदि कोई कर-निर्धारित (assessee) सम्बन्धित कर-निर्धारण वर्ष की ३१ दिसम्बर तक अपनी कुल आय का विवरण-पत्र प्रस्तुत नहीं करता है अथवा यदि उसने विवरण-पत्र तो प्रस्तुत कर दिया है किन्तु उस विवरण-पत्र के आधार पर निश्चित तिथि तक कर अदा नहीं करता है तो उसे २ प्रतिशत वार्षिक दर से कर की राशि पर ब्याज देना होगा। तथापि, यह अनुभव किया गया कि सम्बन्धित कर-निर्धारण वर्ष की १ जनवरी से कर-निर्धारण की तिथि तक के लिए जो व्यवस्थाएँ की गई हैं, वे अपर्याप्त हैं। अतः उनके स्थान पर नई व्यवस्थाएँ (new provisions) लागू की गई और सन् १९६४-६५ में आय की घोषणा न करने तथा कर की अदायगी न करने के मामलों में छिपाने के अपराध के लिए कड़े दण्डों की व्यवस्था की गई।

यह भी आवश्यक है कि ऐसे मामलों की सुनवाई और आय-कर की अपीलों का निपटारा बहुत शीघ्र होना चाहिए। इस बात की वैधानिक व्यवस्था होनी चाहिए कि अपीलीय सहायक आयुक्त (appellate assistant commissioners) तथा आय-कर न्यायाधिकरण (Income-Tax Tribunals) अपीलों की सुनवाई तथा उन पर निर्णय देने के कार्य को अपील

सुधार निश्चय ही इस दिशा मे बड़े सहायक हो सकते है। परन्तु एक तथ्य और भी है जिसकी ओर अभी तक हमारा ध्यान नही गया है। यह है कि छोटे-छोटे व्यापारियों तथा व्यवसायियों की एक बडी सख्या अपना कोई हिसाब-किताब नहीं रखती, अतः उनके द्वारा पूर्णतया आय-कर छिपा लिया जाता है। वे कोई हिसाब-किताब नही रखते, कोई विवरण-पत्र प्रस्तुत नही करते और सी कारण कोई कर भी अदा नही करते। अत. आवश्यकता इस बात की है कि अनुमानित आय के आधार पर इन लोगो पर कर लगाने की किसी ऐसी पद्धति की खोज की जाए जिसके द्वारा इस दिशा मे हो रहे कर-वचन को समाप्त किया जा सके।

इस सम्बन्ध मे एक अन्य कठिनाई यह है कि कृषि-आय को केन्द्रीय कराधान से बाहर रखा गया है। इसके कारण भी प्रायः कर वंचन सभव हो जाता है। जब एक करदाता की कुल आय को कृषि-आय तथा गैर-कृषि आय के रूप मे फैलाना होता है, तो जानबूझकर अथवा असावधानी से भूलें रह ही जाती हैं जिसके परिणामस्वरूप यह हो सकता है कि वह आय कम दिखाई जाए जिस पर कि केन्द्रीय कर लगता है। कुछ राज्य मे, कृषि-आय पर कर लगाया ही नही जाता और जिन राज्यो मे लगाया जाता है वहाँ इसकी दरे केन्द्रीय आय-कर से नीची है। अत. करदाता को इसमे ही लाभ रहता है कि वह अपनी आय के एक बडे भाग को कृषि-आय से ही सम्बन्धित घोषित करें, चाहे वास्तविकता ऐसी न हो। इस कठिनाई के हल का एक सुझाव यह दिया जाता है कि राज्य कृषि-आय-कर लगाने के अपने अधिकार केन्द्र को सौंप दें और बाद मे उस कर की प्राप्तियाँ परस्पर बाँट लें, जैसा कि कुछ राज्यो द्वारा कृषि-भूमि पर लगने वाले अस्ति-कर (estate-duty) के सम्बन्ध मे किया गया है।

कर-वचन इस प्रकार भी कम किया जा सकता है कि शिक्षा के द्वारा करो के सम्बन्ध मे नैतिकता एव ईमानदारी के उच्च स्तर कायम किये जाएँ। लोगो से देश-भक्ति की अपील करके तथा उनमे कर्त्तव्य-पालन की भावना जाग्रत करके भी अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते है। किन्तु इसके साथ ही साथ इस बात की भी आवश्यकता होगी कि एक अधिक ईमानदार तथा कुशल प्रशासनिक व्यवस्था कायम की जाए। कर-आय का यदि कुशलता एव मितव्ययता के साथ उपयोग किया जाए तो उससे भी लोगों मे अपने कर-दायित्वो (tax obligations) के प्रति अधिक अच्छा दृष्टिकोण उत्पन्न करने मे सहायता मिलेगी। एक ईमानदार सरकार ही करदाताओ को अधिक ईमानदार बने रहने को प्रोत्साहित कर सकती है। आय-कर विभाग के अधिकारियो को भी यह अनुभव कराया जाना चाहिए कि उनका वास्तविक कार्य लोगों को सही परामर्श देना तथा उनका मार्ग दर्शन करना है, एक निरकुश शासक की तरह आचरण करना नही है। यदि लोगो को अधिकारियो की ओर से सही मार्ग-दर्शन मिले तो निश्चय ही लोग अपने विवरण-पत्र (returns) प्रस्तुत करने मे अधिक ईमानदारी एव तत्परता से काम लेने को प्रोत्साहित होंगे। सन् १९५८ मे प्रत्यक्ष कर प्रशासन जाँच समिति (Direct Taxes Administration Enquiry Committee) ने केन्द्रीय तथा प्रादेशिक स्तरो पर सलाहकार समितियाँ बनाने का सुझाव दिया था। समितियो का कार्य करदाताओ तथा आय-कर विभाग के बीच पारस्परिक सहयोग एव सम्पर्क बढाने के लिए सुझाव देना था। पिछले कुछ वर्षों मे कर-सग्रह करने वाली प्रशासनिक व्यवस्था को कुशल एव मजबूत बनाने तथा कर-वचन मे अनेक कारवाहियाँ की गई हैं।

विभाग ने पहले ही बाह्य सर्वेक्षको (external surveyors) का एक स्टाफ नियुक्त किया हुआ है जिसका कार्य नये कर निर्धारितियो (new essessees) का पता लगाना और पुरानो के बारे मे सूचनाएँ एकत्र करना है सन् १९५२ मे केन्द्रीय राजस्व मण्डल (central board of revenue) मे एक निरीक्षण निदेशालय (inspection directorate) की स्थापना की गई थी। इसका उद्देश्य कर-वचन मामलो की छानबीन करना था। ऐसे सभी करदाताओ के मामलो की, जिन पर कि अति-कर लगाना होता है, कर निर्धारण के पश्चात् पुनः जाँच-पडताल की जाती है। यह आवश्यक है कि इस प्रशासनिक व्यवस्था को दृढ बनाया जाए और इसमे सुधार किया जाए। आय-कर विभागो को लोगो के लेन-देनो के बारे मे अन्य विभागो से भी पूरी जानकारी मिलनी चाहिए जिससे कि उसे लोगों की आमदनियो के सम्बन्ध मे सूचनाएँ उपलब्ध हो सकें। उदाहरण के लिए, सीमाशुल्क विभाग आयात कर्त्ताओ से सौदो के बारे मे जानकारी प्रदान कर सकता है, रजिस्ट्रेशन विभाग सम्पत्ति से सौदो के बारे मे सूचनाएँ दे सकता है और बिक्रीकर विभाग उन

की, जिन्हे कि वसूल न होने योग्य समझा जाए, छानबीन एक ऐसी समिति द्वारा की जाए जिसमे आयुक्त (कमिश्नर), निरीक्षण करने वाले सहायक आयुक्त तथा सम्बन्धित आय कर अधिकारी सम्मिलित हो बशर्ते कि बट्टे खाते मे डाली जाने वाली धनराशि २ लाख ५० से अधिक न हो। अधिक बडी धनराशियो के सम्बन्ध मे छानबीन करने वाली समिति मे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति सम्मिलित किये जाने चाहिये। यही नही आय कर अधिकारी को भी यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि अति-कर निर्धारण (over assessment) को एक ऐसा दोष माना जायेगा जो निर्णय तथा सन्तुलन की भावना की कमी का सूचक होगा।

आय पर कर—राज्य
(Taxes on Income—States)

राज्यो को आय पर करो से राजस्व की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है—संघ सरकार द्वारा उगाहे गये आय-कर का भाग, कृषि आय-कर तथा वृत्ति या व्यवसाय-कर। निम्न तालिका मे राज्यो को प्राप्त होने वाली आय दिखाई गई है :—

तालिका—४
राज्यों द्वारा प्राप्त आय-करों की राशि

(करोड़ रु० में)

मद	१९५१-५२ (लेखे)	१९६६-६७ (लेखे)	१९७१-७२ (बजट)	१९७२-७३	१९७५-७६ (बजट)	१९७७-७८ (बजट)
आय-कर का भाग	५३	१३७	४५२ ८	४८७ ८	५४४ ६	६८८·३०
कृषि आय-कर	४	१०	११ ८	१२ ४	१२ २	*[1]
वृत्ति या व्यवसाय-कर	—	२	*[1]	२·०	२ २	*[2]
योग	५७	१४९		५०२ २	५५९ ३	*[2]

इस तालिका से यह पता चलता है कि केन्द्र द्वारा लगाये गये आय-कर मे राज्यो का भाग भी इस वर्ग मे राज्यो को प्राप्त होने वाले राजस्व का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है।

कृषि आय-कर (Agricultural Income Tax)

कृषि पर लगने वाला आय कर राजस्व के उन स्रोतो की परिधि मे आता है जो राज्यो को प्राप्त है। यह कर सन् १९३८ मे सर्वप्रथम बिहार मे लागू किया गया था, उसके पश्चात् अन्य राज्यो ने उसका अनुसरण किया। आजकल महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, पजाब तथा जम्मू व कश्मीर को छोडकर सभी राज्यो मे कृषि आय-कर लगा हुआ है। छूट की सीमाएँ तथा कर की दरें विभिन्न राज्यो मे भिन्न भिन्न है। दरें आरोही है। बिहार को छोडकर अन्य सभी राज्यो मे, जहाँ कि यह कर लगाया गया है, कराधान की शिला-पद्धति (slab system of taxations) अपनाई गई है किन्तु बिहार मे सोपान पद्धति (step system) का आश्रय लिया गया है।

दोहरे कराधान का तर्क देकर इस कर की आलोचना की जाती है। कहा जाता है कि कृषको को भू-राजस्व (land revenue) भी अदा करना पडता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है क्योंकि भू-राजस्व तो सब पर एकसी दर से लगाया जाता है किन्तु कृषि आय-कर कराधान के भारत के वितरण मे समता उत्पन्न करता है।

---

1. & 2. Figures not available

दायर करने की तिथि से एक निर्धारित समय के अन्दर ही पूर्ण कर दें। कुछ व्यवस्थाएं ऐसी भी की जानी चाहिए कि उच्च न्यायालय कर सम्बन्धी अपीलों को प्रमुखता दें।

भूतलिंगम समिति की सिफारिशें (Recommendations of the Bhoothalingom Committee):

आय-कर के ढाँचे का सरलीकरण करने तथा उसे तर्कसंगत बनाने के लिए उपायों के सुझाव देने हेतु एक समिति का निर्माण किया गया था। श्री भूतलिंगम उसके एक मात्र सदस्य थे। मार्च, १९६८ में इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित की गई। समिति द्वारा प्रस्तुत कुछ सुझाव ये हैं: कम्पनियों के लाभों पर लगाये जाने वाले कर की प्रामाणिक दर (standard rate) में कमी, अति कर (sur-tax) तथा लाभांश की समाप्ति, सभी प्रकार की परि-सम्पत्तियों (assets) पर मूल्य ह्रास छूट की चार दरों को अपनाना आदि। रिपोर्ट में कुछ अन्य भी सुझाव दिये गये, जैसा कि लाभों को देखे बिना ही १ प्रतिशत की दर से पूँजी कर की उगाही, विकास छूट की समाप्ति और १ जुलाई से एक समान कर-वर्ष (tax-year) को अपनाना। कार्य विधि सम्बन्धी सुधारों में एक सुझाव यह दिया गया है कि कर-देयता (tax-liability), जहाँ तक भी सम्भव हो सके, कर वर्ष की आय से ही सम्बन्धित होनी चाहिए, अन्य किसी वार्षिक अवधि (annual period) से नहीं, चाहे उसे पूर्व वर्ष (previous year) कहा जाए अथवा अन्य किसी नाम से पुकारा जाए। वित्त मन्त्रालय ने लाभांश कर की समाप्ति के सम्बन्ध में श्री भूतलिंगम की सिफारिशें स्वीकार कर ली हैं और अति कर की दर को ३५ प्रतिशत से घटाकर २५ प्रतिशत करके इस कर से सम्बन्धित उनके विचारों को आंशिक रूप से लागू कर दिया है।

प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशें (Recommendations of the Administrative Reforms Commission):

प्रशासनिक सुधार आयोग ने प्रत्यक्ष कर प्रशासन को दोषरहित बनाने के लिए भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसकी सिफारिशें बड़े तथा छोटे करदाताओं से सम्बन्धित थीं। सर्वप्रथम, आयोग ने सिफारिश की कि अगले तीन वर्षों के लिए आयकर की देयता के पूर्व समझौते की व्यवस्था जो कि पिछले तीन कर-निर्धारणों (tax-assessments) के परिणामों पर या किसी नये करदाता पर किये गये वर्तमान कर-निर्धारण पर आधारित है, ऐसे छोटे दूकानदारों, विक्रेताओं और फेरी वालों के मामलों को निपटाने के लिए भी लागू की जा सकती है जिनकी वार्षिक आय ७,५०० रु० से अधिक नहीं होती। आयोग ने सिफारिश की कि स्थिति यह है कि कमियों को दूर करने के लिए यदि विवरण-पत्र में घोषित आय में थोड़ी-सी भी वृद्धि की जाती है तो करदाता को साक्षात्कार (interview) के लिये बुलाया जाता है, अतः आय-कर कानून में ऐसा सुधार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार का साक्षात्कार करना आवश्यक करार दिया जाए। की जाने वाली वृद्धि की अधिकतम मात्रा कानून द्वारा निश्चित की जा सकती है। आयोग ने बड़े मामलों में कर-निर्धारण के लिए अपनाई जाने वाली कार्यविधि की सरलीकरण की भी सिफारिश की।

आयोग ने नियम १२ ए में सुधार की भी सिफारिश की ताकि ऐसे सभी मामलों में, जिनमें कि व्यवसाय में प्राप्त आय ५०,००० रु० से अधिक हो तथा जिसके विवरण-पत्र चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट द्वारा तैयार किये गये हों, ऐसी सभी सूचनायें उपलब्ध करने की व्यवस्था हो सके जैसे कि मामले (case) का संक्षिप्त इतिहास, व्यवसाय की प्रकृति, रखी गई लेखे की पुस्तकें, विवरण-पत्र (return) के साथ भेजे गये अन्य कागज-पत्र, रखे गये बैंक खातों की संख्या, चिट्ठों में दिखाये गये विभिन्न कर्जों तथा आधिविकर्षों (ovedrafts) संक्षिप्त स्पष्टीकरण और पूँजी खाते की प्रविष्टियों (entries) के संक्षिप्त स्पष्टीकरण।

आयोग ने बकाया करों के संग्रह के सम्बन्ध में अनेक सिफारिशें की। आयोग ने कहा कि आय-कर अधिनियम में ऐसा सुधार किया जाए कि करदाओं द्वारा की जाने वाली अपील उस समय तक स्वीकार न की जाए जब तक कि विवादास्पद धनराशि पर लगाया गया कर अदा न कर दिया जाए अथवा ऐसी धनराशि की अदायगी के लिए सन्तोषजनक व्यवस्था न की जाएँ। आयोग की एक बड़ी सिफारिश यह थी कि ऐसी बकाया मांगों (outstanding demands)

(क) अदा करने की योग्यता का सूचक (Index of Ability to Pay) ;

(१) **सम्पत्ति अथवा धन का संचय**—किसी समय सम्पत्ति (property) अथवा संचित धन (accumulated wealth) को अदा करने की योग्यता अथवा सामर्थ्य का सर्वोत्तम मापदण्ड अथवा सूचक समझा जाता था। एक परिवार की भलाई अथवा उसका कल्याण उसके द्वारा संचित धन पर निर्भर होता था। अतः आय की अपेक्षा धन को अदा करने की योग्यता का अधिक अच्छा माप माना जाता था क्योंकि आय का स्रोत होने के साथ-साथ, धन जोखिम एवं संकटों के समय मनुष्य को सुरक्षा प्रदान करता है और एक बीमे का कार्य करता है। परन्तु औद्योगिक समाज की प्रगति तथा द्राविक अर्थव्यवस्था (money economy) के विकास के साथ ही साथ, सम्पत्ति के स्थान पर आय को अदा करने की योग्यता का माप माना जाने लगा। वर्तमान समय में विचारकों का यह मत उचित ही है कि अदा करने की योग्यता के प्रारम्भिक परीक्षण (primary test) के रूप में सम्पत्ति को सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। हां, अदा करने की योग्यता के एक सम्भावित अनुपूरक (supplementry) माप के रूप में अवश्य इसका (धन का) उपयोग किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि आय के एक साधन के रूप में, सम्पत्ति में अनेक कमियाँ पाई जाती हैं। **सर्वप्रथम**, सम्पत्ति आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है, परन्तु यह मुख्य स्रोत (main source) नहीं है। **दूसरे**, *किसी विशेष वर्ष में सम्पत्ति से आय प्राप्त हो भी सकती है और नहीं भी।* तीसरे, सम्पत्ति से होने वाली आय शून्य से लेकर बड़ी-बड़ी धनराशियों तक अर्थात् विभिन्न प्रकार की हो सकती है, ऐसा होना सम्पत्ति की प्रकृति, स्थिति (location) तथा उसके प्रयोग आदि पर निर्भर है। चौथे, यदि किसी वर्ष में, सम्पत्ति से कोई आय न हो अथवा वास्तव में घाटा हो तो उस सम्पत्ति पर लगाया जाने वाला कर उसके पूँजीगत मूल्य (caiptal value) पर ही पड़ेगा। परन्तु इन सब कमियों के बावजूद भी यह भी सत्य है कि सम्पत्ति का स्वामित्व इसके धारक (holder) को कर अदा करने की क्षमता का एक ऐसा अतिरिक्त साधन प्रदान करता है जिसकी प्राप्ति शुद्ध अथवा निवल आय (net income) से नहीं होती। एक धनी व्यक्ति के बारे में तो यह बात बिल्कुल सत्य है क्योंकि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति व द्रव्य आदि उसकी अर्जित आय (earned income) के मुकाबले बहुत अधिक आय प्रदर्शित करते हैं। इसके अतिरिक्त, सम्पत्ति से होने वाली आय में व्यक्तिगत सेवाओं से कमाई जाने वाली आय की अपेक्षा कर अदा करने की सामर्थ्य अधिक मात्रा में होती है। यह तथ्य सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि स्वामी की मृत्यु के समय हस्तान्तरित की गई सम्पत्ति उसके पाने वाले (recipient) को कर अदा करने की योग्यता अधिक मात्रा में प्रदान करती है इसका कारण यह है कि वसीयत के रूप में प्राप्त सम्पत्ति अनार्जित आय (unearned income) की प्रकृति की ही होती है।

(२) **आय को व्यक्ति की कर अदा करने की क्षमता का मापदण्ड माना जाता (Income has come to be accepted as an index of a person's ability to pay)—अब आय को व्यक्ति की कर अदा करने की सामर्थ्य का मापदण्ड अथवा सूचक माना जाने लगा है।** चूंकि परिवार का कल्याण मुख्य रूप से प्राप्त की जाने वाली आय पर ही निर्भर होता है, अतः परिवार के बच्चों के लिए उचित छूट आदि की व्यवस्था करने के पश्चात् व्यक्ति की आय ही उसकी कर अदा करने की योग्यता की सर्वोत्तम सूचक होती है। कराधान की दृष्टि से कुल आय (gross income) को उपयुक्त (suitable) नहीं माना जाता क्योंकि इसका निर्माण लागत-तत्वों (cost element) से होता है। अतः शुद्ध आय (net income) को ही कर अदा करने की योग्यता का सर्वश्रेष्ठ माप माना जाता है क्योंकि वह लागतों के बाद शुद्ध प्राप्त (net receipts) की राशि को प्रकट करती है। शुद्ध आय चूँकि व्यक्ति अथवा परिवार की न्यूनतम निर्वाह आवश्यकताओं (minimum substance needs) को छूट प्रदान करती है, अतः यह निम्न आय वाले वर्गों के उपभोग पर प्रतिबन्ध नहीं लगाती। एक तो सामाजिक दृष्टिकोण से, इस वर्ग को छूट देना बहुत आवश्यक है क्योंकि उनके द्वारा करों की अदायगी से उनकी उत्पादकता (productivity) कम होगी और फिर उपभोग-वस्तुओं का बाजार भी सीमित हो जाएगा। दूसरे, शुद्ध आय पर लगाए जाने वाले कर चूँकि वैयक्तिक अथवा सामाजिक पूंजी पर कोई प्रभाव नहीं डालेंगे, अतः भावी उत्पादकता को भी प्रतिबन्धित नहीं करेंगे।

इस कर से प्राप्त आय थोड़ी ही होती है। सन् १९७५-७६ (बजट) में इस कर से उपलब्ध होने वाली सभी राज्यों की कुल प्राप्तियां १२.२ करोड़ रु० में थी। इस कर का राजकोषीय महत्व सम्भवतः, तब तक कम ही बना रहेगा जब तक कि इसकी छूट की सीमा उतनी रहेगी जितनी कि अब है। पर छूट को इस सीमा को और नीचे लाना राजनैतिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। अतः आशा यही है कि यह कर सरकारी आय का एक लघु स्रोत ही बना रहेगा।[1]

वृत्तियों, व्यापारों तथा आजीविकाओं पर कर (Tax on Professions Trades and Callings):

यह कुछ राज्यों द्वारा और कुछ राज्यों में स्थानीय निकायों (local bodies) द्वारा लगाया जाता है। वस्तुतः, यह कर आय पर लगाया जाने वाला ही एक कर है। अतः केन्द्रीय आय-कर से इस कर की प्रतियोगिता को रोकने के लिए संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी कर-दाता से वसूल की जाने वाली इस कर की वार्षिक धनराशि २५० रु० से अधिक नहीं होगी। चूँकि कर का भार बहुत कम है अतः इस पर दोहरे कराधान (double taxation) का आरोप नहीं लगाया जा सकता।

इस कर से प्राप्त होने वाली कुल आय सन् १९७५-७६ के बजट के अनुसार २ करोड़ थी। अतः कर का वित्तीय महत्व तो बहुत कम है। सन् १९४९-५० की स्थानीय वित्त जाँच समिति ने सिफारिश की थी कि इस कर से प्राप्त होने वाली आय स्थानीय निकायों को सौंप दी जानी चाहिए। ऐसा करना इसलिये सम्भव है क्योंकि इस कर से प्राप्त होने वाली आय बहुत कम है।

पूँजी पर लगाये जाने वाले कर
(Taxes on Capital)

पूँजी पर लगाये जाने वाले करों में, संघ सूची (union list) के अन्तर्गत तो धन-कर, आस्ति-कर तथा उपहार-कर को सम्मिलित किया जाता है और राज्य सूची (state list) के अन्तर्गत भू-राजस्व तथा शहरी स्थावर सम्पत्ति पर लगने वाले करों को सम्मिलित किया जाता है। इस सम्बन्ध में सभी केन्द्रीय करों को तो अभी हाल की ही उपज कहा जा सकता है। शहरी स्थावर सम्पत्ति (urban immovable property) पर लगाया जाने वाला कर भी केवल कुछ राज्यों में अभी हाल में ही लगाया गया है। किन्तु भू-राजस्व (land revenue) अवश्य एक पुराना कर है जो सदियों से लगता चला आ रहा है। अनेक शताब्दियों (decades) से इस कर का आधार (basis) तथा इसकी प्रकृति (nature) स्थिर ही बनी रही है अतः राज्यों के लिए अब यह सरकारी आय का उतना महत्वपूर्ण स्रोत नहीं रहा जितना कि कभी पहले था।

तालिका—५

सम्पत्ति तथा पूँजीगत सौदों पर कर (करोड़ रु० में)

मद	१९६५-६६	१९६९-७०	१९७४-७५ (बजट)
आस्ति-कर (Estate Duty)	७	७	६
घटाओ-आस्तिकर में राज्यों का भाग	७	७	६
(१) शुद्ध प्राप्ति	—	—	—
(२) धन-कर	१२	१५	४०
(३) उपहार कर	२	२	४
(४) स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन	६	७	—
(५) भू-राजस्व	—	—	१२
सम्पत्ति तथा पूँजीगत करों से शुद्ध प्राप्ति	२०	२४	५६

1. इस पुस्तक में कृषि-कर से सम्बन्धित एक पृथक् अध्याय जोड़ दिया गया।

धन-कर (Wealth-Tax) :

धन पर कर सन् १९५७ में लगाया गया था, और वह भी मुख्यत: प्रो० कैल्डोर के सिफारिश के आधार पर। यह एक वार्षिक कर है जो व्यक्तियों तथा हिन्दू अविभाजित परिवारों के निवल धन (net wealth) पर लगाया जाता है। सन् १९६० में कम्पनियों को इस कर की परिधि से बाहर कर दिया गया और इस कर की बाह्यता (incidence) लाभों पर लगाये जाने वाले करों में जोड़ दी गई।

१ अप्रैल, १९६४ से कर की दरें निम्न प्रकार हैं :—

व्यक्तियों की स्थिति में

(१) निवल धन के प्रथम १ लाख रु० पर	कुछ नहीं
(२) निवल धन के अगले ४ लाख रु० पर	½ प्रतिशत
(३) निवल धन के अगले ५ लाख रु० पर	१ प्रतिशत
(४) निवल धन के अगले १० लाख रु० पर	२ प्रतिशत
(५) निवल धन के शेष भाग पर	२½ प्रतिशत

अविभाजित हिन्दू परिवारों की स्थिति में

(१) निवल धन के प्रथम २ लाख रु० पर	कुछ नहीं
(२) निवल धन के अगले ३ लाख रु० पर	½ प्रतिशत
(३) निवल धन के अगले ५ लाख रु० पर	१ प्रतिशत
(४) निवल धन के अगले १० लाख रु० पर	२ प्रतिशत
(५) निवल धन के शेष भाग पर	२½ प्रतिशत

कुछ परिसम्पत्तियों के सम्बन्ध में छूटें भी प्रदान की जाती हैं। इन परिसम्पत्तियों में निम्नलिखित सम्मिलित हैं (१) पुण्यार्थ अथवा धर्मार्थ कार्यों के लिए दी गई सम्पत्ति की सहायता, (२) संयुक्त हिन्दू परिवार की सम्पत्ति में हिस्सा, (३) किसी भूतपूर्व रियासत के राजा या नवाब द्वारा सरकारी निवास के रूप में काम में लाया जाने वाला कोई एक भवन, (४) निजी वस्तुएँ (personal effects), (५) २०,००० रु० तक के मूल्य के व्यावसायिक औजार तथा यन्त्र, (६) वैज्ञानिक खोज के लिए काम में लाये जाने वाले यन्त्र तथा उपकरण (instruments and apparatus), (७) किसी भी प्रकार की डाकघर की जमा, (८) निर्वाह निधि में जमा धनराशियाँ (९) पटेन्ट अथवा कापीराइट के अन्तर्गत मिला हुआ कोई अधिकार अथवा कोई पेन्शन या किसी भी बीमा-पालिसी पर ब्याज प्राप्त करने का अधिकार, (१०) किसी भी बैंकिंग, बीमा तथा जहाजी कम्पनी में और अनुमादित वित्तीय कम्पनी में लिये गये शेयर, और (११) ऐसे मकान जो पूर्णतया रहन के लिए ही काम में लाए जा रहे हों। २५,००० रु० तक के जवाहरात पहले तो कर-मुक्त थे किन्तु १९६३-६४ में यह छूट वापिस ले ली गई। कुछ प्रकार के सरकारी ऋण-पत्र (government securities) भी कर-मुक्त परिसम्पत्तियों में जोड़ दिये गये हैं। विदेशी नागरिकों का जो धन भारत से बाहर है उसको भी कर-मुक्त कर दिया गया है, भले ही वे भारत में ही क्यों न रहते हों। ऐसी विदेशियों की स्थिति में जो कि भारत में नहीं रहते हैं, उनकी भारत स्थित परिसम्पत्तियों के मूल्य पर ५० प्रतिशत कर कम कर दिया जाता है।

सन् १९७७-७८ के बजट के अनुसार धन-कर की नवीन दरें इस प्रकार हैं—

२,५०,००० रु० तक	½%
२,५०,००१ रु० से ५,००,००० रु० तक	१%
५,००,००१ रु० से १०,००,००० रु० तक	२%
१०,००,००१ रु० से १५,००,००० रु० तक	२½%
१५,००,००० से अधिक पर	३½%

धन-कर से आय—गत कुछ वर्षों मे धन-कर से आय निम्न प्रकार से हुई :—

वित्तीय वर्ष	धन-कर से आय (करोड रु० मे)
१९५७-५८	७ ०४
१९६०-६१	८ १५
१९६५-६६	१२ ६
१९६६-६७	१० ७
१९६७-६८	१० ६७
१९६८-६९	११ १८
१९६९-७०	१५ ५५
१९७०-७१	१५ ५८
१९७१-७२	२५ ८८
१९७२-७३	३० ००
१९७३-७४	३५ ८०
१९७४-७५	४० ००
१९७५-७६	४३ ००
१९७६-७७ (सशोधित)	५९ ००
१९७७-७८ (बजट)	४५ ००

धन-कर को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है कि वर्तमान आय-कर कानूनो द्वारा आय की जो व्याख्या की गई है, वह कर-देय क्षमता (tax-paying capacity) का पर्याप्त माप नही है। अत यह आवश्यक है कि आय-कर के अनुपूरक के रूप मे धन-कर लगाया जाए। इससे जहाँ कर-पद्धति मे क्षमता आती है, वहाँ कर-वचन की सम्भावनाएँ भी कम होती है। उधर इसका अप्रेरणात्मक प्रभाव भी काफी कम ही पडता है। कर पूँजी के उपयोग के सम्बन्ध मे कोई भेदभाव या पक्षपात नही करता अत यह भी भय नही है कि इस निवेश की मात्रा मे कुछ कमी हो जायेगी।

धन-कर लगने के साथ ही, उच्चतर आय वाले वर्गो पर कराधान का भार बढ गया है। इसी कारण अभी हाल के वर्षो मे उच्च आय वाले वर्गों पर आय-कर की दरो मे कमी कर दी गई है और कर उच्चतम सीमान्त दर अब पहले से नीची है। परन्तु आय-कर की दरो मे की गई कमी इतनी थोडी है कि उससे कर-भार मे कोई उल्लेखनीय कमी नही हुई है। इस स्थिति मे धन-कर के बढ़े हुए भार के कारण ऊँचे प्रत्यक्ष कराधान के हानिकारक प्रभावो मे भी निश्चय ही वृद्धि हो गई है।

कम्पनियो पर से धन-कर को समाप्त करके सरकार ने बुद्धिमानी का कार्य किया है। निवेश पर इस कर का निश्चित रूप से अप्रेरणात्मक प्रभाव पडता था। कम्पनियो पर तो अन्य करो का भार ही बहुत काफी था, फिर धन-कर ने तो स्थिति का और बदतर बना दिया। अत कम्पनियो पर से इस कर की समाप्ति सही दिशा मे उठाया जाने वाला एक कदम था।

धन-कर सामाजिक दृष्टि से भी एक उपयोगी कार्य सम्पन्न करता है, और वह यह कि यह कुछ निश्चित सीमाओ से ऊपर धन के सचय को रोकता है। इस सीमा तक यह आर्थिक विषमताओ को दूर करता है और एक समाजवादी ढग की समाज की स्थापना मे बडा सहायक होता है। परन्तु उस सम्बन्ध मे एक सुझाव यह दिया जाता है कि यह लक्ष्य तब अच्छी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है जबकि इसकी छूट की सीमा को ऊपर बढा दिया जाए और कर मे अधिक मात्रा मे आरोहण अथवा क्रमवर्धन (prograssion) को लागू कर दिया जाए।

आस्ति-कर या जायदाद कर (The Estate or Property-Duty) :

आस्ति-कर भारत मे १५ अक्टूबर, सन् १९५३ में लगाया गया था। यह कर कृषि भूमि को छोडकर अन्य सम्पत्ति पर सघ सरकार द्वारा लगाया जाता है परन्तु इसकी प्राप्तियाँ राज्यों के

बीच बाँटी जाती है। संविधान के अन्तर्गत वह व्यवस्था है कि कृषि भूमि पर कर राज्य सरकारों द्वारा लगाया जाता है परन्तु राज्य सरकार यदि चाहे तो यह कार्य संघीय संसद को सौंप सकती है। अनेक राज्यों ने ऐसा किया भी है और इस स्थिति में इन राज्यों के लिए केन्द्र ही कर लगाता है।

यह उस सम्पत्ति पर लगाया जाता है जो हस्तान्तारित की जाती है अथवा किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर हस्तान्तरित की हुई मानी जाती है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के समय स्थानान्तरित होने वाली सम्पूर्ण सम्पत्ति को एक ही जायदाद अथवा सम्पदा के रूप मे जोड लिया जाता है। जिन राज्यो द्वारा कृषि भूमि पर कर लगाने का अधिकार केन्द्र को सौंप दिया जाता है, वहां ऐसी भूमि भी उस सम्पदा के ही अन्तगत मानी जाती है। अन्य राज्यो मे, यद्यपि कृषि भूमि पर कर नही लगाया जाता किन्तु उस भूमि का मूल्य कर की दर का निर्धारण करने के उद्देश्य से अन्य सम्पत्ति के मूल्य मे जोड दिया जाता है।

यह कर ऋणो को घटाने के बाद निर्बल सम्पत्ति पर लगाया जाता है। कोई मृत व्यक्ति (deceased person) अन्य सम्पत्तियो के समान ही जब संयुक्त हिन्दू परिवार की सम्पत्ति से अपना सम्बन्ध तोडता है तो कर के लिए इन दोनो ही प्रकार की सम्पत्ति को एक जायदाद के रूप मे जोड लिया जाता है। इस कर की दरें शिला पद्धति के आधार पर निर्धारित की गई हैं और निम्न प्रकार है —

(१) सम्पदा (estate) के मूल्य के प्रथम ५०,००० रु० पर	कुछ नही
(२) सम्पदा के मूल्य के अगले ५०,००० रु० पर	४ प्रतिशत
(३) सम्पदा के मूल्य के अगले १,००,००० रु० पर	१० प्रतिशत
(४) सम्पदा के मूल्य के अगले १,५०,००० रु० पर	१५ प्रतिशत
(५) सम्पदा के मूल्य के अगले १,५०,००० रु० पर	२५ प्रतिशत
(६) सम्पदा के मूल्य के अगले ५,००,००० रु० पर	३० प्रतिशत
(७) सम्पदा के मूल्य के अगले ५,००,००० रु० पर	४० प्रतिशत
(८) सम्पदा के मूल्य के अगले २५,००,००० रु० पर	५० प्रतिशत
(९) सम्पदा के शेष मूल्य पर	८५ प्रतिशत

इस सम्बन्ध मे कुछ ऐसी व्यवस्थायें भी की गई हैं जिससे कर छिपाने के प्रयत्नों को निष्फल किया जा सके। मृत्यु से पूर्व ही मृत्यु को आशा मे जो उपहार दिये जाते हैं, उन्हें मृत्यु के समय ही किया गया हस्तान्तरण माना जाता है। जीवन-काल मे ही दिये जाने वाले वे उपहार जो मृत्यु से पूर्व की छ माह की अवधि के अन्तर्गत सार्वजनिक धर्मार्थ कार्यों के लिए दिये जाते हैं अथवा व्यक्तिगत लाभ प्राप्तकर्त्ताओ को दिये जाने वाले वे उपहार, जो मृत्यु से पूव की दो वर्ष की अवधि के अन्तर्गत ही दे दिये जाते है, मृत्यु के समय हस्तान्तरित किये जाने वाले उपहार ही माने जाते है। पर इसके बावजूद, सार्वजनिक धर्मार्थ कार्यों के लिए दिये जाते वाले २,५०० रु० तक के उपहार तथा २,५०० रु० तक के ही अन्य उपहार कर-मुक्त कर दिये जाते हैं, भले ही वे उक्त अवधियो के अन्दर दिये गये हो। इसके अतिरिक्त, विवाह के सम्बन्ध मे दिये जाने वाले उपहार तथा आश्रित कन्याओ की शादी के लिये अलग रखा हुआ धन भी इस कर से मुक्त कर दिया जाता है बशर्ते कि उसकी राशि १०,००० रु० से अधिक न हो।

इसके अलावा, आस्ति-कर के सम्बन्ध मे अन्य भी अनेक छूटें प्रदान की जाती हैं। वे इस प्रकार है : (१) औजारो तथा उपकरणो सहित घरेलू सामान जिसका उपयोग मृतक अपने जीविकोपार्जन के लिए करता था, यदि उसकी कीमत १,५०० रु० से अधिक हो, (२) पुस्तकें जो बेचने के उद्देश्य नही रखी गई थी, (३) पहनने के वस्त्र परन्तु उनमे सिले हुए अथवा जड़े हुए हीरे-मोती आदि छूट मे सम्मिलित नही हैं, (४) कर की अदायगी के लिए सरकार के पास जमा किया हुआ कोई धन अथवा बीमा पॉलिसी, परन्तु इस धन की मात्रा कर की राशि से अधिक न हो, (५) मृत व्यक्ति की ५,००० रु० तक जीवन बीमा पॉलिसी, (६) पेंटिंग, चित्रकला पुरानी पाण्डुलिपियाँ (old manuscripts) चित्र, कलात्मक कृतियाँ अथवा पुरातत्व अथवा विज्ञान से सम्बन्धित सग्रह आदि जो बिक्री के उद्देश्य से न रखे गये हो, (७) मृतक की अन्तिम क्रिया से सम्ब-

न्धित १,००० रु० का खर्च; (८) भूतपूर्व रियासतों के शासकों के रिहायशी निवास स्थान, और (९) सशस्त्र सेना के किसी ऐसे सैनिक की सम्पत्ति जो शत्रु के विरुद्ध कार्यवाही करता हुआ मारा गया हो।

उपहारों के मूल्य, वैसे कर से मुक्त रहते है किन्तु कर की औसत दर का निर्धारण करने के लिए वे मृतक की अन्य सम्पत्ति मे ही जोड दिये जाते है। इसी प्रकार, कर की अदायगी के लिए ली जाने वाली बीमा पॉलिसियाँ अथवा मृत व्यक्ति की जीवन पॉलिसियाँ भी कर निर्धारण करने की दृष्टि से जायदाद मे ही सम्मिलित कर ली जाती हैं।

ऊपर बताई गई छूटो के अतिरिक्त, कुछ और रियायतें भी दी जाती हैं। भारत से बाहर अचल सम्पत्ति (immovable property) पर छूट दी जाती है, विदेशो मे स्थित चल सम्पत्ति (movable property) पर भी छूट दी जाती है बशर्ते कि मृत व्यक्ति मृत्यु के समय स्थायी रूप से न रहने लगा हो।

दोहरा कराधान न होने देने के लिए भी कुछ छूटें अथवा उन्मुक्तियो (relief) दी जाती है। यदि पहली मृत्यु के पश्चात् पाँच वर्ष की अवधि के अन्दर ही दूसरी मृत्यु हो जाए और उसके कारण शीघ्र ही सम्पत्ति का हस्तान्तरण करना पड जाए तो उस पर अलग से छूट दी जाती है। जब दूसरी मृत्यु पहली मृत्यु के पश्चात् पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे अथवा पाँचवे वर्ष मे होती है तो कर मे क्रमश ३०, ४०, ३०, २० और १० प्रतिशत की छूट दी जाती है, परन्तु यह छूट सम्पत्ति के केवल उतने ही भाग पर दी जाती है जिस पर कि प्रथम मृत्यु के समय कर अदा किया गया था।

सन् १९६७-६८ मे आस्ति-कर से होने वाली प्राप्तियाँ ६ करोड रु० से कुछ अधिक थी। सन् १९७७ ७८ के बजट मे इस मद से १० ७५ करोड रु० की आय का अनुमान लगाया है। सम्पूर्ण धनराशि राज्यो को स्थानान्तरित कर दी जाती है।

गत कुछ वर्षों मे आस्ति-कर से प्राप्त होने वाली आय निम्न प्रकार से रही है :—

वित्तीय वर्ष	आय (करोड रु० मे)
१९५५-५६	१ ८१
१९६०-६१	३ ०९
१९६५-६६	७ ०४
१९६६-६७	६ २६
१९६७-६८	६ ३६
१९६८-६९	९ ६३
१९७०-७१	७ ०९
१९७१-७२	९ ११
१९७२-७३	९ २५
१९७३-७४	११ ७०
१९७४-७५	१० ००
१९७५-७६	९ ७०
१९७६-७७ (सशोधित)	१० ७५
१९७७-७८ (बजट)	१० ७५

आस्ति-कर की आलोचना मे अनेक तर्क दिये जाते है। यह कहा जाता है कि बचत तथा कार्य पर यह कर बडा हानिकारक प्रभाव डालता है। कर के रूप मे सम्पत्ति के मूल्य का जो एक बडा भाग सरकार के पास चला जाता है, उसका धन के सचय पर अप्रेरणात्मक प्रभाव (disincentive effect) पडता है। इसके अतिरिक्त, कर की अदायगी से जायदाद पर बडा भार पडता है और कभी-कभी तो इस कार्य के लिए जायदाद (estate) का एक भाग तक बेचना पड

जाता है। व्यावसायिक सम्पत्ति पर विशेष रूप से इसका बुरा प्रभाव पड़ता है और एकाकी उद्यम (sole enterprise) तथा साझेदारी (partnership) जैसे व्यवसाय तो प्रायः समाप्त ही हो जाते हैं।

भारत में उत्तराधिकार के अनेक कानून प्रचलित हैं उनसे भी इस मामले में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। यह ही पता नहीं चलता है कि पैतृक सम्पत्ति उत्तराधिकार में किसे मिलती है और कर को अदा करने का दायित्व किस पर है। फिर, विभिन्न कानूनों के कारण भिन्न-भिन्न लोगों पर पड़ने वाले कर का भार भी भिन्न-भिन्न ही पड़ता है। पर यह कठिनाई तो इसलिए हल हो गई है क्योंकि इसे अब उत्तराधिकार कर (succession duty) के बजाए आस्ति-कर बना दिया गया है। मृत्यु के समय हस्तान्तरित होने वाली सम्पूर्ण सम्पदा पर, उसको एक-धन मानकर कर लगाया जाता है। इसमें इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि उत्तराधिकार में सम्पत्ति प्राप्त करने वाले व्यक्ति कितने हैं और मृत व्यक्ति से उनका क्या सम्बन्ध है। परन्तु इनसे करों के भार के वितरण में समता नहीं आती।

फिर एक ऐसे देश में, जहाँ कि सामाजिक सुरक्षा (social security) की कोई व्यवस्था नहीं है, यदि लोगों द्वारा अपने आश्रितों (dependents) के लिए अपनी मृत्यु के बाद के समय के लिए कोई प्रबन्ध किया जाता है तो उस पर ऐसे भारी कर नहीं लगाये जाने चाहिए। इस आधार पर इस कर को अन्यायपूर्ण माना जाता है।

किन्तु कर-पद्धति में आरोहण अथवा क्रमवर्धन उत्पन्न करने वाले एक साधन के रूप में आस्ति-कर को काफी मान्यता प्राप्त है। यह अत्यधिक आरोही कर (highly progressive tax) है जिसकी वाहना (incidence) मुख्यतः उच्चतर आय वाले वर्गों पर ही पड़ती है। अतः इस कर से कर-पद्धति में समता (equity) उत्पन्न होती है। यह धन की असमानताओं को कम करने का बड़ा अच्छा साधन है।

बचत तथा कार्य पर इस कर के हानिकारक प्रभावों की जो बात कही जाती है वह भी अतिशयोक्तिपूर्ण है। करों की दरों के निर्धारण तथा छूट प्रदान करने का कार्य इस प्रकार किया जाता है कि जिससे कर के अप्रेरणात्मक प्रभाव न्यूनतम हो जाएँ। यद्यपि इस कर की वर्तमान प्राप्तियाँ थोड़ी हैं, किन्तु फिर भी, यह सरकारी आय का एक अच्छा स्रोत है।

उपहार-कर (The Gift-tax).

भारतीय अर्थशास्त्री प्रो० जे० के० मेहता के शब्दों में "उपहार-कर से आशय उस कर से है जो किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने जीवन काल में दिये गए एक निश्चित मूल्य से अधिक के उपहारों पर दिया जाता है।" भारत में उपहारों पर कर अप्रैल, सन् १९५८ में लागू किया गया था। यह कर आस्ति-कर तथा धन-कर के पूरक (complement) के रूप में था। यह कर प्रो० कैल्डोर द्वारा प्रस्तावित कर पद्धति का एक आवश्यक अंग था और इसके लागू करने से ही उनके द्वारा सुझाया गया करों का ढाँचा पूर्ण बनता था। व्यय-कर, धन-कर तथा आस्ति-कर के बचन को रोकने के लिए इस कर का लगाया जाना आवश्यक था। उपहार देकर आस्ति-कर तथा धन-कर की देनदारी से बचा जा सकता था अथवा उसको कम किया जा सकता था। उधर फर्जी उपहारों का खर्चा दिखाकर व्यय कर से भी बचा जा सकता था।

प्रत्येक वित्तीय वर्ष में यह कर उन उपहारों पर लगाया जाता है जो पिछले वर्षों में दिये जाते हैं। इसकी दरें शिला पद्धति पर आधारित हैं और १५,००० की प्रथम शिला (first slab) ५ प्रतिशत से लेकर १४,६०,००० रु० की शिला पर ५० प्रतिशत तक लगाया जाता है। १ अप्रैल १९६६ से लागू होने वाली उपहार कर की दरें निम्न प्रकार हैं :—

(१) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले १०,००० रु० तक	शून्य
(२) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले १५,००० रु० पर	५ प्रतिशत
(३) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले २५,००० रु० पर	८ प्रतिशत
(४) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले ५०,००० रु० पर	१० प्रतिशत

(५) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले ५०,००० रु० पर — १५ प्रतिशत
(६) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले ५०,००० रु० पर — १७½ प्रतिशत
(७) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले १,५०,००० रु० पर — २० प्रतिशत
(८) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले १,५०,००० रु० पर — २५ प्रतिशत
(९) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले ५,००,००० रु० पर — ३० प्रतिशत
(१०) सभी कर योग्य उपहारों के मूल्य के अगले ५,००,००० रु० पर — ४० प्रतिशत
(११) सभी कर योग्य उपहारों के शेष मूल्य पर (१५ लाख से अधिक पर) — ५० प्रतिशत

उपहार-कर की वर्तमान दरें निम्न प्रकार हैं :—

खण्ड	कर की दरें
प्रथम १०,००० रु० के मूल्य के उपहारों पर	शून्य
१०,००१ से २०,००० रु० के मूल्य के उपहारों पर	५%
२०,००१ से २५,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	५%
२५,००१ से ५०,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	८%
५०,००० से १,००,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	१०%
१,००,००१ से १,५०,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	१५%
१,५०,००१ से २,००,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	१७.५%
२,००,००१ से ३,५०,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	२०%
३,५०,००१ से ५,००,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	२५%
५,००,००१ से १०,००,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	३०%
१०,००,००१ से १५,००,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	४०%
१५,००,००१ से २०,००,००० ,, ,, ,, ,, ,, ,,	५०%
२०,००,००० से ऊपर ,, ,, ,, ,, ,, ,,	५०%

कोई भी व्यक्ति एक वर्ष में १०,००० रु० तक के कर-मुक्त उपहार दे सकता है। इसके अतिरिक्त, उपहारों के सम्बन्ध में कुछ और भी छूटें प्रदान की जाती हैं जो कि इस प्रकार हैं : (१) कर के क्षेत्र से बाहर अचल सम्पत्ति के उपहार, (२) उक्त क्षेत्र से बाहर अचल सम्पत्ति के उपहार, बशर्ते कि दाता भारत का नागरिक न हो और सामान्यतः यहाँ निवास भी न करता हो, (३) डाकघर के ऐसे बचत प्रमाणपत्रों के रूप में सम्पत्ति के उपहार, जिन्हें सरकार ने सरकारी गजट में अधिसूचना निकालकर कर-मुक्त कर दिया हो, (४) सरकार अथवा किसी स्थानीय सत्ता को दिये जाने वाले उपहार, (५) किसी ऐसी संस्था अथवा निधि (fund) में दिये जाने वाले उपहार, जिनकी स्थापना धर्मार्थ कार्य के लिए की गई हो और जो किसी विशेष धार्मिक समुदाय के लाभ के लिए न हो, (६) अन्य किसी धर्मार्थ कार्य के लिए दिये गये उपहार; (७) एक ही दान प्राप्तकर्त्ता को १०० रु० तक के उपहार और कुछ उपहारों की मात्रा ५०० रु० तक, (८) किसी आश्रित सम्बन्धी (dependent relative) को उसके विवाह के अवसर पर १०,००० रु० तक के उपहार, (९) पति या पत्नी को पिछले एक या अधिक वर्षों में कुल १,००,००० रु० तक के उपहार, (१०) किसी भी आश्रित व्यक्ति को पिछले एक अथवा अधिक वर्षों में बीमे की पॉलिसियों अथवा वार्षिकियों (annuities) के रूप में दिये जाने वाले उपहार, परन्तु प्रत्येक दान प्राप्तकर्त्ता की स्थिति में ऐसे उपहारों का कुल योग १०,००० रु० से अधिक न हो, (११) इच्छा-पत्र के अन्तर्गत दिये गये अथवा मृत्यु की आशा में दिये गये उपहार (इस स्थिति में ये उपहार आस्ति-कर के अन्तर्गत आ जाते हैं), (१२) अपने बच्चों की शिक्षा के लिए दिये गये उपहार, परन्तु इनकी मात्रा ऐसी हो जो तर्कसंगत और उपयुक्त हो; (१३) किसी भी कर्मचारी को आनुतोषिक (gratuity), बोनस या पेन्शनों के रूप में दिये जाने वाले उपहार अथवा मृत कर्मचारी के आश्रितों को दिये जाने वाले ऐसे ही उपहार, परन्तु वे तर्कसंगत एवं उपयुक्त हों, (१४) किसी भी ऐसे व्यक्ति को दिये जाने वाले उपहार, जो भूदान अथवा सम्पत्तिदान का इन्चार्ज हो, बशर्ते कि इसकी अधिसूचना (notification) सरकारी गजट में प्रकाशित हो चुकी हो, और (१५) किसी भी व्यक्ति के आश्रित सम्बन्धियों के पालन-पोषण के लिए अथवा किसी सरकारी कार्य के सम्पादन के लिए

अपने जेब खर्च मे से दिये जाने वाले उपहार। प्राइवेट-कम्पनियो द्वारा दिये जाने वाले उपहार भी कर-मुक्त है।

सन् १९७०-७१ मे उपहार करो ५% से ७५% तक कर दिया गया तथा प्रारम्भिक छूट को १०,००० रु० से घटाकर ५,००० रु० कर दिया गया।

इस कर से प्राप्त सरकारी आय बहुत थोडी रही है। सन् १९६७-६८ मे इस कर की प्राप्तियाँ १·३ करोड़ रु० थी। १९७७-७८ (बजट) मे इस कर से आय प्राप्त ५·५० करोड़ रु० होने का अनुमान था। गत कुछ वर्षों मे उपहार-कर से प्राप्त होने वाली आय निम्न प्रकार रही है :—

वित्तीय वर्ष	आय (करोड रु० मे)
१९६०-६१	०·८८
१९६५-६६	२·२७
१९६६-६७	१·७५
१९६७-६८	१·३०
१९६८-६९	१·५०
१९६९-७०	१·९३
१९७०-७१	२·३५
१९७१-७२	३·४५
१९७२-७३	३·७५
१९७३-७४	४·७३
१९७४-७५	५·००
१९७५-७६	४·५०
१९७६-७७ (सशोधित बजट)	५·३५
१९७७-७८ (बजट)	५·५०

उपहार कर को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है कि यह कर-पद्धति को अधिक आरोही बनाता है अत. करो के भार का वितरण अधिक समानता के साथ करता है। हाँ, सरकारी आय के दृष्टिकोण से यह अधिक सहायक सिद्ध नही हुआ है परन्तु इस सम्बन्ध मे भावी सम्भावनाओ से इन्कार नही किया जा सकता। वास्तव में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि इस कर का मुख्य योगदान कुछ अन्य करो का वचन (evasion) रोकने मे है जैसे कि आस्ति-कर, धन-कर तथा व्यय-कर का वचन (व्यय-कर अब समाप्त कर दिया गया है)। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह हमारी कर-पद्धति का पूरक है।

भारत मे यह कर जिस रूप मे लगाया जाता है, वह प्रो० कॅल्डोर द्वारा प्रस्तावित योजना के अनुरूप नही है। उन्होंने सिफारिश की थी कि वर्तमान आस्ति-कर के स्थान पर सभी उपहारो पर कर लगाया जाए। कर उपहार-प्राप्तकर्त्ता पर आरोही दरो से लगाया जाता जाता था बल्कि प्राप्तकर्त्ता के उस नये धन पर लगाया जाना था जिसमे उपहार भी सम्मिलित हों। इसके विपरीत यह कर दाता पर आरोही दरो से उपहार के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है। यह केवल जीवन-काल मे दिये गये उपहारो पर लगाया जाता है और आस्ति-कर के केवल अनुपूरक (supplement) के रूप मे कार्य करता है।

कुछ भी हो, यह कर हमारी कर-पद्धति का एक अनिवार्य अग है और आशा यही है कि आने वाले वर्षो मे यह बडा महत्वपूर्ण भाग अदा करेगा।

व्यय-कर
(Expenditure-Tax)

व्यय-कर भारत मे व्यय-कर अधिनियम के अन्तर्गत अप्रैल, १९५८ मे लगाया गया था। यह कर सन् १९५८-५९ से सम्बन्धित पूर्व वर्ष मे किये गए खर्चों पर लगाया था। इस कर से

सरकार को आय के रूप में बहुत थोड़ी धनराशि प्राप्त हुई। इससे ९१ लाख रु० की अधिकतम आय सन् १९६०-६१ में प्राप्त हुई। यह कर चूँकि व्यय को नियन्त्रित करने में असफल रहा, इससे बहुत कम आय प्राप्त हुई और प्रशासकीय नियन्त्रण के एक साधन के रूप में भी यह निष्प्रभावी सिद्ध हुआ, अतः १ अप्रैल, १९६२ से इसे समाप्त कर दिया गया। सन् १९६४-६५ में इसे फिर लागू किया गया और १ अप्रैल, १९६६ से पुनः इसे समाप्त कर दिया गया। सन् १९७०-७१ के बजट में इस स्रोत से ८३ हजार रु० की आय होने का अनुमान था। सन् १९७३-७४ के बजट में इस मद में केवल १५ हजार रु० की ही आय होने का अनुमान था।

यह कर व्यक्ति अथवा अविभाजित हिन्दू परिवार की खर्च की जा सकने योग्य आय (spendable income) पर लगाया जाता था, बशर्ते कि निर्धारण वर्ष (assessment year) में ऐसी आय ३६,००० रु० से अधिक हो। खर्च की जाने योग्य आय का पता लगाने के लिए कुल आय में से आय-कर, अति-कर तथा धन-कर जैसे अन्य प्रत्यक्ष करों को घटा दिया जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि कर की अदायगी से पूर्व आय ६०,००० रु० होनी थी।

खर्च की कुछ मदें ऐसी थीं जो कर से मुक्त थीं और कर-योग्य व्यय (taxable expenditure) का निर्धारण करने के लिए कुछ खर्च में से उनको घटा दिया जाता था। खर्च की इन मदों में सम्पत्ति के निवेश पर किये जाने वाले व्यावसायिक खर्चे, कर्जों की वापिसी अदायगियाँ, उपहार तथा बीमे की किस्त सम्मिलित हैं। अमुक्त व्यय (non-exement expenditure) में से भी कुछ छूट अथवा कटौतियों की अनुमति दी जाती थी, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण थीं : ३०,००० रु० की प्रामाणिक अथवा मूल छूट और अभिाजित हिन्दू परिवार के प्रत्येक अतिरिक्त सहभागीदार के लिए ३,००० रु० की अतिरिक्त छूट। इसके अलावा अन्य घटौतियाँ इस प्रकार थीं : प्रत्येक आश्रित विवाह के लिए ५,००० रु० तक का विवाह का खर्च, माता-पिता की टहल अथवा देखभाल के लिए ४,००० रु० तक की धनराशि, ५,००० रु० तक का चिकित्सा व्यय और विदेशी शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय बशर्ते कि वह ८,००० रु० से अधिक न हो।

छूटें घटाने के बाद, यह कर कर-योग्य व्यय के प्रथम १०,००० रु० पर १० प्रतिशत से लेकर कर-योग्य व्यय की ५०,००० रु० से अधिक की राशि पर १०० प्रतिशत तक की दर से लगाया जाता था।

कराधान की दृष्टि से टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं पर किए जाने वाले सभी बड़े खर्चों को पाँच वर्षों की अवधि में फैला लिया जाता था। कर-योग्य व्यय में वे धनराशियाँ भी सम्मिलित की जाती थीं जो करदाता, उसकी पत्नी अथवा उसके बच्चों के उत्तरदायित्व पर या उनके हित के लिए खर्च की जाती थीं।

व्यय-कर कर-पद्धति का एक अनिवार्य पूरक था। प्रो० कैल्डोर ने इसके महत्व पर काफी जोर दिया था। परन्तु इसको लागू करने में कुछ ऐसी व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आईं जिनके कारण ही इसे समाप्त करना पड़ा।

राज्यों में सम्पत्ति तथा पूँजीगत सौदों पर कर (Taxes on Property and Capital Transactiont of States) :

राज्यों को सम्पत्ति तथा पूँजीगत सौदों पर लगाये गये करों से भी आय प्राप्त होती है। निम्न तालिका में राज्यों को इन स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय दिखाई गई है :—

तालिका—६

राज्यों में सम्पत्ति तथा पूँजीगत सौदों पर कर

(करोड़ रु० मे)

मद	१९५१-५२ (लेखे)	१९६६-६७ (लेखे)	१९६८-६९ (वजट)	१९७२-७३ (वजट)
आस्ति-कर	—	४ ५	७ ७	९·२५
भू-राजस्व	४८ ०	८९ ६	१०८ ७	१०६·३०
स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन	२५ ६	८१ २	९३ ३	१४५ ३०
शहरी स्थावर सम्पत्ति पर कर	१ ८	३ ०	३ ७	—
सम्पत्ति तथा पूँजीगत सौदो पर करो का योग	७५·४	१७८ ३	२१३ ४	

स्रोत . भारतीय रिजर्व बैंक की विज्ञप्तियाँ

इस तालिका मे आस्ति-कर से होने वाली आय उस कर-राजस्व को सूचक है जो लगाया और एकत्रित तो केन्द्र द्वारा किया जाता है किन्तु पूरा राज्यो को स्थानान्तरित कर दिया जाता है। पूँजीगत सौदो मे वृद्धि होने के कारण स्टाम्प और रजिस्ट्रेशन से राज्यो को अच्छी आय प्राप्त हो रही है। परन्तु इस वग मे भू-राजस्व ही अभी भी सबसे महत्वपूर्ण कर बना हुआ है और अब हम इसी स्रोत पर विचार करेंगे।

भू-राजस्व (Land Revenue) ·

पहले कभी भू-राजस्व अथवा मालगुजारी राज्यो की आय का एक सबसे महत्वपूर्ण स्रोत था। परन्तु अब इसकी गिनती बिक्री-कर के बाद की जाती है। कर का आधार तथा कर की दरें राज्य-राज्य मे भिन्न-भिन्न हैं। किसी भी राज्य की भू-राजस्व व्यवस्था वहाँ की भू-धारण पद्धति (system of land tenure) पर निर्भर होती है। भू-धारण पद्धति भूतकाल मे विभिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न थी, परन्तु ये भिन्नतायें अनेक प्रकार के भूमि सुधार लागू किए जाने से अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही हैं। अत अब विभिन्न राज्यो के भू-राजस्व मे भी कम ही अन्तर पाया जाता है। भूतपूर्व रियासतों में मालगुजारी की अपनी अलग ही प्रथा थी परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राज्यो मे उनका विलय होने के पश्चात् वहाँ अनेक भूमि सुधार किये गये जिनके फलस्वरूप वहाँ की भू-राजस्व व्यवस्थायें भी शनैः शनै. राज्यो की पद्धति के ही अनुरूप होती जा रही हैं।

भू-राजस्व के निर्धारण का आधार विभिन्न राज्यो मे पृथक्-पृथक् है। पजाव, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश मे तथा विहार, उडीसा व पश्चिमी बगाल के अस्थायी बंदोबस्त वाले क्षेत्रों मे भू-राजस्व का निर्धारण निवल परि-सम्पत्तियों (net assets) के आधार पर किया जाता है। निबल परिसम्पत्ति का पता लगाने के लिए कुल उपज का अनुमान लगाकर किसी विशिष्ट अवधि की फसल की औसत कीमत के आधार पर उसका मूल्य निकाल लिया जाता है, फिर उनमे से जमीदार की अनुमानित लागतें (costs) घटा दी जाती हैं। मद्रास मे, इसका निर्धारण प्रत्यक्ष रूप से निबल उपज (net produce) के मूल्य के आधार पर किया जाता है। निवल उपज का पता लगाने के लिए पहले औसत कीमत के आधार पर कुल उपज (gross produce) का मूल्य निकाल लिया जाता है, फिर उसमे से खेती मे हुआ व्यय तथा बुरे मौसम में निर्धारित कुछ धनराशियाँ घटा दी जाती हैं। प्राचीन काल में, कुल उपज को ही भू-राजस्व के निर्धारण का आधार माना जाता था और असम जैसे कुछ राज्यों में अब भी यह आधार बना हुआ है।

भार अदा करने की योग्यता के माप के रूप मे आय पर विचार करते समय सस्थापक अर्थशास्त्रियों (classical writers) ने आय की मनमानी व्याख्या की थी। उनका विश्वास था कि थोडी आय वाले वर्ग के लोगो के साथ अधिक अनुकूल एव सुविधापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही साथ वे आरोहण (progression) को सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार करने को तैयार नही थे। उदाहरण के लिए, एडम स्मिथ का कहना था कि मजदूरियो (wages) तथा अनिवार्य आवश्यकताओ को, जोकि वास्तविक निर्वाह आय (real subsistence income) का निर्माण करती है, कराधान से मुक्त कर दिया जाना चाहिए। अत. "स्पष्ट आय" (clear income) अथवा निर्वाह आय से ऊपर की आय को ही कर योग्य आय (taxable income) माना जाना चाहिये। अत अनेक सस्थापक अर्थशास्त्रियो ने इस बात की वकालात की कि निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों को कराधान से पूर्णतया मुक्त कर दिया जाना चाहिए और आय के उच्चतर कोष्ठको (higher income-brackets) पर अनुपाती कराधान (proportional taxation) लागू किया जाना चाहिए। बाद के अर्थशास्त्रियो ने आरोहण की अन्य मात्रा का प्रतिपादन किया, अर्थात् उन्होने अर्जित अथवा अनार्जित आय (earned and unearned income) के बीच भेद किया। उन्होने कहा कि सेवाओ से प्राप्त होने वाली आय अर्थात् मजदूरियाँ तथा वेतन ही अर्जित आय (earned income) है, और पूँजी से प्राप्त होने वाली आय को अनार्जित आय (unerrned income) कहते है। उनका कहना था कि व्यक्ति की अर्जित आय पर कर लगाने से उसे दुगुना त्याग करना पडता है, अर्थात् एक तो आय के उपयोग से प्राप्त होने वाली तुष्टि की हानि और दूसरे, ऐसी आय को कमाने की तुष्टि हीनता (disutility) से व्यर्थ मे ही होने वाला कष्ट। दूसरी ओर, अनार्जित आमदनियो पर लगाये जाने वाले करो की दरें ऊँची रखी गई।

यद्यपि आय को कर अदा करने की योग्यता का उचित मापदण्ड माना जाने लगा है, उदाहरण के लिए, व्यक्तिगत आय पर आय कर को सभी करों मे सर्वाधिक न्यायपूर्ण माना जाता है, परन्तु यह मान्यता भी पूर्णत निर्दोषपूर्ण नही है। आधुनिक समाज का ढांचा दिन प्रतिदिन ऐसा जटिल होता जा रहा है कि कर अदा करने की योग्यता का आय-मापदण्ड पर्याप्त नही है। इसके अलावा, अब उपभोग को अदा करने की योग्यता का अधिक अच्छा मापदण्ड माना जाने लगा है।

(३) उपभोग को कर अदा करने की सामर्थ्य का मापदण्ड माना जाना (Consumption as an index of tax paying capacity)—यह भी कहा जाता है कि उपभोग को कर अदा करने की सामर्थ्य का माप माना जाना चाहिए क्योंकि इस बात का पता उपभोग के खर्च से ही चलता है कि आय से कितना वास्तविक तुष्टिगुण प्राप्त हुआ है यद्यपि यह सत्य है कि आय इसलिये कमाई जाती है कि इसका उपयोग उपभोग (Consumption) के लिये किया जा सके परन्तु आय केवल उपभोग के लिये ही तो प्रयुक्त नही की जाती। इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता है कि बचत (saving), जो कि बाद मे विनियोग (investment) बन जाती है, व्यय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आवश्यक पहलू है। यह तो कोई बुद्धिमता की बात नही है कि उपभोग व्यय को तो अदा करने की सामर्थ्य का सूचक माना जाए और बचत तथा विनियोग व्यय की उपेक्षा कर दी जाय। प्लैंक (Plank) ने इस सम्बन्ध मे अपना तर्क निम्न शब्दो मे प्रस्तुत किया है : "एक ऐसा प्रस्ताव,—जो कि करो के भार को ऐसी आय पर केन्द्रित कर दे जो उपभोग की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये जरूरी है, ऐसी आय को करो से मुक्त कर दे जो कि बचत तथा विनियोग मे लगाई गई है—सामाजिक दृष्टि से अवाछनीय है और व्यक्तियों के साथ किये जाने वाले समान एव न्यायपूर्ण व्यवहार के समस्त मूलभूत स्तरो का उल्लघन करता है।"[10] परिणामस्वरूप, इविंग फिशर (Irving Fisher) जैसे प्रमुख अर्थशास्त्रियो द्वारा तीव्र समर्थन किये जाने के बावजूद भी, अदा करने की सामर्थ्य के उपभोग-मापदण्ड को कभी कोई विशिष्ट स्थान

---

10 E. H. Plank. *Public Finance*, p 181, "A proposal which would have the effect of concentrating tax burdens upon the income needed to meet consumption wants to the exclusion of income employed for saving and investment is socially undesirable and violates all the fundamental standards of just and equitable treatment of individuals

१९७१-७२	१०९·००
१९७२-७३	१२२ ००
१९७३ ७४	१५७ ००
१९७४-७५	१५१ ५०
१९७५-७६	१७७ ६०

भारत मे भू-राजस्व एक अत्यधिक असमतापूर्ण कर है। यह बडे-बडे जमीदारो की अपेक्षा गरीब किसानो पर ही अधिक भार डालता है। इसका निर्धारण निबल परि-सम्पत्तियो अथवा वार्षिक मूल्यो के आधार पर किया जाता है और उसमे इस बात का ध्यान नही रखा जाता कि किसान की अदा करने की क्षमता कितनी है। कर की दर समानुपाती (proportional) है, आरोही (progressive) नही और छूट की सीमा की भी उसमे कोई व्यवस्था नही है। यदि भू-राजस्व का समन्यायपूर्ण (equitable) बनाया जाना है तो इस प्रकार के सुधार आवश्यक हैं।

यह भी सुझाव दिया जाता है कि कृषि के कराधान मे कृषि आय-कर (agricultural income-tax) तथा नीची समान दर से भूमिकर (land-tax) को सम्मिलित किया जाना चाहिए। कराधान जाँच आयोग ने सिफारिश की थी कि ऊँची कृषि आमदनियो पर आय-कर लगाया जाना चाहिए और इसका अन्तिम उद्देश्य यही होना चाहिए कि कृषि आय का गैर-कृषि आय मे विलय (merge) कर दिया जाय और तत्पश्चात् एक ही आय-कर लगाया जाए। जैसा कि हम पहले ही बतला चुके है, कृषि आय-कर का सम्बन्ध कुछ राजनैतिक परिणामो से है अत. इसके क्षेत्र का विस्तार करना बडा कठिन है।

यदि भू-राजस्व की दरो को कृषि-मूल्यों के उतार चढावो के साथ सम्बन्धित कर दिया जाए तो इससे आय का यह स्रोत लोचदार बन सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे व्यावहारिक कठिनाई यह है कि भू-राजस्व मे थोडे-थोडे समय के पश्चात् परिवर्तन नही किया जा सकता। कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की थी कि कर-निर्धारण मे दस वर्षों की अवधि मे एक बार अवश्य सशोधन किया जाना चाहिए।

कराधान जाँच आयोग ने इस सम्बन्ध मे कुछ अन्य महत्वपूर्ण सिफारिशें भी की है। आयोग के अनुसार, बन्दोबस्त मे सशोधन (revision of settlement) छोटी छोटी इकाइयो (units) के आधार पर नही किया जाना चाहिए और स्थानीय कीमतें (local prices) भी सम्पूर्ण रूप मे, राज्य पर तथा राज्य के अन्तर्गत सभी समान क्षेत्रो पर आधारित होनी चाहिए। सर्वेक्षण (survey) तथा वर्गीकरण (classification) सहित प्रारम्भिक बन्दोबस्त ऐसे सभी क्षेत्रो के लिए आवश्यक है जहाँ कि यह अभी तक नही हुआ है। फिर, सशोधन की जो सीमाएँ निर्धारित की जाएँ, उनके अन्तर्गत कर का प्रामाणिक निर्धारण (standardised assessment) अनिश्चित काल तक जारी रखना चाहिए। निर्धारण-स्तरो (assessment lavels) या जब एक बार प्रामाणीकरण अथवा मानवीकरण (standardisation) कर दिया जाए, फिर मूल्य-स्तर के परिवर्तनो को देखते हुए भू-राजस्व मे दस वर्षों मे एक बार सशोधन किया जाना चाहिए।

भारत में प्रत्यक्ष करों का मूल्यांकन
(An Evaluation of Direct Taxes in India)

जैसा कि ससार के अन्य देशो मे हुआ, भारत मे भी सरकार के राजस्व मे बढने की प्रवृत्ति पाई गई है। ऐसा होना इसलिये बिल्कुल स्वाभाविक है क्योकि सरकार के कार्यों का विस्तार होने के साथ ही साथ धन की आवश्यकताएँ भी बढी हैं और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने के साथ-साथ सरकार की उपलब्ध राजस्व के स्रोतो मे भी वृद्धि हुई है। परन्तु प्रत्यक्ष करों के मुकाबले परोक्ष करो या वस्तु करो मे वृद्धि की मात्रा अधिक रही है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है (इसमे केन्द्र व राज्यो की राशियाँ एक साथ दिखाई गई हैं) :—

भू-धारण (land holdings) के क्षेत्रो मे, कृषि उपज की मात्रा मे तथा उनकी कीमतों मे चूँकि परिवर्तन होते रहते हैं अतः आवश्यक है कि भू-राजस्व के निर्धारण मे भी समय-समय पर परिवर्तन एव सशोधन होते रहने चाहिए। ब्रिटिश भारत के भूतपूर्व प्रान्तो के उन भागों मे जहां कि स्थायी बन्दोबस्त (permanent settlements) की व्यवस्था नही की गई थी, १५ से लेकर ४० वर्ष तक की थोडी-थोडी अवधियो के पश्चात् सामायिक बन्दोबस्त होते रहते है। द्वितीय विश्व युद्ध के कारण बन्दोबस्त की कार्य विधि को नियमित रूप से लागू करने मे बाधा पडी। इसी प्रकार अधिकाश भूतपूर्व रियासतो मे भी अभी तक बन्दोबस्त की नियमित कार्य-पद्धतियाँ लागू नही की गई हैं।

उपज के मूल्यो मे लगातार तीव्र गिरावट आने के कारण अथवा फसलो के नष्ट होने के कारण भू-राजस्व मे कुछ छूट देना आवश्यक हो जाता है। भू राजस्व मे ऐसी छूट अथवा भू-राजस्व अस्थायी मुअत्तली विपत्ति अथवा विनाश काल मे स्वीकार की जाती है। कुछ मामलो मे भू-स्वामियों से यह कहा जाता है कि वे अपनी किसी एक वर्ष की हानि को अन्य वर्षों के लाभो से पूरा करे और कर मे कमी अथवा छूट की रियायत केवल तभी दी जाती है जबकि ऐसा करना सम्भव नही होता है। छूट देने के नियम विभिन्न राज्यो मे अलग-अलग हैं परन्तु किसी न किसी प्रकार की छूट सभी जगह दी जाती है।

करो की दरें भी सभी राज्यो मे एक-सी नही हैं। जिन राज्यो मे कर का निर्धारण निबल परि-सम्पत्तियो अथवा निवल उपज पर आधारित होता है, वहाँ की दर २५ से ५० प्रतिशत के बीच रहती है। जिन राज्यो मे जमीदारी प्रथा समाप्त कर दी गई है, वहाँ भू-राजस्व की दर निर्धारित जमाबन्दी मूल्य (rental value) के सामान्यता १०० प्रतिशत के बराबर होती है। आसाम मे, कर की दर कुल उपज की १० प्रतिशत होती है। अन्य राज्यो मे जहाँ कुल उपज ही कर निर्धारण का आधार है कर कुल उपज का छटा भाग है।

कुछ राज्यो मे, भू-राजस्व पर क्रमवर्धी अधिभार (graduated surcharges) लगाये जाते हैं। इनका उद्देश्य यह है कि कृषि उपज के मूल्यो मे वृद्धि होने के फलस्वरूप कृषि-आय मे होने वाली वृद्धि का लाभ उठाया जा सके। चूँकि बन्दोबस्त केवल लम्बी अवधियो मे ही सम्पन्न किये जाते है अत ऐसा करना आवश्यक एव उचित है।

भू राजस्व से होने वाली प्राप्तियाँ तुलनात्मक रूप मे लोचहीन रही हैं। वास्तव मे कर- निर्धारण की व्यवस्था ही ऐसी है जिसके कारण ऐसा होता है। सन् १९६६-६७ मे सभी राज्यो की भू-राजस्व की कुल प्राप्तियाँ ९० करोड रु० थी। सन् १९७२-७३ के राज्यों के बजटो मे १०६ ३० करोड़ रु० की प्राप्तियो का अनुमान लगाया गया था। कर मे सशोधन केवल पुनः बन्दोबस्त (re-settlement) करके ही किया जा सकता है और ऐसे बन्दोबस्त की कार्य-विधि बडी जटिल होती है तथा उसके लिए व्यापक सर्वेक्षण करना होता है। अतः थोडे-थोडे समय के पश्चात् भू-राजस्व मे परिवर्तन करना सभव नही होता है। यद्यपि कृषि पदार्थों के मूल्य बराबर बढते रहे हैं और द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व स्तर के मुकाबले पाँच गुने तक हो गये है किन्तु पिछली कुछ दशाब्दियो (decades) मे भू-राजस्व का भार लगभग स्थिर-सा ही रहा है। इससे छोटे-छोटे कृषको को काफी सहायता एव छूट मिली है। परन्तु इससे ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो के बीच कर-भार के सन्तुलन मे अन्तर आ गया और वह ग्रामीण क्षेत्रो के पक्ष मे हो गया है। अनेक राज्यो ने भू-राजस्व कर को समाप्त करने की अपनी इच्छा की घोषणा की है।

गत कुछ वर्षों मे भू-राजस्व से प्राप्त होने वाली आय निम्न प्रकार रही है —

(करोड रु० मे)

वित्तीय वर्ष	भू-राजस्व से प्राप्त आय
१९५५-५६	८० ३३
१९६०-६१	९५ ३२
१९६५-६६	११२ ००
१९७०-७१	१२७ ००

२४

सरकारी आय के स्रोत—अप्रत्यक्ष कर अथवा परोक्ष कर
(Public Revenue Indirect Taxes)

परोक्ष कर जिनमे मुख्यत. पदार्थों तथा सौदों पर लगाये जाने वाले कर सम्मिलित किये जाते हैं, केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकार, दोनो द्वारा ही लगाये जाते हैं। सघ सरकार सीमा शुल्क अर्थात् वस्तुओ के आयात तथा निर्यात पर कर लगाती है। ये कर अथवा शुल्क सरकारी आय तो प्रदान करते ही हैं, साथ ही विदेशी व्यापार की नीति के अस्त्र के रूप मे आयात तथा निर्यात पर सरकार के नियन्त्रण मे भी वृद्धि करते हैं। जो वस्तुएँ देश मे ही उत्पन्न की जाती हैं उन पर उत्पादन शुल्क (excise duties) लगाये जाते है। मदिरा तथा नशीले पदार्थों को छोडकर अन्य सभी वस्तुओ पर उत्पादन शुल्क लगाने का अधिकार सविधान ने केन्द्र को दिया है।

विक्री कर राज्य सरकारो के लिए आय का एक वडा महत्वपूर्ण स्रोत है। राज्य सामान्य विक्री-कर (general sales tax) लगाते हैं और अन्तर्राज्यीय विक्रियो पर लगाये जाने वाले कर सघ सरकार की परिधि मे आते हैं। वस्तुओ पर उत्पादन कर तथा विक्री कर दोनों ही लगाये जा सकते हैं। परन्तु जिन वस्तुओ पर केन्द्रीय उत्पादन शुल्क लगाया जाता है, उन्हे या तो राज्य विक्री कर से मुक्त कर दिया जाता है अथवा उन पर रियायती दरो से कर लगाया जाता है।

अन्य परोक्ष करो मे स्टाम्प शुल्क, रजिस्ट्रेशन शुल्क, मोटर गाडियो पर कर, मनोरजन कर, विजली कर और कुछ अन्य विविध कर (miscellaneous taxes) सम्मिलित हैं। न्यायिकेतर दस्तावेजो (non-judicial documents) पर स्टाम्प शुल्क केन्द्र सरकार तथा सघ सरकार, दोनो द्वारा ही लगाये जाते हैं। *अन्य जिन करो का यहाँ उल्लेख किया गया है, वे सब राज्यो द्वारा लगाये* जाते हैं। सितम्बर १६५७ मे रेल यात्री किराए पर एक कर लगाया गया था परन्तु अप्रैल १६६१ मे इसे रेल किरायो मे ही मिला दिया गया। यह केन्द्र द्वारा लगाया जाता था और उसी के द्वारा वसूल किया जाता था किन्तु उसकी प्राप्तियाँ राज्यो मे बाँटी जाती थी।

सीमा शुल्क अथवा सीमा कर (Customs Duties) ·

सीमा शुल्क अथवा सीमा कर कभी केन्द्र सरकार के लिए आय का सबसे वडा स्रोत था। सन् १६२१-२२ मे, *इन करो मे जो आय प्राप्त हुई, वह कुल केन्द्रीय राजस्व की ३६·५ प्रतिशत* थी। सन् १६३८-३६ मे यह प्रतिशत वढकर ४८ ६ हो गया। युद्धकाल मे, चूँकि युद्ध की परिस्थितियो के कारण विदेशी व्यापार मे भारी कमी हो गई थी अत: सीमा शुल्को से होने वाली आय भी

तालिका—७

प्रत्यक्ष कर तथा कुल कर-राजस्व

(Direct Taxes and Total Tax-Revenue)

(करोड़ रु० में)

मद	१९५१-५२ (लेखे)	१९६६-६७ (लेखे)	१९७६-७७ (संशोधित)	१९७७-७८ (बजट)
करो से प्राप्त कुल आय	७४१	३,२४०	८०८० ९३	८८७८ ९२
प्रत्यक्ष कर	२१९	७०७	२०७८ ००	२२५८ ००
कुल कर-राजस्व मे प्रत्यक्ष करो का प्रतिशत	३०%	२२%	२५ ७%	२५ ४%

संघ तथा राज्यो की कुल कर-आय जहां सन् १९५१-५२ मे ७४१ करोड से बढकर १९७७-७६ मे ८८७८ ९२ करोड रु० हो गई (अर्थात् उसमे ४ गुनी वृद्धि हुई) वहाँ उसमे प्रत्यक्ष करो का भाग सन् १९५१-५२ मे २१९ करोड रु० से बढकर १९७७-७८ मे २२५८ ०० करोड रु० हो गया। इसके परिणामस्वरूप कुल कर-आय मे प्रत्यक्ष करो का भाग सन् १९५१-५२ से १९७७-७८ तक ३० प्रतिशत से घटकर २५ प्रतिशत रह गया। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत मे परोक्ष कराधान को अधिक महत्व प्राप्त हो रहा है। इसके परिणामस्वरूप देश मे निम्न तथा मध्यम वर्ग पर कर का भार निरन्तर बढ रहा है। इस प्रवृत्ति से यह प्रकट होता है कि परोक्ष कराधान को अधिक महत्व प्राप्त हो रहा है और देश मे निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गो पर पडने वाले कर-भार मे वृद्धि हो रही है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Raja J Chelliah. *Fiscal Policy in Under Developed Countries*, Chapter IV
2. R N Bhargava . *Indian Public Finance*, Chaps IV & V.
3. Reserve Bank of India Bulletin, March 1965.
4. Eastern Economist, April 26, 1963 and May 10, 1963
5. Commerce, April 20, 1963
6. Harvard Law School, *Taxation in India*, Chaps 2, 3, 14 and 15.

UNIVERSITY QUESTIONS.

१. केन्द्रीय सरकार की आय की मदो का उल्लेख कीजिए।

Mention the items of revenue of the Central Government.

२ बचत एव करावचन के विशेप सदर्भ मे भारत मे व्यक्तिगत आयकर का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

Examine critically the personal incometex in India with special reference to savings and evasion.

३ केन्द्रीय सरकार को परोक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करो का अधिक सहारा लेना चाहिए। विस्तारपूर्वक टिप्पणी कीजिए।

The Central Government should rely more on direct taxes than on indirect taxes Comment in detail

४ राज्य सरकारो के वित्त मे हाल की प्रवृत्तियो की जाँच कीजिए।

Examine the recent trends in the finance of State Governments in India.

५. भारत सरकार की सार्वजनिक आय की प्रमुख प्रवृत्तियो का वर्णन करो।

Describe the main features of public revenue of Govt. of India

काफी कम हो गई। सन् १९४४-४५ मे, सीमा शुल्को से प्राप्त होने वाली आय कुल केन्द्रीय आय की १२ प्रतिशत थी। युद्ध काल के पश्चात्, देश की राजकोषीय व्यवस्था (fiscal system) मे सीमा शुल्को का महत्व फिर बढा, परन्तु फिर भी इस कर से प्राप्त होने वाली आय उन स्तर को कभी न छू सकी जिस पर कि यह युद्ध स पूर्व पहुँची हुई थी। सन् १९६७-६८ मे सीमा शुल्को से जो आय हुई वह कुल आय की केवल २२ प्रतिशत थी और १९७०-७१ के बजट मे इस स्रोत से होने वाली प्राप्तियो का कुल आय में प्रतिशत केवल १५ तक ही पहुँचाने की आशा की गई थी। सन् १९५०-५१ मे सीमा शुल्को से प्राप्त कुल आय १५७ करोड़ रु० थी जो कि सन् १९७७-७८ (बजट) के वर्ष मे १७३४ करोड होने की सम्भावना है।

देश की वित्तीय व्यवस्था मे सीमा शुल्को के सापेक्षिक महत्व के कम होने का आंशिक कारण तो यह है कि देशी उद्योगो को सरक्षण देने के एक अस्त्र के रूप मे आयात करो के उपयोग की मात्रा कम हो गई है और आंशिक कारण यह है कि आय के अन्य स्रोतो का महत्व अब काफी बढ गया है। हमारे देश में आय-कर के महत्व मे भारी वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त, उत्पादन शुल्को के क्षेत्र तथा उनकी दरो मे भी बराबर वृद्धि होती रही है और अन्य स्रोतो से प्राप्त आय की तुलना मे इनसे प्राप्त थाम का अनुपात बढ रहा है। इस बात की अब कोई सम्भावना नही है कि सीमा शुल्को को कर-पद्धति मे वही उच्च स्थान प्राप्त हो सकेगा जो कि उन्हे कभी प्राप्त था।

आयात कर (Import Duties) .

आयात कर या तो राजस्व प्राप्ति के लिए लगाये जाते हैं अथवा देशी उद्योगों को सरक्षण प्रदान करने के लिए। इन दोनो की स्थितियो मे सरकार को आय प्राप्त होती है किन्तु सरक्षण करो (protective duties) की स्थिति मे आय की प्राप्ति क्रमशः कम होती जाती है। इस सदी की द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ तथा मध्य मे आयात करो मे काफी वृद्धि हुई। सन् १९२३ के राजकोषीय आयोग (fiscal commission) की सिफारिश पर भारत सरकार ने भेद मूलक सरक्षण (discriminating protection) की नीति अपनाई। इस नीति के अन्तर्गत, अनेक पदार्थों पर आयात-कर लगाये गये। राजस्व-प्राप्ति के उद्देश्य से लगाये जाने वाले आयात करो की सख्या मे भी वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप सीमा शुल्को से होने वाली आय बढी। सन् १९४० से देश के विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण लगाया गया, उससे सरक्षण के दृष्टिकोण से अनेक आयात करो का महत्व कम हो गया और वे अब केवल राजस्व प्रदान करने वाले कर ही रह गये।

सन् १९३४ के भारतीय टैरिफ अधिनियम मे करो की दरें निर्धारित की गई हैं। वस्तुओ को २२ वर्गों मे बाँटा गया है और प्रत्येक वस्तु पर लगाये जाने वाले कर को 'सरक्षण सूची' 'राजस्व सूची' अथवा 'तरजी ही राजस्व सूची' मे निर्दिष्ट किया गया है। अधिकाश कर अब मूल्यवार कर (advalorem duties) हैं, पर कुछ वस्तुओं पर विशिष्ट कर (specific duties) भी लगाये जाते हैं और ये मूल्यवार करो से अधिक या उनसे अतिरिक्त होते हैं, और कुछ मामलो मे तो जो कर लगाया जाता है वह मूल्यवार कर तथा विशिष्ट कर से भी अधिक होता है। चूँकि आयात की गई वस्तुओ पर केन्द्रीय उत्पादन कर नही लगता अत. कुछ वस्तुओ पर लगाये जाने वाले आयात कर मे एक अतिरिक्त कर और सम्मिलित रहता है, 'जिसे जवाबी आयात कर' (counter vailing import duty) कहा जाता है। यह कर भारत मे उत्पन्न किए गए अथवा बनाये गये ऐसे ही पदार्थो पर लगे उत्पादन कर (excise tax) पर आधारित होता है।

मूल्यवार आयात कर (advalorem import duties) सामान्यत. ३० से ४० प्रतिशत के बीच होते हैं। किन्तु कुछ विलासिता के पदार्थो तथा देश मे ही पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न किये गये पदार्थों पर कर की दरें अपेक्षाकृत ऊँची होती है। उदाहरणार्थ, तम्बाकू की वस्तुओ, शराब एव स्प्रिट, रेशमी वस्त्रो, मसालो तथा मोटर गाडियो के आयातो पर ७५ से लेकर २०० प्रतिशत तक की विविध दरो से कर लगाये जाते हैं। कुछ खाद्य पदार्थ, उद्योगो का कच्चा माल, कृषि यत्र उपकरण विशिष्ट प्रकार की मशीनें तथा ईधन तेल (fuel oils) या तो कर-मुक्त कर दिये जाते हैं अथवा इन पर नीची दरो पर कर लगाये जाते हैं। कुछ पदार्थों जैसे कोयला, कुछ किस्म का जस्ता व एल्म्यूनियम, कुछ मशीनो तथा उनके पुर्जों पर टैरिफ सूची मे उल्लिखित सीमित अवधि

संघ सरकार द्वारा लगाये जाने वाले वस्तु कर
(Commodity Taxation of the Union Government)

निम्न तालिका मे सघ सरकार को वस्तु करो से होने वाली आय दिखाई गई है :—

तालिका—१
वस्तु करों से प्राप्त आय

(करोड़ रु० में)

मद	१९५०-५१ (लेखे)	१९६७-६८ (लेखे)	१९६९-७० (सशोधित)	१९७०-७१ (बजट)	१९७३-७४	१९७५-७६	१९७६-७७ (सशोधित)	१९७७-७८ (बजट)
संघीय उत्पादन शुल्क	६७	१,१४९	१,५२५	१,६७९	२६०२·१	३१८४ ३	४,१७७	४,५५०
घटाओ—राज्यो का भाग	—	२३५	३२१	३५३	६२८ ४	७७० १	१,०२७	१,०९२
निवल प्राप्तियाँ (Net Receipts)	६७	९१४	१,२०४	१,३२६	*	*	३,१५०	३,४५८
सीमा शुल्क	१५७	५१३	४१०	४४५	९९६ ४	१२८४	१,४९१	१,७३४
अन्य वस्तु कर	३	३०	५०	५०	*	*	*	*
वस्तु करों से प्राप्त आय का योग	२२७	१,४५७	१,६६४	१,८२३	*	*	*	*

* आँकड़े उपलब्ध नहीं है।

निर्यात करो की तुलना मे आयात कर अपेक्षाकृत अधिक उत्पादक रहे हैं। सन् १९६७-६८ मे सघ सरकार ने आयात करो से लगभग ३८३ करोड रु० एकत्र किये। सन् १९६९-७० के बजट मे आयात करो से ३२५ करोड रु० की प्राप्ति का अनुमान था।

उत्पादन शुल्क अथवा उत्पादन कर (Excise Duties) .

सविधान के अनुसार, मद्य, अफीम, भारतीय भाग तथा नशीले पदार्थों को छोडकर भारत मे उत्पन्न किये गये अन्य सभी पदार्थों पर उत्पादन शुल्क सघ सरकार (Union Government) लगाती है। चिकित्सा तथा शृंगार प्रसाधनो की ऐसी वस्तुओ पर केन्द्र सरकार द्वारा कर लगाए जाते हैं जिनमे मद्य तथा कुछ नशीले पदार्थों का अश विद्यमान रहता है परन्तु इन करो का सग्रह राज्यो द्वारा किया जाता है और राज्यो द्वारा ही उनकी प्राप्तियाँ रख ली जाती हैं। अन्य केन्द्रीय उत्पादन शुल्को की प्राप्तियाँ केन्द्र तथा राज्यो के बीच विभाज्य होती हैं। वर्तमान मे ३५ वस्तुओ पर लगे उत्पादन शुल्को की प्राप्तियाँ सघ तथा राज्य सरकारो के बीच बाँटी जाती हैं। जैसे कि तीसरे और चौथे वित्त आयोगो ने सिफारिश की थी, राज्यो को इन उत्पादन-शुल्को की निवल प्राप्तियो का २० प्रतिशत भाग दिया जाता है। केन्द्र सरकार कुछ विशिष्ट पदार्थों पर विशेष उत्पादन शुल्क भी लगाती है। इसका मुख्य उद्देश्य यह होता है कि उन वस्तुओ को उत्पन्न करने वाले उद्योगो के दायित्व पर काम करने मे जो सरकारी व्यय हुआ है, उसे वसूल किया जा सके। जिन पदार्थों पर ऐसे कर लगाये जाते हैं, वे हैं . कपास, कुछ धागे या रेशे, वनस्पति तेल, नमक, कागज तथा कोक, रबड तथा गोला। केन्द्र सरकार कुछ ऐसे पदार्थों पर, जो अन्तर्राज्यीय व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं, उन पर लगाये जाने वाले बिक्री कर के बदले मे अतिरिक्त उत्पादन शुल्क भी लगाती है और उसका सग्रह करती है, किन्तु इन करो की सम्पूर्ण निवल प्राप्तियाँ राज्यो के बीच बाँट दी जाती हैं।

केन्द्रीय उत्पादन शुल्क सन् १९३० तक अधिक महत्वपूर्ण नही रहे। सन् १८९४ मे सूत पर उत्पादन शुल्क लगाया गया था, जिसे बाद मे मिल के बने कपड़े पर उत्पादन शुल्क के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया और सन् १९२६ मे उसे समाप्त कर दिया गया था। सन् १९१७ मे मोटर स्प्रिट पर कर, १९२२ मे मिट्टी के तेल पर कर और सन् १९३० मे चाँदी पर कर—ये हैं वे उत्पादन शुल्क जो इस देश में प्रारम्भ मे लगाये गये थे। केन्द्रीय उत्पादन शुल्को का विकास मुख्यतः १९३० के पश्चात् हुआ और सन् १९३४ में चीनी, दियासलाई इस्पात पिण्डो (steel ingots) पर अनेक उत्पादन कर लगाये गये। इन वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योग सरक्षण (protection) प्रदान किये जाने के कारण काफी उन्नत हो गये थे अत. इन पर सीमा शुल्क न लगने के कारण राजस्व को जो हानि हो रही थी उसकी पूर्ति इन उत्पादन शुल्को द्वारा करने का प्रयत्न किया गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि मे, उत्पादन करो के क्षेत्र मे और वृद्धि हुई। इन दिनो सरकार को अधिक धन की आवश्यकता थी चूँकि प्रत्यक्ष करो मे वृद्धि का क्षेत्र सीमित था, अतः उत्पादन शुल्को का विस्तार किया गया। फलस्वरूप, टायर, वनस्पति पदार्थ (vegetable products), तम्बाकू कॉफी, चाय तथा सुपारी पर उत्पादन शुल्क लगाये गये।

अब उत्पादन शुल्को को सरकारी आय का एक अच्छा स्रोत समझा जाने लगा था और युद्ध के बाद भी यही स्थिति जारी रही। सन् १९४९ मे, मिल के बने कपडो पर पुन: उत्पादन शुल्क लगा दिया गया। सन् १९५५ मे कृत्रिम रेशम, सीमेन्ट, साबुन तथा जूतो पर उत्पादन कर लगाये गये। कराधान जाँच आयोग ने सिफारिश की कि मिट्टी के तेल, चीनी तथा दियासलाई पर लगने वाले उत्पादन शुल्को मे ठोस वृद्धियाँ की जाएँ और कपडे व चाय के उत्पादन शुल्को की दरो मे हल्की-सी वृद्धि की जाए। इसके अतिरिक्त आयोग ने कुछ अन्य पदार्थों पर भी उत्पादन शुल्क लगाने की सिफारिश की। सरकार द्वारा आयोग की सिफारिशें स्वीकार कर ली गई और बाद के वर्षों मे प्रचलित करो की दरें बढाई गई और कुछ नये उत्पादन कर भी लागू किये गये। तभी से उत्पादन करो के क्षेत्र मे तेजी से वृद्धि होती रही है। सन् १९५७-५८ मे, प्रस्तावित अतिरिक्त करो का काफी भाग परोक्ष करो के रूप मे ही लगाया गया।

के लिए संरक्षण कर लगाये जाते हैं। ये कर टैरिफ आयोग द्वारा सिफारिस की गई दरों से लगाये जाते हैं।

केन्द्र सरकार को यह अधिकार है कि वह किसी भी वस्तु को पूर्णतः अथवा अंशतः आयात-टैरिफ अथवा आयात शुल्क-दर से मुक्त कर दे। सरकार किसी भी वस्तु का टैरिफ-मूल्य भी निश्चित कर सकती है अथवा उसमें संशोधन कर सकती है। पहले निर्यात किये गये पदार्थों को पुनः आयात करने के सम्बन्ध में, पिछले तीन वर्षों से कम की अवधि में निर्यात किये गये पदार्थों को पुनः आयात करने के सम्बन्ध में और अपना निवास बदलने की स्थिति में किसी भी व्यक्ति द्वारा आयात किये गये पदार्थों के सम्बन्ध में केन्द्र ने अपने अधिकार का उपयोग किया है। यात्रा में उपयोग का सामान (baggage in use) भी आयात कर से मुक्त कर दिया गया है। कुछ विशिष्ट मामलों में अन्य छूटें मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं।

चुंगी वापिसी (Draw Backs)

यदि वस्तुयें एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत फिर निर्यात कर दी जाती है या जहाजी भण्डार में लाद दी जाती है तो कर का कुछ भाग, सामान्यतः सातवाँ व आठवाँ भाग, वापिस लौटा दिया जाता है जिसे "चुंगी वापिसी" कहा जाता है। वह अवधि, जिसमें पुनः निर्यात के बाद कोई वस्तु "चुंगी वापिसी" (draw backs) की अधिकारी हो जाती है, सामान्यतः दो वर्ष और विशेष मामलों में तीन वर्ष है। समय-समय पर ऐसे विशेष नियम बनाये जाते हैं जिनके द्वारा ऐसी वस्तुओं पर चुंगी वापिसी का निर्धारण किया जाता है जिनका उपयोग भारत में बने पदार्थों के अवयवों के रूप में किया जाता है।

निर्यात कर (Export Duties).

सन् १९४६ से पूर्व, निर्यात कर थोड़े से पदार्थों पर हल्की दरों से विशेषतः राजस्व प्राप्ति की दृष्टि से लगाये जाते थे। सन् १९४६ के पश्चात्, अधिक पदार्थों पर राजस्व के अलावा अन्य उद्देश्यों के लिए भारी निर्यात कर लगाये गये। पिछले कुछ वर्षों में राजस्व प्राप्ति के अलावा निर्यात करों के जो अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य रहे है वे है—देश में स्फीति (inflation) को नियन्त्रित करना आन्तरिक बाजार में कीमतों को स्थिर रखना और भारतीय विनिर्माण (Indian manufactures) में काम आने वाले कच्चे माल का निर्यात रोकना विदेशी व्यापार के नियत्रण की दृष्टि से भी निर्यातों का नियमन करने के लिए निर्यात करों में हेर-फेर करना आवश्यक हो जाता है। गत वर्षों में, भारत को अदायगी शेष (balance of payments) की स्थिति को सुधारने के लिए निर्यात को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से बहुत निर्यात कर या तो कम कर दिये गये अथवा समाप्त कर दिये गये। भारत में आज ऐसे पदार्थ बहुत थोड़े हैं जिन पर निर्यात कर लगाया जाता है और इस सम्बन्ध में राजस्व का अधिकांश भाग चाय पर लगे निर्यात-कर से प्राप्त होता है। सन् १९६१-६२ में निर्यात करों से होने वाली आय १३ करोड़ रु० थी जो कि आगे चलकर घटकर २ करोड़ रु० रह गई।

जून १९६६ में अवमूल्यन (devaluation) से पूर्व बहुत थोड़े पदार्थों पर निर्यात कर लगाया जाता था। रु० का अवमूल्यन होने के पश्चात् निर्यात की अनेक ऐसी वस्तुओं पर निर्यात कर लगाये जाने लगे जैसे कि जूट का बना समान, चाय मूँगफली का तेल व खली, तम्बाकू, पशुओं के खाल तथा चमड़ा, कच्चा मैंगनीज, कच्चा लोहा आदि। ये कर मुख्यतः निर्यात कर्त्ताओं के उन लाभों को हथियाने के लिये लगायें गये जो कि वे विदेशों को भेजे जाने वाले माल पर ऊँची वसूलियां द्वारा प्राप्त कर रहे थे। परन्तु ऐसा करते समय इस बात का भी पर्याप्त ध्यान रखा गया कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारतीय माल की प्रतियोगी स्थिति खराब न हो जाये। इस बात की भी बराबर समीक्षा की जाती रही कि देश के निर्यात व्यापार पर निर्यात करों के क्या प्रभाव पड़ रहे हैं। सन् १९६७-६८ में निर्यात करों से प्राप्त धनराशि १३० करोड रु० थी और सन् १९६८-६९ में (संशोधित अनुमानों के अनुसार) इनसे केवल १०३ करोड रु० का राजस्व प्राप्त हुआ। सन् १९६९-७० के बजट में भी निर्यात करों से १०३ करोड रु० की प्राप्ति की आशा की गई थी।

अत कल्याण के दृष्टिकोण से ऐसी वृद्धि दोषपूर्ण है। एक अच्छी कर-पद्धति मे, परोक्ष कराधान (indirect taxation) मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि की जाती है। परन्तु भारत मे ऐसा नही है। एक निर्धन देश मे, परोक्ष कर विशेष रूप से उत्पादन कर, करो के ढाँचे मे अधिकाधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करते है। जब लोगों की आमदनियाँ कम होती है तो थोडी-थोडी आय वाले बहुसख्यक लोगो पर प्रत्यक्ष कर लगाना तथा उनको वसूल करना बडा कठिन तथा खर्चीला होता है। इसके विपरीत- परोक्ष करो का सग्रह करना अपेक्षाकृत सरल होता है, अत. यह आय का बडा लाभकारी स्रोत बन सकता है। आर्थिक विकास तथा समाज-कल्याण की बढती हुई आवश्यकताओ ने भारत सरकार के लिए यह जरूरी बना दिया है कि वह बडी मात्रा में आय प्राप्त करे। सरकारी आय मे ऐसी वृद्धि प्रत्यक्ष करो द्वारा नही की जा सकती, क्योकि हमारे देश मे आय-कर के अलावा अन्य प्रत्यक्ष कर तो आय के बहुत छोटे-छोटे स्रोत हैं। परोक्ष करो मे भी सीमा शुल्को का महत्व कम हो गया है। अत इस स्थिति मे, उत्पादन शुल्कों पर ही अधिकाधिक भरोसा करना होगा। प्रत्यक्ष करों को हमारी राजकोषीय व्यवस्था मे आने वाले काफी वर्षों तक वह स्थान प्राप्त नही हो सकेगा जो कि आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशो मे इन्हे प्राप्त है। यदि हमारे देश मे प्रति व्यक्ति आय दुगनी भी हो जाए, तब भी बडी सख्या मे लोगों की आय इतनी कम होगी कि उस पर प्रत्यक्ष रूप से कर नही लगाया जा सकेगा। अत कहा जा सकता है कि भविष्य में उत्पादन शुल्क महत्वपूर्ण भाग अदा करेंगे।

उत्पादन शुल्क लगाने का उद्देश्य यह भी होता है कि कर लगी वस्तु के उपभोग को सीमित किया जाए। जो वस्तुएँ देश में कम मात्रा मे उपलब्ध होती हैं, उन पर प्राय इसलिए कर लिया जाता है ताकि उनकी माँग को उपलब्ध सभरण (supply) के अनुरूप ही निम्न स्तर पर बनाये रखा जा सके। कभी-कभी स्फीतिजनक शक्तियो का दमन करने के लिए सामान्य उपयोग की वस्तुओ पर उत्पादन शुल्क लगा दिये जाते हैं। सन् १९५७-५८ मे उपभोग को सीमित करने के उद्देश्य से उत्पादन शुल्कों का क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया गया था। सन् १९६३-६४ के बजट मे मिट्टी के तेल पर उत्पादन शुल्क बढाने के सम्बन्ध मे वित्त मन्त्री ने जो तर्क दिये थे, उसमे मे एक यह था कि मिट्टी के तेल का उपभोग अत्यधिक बढ रहा है अत उसको रोकना ही इस कर का उद्देश्य है। मिट्टी का तेल भारी मात्रा मे आयात करना पड रहा था अत इस पर उत्पादन शुल्क मे वृद्धि करने से कीमती विदेशी मुद्रा के उपयोग मे काफी किफायत होने की आशा थी। सन् १९७३-७४ मे भी इसी उद्देश्य से मिट्टी के तेल पर उत्पादन शुल्क मे वृद्धि की गई थी। सन् १९३४ मे चीनी का उत्पादन बहुत अधिक बढ गया था जिसे रोकने के लिए चीनी पर उत्पादन शुल्क लगाया गया था। दिसम्बर १९७३ मे खुले बाजार मे बिकने वाली चीनी के विक्रय पर ७% की उत्पादन शुल्क में वृद्धि की गई। इस प्रकार कभी-कभी उत्पादन करो के गैर वित्तीय लक्ष्य भी बडे महत्वपूर्ण होते है।

कुछ उत्पादन-करो को लगाने का एक उद्देश्य कभी-कभी यह भी होता है कि कुछ वस्तुओ के उत्पादन को कुछ प्रतिबन्धित करके अन्य किस्म की वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जाए। भारत मे अनेक उत्पादन शुल्क लगाते समय भारत सरकार ने लघु एव कुटीर उद्योगो के साथ तरजीही व्यवहार (preferential treatment) किया है। उदाहरण के लिए, सूती वस्त्रो के मामले मे, खादी पर कोई कर नही लगाया जाता, जबकि मिल के बने कपडे पर अधिभार (surcharge) लगाया गया है ताकि खादी की कीमते मिल के बने कर की कीमतो के सामने टिक सके। कुछ अन्य वस्तुएँ भी है, जैसे कि दियासलाई, साबुन, कृत्रिम रेशम के वस्त्र तथा जूते आदि, इन वस्तुओ का उत्पादन यदि छोटी-छोटी फैक्टरियो मे किया जाता है तो उस पर कर अपेक्षाकृत नीची दरों से लगाया जाता है। छोटे-छोटे उत्पादकों को प्रोत्साहन देना अक्सर उत्पादन शुल्को का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है।

परन्तु अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ पर उत्पादन शुल्क बढाने का कदापि समर्थन नही किया जा सकता। सस्ता कपडा, मिट्टी का तेल तथा चीनी ऐसी वस्तुओ के उदाहरण हैं। ऐसे करो से इसके अतिरिक्त की निर्धनों की एक बडी सख्या के व्यय पर सरकार को आय प्राप्त हो जाती है, अन्य कोई उद्देश्य पूरा नही होता। इस तर्क मे भी कोई जान नही है कि इस प्रकार के

सन् १९५७ मे, राज्य इस बात पर सहमत हो गये कि वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर से बिक्री कर समाप्त कर दिया जाए और उसके बदले मे सघ सरकार इन पदार्थो पर अतिरिक्त, उत्पादन शुल्क लगाये। बाद मे बिक्री कर के बदले मे अतिरिक्त उत्पादन शुल्क रेशमी वस्त्रो (silk fabrics) पर भी लगाया गया। ये कर सघ सरकार द्वारा वसूल किये जाते है किन्तु उनकी प्राप्तियाँ राज्यो मे बाँट दी जाती है।

इन सघीय उत्पादन शुल्को के अतिरिक्त केन्द्र सरकार द्वारा कुछ विशिष्ट उद्योगो पर अनेक अन्य उत्पादन शुल्क भी लगाये जाते है। इन करो के लगाने का उद्देश्य यह है कि अनुसधान एव जानकारी का विस्तार करने मे तथा उद्योगो के लिए लाभप्रद ऐसे ही अन्य कार्यो मे जो खर्चा हो, इन करो के द्वारा उसकी पूर्ति हो जाए। इस प्रकार के करो की दरें विभिन्न प्रकार की और विशिष्ट होती है जैसे उत्पादित की प्रति गाँठ के हिसाब से अथवा असली या कृत्रिम विनिर्मित वस्त्र के प्रति वर्ग गज के हिसाब से। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, वनस्पति तेलो तथा नमक पर भी कर लगाये जाते हैं। ये कर उन्ही वस्तुओ पर लगाये जाने वाले सघीय उत्पादन करो के पूरक होते हैं।

कुछ वस्तुओ पर उपकर (cess) भी लगाया जाता है कि ताकि सरकार को सम्बन्धित उद्योगो के मजदूरो के कल्याण तथा उनकी सुरक्षा के लिये धन मिल सके। उदाहरण के लिए, रबड उपकर, नारियल उपकर तथा तीन भिन्न-भिन्न कोयला तथा कोक उपकर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगाये जाते है।

सघीय उत्पादन शुल्क सरकारी आय का एक महत्वपूर्ण तथा बढता हुआ स्रोत रहा है। सन् १९५०-५१ मे, उत्पादन शुल्को की निबल प्राप्तियाँ ६७ करोड रु० अर्थात् केन्द्र की कुल कर-आय की लगभग १६ प्रतिशत थी। सन १९७७-७८ मे, निबल प्राप्तियाँ ३४५८ करोड रु० होने का अनुमान है जो कुल कर आय की ३९% है।

सघीय उत्पादक शुल्क से प्राप्त होने वाली आय का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है —

वित्तीय वर्ष		आय (करोड रु० मे)
१९५०-५१		६७ ००
१९५५-५६		१२८ ६८
१९६०-६१		२९४ ९८
१९६५-६६		८९७ ९२
१९७०-७१		१८०५ २४
१९७१-७२		२९०३ ००
१९७२-७३		२४२८ १८
१९७३-७४		२६०२ १
१०७४-७५		३१८४ ३०
१९७५-७६		३७२० ६०
१९७६-७७	(सशोधित)	४१७६ ६०
१९७७-७८	(बजट)	४५४९ ९२

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि उत्पादक शुल्को से प्राप्त होने वाली आय मात्रा मे भी बढ रही है और कुल आय की तुलना मे भी तुलनात्मक दृष्टि से कुल कर-आय लगभग आधा भाग इसी स्रोत से प्राप्त होता है।

संघीय उत्पादन शुल्को का मूल्यांकन (Evaluation of Union Excise Duties)

जैसा कि हम बतला चुके हैं, उत्पादन शुल्क सघ सरकार की आय का एक बढता हुआ स्रोत है। लोगो द्वारा इस बात की कडी आलोचना की जाती है कि भारत सरकार प्रत्यक्ष करो पर ही अधिक भरोसा करती है। किन्तु परोक्ष करो मे वृद्धि होने से आर्थिक विषमताएँ भी बढती हैं

प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि अभी पिछले कुछ वर्षों मे, भारत जैसे कुछ देशों मे वैयक्तिक आय कर (personal income-tax) के परिपूरक के रूप में व्यय कर (expenditure tax) लागू किया गया है।

निष्कर्ष (Conclusion) :

इस प्रकार, अब सामान्यत. आय को अदा करने की योग्यता का मुख्य माप अथवा सूचक माना जाता है और सम्पत्ति तथा उपभोग को अनुपूरक माप। अभी पिछले कुछ वर्षों मे, संसार के अनेक देशों में इन तीनो ही मापो पर आधारित प्रत्यक्ष सामर्थ्य कराधान (direct ability taxation) का प्रचलन हुआ है। मुख्यतया प्रत्यक्ष कर वैयक्तिक एवं व्यावसायिक—आय-कर हैं, और आस्तिकर (estate duty) तथा व्यय को अनुपूरक प्रत्यक्ष कर माना जाता है।

(ब) समान त्याग की विचारधाराएँ (Concepts of Equal Sacrifice) :

यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि मिल (Mill) ने सामर्थ्य सिद्धान्त की व्याख्या वैयक्तिक त्याग (ind vidual sacrifice) के अर्थों मे की थी। मिल ने यह तर्क दिया था कि कराधान का वास्तविक भार सभी के लिये बराबर होना चाहिये और यह कि "एक से तथा एक सी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के साथ एक समान व्यवहार किया जाना चाहिये।" परन्तु समान त्याग (equal sacrifice) मे "समान" शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। समान त्याग की व्याख्या तीन अर्थों मे की गई है—(१) समान पूर्ण त्याग (equal absolute sacrifice), (२) समान अनुपाती त्याग (equal proportional sacrifice) और (३) समान सीमान्त त्याग (equal marginal sacrifice)। अब हम तीनों की व्याख्या करेंगे।

(१) समान पूर्ण त्याग (Equal absolute sacrifice)—समान पूर्ण त्याग का अर्थ यह है कि कर लगने के फलस्वरूप होने वाली उपयोगिता (utility) की कुल हानि सभी कर दाताओं के लिये बराबर होनी चाहिए। यदि दो करदाता हो और उनकी आय भिन्न-भिन्न हो तो अधिक आय वाला अधिक कर देगा और कम आय वाला कम, परन्तु कर के परिणामस्वरूप दोनों द्वारा किया जाने वाला त्याग बराबर होगा। एक समय ऐसा भी रहा जबकि इस सिद्धान्त को इसकी स्पष्ट न्यायपूर्णता के कारण भारी समर्थन प्राप्त हुआ। बात है भी, क्या एक ऐसी कर-पद्धति को सर्वाधिक न्यायपूर्ण नहीं कहा जायेगा जिसके अन्तर्गत कि सरकार की सहायता के लिए प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिया जाने वाला अंशदान समान त्याग कराये?

(२) समान अनुपाती त्याग (Equal Proportional Sacrifice)—समान अनुपाती त्याग का अर्थ है कि कर लगने के परिणामस्वरूप होने वाली उपयोगिता की हानि करदाताओं की कुल आय के अनुपात में होनी चाहिए। पहले की तरह, यहाँ भी कहती है कि अधिक आय वाले करदाता अधिक कर अदा करेंगे परन्तु आय के प्रति त्याग का अनुपात सभी के लिए बराबर होगा। इसको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है

$$\frac{\text{करदाता 'अ' का त्याग}}{\text{'अ' की आय}} = \frac{\text{करदाता 'ब' का त्याग}}{\text{'ब' की आय}}$$

$$\frac{\text{Sacrifice to taxpayer A}}{\text{Income of A}} = \frac{\text{Sacrifice to taxpayer B}}{\text{Income of B}}$$

अनुपाती त्याग का यह सिद्धान्त कर अदा करने के त्याग को आय से प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि की मात्रा से सम्बन्धित करने का प्रयत्न करता है। इसके अनुसार प्रत्येक करदाता की हानि उसकी आय के अनुपात में उतनी ही होनी चाहिए जितनी कि अन्य किसी भी करदाता की। इस सिद्धान्त का दोष यही है कि इसको व्यावहारिक रूप देना कठिन है। इसके अतिरिक्त, इसकी व्याख्या को मस्तिष्क में बिठाना भी कुछ कठिन है।

(३) समान सीमान्त त्याग (Equal Marginal Sacrifice)—समान सीमान्त त्याग से आशय है कि विभिन्न करदाताओं का सीमान्त त्याग बराबर होना चाहिए। चूँकि निम्न आय के मुकाबले उच्चतर आय की सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होगी, अत. समान सीमान्त त्याग का

उत्पादन शुल्क ही निर्धन वर्गो पर कर लगाने का एकमात्र साधन हैं। वस्तु स्थिति यह है कि प्रत्येक बजट के साथ-साथ निर्धनो पर डाला जाने वाला यह जाल अधिकाधिक विस्तृत होता जा रहा है। परन्तु निर्धन लोगो पर इस भार मे वृद्धि करना कदापि न्यायोचित नही है।

जो उद्योग सरकारी सरक्षण के अन्तर्गत विकसित हुए है, उन सभी पर उत्पादन शुल्क बढाने की नीति की भी खुली आलोचना की जाती है यह ठीक है कि सरकार को सीमा शुल्कों के कारण जो हानि हुई है उसे किसी न किसी उपाय द्वारा पूरा किया जाना है, परन्तु इस सम्बन्ध मे केवल उत्पादन शुल्को पर ही जोर देना उचित नही है। कराधान जाँच अयोग ने इस नीति की सिफारिश की थी और इसी आधार पर कुछ वस्तुओ पर उत्पादन-शुल्क लगाने का प्रस्ताव किया था। परन्तु ऐसे सुझाव के लिए यह कोई तर्कपूर्ण आधार नही है। न्यायालय का तगादा यह है कि जिन लोगो को सरक्षण (protection) से लाभ पहुँचा है, अतिरिक्त कराधान का बोझ भी उन्ही को उठाना चाहिए। जबकि उत्पादन-कर का भार उपभोक्ता पर पडता है। इस तर्क को मानने का कोई आधार नही है कि सरक्षण से उपभोक्ता (consumers) लाभान्वित हुए हैं। वास्तविकता यह है कि सरक्षण के कारण उपभोक्ता को विवश हो ऊँची कीमतें अदा करनी पड़ी थी और सीमा शुल्कों के स्थान पर अब जब उत्पादन शुल्क लगाये जा रहे है तब भी बराबर उसे ऊँची कीमते ही देनी पड़ेगी। सरक्षण से उपभोक्ता को लाभ पहुँचने की बात तब कही जा सकती है जबकि सरक्षण प्राप्त वस्तु की देशी उत्पादन-लागत इतनी कम हो जाए कि उन वस्तुओं पर आयात कर मे कमी करना सभव हो जाए। परन्तु देश मे ऐसी वस्तुओ के कोई उदाहरण उपलब्ध नही हैं। अत: अपने देश मे सरक्षण के नाम पर उत्पादन-शुल्क लगाने का पक्ष बडा कमजोर है। सरक्षण से सम्पूर्ण राष्ट्र को ही लाभ पहुँचता है अत. उसका भार भी सम्पूर्ण जनता को ही वहन करना चाहिए। सीमा शुल्कों से होने वाली हानि को पूरा करने के लिये उत्पादन शुल्क लगाना आवश्यक हो सकता है, परन्तु सभी स्थितियो मे ये उत्पादन शुल्क सरक्षित उद्योगो (protective industries) पर ही लगाये जाएँ, यह आवश्यक नही है।

इस स्थिति मे यह जरूरी है कि उत्पादन शुल्को के लिए वस्तुओ का चुनाव करते समय कुछ कसौटियाँ तय की जाएँ। उत्पादन शुल्क लगाने के लिए सर्वोत्तम वस्तुएँ वे हैं जो निम्न-लिखित मे से कोई एक अथवा उससे अधिक शर्तो को पूरा करती हो। (१) उनकी माँग की कीमत सापेक्षता (price elasticity) कम हो, (२) उनकी माँग की आय-सापेक्षता (income elasticity ऊँची हो, (३) सरकारी क्षेत्र (public sector) के लिए आवश्यक दुर्लभ साधनो को वे खपाती हो, और (४) वे ऐसी विलासिता की प्रकृति की हो जिनका उपभोग केवल समृद्ध लोग ही करते हो। इस प्रकार, यह आवश्यक है कि उत्पादन शुल्को से प्राप्त होने वाली आय का एक बड़ा भाग उन थोडी-सी वस्तुओ से प्राप्त होना चाहिए जो विलासिता की प्रकृति की हो और साथ ही साथ उनका विस्तृत रूप से उपयोग भी होता हो, उदाहरणत, चाय, काफी, तम्बाकू आदि। इन वस्तुओ पर कर लगाने से जहाँ काफी मात्रा मे आय प्राप्त होगी वहाँ निर्धन वर्ग के लोगो पर कोई अनुचित भार भी नही पडेगा। इस विधि से दुर्लभ साधनो (scarce factors) मे किफायत करना भी सभव हो सकेगा।

भारत मे अधिकाश उत्पादन शुल्क चूँकि विशिष्ट दरो से लगाये गये है, अत उनसे प्राप्त होने वाली आय मूल्य-परिवर्तनो के साथ घटती-बढती नही। सन् १६४० से ही अधिकाश वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि हो रही है, परन्तु अधिकाश मामलो मे उत्पादन-शुल्को से प्राप्त होने वाली आय मे वृद्धि नही हुई है। जब अधिक राजस्व की आवश्यकता थी तो इनकी दरें भी बढाई जानी चाहिए थीं। यही नही समय-समय पर उत्पादन शुल्को के क्षेत्र का भी विस्तार किया जाना चाहिए था जिससे उनसे प्राप्त आय मे वृद्धि हो सके। अत यह सुझाव दिया जाता है कि यदि विशिष्ट दरो वाले उत्पादन-शुल्को को मूल्यवार उत्पादन शुल्को (advalorem excise duties) मे परिवर्तित कर दिया जाए तो वे उनको आय का एक अधिक लोचदार स्रोत बनाया जा सकता है। इससे इस बात की भी आवश्यकता नही रहेगी कि उनके क्षेत्र का विस्तार किया जाए और उत्पादन शुल्को से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रशासन को अनावश्यक रूप से स्थूल एव जटिल बनाया जाए।

कुछ वस्तुओं पर बिक्री करों के बदले में जो अतिरिक्त उत्पादन-शुल्क लगाये जाते हैं, उनको इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है कि इस प्रकार की वस्तुओं का अन्तर्राज्यीय व्यापार में इन वस्तुओं के कराधान के भार में एकरूपता आ जाती है। इसके अतिरिक्त, इससे उत्पादन शुल्कों तथा बिक्री करों के मध्य कुछ मात्रा में समन्वय (coordination) भी उत्पन्न हुआ है। फिर, इन करों की प्राप्तियाँ चूँकि राज्यों में बाँट दी जाती हैं अतः उन्हें राजस्व की भी कोई हानि नहीं होती।

राज्यों द्वारा वस्तुओं पर कर
(Taxes on Commodities by the States)

राज्यों के लिए वस्तु कर राजस्व का सर्वोत्तम स्रोत सिद्ध हुए हैं। वस्तु करों (commodity taxes) में संघीय उत्पादन शुल्कों में राज्य का भाग, राज्य द्वारा लगाये जाने वाले उत्पादन शुल्क तथा सामान्य बिक्री कर आदि सम्मिलित होते हैं। तालिका न० १ से हमें राज्यों के वस्तु करों की एक झलक मिलती है।

किसी समय तो संघीय उत्पादन शुल्कों में राज्यों का भाग अधिक उल्लेखनीय नहीं होता था, उदाहरण के लिए, सन् १९५१-५२ में यह १ करोड़ रु० से भी कम था। सन् १९६६-६७ से यह स्रोत अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

राज्यों के उत्पादन शुल्क (State Excise Duties) :

राज्य सरकारों को शराब, अफीम, भारतीय भाग और अन्य मादक पदार्थों एवं औषधियों पर उत्पादन शुल्क लगाने का अधिकार प्राप्त है। राज्य द्वारा यह कर तब लगाया जाता है जबकि ऐसे कोई पदार्थ अथवा औषधियाँ सम्बन्धित राज्य में उत्पन्न की जाती हैं अथवा अन्य किसी राज्य से इस राज्य के क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। ये ऐसे सभी राज्यों में विभिन्न दरों से लगाये जाते हैं जहाँ कि उनकी बिक्री पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अफीम के उत्पादन में केन्द्र सरकार को एकाधिकार प्राप्त है और उसने अफीम के उपभोग पर कड़ा नियन्त्रण लगा रखा है। सन् १९५९ से, अफीम की सभी प्रकार की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, केवल चिकित्सा एवं वैज्ञानिक कार्यों के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

जिन राज्यों ने मद्यनिषेध की नीति (policy of prohibition) नहीं अपनाई है, वहाँ मद्य पर काफी ऊँची दरों से उत्पादन कर लगाया जाता है। महाराष्ट्र तथा मद्रास जैसे कुछ राज्यों ने अपने यहाँ पूर्ण मद्य-निषेध कर रखा है। कुछ राज्यों ने अपने यहाँ आंशिक मद्य-निषेध लागू किया है और या तो कुछ चुने हुए नगरों या क्षेत्रों में ही इसे लागू किया है अथवा इसके उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाया है। कुछ राज्य ऐसे भी हैं जिन्होंने अपने किसी भी क्षेत्र में पूर्ण मद्य-निषेध लागू नहीं किया है। किन्तु ऐसे राज्यों में भी, जहाँ कि मद्य-निषेध लागू नहीं है, मद्य के उपभोग में कटौती की योजनाएँ लागू की गई हैं। मद्य-निषेध से राज्यों की आय पर अवश्य प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ऐसा अनुमान है कि इस नीति को अपनाने के फलस्वरूप प्रतिवर्ष लगभग ५० करोड़ रु० की हानि होती है।

सन् १९६६-६७ में, राज्यीय उत्पादन शुल्कों से सभी राज्यों को होने वाली कुल आय १०९ करोड़ रु० थी। सन् १९७५-७६ के बजट में इस मद से ३८६ ३० करोड़ रु० प्राप्त होने का अनुमान था। ये आँकड़े आय के इस स्रोत की महत्ता के सूचक हैं। इसी कारण अनेक राज्य मद्य निषेध के विस्तार की अपनी नीति पर पुनर्विचार कर रहे हैं। ऐसे समय में जबकि राज्यों की विकास तथा कल्याण सम्बन्धी क्रियाओं का विस्तार हो रहा है, इस स्रोत से होने वाली आय की हानि से उनकी आर्थिक कठिनाइयों में वृद्धि हो सकती है। दूसरी ओर, मद्य-निषेध का एक सामाजिक एवं मानवीय पहलू भी है जिसकी पूर्णतया उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः राज्यों को इस दिशा में 'धीरे चलो' की नीति अपनानी चाहिए और इस सम्बन्ध में कोई भी निर्णय लेने से पूर्व मद्य-निषेध के सामाजिक एवं मानवीय लाभों तथा इससे होने वाली राजस्व की हानि के बीच बड़ी सावधानी एवं सतर्कता के साथ सन्तुलन बनाए रखना चाहिए।

तालिका—२

वस्तु व सेवाओं पर लगाये गये करों से प्राप्त राजस्व

(करोड़ रु० में)

मद	१९५१-५२ (लेखे)	१९६६-६७ (लेखे)	१९६८-६९ (बजट)	१९७१-७२ (संशोधित)	१९७२-७३ (बजट)	१९७३-७४	१९७४-७५	१९७५-७६
संघीय उत्पादन शुल्क	१	२२७	२६३	४७१ ८०	५४२ ४०	६२८ ४	७०८·२	७७० १
राज्य उत्पादन शुल्क	४६	१०६	१३८	२३५ ५४	२५४ ५०	३५३ ७	३७८ ३	३८६ ३
सामान्य बिक्री कर	५४	४०७	५१४	६०५ ६०	६७० ००	११४२ ८	१४५४ ०	१६०५ ८
मोटर स्प्रिट पर बिक्री कर	५	३६	४७	२२५ ६०	२४७ ८०	?	?	?
मोटरगाडी कर	१०	६६	८४	१९२ ८०	२१६ ५०	१४८ ४	१६७ ९	१८४·०
मनोरंजन कर	६	३५	४१	६६ ००	७४ ८०	९९ ६	१२०·०	१३२·४
विद्युत शुल्क	३	४८	५२	७७ ९०	७७ ००	८१ ३	९७ ५	१०१ १
अन्य कर तथा शुल्क	२०	५१	६५	२४३ ०८	२६५ ००	४८५ ६	५३२ ५	५६४ ३
वस्तुओं व सेवाओं पर करों से प्राप्त कुल आय	१४८	९७८	१२०४	२११८ ६२	२३४७ ८०	२९३९ ८	३४५८ ४	३७४४ ०

स्रोत . भारतीय रिजर्व बैंक की विज्ञप्तियाँ (बुलेटिन)

? Figures not available

बिक्री कर
(Sales Tax)

सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम (Governmet of India Act) ने वस्तुओं के विक्रय तथा क्रय पर कर लगाने का अधिकार प्रान्तो को दिया था। वर्तमान सविधान के अन्तर्गत, समाचार पत्रो को छोडकर अन्य वस्तुओ के विक्रय तथा क्रय पर कर लगाने का पूर्ण अधिकार राज्यो को प्राप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (inter-state trade) से सम्बन्धित वस्तुओ के विक्रय तथा क्रय पर कर लगाने की पूर्ण शक्ति केन्द्र सरकार को प्राप्त है परन्तु यह आवश्यक है कि ऐसे किसी भी कर की प्राप्तियाँ उन राज्यो मे दी जानी चाहिए जिनमे कि उनका सग्रह हुआ हो। जम्मू व काश्मीर को छोडकर अन्य सभी राज्य अपनी सीमाओ के अन्दर सम्पन्न होने वाले सौदो (transactions) पर सामान्य बिक्री कर (general sales tax) लगाते हैं। कुछ राज्य मोटर ईधन (moter fuels), तम्बाकू, गन्ना तथा जूट जैसे कुछ पदार्थो की बिक्री पर विशेष कर लगाते हैं।

सन् १९५६ के केन्द्रीय बिक्री कर अधिनियम के द्वारा केन्द्र सरकार ने अन्तर्राज्यीय व्यापार की वस्तुओ की बिक्री पर विशेष दरो से कर लगाया। इस कर का सग्रह राज्यो द्वारा किया जाता है और उसकी प्राप्तियाँ भी उन्ही राज्यो द्वारा रख ली जाती हैं जिनमे कि अन्तर्राज्यीय व्यापार की इन वस्तुओ का आवागमन होता है।

सन् १९३८ मे, मध्य प्रदेश मे मोटर ईधन तथा उससे सम्बन्धित चिकनाई के पदार्थों पर बिक्री कर लगाया गया। परन्तु पहला सामान्य बिक्री कर सन् १९३९ मे मद्रास मे लगाया गया था। इसके पश्चात् अन्य राज्यो ने इसका अनुसरण किया। सन् १९५६ से पूर्व, भाग 'अ' के प्रत्येक राज्य मे तथा जम्मू व काश्मीर को छोड़कर प्रत्येक भाग 'ब' के राज्य मे बिक्री कर लागू था। सन् १९५६ मे जब राज्यो का पुनर्गठन किया गया तो अधिकाश राज्यो ने अपने बिक्री कर कानूनो मे सशोधन किया और नये अधिगृहीत क्षेत्रो तक उनका विस्तार कर दिया। पड़ोसी राज्यो मे जो बिक्री कर अधिनियम लागू हैं, वे ही कुछ संघ शासित प्रदेशो मे भी लागू कर दिये गये हैं।

राज्यो द्वारा बिक्री कर मुख्यत राजस्व प्राप्ति की दृष्टि से लागू किये गये हैं। मद्य-निषेध तथा जमीदारी उन्मूलन के कारण राज्यो की आय मे कमी हो गई थी जिसकी पूर्ति के लिए वैकल्पिक साधन ढूँढे जाने थे। इस दिशा मे बिक्री कर एक अद्वितीय स्रोत सिद्ध हुआ और सभी राज्यो ने इसका लाभ उठाया। आज बिक्री कर ही राज्यो की आय का एकमात्र सबसे बड़ा स्रोत है। सन् १९७५-७६ मे सामान्य बिक्री कर से प्राप्त होने वाली सभी राज्यो की कुल आय १६०५ ८० करोड रु० थी। गत कुछ वर्षो मे राज्यो को सामान्य बिक्री कर से प्राप्त होने वाली आय का अनुमान निम्न तालिका की सहायता से लगाया जा सकता है :—

वित्तीय वर्ष	सामान्य बिक्री कर से प्राप्त आय (करोड रु० में)
१९५१-५२	५८·९३
१९५५-५६	७६·५८
१९६०-६१	१८१ ४४
१९६५-६६	३९८ ००
१९७०-७१	७५० ००
१९७१-७२	८३१ ५०
१९७२ ७३	९१७ ८०
१९७३-७४	११४२ ८०
१९७४-७५	१५५४ ००
१९७५-७६	१६०५ ८०

बिक्री कर के प्रकार (kinds of Sales Tax) :

भारत के विभिन्न राज्यों में अनेक प्रकार के बिक्री कर लागू हैं। सर्वप्रथम, **बिक्री कर** (sales tax) तथा **क्रय कर** (purchase tax) में भेद किया जाता है। जब कर किसी रजिस्टर्ड व्यापारी की कुल बिक्री पर लगाया जाता है और उस व्यापारी से ही वसूल किया जाता है तो वह बिक्री कर कहलाता है। परन्तु जब कर उसकी कुल खरीद पर लगाया जाता है। बिना इस बात को देखे ही कि उसमें से कितना माल बेचा है और कितना नहीं, तो वह क्रय कर कहलाता है। बिक्री कर माल को बेचने वाले पर लगाया जाता है जिसमे विनिर्माता (manufactures), माल को विभिन्न प्रक्रियाओं में तैयार करने वाले (processors) तथा व्यापारी सम्मिलित है। क्रय कर उपभोक्ता (consumer) तक पर लगाया जाता है, विशेष रूप से तब, जबकि खरीदी हुई वस्तु का सरलता से पता लगाया जा सके। क्रय-कर के मुकाबले आमतौर पर बिक्री कर को तरजीह (preference) दी जाती है। क्रय-कर का आश्रय तो केवल कुशल प्रशासनिक परिस्थितियों के कारण ही लिया जाता है।

इस देश में अन्य भेद **सामान्य बिक्री कर** (generel sales tax) तथा **चुनीदा बिक्री कर** (selective sale tax) के बीच किया जाता है। सामान्य बिक्री कर उन सभी सामान्य वस्तुओं पर लगाया जाता है जो कि किसी व्यापारी अथवा बिक्रेता के हाथों से गुजरती है अथवा जैसे उसकी कुल बिक्री (total turnover) कहा जाता है। दूसरी ओर, कर यदि केवल कुछ चुने हुए पदार्थों पर लगाया जाता है तो उसे चुनीदा बिक्री कर कहा जाता है। वास्तविक अर्थ में, भारत में कहीं भी सामान्य बिक्री कर नहीं है। क्योंकि सेवाएं (services) सदा ही इससे बाहर रखी जाती हैं और लगभग सभी जगह कुछ वस्तुएँ कर-मुक्त रखी जाती है। अतः भारत मे जिसे सामान्य बिक्री-कर कहा जाता है, वह जम्मू व कश्मीर को छोड़कर सभी राज्यों मे लागू है। इसके साथ ही, कुछ राज्यों में मोटर स्प्रिट, कच्चे जूट तथा गन्ने पर चुनीदा बिक्री कर भी लागू है।

इसके अतिरिक्त सामान्य बिक्री कर की दो मुख्य किस्में हैं एक-स्तर पद्धति (single-point system) और बहु-स्तर पद्धति (multi-point system)। **एक-स्तर पद्धति के अन्तर्गत**, कर वस्तु के उत्पादन से लेकर उपभोग के अन्तिम चरण तक केवल एक ही स्तर पर लगाया जाता है। यह स्तर अथवा बिन्दु (point) सामान्यतः या तो उत्पादक या विनिर्माता द्वारा की जाने वाली प्रथम बिक्री पर होता है अथवा उपभोक्ता को की जाने वाली अन्तिम बिक्री पर। यदि उत्पादन बड़ी बड़ी संगठित फैक्टरियों द्वारा किया जा रहा है तब तो कर के संग्रह की दृष्टि से प्रथम स्तर उपयुक्त रहता है परन्तु उत्पादन थोड़े है और बिखरे हुए हैं तो द्वितीय अथवा अन्तिम स्तर ठीक रहता है। **बहु-स्तर पद्धति के अन्तर्गत**, वस्तु जितनी बार भी बिकती है, उतनी ही बार उस पर कर लगाया जाता है। इस प्रकार अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचने से पूर्व उस पर अनेक बार कर लगाया जाता है। **बहु-स्तर करों** (multi-point taxes) की दरें आमतौर पर अन्य स्थितियों की अपेक्षा नीची होती है। बहु-स्तर कर पद्धति मे कर को छिपाने की संभावना भी कम होती है क्यो कि यह मुमकिन नहीं है कि प्रत्येक स्तर अथवा चरण का व्यापारी कर-वचन के लिए अपने खातों को गलत दिखाये। एक-स्तर कर (single-point tax) में कर-वचन (tax-evasion) की संभावना अधिक होती है और इसमें कर की दर जितनी ऊँची होती है, कर-वचन का लाभ भी उतना ही अधिक होता है। बहु-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत, व्यापारी को जो खाते रखने होते हैं वे अन्य स्थिति के मुकाबले कम जटिल होते हैं। इसका कारण यह है कि एक-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत, प्रत्येक स्तर पर इस विषय में आश्वस्त होना पड़ता है कि न तो इससे पूर्व के स्तर पर कर अदा किया गया है और न बाद के स्तर पर ही वह अदा ही किया जायेगा।

सम्भावना यह है कि उद्योग पर एक स्तर कर के मुकाबले कर का अधिक भार पड़ना है ऐसा बहु-स्तर कर के सचयी प्रभाव (cumulative effect) के कारण होता है जो कि प्रत्येक स्तर पर वस्तु की कीमत-वृद्धि के साथ ही साथ बढ़ता जाता है। इसके अतिरिक्त, बहु-स्तर कर (multi-point tax) प्रभाव की दृष्टि से अवरोही (regressive) भी होता है। ऐसा इसलिए होता है कि विलासिता की वस्तुएं उत्पादक से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचने के क्रम में अपेक्षाकृत थोड़े हाथों से गुजरती है और इसी कारण अनिवार्य वस्तुओं (necessaries) की अपेक्षा उन पर थोड़े

स्तरो पर ही कर लगता है। यही कारण है कि सामान्य: बहु-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत भी, विलासिता की वस्तुओ (luxuries) पर बिक्री के प्रथम अथवा अन्तिम चरण पर अपेक्षाकृत भारी कर लगाया जाता है।

बहु-स्तर कर मे मध्यस्थो (middle men) को समाप्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है और अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचने मे वस्तु को जितने हाथो मे से गुजरना होता है उनकी सख्या भी कम करने की प्रवृत्ति होती है। वस्तु को थोक अथवा फुटकर व्यापारियो के माध्यम से मँगाने की बजाय प्राय उत्पादको को ही माल का सीधा आर्डर दे दिया जाता है इसमे माल के तैयार होने की विभिन्न प्रक्रियाओ (processes) मे भी एकीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। उत्पादक कच्चा माल (raw materials) स्वय ही उत्पन्न करने लगता है, उदाहरण यह हो सकता है कि चीनी उत्पादक स्वय ही गन्ना उत्पन्न करने लगे। यही नही, वह अपनी चीनी का स्वय ही मिष्ठान व मुरब्बे आदि के उत्पन्न करने मे उपयोग कर सकता है। प्रक्रियाओं के इस एकीकरण से उत्पादन-लागत कम हो जाती है और मध्यस्थो का लाभ समाप्त हो जाने के कारण वस्तु की कीमत भी कम हो जाती है।

करों का सग्रह तथा उनकी दरें (Collections and Rates) :

कर अदा करने का दायित्व उस व्यापारी अथवा विक्रेता का होता है जो निर्धारित न्यूनतम मात्रा की बिक्री सम्पन्न कर लेता है। न्यूनतम कुल बिक्री की सीमा विभिन्न राज्यो मे अलग-अलग है। ऐसे सभी व्यापारियो को, जिन पर कि बिक्री कर की अदायगी का दायित्व होता है, राज्य सरकार द्वारा अपने को रजिस्टर्ड करा लेना होता है। आयातकर्त्ताओ तथा विनिर्माताओ (manufacturers) के लिए छूट का स्तर सामान्यत नीचा होता है और कही भी यह स्तर १०,००० रु० से अधिक नही है। बहु-स्तर कर पद्धति की तुलना मे एक-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत, थोक तथा खुदरा व्यापारियो (wholesalers and retailers) के लिए छूट की सीमाएँ सामान्यत ऊँची होती हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी बगाल मे जहाँ एक-स्तर कर पद्धति प्रचलित है, छूट की सीमा ५०,००० रु० निश्चित की गई है, किन्तु मद्रास मे जहाँ कि बहु-स्तर कर पद्धति है, यह सीमा ७,५०० रु० है।

केन्द्रीय बिक्री कर अधिनियम के अन्तर्गत, प्रत्येक व्यापारी को अपनी अन्तर्राज्यीय, बिक्रियो पर कर अदा करना होता है, और इसमे इस बात का ध्यान नही रखा जाता कि उसकी वार्षिक कुल बिक्री (annual turnover) कितनी है। यदि किसी व्यापारी को सम्बन्धित राज्य के कानून के अन्तर्गत राज्य की सीमाओ मे की गई बिक्रियो पर कर यदि नही भी अदा करना होता है, तो भी अपनी अन्तर्राज्यीय बिक्रियो पर उसे अवश्य कर अदा करना होता है।

कुल बिक्री के सम्बन्ध मे छूट की सीमा निर्धारित किये जाने के अतिरिक्त कुछ ऐसी बिक्रियाँ भी होती है जिन्हे कराधान से मुक्त कर दिया जाता है। इन बिक्रियो मे ये सम्मिलित हैं- ऐसी बिक्रियाँ जिनका व्यापार अथवा व्यवसाय से कोई सम्बन्ध नही है, स्थावर सम्पत्ति (immovable property) की बिक्रियाँ, स्टॉक (शेष माल) तथा ऋण पत्रो (securities) की बिक्रियाँ और ऐसी कृषि उपज की बिक्रियाँ जो कि किसान द्वारा स्वय उगाई गई हो अथवा अपने स्वामित्व की भूमि पर उगाई गई हो।

कुछ अन्य प्रकार की वस्तुएँ भी कर-मुक्त कर दी जाती हैं। आमतौर पर, वे राज्य जो कि एक-स्तर कर लागू करते है, अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ (necessaries of life) तथा कच्चे माल (raw materials) को कर मुक्त कर देते है। किन्तु बहु-स्तर करो के अन्तर्गत प्राय- ऐसी छूट को आवश्यक नही समझा जाता। तथापि, बहु-स्तर कर-पद्धति के अन्तर्गत भी यह हो सकता है कि वस्तु की बिक्री के कुछ विशिष्ट स्तरो पर कर की रियायती दरें लागू करके कुछ वस्तुओं की बिक्री मे छूट दे दी जाए। विभिन्न राज्यो के कानूनो के अन्तर्गत जो छूटें प्रदान की जाती हैं उनका वर्गीकरण इस प्रकार है : (१) आवश्यक पदार्थ अथवा अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएँ, जैसे खाद्य पदार्थ, औषधियाँ, सस्ता कपडा, और कृषि व उद्योगो से सम्बन्धित कच्चा माल, (२) ऐसी वस्तुएँ जिन पर केन्द्र अथवा राज्य सरकारो के अन्य कानूनो के अन्तर्गत ऊँचे कर लगते

है, (३) छोटे पमाने के उद्योगो द्वारा उत्पादित पदार्थ, और (४) कुछ अन्य पदार्थ, जैसे कि पाठ्य-पुस्तकें रासायनिक खाद तथा चारा-दाना (cattle feed)।

केन्द्रीय विक्री कर अधिनियम (Central Sales Tax Act) समाचार-पत्रो को छोड़कर गोचर अस्थावर सम्पत्ति (tangible movable property) की सभी बिक्रियो पर लागू होता है। व्यवहार्य दावों (actionable claims) की सम्पत्तियाँ, स्टाक, शेयर तथा ऋण-पत्र इससे बाहर रखे जाते है। राज्यों द्वारा कर मुक्त की गई वस्तुएँ केन्द्रीय विक्री कर अधिनियम के अन्तर्गत भी कर मुक्त रहती है, बशर्ते कि राज्य द्वारा प्रदान की गई वह छूट ऐसी वस्तुओ की सभी विक्रियो पर लागू होती हो।

विक्री की दरें १ प्रतिशत से भी कम से लेकर १४ प्रतिशत से भी ऊपर तक लागू की जाती है। ये दरें इस बात पर निर्भर होती हैं कि कर एक-स्तर पर लगाया जा रहा है अथवा बहु-स्तर पर बेची जाने वाली वस्तुएँ तथा उनकी मात्रा कैसी और कितनी है। एक-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत, बिक्रियो पर जो दरें लागू होती है वे बहु-स्तर कर पद्धति के मुकाबले ऊँची होती हैं, यद्यपि अधिकाश मामलो में बहु-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत वस्तु की विक्री के सभी स्तरो पर अदा किये गये कर का यौग उतना हो सकता है जितना कि एक-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत एक-स्तर पर अदा किया गया कर होता है। कुछ राज्य कुछ किस्म की वस्तुओं की बिक्री पर रियायती दरो से कर लगाते है, जबकि अन्य राज्य उन वस्तुओ को पूर्णतः कर-मुक्त कर देते है। दूसरी ओर, विलासिता की वस्तुओ (luxury goods) पर अन्य वस्तुओं के मुकाबले ऊँची दरो से कर लगाये जाते हैं। कुछ बहु-स्तर कर-पद्धतियो के अन्तर्गत, कुछ किस्म की वस्तुओ पर इस प्रकार छूट दी जाती है कि उन पर केवल एक ही स्तर पर कर लगा दिया जाता है। केन्द्रीय बिक्री कर अधिनियम ने किसी राज्य के अन्तर्गत बिकने वाली कुछ ऐसी वस्तुओ के लिए विशेष दरें निर्धारित की है जिन्हे कि ससद ने अन्तर्राज्यीय व्यापार अथवा वाणिज्य के लिए विशेष महत्व की वस्तु घोषित किया हो।

केन्द्रीय विक्री कर अधिनियम मे अन्तर्राज्यीय विक्रियो पर कर की दरो की व्यवस्था की गई है। ऐसी वस्तुओ को छोडकर, जिन्हे कि ससद ने अन्तर्राज्यीय व्यापार या वाणिज्य के लिए विशेष महत्व की वस्तु घोषित कर रखा हो, अन्य वस्तुओ की बिक्री पर की प्रामाणिक दर या तो विक्रय-मूल्य की ७ प्रतिशत होती है अथवा वह दर जो उस राज्य द्वारा ऐसी ही वस्तुओं पर लगाई जाए जिसके अधिकार-क्षेत्र मे बिक्री हो रही हो, इसमे जो भी दर ऊँची होगी अधिनियम के अन्तर्गत वही लागू की जाती है।

चुनीदा बिक्री कर (Selective Sales Taxes).

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मोटर स्प्रिट, गन्ने तथा कच्चे जूट पर राज्यो द्वारा चुनीदा बिक्री कर लगाये जाते हैं। मोटर स्प्रिट पर सभी राज्यो मे खुदरा स्तर (retail stage) पर कर लगाया जाता है। इस कर की दर सभी राज्यो मे एक समान नही है। कुछ राज्य डीजल तेल, कच्चे तेल (crude oil) तथा पावर ऐल्कोहॉल पर भी कर लगाते हैं। अधिकाश राज्यो मे अनेक बार इन करो की दरें बढाई जाती रही हैं और इसी कारण इनसे प्राप्त आय मे भी वृद्धि हो रही है। इस कर के लिए इन वस्तुओ का चुनाव इसलिए किया गया था क्योंकि इनका विक्रय करने वाली सस्थाएँ सगठित होती हैं और तेल कम्पनियो द्वारा नियन्त्रित होती है, जिसके कारण कर का निर्धारण तथा सग्रह अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। इस कर के विरुद्ध इस आधार पर आपत्ति उठाई जा सकती है कि मोटर यातायात को हतोत्साहित करता है जो कि गाँवों के एक देश के लिए वाञ्छनीय नही है जहाँ कि एक गाँव दूसरे गाँव से केवल मोटर यातायात द्वारा ही सम्बन्धित हो सकता है।

कच्चे जूट (raw jute) गन्ने पर कर इन वस्तुओ क्रेताओ (purchasers) पर लगाये जाते है जो कि सगठित होते हैं। कच्चे जूट पर कर केवल पश्चिमी बगाल मे लगाया गया है। इस कर की दरें चूँकि नीची हैं अत. मिलो तथा पश्चिमी बगाल के निर्यातकर्त्ताओ पर इनका कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडता है। इस कर को केन्द्र सरकार के निर्यात कर लगाने के अधिकार से

प्रतियोगिता करनी होती है, परन्तु चूँकि इसकी दर नीची है अतः कोई कड़ी प्रतियोगिता नही होती है। गन्ने पर कर सामान्यतः चीनी मिलो पर लगाया जाता है। कर मिलो मे पेरे जाने वाले गन्ने की मात्रा पर निर्भर होता है, चाहे वह गन्ना खरीदा हुआ हो अथवा मिल मालिकों द्वारा अपनी भूमि पर उगाया गया हो। जिन राज्यो मे यह कर लगाया जाता है वे है—आन्ध्र प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, मैसूर और उत्तर प्रदेश।

बिक्री कर और उत्पादन कर (Sales Tax and Excise Duty)

बिक्री कर तथा उत्पादन कर एक-सी ही वस्तुओ पर लगाये जाते हैं, अतः सिद्धान्त रूप से वे एक समान हैं। वाह्यता (incidence) के दृष्टिकोण से भी वे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। परन्तु उनकी कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो उनको एक-दूसरे से पृथक करती हैं। उत्पादन शुल्क अथवा उत्पादन कर (excise duties) विनिर्माता अथवा उत्पादक से उसके उत्पादन पर वसूल किये जाते हैं, इसमे इस बात का कोई ध्यान नही रखा जाता कि उत्पादित वस्तुये बेची गई हैं या नही। दूसरी ओर, बिक्री कर केवल तब वसूल किये जाते हैं जबकि वस्तुयें बेची जाती हैं। फिर उत्पादन करो का सग्रह (collection) उत्पादन स्तरो पर किया जाता है किन्तु बिक्री करो का सग्रह बिक्री के स्तरो पर किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, उत्पादन शुल्क साधारण चुनी हुई वस्तुओ पर लगाये जाते है और इसी कारण आमतौर पर उनकी दरें ऊँची होती हैं। किन्तु बिक्री करो के सम्बन्ध मे ऐसा नही होता। बिक्री कर सामान्य होता है और व्यापारिक प्रवाह के विभिन्न स्तरो पर लगाया जाता है। इसकी दरें भी अपेक्षाकृत नीची होती है। वस्तु उत्पादन के स्तरो को छोड़कर जैसे ही बाहर आती है, उसके पश्चात् उसमे विविध मात्राओ मे जो विशिष्टता और विभिन्नता पाई जाती है, बिक्री कर को लागू करते समय उसका भी ध्यान रखा जा सकता है। अतः बिक्री कर उत्पादन कर से एक भिन्न कर है और इसका योगदान भी उससे भिन्न ही होता है।

इन दोनो करो मे विभिन्नता की अन्य बातो के अलावा, एक तथ्य यह भी है कि उत्पादन कर कभी-कभी किसी सामाजिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी लगाये जाते हैं। कभी-कभी उनके लगाने का उद्देश्य यह होता है कि वस्तुओ के उपभोग को हतोत्साहित किया जाये अथवा उत्पादन के दुर्लभ साधनों को ऐसे उद्योगो मे जाने से रोका जाए जो कि सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नही हैं। बिक्री कर ऐसे किसी उद्देश्य के लिए नही लगाया जाता। यह तो पूर्णतः राजस्व का ही एक स्रोत है और राजस्व-प्राप्ति के लिए ही लगाया जाता है। बिक्री कर के द्वारा अन्य जो भी प्रभाव पड़ते हैं वे केवल प्रासंगिक (incidental) होते हैं।

उत्पादन शुल्क चूँकि कुछ चुनी हुई वस्तुओ पर लगाये जाते है अतः यह हो सकता है कि उनसे उपभोग मे स्थानापन्नता (substitution) को प्रोत्साहन मिले। अब किसी वस्तु पर उसकी स्थानापन्न अथवा एवजी वस्तु के मुकाबले ऊँची दर से कर लगाया जाता है तो उससे स्थानापन्नता उत्पन्न होती है। जहाँ तक कि यदि सभी स्थानापन्न अथवा एवजी वस्तुओ (substitutes) पर कर लगा दिये जाएँ तो भी विभिन्न वस्तुओ के करो की दरों मे जो अन्तर होगा, उससे उपभोग मे किसी न किसी प्रकार स्थानापन्नता उत्पन्न हो सकती है। बिक्री कर चूँकि एक तो सामान्य होते हैं और दूसरे अधिकाश मामलो मे वे समान दरों से ही लगाये जाते हैं, अतः उनसे कोई स्थानापन्नता उत्पन्न नही होती। हाँ यह हो सकता है कि बिक्री करो के कारण उपभोग मे सामान्य रूप से ही कोई कमी हो जाए। ऐसा विशेष रूप से कम कीमत वाली वस्तुओ के सम्बन्ध मे हो सकता है जिन पर कि बिक्री कर का भार अपेक्षाकृत अधिक होता है।

बिक्री कर का मूल्यांकन (Evaluation of Sales Tax)

बिक्री कर के विरुद्ध इस आधार पर आपत्ति उठाई जाती है कि व्यापार पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कुछ वस्तुओं के व्यापार पर इनका भार अपेक्षाकृत अधिक हो सकता है। बहु-स्तर कर तो भार मे उल्लेखनीय वृद्धि करता है। अतः बिक्री कर उपभोग तथा व्यापार को हतोत्साहित करता है।

विभिन्न राज्यो मे बिक्री कर की पद्धतियो मे जो एकरूपता का अभाव है, उसके भी अवाछनीय प्रभाव पड़ते हैं। कुछ राज्यों मे तो वस्तुयें बिक्री कर से मुक्त कर दी जाती हैं, किन्तु अन्य राज्यों मे ऐसा नही होता। कुछ राज्यो मे खाद्य पदार्थ तथा सस्ते कपडे जैसे कुछ आवश्यक पदार्थ भी कर-मुक्त नही किये जाते। इस अन्तर से प्राय एक राज्य से दूसरे राज्य मे व्यापार का अन्तर (shifting) होने लगता है और जहाँ तक प्रभावों का प्रश्न है, कर-भार मे पाये जाने वाले ये अन्तर असम तथा अन्यायपूर्ण भी तो होते है।

कुछ राज्यो मे अभी यह कार्य विधि पूर्णतया विकसित नही है अत वहाँ कर-वचन (tax-evasion) की गु जाइश विद्यमान है। बिना लाइसेंस वाले ऐसे व्यापारियो से, जिनकी कुल बिक्री छूट के स्तर से कम होती है, कर की अदायगी के लिए नही कहा जाता। परिणामस्वरूप, ये व्यापारी ही कर-वचन के अच्छे खासे स्रोत बन जाते हैं। अर्द्ध-शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के छोटे व्यापारी खाते नहीं रखते और न वह ऐसा हिसाब रख ही सकते है। अत ये व्यापारी भी बिक्री करो की अदायगी से बच जाते हैं। यदि बिक्री कर की कार्य प्रणाली मे कुछ सुधार किया जाए, तभी इस स्थिति से बचा जा सकता है।

बिक्री कर मे कोई भी दोष क्यो न हो, उसे बना रहना है। कुछ थोडे से छोटे-छोटे दोषो के कारण बिक्री कर को समाप्त कर देना आय के एक बडे फलदायी स्रोत को खो देना है। भू-राजस्व राज्यो की आय को लोचहीन स्रोत हैं और राज्यीय उत्पादन करो की आय मद्य निषेध के कारण कम होती जा रही है। इस स्थिति मे बिक्री कर ही एक मात्र ऐसा स्रोत है जिस पर राज्य अपनी आय-वृद्धि के लिए भरोसा कर सकते हैं। आर्थिक विकास के कारण व्यापार मे जैसे जैसे वृद्धि होगी वैसे-वैसे ही बिक्री कर से प्राप्त होने वाली आय भी बढेगी। यह आय का एक ऐसा लोचदार स्रोत है जो राज्य सरकारो की बढती हुई आवश्यकताओ को पूरा कर सकता है।

बिक्री कर की वाह्यता (incidence) भी अधिक नही होती। विक्रय मूल्य का एक थोडा-सा प्रतिशत यदि कर के रूप मे ले लिया जाए तो इससे कोई बहुत भारी बोझ पड जाता हो, ऐसी बात नही है। यहां तक बहु-स्तर कर पद्धति के अन्तर्गत भी, वस्तु का कुल कर-भार बहुत अधिक नही होता है। फिर, कर की अदायगी ऐसे सुविधापूर्ण तरीके से की जाती है कि उपभोक्ता को कुछ महसूस ही नही होता। यही कारण है कि ऐसे करो का क्षेत्र व्यापक है, अतः इनका विस्तार किया जाना चाहिए।

बिक्री कर का सबसे उपयुक्त रूप सम्भवतः वह होगा कि बहु-स्तर कर (multi-point tax) को नीची दरो से लगाया जाए और अनिवार्य आवश्यकता तथा विलासिता की वस्तुओ के लिए उसमे मामूली घटा-बढ़ी की जाए। इस बात की भी भारी आवश्यकता है कि कर-वचन को रोकने के लिए कर की कार्य-विधि तथा प्रशासनिक व्यवस्था मे पर्याप्त सुधार किये जायें। कराधान जांच आयोग ने भी नीची दर से बहु स्तर कर लगाने की सिफारिश की थी। मध्यम तथा उच्चतर आय वाले वर्गों के लिये तथा उच्चतर की कुल बिक्री वाले व्यापारियो के लिए आयोग मे ऐसे एक-स्तर कर (single-point tax) की सिफारिश की जिसके कई स्तर हो। आयोग ने एक ऐसी सम्मिलित व्यवस्था का सुझाव दिया जिसमे ५,००० रु० या इससे अधिक की वार्षिक बिक्री वाले सभी व्यापारियो पर एक ऐसा बहु-स्तर कर लगाया जाए जिसकी दर ½ प्रतिशत से अधिक न हो। एक-स्तर कर के लिए कुल बिक्री की सीमा ऊँची होनी चाहिए, उदाहरण के लिए ४०,००० रु० प्रति वर्ष। एक-स्तर कर की दर तथा व्यापारियो की सख्या का निर्धारण, जिस पर कर लगाया जाना है, प्रत्येक राज्य को अपनी राजस्व की आवश्यकताओ तथा अन्य परिस्थितियो को देखकर ही करना चाहिये। एक-स्तर कर की ऊँची दरें ऐसी वस्तुओ पर लागू करनी चाहिए जो कि निर्धन वर्ग के लोगो के जीवन निर्वाह की परिधि मे न आती हो। यह आवश्यक नही है कि एक-स्तर कर को सभी प्रकार की वस्तुओं पर एक समान दर से ही लगाया जाए। आयोग के अनुसार, इन सुधारो को लागू करने से राज्यो को बिक्री कर का एक लचीला रूप प्राप्त होगा और एक सरल तथा अधिक युक्ति सगत कर-पद्धति के साथ ही साथ, उनको उससे आय भी अधिक मात्रा मे प्राप्त होने लगेगी।

मोटर गाड़ियो पर कर (Tax on Motor Vehicles) :

मोटर गाड़ियो पर सभी राज्यो मे कर लगाया जाता है। जिन गाडियो द्वारा वाहनो (vehicles) पर लगाया जाता है उनमे बसें, लारियाँ, कारें, स्कूटर, ओटो रिक्शा तथा अन्य सभी किस्म की मोटर गाडियाँ सम्मिलित हैं। इस कर की दरें तथा उनको लगाने का आधार सभी राज्यो मे भिन्न-भिन्न हैं। प्राइवेट कारो के लिए (मद्रास व महाराष्ट्र जैसे) कुछ राज्यो मे तो बिना लादा हुआ वजन आधार है और (पश्चिमी बगाल जैसे) अन्य राज्यों मे अधिकृत क्षेत्र तथा सीटो की क्षमता को आधार माना जाता है। माल-वाहनो के लिए कराधान का आधार मद्रास तथा महाराष्ट्र जैसे कुछ राज्यो मे लादा हुआ वजन है, पश्चिमी बगाल जैसे राज्यो मे बिना लादा वजन तथा उत्तर प्रदेश मे माल की अधिकृत लदाई है। अन्य वाहनो के कराधान मे भी अन्तर पाये जाते हैं। यदि वाहनो (vehicles) मे वायवीय अथवा वायुदाबी टायर (pnuematic tyres) लगे हैं, तब तो सामान्य दरें लागू की जाती हैं परन्तु यदि उनमे ठोस टायर (solid tyres) लगे हैं तो दरें सामान्यत. ५० प्रतिशत अधिक होती हैं। राज्य इस सम्बन्ध मे कुछ शुल्क या फीस (fees) भी लागू करते हैं, उदाहरण के लिए, वाहनो के रजिस्ट्रेशन तथा उनके स्वामित्व के हस्तान्तरण की फीस, वाहनो के चलाने के लायसेंस की फीस और सवाहको अथवा कन्डक्टरो को बिल्ले जारी करने की फीस आदि।

इस कर की प्राप्तियो का उपयोग राज्यो की सडको के विकास एव उनके रख-रखाव के लिये किया जाता है। सन् १९५० की मोटर गाडी कराधान जाँच समिति ने यह सिफारिश की कि प्रत्येक राज्य मे एक सडक निधि (road fund) की स्थापना की जानी चाहिए और इस स्रोत की सभी निवल प्राप्तियाँ उसमे जमा कर दी जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त, इस निधि मे सामान्य कर-आय मे से भी कुछ अशदान किया जाना चाहिये। समिति की सिफारिश के अनुसार, सडक निधियो की स्थापना से सडको के विकास तथा समुचित रख-रखाव (maintenance) को प्रोत्साहन मिलेगा जिसके परिणामस्वरूप मोटर-यातायात की लागत भी घटेगी। समिति ने इस सम्बन्ध मे भी सिफारिशें की कि सभी राज्यो मे करो की दरो तथा उनके आधार मे कुछ मात्रा मे एकरूपकता (uniformity) अवश्य लाई जानी चाहिये। समिति ने मोटर गाडियो के करो की उच्च सीमा के रूप मे दरो की एक सूची भी प्रस्तुत की। समिति का मत था कि लागतो (costs) तथा करो मे एकरूपता होने से अन्तर्राज्यीय यातायात तथा व्यापार को बढावा मिलेगा। समिति ने यह भी सिफारिश की कि मोटर गाडियो पर दोहरा कराधान नही होना चाहिये और यदि किसी गाडी या वाहन (vehicle) ने किसी राज्य मे कर अथवा लाइसेंस शुल्क अदा कर दिया है तो फिर अन्य राज्य में प्रवेश करने पर दुबारा कर नही लगाया जाना चाहिए।

अन्तर्राज्यीय यातायात (inter state traffic) की स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि कर की दरो मे एकरूपता रहे और दोहरा कराधान न हो। दरो की एकरूपकता हो सकता है कि प्राइवेट कारो के लिए इतनी आवश्यक न हो, परन्तु व्यापारिक वाहनो के लिए वह नितान्त आवश्यक है। जो बसें तथा लारियाँ एक राज्य मे पजीकृत (रजिस्टर्ड) हो चुकी हैं, उन्हे बिना किसी प्रतिबन्ध अथवा अतिरिक्त कराधान के हो दूसरे राज्य मे प्रवेश की अनुमति मिलनी चाहिए। ऐसे यातायात के नियम के लिये अनुज्ञा-पत्र (परमिट) आवश्यक होने चाहिए। भारत के अधिकाश राज्यो मे आजकल परमिट प्रणाली ही लागू है किन्तु अवाछनीय यह है कि अन्तर्राज्यीय आवागमन और अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए।

राज्य सरकारो की गत कुछ वर्षों मे मोटर गाड़ी पर कर से आय निम्न प्रकार से हुई है :—

वित्तीय वर्ष	मोटर स्प्रिट व मोटर गाड़ी पर कर से आय (करोड रु० में)
१९५१-५२	१० ००
१९५६-५७	२३ ७१
१९७३-७४	१४८ ४
१९७४-७५	१६७ ९
१९७५-७६	१८४ ०

अर्थ यह होगा कि उच्चतर आय वाले व्यक्ति से ही करो का अधिकाश भार उठाने की आशा की जायेगी। वास्तव मे न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त के अन्तर्गत ही ऐसा होता है कि सभी कर दाताओं का कुल त्याग निम्नतम (lowest) होता है। अत इस सिद्धान्त को न्यूनतम समस्त त्याग का सिद्धान्त (least aggregate sacrifice principle) भी कहा जाता है।

समस्या यह है कि इन तीनो मे सर्वोत्तम विचारधारा का चुनाव कैसे किया जाए? सस्थापक अर्थशास्त्री (classical economists) तो इन तीनो ही व्याख्याओं के बीच स्पष्ट रूप से भेद करने मे असमर्थ रहे। एडम स्मिथ के सामर्थ्य सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जा सकते हैं। स्मिथ का सिद्धान्त था कि "व्यक्ति अपनी-अपनी सम्बन्धित सामर्थ्य के अनुपात मे अशदान (contribution) करें, अर्थात् उस आय के अनुपात मे जो वे क्रमश प्राप्त करें।" इसका तो कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है, अर्थात्

(क) प्रत्येक को इतना अश (भाग) अदा करना चाहिए जिसका कि उसकी आय के साथ उचित सम्बन्ध हो, अथवा

(ख) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का एक समान अश (भाग) अदा करना चाहिए।

इनमे से प्रथम अर्थ तो सम्भवत समान पूर्ण त्याग के दृष्टिकोण का समर्थन करता है जबकि दूसरा अर्थ निश्चय ही *समान अनुपाती त्याग की ओर सकेत करता है।* दूसरी ओर, मिल ने समान त्याग के सिद्धान्त का समर्थन तो किया परन्तु 'समानता' (equality) की स्पष्ट रूप से परिभाषा नही की।[11] किन्तु बाद के लेखको ने यद्यपि त्याग की समानता की विचारधारा मे स्पष्ट रूप से भेद किया परन्तु वे इन विभिन्न विचारधाराओ के गुणो के सम्बन्ध मे एकमत नही हुए। **कोहन स्टुअर्ट** (Cohen-stuart) जैसे कुछ लेखको ने समान अनुपाती त्याग के विचारो को इस कारण प्रमुखता दी कि यही करदाताओ के कुल तुष्टिगुण की सापेक्षिक स्थिति (relative position) को अपरिवर्तित रखेगा। **मार्शल** (Marshall) तथा **सिजविक** (Sidgwick) जैसे कुछ अर्थशास्त्रियो ने समान पूर्ण त्याग को प्रमुखता दी। परन्तु **एजवर्थ** (Edgeworth) तथा **पीगू** (Pigou) ने *पूर्ण तथा अनुपाती त्याग के सिद्धान्तो को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि दोनो के बीच तर्क*-पूर्ण चयन (logical choice) का कोई आधार नही है। इसके विपरीत, उन्होने कल्याण (welfare) के आधार पर समान सीमान्त त्याग के सिद्धान्त का समर्थन किया, अर्थात् इस आधार पर कि न्यूनतम समस्त त्याग के कल्याण सम्बन्धी लक्ष्य को पूरा करता है।

समता अथवा समन्याय से कल्याण तक—नवीन प्रगतियाँ
(Recent Developments—From Equity to Welfare)

प्रारम्भिक लेखको ने, जहाँ समता अथवा समन्याय (equity) तथा वितरण न्याय (distributive justice) के सिद्धान्त पर जोर दिया, वहाँ बाद के लेखक कल्याण पर जोर देने लगे। इस प्रकार *विचारधारा समता से कल्याण की ओर को चली।* इस *सम्बन्ध मे यहाँ हम तीन* दृष्टिकोणों मे निम्न प्रकार भेद कर सकते हैं —

(क) कराधान के अन्तिम सिद्धान्त के रूप मे समान सीमान्त त्याग का सिद्धान्त।

(ख) कराधान का सामाजिक कल्याण सिद्धान्त, और

(ग) आय तथा व्यय का अधिकतम कल्याण सिद्धान्त।

अब तक इन तीनो ही दृष्टिकोणो की विवेचना करेंगे।

कराधान के अन्तिम सिद्धान्त के रूप में—समान सीमान्त त्याग
(Equal Marginal Sacrifice as the Ultimate Principle of Taxation)

एजवर्थ (Edgeworth) तथा **पीगू** (Pigou) ने समान सीमान्त त्याग के सिद्धान्त का समर्थन समता (equity) के आधार पर नही किया बल्कि कल्याण (welfare) के आधार पर किया। एजवर्थ ने कल्याण-नियम की इस मान्यता को स्वीकार किया है व्यक्तियो की आय को

11 Musgrave; *op. cit.* p 98

गत कुछ वर्षों मे बिजली कर से राज्य सरकारो को होने वाली आय का अनुमान निम्न तालिका की सहायता से लगाया जा सकता है :—

वित्तीय वर्ष	आय (करोड रु० मे)
१९५१-५२	३ ४०
१९५६-५७	५ ८१
१९६१-६२	१४ ८९
१९६५-६६	३५ ३६
१९७०-७१	६७ २०
१९७१-७२	७३ ९०
१९७२-७३ (बजट)	७७ ००
१९७३ ७४	८१ ३
१९७४-७५	९७ ५
१९७५-७६	१०१ १

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1 R N Bhargava Indian Public Finance, Chapters IV and V
2 Raja J Chelliah Fiscal Policy in Under Developed Countries, Chapter IV
3 Harvard Law School, Taxation in India, Chapters 4, 16 and 17.
4 A B Ghose Sales Tax in India

UNIVERSITY QUESTIONS

१ भारत के नवीन सविधान के अनुसार राज्य-सरकारो के आय-व्यय के स्त्रोतो का वर्णन कीजिए।

Give the main sources of revenue and expenditure of State Governments according to new constitution of India

२ राज्य सरकारो की आय के प्रमुख स्रोतो का वर्णन कीजिए तथा बिक्रीकर के औचित्य पर प्रकाश डालिये।

Describe the chief sources of revenue of State Governments and give the justification of Sales-tax

३ भारत मे बिक्रीकर का भार किसको सहना पडता है ? बिक्री कर के दोषो का उल्लेख कीजिए तथा उनको दूर करने के लिए सुझाव दीजिये।

Who bears the incidence of sales-tax in India ? Mention the defects of sales-tax and give your suggestions for removing them.

४. भारत मे राज्य सरकारो के वित्त मे हाल की प्रवृतियो की जाँच कीजिये।

Examine the recent trends in the finances of State Governments in India

मनोरंजन कर
(Entertainment Tax)

मनोरंजन कर सिनेमा, थियेटर, सरकस तथा स्पोर्टस आदि मनोरंजन के स्थानो पर लगाये जाने वाले टिकटो के मूल्य पर लगाया जाता है। यह कर मनोरजन के प्रबन्धको से वसूल किया जाता है जो कि बाद मे इसे बेचे जाने वाले टिकटों के मूल्य मे जोड देते है। यह कर आमतौर पर एक समान दर से लगाया जाता है इसलिए इसकी बाह्यता (incidence) उपभोक्ता द्वारा खरीदे गये टिकट के मूल्य के अनुपात मे निश्चित होती है। इसमे छूटें तब दी जाती हैं जबकि किसी प्रदर्शन अथवा शो की सम्पूर्ण प्राप्तियाँ किसी लोकोपकारी, धार्मिक, पुण्यार्थ अथवा राष्ट्रीय कार्यो के लिए दे दी जाती हैं अथवा जब प्रदर्शन पूर्णतया शिक्षा, कृषि, उद्योग अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रसार अथवा सुधार के लिये किया जाता है।

कुछ राज्यो मे, इन करो को लगाने का अधिकार स्थानीय निकायो को सौप दिया गया है। दिल्ली मे यह कर निगम (Municipal Corporation) द्वारा लगाया जाता है। राजस्थान मे मनोरजन कर एकत्र करने का अधिकार पचायत समितियो को है। कुछ राज्यो मे, प्राप्तियों (proceeds) का कुछ भाग उन स्थानीय निकायो (local bodies) को दे दिया जाता है जिनके क्षेत्र मे इस कर का सग्रह किया जाता है।

गत कुछ वर्षों मे मनोरजन कर से राज्य सरकारो को होने वाली आय का अनुमान निम्न तालिका की सहायता से लगाया जा सकता है —

वित्तीय वर्ष	आय (करोड रु० मे)
१९५१-५२	६ ००
१९५६-५७	६ ५३
१९६५-६६	२९ ४४
१९७०-७१	५७ ५०
१९७१-७२	६६ ००
१९७२-७३ (बजट)	७४ ८०
१९७३-७४	९९·६
१९७४-७५	१२० ०
१९७५-७६	१३२ ४

बिजली कर
(Electricity Duties)

बम्बई सबसे पहला राज्य था जिसने सन् १९३२ मे बिजली उपयोग पर कर लगाया। फिर अन्य राज्यो ने इसका अनुसरण किया। आजकल असम और जम्मू व कश्मीर को अन्य सभी राज्यो मे यह कर लगाया जाता है। सविधान के अनुसार, राज्यो को यह अधिकार प्राप्त है कि वे बिजली के उपभोग पर लगाये किन्तु यदि बिजली के उपभोग सघ सरकार अथवा किसी रेलवे द्वारा किया जाता है तो उस पर कोई कर नही लगाया जाता।

यह कर बिजली का सभरण (supply) करने वाली कम्पनियो से एकत्र किया जाता है जो कि उसे बाद मे उपभोक्ताओ से वसूल कर लेती है। कुछ राज्यो मे औद्योगिक उद्यमो को भी इस कर की अदायगी से मुक्त रखा जाता है। यह कर सामान्यत एक समान दर से लगाया जाता है जो कि वान्छनीय (desirable) नही है। होना यह चाहिए कि बडे उपभोक्ताओं पर कर का अधिक भार पडे। अत कर की आरोही दरें अधिक उपयुक्त हैं।

संघ सरकार की कर-इतर आय

वर्ष	कर-इतर आय (Non-tax Revenue) (करोड रु० मे)
१९७३-७४	११७७·८
१९७४-७५	१५८१·२
१९७५-७६	१६५६ ४
१९७६-७७ (सशोधित)	२११५ ३२
१९७७-७८ (बजट)	२३३४ ५५

प्रशासनिक प्राप्तियाँ मे कुछ ऐसे विभागो से उपलब्ध होने वाली प्राप्तियाँ सम्मिलित की जाती हैं जैसे कि असैनिक निर्माण (civil works), सिचाई, चिकित्सा तथा शिक्षा विभाग आदि। जैसा कि उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है, विगत वर्षो मे इन प्राप्तियो मे वृद्धि होती रही है। सरकारी उद्यमो के निबल अशदानो मे रेलो, डाक व तार तथा अन्य उद्यमो द्वारा दिए जाने वाले लाभाश (dividends) तथा मुद्रा एव टकसाल (currency and mint) से प्राप्त लाभ भी सम्मिलित है। परन्तु कर-इतर आय का सबसे बड़ा एकमात्र स्रोत ब्याज की वे प्राप्तियाँ हैं जो रि राज्यो तथा औद्योगिक निगमो को दिये जाने वाले कर्जो से उपलब्ध होती हैं। चूँकि राज्यो को दिये जाने वाले कर्जो (loans) की मात्रा कई गुनी बढ गई है अत उनके परिणामस्वरूप ब्याज की आय मे भी कई गुनी वृद्धि हो गई है।

निम्न तालिका राज्यो की कर-इतर आय की एक झलक प्रस्तुत करती है :—

तालिका—२

राज्यों की कर-इतर आय

(करोड़ रु० मे)

मद	१९५१-५२ (लेखे)	१९६६-६७ (लेखे)	१९६८-६९ (बजट)	१९७२-७३ (बजट)
प्रशासनिक प्राप्तियाँ	३८ १	१६४ ०	१८१ ६	२१३ २
सरकारी उद्यमो का निबल अशदान	२४ ९	६४ ३	८५ ५	११९ ७
ब्याज प्राप्तियाँ तथा अन्य	२६ ९	२०४ ०	२९४ ३	३८३·३
सहायक अनुदान	२५ ४	३९७ २	४४७ ७	८०५·८
कुल कर-इतर आय	११५ ३	८२९·५	१००९·१	१४२२·३

स्रोत भारतीय रिजर्व बैंक की विज्ञप्तियाँ

सरकारी उद्यम
(Public Enterprises)

अन्य देशो के समान ही इस देश मे भी, कुछ उद्यम सदा से ही राज्य द्वारा अधिकृत तथा सचालित रहे हैं। इनमे डाक व तार, मुद्रा व टकसाल और राष्ट्रीयकरण के बाद से रेलवे सम्मिलित हैं। राज्यो द्वारा सचालित कुछ अन्य उद्यम इस प्रकार हैं—वन, अफीम, सिंचाई, बिजली और सडक व जलपरिवहन की योजनाएँ। देश के योजनाबद्ध विकास (planned dovelopment) ने अर्थव्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र (public secter) के विस्तार को आवश्यक बना दिया है और सरकार समय-समय पर इस सम्बन्ध मे अपनी नीति पर पुनर्विचार करती रही

कर-इतर आय के स्रोत—सरकारी उद्यम
(Non-Tax Revenues—Public Enterprises)

भारत मे कर-इतर आय के स्रोतो का महत्व दिनोदिन बढता जा रहा है। भारतीय पचवर्षीय योजनाओ के सन्दर्भ मे इन स्रोतो का महत्व और बढ गया है। सघ राज्य सरकारे, दोनो ही कर-इतर स्रोतो(non-tax sources) से कुछ आय प्राप्त करती है। इन स्रोतो मे प्रशासनिक प्राप्तियाँ तथा सरकारी उद्यमो के निवल अशदान (net contribution) सम्मिलित है। निम्न तालिका सघ सरकार (*Union Government*) के *कर-इतर स्रोतो का एक आंशिक चित्र* प्रस्तुत करती है —

तालिका—१

संघ सरकार की कर-इतर आय

(Non-Tax Sources of Central Govt)

(करोड रु० मे)

मद	१९५०-५१ (लेखे)	१९६६ ६७ (लेखे)	१९६८-६९ (बजट)	१९७३ ७४ (बजट)
प्रशासनिक प्राप्तियाँ	१२ ५	४७ ६	५३ ०	१४ ७
सरकारी उद्यमो के निवल अशदान	२३ २	८७ ३	१०६ ६	३६० १०
ब्याज प्राप्तियाँ तथा अन्य	१३ ०	४०३ ९	४७९ ४	७७१·००
कुल कर-इतर आय	४८ ६	५३९ १	६३९ ०	११४५ ८

(स्रोत भारतीय रिजर्व बैंक की विज्ञप्तियाँ)

हाल के कुछ वर्षो मे सघ सरकार को कर-इतर आय के स्रोतो से होने वाली आय का अनुमान निम्न तालिका की सहायता से लगाया जा सकता है—

सामाजिक कार्यों के लिए सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं को देखते हुए सामान्य राजस्व के लिए डाक व तार की बेशियों के उपयोग से बचा नहीं सकता। अपनी राजस्व की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकार ने भी भारी प्रत्यक्ष कर लगाये हैं, उनका सन्तुलन बनाये रखने के लिए भी यह परोक्ष कर आवश्यक है।

सन् १९५९-६० में, सामान्य राजस्व में इस विभाग का निवल अंशदान ५ करोड रु० था। इसके पश्चात् कुछ नई व्यवस्थाओं के कारण यह अंशदान घट गया। सन् १९७१-७२ के बजट-प्रस्तावों में इसकी अनुमानित आय १५ ४२ करोड रु० थी।

मुद्रा तथा टकसाल (Currency and Mint) -

समाज के लिए स्थित मुद्रा की व्यवस्था करना सरकार का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है। चूंकि मुद्रा का एक बड़ा भाग प्रतीक सिक्कों (token coins) के रूप में होता है अत. इस प्रक्रिया में सरकार लाभ कमा लेती है। प्रामाणिक सिक्के (standard coins) आजकल कहीं चलन में नहीं हैं अत कागजी मुद्रा तथा प्रतीक सिक्कों को जारी करने से राज्य को प्राप्त हो जाती है।

भारत में, मुद्रा से प्राप्त होने वाली आय में ये मदें सम्मिलित हैं : रिजर्व बैंक के निवल लाभ, जो कि अब एक सरकारी उद्यम है, नोटों (currency notes) को छापने से होने वाली प्राप्तियाँ (receipts) और प्रतीक सिक्कों से होने वाले लाभ। रिजर्व बैंक के लाभों में वृद्धि हो रही है और इस खाते से सामान्य राजस्व में किया जाने वाला अंशदान भी बराबर बढ रहा है। भारत में सम्पूर्ण ढलाई (coinage) प्रतीक सिक्कों की ही होती है और इस कारण टकसाल आय का एक लाभदायक स्रोत बन गई है। वर्तमान व्यवस्थाओं के अनुसार, भारत में सिक्का-ढलाई के समस्त लाभ उचत खाते (suspense account) में जमा किये जाते हैं और उसमें से एक निश्चित धनराशि प्रतिवर्ष सामान्य राजस्व (general revenue) में स्थानान्तरित कर दी जाती है। स्थानान्तरित की जाने वाली इस धनराशि की मात्रा उचत खाते की स्थिति के अनुसार बदलती रहती है।

मुद्रा तथा टकसाल से होने वाली आय में पिछले कुछ वर्षों में लगातार वृद्धि होती रही है। मुद्रा चलन में (currency circulation) का विस्तार इसका मुख्य कारण रहा है। गत कुछ वर्षों में मुद्रा तथा टकसाल से प्राप्त आय का अनुमान निम्न तालिका की सहायता से लगाया जा सकता है —

वित्तीय वर्ष	आय (करोड रु० में)
१९६५-६६	६३ ६
१९६८-६९	८५ ४
१९७२-७३	१४६ ६
१९७३-७४ (बजट)	१५४ ५

सिंचाई (Irrigation)

भारत एक कृषि-प्रधान देश है अत उसके लिए सिंचाई का महत्व बिल्कुल स्पष्ट है। हमारे देश में सिंचाई सुविधाओं की अधिकतर व्यवस्था राज्य द्वारा ही की जाती है। सिंचाई योजनाओं तथा तत्सम्बन्धी निर्माण-कार्यों में शुरू में इतना अधिक निवेश करना पड़ता है, और सिंचाई व्यवस्थाओं के संगठन तथा उनके रख-रखाव का कार्य इतना विशाल होता है कि केवल सरकार ही ऐसी प्रयोजनाओं का निर्माण तथा प्रबन्ध कर सकती है। इस प्रकार, हमारे देश में सिंचाई सुविधाओं का विस्तार एक मुख्य सरकारी उद्यम बन गया है।

ब्रिटिश काल में, तत्कालीन प्रान्तों (provinces) ने कुछ सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था की थी और पंजाब तथा यू० पी० में नहरों के निर्माण की दिशा में ठोस कार्य किया था। परन्तु देश की कुल आवश्यकताओं को देखते हुए, प्रदान की जाने वाली ये सिंचाई सुविधाएँ थोडी थी। स्वतन्त्रता से पूर्व, कुल बोये हुए क्षेत्र के केवल १५ प्रतिशत भाग पर ही सरकार द्वारा सिंचाई की

है कि कौन-कौन से उद्योग सरकारी क्षेत्र मे रहने चाहिए और कौन से गैर सरकारी क्षेत्र (private sector) मे। इस सम्बन्ध मे वर्तमान नीति सन् १९५६ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव द्वारा निर्धारित की गई है। इस प्रस्ताव के अनुसार उद्योगो को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया गया है। प्रथम श्रेणी मे १७ उद्योग आते है जिनके भावी विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य पर ही है। इन उद्योगो (industries) मे कुछ महत्वपूर्ण उद्योग है—अस्त्र-शस्त्र तथा गोला बारूद और अन्य प्रतिरक्षा सम्बन्धी उद्योग अणु-शक्ति, रेल यातायात, लोहा व इस्पात, खनिज तेल तथा बिजली आदि। दूसरी श्रेणी मे १२ उद्योग आते हैं जिनमे खानें, मशीनी औजार, रसायन तथा प्रति जीवाणु (antibiotics) उद्योग सम्मिलित है। इन उद्योगो मे नई इकाइयो का श्रीगणेश तो राज्य की ओर से किया जाता है किन्तु निजी उद्यम भी उनमे हाथ बटा सकते हैं और उनका विकास कर सकते है। तीसरी श्रेणी मे शेष सब उद्योग रखे गये हैं जिनका विकास मुख्यत निजी अथवा गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा ही किया जाता है। किन्तु इन उद्योगों को भी विभिन्न प्रकार से राज्य सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार, राज्य ने अपनी औद्योगिक क्रियाओ के क्षेत्र का काफी विस्तार कर लिया है और इस स्रोत से प्राप्त होने वाली सरकारी आय मे तेजी से वृद्धि हो रही है।

डाक व तार (Post and Telegraph).

यद्यपि डाक व तार विभाग वाणिज्यिक आधार पर काम करता है। किन्तु फिर भी, रेलवे वित्त की तरह से इसके वित्त को केन्द्र सरकार के सामान्य राजस्व से पृथक् नही किया गया है। काफी समय पूर्व ही सरकार ने यह निश्चय किया था कि चूँकि यह विभाग (department) निर्धनो तथा धनिको की समान रूप से सेवा करता है और देश के आर्थिक विकास मे अपना योग देता है, अत इस पर यह बोझ नही डाला जाना चाहिए कि यह सामान्य राजस्व (general revenues) मे अपना कोई अशदान दे। अत इस विभाग के कार्य-सचालन मे जो भी बचत या हानि होती है वह सामान्य राजस्व मे डाल दी जाती है।

युद्धकाल मे, सरकार ने इस विभाग द्वारा अतिरिक्त आय मे वृद्धि की सम्भावनाओ को कार्यरूप मे परिणत किया। फलत दिसम्बर सन् १९४० मे डाक व तार की दरें बढा दी गई और यह निश्चय किया गया कि दरो मे वृद्धि से जो बढी हुई प्राप्तियाँ उपलब्ध होगी उन्हे प्रतिवर्ष अलग किया जायेगा और वे सब की सब सामान्य राजस्व मे स्थानान्तरित कर दी जायेंगी। बाद मे, दरो मे और वृद्धि की गई, फलत सामान्य राजस्व मे उनका अशदान भी बढा। युद्ध काल मे, विभाग की लगभग सम्पूर्ण बेशी (surplus) सामान्य राजस्व मे डाल दी जाती थी। युद्धोत्तर काल मे, इन बेशियो का केवल एक निश्चित भाग ही सामान्य राजस्व मे डाला जाने लगा और शेष भाग विभाग के पास ही रखा जाने लगा। १ अप्रैल, १९६० से डाक व तार विभाग को भी उसी स्थिति मे रख दिया गया है जिसमे कि रेलवे विभाग है। अब यह विभाग भी, रेलवे विभाग के समान ही सामान्य राजस्व मे एक निश्चित लाभाश (dividend) प्रदान करता है। लाभाश की दर वर्ष की औसत ब्याज देय पूँजी (mean capital at charge) पर वही होती है जो कि रेलवे के लिए समय-समय पर लागू की जाती है। बेशी का शेष भाग विभाग द्वारा ही रख लिया जाता है जिसका उपयोग वह अपनी आरक्षण निधियो को विशेष रूप से पुनर्नवन आरक्षण निधि (renewal reserve fund) को शक्तिशाली बनाने मे करता है।

सरकार ने डाक व तार सेवाओ के एकाधिकार (monopoly) का उपयोग सामान्य बजट (general budget) की आय-वृद्धि के लिए किया। इस स्रोत की आय बढाने के उद्देश्य से प्राय इसकी दरो मे सशोधन किये जाते रहे हैं। अन्य स्रोतो के समान ही इस स्रोत से भी समय समय पर आय बढाने का प्रयत्न किया गया है। लोगो ने सरकार की इस नीति की आलोचना की है। कहा जाता है कि डाक व तार एक जनोपयोग सेवा (public utility service) है और इसका सगठन सरकार को आय प्रदान करने की बजाए समाज को लाभ पहुँचाने के लिए अधिक होना चाहिए। इससे आय प्राप्त करना तो एक गौण लक्ष्य होना चाहिए और इसकी बेशियो (surpluses) का उपयोग इसकी दरो को कम करने तथा ऐसे क्षेत्रों मे इस विभाग की सेवाओ का विस्तार करने के लिए किया जाना चाहिए जहाँ कि अभी तक ये नही पहुँच सकी हैं। परन्तु विभाग तथा

सन् १९५१-५२ मे, विद्युत योजनाओं से सभी राज्यों को कुल ३ करोड़ रु० की आय हुई। सन् १९६८-६९ के बजट अनुमानों के अनुसार इस स्रोत से कुल १५ करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा थी।

सड़क व जल परिवहन की योजनाएँ (Road and Water Transport Scheme) :

द्वितीय विश्वयुद्ध के एकदम पश्चात् राज्य सरकारो ने सडक परिवहन के क्षेत्र मे प्रवेश किया। सडक परिवहन के राष्ट्रीयकरण को जनता का अधिक समर्थन तो नही मिला किन्तु राज्य सरकारें शनैः-शनैः इस दिशा मे आगे बढती रही। आजकल विभिन्न राज्यों में सड़क परिवहन (road transport) का एक बडा भाग सरकारी क्षेत्र (public sector) मे ही है। धन का उपयोग अच्छे वाहनो तथा अच्छी सेवाओ की व्यवस्था करने मे किया जाता है। राज्य परिवहन सेवाओं ने बसो के नियमित समय पर छूटने, निर्धारित स्थानो पर रुकने तथा निर्धारित किरायो, बैठने की आरामदायक सीटों तथा अन्य सुविधाओं के विषय मे जनता को आश्वस्त किया है। नियमित बस स्टैण्ड बनाये गये है और वहाँ यात्रियो के आराम की व्यवस्थाएँ की गई है। विभिन्न स्थानो की सेवाओ मे अच्छी ताल-मेल बिठाई गई है और विभिन्न स्थानो के लिए जाने वाली बसो की संख्या भी काफी अधिक है। किन्तु अनेक मामलो में दरें अवश्य बढा दी गई है। इसका आंशिक कारण तो सामान्य कीमतो मे होने वाली वृद्धि है और आंशिक कारण यह है कि राष्ट्रीयकरणकृत बस सेवाओ के कर्मचारियों के लिए सेवा की अच्छी शर्तों की व्यवस्था की गई है। राष्ट्रीयकरणकृत बस सेवाओ के बारे मे आम शिकायतें यह की जाती हैं कि वाहनो के असावधानी पूर्वक उपयोग के कारण उनमें टूट-फूट बहुत होती है और इनके कर्मचारियों में शिष्टाचार का अभाव होता है। इन सब बातो से राष्ट्रीयकरण के लाभो का कोई स्पष्ट संकेत नही मिलता।

सन् १९५१-५२ में सडक तथा जल परिवहन योजनाओ से सभी राज्यो को कुल १ करोड रु० की आय हुई। इन प्राप्तियो मे आगे और वृद्धि हुई तथा सन् १९६८-६९ के बजट मे इस मद से ६ करोड रु० की प्राप्ति की आशा की गई थी।

पूँजीगत प्राप्तियाँ
(Capital Receipts)

जैसा कि आप जानते है कि बजट का एक भाग पूँजीगत बजट होता है जिसमे कि प्राप्तियों की मदें राजस्व बजट से पृथक होती है। उदाहरण के लिए, राजस्व बजट में प्राप्तियाँ सामान्यत करो व गैर-करो को स्रोतो (Tax and Non-tax revenue) से प्राप्त होती है जबकि पूँजीगत बजट मे प्राप्तियाँ सामान्यत ऋणों से होती है। गत कुछ वर्षों मे पूँजीगत प्राप्तियो का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है—

पूँजीगत प्राप्तियाँ (Capital Receipts)

(करोड रु० मे)

मद	१९७०-७१	१९७४-७५	१९७५-७६ (संशोधित)	१९७६-७७ (संशोधित)	१९७७-७८ (बजट)
ऋणो की अदायगी	६२३	११८८	१४५१	१५६०	१८०३
बाजार ऋण (शुद्ध)	४२८	५८१	४५३	८४६	१०००
बाहरी ऋण (शुद्ध)	५२६	५५१	६८२	७३४	८६४
अन्य पूँजीगत प्राप्तियाँ	६४७	४५४	१५४४	२०७६	२२४५
	२५२४	२७७४	४१३०	५२५२	५६४२

सुविधाएँ प्रदान की जा सकी थी। स्वतन्त्रता के बाद की अवधि से, इन सुविधाओ का और विस्तार किया गया। पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत बनाई जाने वाली बहु-उद्देशीय नदी घाटी प्रयोजनाओं (multi-purpose river valley projects) द्वारा इस दिशा मे बहुत कार्य किया गया है।

सिंचाई की दरें सभी राज्यों मे अलग-अलग है। इसकी दरें कई तत्त्वों पर आधारित होती है जैसे खेती का क्षेत्र, उगाई जाने वाली फसल की किस्म, उपयोग किये गये जल की मात्रा तथा निर्माण-कार्यों की लागत। इसकी दरो का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे किसानों के लिये तो उचित एव न्यायपूर्ण हो और सचालन व्यय तथा पूँजी के ब्याज की पूर्ति के लिये सरकार को यथेष्ट आय भी प्रदान करें। योजना आयोग (planning commission) ने ऐसी जमीन पर समुन्नति कर (betterment tax) लागू करने की सिफारिश की जिन्हे सिंचाई सुविधाओ मे लाभ पहुँचता है। आयोग ने नये निर्माण-कार्यों की ऊँची लागत, उनके रख-रखाव के बढते हुए व्यय तथा कृषि-मूल्यो की वृद्धि को देखते हुए सिंचाई की दरें भी बढाने की सिफारिश की। ऐसे समुन्नति कर कुछ राज्यों में लागू किये गये और सिंचाई की दरो मे भी वृद्धि की गई। तथापि, जनता की ओर से ऐसे करो का जो विरोध हुआ है, उससे इन करो को लागू करने का काम कुछ धीमा पड गया है।

इस स्रोत के राज्यो को होने वाली आय वर्ष के वर्ष बदलती रही है। सन् १९५०-५१ मे यह ८ करोड रु० थी किन्तु १९५६-५७ मे बढ कर १० ९० करोड रु० हो गई। सन् १९६८-६९ के बजट मे इस मद से लगभग १३ करोड प्राप्त होने का अनुमान था।

वन (Forests)

यद्यपि भारत मे वनो का पूर्णतय शोषण नही किया गया है किन्तु फिर भी सरकार को इस स्रोत से कुछ आय प्राप्त होती है। सरकार को वनो से कुछ वस्तुएँ मिलती है जिनकी बिक्री से उसे आय प्राप्त होती है। ये वस्तुये है इमारती लकडी, ईंधन, बाँस, चारा, घास और कुछ अन्य पदार्थ जैसे की लाख, गोद, बिरोजा (राल), चमडा कमाने का सामान तथा औषधियो मे काम आने वाली जडी-बूटियाँ आदि। यदि वन-साधनो का और विकास किया जाए तो इनसे प्राप्त आय मे वृद्धि हो सकती है। वनो से राज्यो को प्राप्त होने वाली आय मे अभी हाल के वर्षों मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सन् १९५१-५२ मे, सभी राज्यो को इस स्रोत से प्राप्त होने वाली कुल आय १३ करोड रु० थी। सन् १९६६-६७ मे, यह बढकर ४९ करोड रु० हो गई। सन् १९६८-६९ के राज्यो के बजटो के अनुसार, इस स्रोत से कुल ५१ करोड रु० प्राप्त होने का अनुमान था। वनो से केन्द्र सरकार को भी कुछ आय प्राप्त होती है। वनो के सुधार तथा विकास की जो योजनाएँ हाथ मे ली जा रही हैं, उन्हे देखते हुए इस स्रोत से प्राप्त होने वाली आय मे और वृद्धि की आशा की जा सकती है।

विद्युत् योजनाएँ (Electricity Schemes):

अनेक राज्यो मे बिजली उद्यमो का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। उत्तर प्रदेश मे, यह प्रक्रिया (process) सन् १९४७ मे आरम्भ हुई और मद्रास मे सन् १९४९ के बाद मे। अन्य राज्यो ने भी इसका अनुसरण किया। इसका कारण सर्वत्र एक ही था और वह यह कि बिजली उद्योग एव जनोपयोगी उद्योग है अत निजी एकाधिकार (privat monopoly) इसके लिए न उचित है, न वाछनीय। इसके कुशल प्रबन्ध तथा सार्वजनिक हित मे इसके सचालन की गारन्टी केवल तभी दी जा सकती है जबकि इस पर सरकार का स्वामित्व तथा नियन्त्रण हो। किन्तु इस नीति के विरोध मे भी कुछ तर्क दिये जाते हैं। किसी प्रचलित उद्योग का राष्ट्रीयकरण सदा राष्ट्रीय हित मे ही होगा, ऐसा तो नही कहा जा सकता। फिर निजी एकाधिकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत भी लाभाश की दरें बदलती रहती है और कार्य करने की दशायें, भारतीय बिजली कर अधिनियम के अन्तर्गत, राज्य द्वारा नियन्त्रित की जाती है। इस प्रकार, यद्यपि बिजली उद्यम एकाधिकारी होते है, फिर भी वे उपभोक्ताओं का शोषण (exploitation) नही कर सकते। अत. राज्य सरकारो के साधनो का उपयोग पुराने उद्यमो को अपने हाथ मे ले लेने के बजाय, नये उद्यमो की स्थापना मे अधिक अच्छी प्रकार किया जा सकता है।

भारत में कृषि कराधान
(Agriculture Taxation in India)

सन् १९६७ के प्रारम्भ से ही, अनेक राज्य सरकारों ने भू-राजस्व या मालगुजारी (land revenue) को पूर्णतया अथवा अंशतया या तो समाप्त कर दिया है अथवा वे इस प्रकार का पग उठाने के बारे में गम्भीरता से विचार करती रही है। एक समय ऐसा भी आया है, जबकि योजना आयोग तथा साथ ही अर्थशास्त्रियों ने कृषि पर अतिरिक्त कराधान (additional taxation) के सम्बन्ध में अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किये हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के समय, दूरदर्शी योजना विभाग (planning division) ने यह सुझाव दिया था कि भू-राजस्व पर एक आरोही अधिभार (progressive surcharge) तथा वाणिज्यक फसलों वाले क्षेत्र पर अधिभार लगाया जाए। कुछ लोगों ने यह भी सुझाव दिया कि वर्तमान भूमि कर (land tax) के स्थान पर कृषि आय पर कर लगाया जाए। इस प्रकार, आर्थिक विकास के संदर्भ में कृषि कराधान के सम्पूर्ण प्रश्न पर गम्भीर विचार होता रहा है।

विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए कृषि कराधान की महत्ता
(Importance of Agricultural Taxation for a Developing Economy)

भारत जैसे देश की विकासशील अर्थव्यवस्था में, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में कृषि को सबसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है फलत, कृषि से यह आशा की जा सकती है कि वह आर्थिक विकास की लागत का एक ठोस भाग वहन करेगी। अपने आर्थिक विकास की वित्तीय व्यवस्था के लिए कृषि पर भारी कराधान लगभग अनन्य कराधान (exclusive taxation) लगाकर रूस और जापान ने ऐतिहासिक मिशालें कायम की हैं। भारतीय योजना निर्माता तथा साथ ही साथ भारतीय अर्थशास्त्री, जिनमें कि अधिकांश रूसी आर्थिक व्यवस्था के स्पष्ट प्रशंसक रहे हैं, निश्चत ही यह पसंद करेंगे कि भारतीय कृषि आर्थिक विकास के भार का अपेक्षाकृत अधिक भार वहन करें।

यह बात सर्व विदित है कि विकास की प्रक्रिया के मध्य कृषि ही अर्थव्यवस्था के शेष भाग को अधिकाधिक मात्रा में खाद्यान्न तथा कच्चा माल प्रदान करती है। उत्पादन तथा बाजार में बिकने योग्य माल में वृद्धि करनी होती है ताकि गैर-कृषि क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके और साथ ही, देश की मानव शक्ति के बढ़ते हुए अनुपात को कम किया जा सके। एक विकसित अर्थव्यवस्था (developed economy) के अन्तर्गत, आर्थिक प्रेरणाएँ (economic

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. R N. Bhargava : *The Theory and Working of Union Finance in India*, Chapter XV.
2. R.N. Bhargava · *Indian Public Finances*, Chapter VI
3. Third Five Year Plan, pp. 94-97 and 100-103
4. Taxation Enquiry Commission, *Report*. Vol. I, Chaps. IX and X.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१ भारत सरकार की कर-इतर आय की प्रमुख प्रवृतियो का सक्षेप मे वर्णन कीजिये।
Describe in brief the non-tax revenue Government of India.

२ निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिये :
(i) कर-इतर आय के स्रोत।
(ii) पूँजीगत प्राप्तियां।

उनके द्वारा प्राथमिकता (preference) के अनुसार छाँटी गई विभिन्न वस्तुओं की सन्तुष्टि (satisfaction) में वितरित करके उनके कल्याण की मात्रा अधिकतम की जानी चाहिए; साथ ही, कल्याण की हानि न्यूनतम होनी चाहिए। सीमान्त आय की उपयोगिता के घटने में विश्वास करके, (अर्थात् यह कि अतिरिक्त आय की उपयोगिता उसी प्रकार घटती है जिस प्रकार कि उपभोग की जाने वाली किसी भी वस्तु की प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता घटती है, एजवर्थ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कल्याण अधिकतम तभी होता है जबकि सीमान्त उपयोगिता (marginal utilities) समान हो, अर्थात् जब सभी व्यक्तियों की आय समान हो। अतः ऐजवर्थ के इस विश्लेषण (analysis) के अनुसार यदि समान सीमान्त त्याग के आधार पर कराधान को लागू किया जाय तो उसका परिणाम समुदाय (Community) अधिकतम कल्याण के रूप में ही सामने आयेगा।

पीगू (Pigou) इससे भी एक कदम और आगे बढ़े। उन्होंने कहा कि न्यूनतम समस्त-त्याग (least aggregate sacrifice) का अधिकतम समस्त कल्याण (maximum aggregate welfare) की विचारधारा से सम्बन्ध है। उन्होंने इसमें से प्रथम का तर्क सगत समर्थन किया क्योंकि प्रथम विचारधारा द्वितीय विचारधारा के उद्देश्य की पूर्ति करती है। पीगू का कहना था कि "इस विषय में सामान्यरूप से सहमति पाई जाती है कि सरकार की सभी क्रियाओं का सचालन इस उद्देश्य से किया जाना चाहिए कि उससे सभी नागरिकों के कल्याण में अधिकतम सम्भव मात्रा में वृद्धि हो...... ...जहाँ तक राजनैतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध है, यह बात सर्वत्र स्वीकार की जाती है कि सरकार का उचित लक्ष्य (goal) अधिकतम समस्त कल्याण ही होना चाहिए.........कराधान के विशिष्ट क्षेत्र में यह सामान्य सिद्धान्त न्यूनतम त्याग (least sacrifice) के सिद्धान्त के ही अनुरूप है। मुझे इसी मान्यता की प्रेरणा प्रत्यक्षत "अन्तर्ज्ञान में ही मिली प्रतीत होती है।"[12] इससे स्पष्ट है कि पीगू के अनुसार, प्रत्येक सरकार का यह एक नैतिक कर्त्तव्य होता है कि वह जनता के अधिकतम कल्याण के लिए प्रयत्न करे। यदि वह ऐसा करती है तो उसे एक ऐसी कर-पद्धति अपनानी होगी जिसका उद्देश्य न्यूनतम समस्त त्याग (least aggregate sacrifice) हो क्योंकि करों की अन्य कोई भी पद्धति अधिकतम कल्याण को कम कर देगी।

इसके पश्चात पीगू ने कराधान के अन्तिम सिद्धान्तों के रूप में न्यूनतम समस्त त्याग को समान त्याग (equal sacrifice) के साथ तुलना की। सिजविक (Sidgwick) तथा मार्शल (Marshall) ने समान त्याग का समर्थन किया—अर्थात् यह कि एक से तथा एक सी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के साथ एक समान व्यवहार किया जाना चाहिए जिसमें कि वे कराधान (taxation) के परिणामस्वरूप समान मात्रा में त्याग का अनुभव करें। परन्तु पीगू ने कहा कि "एक से तथा एक सी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों से समान त्याग का अर्थ 'सभी व्यक्तियों से समान त्याग' से बिल्कुल भिन्न है।"[13] समता के सिद्धान्त (principle of equity) के रूप में समान त्याग की विचारधारा का मूलभूत दोष यह है कि **यह सिद्धान्त इस बात का आश्वासन नहीं दे सकता कि सभी व्यक्तियों को समान शुद्ध सन्तुष्टियाँ (equal net satisfactions) प्राप्त होंगी।** अन्य शब्दों में, समान त्याग के सिद्धान्त के त्याग का अर्थ यह हो सकता है कि कराधान प्रत्येक व्यक्ति से समान त्याग कराये, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसका अर्थ यह हो कि करों के लगने के पश्चात् सभी व्यक्तियों को शुद्ध तुष्टियों की समान मात्रा प्राप्त होगी। अत पीगू ने सिजविक के समान त्याग के समता सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया और कहा कि न्यूनतम

---

12 Pigou *A Study in Public Finance*, III Edition, p 43 There is general agreement that all of a government's activity should be regulated with a view to promoting, in the highest possible degree the welfare of its citizens so far as political theory is concerned, maximum aggregate welfare is everywhere accepted as the right goal of government . In the special field of taxation this general principle is identical with the principle of least sacrifice Its validity appears to me to be given directly by intuition "

13 Pigou · *op, cit*, p 44, "Equal sacrifice among similar and similarly situated persons is an entirely different thing from equal sacrifice among all persons "

incentives), जो कि उद्योग व व्यापार मे समान रूप से लागू होती है, कृषि बेशी (agricultural surplus) की वृद्धि मे सहायक होती है, बशर्ते कि औद्योगिक प्रगति की वृद्धि मे उनकी सहायता की अपेक्षा की जाए। परन्तु एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था (developing economy) मे, जहां कि केवल गुजारे लायक ही खेती होती है, आमतौर पर आर्थिक प्रेरणाएँ कार्यशील नहीं होती। उदाहरण के लिये, यह हो सकता है कि तीव्र गति से औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप खाद्यान्नो तथा कृषि सम्बन्धी कच्चे माल की कमी हो जाए और उससे कीमते ऊपर चली जाएँ, परन्तु कीमतो मे होने वाली वृद्धि से उत्पादन तथा सभरण (supply) मे सदा ही वृद्धि हो जाती हो, ऐसी बात नही है, वस्तुत कीमतो की वृद्धि से उत्पादन मे कमी हो जाने की ही सम्भावना है। अतः यह सुझाव दिया जाता है कि कराधान के द्वारा कृषि बाजार मे बिकने आने वाले माल की बेशी मे वृद्धि की जानी चाहिये। प्रो० कॅल्डोर ने इस विचार को निम्न शब्दो मे स्पष्ट किया है "कृषि के कराधान को आर्थिक विकास की गति तीव्र करने मे बडा नाजुक योगदान करना होता है क्योकि कृषि क्षेत्र मे वे केवल अनिवार्य कर ही होते है जिनके द्वारा आर्थिक विकास के लिए बचतो की पूर्ति मे वृद्धि की जाती है।"[1] इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि कृषि कराधान मे वृद्धि की इस आधार पर सिफारिश की जाती है तथा उनको न्यायोचित सिद्ध किया जाता है कि ऐसा करने मे कृषि क्षेत्र से बाजार मे बिकने के लिये प्राप्त होने वाले माल मे वृद्धि हो जायेगी।

इसके अलावा एक अन्य कारण भी है जिसके आधार पर कृषि कराधान का सुझाव दिया जाता है। यह सर्वविदित है कि भारत की आर्थिक योजनाओ ने इस बात को आवश्यक बना दिया कि देशी साधनो को अधिकाधिक मात्रा मे गतिशील किया जाए। लगभग प्रारम्भ से ही, भारत की पचवर्षीय योजनाओ के क्रियान्वयन को देशी साधनो की अपर्याप्तता के कारण ठेस पहुँचती रही है और ये साधन वर्षों तक घटते ही रहे हैं। पचवर्षीय योजनाओ की वित्तीय व्यवस्था के लिये देशी साधनो (domestic resources) की उपलब्धि की प्रथम योजना मे ६० प्रतिशत, द्वितीय योजनाओं मे ७६ प्रतिशत और तृतीय योजना मे ६३ प्रतिशत रही है। सरकार पर्याप्त मात्रा मे देशी साधन प्राप्त करने मे क्यो असफल रही, इसका एक कारण यह है कि इसने कृषि क्षेत्र से बचतो का प्रभावपूर्ण रीति से दोहन नही किया है। यह तर्क आमतौर पर प्रस्तुत किया जाता है कि सरकार ने जहाँ कृषि मे अधिकाधिक मात्रा मे बडी-बडी धनराशियाँ निवेश की हैं, साथ ही साथ उसने यह प्रयत्न नही किया कि किसानो की आय मे होने वाली वृद्धि का एक अच्छा खासा भाग करो के द्वारा ले लिया जाए। उन बड़े किसानो के विषय मे तो यह बात विशेष रूप से घटित होती है जिनकी आय मे आर्थिक विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रूप मे वृद्धि हुई है। एक ऐसी अर्थव्यवस्था मे जहाँ कि राष्ट्रीय आय का लगभग ५० प्रतिशत भाग कृषि से आता हो, निश्चय ही कृषि का कराधान आर्थिक विकास के लिए आवश्यक साधनो की पूर्ति मे महत्वपूर्ण भाग अदा करना है।

कृषि कराधान की वर्तमान स्थिति
(Present Position of Agricultural Taxation)

स्थूल रूप मे, कृषि कराधान मे केवल वे कर ही सम्मिलित नही किये जाते जो कि किसानो द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अदा किये जाते हैं, अपितु वे भी जो कि उनके द्वारा परोक्ष रूप से वहन किये जाते हैं। वस्तुओ के उत्पादनो मे, किसान प्रत्यक्ष रूप से (directly) भूमिकर (land tax) या भू-राजस्व (land revenue) और कृषि आय रूप से (indirectly) उत्पादन शुल्क, बिक्री कर, आयात कर और मोटर गाडी कर, आदि अदा कर सकते हैं। अब हम सक्षेप मे इन करो पर विचार करेंगे।

---

1. Prof. N. Kaldor, "The Role of Taxation on Economic Development" quoted by Dr. Mathew in "Agricultural Taxation and Economic Development", p. 5. "The taxation of agriculture has a critical role to play in the acceleration of economic development since it is only the imposition of compulsory levies in the agricultural sector itself which enlarges the supply of savings for economic development".

भू-राजस्व या मालगुजारी (Land Revenue) ·

परम्परागत रूप मे, भू-राजस्व सभी करो से पुराना कर है और वर्तमान मे भी यह कृषि भूमि पर लगाया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण कर है। भूमि कर या भू-राजस्व राज्य सरकारो द्वारा ही लगाया तथा सग्रह किया जाता है। भू-राजस्व का निर्धारण करते समय राज्यो ने अनेक आधार अपनाये है, उदाहरण के लिए, भूमि कर निवल सम्पत्तियो (net assets) पर हो सकता है अथवा निवल उपज (net produce) के मूल्य पर भी हो सकता है। कुछ राज्यो मे, भूमि कर के निर्धारण का कार्य कर-निर्धारण अधिकारियो के निर्णय पर ही छोड दिया जाता है। एक समय था जबकि भूमि कर का निर्धारण निश्चित अवधियो के पश्चात् पुन: पुन. किया जाता था परन्तु विगत वर्षो मे यह पद्धति समाप्त कर दी है। अतः भूमि कर एक प्रकार से कच्चे एकड क्षेत्रफल का कर बन गया। इस कर के द्वारा प्राप्त धनराशि, जो कि सन् १९५१-५२ मे ५२ करोड रु० थी, बढकर सन् १९५८-५९ मे ९६ करोड रु० और सन् १९६७-६८ मे ९९ २ करोड रु० हो गई तथा सन् १९७५-७६ मे १७७ ६० करोड रु० की थी। भू-राजस्व की प्राप्तियो मे होने वाली इस ठोस वृद्धि का मुख्य कारण यह था कि सरकार ने जमीदारो और मध्यस्थो द्वारा लिया जाने वाला हिस्सा भी स्वय ले लिया था। किन्तु मुद्रा स्फीति (inflation) के कारण तथा अनेक नये करो के लागू होने एव उनका विस्तार होने के परिणामस्वरूप, वर्तमान समय मे भूमि कर की महत्ता काफी कम हो गई है। निम्न तालिका मे दिखाया गया कि पिछले कुछ वर्षो से भूमि कर की महत्ता किस प्रकार कम हुई है :

तालिका—१

राज्यों के राजस्व में भू-राजस्व का भाग

(Share of Land Revenue in the State Revenue)

वर्ष	भू-राजस्व (करोड रु०)	राज्यो क कुल राजस्व मे प्रनिशत
१९५१-५२	४८	१२ १
१९६०-६१	९७	९ ६
१९६६-६७	९०	४ २
१९६७-६८ (सशोधित)	९९	४·०
१९७०-७१	११२	*
१९७१-७२	९४	*
१९७२-७३ (बजट)	१०६	१·३
१९७३-७४	१५७·००	*
१९७४-७५	१५१ ५०	२ ४
१९७५-७६	१७७ ६०	*

स्रोत . भारतीय रिजर्व बैंक की विज्ञप्तियां (बुलेटिन)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, भूमि कर शनैः-शनैः पूर्णतः अथवा अशत समाप्त किया जा रहा है।

कृषि आय-कर (Agricultural Income-Tax)

कृषि आय-कर राज्यो द्वारा लगाया तथा एकत्र किया जाता है। सन् १९३८ मे सर्वप्रथम बिहार ने इस कर को लागू किया गया था। वर्तमान समय में जिन राज्यो मे कृषि आय-कर उगाया

* Figures not available

जाता है, वे है . असम, पश्चिमी बगाल, बिहार उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उडीसा, मैसूर, मद्रास और केरल। इस कर की दरें सामान्य रूप से उन दरो से नीची रही है जो कि शहरी आय-कर पर लागू होती हैं। भारत मे इस कर ने सर्वदा ही लघु योगदान किया है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

तालिका—२

कृषि आय कर

वर्ष	धनराशि (करोड़ रु० मे)	राज्यो के राजस्व मे प्रतिशत
१९५१-५२	४ ३	१ १
१९६०-६१	६ ५	१ ०
१९६६-६७	११ ०	० ५
१९६७-६८ (सशोधित)	१० ६	० ४
१९७०-७१	१० ५०	*
१९७१-७२	११ ८०	*
१९७२-७३ (बजट)	१३ ४०	० ३
१९७४-७५	१२ ००	०·२
१९७५-७६	१२ ००	*

स्रोत भारतीय रिजर्व बैंक की विज्ञप्तियाँ

राज्यो मे केवल तीन राज्य ही ऐसे हैं जो कि अपने राजस्व का काफी भाग कृषि आय-कर से प्राप्त करते हैं।

इन दो प्रत्यक्ष करो के अतिरिक्त, कृषि क्षेत्र मे कोई अन्य प्रत्यक्ष कर भी लगाये जाते हैं, जैसे कि व्यय कर, उपहार कर, आस्ति कर (*estate duty*) तथा धन कर। भारत मे इन करो को कोई महत्ता प्राप्त नही हुई है और आने वाले वर्षों मे भी ऐसा होने की आशा नही है। इसके अतिरिक्त चूँकि इन करो मे छूट की सीमायें बहुत ऊँची प्रदान की गई हैं और चूँकि किसानो को कुछ विशेष छूटें या रियायतें भी प्रदान की जाती हैं, अत स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र से प्राप्त होने वाली राशि अधिक उल्लेखनीय नही हो सकती।

परोक्ष कर (Indirect Taxes) :

उन महत्वपूर्ण परोक्ष करो मे, जो किसानो पर (तथा साथ ही साथ शहरी जनसख्या पर भी) पडते हैं, स्टाम्प और रजिस्ट्रेशन विशेष उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। इन करो की प्राप्तियां काफी ठोस रही हैं। उत्पादन शुल्क (excise duties) केन्द्र सरकार द्वारा लगाये तथा एकत्र किये जाते हैं परन्तु केन्द्रीय उत्पादन शुल्को की निवल प्राप्तियो का २० प्रतिशत भाग राज्यो मे बाँट दिया जाता है। मदिरा तथा नशीले पदार्थों जैसी कुछ वस्तुओ पर राज्य भी उत्पादन शुल्क लगाते है। सामान्य बिक्री कर, जो कि द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व सर्वप्रथम मद्रास मे लगाया गया था, राज्य के वित्त मे अब सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान पाने की स्थिति मे आ गया है। आयात कर, मनोरजन कर, बिजली कर तथा मोटर गाडी कर आदि कुछ ऐसे कर कहे जा सकते हैं जो कि कुछ सीमा तक कृषि जनसख्या पर पडते हैं। परोक्ष करो के सम्बन्ध मे एक समस्या यह सामने आती है कि वे ग्रामीण तथा शहरी सभी लोगो पर पडते हैं और इन दोनो क्षेत्रो के बीच इनकी

* Figures not available.

वाह्यता (incidence) को विभाजित करने की कोई सही रीति उपलब्ध नही है। यदि कभी ऐसी रीति सम्भव हुई तो इन दोनों क्षेत्रों के बीच करो के भार की गणना का कार्य निश्चय ही सरल हो जायेगा।

भारत में कृषि कराधान का भार
(Burden of Agricultural Taxation in India)

अनेक लेखकों—विशेष रूप मे वी० पी० गाँधी, आई० एस० गुलाटी तथा ई० टी० मैथ्यू—ने पिछले वर्षों मे भारत मे कृषि कराधान के सकल (gross) तथा साथ ही साथ निवल भार (net burden) को मापने का प्रयास किया है। प्रो० ई० टी० मैथ्यू के अनुसार[3] सन् १९५८-५९ मे कृषि कराधान का प्रति व्यक्ति सकल भार (per capita gross burden) रु० १४.५२ था जो कि कृषि क्षेत्रों मे प्रति व्यक्ति आय का ६ ८ प्रतिशत था। कृषि कराधान का अनुमानित निवल भार (net burden) (जो कि सकल भार मे से विभिन्न मदो पर किये गये सरकारी खर्च के कृषि क्षेत्र में के कुल भाग को घटाकर बचता है) रु० ६ ८८ अथवा कृषि क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय का ३ २ प्रतिशत था। दूसरी ओर सन् १९५८-५९ मे गैर-कृषि कराधान का प्रति व्यक्ति सकल भार रु० ४६ अथवा प्रति व्यक्ति आय का ९ २ प्रतिशत था, गैर-कृषि कराधान का प्रति व्यक्ति निवल भार प्रति व्यक्ति आय का ७ २ प्रतिशत है। प्रो० मैथ्यू ने कृषि पर लगाये गये पृथक्-पृथक् करो के भार का हिसाब लगाया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वे निरपेक्ष (absolute) दृष्टि से, सापेक्ष (relative) दृष्टि से तथा आर्थिक विकास के लिये अतिरिक्त साधनों की आवश्यकता के संदर्भ मे यह कहा जा सकता है कि भारतीय कृषि पर करो का भार उतना ही पडता रहा है जितना कि पडना चाहिए।

कृषि कराधान की सकल वाह्यता (gross incidence of agriculture taxation)—डा० वी० पी० गांधी द्वारा कृषि कराधान की कर-वाह्यता तथा कर-भार का काफी विस्तृत एवं स्पष्ट विश्लेषण (analysis) किया गया है।[3] निम्न तालिका मे कृषि तथा गैर-कृषि क्षेत्रों के कुल करो की वाह्यता पर प्रकाश डाला गया है —

तालिका—३

कृषि तथा गैर-कृषि क्षेत्रों की कुछ चुने हुए वर्षों की कुल कर-वाह्यता

(करोड़ रु० में)

वर्ष	कृषि-क्षेत्र	गैर-कृषि क्षेत्र
१९५१—५२	२००	४५१
१९६०—६१	३६६	६२२
१९६२—६३	६१९	१,७५०

स्रोत : Dr Ved P Gandhi Tax Burden on Indian Agriculture p 53.

इस तालिका से यह स्पष्ट है सामान्यत विगत वर्षों मे गैर-कृषि क्षेत्र की तुलना मे कृषि क्षेत्र कराधान का कम बोझ उठाता रहा है। कृषि पर कराधान के भार के सम्बन्ध मे एक

2. E. T. Mathew : *Agricultural Taxation and Economic Development*". pp. 26 etc.
3. Dr. Ved P. Gandhi · '*The Tax Burden on Indian Agriculture*", Chapters 3-5.

श्रेष्ठ तथा स्पष्ट विचार, चालू बजट व्यय और पूँजीगत व्यय की बाह्यता (incidence) की तुलना करके बनाया जा सकता है। निम्न तालिका चालू बजट व्यय की बाह्यता पर प्रकाश डालती है :—

तालिका—४

कुछ चुने हुए वर्षों की कर-बाह्यता तथा व्यय-बाह्यता
(Tax Incidence and Expenditure Incidence for Selected Years)

(करोड़ रु० में)

वर्ष	कृषि क्षेत्र		गैर-कृषि क्षेत्र	
	से प्राप्तियाँ	पर सरकारी व्यय	से प्राप्तियाँ	पर सरकारी व्यय
१६५१-५२	२००	३२५	४५०	३१५
१६६०-६१	३६६	७२१	६२२	६०२
१६६२-६३	५०२	८२१	१,३२६	६८६

स्रोत : Dr Ved P Gandhi . Tax Burden on Indian Agriculture, pp. 53 & 116.

उपर्युक्त तालिका में कर-बाह्यता तथा व्यय-बाह्यता दिखाई गई है। सन् १६५०-५१ मे कृषि क्षेत्र ने केन्द्र तथा राज्यो को करो के रूप में २०० करोड रु० का अशदान किया। यह कृषि पर कराधान का सकल भार (gross burden) था। परन्तु उसी वर्ष में कृषि क्षेत्र को केन्द्र तथा राज्यो में सरकारी व्यय के रूप में ३२५ करोड रु० प्राप्त हुए। इसी प्रकार, सन् १६६०-६१ मे कृषि क्षेत्र ने ३६६ करोड रु० का अशदान किया परन्तु केन्द्र तथा राज्यो से सरकारी व्यय के रूप में उसे ७२१ करोड रु० प्राप्त हुए। इस प्रकार, कृषि क्षेत्र की ओर को सरकारी धन का निवल प्रवाह (net outflow) जारी है। इसके विपरीत, गैर-कृषि क्षेत्र सरकारी निधियो को उसके मुकाबले काफी बडे अनुपात मे अपना अशदान देता रहा है जो कि उसने सरकारी कोष से प्राप्त किया है।

तालिका न० ४ पूँजीगत बजट के आंकडे सम्मिलित नही हैं। डा० वेद गाँधी के अनुमान के अनुसार, सन् १६६२-६३ मे कृषि क्षेत्र ने अल्प बचतो, निर्वाह निधि अशदानों (Provident Fund Contributions) तथा खुले बाजार कर्जो आदि के रूप में सरकार के पूँजीगत बजट के लिए ७५ करोड रु० का अशदान दिया। परन्तु इसी वर्ष में सरकार ने कृषि विकास, सामुदायिक विकास तथा बाढ नियन्त्रण आदि पर २५० करोड रु० व्यय किये। इस प्रकार, १६६२-६३ के वर्ष मे सरकारी कोष से कृषि क्षेत्र की ओर को १७५ करोड रु० की धनराशि का निवल प्रवाह हुआ। सन् १६६२-६३ के बारे मे जो तथ्य प्रकट है वही अन्य वर्षों के विषय मे भी सही माना जा सकता है। तब इस विषय मे क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है? यही कि कृषि कराधान का भार बहुत थोडा है और कृषि क्षेत्र देश के आर्थिक विकास के लिए कम योगदान कर रहा है।

करो की औसत दरें (average tax rates)—अब हम कृषि तथा गैर-कृषि क्षेत्रो पर लगाये जाने वाले करो की औसत दरो पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध मे निम्न तालिका आवश्यक जानकारी प्रदान करती है :—

तालिका—५

कृषि तथा गैर-कृषि क्षेत्रों में करों की औसत दरें

वर्ष	कृषि क्षेत्र		गैर-कृषि क्षेत्र	
	प्रति व्यक्ति कर (रु० में)	प्रति व्यक्ति आय पर करों का अनुपात	प्रति व्यक्ति कर (रु० में)	प्रति व्यक्ति आय पर करों का अनुपात
१९५१-५२	८ ०	३ ८	४१·८	६ ५
१९५५-५६	६ ५	५ ४	३८ ४	८ ६
१९६०-६१	१३ ४	५ ६	६८ ६	१३ ०

स्रोत . डा० वेद गांधी · Tax Burden on Indian Agriculture, p 56.

उपर्युक्त तालिका के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कृषि तथा गैर-कृषि दोनों ही क्षेत्रों में आमदनियों पर प्रति व्यय कर बढ रहे हैं और यह कि दोनों ही क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय पर करों के अनुपात में आरोही प्रवृत्ति (progressive tendency) दिखाई देती है अर्थात् कृषि क्षेत्र में यह अनुपात ३ ८ से बढकर ५ ६ प्रतिशत और गैर-कृषि क्षेत्र में ६·५ से बढकर १३ ० प्रतिशत हो गया है। परन्तु हमारे दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि कृषि क्षेत्र ने *अपनी आय का लगभग ५ प्रतिशत भाग अंशदान के रूप में दिया है जो कि गैर-कृषि क्षेत्र आय अंश*-दान में दी गई आय के अनुपात के आधे से भी कम है।

करों की सीमान्त दरें (marginal tax rates)—एक दृष्टि से, करों की औसत दरों के मुकाबले उसकी सीमान्त दरें काफी अधिक महत्वपूर्ण हैं।[4] डा० वेद गांधी के अनुमान के अनुसार, सन् १९५०-५१ तथा १९६० ६१ के बीच की अवधि में कृषि क्षेत्र को प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय (additional income) १,७१७ करोड रु० थी परन्तु अतिरिक्त *कराधान की मात्रा* १९८ करोड रु० थी, अर्थात कराधान की सीमान्त दर ११ ५ प्रतिशत थी। दूसरी ओर इसी अवधि के बीच, गैर-कृषि क्षेत्र की अतिरिक्त आय २,४२० करोड रु० थी और अतिरिक्त कराधान ४९९ करोड रु० था, अर्थात् कराधान की सीमान्त दर २० ६ प्रतिशत थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषि क्षेत्र के मुकाबले गैर-कृषि क्षेत्र के कराधान की सीमान्त दर लगभग दुगुनी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास की वित्तीय व्यवस्था के लिए विगत वर्षों में जो अतिरिक्त कर लगाये गये हैं उसका बोझ मुख्यत गैर-कृषि क्षेत्र द्वारा ही उठाया गया है।

कृषि तथा गैर-कृषि दोनों ही क्षेत्रों में उच्च तथा निम्न आय वाले वर्गों के सीमान्त कर-भारों के बीच डा० वेद गाँधी द्वारा बडी ही रुचिकर तुलना की गई है। जैसा कि अभी पिछले गद्यांश में बताया गया है, *कृषि क्षेत्र में कराधान की सीमान्त दर* ११ ५ प्रतिशत है, परन्तु उच्च वर्गों पर सीमान्त भार केवल ७ प्रतिशत ही है। इसका अर्थ है कि निम्न आय वाले वर्गों का सीमान्त भार अनिवार्यत ही ऊँचा, सम्भवत १२ या १३ प्रतिशत होगा। इसी प्रकार, गैर-कृषि क्षेत्र में, *कराधान का सीमान्त भार* २० ६ *प्रतिशत है, परन्तु उच्च आय वाले वर्गों* द्वारा जो सीमान्त भार वहन किया जाता है वह १३ प्रतिशत है। इसका अर्थ है कि गैर-कृषि क्षेत्र में निम्न आय वाले वर्गों को २३ से २४ प्रतिशत तक का सीमान्त भार वहन करने के लिए छोड दिया गया है।

---

4. करों की सीमान्त दर $= \dfrac{\text{एक निश्चित अवधि में अतिरिक्त कराधान}}{\text{एक निश्चित अवधि में अतिरिक्त आय}}$

नीचे दी हुई तालिका न० ६ में करो को कुल आमदनियों के प्रतिशत के रूप में दिखाया गया है। इस तालिका से हमें ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों पर पड़ने वाले कर-भार की बाह्यता की ठीक-ठीक तुलना करने में भी सहायता मिलती है।

तालिका—६
कुल आमदनियों के प्रतिशत के रूप में कर

वार्षिक घरेलू आय	१२ रु० से ६०० रु० तक	६१२ रु० से १,२०० रु० तक	१,२१२ रु०से १,८०० रु० तक	१,८१२ रु०से ३,००० रु० तक	३,००० रु०से ५,००० रु० तक	५,००० रु०से नीचे औसत व्यय
ग्रामीण	३ २	४ १	४ ५	५ ०	६ ६	४ ६
शहरी	३ ०	४ ४	५ १	५ १	९ ८	७ २

स्रोत सच्य साची Economic and Political Weekly, May 25, 1968.

यदि हम ग्रामीण तथा शहरी परिवारो की कर बाह्यता की तुलना करें, तो न्याय एवं समता के आधार पर ३,००० रु० से कम वार्षिक आय वाले ग्रामीण परिवारो के कर-भार में केवल थोड़ी-सी वृद्धि को ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है। परन्तु ३,००० रु० से अधिक वार्षिक आय वाले ग्रामीण परिवारो के लिए अतिरिक्त कराधान का पक्ष काफी दृढ है, क्योंकि वे अपनी आय का केवल ६.६ प्रतिशत करो के रूप में दे देते है जबकि आय की इस श्रेणी वाले शहरी परिवार अपनी आय का ९ ८ प्रतिशत भाग करो के रूप मे दे रहे हैं। यदि हम ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो के ५,००० रु० से अधिक वार्षिक आय वाले परिवारो पर विचार करें तो हम पायेंगे कि ग्रामीण परिवारो पर कर का भार काफी कम है। इसका कारण यह है कि (क) व्यक्तिगत आय कर जो कि शहरी आमदनियो पर पड़ता है, अत्यधिक आरोही होता है, और (ख) ग्रामीण परिवार कृषि आय-कर से प्रायः इसलिये बच जाते हैं क्योंकि या तो यह लगाया ही नहीं जाता है और यदि लगाया जाता है तो अधिकांशत बागानो पर लगाया जाता है। अत. समता एवं न्याय के आधार पर, ३,००० रु० से ऊँची आय वाले ग्रामीण परिवारो पर अतिरिक्त कराधान के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं —

भारत में कृषि कराधान के भार के सम्बन्ध मे ऊपर किये गये वाद-विवाद से हम निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं —

(क) सामान्य रूप से, गैर-कृषि क्षेत्र के मुकाबले कृषि क्षेत्र करो का बहुत कम भार वहन करता है;

(ख) दोनो ही क्षेत्रो मे निम्न वर्गों की तुलना में उच्च वर्गों के लोग करो का काफी कम भार वहन करते हैं, और

(ग) कृषि कराधान मे वृद्धि की काफी गुंजाइश है, विशेष रूप से आय के अपेक्षाकृत उच्च वर्गों पर।

क्या भारत में कृषि पर कम कर लगाये गये हैं ?
(Is Agriculture Undertaxed in India ?)

कृषि कराधान के भार की समस्या पर विचार करते समय पहले ही इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि कृषि करो का अपेक्षाकृत कम भार वहन करती है जबकि कृषि क्षेत्र में अतिरिक्त कराधान की अपर्याप्त गुंजाइश मौजूद है। अब हम इसी बात पर और विस्तार से विचार करेंगे।

विषय के लगभग सभी लेखक इस बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि निरपेक्ष (absolute) रूप मे, कृषि पर लगाये गये कर अपर्याप्त है। इस बात के समर्थन में अनेक तथ्य प्रस्तुत किये जाते है। सर्वप्रथम, कृषि पर लगाये गये प्रत्यक्ष कर, उदाहरणत. भू-राजस्व तथा कृषि आयकर सन् १९५०-५१ से ही लगभग स्थिर रहे है अर्थात् कृषि से होने वाली आय के २ प्रतिशत से भी कम रहे हैं। दूसरे, *यह देखा गया है कि कृषि क्षेत्र के आर्थिक कल्याण का अपरिष्कृत सूचकाक* (crude index) तो बढता रहा है किन्तु कृषि करो से होने वाली प्राप्ति उतनी मात्रा मे नही बढी है। तीसरे, थोडे से लोगो के हाथो म भूमि का अत्यधिक केन्द्रीयकरण हो गया है और विगत वर्षों मे यह प्रवृत्ति और भी बढती रही है। उदाहरण के लिए, लगभग आधे भूमिधारियो (land holders) के पास केवल ६ प्रतिशत भूमि है, दूसरी ओर, आधी प्रतिशत से भी कम भू-स्वामियो के पास कुल भूमि का ११ प्रतिशत से भी अधिक भाग है। अपेक्षाकृत धनिक वर्ग के कृषक कर का कम भार वहन कर रहे हैं कि वे भूमि कर अदा करते हैं जो कि आनुपातिक (proportional) होता है, *जहाँ तक कृषि आय-कर का सवाल है, उन्हे देना भी पड़ सकता है और नहीं भी।* अन्त में, अनुभवाश्रित अध्ययनों (empirical studies) स यह प्रकट हुआ है कि बहुसख्यक किसानो की आय का स्तर नीचा होने के बावजूद, उनका एक खासा अनुपात अपनी आय का कुछ भाग बचाता ही है। इसके अतिरिक्त, ग्रामीण परिवारो के उपभोग व्यय का एक बड़ा प्रतिशत—राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (National Sample Survey) के अनुसार १०.३६ प्रतिशत—जीवन-निर्वाह के अलावा किये जाने वाले ऐसे खर्चो मे लग जाता है जैसे कि सस्कारो व समारोहो मे तथा नशीले पदार्थों एव मनोरजनो आदि पर। ये सभी तथ्य इसी बात की ओर स्पष्ट सकेत करते है कि निरपेक्षता रूप मे, भारतीय कृषि पर लगाये गये कर अपर्याप्त हैं और उस पर अधिक कर लगाये जाने की आवश्यकता है।

यही नही, सापेक्ष दृष्टि से (in a relative sense), अर्थात् गैर-कृषि क्षेत्र के सदर्भ मे, भी कृषि क्षेत्र पर कम कर लगाये गये है। जहाँ तक सबल व निबल वाह्यता का और करो की औसत व सीमान्त दरो का सम्बन्ध है, हम इन दोनो ही क्षेत्रो द्वारा वहन किये जाने वाले भार की तुलना कर चुके है। हम बतला चुके हैं कि सापेक्ष रूप मे, कृषि क्षेत्र पर कम कर लगाये गये हैं। इस *स्थिति* मे, *निष्कर्ष स्पष्ट है—अर्थात् यह कि कृषि क्षेत्र को और अधिक भार वहन करने* दिया जाए।

भारत मे कृषि कराधान मे वृद्धि के समर्थन मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तर्क बचत (saving) की दिशा मे आता है। यह बात तो आमतौर पर की जाती है कि तीव्रगति से आर्थिक *विकास* तथा विस्तार करने के लिए मुख्य आवश्यकता ऊँची दरो से बचत तथा पूँजी-निर्माण करने की है। हम तृतीय पचवर्षीय योजना के सदर्भ मे इस बात की स्पष्ट व्याख्या करेंगे। योजना आयोग ने वार्षिक प्रगति की ७ प्रतिशत की औसत दर की व्यवस्था की थी जिसके लिए राष्ट्रीय आय का लगभग ११.५ प्रतिशत भाग देशी बचतो के रूप मे गतिशील होने की आवश्यकता थी—अर्थात् द्वितीय योजना के स्तर पर भी बचतो मे लगभग ३८.५ प्रतिशत की वृद्धि किये जाने की आवश्यकता थी। परन्तु बचत (saving) के अनुमानित दर ग्रामीण परिवारो मे लगभग २.६ प्रतिशत और शहरी परिवारो (urban households) मे लगभग १४ प्रतिशत थी। इसी प्रकार बचत का औसत अनुपात ५.८ प्रतिशत था। इस स्थिति मे, यह स्वाभाविक ही था कि यदि देशी बचतो की दरो में वृद्धि की जानी थी, तो मुख्य जोर निगम क्षेत्र अथवा शहरी परिवारो पर नही अपितु ग्रामीण क्षेत्र पर ही दिया जाना था। सबसे अधिक निर्णायक प्रश्न यह है कि क्या ग्रामीण परिवारो से यह आशा की जा सकती है कि वे अपनी ऐच्छिक बचतो मे यथेष्ट वृद्धि कर सकेंगे? चूँकि इस प्रश्न का उत्तर 'ना' मे होगा अत एकमात्र विकल्प यही बचता है कि अनिवार्यता के तत्त्व अर्थात् कराधान के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र की बचतो मे वृद्धि की जाए। अत. इस स्थिति मे, कृषि क्षेत्र पर *कराधान की वृद्धि को पूर्णतया आवश्यक एव अनिवार्य माना गया।* दूरदर्शी *योजना सभाग* (*perspectixe* planning division) ने भू राजस्व पर नये अधिभार लगाने तथा कृषि उपज पर नये कर लगाने का सुझाव मुख्य रूप से इसी उद्देश्य से दिया था कि तृतीय पचवर्षीय योजना के लिए देशी साधनो को गतिशील किया जा सके।

अतिरिक्त कराधान के लिए प्रस्ताव
(Proposals for Additional Taxation)

योजना आयोग जैसे सरकारी सगठनो तथा अर्थशास्त्रियो द्वारा अतिरिक्त कृषि कराधान के सम्बन्ध मे अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये है। इन कर-प्रस्तावो के मुख्यत: तीन लक्ष्य रहे है :—

(क) कृषि से निवेश करने योग्य एव बाजार मे विकने योग्य अधिक बेशियाँ (surpluses) प्राप्त करना,

(ख) कृषि उपज मे वृद्धि के लिए प्रेरणा प्रदान करना, और

(ग) कृषि कराधान मे आरोहण का तत्त्व (element of progression) लाना ताकि उसे अधिक समन्यायपूर्ण बनाया जा सके।

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से दूरदर्शी योजना सभाग ने यह सुझाव दिया था कि भू-राजस्व पर एक आरोही अधिभार (progressive surcharge), वाणिज्यिक फसलो वाले क्षेत्र पर एक अधिभार, वाणिज्यिक फसलो पर क्रय कर तथा पशु धन पर भी कर लगाया जाए। कुछ अर्थशास्त्रियो ने यह सुझाव दिया कि भू-राजस्व की दरों को वर्तमान स्तरो से ऊपर उठाया जाए और उन्हें आरोही बनाया जाए। कुछ अन्य ने यह सुझाव रखा कि अवरोही भूमि कर (regressive land tax) को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया जाए और इसके स्थान पर एक आरोही कृषि आय-कर लगाया जाए। एक गम्भीर सुझाव, जिस पर अभी हाल मे विचार किया गया था, वह यह है कि भू-राजस्व के स्थान पर कृषि आमदनियो पर कर लगाया जाए और इस कर को एकीकृत आय-कर व्यवस्था का ही एक अग बनाया जाए। अब हम इन भिन्न-भिन्न प्रस्तावो पर सावधानी के साथ विचार कर उनके गुण दोषो का मूल्याकन करेंगे। साथ ही इस बात को भी दृष्टिगत रखेंगे कि अनेक राज्य सरकारो ने भू-राजस्व को पहले ही पूर्णतया अथवा अंशतया समाप्त करने की घोषणाएँ कर दी है।

भू-राजस्व पर आरोही अधिभार (Progressive Surcharges on Land Revenue) :

दूरदर्शी योजना सभाग ने भू-राजस्व पर अधिभार की निम्न योजना का प्रस्ताव किया —

तालिका—७
भू-राजस्व पर प्रस्तावित अधिकार

भू-राजस्व शिला (slab)	अधिभार प्रतिशत
प्रथम ७ रु०	कुछ नही
अगले ५ रु०	४०
अगले ५ रु०	८०
अगले ५ रु०	१२०
अगले ५ रु०	१६०
अगले ५ रु०	२००
आदि	आदि

(स्रोत . Economic and Political Weekly, May 25, 1968.)

उन छोटे भू-स्वामियों को छोड़कर, जो कि ७ रु० या उससे कम भू-राजस्व अदा करते है अन्य भू-स्वामियों को भू-राजस्व का ४० प्रतिशत तक का अधिकार देना होगा। अधिभार प्रत्येक शिला (slab) पर ४० प्रतिशत बढ जाता है। इस प्रकार, सबसे छोटे करदाता को भू राजस्व का ४० प्रतिशत और सबसे ऊँचे करदाता का २०० प्रतिशत अधिभार देना होगा। संभाग ने इससे प्रतिवर्ष लगभग १४० करोड रु० की आय की आशा प्रकट की। भू-राजस्व पर प्रस्तावित अधिभारों के सम्बन्ध में दो बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि भू-राजस्व समाप्त किया जा रहा है, अत उन पर अधिभार लगाने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होगा। दूसरे, भू-राजस्व पर इन प्रस्तावित अधिभारो मे सभवत आरोहण (progression) का तत्त्व बिल्कुल उत्पन्न ही नही होगा। सव्य साची[5] द्वारा यह अनुमान लगाया गया है कि भू राजस्व पर लगाया जाने वाला प्रस्तावित अधिभार ५,००० रु० से कम वार्षिक आय की स्थिति मे ही कृषि-व्यवस्था को आरोही बनायेगा, इसके विपरीत ५,००० रु० से ऊपर की आमदनियो की स्थिति मे यह कृषि व्यवस्था को अवरोही (regressive) बनायेगा। उदाहरण के लिए, ५,००० रु० की वार्षिक आय वाला एक ग्रामीण घर अपनी आय का लगभग १३ प्रतिशत भाग करो के रूप मे देगा जबकि ५,००० और १०,००० रु० के बीच वार्षिक आय वाला घर अपनी आय का केवल १० प्रतिशत भाग ही करो के रूप मे देगा।

कृषि आय-कर (Agricultural Income-Tax)

योजना आयोग ने एक अत्यधिक आरोही कृषि आय-कर लगाने की सिफारिश, एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप मे, बडे दृढ शब्दो मे की है। ऐसा प्रस्ताव भूतकाल मे भी किया गया था, परन्तु आजकल निम्न तर्कों के आधार पर इस पर जोर दिया जा रहा है।

(क) सरकार ने कृषि मे बडी-बडी धनराशियाँ निवेश की हैं परन्तु बदले मे कृषि क्षेत्र से राजकोष को बहुत थोडी प्राप्ति हुई है।

(ख) विगत वर्षों मे कृषि कार्यों मे काफी सुधार हुए है जिनके कारण किसानो के पास ऐसी आय मे ठोस वृद्धि हुई है जिसे वे दे सकते हैं।

(ग) कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे सरकार द्वारा गहन विकास (intensive develapment) पर जोर दिये जाने के परिणामस्वरूप, धनी कृषको की सख्या मे काफी तीव्रगति से वृद्धि हुई है।

आरोही कृषि आय-कर लगाये जाने के सम्बन्ध मे योजना आयोग की सिफारिश को राज्यो के मुख्य मन्त्रियो द्वारा नही स्वीकार किया गया। इस बात को स्पष्ट करना कोई अधिक कठिन नही है कि कृषि आय-कर भूमि-कर के मुकाबले किस प्रकार घटिया है। जहाँ भूमि-कर स्थिर है और जहाँ भूमि-कर की सीमान्त वृद्धि (marginal increment) स्थिर (fixed) है तथा जहाँ भूमि-कर की सीमान्त वृद्धि शून्य है, वहाँ कृषि आय-कर एक ऐसा कर है जो कि वास्तविक उत्पादन पर लगाया जाता है और उत्पादन की मात्रा के अनुसार ही उसकी मात्रा भी भिन्न-भिन्न होती है, कृषि आय-कर की सीमान्त दर सकारात्मक (positive) होती है। जैसा कि आई० एस० गुलाटी तथा के० एन० कोठारी ने कहा है कि "चालू कृषि उपज पर लगाया जाने वाला कर अपनी चरम सीमा पर, उपयोग की गई भूमि पर कर लगाने मे तथा उपयोग मे न लाई गई भूमि को कर-मुक्त करने मे समान दृष्टि रखता है। इस प्रकार, यदि भूमि-कर के स्थान पर कृषि आय-कर लगाया जाता है तो सभावना यह है कि भूमि उत्पादक उपयोगो से हटकर अनुत्पादक उपयोगो अथवा कम कुशल उपयोगो की ओर को हस्तान्तरित हो जायेगी और विकास की गति भी अवरुद्ध

5. Savya Sachi *Economic and Political Weekly*, Map 25, 1968,

समस्त त्याग का सिद्धान्त ही कराधान का अन्तिम सिद्धान्त है। परन्तु इस बात का कोई वस्तुपरक प्रमाण (objective proof) उपलब्ध नहीं है।

कराधान का वितरणात्मक पहलू और न्यूनतम समस्त त्याग का सिद्धान्त (Distribution Aspect of Taxation and the Principle of Least Aggregate Sacrifice).

इसके बाद पीगू (Pigou) ने कराधान के वितरणात्मक पहलू पर भी विचार किया। वितरणात्मक पहलू से आशय उस रीति से है जिसके अनुसार विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के बीच कुल द्रव्य-भार के विभिन्न भागों को बाँटा जाता है। न्यूनतम समस्त त्याग की स्थिति को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि करों का वितरण इस प्रकार किया जाये कि **करों के रूप में अदा किये जाने वाले धन की सीमान्त उपयोगिता सभी करदाताओं के लिए बराबर हो।** यदि 'क' द्वारा अदा किये जाने वाले अन्तिम रुपये की उपयोगिता 'ख' द्वारा अदा किये जाने वाले अन्तिम रुपये की उपयोगिता से कम है तो, 'ख' के करों का कुछ भाग 'क' की ओर को स्थानान्तरित करके त्याग में कमी की जा सकती है। इस प्रकार, पीगू इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि **"कराधान का ऐसा वितरण, जो कि न्यूनतम समस्त त्याग के सिद्धान्त के अनुरूप हो, वह हो सकता है जो समाज के सभी सदस्यों द्वारा किये जाने वाले कुल त्याग को नहीं, बल्कि सीमान्त त्याग को बराबर कराये।"**[14]

ठोस निष्कर्ष :—कराधान की उपयुक्त योजना :

उपर्युक्त विवेचन से हम इस ठोस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्यूनतम समस्त त्याग की स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति पर इस प्रकार कर लगाये जाने चाहिए कि सभी करदाताओं के लिए सीमान्त त्याग बराबर हो। पीगू ने इस निष्कर्ष को और अधिक प्रबल शब्दों में व्यक्त किया है : 'ऐसा प्रतीत होता है कि सम-सीमान्त की पद्धति को पूरी तरह लागू किया जाये तो करों द्वारा न्यूनतम आय से ऊपर की सभी आमदनियों की चोटियाँ कलम कर दी जायेंगी और कराधान के पश्चात सभी व्यक्तियों के पास एक समान आमदनियाँ बचेंगी..........इसके लिए तर्क संगत कार्यप्रणाली यह होगी कि सबसे पहले सरकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सबसे ऊँची आमदनियों के ऊपरी भाग लिये जायें और उसके बाद मध्यम श्रेणी की आमदनियों पर कर लगाये जायें तथा इनसे होने वाली प्राप्तियों में से सबसे छोटी आय वाले लोगों को उस समय तक अधिदान (bonuties) दिये जायें जब तक कि समानता का चरम स्तर (dead level) न प्राप्त कर लिया जाये।"[15]

उच्चतम आय वाला वर्ग और कराधान—कराधान की इस योजना में, न्यूनतम आवश्यकता से ऊपर की सभी बेशियाँ (surpluses) करों द्वारा ले ली जायेंगी। परन्तु ऐसी कठोर कर-पद्धति में एक कठिनाई सामने आती है। वह यह है कि इस पद्धति से सरकार को उस मात्रा से

---

14. Ibid, p. 57. इस प्रसंग में हमें सम-सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (equi-marginal utility principle) को नहीं भूलना चाहिए। इसके अनुसार, कुल उपयोगिता अथवा कल्याण तभी अधिकतम होगी जबकि सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होंगी, इसी प्रकार कुल त्याग तभी न्यूनतम होगा जबकि सीमान्त त्याग बराबर होंगे।

"The distribution of taxation required to conform to the principle of least aggregate sacrifice is that which makes the marginal not the total sacrifices borne by all members of the community equal"

15. Pigou, *op cit.* pp, 57--58 "It appears that a system of equimarginal sacrifice fully carried out would involve lopping off the tops of all income above the maximum income and leaving everybody, after taxation with equal incomes ... the logical procedure would be first to take for the government's needs the tops of the highest incomes, and then to continue taxing middle grade income and giving bounties from proceeds to the smallest income till a dead level of equality is attained."

अन्त मे, चूँकि किसान करदाता गाँव-गाँव मे व्यापक रूप से बिखरे होते हैं, अतः कृषि आय-कर के संग्रह मे भारी लागत लगाना संभव है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे करदाताओ की संख्या अत्यधिक मात्रा मे होगी। अत यह भय है कि इन करो को एकत्र करने का व्यय इन करो से प्राप्त कुल आय का एक बडा अनुपात हो सकता है।

इस सम्बन्ध मे यह तर्क दिया जा सकता है कि समय बीतने के साथ ही साथ जैसे-जैसे कर-प्रशासन को अधिक अनुभव प्राप्त होगा, वैसे-वैसे ही इन सब कठिनाइयों पर विजय पाई जा सकती है। इसमे कोई सन्देह नही कि यह बात सत्य है। परन्तु समता, न्याय एव आरोहण (progressing) की सभी विचारधाराओ के साथ-साथ हमे एक बात की उपेक्षा नही करनी चाहिए। उच्च आय वाले वर्गो, विशेष रूप मे औद्योगिक एव व्यापारिक वर्गो के पास कर-वचन (tax-evasion) तथा कर-परिहार (tax-avoidence) की अनेक युक्तियाँ होती हैं, अत गैर कृषि क्षेत्र मे आय-कर की प्रभावी दर (effective rate) काफी नीची होती है। किसानो को ये युक्तियाँ अथवा तरकीबें सदा ही उपलब्ध नही होती। जहाँ तक गैर कृषि क्षेत्र का सम्बन्ध है, आरोहण की ऊँची दर (high rate of progression) केवल कागज पर ही विद्यमान रहती है। जब यही दर कृषि क्षेत्र मे लागू की जाती है तो कृषको पर दमन अथवा अत्याचार का एक अस्त्र बन जाती है। इसका विकल्प यही होता है कि धनी तथा चतुर किसान कर संग्रह करने वाले भ्रष्ट अधिकारियो से मिल जाते है और इस प्रकार सरकार को ठगते है। इस स्थिति मे, एक मात्र सन्तुष्टि केवल यही होती है कि आरोही व्यक्तिगत आयकर के समान ही आरोही कृषि आय-कर भी लगा हुआ है, भले ही वह केवल कागज पर ही क्यो न हो।

व्यापारिक फसलो के क्षेत्र पर अधिभार (Surcharge on Area under Commercial Crops):

दूरदर्शी योजना सभाग (perspective planning division) व्यापारिक फसलो के क्षेत्र पर अधिभार लगाने का सुझाव दिया और कहा कि इस स्रोत से अनुमानित प्राप्तियो की मात्रा प्रतिवर्ष १२ करोड रु० होगी। इस अधिभार के समर्थन मे मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि वाणिज्य अथवा व्यापारिक फसलो से प्रति एकड आय खाद्यान्नो के मुकाबले काफी अधिक होती है। प्रस्ताव वैसे तो पूर्णतया ठीक और सुविधाजनक है परन्तु इस सम्बन्ध मे दो बातें अवश्य दृष्टिगत रखी जानी चाहिए। प्रथम तो यह कि व्यापारिक फसलो के क्षेत्र पर लगाया जाने वाला अधिभार ऐसा नही होना चाहिए कि उस इलाके मे फसलों के स्वरूप (pattern) को ही बिगाड दे अथवा परिवर्तित कर दे। दूसरे, यह अधिभार केवल ऐसे क्षेत्रो पर ही लगाया जाना चाहिए कि जिनसे काफी अनेक मात्रा में प्रति एकड आय प्राप्त हो, प्रति एकड औसत आय पर नही।

व्यापारिक फसलो पर क्रय कर (Purchase Taxes on Commercial Crops):

दूरदर्शी योजना सभाग ने कपास, जूट, गन्ना, तिलहन, तम्बाकू, जैसी व्यापारिक फसलो पर क्रय कर लगने का सुझाव दिया है। ये कर वैसे लगते तो बडे आकर्षक हैं किन्तु फिर भी इनके सम्बन्ध मे निम्न बातो पर गभीरता से विचार करना होगा —

(क) क्रय कर के प्रशासन मे कठिनाई उत्पन्न होने की सम्भावना है, परन्तु अनुभव बढने के साथ-साथ उस पर विजय पाई जा सकती है।

(ख) जिन व्यापारिक फसलो पर क्रय कर लगाने की बात है, वे उद्योगो को कच्चा माल प्रदान करती है। अत. क्रय करो के परिणामस्वरूप इन उद्योगो मे उत्पादन लागतो मे वृद्धि होने लगेगी। इसका फल यह हो सकता है कि इन करो की वाह्यता (incidence) सामान्य उपभोक्ताओ की ओर को अन्तरित (shift) हो जाए।

(ग) विदेशो को निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के मामले मे, क्रय करो के कारण उत्पादन-लागत मे जो वृद्धि होगी उसका विदेशी बाजारो में उन वस्तुओं की प्रतियोगिता करने की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा।

(घ) क्रय करो की बाह्यता पूर्णतया अथवा अशतया यदि किसानो पर पडती है तो ग्रामीण परिवारो पर उसका भार (कृषि आय-कर तथा अधिभारो (surcharges)

हो जायेगी……। अतः कृषि कराधान की हमारी वर्तमान व्यवस्था में किये जाने वाले इस प्रस्तावित परिवर्तन के प्रतिकूल प्रभाव को रद्द नहीं किया जा सकता।"[6]

आरोही कृषि आय-कर को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है कि जहाँ गैर-कृषि आय के कराधान में अरोहण का तत्व (element of progression) विद्यमान है, वहाँ कृषि आय के कराधान में ऐसी बात नहीं है। इस तथ्य के प्रमाणों को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि ऊँची आमदनियों वाले कृषक या तो कर-मुक्त हो जाते हैं अथवा वे अपनी आय का बहुत थोड़ा प्रतिशत ही कर के रूप में देते हैं। परन्तु यह बात भुला दी जाती है कि कृषि आय कर सभी राज्यों में लगाया जाता है और यह अत्यधिक आरोही भी होता है। ३००० रु० की न्यूनतम आय को छोड़कर (कुल राज्यों में छूट की यह सीमा ३,५००० रु० है), कृषि आय-कर की दर मद्रास (तामिलनाडु) में ४५ प्रतिशत तक, महाराष्ट्र में ५० प्रतिशत तक और असम में ७८ प्रतिशत तक बढ़ सकती है। सन् १६५१-५२ में कृषि आय-कर से ४ करोड़ रु० से कुछ अधिक आय प्राप्त हुई थी जबकि सन् १९६५-६६ में इससे १० करोड़ रु० प्राप्त हुए। परन्तु इस बात का एक महत्वपूर्ण कारण है कि राज्यों ने कृषि आय-कर की दरों को नीचा रखा है तथा उन्हें पर्याप्त महत्ता प्रदान नहीं की है। उक्त कारण यह है कि भूमि करों के साथ-साथ अनेक कर तथा उप-कर (cesses) भी लगाए जाते हैं जैसे कि समुन्नति-कर (betterment levy), सड़क तथा शिक्षा उपकर और जल-कर आदि।

भारत में आरोही कृषि आय कर के विचार-विमर्श में, हमें उन आर्थिक एवं प्रशासनिक कठिनाइयों पर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए जो कि ऐसे कर को लगाने में सामने आती हैं। सर्वप्रथम, कर लगाने के उद्देश्य से खेती की आय का निर्धारण करना एक कठिन कार्य है। सामान्य रूप से, आय उस अन्तर को माना जाता है जो कि प्राप्त आमदनी में से उस आमदनी की प्राप्ति में होने वाले व्यय को घटाने के बाद आता है। कृषि में, आय विभिन्न फसलों की बिक्री से होने वाली प्राप्तियों के बराबर होती है और खर्चों में अनेक ऐसी मदें सम्मिलित होती हैं जैसे कि भूमि पर किसान द्वारा किए गए व्यय, किराए पर लिया गया और उसके परिवार का श्रम, निरक्षण करने का उसका तथा उसके परिवारीजनों का श्रम, उपकरण, यन्त्र, चारा तथा खाद आदि सामान्य रूप से एक अशिक्षित किसान के लिए इन खर्चों का हिसाब बड़ा कठिन कार्य है। फिर, किसान अपनी आय तथा खर्चों के सम्बन्ध में कोई अभिलेख (record) भी नहीं रखते। कृषि आय-कर लगाने में यही सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण कठिनाई है।

दूसरे, अनेक फसलों की उपज तथा कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। मिर्च की कीमत इसका सर्वोत्तम उदाहरण है जो कि विगत दो वर्षों में ७५० रु० तथा २५० रु० प्रति क्विन्टल के बीच घटती-बढ़ती रही है। विभिन्न फसलों की उपज तथा कीमतों में व्यापक उतार-चढ़ाव होने का परिणाम यह होगा कि खेती की आय में भी व्यापक घटा-बढ़ी होगी। अतः इस स्थिति में, कर लगाने का आधार ही अनिश्चित तथा कठिन हो जाता है।

तीसरे, भारत में भू-धारणा (land holding) की अनेक पद्धतियाँ तथा काश्तकारी (tenancy) की अनेक किस्में प्रचलित हैं। इस स्थिति में मुख्य समस्या यह होगी कि करदाता कौन हो, यह निश्चय किया जाए। अनेक मामलों में एक स्थिति यह हो सकती है कि एक कृषि जोत (agricultural holding) में उत्पन्न कुल कृषि आय तो कर की परिधि में आ जाए परन्तु जब जमींदारों और काश्तकारों (tenants) के बीच उसका वितरण हो तो वह कर की परिधि में न आये।

---

6. I. S. Gulati and V. N. Kothari *Economic and Political Weekly* (Special Issue) July, 1968, "At its extreme a tax on current agricultural produce is tantamount to taxing land use and exempting the non-use of land. Thus, if the land tax is replaced by agricultural income tax, there is likely to be a transfer of land from productive to unproductive or less efficient uses and the place of improvement is likely to slacken……The perverse effect to the proposed change in our system of agricultural taxation cannot, therefore, be brushed aside."

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Dr Ved P. Gandhi : Tax Burden on Indian Agriculture. Chapters 3-5.
2 E T. Mathew : Agricultural Taxation and Economic Development in India.
3 Southworth and Johnston (Ed) : Agricultural Development and Economic Growth, Chap 12.
4 Economic and Political Weekly, May 25, July 20 and Special Issue, July 1968.

UNIVERSITY QUESTIONS

१. भारत में राज्यों द्वारा लगाये गये कृषि आय कर का वर्णन कीजिए। इसका औचित्य भी दीजिए।

Describe the agricultural income-tax as levied by the States in India Give also its justification.

२ राज्य के कर में कृषि करारोपण का क्या महत्व है? इस सम्बन्ध मे वर्तमान विचारधारा को समझाइए तथा राज कमेटी के सुझावों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

What is the importance of agricultural taxation to states tax revenues? Explain the trend of current thinking in this connection and give a brief account of Raj Committee Recommendations

के भार को भी दृष्टिगत रखते हुए) अत्यधिक हो जायेगा और समता एवं न्याय के आधार पर ऐसे कराधान को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता।

कृषि कर लगाये जाने के लिए अन्य जिन करों का सुझाव दिया गया, उनमें हैं—वेकार पशुओं पर कर तथा धन पर वार्षिक कर आदि।

कृषि धन तथा आय-कर के सम्बन्ध में राज समिति का प्रतिवेदन (१६७२)
(Report of the Committee on Taxation of Agricultural Wealth and Income—Raj Committee (1972)

कृषि धन तथा आय पर कराधान के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए फरवरी, १६७२ को राज समिति की नियुक्ति की गई थी। इसके अध्यक्ष डा० के० एन० राज थे। इस समिति को कृषि क्षेत्र से कर स्रोतों की सम्भावनाओं का परीक्षण करने का कार्य सौंपा गया था। इसमें अपना प्रतिवेदन अक्टूबर, १६७२ मे प्रस्तुत किया। समिति के अनुसार कृषि-क्षेत्र से कुल राष्ट्रीय आय का ५०% भाग प्राप्त होता है किन्तु फिर भी इस क्षेत्र ने देश के वित्तीय साधनों मे कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया है। कृषि आय-कर, भूमि लगान, फसल तथा भूमि-कर अधिकार आदि के रूप मे सरकार को मुश्किल से कुल घरेलू कृषि उत्पादन का १% ही प्राप्त होता है। समिति ने कृषि कराधान के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) कृषि जोतों पर कर लगाया जाये।

(२) आय-कर की दृष्टि से कृषि आय तथा गैर कृषि-आय को मिलाया जाना।

(३) धन कर मे कृषि सम्पत्ति पर कर को भी सम्मिलित किया जाये।

(४) कृषि भूमि के हस्तान्तरण की दशा मे पूँजी लाभों का कराधान।

(५) अन्य कर के साधन।

निष्कर्ष (Conclusion)

कृषि पर अतिरिक्त कराधान की आवश्यकता के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों के बीच सामान्य सहमति पाई जाती है। यह बात आमतौर पर स्वीकार की जाती है कि भारतीय कृषि पर कर पर्याप्त मात्रा मे नहीं लगे है और यह कि उसमे अतिरिक्त कराधान की पर्याप्त गुंजाइश है। यह बात किसानों के उच्च आय वाले वर्गों के सम्बन्ध मे तो विशेष रूप से सत्य है परन्तु अतिरिक्त कृषि कराधान के सम्बन्ध मे जो विविध प्रस्ताव प्रस्तुत किए गये है, वे दोषपूर्ण तथा अत्यधिक अव्यावहारिक प्रतीत होते है। यह सत्य है कि उनसे सरकार को कुछ अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा परन्तु यह भी सत्य है कि उनके संग्रह की लागत भी असाधारण रूप से ऊँची होगी। इसके अतिरिक्त, यदि सभी प्रस्तावित करों को एक साथ लगा दिया तो कृषि क्षेत्र पर पड़ने वाला भार (burden) गैर-कृषि क्षेत्र से भी अधिक हो जायेगा। किसानों के दृष्टिकोण से यह स्थिति अन्यायपूर्ण तथा असमतापूर्ण होगी। न यह आशा करना ही ठीक है, जैसा कि हमारे योजना निर्माताओं का विचार है कि अतिरिक्त कृषि कराधान से कृषि उपज बढाने तथा बाजार मे बिकने के लिए अधिक बेशियाँ लाने के अतिरिक्त प्रयासों को बढावा देगी, विशेष रूप से गुजारामात्र करने वाले कृषकों (subsistence farmers) की स्थिति मे। हमारे योजना निर्माता इस बात को भूल गये हैं कि गुजारात्मक करने वाले कृषक समता एव न्याय के विचारों के आधार पर अतिरिक्त कराधान से मुक्त कर दिये जायेंगे। अन्य किसानों के सम्बन्ध मे, उत्पादन बढाने की दिशा मे पहले से ही अधिकतम प्रयत्न किये जा चुके है। अत सम्भावना यही है कि सभी प्रस्तावित अधिभारों तथा कृषि आय करों से न तो अतिरिक्त उत्पादन ही बढ़ेगा और न बाजार मे बिकने के लिए आने वाले माल की मात्रा मे ही वृद्धि होगी। अतिरिक्त कृषि कराधान के प्रस्ताव जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किये गए है, कम से कम अल्पावधि मे तो उनसे उनकी पूर्ति की कोई सभावना प्रतीत नहीं होती।

परिभाषा सुविधाजनक तो हो सकती है, पर तर्कसंगत नही। हां, यह हमारे तात्कालिक उद्देश्य को अवश्य पूरा करती है।

इस अर्थ मे, घाटे की वित्त-व्यवस्था निम्नलिखित मे से एक अथवा अधिक उपायो द्वारा की जाती है—(१) केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर, (२) नगद बकाया खातो से निकालकर, (३) वाणिज्य बैंको से उधार लेकर, और (४) सरकार द्वारा नई मुद्रा जारी करके। भारत में सरकार द्वारा उक्त चौथे उपाय का आश्रय तो कभी-कभी ही लिया जाता है। सरकार अशत. तो रिजर्व बैंक की अपनी बकाया धनराशियो को निकाल लेती है और अशत राजकोष-पत्र (treasury bills) जारी करती है जो कि रिजर्व बैंक या वाणिज्य बैंक द्वारा ले लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त जनता तथा बैंको से लिये गये उधार को एक समान माना जाता है और उसे 'बाजार उधार' (market borrowing) का नाम दिया जाता है। इस सम्बन्ध मे सरकार अथवा रिजर्व बैंक जो आँकड़े प्रकाशित करते हैं उनमे केवल नकद बकाया धनराशियो का खाते से निकालना और रिजर्व से लिया गया निबल उधार ही सम्मिलित होता है।

घाटे की वित्त-व्यवस्था का उद्देश्य (The Purpose of Deficit Financing)

भारत मे सरकार को घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय मुख्यत इसलिये लेना होता है ताकि उसे योजनाओ के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध हो सकें। योजना के व्यय की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उसकी पूर्ति केवल कराधान द्वारा या जनता से उधार लेकर नही की जा सकती। साधनो की इस कमी को अशत विदेशी सहायता द्वारा पूरा किया जाता है, परन्तु जब विदेशी सहायता इसे पूरा करने के लिए पर्याप्त नही होती, तब घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा उसे पूरा किया जा सकता है। योजनाओ मे उत्पादन तथा रोजगार के लक्ष्य प्रारम्भ मे ही अर्थव्यवस्था के विकास की वाञ्छनीय दर ध्यान रखते हुए निर्धारित कर दिये जाते हैं। जब ये लक्ष्य उन खर्चों द्वारा पूरे नही होते जिनकी वित्त-व्यवस्था कराधान तथा उधार द्वारा की जाती है, तब उसके लिए अतिरिक्त साधन ढूंढने होते हैं। घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय कहाँ तक लिया जाना चाहिए, इसका निश्चय अनेक अन्य महत्वपूर्ण तत्त्वो को दृष्टिगत रखकर किया जाता है और योजनाओ मे इसके लिए उचित सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती हैं।

घाटे की वित्त-व्यवस्था ऐसे किन्ही वास्तविक साधनो (real resources) को उत्पन्न नही कर सकती जिनका अर्थव्यवस्था (economy) मे अस्तित्व ही न हो। यह तो केवल एक उपाय है जो सरकार की ओर से साधनो के स्थानान्तरण मे सहायता करता है। आर्थिक विकास के लिए जिन वास्तविक साधनो की आवश्यकता होती है वे सामग्री (materials), साजसज्जा (equipment) चातुर्य (spire), और श्रम (labour) के रूप मे वर्तमान होते हैं। ये चीजें नोट छापकर या बैंक उधार लेकर उत्पन्न नही की जा सकती। घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficitf-inancing) सरकार को धन उपलब्ध कराती है जिनका उपयोग आवश्यक वास्तविक साधनो को प्राप्त करने में किया जा सकता है, बशर्ते कि वे देश मे उपलब्ध हो। तथापि, एक सीमा ऐसी होती है जिसको लांघकर यदि घाटे का व्यय किया जाए तो वह अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होता है इससे कीमतो मे स्फीतिजनक वृद्धि (inflationary rise) होने लगती है और यदि घाटे का व्यय बहुत अधिक हो जाता है तो मुद्रा से जनता का विश्वास भी उठ जाता है। इस स्थिति मे घाटे की वित्त-व्यवस्था के प्रभाव अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी होते हैं।

घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा (The Extent of Dificit Financing)

योजना का कुल व्यय २०६९ करोड रु० था जिसमे से १४१४ करोड रु० बचतो, राजस्व की वेशियो तथा विदेशी सहायता से, जिसका कि अनेक देशो ने पहले ही वचन दे रखा था, प्राप्त होने की आशा थी। इस प्रकार ६५५ करोड रु० की कमी थी जिसे अतिरिक्त कराधान उधार-विदेशी सहायता तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था मे पूरा करना था। इस प्रकार घाटे का वास्तविक व्यय, जिसका कि आश्रय लिया, ४२० करोड तक पहुँच गया। द्वितीय योजना मे १,२०० करोड रु० की घाटे की वित्त-व्यवस्था निर्धारित की गई। यह वस्तुत बडी तेज खुराक थी और कीमतो मे गम्भीर स्फीतिजनक वृद्धियो के बिना इसको नही निगला जा सकता था। तथापि द्वितीय योजनाकाल मे कर-प्रयासो मे ठोस वृद्धि हुई। अनेक नये प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर लगाये

२७

घाटे की वित्त-व्यवस्था
(Deficit Financing)

भारत मे आर्थिक विकास के साधनो की प्राप्ति के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था का उपयोग किया जाता रहा है। जब सरकार कराधान तथा उधार के द्वारा पर्याप्त साधन प्राप्त नही कर पाती, तब विकास-व्यय की वित्तीय व्यवस्था, एक सीमा तक, या तो रिजर्व बैंक मे अपनी बकाया धनराशियो का शोषण करके या उससे उधार लेकर करती है। कभी-कभी नई मुद्रा भी जारी कर दी जाती है अथवा वाणिज्य बैंको से कर्ज लेकर भी काम चलाया जाता है। इस प्रकार सरकार विकास के लिए वास्तविक साधन प्राप्त करने को आवश्यक धन प्राप्त कर लेती है किन्तु ऐसा करने से जनता के पास उपलब्ध क्रय-शक्ति मे भी कोई कमी नहीं होती। सरकार द्वारा इस रीति से वित्त की व्यवस्था करने का अर्थव्यवस्था पर जो प्रभाव पडता है उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ है अत उन पर पृथक् से विचार करने की आवश्यकता है।

घाटे की वित्त-व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Deficit Financing).

'घाटे की वित्त-व्यवस्था' अथवा 'घाटे की व्यय-व्यवस्था' से आशय कभी-कभी ऐसे किसी भी सरकारी खर्च से लिया जाता है जो चालू आय (current revenue) से अधिक मात्रा मे किया जाए। अत ऐसा कोई खर्च, जिसकी पूर्ति जनता से उधार लेकर की जाती है, बजट के घाटे का ही एक भाग माना जाता है। इन मानो मे घाटे की व्यय-व्यवस्था का अर्थ-व्यवस्था (economy) पर जो प्रभाव पडता है उस पर पहले ही विचार किया जा चुका है। किन्तु भारत मे घाटे की वित्त-व्यवस्था का आशय केवल उस खर्च से होता है जो सरकार की चालू आय तथा गैर-बैंकिंग उधार से अधिक मात्रा मे होता है। इस प्रकार, जो जनता से उधार लिया जाता है उसे घाटे की परिधि से बाहर रखा जाता है। इन मानो मे घाटे का परिणाम सदा यह होता है कि समाज मे कुल व्यय की मात्रा बढ जाती है। अपने देश मे नियोजन के सन्दर्भ मे घाटे की वित्त-व्यवस्था की यही व्याख्या लागू की गई है।

जनता से उधार लेकर किये गये सरकारी खर्च को घाटे से बाहर रखने की जो व्यवस्था की गई है, वह इस पूर्वधारणा (assumption) पर आधारित है कि इस खर्च से कुल राष्ट्रीय व्यय मे वृद्धि नही होती। ऐसा सभवत केवल तब होगा जबकि सरकारी कर्ज लोगो की उचित बचतो के प्रतीक हो। परन्तु हमेशा ही ऐसा नही होता। सरकार को उधार की धनराशि किस प्रकार के स्रोत से प्राप्त हो रही है, यह उधार देने वाले की किस्म पर निर्भर है। परन्तु जब सरकार उधार लेती है तो सदा ही उधार देने वाले की किस्म की कोई जानकारी नही रखती, और न सरकारी ऋण का स्वामित्व सदा उन व्यक्तियो के पास ही रहता है जिन्होने प्रारम्भ मे उधार दिया था। अत. इस मान्यता मे कोई वजन नही है कि सामान्य जनता से उधार लेकर जो सरकारी खर्च किया जाता है उससे समाज के कुल व्यय मे कोई वृद्धि नही होती। घाटे की यह

परन्तु उत्पादन मे ऐसी वृद्धि काफी समय के पश्चात् ही सम्भव होती है और प्रयोजनाओ को परिपक्व (mature) होने मे जितना अधिक समय लगता है, माँग की वृद्धि सम्भरण की वृद्धि के बीच समय की दूरी भी उतनी ही अधिक होती है।

प्राय. यह भी कहा जा सकता है कि स्थिति निजी निवेश की वृद्धि को प्रोत्साहन देती है। जैसे ही कीमतें बढती हैं, निवेश की लाभोत्पादकता मे वृद्धि होती है जिससे और निवेश करने को प्रोत्साहन मिलता है। यह बात सम्भवत. स्फीति के प्रारम्भिक चरणो के लिए ही सही है। स्फीति जैसे-जैसे बढती है और अधिक तेज होती है तो उससे व्यवसाय मे अधिकाधिक अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती हैं जिससे निवेश करने की इच्छा नष्ट हो सकती है। इसके अतिरिक्त स्फीति के प्रारम्भिक चरणो मे वस्तु की लागत मे उस दर से वृद्धि नही होती जिस दर से कि कीमते बढती हैं। लागतो मे वृद्धि तब होती है जब स्फीति की आयु कुछ बढ जाती है। इस स्थिति मे, स्फीति के बाद के चरणो के लाभो मे वृद्धि केवल घटती दर (diminishing rate) पर ही होती है। हो सकता है कि इससे निवेश करने की आवश्यक प्रेरणा न मिले। कुछ भी हो, किसी भी स्थिति मे, निवेश की मात्रा मे ऐसी दर से वृद्धि नही हो पाती जिसे कि उस बुराई की पर्याप्त क्षतिपूर्ति कहा जा सके जो स्फीति के कारण उत्पन्न होती है।

यह कहा जाता है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था निवेश के द्वारा बचतो को आगे लाती है। जब ऐच्छिक बचतो की मात्रा इतनी पर्याप्त नही होती कि जिससे योजना मे निर्धारित पूँजी निर्माण का लक्ष्य पूरा हो सके, तो घाटे की व्यय-व्यवस्था (deficit spending) द्वारा निवेश किया जाता है और बढ़े हुए खर्च के कारण आय मे जो वृद्धि होती है उसके फलस्वरूप बचतें भी बढती है। इस प्रकार घाटे की वित्त-व्यवस्था निवेश को इस योग्य बनाती है कि वह बचतो को बढावा दे। जब घाटे की व्यय-व्यवस्था के द्वारा स्फीति उत्पन्न होती है तो कीमतें बढने के कारण चूँकि उपभोग कम हो जाता है अत बचतें मजबूरन करनी पडती हैं। परन्तु ऐसा केवल तभी होता है जबकि आर्थिक सम्बन्धो मे व्यापक परिवर्तन किये जाते है। स्फीति निश्चित आय का उपार्जन करने वाले व्यक्तियो के उपभोग मे अनिवार्य रूप से कमी करती है परन्तु कभी-कभी यह कमी (reduction) लाभोपार्जन करने वाले व्यक्तियो के उपभोग मे वृद्धि द्वारा की जाने वाली क्षतिपूर्ति से भी अधिक होता है। अतः कुल बचत मे निबल वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक होगा कि लाभ प्राप्तकर्त्ताओ (profit receivers) की ओर की आय को भारी मात्रा मे स्थानान्तरण किया जाए। किन्तु ऐसे स्थानान्तरणो (transfers) से आय तथा धन की असमानताओ मे भारी वृद्धि हो जायेगी जिससे बडा सामाजिक असन्तोष उत्पन्न होगा।

स्फीति के द्वारा जिस प्रकार का निवेश होता है, सम्भव है उसका रूप वह न हो जिसकी कि योजना के लिए आवश्यकता है। निवेश के ऐसे कुछ क्षेत्र है जिन्हे स्फीति से भारी प्रोत्साहन मिलता है। ऐसे तीन क्षेत्र है चल-सम्पत्ति का धारण, विलासिता सम्बन्धी शहरी निर्माण-कार्य और विदेशी परिसम्पत्तियाँ। परन्तु योजनाबद्ध विकास के लिए इन्हे सर्वोत्तम क्षेत्र नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त इसमे सट्टेबाजी की प्रवृत्ति भी बढ जाती है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि स्फीति जिस प्रकार के निवेशो को प्रोत्साहन देती है वे वाञ्छनीय नही है।

घाटे की वित्त-व्यवस्था मे जो स्फीतिजनक शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे बैंको द्वारा साख-निर्माण (credit creation) की वृद्धि से और तीव्र हो जाती है। जब निजी व्यय (private spending) मे समवर्ती कमी किये बिना ही सरकार का व्यय (Government spending) बढता है तो केन्द्रीय बैंक मे जमा बैंको की धनराशियाँ बढ जाती हैं। इस स्थिति मे, वाणिज्य बैंक यह पाते है कि उनकी नकदी की मात्रा बढ गई है और वे और अधिक उधार देने की स्थिति मे आ जाते हैं। अर्थव्यवस्था मे तेजी की दशाओ (boom conditions) से बैंक-उधार की माँग मे वृद्धि होती है और यह बढी हुई माँग सरलता से पूरी कर दी जाती है। अब यह बढा हुआ बैंक उन उधार स्फीति सम्बन्धी शक्तियो को और तीव्र कर देता है जो कि घाटे की वित्त-व्यवस्था से उत्पन्न हुई थी।

घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण यदि स्फीति बहुत अधिक आगे बढ जाती है तो वह आत्मघाती बन जाती है। कीमतो मे वृद्धि होने से लागते (costs) भी बढती हैं और लागत

गये। विदेशी सहायता भी आशा के अनुरूप ही प्राप्त हुई। द्वितीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों में बजट सम्बन्धी घाटे अधिक रहे किन्तु बाद के वर्षों में उन्हें कम करने के प्रयत्न किये गये, परिणाम स्वरूप योजना की कुल अवधि में घाटा मोटे तौर पर ९४८ करोड़ रु० रहा।

द्वितीय योजना के अन्तिम वर्षों में चूँकि कीमतें बहुत तेजी से बढ़ी और उधर घाटे की वित्त-व्यवस्था की क्षतिपूर्ति के रूप में विदेशी विनिमय की आरक्षित निधियाँ भी अधिक उपलब्ध नहीं थी, अतः तृतीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा को इतनी न्यूनतम रखने का प्रस्ताव किया गया जो कि अर्थव्यवस्था की उचित मौद्रिक आवश्यकताओं की दृष्टि से जरूरी हो। अनेक बातों पर विचार करने के पश्चात् तृतीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था की सीमा ५५० करोड़ रु० रखी गई थी। किन्तु वास्तव में तृतीय योजना काल में घाटे की वित्त-व्यवस्था कुल मिलाकर १,१३३ करोड़ रु० थी। तृतीय योजना के अन्त से, घाटे की वित्त-व्यवस्था में प्रतिवर्ष औसतन लगभग २५० करोड़ रु० की वृद्धि होती रही है। चतुर्थ योजना में ८५० करोड़ रु० की घाटे की वित्त-व्यवस्था का प्रस्ताव था। किन्तु चतुर्थ योजना काल में वास्तविक घाटे की वित्त-व्यवस्था २७५० करोड़ रु० की हुई। पाँचवी पचवर्षीय योजना में २,००० करोड़ रु० की घाटे की वित्त-व्यवस्था का प्रावधान है। जनता सरकार ने इसे कम करने का भरसक प्रयास कर रही है। सन् १९७७-७८ के वित्तीय वर्ष के लिए केवल ७२ करोड़ रु० के घाटे की वित्तीय व्यवस्था का प्रावधान रखा गया है। गत कुछ वर्षों में होने वाली घाटे की वित्त-व्यवस्था का अध्ययन निम्न तालिका की सहायता से किया जा सकता है:

वित्तीय वर्ष		घाटे की वित्त-व्यवस्था (करोड़ रु० में)
१९५०-५१		३
१९६५-६६		१७२ ७६
१९६८-६९		२६२ ३
१९६९-७०		२९० १
१९७०-७१		२२९ ६
१९७१-७२		३९६ ९
१९७२-७३		५५० ०
१९७३-७४		६५० ९
१९७४-७५		७२१ ०
१९७५-७६	(सशोधन)	४९० ०
१९७६-७७	(सशोधित)	४२५ ००
१९७७-७८	(बजट)	७२ ००

घाटे की वित्त-व्यवस्था के प्रभाव (Effects of deficit financing)

घाटे की वित्त-व्यवस्था आर्थिक विकास की गति को तेज करने में सहायक होती है, परन्तु कभी-कभी इसके जो अन्य प्रभाव सामने आते हैं, वे योजना बनाने वालों की आशाओं पर पानी फेर देते है। ऐसे प्रभावों में एक है कीमतों में स्फीतिजनक वृद्धि (inflationary rise) होना। घाटे की वित्त-व्यवस्था से खर्च की कुल मात्रा में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की कुल माँग भी बढ़ती है। किन्तु कुल सम्भरण (aggregate supply) में समवर्ती वृद्धि न होने के कारण उससे कीमतें बढ़ने लगती है। यह कहा जा सकता कि विकास के लिए धनी जाने वाली घाटे की वित्त-व्यवस्था युद्ध के लिए की जाने वाली घाटे की वित्त-व्यवस्था से मात्रा होती है। युद्धकालीन घाटे की व्यवस्था में, अतिरिक्त व्यय तो किया जाता है किन्तु उससे की प्रावे उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती, जिसके परिणामस्वरूप सदा ही स्फीति (inflation) नहीं कर हो जाती है। दूसरी ओर, विकास के लिए की जाने वाली घाटे की वित्त-व्यवस्था को थोड़े ही समें उत्पादन बढ़ता है अत उपज की वृद्धि से इसके स्फीतिजनक प्रभाव निष्फल हो जाते हैं।

बचत करने को बाध्य हो जाता है। इसमे कोई सन्देह नही है कि एच्छिक बचतो मे जो कमी होती है उससे इस प्रभाव का कुछ भाग निष्फल बना दिया जाता है।

घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण कीमतो मे जो भी वृद्धि होती है वह एक समानुपाती कर (proportional tax) के रूप मे कार्य करती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय द्वारा पहले से कम मात्रा मे वस्तु खरीद पाता है। परन्तु इस कर का भार विभिन्न वर्गों पर बड़े असमान रूप से पडता है। जब कीमतें बढती है तो उत्पादकों एवं व्यापारियों जैसे कुछ वर्गों की आय तेजी से बढती है, किन्तु कुछ अन्य लोगो की आय थोडी मात्रा मे बढती है और यह भी हो सकता है कि कुछ लोगो की आय बिल्कुल ही न बढे। जब सामान्य मूल्य-स्तर मे वृद्धि होती है तो सभी कीमतें समान अनुपात मे नही बढती। कुछ कीमते अधिक बढती हैं, कुछ कम कुछ बिल्कुल नही बढती। इस प्रकार, कीमतो की वृद्धि से विभिन्न प्रकार के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित होते है। यही कारण है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था का उपयोग बडी सावधानी से करना चाहिए क्योकि कभी-कभी इसके प्रभाव बडे विनाशकारी होते हैं।

घाटे की वित्त-व्यवस्था की सीमा (Limit or Deficit Financing) :

एक प्रश्न यह पूछा जाता है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था की सुरक्षित सीमा क्या हो सकती है ? सरकार ने प्रथम दो योजनाओ मे घाटे की वित्त-व्यवस्था जितनी मात्रा मे अपनाई, कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार वह बहुत अधिक थी, जबकि अन्य अर्थशास्त्रियो ने उसे काफी हल्की बताया है। अतः सुरक्षित सीमा के रूप मे कोई निश्चित आँकडे देना बडा कठिन है। वास्तव मे, सुरक्षित सीमा की बात कई तत्वो पर निर्भर है।

घाटे की वित्त-व्यवस्था की सुरक्षित सीमा का पता उसके द्वारा उत्पन्न स्फीति की मात्रा से लगाया जा सकता है। और स्फीति की मात्रा भी आंशिक रूप से अपनाई जाने वाली घाटे की वित्त-व्यवस्था के विस्तार पर निर्भर होती है। घाटे की वित्त-व्यवस्था की एक हल्की मात्रा सदा ही सुरक्षित होती है। जब कीमतो पर सतर्कता से दृष्टि रखी जाती है और उन्हे उचित सीमा से अधिक नही बढने दिया जाता, तब घाटे की वित्त-व्यवस्था को सुरक्षित माना जा सकता है।

परन्तु कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो सुरक्षा की सीमाओ का निर्धारण करते हैं। घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण मुद्रा की मात्रा मे जो वृद्धि होती है, वह भी एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। यह हो सकता है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था के साथ-साथ मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि न हो। प्रतिकूल अदायगी शेष (unfavourable balance of payments) की स्थिति मे सरकार को केन्द्रीय बैंक की विदेशी विनिमय की आरक्षित निधियो का उपयोग करना पडता है जिससे मुद्रा के सभरण (supply) की मात्रा घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा से काफी कम रहती है। उदाहरण के लिए द्वितीय योजना की अवधि मे, कुल घाटे की वित्त-व्यवस्था ९४८ करोड रु० की थी किन्तु मुद्रा के सभरण मे केवल ७०५ करोड रु० की ही वृद्धि हुई थी। इस सीमा तक स्फीतिजनक प्रभाव कम थे।

फिर, जैसा कि हम बतला चुके हैं, मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के साथ ही साथ यह भी हो सकता है कि मुद्रा की मांग मे भी समवर्ती वृद्धि (corresponding increase) हो जाए। जब ऐसा होता है तो कीमतो पर मुद्रा की मात्रा का प्रभाव कम होता है इसके अतिरिक्त, जब निवेश के परिणामस्वरूप उत्पादन मे ठोस वृद्धि होती है तो कीमतें घाटे की वित्त-व्यवस्था से अधिक प्रभावित नही होती। यह अन्तिम शर्त भारत पर लागू होनी क्योकि हमारी अधिकाश प्रयोजनायें (project) दीर्घकालीन प्रकृति की हैं अत. घाटे के व्यय के साथ हो साथ उत्पादन मे वृद्धि सम्भव नहीं हो सकी।

इसके अतिरिक्त, घाटे की वित्त-व्यवस्था के प्रभाव तथा इसकी सीमा इस बात पर भी निर्भर है कि लोगो की बढी हुई अतिरिक्त आय किस सीमा तक सरकार द्वारा ले ली जाती है। सरकार सदा ही बचत तथा कराधान की ऐसी योजनाएं लागू कर सकती है जिनके द्वारा वह लोगो की बढी हुई क्रय-शक्ति उनके पास से ले सके। इन योजनाओ की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि कितनी प्रगति की है और कितने उत्साह से उन्हे लागू किया जा रहा है। उनकी सफलता पर

से फिर कीमतें बढती है। इस प्रकार स्फीति का एक चक्र चालू हो जाता है। इन परिस्थितियो मे यदि कीमतो को बढने से रोका जाता है, तो लागतें पूर्ववत् बढती रहती हैं जिससे निवेश की लाभोत्पादकता घट जाती है, परिणामस्वरूप निवेश या तो बन्द हो जाता है अथवा कम हो जाता है। केवल कीमतो की हल्की वृद्धि की स्थिति मे ही इस वृद्धि के चक्र से बचा जा सकता है और निवेश को प्रोत्साहित किया जा सकता है। अत घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण कीमतो मे जो वृद्धि होती है उसको स्फीतिजनक होने से रोका जाना चाहिए।

घाटे की वित्त-व्यवस्था यदि स्फीतिजनक हो जाए तो उससे बचना चाहिए। परन्तु घाटे की वित्त-व्यवस्था यद्यपि स्वभावत. ही विस्तारजनक (expansionary) प्रभाव डालती है, पर यह हो सकता है कि वह सदा ही स्फीतिजनक (inflationary) न हो और उसमे ऐसी दशाएँ वर्तमान हो सकती है जो स्फीति को रोकें। कभी-कभी कीमतो की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए अपनाई जाने वाली एक उपयुक्त नीति से भी बडी सहायता मिलती है। घाटे की वित्त-व्यवस्था से होने वाली थोडी सी हानि के साथ ही साथ यदि समुचित रोकें भी लगाई जाएँ तो उससे अर्थ-व्यवस्था मे विस्तार तो उत्पन्न हो सकता है परन्तु स्फीति उत्पन्न नही हो सकती। इस स्थिति मे यह हो सकता है कि कीमतो मे वृद्धि न हो और यदि कभी कीमतो में वृद्धि होगी भी, तो उससे स्फीति उत्पन्न न होगी।

कुछ ऐसी शक्तियाँ भी है जो एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे घाटे की वित्त-व्यवस्था के स्फीतिजनक प्रभावो को निष्फल बना देती है। जब निवेश मे योजनाबद्ध तरीके से निरन्तर वृद्धि की जाती है तो प्रत्येक अगली अवधि मे उपज मे वृद्धि होती है। उत्पादन की इस वृद्धि से सौदो अथवा लेन-देन के लिए द्रव्य के सभरण मे समवर्ती वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। फलत इस सीमा तक घाटे की वित्त-व्यवस्था के स्फीतिजनक प्रभाव निष्फल बना दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, विकास के साथ ही साथ, अर्थव्यवस्था मे मुद्रा का उपयोग करने वाले क्षेत्र का विस्तार होने लगता है, और इससे भी मुद्रा की माँग बढती है। यही नही, आर्थिक विकास के साथ-साथ जैसे-जैसे आय बढती है वैसे-वैसे ही जनता की नकद धनराशियो की माँग भी बढ जाती है जिसमे बढी हुई मुद्रा का कुछ भाग भी खप जाता है। अन्त मे, यदि देश विदेशी सहायता प्राप्त करने की स्थिति मे है तो उसमे वेशी उत्पन्न हो सकती है जो कि स्फीति विरोधी प्रभाव डालती है। ऊपर जिन दशाओ का उल्लेख किया गया है उनमे से किसी एक अथवा अधिक को अपनाने के साथ ही साथ यदि घाटे की वित्त-व्यवस्था एक उपयुक्त मात्रा मे लागू की जाए तो बिना किसी भय के उसका विकास के लिए उपयोग किया जा सकता है। इन दशाओ मे मुद्रा के सभरण (money supply) मे जो वृद्धि होगी, वह मुद्रा की माँग (money demand) की वृद्धि मे खप जायेगी और उसी मात्रा मे स्फीति जनक प्रभाव भी सीमित हो जायेंगे।

इस प्रकार, यद्यपि घाटे की वित्त-व्यवस्था मे अनेक खतरे मौजूद है, किन्तु फिर भी यदि इसका प्रयोग सावधानी एव सतर्कता के साथ किया जाए तो तीव्र आर्थिक विकास के लिए यह एक बडा लाभदायक साधन बन सकता है। इसके द्वारा बिना किसी प्रकार के ब्याज आदि के व्यय के ही सरकार धन प्राप्त कर सकती है। जब सरकार घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लेती है तो आमतौर पर रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से उधार लेती है। इस सम्बन्ध मे सरकार रिजर्व बैंक को जो ब्याज देती है वह लाभो के रूप मे पुन. सरकार के पास ही वापिस आ जाता है। घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा, अन्य किसी भी स्थिति के मुकाबले साधनो का उपयोग काफी जल्दी कर लिया जाता है। योजनाबद्ध विकास मे, विकास कार्यक्रम निर्धारित क्रम के अनुसार ही लागू किये जाते हैं। उधर विकास की गति मे भी काफी तेजी लानी होती है। घाटे की वित्त-व्यवस्था की विधि से सरकार बिना अधिक विरोध के ही साधनो को प्राप्त करने मे समर्थ हो जाती है। कराधान की वृद्धि का जनता की ओर से सदा ही विरोध किया जाता है और जनता से कर्ज भी सीमित मात्रा मे ही प्राप्त होते हैं। घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा सरकार को बहुत शीघ्र ही साधनो की प्राप्ति हो जाती है और वह भी ऐसे छिपे रूप मे, जिसमे जनता के किसी विरोध का सामना नही करना पडता। जब सरकार द्वारा इस रीति से कुछ साधन प्राप्त कर लिये जाते हैं तो शेष थोड़े ही साधनो की प्राप्ति का काम जनता पर छोडा जाता है, और इस सीमा तक समाज अधिक

अधिक आय प्राप्त हो सकती है जितनी कि उसे वास्तव में आवश्यकता है। यदि सरकार अपनी आय की उस सीमा तक ही कर लगाये जितनी कि उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चाहिए तो सरकार को एक मात्र उच्चतम आय वाले वर्गों से ही वह रकम वसूल करनी चाहिए।

उच्चतर तथा निम्नतर आय वाले वर्ग और कराधान—उच्चतर आमदनियों (higher incomes) पर भारी कर लगाये जायेंगे और निम्नतर आय वाले वर्गों (lower income groups) को या तो करों से पूर्णतया मुक्त कर दिया जायेगा अथवा बहुत हल्के कर लगाये जायेंगे। अन्य शब्दों में, कराधान आरोही (progressive) होगा और अवरोही (regressive) तथा अनुपाती (proportional) कराधान इस पद्धति में इसलिए सम्मिलित नहीं होंगे क्योंकि ये वितरण-न्याय अथवा यथाभाग न्याय (distributive justice) के विरुद्ध पड़ते हैं और इनसे यह भावना बनती है कि निर्धनों से अन्यायपूर्ण त्याग कराते हैं। इस बात की विवेचना हम आगे करेंगे कि वे ऐसी योजना के अन्तर्गत, प्रत्यक्ष कर ही कर-पद्धति पर छाये रहेंगे, परोक्ष करों (indirect taxes) की बहुलता वितरण-न्याय की दृष्टि से ठीक नहीं होगी क्योंकि परोक्ष करों का भार मुख्य रूप से निम्नतर आय वाले वर्गों पर ही पड़ता है।

इस प्रकार वितरण न्याय का सिद्धान्त यह माँग करता है कि करों का वितरण उन लोगों के बीच किया जाना चाहिए जो उनको अदा करने की स्थिति में हों। परन्तु ऐसा कराधान उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है। एक पूँजीवादी व्यवस्था में, उद्यमकर्ताओं (entrepreneurs) द्वारा उत्पादन मुख्यतः व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता है। उद्यमकर्ता (entrepreneurs) मुख्यतया लाभों की लालसा से ही व्यवसाय के जोखिम व खतरे मोल लेते हैं। परन्तु इन लोगों पर यदि भारी कर लगाये गये तो इसका प्रभाव उनकी कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा और क्षमता पर पड़ेगा। अतः यह आवश्यक है कि न्यूनतम समस्त त्याग के उद्देश्य से लगाये जाने वाले करों में इतना संशोधन अवश्य किया जाये कि उत्पादन करने की प्रेरणा पर उनका बहुत अधिक प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

पीगू ने इस प्रकार न्यूनतम समस्त त्याग के सिद्धान्तों को समता की विचारधारा से कल्याण की विचारधारा की ओर मोड़ दिया। इस मोड़ का उल्लेख लोकवित्त के विश्लेषण (analysis) में किया जाने लगा है।

कराधान का समाज-कल्याण सिद्धान्त (Social Welfare Principle of Taxation)

अदा करने की सामर्थ्य के सिद्धान्त (principle of ability to pay) के समर्थक अनेक समाजवादियों (socialists) का विश्वास था कि सामर्थ्य सिद्धान्त आरोही कराधान (progressive taxation) को प्रोत्साहन देगा और आरोही कराधान आय के पुनर्वितरण के सामान्य लक्ष्य की पूर्ति करेगा। अदा करने की सामर्थ्य के प्रति यह दृष्टिकोण मौलिक रूप से फ्रांस की क्रान्ति के अतिवादी लेखकों (radical writers) तथा प्रारम्भिक समाजवादियों द्वारा अपनाया गया था, विशेष रूप से सिसमोण्डी (Sismondi) द्वारा। लोकवित्त के जर्मन विशेषज्ञ एडोल्फ वैगनर (Adolph Wagner) ने पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में इस सिद्धान्त को अधिक साधारण एवं परिमित रूप में प्रस्तुत किया। समाज-कल्याण का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि यह राज्य का उत्तरदायित्व है कि वह धन एवं आय की उन चरम असमानताओं को दूर करे जो कि बाजार-शक्तियों (market forces) के मुक्त संचालन से तथा स्वतन्त्र समाज में प्रचलित उत्तराधिकार की व्यवस्था से उत्पन्न हो जाती हैं। समाज-कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से इन चरम असमानताओं (extreme inequalities) को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है और इस उद्देश्य की पूर्ति आरोही कराधान के द्वारा की जा सकती है।

ही घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लिया जा सकता है बशर्ते कि वह लोगो की बढी हुई अतिरिक्त आय को उनसे लेने के लिए तत्पर है। घाटे की वित्त-व्यवस्था की एक बडी खुराक के बुरे प्रभाव इन उपायो द्वारा दूर किये जा सकते हैं। दूसरी ओर, जब सरकार इस स्थिति मे न हो कि अतिरिक्त कर लगाये अथवा बचत की योजनायें लागू करें तो वह सीमित मात्रा मे घाटे के व्यय का आश्रय ले सकता है।

कीमत तथा मजदूरी नियन्त्रण की कार्यवाहियो की सफलता एक अन्य महत्वपूर्ण तत्त्व है जो घाटे की वित्त-व्यवस्था के प्रभावो का निर्धारण करता है। यदि घाटे की वित्त-व्यवस्था के कारण स्फीतिजनक दशायें उत्पन्न होती हैं तो उनके बुरे प्रभावो को नियन्त्रित किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे, अधिकाश देशो मे कीमतो पर, उत्पादन पर और मजदूरियो तथा आमदनियो पर नियन्त्रण लगाया गया था और जहाँ भी यह सफल हुआ वहाँ इनके द्वारा स्फीतिजनक दशाओ पर रोक लगी। इसी प्रकार के नियन्त्रण तब भी लगाये जा सकते है जबकि आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था को अपनाया जाए। किन्तु यह देखा जाता है कि युद्ध-काल के अलावा अन्य समयो मे कीमतो तथा आमदनियो को नियन्त्रण करने मे अधिकारियो मे कुछ मात्रा मे अनिच्छा तथा उदासीनता-सी पाई जाती है। युद्ध एक ऐसा अवसर होता है जबकि प्रत्येक कार्यवाही को न्यायोचित माना जाता है। परन्तु शान्तिकाल मे ऐसा अवसर होता है जबकि प्रत्येक कार्यवाही को न्यायोचित माना जाता है। परन्तु शान्तिकाल मे नियन्त्रण लागू करने को जनता की क्रियाओं मे एक अनावश्यक हस्तक्षेप समझा जाता है। अत. कीमतो पर घाटे की वित्त-व्यवस्था के बुरे प्रभावो को रोकने के लिए प्राय कोई प्रयत्न नही किया जाता और थोडी मात्रा मे घाटे की वित्त-व्यवस्था को ही सुरक्षित समझा जाता है। भारत मे सरकार ने कन्ट्रोल लागू करने मे बड़ी हिचकिचाहट दिखाई है, परिणामस्वरूप घाटे की वित्त-व्यवस्था के कुप्रभाव बिना किसी रोक के बराबर जारी है। द्वितीय योजना मे घाटे की व्यय-व्यवस्था जिस मात्रा मे अपनाई गई थी, उसे कुछ लोगो ने बहुत अधिक बताया है।

एक अन्य तत्त्व, जो अर्थव्यवस्था मे घाटे की वित्त-व्यवस्था की सही सीमा को निर्धारित करता है, वह भावना (spirit) है जिसके द्वारा लोग उतना त्याग करने को तैयार होते है या नही, जितनी कि उनसे आशा की जाती है। युद्ध-काल मे, भारी कर लगाये जाते हैं और भारी मात्रा मे ऐच्छिक बचतें आगे आती है। लोग एक बडे कारण के लिए भारी त्याग तक करने को तैयार रहते हैं। योजनाओ के काल मे भी उनको इस प्रकार शिक्षित किया जा सकता है कि वे आर्थिक विकास को भी एक बडा एव महत्त्वपूर्ण कारण समझें। नियोजन (planning) युद्ध-स्तर पर लागू किया जा सकता है और लोगो को इस बात के लिए तैयार किया जा सकता है कि वे स्थिति की गम्भीरता को समझें। इस प्रकार लोगो को बिना चीं-चाँ किये ही बडे-बडे त्याग करने को तैयार किया जा सकता है और फिर घाटे की वित्त-व्यवस्था को बड़ी मात्रा मे अपनाया जा सकता है तथा उसके सम्पूर्ण भार एव त्याग आसानी से वहन किये जा सकते हैं।

भूतकाल की अपेक्षा भविष्य मे घाटे की वित्त व्यवस्था छोटे पैमाने पर अपनानी होगी। उदाहरण के लिए सन् १९७७-७८ के बजट मे केवल ७२ करोड़ रु० की घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रावधान है। जनता सरकार ने घाटे की वित्त व्यवस्था को समाप्त करने पर बल दिया है। श्री मोरारजी देसाई घाटे की वित्त व्यवस्था के प्रबल विरोधी प्रतीत होते हैं।

कुछ चुने हुये संदर्भ ग्रन्थ

1. R. N Bhargava, *Indian Public Finances*, Ch. IX.
2. R. N Tripathi, *Fiscal Policy and Economic Development in India.*
3. Raja J. Chelliah, *Fiscal Policy in under developed Countries*, pp. 149-158.
4. Third Five-Year Plan, pp. 99-100.
5. Fourth Five-Year Plan.
6. Fifth Five-Year Plan.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१ किसी विकासशील राष्ट्र मे हीनार्थ प्रबन्धन के योगदान को समझाइए।

Explain the role of deficit financing in a developing economy.

२ हीनार्थ प्रबन्धन क्या है ? यह आर्थिक विकास को बढाने मे किस प्रकार सहायता करता है ? इसकी क्या सीमाये हैं ? भारतीय अनुभव से स्पष्ट कीजिए।

What is deficit financing ? How does it accelerating economic development ? What are its limitations ? Illustrate from Indian experience.

३. घाटे की वित्त-व्यवस्था से आप क्या समझते हैं ? क्या इसका प्रभाव सदैव मुद्रा प्रसार होता है ? इसके कुप्रभावो को दूर करने के उपाय बताइये।

What do you understand by deficit financing ? Is it always inflationary in its effects ? What steps would you advocate to counter its adverse effects

४. अल्प विकसित देश मे हीनार्थ प्रबन्धन का आर्थिक विकास को गति देने मे किस सीमा तक उपयोग किया जा सकता है ? क्या हीनार्थ प्रबन्ध-विधि की कोई मर्यादा अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे सन्निहित है ?

To what extent can deficit financing be used for accelerating economic development of an underdeveloped country ? Are there any limitations of the technique of deficit financing inherent in an underdeveloped economy ?

२८

भारत का सार्वजनिक ऋण अथवा भारतीय सरकारी ऋण
(Indian Public Debt)

प्रारम्भिक (Introduction) .

सरकार की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ कराधान (taxation) द्वारा पूरी नही की जा सकती यदि सरकार ऐसा करने का प्रयत्न करती है तो लोगो पर उसका बहुत अधिक भार पड़ता है। सरकार का कुछ खर्च पूँजीगत प्रकृति (capital nature) का होता है, सरकार द्वारा जिसकी पूर्ति सामान्यत उधार लेकर की जाती है। युद्धकाल में भी सरकार अपने खर्च की पूर्ति चालू आय (current revenues) मे से नही कर सकती। अतः उसे या तो अपने देश की जनता या विदेशी सरकारो से ऋण लेने पड़ते हैं। इस प्रकार, सरकारी ऋण अंशतः देशी और अंशतः विदेशी हो सकता है।

अन्य सभी सरकारो के समान ही भारत सरकार ने भी भूतकाल मे उधार लिया है और अब भी वह ऐसा करती है। संविधान (constitution) संघ सरकार को यह अधिकार देता है कि वह भारत की संचित निधि (consolidated fund of India) की जमानत पर, समय समय पर संसद (parliament) द्वारा निर्धारित सीमाओ के अन्तर्गत, यदि कोई ऐसी सीमाएँ हो तो उधार ले सके। इसी प्रकार विधानमण्डल (legislature) द्वारा निश्चित की गई सीमाओं के अन्तर्गत राज्य सरकार भी उधार ले सकती है। किन्तु यदि किसी राज्य पर केन्द्र सरकार का अथवा केन्द्र सरकार द्वारा गारण्टीकृत ऋण बाकी है तो राज्य सरकार भारत सरकार की अनुमति के बिना ऋण नही ले सकती।

स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय सरकारी ऋण
(Indian Public Debt Before Independence)

इस देश मे ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे सरकारी उधार मुख्यतः युद्ध-कार्यों के लिये लिया जाता था। उस समय समस्त विदेशी युद्धो का तथा अफगानिस्तान, बर्मा, चीन, फारस मिश्र तथा एबीसीनिया मे चालू किये गये अभियानो (expenditions) के खर्च का भार भारत पर डाल दिया गया था। लन्दन मे किये जाने वाले कुछ अन्य खर्च भी भारत से ही वसूल किये जाते थे। प्रथम विश्व युद्ध की अवधि मे, भारत ने ब्रिटिश सरकार को १० करोड रु० का उपहार दिया जिससे इस देश के अनुत्पादक ऋण मे वृद्धि हुई।

उत्पादक ऋण (Productive Debt) :

प्रारम्भ मे लिये गए भारतीय सरकारी ऋण का एक बडा भाग उत्पादक था। यह कछ ऐसे पूँजीगत कार्यो को सम्पन्न करने के लिये लिया गया था जैसे कि रेलो का निर्माण तथा सिंचाई निर्माण कार्य आदि। ये ऋण अधिकाशत इग्लैण्ड मे लिये गये और वह भी ब्याज की ऊँची दरो पर। उस समय रेलो तथा सिंचाई योजनाओ के निर्माण मे भी काफी अपव्यय किया गया।

सन् १९३९ मे, कुल भारतीय सरकारी ऋण की मात्रा १२०६ करोड रु० हो गई। इसमे से ९० करोड रु० ब्याज देय परिसम्पत्तियो की आड मे लिये गये थे और ३० करोड रु० राजकोप खाते की नकदी तथा ऋण-पत्रो (securities) की आड मे शेप ऋण बिना किसी आड के था अथवा अनुत्पादक था। कुल ऋण मे से ७३६ करोड रु० की देनदारियाँ भारत मे थी और ४७० करोड रु० की इगलैण्ड मे।

द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में ऋण (Public Debt During Second World War) :

युद्धकाल मे, भारत सरकार के ब्याज मूलक रु० दायित्वो (interest bearing rupee obligations) की मात्रा मे १५१० करोड रु० की वृद्धि हुई और इगलैण्ड स्थित ब्याजदेय दायित्वो मे ४०५ करोड़ रु० की कमी हो गई। स्टर्लिंग दायित्वों मे यह कमी स्टर्लिंग ऋण के प्रत्यावर्तन (repatriation of sterling debt) के कारण हुई। आन्तरिक दायित्वो (internal obligation) मे वृद्धि युद्धकाल मे लिये गये भारी उधार के अलावा निम्न कारणो से हुई थी : आय पर लगाये गये करो की अग्रिम अदायगियाँ, अतिरिक्त लाभ करो की जमा (deposits) और रेलवे तथा डाक व तार आदि की आरक्षित निधियो (reserve funds) मे तथा मूल्य-ह्रास (depreciation) मे वृद्धि। इस अवधि मे, सरकार के बजट सम्बन्धी घाटो की मात्रा ६०५ हो गई और राजस्व खाते से बाहर का पूँजीगत व्यय २९४ करोड रु० हो गया। प्रान्तीय सरकारो की बजट सम्बन्धी स्थिति भी काफी सरल रही। सरकारी आवश्यकताओ से अधिक मात्रा मे जितने रु० की आमदनी हुई उसका उपयोग मित्र देशो की सरकारो के उत्तरदायित्व पर युद्ध-व्यय को पूरा करने के लिये किया गया। यह व्यय बाद मे वसूल हो जाना था।

युद्ध पिछडने के बाद लन्दन मे भारत के खाते मे बड़ी मात्रा मे पौण्ड (sterling balances) का सचय हो गया था उसके कारण ही स्टर्लिंग ऋण का प्रत्यावर्तन करना सम्भव हो सका। इन पौण्ड-पावनो की वृद्धि के अनेक कारण थे। सर्वप्रथम, भारत के व्यापार-शेप (balance of trade) मे पूरे युद्ध-काल मे भारी मात्रा मे वृद्धि हुई और इसका अर्थ था भारत को की जाने वाली स्टर्लिंग की अदायगियो मे वृद्धि होना। सन् १९३८-३९ तथा १९४४-४५ की अवधि के बीच भारत की कुल अनुकूल व्यापार-शेप ४३७ करोड रु० था। परिणामस्वरूप, इतने ही मूल्य के स्टर्लिंग लदन मे भारत के खाते मे जमा कर दिये गये। दूसरे, भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार के उत्तरदायित्व पर भारत के कच्चे माल खाद्य-पदार्थ की जिसके बदले भारत को लन्दन मे स्टर्लिंग अदा किये गये। तीसरे, प्रारम्भिक व्यवस्था के अनुसार, भारत मे प्रतिरक्षा के आधुनिकीकरण (defence modernisation) की लागत का एक भाग ब्रिटिश सरकार ने अदा करना था। ब्रिटिश सरकार ने अपना यह अशदान भी स्टर्लिंग मे ही दिया। अन्त मे, युद्ध पिछडने के बाद भारत सरकार ने लन्दन मे चाँदी बेची जिसका मूल्य भी भारत को स्टर्लिंग मे प्राप्त हुआ। इन सब कारणो से भारत की जो कुल स्टर्लिंग प्राप्त हुए उनकी मात्रा सन् १९४५-४६ के अन्त मे २२९४ करोड रु० हो गई। भारत सरकार ने इन पौण्ड पावनो (sterling balances) के एक भाग का उपयोग अपने स्टर्लिंग दायित्वों (sterling obligations) के प्रत्यावर्तन के लिए किया।

युद्ध-काल में रुपया-ऋण (Rupee Debt During the War) :

कुल रुपया-ऋण (rupee debt) की मात्रा जो कि मार्च १९३९ मे ७३६ करोड रु० थी, बढकर मार्च १९४६ मे १९४० करोड रु० हो गई। इस वृद्धि का कारण, स्वभावत. युद्ध व्यय ही था जिसमे प्रतिरक्षा पर किया जाने वाला पूँजीगत व्यय और प्रत्यावर्तित स्टर्लिंग ऋण के बदले मे जारी रुपया-प्रतिवर्प भी सम्मिलित थे। भारत सरकार का युद्ध-व्यय ही इस उधार का एकमात्र

कारण नही था। सन् १९४०-४१ से १९४५-४६ तक के छः वर्षों मे कुल राजस्व घाटो की मात्रा ६२६ करोड़ रु० हो गई थी। इन घाटो को पूरा करने के लिए जितने धन की आवश्यकता थी, लिया गया उधार उससे बहुत अधिक था। उधार का कुछ भाग तो इसलिये लिया गया था कि भारत मे मित्र देशो से सम्बन्ध खर्चे के लिए रुपये की आवश्यकता थी। सरकार ने अपनी ऋण-नीति का निर्धारण केवल अपने राजस्व घाटो की दृष्टि से ही नही किया था अपितु कुल रुपया आगमन तथा कुल रुपया वहिर्गमन के बीच उत्पन्न स्फीतिजनक खाई को, जहाँ तक भी सम्भव हो सके, भरने की आवश्यकता देखते हुए भी किया था।

सरकार ने उधार कार्यक्रम मे विभिन्न प्रकार के कर्जे, राजकोष-पत्र (*treasury bills*) तथा अल्प बचत योजनाएँ सम्मिलित थी। ३ प्रतिशत की दर के विभिन्न अवधि वाले कर्जे सफलतापूर्वक जारी किये गये और ऐसे कर्जो की कुल मात्रा ६३६ करोड रु० हो गई। राजकोष-पत्र जारी करने का कार्य भी बहुत सफल रहा और सरकार का इस साधन से ७७० करोड रु० प्राप्त हुए। सरकार ने अल्प बचत योजनाओ मे भी बहुत विश्वास प्रकट किया। अल्प बचत की अनेक ऐसी योजनाएँ इसीलिए चालू की गई कि जिससे अल्प बचत करने वालो को युद्ध कार्यों के लिए अपने छोटे-छोटे अशदान करने का प्रोत्साहित किया जा सके। इन योजनाओ द्वारा कुल ८०० करोड रु० एकत्र किये गये।

स्वतन्त्रता के बाद से भारतीय सरकारी ऋण
(Indian Public Debt Since Independence)

आयोजनाबद्ध विकास (planned development) की आवश्यकताओ के कारण स्वतन्त्रता के पश्चात् अवधि मे सरकारी उधार की मात्रा मे काफी वृद्धि हुई है। विदेशो से भी काफी उधार लिया गया है, विशेष रूप से इसलिये ताकि योजनाओ की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। भारत को विदेशी सहायता अनेक रूपो मे प्राप्त हुई परन्तु इस सहायता का एक बडा भाग ब्याज मूलक कर्जो (inter-bearing loans) के रूप मे ही था। भारत सरकार ने आन्तरिक ब्याज मूलक दायित्वो (internal interest bearing obligations) मे, सामान्य मदे, कर्जे (*loans*), राजकोष-पत्र, अर्थोपाय उधार (ways and means advances) और अल्प राज्य मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। स्वतन्त्रता के पश्चात् की एक मुख्य मद है, सयुक्त राज्य की सरकार की प्रतिरूप निधियाँ (U S Government Counter part Funds), जो सयुक्त राज्य अमेरिका से पी० एल० ४८० कर्जो के रूप मे प्राप्त हुई थी।

देश के विभाजन के समय एक समस्या यह उत्पन्न हुई कि अविभाजित भारत की देनदारियो का भारत और पाकिस्तान के बीच किस प्रकार विभाजन किया जाए। इस सम्बन्ध मे दोनो देशो के बीच एक वित्तीय समझौता किया गया और ऋण सम्बन्धी दायित्वो का विभाजन भी उसी आधार पर किया गया।

पाकिस्तान के साथ वित्तीय सहमति (Financial Agreement with Pakistan)

दिसम्बर १९४७ मे पाकिस्तान के साथ जो वित्तीय समझौता अथवा करार (financial agreement) सम्पन्न हुआ, उसके अनुसार अविभाजित भारत के सरकारी ऋण मे भारत और पाकिस्तान के हिस्सो का निर्धारण निम्नलिखित आधार पर किया गया: (१) वे ऋण तथा देयताएँ जो ब्याजोत्पादक परिसम्पत्तियो (interest yielding assets) द्वारा सुरक्षित थी जैसे कि रेल, तार व टेलीफोन आदि, उनके सम्बन्ध मे यह निश्चित किया गया कि जितने मूल्य की ऐसी परिसम्पत्तियाँ प्रत्येक देश की सीमा मे स्थित हो, हर देश उतने ही मूल्य तक देनदारियो के लिए जिम्मेदार होना चाहिए. (२) उन कर्जो व देयताओ (loans and liabilities) के सम्बन्ध मे जो कि राजकोषीय खाते मे नक्दी तथा ऋण पत्रो (cash and securities) के द्वारा सुरक्षित थे, यह समझौता हुआ कि पाकिस्तान अपने हिस्से की नक्द बाकियो की रकम अर्थात् ७५ करोड़ रु० के बराबर ऋण का दायित्व अपने ऊपर लेगा, और (३) असुरक्षित ऋणो (uncovered debts) के सम्बन्ध मे यह तय हुआ कि उसमे कुछ ऐसे मामूली हेर-फेर—जैसे कि भारतीय सैनिक स्टोर्स के एक भाग का स्थानान्तरण और एक टकसाल (mint) तथा सुरक्षा प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना के लिए पाकिस्तान को अदायगी—करने के पश्चात् ऐसे ऋण मे पाकिस्तान का भाग १३ ५ प्रतिशत होगा।

इस प्रकार, अविभाजित भारत के सम्पूर्ण सरकारी ऋण के ब्याज एवं मूलधन की अदायगी का दायित्व भारत ने अपने ऊपर ले लिया। पाकिस्तान अपना भाग बराबर वार्षिक किश्तो मे अदा करता था। ये किश्तें सन् १९५२ से आरम्भ होनी थी। ऋण मे पाकिस्तान के हिस्से का अनुमान लगभग ३० करोड रु० का लगाया गया था। स्पष्ट है कि इस प्रकार की शर्तें भारत के अनुकूल नही रही। भारत को सम्पूर्ण ऋणो की अदायगी का दायित्व अपने ऊपर लेना पडा जबकि पाकिस्तान द्वारा अपना भाग किश्तो के रूप मे भारत को अदा किया जाना था। दोनो देशो के राजनैतिक सम्बन्धो को देखते हुए इस बात की कोई आशा नही है कि भारत को ऋण का पाकिस्तान का भाग कभी प्राप्त भी होगा। वास्तविकता यह है कि पाकिस्तान ने ऋण के अपने भाग की अदायगी की वार्षिक किश्तें अभी तक भी देनी शुरू नही की है।

पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत उधार-कार्यक्रम (Borrowing Programmes Under the Five-Year Plans)

स्वतन्त्रता के पश्चात्, सरकार के उधार कार्यक्रमो के प्रति कोई अधिक उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया प्रकट नही की गई। इस कारण, प्रथम पचवर्षीय योजना मे इसका छोटा सा ही लक्ष्य निर्धारित किया गया। आन्तरिक उधार (internal borrowing) से ५२० करोड रु० प्राप्त करने का निश्चय किया गया जिसमे ११५ करोड रु० कर्जों से, २७० करोड रु० अल्प बचतो तथा जमा धनराशियो से और १३५ करोड रु० अन्य विविध स्रोतों से प्राप्त किये जाने थे। किन्तु वास्तव मे जो कर्ज वसूल हुआ वह निर्धारित लक्ष्य से कुछ कम रहा। द्वितीय योजना मे, बाजार ऋणो तथा अल्प बचतो के लिए १२०० करोड रु० के लक्ष्य निर्धारित किये गये। लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अथक प्रयास किये गये। द्वितीय योजना की अवधि मे, सघ तथा राज्य सरकारो को प्राप्त होने वाला निबल उधार लगभग ७८६ करोड रु० रहा और ४०० करोड रु० अल्प बचत कार्यक्रमो से प्राप्त हुए। इन आंकडो से स्पष्ट है कि योजना के लक्ष्य न्यूनाधिक रूप से प्राप्त कर लिये गये। तृतीय योजना मे निर्धारित लक्ष्य के अनुसार, बाजार-उधार की कुल प्राप्तियाँ ८०० करोड और अल्प बचतो से होने वाली निबल प्राप्तियाँ ६०० करोड रु० रखी गई थी। यह लक्ष्य पूरा हो गया। चतुर्थ योजना मे १४१५ करोड रु० बाजार ऋणो से तथा ७६९ करोड रु० अल्प बचतों से प्राप्त किये जाने थे। इस प्रकार चतुर्थ योजना मे कुल मिलाकर २१८४ करोड रु० आन्तरिक ऋण साधनो से एकत्रित किये जाने का आयोजन था। पाँचवी पचवर्षीय योजना मे २,४३१ करोड़ रु० की विदेशी सहायता उपलब्ध होने का अनुमान लगाया गया था।

वर्तमान सरकारी ऋण तथा अन्य देयताएँ
(Public Debt and Other Liabilities To-day)

तालिका न० १ इस सम्बन्ध मे वास्तविक स्थिति का व्यापक चित्र प्रस्तुत करती है। भारत के सरकारी ऋणो के सम्बन्ध मे तीन बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम तो यह कि केन्द्र सरकार द्वारा उधार मुख्यत विकास योजनाओ की वित्तीय व्यवस्था के लिये गये हैं और उनमे वृद्धि तीव्रगति से होती रही है। दूसरे, बाह्य ऋणो की मात्रा १५ प्रतिशत से बढकर सन् १९७५-७६ मे (बजट अनुमानो के अनुसार) लगभग ३५ प्रतिशत हो गई है। अभी हाल के वर्षो मे बाह्य सहायता जिस तीव्रगति से प्राप्त की गई है और उसका उपयोग किया है, उसमे वाह्य ऋणों के भाग मे होने वाली वृद्धि स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। सन् १९७७-७८ के बजट मे ८९४ करोड रु० के विदेशी ऋणो का प्रावधान किया गया है जबकि गत वर्ष के बजट मे १९७६-७७ मे ८१५ करोड रु० के विदेशी ऋणो का प्रावधान था। तीसरे, अब तक भारत के बाह्य ऋण का सर्वाधिक भाग सयुक्त राज्य अमेरिका से लिया गया है। डालर ऋणो की मात्रा भारत के कुल बाहरी ऋणों की लगभग ५० प्रतिशत बैठती है। किन्तु अब रूस व अन्य साम्यवादी देशो से ऋण लिए जा रहे है।

राज्यों के ऋण की स्थिति (Debt Position of States)

राज्य सरकारें अपनी सचित निधियो की आड पर बाजार से उधार लेती हैं। चूँकि राज्य सरकार केन्द्र की भी ऋणी होती है अतः बाजार से उधार लेने के सम्बन्ध मे उन्हे पहो

तालिका—१

भारत सरकार के सार्वजनिक ऋण

(Public Debt of the Government of india)

(करोड रु० मे)

विवरण	१६५०-५१	१६५५-५६	१६६०-६१	१६६५-६६	१६७२-७३ (सशोधित)	१६७३ ७४ (सशोधित)	१६७४-७५ (सशोधित)	१६७५-७६ (वजट)
(अ) आन्तरिक ऋण (Debts Raised in India)								
(I) स्थायी ऋण—								
(i) आन्तरिक ऋण	१,८३८ ४	१५०८ ६३	२ ५५५ ७२	३,४१७ २८	५,२७६ ७२	५,८५१ ५६	६,४३४ ६६	६,७५६·८१
(ii) मुआवजे बॉण्ड	—	—	—	—		८३ ८०	८३ ८०	८३ ८०
(iii) इनामी बॉण्ड	—	—	१५ ६३	११ ३५	० ७८	१ ००	१ ०४	० ६४
(iv) १५ वर्षीय ऐन्युटी प्रमाण-पत्र	—	६६	३ ४५	३ ७८	२ ०४	१ ८०	१ ८०	१ ००
(v) भुगतान के दौरान ऋण	६ ४६	१२ २२	२२ ७३	३३ ७२	५२ ६७	६१ ६८	५४ १६	५४ १६
(II) अस्थायी ऋण								
(vi) ट्रेजरी बिल	३५८ ०२	५६५ २५	१,१०६ २६	३,६११ ८२	३,६३१ ३६	४४६८ ८२	४,७०६ ४३	५१६५ ५१
(vii) विशिष्ट अस्थायी ऋण	२१२ ६०	२१२ ६०	२७४ १८	३४० ७०	७२६ ४१	७३० ०६	७३३ ३६	७३२ ३६
(viii) ट्रेजरी जमा प्राप्तियाँ एव अन्य ऋण	६ ७३	०६	—	—	—	—	—	—
आन्तरिक ऋणो का योग	२,०२२ ३०	२,३२६ ७२	३,६७८ ००	५,४१८ ६५	६,७८० १२	११,२२८ ४८	१२,०१८ १८	१२,७६७ ६१
(ब) विदेशी ऋण	३२ ०३	११३ ६३	७६० ६६	२,५६० ६२	७,१६१ २५	५,८२६ ६१	६,४१६ २६	७०३१ ६५
सार्वजनिक ऋण का योग	२,०५४·३३	२४४३ ३५	४,७३८ ६६	८,००६ २७	१६,६४१ ३७	१७,०५ ८२	१८,४३७ ४४	१६,८२६ ५६

[स्रोत : भारत १६७६]

केन्द्र सरकार से अनुमति लेनी होती है। राज्यो के बाजार ऋण को भी स्थायी तथा अस्थायी ऋण के रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है। किन्तु राज्य सरकारें अपने ऋण का एक बडा भाग संघ सरकार से लेती है। विकास की आवश्यकताओ ने राज्यो के लिए यह अनिवार्य बना दिया है कि वे केन्द्र से अधिकाधिक उधार लें। केन्द्र द्वारा राज्यो को ऋण अधिकार भारत की संचित निधि (consolidated fund of India) में से दिये जाते हैं परन्तु कुछ ऋण विशेष विकास निधि (special development fund) मे से भी दिये जाते हैं। आगे दी हुई तालिका न० २ मे राज्यो के ऋण की स्थिति दिखाई गई है।

इन आँकडो से स्पष्ट है कि कुल ऋण का सबसे बडा भाग सरकारी ऋण है। अनिधिबद्ध ऋण तो कुल ऋण का बहुत थोडा भाग है। सरकारी ऋणो मे, केन्द्र सरकार से प्राप्त कर्जों का भाग सबसे अधिक है, उसके बाद स्थायी ऋण तथा अस्थायी ऋण का नम्बर आता है जिनकी मात्रा अपेक्षाकृत कम है। सन् १९५१-५२ के अन्त मे, केन्द्र सरकार से प्राप्त ऋण कुल ऋण के आधे से कुछ ही कम थे। किन्तु सन् १९६०-६१ के अन्त मे, ये ७५ प्रतिशत और १९७४-७५ (बजट) के अन्त मे ७४ प्रतिशत से कुछ ही अधिक थे। मात्रा की दृष्टि से, सन् १९५१-५२ मे ये २४१ करोड रु० थे किन्तु सन् १९७४-७५ मे बढकर ६२११ करोड रु० हो गये। इस प्रकार इनमे मात्रा की दृष्टि से भी वृद्धि हुई और तुलनात्मक दृष्टि से भी। राज्यों के स्थायी ऋण १३४ करोड रु० से बढकर १८९० करोड़ रु० अर्थात् ,तेरह गुने से भी अधिक हो गये।

सरकारी ऋण-नीति की समस्याएँ
(Problems of Public Debt Policy)

सम्पूर्ण युद्ध-काल मे सरकार ने सस्ती अथवा अल्प ब्याज की मुद्रा नीति (cheap money policy) अपनाई। युद्ध-काल मे सभी उधार ३ प्रतिशत की नीची दर से लिये गये। युद्ध की लागत तथा सरकारी ऋण के भार को कम करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। यह नीति युद्धोत्तर काल मे भी जारी रही और तब भी प्रारम्भिक कर्जे ३ प्रतिशत की दर से लिये गये। *कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि यदि ब्याज की दर बढा दी जाए तो* सरकार के उधार-कार्यक्रमो के प्रति लोगो की रुचि अधिक बढाई जा सकती है। परन्तु सरकार की सस्ती मुद्रा नीति का भी अपना औचित्य है। सर्वप्रथम एक निर्धन देश मे, बचतो की मात्रा कम ही होती है अत ब्याज की दर में वृद्धि करने से बचतो की मात्रा मे अधिक वृद्धि की सम्भावना नही होती। अत. सरकारी कर्जो मे लोगो के अशदान पर ब्याज की दर का कोई अधिक प्रभाव नही पडता। दूसरे, ब्याज की दरें बढाने पर विदेशी धन के बडी मात्रा मे भारत आने की सम्भावना भी बहुत कम है। विदेशी धन का अन्तर्प्रभाव (inflow) ब्याज की दर के मुकाबले अन्य बातो से अधिक निर्धारित होता है। तीसरे, ब्याज की ऊँची दर के कारण उधार औद्योगिक उद्यमो के लिए अधिक *महँगा* हो जायेगा जिससे निवेश की दर गिर जायेगी। अन्त मे, ब्याज की दर मे यदि वृद्धि की गई तो उसमे प्रचलित ऋण-पत्रो की कीमतें गिर जायेंगी, जिसके परिणामस्वरूप निवेश करने वाली उन सस्थाओ का चिट्ठा (balance sheet) *अस्त-व्यस्त हो जायेगा* जिन्होंने कि लगातार सरकार के कार्यक्रमो का समर्थन किया था। इस प्रकार, सरकार की नीति की अपनी विशेषताएँ हैं।

परन्तु ब्याज की उन दरो से चिपके रहना भी उचित नही है जो कि युद्ध से पूर्व ब्याज की ३ प्रतिशत की दर बिल्कुल स्वाभाविक थी और युद्ध-काल मे भी सरकार ने इसको बनाये रखा। किन्तु युद्ध के बाद की अवधि मे परिस्थितियाँ काफी बदल गई हैं, अतः इस दर को पूर्णतया बनाये रखना बडा कठिन है। यही कारण है कि सरकार को कुछ किस्म के कर्जो पर ब्याज की दरें बढानी पडी। उदाहरण के लिए, अभी हाल के वर्षों मे ३½ और ४ प्रतिशत की दर से कर्जे लिये गये हैं। अधिकाश अल्प बचत योजनाओ की दरें भी बढाकर अब लगभग ४ प्रतिशत कर दी गई हैं। ब्याज की दरो मे की गई यह वृद्धि बदलती हुई परिस्थितियो की ही प्रतिक्रिया है और उचित भी है। द्वितीय योजना की अवधि मे सरकार का अल्प बचत योजनाओ का लक्ष्य पूरा न हो सका। इसका आशिक कारण तो अल्प बचतों का अभाव था और *आशिक*

तालिका—२
राज्यों की ऋण स्थिति
(Debts Position of States)

(करोड़ रु० में)

	१९५१-५२	१९६५-६६	१९६८-६९	१९७०-७१	१९७२-७३	१९७३-७४ (संशोधित)	१९७४-७५ (बजट)
(१) सरकारी ऋण							
(क) स्थायी ऋण	१३४	८२७	१,०४६ ५३	१,२२२ ६९	१,४६५	१,६२२	१,७९०
(ख) अस्थायी ऋण	१६	१८९	२४१·४९	१०७·७४	९४	१२८	७३
(ग) केन्द्र सरकार से प्राप्त ऋण	२४१	४,११०	५,५०३ ६३	६,२८७ ९२	८,०१७	८,६८८	९,२११
(घ) अन्य ऋण	—	१६२	२०१ ०४	२३५ २७	२७३	३२६	४१३
(२) अनिधिबद्ध ऋण (Unfunded Debt)	५८	२३१	२३० ८६	५१५ ७२	७२२	८५७	९६३
(३) कुल ऋण	४४९	५,५१९	७,३५३ ५५	८,३६९ ३४	१०,५७१	११,६२१	१२,४५०

[स्रोत : भारत १९७६]

कारण व्याज की नीची दर थी। इस स्थिति में, स्वभावतः ही सरकार को अपने बॉण्डो पर ब्याज की दर बढ़ानी पडी।

केन्द्र सरकार इस स्थिति मे होती है कि वह राज्यो के मुकाबले कुछ अधिक अनुकूल शर्तों पर ऋण ले सके। संघ सरकार इस स्थिति मे भी होती है कि वह राज्यो के मुकाबले दीर्घकालीन कर्जों के लिए एक निश्चित दर का प्रस्ताव कर सके। फिर, जिन शर्तों पर विभिन्न राज्य उधार लेते हैं, उनमे भी थोडी असमानता पाई जाती है। सामान्यतः कुछ राज्य इस स्थिति मे होते हैं कि वे अन्य राज्यो के मुकाबले, अन्य शर्ते समान रहने पर, ऊँचे निर्गम मूल्यों (issue prices) पर कर्जे ले सकें। इस पर अन्य ऐसे राज्य रोष प्रकट करते हैं जिन्हे कि कम अनुकूल शर्तों पर उधार लेना पडता है। अत यह सुझाव दिया जाता है कि केन्द्र और राज्यो की कर्जो सम्बन्धी सभी कार्यवाहियो का केन्द्रीयकरण हो जाना चाहिए। ऐसा हो सकता है कि सभी कर्जे संघ सरकार द्वारा लिये जाएँ उनकी प्राप्तियाँ राज्यो के बीच उनके आवश्यकताओ के अनुसार बाँट दी जाएँ। राज्य वर्ष मे एक बार अपनी आवश्यकताओं के सम्बन्ध मे केन्द्र को सूचित कर दें और तब संघ सरकार राज्यों की तथा अपनी निजी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए संयुक्त कार्यवाही द्वारा कर्जे प्राप्त करें।

भारत सरकार को अपने उधार-कार्यक्रमो के सम्बन्धो मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। ये कठिनाइयाँ मुख्यत आर्थिक परिस्थितियो तथा लोगो की आदतो से सम्बन्धित होती हैं। हमारे देश मे अधिकांश लोग निर्धन हैं अत उनकी उपभोग-प्रवृत्ति (property to consume) भी ऊँची होती है। परिणामस्वरूप यदि आय मे वृद्धि भी होती है तो उनकी बचतो मे अनुपात से कम वृद्धि होती है। फिर, हमारे यहाँ लोग अपनी बचतो को सोने तथा चाँदी के गहनो के रूप मे रखने के आदी हैं। जब कीमती धातुओ के रूप मे ऐसे निसचय (hoards) तस्कर व्यापार द्वारा तथा आयात द्वारा प्राप्त सोने या चाँदी से किये जाते हैं तो वे देश की बचतो को निर्जीव बना देते हैं। इसके अतिरिक्त, सरकार को अपनी ऋण की आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे निवेश की गैर-सरकारी क्षेत्र की मांगो से भी प्रतियोगिता करनी पडती है। इस प्रकार, निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार उधार लेने मे सरकार के समक्ष अनेक बाधाएँ आती हैं? अत सरकार को अनेक उधार-कार्यक्रमो के साथ-साथ भारी मात्रा मे प्रचार और प्रोपेगेण्डा करना होता है। और अल्प बचत योजनाओ के सम्बन्ध मे तो विशेष रूप से ऐसा करना होता है जहाँ कि उधार संस्थाओ से नही बल्कि व्यक्तियो से लिया जाता है। लोगो को ऋण देने को प्रोत्साहित करने के लिए प्रचार करना होता है और आकर्षण उत्पन्न करने होते हैं। इनामी बॉण्ड योजना ऐसे आकर्षण का एक उदाहरण हैं। इन योजनाओ के लिए ब्याज की दरें भी अर्थव्यवस्था मे प्रचलित परिस्थितियो के अनुसार ही निर्धारित करनी होती हैं।

द्वितीय वित्त आयोग ने केन्द्र द्वारा राज्यो को दिये जाने वाले कर्जों के प्रश्न पर विचार किया था। आयोग ने सिफारिश की थी कि कर्जों का एकीकरण कर दिया जाना चाहिए और ब्याज की दरो तथा अदायगी की शर्तों का युक्तिकरण (rationalization) कर दिया जाना चाहिए। कहा गया कि आयोग द्वारा प्रस्तावित एकीकरण की इस योजना से प्रतिवर्ष लगभग ५ करोड रु० के ब्याज का भार कम होगा। भविष्य के लिए, आयोग ने यह सिफारिश की कि राज्यो को वर्ष मे केवल दो कर्जे दिये जाने चाहिए, एक तो मध्यावधि कर्जा और दूसरा दीर्घावधि कर्जा। इन कर्जों की ब्याज की दर उस वर्ष के सम्पूर्ण संघीय उधारो की निबल लागत के बराबर होनी चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि वर्ष के बीच मे भारत सरकार राज्यो को अर्थोपाय उधार (ways and means advances) दे सकती है और फिर वर्ष के अन्त मे थे उक्त दोनो कर्जों के रूप मे परिवर्तित किये जा सकते है। इन सिफारिशो के आधार पर, १९५७-५८ तक लिये गये कर्जो की ब्याज की दर करके उनका मानकीकरण (standardisation) कर दिया। औद्योगिक एवं वाणिज्यिक उद्यमो के लिए तथा औद्योगिक आवास (industrial housing) के लिए जो शर्तें निर्धारित की गई थी उनमे कोई परिवर्तन नही किया गया। बिजली से सम्बन्धित उद्यमो तथा बिजली की सुविधाओं के विस्तार के लिए लिये जाने वाले कर्जो पर ब्याज की दर ४ प्रतिशत वार्षिक निश्चित की गई। अन्य सभी कर्जों पर ब्याज की दर ३ प्रतिशत रखी गई। आगे विचार होने तक मार्च १९५८ के बाद लिये गये कर्जों पर ब्याज सामान्य दर से लगाया जाना था, अर्थात्

अधिकतम कल्याण का सिद्धान्त
(Maximum Welfare Principle)

यह कहा जा सकता है कि कराधान का समता सिद्धान्त तथा कल्याण सिद्धान्त दोनो ही दोषपूर्ण हैं। समता सिद्धान्त (equity principle) केवल सरकारी सेवाओ की लागत के न्यायपूर्ण वितरण की विवेचना करता है, अर्थात् यह है कि सरकारी सेवाओ मे लगी लागत को विभिन्न करदाताओ के बीच समन्यायपूर्ण रीति से कैसे बाँटा जाय। दूसरी ओर, कराधान का कल्याण सिद्धान्त, जो कि समता सिद्धान्त से कुछ व्यापक है, समाज मे आय वितरण की ही सम्पूर्ण समस्या पर केन्द्रित है। ये दोनो ही विचारधाराएँ इस दृष्टि से संकुचित हैं कि ये बजट के केवल कराधान पक्ष का ही विवेचन करती हैं। वास्तव मे यह अत्यन्त आवश्यक है कि कराधान के भार के विवेचन (discussion) मे उन लाभों को भी सम्मिलित किया जाय जो कि सरकारी व्यय से प्राप्त हो। डाल्टन पीगू तथा मसग्रेव ने करों के भार तथा इसके वितरण की समस्या मे सरकारी सेवाओ को भी सम्मिलित करके इसको नया रूप दिया है, और समस्या का यही रूप होना भी चाहिए क्योकि कल्याण को कराधान तथा सरकारी व्यय, दोनो ही प्रभावित करते हैं। कराधान इसको घटाने का प्रयत्न करता है जबकि सरकारी व्यय इसमें वृद्धि का प्रयास करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, कराधान का सिद्धान्त बजट-निर्धारण (अर्थात् कराधान एव सरकारी व्यय के निर्धारण) का सिद्धान्त बन जाता है। इस नए सिद्धान्त का लक्ष्य सम्पूर्ण रूप मे जनता के कल्याण को अधिकतम करना है।

पीगू ने और बाद मे डाल्टन ने बजट नीति के दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिसमे उन्होंने कराधान तथा सरकारी व्यय दोनों को ही सम्मिलित किया है। प्रथम यह है कि सरकारी अधिकारियो को विभिन्न उपयोगो मे साधनों का वितरण इस प्रकार करना चाहिए कि सभी उपयोगो से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त कल्याण बराबर हो। दूसरे, सरकारी व्यय उस सीमा तक किया जाना चाहिए जहाँ पर कि व्यय किये गए अन्तिम रुपये का सीमान्त सामाजिक लाभ करो के रूप मे वसूल किए गये अन्तिम रुपये के सीमान्त त्याग के बराबर हो।

इनमे से प्रथम प्रस्ताव तो समुदाय (community) के समसीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त (principle of equi-marginal utility) का ही विस्तार है। जिस प्रकार कि एक व्यक्ति अपनी उपलब्धि आय का विभिन्न वस्तुओ मे इस प्रकार वितरण करता है कि उसके प्रत्येक प्रकार के व्यय की सीमान्त तुष्टि (marginal satisfaction) बराबर हो जाय और ऐसा करके वह अपनी उपयोगिता को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सार्वजनिक सत्ताएँ (public authorities) अपने नियत साधनों का विभिन्न सरकारी खर्चों मे इस प्रकार बँटवारा करती है कि उनके प्रत्येक प्रकार के व्यय की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाये और इस प्रकार वे भी सामाजिक लाभ (social benefit) को अधिकतम करने का प्रयत्न करती है। दूसरा प्रस्ताव इस बात पर जोर देता है कि सार्वजनिक कल्याण मे वृद्धि करने वाला सरकारी व्यय उस बिन्दु तक बढ़ाया जाना चाहिए जहाँ तक कि सीमान्त सामाजिक लाभ सरकारी सेवाओ में लगने वाली सीमान्त लागत के बराबर हो जाए।

मसग्रेव (Musgrave) से लिया गया अग्र पृष्ठ पर अंकित रेखाचित्र इन दोनो ही प्रस्तावो को प्रस्तुत करता है—

२९

स्थानीय वित्त
(Local Finance)

प्रारम्भिक (Introduction) :

प्रशासन के कुछ कार्य ऐसे हैं जो भारतीय संविधान के अनुसार, स्थानीय निकायो (local bodies) जैसे कि ग्राम पंचायतो, म्युनिसिपल संगठनो तथा जिला निकायो आदि को सौंपे गये हैं। यह स्वाभाविक ही है कि अपने कार्यों को कुशलता से सम्पन्न करने के लिए उन्हें धन की आवश्यकता होती है। अत. इन निकायो की आय के कुछ स्रोत भी प्रदान किये गये हैं जिसमें राज्य सरकारो से मिलने वाले अनुदान भी सम्मिलित हैं। इस अध्याय मे हम पहले तो स्थानीय निकायो के कार्यों का अध्ययन करेंगे और तत्पश्चात् उनकी आय के स्रोतों का।

स्थानीय संस्थायें अथवा निकाय और उनके कार्य
(Local Bodies and Their Functions)

स्थानीय निकाय कई प्रकार के होते हैं। विभिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थानीय निकाय और उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के ही कार्य होते हैं। देश के सभी भागो मे, नगरो मे नगरपालिकाए (municipalties) अथवा म्युनिसिपल कमेटियाँ हैं। कुछ बडे नगरो मे नगर सुधार विभाग (improvement trusts) अथवा विकास बोर्ड भी हैं परन्तु चूंकि उन्हे कर लगाने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है अत. यहाँ हम उनको स्थानीय निकायों की परिधि से बाहर रखेंगे। अनेक स्थानों पर, नोटीफाइड एरिया कमेटियाँ, छोटी नगर समितियाँ, तथा कैन्टूनमेंट बोर्ड भी स्थापित हैं। परन्तु इन पर पृथक् से विचार नहीं किया जायेगा। क्योकि जहाँ तक कार्यों का सम्बन्ध है वे अन्य नगरपालिकाओ के ही समान हैं। ग्रामीण क्षेत्रो मे, हमारे यहाँ जिला बोर्ड तथा ग्रामीण वोर्ड हैं। ग्रामीण वोर्ड जिले से छोटे क्षेत्रो मे, अपना काम करते हैं परन्तु इनके कार्य जिला वोर्डों के समान ही हैं अत जिला वोर्डों के साथ ही इन पर विचार किया जा सकता है। कुछ राज्यो मे, गाँवो मे ग्राम पचायतें कार्य करती हैं। इनको विशेष कार्य सौंपे जाते हैं तथा आय के स्रोत भी इनके अपने होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्थानीय निकायो के चार विभिन्न प्रकार हैं जिनके अपने-अपने पृथक् कार्य है और अपने-अपने कर लगाने के अधिकार। इन चारो प्रकार के निकायो को देश भर मे ही काफी महत्ता प्राप्त है।

ग्राम पंचायतें (Village Panchayats) :

पंचायत का कार्य क्षेत्र सामान्य रूप से एक गाँव तक ही सीमित रहता है। कुछ स्थितियो मे, दो या दो से अधिक गाँव भी एक पचायत के अन्तर्गत रख दिये जाते हैं। पचायतो

इतनी ही अवधि के भारत सरकार के बाजार-कर्जों के प्रतिदान-मूल्य (redemption yield) के बराबर।

राज्यों की आय के साधन चूंकि उनको विकास तथा विकासेत्तर आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं हैं, अत. केन्द्रीय ऋणों की वापिसी उनके लिए कठिनाई उपस्थित करती रही है। कभी-कभी तो ये अदायगियाँ और कर्जे लेकर करनी पड़ी हैं। भूतकाल में, यहाँ तक कि ब्याज की अदायगी तक करने में राज्य बड़े अनियमित रहे हैं। किन्तु फिर भी जब-जब उन्हें आवश्यकता हुई तब-तब बराबर उन्हें कर्ज मिलते रहे है। ऐसा होता है कि राज्य चूंकि पुराने ऋणों की अदायगी नये कर्जे लिये बिना नहीं कर सकते अत भविष्य में इन कर्जों की अदायगी खातों की प्रविष्टियाँ मात्र बनकर रह जायेंगी। इस स्थिति मे, इन कर्जों के कुछ भाग को बट्टे खाते में डालने के प्रश्न पर अवश्य विचार करना होगा।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रंथ

1. R N. Bhargava — Indian Public Finance, Chapter VIII
2. R N Bhargava — The Theory and Working of Union Finance in India, Chapter XIV
3. R N Poduval — Finance of the Government of India, Chapter VI and pp 279-280.
4. Third Five Year, Plan pp. 93-100.
5. Fourte Five Year Plan
6. Fifth Five Year Plan

UNIVERSITY QUESTIONS

१. "सार्वजनिक ऋण तभी भारयुक्त एव बुरा समझा जाता है जबकि वह विदेशी या अनुत्पादक होता है।" विवेचना कीजिये।

"A public debt is burdensome only when it is external and unproductive" Discuss.

२ भारत सरीखी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे सरकारी ऋण के योगदान की विवेचना कीजिये।

Discuss the role of public debt in a developing economy like that of India.

३ भारत के सरकारी ऋण मे १९५० से अब तक हुई तीव्र वृद्धि के कारण बताइए। इस बढ़ते हुए ऋण से किन समस्याओं के उत्पन्न होने की सम्भावना है ?

Account for the rapid growth of public debt in India since 1950. What are the problems likely to be created by this raising debt ?

४. "सार्वजनिक ऋण एक आधुनिक आवश्यकता है और किसी राष्ट्र को उसके आन्तरिक ऋणों के कारण ही दिवालिया नहीं माना जा सकता।" इस कथन की विवेचना कीजिए और सार्वजनिक ऋणों की आवश्यकता का स्पष्टीकरण कीजिये।

"Public debt is a comparatively modern phenomenon and a nation can not be made bankrupt by an internally held debt" Discuss this statement and state clearly the necessity of public borrowing

नगरपालिकाएँ (Municipalities)

नगरपालिकाओं का प्रमाणिक रूप यह है कि यह नगर के मतदाताओं द्वारा चुनी गई एक परिषद (council) अथवा समिति (committee) या बोर्ड के रूप में कार्य करती है और यह परिषद् ही अपना एक अध्यक्ष चुनती है। कुछ राज्यों में, अध्यक्ष का चुनाव सीधे मतदाताओं द्वारा किया जाता है। इसमें एक कार्यकारी अधिकारी (executive officer) होता है, कुछ राज्यों में जिसे सरकार नियुक्त करती है। किन्तु अन्य राज्यों में, कानून द्वारा निर्धारित नियमों के अन्तर्गत अथवा सरकार की विशेष अनुमति से नगरपालिकायें स्वयं ही इसकी नियुक्ति करती हैं। कार्यकारी अधिकारी की शक्तियाँ (powers) प्रत्येक राज्य में अलग-अलग होती हैं। कुछ राज्यों में, अधिक महत्वपूर्ण म्युनिसिपिल अधिकारी, जैसे, कि म्युनिसिपिल कमिश्नर, म्युनिसिपिल इंजीनियर तथा स्वास्थ्य अधिकारी, सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और सरकार द्वारा निर्धारित सवर्ग (cadre) से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ राज्यों से ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है जिन्हें कि १०० रु० प्रतिमाह के अधिक मिलता है।

नगरपालियों द्वारा लगाये जाने वाले मुख्य कर इस प्रकार हैं: (१) सम्पत्ति पर कर, भूमि (खुली भूमि सहित) एवं भवनों पर कर, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, (२) वस्तुओं पर कर, विशेष रूप से चुंगी तथा सीमान्त कर, (३) व्यक्तिगत कर : वृत्ति, व्यापार पेशे तथा रोजगार पर कर, सम्पत्ति तथा हैसियत पर कर, यात्रियों पर सीमान्त कर जिसमें तीर्थ यात्री कर भी सम्मिलित हैं, (४) पशुओं तथा वाहनों पर कर, और (५) थियेटर अथवा प्रदर्शन कर। कुछ राज्यों में, मनोरंजन कर भी प्राप्तियों का एक भाव नगर पालिकाओं की आय का एक अच्छा स्रोत है। कुछ अन्य राज्यों में, चुंगी (octroi) तथा सीमान्त कर (terminal tax) नगर पालिकाओं की आय के मुख्य स्रोत हैं। दूसरी ओर, कुछ राज्यों में, सम्पत्ति करों को नगरपालिकाओं की आय में प्रमुख स्थान प्राप्त है। नगरपालिकाएँ सामान्य रूप से यह नहीं चाहती कि वे प्रत्यक्ष कर लगाकर लोगों की घृणा की पात्र बनें। उनमें चुंगी जैसे परोक्ष करों को लगाने का भारी झुकाव पाया जाता है।

नगरपालिकाओं की औसत आय तथा व्यय बहुत ही कम होते हैं। उन्हें आय के जो साधन उपलब्ध होते हैं उनका पूरी तरह शोषण नहीं किया जाता और यदि किया जाता है तब भी उनकी आय बहुत कम होती है। यही कारण है कि नगरपालिकाएँ प्रायः अपने उन सीमित कार्यों को भी कुशलता के साथ सम्पन्न नहीं कर पाती जो कि उन्हें सौंपे जाते हैं। इन निकायों को जो कार्य सौंपे जाते हैं वे हैं जल पूर्ति तथा जल-निकासी, सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य, डाक्टरी सहायता, तथा सड़कें। ये कार्य अपेक्षाकृत बहुत थोड़े हैं परन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण, नगर पालिकाएँ अपने कार्यों को उच्च कुशलता के साथ सम्पन्न नहीं कर पाती। लागतों, मजदूरियों तथा संस्थापना-व्यय में वृद्धि हो जाने के कारण नगरपालिकाएँ इन कार्यों का सम्पादन युद्ध-पूर्व के स्तरों पर भी कठिनाई से ही कर पाती हैं।

नगर निगम (Municipal Corporation) :

निगम एक भिन्न प्रकार का ही नगर-संगठन है और इसका क्षेत्र केवल कुछ बड़े नगरों तक ही सीमित होता है। आजकल ऐसे किसी भी नगर में निगम (corporation) नहीं है जिनकी जनसंख्या १.५ लाख से कम है, यद्यपि अनेक नगर ऐसे भी हैं जिनकी जनसंख्या १½ लाख से अधिक है परन्तु उनमें निगम नहीं हैं।

नगरपालिकाओं के मुकाबले नगर निगमों के कार्य अधिक व्यापक होते हैं। इनको जो कार्य सौंपे जाते हैं वे हैं . जल पूर्ति तथा जल निकासी, प्रकाश की व्यावस्था, सड़कें, गन्दी बस्तियों की सफाई, आवास (housing), तथा नगर नियोजन (town planning)। नगरों की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होने के कारण निगमों के कार्य भी काफी बढ़ गये हैं। कुछ स्थानों में, इन कार्यों में से कुछ *विशेष तदर्थ निकायों को सौंप दिये गये हैं*, परन्तु जहाँ ऐसे *विशेष निकाय* नहीं होते वहाँ इन कार्यों को सम्पन्न करने का दायित्व निगमों पर ही होता है। निगमों ने अपने इन कार्यों को काफी कुशलता के साथ सम्पन्न किया है। इसका कारण यह है कि इन्हें सम्पन्न करने के लिए प्रायः उनके पास यथेष्ट साधन होते हैं। उनके कार्यों में जब वृद्धि होती है, तभी वे अपने साधनों में वृद्धि करने

की स्थापना करना अधिकांश राज्यों की स्पष्ट नीति रही है। पंचायतों की स्थापना सभी गाँवो मे करनी होती है। प्रारम्भ में इनकी स्थापना कुछ न्यूनतम जनसख्या के सम्बन्ध मे प्रत्येक राज्य की अपनी अलग सख्या थी। कुछ राज्यो में, जनसख्या और आय के आधार पर पचायतों को दो या तीन वर्गों या श्रेणियो मे बाटा गया है।

पचायत के कार्यो का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है और इसमें न्यायिक (Judicial), पुलिस, नागरिक तथा आर्थिक आदि सभी प्रकार के कार्य सम्मिलित होते है। इस प्रकार, कुछ राज्यों मे, पचायतो द्वारा छोटे छोटे झगडो का निपटारा किया जाता है और अन्य राज्यो मे उनके द्वारा सडको, प्राइमरी स्कूलो तथा ग्रामीण औषधालय आदि की भी व्यवस्था की जाती है। पीने के तथा सिंचाई के जल की व्यवस्था भी उनके ही क्षेत्राधिकार मे आती है और कुछ स्थितियों मे तो खेती, बाजारो मे उपज की बिक्री की व्यवस्था तथा कृषि उपज को गोदामो मे रखने का कार्य भी उन्हे ही सौप दिया जाता है। वास्तव मे, आजकल पचायतो द्वारा जो कार्य सम्पन्न किये जाते है उनमें निम्नलिखित सम्मिलित किये जाते है : पचायत घरो का निर्माण, पीने के पानी मे कुओ का निर्माण, मरम्मत तथा देखभाल, कुछ ग्रामीण सडको तथा नालियो का निर्माण, रोशनी की व्यवस्था, ऐच्छिक श्रमदान की व्यवस्था प्राइमरी स्कूलो तथा ग्रामीण औषधालयों के लिए भवन का निर्माण तथा जन्म व मृत्यु का विवरण रखना। अधिकाश मामलो मे, एक ग्रामीण पचायत मुश्किल से दो या तीन कार्य ही सम्पन्न करती है।

पचायतो को कुछ कर लगाने के भी अधिकार दिये गये हैं परन्तु ये कर प्रत्येक राज्य मे अलग-अलग है। यद्यपि इनके करो की सूची तो बहुत बडी है, परन्तु वे कर जो कि आमतौर पर लगाये जाते है, इस प्रकार हैं. (१) सामान्य सम्पत्ति कर (अथवा स्थानीय दर), (२) मालगुजारी (भूराजस्व) पर कर अथवा भूमि का लगान, (३) वृत्ति कर (profession tax), और (४) पशुओं तथा वाहनों पर कर। कुछ थोड़ी सी पचायतो मे, अन्य कर भी लगाये जाते हैं, जैसे सेवा कर, चुगी, थियेटर कर और पथ-कर (tole-tax)। पचायतो द्वारा कर केवल राज्य सरकार की अनुमति से ही लगाये जाते हैं। इन करो की दरो के सम्बन्ध मे कुछ सीमाएँ होती हैं जिनका ध्यान रखना होता है।

जिला स्थानीय बोर्ड (District Local Boards) :

जिला बोर्ड अथवा स्थानीय बोर्ड के कार्य क्षेत्राधिकार (jurisdiction) सामान्यतः एक राजस्व जिला (revenue district) होता है, यद्यपि विभिन्न राज्यो मे इस सम्बन्ध मे विविधताएँ पाई जाती है। अनेक कारणो से स्थानीय बोर्ड अब तेजी से अप्रचलित होते जा रहे हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है कि इनके ऊपर के कार्य तो राज्य सरकारो द्वारा लिये जा रहे है और नीचे के कार्य ग्राम पचायतो द्वारा। उदाहरण के लिए, कुछ राज्यो मे, जिला स्थानीय बोर्डों को प्राइमरी शिक्षा के उत्तरदायित्व से बरी कर दिया गया है और यह कार्य तदर्थ बोर्डों (adhoc boards) को सौप दिया गया है। इसी प्रकार कुछ राज्यो मे, माध्यमिक शिक्षा, चिकित्सा सेवायें, मुख्य सडकें और ऐसे ही अन्य कार्य राज्य सरकारो द्वारा ले लिये गये है। अन्य मामलो मे, अब ग्राम पचायते कुछ ऐसे कार्यो को सम्पन्न करने लगी हैं जो कि पहले जिला बोर्डों द्वारा सम्पन्न किये जाते थे।

नगरपालिकाओ से भिन्न, जिला बोर्डों को अपनी आमदनियो का एक बड़ा भाग सरकार के सहायक अनुदानो से प्राप्त होता है। दूसरी ओर, उनके कर लगाने के अधिकार बहुत ही सीमित होते है। इनकी कर-आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत भूमि अथवा लगान उपकर (land cese) है। अनुपात की दृष्टि से यह कुल कर-आय के लगभग ही होता है। भूमि उपकर से होने वाली आय कुछ राज्यो मे ५० प्रतिशत से लेकर, अन्य राज्यो मे ६० प्रतिशत से ऊपर पहुँच जाती है। जिला स्थानीय बोर्डों को जिन अन्य करो को लगाने की अनुमति प्राप्त होती है, वे है · सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, वृत्ति कर, और सम्पत्ति व हैसियत कर। कुछ राज्यो मे पथ-कर भी महत्त्वपूर्ण हैं। भूमि उपकर तथा वृत्ति कर, दोनो ही आय के बडे लचकहीन स्रोत सिद्ध हुए है। कुछ राज्यो मे, भू-राजस्व (land revenue) का कुछ भाग जिला बोर्डों को दे दिया जाता है।

लगा रही है, उनको चाहिए कि वे उन करों के क्षेत्र से धीरे-धीरे अपना हाथ खींच ले। आयोग ने केवल स्थानीय निकायों के उपयोग के लिए ही जिन करों की सिफारिश की वे इस प्रकार है: (१) भूमि व भवन पर कर, (२) चुंगी तथा सीमान्त कर; (३) यन्त्र चालित वाहनों को छोड़कर अन्य वाहनों पर कर, (४) पशुओं तथा नावों पर कर, (५) वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं तथा रोजगारों पर कर, और (६) समाचार-पत्रों के विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर। इसके साथ ही, स्थानीय निकायों को कुछ और करों के लगाने की भी अनुमति दी जानी चाहिए, जैसे कि थियेटर या प्रदर्शन कर, सम्पत्ति के हस्तांतरण पर कर, सड़क व जल मार्ग द्वारा आने-जाने वाले यात्रियों व माल पर कर और पथ कर (toll)।

करों के भाग (Shares of Taxes) :

ऐसे करों की संख्या अधिक नहीं है जिन्हें राज्य सरकारें लगाती तथा वसूल करती हों और उनकी प्रतियाँ वे स्थानीय निकायों के साथ बाँट लेती हों। राज्यों द्वारा लगाये तथा वसूल किये जाने वाले मोटर गाड़ी कर की प्राप्तियों का एक भाग सभी राज्यों में स्थानीय निकायों को दिया जाता है। कुछ राज्यों में, सरकार ने पंचायतों तथा जिला स्थानीय बोर्डों को भू-राजस्व का कुछ भाग देना शुरू किया है। कुछ राज्यों में, मनोरंजन कर का संग्रह तो राज्य द्वारा किया जाता है किन्तु उसकी प्राप्तियाँ स्थानीय निकायों को सौंप दी जाती हैं। कराधान जाँच आयोग ने सिद्धान्त रूप में करों के ऐसे बँटवारे का इस आधार पर विरोध किया था कि जिन करों का उपयोग स्थानीय निकाय अपने लिए कर रहे हैं उनके लिए वे ही जिम्मेदार होने चाहिए। परन्तु आयोग ने कहा कि मोटर गाड़ी कर भू-राजस्व इस नियम के अपवाद होने चाहिए। आयोग ने सिफारिश की कि पंचायतों तथा ग्रामीण बोर्डों के क्षेत्र में भू-राजस्व की प्राप्तियों का कम से कम १५ प्रतिशत भाग इन निकायों को दे दिया जाना चाहिए। इससे उक्त निकायों को वित्त के एक न्यूनतम आधार का आश्वासन मिलेगा और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए यह बात बड़े ही मनोवैज्ञानिक महत्त्व की होगी।

सहायक अनुदान (Grants-in-Aid)।

सहायक अनुदान जिला स्थानीय बोर्डों (District Local Boards) की आय का तो एक महत्त्वपूर्ण भाग है परन्तु अन्य स्थानीय निकायों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। सबसे अधिक अनुदान मुख्यतः शिक्षा के लिए दिये जाते है, यद्यपि कुछ राज्यों में चिकित्सा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यों के लिए भी प्रदान किये जाते हैं। सड़कों तथा जलपूर्ति एवं जलनिकासी की योजनाओं के लिए दिये जाने वाले अनुदान भी असामान्य (uncommon) नहीं हैं। वे मुख्य कार्य जिनके लिए अनुदान दिये जाते हैं, इस प्रकार हैं (१) जलपूर्ति तथा जलनिकासी की योजनाओं की पूँजीगत लागत के एक भाग की पूर्ति के लिए, (२) प्राइमरी स्कूलों के संचालन के लिए, (३) कर्मचारियों को मँहगाई भत्ता देने के लिए, (४) माध्यमिक स्कूलों, चिकित्सा संस्थाओं, मातृत्व व शिशुकल्याण केन्द्रों तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपायों, जैसे कि मलेरिया विरोधी कार्यवाहियों की लागत के एक भाग की पूर्ति के लिए, (५) इंजीनियरों तथा स्वास्थ्य अधिकारियों जैसे अफसरों के वेतन की अदायगी के लिए और (६) बहुत कम स्थितियों में, अल्प साधनों वाली नगरपालिकाओं के बजट-घाटों को पूरा करने के लिए।

किसी भी राज्य सरकार ने ऐसे कोई नियम अथवा सिद्धान्त नहीं बनाये हैं जिनके आधार पर ऐसे अनुदान दिये जाएँ। वास्तव में, अनुदान की मात्रा तथा उसकी अदायगी, यह दोनों ही बातें वर्ष के वर्ष बदलते हुए राज्य सरकार के राजस्व (revenue) पर निर्भर रहती हैं। इससे स्थानीय निकायों के वित्त को कोई सुरक्षा प्राप्त नहीं होती।

सहायक-अनुदान स्थानीय निकायों के वित्त में तथा उनके सामान्य कार्य-सम्पादन में महत्त्वपूर्ण भाग अदा कर सकते है। जलपूर्ति तथा जल निकासी की प्रयोजनाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण तथा बड़ी होती हैं कि स्थानीय निकाय बिना राज्य सरकार की सहायता के इनकी व्यवस्था नहीं कर सकते। इन योजनाओं की पूँजीगत लागत प्रायः इन निकायों की क्षमता से बाहर होती है अतः इन कार्यों के लिए अनुदान बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। अनुदानों द्वारा सरकारों को यह अवसर मिल जाता है कि वे नागरिक कल्याण की कुछ वाञ्छनीय तथा आवश्यक कार्यवाहियाँ करने में

मे भी समर्थ हो जाते हैं। यही कारण है कि नगरपालिका के मुकाबले निगम अपने कार्यों को अधिक अच्छी प्रकार सम्पन्न करते है। म्युनिसिपल सेवाओ पर व्यय का स्तर नगरपालिकाओ के मुकाबले नगर निगमो मे स्पष्टतः ऊँचा होता है।

निगमो द्वारा जो कर लागू किये जाते है उनमे सम्पत्ति कर, पशुओ एव वाहनो (vehicles) पर कर, तथा व्यापारो, आजीविकाओ (callings) एव रोजगार पर कर सम्मिलित है। कुछ निगम थियेटर कर लगाते है, कुछ निगम कम्पनियो पर तथा ऐसी वस्तुएँ पर कर लगाते है जो नगर मे बेचने के लिए लाई जाती है। कुछ स्थानो पर विज्ञापनो पर भी कर लगाया जाता है। अनेक स्थितियो मे विधान द्वारा सम्पत्ति कर की अधिकतम न्यूनतम दरें निर्धारित कर दी जाती है और कुछ अन्य स्थितियो मे, या तो अधिकतम या न्यूनतम दर पर केवल एक ही निश्चित की जाती है। इन करो का चुनाव करने तथा इनमें सशोधन करने के सम्बन्ध मे निगमो को काफी मात्रा मे स्वाधीनता प्राप्त होती है किन्तु कानून द्वारा निधारित अधिकतम और न्यूनतम दरो का उन्हे अवश्य ध्यान रखना होता है।

आय के अपने सबसे बड़े स्रोत के सम्बन्ध मे, नगर निगमो मे समानता नही पाई जाती। नगरपालिकाओ के समान ही, कुछ निगम तो अपनी आय का सबसे बडा भाग चु गी तथा सीमान्त करों से प्राप्त करते है, किन्तु अन्य निगमो को उनकी आय का सबसे बड़ा भाग सम्पत्ति करो से प्राप्त होता है, अनेक निगम वृत्तियो, व्यापारो तथा आजीविकाओ पर कर लगाते है परन्तु ये कर न तो अधिक लोकप्रिय ही हुए है और न इनसे निगमो को कोई बडी आय ही प्राप्त होती है। आर्थिक विकास के साथ-साथ देश मे जैसे-जैसे परिवर्तन होते रहते है वैसे-वैसे ही इनमे से कुछ करो का सापेक्षिक महत्त्व (relative importance) भी बदलता रहता है।

स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति
(Finances of Local Bodies)

भारत मे स्थानीय निकायो के वित्त के मुख्य स्रोत इस प्रकार है: (१) कर, (२) राज्य सरकारो द्वारा लगाये तथा वसूल किये जाने वाले करो मे से प्राप्त हिस्से, (३) राज्य सरकारों से प्राप्त सहायक अनुदान (grants-in-aid), और (४) स्थानीय निकायो के नियन्त्रण के अन्तर्गत कर-इतर स्रोतो (non-tax sources) से प्राप्त होने वाली आय। हम इस बात पर सक्षेप मे पहले ही विचार कर चुके हैं कि विभिन्न स्थानीय निकायो के कर सम्बन्धी अधिकार क्या है और अधिकारो का कहाँ तक उपयोग किया जा रहा है। यहाँ हम उन करो के सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से विचार करेंगे जो कि स्थानीय निकायो द्वारा लगाये तथा वसूल किये जाते हैं। यहाँ हम इन करो पर केवल सामान्य रूप मे ही विचार करेंगे तथा साथ ही स्थानीय वित्त के अन्य स्रोतो की भी छानबीन करेंगे।

कराधान (Taxation)

जैसा कि बताया जा चुका है, स्थानीय निकायो को कुछ कर सौंप दिये जाते है परन्तु ये कर विभिन्न राज्यों मे अलग-अलग होते हैं। किन्तु स्थानीय निकायो को जिन करो के लगाने का अधिकार होता है, वे उन सबका उपयोग नही कर पाते। कुछ सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती है और कुछ राज्यो मे कुछ विशिष्ट करो को लगाने के लिए राज्य सरकार की अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक होती है।

ऐसे कोई कर नही है जो विशेष रूप से स्थानीय निकायो के लिए ही नियत हो। स्थानीय निकायो द्वारा जो भी कर लगाये जाते हैं वे संविधान की राज्य-सूची (state list) मे हैं। अतः ऐसा कोई स्थानीय कर नही है जिस पर राज्य सरकार स्वय अपने लाभ के लिए एक समानान्तर कर न लगाती हो। कुछ मामलो मे, राज्य सरकारो ने अपने इस रुख की अनुपयुक्तता एव तर्कहीनता को स्वय अनुभव भी किया है परन्तु स्थानीय निकायो को सविधान की ओर से इस कष्ट से मुक्ति की कोई सुविधा प्राप्त नही है। कराधान जाँच आयोग ने सिफारिश की थी कि कुछ कर स्पष्ट रूप से स्थानीय निकायो के लिए ही सुरक्षित कर देने चाहिए और उनका उपयोग केवल निकायो द्वारा ही होना चाहिए। वर्तमान समय मे जहाँ कही भी राज्य सरकारें स्वय उन करो को

पालिकाओ तथा नगरनिगमों को कुछ ऐसी जनोपयोगी सेवाओं की व्यवस्था करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जैसे कि गैस तथा बिजली का वितरण तथा परिवहन सगठनो का सचालन। ऐसी सेवाओं की व्यवस्था का कार्य राज्य सरकारों को अपने हाथ मे नही लेना चाहिए, किन्तु परिस्थितियों से अत्यन्त बाध्य होकर ही यदि ऐसा करना पड़ जाए तब बात दूसरी है।

आय के कुछ कर-इतर स्रोत ग्राम पचायतो को भी प्राप्त है। कुछ पचायतो को सड़क के किनारे लगे पेड़ो, तलाबों तथा झीलो आदि से काफी आय प्राप्त होती है। जब पचायतो को भूमि-व्यवस्था (land management) का कार्य सौंपा जाता है तब विशेष रूप से ऐसा होता है। कुछ पचायतो को दूकानो तथा बाजारों तथा पैठ के स्थानो पर बनाये गये स्टालो के किराये के रूप मे भी कुछ आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, जहाँ सरकारी सगठनो का अभाव होता है, वहाँ पचायतें खाद बेचने, कृषि यन्त्र किराये पर देने, छोटी-छोटी आटे की चक्कियाँ चलाने का कार्य भी करती हैं। ऐसे उद्यम केवल पचायतो को आय ही प्रदान नही करते बल्कि लोगो की दृष्टि मे पचायतो की उपयोगिता भी बढाते हैं।

स्थानीय कराधान
(Local Taxation)

जो कर स्थानीय निकाओ के लिए विशेष रूप से उपयुक्त माने जाते हैं, उनमे महत्त्वपूर्ण हैं—सम्पत्ति पर कर, चुंगी और सीमान्त कर, वृत्तियो, व्यापारो तथा आजीविकाओं पर कर, वाहनों (vehicles), पशुओं और नावों पर कर, थियेटर कर और पथ-कर (tolls)। सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले कर भी अनेक प्रकार के होते हैं। म्युनिसिपल क्षेत्र मे स्थित भूमि व भवनों पर भी कर लगाये जाते हैं। दूसरे, नगर नियोजन तथा नगर-सुधार योजनाओ के लागू होने के कारण शहरी भूमि के मूल्य मे जो वृद्धि होती है उस पर समुन्नति कर लगाने का अधिकार भी स्थानीय निकायों को ही होता है। तीसरे, स्थानीय कराधान की एक मद और है जिसका कुछ राज्य मे विकास हुआ है, और वह है, स्थावर सम्पत्ति (immovable property) के हस्तान्तरण पर कर। अन्त मे, भूमि उपकर अथवा लगान उपकर (land cesses) भी जिला स्थानीय बोर्डों की आय का एक मुख्य स्रोत है। इस मद मे जब सम्पत्ति पर विभिन्न प्रकार के कर समुचित रीति से लगाये जाते हैं तो यह स्थानीय निकायों की आय का एक बड़ा फलदायी स्रोत बन जाता है। सम्पत्ति पर तथा वृत्तियो, व्यापारो तथा आजीविकाओ पर लगाये जाने वाले कर स्थानीय निकायों के सम्भावित मुख्य प्रत्यक्ष कर हैं। इन करो के पक्ष मे दिया जाने वाला यह एक विशेष तर्क है और इनका समर्थन अन्य बातो के अलावा मुख्यत इसी आधार पर किया जाता है।

सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले कर (Taxes on Property).

सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले कर स्थानीय निकायों की कर-आय के सबसे बड़े स्रोत हैं। इस वर्ग के कर चार मुख्य श्रेणियों मे बाँटे जाते हैं। भूमि तथा भवनो पर कर सामान्यत नगरपालिकाओं, नगर निगमो तथा ग्राम पचायतो द्वारा लगाये जाते हैं दूसरी श्रेणी के करो मे समुन्नति कर आते है। ये कर उन निकायो द्वारा लगाये जाते हैं जो उन्नति की योजनाएं लागू करते हैं। तीसरी श्रेणी के कर अर्थात् सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर स्टाम्प शुल्क सामान्यत. राज्य सरकारो द्वारा लगाये जाने वाले स्टाम्प शुल्क के अतिरिक्त स्थानीय निकायों को भी सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाने की अनुमति दे दी जाती है। चौथी श्रेणी के कर अर्थात् भूमि पर उपकर आमतौर पर स्थानीय बोर्डों तथा ग्राम पचायतो द्वारा लगाये जाते हैं।

भूमि तथा भवनों पर कर (Taxes on Lands and Buildings) :

भूमि तथा भवनो पर लगाये जाने वाले करो के दो रूप होते हैं—सामान्य कर और सेवा कर। कुछ स्थितियो मे इनको सयुक्त दर से लगाकर एक जगह मिला दिया जाता है। कुछ राज्यो मे, कर पर अधिभार (surcharge) के रूप मे एक अतिरिक्त कर (additional tax) लगाया जाता है जैसे कि शिक्षा कर, पुस्तकालय उपकर, अथवा स्वास्थ्य उपकर। कुछ राज्य मे, सम्पत्ति कर की अनिवार्य उगाही की व्यवस्था है। ऐसे राज्यो ने नगरपालिकाएँ सम्पत्ति करो को उगाहती हैं किन्तु अन्य राज्यो मे इसकी अनिवार्य उगाही नही की जाती।

लिए स्थानीय निकायों को मजबूर कर सकें। इसके अतिरिक्त, अनुदान राज्य सरकारों को इस योग्य भी बनाते हैं कि वे विभिन्न क्षेत्रों में नागरिक सुविधाओं में कुछ मात्रा में एकरूपता स्थापित कर सकें। राज्य सरकार विभिन्न नगरपालिकाओं तथा अन्य स्थानीय निकायों पर इस बात के लिए जोर डाल सकती हैं कि वे राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित कुछ स्तरों के अनुसार नागरिक सुविधाओं की व्यवस्था करें और सरकार विभिन्न क्षेत्रों में प्रदान की जाने वाली सेवाओं में एकरूपता ला सकती है।

राज्य सरकारों द्वारा दिये जाने वाले अनुदानों के दो आधार हो सकते हैं। वे या तो प्रतिशत अनुदान हो सकते है अथवा ब्लाक अनुदान। प्रतिशत अनुदान (percentage grant) उस अनुदान को कहते हैं जिसमे किसी योजना की लागत का कुछ प्रतिशत भाग तो सरकार देती है, शेष भाग की पूर्ति स्थानीय निकाय को करनी होती है। इस स्थिति मे, योजना की लागत को एक भाग की पूर्ति स्थानीय निकाय को अवश्य करनी होती है। ब्लाक अनुदान उस अनुदान को कहते हैं जो कि सरकार द्वारा बिना किसी ऐसी शर्त के एक-मुश्त रकम के रूप मे दिया जाता है। ऐसे अनुदान स्थानीय निकायो के लिए बडे उपयुक्त रहते हैं क्योंकि उनकी वित्तीय स्थिति इतनी असन्तोषजनक होती है कि उनसे किसी सेवा की लागत के एक भाग की स्वयं पूर्ति करने की आशा नही की जा सकती। इस स्थिति मे, अनुदान प्रत्येक क्षेत्र की आवश्यकताओं के आधार पर दिया जाता है।

कराधान जांच आयोग ने सुझाव दिया कि सहायक अनुदानों की व्यवस्था निम्नलिखित सिद्धान्तो पर आधारित होनी चाहिए।—

(१) बडी-बडी नगरपालिकाओं तक नगर निगमों को छोडकर प्रत्येक स्थानीय निकाय को मूलभूत सामान्य उद्देश्य अनुदान देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

(२) जो स्थानीय निकाय ऐसे अनुदान प्राप्त करने के योग्य हो उनका एक ऐसा सरल वर्गीकरण कर दिया जाना चाहिए जो कि जनसख्या, क्षेत्रफल व साधनों आदि पर आधारित हो और अनुदान स्वयं इन तत्त्वों से तथा स्थानीय निकायो के सामान्य बजटों के आकार से सम्बन्धित होने चाहिए।

(३) मूलभूत अनुदान ऐसा होना चाहिए कि अपने निजी साधनों को दृष्टिगत रखने के पश्चात् स्थानीय निकाय को आवश्यक तथा अधिशासी (executive) कार्यों को पूरा करने के लिए यथेष्ट मात्रा मे धन प्राप्त हो जाये।

(४) स्थानीय निकायो को कई वर्षों के लिए मूलभूत अनुदान देने की पक्की व्यवस्था होनी चाहिए।

(५) इसके अतिरिक्त, विशेष मदो तथा सेवाओं के लिए विशिष्ट अनुदान (specific grants) देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

कर-इतर आय (Non-Tax Revenue)

स्थानीय निकायो की कर-इतर आय मे फीस, जुर्माने तथा कुछ ऐसे सार्वजनिक उद्यमों से होने वाली आय सम्मिलित है जैसे कि ट्राम्बे, बसें, बिजली का वितरण आदि। कुछ नगर निगमों के लिए, फीस तथा जुर्माने आय के बडे अच्छे स्रोत हैं परन्तु इनसे स्थानीय निकायो को आय का बहुत थोडा भाग ही प्राप्त होता है। सार्वजनिक उद्यम कुछ नगर निगमों तथा स्थानीय निकायो के लिए आय के बडे फलदायी स्रोत है। परन्तु इस क्षेत्र मे केवल थोड़े ही निकायो को सफलता प्राप्त हुई है। इस प्रकार के उत्तरदायित्वो को सँभालने के सम्बन्ध मे, साधारणतया, न तो स्थानीय निकायों की ओर से ही पहल करने की कोई बात दिखाई देती है, और न राज्य सरकारें ही इस दिशा मे कोई प्रोत्साहन देती है। वास्तविकता यह है कि कुछ राज्यो ने क्रियाओ के इस क्षेत्र से स्थानीय निकायो को बाहर कर दिया है और ऐसे कुछ उद्यमो को स्वय अपने ही हाथ मे ले लिया है। उदाहरण के लिए, कुछ राज्यो मे, कस्बो तथा नगरो मे बिजली के सभरण (पूर्ति) और परिवहन सेवाओ की व्यवस्था का कार्य सरकार ने स्वय अपनेआप सभाल लिया है। कराधान जाँच आयोग ने सिफारिश की थी, स्थानीय निकायो को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे अपने कर-इतर आय के स्रोतो मे यथासम्भव वृद्धि करें। बडी नगर-

को चाहिए कि जैसे ही और जब भी आवश्यक समझे इस कर की दर को कम करें और यहां तक कम करें कि सम्बन्धित नगरपालिकाएं कर की अपनी दरें बढा सकें अथवा इसे प्रथम बार लगा सकें। यह प्रक्रिया कई वर्षों मे लागू होनी चाहिए।

समुन्नति कर तथा अशदान (Betterment Taxes and Contributions) :

स्थानीय कराधान के सदर्भ मे समुन्नति कर अथवा अशदान एक ऐसा कर है जो नगर-नियोजन तथा नगर-सुधार-योजनाओ के लागू होने के कारण शहरी भूमि के बढ़े हुए मूल्यो पर लगाया जाता है। कुछ स्थानो पर यह म्युनिसिपल सत्ताओ द्वारा समुन्नति कर लागू करने के सम्बन्ध मे दो बाधाएं सामने आई है। प्रथम तो इस कर को कानून द्वारा बडी योजनाओ के लिये सीमिति कर दिया गया और कुछ ऐसे सीमित सुधारो पर इसे लागू नही किया जा सकता था जैसे कि पार्क अथवा उपरिगामी पुल (over bridge) का निर्माण। इस सीमा को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है कि छोटे सुधारों तक समुन्नति कर का विस्तार करने मे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां सामने आती हैं। ऐसा करने से इसकी कार्यविधि (procedure) बडी जटिल हो जायेगी और इधर आय भी कोई अधिक मात्रा मे प्राप्त नहीं होगी। जहां तक छोटी नगरपालिकाओं का सम्बन्ध है लागत (cost), विवाद (litigation) तथा कार्यविधि सम्बन्धी जटिलताओ को आँखो से ओझल नही किया जा सकता। दूसरे, व्यावहारिक रूप मे यह कर सुधार योजनाओ पर व्यय की गई लागत तक ही सीमित रहता है यद्यपि कानूनी व्यवस्थाएं ऐसी हैं कि यह भूमि के मूल्य मे होने वाली सभी वृद्धियो पर लागू होना चाहिए। कराधान जांच आयोग का यह मत था कि यह सीमा न्यायोचित है। सुधार-प्रयोजना की लागत की न्यूनतम सीमा होनी चाहिए और अधिकतम सीमा सम्पत्ति के मूल्य से होने वाली वास्तविक क्रमिक वृद्धि की ५० प्रतिशत से कम नही होनी चाहिए। सम्बन्धित अधिनियमो मे सशोधन किया जाना चाहिए और इस बात को असभव बना दिया जाना चाहिए कि कर के सम्बन्ध मे केवल इसलिए कोई विवाद खडा कर दिया जाए कि भूमि के मूल्यो मे वृद्धि आशिक रूप से ऐसे कारणों से होती है जिनका प्रयोजन से कोई सम्बन्ध नही है।

अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर (Taxation on Transfers of Immovable Property) :

कुछ राज्यो मे, यह भी स्थानीय कराधान की एक मद है। यह कर राज्य के स्टाम्प शुल्क के अलावा होता है। स्थानीय निकायो, विशेष रूप से शहरी निकायो के लिए कराधान का यह एक बडा उपयुक्त रूप है। इन करो का सग्रह राज्य सरकार के रजिस्ट्रेशन कार्यालय द्वारा निर्धारित दरो के अनुसार किया जाता है।

भूमि उप-कर अथवा लगान उप-कर (Land Cesses)

ये कर जिला स्थानीय बोर्डों की कर-आय के मुख्य स्रोत हैं। इस उप-कर का सग्रह आमतौर पर राज्य सरकार द्वारा किया जाता है और फिर इसकी प्राप्तियां स्थानीय बोर्डो को दे दी जाती है। कुछ स्थानो पर, विशेष गांवो से सम्बन्धित लगान उप-कर का एक भाग ग्राम पचायतों को दिया जाता है। कुछ राज्यो मे, पचायतें अपना पृथक् ही लगान उप-कर लगाती हैं। कुछ राज्यो मे प्राइमरी शिक्षा जैसे कुछ विशेष कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था के लिए एक पृथक् उप-कर लगाया जाता है।

उत्तर प्रदेश मे, जमीदारी उन्मूलन के बाद इस कर को भू-राजस्व मे ही मिला दिया गया था। अब जिला बोर्ड इस उप-कर के बदले मे सरकार से क्षतिपूर्ति अनुदान प्राप्त करते है।

चुंगी और सीमान्त कर (Octroi and Terminal Taxes) :

चुंगी तथा सीमान्त करो से नगरपालिकाओं तथा नगरनिगमो को एक चौथाई से भी अधिक आय प्राप्त होती है। ग्राम पचायतो ने भी अब इस कर को लगाना शुरू कर दिया है। चुंगी एक ऐसा कर है जो किसी स्थानीय क्षेत्र मे उपभोग करने, प्रयोग करने अथवा वहां पर बिक्री के लिए आने वाले पदार्थो पर लगाया जाता है। सीमान्त कर उस कर को कहते हैं जो किसी विशेष स्थानीय क्षेत्र मे आने वाले अथवा वहाँ से जाने वाले पदार्थो अथवा यात्रियो पर लगाया

सम्पत्ति कर सम्पत्ति के वार्षिक अथवा पूँजीगत मूल्य पर आधारित होता है। यह कर स्थावर सम्पत्ति तक ही सीमित होता है। युद्ध-काल मे तथा उसके बाद की अवधि मे, अनेक राज्यो ने किराया नियन्त्रण अधिनियमों (Rent Control Acts) के अन्तर्गत, भवनो की दरो पर नियन्त्रण लागू किया था। ऐसे राज्यों मे नगरपालिकाओ ने नियन्त्रित किरायो के आधार पर ही सम्पति कर का निर्धारण किया था। कुछ राज्यों म, प्रत्येक तीन अथवा पाँच वर्षों के पश्चात् सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य का पुनर्निर्धारण किया जाता है। सम्पत्ति कर के लिए दूसरा आधार सम्पत्ति का पूँजीगत मूल्य है परन्तु भारत मे इसका उपयोग इसलिये अधिक नहीं किया जा सकता क्योंकि पूँजीगत मूल्य का निर्धारण करना बडा कठिन है और इसके लिए विशेषज्ञों की सेवाओ की आवश्यकता होती है। कुछ राज्यो मे, ग्राम पचायतो के सम्बन्ध मे एक तीसरा आधार प्रचलित है और उसका सम्बन्ध कुर्सी-क्षेत्रफल (plinth area) तथा निर्माण की किस्म से होता है।

कुछ राज्यो मे, नगर पालिकाओ तथा नगर निगमो द्वारा लगाये जाने वाले सम्पत्ति कर की अधिकतम दरें निर्धारित कर दी जाती है। कर विभिन्न जमाबन्दी मूल्यो (rent value) के लिए प्राय एक समान दर से उगाहा जाता है। स्थानीय वित्त जाँच समिति ने दर मे कुछ किस्म के आरोहण अथवा क्रमवर्धन (progression) का सुझाव दिया था। अत अभी हाल के वर्षों मे, कुछ नगर निगमो तथा नगरपालिकाओ द्वारा दर में क्रमवर्धन लागू किया गया है। परन्तु सम्पत्ति कर की उगाही मे क्रमवर्धन को अपनाना अनिवार्यत न्यायोचित ही हो, ऐसी बात नही है। यह अदा करने की योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित नही है क्योंकि किसी भी व्यक्ति की कर अदा करने की योग्यता उसकी कुल आय पर निर्भर होती है। छूट की सीमाओं से युक्त आरोहण अथवा क्रमवर्धन का अर्थ है, स्थानीय निकायो के लिए आय की हानि। कर-निर्धारण तथा प्रशासन से सम्बन्धित व्यावहारिक कठिनाइयो ने सम्पत्ति करो मे शिला पद्धति (slab system) को विशेप रूप से अनुपयुक्त बना दिया है।

कुछ स्थिति मे, सम्पत्ति करो की उगाही (levy) मे कुछ छूटे प्रदान की जाती है। संविधान के अनुसार, संघ सरकार की सम्पत्तियाँ इस कर से मुक्त होती हैं। इसके अलावा कुछ अन्य प्रकार की सम्पत्तियां भी सामन्यत कर मुक्त कर दी जाती है, उदाहरणत विशिष्ट कार्यों के लिए प्रयोग की जाने वाली सम्पत्तियाँ और ऐसी सम्पत्तियाँ जिनकी मात्रा निश्चित वार्षिक मूल्य मे कम हो। शैक्षणिक धार्मिक तथा पुण्यार्थ कार्यों के लिए प्रयोग की जाने वाली सम्पत्तियाँ प्राय सम्पत्ति-कर से मुक्त रहती हैं। एक निश्चित स्तर से कम मूल्य की सम्पत्ति को कर मुक्त करना दो कारणो से न्यायोचित ठहराया जाता है। प्रथम, सम्पत्ति का मूल्य जब न्यूनतम निश्चित स्तर से भी कम होता है तो यह स्थिति सम्पत्ति के स्वामी के जीवनस्तर अथवा आय की सूचक होती है जो कि निश्चित ही छूट की अधिकारी होती है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह है कि निम्नतम स्तर पर प्रशासनिक लागत आनुपातिक दृष्टि से बहुत अधिक होती है।

म्युनिसिपल सत्ताओ को कुछ अपवादो को छोडकर सेवाओ पर कर लगाने का अधिकार होता है, अर्थात्, ऐसे कर जो कि सामान्य दर से अतिरिक्त हों, जो सम्पत्तियों के वार्षिक मूल्यों पर निर्धारित किये गये हो और जो विशिष्ट सेवाओं की लागत की पूर्ति के उद्देश्य से लगाये गये हों। ऐसे करो के उदाहरण है जल-कर, जल निकासी कर, सफाई कर, प्रकाश कर तथा अग्नि कर। ये कर विभिन्न राज्यो मे लगाये जाते हैं। सेवा करों के सम्बन्ध मे विशेष बात यह है कि ये तब लगाये जाते है जबकि सम्बन्धित सेवा प्रदान कर दी जाती है और ऐसे क्षेत्रों मे लगाये जाते है जहाँ कि ये सेवाएँ प्रदान की जाती है। अधिकतर राज्यो मे, सेवा कर उस स्थिति मे भी अदा करने होते हैं जबकि सम्पत्तियाँ सामान्य कर से मुक्त होती हैं। अधिकाश स्थितियो मे सेवा करो (service taxes) का उद्देश्य यह नही होता कि प्रदान की गई सेवा की पूरी लागत वसूल की जाए।

बम्बई तथा पजाब की सरकारो ने एक शहरी स्थावर सम्पत्ति कर लागू किया है। यह कर राज्य सरकार द्वारा संग्रह किया जाता है और उसी के द्वारा रख लिया जाता है। कराधान जाँच आयोग ने इस तरीके का अनुमोदन नही किया। आयोग ने सिफारिश की कि राज्य सरकार को यह मानना चाहिए कि यह कर आय के स्थानीय क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है और दोनो सरकारो

इस रेखाचित्र मे, कख धन की उस मात्रा को प्रकट करती है जो कि सरकार को सार्वजनिक सेवाओ पर व्यय करने के लिए उपलब्ध है। यह धन चूंकि गैरसरकारी आवश्यकताओ की ओर से सरकारी आवश्यकताओ की ओर को कराधान के द्वारा किये जाने वाले साधनों के
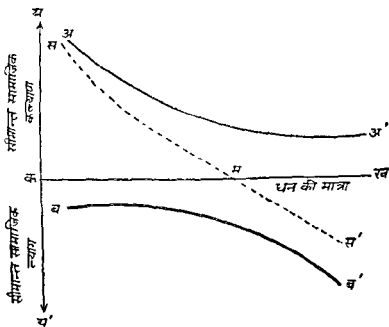
अन्तरण (diversion) को प्रकट करता है, अत यह समाज के त्याग का ही प्रतीक है। रेखाचित्र का ऊपर का भाग उस सामाजिक लाभ का सूचक है जो कि सरकारी व्यय से प्राप्त होता है। अअ' रेखा सीमान्त सामाजिक लाभ अथवा कल्याण की वक्र रेखा है जिसका नीचे की ओर को झुकाव इस बात को प्रकट करता है कि सरकारी व्यय की अतिरिक्त धन राशियों से समाज को प्राप्त होने वाला लाभ घटता जाता है। चित्र का निचला भाग कराधान के द्वारा कराये जाने वाले सामाजिक त्याग को प्रकट करता है। बब' वक्ररेखा कराधान के सीमान्त सामाजिक त्याग को प्रकट करती है। यह वक्ररेखा भी नीचे की ओर झुकती चली गई है और इस बात को प्रदर्शित करती है कि जब लोगो से करो के रूप मे बडी-बडी धनराशियाँ ली जायेंगी तो इससे समाज के त्याग की मात्रा भी बढ जायेगी। सस' वक्ररेखा को सीमान्त शुद्ध सामाजिक लाभ की वक्ररेखा (marginal net social benefit curve) कहा जा सकता है और इसका हिसाब बब' को अअ' मे से घटा कर लगाया जाता है (अर्थात् शुद्ध सामाजिक लाभ की गणना करने के लिए लाभ मे से त्याग को घटा दिया जाता है)। म' अनुकूलतम बिन्दु है क्योंकि इस बिन्दु पर शुद्ध सामाजिक लाभ अधिकतम है (और सीमान्त सामाजिक लाभ = सीमान्त सामाजिक त्याग)।

बजट नीति द्वारा समुदाय के अधिकतम कल्याण के इस नये दृष्टिकोण का इस कारण निश्चित महत्व है क्योंकि इसमें "करो के बँटवारे के न्यूनतम त्याग दृष्टिकोण की तुलना सरकारी खर्चों के निर्धारण के अधिकतम लाभ दृष्टिकोण से की गई है और बजट नियोजन (budget planning) के सामान्य सिद्धान्त मे इन दोनों को ही मिला दिया गया है।"[16]

---

16 Musgrave : *op cit*, p 114, "Minimum sacrifice approach to the allocation of taxes is matched by a maximum benefit approach to the determination of public expenditures and the two are combined in a general theory of budget planning"

जाता है। अन्य शब्दो मे, सीमान्त कर ऐसी वस्तुओ पर लगाये जा सकते है जो किसी स्थानीय क्षेत्र मे आयें या वहाँ से बाहर जाएँ और यहाँ तक कि उन वस्तुओ पर भी जो कि उस क्षेत्र से होकर गुजरें किन्तु चुंगी केवल ऐसी वस्तुओ पर ही लगाई जाती है जो किस स्थानीय क्षेत्र मे प्रवेश करती हैं, उस क्षेत्र से बाहर जाने वाली अथवा गुजरने वाली वस्तुओ पर नही लगाई जाती। चुंगी मे, यदि रकम वापिस करने की व्यवस्था की जाती है। इन दोनो करो मे एक अन्तर यह है कि चुंगी तो केवल वस्तुओ पर लगाई जाती है किन्तु सीमान्त कर यात्रियो पर भी लगाया जाता है। चूंकि चुंगी मे कर-वापिसी की व्यवस्था का आसानी से दुरुपयोग किया जा सकता है, अत पजाब सरकार ने अपने यहाँ बिना वापिसी की चुंगी की व्यवस्था लागू की है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत, उन वस्तुओ को पहले ही कर-मुक्ति कर दिया जाता है जो कि रास्ते मे होती है और चुंगी केवल अन्य वस्तुओ पर लगाई जाती है।

चुंगी तथा सीमान्त करो की काफी आलोचना की गई है। अत. समय-समय पर ये प्रयत्न किये जाते रहे है कि चुंगी को इसके प्रशासकीय दोषो से मुक्त कराया जाए और इनको बाहाता (incidence) को केन्द्रित किया जाता है। कुछ स्थानो पर यह कर स्थानीय उपभोग के केवल थोडे से ही पदार्थो पर लगाया जाता है। इसकी दरें काफी हल्की रही है। आवश्यकता इस बात की है कि नगरपालिकाएँ आने-जाने वाले माल को रखने के लिए गोदाम तथा अन्य सुविधाओ की व्यवस्था करें।

स्थानीय आधार वाले एक कर के रूप मे, सीमान्त कर के मुकाबले चुंगी स्थानीय कराधान की एक अधिक उपयुक्त मद है। सीमान्त कर उस माल पर भी लगाया जा सकता है जो कि रास्ते मे होता है। फिर इसमे कर-वापिसी की कोई व्यवस्था नही होती अत. यह कर प्रशासनिक दृष्टि से बडा सरल है। करदाता को भी इससे यह लाभ है कि इसमे पहले प्रायोगिक अदायगियाँ फिर बाद मे उनकी वापिसी जैसे कोई व्यवस्था नही है। परन्तु सीमान्त कर रेलमार्ग द्वारा लाई-ले जानी वाली वस्तुओ पर भी लगाये जाते है और सडक परिवहन द्वारा लाई-ले जानी वाली वस्तुओ पर भी। अत जब तक सडको द्वारा माल के यातायात की व्यवस्था पर प्रभावपूर्ण रीति से सरकारी अथवा अर्द्ध सरकारी नियन्त्रण स्थापित नही होता तब तक सड़क मार्ग द्वारा लाई-ले जानी वाली वस्तुओ पर कर की कोई व्यवस्था का सुझाव देना बड़ा कठिन है। सीमान्त करो की एक समुचित व्यवस्था के लिए रेल-सडक का एकीकरण आवश्यक है और ऐसा एकीकरण (integration) केवल कुछ सीमित क्षेत्रो मे ही हो सकता है अत अन्य क्षेत्रो मे सीमान्त करो का विस्तार करना व्यवहार्य नही है।

चुंगी को एकदम पूर्णतया समाप्त कर देने की बात व्यावहारिक दृष्टि से उचित नही है। कराधान जाँच आयोग ने भी यह सुझाव दिया था कि स्थानीय निकायो की कर-व्यवस्था से चुंगी की समाप्ति का कार्य एक लम्बी अवधि मे पूर्ण किया जाना चाहिए। अनेक नगरपालिकाओ ने इसे सीमान्त कर मे ही परिवर्तित कर दिया है और कई ने बिक्री करो पर म्युनिसिपल अधिकार के रूप मे परिवर्तित कर दिया है। ये भी कुछ ऐसे विकल्प हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिए। परन्तु ये दोनो तो समस्या के दीर्घकालीन हल है अत तुरन्त ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए कि चुंगी व्यवस्था के गम्भीर दोषो का उन्मूलन किया जाए।

आयोग ने चुंगी व्यवस्था के सम्बन्ध मे कई सुधारो की सिफारिश की। कहा गया कि ये कर मूल्यानुसार नही, वजन या तौल (weight) के हिसाब से लगाये जाने चाहिए। सभी राज्यो मे सरकारो द्वारा आदर्श सूचियाँ निर्धारित कर दी जानी चाहिए। उच्च अधिकारियो को अधीनस्थ कर्मचारियो का बार-बार प्रभावपूर्ण रीति से निरीक्षण करते रहना चाहिए जिससे कि वे रिश्वत आदि न ले सकें और जनता को परेशान न कर सके। खाद्य पदार्थो पर चुंगी की दरो मे वृद्धि करने की अनुमति नही दी जानी चाहिए। अन्त मे, जब भी व्यवहार्य (feasible) हो तभी चुंगी का सीमान्त कर मे परिवर्तित करने की अथवा सीमान्त कर का लागू करने की अनुमति दे दी जानी चाहिए।

अनेक तीर्थ स्थानो पर यात्रियो पर सीमान्त कर लगाया जाता है। ऐसे स्थानो के सम्बन्ध मे तो इस कर को न्यायोचित ठहराया जाना है जहाँ कि दर्शको की बडी सख्या के लिए

नागरिक सुविधाओ की व्यवस्था की जाती है। इस कर को साधारणत. तीर्थयात्री कर (pilgrim tax) कहा जाता है और इसे रेल किराये (railway fare) मे वृद्धि करके उगाहा जाता है। सड़क परिवहन का उपयोग करने वाले यात्रियो को एक समानान्तर कर अदा करना पड़ता है। कराधान जांच आयोग ने यह सुझाव दिया था कि लम्बी दूरी के यात्रियों पर नीची दर से सीमान्त कर लगाया जाना चाहिए। धर्मार्थियो अथवा दर्शको से नगरपालिकाओ के लिए अशदान लेने का यही एक उपयुक्त तरीका है। इस कर को एक ऐसी समन्वित योजना के अनुसार लगाया जाना चाहिए जिसके अन्तर्गत सड़क मार्ग द्वारा यात्रा करने वाले यात्रियो पर राज्य कर लगायें और रेल तथा अन्य मार्गों द्वारा यात्रा करने वाली सवारियो पर सघ सरकार कर लगाये। इस प्रकार, बड़े नगरो मे बड़े स्थानीय निकायो के लिए आय का एक बड़ा उपयोगी स्रोत उपलब्ध हो जायेगा।

धन्धो अथवा वृत्तियो पर कर (Taxes on professions) .

सन् १९३९ तक वृत्ति करो (profession taxes) के लिए कोई सीमा निर्धारित नही थी। इसी वर्ष भारत सरकार अधिनियम मे एक सशोधन किया गया जिसमे कहा गया कि कोई भी ऐसा कर ५० रु० से अधिक नही होना चाहिए और चालू कर उन उच्चतम सीमाओ मे रहने चाहिए जो कि केन्द्रीय कानूनों द्वारा निर्धारित की गई हो। सविधान के अनुच्छेद २७६ के अन्तर्गत, यह सीमा २५० रु० तक बढा दी गई। कुछ राज्यो मे तो वृत्ति कर एक समान दर से लगाया जाता है किन्तु अन्य राज्यो मे आरोही दरों से लगाया जाता है। अधिकाश राज्यो ने इस कर को अपने यहा लागू किया है परन्तु इससे प्राप्त आय अधिक नही होती।

कराधान जाँच आयोग का यह कहना था कि क्योकि एक वृत्ति (profession) की आमदनियो मे भारी अन्तर पाया जाता है, अत आय के अनुसार ही इस कर को विभिन्न श्रेणियो मे बाँटा जाना चाहिए और इन श्रेणियो के अनुसार ही इसको दरो मे भी विभिन्नता होनी चाहिए। इस उद्देश्य के लिए यदि आरोहरण अथवा क्रमवर्धन (progression) लागू कर दिया जाए तो वाछनीय रहेगा। आय के आधार पर इस कर को लागू करने की बात पूणतया वैधानिक एव उचित है और सभी राज्यों को इसका पालन करना चाहिए। सभी वृत्तियो, व्यापारो, नौकरियो तथा पेन्शनो से होने वाली आय तथा निवेशो (investments) से प्राप्त होने वाली आय पर इस कर का निर्धारण किया जाना चाहिए। कृषि सम्बन्धी आय को इस कर से पूर्ववत् मुक्त ही रखा जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि बम्बई तथा कलकत्ता जैसे बड़े नगर निगमो की स्थिति मे, यह वाछनीय होगा कि निगमो के उत्तरदायित्व पर आय-कर विभाग वृत्ति-कर का निर्धारण तथा सग्रह करे।

गाड़ियों, पशुओ तथा नावो पर कर (Taxes on Vehicles, Animals and Boats) :

गाडियो अथवा वाहनो पर कर सभी राज्यो मे म्युनिसिपल कराधान का एक सामान्य अग रहा है। परन्तु सभी नगर निगमो तथा नगरपालिकाओ द्वारा इस कर से प्राप्त की जाने वाली वार्षिक आय अपेक्षाकृत थोड़ी रही है। मोटरगाडियो पर कर लगने का अधिकार वापिस ले लेने के कारण स्थानीय निकायो को जो हानि हुई है, अधिकाश राज्य सरकारें स्थानीय निकायों को उसकी क्षतिपूर्ति करती है। क्षतिपूर्ति (compensation) की मात्रा अधिकार वापिस लेने से पूर्व के तीन वर्षों की औसत आय पर आधारित होती है। यह भी सुझाव दिया जाता है कि क्षतिपूर्ति के स्थान पर मोटरगाडी कर की प्राप्तियो का एक भाग ही उन्हे क्यो न दे दिया जाया करे। कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की थी कि मोटरगाडी कर को छोडकर अन्य सभी वाहनो पर लगाये जाने वाले कर स्थानीय सस्थाओ के लिए सुरक्षित कर दिये जाने चाहिए और केवल अपवाद रूप की स्थितियो मे, और वह भी केवल सुरक्षित कर दिये जाने चाहिए और केवल अपवाद रूप स्थितियो मे, और वह भी केवल अल्पावधि के लिए, यदि राज्य सरकारों को यह कर लगाना भी पडे तो उसकी प्राप्तियाँ स्थानीय निकायो को दे दी जानी चाहिए।

थियेटर कर (Theatre tax)

कुछ राज्यो मे, मनोरजन कर के अलावा, थियेटर कर अथवा प्रदर्शन कर (show tax) भी लगाया जाता है। यह कर प्रत्येक प्रदर्शन अथवा अभिनय पर एक समान दर से लगाया जाता

है। यद्यपि अधिकाश मामलो मे इस कर की दरें विशिष्ट (specific) तथा समान (flat) रही है, तथापि थियेटरों और प्रदर्शनी का वर्गीकरण करने तथा भेदमूलक दरो (differential rates) का निर्धारण करके इसका थोडी बहुत मात्रा मे श्रेणीकरण (gradation) किया गया है। थियेटर कर की वाह्यता मुख्यत मालिको (owners) पर ही पडती है और चूँकि यह बहुत थोडी होती है अत इसके बावजूद कि उन पर मनोरजन कर भी लगाया जाता है, इसे न्यायोचित कहा जा सकता है।

अन्य कर (Other Taxes)

अधिकाश राज्यो मे तो पथ-कर समाप्त कर दिये गये, किन्तु कुछ मे अभी जारी है। *कराधान जाँच आयोग का कहना है कि केवल ५ लाख रु० से ऊपर की लागत वाले पुलो की स्थिति* मे यह कर न्यायोचित है और वह भी केवल तब तक ही, जब तक कि उसके निर्माण की लागत पूरी तरह वसूल न हो जाए। समाचार-पत्रो के विज्ञापनो को छोड़कर, अन्य विज्ञापनो पर कुछ बडे नगर निगमो द्वारा कर लगाये जाते है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1 Taxation Enquiry Commission, *Report*, Vol III. pp 330-416,

2 Gyan Chand — *Local Finance in India.*

3, B. R Mishra — Indian Federal Finance

UNIVERSITY QUESTIONS

१ "भारत मे स्थानीय सस्थाओ के साधनो की निर्धनता अच्छी तरह से मालूम है और स्थानीय वित्त की समस्या का विवेचन करते समय उस पर जोर डालने की शायद ही कोई आवश्यकता हो।" उपरोक्त उक्ति की व्याख्या कीजिये और राज्यो मे स्थानीय सस्थाओं की आय को बढाने के सुझाव दीजिये।

The poverty of resources of local authorities in India is well known and needs hardly any emphasis in the discussion of the problems of local finance" Comment on the above statement and suggest ways of enhancing the revenues of local bodies in the state

२ स्थानीय सस्थाओं की वित्तीय समस्याएँ क्या हैं ? वे क्यो इतनी दयनीय हैं ?

What are the main financial problems of lacal bodies ? Why are they in such a deplorable condition ?

३ "स्थानीय वित्त की वर्तमान प्रणाली अपर्याप्तता, असमानता एव लोचहीनता से पीडित है।' इस कथन की पूर्णत विवेचना कीजिये। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि सीमान्त कर चुन्गी से अधिक उपयुक्त है ?

"The existing system of local finance suffers from inadequacy, inequity and inlasticity" Discuss this statement fully Do you agree with the view that terminal taxes are preferable to octroi ?

४ स्थानीय वित्त का महत्व बताते हुए स्थानीय वित्त की समस्याओ का वर्णन कीजिये।

Mention the importance of local finance and discuss the problems of local finance

५ स्थानीय वित्त की विभिन्न मदो का विवेचन कीजिए।

Discuss she different items of local finance.

६ भारत मे स्थानीय सस्थाओ के आय प्राप्त करने के क्या-क्या साधन है ? उनमे वृद्धि करने हेतु सुझाव दीजिये।

What are the sources of income of local bodies in India ? Give suggestions to increase them

३०

भारतीय रेलवे वित्त
(Indian Railway Finance)

रेलवे केन्द्र सरकार की कर-इतर आय (non-tax revenue) का एकमात्र सबसे बडा स्रोत है। विगत चार वर्षों मे रेलो ने सामान्य राजस्व मे प्रतिवर्ष ८० करोड रु० से अधिक का अशदान दिया है। भारतीय रेलो की कुल ब्याजदेय पूंजी (capital-at-charge) सन् १९६५-६६ के अन्त मे, २,६५१ ५५ करोड रु० अनुमान की गई थी। जबसे भारतीय रेलो म कम्पनियो द्वारा प्रबन्धित सभी रेलो के एकीकरण का कार्य पूर्ण हुआ है तब से तो रेलवे देश का सबसे बडा राष्ट्रीय उद्यम बन गया है। सन् १९२४ से पूर्व, रेलवे वित्त देश के सामान्य वित्त का ही एक भाग था। इससे सरकार के सामान्य बजट मे बडी अनिश्चितता बनी रहती थी। अत सन् १९१४ के पृथक्करण सगमन (separation convention) द्वारा रेलवे बजट को सामान्य बजट से पृथक् करने का निश्चय किया गया। इस सगमन द्वारा उस समय तक रेलवे वित्त के दोनो का पता लगाया गया तथा समय-समय पर उनमे सुधार किये गये जब तक कि सन् १९४९ के सगमन द्वारा इसका स्थान लिया गया। रेलवे वित्त का हमारा अध्ययन सन् १९२४ से पूर्व की स्थिति से आरम्भ होता है। इसके पश्चात् हम सन् १९२४ के सगमन तथा रेलवे वित्त एव सामान्य वित्त पर इनके प्रभावो का अध्ययन करेंगे। तदनन्तर हम सन् १९४९ के सगमन तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न स्थिति पर विचार करेंगे।

प्रारम्भिक विकास (Early Development) :

सन् १८९८ तक, भारत मे रेले घाटे मे चल रही थी। इसका कारण यह था कि रेलो मे अनार्थिक परिस्थितियो के अन्तर्गत भारी मात्रा मे पूंजी लगाई गई थी। ब्याज सम्बन्धी गारन्टी की वे प्रथाएं, जिनके अन्तर्गत रेलो के निर्माण का कार्य प्राइवेट कम्पनियो को सौंप दिया गया था, सामान्य राजकोष पर भारी बोझ थी। इसके अतिरिक्त, प्रारम्भ मे जोर इस बात पर दिया गया था कि ऐसे क्षेत्रो म सामरिक महत्त्व की रेलवे लाइनो का निर्माण किया जाए जहाँ यातायात पर्याप्त नही था। निर्माण की व्यवस्था, प्रबन्ध तथा यातायात की सामान्य दशाएं—ये ही वे बातें थी जो रेलवे की हानियो के लिए जिम्मेदार थी।

सन् १८९८ के पश्चात् रेलो मे लाभ होना शुरू हुआ। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण देश का सामान्य आर्थिक विकास था। आर्थिक क्रियाओ का स्तर अब ऊँचा हो गया था और रेलो को बडी मात्रा मे यातायात का प्रबन्ध करना पडा था। इसके अतिरिक्त, इस अवधि मे नई रेलवे-लाइनो का निर्माण अवधि अनुकूल ठेको के अन्तर्गत किया गया था। रेलो मे अब बडी बडी पूँजियाँ

निवेश की गई थी और रेलों का विस्तार भी बहुत तीव्र गति से हुआ था। केवल सन् १६०८-१६०६ को छोडकर, प्रथम विश्व युद्ध के अन्त तक रेलों में भारी लाभ हुए।

युद्धकाल में, रेलो पर काम का काफी बोझ पडा। रेलो मे मरम्मत तथा प्रतिस्थापना का कार्य बहुत सीमित मात्रा में हुआ और सामग्री की कमी तथा वित्तीय कठिनाइयों के कारण नया निर्माण भी लगभग बिल्कुल ही बन्द हो गया। अत रेलों को भारी कठिनाइयों के बीच काम करना पडा। उनका विस्तार लगभग असम्भव था परन्तु भारी मात्रा में सरकारी यातायात के कारण रेलों को अच्छी आय हुई।

युद्ध के पश्चात् रेलो की कठिनाइयाँ और भी विकट हो गईं। प्रतिस्थापना (replacement) तथा मरम्मत के कार्य बडी मात्रा मे करने आवश्यक हो गये थे किन्तु तुरन्त इनकी व्यवस्था न हो सकी। रेलो को भारी वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पडा। परिणामस्वरूप सन् १६२१ में भारी हानियाँ हुई। सरकार इस बात की इच्छुक थी कि रेलें लाभ की स्थिति में रहें और लाभ की मात्रा गारन्टीकृत ब्याज से कम न हो। उस अवधि में यह कार्य अधिकाधिक कठिन होता जा रहा था। अत सन् १६२० मे सरकार ने आकवर्थ समिति (Acworth Committee) की स्थापना की। समिति को रेलो के प्रबन्ध, नये निर्माण तथा वित्त से सम्बन्धित सम्पूर्ण समस्या की जाँच का कार्य सौंपा गया। समिति ने अपने उपयोगी सिफारिशें कीं जिनमें रेलवे वित्त को देश के सामान्य वित्त से पृथक् करने की सिफारिश महत्त्वपूर्ण थी। किन्तु इस सुझाव को कार्यरूप सन १६२४ मे केवल तब ही दिया जा सका जबकि उस वर्ष पृथक्करण सगमन ने इसकी सिफारिश की।

पृथक्करण सगमन, १६२४ (*Separation Convention, 1924*)

सन् १६२४ से पूर्व की स्थिति रेलवे तथा सरकार, दोनो के लिए ही असन्तोषजनक थी। रेलो के लाभों की अनिश्चितताओं (uncertainties) ने सामान्य बजट मे भी अनिश्चितता उत्पन्न कर दी थी। सामान्य बजट की अनिश्चितताओं तथा कठिनाइयों का रेलो पर प्रतिकूल प्रभाव पडा और उन्हे हानि हुई। रेलो के विकास तथा निर्माण के कार्य को सरकार के सामान्य वित्त के पूर्णतया गैर-वाणिज्यिक रूप से सम्बद्ध कर दिया गया था। रेलो की व्यवस्था वाणिज्यिक आधार पर नही की जा सकी थी और उनसे सम्बन्धित नीति मे कोई स्थिरता व निराकरणता नही आ सकी थी।

रेलवे वित्त को सामान्य वित्त से पृथक् करने से सम्बन्धित आकवर्थ समिति की सिफारिश पर रेलवे वित्त समिति (*Railway Finance Committee*) तथा छँटनी समिति (*Retrenchment Committee*) ने भी विचार किया। इन समितियो ने उक्त सुझाव मे सहमति प्रकट की और रेलवे वित्त पृथक्करण सगमन (Railway Finance Separation Convention) द्वारा सन् १६२४ मे रेलवे बजट को सामान्य बजट मे अलग कर दिया गया।

पृथक्करण सगमन की मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार थी —

(१) रेलवे-वित्त देश के केन्द्रीय वित्त मे पृथक् होना था और रेलवे को सामान्य राजस्वो (general revenues) मे अशदान देना था। रेलो की निवल प्राप्तियों में से सबसे पहला व्यय इस अशदान के रूप में ही होना था।

(२) इस अशदान (contribution) की मात्रा रेलो की ब्याज देय पूँजी (capital-at-charge) की १ प्रतिशत होनी थी, साथ ही, इस निर्धारित रकम की अदायगी के बाद बचने वाली बेशी (surplus) का पाँचवाँ भाग और देना था। यदि किसी वर्ष रेलो की आय इतनी कम हो कि ब्याज देय पूँजी का १ प्रतिशत भाग न दिया जा सके तो उसकी पूर्ति अगले अथवा आने वाले अन्य वर्षों के शेष लाभों मे से की जानी थी।

(३) ब्याज देय पूँजी का ब्याज तथा सामरिक महत्त्व की चालू रेलवे लाइनों पर होने वाली हानि की पूर्ति सामान्य राजस्वों मे से होनी थी। हानि की यह रकम रेलो द्वारा दिये जाने वाले अशदान मे से घट जानी थी।

(४) सामान्य राजस्वो मे उक्त अदायगी करने के बाद यदि कोई बेशी शेष रहे तो उसे रेलवे आरक्षित निधि (Railway Reserve Fund) मे स्थानान्तरित कर देना था, बशर्ते कि आरक्षित निधि मे स्थानान्तरित करने के लिए उपलब्ध राशि किसी भी वर्ष तीन करोड रु० से अधिक हो। उसमें से केवल दो-तिहाई भाग आरक्षित निधि मे स्थानान्तरित होना था और शेष एक-तिहाई भाग सामान्य राजस्वो मे जाना था।

(५) रेलवे आरक्षित निधि का उपयोग इन कार्यों के लिए होना था : सामान्य राजस्वो मे वार्षिक अशदान की अदायगी को निश्चित बनाने के लिए, मूल्य ह्रास को किसी बकाया राशि की व्यवस्था के लिए, पूँजी को रद्द करने व बट्टे खाते मे डालने के लिए और रेलो की वित्तीय स्थिति मजबूत बनाने के लिए, ताकि वे जनता को अधिक अच्छी सेवाएँ प्रदान कर सकें।

सगठन का उद्देश्य यह था कि सामान्य बजट को उस अनिश्चितता से मुक्त करा दिया जाए जो कि रेलवे बजट के कारण उसमें उत्पन्न हो गई थी। यह उद्देश्य प्राप्त कर लिया गया क्योंकि सगमन की व्यवस्थाओं के द्वारा सामान्य राजस्वो में दिये जाने वाले रेलों के अशदानो मे स्थिरता उत्पन्न कर दी गई। सगमन का अन्य उद्देश्य रेलो को इस योग्य बनाना था कि वे अपने लिए एक ऐसी आरक्षित निधि का निर्माण कर सके जिसका उपयोग दीर्घकालीन विस्तार के लिए किया जा सके। इस सम्बन्ध मे, सगमन अपने उद्देश्य की पूर्ति मे असफल रहा। सगमन की कार्यप्रणाली से एक ऐसे बडे कोष का सचय अवरुद्ध हुआ, क्योकि सगमन द्वारा आरजित निधियों से कुल धन तक निकाल लेने की व्यवस्था की गई थी ताकि अशदान की बकाया राशियाँ सामान्य राजस्वो मे दी जा सके। रेलो मे पुनर्निवेश (reinvestments) तो लगभग नही के बराबर हुए। लाभो के पुनर्निवेश से यह आशा की जा सकती थी कि रेल-सेवाओं मे सुधार होगा और रेलो की कमाई करने की क्षमता भी बढ़ेगी। किन्तु सगमन ने पूरा जोर सामान्य राजस्वों में रेलो के अशदान पर दिया और रेलो में सुधार तथा उनके विस्तार का कोई ध्यान नहीं रखा।

सगमन की व्यवस्थाओ के अन्तर्गत, रेलो को इस बात के लिये बाध्य किया गया कि वे जैसे भी सभव हो, अपनी आय मे वृद्धि करे। इस स्थिति मे, दरो मे वृद्धि करना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त, इससे रेलो के लिए यह भी जरूरी हो गया कि वे भेद-मूलक दरें लागू करें। यात्री किराये की दरे तो घटा दी गई किन्तु माल-भाडे की दरे बढानी पडी। यातायात के प्रतिस्पर्धी तथा अप्रतिस्पर्धी क्षेत्रों मे भेदभाव करना लगभग अनुपेक्षणीय (unavoidable) हो गया। माल-भाडे की दरे उच्च श्रेणियो के मुकाबले निम्न श्रेणियो पर बढा दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि दरो का ढांचा अनार्थिक हो गया जिसने कुछ आवश्यक किस्म के यातायात (traffic) को हतोत्साहित किया और व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। सगमन का मूल दोष यह था कि इसने इस बात पर विचार ही नही किया कि रेलो मे लगी हुई सम्पूर्ण पूँजी का प्रतिवर्ष लाभप्रद रीति से उपयोग किया जाए। रेलें निवेश की गई अपनी पूँजी के किताबी आँकडों को ही वे धनराशियाँ मानने को मजबूर रही जिन पर कोई प्रतिफल प्राप्त होना था। रेलो की दृष्टि से यह बात उचित नही थी और न ही इसे कोई सही रुख कहा जा सकता है।

सगमन की एक विशेषता ऐसी थी जिसे रेलो के लिए लाभप्रद कहा जा सकता है। रेलो से कहा गया था कि वे इतना न्यूनतम लाभ अवश्य प्राप्त करे जिससे कि वे सामान्य राजस्वो के प्रति अपने दायित्वो का पूरा कर सके। अधिकतम लाभ के बारे मे कोई सीमा नही थी। यद्यपि व्यवस्था यह थी कि अतिरिक्त लाभो का एक भाग सामान्य राजस्वों मे स्थानान्तरित कर दिया जाए किन्तु रेलो के लाभो की कोई उच्चतम सीमा नही निर्धारित की गई। अत रेलो को इस बात की खुली छूट थी कि वे अपने लाभो मे जितनी भी चाहे उतनी वृद्धि कर सकें। इसने रेलो को यह भी छूट दे दी कि वे दरो मे वृद्धि करके अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है। उधर उन्हे अपनी कार्य-कुशलता बढाने का भी पर्याप्त प्रलोभन दिया गया था। इस प्रकार सेवा मे सुधार तथा वृद्धि करने की भी प्रेरणा प्रदान की गई थी।

सगमन के वित्तीय परिणाम १९२४ से १९३० तक की ६ वर्ष की अवधि में काफी सतोषजनक रहे। इस अवधि मे रेलो ने ५३ करोड रु० का कुल लाभ प्राप्त किया और ३६ करोड रु० अशदान के रूप मे सामान्य राजस्व मे दिया। शेष लाभ आरक्षित निधि मे डाल दिया गया।

लाभो मे वर्ष के वर्ष घट-बढ होती रही किन्तु रेलो का प्रतिवर्ष लाभ हो रहे थे जिसके कारण ही उनका कुछ भाग सामान्य राजस्वो मे स्थानान्तरित किया जा सका।

सन् १९२९-३० के पश्चात् के कुछ वर्ष रेलो के लिए खराब रहे। बडी मन्दी (great depression) के कारण रेलो की कमाई मे तेजी से गिरावट आई। इसके अतिरिक्त, बाढो, भूकम्पो तथा रेल-सडक प्रतियोगिता ने भी उनकी आय पर बुरा प्रभाव डाला। पूँजी के ब्याज की अदायगी करने के लिए रेलवे आरक्षित निधि का सम्पूर्ण धन निकाल लिया गया। इसके अतिरिक्त, ३१ करोड रु० की राशि मूल्यह्रास निधि (depreciation fund) से उधार ली गयी। सामान्य राजस्वो मे दिया जाने वाला रेलो का अशदान स्थगित कर दिया गया और यह स्थिति सन् १९३६-३७ के अन्त तक जारी रही। अगले तीन वर्षों मे अर्थात् सन् १९३९-४० तक देयराशि मे से केवल थोडे से भाग की ही अदायगी की जा सकी। सन् १९३९-४० के अन्त मे, कुल देयराशि की मात्रा ३६·०३ करोड रु० हो गई। तीन भिन्न-भिन्न समितियो ने रेलो की वित्तीय स्थिति तथा उनके कार्य-सचालन की जाँच की और तीनो ने ही रेल के खर्चों मे मितव्ययता की सिफारिश की। इन सिफारिशो को कार्य-रूप देने के पश्चात् और अपने सचालन को लाभदायी बनाने के बहुमुखी प्रयत्नो के पश्चात् रेलें सन् १९३७-३८ तक अपनी स्थिति सुधारने मे समर्थ हो सकी। चली आ रही विकट स्थिति इस वर्ष समाप्त हो गई और अगले वर्ष सामान्य राजस्वो को देयराशि का कुछ भाग अदा किया जा सका। इस समय, रेलवे सदस्यो ने अशदान की बकाया राशि की अदायगी को तीन साल के लिए स्थगित करने की माँग की। सन् १९३९-४० के पश्चात् यह स्थगन काल (moratorium) और बढाना पडा और फिर सन् १९४३ मे रेले अपनी देनदारियो को अदा करने मे समर्थ हुई। इस समय तक मूल्यह्रास निधि से लिये गये कर्जे भी वापिस कर दिये गये। स्थिति मे यह सुधार अशत तो यातायात मे युद्धकालीन वृद्धि के कारण हुआ और अशत रेलो द्वारा अपने किरायो व भाडो मे वृद्धि के कारण।

युद्ध छिडने के बाद, यातायात की वृद्धि, सडक परिवहन से प्रतियोगिता के अभाव तथा रेलो के किरायो व भाडो मे वृद्धि के कारण रेलो की आय बढी। परिणाम यह हुआ कि कुल यातायात प्राप्तियो, बेशियो तथा सामान्य राजस्व के अशदानो, सभी मे वृद्धि हो गई। युद्धकाल की अवधि मे रेलें सामान्य राजस्वो मे १५८ करोड रु० का अशदान करने की स्थिति मे रही। किन्तु अब यह महसूस किया गया कि युद्ध सामग्री तथा सैनिको के आवागमन पर सामान्य राजस्व मे से किये जाने वाले खर्च मे जो वृद्धि हुई है उसके कारण ही रेलो की आय बढी है। सन् १९४२ मे सरकार ने घोषित किया कि अब पुराने सगमन को जारी नही रखा जा सकता क्योकि इसका अर्थ होगा कि सामान्य राजस्वो मे रेलो का बहुत थोडा अशदान और सामान्य करदाता पर भारी बोझ। अत यह निश्चित किया गया कि रेलो के अशदान को वर्ष के वर्ष बढाया जाये। सन् १९४५-४६ से रेलो का अशदान ३२ करोड रु० निश्चित कर दिया गया। इस प्रकार अब रेलो ने सामान्य राजस्वो मे ठोस अशदान किये और अपनी वित्तीय स्थिति भी दृढ कर ली। किन्तु वे यथेष्ट मात्रा मे आरक्षित निधियो का निर्माण नही कर सकी।

इस प्रकार, १९२४ के सगमन मे उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। युद्धकाल मे यह अनुभव किया गया कि सगमन के अन्तर्गत जो व्यवस्थाएँ की गई हैं वे सामान्य राजस्वो के लिए अधिक अनुकूल नही है। रेलो को लाभ काफी हो रहे थे किन्तु सामान्य राजस्वो मे उनके अशदान थोड़े थे। उधर रेलो मे भी कोई समृद्धि नही आ रही थी। अत सरकार ने सगमन को सशोधन करने की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की। सन् १९४३ मे उसमे परिवर्तन किया गया। सन् १९४६ मे एक तदर्थ सहमति (adhoc agreement) द्वारा यह निश्चय किया गया कि रेले सामान्य राजस्वो मे इतनी रकम दें जो ब्याजदेय पूँजी के १ प्रतिशत भाग मे से सामरिक महत्व की लाइनो पर होने वाली हानि को घटाकर बचने वाली धनराशि तथा रेलवे समुन्नति निधि (Railway Betterment Fund) के तीन करोड रु० अलग निकालने के बाद शेष बचने वाली आधी धनराशि के बराबर हो। समुन्नति निधि का निर्माण सन् १९४६-४७ मे १५ करोड रु० की लागत से इसलिये किया गया था ताकि यात्रियों को अधिक मात्रा मे सुविधाएँ प्रदान की जा सकें।

सन् १९४६-४७ के बाद रेलो की आय कम हो गई। सचालक-व्यय बढ जाने के कारण निबल कमाई मे और भी तेजी से कमी हुई। देश के विभाजन से रेलो के समक्ष और अधिक कठि-

नाइयाँ उत्पन्न हुई और उनकी वित्तीय स्थिति डगमगा गई। सन् १९४७-४८ मे रेलो की निबल कमाई (net earnings) ११ करोड रु० थी किन्तु ब्याजदेय पूंजी पर ब्याज की अदायगी करने के बाद ३ करोड रु० का घाटा रहा जिसकी पूर्ति आरक्षित निधि से रकम निकालकर की गई। सन् १९४८-४९ में, २० करोड रु० की बेशी (surplus) रही। इसमे से ७ करोड रु० सामान्य राजस्वो मे दे दिया गया, १ करोड रु० समुन्नति निधि मे डाल दिया गया और शेष १२ करोड रु० मूल्य-ह्रास निधि में दे दिया गया।

सशोधित सगमन, १९४९ (Revised Convention, 1949)

सन् १९४९ मे, १९२४ के सगमन की कार्य-प्रणाली का पुनर्वलोकन करने के लिये तथा विभिन्न रेलवे निधियो के गठन तथा प्रबन्ध की जांच करने के लिए एक समिति की नियुक्ति की गई। फलस्वरूप सन् १९५०-५१ से अगले पांच वर्षों के लिए एक नया सगमन लागू किया गया। नये सगमन की मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार थी

(१) सामान्य करदाता को रेलवे उद्यम मे एकमात्र अशधारी (sole shareholder) का दर्जा दिया जाता था।

(२) सन् १९५०-५१ से अगले पांच वर्षों के लिए, सामान्य राजस्वो मे से निवेश की गई पूंजी पर ४ प्रतिशत का वार्षिक लाभाश रेलो द्वारा सामान्य राजस्व मे दे दिया जाता था। किन्तु अलाभकर सामरिक महत्व की लाइनो पर निवेश की गई पूंजी पर कोई लाभाश नही दिया जाता था।

(३) चालू राजस्व आरक्षित निधि का उपयोग मुख्यत सामान्य राजस्वो मे को जाने वाली निर्धारित अदायगियो का क्रम बनाये रखने के लिये और रेलो के सचालन मे होने वाले घाटे की पूर्ति के लिये किया जाता था।

(४) एक विकास निधि (Development Fund) का निर्माण किया जाता था जिसमे से उन खर्चों की पूर्ति की जाती थी जो यात्रियों की सुविधाओ, श्रम-कल्याण तथा आवश्यक किन्तु अलाभकर रेलवे योजनाओ की स्थापना पर किये जाते थे।

(५) परिसम्पत्तियो की पुनर्स्थापना तथा पुनर्नवीकरण (replacement and renewal) की लागत की पूर्ति के लिए मूल्यह्रास आरक्षित निधि मे अगले पाँच वर्षों तक प्रतिवर्ष १५ करोड रु० की न्यूनतम राशि अवश्य जमा होनी थी।

(६) बेशी (*surplus*) की शेष रकम राजस्व आरक्षित निधि (Revenue Reserve Fund), विकास निधि तथा मूल्य-ह्रास आरक्षित निधि मे डाली जाती थी। अन्तिम निधि न्यूनतम वार्षिक अशदान से जितनी भी अधिक आवश्यक समझी उतनी रकम डाली जाती थी।

सशोधित सगमन मे इस बात पर जोर दिया गया कि करदाता को रेलो का एकमात्र अशधारी (sole shareholder) माना जाये। वस्तुत करदाता को एक ईक्विटी शेयरधारी के बजाय निश्चित करने वाला शेयरधारी का रूप दिया गया। पहले सगमन के अन्तर्गत सरकार एक प्रकार से डिबेन्चरधारी, अधिमान शेयरधारी (preference shareholder) और ईक्विटी निवेशकर्ता का एक मिला-जुला रूप था। यह स्थिति बडी भ्रमोत्पादक थी और रेलो के लाभो मे से सरकार को मिलने वाला भाग बडा अनिश्चित था। सशोधित सगमन से सरकार की स्थिति अधिक स्पष्ट हो गई और सामान्य राजस्वो के लिये रेलों का अशदान अधिक निश्चित हो गया।

फिर, यह सशोधित सगमन अगले पाँच वर्षों के लिए लागू होता था और सन् १९५५ मे इस पर पुनर्विचार किया जाता था। इससे सम्पूर्ण व्यवस्था मे लचीलापन आ गया था। रेलो के अशदान मे पाँच वर्षों बाद फिर सशोधन किया जा सकता था। परन्तु रेलो की दृष्टि से यह बात अधिक वाछनीय नहीं थी। दीर्घकालीन नियोजन के लिए, रेलो को इस बात का ज्ञान होना जरूरी था कि वे आगे आने वाली लम्बी अवधि मे सरकार के सामान्य वित्त के प्रति उनकी स्थिति क्या रहती है। अत सशोधित सगमन द्वारा जो अनिश्चितता उत्पन्न कर दी गई थी वह रेलो के लिए अस्वास्थकर थी।

४ प्रतिशत का लाभाश निश्चित कर देने से राज्य के सम्बन्ध में रेलों की स्थिति न्यूनाधिक रूप में अधिक स्पष्ट कर दी गई थी। सरकार को अब इस सम्बन्ध में कोई प्रलोभन नहीं रहा था कि वह अपने लाभ के लिए रेल-किरायों तथा भाड़ों में कोई सशोधन करे क्योंकि ऐसे परिवर्तनों एवं सशोधनों से केवल रेलों की ही वित्तीय स्थिति में परिवर्तन होना था। यह स्पष्ट ही, पुराने सगमन की स्थिति में एक सुधार था।

पुरानी व्यवस्थाओं के मुकाबले सशोधित सगमन में रेलों के रख-रखाव (maintenance) की अधिक निश्चित गारण्टी दी गई थी। मूल्य ह्रास आरक्षित निधि को सर्वप्रथम स्थान तथा राजस्व आरक्षित निधि को उसके बाद का स्थान दिया गया था। इस प्रकार सरकार को लाभाशों की अदायगी के नियमितीकरण (regularisation) के बजाए रेलों के समुचित रख-रखाव को अधिक महत्व प्रदान किया था।

विकास निधि की स्थापना सही दिशा में किया जाने वाला एक परिवर्तन था। रेलों का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे यात्रियों की सुविधाओं तथा श्रम कल्याण योजनाओं की व्यवस्था करें और इस निधि की स्थापना से ये सेवाएँ निश्चित हो गई थी। ऐसे खर्चों की पूर्ति राजस्व में से करने पर ऐतराज किया जा सकता था। वास्तव में, तीसरा लक्ष्य था आवश्यक एवं अलाभकर रेलवे प्रयोजनाओं को चालू करना। परन्तु यह एक पूँजीगत व्यय है और सामान्य राजस्व में से इसकी पूर्ति करना सामान्य वित्तीय नियमों के विरुद्ध था जिसकी तीव्र आलोचना की जा सकती थी। किन्तु अपने वित्त की व्यवस्था आप करना आधुनिक व्यवसाय का एक सामान्य लक्षण है और एक सीमा तक यदि रेलवे इस नियम का अनुकरण करें तो उन्हें न्यायोचित कहा जा सकता।

सन् १९५४ तथा १९६० में संगमन के संशोधन (Revisions of Convention in 1954 and 1960)

सन् १९४९ का सगमन मूलत पांच वर्षों के लिए लागू किया गया था। अतः सन् १९५४ में उसमें सशोधन किया गया। किये गये परिवर्तन इस प्रकार थे :—

(१) सगमन के सशोधन द्वारा मूल्यह्रास निधि में दिया जाने वाला वार्षिक अशदान ३० करोड रु० से बढाकर ३५ करोड रु० कर दिया गया। फिर, द्वितीय योजना-काल में चूँकि इस निधि से सबसे बडी-बडी राशियों में रु० निकाला जा चुका था अतः बाद में अशदान की यह राशि बढाकर ४५ करोड़ रु० कर दी गई।

(२) ब्याज देय पूँजी पर ४ प्रतिशत की दर से वार्षिक अशदान की अदायगी के आधार में मामूली-सा परिवर्तन किया गया।

(३) विकास निधि के क्षेत्र का विस्तार कर दिया गया। अब इसमें रेल परिवहन का उपयोग करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए प्रदान की जाने वाली सुविधाएँ तथा तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों के लिए आवास-व्यवस्था को भी सम्मिलित कर लिया गया। इन कार्यों के लिए रेलों का सामान्य राजस्वों में से कर्ज भी दिये जा सकते थे।

(४) नई रेलवे लाइनों की लागत की पूर्ति पूँजीगत खाते से की जानी थी, विकास निधि से नहीं। किन्तु ३ लाख रु० से अधिक लागत अलाभकर रेलवे लाइनों पर किया सम्पूर्ण खर्च विकास निधि में से ही लिया जाना था।

सन् १९५४ के सगमन की अवधि ३१ मार्च, १९६१ तक बढा दी गई थी। अप्रैल, १९६० में एक नई सगमन समिति की नियुक्ति की गई जिसने नवम्बर १९६० में ससद को अपनी रिपोर्ट दी। इसकी मुख्य सिफारिशें निम्न प्रकार थी —

(१) रेलों द्वारा सामान्य राजस्वों को दिये जाने वाले लाभाश की दर ब्याज देय पूँजी पर ४ प्रतिशत से बढाकर ४·२५ प्रतिशत कर दी जानी चाहिए।

(२) सन् १९६१ से १९६६ तक के पाँच वर्षों की अवधि के लिए मूल्यह्रास आरक्षित निधि में किया जाने वाला वार्षिक विनियोग (annual appropriation) ४५ करोड रु० से बढाकर ७० करोड रु० कर दिया जाना चाहिए।

रेलवे वित्त की वर्तमान स्थिति :

निम्न तालिका मे रेलवे वित्त की वर्तमान स्थिति दिखाई गई है —

तालिका—१

रेलवे वित्त (Railway Finance)

(करोड़ रु० में)

	१९५०-५१ (वास्तविक)	१९५५-५६ (वास्तविक)	१९६०-६१ (वास्तविक)	१९६५-६६ (वास्तविक)	१९७०-७१ (वास्तविक)	१९७२-७३ (वास्तविक)	१९७३-७४ (वास्तविक)	१९७४-७५ (संशोधित)	१९७५-७६ (बजट)
कुल यातायात प्राप्तियाँ	२६३	३१६ २९	४५६ ८०	७३३ ५७	१,००६ ६९	१,१६२ ४२	११३७ ८९	१४०१·१५	१६७० ८६
कुल व्यय	२१५	२६५ ९५	३६८ ९३	५९८ ७२	८९१ ९६	९९७ ९९	१०८२ ४८	१३४० ०२	१४४९·९५
निवल आय (Net Revenue)	४८	५०·३४	८७ ८७	१३४ ८४	११४ ७३	१६४ ४३	५५ ४१	६१ १४	२२० ९१
सामान्य राजस्व को लाभांश	५३	३६ १२	५५ ८६	११६ २८	१६४ ५७	१६१ ५१	१७० ९२	१८९·३२	१९७ ८८
निवल बेशी (+) या घाटा (—)	—५	+१४ २२	+३२·०१	+१८ ५६	+१९·८४	+२ ९२	—११५ ५१	—१२८ १८	+२३·०३

(स्रोत : भारत : १९७६)

कराधान की अनुपाती बनाम आरोही दरें
(Proportional Versus Progressive Rates of Taxation)

प्रश्न यह है कि कराधान के सापेक्षिक भार (relative burden of taxation) को उन व्यक्तियों के बीच कैसे बाँटा जाए जिनकी आय तथा धन की मात्राओं में अन्तर है ? करों के ढाँचे का वह वाञ्छनीय रूप कौन सा हो सकता है जो कि कराधान के भार का समन्यायपूर्ण रीति से (equitably) विभाजन कर सके ?

अदा करने की सामर्थ्य के सिद्धांत तथा हितानुसार सिद्धांत को समता तथा न्याय के दृष्टिकोण से एक साथ लागू करने से अनुपाती तथा आरोही कराधान के बीच एक सुप्रसिद्ध विवाद उत्पन्न हो गया है।[17] जहाँ कुछ लोगों का यह विश्वास है कि अनुपाती कराधान आवश्यक वहाँ कुछ अन्य लोग इस प्रकार के भी है कि केवल आरोही कर ही कराधान में न्याय के सामान्य विचार को सतुष्ट कर सकते हैं। अनुपाती कराधान का अर्थ यह है कि करों की दरें सभी के लिए एक सी ही रहेंगी, चाहे उसकी आय कितनी ही कम या अधिक क्यों न हो। दूसरी ओर, आरोही कराधान से आशय है कि आय की वृद्धि के साथ ही साथ करों की दरों में भी वृद्धि होगी अर्थात् व्यक्ति की आय जितनी अधिक होगी करों की दरों का अनुपात भी उतना ही ऊँचा होता जायेगा।

अनुपाती तथा आरोही करों के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद का रुख समयानुसार बदलता रहा है। प्रारम्भ में यह विवाद (controversy) एक ओर तो अनिवार्य वस्तुओं (necessities) पर सीमा कर और आन्तरिक करों के गुणों तथा दूसरी ओर भूमि तथा आय पर प्रत्यक्ष करों के गुणों पर केन्द्रित था। इनमें प्रथम प्रकार के कर जहाँ अधिकांश जनता के लिए विशेष रूप से कारक थे, वहाँ दूसरी प्रकार के उपर्युक्त कर आरोही दरों के प्रयोग के लिए उपयुक्त थे। वर्तमान समय में यह विवाद एक ओर तो आय कर तथा मृत्यु करों के और दूसरी ओर व्यवसाय कर तथा सम्पत्ति करों के सापेक्षिक गुणों के सम्बन्ध में । १६वीं शताब्दी के लेखकों ने जहाँ सम्पूर्ण रूप में (as a whole) अनुपाती कराधान की वकालत की, वहाँ इस शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने सामान्य रूप से आरोही कराधान का पक्ष लिया। यहाँ यह उल्लेख करना भी महत्वपूर्ण होगा कि कभी एक दो बार व्यक्त की गई असहमति को छोड़कर आजकल आरोहण के सिद्धान्त को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। इन दिनों मूल समस्या अनुपाती बनाम आरोही कराधान की ही नहीं है, अपितु आरोहण की मामूली बनाम तीव्र दरों की है।

अनुपाती दरों के पक्ष में तर्क[18]
(Arguments for Proportional Rates)

(१) **करदाताओं की सापेक्षित स्थिति में परिवर्तन नहीं**—जो लोग अनुपाती कराधान का समर्थन करते हैं वे मूल रूप में अदा करने की सामर्थ्य के सिद्धान्त (principle of ability to pay) में विश्वास करते हैं परन्तु उनका तर्क यह भी है कि कराधान का उद्देश्य यह नहीं होना चाहिए कि वह करदाताओं की सापेक्षिक स्थिति (relative position) में परिवर्तन कर दे। अनुपाती कराधान का यह गुण है कि वह करदाताओं को उसी सापेक्षिक स्थिति अथवा हैसियत (status) में छोड़ता है जिसमें कि वे करों के लगने के पूर्व थे। मान लीजिए सभी शुद्ध आयों

17. कराधान की किस्म का एक तीसरा विकल्प भी है और वह है—अवरोही कराधान (Regressive taxation)। कराधान की इस किस्म के अन्तर्गत आय की वृद्धि के साथ-साथ करों की दरें घटती है, अर्थात् जितनी अधिक आय होगी, करों की दरें उतनी ही नीची होंगी। इस अवरोहण को सिद्धान्त के रूप में आजकल कोई स्वीकार नहीं करता।

18. Arguments for proportion are to be found in Taussig. *Principles of Economics*, 4th Ed. Vol. II, Chap 69.

३१

भारत में वित्तीय प्रशासन
(Financial Administration in India)

सरकार का बजट उसके वित्तीय लेन-देन अथवा वित्तीय व्यवहारों का एक ऐसा पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है जिसे बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। इस प्रकार के चित्र से सरकार कराधान द्वारा कराये गये त्याग की सरकारी खर्च द्वारा प्रदान किये गये लाभों से तुलना कर सकती है। इस चित्र द्वारा कर-पद्धति का सम्पूर्ण रूप में अध्ययन किया जा सकता है और उसमें समता न्याय के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। इसी प्रकार बजट में प्रस्तुत की गई सरकारी खर्च की पूरी तस्वीर सरकार को इस योग्य बनाती है कि वह उससे प्राप्त होने वाले सीमान्त लाभों को समान कर सके और कुल लाभों को अधिकतम कर सके। संसार के अधिकांश देशों में बजट प्रतिवर्ष विधानमण्डल में प्रस्तुत किया जाता है, यद्यपि इसको वर्ष में एक बार से अधिक भी प्रस्तुत करना कोई असामान्य बात नहीं है। भारत में बजट प्रति वर्ष प्रस्तुत किया जाता है किन्तु कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में पूरक बजट भी प्रस्तुत किये जाते हैं।

सरकारी खाते (Government Accounts) :

भारत में संघ तथा राज्य सरकारों के खातों में ३१ मार्च को समाप्त होने वाले वर्ष की वास्तविक नकद प्राप्तियाँ तथा व्यय दिखाए जाते हैं। वे राशियाँ नहीं दिखाई जाती जो सम्बन्धित सरकारों से लेनी हैं अथवा उनको देनी हैं। ये खाते एक निश्चित वर्गीकरण के अनुसार रखे जाते हैं। यह वर्गीकरण भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक (*Controller and Auditor General of India*) द्वारा प्रकाशित खातों की लघु व मुख्य मदों की अखिल भारतीय सूची में दिया गया है। इसमें प्राप्ति और संवितरण (receipts and disbursements) की मुख्य मदें (major heads) दी हुई हैं और तत्पश्चात् उप-मदें (sub-heads) जिनमें कि किसी विशेष मद को बाँटा जाता है। इस वर्गीकरण से खातों में एकरूपता आ जाती है और केन्द्र राज्यों के खातों की तथा अन्तर्राज्यीय खातों की तुलना करना सरल एवं सुविधाजनक हो जाता है।

खातों के कुछ शीर्षकों के सम्बन्ध में अन्तर नहीं पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, सड़क परिवहन योजनाओं की निवल प्राप्तियाँ बजट में एक पृथक् राजस्व मद के रूप में दिखाई जाती हैं। परन्तु कुछ राज्यों में, कुल प्राप्तियाँ 'विविध' राजस्व-मद के अन्तर्गत दिखाई जाती हैं और संचालन-व्यय समवर्ती व्यय-मद के अन्तर्गत दिखाये जाते हैं। इसी प्रकार, पेंशनों का वितरण कुछ राज्यों में तो राजस्व बजट के अन्तर्गत दिखाया जाता है किन्तु अन्य राज्यों में यह पूँजीगत बजट का एक अंग होता है। कुछ राज्यों में, विस्थापितों पर किया जाने वाला व्यय,

(३) रेलवे विकास निधि की वित्तीय सहायता के लिए सामान्य राजस्वों में से दिये जाने वाले कर्जों की सुविधाएँ अगले पाँच वर्षों मे भी जारी रहनी चाहिए।

(४) यात्री किराया-कर को मूल किराये मे ही मिला दिया जाना चाहिए और ये प्राप्तियाँ राज्यो मे वितरण के लिए सामान्य राजस्वो मे की जानी चाहिए।

समिति की सिफारिशें सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गईं। ये सिफारिशें रेलों द्वारा सामान्य को दिये जाने वाले अशदान का आधार बन गई।

अशदान की दर ४ प्रतिशत से बढाकर ४ २५ प्रतिशत कर दी गई है जिसको इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है कि तृतीय योजना के लिए अधिकाधिक साधनो की आवश्यकता है। ब्याज की औसत दर मे भी सन् १९५४-५५ से वृद्धि कर दी गई। परन्तु लाभाश की दर मे तब तक वृद्धि नही की जा सकती जब तक कि रेल किरायो की चालू दरो मे वृद्धि न की जाए। तथापि रेलो के विकास कार्यक्रमो की आवश्यकताओ और सामान्य राजस्वो को मजबूत बनाने की जरूरत को देखते हुए ऐसी वृद्धि के पक्ष मे प्रबल तर्क वर्तमान है। अब रेलवे वित्त की सम्पूर्ण व्यवस्था पर देश के विकास कार्यक्रमो की आवश्यकताओ की दृष्टि से पुनर्विचार किया गया है और इसी दृष्टिकोण से रेलो के अशदान मे भी परिवर्तन किये गये हैं।

पिछली तालिका न० १ से यह स्पष्ट है कि रेलो की प्राप्तियो मे तथा व्यय मे लगभग आनुपातिक रूप मे वृद्धि होती रही है। निवल आय की गणना कुल यातायात प्राप्तियो मे से कुल व्यय को घटाकर की जाती है। सामान्य राजस्व को लाभाश (dividend to general revenue) शीर्षक से तात्पर्य उस अशदान से है जो सरकार के सामान्य राजस्वो मे रेलो द्वारा दिया जाता है। यह अशदान किसी भी समय लागू व्यवस्था के आधार पर व्याजदेय पूँजी (capital at charge) के प्रतिशत के रूप मे निर्धारित किया जाता है। निबल राजस्व और सामान्य राजस्वों मे रेलो द्वारा किये जाने वाले अशदान के बीच जो अन्तर होता है, वही उनकी या तो बेशी या बचत (surplus) होती है अथवा घाटा (deficit)।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1 V. V. Ramandham : Indian Railway Finance, Ch. IX.

2 R N Bhargava : The Theory and Working of Union Finance the India, pp. 242-249.

3 Reserve Bank of India, . Report on Currency and Finance, 1972-73

UNIVERSITY QUESTIONS :

१ गैर कर आय के रूप मे भारतीय रेलवे वित्त पर एक टिप्पणी लिखिये।

Write a note on Indian railway finance as a source of non-tax revenue.

संविधान के अन्तर्गत, व्यय की कुछ मदें ऐसी होती हैं जो कि सचित निधि पर एक प्रभार (charge) होती हैं अर्थात् उन पर मतदान नही होता। व्यय की ये मदें इस प्रकार हैं : (१) राष्ट्रपति की उपलब्धियां (emoluments) तथा भत्ते (allowances) और उसके पद मे सम्बद्ध अन्य व्यय, (२) राज्य सभा के सभापति (chairman) तथा उप सभापति और लोक सभा के अध्यक्ष (speaker) तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते; (३) ऐसे सरकारी ऋणो का प्रभार जिनका दायित्व भारत सरकार पर है; (४) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो तथा भारत के नियन्त्रण व महालेखा परीक्षक के वेतन, भत्ते व पेन्शनें; (५) किसी न्यायालय अथवा अध्यक्ष न्यायाधिकरण (arbitration tribunal) के किसी निर्णय (judgement), आज्ञप्ति (decree) अथवा परिनिर्णय (award) के भुगतान के लिए आपेक्षित कोई धनराशियां, और (६) भूतपूर्व भारतीय रियासतो के शासको के जेब खर्च (privy purses)। ऐसी ही कुछ मदें हैं जो राज्यो की सचित निधियो पर भारित व्यय होती हैं। केन्द्र सरकार द्वारा राज्य सरकारो की आय-कर तथा अन्य करो के जो हिस्से दिये जाते हैं। वे भारत की सचित निधि का भाग नही बनते।

व्यय का नियन्त्रण (Control of Expenditure) :

ससद को यह देखना होता है कि व्यय के सम्बन्ध में जो निर्णय लिये गये हैं, सम्बन्धित मन्त्रियों तथा विभागो द्वारा उनका पालन किया जा रहा है या नही और कही किसी मन्त्रालय ने अनुमोदित राशि से अधिक तो व्यय नही किया है। इस उद्देश्य के लिए एक तो स्वतन्त्र रूप से लेखा परीक्षण (audit) की व्यवस्था की जाती है। इसके अलावा, ससद की दो समितियाँ भी कार्य करती हैं—सार्वजनिक लेखा समिति (Public Account Commitee), तथा अनुदान समिति (estimates commitee)। ये समितियां सरकारी खर्च पर दृष्टि रखती हैं।

सार्वजनिक लेखा समिति का निर्माण पूर्णतया ससद के गैर-सरकारी सदस्यो मे से किया जाता है। यह समिति लोकसभा के अध्यक्ष के प्रत्येक निर्देशन एव नियत्रण के अन्तर्गत कार्य करती है। यह नियन्त्रण और महालेखा परीक्षक द्वारा लेखा परीक्षण किये जाने के पश्चात् सरकारी खातो की जांच करती है और जाल साजियो (frauds), अनियमिताओ (irregularities), अनाचारो (*malpractices*) तथा दुर्विनियोगो (*misappropriations*) का पता लगाती है। समिति यह देखती है कि ससद द्वारा निर्धारित सीमा से कोई अनुदान अधिक न हो जाए तथा कोई धन अधिक न व्यय कर दिया जाए। नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक समिति के समक्ष अन्तरिम रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। समिति ससद के समुख एक अन्तिम एव औपचारिक रिपोर्ट रखे जाने की प्रत्याशी मे उस पर विचार करती है। समिति खर्च करने वाले मन्त्रालयो पर समुचित नियन्त्रण रखने के लिए, नियमो को कडे करने तथा समय समय पर उनमे सशोधन करने के सम्बन्ध मे वित्त मन्त्रालय को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करती है। अनेक वित्तीय मामलो की कार्य-विधि के सम्बन्ध मे समिति ने अनेक उपयोगी सुझाव दिये हैं।

अनुमान समिति लोक सभा के उपाध्यक्ष के सभापतित्व मे कार्य करती है। यह व्यय मे मितव्ययता लाने के उद्देश्य से माँगो (demands) की छानबीन करती है। समिति प्रतिवर्ष कुछ मन्त्रालयो के मामलो का व्यापक अध्ययन करती है, गवाहियाँ लेती है और आवश्यक कागज-पत्रो की माँग करती है तथा इन सबके आधार पर सरकारी व्यय मितव्ययता (economy) के सुझाव देती है। किसी भी मन्त्रालय के खर्च की जाँच करते समय, समिति बड़ी गहराई तक जाती है तथा देखती है कि किसी विशेष मद पर किया गया व्यय वहाँ तक न्यायोचित है। यदि उसमें कुछ कमी हो सकती है तो उसके बारे मे सुझाव देती है। यहां एक खतरा यह रहता है कि समिति द्वारा जब किसी विभाग की जांच-पडताल कर ली जाती है तो वह कुछ वर्षों तक सीमित की पैनी दृष्टि से बचकर अपने खर्चों की योजना बनाने के लिए स्वतन्त्र हो जाता है। परन्तु यदि सरकारी खर्च के सम्पूर्ण क्षेत्र को ससद के जीवन की पाँच वर्ष की अवधि से सम्बन्ध कर दिया जाए तो विभागों को इतना अवसर नही मिलेगा कि वे अपने खर्चों के सम्बन्ध मे अपव्ययी बनें। समिति केवल मितव्ययता के सम्बन्ध मे ही अपनी सिफारिशें प्रस्तुत नही करती, बल्कि प्रशासन तथा सगठन मे सुधार के सम्बन्ध मे भी अपने सुझाव देती है। यह प्रशासन मे कार्यकुशलता तथा मितव्ययता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियो का सुझाव देती है। इस प्रकार समिति की खोज-बीन तथा सिफारिशो का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

केन्द्र से मिलने वाली प्राप्तियां घटाने के बाद, 'विविध' व्यय के अन्तर्गत रखा जाता है, किन्तु अन्य राज्यों में, केन्द्र से मिलने वाली प्राप्तियाँ 'विविध' शीर्षक के अन्तर्गत एक राजस्व मद के रूप में दिखाई जाती हैं और कुल व्यय समवर्ती व्यय शीर्षक के अन्तर्गत दिखाया जाता है। इस प्रकार, कुछ मदों के सम्बन्ध में, विभिन्न सरकारें भिन्न-भिन्न प्रकार का आचरण करती हैं।

बजट (The Budgets) :

बजट सरकार की अनुमानित प्राप्तियों तथा खर्चों का एक वार्षिक विवरण-पत्र (annual statement) हैं। इसमें तीन प्रकार के आँकड़े दिए होते हैं। पिछले वर्ष के वास्तविक आँकड़े (actuals), चालू वर्ष के संशोधित अनुमान (revised estimates) और आगामी वर्ष के बजट-अनुमान। भारत में बजट को दो भागों में बाँटा जाता है—राजस्व बजट (revenue budget) तथा पूँजीगत बजट (capital budget)। राजस्व बजट में करों व सरकारी उद्यमों आदि से होने वाली प्राप्तियों तथा उनमें से किए जाने वाले व्यय का विवरण दिया होता है और पूँजीगत बजट में सभी प्रकार के पूँजीगत व्यय तथा उसकी पूर्ति हेतु लिए जाने वाले उधारों का विवरण दिया होता है। सरकारी आय तथा व्यय का राजस्व अथवा पूँजीगत के रूप में बँटवारा किन्हीं कठोर नियमों के अनुसार नहीं किया जाता, अपितु इसका वितरण, मोटे रूप में, 'राजस्व' व 'पूँजी' की सामान्य रूप से स्वीकृत व्याख्या पर ही आधारित है।

बजट केन्द्र सरकार द्वारा संसद (parliament) के सम्मुख और राज्य सरकारों द्वारा राज्यों के विधानमण्डलों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। बजट में प्रस्तावित करों तथा व्यय को संसद अथवा विधानमण्डल के अनुमोदन के बिना लागू नहीं किया जा सकता। संविधान के अनुसार सभी धन-विधेयक (money bills) पहले नीचे के सदन (lower house) में प्रस्तुत किए जाने चाहिए। अतः केन्द्र में तो वे सर्वप्रथम लोक सभा में और राज्यों में विधान सभा में प्रस्तुत किये जाते हैं। बजट पेश किये जाने के बाद उस पर सामान्य वाद-विवाद होता है। इसके बाद विभिन्न मन्त्रालयों की माँगों पर मतदान लिया जाता है। इस अवसर को उस मन्त्रालय अथवा विभाग के कार्यों पर वाद-विवाद करने के लिए उपयोग किया जाता है। कभी-कभी उस मन्त्रालय अथवा विभाग के कार्यों से असहमति प्रकट करने के उद्देश्य से 'कटौती प्रस्ताव' (cut motions) रखे जाते हैं। माँगों पर मतदान होने के पश्चात् बजट के विभिन्न कर प्रस्तावों को लागू करने के लिए सदन की अनुमति प्राप्त करने को एक वित्त विधेयक (finance bill) सदन में प्रस्तुत किया जाता है। वित्त-विधेयक के पास होने के बाद, मतदान की हुई माँगों को कानूनी रूप देने के लिए तथा संचित निधि (consolidated fund) से व्यय करने का अधिकार प्राप्त करने के लिए एक विनियोजन विधेयक (appropriation bill) प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय संविधान में व्यवस्था की गई है कि सभी राजस्व (all revenue) तथा सभी कर्जों और कर्जों की अदायगियों में से प्राप्त हिस्सों को मिलाकर केन्द्र सरकार की प्राप्तियों के सम्बन्ध में तो एक भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India) का निर्माण होगा। राज्य सरकारों की प्राप्तियों के सम्बन्ध में राज्य की संचित निधि का निर्माण होगा। किसी भी सरकार द्वारा प्राप्त अन्य धन सम्बन्धित सरकार के सार्वजनिक लेखे (public account) में जमा कर दिए जायेंगे। सार्वजनिक लेखे में, जमा धनराशियाँ, बट्टे खाते की रकमें, ब्याज रहित उधार तथा प्रेषित रकमें आदि सम्मिलित की जाती हैं। संचित निधि से बाहर कोई भी धन उस समय तक अलग नहीं रखा जा सकता जब तक कि कानून के अनुसार, यथास्थिति, संसद अथवा विधान सभा की उसके लिए अनुमति न ले ली गई हो। यदि वार्षिक वित्तीय विवरण-पत्र के अनुसार संसद या विधानमण्डल द्वारा पारित विनियोग अपर्याप्त हो जायें अथवा कोई नये अथवा अनपेक्षित (unforeseen) व्यय करने पड़ जाएँ, तो संसद या विधानमण्डल द्वारा प्राधिकृत होना लम्बित (pending) रहने तक ऐसे खर्चों की पूर्ति आकस्मिकता निधि (contingency fund) में से की जा सकती है। आकस्मिकता निधि का निर्माण, संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार केन्द्र में तथा प्रत्येक राज्य में किया जाता है। बाद में अनुदानों की पूरक माँगों के द्वारा आकस्मिकता निधि की हानि पूर्ति की जायेगी।

३२

भारत में बजट सम्बन्धी नीति—सन् १९७७-७८ के बजट सहित
(Budgetary Policy in india—Including 1977-78 Budget)

किसी भी देश का लोकवित्त उसकी राजनैतिक एव आर्थिक दशाओं से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होता है और उन्हीं दशाओ एव परिस्थितियों मे जैसे-जैसे परिवर्तन होता रहता है, वैसे-वैसे ही सरकारी वित्त मे भी परिवर्तन होता रहता है। यह बात भारत के सरकारी वित्त के सम्बन्ध मे भी सही है। सरकारी व्यय तथा सरकारी राजस्व का आज जो रूप है, वह उसमे बिल्कुल भिन्न है जो अब से कुछ दशाब्दियों (decades) पूर्व था। प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना के घटित होने के साथ ही साथ, लोकवित्त में भी उल्लेखनीय परिवर्तन होते रहे हैं। अंग्रेजी काल मे अनेक अवसरो पर राजनैतिक सुधारों का लागू होना, बर्मा का भारत से अलग होना, द्वितीय विश्वयुद्ध का होना तथा सन् १९४७ में देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद देश का विभाजन होना—ये कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन थे, देश के वित्तीय ढांचे पर जिनके बड़े दूरगामी प्रभाव पड़े हैं।

१९वी शताब्दी मे, सरकार की वित्तीय आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थी और ब्रिटिश भारत मे भू-राजस्व (land revenue) ही सरकारी आय का मुख्य स्रोत था। इस कर की कठोरता के कारण सरकारी खर्चे की वृद्धि के साथ ही साथ इस कर से प्राप्त आय में वृद्धि न हो सकी। अतः अपनी आय मे वृद्धि करने के लिए सरकार की दृष्टि सीमा शुल्क (custom duties), उत्पादन कर और आय कर की ओर गई। बीसवी शताब्दी मे द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व तक तो सरकारी खर्च कम ही रहा और इसी कारण आय के स्रोत भी सीमित ही बने रहे। उस समय सीमा शुल्क (custome duties) केन्द्रीय राजस्व का प्रधान स्रोत बने हुए थे और तत्कालीन प्रान्तो (Provinces) मे सरकारी आय का सबसे बडा स्रोत भू-राजस्व अथवा मालगुजारी था। केन्द्र सरकार की आय के अन्य महत्वपूर्ण स्रोत थे—आय कर और नमक-कर, और मद्य पर लगाया जाने वाला उत्पादन-शुल्क प्रान्तो की आय का दूसरा बडा स्रोत था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण सरकार को अपने खर्चों मे भारी वृद्धि करनी आवश्यक हो गई। अतः सरकार को आय के नये स्रोत ढूँढने पडे। परिणामस्वरूप केन्द्रीय स्तर पर अतिरिक्त लाभ-कर लगाया गया और प्रान्तो में पहले से ही लगाये गये बिक्री कर का क्षेत्र बढा दिया गया। आय-कर से भी अधिक आय प्राप्त की जाने लगी और इसकी दरें, विशेष रूप से उच्च आय के स्तर पर बढा दी गई। अनेक नये उत्पादन-शुल्क लगाये गये। यही नहीं, रेल तथा डाक व तार जैसे कर-इतर स्रोतो (non-tax revenue sources) से भी सरकार अधिक आय प्राप्त करने लगी।

अंकेक्षण अथवा लेखा-परीक्षण (Audit) :

राज्य को खर्चों के दुर्विनियोग से बचाने तथा जाल-साजियो एवं अनाधिकृत खर्चों की रोकथाम करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्वतन्त्र लेखा-परीक्षण की व्यवस्था की जाए। इससे इस बात का आश्वासन मिलता है कि ससद की आज्ञाओ का निष्ठा के साथ पालन किया जा रहा है और धन का कोई दुरुपयोग नही किया जा रहा। यह अत्यन्त आवश्यक है कि लेखा-परीक्षण वास्तव मे ही स्वतन्त्र हो ताकि यह कुशलता के साथ अपने कार्यो को पूरा कर सके।

भारत मे लेखा-परीक्षण को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है और सविधान की व्यवस्थाओ मे इसकी पूरी गारण्टी दी गई है। नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यय, जिसमे उसके कार्यालय मे काम करने वाले कर्मचारियो के वेतन, भत्ते तथा पेंशनें सम्मिलित होती है, भारत की सचित निधि पर एक प्रभार (charge) हैं। अपने पद से अलग होने के बाद, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत कोई भी पद स्वीकार नही कर सकता। ऐसा इसलिए किया गया है कि उसे किसी भी प्रकार के दबाव या प्रलोभन से बचाया जा सके और उसे किसी भय या पक्षपात के कार्य करने योग्य बनाया जा सके। किन्तु यदि रिटायर होने के समय उसकी सेवाओ का विस्तार करना अथवा उसकी सेवा की शर्तों मे परिवर्तन करना उसके पद के लिए आवश्यक एव लाभकारी हो तो ऐसा किया जा सकता है। किन्तु ये वे पक्षपात हैं जो उक्त पद की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप कर सकते हैं अतः इन्हे समाप्त किया जाना चाहिए।

लेखा-परीक्षण करने तथा लेखा रखने के कार्य एक ही एजेन्सी को सौंप दिये गये हैं। कुछ लोग इसकी आलोचना करते है। परन्तु लेखा रखने तथा लेखा-परीक्षण वाले अनुभाग (sections) अलग-अलग हैं। फिर, रेलो तथा प्रतिरक्षा सेवाओ के लेखे रखने के उनके अपने अलग-अलग सस्थान हैं। इस ऐजेन्सी के इन दोनो कार्यों को पृथक् करने के सम्बन्ध मे आवाज उठाई गई है, तथापि वर्तमान व्यवस्था से एजेन्सी की कार्यक्षमता की कोई क्षति नही पहुँची है।

नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक को केन्द्र तथा राज्यो, दोनो के ही लेखा-परीक्षण का कार्य सौंपा जाता है। केन्द्रीकृत लेखा-परीक्षण के अनेक लाभ होते है। इससे खातो मे एकरूपता रखी जा सकती है और लेखा-परीक्षण के नियमो की एक सामान्य सहिता (common code) बनाई जा सकती है। केन्द्रीय लेखा-परीक्षण राज्य सरकारो के नियन्त्रण से मुक्त होता है और पूर्णतया निष्पक्ष होता है। केन्द्रीकृत एजेन्सी देश के अच्छी प्रतिभा वाले विशेषज्ञ कर्मचारी वर्ग को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। वह देश भर मे एकरूपता का एक स्तर भी कायम करती है।

संदर्भ ग्रंथ

R.N Bhargava · The Theory and working of Union Finance in India, Ch. IX,

UNIVERSITY QUESTION

१ भारत मे वित्तीय प्रशासन पर एक टिप्पणी लिखिये।
Write a note on financial administration in India.

तालिका—१

केन्द्र सरकार की बजट सम्बन्धी स्थिति

(करोड़ रु० में)

मद	१९५०-५१	१९६५-६६	१९७०-७१	१९७१-७२	१९७३-७४	१९७४-७५	१९७५-७६	१९७६-७७ (संशोधित)	१९७७-७८ (बजट)[1]
(१) राजस्व खाता (Revenue Account)									
(क) प्राप्तियाँ	४०६	२३२० ३९	३३९१ ४३	३९७१ ८	४८६१ ०	६४८४·७	८०२३	८५०७	९५५४
(ख) भुगतान	३४७	२००० ६३	३१९३·२९	४०७१ ८	४७५२ ०	५८६०·०	७११७	८५५४	९४८७
(ग) राजस्व बेशी (+)........	+५९	+३१९ ७६	+१९८·१४	—१००·०	+७९	+६२४ ७	+९०६	+४७	+६७
(२) पूंजीगत खाता (Capital Account)									
(क) प्राप्तियाँ	१०६	१७०५·४९	२१०४ ८७	३०२९ १	२४६०	३४९२ ४	४१३०	५२५२	५९४२
(ख) भुगतान	१८४	२२२२·४२	२५३२·५८	३४५०·२	२८७४	४७४२·२	५५२६	५६३०	६०८१
(ग) घाटा (—)	—७४	—५१६·९३	—४२७ ७१	—४२१ १	—४१४	—१२४९·८	—१३९६	—३७८	—१३९
(३) सम्पूर्ण आधिक्य (+) या घाटा (—)	—३ ६६	—१७२·७८	—२२९ ५७	—५१९·३	—३३५	—६२५·१	—४९०	—४२५	—७२

1. नवीन बजट प्रस्तावों के प्रभाव सहित ।

युद्ध के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में, सरकार को मूल्यों में गिरावट का भय हुआ और उसने उद्योगों के पुनर्स्थापन तथा विनियोग एवं पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता अनुभव की। अत उसने अपनी राजकोषीय नीति (fiscal policy) का निर्धारण इन्ही बातों को दृष्टिगत रखते हुए किया। अतिरिक्त लाभ-कर समाप्त करके और आय-कर दरें घटाकर कर सम्बन्धी रियायतें प्रदान की गई। इसके साथ ही, सामाजिक तथा विकास-व्यय मे वृद्धि होने के कारण कर-प्रयत्नो मे वृद्धि करने की आवश्यकता अनुभव की गई।। पिछले कुछ वर्षों मे सरकारी खर्च मे इसलिए और वृद्धि हुई है क्योंकि सरकार ने आर्थिक विकास की योजनाएँ लागू की है तथा उसका प्रयत्न है कि देश मे एक कल्याणकारी राज्य (welfare state) की स्थापना की जाये। सरकारी बजट की राजस्व-बेशियो (revenue surpluses) का उपयोग पूँजीगत खर्चों की वित्तीय व्यवस्था के लिए किया जाने लगा। इसके कारण कर तथा कर-इतर स्रोतो, दोनो ही से प्राप्त होने वाली सरकारी आय मे भारी वृद्धि हुई। आय-कर मे भी काफी वृद्धि हुई। केन्द्रीय उत्पादन-शुल्को की सख्या तथा दरो मे भी वृद्धि हुई और यह आज सरकारी आय का एकमात्र सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत है। बिक्री कर राज्यों की आय का एक बडा स्रोत बन गया। सरकारी आय मे वृद्धि करने के लिए तथा करो के ढाँचे को अधिक समन्यायपूर्ण (more equitable) बनाने के लिए अनेक नये कर लगाए गए, जैसे कि आस्ति कर अथवा सम्पदा शुल्क (estate duty), पूँजीगत लाभ-कर (capital gains tax), निवल धन कर (net wealth tax) तथा उपहार कर (gift tax)। कर-इतर आय (non-tax revenues) मे वृद्धि की गई, विशेष रूप से रेल, डाक व तार तथा कुछ नये स्थापित सरकारी उद्योगो से प्राप्त होने वाली आय मे। इस प्रकार, अभी हाल के वर्षों मे लोक-वित्त मे उल्लेखनीय परिवर्तन हुए है।

केन्द्र सरकार की बजट सम्बन्धी स्थिति (Budgetary Position of the Central Government :

निम्न तालिका पिछले कुछ वर्षों की सघ सरकार की बजट सम्बन्धी स्थिति का साराश प्रस्तुत करती है। यह तालिका हमे इस योग्य बनाती है कि हम भारत मे आर्थिक नियोजन (economic planning) के प्रारम्भ काल से अब तक सघ सरकार की आय तथा व्यय की वृद्धि के विषय मे अपना एक निश्चित विचार बना सकें।

इस तालिका से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है, और वह यह कि सन् १९५०-५१ से अब तक सघ सरकार के राजस्व तथा व्यय मे लगभग २० गुनी वृद्धि हुई है। इससे यह भी स्पष्ट है कि राजस्व खाते मे केन्द्र सरकार को बचत होती है। उदाहरण के लिए, राजस्व बेशी या बचत (revenue surplus) सन् १९५०-५१ मे ५९ करोड रु०, १९६५-६६ मे ३१९ ७६ करोड रु०, १९७०-७१ मे १९८ १४ करोड रु०, १९७३-७४ मे ७९ करोड़ रु० तथा सन् १९७७-७८ मे ६७ करोड रु० की थी। परन्तु पूँजीगत खाते मे केन्द्र सरकार को सदा ही घाटा रहा। सम्पूर्ण रूप मे, कुल स्थिति सदा घाटे की रही है (अन्य शब्दों मे, पूँजीगत खाते मे जो घाटा बना रहा है उसने राजस्व खाते की बेशी (surplus) को भी पी लिया और अन्त मे घाटे की ही कुल स्थिति मे ला पटका है)। इस सीमा तक, इन घाटों की पूर्ति रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से उधार लेकर ही करनी होगी जिससे देश मे मुद्रा की मात्रा बढ़ेगी और उसके परिणामस्वरूप स्फीति-सम्बन्धी दबावों (inflationary pressures) मे भी वृद्धि होगी।

पूँजीगत प्राप्तियाँ (Capital Receipts)			पूँजीगत भुगतान (Capital Disbursement)		
ऋण अदायगी	१५६०	१,८०३			
बाजार ऋण (निवल)	८४६	१०००	सामान्य सेवाएँ	६०	२४३
विदेशी ऋण (निवल)	७३४	८६४	रक्षा सेवायें	२४१	२७६
अन्य प्राप्तियाँ	२०७६	२२४५	सामाजिक व सामुदायिक सेवाएँ	६०	११७
पूँजीगत प्राप्तियों का योग	५२५२	५६४२	आर्थिक सेवाएँ	१५८२	१६४४
			ऋण और अग्रिम	३६२७	३८०१
कुल प्राप्तियों का योग	१३७५६	१५३६६ +१३०*	पूँजीगत भुगतान का योग	५६३०	६०८१
कुल घाटा	४२५	२०२ −१३०* ७२	कुल भुगतान का योग	१४१८४	१५५६८

केन्द्र द्वारा प्रशासित राज्यों सहित राज्य सरकारो की बजट सम्बन्धी स्थिति (Budgetary position of the State Governments including Union Territories) :

निम्न तालिका पिछले कुछ वर्षो की राज्य सरकारो की बजट सम्बन्धी स्थिति का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करती है :—

तालिका—२

राज्य सरकारों (केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों सहित) की बजट सम्बन्धी स्थिति

(करोड़ रु० मे)

प्रमुख मद	१९५०-५१	१९६५-६६	१९७१-७२	१९७४-७५	१९७५-७६
(१) राजस्व खाता					
(अ) प्राप्तियाँ	३७५ ८	१,८६७ १	४,०९८ ९	६२७०·७	६९७८ ९
(ब) व्यय	३७३ ८	१,९०१ २	४,०८९·९	६०३४ ८	६६८२ ७
आधिक्य (+) या घाटा (—)	+२ ०	—३४ १	+९·०	+२३५·९	+२९६·२
(२) पूँजीगत खाता					
(क) प्राप्तियाँ	११२ ६	९२८ ६	७६७ ८	२३३९·८	२२६८ ५
(ख) भुगतान	९९ २	९८२ ५	१,०७७ ४	२५२३ ५	२५५३ २
आधिक्य (+) या घाटा (—)	+१३ ४	—५३ ९	—३०९ ६	—१८३ ७	—२८४ ७
सम्पूर्ण आधिक्य (+) या घाटा (—)	+१५ ६	—८८ ०	—३०० ६	+५२ २	+ ११ ५

* नये बजट प्रस्तावो का प्रभाव

सन् १९७७-७८ का बजट (एक नजर मे)

सन् १९७७-७८ के बजट मे कुल करो के रूप मे प्राप्त होने वाली आय ८८९७ करोड रु० अनुमानित की गई है जिसमे नये बजट प्रस्तावो के परिणामस्वरूप १४२ करोड रु० की और वृद्धि होने का अनुमान है। इसमे से राज्यो का हिस्सा १७९० करोड रु० कम कर देने पर शुद्ध करो के रूप मे आय ७०८९ करोड रु० होगी। नये कर प्रस्तावो के परिणामस्वरूप इस आय मे १३० करोड रु० की और वृद्धि होने का अनुमान है। कर भिन्न राजस्व आय २३३५ रु० करोड रु० होने का अनुमान है। इस प्रकार केन्द्र सरकार की कुल राजस्व आय ९४२४ करोड रु०+नये बजट प्रस्तावो के कारण १३० करोड रु० होने का अनुमान है। इसमे से राजस्व खाते का भुगतान ९४८७ करोड रु० होने का अनुमान है। अतएव इसके कारण राजस्व खाते मे १३० करोड रु० का राजस्व अधिशेष बचने का अनुमान है। इसी प्रकार सन् १९७७ ७८ मे पूँजीगत प्राप्तियाँ ५९४२ करोड रु० होने का अनुमान है तथा पूँजीगत भुगतान ६०८१ करोड रु० होने का अनुमान है। अन्ततः नये बजट प्रस्तावो को ध्यान मे रखते हुए सन् १९७७-७८ के वर्ष मे कुल घाटा केवल ७२ करोड रु० ही होने का अनुमान है।

भारत सरकार का १९७६-७७ तथा १९७७-७८ का बजट (एक नजर में)

(करोड़ रु० में)

	संशोधित अनुमान १९७६-७७	बजट अनुमान १९७७-७८		संशोधित अनुमान १९७६-७७	बजट अनुमान १९७७-७८
राजस्व प्राप्तियां (Revenue Receipts)			**राजस्व खाते के भुगतान (Revenue Disbursement)**		
कर प्राप्तियाँ	८०८१	८८७९	सामान्य सेवाएँ	२३२४	२६०९
घटाइये—		+१४२*	रक्षा सेवाएँ	२३७४	२४७६
कर राजस्व मे राज्यो का हिस्सा	१६८९	१७१० +१२*	सामाजिक व सामुदायिक सेवाएँ	६२२	७१३
			आर्थिक सेवायें	१५२५	१७७५
केन्द्र का निवल कर राजस्व	६३९२	७०८९ +१३०*	राज्यो आदि को सहायक अनुदान	१७०९	१९१४
कर भिन्न राजस्व (Non-tax revenue)	२११५	२३३५	राजस्व खाते के भुगतान का योग	८५५४	९४८७
केन्द्र की राजस्व प्राप्ति का योग	८५०७	९४२४ +१३०*	राजस्व अधिशेष + या —	—४७	—६३ +१३०*

* नये बजट प्रस्तावो का प्रभाव

(net incomes) पर ५ प्रतिशत की दर से आयकर लगाया जाता है तो विभिन्न हैसियत वाले व्यक्तियों की स्थिति निम्न प्रकार की होगी .—

व्यक्ति की शुद्ध आय	अदा किया जाने वाला कर	कर के बाद शेष बची आय
१०० रु०	५ रु०	९५ रु०
१००० रु०	५० रु०	९५० रु०
१०,००० रु०	५०० रु०	९,५०० रु०
१,००,००० रु०	५,००० रु०	९५,००० रु०

कर लगने से पूर्व, उपर्युक्त चारो व्यक्तियों की स्थिति इस प्रकार थी कि दूसरे व्यक्ति की आय पहले व्यक्ति से १० गुनी थी, तीसरे व्यक्ति की आय दूसरे व्यक्ति के मुकाबले १० गुनी थी, और तीसरे की तुलना मे चौथे व्यक्ति की आय १० गुनी थी। कर लगने और उनकी वसूली के बाद भी चारो व्यक्तियो की सापेक्षिक स्थिति अथवा हैसियत एक-सी ही अर्थात उसी अनुपात मे है जिस अनुपात में कि वह करो से पूर्व थी। इस प्रकार अनुपाती कराधान के समर्थक यही तर्क देते है कि अनुपाती कर करदाताओं की धन सम्बन्धी स्थिति को अपरिवर्तित ही रखते है।

इस तर्क मे कुछ सत्यता तो प्रतीत होती है परन्तु अनुपाती कराधान के आलोचको ने इस तर्क मे विद्यमान कमी की ओर ध्यान आकर्षित किया है। एक अनुपाती कर जहाँ करदाताओ की सापेक्षिक धन सम्बन्धी स्थितियो को अपरिवर्तित रखता है, वहाँ यह उनकी वास्तविक आय की स्थितियों में निश्चय ही परिवर्तन कर देता है। निम्न आय पर लगाया गया एक कर ऊँची आय पर लगाये गये कर से अपेक्षाकृत अधिक भारी होता है। उदाहरण के लिए, १०० रु० आय वाले एक व्यक्ति को कर के रूप में ५ रु० अदा करना अधिक भारपूर्ण महसूस होगा व मुकाबले उस व्यक्ति के जिसकी आय १०,००० रु० हो और जो कर के रूप मे ५०० रु० अदा करता हो अथवा १ लाख रु० आय वाले उस व्यक्ति के मुकाबले जो कर के रूप मे ५,००० रु० अदा करता हो।

(२) सरलता तथा सभी आयों पर समान रूप से लागू होगा—अनुपाती कराधान के पक्ष मे दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि यह सरल है तथा इसको समान रूप से सभी पर लागू किया जा सकता है। एक तो इसका ढांचा आरोही करो की दरों जैसा जटिल नही है और दूसरे इसमें वे कठिनाइयां भी सामने नही आती जो कि करो की दरो के क्रमवर्धन (graduation) का निश्चय करने मे उत्पन्न होती हैं। अनुपाती कराधान के समर्थक यह तर्क देते है कि करो के आरोहण अथवा क्रमवर्धन की एक वैज्ञानिक एव वस्तुनिष्ठ (objective) पद्धति की खोज करना असम्भव है और यही कारण है कि आरोही दरो की व्यवस्था को सदा ही एक मनमानी अवैज्ञानिक तथा ऐसी व्यवस्था माना जाता रहा है जो कि सत्तारूढ सरकार की सनक पर निर्भर होती है। दूसरी ओर करो की अनुपाती दर बहुत सरल होती है और सभी आमदनियो पर समान रूप से लागू की जा सकती है।

(३) आरोही कराधान की त्रुटियो (mistakes) तथा दुरुपयोगों को दूर करना— अन्त मे, अनुपाती कराधान का वैसा दुरुपयोग भी नही किया जा सकता जैसा कि आरोही कराधान का किया जा सकता है। यह कहा जाता है कि वामपंथी विचारो वाली सरकार के हाथो मे, आरोही कराधान उस समय अत्यधिक दमनकारी सिद्ध हो सकता है जबकि बडी-बडी आमदनियो पर अत्यधिक भारी कर लगाये जाएँ। आरोही कराधान धनी व्यक्तियो की सम्पत्ति तथा बडी आमदनियो के राज्यसात्करण (राज्य द्वारा जब्त किये जाने) की भी प्रेरणा दे सकता है और इस प्रकार व्यक्ति की स्वय प्रेरणा (initiative) तथा बचत को अवरुद्ध कर सकता है। इसका उत्पादन तथा आय के स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। अनुपाती कराधान मे आरोही कराधान के इन समस्त दुरुपयोगो की सम्भावना नही रहती। परन्तु इस तर्क का उत्तर सरलता से दिया जा सकता है।

उपरोक्त तालिका से पता चलता है कि राज्य सरकारो की आय तथा उनके व्यय मे सन् १९५०-५१ से लगातार वृद्धि हो रही है। इस सम्बन्ध मे अन्य रुचिकर तथ्य यह है कि सन् १९७४-७५ व १९७५-७६ के वर्षो मे राज्य सरकारो को चालू खाते (current account) मे तो सामान्यत. लाभ रहा है और पूंजीगत खाते मे घाटा रहा है।

बजट सम्बन्धी नीति का निर्धारण करने वाले तत्त्व (Factors determining Budgetary Policy) :

अन्य देशो के समान ही, भारतीय लोकवित्त के स्वरूप का निर्धारण जिन तीन तत्त्वो द्वारा हुआ है वे है . अर्थव्यवस्था की प्रकृति सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीति के उद्देश्य और सरकार का ढांचा।

एक समय था जबकि देश के आर्थिक जीवन की प्रकृति ही एकमात्र ऐसा तत्त्व थी जो कि सरकार के बजट को प्रभावित किया करती थी। उदाहरण के लिए, व्यावसायिक तेजी (business boom) तथा व्यावसायिक मन्दी (business depression) की विद्यमानता, शान्ति और युद्ध की परिस्थितियो का उत्पन्न होना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अदायगी शेष (balance of payments) मे होने वाले परिवर्तन—इन सभी तत्त्वो ने सरकार के व्यय, कराधान (taxation) तथा सरकारी ऋण की मात्रा को प्रभावित किया और इस प्रकार सरकार के बजटो के स्वरूप एव आकार का निर्धारण किया। परन्तु २० वी शताब्दी मे, विशेष रूप से आर्थिक विचारधारा मे कीन्सवादी क्रान्ति के पश्चात् सरकारो के आर्थिक दर्शन एव नीति को किसी भी देश की बजट सम्बन्धी नीति का निर्धारण करने मे सारी महत्ता प्राप्त हो गई। पूर्ण रोजगार के लक्ष्य, कल्याणकारी राज्य की स्थापना, समाजवादी ढग की समाज की स्थापना का निश्चय—ये बातें अब भारतीय सरकार की बजट सम्बन्धी नीति को निर्धारित करती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही, भारत मे सघ तथा राज्य सरकारो के बजट इस बात से अत्यधिक प्रभावित हुए है कि सरकार ने आयोजनाबद्ध आर्थिक विकास (planned economic development) के मार्ग को चुना है अन्त मे, बजट सम्बन्धी नीति इस बात से भी प्रभावित होती है कि सरकार का ढांचा (structure) किस प्रकार का है। उदाहरण के लिए, एक सघ सरकार (federal government) की बजट नीतियाँ *एकात्मक सरकार (unitary government) की बजट नीतियो से स्पष्टत बिल्कुल भिन्न* होती हैं। भारत मे सघीय किस्म की सरकार स्थापित है और केन्द्र एव राज्यो के बीच कार्यो एव वित्तीय साधनों का विभाजन किया गया है। अत वित्त आयोगो (finance commissions) की रिपोर्टों, आयकर व उत्पादन-करो के विभाजन तथा सहायक अनुदानो (grants-in-aid) को पर्याप्त महत्व प्रदान किया जाता है।

स्वतन्त्रता से पूर्व बजट सम्बन्धी नीति (Budgetary Policy before Independence) .

भारत मे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत, बजट सम्बन्धी नीति का लक्ष्य तथा क्षेत्र सीमित ही रहता था और आर्थिक प्रभावो की दृष्टि से वह तटस्थ (neutral) थी। ब्रिटिश सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार, आर्थिक स्वाधीनता तथा आर्थिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने की एक सामान्य नीति अपनाई थी। इसकी ऐसी कोई ठोस आर्थिक नीति नही थी जैसे कि भारतीय उद्योगो की वृद्धि एव विकास या धन तथा आय की असमानताओं को कम करना अथवा कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना। इस स्थिति मे, स्वभावत ही आर्थिक एव सामाजिक कार्यों पर उनका व्यय बहुत कम होता था और उसका सम्बन्ध केवल देश मे कानून व व्यवस्था बनाये रखने के राज्य के अनिवार्य कर्त्तव्य से ही था। इस प्रकार, ब्रिटिश काल मे कराधान का मुख्य उद्देश्य केवल यही था कि राज्य के अनिवार्य कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त किया जाए।

किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे बजट सम्बन्धी नीति मे काफी परिवर्तन हुआ। इस समय *भारत सरकार* को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि वह भारत स्थिति अमरीकन सेनाओ के खर्च के लिए तथा भारत मे होने वाले ब्रिटिश युद्ध-व्यय के लिए रुपये की व्यवस्था करे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार का प्रतिरक्षा व्यय जो कि सन् १९३९-४० मे ५० करोड़ रु० था, बढ़ाकर सन् १९४४-४५ मे ४६० करोड रु० के लगभग हो गया। प्रतिरक्षा व्यय के बढने के साथ ही साथ सिविल अथवा असैनिक व्यय (civil expenditure) मे भी काफी

वृद्धि हुई। इसका कारण यह था कि तत्कालीन विभागो का विस्तार किया गया था और अनेक नये विभाग (departments) खोले गये थे। अपने बढ़े हुए व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए, भारत सरकार को कई बातो का आश्रय लेना पडा जैसे अतिरिक्त कर लगाना, बाजार ऋणो मे वृद्धि, अल्प बचतें प्राप्त करना, और पत्र-मुद्रा छापना। सरकारी ऋण की मात्रा जो कि सन् १९३८-३९ मे १,२२० करोड रु० थी, सन् १९४४-४५ मे बढकर २,३०० करोड रु० हो गई। इस अवधि मे बढ़े हुए अधिकाश प्रतिरक्षा व्यय (defence expenditure) की पूर्ति मुद्रा-स्फीति (curreney inflation) तथा अतिरिक्त कराधान (additional taxation) द्वारा की गई थी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् बजट सम्बन्धी नीति (Budgetary Policy after Independence).

जैसे ही भारत स्वतन्त्र हुआ, वैसे ही आर्थिक नीति मे परिवर्तन होने के फलस्वरूप भारत की बजट-नीति मे भी बडे परिवर्तन हुए। आर्थिक स्वाधीनता की तथा आर्थिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने की पुरानी नीति का परित्याग कर दिया गया और राष्ट्रीय सरकार द्वारा एक ठोस आर्थिक नीति अपनाई गई। भारतीय सविधान के निर्देशक सिद्धान्तो मे भी यह व्यक्त किया गया था कि भारत सरकार एक सकारात्मक एव ठोस आर्थिक नीति अपनायेगी। फलत एक ऐसे भेद-भाव से रहित एव समानता पर आधारित समाज की स्थापना का उत्तरदायित्व सँभाला, जिसके अन्तर्गत सभी व्यक्तियो को समान अवसर प्राप्त होंगे, जिसमे सभी प्रकार के शोषण (exploitation) को समाप्त किया जायेगा तथा धन एव शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोका जायेगा, आदि-आदि। सक्षेप मे, सुनियोजित आर्थिक विकास पर आधारित सामाजवादी ढग का समाज (socialistic pattern of saciety) तथा कल्याणकारी राज्य (welfare state) की स्थापना को सरकार ने अपना आर्थिक आदर्श (economic ideal) बनाया। इस स्थिति मे, सरकार की बजट-सम्बन्धी नीति उसके आर्थिक एव सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र बन गई।

युद्ध के एकदम पश्चात् सरकार को मुद्रा स्फीति के दबाव को नियन्त्रित करने की समस्या का सामना करना पडा। सरकार ने इस समस्या को दो प्रकार से हल करने का प्रयत्न किया, एक ओर तो करो मे वृद्धि करके—ताकि जनता के हाथो मे विद्यमान क्रय-शक्ति (purchasing power) की मात्रा कम की जा सके—और दूसरी ओर सरकारी व्यय मे कमी करके। परन्तु शीघ्र ही सरकार ने यह अनुभव किया कि 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के कार्यक्रमों पर तथा व्यापक रूप से फैलते हुए प्रशासन पर होने वाले व्यय मे वृद्धि करना आवश्यक है। देश-विभाजन के कारण उत्पन्न कुछ ऐसी परिस्थितियो के कारण सरकारी खर्च मे और भी वृद्धि हो गई थी, जैसे कि देश मे कानून व व्यवस्था को दृढ करने की आवश्यकता तथा पाकिस्तान से आने वाले विस्थापित व्यक्तियो (displaced persons) की सहायता एव उनके पुनर्वास की व्यवस्था करना आदि। इसके साथ ही, भारत ने लोकतन्त्रीय सरकार की पद्धति को अपनाया जिसमे कि केन्द्र पर ससद (parliament), मन्त्रि-परिषद व राष्ट्रपति आदि के लिए तथा राज्यो मे विधान मण्डलो, (assemblies) तथा राज्यपालो (governors) की व्यवस्था पर भारी व्यय करने होते है। यही नही, भारत मे ससार के अनेक देशो के साथ राजनयिक सम्बन्ध (diplomatic relations) स्थापित किये और अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ एव सम्मेलनो आदि मे अधिकाधिक भाग लिया। इससे भी बढकर पाकिस्तान का निर्माण जो कि दुर्भाग्यवश भारत से लगातार युद्ध स्थिति बनाए हुए है, प्रतिरक्षा व्यय मे भारी वृद्धि का कारण बना। इन सभी कारणो से स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही सरकारी व्यय बढा और साथ ही साथ सरकारी आय मे भी समवर्ती वृद्धि हुई। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकारी व्यय, कराधान, सरकारी ऋण और वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था आदि सभी मे परिवर्तन हुए।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बजट सम्बन्धी नीति (Budgetary Policy under the Five year Plans) :

सन् १९५१ से सरकार की बजट सम्बन्धी नीति को प्रभावित करने वाला मुख्य एव प्रबल कारण था—आर्थिक नियोजन (economic planning)। योजनाओ की अवधि की भारत सरकार की बजट सम्बन्धी स्थिति निम्न तालिका मे दिखाई गई है :—

तालिका—३

केन्द्र सरकार की बजट सम्बन्धी स्थिति
(योजनाओं की अवधि में)

(करोड़ रु० मे)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चतुर्थ योजना
(१) राजस्व खाता (Revenue Account)				
(क) सरकारी आय	२,२३२	३,५६३	८,७११	१५०१५
(ख) सरकार व्यय	१,९८३	३,३४३	७,६९२	१४८४१
(ग) बेशी (surplus) (+)	+२४९	+२२०	+१,०१९	+१७४
(१) पूँजीगत खाता (Capital Account)				
(क) प्राप्तियाँ	१,०५४	३,०९४	६,७९६	११०३७
(ख) भुगतान	१,७०६	४,२३२	८,५९७	१२९३०
(ग) घाटा (Deficit) (—)	—६५२	—१,१३८	—१,८०१	—१८९३
(३) कुल घाटा (—)	—४०३	—९१८	—७८२	—१७१९

स्रोत (source) . रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के बुलेटिन

यह तालिका बतलाती है कि चारो योजनाओ की अवधि मे (अर्थात् १९५१ से १९७४ तक) केन्द्र सरकार के राजस्व तथा पूँजीगत, दोनो ही खातो के अन्तर्गत आय तथा व्यय का अत्यधिक विस्तार हुआ है। उदाहरणार्थ, राजस्व खाते के आय तथा व्यय, मे दोनो मे ही लगभग चार-चार गुनी वृद्धि हुई है परन्तु पूँजीगत खाते के अन्तर्गत होने वाली प्राप्तियो तथा किये जाने वाले भुगतान मे क्रमश. पाँच और छः गुनी वृद्धि हुई है। सघ सरकार के व्यय मे इस भारी वृद्धि का कारण सामाजिक एव आर्थिक सेवाओ तथा विकास प्रयोजनाओ पर अधिकाधिक मात्रा मे किया जाने वाला व्यय है। प्रतिरक्षा तथा सिविल प्रशासन पर किये जाने वाले व्यय अविकासोत्तर व्यय (non-devolopment expenditure) की दो महत्त्वपूर्ण किस्मे है।

२० वर्षों की इस अल्पावधि (short period) मे (अर्थात् १९५१ से १९७४ के बीच) जिस प्रकार सघ सरकार की आय तथा उसके व्यय मे व्यापक वृद्धि हुई है, उसी प्रकार इस अवधि के अन्तर्गत राज्य सरकारो की आय तथा उनके व्यय मे काफी वृद्धि हुई है। इस स्थिति का मूल भी वही, अर्थात् आर्थिक नियोजन (economic planning) ही था। निम्न तालिका (table) मे राज्य सरकारो की बजट सम्बन्धी स्थिति दिखाई गई है —

तालिका—४

राज्य सरकारों की बजट सम्बन्धी स्थिति

(योजनाओं की अवधि मे)

(करोड़ रु० मे)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चतुर्थ योजना
(१) राजस्व खाता (Revenue Account)				
(क) सरकारी आय	२,३३३	८,०४१	७,३३३	११११४१
(ख) सरकारी व्यय	२,३९६	३ ९३५	७,२७२	११२७२
(ग) बेशी (surplus) (+) अथवा घाटा (—)	—६१	+१०६	+६१	—३१
(२) पूंजीगत खाता (Capital Account)				
(क) प्राप्तियां	१,११४	२,२४२	४,६९०	४८५
(ख) भुगतान	१,०६८	२,४१२	४,७९५	७३२
(ग) घाटा (Deficit) (—) अथवा बेशी (+)	+४६	—१७०	—१०५	—२४७
(३) कुल घाटा (—) अथवा बेशी (+)	—१५	—१५	—४४	—३७८

स्रोत (source) . रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के बुलेटिन

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि १९५०-५१ से १९७३-७४ तक की अवधि मे आर्थिक नियोजन के परिणामस्वरूप राज्यों की आय तथा उनके व्यय मे भी तेजी से वृद्धि हुई है। यह उल्लेखनीय है कि इस अवधि मे सरकारी व्यय मे जो वृद्धि हुई है उसका अधिकाश भाग विकास कार्यों पर किया गया है।

इस सम्बन्ध मे एक रुचिकर तथ्य यह भी है कि सरकारो ने आर्थिक मामलो मे अधिकाधिक रूप से भाग लेना आरम्भ कर दिया है। यह तथ्य उन धनराशियों से प्रकट होता है जो कि उन्होंने चालू (current) तथा पूंजीगत दोनो ही खातो मे व्यय की है। निम्न तालिका मे इस विषय का पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है :—

तालिका—५

चालू तथा पूंजीगत खातो से सम्बन्धित केन्द्र तथा राज्यों की सम्मिलित आय तथा व्यय

(योजनाओ की अवधि मे)

(करोड़ रु० मे)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चौथी योजना
कुल प्राप्तियां	६,७४०	१०,७३०	२२,२००	३७,६७८
कुल व्यय	६,१४०	११,४२०	२३,०५०	३६,७७५

ये आँकड़े भारत मे सरकारों द्वारा प्राप्त की गई आय तथा किये गये व्यय की मात्रा को स्पष्ट करते है।

सन् १९५०-५१ से लोकवित्त का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह रहा है कि सरकारी ऋण (public debt) की मात्रा मे वृद्धि हुई है। विकास प्रयोजनाओं (development projects) पर किये गये अधिकाश व्यय की वित्तीय व्यवस्था उधार लेकर ही की गई है। सन् १९५०-५१ मे सरकार का सार्वजनिक ऋण २,५६५ करोड़ रु० और इसी वर्ष मे ब्याज का भार ३७ करोड़ रु० था। सन् १९६८-६९ मे (बजट के अनुसार) सघ सरकार के ऋण की मात्रा बढ़कर १६,९९० करोड़ रु० और इसी वर्ष मे ब्याज का भार ५५० करोड रु० हो गया। सन् १९५०-५१ से घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) का भी अधिकाधिक रूप मे आश्रय लिया जाता रहा है और जब भी सरकार ने यह देखा कि सरकारी खर्च की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कर तथा कर्ज अपर्याप्त है तभी उसने इसका उपयोग किया है।

सन् १९६२ से सघ तथा राज्य सरकारो की बजट-नीति पर एक और बात का प्रभाव पड़ा है। और वह है उस वर्ष होने वाला भारत-चीन संघर्ष तथा तत्पश्चात् भारत-पाक सघर्ष और इन सघर्षों, के कारण प्रतिरक्षा की तैयारियों से सम्बन्धित बढती हुई आवश्यकताएँ।

भारत के बजट सम्बन्धी नीति के परिणाम (Consequences of Budgetary Policy in India).

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, स्वतन्त्रता से पूर्व भारत मे कोई ठोस बजट-नीति नही अपनाई गई थी। किन्तु उसके पश्चात् से, राष्ट्रीय सरकार एक दृढ एव साहसी बजट नीति का अनुसरण कर रही है जो कि कुछ ऐसे आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाई गई है जैसे कि तीव्रगति से आर्थिक विकास प्रगति एव विकास के साथ-साथ मूल्यो मे स्थिरता, आय तथा धन की असमानताओ पर नियन्त्रण, रोजगार के अवसरो मे वृद्धि, आदि। यहाँ हम इन बातो का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

(१) **आर्थिक विकास के लिए साधनों की गतिशीलता पर प्रभाव** (effect on the mobilisation of resources for economic development)—सर्वप्रथम हम इस बात पर विचार करेंगे कि आर्थिक विकास के लिए साधनो की गतिशीलता (mobilisation) पर बजट सम्बन्धी नीति का क्या प्रभाव पड़ा है। सन् १९५१ तथा १९६६ से बीच सघ सरकार ने देश मे तीन पचवर्षीय योजनाएँ लागू की जिन पर लगभग १४,००० करोड रु० खर्च हुआ। इस निवेश (investment) के अधिकाश भाग को आधारभूत तथा भारी उद्योगो के विकास पर केन्द्रित किया गया। इन विकास कार्यक्रमो की वित्तीय व्यवस्था हेतु साधनो को गतिशील करने के लिए सरकार ने कराधान, कर्ज तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लिया। वास्तविकता यह थी कि सरकार ने इन साधनो का अधिकतम सम्भव सीमा तक उपयोग किया। एकओर तो, सरकार परिवहन सचार विद्युत तथा आर्थिक विकास के एक समुचित ढाँचे के अन्य पहलुओं का निर्माण एव विकास करने में समर्थ हुई। दूसरी ओर, करो के भारी बोझ से निवेश करने व उत्पादन करने की प्रेरणाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। भारी कराधान (heavy taxation) ही कर वचन (taxation) तथा कर परिहार (tax avoidance) के लिए उत्तरदायी था और इसके कारण ही लोगों के पास बडी मात्रा मे काला धन (black money) जमा हुआ जिसके अनेक प्रतिकूल प्रभाव पडे। बजट सम्बन्धी नीति ही थोडे से लोगों के हाथो मे धन तथा आर्थिक शक्ति के बढते हुए केन्द्रीकरण एव विभिन्न क्षेत्रो मे एकाधिकारो (monopolies) की उत्पत्ति के उत्तरदायी थी। यही नही, भारी निवेश (heavy investment) तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) की बजट-नीति ही देश मे मुद्रा-स्फीति के बढते हुए दबावो के प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थी। इसमें कोई सन्देह नही कि बजट सम्बन्धी नीति के कुछ स्फीति-विरोधी प्रभाव (anti-inflationary effects) भी पड़े परन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नही थे। अन्तत., आर्थिक विकास के लिए भारत को विदेशी ऋण तथा विदेशी सहायता लेनी पड़ी जिसके कारण उसकी विदेशो पर निर्भरता बढी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बजट सम्बन्धी नीति भारी निवेश के लिए तथा ऐसे निवेश की वित्तीय व्यवस्था हेतु साधनो

को बड़ी मात्रा मे गतिशील करने के लिए उत्तरदायी रही है। इसके अच्छे प्रभाव भी पड़े और बुरे भी।

(२) मुद्रा स्फीति के दबाव में वृद्धि (rise of inflationary pressure)—सन् १९५०-५१ से ही बजट सम्बन्धी नीति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि देश मे मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी दबावो मे वृद्धि हुई। सामान्य मूल्य स्तर मे वृद्धि हुई। उसके कारण ये थे—बड़ी मात्रा मे जोर दिया जाना और बजट घाटो के द्वारा विकास प्रयोजनाओं के वित्तीय-व्यवस्था करना। निवेश, आधारभूत एव भारी उद्योगो बजट-नीति। एक ओर तो मुद्रा की पूर्ति मे तथा वस्तुओ व सेवाओ की माँग मे वृद्धि के लिए उत्तरदायी थी, और दूसरी ओर यह इस माँग की पूर्ति हेतु वस्तुओं की कमी के लिए उत्तरदायी थी। इस स्थिति मे, स्वभावत' ही देश मे मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी दबाव (inflationary pressures) उत्पन्न हुए और इसके लिये बजट-नीति काफी सीमा तक उत्तरदायी रही।

(३) धन तथा आय की असमानता में वृद्धि (rise in the in-equalites of wealth and income)—बजट सम्बन्धी नीति देश मे आय तथा धन की बढ़ती हुई असमानताओ के लिए उत्तरदायी रही। सरकार ने वैसे तो बड़ी दृढ़ता से अपने इस लक्ष्य की घोषणा की थी कि बजट-नीति का उपयोग इस प्रकार किया जायेगा कि धन की असमानतायें कम हो सकें। उदाहरण के लिए, सरकार द्वारा यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि करो की ऊँची दरें उच्च आय वाले वर्गों पर ही पड़ेगी ताकि उनके हाथो मे वर्तमान क्रय-शक्ति की मात्रा को कम किया जा सके। यहाँ तक कि परोक्ष करो तक के बारे मे भी सरकार की नीति यही थी कि ये कर समाज के धनी वर्गों पर ही अधिक भार डालें। परन्तु व्यवहार मे, बजट-नीति ने धनी वर्गों के हाथो मे ही आय पहुँचाने की दिशा मे कार्य किया। ऐसा अशत तो इसलिये हुआ क्योकि लाइसेंस देकर तथा नियन्त्रण लागू करके गैर-सरकारी क्षेत्र (private sector) को प्रोत्साहन दिया गया और अशत इसलिये क्योकि धनी वर्गों को प्रत्यक्ष करों को छिपाने तथा बचाने मे असमर्थ बना दिया गया। मुद्रा-स्फीति ने भी धनियो को और धनी होने मे मदद दी। यह बात सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि सरकार की राजकोषीय (fiscal) तथा अन्य नीतियाँ ही बढ़ते हुए असमानताओ के लिए, धन तथा आर्थिक शक्ति के बढ़ते हुए केन्द्रीयकरण के लिए अर्थव्यवस्था (economy) मे एकाधिकारी तत्वो की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी रही हैं।

(४) बेकारी की समस्या पर प्रभाव (effect on the un-employment problem—देश मे बेरोजगारी की समस्या पर भी बजट सम्बन्धी नीति का प्रभाव पड़ा। सरकार द्वारा किये गये भारी मात्रा के निवेश तथा उसके परिणामस्वरूप देश में बनने वाले आर्थिक ढाँचे ने देश मे रोजगार की मात्रा मे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष वृद्धि करने मे सहायता की। ग्रामीण क्षेत्रो मे विद्युतकरण तथा परिवहन के कार्यक्रमो एव कृषि व सामुदायिक विकास की योजनाओ आदि ने भी किसानो के लिए पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने में सहायता की है और इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रो मे छिपी बेरोजगारी को कम करने मे योगदान दिया है। परन्तु इन सब प्रयत्नो के बावजूद भी, यदि भारत मे बेरोजगारी बनी हुई है, तो निश्चय ही उसका दोष जनसंख्या की तीव्रगति से बढ़ती हुई दर पर डालना होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत मे एक साहसी एव सक्रिय बजट-नीति अपनाई गई और यह कि इस नीति के अनेक परिणाम सामने आये हैं जिनमे अच्छे भी हैं और बुरे भी।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Reserve Bank of India Report on Currency and Finance.
2. Reserve Bank of India Bulletins, April and May Issues.

UNIVERSITY QUESTIONS

१ केन्द्रीय सरकार के सन् १९७७-७८ के बजट का संक्षेप मे विवेचन कीजिए।
Discuss in brief the Central Government 1977-78 budget.

२. भारत की बजट सम्बन्धी नीति की विवेचना कीजिए।
Discuss the budgetary policy in India.

तृतीय खण्ड

आर्थिक पद्धतियाँ
और
राज्य जन-कल्याण की कसौटी पर

Economic Systems
and
State in Relation to Welfare

१

आर्थिक व्यवस्थाएँ—पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाएँ
(Economic Systems—Capitalist and Socialist Economies)

प्रारम्भिक (Introduction)

समस्त अर्थ-व्यवस्थाओ को मोटे रूप मे निम्न दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है —(I) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तथा (II) सामाजिक अर्थव्यवस्था। प्रत्येक अर्थव्यवस्था के अपने पृथक् लक्षण, लाभ-दोष तथा उपयुक्तता है। किन्तु विशुद्ध रूप मे कोई भी अर्थव्यवस्था नही है, चाहे वह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था हो अथवा सामाजिक अर्थव्यवस्था। सभी अर्थव्यवस्थाएँ वास्तविक रूप मे मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ ही हैं। जिन अर्थव्यवस्थाओ मे अधिकाश लक्षण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से मिलते जुलते होते हैं, उन्हे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के नाम से सम्बोधित करते है। यही बात सामाजिक अर्थव्यवस्था पर भी लागू होती है। इन दो प्रमुख अर्थव्यवस्थाओ के अतिरिक्त एक तीसरी अर्थ-व्यवस्था भी है जिसे मिश्रित अर्थ व्यवस्था के नाम से पुकारते हैं। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत हम केवल दो प्रमुख अर्थव्यवस्थाओ अर्थात् पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था का ही अध्ययन करेंगे

(I) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था
(Capitalist Economy)

पूँजीवादी व्यवस्था की विशेषता यह होती है कि उसके अन्तर्गत उत्पादन के साधन निजी स्वामित्व मे रहते है। उत्पादन के साधनो, विशेष रूप से पूँजी, पर निजी व्यक्तियो या पूँजीपतियो का अधिकार होता है।

पूँजीवाद के लक्षण (Features of Capitalism) :

पूँजीवाद के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(१) **व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति (private property)**—सामान्य अर्थ मे, पूँजीवाद से आशय उस आर्थिक व्यवस्था से होता है जिसमे कि उत्पादन के उपादानो (भूमि, श्रम, पूँजी व सगठन) पर प्राइवेट व्यक्तियो का अधिकार तथा नियन्त्रण होता है और जिनमे उत्पादन प्राइवेट व्यक्तियो की प्रेरणा से उनके ही लाभ के लिए होता है। पूँजीवाद (capitalism) के अन्तर्गत, कृषि-फार्म, फैक्टरियाँ, खानें, परिवहन व्यवस्था तथा उत्पादन के अन्य सभी साधन (instruments of production) प्राइवेट व्यक्तियो तथा फर्मों की ही सम्पत्ति होते हैं। जो लोग उत्पादन के उपादानो के स्वामी होते हैं उन्हे इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वे उनका उपयोग

पूर्णतया अपने लाभ के लिये करें अथवा उनका बिल्कुल प्रयोग ही न करें। पूँजीवादी पद्धति मे लाभ की इच्छा ही एक ऐसी प्रेरक शक्ति होती है जो समस्त आर्थिक क्रियाओ के पीछे कार्य करती है।

पीगू के अनुसार, "पूँजीवाद वह पद्धति है जिनमे उत्पादन के भौतिक साधन प्राइवेट व्यक्तियो के अधिकार मे होते है या उनके द्वारा किराये पर ले लिये जाते हैं और आज्ञानुसार ही इस प्रकार काम मे लाये जाते हैं जिससे कि उनकी सहायता से उत्पन्न वस्तुएँ व सेवाएँ लाभ से बेची जा सकें।"[1] सिडनी तथा बीट्रस वेब ने पूँजीवाद की और अधिक स्पष्ट परिभाषा दी है पूँजीवादी पद्धति या पूँजीवादी सभ्यता, जो भी हम उपयुक्त समझते हैं, से हमारा अभिप्राय उद्योगो तथा वैधानिक सस्थाओ के विकास के उस विशेष चरण (stage) से है जिसमे अधिकाश श्रमिक अपने आपको उत्पत्ति के साधनो के स्वामित्व से इस प्रकार वचित पाते हैं कि वे मजदूरी कमाने वाले ऐसे श्रमिको की स्थिति मे परिणित हो जाते हैं जिनका जीवन-निर्वाह, सुरक्षा तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राष्ट्र के उन थोडे मे व्यक्तियो की इच्छा पर निर्भर होती है जो भूमि, मशीनरी तथा समाज की श्रम-शक्ति के स्वामी होते हैं और अपने इसी कानूनी स्वामित्व के द्वारा उनके सगठन एव प्रबन्ध का नियन्त्रण करते हैं, और वे ऐसा स्वय अपने व्यक्तिगत एव निजी लाभ की प्राप्ति के लिए करते हैं।"[2]

(२) **आयोजना रहित अथवा अनियोजित अर्थव्यवस्था** (unplanned economy)—हेम (Halm) के अनुसार, पूँजीवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण विशिष्ट लक्षण केन्द्रीय आर्थिक नियोजन (central economic planning) का अभाव है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अनियोजित अथवा आयोजना रहित असमन्वित (uncoordinated) होती है और करोडो व्यक्तियो की स्वतन्त्र—परन्तु एक-दूसरे पर निर्भर—निजी क्रियाओ पर आधारित होती है। इसमे आर्थिक क्रियाओ का कोई केन्द्रीय नियमन अथवा निर्देशन नही होता, अपितु सभी क्रियाएँ स्वयचालित प्रतीत होती हैं। उत्पादन कार्य का सचालन असख्य पृथक्-पृथक् उद्यमकर्त्ताओ के निर्णयो द्वारा किया जाता है। इसके साथ ही, उत्पादन व्यक्तिगत उपभोक्ताओ की उस विशाल सस्था द्वारा भी प्रभावित होता है जो बिना एक-दूसरे के परामर्श किये ही अपने निर्णय लेते हैं। पर इसके बावजूद मूल्याकन प्रक्रिया (pricing process) के रूप मे इसमे एक नियोजन तथा समन्वय करने वाली व्यवस्था विद्यमान होती है। मूल्याकन की व्यवस्था आर्थिक क्रियाओ के प्रत्येक पहलू का नियन्त्रण करती है, यह उपभोक्ताओ का नियन्त्रण तथा मार्ग दर्शन करती है और उन्हे बतलाती है कि उन्हें किन-किन वस्तुओ की माँग करनी चाहिये और कितनी-कितनी मात्रा मे। यह उत्पादन का भी नियन्त्रण तथा विनिमय करती है और वह इस प्रकार कि यह उत्पादको को इस सम्बन्ध मे निर्णय लेने मे सहायता देती है कि वे किन वस्तुओ का उत्पादन करें, कितनी मात्रा मे करें और किन तरीकों से करें। यह इस समस्या को भी हल करती है कि अर्थव्यवस्था मे उत्पन्न वस्तुओ एव सेवाओ का उपभोग कौन करेगा ? इस प्रकार, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था यद्यपि प्रकट रूप में अनियोजित अथवा आयोजना रहित असमन्वित तथा अनियमित (unregulated) प्रतीत होती है किन्तु वस्तुत वह मूल्याकन व्यवस्था (pricing mechanism) द्वारा पूर्णतया समन्वित होती है और इसीलिए इस व्यवस्था को 'कीमत द्वारा नियन्त्रित' व्यवस्था कहा गया है।

(३) **मूल्याकन प्रक्रिया** (pricing process)—पूँजीवाद मे मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया जो उल्लेखनीय भाग अदा करती है, वह इसका एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। वास्तविकता यह है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था भौतिक उत्पादन के रूप मे उत्तम परिणाम प्राप्त करने के लिए लाभ की प्रेरणा (profit motive) तथा प्रतियोगिता (competition) के साथ ही साथ मूल्याकन प्रक्रिया के सरल सचालन पर भी निर्भर होती है। एडम स्मिथ के समय से ही, सस्थापक तथा नवसस्थापक

1. A C Pigou Socialism Versus Capitalism, p 1, "The system in which the material instruments of production are owned and hired by private persons and are operated at their order with a view to selling at a profit the goods or services that they help to produce."

2. Sidney and Beatrice Webb, The decay of the Capitalist Civilisation, p 2

स्थिति यह है कि आरोहण (progression) को राज्यसात्करण (confiscation) का ही दूसरा नाम समझ लिया गया है परन्तु वास्तव मे ऐसा नही होना चाहिए। जहाँ तक करों की दरो के अत्यधिक ऊँची होने का प्रश्न है, दरें तो किसी भी कर की अत्यधिक ऊँची हो सकती है चाहे वह कर आरोही हो अथवा अनुपाती। यहां तक कि अनुपाती कर की दरें भी बहुत ऊँची हो सकती हैं और उस स्थिति मे निम्न आय वाले व्यक्तियों पर अपेक्षाकृत ऊँची आय वाले व्यक्तियों से अत्यधिक भार पड़ सकता है।

निष्कर्ष (Conclusion) :

इस प्रकार, कराधान की अनुपाती दरो के पक्ष मे जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं वे तीन बातो पर आधारित हैं (क) अनुपाती कराधान करदाताओं की सापेक्षिक स्थिति को अपरिवर्तित रखता है; (ख) यह सरल है तथा सभी आमदनियो पर समान रूप से लागू किया जा सकता है, और (ग) आरोही कराधान की भूलो तथा दुरुपयोगो की इसमे सम्भावना नही रहती। इन तर्कों की तुलनात्मक अच्छाइयो का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि आरोही कराधान के पक्ष की भी विवेचना की जाय।

आरोही कराधान के पक्ष में तर्क
(Arguments for Progressive Taxation)

आरोही कराधान का समर्थन घटती सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (principle of diminishing marginal utility) के आधार पर किया जाता है, जिसके अनुसार शुद्ध आय (net income) मे वृद्धि होने के साथ ही साथ व्यक्तिगत शुद्ध आय से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) घटती जाती है। यह पहले बताया जा चुका है कि आय मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने के लिए होती है और मानवीय आवश्यकताओ को अनिवार्य आवश्यकताओ (necessities), रूढ आवश्यकताओ (conventional necessities) तथा विलासिता की आवश्यकताओं (luxuries) मे बांटा जा सकता है। जब कोई व्यक्ति सन्तुष्टि के क्रम मे मूलभूत आवश्यकताओ से विलासिता की आवश्यकताओ की ओर को बढ़ता है तो उसकी इच्छा की तीव्रता घटती जाती है। इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति अपनी रूढ आवश्यकताओ से जो उपयोगिता प्राप्त कर रहा है वह अनिवार्य एव मूलभूत आवश्यकताओ की उपयोगिता से कम होगी, और विलासिता की आवश्यकताओ की उपयोगिता और भी कम होगी। अतः, यह स्वाभाविक है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ मे व्यय की जाने वाली आमदनियो से उपयोगिता विभिन्न मात्राओ मे ही प्राप्त होगी। चूंकि आय की क्रमिक वृद्धियाँ अनिवार्यत् घटती उपयोगिता की सूचक होगी अत उनमे कर अदा करने की क्षमता भी अपेक्षाकृत अधिक होगी।

कराधान की आरोही दरो के आलोचक आरोहण के सम्बन्ध मे दी जाने वाली घटती सीमान्त उपयोगिता के औचित्य (justification) की आलोचना करते है। विभिन्न व्यक्तियो की शुद्ध आय की सीमान्त उपयोगिता को इस प्रकार नही नापा जा सकता कि जिससे विभिन्न व्यक्तियो के बीच स्पष्ट तुलना की जा सके। कुछ अन्य लोग यह कहते हैं कि एक अवस्था ऐसी भी आती है कि जब सीमान्त उपयोगिता स्थिर हो जाती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यहां तक कहते हैं कि आय की वृद्धि के साथ ही साथ उसकी सीमान्त उपयोगिता मे भी वृद्धि होती है। कुछ भी हो, परन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि विभिन्न व्यक्तियो की आय के तथा भिन्न भिन्न समयो मे एक ही व्यक्ति की आय की सीमान्त उपयोगिता को स्पष्ट रूप से नापा नही जा सकता। अत यह असम्भव है कि व्यक्तिपरक उपयोगिता (subjective utility) के आधार पर करो की दरो के आरोहण (progression) अथवा क्रमवर्धन (graduation) का एक वस्तुपरक स्तर (objective standard) प्राप्त किया जाए। यह हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति, अपनी राजनैतिक विचारधारा एव रुचि के अनुसार, सीमान्त उपयोगिता की घटने की दर के बारे मे अपनी मनचाही मान्यता बनाए और तब कराधान की आरोही अथवा अनुपाती दरो का फैसला करे। किन्तु सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के आलोचकों ने आय की सीमान्त उपयोगिता पर पड़ने वाले सरकारी व्यय के प्रभावो की उपेक्षा कर दी है। कराधान की आरोही दरों के प्रो० फैगन जैसे समर्थकों ने भी, यद्यपि आरोही कराधान

लाभ की जोखिम (risk) पर आधारित तथा इससे ही सम्बन्धित होता है। किसी व्यवसाय में जितना अधिक जोखिम होता है, लाभ की सम्भावना भी उतनी ही अधिक होती है। पूँजीवाद का एक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि "जो जोखिम उठाता है वही नियन्त्रण करता है।" व्यवसायी अपने रु० की जोखिम उठाते हैं अत वही व्यवसाय का नियन्त्रण भी करते हैं। आधुनिक औद्योगिक दशाओं के अन्तर्गत, किसी भी बात के विषय में आश्वस्त एवं निश्चित नहीं हुआ जा सकता। बड़ी बड़ी चतुराई से तैयार किये गये अनुमान भी ऐसी घटनाओं के कारण उलट-पुलट हो सकते हैं जिन पर उद्यमकर्त्ता (entrepreneur) का बिल्कुल नियन्त्रण नहीं होता अथवा बहुत थोड़ा नियन्त्रण होता है। बाजार की दशाओं में होने वाले परिवर्तन, उपभोक्ताओं की पसंद में होने वाली बदल, हड़तालों का होना, चक्रीय उतार-चढ़ाव (cyclic fluctuations) का होना, उत्पादन की नई-नई विधियाँ तथा नई नई वस्तुओं का प्रचलन आदि, ये ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो संगठन कर्त्ता को बाहर से बाहर निकालकर फेंक सकती हैं। इसके साथ ही, नये-नये कर अथवा टैरिफ उसे उसके प्रत्याशित लाभों से वंचित कर सकते हैं। तथापि, ऐसे जोखिम औद्योगिक प्रगति की कीमत हैं और यह कहना सत्य है कि अपेक्षी उद्यमों में (speculative enterprises) में उस समय तक पूँजी नहीं आ सकती जबकि पूँजी के स्वामियों को पर्याप्त मात्रा में निदेशात्मक शक्ति (directive power) प्राप्त न हो।

पूँजीवाद के गुण (Merits of Capitalism)

पूँजीवाद अन्य आर्थिक पद्धतियों से इस कारण श्रेष्ठ होता है क्योंकि यह व्यक्तिगत पहल को प्रोत्साहित करता है, प्रतियोगिता को जन्म देता है और अर्थव्यवस्था में गतिशीलता उत्पन्न करता है। पूँजीवाद के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं —

(१) **व्यक्तिगत पहल अथवा प्रेरणा (Individual Initiative)**—लाभ की प्रेरणा (profit motive) से ही व्यक्ति की पहल करने की विशेषता सम्बन्धित है। वास्तव में, उस समय तक लाभ की प्रेरणा का कोई अर्थ नहीं है और निजी सम्पत्ति की भी कोई उपयोगिता नहीं है जब तक कि व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता न हो कि वह उत्पादन के उपादानों (factors of production) का अपने इच्छित तरीके से उपयोग कर सके, अर्थात् ऐसे तरीके से जिसे वह अपने लिए सर्वाधिक लाभप्रद समझता हो। प्रोफेसर रावर्टसन के शब्दों में, "पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत निर्णय, पहल तथा साहस के लिए पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान होता है। निहित स्वार्थ आर्थिक प्रगति के मार्ग में एक तरफ कर दिए जाते हैं। कानून द्वारा निर्धारित विस्तृत सीमाओं तथा सामाजिक दशाओं द्वारा निश्चित बड़े प्रतिबन्धों के अन्तर्गत, प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी आय तथा अपने जीवन का उपयोग अपनी इच्छानुसार रीति से कर सके। बुरे समयों में भी समाज के उत्पादन के भौतिक एवं मानवीय साधनों का उपयोग बड़ी मात्रा में किया जाता है और ऐसे समयों में भी वह विश्वास नष्ट नहीं होता जिसके आधार पर कि व साधन विभिन्न साहसपूर्ण कार्यों एवं उद्यमों में लगाये गये थे।"[4] इस प्रकार, एक पूँजीवाद समाज में जिसे कि प्राय स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था कहा जाता है, व्यक्ति की प्रेरणा एवं पहल आर्थिक क्रियाओं के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान होती है।

(२) **पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition)**—प्रतियोगिता पूँजीवाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। प्रतियोगिता आर्थिक स्वाधीनता में ही निहित होती है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार आर्थिक क्रिया करने को स्वतन्त्र होता है तो अनेक व्यक्ति एक से ही अथवा वैकल्पिक कार्यों को सम्पन्न करने में स्वभावत ही परस्पर प्रतियोगिता करने लगते हैं। उत्पादकों एवं विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता होती है और क्रेताओं के बीच भी प्रतियोगिता होती है। प्रतियोगिता स्वतन्त्र बाजार-व्यवस्था की आधार होती है।

पूँजीवादी समाज में प्रतियोगिता एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती है। प्रतियोगिता ही व्यक्ति की लाभ प्राप्ति की तीव्र लालसा को अवरुद्ध करती है, क्योंकि जितनी तीव्र प्रतियोगिता होती है, लाभ की मात्रा भी उतनी ही कम होती है। वास्तव में, पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के

---

4. D H. Robertson : The Central of Industry, p. 86.

अर्थशास्त्री (Classical and Neo-Classical Economists) सदा इस बात पर जोर देते रहे है कि मूल्याकन-व्यवस्था यद्यपि अन्धी होती है, तथापि यह सभी व्यक्तियो एव फर्मो की क्रियाओ मे ताल-मेल स्थापित करती है, और इससे भी अधिक इस जटिल कार्य की पूर्ति का यही एकमात्र कुशल एव विश्वसनीय तरीका है। पूँजीवाद के एक बड़े समर्थक, वान हेयक ने लिखा है कि "विकेन्द्रीकरण तथा स्वयचालित समन्वय (automatic coordination) के द्वारा आर्थिक समस्याओ को हल करने के मूल्याकन प्रक्रिया के इस तरीके के मुकाबले केन्द्रीय निर्देशन का तरीका अत्यन्त भद्दा, रूढिवाद तथा सीमित क्षेत्र वाला है।"[3] परन्तु मूल्याकन प्रक्रिया के सफल एव सरल सचालन के लिए यह आवश्यक है कि स्वतन्त्र बाजार हो, माँग एव सभरण की शक्तियां स्वतन्त्र हो, उन एकाधिकारी परिस्थितियो का अभाव हो जहाँ कि मूल्य का निर्धारण कृत्रिम रूप से विक्रेताओ द्वारा किया जाता है, द्रव्य तथा बैंकिंग की कुशल एव निष्पक्ष व्यवस्था विद्यमान हो और सरकार का हस्तक्षेप न हो।

(४) **आर्थिक स्वाधीनता** (economic freedom)—पूँजीवाद अर्थव्यवस्था का एक विशिष्ट लक्षण यह है कि इसके अन्तर्गत लोगो को अनेक प्रकार की आर्थिक स्वाधीनताएँ प्राप्त होती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे ऐसी प्रत्येक स्वाधीनता समान रूप से महत्त्वपूर्ण होती है। व्यक्ति तथा व्यावसायिक इकाइयाँ इस बात के लिए स्वतन्त्र होती है कि वे किसी भी चीज का उपभोग करे, उनके उपभोग की सीमा उनकी द्रव्य-आय से निश्चित होती है। उपभोग के स्वतन्त्र चुनाव से इस बात का निर्धारण होता है कि किस प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन किया जाये और कितनी मात्रा मे? उपभोग करने की स्वाधीनता मे ही बचत करने की स्वाधीनता भी निहित होती है कि वह अपनी स्वाभाविक योग्यता एव शिक्षा के अनुसार कोई भी कार्य एव अपना व्यवसाय चुन सके। उसे इस बात की भी स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी भी उद्योग मे रु० लगा सके। व्यक्ति को निवेश करने की जो स्वाधीनता प्राप्त होती है उससे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अनियोजित प्रकृति का निर्माण होता है। व्यक्ति को निजी सम्पत्ति की स्वाधीनता प्राप्त होती है जिसका अर्थ है कि व्यक्ति किसी भी प्रकार की सम्पत्ति के स्वामित्व, उपयोग तथा नियन्त्रण के विषय मे स्वतन्त्र होता है। इसके अतिरिक्त, सम्पत्ति के स्वामित्व तथा नियन्त्रण के इस अधिकार को राज्य द्वारा मान्यता तथा सुरक्षा प्रदान की जाती है, किन्तु साथ ही साथ उपभोक्ताओ, श्रमिकों तथा सामान्य रूप से समाज के हित मे राज्य द्वारा कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये जाते है। सम्पत्ति के स्वामित्व के द्वारा ही लोग इस बात का निश्चय करने मे समर्थ होते है कि वे अपने साधनो का किन स्रोतो मे उपयोग करें और किस प्रकार उपयोग करें। फिर निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार लोगों को भविष्य के लिए बचत तथा सचय करने की प्रेरणा देता है। उत्पादन के साधनो का निजी स्वामित्व ही पूँजीवाद का एक ऐसा लक्षण है जो इसको अन्य आर्थिक पद्धतियो से पृथक् करता है।

(५) **लाभ की प्रेरणा तथा व्यक्तिगत पहल** (profit motive and individual initiative)—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था लाभ की प्रेरणा तथा व्यक्ति की स्वत पहल पर आधारित होती है। उत्पादन करने वाली इकाइयाँ लाभ की प्रेरणा तथा अपनी व्यावसायिक गणनाओ के अनुसार कार्य करती है। वे अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया तथा समाज के आर्थिक कल्याण का कोई ध्यान नही रखतीं। वे तो केवल अपनी उत्पादन-लागतो तथा उपज की प्रत्याशित कीमतों का ही ध्यान रखती हैं। यदि उनकी गणनाएँ ठीक बैठती हैं तो उन्हे लाभ प्राप्त होता है, अन्यथा उन्हे हानि उठानी होती है। लाभ की प्रेरणा मे उत्पादन-क्रिया, साहस तथा जोखिम उठाने को प्रोत्साहन मिलता है। यह व्यावसायिक एव आर्थिक क्रियाओ की प्रकृति का निर्धारण करती है क्योकि साधन (resources) लगातार कम लाभ वाले उपयोगो की ओर को अन्तरित (shift) होते रहते है। लाभ की प्रेरणा ही उत्पादन मे कुशलता के लिए भी उत्तरदायी होती है।

3. Von Hayek Road to Serfdom, pp 49-50, "Compared with this method (i e the pricing process) of solving the economic problem by means of decentralisation plus automatic coordination the more obvious method of central direction is incredibly clumsy, primitive and limited in scope"

यहाँ उस महत्वपूर्ण योग का उल्लेख करना भी आवश्यक है जो कि उद्यमकर्ता पूँजीवाद पद्धति मे अदा करते हैं। देश की सम्पूर्ण उत्पादन-व्यवस्था उनके निर्देशन मे कार्य करती है। वे उत्पादन के उपादानो को किराय पर लेते हैं, वे ही माँग का अनुमान लगाते हैं और कभी कभी ता वे माँग का प्रभावित भी करते है। वे वस्तुओं व सेवाओ का उत्पादन करते है। वे ऐसे सभी प्रयोगो तथा परिवतनो को लागू करते हैं जो कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को एक गतिशील अर्थ-व्यवस्था बनाते है। इस बात की कल्पना करना भी बडा कठिन है कि उद्यमकर्ताओ के अभाव मे पूँजीवादी-व्यवस्था जरा भी अपना कार्य सम्पन्न कर सकती है। इस व्यवस्था मे प्रत्येक चीज उन पर ही केन्द्रित होती है।

सरकारी क्षेत्र का योगदान (the role of publice sector)—अन्त मे, इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र क्या कार्य सम्पन्न करता है। विशुद्ध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था म भी, सरकारी क्षेत्र विद्यमान होता है जो सामूहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है। सरकारी क्षेत्र की सेवाएँ दो प्रकार की होती हैं ऐसी सेवाएँ (जैसे कि डाक सेवाएँ) जिनम मूल्य निर्धारण की व्यवस्था कार्य करती है और अन्य ऐसी सेवाएँ जैसे कि प्रतिरक्षा, पुलिस सरक्षण तथा बाढ नियन्त्रण आदि की सेवाएँ, जिनमें मूल्यांकन प्रक्रिया (pricing drocess) का उपयोग नही किया जा सकता। दूसरे प्रकार की स्थिति मे, सरकार कर लगाती है और राष्ट्रीय आय का उपयुक्त भाग इन सामाजिक सेवाओं की अदायगी के रूप मे ले लिया जाता है। अभी हाल के वर्षों म, सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे पुराने पूँजीवादी देशो मे भी अर्थव्यवस्था क सरकारी क्षेत्र का महत्व शनै-शनै बढता रहा है।

निष्कर्ष मे, हम उन दो उल्लेखनीय सफलताओ का भी जिक्र कर सकते हैं जो गत दो शताब्दियो म पूँजीवाद ने प्राप्त की है। **सर्वप्रथम** इस व्यवस्था के द्वारा देश क उपलब्ध साधनो का सर्वाधिक कुशल, सर्वाधिक प्रभावशाली एव सर्वाधिक लाभप्रद रीति से उपयोग हुआ है। इसके कारण उत्पादन मे भारी वृद्धि हुई है और उसके फलस्वरूप लोगो का जीवन-स्तर ऊँचा उठा है। **द्वितीय,** इस व्यवस्था म उच्च कोटि की लोचशीलता भी पाई जाती है और वह इन बातो से कि बदलती हुई दशाओ एव बदलते हुए वातावरण मे इसने स्वय को भी परिवर्तित कर लिया है। जैसा कि **लूक्स तथा हूट्स** न कहा है कि 'इस व्यवस्था मे लोचनीयता (flexibility) अनुकूलनीयता (adaptability) तथा लचीलापन (resiliency) विद्यमान है जिसके कारण ही इसने अपने पर्यावरण ढाँचे (environmental setting) मे होने वाले अनेक परिवर्तनो के अनुरूप ही अपने रूप तथा अपनी प्रक्रिया म भी परिवर्तन कर लिया है।'[9] अन्त मे, इस व्यवस्था ने आर्थिक एव राजनैतिक स्वाधीनता प्रदान की है और न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप के विषय मे आश्वस्त रखा है।

पूँजीवाद की आलोचनाएँ (Attacks on Capitalism) :

जैसे जोरदार शब्दो मे पूँजीवाद का समर्थन किया गया है, उसी प्रकार इसकी तीव्र आलोचना भी की गई है। आलोचकों ने इसके अनेक गम्भीर दोषो का उल्लेख किया है और इस व्यवस्था को अन्यायपूर्ण, अकुशल तथा अपव्ययी बताया है। यहाँ हम पूँजीवाद की निम्न चार मुख्य आलोचनाओ का उल्लेख करेंगे —

(१) आय की असमानता (inequality of incomes)—इस व्यवस्था की सबसे पहली कमजोरी यह है कि यह आय तथा धन का असमान वितरण करती है। आर्थिक असमानता से सामाजिक एव राजनैतिक असमानता उत्पन्न होती है। यह असमानता स्वय इस व्यवस्था मे ही निहित है क्योंकि निजी सम्पत्ति का स्वतन्त्र उपयोग, स्वतन्त्र प्रतियोगिता तथा उत्तराधिकार आदि निश्चित रूप से धनियो को अधिक धनी और निर्धनो को अधिक निर्धन बनाते हैं। इसके अतिरिक्त, शिल्प कला सम्बन्धित परिवर्तनो के कारण उत्पादन की औसत इकाई इतनी

---

9 Loucks and Hoots Comparative Economic Systems p 65 "It has possessed a flexibility an adaptability and a resiliency which have permitted it to mould its forms and processes into conformity with innumerable changes in its environmental setting"

अन्तर्गत, सभी अति-सामान्य लाभ (super-normal profits) समाप्त हो जाते हैं और केवल सामान्य लाभ ही विद्यमान रहता है, जो कि प्रबन्धकीय श्रम का पुरस्कार होता है। प्रतियोगिता एक कसौटी (touch stone) है, नियामक (regulator) है और यान्त्रिक रचना है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण को अधिकतम करना सम्भव होता है। "जन-कल्याण के दृष्टि-कोण से, प्रतियोगिता कीमतो को नियन्त्रित तथा कम करती है, उन्नत उत्पादन एवं कुशलता की प्रेरक होती है, इस बात की गारन्टी देती है कि जो हम चाहेंगे, वह मिलेगा और उत्पादन की स्वाधीनता की रक्षा करती है।'[5] इसके साथ ही, प्रतियोगिता को समाप्त करने की प्रवृत्ति भी निरन्तर विद्यमान रहती है ताकि अधिकाधिक लाभ कमाये जा सकें। अत प्रतिस्पर्धा अर्थव्यवस्था में एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ (monopolistic tendencies) भी छिपी रहती हैं। "लाभ की प्रेरणा, जो कि अनियोजित निजी उद्यम व्यवस्था की एक मुख्य प्रेरक शक्ति होती है, का सतत् क्रियान्वयन ही एकाधिकारी नीतियो को जन्म देता है।"[6]

परन्तु यदि शोषण से बचना है और कीमतो को, कम से कम दीर्घकाल मे ही सही, लागत-स्तरो पर बनाये रखना है तो प्रतियोगिता का होना आवश्यक है। यही नही, व्यक्ति की प्रतियोगिता आवश्यक है, क्योकि केवल लाभ की प्रेरणा ही इसको नही बनाए रख सकती। यह प्रतियोगिता ही है जो अधिकतम कुशलता उत्पन्न करती है। प्रतियोगिता के कारण केवल वे ही लोग बाजार मे बने रह सकते है। जो कि वस्तुओ का उत्पादन तथा विक्रय निम्नतम कीमतो पर करते है। अत प्रतियोगिता प्रत्येक उत्पादक को बाध्य करती है कि वह कुशल तथा मितव्ययी बने, इसके साथ ही यह अकुशल उत्पादको को उखाड फेंकती है। इस प्रकार, उत्पादन मे अधिकतम कुशलता बनाए रखने का सतत एव निरन्तर प्रयत्न किया जाता है। जैसा कि जार्जहेम ने कहा है कि "प्रतियोगिता के द्वारा लाभो की कमी होने के कारण प्राप्त करने की लालसा सतत् नवीकरण से ही उन शक्तियों की लगातार प्राप्ति की गारन्टी मिल सकती है जिनके बिना अनियोजित अर्थव्यवस्था (unplanned economy) समुचित रूप से कार्य नही कर सकती। प्रतियोगिता के द्वारा उत्पन्न सरक्षण के बिना पूँजीवादी अर्थव्यवस्था जड, अनुत्पादक तथा शोषक बन जाती है।"[7]

(३) **गतिशील अर्थव्यवस्था** (dynamic economy)—गतिशीलता पूँजीवाद की एक प्रमुख विशेषता है। लाभ की प्रेरणा, व्यक्तिगत पहल और प्रतियोगिता पर टिकी हुई पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एव गतिशील अर्थव्यवस्था ही होती है। लाभ की जिज्ञासा अर्थव्यवस्था मे बार-बार उथल पुथल मचाये रखती है। जोसफ शुम्पीटर ने इस विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है, "पूँजीवाद स्वभावत ही आर्थिक परिवर्तन का एक रूप अथवा उपाय है, यह कदापि स्थिर नही हो सकता"'। जो मूल प्रवृति अथवा प्रेरणा पूँजीवादी इंजिन को गतिशील रखती है वह उन नई-नई उपभोक्ता वस्तुओ से आती है, उत्पाद की कया यातायात की उन नई विधियो से आती है, उन नये-नये बाजारो मे आती है तथा औद्योगिक सगठन के उन नये-नये रूपो से प्राप्त होती है जिन्हे कि पूँजीवादी उद्यम जन्म देता।"[8]

---

5 National Association of Manufacturers, Economic Principles Commission, quoted in George Steiner, '*Government's Role in Economic Life*", p 70, "From the point of view of public welfare, competition services as a regulator and reducer of prices as an incentive to improved production efficiency, as a guarantor that we shall get what we want, as a protector of the freedom of production "

6. George Halm ; *Economic Systems*, p 53, "Monopolistic policies are the out growth of the consistent application of the profit motive which is the main driving force of the unplanned private enterprise system "

7 Ibid, p 53, "Only the constant renewal of the acquisitive urge through elimination of profits by competition that guarantees the constant supply of those energise without which the unplanned economy could not work properly. Without the protection through competition, the Capitalist economy would become stagnant, unproductive and exploitative."

8. Joseph A. Schumpeter : Capitalism, Socialism and Democracy, pp. 82-83.

उनका विवेकीकरण (rationalisation) करते हैं, उपभोक्ताओं की माँग का सही अनुमान लगाते हैं और नई-नई वस्तुओं तथा वस्तुओं की नई-नई किस्मों का उत्पादन करते हैं। इन सभी मामलों मे, 'लाभकारिता' तथा 'उत्पादिता' साथ-साथ चलते है। परन्तु यदि वस्तुओं की कमी उत्पन्न करके अथवा उत्पादन के साधनों का अपव्यय करके लाभों मे वृद्धि की जाती है तो उससे अर्थव्यवस्था की उत्पादिता (productity) घटने लगती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे, ऐसा तब होता है जबकि (क) एकाधिकारी कीमतों मे तथा लाभों मे वृद्धि करने के लिए वस्तुओं की कृत्रिम कमी उत्पन्न कर देते है, और जब (ख) प्राकृतिक साधनों का शोषण फर्मों के अल्पकालीन लाभों के लिए किया जाता है और उसमे इस बात का कोई ध्यान नही रखा जाता है कि अर्थव्यवस्था पर उसके क्या दीर्घकालीन प्रभाव पड़ेंगे। उदाहरण के लिए, मिट्टी का कटाव (soil erosion) आदि। इन परिस्थितियों मे सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है।

दूसरे, प्रतियोगिता, जो कि पूँजीवाद की एक प्रमुख विशेषता है, अत्यधिक मात्रा मे भी हो सकती है। यदि प्रतियोगिता बहुत तीव्र है तो उससे देश मे उत्पादिता को प्रोत्साहन नही मिलेगा, अपितु इसके विपरीत, इसके कारण वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो सकता है और यदि उसे बाजार से नही हटाया गया तो उसके कारण व्यावसायिक मन्दी उत्पन्न हो सकती है, मनुष्यों मे बेरोजगारी फैल सकती है और सामग्री (material) की बहुलता उत्पन्न हो सकती है।

इस प्रकार, पूँजीवाद की आलोचना इसलिए की जाती है कि यह पर्याप्त मात्रा मे उत्पादनशील नही है, यद्यपि पूँजीवाद के समर्थकों का कहना यही है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे निजी पहल (private initiative) तथा लाभ की प्रेरणा (profit motive) उत्पादन को अधिकतम कर देती है।

(३) बेरोजगारी (unemployment)—पूँजीवाद की एक तीसरी आलोचना यह की जाती है कि इसके अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति नही लाई जा सकती और प्राकृतिक साधनों तथा साथ ही श्रम व पूँजी का भी अपव्यय होता है। परिणामस्वरूप, राष्ट्रीय आय की मात्रा सम्भावित अधिकतम (potential maximum) से नीचे ही रहती है। बेरोजगारी के प्रभाव नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से बड़े खतरनाक होते हैं। श्रीमती रोबिन्सन का कहना है कि "वर्तमान आर्थिक व्यवस्था उन सभी लोगों के लिए रोजगार उपलब्ध कराने मे असफल रही है जोकि काम करने के इच्छुक है। यह इस व्यवस्था के प्रमुख दोषों मे से एक सर्वस्वीकृत दोष है।"[11] आलोचकों का कहना है कि पूँजीवाद की अनियोजित प्रकृति ही इस बेरोजगारी के लिए उत्तरदायी है।

आयोजना रहित पूँजीवादी व्यवस्था मे, उपभोग, बचत तथा निवेश आदि को प्रभावित करने वाले लाखों निर्णय ऐसी फर्मों तथा ऐसे व्यक्तियों द्वारा स्वतन्त्र रूप से लिये जाते हैं जो कि कुछ भी करने को स्वतन्त्र होते है। मूल्य-व्यवस्था (pricing system) ऐसे ही निर्णय करने मे उनकी सहायता करती है और उनमे आवश्यक हेर फेर करने के लिए उत्तरदायी होती है। तथापि मूल्य-व्यवस्था ऐसे निर्णयों मे रद्दो-बदल करने मे असफल भी रहती है अथवा यह हो सकता है कि सभी मामलों मे, विशेष रूप से निवेश सम्बन्धी निर्णयों के सम्बन्ध मे वह समुचित मार्ग दर्शन न कर सके। इसके साथ ही गणनाओं (calculations) तथा अनुमानों मे भी गंभीर भूलें हो सकती हैं क्योंकि सम्पूर्ण व्यवस्था लाखों पृथक्-पृथक् इकाइयों के निर्णयों पर निर्भर होती है। फलस्वरूप, यह हो सकता है कि अर्थव्यवस्था सुचारू रूप से कार्य न कर सके और उसमे भारी उतार-चढ़ाव तथा बेरोजगारी उत्पन्न हो जाए।

(४) एकाधिकारी तथा शोषण (monopoly and exploitation)—अन्त मे, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का झुकाव एकाधिकारों की ओर होता है। उद्योगविद्या (technology) मे

11 John Robinson : Introduction to the Theory of Employment, p 1, "The modern economic system facts to provide employment continuously for all who desire to work. This is generally recognised as one of the major-defects of the system."

बड़ी हो गई है कि अधिकांश लोगों के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वे उन पर नियन्त्रण पाने के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन प्राप्त कर सकें। आय की असमानता को सभी विचारकों ने नैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक, सभी दृष्टिकोणों से अनुचित एवं अवाञ्छनीय बताया है। नैतिक दृष्टि से, यह किसी भी प्रकार न्यायपूर्ण नहीं है कि अपार साधनों के बीच निर्धनता बनी रहे। आर्थिक दृष्टि से, इसके कारण निर्धनों को समुचित अवसर कम मात्रा में प्राप्त होते हैं और व्यावसायिक चक्र (business cycle) प्रारम्भ हो जाता है। सामाजिक दृष्टि से, इसके कारण सम्पन्न तथा गैर-सम्पन्न लोगों के बीच वर्ग-संघर्ष (class conflict) शुरू हो जाता है। राजनैतिक दृष्टि से, इसके द्वारा धनिकों के हाथों में ही राजनैतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हुआ है और उन्होंने इसका उपयोग अपने अधिकारों तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए एवं निर्धनों का शोषण करने के लिए किया है। आय की असमानताओं को कई उपायों द्वारा कम किया जा सकता है, जैसे समुचित शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान करके, उच्चतर आय वाले वर्गों पर आरोही आय-कर तथा अन्य कर लगाकर और निम्न आय वाले वर्गों के लिए कल्याणकारी सेवाओं पर अधिक सरकारी खर्च करके। परन्तु इसके बावजूद, यदि निजी सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता जैसी पूँजीवाद की मुख्य विशेषताओं को बने रहने दिया गया, तो आय की असमानताओं को समाप्त करना असंभव ही है। हाँ, छोटे-मोटे सुधार हमेशा किये जा सकते हैं।

(२) अकुशल उत्पादन (inefficient production)—पूँजीवाद की एक आलोचना यह की जाती है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था के मुकाबले यह व्यवस्था कम उत्पादक है। आलोचकों का यह कहना है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत माँग में कमी हो सकती है जिसके फलस्वरूप बेकारी फैलती है और उत्पादिता (productivity) पर उसके प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। फिर, यदि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न भी कर दे, तब भी उत्पादन-स्तर उस स्तर से नीचा ही रहने की सम्भावना होती है जो कि समाजवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त किया जा सकता है। फ्रेन्ज-ओपेनहेनर (Franz Oppenheimer), जो कि पूँजीवाद के एक प्रमुख आलोचक थे, का कहना है कि *"पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन-कार्य वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाने* के लिए नहीं किया जाता अपितु उद्यमकर्त्ताओं के धन को बढ़ाने के लिए किया जाता है। उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य सामाजिक व्यवस्था के लिए अधिकतम उत्पत्ति करना नहीं होता, बल्कि व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था के लिए अधिकतम लाभ करना होता है। पूँजीवादी समाज में जिस अधिक से अधिक शक्तिशाली व्यवस्था का निर्माण होता है उसके द्वारा चालू माँग तो पूरी की जा सकती है किन्तु वह व्यवस्था इतनी शक्तिशाली नहीं होती कि उससे समाज की समस्त माँग पूरी की जा सके।"[10]

इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि पूँजीवादी व्यवस्था इतनी उत्पादक नहीं होती जितनी कि समाजवादी व्यवस्था होती है। यहाँ पर दो विशेष बातों का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रथम यह है कि लाभकारिता (profitability) सदा ही उत्पादिता (productivity) के साथ साथ नहीं चलती, अतः यह आवश्यक नहीं है कि लाभों पर आधारित निजी उद्यम व्यवस्था उत्पादिता के उच्च स्तर को ही छुये। उदाहरण के लिए, लाभकारिता का अर्थ है कि कोई विशेष आर्थिक क्रिया लाभ—अर्थात् कुल लागतों पर कुल आय की अधिकता-प्रदान करे। उत्पादिता में वे सब बातें सम्मिलित होती हैं जो मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की सम्भावनाओं में सम्मिलित होती है जो मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की सम्भावनाओं में स्थायी रूप से सुधार करें, प्रति मनुष्य घण्टे जितनी भी अधिक उपज हो वह पसंद की जाती है। किन्तु ऐसी प्रत्येक क्रिया जो उपज की उपयोगिता में वृद्धि करके अथवा उपज की मात्रा में वृद्धि करके किसी फर्म की लाभकारिता (profitability) बढ़ाती है, वह उत्पादक (productive) भी होती है। प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था (Competitive Economy) में उत्पादक (producers) न तो अपनी उत्पादित वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि कर सकते हैं और न अपने यहाँ उत्पादन के उपादानों के पारिश्रमिक में कमी कर सकते हैं। वे यदि कुछ कर सकते हैं तो यही कि वस्तुओं की लागत में कमी करके अपने लाभों में वृद्धि कर सकते हैं। परिणामस्वरूप, वे बड़ी उत्सुकता एवं लगन के साथ नई-नई एवं अधिक श्रेष्ठ उत्पादन विधियों का प्रयोग करते हैं, उत्पादन के उपादानों की बदली करते हैं,

---

10. Quoted by Halm, Economic Systems, p. 80.

अबन्ध नीति (laissez faire) के द्वारा सरकारी हस्तक्षेप का जो विरोध किया गया, उसके राजनैतिक कारण थे—अर्थात् सरकार की शक्ति एव सत्ता की वृद्धि के विरुद्ध स्वाधीनता की रक्षा करना और जब सरकार के कार्य अधिक बढ जाएँ तो उसमे अकुशलता को बढने से रोकना। तथापि, २०वी शताब्दी मे, सरकार को मुख्यत तीन कारणो से आर्थिक क्रियाओ मे अधिक महत्त्व-पूर्ण भाग अदा करना पड़ा।

(क) बढते हुए इस विश्वास के कारण कि सरकार आर्थिक प्रगति मे सहायता कर सकती है और इसको प्रोत्साहन दे सकती है, (ख) उद्योग विद्या अथवा शिल्पकला सम्बन्धी परिवर्तनो ने अबन्धनीति की मान्यताओ की अवास्तविकता प्रकट कर दी और सरकारी नियमन का क्षेत्र बढाने की आवश्यकता उत्पन्न कर दी, और (ग) अबन्धनीति की आर्थिक व्यवस्था की असफलता के कारण।

चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था कल्याण मे अधिकतम वृद्धि नही कर सकी और बेरोजगारी एकाधिकार तथा आय की असमानता जैसी कठिनाइयो के लिए उत्तरदायी रही है, अत सरकार ने इसकी कार्यप्रणाली मे हस्तक्षेप करने के लिये इसलिए पग उठाया ताकि इसका कार्य सही एव सुचारू रूप से चलाने मे मदद की जा सके। वर्तमान समय मे सरकारी नियन्त्रण तथा नियमन बहुत ही सामान्य सी बात हो गई है और इसके अनेक रूप हो गये हैं। प्रमुख रूप निम्नलिखित है —

सर्वप्रथम, यह हो सकता है कि सरकार उन रीतियो से, जिनके द्वारा कि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक साधनो का उपयोग किया जाता है, और उन तरीको से, जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याओ को सुलझाया जाता है सन्तुष्ट न हो। इन समस्याओ को सन्तोषजनक रूप से हल करने मे अर्थव्यवस्था की असफलता के कई कारण हो सकते हैं, उदाहरणत आय की असमानतायें या एकाधिकारी दशाओ की विद्यमानता अथवा मूल-व्यवस्था (price mechanism) की असफलता। इस प्रकार, वर्तमान समय मे सरकारी नियन्त्रण व नियमन अनेक रूपो मे कार्यशील होना है जैसे न्यूनतम मजदूरी के कानून, सामूहिक सौदेबाजी को प्रोत्साहन, एका-धिकार-विरोधी विधान जनोपयोगी उद्यमो का नियमन, साख नियन्त्रण तथा वाणिज्य सम्बन्धी कानून आदि।

दूसरे, सरकार कर पद्धति के द्वारा निजी व्यवसाय मे हस्तक्षेप करती है। उदाहरण के लिए, यह कर पद्धति का उपयोग इस प्रकार से कर सकती है जिससे कि सरकार के किसी भी आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति हो सके। विशेष रूप से, बडी आमदनिया को सीमित करने तथा आय की परम असमानताओ को कम करने मे तो कराधान का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट एव निश्चित है। इसके अतिरिक्त सरकार बेरोजगारी को दूर करने, पूर्ण रोजगार की स्थापना करने तथा सम्पूर्ण रूप मे अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के लिये राजकोषीय नीति (fiscal policy) का भी उपयोग कर सकती हैं जो कि कर, खर्च तथा सरकारी ऋण की नीतियो का ही एक सयुक्त रूप है।

तीसरे, सरकार अर्थव्यवस्था के ऐसे क्षेत्रो का राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरण कर सकती है जो सरकारी नियन्त्रण एव नियमन से बाहर निकले जा रहे हो। इस वर्ग मे अनेक ऐसे जनोपयोगी उद्यम सम्मिलित किये जा सकते है जिनको उपभोक्ताओ के सम्बन्ध मे व्यापक शक्तिय प्राप्त होती है।

अन्त मे सरकार कुछ ऐसी अनिवार्य सामूहिक सेवाओ की व्यवस्था करती है, जिनके बिना आधुनिक समय मे सामाजिक जीवन की कल्पना तक की जा सकती और जो स्वभावत ही निजी क्षेत्र पर नही छोडी जा सकती। यहाँ हमारा आशय राष्ट्रीय प्रतिरक्षा, कानून व व्यवस्था तथा न्याय के प्रशासन आदि से सम्बन्धित सेवाओ से है।

आधुनिक समय की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अबन्ध नीति का पूँजीवाद (laissez feire capitalism) नही है बल्कि वास्तव मे निजी प्रेरणा तथा सरकारी नियन्त्रण की एक मिली-जुली अर्थव्यवस्था है। इस सम्बन्ध मे दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से देखी जा सकती हैं। एक ओर तो, राज्य सामूहिकवाद (collectivism) तेजी से फैल रहा है और योरोप तथा एशिया के देश

सुधार होने तथा बड़े पैमाने में उत्पादन होने के कारण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में जो कि लाभ की प्रेरणा तथा प्रतियोगितापूर्ण संघर्ष पर आधारित होती है, एकाधिकारों के निर्माण की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है। अपने लाभों को बढ़ाने की इच्छा में, प्रतियोगी फर्में प्रतियोगिता की समाप्ति के लिये प्रयत्नशील रहती हैं (क्योंकि प्रतियोगिता से उनके लाभ कम होने लगता है)। अत: प्रतियोगिता के संघर्ष से एकाधिकारों का जन्म होता है। जैसा कि एक विचारक ने कहा है कि 'एकाधिकार का अर्थ है प्रतियोगिता का लोप (annulment) और साथ ही यह उसका तार्किक निष्कर्ष (logical conclusion) भी है।" परन्तु बेरोजगारी एक ऐसा दोष है जो पूँजीवाद के सभी गुणों का समाप्त कर देता है।

जब एकाधिकार (monopoly) प्रतियोगिता का स्थान ले लेता है तो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रकृति ही बदल जाती है क्योंकि इसके द्वारा पूँजीवाद की एक प्रेरक शक्ति अर्थात् प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। इसके साथ ही, अन्य मुख्य प्रेरक-शक्तियाँ (driving forces) उदाहरणत आत्महित (self-interest) तथा लाभ की प्रेरणा आदि बिना किसी रोक के पनपते रहते हैं। इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा निजी उद्यम, जो कि पूँजीवादी दर्शन शास्त्र के आधार हैं, आर्थिक शक्ति के एकधिकारी केन्द्रीयकरण के साथ-साथ जीवित नहीं रह सकते।

पुनश्च, एकाधिकार उपभोक्ताओं के और सम्पूर्ण रूप में समाज के ही हितों की बलि चढ़ा देता है। एकाधिकारों के आत्महित की अधिकता से उपभोक्ताओं की रक्षा करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं होता। एकाधिकारी (monopolist) को इतनी शक्ति प्राप्त होती है कि वह उपज को सीमित कर दे और वस्तुओं की कृत्रिम कमी दिखाकर अपने लाभों में वृद्धि कर ले। इस स्थिति में, लाभकारिता का उत्पादिता के साथ कोई मेल नहीं बैठता। एकाधिकार की विद्यमानता से व्यक्तियों द्वारा पहल करने का स्वयं प्रेरित लक्षण समाप्त हो जाता है और प्रतिस्पर्धा दबाव की कमी से यह भी हो सकता है कि उत्पादन की नई-नई विधियों को न अपनाया जाए।

इस प्रकार, एकाधिकारों की विद्यमानता के महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ते हैं। इसके अन्तर्गत लाभकारिता एवं उत्पादिता का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। मूल्य-व्यवस्था की कार्य पद्धति को हानि पहुँचाती है। एकाधिकारों से आय की असमानता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एकाधिकारों को समाप्त करने के सम्बन्ध में अनेक विवादास्पद मत प्रकट किये जाते हैं। पूँजीवाद के आलोचक यह तर्क देते हैं कि ऐसी व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाना चाहिये जो एकाधिकारों को प्रोत्साहन देती है और यह कि एकाधिकारी शक्ति केवल सरकार में ही निहित रखनी चाहिए। दूसरी ओर पूँजीवाद के समर्थकों का यह कहना है कि पूर्ण प्रतियोगिता की ऐसी परिस्थितियों की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम सम्भव मात्रा में हो।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकार का योग (The Role of the Goverment in Capitalist Economy)

प्रचीन सम्प्रदायक अर्थशास्त्रियों की मान्यता तो यह थी कि बाजार-व्यवस्था के कार्य सचालन में सरकार को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे हस्तक्षेप को अनुपयुक्त, अनुचित तथा अनावश्यक माना जाता था। प्रतिरक्षा तथा कानून व व्यवस्था की स्थापना के अलावा सरकार से निम्नलिखित तीन आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करने की आशा की जाती थी :—

(क) एक ऐसे एकरूप आर्थिक ढाँचे की स्थापना जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अधिक कुशलता तथा अधिक प्रभावी रीति से कार्य कर सकें, उदाहरणत सिक्का ढलाई, तौल व माप, वस्तु की कोटि के स्तरों की एकरूपता आदि।

(ख) कुछ ऐसी क्रियाओं की व्यवस्था करना जिनका प्रबन्ध निजी उद्यमकर्ता नहीं करते अथवा बहुत थोड़ी मात्रा में करते हैं, उदाहरण के लिए शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि की सुविधाएँ।

(ग) व्यक्तियों के विवादों को सुलझाना और कमजोरों को धनियों के शोषण से बचाना।

जार्ज हैम (George Halm) ने लोकतन्त्रीय अथवा उदार समाजवाद (Democratic or Liberal Socialism) तथा सत्तावादी या समग्रवादी समाजवाद (authoritation or Totalitarian Socialism) के बीच भेद किया है। यह भेद वास्तव में बड़ा उपयोगी है और वर्तमान समय के समाजवादी देशों का रूप स्पष्ट करने के लिए बड़ा आवश्यक है। लोकतन्त्रीय समाजवाद में उत्पादन के कम से कम उन भौतिक साधनों पर तो अवश्य ही सरकार का स्वामित्व होता है जो सामयिक महत्त्व के होते हैं और साथ ही साथ इसके अन्तर्गत, उपभोग तथा व्यवसाय की स्वाधीनता को भी बनाये रखा जाता है। किन्तु समग्रवादी समाज में, उत्पादन के सभी भौतिक साधनों पर सरकार का स्वामित्व होता है और उपभोग की स्वतन्त्रता तथा व्यवसाय चुनने की स्वाधीनता या तो पूर्णतया समाप्त कर दी जाती है अथवा उस पर भारी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। केन्द्रीय योजना के द्वारा ही इस बात का निश्चय किया जाता है कि "किस चीज का उत्पादन किया जाये, कितना उत्पादन किया जाये और किन रीतियों से किया जाए ?" जहाँ पश्चिमी लोकतन्त्रीय देशों के अधिकांश समाजवादियों का लक्ष्य लोकतन्त्रीय समाजवाद (democratic socialism) है, वहाँ रूस तथा उस जैसी विचारधारा वाले अन्य देशों का लक्ष्य है समग्रवादी अथवा सत्तावादी समाजवाद, जिसे साम्यवाद (communism) भी कहा जाता है।

अतः समाजवाद की व्याख्या करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि इसके विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया जाये और पूँजीवाद से उनकी तुलना की जाये।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के लक्षण (Feature of a Socialist Economy).

(१) उद्देश्यपूर्ण अर्थव्यवस्था (economy with a purpose)—समाजवाद पूँजीवाद का स्थान लेने के लिए प्रयत्नशील है। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था व्यक्तिवादी उत्पादन पर आधारित है और यह व्यवस्था "मूलतः ही अन्धी, उद्देश्यहीन व अविवेकी है तथा अनेक अत्यावश्यक मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने में भी असमर्थ है।"[16] समाजवादी अर्थव्यवस्था न तो अन्धी है और न अविवेकी। साथ ही इसके सुनियोजित लक्ष्य होते हैं और विवेकपूर्ण सतत् प्रयत्नों के द्वारा उनको पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। इस अर्थ में ही समाजवादी अर्थव्यवस्था को व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था (Individualistic Economy) से भिन्न सामूहिकवादी अर्थव्यवस्था (Collectivist Economy) कहा जाता है। इसके बावजूद, यह व्यवस्था बाजार-शक्तियों तथा मूल्य-व्यवस्था का उपयोग कर सकती है परन्तु यह इनको इस बात की अनुमति नहीं देती कि ये अर्थव्यवस्था की उत्पादन एवं वितरण सम्बन्धी प्रक्रियाओं को प्रभावित करें।

(२) केन्द्रीय आयोजन (central planning)—समाजवादी अर्थव्यवस्था को एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता होती है जो कुछ सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों का निर्धारण एवं उनकी पूर्ति कर सके। इस सत्ता (authority) को अनिवार्य रूप से इतनी शक्ति प्रदान करनी होगी कि यह एक निश्चित योजना के अनुसार उत्पादन को सही दिशा प्रदान कर सके। उसके लिए दो बातें आवश्यक होंगी —

(क) समाजवादी अर्थव्यवस्था को केन्द्रीभूत होना होगा। लोकतन्त्रीय समाजवाद में भी ऐसा अवश्य होगा और साम्यवाद के अन्तर्गत तो यह व्यवस्था समग्रवादी (totalitarian) बन जायेगी। समाजवादी अर्थव्यवस्था में उपभोग की स्वतन्त्रता होगी व्यवसाय को चुनने की स्वतन्त्रता होगी, और कुछ सीमित मात्रा में सरकारी उद्यमों के प्रबन्धकों को भी स्वतन्त्रता होगी। किन्तु इन सब के बावजूद, उत्पादन का लक्ष्य लाभ या आत्महित न होकर सामाजिक कल्याण ही होगा।

(ख) समाजवादी अर्थव्यवस्था एवं केन्द्र द्वारा आयोजित अर्थव्यवस्था में, लाभ की प्रेरणा तथा स्वसंचालित मूल्य-प्रक्रिया (automatic pricing process) विद्यमान नहीं होती। अतः नियन्त्रणकारी सत्ता को अनिवार्यतः ही सभी भौतिक एवं मान-

16 H.D. Dickinson : op. cit., p 6, "Capitalism......is fundamentally blind, purposeless, irrational and is capable of satisfying many of the most urgent human needs"

तेजी से समाजवादी अथवा सामूहिकवादी अर्थव्यवस्थाएँ अपनाते जा रहे है। इस आन्दोलन का प्रारम्भ सोवियत रूस से हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे तथा उसके पश्चात् रूस को जो सफलता मिली उससे इसको व्यापक प्रोत्साहन मिला। दूसरी ओर, कुछ थोडे से पूँजीवादी देश समाजवादी दुनिया को यह दिखाने के लिए भारी सघर्ष कर रहे हैं कि पूँजीवादी जीवन-पद्धति ही श्रेष्ठ है। आधुनिक समय को पूँजीवादी सभ्यता का परीक्षण-काल कहा जा सकता है।

(II) समाजवादी अर्थव्यवस्था

(The Socialist Economy)

चूँकि समाजवाद (Socialism) की कोई सार्वलौकिक रूप मे स्वीकृत परिभाषा नही है अत समाजवादी अर्थव्यवस्था का कोई भी निर्वाचन भ्रम तथा जटिलता उत्पन्न कर सकता है।[12] विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने समाजवाद की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। वैब्स के अनुसार "समाजवाद का एक मुख्य लक्षण यह है कि उद्योग तथा सेवाएँ, उन उत्पत्ति के साधनो सहित जिनकी उन्हे आवश्यकता है, व्यक्तियों के स्वामित्व मे नही रहनी चाहिए और औद्योगिक व सामाजिक शासन सगठन व्यक्तिगत लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य से नही किया जाना चाहिए।"[13] वैब्स के अनुसार, समाजवादी उद्योग एक ऐसा उद्योग होता है जिसमे उत्पादन के साधनो पर सरकारी सत्ता या ऐच्छिक सगठन का स्वामित्व होता है और उसका सचालन निजी लाभ के लिए नही, बल्कि सार्वजनिक सत्ता के लिए प्रत्यक्ष सेवाओ की व्यवस्था हेतु किया जाता है। वैब्स की समाजवाद की परिभाषा काफी समय तक समाजवादियो द्वारा स्वीकार की जाती रही। परन्तु आजकल इसको इसलिये स्वीकार नही किया जाता क्योंकि यह समाजवाद के आधुनिक विचार के अनुरूप नही है जिसमे कि नियोजन भी सम्मिलित है।

लुक्स व हूट्स ने समाजवाद की गुत्थी को इन शब्दो मे सुलझाया · "समाजवाद उस आन्दोलन का सूचक है जिसका उद्देश्य बडे पैमाने के उत्पादन मे काम आने वाली सभी प्रकार की प्राकृतिक एव मनुष्यकृत उत्पादकीय वस्तुओं का स्वामित्व एव प्रबन्ध व्यक्तियों के स्थान पर सम्पूर्ण समाज के हाथ मे देना होना है और लक्ष्य यह होता है कि व्यक्ति की आर्थिक प्रेरणा, उसकी व्यावसायिक स्वाधीनता तथा उपभोग के चुनाव को कोई हानि पहुँचाये बिना ही बढी हुई राष्ट्रीय आय का अधिक समान वितरण हो जाय।"[14] एच० डो० डिकिन्सन एक ऐसे प्राचीन लेखक थे जिन्होने समाजवाद की एक 'विस्तृत और सभवत. सर्वोत्तम' परिभाषा दी। डिकिन्सन के अनुसार, समाजवाद समाज का एक ऐसा आर्थिक सगठन है जिसमे, एक सामान्य आर्थिक योजना के अनुसार, उत्पादन के भौतिक साधनो पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होता है और समाज के सभी सदस्य *समान अधिकारो के आधार पर ऐसे समाजवादी नियोजन के उत्पादन* का लाभ प्राप्त करते है।"[15]

---

12 Within the field socialism, we find many sub-sections such as Christian Socialism, State and Marxian Socialism, Guild Socialism, Fabian or evolutionary Socialism etc.

13 *Sydney and Beatrice Webb, The Decay of Capitalist Civilisation* p. 2. "The essential feature in socialisation is that industries and services, with the instrument of production which they require, should not be owned by individuals and that industrial and social , should not be organised for the purpose of obtaining profit,"

14 Loucks and weldon Hoots · *Comparative Economic Systems*, "Socialism refers to the movement which aims at vesting in society as a whole, rather than in individuals, the ownership and management of all nature made and man-made producers' goods used or large scale production to the end that an increased national income may be more equally distributed without materially destroying the individual's economic motivation or his freedom of occupational and consumption choices."

15. H. D. Dickinson *The Economics of Socialism* p 10, "Socialism is an economic organisation of society in which the materials means of production are owned by the whole community according to a general economic plan, all *members being entitled* to benefit from the results of such socialised planned production on the basis of equal rights."

की घटती उपयोगिता के सिद्धान्त को छोड दिया है किन्तु अन्य तर्कों के आधार पर आरोहण का समर्थन किया है।[19]

आरोही कराधान के पक्ष मे दूसरा प्रसिद्ध तर्क सैलिगमैन (Seligman) ने दिया है। सैलिगमैन ने सामर्थ्य को वस्तुपरक उत्पादक शक्ति विचारधारा (objective faculty concept of ability) का प्रतिपादन किया। यह विचारधारा अदा करने की सामर्थ्य की व्यक्तिपरक सीमान्त उपयोगिता की विचारधारा से भिन्न थी। सैलिगमैन का विचार था कि उत्पादन करने तथा उपभोग करने की क्षमता मे धन तथा आय के मुकाबले तीव्रगति से वृद्धि होती है अत. उसने इस बात का समर्थन किया कि पूंजी तथा आय मे वृद्धि के साथ ही साथ करो की दरो मे भी वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु अदा करने की सामर्थ्य का यह उत्पादक-शक्ति का सिद्धान्त (faculty principle) तथा आरोहण का औचित्य (justification of progression) केवल तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि यह सिद्ध हो जाए कि पूजी तथा आय की तुलना मे उत्पादक-शक्ति अधिक तीव्रगति से बढती है। इस सम्बन्ध मे कम से कम निम्न दो कठिनाइयाँ अवश्य सामने आती हैं :—

सर्वप्रथम, इसके बावजूद भी एक पूंजी तथा आय की तुलना मे उत्पादकशक्ति अधिक तीव्र दर से बढ़े, एक ही समय मे विभिन्न व्यक्तियो के बीच और विभिन्न समयो मे एक व्यक्ति की वृद्धि की दर स्पष्टत एक समान नही होगी, परिणामस्वरूप आरोहण का क्रम भी बिलकुल अनिश्चित होगा। दूसरे, सभी मामलो मे इस तर्क को बनाये रखना बडा कठिन होगा कि उत्पादक-शक्ति आय के मुकाबले तीव्र दर से बढ़ती है। चूकि धन से ही धन पैदा होता है अत स्वय अपने आप ऐसा नही होता कि उत्पादक-शक्ति की दर आमदनियो के मुकाबले अधिक तीव्र दर से बढती हो। इसके विपरीत, यह हो सकता है कि उत्पादक-शक्ति उसी दर से अथवा उमसे भी नीची दर से बढ़े क्योकि इसकी वृद्धि विनियोग (investment) से प्राप्त प्रतिफल की दर पर निर्भर होती है। इस प्रकार, सदिग्ध उत्पादक-शक्ति (doubtful faculty) पर आधारित आरोहण (progression) आलोचना से मुक्त नही हो सकता।

आरोहण के पक्ष मे प्रस्तुत किये जाने वाले **तीसरे** तर्क को "सामाजिक तर्क" (social argument) का नाम दिया जा सकता है और जो वस्तुत अनेक सम्बन्धित सामाजिक तर्कों का ही एक सयुक्त रूप है। एक तर्क यह है कि सामान्य भलाई की दृष्टि से सामाजिक जिम्मेवारियो को पूरा करने के लिए आरोही कराधान ठीक है क्योकि यह आवश्यक है कि शक्तिशाली निर्बलों की सहायता करे और धनी निर्धनो की सहायता दें। दूसरा तर्क यह है कि आरोही कर "सामाजिक प्रगति के लिए एक इजिन" के समान हैं, अर्थात् इनके द्वारा आय का अधिक समन्यायपूर्ण वितरण करके और सामाजिक दृष्टि से वाछनीय खर्चों की व्यवस्था करके इनका प्रयोग सामाजिक प्रगति को तेज करने मे किया जाना चाहिए। तीसरा सामाजिक तर्क यह है कि आय के अधिक श्रेष्ठ वितरण से देश के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी और यह कि कराधान तथा सरकारी व्यय के द्वारा आय की असमानताओ मे कमी करके ऐसा वितरण किया जा सकता है। कैल्डोर (Keldor) ने यह सिद्ध किया है कि आर्थिक असमानताओं को कम करने की इच्छा, आमदनियों पर भार की दृष्टि से अत्यधिक आरोही कर पद्धति को अपनाने की सबसे महत्वपूर्ण प्रेरणा तथा इसका सबसे बडा औचित्य (justification) है।

निष्कर्ष (Conclusion)

इस प्रकार, आधुनिक सामाजिक नीतिशास्त्र के आधार पर आरोहण का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। आरोही कराधान सरकार के लिए केवल अधिक राजस्व प्राप्ति के लिए ही आवश्यक नहीं होता, अपितु आय की असमानताओ को कम करने के लिए भी आवश्यक होता है। यह बात अब सर्वमान्य रूप मे स्वीकार की जाती है कि यदि आरोही कराधान की दरें अत्यधिक ऊँची न हो, तो इसके आर्थिक एव सामाजिक प्रभाव हानिकारक नहीं हो सकते। इस बात को तो अब सामान्यत धनी व्यक्तियों द्वारा भी न्यायपूर्ण माना जाता है कि

---

19 E D Fagan : "Recent and Contemporary Theories of Progressive Taxation *Journal of Political Economy*, 1938", pp 457-498

वीय साधनों का बँटवारा एक निश्चित योजना के अनुसार और कुछ निश्चित सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों के अनुसार करना होता है। डिकिन्सन ने केन्द्रीकृत नियोजन की आवश्यकता तथा उसकी प्रकृति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है, "आर्थिक आयोजना का अर्थ है, सुनिश्चित अधिकारी के विवेकपूर्ण निर्णय के द्वारा और सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर प्रमुख आर्थिक निर्णय करना—अर्थात् यह कि कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा में उत्पन्न की जाये, कैसे, कब और कहाँ उत्पन्न की जाये और किस-किस में उसका वितरण किया जाये।"[17]

जैसा कि प्रो० पीगू ने कहा है कि केन्द्रीकृत आयोजन के अलावा अन्य किसी रूप में समाजवाद की कल्पना करना असम्भव है।[18] उत्पादन के भौतिक साधनों पर जिस सीमा तक सरकार का स्वामित्व होता है, वहाँ तक तो स्पष्टत: ही उनका बँटवारा (allocation) पूर्व-विचारित एवं पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार किया जाता है। लोकतन्त्रीय तथा समग्रवादी समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं के बीच भी भिन्न-भिन्न प्रकार का केन्द्रीय नियोजन होता है। लोकतन्त्रीय समाजवाद में जो केन्द्रीय नियोजन अथवा केन्द्रीय आयोजन होता है उसमें आर्थिक स्वाधीनता तथा सामान्य मूल्य-व्यवस्था भी वर्तमान होती है। किन्तु सत्तावादी या समग्रवादी समाजवाद में, केन्द्रीय नियोजन के साथ स्वतन्त्र मूल्य-व्यवस्था (free price mechanism) विद्यमान नहीं होती, यद्यपि तानाशाह यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि केन्द्रीय नियोजन के साथ उपभोक्ताओं, श्रमिकों तथा सरकारी उद्यमों के प्रबन्धकों को काफी मात्रा में स्वाधीनता भी दी जा सकती है।

(३) सामूहिक स्वामित्व (collective ownership)—समाजवाद अर्थव्यवस्था में, उत्पादन के साधनों पर सामाजिक अथवा सामूहिक स्वामित्व होता है, यद्यपि इसमें इस बात की अनुमति दे दी जाती है कि छोटे-छोटे फार्म, संयन्त्र तथा व्यवसाय प्राइवेट व्यक्तियों के अधिकार में बने रहें। समाजवाद की यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व के कई महत्वपूर्ण परिणाम सामने आते हैं। प्रथम, तो यह है कि इसमें लाभ की प्रेरणा तथा आत्म-हित की भावना आर्थिक क्रियाओं की प्रेरक शक्ति नहीं बनी रहती। इसके स्थान पर साधनों का उपयोग कुछ सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। दूसरे, सरकार को साधनों का उपयोग करने के लिए प्रबन्ध की कुछ उपयुक्त व्यवस्थाओं की रूपरेखा बनानी होती है। उत्पादन के साधनों की प्रबन्ध-व्यवस्था या तो प्रत्यक्ष रूप से सरकारी विभागों द्वारा की जाती है अथवा विशेष रूप से नियुक्त निगमों द्वारा।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित है कि समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं तक में भी निजी क्षेत्र विद्यमान रहता है। परन्तु चूँकि निजी क्षेत्र (private sector) छोटी-छोटी इकाइयों में बँटा होता है—यद्यपि कभी-कभी ये इकाइयाँ बहुत अधिक होती है— अत ये इकाइयाँ अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। सभी उद्योगों, वितरक एजेन्सियों, परिवहन व संचार व्यवस्थाओं और वित्तीय संस्थाओं पर सरकार का स्वामित्व व प्रबन्ध होता है। अत. निजी क्षेत्र को अनिवार्य रूप से ही सरकारी क्षेत्र तथा सरकार द्वारा नियन्त्रित उद्योगों एवं संस्थाओं पर निर्भर रहना होता है। 'समाजवादी अर्थव्यवस्था में प्राइवेट फर्मों की वही स्थिति होगी जो कि पूँजीवाद में सरकारी स्वामित्व के निगमों की होती है।"[19]

(४) आर्थिक स्वाधीनताएँ (economic freedoms)—समाजवादी अर्थव्यवस्था उपभोग तथा व्यवसाय का स्वतन्त्र रूप से चुनाव करने की अनुमति प्रदान करती है। उपभोग के

---

17. *Ibid*, p. 14, "Economic planning is the making of major economic decisions—what and how much is to be produced, and to whom it is to be allocated—by the conscious decision of a determinate autharity, on the basis of a comprehensive survey of the economic system as a whole"

18. Pigou · *Socialism Vs Capitalism*.

19. George Halm : Economic Systems, p 196, "Private firms will be enclaves, in the socialist economy, just as publicly-owned corporation at enclaves, In Capitalism."

स्वतन्त्र चुनाव में दो बातें निहित होती है—(क) पहले से ही उत्पादित वस्तुएँ उपभोक्ताओं को बिना किसी प्रतिबन्ध के उपलब्ध होती है, और (ख) सामान्य रूप से उत्पादन का निश्चय उपभोक्ताओं के चुनाव के अनुसार किया जाता है। अन्य शब्दों में, उपभोक्ता का प्रमुख समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार कि वह पूँजीवाद में होता है। लोकतन्त्रीय समाजवादी तथा समग्रवादी समाजवादी, दोनों ही इस बात को पसन्द करते है कि उनकी पद्धतियाँ उपभोग की स्वाधीनता का आश्वासन दें। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि सत्तावादी अथवा समग्रवादी समाजवाद में, अर्थात् साम्यवाद में, नियोजन करने वाली सत्ता उपभोक्ताओं को पहले से ही उत्पादित वस्तुओं में से चुनाव करने की स्वतन्त्रता तो दे सकती है परन्तु उपभोक्ताओं को इस बात की अनुमति कदापि नहीं दे सकती कि वे इस बात का चुनाव करें कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और किन का कितना वितरण किया जाए? फिर, उपभोक्ता की पसन्द अत्यधिक अनिश्चित तथा अदूरदर्शी होती है, किन्तु सरकार की केन्द्रीय योजना निश्चित तथा बिल्कुल स्पष्ट होती है। इस प्रकार सत्तावादी समाजवाद के केन्द्रीय नियोजन में तथा उपभोक्ता की पसन्द में स्पष्ट विरोधाभास पाया जाता है। आर० एल० हॉल ने इस बात को और स्पष्ट किया है, जिनके अनुसार, "समाजवादी अर्थव्यवस्था में, मौलिक स्वतन्त्रता के रूप में वस्तुओं के चुनाव की स्वतन्त्रता तो हर हालत में व्यक्ति पर ही छोड़ दी जाती है किन्तु उपभोग तथा उत्पादन का निश्चित रूप से केन्द्रीय योजना में फिट होना पड़ता है।"[20]

उदार अथवा लोकतन्त्रीय समाजवादी अर्थव्यवस्था में, उपभोग के स्वतन्त्र चुनाव के समान ही व्यवसाय का स्वतन्त्र रूप से चुनाव करने की भी सुविधा प्राप्त होती है। श्रमिक इस बात के लिए स्वतन्त्र होते है कि वे एक व्यवसाय में दूसरे व्यवसाय में और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जा सकें। परन्तु समग्रवादी समाजवाद की अर्थव्यवस्था में, श्रमिकों को ऐसी स्वतन्त्रता पर बड़े प्रतिबन्ध लगाये जाते है और कभी-कभी तो इसे बिल्कुल समाप्त भी कर दिया जाता है। जैसा कि हेम ने कहा है कि "कोई भी समग्रवादी अर्थव्यवस्था जितनी भी कम या अधिक मात्रा में अपने उत्पादन को उपभोक्ताओं की इच्छा पर आधारित बनायेगी और जितनी भी कम या अधिक मात्रा में वह श्रमिकों के आवागमन पर से प्रतिबन्ध हटायेगी, उतनी ही वह समाजवादी अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था बन जायेगी।"[21]

(५) **आय की समानता** (Equality of Incomes)—आय की सापेक्षिक समानता समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यह समझा जाता है कि आमदनियों में पूर्ण समानता लाना असम्भव है। मजदूरी का अन्तर और पूँजी का सचय आवश्यक भी होता है और लाभदायक भी। अत यह निश्चित भी होता है कि लोगों की आमनदनियों में कुछ अन्तर रहे। परन्तु आमनदनियों के ये अन्तर इतने बड़े नहीं होते जितने कि पूँजीवाद में होते है। एक तो इसलिए, चूँकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में, निजी सम्पत्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता और लाभ की प्रेरणा समाप्त कर दी जाती है। इस प्रकार, असमानता का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्रोत नष्ट कर दिया जाता है। दूसरे, इसमें मजदूरियों के अन्तर भी कम होते हैं और पूँजी का बड़ी मात्रा में सचय करने के लिए अवसर भी उपलब्ध नहीं होते। आय का वितरण व्यक्ति तथा परिवारों के प्रयत्न के अनुसार नहीं, अपितु उनकी आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। निजी सम्पत्ति तथा अनर्जित आय के अन्य स्रोतों की समाप्ति में शिक्षण की सुविधाओं तथा अवसरों की समानता प्राप्त होती है। परिणामस्वरूप समाजवादी अर्थव्यवस्था पूँजीवाद के मुकाबले आय के वितरण में अधिक समानता लाने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

---

20 R L Hall *The Economic System in a Socialist State*, p 41-42 "The socialist economy involves the abandonment of free choice to the individual, at any rate as a fundamental liberty consumption and production must fit into the central scheme"

21. George Halm *Economic System*, p 196, "To the degree to which totalitarian economics would be willing to have production guided by the consumer and to which they would revedue restrictions to the movements of labour, they would become socialist or capitalism economics"

(३) **मूल्यांकन प्रक्रिया का अस्तित्व** (existence of pricing process)—समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, मूल्यांकन व्यवस्था को भी पर्याप्त महत्व दिया जाता है। मूल्य-व्यवस्था का अस्तित्व इस मान्यता मे ही निहित है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था उपभोक्ताओ के स्वतन्त्र चुनाव तथा व्यवसायो के स्वतन्त्र चुनाव पर आधारित होती है। उत्पादन तथा आर्थिक साधनो का बँटवारा काफी मात्रा मे मूल्य-व्यवस्था द्वारा ही निर्धारित एव नियन्त्रित होता है। तथापि, इसको समाजवादी अर्थव्यवस्था मे उतनी महत्ता प्राप्त नही होती जितनी कि पूँजीवादी व्यवस्था मे प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था होती है, अर्थात् इनमे उत्पादकीय साधनो का वितरण एक पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार करना होता है। इसके अतिरिक्त, इस व्यवस्था मे उत्पादन के साधन (means of production) मुख्यतः सरकार के ही हाथो मे होते हैं और उनका उपयोग मूल्य-व्यवस्था तथा लाभ की प्रेरणा के आधार पर नही किया जाता। समाजवादी अर्थव्यवस्था मे मूल्यांकन प्रक्रिया स्वतन्त्र बाजार शक्तियो (free market forces) की प्रतीक नही होती बल्कि आर्थिक साधनो के सरकारी नियन्त्रण की प्रतीक होती है।

समाजवाद के गुण (Merits of Socialism)

समाजवादी लोग आर्थिक सगठन की समाजवादी पद्धति के अनेको लाभों का उल्लेख करते है। प्रमुख लाभ निम्नलिखित है —

(१) **देश के आर्थिक साधनो का सर्वोत्तम उपयोग**—यह कहा जाता है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था देश के आर्थिक साधनो के सर्वोत्तम उपयोग के विषय मे आश्वस्त करती है, यद्यपि इसी प्रकार का दावा पूँजीवादी पद्धति की ओर से भी किया जाता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, जहाँ आर्थिक साधनो का सर्वोत्तम उपयोग लाभ की प्रेरणा (profit motive) तथा आत्म-हित (self-interest) पर निर्भर होता है, वहां समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, यह कार्य सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण पर आधारित केन्द्रीय नियोजन द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसके साथ ही, समाजवादी अर्थव्यवस्था से अनिश्चितता (uncertainity), अत्युत्पादन तथा न्यून-उत्पादन, सट्टेबाजी, आर्थिक अपव्यय जैसे वे लक्षण नही पाये जाते जो कि पूँजीवादी स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था मे विशेष रूप से पाये जाते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था मे चूँकि निजी लाभ का कोई अस्तित्व नही होता, अत उत्पादन अधिक लाभकारी वस्तुओ से हटकर समाज के लिए अधिक उपयोगी वस्तुओ पर केन्द्रित होने लगता है। फिर, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, अपने लाभो को कुछ पिछडे क्षेत्रो अथवा उद्योगो के विकास पर यथेष्ट मात्रा मे व्यय नहीं करती वहाँ समाजवादी अर्थव्यवस्था ऐसी भूलें नही करती। समाजवादी अर्थव्यवस्था (socialist economy) मे पिछड़े से पिछडे क्षेत्रो को भी विकसित होने मे सहायता प्रदान की जाती है। अत एक समाजवादी अर्थव्यवस्था आर्थिक साधनो का उपयोग सर्वाधिक कुशल तरीके से करती है।

(२) **किन-किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाये** — समाजवादी अर्थव्यवस्था इस समस्या का अधिक अच्छा हल प्रस्तुत करती है कि किन-किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाए और कितनी-कितनी मात्रा मे ? यह व्यवस्था लाभ की प्रेरणा तथा प्राइवेट व्यक्तियो के आत्महित को स्वीकार नही करती। अत यह इस बात के लिये स्वतन्त्र होती है कि सरकार द्वारा अधिकृत उत्पादन के भौतिक साधनो का प्रयोग ऐसी वस्तुओ तथा सेवाओ को उत्पन्न करने मे करे जो कि वास्तव मे जनता के लिए उपयोगी हो। उत्पादन केवल समर्थ माँग (effective demand) से ही प्रभावित नही होता, अपितु लोगो की वास्तविक आवश्यकताओ के अनुमान से प्रभावित होता है। अनेक वस्तुएँ, जिनका उपयोग स्वास्थ्य तथा कुशलता की दृष्टि से आवश्यक समझा जाता है, निशुल्क अथवा लागत से भी कम मूल्य पर प्रदान की जाती है।

(३) **चक्रीय उतार-चढ़ावों पर रोक**—समाजवादी अर्थव्यवस्था व्यावसायिक क्रियाओ मे उत्पन्न होने वाले चक्रीय उतार-चढावो (cyclical fluctuations) को रोकती है जिससे अर्थ-व्यवस्था का सचालन होता रहता है। एक अयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (planned economy) मे, सभी प्रकार की बेरोजगारी समाप्त कर दी जाती है, व्यावसायिक उतार-चढाव रोक दिये जाते हैं और स्थिरता बनाये रखी जाती है। एक पिछड़े देश मे, तीव्र बेरोजगारी तथा अपूर्ण-रोजगार

(under employment) को समाजवादी नियोजन द्वारा दूर कर दिया जाता है और अर्थव्यवस्था को इस योग्य बना दिया जाता है कि वह आर्थिक विकास के उच्च स्तर की ओर तीव्र एवं सतत् गति से बढ सके।

(४) **तुलनात्मक समानता का लाभ**—समाजवादी अर्थव्यवस्था आय मे तुलनात्मक समानता उत्पन्न करती है और शिक्षा तथा व्यवसाय के मामले मे सभी को समान अवसर प्रदान करती है।

(५) **आर्थिक स्वाधीनता के लाभ**—समाजवादी अर्थव्यवस्था आर्थिक स्वाधीनता के लाभो के विषय मे भी आश्वस्त कर सकती है। विशेष रूप से उपभोक्ताओ की स्वाधीनता और व्यवसाय या धन्धे का चुनाव करने की स्वाधीनता।

समाजवाद के दोष (Defects or Demerits of Socialism)

(१) **लागत की गणना के समुचित आधार का अभाव**—समाजवादी अर्थव्यवस्था के विरुद्ध एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि इसमे लागत की गणना (cost calculation) का कोई समुचित आधार उपलब्ध नही होता, और ऐसे आधार के अभाव मे अर्थव्यवस्था न तो कुशलता के साथ कार्य कर सकती है और न साधनो का सर्वोत्तम सम्भव तरीके से बँटवारा ही कर सकती है। यह आलोचना सर्वप्रथम **वोन माइसस** द्वारा की गई थी और इस सदी की दूसरी व तीसरी दशाब्दि मे इस पर भारी विवाद छिड गया। जार्ज हेम, वॉन हेयक, रोबिन्स, ओस्कार लंज, टेलर, मोरिस डोब, डिकिन्सन तथा ऐसे ही अन्य अनेक सुप्रसिद्ध लेखक इस विवाद मे सम्मिलित हो गये। इस आलोचना का सार इस प्रकार है —

(क) समाजवादी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन (factors of production) मुख्यत और पूर्णत सरकार के हाथ मे होते है अत उनका कोई मूल्य नही होता।

(ख) उपादान सेवाओं (factor services) का स्वतंत्र मूल्य-निर्धारण न होने के कारण, किसी वस्तु की उत्पादन लागत का हिसाब नही लगाया जा सकता।

(ग) अत यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाए और कितनी मात्रा मे किया जाए, और जो बात इससे भी बुरी है कि वह यह कि विभिन्न वस्तुओं व सेवाओ के उत्पादन मे साधनो का बँटवारा करना असम्भव होता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ के आलोचक जहाँ वस्तु की लागत की युक्तिसगत गणना (rational calculation) को असम्भव बताते हैं, वहाँ समाजवाद के समर्थकों ने न केवल इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि लागत-गणना सभव है, अपितु यह भी कहा है कि उपादान सेवाओं का समाजवादी मूल्य-निर्धारण तथा साधनो का बँटवारा अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होता है।

(२) **आर्थिक व्यवस्था में नौकरशाही का बोलबाला** (bureaucratic running of the economic system)—समाजवादी अर्थव्यवस्था की दूसरी महत्त्वपूर्ण आलोचना यह की जाती है कि इसके अन्तर्गत आर्थिक पद्धति का सचालन नौकरशाही व्यवस्था (bureaucratic system) द्वारा किया जाता है। यह कहा जाता है कि व्यावसायिक इकाई के सचालन में नौकरशाही व्यवस्था सामान्यत अकुशल होती है क्योंकि—

(क) नौकरशाही अधिकारी इस कार्य मे इतनी रुचि नही लेते जितनी कि प्राइवेट निगम के कर्मचारी लेते है।

(ख) उनकी पदोन्नति (promotion) सामान्यता वरिष्ठता (seniority) पर ही आधारित होती है, केवल कार्य-कुशलता पर नही।

(ग) जनता की आलोचना के भय से वे बडे जोखिमपूर्ण कार्य करने को तत्पर नही होते, और इसी कारण थोडी-सी सफलता से ही सन्तुष्ट रहते हैं।

(घ) वे नित्यचर्या (routine) तथा लालफीताशाही (red tapism) के अधीन कार्य करते हैं।

(इ) ऐसे व्यवसायो मे उन्हे कोई सफलता नही मिल सकती जहाँ पर कि शीघ्र निर्णय किये जाने तथा साहसी नीतियाँ अपनाये जाने की आवश्यकता हो।

इस प्रकार, सरकारी उद्यमो का सचालन कुशलता के साथ नही किया जा सकता। अतः समाजवादी अर्थव्यवस्था एक अकुशल तथा धीमी गति वाली व्यवस्था है।

(३) सरकार के हाथो में राजनैतिक व आर्थिक-सत्ता का केन्द्रीयकरण (concentration of political and economic power in the government)—समाजवादी अर्थव्यवस्था राजनैतिक व आर्थिक शक्ति को सरकार के हाथो मे केन्द्रित करती है। उत्पादन के भौतिक साधनो के सरकारी स्वामित्व से और आर्थिक क्रियाओ के सरकारी निदेशन एव नियन्त्रण व्यक्ति पर राज्य की शक्ति मे वृद्धि होती है। राज्य मनुष्यो तथा साधनो को विशेष स्रोतो मे लगाने के लिए निर्देश देता है और इस सम्बन्ध मे इसकी सत्ता निरपेक्ष (absolute) होती है। उपभोक्ता की चुनाव की स्वाधीनता तथा धन्धे का चनाव करने की स्वाधीनता का केन्द्रीय नियोजन के साथ बने रहना कठिन हो जाता है। यह कहा जाता है कि जब उद्यमो की स्वाधीनता चली जाती है, तो व्यवसाय अथवा धन्धो का स्वतन्त्र रूप से चुनाव करने की स्वाधीनता स्वय ही समाप्त हो जाती है। इसके अन्तर्गत श्रमियो को कुछ निश्चित काम सौंप दिये जाते है और नियोजन करने वाली सत्ता की अनुमति के बिना वे उनमे कोई परिवर्तन नही कर सकते। अनेक ऐसे लोग जो समाजवादी अर्थव्यवस्था से सहानुभूति रखते हैं, अब एक ऐसी पद्धति के निर्माण की आवश्यकता को समझने लगे हैं जो कि केन्द्रीय नियोजन के साथ ही साथ काफी मात्रा मे व्यक्तिगत स्वाधीनता की भी गारन्टी दे। समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्तियो का शोषण करने पर तो रोक लगाई जाती है परन्तु राज्य द्वारा किये जाने वाले व्यक्ति के शोषण (exploitation) को रोकना सम्भवत कठिन होता है। इसका कारण यह है कि राज्य एकमात्र नियोक्ता अथवा मालिक (employer) होता है और उससे असहयोग करने अथवा उसके विरोध करने का अर्थ होता है, भूखो मरना। राज्य के प्रति आज्ञाकारी बने रहना जीवित रहने की एक अनिवार्य शर्त होती है। समाजवाद का सबसे बडा दोष सम्भवत यही है कि राज्य के हाथो मे आर्थिक एव राजनैतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हो जाने के कारण व्यक्ति की स्वाधीनता एव स्वतन्त्रता दोनो नष्ट हो जाती है।

यह कहा जा सकता है कि ऊपर जिन दोषो का उल्लेख किया गया है, वे सत्तावादी कम्युनिस्ट पद्धति (Authoritarian Communist System) के दोष हैं, लोकतन्त्रीय समाजवादी पद्धति के नही। परन्तु समाजवाद के आलोचको का कहना है कि लोकतन्त्रीय समाजवाद तथा साम्यवाद (कम्युनिज्म) मे अन्तर केवल मात्रा का है और यह कि इस बात की पूरी सभावना होती है कि लोकतन्त्रीय समाजवाद ही शनै-शनै सत्तावादी समाजवाद बन जाता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में सरकार का योग (Role of Government in a Socialist Economy)

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे सरकार के योगदान पर विचार करना बडा कठिन है। इसका कारण यह है कि समाजवाद की अनेक किस्में होती हैं। परन्तु यहाँ हम, पहले के समान ही केवल लोकतन्त्रीय समाजवाद पर ही विचार करेंगे। इस पद्धति के अन्तर्गत, व्यक्ति को उपभोग तथा धन्धे का चुनाव करने की स्वाधीनता प्राप्त होती है और उसकी इच्छा पूर्ति के लिए केन्द्रीय सत्ता काफी बडा कार्य-क्षेत्र उसके लिए खुला जोड देती है।

सरकार उत्पादन के सभी प्रमुख तथा सामरिक महत्त्व के भौतिक साधनो पर अपना अधिकार रखती है और उनका सचालन करती है। यह उनका प्रबन्ध कुछ विशिष्ट विभागो अथवा मन्त्रालयो द्वारा कर सकती है। इसके अतिरिक्त, इन सभी उद्योगो का नियन्त्रण एक ऐसी केन्द्रीय योजना के द्वारा होता है जिसके उद्देश्य, प्राथमिकताएँ (priorities) तथा लक्ष्य (targete) सुनिश्चित होते हैं। यह आशा की जाती है कि इन उद्योगो का उत्पादन स्वतन्त्र व्यवस्था वाले ऐसे ही उद्योगो के उत्पादन से अधिक श्रेष्ठ होगा। इसका कारण यह है कि सरकारी क्षेत्र मे व्यावसायिक उतार-चढावो की संभावना नही रहती और बडी मात्रा मे आवर्ती बेरोजगारी की बुराई दूर हो जाती है।

सरकार उन ही उद्योगो का नियन्त्रण करती है जो कि समाज की आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करते हैं, विशेष रूप से अस्त्र-शस्त्रो से सम्बन्धित उद्योग। चूँकि केन्द्रीय सत्ता अस्त्र-शस्त्रो का उत्पादन करने वाले सभी उद्यमो पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण लागू कर सकती है, अतः इस सम्बन्ध मे समाजवादी अर्थव्यवस्था की श्रेष्ठता का दावा किया जा सकता है। परन्तु ऊपर उल्लेख किये गये इन दोनो ही मामलो मे, प्रतियोगिता के अभाव के कारण यह हो सकता है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन की तकनीको एव सगठन की प्रगति अवरुद्ध हो जाए।

सरकार अपने पास न केवल उत्पादन के भौतिक साधन ही रखती है, बल्कि वितरण एव विनिमय के स्रोत भी अपने अधिकार मे रखती है। बैंकिंग तथा बीमे की व्यवस्था, परिवहन व सचार व्यवस्थाएँ, देशी तथा विदेशी व्यापार व वाणिज्य आदि सब सरकार के ही अधिकार मे होते हैं। इस प्रकार, आर्थिक क्षेत्र मे सरकार को व्यापक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

सरकार छोटी-छोटी व्यावसायिक इकाइयो, विशेष रूप से कृषि सम्बन्धित इकाइयो, के स्वतन्त्र सचालन की अनुमति दे देती है। परन्तु इनसे सरकारी नीति के अनुसार ही चलने की अपेक्षा की जाती है। इन इकाइयो को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से केन्द्रीय निर्देशन के अन्तर्गत लाया जाता है। ये इकाइयाँ बैंकों, परिवहन व सचार सेवाओ तथा सरकार द्वारा अधिकृत उत्पादन एव वितरण से सम्बन्धित अन्य एजेन्सियो का उपयोग करती हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के समक्ष वास्तविक समस्या यह होती है कि उपभोक्ताओ की इच्छाओं का पता कैसे लगाया जाए? केन्द्रीय सत्ता उत्पादन की योजना बनाती है, उसे करोड़ों व्यक्तियो की करोडो आवश्यकताओ मे सम्बन्धित करती है। सिद्धान्त के रूप में तो ऐसा करना सम्भव हो सकता है, परन्तु व्यवहार मे, जैसा कि वान हेयक ने कहा है, इस समस्या को सन्तोषजनक रीति से हल करना असम्भव है। इसके अतिरिक्त, आशा यही की जाती है कि केन्द्रीय नियोजन करने वाली सत्ता उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ के मुकाबले अर्थव्यवस्था के विकास को ही अधिक महत्त्व प्रदान करेगी। जहाँ तक अर्थव्यवस्था के विकास तथा उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए किये जाने वाले उत्पादन मे कोई सघर्ष अथवा विरोध उत्पन्न नहीं होता है, वहाँ तक तो केन्द्रीय सत्ता उत्पादन का निर्देशन इस प्रकार करती है कि उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके और लोगो को धन्धे के चुनाव की स्वाधीनता भी प्राप्त हो सके। परन्तु यदि इन दोनो उद्देश्यो के बीच ताल मेल बनाये रखने मे कोई बाधा आ खडी होती है, अथवा विकास योजनाओं को लागू करने मे कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती है, तो केन्द्रीय सत्ता उपभोक्ताओ की तरजीहो (consumer's preferences) अथवा उनके धन्धे अथवा व्यवसाय की स्वाधीनता की बलि चढाने मे कोई सकोच नही करती।

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, केन्द्रीय सत्ता (central authority) कुछ ऐसे सशोधन लागू कर सकती है जो कि अन्तत उत्पादन में कुशलता उत्पन्न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, सरकार एक समान किस्म की सामूहिक सत्ता का स्थान भिन्न-भिन्न प्रकार की सामूहिक सत्ता को दे सकता है। यह हो सकता है कि कुछ उद्यम नगरपालिकाओ द्वारा अधिकृत एव सचालित हो, कुछ अन्य स्थानीय राजनैतिक निकायो द्वारा, कुछ सहकारी सस्थाओं तथा कुछ श्रमिक सघो (trade unions) द्वारा सचालित किये जायें। परन्तु यहाँ भी केन्द्रीय निर्देशन अवश्य लागू करना होगा ताकि विभिन्न प्रकार की सत्ता के बीच आवश्यक ताल-मेल बनाये रखा जा सके। एक अन्य सम्भावना यह हो सकती है कि केन्द्रीय निर्देशन (central direction) का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए और वह इन मानो मे कि केन्द्रीय सत्ता स्वय को सामान्य निर्देश देने तक ही सीमित रखे और किन्ही भी *योजनाओं का व्यावहारिक क्रियान्वयन (practical implementation)* प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय निकायो पर छोड दे। इसके भी अलावा एक तरीका यह हो सकता है कि उद्योगो पर सरकारी स्वामित्व तो बनाये रखा जाए परन्तु उनमे परस्पर समन्वय अथवा ताल-मेल (coordination) की बात प्रतियोगिता पर छोड दी जाए। इन सभी विकल्पो को अपनाने का उद्देश्य यही है कि उत्पादन की क्षमता में वृद्धि की जाए और उपभोग तथा धन्धे के चुनाव की व्यक्तिगत स्वाधीनता को बनाये रखा जाये।

अत. समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, आर्थिक क्रियाओ के क्षेत्र मे सरकार ही सर्वेसर्वा होता है। बाजार अर्थव्यवस्था (market economy) का इसमे कतई अस्तित्व नही होता, और यदि होता भी है तो उसका योगदान बहुत कम होता है। यह सरकार ही होती है जो कि नियन्त्रण तथा निर्देशन के द्वारा इस समस्या को सुलझाने मे अर्थव्यवस्था की सहायता करती है कि "किन-किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाए, कैसे उत्पादन किया जाये और उनका वितरण किस प्रकार किया जाए ?"

परिशिष्ट
(Appendix)

पूंजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ मे आर्थिक गणना[22] (Economic Calculation in Capitalist and Socialist Economies)

समूहवादी अथवा समाजवादी अर्थव्यवस्था (collective and socialist economy) मे युक्तिसगत आर्थिक गणना सम्भव है या नही—इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विवाद सर्वप्रथम लुडविग वॉन माइसेस (Ludwing Von Mises) ने उठाया था। माइसेस, हेम, हेयक, तथा रोबिन्स जैसे लेखको ने जहाँ यह तर्क दिया कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, लागत तथा कीमतो की समुचित रूप से गणना करना या तो असम्भव है अथवा कम से कम कठिन अवश्य है, वहाँ टेलर, लेन्ज, मौरिज डॉब, डर्बिन, पीगू तथा ऐसे ही अन्य लेखको ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि समाजवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत लागत की गणना तथा मूल्य निर्धारण की एक कुशल व्यवस्था की स्थापना सम्भव है और वस्तु-स्थिति यह है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था इस सम्बन्ध मे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होगी।

युक्तिसंगत आर्थिक गणना क्या है ?
(What is Rational Economic Calculation ?)

कोई भी अर्थव्यवस्था, चाहे वह पूंजीवादी हो या समाजवादी, प्रत्येक के सामने एक ही लक्ष्य होता है, और वह यह कि श्रम, पूंजी तथा प्राकृतिक साधनो के रूप मे न्यूनतम लागत लगाकर अधिकतम उत्पादन किया जाए। यह प्रश्न उस समय उत्पन्न नही होता जबकि साधन असीमित मात्रा मे प्राप्त होते, क्योकि उस स्थिति मे उन्हे किसी भी रीति से मिलाकर ऐसी वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन मे लगाया जा सकता है जिनकी समाज को आवश्यकता हो। परन्तु चूंकि सभी देशो मे सभी दशाओ के अन्तर्गत सभी मानवीय प्रयत्नो पर अल्पता-नियम (law of scarcity) लागू होता है, अत यह आवश्यक है विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ के बीच साधनो के युक्तिसगत बँटवारे का कोई ऐसा तरीका खोजा जाए जिससे कि उत्पादन का सगठन व प्रबन्ध समाज के सर्वोत्तम हितो के अनुसार किया जा सके और श्रम, पूंजी तथा प्राकृतिक साधनो के रूप मे वस्तु की लागत यथासम्भव कम की जा सके। वान माइसेस का कहना है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था (market economy) की परिधि मे नही आते। चूंकि उत्पादन के साधन अथवा उत्पादन-पदार्थ सरकार के स्वामित्व मे होते है और कभी भी उनके विनिमय की नौबत नही आती अत: उनके द्राव्यिक मूल्य का पता लगाना असम्भव होता है। इस स्थिति मे, द्रव्य के रूप मे लागतो की गणना करना सम्भव नही होता है और लागतगणना की अर्थव्यवस्था न तो कुशल बन सकती है और न वास्तविक।[23] अत प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब लागत का हिसाब लगाना ही संभव नही है तो उत्पादन के उपादानो को किस प्रकार प्रभावपूर्ण रीति से मिलाया जा सकता है ?

---

22 छात्र इस विषय से सम्बन्धित अनेक पुस्तको तथा लेखो की सहायता ले सकते है। जिनमे निम्नलिखित मुख्य हैं
"Collectivist Economic Planning" edited by Vod Hayek, containing articles by Von Mises, George Halm, Robbins Hayek and others "On the Economic Theory of Socialism" edited by Lippincott with articles by Fred Taylor and Oscar Lange; "Economic Calculation in the Socialist State" by T J B Hoff, Particularly Chapters 4, 6, 11, 12 and 14 and Appndix B and C, "On Economic Theory and Socialism" by Maurice Dobb; and "Socialism Vs Capitalism" by A.C Pigou There is a good summary of the Controversy in "Applied Economics" by Phelps Brown.

23. Von Mises article reprinted in "Collectivist Economic Planning" edited by Hayek pp. 92, 95,—106.

लागत सम्बन्धी विवाद का गुण-दोष विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि मूल्य-पद्धति के लाभो को समझा जाए और इस बात पर विचार किया जाए कि लागत-गणना के लिए तथा साधनों के युक्तिसगत बँटवारे के लिए मूल्य-पद्धति कितनी आवश्यक है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे लागत-गणना (Cost Calculation in a Capitalist Economy)

स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, मूल्य-व्यवस्था (price mechanism) जिसमे हजारो व लाखो कीमतें सम्मिलित होती है—देश मे साधनो के बँटवारे तथा उनमे समन्वय बनाये रखने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे भूमि, श्रम, पूँजी तथा सगठन का वितरण कीमतो (prices) के मार्ग-दर्शन के अनुसार ही सम्पन्न होता है। यह माना जाता है कि प्रत्येक जमीदार अपनी भूमि का अधिक से अधिक किराया प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, प्रत्येक श्रमिक अधिक से अधिक मजदूरी प्राप्त करने का प्रयास करता है, प्रत्येक पूँजीपति अपनी पूँजी पर उच्चतम दर से ब्याज या प्रतिफल प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है और प्रत्यक उद्यमकर्ता या साहसी का उद्देश्य यह होता है कि अपने लाभो को अधिकतम करे। चूँकि इनमे प्रत्येक का उद्देश्य यह होता है कि अपने लिए अधिकतम और सर्वोत्तम भाग प्राप्त करे, अत इस कार्य के लिए वह युक्तिवाद अथवा तर्कवाद (rationality) के आदर्श का अनुसरण करता है। इस प्रकार उत्पादन का प्रत्येक साधन ऐसे स्थान पर लगाया जाता है जहाँ कि वह अधिकतम समर्थ माँग (effective demand) की पूर्ति कर सके और अधिकतम सभव मूल्य प्रदान कर सके। जब यह अधिकतम सभव मूल्य प्राप्त कर लेता है तो फिर इसमे अन्य उद्योगो या धन्धो या क्षेत्रो की ओर हटने की प्रवृत्ति नही पाई जाती, अर्थात् यह पूर्ण सतुलन की स्थिति मे होता है। इसी प्रकार जब उत्पादन के उपादनो की सभी इकाइयाँ (units) विभिन्न व्यवसायो मे अधिकतम पुरस्कार प्राप्त करने लगती है तो कहा जाता है कि ये सन्तुलन (equilibrium) की स्थिति मे है।

माँग पक्ष की ओर प्रत्येक उपभोक्ता को यह स्वाधीनता प्राप्त होती है कि वह कोई भी वस्तु कहीं से भी खरीद और इस प्रकार वह समसीमान्त तुष्टिगुण या समसीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त (Principle of Equi-marginal Utility) के अनुसार अपने कल्याण मे अधिकतम वृद्धि करने का प्रयत्न करता है अर्थात् वह विभिन्न वस्तुएँ इस प्रकार खरीदता है कि वस्तुओ की सभी इकाइयो का सीमान्त तुष्टिगुण (marginal utility) बराबर या लगभग बराबर होता है। इस स्थिति मे, वह किसी वस्तु की एक और इकाई खरीदकर अपने कुल तुष्टिगुण मे वृद्धि नहीं कर सकता। इस प्रकार, उपभोक्ता जब अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है तो वह सन्तुलन की स्थिति मे होता है।

इस तरह क्रय-पक्ष का निर्देशन माँग के नियम (law of demand) द्वारा और विक्रय-पक्ष का सभरण के नियम (law of supply) द्वारा होता है। जब माँग और सभरण बराबर होते है तो वह सन्तुलन (equilibrium) की स्थिति होती है और यदि माँग या सभरण की मात्रा मे जरा सी भी घट-बढ होती है तो कीमत या तो ऊपर की ओर जाने लगती है (जब माँग सभरण से अधिक होती है) या नीचे की ओर (जब सभरण माँग से अधिक होता है) और अन्त मे वह असतुलन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे युक्तिवाद अथवा तर्कवाद की (nation of rationality) माँग और सभरण की शक्तियो के बीच सन्तुलन स्थापित करने का रूप ले लेती है।

अत स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था (free economy) प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतया आत्म-हित (self-interest) के अनुसार कार्य करने का अधिकार देती है और उसे इस बात की छूट भी देती है कि वह पूँजीवादी पद्धति के ढाँचे के अन्तर्गत रहते हुए श्रम तथा उत्पादन के अन्य साधनो के अधिकतम मूल्य की तर्कसगत प्राप्ति के लिए अपने गुणो तथा अपनी योग्यताओं को सर्वोत्तम रीति से किसी भी उद्यम अथवा कार्य मे लगाये। इसमे जोर व्यक्तिगत हित, व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा व्यक्तिगत लाभो पर दिया जाता है, और यहाँ तर्कवाद या युक्तिवाद मन की वह शक्ति होती है जो व्यक्ति के अपने हित की पूर्ति मे सहायता करती है।

इस प्रकार, मूल्य व्यवस्था (price mechanism), जो कि स्वय ही माँग और सभरण की स्वतन्त्र बाजारी शक्तियो की उपज होती है, आर्थिक क्रिया के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है और अन्य साधनो के सर्वाधिक कुशल बँटवारे मे सहायक होती है ।

उत्पादको तथा उपभोक्ताओ को अधिकतम स्वाधीनता प्रदान करके मूल्य व्यवस्था इस बात की व्यवस्था करता है कि .

(क) कौन-कौन सी वस्तुएँ कितनी-कितनी मात्रा मे उत्पन्न की जाएँ ?

(ख) उन वस्तुओ के उत्पादन के लिये अनेक दुर्लभ उपादानो (scarce factors) को किस प्रकार मिलाया जाये, और

(ग) इन वस्तुओ का लोगो के बीच वितरण किस प्रकार किया जाये ?

समुचित मूल्य व्यवस्था को आवश्यक दशाएँ (Essential condition for proper pricing)—मूल्य व्यवस्था, जो कि "आर्थिक रगमच पर रामनाम निर्देशक" का कार्य करती है, के सरल एव सचालन के लिए यह जरूरी है कि कुछ आवश्यक शर्तों की पूर्ति की जाये । एक, ऐसी मौद्रिक इकाई (monetary unit) होनी चाहिये जिसके द्वारा कीमतें व्यक्त की जा सकें और जो सीमान्त तुष्टिगुण (marginal utility) तथा सीमान्त तुष्टिहीनता (marginal disutility) मे तुलना कर सके । इसके अतिरिक्त, द्रव्य की क्रय-शक्ति में तुलनात्मक स्थिरता रहनी चाहिये । दूसरे, वस्तुओ एव उत्पादन के उपादानो का बाजार स्वतन्त्र होना चाहिये, ताकि वस्तुओ एव उत्पादन सेवाओ (factor services) की कीमतें वास्तव मे माँग और सभरण की शक्तियों को प्रभावित कर सकें । बिना स्वतन्त्र बाजार के, स्वतन्त्र मूल्य-व्यवस्था की स्थापना असम्भव है । तीसरे, व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह वस्तुओ की किस्म तथा कोटि का अपनी पसन्द के अनुसार चुनाव कर सके । उधर उत्पादको को भी इस बात की छूट होनी चाहिये कि वे उन वस्तुओ का उत्पादन कर सकें जिन्हे कि उपभोक्ता चाहते है । अन्त मे, व्यक्तियो को इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वे अपने लिये व्यवसाय या धन्धे का चुनाव कर सकें, अर्थात् जो कार्य वे करना चाहे, कर सकें ।

मूल्य-पद्धति समुचित रूप से तभी कार्य कर सकती है जबकि उपर्युक्त परिस्थितियाँ विद्यमान हो । यह माना जाता है कि स्वतन्त्र पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे ये दशाएँ बड़ी मात्रा मे विद्यमान होती हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन-लागत की समुचित रूप से गणना करना सम्भव होता है । समुचित लागत गणना के द्वारा, उद्योगों के बीच साधनो का वितरण किया जा सकता है और उनका उपयोग सर्वाधिक युक्तिसगत तरीके से किया जा सकता है ।

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे लागत-गणना (Cost Calculation in a Socialist Economy) :

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, समाजवादी अर्थव्यवस्था का लक्ष्य भी वही होता है जो कि स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था का होता है, अर्थात् श्रम, पूँजी तथा अन्य प्राकृतिक साधनो के रूप मे न्यूनतम लागत लगाकर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना । पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे, मूल्य-पद्धति तथा स्वतन्त्र बाजारी शक्तियाँ यह सिद्ध करती है कि उत्पादन का सगठन तथा प्रबन्ध समाज के सर्वोत्तम हितों के अनुसार किया जाता है और श्रम व पूँजी के रूप मे वस्तु की लागतें न्यूनतम सम्भव होती है । वॉन माइसेस ने समाजवाद तथा आयोजनाबद्ध अथवा समूहवादी अर्थव्यवस्था की सामान्य आलोचना यह कहकर की है कि ऐसी अर्थव्यवस्थाओ मे चूँकि कोई मूल्य-पद्धति विद्यमान नही होती, अत. उसके अभाव मे, साधनों का समुचित एव युक्तिसगत वितरण सम्भव नही है । माइसेस का विचार था कि श्रम को छोडकर, अन्य सभी उपादान चूँकि सरकार के अधिकार मे होते है अत उनके लिये वास्तव मे कोई मूल्य अदा नही किया जाता । उनकी कोई कीमत ही नही होती। यदि उत्पादन के उपादानो (factor of production) की ही कोई कीमत नही होगी, तो उनसे उत्पन्न वस्तुओं की भी कोई कीमत नही होगी, क्योंकि वस्तुओ की कीमतें उत्पादन की लागतो पर निर्भर होती है और उत्पादन-लागतें स्वय उत्पादन के उपादानो की कीमतो पर निर्भर होती है ।

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, वास्तविक समस्या यह होती है कि इसमे ऐसा कोई युक्ति-सगत तरीका नही होता जिसके द्वारा विभिन्न वैकल्पिक उपयोगो मे लगाये जाने वाले उत्पादन के

उपादानो की सापेक्षिक उत्पादन-क्षमताओं की गणना की जा सके और इस बात का पता लगाया जा सके कि कोई विशिष्ट उपादान अपने अनेक सभावित वैकल्पिक उपयोगो के बीच सर्वोत्तम उपयोग मे लगा है या नही। इस बात का पता लगाने के लिए, कि उत्पादन के किसी उपादान की कोई विशिष्ट इकाई सर्वोत्तम सभव उपयोग मे लगाई गई है या नही, तीन प्रश्नो का उत्तर देना होगा —

(१) समाज की किसी अधिक जरूरी आवश्यकता को पूरा करने के लिए उपादान की किसी इकाई को क्या अन्य कही श्रेष्ठतर उपयोग मे लगाया जा सकता है?

(२) इस इकाई के स्थान पर अन्य कोई इकाई लगाकर क्या उत्पादन-लागत मे कमी की जा सकती है?

(३) क्या किसी इकाई के एक विशेष उपयोग से प्राप्त होने वाला प्रतिफल उसके अन्य किसी सभावित उपयोग से मिलने वाले प्रतिफल से अधिक है?

समाजवादी समाज मे, चूँकि कोई युक्तिपूरक मूल्य-व्यवस्था विद्यमान नही होती, अत. अन्य कोई ऐसा तरीका नहीं है जिसके द्वारा इन तीनो प्रश्नो का सही उत्तर दिया जा सके। स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था मे, माँग और सभरण की शक्तियों द्वारा ही कीमतो का निर्धारण होता है। ये कीमतें ही जो कि उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों की पसन्दो से प्रभावित होती हैं, स्पष्ट रूप से इस बात की सूचक होती है कि यदि उत्पादन के उपादान की कोई इकाई अधिक जरूरी आवश्यकता को पूरा करने के लिए अन्य कही अधिक श्रेष्ठतर उपयोग मे लगाई जा सकती है तो समझ लीजिए कि इस व्यवस्था मे ऐसा पहले ही हो चुका है, यदि उत्पादन-लागत कम करने के लिए किसी इकाई का स्थान अन्य उपादान ले सकता है, तो समझ लीजिए कि प्रतिस्पर्धा उत्पादकों द्वारा ऐसी प्रतिस्थापना (substitution) पहले ही की जा चुकी है, और अन्त मे, यदि किसी विशेष उपयोग से प्राप्त होने वाले प्रतिफल अन्य सभावित उपयोग मे मिलने वाले प्रतिफल से अधिक हैं, तो समझ लीजिए कि ऐसी सभावना का उपयोग पहले ही किया जा चुका है। यह स्थिति उस स्वतन्त्र पूँजीवादी उद्यम व्यवस्था मे पाई जाती है जो प्रतियोगिता तथा लाभ की प्रेरणा पर आधारित होती है। किन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, जहाँ कि उत्पादन के उपादानो पर सामूहिक अधिकार होता है, ऐसी कोई विधि नही है जिसके द्वारा इन तीनो प्रश्नो के समुचित उत्तर दिये जा सके। क्या उत्पादन किया जाए, और किस प्रकार मे उत्पादन के उपादानो को मिलाया जाए—इन सब बातों का निश्चय उस योजना आयोग की पसदगी और नापसदगी पर निर्भर होता है जो कि विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन मे साधनो का वितरण करता है। उपभोक्ताओं को वे वस्तुएँ स्वीकार करनी होती है जो कि उन्हे अधिकारियो द्वारा प्रदान की जाती हैं, और उनके लिए वे कीमतें देनी पड़ती हैं जो सरकार द्वारा निश्चित की जाती है। यह स्थिति बडी अयुक्तिसगत (irrational) है क्योंकि प्रतियोगिता एव कीमत के अभाव मे, न तो उत्पादन-लागत कम करने की ही प्रेरणा प्राप्त होती है और न उत्पादन के प्रतिरूप मे परिवर्तन का ही प्रोत्साहन मिलता है। यह आरोप लगाया जाता है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन की प्रकृति तथा कीमतो दोनो मे ही युक्तिवाद अथवा तर्कवाद का अभाव होता है।

रॉबिन्स तथा हेयक का दावा है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे भी, यदि योजना बनाने वालो को लाखों वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो का ज्ञान हो तो वे भी समुचित रूप मे कीमतो का निर्धारण कर सकते हैं और साधनों का युक्तिसगत बँटवारा कर सकते हैं। उनके अनुसार, समस्या सैद्धान्तिक नही है, अपितु व्यावहारिक है क्योंकि एक साथ ही लाखों कीमतो के समीकरणो (equations) को हल करना बडा कठिन है।

समस्या के विभिन्न हल (Different Solutions to the Problem)

एच० डी० डिकिन्सन, जिसने कि वॉन माइसेस की चुनौती स्वीकार की थी, माइसेस के विचार के सैद्धान्तिक आधार को भी स्वीकार किया। उसने इस बात से सहमति प्रकट की कि केवल बाजार ही मूल्य-निर्धारण की वह पद्धति प्रदान कर सकता है जिस पर कि आर्थिक गणना निर्भर होती है। परन्तु डिकिन्सन ने भी कहा कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी बाजार का अस्तित्व

अपेक्षाकृत थोडी आय वाले व्यक्तियो की तुलना मे उच्चतर आय वाले व्यक्तियो को ऊँची दरो से कर अदा करने चाहिए। इसके अतिरिक्त, आरोही करो ने इस कारण भी अपनी महत्ता सिद्ध कर दी है कि उनमे राजस्व-उत्पादकता (revenue productivity) है, सामाजिक उपयोगिता है तथा न्यायपूर्णता है।

व्यवहार में आरोही कराधान[20] (Progressive Taxation in Practice) :

आरोही कराधान को आजकल व्यापक रूप से वाछनीय माना जाता है। यह सिद्धान्त सभी करो पर लागू नही किया जा सकता। अत यह आवश्यक है कि इसके लिए उपयुक्त करों, करो की दरो तथा छूटो (exemptions) का चुनाव किया जाए जिससे कि स्वेच्छाचारिता अथवा मनमानेपन (arbitrariness) को—जिसका आरोप आरोही करो एव उनकी दरो पर सदा लगाया जाता है—न्यूनतम किया जा सके। पहली बात तो यह है कि आरोहण का सिद्धान्त केवल कुछ मामलो मे ही लागू हो सकता है। आय-कर तथा मृत्यु-कर आरोही करो के सर्वोत्तम उदाहरण है। ससार के लगभग सभी देशो मे आरोही आय-कर कर-पद्धति की रीढ बन गयी है। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे तथा उसके बाद तो, आय-कर और भी लोकप्रिय हो गया है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे, राष्ट्र की कुल कर-आय का दो-तिहाई से भी अधिक भाग, अकेले आय कर से ही प्राप्त किया जाता है।

आरोही आय-कर का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इससे उदरपूर्ति-आय (minimum of subsistence) को मुक्त कर दिया जाता है (सम्पदा कर के मामले मे भी, एक निश्चित मूल्य से कम की सम्पत्तियाँ करो से मुक्त कर दी जाती हैं)। कराधान से उदरपूर्ति आय को मुक्त करने मे दो समस्याएँ सामने आती है। सर्वप्रथम तो यह कि उदरपूर्ति (subsistence) की परिभाषा कैसे की जाए। चूँकि उदरपूर्ति के लिए न्यूनतम आवश्यक आय के निर्धारण की कोई वस्तुपरक कसौटी (objective test) नही है अत. यह स्वाभाविक है कि ऐसा निर्धारण स्वेच्छाचारिता (arbitrary) से पूर्ण होगा। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से निर्वाह-व्यय (cost of living) के लगभग ठीक-ठीक आँकडे उपलब्ध होने लगे है, अत. उदरपूर्ति की न्यूनतम आय का निर्धारण करने के लिए उनका उपयोग किया जा सकता है। दूसरे यदि इस बात को मान भी लिया जाय कि उदरपूर्ति की न्यूनतम आय की व्याख्या की जा सकती है, फिर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इसको कर से मुक्त किया भी जाय या नही। आधुनिक सरकारो को इतने विशाल वित्तीय साधनो की आवश्यकता होती है कि वे उनको प्राप्त करने के लिए सभी सम्भव उपाय काम मे लाती है। जनता के सभी वर्गों से करो के रूप मे अपना-अपना अशदान देने को कहा जाता है। यहाँ तक कि गरीब से गरीब व्यक्ति को भी वस्तु-कर के रूप मे, और विशेष रूप से आवश्यक वस्तुओ पर लगाये करो के रूप मे अपना अशदान (contribution) देना पडता है। इसका अर्थ यह है कि निर्धनो को केवल प्रत्यक्ष करो से ही मुक्त किया जा सकता है अप्रत्यक्ष करो से नही।

आरोही सिद्धान्त तथा कम विकसित देश (Progressive Principle and Underdeveloped Countries) :

आरोही सिद्धान्त को कम विकसित देशों मे लागू करने के सम्बन्ध मे भी यहाँ कुछ विचार प्रकट करना उचित होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि कम विकसित देशो से भी राजवित्त के अनेक लेखको का यह मत है कि सामर्थ्य सिद्धान्त (ability principle) तथा इससे प्रेरित आरोहण पद्धति (system of progression) सार्वलौकिक रूप से (universally) लागू किये जा सकते हैं और यह कि वे मूलभूत सिद्धान्त (fundamental principles) हैं। उदाहरण के लिए, प्रो० भार्गव (Prof Bhargava) का कहना है कि "मनु (Manu) के सम्बन्ध मे जो आधुनिक अनुसन्धान (researches) किये गये है उन्होंने आरोही कराधान की मान्यता का एक सैद्धान्तिक प्रमाण प्रस्तुत किया है।"[21] यह स्पष्ट है कि इन लेखको ने कुछ महत्वपूर्ण विचारो की उपेक्षा कर दी है।

20. अधोलिखित विचार अदा करने की सामर्थ्य के सिद्धान्त पर भी ज्यो के त्यो लागू होते हैं।

21. R. N. Bhargava : *The Theory and Working of Union Finance in India* p. 21. "Modern researcher have improved upon Manu and have given a theoritical proof of the validity of progressive taxation"

यह है प्रो० लेन्ज का वह समाधान जो उन्होने समाजवादी अर्थव्यवस्था मे लागत गणना की समस्या को हल करने के लिए प्रस्तुत किया था। ऐसे ही समाधान, जिन्हे सीमान्त समाधान (marginal solutions) कहा जाता है, अन्य अनेक लेखको द्वारा प्रस्तुत किये गये, विशेष रूप से ए० पी० लर्नर, आर० एल० हाल तथा पीगू द्वारा। लर्नर के अनुसार, "प्रत्येक उपादान (factor) का उपयोग उस बिन्दु तक किया जाना चाहिये जहाँ कि सीमान्त भौतिक उपज की कीमत उपादान की कीमत के बराबर हो ·····। इस सम्बन्ध मे मार्ग-दर्शक सिद्धान्त और कुछ नही, केवल यह है कि कीमत सीमान्त लागत के बराबर हो।"[26]

आर० एल० हाल ने स्पष्ट रूप से ऐसा ही विचार प्रकट किया. "उत्पादन मन्त्रालय का लक्ष्य यही होना है कि कीमतो को सीमान्त लागतो के बराबर रखा जाए, और ऐसा विभिन्न वस्तुओ की मात्रा मे अन्तर करके किया जाता है ····। प्रत्येक इकाई, यदि उसका सचालन समुचित रूप से किया जाए तो अपनी कार्यवाहियाँ उस बिन्दु तक बढाती है जहाँ कि सीमान्त लागत प्राप्त होने वाली कीमत के बराबर हो।"[27]

इस प्रकार अनेक लेखको द्वारा यह अनुभव किया गया कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे भी कीमत-पद्धति के सीमान्त विश्लेषण (marginal analysis) का उपयोग किया जा सकता है और इस स्थिति म पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ के अन्तर्गत मूल्य-निर्धारण तथा साधनो के बँटवारे में कोई मूलभूत अन्तर नही होगा। तथापि, डॉब ने सीमान्त विश्लेषण के कुछ स्वाभाविक दोषो का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम, कीमत को सीमान्त लागत के बराबर रखने का सिद्धान्त यह हो सकता है कि पूर्ण रोजगार की स्थापना के प्रतिकूल पडे। दूसरे कुछ मामलो मे, इस सिद्धान्त को लागू करना स्वय ही असभव होगा।[28]

समाजवाद, आर्थिक प्रगति और मूल्य-व्यवस्था (Socialism, Economic Progress and Price mechanism)

मोरिस डॉब का कहना है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे आर्थिक गणना के सम्बन्ध मे किय गय विवाद को स्थिर सन्तुलन के सिद्धान्त (theory of static equilibrium) तक ही सीमित रखा गया है और यह आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण विचारो की उसमे उपेक्षा कर दी गई है। डॉब की राय है कि मूल्य-व्यवस्था की समस्या तथा नियोजन एव नीति-निर्धारण की समस्या पर भी आर्थिक विकास के सदर्भ मे फिर स विचार किया जाए, डॉब का विचार है कि आर्थिक विकास की योजना सम्पूर्ण रूप मे बनानी होगी, अन्यथा यह होगा कि कुछ किस्म के विकास बिल्कुल ही लागू नही हो सकेंगे। डॉब के शब्दो मे, 'किसी क्षेत्र विशेष मे एक उद्योग का विकास इसलिये नही हो पाता क्योकि वहाँ परिवहन तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था नही है और उस क्षेत्र मे सहायक उद्योगो अथवा विद्युत सयन्त्रों के लिए परिवहन सुविधाएँ इसलिये विकसित नही हो पाती क्योकि वहा मुख्य उद्योग का अभाव है। इसी प्रकार, एक मे अनिश्चितता पाई जाती है जिनके विकास से इ जीनियरिंग वस्तुओं की माँग में वृद्धि होगी, जब इनके साथ ही, इन अन्य उद्योगो की प्रगति इसलिय अवरुद्ध रहती है क्योकि इ जीनियरिंग वस्तुओ की कमी होती है।"[29] इस प्रकार के उद्योगो का विकास ऐसी विकेन्द्रीकृत मूल्यांकन पद्धति के अन्तर्गत नही हो सकता जिनमें कि औद्योगिक उद्यमो के प्रबन्धक बाजार क वर्तमान स्वरूप के आधार पर अथवा

---

26 A P Lerner, in Economic Journal, Vol. XLVII, No 186, p, 257.

27. R L Hall The Economic System in a Socialist State, p 129
"The aim of the Ministry (of production) is to equate prices and marginal costs, which is done by verying the amounts of the various goods Every unit if properly conducted will extend operations to the point where the marginal cost equals the price which is received"

28 Maurice Dobb On Economic Theory and Socialism," p 43-55 डॉब का कहना है कि जब तक कि राज्य उच्चतर का निवश न करे, तब तक कीमत को सीमान्त लागत के बराबर रखने म निश्चित ही बेरोजगारी बढ़ेगी।

29. Mourice Dobb . On Economic Theory and Socialism, pp 75-76

बिल्कुल सम्भव है—अर्थात् उपभोक्ता वस्तुओं का खुदरा बाजार (retail market) और उत्पादक वस्तुओं (intermediate goods) तथा उत्पादन के उपादानों का बाजार। डिकिन्सन ने यह तर्क दिया कि जिस बात की आवश्यकता है, वह यह है कि उद्योगों के प्रबन्धकों को वित्तीय दृष्टि से स्वायत्तशासी (autonomous) बनाया जाना चाहिए और उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए कि वे सामान्य बाजार दशाओं के अन्तर्गत लचीली कीमतों पर एक दूसरे की उत्पादित वस्तुएँ खरीद सकें और उत्पादन की प्रक्रिया में एक-दूसरे से प्रतियोगिता करें।

लेन्ज ने न केवल माइसेस के तर्कों के निष्कर्षों को ही अस्वीकार किया, अपितु उसकी मान्यताओं के आंशिक भाग को भी अस्वीकार कर दिया और इस प्रकार एक कदम और आगे बढ़ गये। सदा से यह माना जाता रहा था कि यदि वस्तुओं की कीमतें निर्धारित होनी हैं तो उसके लिए बाजार का होना जरूरी है। परन्तु लेन्ज ने इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया और कहा कि आर्थिक गणना (economic calculation) के लिए "लेखा-कीमतें" (accounting prices) ही पर्याप्त हैं, इन कीमतों की उत्पत्ति के लिए बाजार की आवश्यकता नहीं होती और न ही इनके लिए वास्तविक सौदों की आवश्यकता होती है। अन्य शब्दों में, लेन्ज ने सामान्य अर्थ में कीमतों (जिसका तात्पर्य बाजार में विनिमय अनुपात से होता है) और व्यापक अर्थ में कीमतों (जो कि उन शर्तों की सूचक होती है जिन पर वैकल्पिक वस्तुएँ प्रस्तुत की जाती हैं) के बीच भेद किया और कहा कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में केवल दूसरे प्रकार की कीमतें विद्यमान होती हैं। बाजारों के अभाव में नियोजन अधिकारी साधनों के बँटवारे के उद्देश्य से लेखा-कीमतें—छाया कीमतें (shadow prices) अथवा अस्थायी मूल्यांकन निश्चित कर लेते हैं।[24] लेन्ज के अनुसार, ये कीमतें मनमानी नहीं होंगी बल्कि ऐतिहासिक रूप से निश्चित की गई कीमतें होंगी, अर्थात् वे कीमतें जो उस समय विद्यमान थीं जबकि पूँजीवाद में से समाजवादी अर्थव्यवस्था प्रकट हुई थी।

लेन्ज ने कहा कि "प्रयत्न और भूल" की प्रक्रिया के द्वारा सही सन्तुलन कीमत (equilibrium prices) मालूम की जा सकती है। उदाहरणार्थ, माँग तथा सम्भरण, दोनों का ही तालमेल लेखा कीमतों के साथ बैठाया जा सकता है। यदि किसी भी वस्तु अथवा उपादान (factor) की लेखा-कीमत बहुत अधिक है तो सम्भरण की अपेक्षा माँग कम होने लगेगी और इस स्थिति में योजना आयोग की कीमत कम होने लगेगी और इस स्थिति में ही योजना आयोग कीमत को कम कर सकता है। इसी प्रकार यदि लेखा-कीमतें बहुत नीची निर्धारित हो जाएँ तो माँग सम्भरण अधिक हो जायेगी और इस स्थिति में अधिकारीगण ऊँची लेखा-कीमतें (accounting prices) निश्चित कर सकते हैं। इस प्रकार प्रयत्न और भूल (trial and error) की एक श्रृंखला के द्वारा अधिकारी गण सदा ही उपभोक्ता वस्तुओं तथा उत्पादक-पूँजीगत वस्तुओं की उपयुक्त कीमतों का निर्धारण कर सकते हैं। लेखा-कीमतों को यदि बाजार-कीमतों के समान ही मान लिया जाए तो उपभोक्ता ऐसे बिन्दु तक अपनी खरीद जारी रखेंगे जिस पर कि उनका सीमान्त दृष्टिगण वस्तुओं की कीमतों के बराबर होगा। इस स्थिति में सभी औद्योगिक प्रबन्धकों के कार्य का निर्देशन करने के लिए दो सामान्य नियमों का निर्धारण करना होगा,—

(क) विभिन्न उपलब्ध तरीकों में से उन्हें उस तरीके का चुनाव करना चाहिए, जो दी हुई लेखा-कीमतों के आधार पर निम्नतम औसत लागत प्रदान करे, और

(ख) उन्हें उपज की मात्रा का वह पैमाना निश्चित करना चाहिए जिस पर कि सीमान्त लागत उपज की कीमत के बराबर हो।[25]

---

24. Oskar Lange and F M Taylor. "On the Economic Theory of Socialism" p. 62.

25 स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में, सभी व्यक्तिगत फर्मों द्वारा बाजार कीमत को स्थिर माना जाता है; प्रत्येक फर्म ऐसे बिन्दु तक उत्पादन करके अपने लाभों को अधिकतम करने का प्रयास करती है जिस पर कि उत्पादित वस्तु की कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर हो।

माँग तथा उनकी सन्तुष्टि करने मे भी समर्थ न हो सके। दूसरी ओर, कुछ थोडे से व्यक्ति राष्ट्रीय आय का अत्यधिक बडा भाग प्राप्त करने मे समर्थ हो जाते है और इस प्रकार माँग तथा उत्पादन को अपने पक्ष मे प्रभावित करते हैं। अत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे, माँग उपभोक्ताओं की पसदो की सूचक नही होती, अपितु देश मे आय के वितरण के प्रतिरूप की सूचक होती है। युक्ति सगत (rational) बँटवारे के लिए युक्ति सगत मूल्य-व्यवस्था की आवश्यकता होती है, परन्तु युक्ति सगत मूल्य-व्यवस्था केवल तभी सभव हो सकती है जबकि आय का वितरण युक्ति सगत हो।[32] किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था मे ऐसा होना बिल्कुल असभव है। दूसरी ओर, समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, विभिन्न आवश्यकताओं की महत्ता पर आधारित प्राथमिकताओं की एक निश्चित योजना के अनुसार ही साधनो का उपयोग किया जाता है। इसमे भोजन, वस्त्र, आवास, चिकित्सा, तथा शिक्षा जैसी जरूरी आवश्यकताओं को उच्च प्राथमिकता प्रदान की जाती है। इस प्रकार जब प्रमुख निर्णय किसी वर्ग-विशेष के हितो के मुकाबले सम्पूर्ण समाज के सामान्य हित की दृष्टि से किये जाते हैं तो इस बात की पूरी सभावना होती है कि वे निर्णय अधिक युक्ति सगत होंगे।

फिर, यह भी सभव है कि व्यक्तिगत औचित्य—अर्थात् व्यक्तिगत लाभो को अधिकतम करने के आधार पर किये गये निर्णय प्राय सामूहिक अयुक्तिवाद (collective irrationality) के रूप मे प्रकट हों। इसका स्पष्ट प्रमाण कीमतो, रोजगार तथा उत्पादन मे होने वाले वे उतार-चढाव हैं जिनका कि स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था को समय-समय पर सामना करना होता है। इसके अतिरिक्त, मुक्त उद्यम वाली अर्थव्यवस्था म माँग स्वतन्त्र नही होती और उत्पादन को प्रभावित नही करती, अपितु अधिकाश मामलो मे यह माँग उत्पादकों के विज्ञापनो से प्रभावित होती है। ये उत्पादक अपनी पहले से ही उत्पादित वस्तुएं खरीदने के लिए उपभोक्ताओं को फुसलाने तथा नाजायज सौदेबाजी करने के उद्देश्य से सभी प्रकार की विज्ञापन-विधियो का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार, माँग शक्तिशाली एकाधिकारी पूंजीपतियो द्वारा प्रस्तुत सभरण (supply) का अनुसरण करती है। रोथचाइल्ड ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता तक भी दोषो से युक्त है। उसने यह भी स्पष्ट किया है कि पूर्ण प्रतियोगिता के विषय म क्यो यह नही कहा जा सकता कि इससे साधनो का आदर्श बँटवारा होगा और आर्थिक कल्याण अधिकतम होगा।[33]

इसके अतिरिक्त, समाजवाद अर्थशास्त्री यह कहते हैं—और रूढिवादी अर्थशास्त्री भी इसे अवश्य स्वीकार करेंगे—कि उपभोक्ताओं का बाजार-व्यवहार कभी-कभी अत्यधिक अयुक्तिसगत (irrational) हो सकता है और उत्पादन के मार्ग-दर्शन के लिए वह बिल्कुल अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए व्यक्तिगत उपभोक्ताओं की माँगे "सामूहिक आवश्यकताओं" (collective wants) का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही करती। यह हो सकता है कि उपभोक्ताओं को इस बात का पता न हो कि उनके लिए अच्छी वस्तु क्या है अथवा उन्हे विभिन्न आवश्यतताओं के बीच भेद करने का ही ज्ञान न हो। यह भी सभव है कि वैकल्पिक आवश्यकताओं के बारे म उनका अनुभव बहुत अल्प हो, अथवा वे तत्कालिक अथवा कृत्रिम उत्तेजना से प्रभावित हो जाएं, अथवा वे सरलता से ठग लिए जाएं। फिर, जब आवश्यकताओं मे से चुनाव करने का प्रश्न लम्बी अवधि मे फैला होता है, तब तो व्यक्ति की पसद प्रत्यक्ष रूप से अयुक्तिसगत होती है। इस प्रकार, उपभोक्ताओं का व्यवहार अथवा उनकी प्रभुता या उनकी इच्छाओं की अधिकतम सन्तुष्टि के अर्थ मे "आदर्श" नही माना जाना चाहिए। अत पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों के इस दावे का समर्थन नही किया जा सकता कि पूंजीवादी उत्पादन इसलिए आदर्श है क्योंकि यह उपभोक्ताओं की प्रभुता पर आधारित है।

ऊपर दिया गया विवेचन स्वय समाजवाद की ही आलोचना का एक मुख्य स्रोत बन गया है। यह कहा जाता है कि समाजवादी आर्थिक गणना दोषपूर्ण होती है क्योंकि यह हो सकता है कि योजना-निर्माता उपभोक्ताओं की पसन्दो को पर्याप्त महत्त्व न दें और वस्तुओं व सेवाओं का ऐसा सयुक्तीकरण करें जिसे कि वे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अधिक उपयोगी समझते हों। यह भी

32. Maurice Dobb *On Economic Theory and Socialism*, p 65.
33 Rothschild : "Wastes of Competition," in *Central and Regulation of Monopoly and Competition*," Edited by Chamberlain

भावी अनुमानो द्वारा सशोधित लेखा-कीमतो के आधार पर निवेश करने के निर्णय करते हैं । और यदि किसी प्रकार उनका विकास होगा भी, तो उनमे परस्पर समन्वय (coordination) नही होगा जिसके परिणामस्वरूप, उनमे कुसमजन (maladjustments) निराशा, (frustrations) तथा विकार (distortions) उत्पन्न होगा । अत स्वयचालित मूल्य-व्यवस्था ऐसे आर्थिक विकास का समुचित मार्ग दर्शन नही करती. और कुछ मामलों मे तो, यह उद्योगो के विकास मे बाधक भी सिद्ध हो सकती है ।

आर्थिक विकास के सदर्भ मे, समाजवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, विकास को प्रभावित करने वाले मूल निर्णय मूल्य-व्यवस्था बाजार-व्यवस्था पर नही छोडे जा सकते बल्कि उन मूल बातो का निर्धारण योजना बनाने वालो तथा नीति निर्माताओ द्वारा ही किया जाना चाहिये । कुछ ऐसे मूल निर्णय (key decisions) नीचे दिये गये है, जो आर्थिक विकास के ढांचे का निर्माण करते हैं और विकास को सामान्य रूप तथा उनकी दिशा का निर्धारण करते हैं :—

(क) कितने आर्थिक साधन निवेश कार्यो मे लगाये जाएं ?

(ख) इन साधनो का कितना भाग पूंजीगत माल के उद्योगो मे लगाया जाए और कितना उपभोग्य वस्तुओ के उद्यमो मे ?

(ग) उद्योग कहाँ स्थापित किये जाएं ? इस प्रश्न का सम्बन्ध केवल न्यूनतम लागत से ही नही है, बल्कि परिवहन, बिजली तथा अन्य उद्योगो की स्थिति से भी इसका सम्बन्ध है ।

इन सभी मूल निर्णयो के सम्बन्ध मे बाजार की कोई उपयोगिता नही है, इस सम्बन्ध मे तो नियोजन करने वाली सत्ता को समाज के हितो का ध्यान रखते हुए निर्णय करने होगे ।

डॉब का यह विचार भी है कि "विकास एव परिवर्तन के सदर्भ मे, अब इस बात की कोई मान्यता नही है कि साधनो के बँटवारे की समस्या के हल,मे उपभोक्ताओ की आवश्यकताएँ वाञ्छित आँकडे प्रस्तुत करती हैं ।"[30] चूंकि उपभोक्ता तथा उनकी आवश्यकताएं इन मानो मे समाज की ही उपज है कि उन पर सामाजिक रीति-रिवाजो तथा स्तरो का प्रभाव पड़ता है, अत आर्थिक नीति विकास की रुपरेखा का निर्धारण करते समय, साथ ही साथ उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं के प्रतिरूप को भी निर्धारित करती है । "समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, योजना-निर्माता कुछ ऐसी वस्तुओं व सेवाओ के उत्पादन मे अगुआ नही बन सकते, जो कि पहले से ही वर्तमान नही है । समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक केन्द्रीय पूर्व लक्ष्य यह होता है कि नये एव उच्च सामाजिक स्तरों की स्थापना की जाए और लक्ष्य जीवन के उच्च स्तर की वृद्धि से पूर्णतया सम्बद्ध तथा अपृथक्कीकरणीय होता है ।"[31]

अत डॉब का निष्कर्ष यह है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, जो कि तीव्र गति से आर्थिक विकास को लागू करती है, आर्थिक-गणना तथा साधनो के बँटवारे की समस्या कुछ भिन्न होती है । इसमे यह हो सकता है कि लेन्ज, लर्नर तथा अन्य लेखको द्वारा प्रतिपादित कुशलता सीमान्त सिद्धान्त इसमे ठीक प्रकार से लागू न हो, अर्थात यह कि उत्पादन उस बिन्दु तक बढाना चाहिए जहाँ पर कि सीमान्त लागत सीमान्त कीमत के बराबर हो । अत इसमे अन्य किसी सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिए ।

समाजवादी मूल्यांकन की श्रेष्ठता (Superiority of Socialist Pricing)

समाजवादी अर्थशास्त्रियो का दावा है कि समाजवादी आर्थिक गणना पूंजीवादी गणना से अनेक कारणो से श्रेष्ठ है । पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे, माँग व्यक्ति की वास्तविक आवश्यकता की सूचक नहीं होती, अपितु उसकी अदा करने की योग्यता तथा इच्छा की प्रतीक होती है । अपनी कम आय के कारण, यह हो सकता है कि श्रमिक वर्ग अपनी अत्यन्त जरूरी आवश्यकताओ की

30 *Ibid*, p. 78 "In a context of change and development it can no longer be assumed that consumers' wants form the given data of the allocation problem "

31. *Ibid*, p 79.

नही करते, उन्हे तो केवल समस्या के सन्तोषजनक व्यावहारिक हल की संभावना मे सदेह है।"[37] बर्गसन (Bergson) ने एक लेख मे, जो कि उन्होने "Survey of Contemporary Economics" के लिये लिखा था, कहा है कि "अब तक यह बात सामान्य रूप से स्वीकृत दिखाई देती है कि इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे स्वय माइसेस ने जो तर्क प्रस्तुत किया था वह, कम से कम एक व्याख्या के अनुसार तो, अधिक वजनदार नही है।"[38]

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1 A C Pigou — Socialism Vs Capitalism
2. Schumpeter — Capitalism, Socialism and Democracy
3 George Halm — Economic Systems, Chapters 5-10, 15 and 20
4 Milton Friendman — Capitalism and Freedom, Chapters 1 and 2

UNIVERSITY QUESTIONS

१ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण क्या है ? इसके गुण-दोषो की विवेचना कीजिए।
What are the main characteristics of capitalist economy ? Discuss its merits and demerits

२ समाजवादी अर्थव्यवस्था किसे कहते हैं ? इसके लाभ-दोषो का वर्णन कीजिए।
What is meant by socialist economy ? Describe its advantages and disadvantages

३ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था क्या है ? पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे सरकारी योगदान की विवेचना कीजिए।
What is capitalist economy ? Discuss the role of the Government in capitalist economy

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे सरकारी योगदान की विवेचना कीजिए।
Discuss the role of the Government in socialist economy

---

37 Oskar Lange and F.M Taylor "*On the Economic Theory of Socialism*," p. 62, "......(Hayep anp Robbins) do not deny the *theoretical* possibility of a rational allocation of resources in a socialist economy they only doubt the possibility satisfactory *practical* solution of the problem "

38. On "Socialist Economics" in "*A Survey of Contemporary Economics*," Vol. I, Edited by Howard S Ellis, p 412, "By now, it seems generally agreed that the argument on these questions advanced by mises himself, at least according to the interpretation, is without much force."

बहुत कुछ सभव है कि समाजवादी योजना-निर्माताओ के अनुमान व उपभोक्ताओ की पसन्द के अनुरूप न हो। तथापि, समाजवादी लेखको ने इसे एकदम ऐसा झूठा प्रचार बताया है जिसने लोगो के मन मे यह बात व्यापक रूप से जगा दी है कि उत्पादन पर प्रभाव डालने की दृष्टि से, समाजवाद मे उपभोक्ताओ की इच्छाओ को कोई स्थान नही दिया जाता। मार्क्स ने लिखा है कि "उपभोग उत्पादन को जीवन प्रदान करता है और साथ ही उत्पादन के निर्देशक लक्ष्य के एक अग के रूप मे कार्य करता है।"[34] सन् १९४५ मे स्टालिन ने लिखा था कि "समाजवाद का मूल आर्थिक नियम सम्पूर्ण समाज की निरन्तर बढती हुई भौतिक एव सास्कृतिक आवश्यकताओ की अधिकतम सन्तुष्टि के लक्ष्य को मानकर चलता है।"[35] अत यह कहा जा सकता है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, व्यक्तिगत उपभोक्ताओ की इच्छाएँ सामाजिक चुनाव से असगत नही होती और वे निश्चित रूप से उत्पादन का मार्ग-दर्शन करती है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे, मूल्य-व्यवस्था (price mechanism) वर्तमान रहती है, यद्यपि उनका उपयोग योजना-अधिकारियो द्वारा ही एक अस्त्र के रूप मे किया जाता है। परन्तु चूँकि इसमे लोगो के बीच आय की अपेक्षाकृत समानताएँ पाई जाती है और चूँकि उपभोक्ताओं को चुनाव की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, अत मूल्य-व्यवस्था सभी व्यक्तियो की पसन्द की होती है, केवल थोडे से व्यक्तियो की नही। उपभोक्ताओ की पसन्द माँग मे पूँजीकृत हो जाती है जो कि युक्तिसगत उत्पादन के सम्बन्ध मे योजना-अधिकारियो का मार्ग-दर्शन करती है। फिर, समाजवादी अर्थव्यवस्था उत्पादन की उन सभी बर्बादियो को समाप्त करती है जो कि स्वतन्त्रता उद्यम वाली अर्थव्यवस्था मे एकाधिकारी प्रतियोगिता तथा पूर्ण प्रतियोगिता से भी सम्बद्ध होती है। एक ओर, पूँजीवाद के अन्तर्गत बहुसख्यक उद्यमकर्त्ता बिना ताल-मेल के ही कार्य करते है जो सम्पूर्ण रूप मे समाज के लिए प्राय बडी मात्रा मे प्रयुक्तिसगत सिद्ध होते है। दूसरी ओर मूल्य-व्यवस्था से युक्त केन्द्रीय नियोजन न केवल प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पसन्द व्यक्त करने का ही अवसर प्रदान करता है, बल्कि साधनो का बँटवारा ऐसे समुचित एव सही तरीके से करता है कि उसकी आवश्यकताएँ भी सन्तुष्ट हो सके। किसी ने ठीक ही कहा है कि योजना बनाना ही विचार करना है और विचार करना ही युक्तिसगत (rational) होना है, अत नियोजन (planning) युक्तिवाद अथवा तर्कवाद की उच्चतम प्रकटीकरण है।

निष्कर्ष (Conclusion)

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे मूल्य-निर्धारण की समस्या की सभावना से सम्बन्धित विवाद अथवा आर्थिक गणना से सम्बन्धित या आर्थिक साधनो के युक्तिसगत बँटवारे से सम्बन्धित समस्या का विवाद अब लगभग समाप्तप्राय है। इस सम्बन्ध मे, मौरिस डॉब का कहना है कि "माइसेस द्वारा प्रारम्भ किया गया विवाद उन लोगो के ही विरुद्ध पडा जिन्होंने कि उसे प्रारम्भ किया था। अब यह बात व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है कि उत्पादन के साधनो के सामाजिक स्वामित्व तथा युक्तिसगत आर्थिक गणना मे कोई मूलभूत असगति (fundamental inconsistency) नही है।"[36] सन् १९३० तक मे भी, समाजवाद के आलोचक माइसेस तर्को से काफी दूर हट गये। जैसा कि ऑस्कर लेन्ज ने कहा है कि "... ....(हेयक और रोबिन्स) समाजवादी अर्थव्यवस्था मे साधनो के युक्तिसगत बँटवारे की सैद्धान्तिक सभावना (theoretical possibility) से इन्कार

---

34 Karl Marx *Cretique of Political Economy*, p 279, "Consumption surnishes the impulse of production as well as its object which plays in production the part of its guiding aim"

35. Joseph Stalin - *Economic Problems of Socialism* in U S S.R. p. 45, "The basic economic law of socialism presupposes the maximum satisfaction of the constantly rising material and cultural requirements of the whole of society."

36 Mourice Dobb On Economic Theory and Socialism," p 56, "The debate which mises started had gode against those who started controversy It is now widely held that there is no fundamental inconsistency between communal ownership of the means of production and rational economic calculation."

तथा निजी उद्यमकर्ताओ द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाता है। इस प्रकार, मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत देश का सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा तीन क्षेत्रो मे बँटा रहता है :—

(क) वह क्षेत्र जिसमे उत्पादन तथा साथ ही साथ वितरण का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण पूर्णतया राज्य के द्वारा किया जाता है और निजी उद्यम को इस क्षेत्र से बिल्कुल बाहर रखा जाता है,

(ख) वह क्षेत्र जिसमे राज्य तथा निजी उद्यम दोनो सम्मिलित रूप से उत्पादन तथा वितरण मे भाग लेते है, और

(ग) वह क्षेत्र जिसमे निजी उद्यम की पूरी पहुँच होती है किन्तु उसे राज्य के सामान्य नियन्त्रण एवं नियमों के अन्तर्गत रहना होता है।

उस अर्थव्यवस्था को, जिसमे सरकार तथा गैर-सरकारी, दोनो उद्यम वर्तमान रहते है हेन्सन ने दोहरी अर्थव्यवस्था और लर्नर ने "नियन्त्रित" (controlled) अर्थव्यवस्था का नाम दिया है। परन्तु सभी जगह लेखको द्वारा यदि किसी शब्द को मान्यता मिली है तो वह 'मिश्रित अथवा मिलीजुली" (mixed) अर्थव्यवस्था ही है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के विचार का विकास (The Evolution of the Concept of Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था की विचारधारा हाल की ही उपज है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस व्यवस्था का जन्म उस समझौते (compromise) के परिणामस्वरूप हुआ जो कि अबन्ध नीति के पूँजीवाद तथा सत्तावादी साम्यवाद (authoritarian communism) के बीच सम्पन्न हुआ। १८वी और १९वी शताब्दी के अर्थशास्त्रियों के लेखो मे मिश्रित अर्थव्यवस्था के विचार का कोई उल्लेख नही मिलता। इसका कारण है कि उन दिनो आर्थिक स्वाधीनता और आर्थिक मामलो मे सरकारी हस्तक्षेप न होना—ये मुख्य प्रचलित सिद्धान्त थे। संस्थापक तथा नव-सम्थापक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, उस समय आर्थिक व्यवस्था सुचारु रूप से कार्य कर रही थी और जो बात व्यक्ति के लिए सर्वाधिक लाभकारी थी, वह समाज मे आर्थिक कल्याण की वृद्धि करने वाली थी। उस समय माना जाता था कि केवल आत्महित की अदृश्य शक्ति (invisible hand of self-interest) द्वारा ही आर्थिक पद्धति मे तालमेल बनाये रखा जा सकता है। मार्क्स ने इन विचारो का स्वीकार नही किया और आर्थिक विकास के समाजवादी एवं साम्यवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। मार्क्स ने कहा कि उत्पादन के सभी साधनो का सामाजीकरण होना चाहिए और राज्य को अर्थव्यवस्था का निर्देशन एवं मार्ग दर्शन करना चाहिए। उसने ऐसी निजी उद्यम व्यवस्था के विचार को पूर्णतया रद्द कर दिया जो व्यक्ति के आत्म-हित, निजी सम्पत्ति तथा अधिकतम लाभो पर आधारित हो। किन्तु मार्क्सवादी विचार पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट नही कर सके।

किन्तु जब पूँजीवादी पद्धति की मौद्रिक एवं अन्य नीतियां बड़ी मन्दी (great depression) का सामना करने मे असफल रही तब अर्थशास्त्रियो और शासको की आँखे खुलीं और उनकी दृष्टि इस व्यवस्था की असल कमजोरियों की ओर गई। सन् १९२६ मे कीन्स ने लिखा कि "ससार का सचालन किसी ऊपरी शक्ति द्वारा इस प्रकार नही किया जाता कि जिससे निजी हित तथा सामाजिक हित सदा एक दूसरे के अनुरूप रहें""""। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो से निकाला गया यह निष्कर्ष सही नही है कि प्रबुद्ध स्वार्थ (inlightened self-interest) सदा ही जनहित मे सचालित होता है। और न ही यह सत्य है कि स्वार्थ अथवा स्व-हित (self-interest) सामान्यतः प्रबुद्ध (enlightened) होता है। व्यक्ति अक्सर स्वयं अपने ही हितों की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक्

२

मिश्रित अर्थव्यवस्था
(Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ एव उसका विषयक्षेत्र (Meaning and Content of Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था दो ऐसी परस्पर विरोधी विचारधाराओ के बीच हुए समझौते का परिणाम है जिसमे से एक विचारधारा अबन्ध स्वतन्त्र नीति के पूँजीवाद (laissez-faire capitalism) का पक्ष-पोषण करती है तो दूसरी उत्पादन के सभी साधनो के समाजीकरण और सरकार द्वारा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के नियन्त्रण का दृढ समर्थन करती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था मे इन दोनो ही प्रकार की विचारधाराओ के सर्वोत्तम तत्त्व एकत्र किये गये हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था निजी उद्यम पद्धति को स्वीकार करती है और इस पद्धति के आत्म हित (self-interest) तथा लाभ की प्रेरणा (profit motive) जैसे लक्षणो पर जोर देती है। ब्रिटेन व सयुक्त राज्य अमेरिका तथा योरोप, आस्ट्रेलिया व अमेरिका महाद्वीपो के सभी स्वतन्त्र देशो का व्यापक आर्थिक विकास निजी अथवा गैर-सरकारी उद्यमो (private enterprises) द्वारा हुआ है। परन्तु कभी-कभी उद्यमकर्त्ताओ का स्व-हित समाज के सामान्य हितो के विरुद्ध पड जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार अपने लिए एक ऐसा क्षेत्र सुरक्षित रखती है जिसमे जनहित तथा जनकल्याण के पक्ष मे लाभ की प्रेरणा को समाप्त कर दिया जाता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की विचारधारा मे सरकारी उद्यम (public enterprise) के साथ ही साथ गैर-सरकारी उद्यम के अस्तित्व की सभावना को भी स्वीकार किया जाता है। परन्तु इस स्थिति मे निजी उद्यम को चाहिए कि वह आत्म-हित के तत्त्व का सामाजिक हित के तत्त्व मे मेल बनाये रखे और कुछ मामलो मे तो निजी उद्यम के अस्तित्व की अनुमति केवल इस शर्त पर ही दी जा सकती है कि वह समाज की बडी मात्रा मे सेवा करे। फिर, यह भी हो सकता है कि निजी अथवा गैर-सरकारी उद्यम को अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रमुख स्थान प्राप्त करने की अनुमति न दी जाये। कृषि तथा लघु-व्यवसाय जैसे कुछ क्षेत्रो मे जहाँ इसे खुली छूट दे दी जाती है, वहाँ अन्य क्षेत्रो मे यह हो सकता है कि इसे बहुत ही सीमित मात्रा मे भाग लेने की अनुमति दी जाये। इसके अतिरिक्त, सामरिक तथा राष्ट्रीय महत्व के कुछ क्षेत्र ऐसे भी हो सकते हैं, जहाँ निजी उद्यम को कतई भी प्रवेश की अनुमति न हो।

मिश्रित अर्थव्यवस्था मे, आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र मे सरकार को ठोस योगदान करना होता है। इसमे कुछ उद्योग तो पूर्णतया राज्य के स्वामित्व मे रहते हैं और कुछ का प्रबन्ध सरकार

(२) मिश्रित अर्थव्यवस्था आवश्यक रूप मे एक नियोजित अर्थव्यवस्था होती है—मिश्रित अर्थव्यवस्था अनिवार्य रूप मे एक नियोजित अथवा आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (planned economy) होना है। मिश्रित अर्थव्यवस्था मे आशय केवल एक ऐसी नियन्त्रित अर्थव्यवस्था से नही होता जिसमे कि सरकार राजकोषीय एव मौद्रिक नीतियो के द्वारा आर्थिक मामलो मे हस्तक्षेप किया करती है, अपितु एक ऐसी अर्थव्यवस्था में होना है जिसमे सरकार एक स्पष्ट तथा निश्चित आर्थिक योजना के साथ आगे बढ़ती है। सरकार को आर्थिक योजना इसलिए बनानी होती है क्यो कि सरकारी क्षेत्र को एक निश्चित आयोजन के साथ अपना कार्य करना होता है और कुछ सामाजिक तथा आर्थिक लक्ष्य प्राप्त करने होते हैं। परन्तु सरकार निजी क्षेत्र को भी उसके स्वय अपने ही असगठित तरीके से विकसित होने के लिए नही छोड सकती अत उसे एक ऐसी स्वीकृत योजना (integrated plane) तैयार करना होता है जिसमे कि निजी क्षेत्र को एक सुनिश्चित स्थान प्राप्त होना है।

(३) पूंजी तथा समाजवाद दोनो लक्षणों का होना—मिश्रित अर्थव्यवस्था मे पूंजीवाद तथा समाजवाद, दोनो के मुख्य लक्षण बडे स्पष्ट एव सयुक्त रूप मे पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए निजी अथवा गैर-सरकारी क्षेत्र के उद्योग आत्महित तथा लाभ की प्रेरणा पर आधारित होते है। व्यक्ति को पहल करने का पूर्ण अवसर उपलब्ध रहता है और निजी सम्पत्ति की पद्धति को मान्यता प्राप्त होती है। व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा प्रतियोगिता का भी अस्तित्व बना रहता है। परन्तु साथ ही, यह व्यवस्था स्वतन्त्र अथवा अबन्ध नीति का पूंजीवाद नही होती। हाँ इसे नियन्त्रित पूंजीवाद अवश्य कह सकते हैं क्योकि इसमे स्वतन्त्र उद्यम तथा पहल शक्ति, आत्महित तथा लाभ की प्रेरक शक्तियाँ, निजी सम्पत्ति की पद्धति आदि सभी बातें समाज के हित की दृष्टि से सीमित कर दी जाती हैं। इन्हे या तो कुछ उद्योगो तक ही सीमित कर दिया जाता है। अथवा विधान एव अन्य उपायो द्वारा उन पर नियन्त्रण लागू किया जाता है। दूसरी ओर सरकारी क्षेत्र के उद्योगो का प्रबन्ध एव सचालन समाज के कल्याण के आधार पर किया जाता है। इस क्षेत्र मे निजी सम्पत्ति तथा लाभ की प्रेरणा को कोई स्थान प्राप्त नही होता। प्रतियोगिता से बचा जाता है और इसीलिए प्रतियोगिता के कुछ सम्भावित अपव्ययो से भी मुक्ति मिल जाती है। नियोजित (planning) तथा आमदनियों की सापेक्षिक समानता के लाभो तथा निजी पहल एव लाभ की प्रेरणा (profit motive) के लाभो में अच्छी तालमेल बैठाई जाती है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था का मूल्यांकन
(An Evaluation of Mixed Economy)

पूंजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ के मध्य मार्ग के रूप मे अपनाई जाने वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था मे अनेक गुण पाये जाते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मिश्रित अर्थव्यवस्था मे पूंजीवाद तथा समाजवाद, दोनो के ही गुण देखे जा सकते हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के गुण (Merits of Mixed Economy) ·

(१) निजी प्रेरणा को अवसर (scope to private initiative)—मिश्रित अर्थव्यवस्था निजी पहल (private initiative), आत्म-हित (self interest) तथा लाभ की प्रेरणा को खुल कर खेलने के लिए समुचित क्षेत्र प्रदान करती है। प्रतियोगिता तथा मूल्य-व्यवस्था को इस बात की अनुमति होती है कि वे साधनो के बंटवारे तथा उत्पादन की कुशलता को प्रभावित कर सकें। मिश्रित अर्थव्यवस्था मे, व्यक्ति को आर्थिक राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त होती है अत उपभोक्ताओं को वस्तुओं का चुनाव करने की तथा लोगो को धन्धो (occupations) का चुनाव करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इस प्रकार, मिश्रित अर्थव्यवस्था मे उन सभी तत्वो के लाभ वर्तमान रहते हैं जो कि स्वतन्त्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को कल्याण की दृष्टि से सर्वाधिक कुशल बनाते हैं।

(२) समाजवादी अर्थव्यवस्था के लाभ (advantages of a socialist economy)—मिश्रित अर्थव्यवस्था मे समाजवादी अर्थव्यवस्था के मुख्य लाभ भी निहित हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था एव आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था होती है। अत अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों म साधनो का बंटवारा

कार्य किया करते है और सामाजिक हितो की पूर्ति के प्रति अत्यधिक न जानकार अथवा अत्यधिक कमजोर होते है।"[1] ये विचार उस समय सही सिद्ध हुए जबकि बड़ी मन्दी ने संस्थापक अर्थशास्त्रियो के इस दावे का खोखलापन प्रकट कर दिया कि पूँजीवादी पद्धति सदा सुचारु रूप से कार्य करती रहती है।

पुरानी पूँजीवादी व्यवस्था की असफलता की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया यह हुई कि समाजवादी अर्थव्यवस्था का समर्थन किया जाने लगा। यह कहा गया कि उत्पादन के साधनो का पूर्ण समाजीकरण और उत्पादन एव वितरण पर राज्य का नियन्त्रण ही समकालीन समाज की जटिल समस्याओ का आदर्श हल होगा। इस प्रकार, पुरानी व्यवस्था का पतन तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था की विजय उस समय पूर्ण हो गई जबकि संस्थापक सम्प्रदाय (classical school) के अन्तिम घटक प्रो० पीगू ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पर समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता की प्रबल शब्दों मे वकालत की। उन्होने लिखा कि "समाजवादी केन्द्रीय नियोजन की व्यवस्था, यदि प्रभावपूर्ण रीति से सगठित की जा सके तो अनेक दृष्टियो से हमारी वर्तमान पूँजीवादी पद्धति से अधिक मान्य तथा तरजीह देने योग्य है।"[2]

ये थी वे परिस्थितियाँ जिनके अन्तर्गत एक समझौता (compromise formula) का प्रतिपादन किया गया। इस सूत्र के प्रतिपादन मे स्वय कीन्स ने महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया। उसका विचार था कि पूँजीवाद, यदि इसके कुछ दोष दूर कर दिये जायें तो एक बड़ी अच्छी व्यवस्था है। इधर सत्तावादी किस्म का समाजवाद व्यक्ति की आर्थिक एव राजनैतिक स्वाधीनता को समुद्र मे डुबा देता है। लेकिन आधुनिक जटिल समाज मे राज्य का नियन्त्रण तथा निर्देशन होना भी अत्यावश्यक है। इस स्थिति मे, यह आवश्यक हो गया कि समाजवादी अर्थव्यवस्था के तीव्र राजकीय हस्तक्षेप तथा स्वतन्त्र पूँजीवाद के बीच कोई समझौते का मार्ग ढूँढा जाए। इसके लिए हल्की मात्रा मे राज्य का नियन्त्रण और हल्के रूप में पूँजीवादी पद्धति को लागू करने का सुझाव दिया गया है। कीन्स तथा हैंसन के इन विचारों मे से ही बाद मे मिश्रित अर्थव्यवस्था के विचार का उदय हुआ।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के लक्षण (Features of Mixed Economy) :

(१) **निजी तथा सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों की विद्यमानता** (existance of both private and public sectors)—मिश्रित अर्थव्यवस्था का सबसे पहला महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि इसके अन्तर्गत सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनो क्षेत्र वर्तमान रहते हैं। एक प्रकार से, पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं को मिलाकर मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र अवश्य वर्तमान रहता है और समाजवादी अर्थव्यवस्था में छोटे से निजी क्षेत्र का अस्तित्व रहता है। पूँजीवादी अथवा समाजवादी अर्थव्यवस्था मे छोटे से सरकारी अथवा निजी क्षेत्र के वर्तमान होने मात्र से ही ये अर्थव्यवस्थाएँ मिश्रित अर्थव्यवस्था में परिवर्तित नही होगी। बल्कि मिश्रित अर्थव्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि सरकार को एक निश्चित नीति का अनुसरण करना होता है और विधान मण्डल के द्वारा अपने इस निश्चय की घोषणा करनी होती है कि दोनो ही क्षेत्रो (sectors) का अस्तित्व साथ-साथ बना रहेगा। यही नही, कानून के द्वारा सरकारी तथा निजी, दोनों ही क्षेत्रो की सीमाएँ भी स्पष्ट रूप से निर्धारित करनी होती हैं।

---

1. J M Keynes : *The end of Laissez-Faire*," "The world is not so governed from above that private and social interests always concide...It is not a correct deduction from the principles of economics that enlightened self interest always operates in the public interest. Nor is it true that *self-interest is generally enlightened*. More often individuals acting separately to promote their own ends are too ignorant or too weak to attain even those."

2. A C. Pigou · *Socialism Versus Capitalism*" (1937) "The system of socialist central planning, if it could be effectively organised, would be in many respects preferable to our existing capitalism system."

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अत्यधिक आरोही कर (highly progressive taxes) उन्नत अर्थव्यवस्थाओं (advanced economics) में इसलिए न्यायोचित ठहराये जाते हैं कि जिससे असमानताओं को कम करने का समाजवादी लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। यह हो सकता है कि एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था में आय की असमानताओं में कमी करना मुख्य लक्ष्य न हो, उसमे तो स्पष्टत सरकार का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य तीव्रगति से आर्थिक प्रगति करना होता है। यदि इसको मान भी लिया जाय कि आय तथा धन की असमानताओं में कमी करना एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है, फिर प्रश्न यह सामने आता है कि क्या आरोही कराधान ही इस लक्ष्य को प्राप्त करने का केवल एक मात्र उपलब्ध विकल्प (alternative) है?

इसके अतिरिक्त, सामर्थ्य सिद्धान्त तथा आरोहण पद्धति निश्चय ही इस मान्यता पर आधारित है कि कराधान का प्राथमिक उद्देश्य पूर्णतया यही है कि कुछ सामूहिक लाभों की लागत अदा करने के लिए अशदान दिया जाय किन्तु क्रियाशील वित्त (functional finance) तथा सक्रियकारी वित्त (activating finance) के दृष्टिकोणों के अनुसार कराधान को आर्थिक प्रगति के लिए साधनों की प्राप्ति का एक अस्त्र माना जाता है। सरकारी व्यय के लिए वित्तीय व्यवस्था करना महत्वपूर्ण तो है किन्तु वह प्रासगिक (incidental) है। जो बात इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है, वह यह कि विनियोग (investment) तथा आर्थिक प्रगति की रफ्तार में तेजी लायी जाय। वास्तव में यह बात भी विनियोग तथा आर्थिक प्रगति की दर पर निर्भर होती है कि सरकारी सेवाओं की मात्रा कितनी होगी। यदि इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाय तो कम विकसित अर्थव्यवस्था में सामर्थ्य सिद्धान्त (principle of ability) तथा आरोहण पद्धति कर-ढांचे के मूलभूत सिद्धान्त नहीं बन सकते।

अन्त में, एक कम विकसित देश में आरोहण के सिद्धान्त को केवल सीमित मात्रा में ही लागू किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष करों का क्षेत्र सीमित होता है। एक कम विकसित देश मे, जितने वित्त की आवश्यकता होती है उसकी प्राप्ति मुख्य रूप से आय तथा धन पर प्रत्यक्ष करों को लागू करके ही नहीं की जा सकती, अपितु उसकी प्राप्ति के लिए मुख्य भरोसा परोक्ष करों पर ही करना होता है। यद्यपि परोक्ष कराधान (indirect taxation) में आरोहण का कुछ तत्व सम्मिलित किया जा सकता है, किन्तु फिर भी परोक्ष कराधान अनिवार्यत अवरोही (regresive) ही होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आरोही कराधान (progressive taxation) का सैद्धान्तिक एव सामाजिक औचित्य चाहे कुछ भी क्यों न हो, कम विकसित देशों में इसे केवल सीमित मात्रा में ही लागू किया जा सकता है।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1 R A Musgrave — The Theory of Public Finance

2. Hugh Dalton — Principles of Public Finance, Chapter 9

3 A C Pigou · A Study of Public Finance, part (II), Chapters (I) & (IV)

4 Groves — View Points on Public Finance, Chapter 8

5 Buchler — Public Finance, Chapter (XVII)

6 E H Plank · Public Finance.

7 J. S. oniee . Principles of Political Economy

8. William Petty — A Treatise of Taxes and Contributions Ch. 15.

9 R. N. Bhargava — The Theory and Working of Union Finance in India.

सर्वाधिक कुशल एव आर्थिक रीति से किया जाता है। इसके अतिरिक्त, अर्थव्यवस्था के प्रमुख उद्योग सरकार से सम्बन्धित होते हैं, परिणामस्वरूप उनमे निजी लाभो का स्थान सामाजिक हित तथा कल्याण को प्राप्त होता है। फिर, चूँकि कुछ उद्योगो मे पूर्णतया निजी क्षेत्र का अस्तित्व होता है और कुछ उद्योगो मे सरकार निजी तथा उद्यमी, दोनो ही साथ-साथ बने रहते है अत. इससे काफी मात्रा मे प्रतियोगिता तथा उत्पादन की कुशलता की गारण्टी मिलती है। चक्रीय उतार-चढाव (cyclical fluctuations), जो कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्षण है, इसमे समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार, एकाधिकारी शोषण तथा आय की असमानताओं का भी लोप हो जाता है।

इस प्रकार, मिश्रित अर्थव्यवस्था मे पूँजीवाद तथा समाजवाद, दोनो के ही लाभो का तो समावेश है किन्तु उपरोक्त लाभो के होते हुए भी मिश्रित अर्थव्यवस्था की कटु आलोचना की जाती है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की आलोचनायें (Criticism of Mixed Economy) :

(१) **दीर्घकाल तक न रह सकना** (non-existence for a long time)—मिश्रित अर्थव्यवस्था की एक गम्भीर आलोचना यह की जाती है कि जिसका रूप वर्णन किया गया है उस रूप मे यह अधिक समय तक बनी नही रह सकती। या तो सरकारी क्षेत्र अपना विस्तार इस सीमा तक कर लेता है कि बिना किसी कठिनाई के ही निजी क्षेत्र को निगलने मे समर्थ हो जाता है *अथवा निजी क्षेत्र को बहुत ही कम महत्त्वपूर्ण भाग अदा करने को बाध्य कर देता है* ऐसा तब सम्भव होता है जबकि अर्थव्यवस्था के कुछ नियन्त्रणकारी उद्यम, जैसे कि परिवहन बैंकिंग, बीमा तथा अन्य वित्तीय सस्थाएँ और आधारभूत तथा मूलभूत उद्योग सरकार के स्वामित्व तथा प्रबन्ध मे रहते है और निजी क्षेत्र के उद्योगो को अन्तत सरकार पर ही निर्भर रहना होता है। अथवा सरकार को निजी क्षेत्र पर इस सीमा तक निर्भर रहना पड सकता है कि सरकारी क्षेत्र का महत्त्व ही समाप्त हो जाए। यह भी हो सकता है कि निजी क्षेत्र, जो कि अनेक सदिग्ध तरीके अपनाने का अभ्यस्त होता है, सरकारी क्षेत्र के कार्य सचालन मे बाधाएँ खडी कर दे और इस प्रकार सरकारी क्षेत्र को जनता के सम्मुख बदनाम कर दे। परन्तु यदि पिछले अनुभव तथा रूस जैसे देशो से कुछ सीखा जा सकता है तो सम्भावना यही है कि आगे चलकर मिश्रित अर्थव्यवस्था समाजवादी अर्थव्यवस्था मे परिवर्तित हो जाती है।

(२) **कुशलता का प्रभाव** (lack of efficiency)—मिश्रित अर्थव्यवस्था की दूसरी आलोचना यह की जाती है कि हो सकता है कि यह व्यवस्था वास्तव मे कुशल न हो। यह भी सम्भव है कि पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ के बीच का एक समझौता होने के कारण इस व्यवस्था से वास्तव मे किसी को भी लाभ प्राप्त न हो सके। उदाहरण के लिए, यह सम्भव है कि निजी क्षेत्र को विकास के लिए पर्याप्त स्वाधीनता तथा प्रेरणा प्राप्त न हो सके और लाभ की प्रेरणा पर कराधान के द्वारा काफी रोक लगा दी जाए। इस प्रकार, इधर तो निजी क्षेत्र को सरकारी नियन्त्रण तथा नियमन के द्वारा पगु बना दिया जाता है और उधर हो सकता है कि सरकारी क्षेत्र प्रभावशाली सिद्ध न हो। सरकारी क्षेत्र की अकुशलता के लिए दो विशेष कठिनाइयो का *जिक्र किया जा सकता है।* प्रथम कठिनाई है सरकारी उद्यमो को चलाने के लिए योग्य एव कुशल कर्मचारियो का अभाव। यह कठिनाई उन्नत देशो तक मे पाई जाती है। और भारत जैसे अल्प-विकसित देशो मे तो विशेष रूप से पाई जाती है। दूसरे, इसमे सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनो क्षेत्रो के लिए व्यापक नियोजन की आवश्यकता होती है परन्तु एक अल्पविकसित देश मे ऐसा करना आसान नही होता। इसलिए, हो सकता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था इतनी कुशल अथवा प्रभावशाली सिद्ध न हो जितनी स्वतन्त्र उद्यम-अर्थव्यवस्था होती है।

(३) **निजी क्षेत्र के विचलित होने का भय** (danger of deviation of private sector)—मिश्रित अर्थव्यवस्था का तीसरा दोष यह है कि जहाँ सरकारी क्षेत्र के उद्योग प्रभावी नियन्त्रण तथा निर्देशन के अधीन कार्य करते हैं, वहाँ गैर-सरकारी क्षेत्र के उद्योग आन्तरिक तथा विदेशी *बाजार-शक्तियो* के प्रवाह मे बहते है। यह हो सकता है कि निजी क्षेत्र के उद्योगो पर यदि सरकार का नियन्त्रण प्रभावशाली तरीके से लागू न किया जाए तो वे अपने निर्धारित एव

नियोजित ढाँचे से विचलित हो जाएँ। सामान्य रूप से होता यह है कि सरकार अथवा योजना आयोग (planning commission) के पास मूल्य-नियन्त्रण की तथा निजी क्षेत्र के उद्योगो के नियमन (regulation) की कोई योजना नही होती, और इस स्थिति मे प्राइवेट क्षेत्र के विकास से होने वाला कोई भी गम्भीर विचलन (serious deviation) सरकारी क्षेत्र के विकास पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है। इस प्रकार, मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत जब तक कि नियन्त्रण की कोई प्रभावशाली पद्धति लागू नही की जाती तब तक इसमे आर्थिक उतार-चढाव आते ही रहते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion) :

किन्तु इसके बावजूद, यह कहा जा सकता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था के दोषो को अनुभव-प्राप्ति के साथ ही साथ सरलता से दूर किया जा सकता है। समय बीतने के साथ ही साथ, मिश्रित अर्थव्यवस्था मे दोनो ही क्षेत्रो के बीच एक ऐसा सर्वोत्तम सन्तुलन बनाया जा सकता है जिसमे न कोई क्षेत्र किसी दूसरे क्षेत्र का महत्त्व कम कर सके और न दूसरे पर हावी हो सके। फिर, आगे चलकर सरकार तथा निजी उद्यम दोनो ही एक-दूसरे के योगदान के महत्त्व को समझ सकते हैं और इस प्रकार एक दूसरे के लाभो के लिए परस्पर सहयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, मिश्रित अर्थव्यवस्था मे कुशलता की मात्रा उस सीमा से अधिक बढाई जा सकती है जितनी कि पहली दोनो अर्थव्यवस्था मे मे किसी मे भी सम्भव है। अर्थशास्त्री इस विषय मे एक मत हैं कि मिश्रित अर्थव्यवस्था अबन्ध नीति के पूँजीवाद तथा सत्तावादी साम्यवाद के बीच एक समझौते के रूप मे अधिक प्रचलित होगी।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार का योग
(The Role of Government in a Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सरकार उन सभी कार्यों को सम्पन्न करती है जो कि इसके सहायक अगो द्वारा स्वतन्त्र उद्यम अर्थव्यवस्था मे सम्पन्न किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, सरकार कुछ ऐसी सेवाओ की व्यवस्था कर सकती है जिनकी व्यवस्था लोग स्वय नही करते या लोगो द्वारा नही की जा सकती, या वनरोपण (afforestation) जैसी सरक्षी सेवाएँ (conservation services) अपने हाथ मे ले सकती है, एकाधिकारी क्रियाओं को नियन्त्रित कर सकती है, प्रतियोगिता की दशाएँ उत्पन्न कर सकती है, राष्ट्रीय हित मे कुछ वस्तुओ की व्यवस्था कर सकती है, अथवा बेरोजगारी दूर कर सकती है और सामान्य रूप मे कीमतो पर तथा वस्तुओ के उत्पादन व वितरण पर नियन्त्रण लगा सकती है।

इन सब आर्थिक कार्यों के साथ ही साथ, सरकार देश के औद्योगिक विकास मे भी सक्रिय रुचि लेती है। औद्योगीकरण की गति तेज करने के लिए, सरकार कुछ ऐसे उद्योगो को चालू कर सकती है जिनमे कि निजी उद्यमी रुचि न लेते हो अथवा जिसकी लागत निजी क्षेत्र की सामर्थ्य से बाहर हो। इस श्रेणी के उद्योगो मे बिजली उत्पन्न करने वाली प्रयोजनाएँ (projects) परिवहन व सचार सुविधाएँ प्रदान करने वाले उद्यम तथा आधारभूत या मूलभूत उद्योग सम्मिलित किये जा सकते हैं। इनमे से कुछ उद्योग तो सामाजिक एव आर्थिक सस्थाओ की प्रकृति के होते हैं जिनका आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पडता है। कभी-कभी सरकार ऐसे उद्योगो मे ही नई इकाइयाँ चालू कर सकती है जिनमे कि पहले से ही निजी स्वामित्व की इकाइयाँ वर्तमान होती हैं। यहाँ उद्देश्य पहले की वर्तमान निजी इकाइयों से प्रतियोगिता करना नही होता, अपितु देश के औद्योगिक विकास की गति तेज करना होता है।

महत्त्वपूर्ण उद्योगो का स्वय सचालन करने के अलावा, सरकार अनेक प्रकार से निजी क्षेत्र की सहायता कर सकती है जैसे, कि अनेक वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करना। ये सुविधाएँ वित्तीय सस्थाओ की स्थापना करके, निजी क्षेत्र की उपज को सरक्षण प्रदान करके तथा उपयुक्त कर-उपायो द्वारा निवेश को सुविधाजनक बनाकर प्रदान की जा सकती हैं। परन्तु निजी क्षेत्र के उद्योगो को अनाप-शनाप तरीके से आगे बढने की अनुमति नही दी जा सकती, अपितु वे सामान्य रूप से निर्धारित रूपरेखा के अनुसार ही अपना विकास कर सकते हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में, एक शक्तिशाली योजना आयोग अथवा योजना मण्डल होता है जिसे इस सम्बन्ध में पूरे अधिकार दिये जाते है कि सरकारी क्षेत्र के लिए योजना तैयार करे और सरकारी क्षेत्र के लिए लक्ष्यों (targets) का निर्धारण करें। यह योजना आयोग ही राज्य के निर्देशक सिद्धान्तो के सामान्य ढांचे की सीमा में रहते हुए अर्थव्यवस्था के सामाजिक एवं आर्थिक लक्ष्यो का निर्धारण करता है और उनकी प्राप्ति के उपाय सुझाता है। यह इस बात का भी निर्धारण करता है कि निजी क्षेत्र पर किस प्रकार का नियन्त्रण एव नियमन लागू किया जाए और उन्हे किस प्रकार के निर्देश दिये जाएँ। इस प्रकार योजना आयोग अथवा नियोजन करने वाली सत्ता को एक ऐसी सर्वोच्च आर्थिक परिषद् माना जा सकता है जिसको उद्योगो एव क्षेत्रो के बीच साधनो का बँटवारा करने तथा उत्पादन एव उपयोग को प्रभावित करने के लिए काफी अधिकार होते हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, चूँकि सरकार को कुछ संवैधानिक व्यवस्थाओ के अधीन कार्य करना होता है अतः वह अपनी शक्तियो का उपयोग तानाशाही तरीके से नही कर सकती। इसके अतिरिक्त इसमे व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा पसद (choice) की भी गारण्टी दी जाती है, इसीलिए इसको सामान्य रूप से मान्यता दी जाती है।

भारत—मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक उदाहरण
(India—As a Mixed Economy)

भारत को मिश्रित अर्थव्यवस्था का सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है। भारत मे ऐसीअर्थव्यवस्था का विकास भारतीय सविधान मे राजनीति के निदेशक सिद्धान्तो (directive principles of state policy) के मूल्यो पर आधारित है। इन निदेशक सिद्धान्तो के अनुसार, यह राज्य का उत्तरदायित्व है कि वह देश मे लोकतान्त्रीय पद्धति की सरकार की स्थापना करे और लोकतन्त्रीय ढांचे की परिधि मे ही, भारतीय अर्थव्यवस्था का इतनी तेजी से आर्थिक विकास करे जिससे राष्ट्रीय आय तथा लोगों के जीवन स्तर मे वृद्धि हो। भारतीय संविधान के निदेशक सिद्धान्तो मे कहा गया है कि "लोगो के कल्याण मे वृद्धि करने के लिए राज्य यथाशक्ति एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न करेगा जिसमे राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाओ को सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक न्याय प्राप्त हो सके।" आर्थिक क्षेत्र मे, सरकार को अपनी नीति का सचालन इस प्रकार से करना होता है कि जिससे स्वामित्व का अधिक श्रेष्ठ वितरण हो सके, देश के भौतिक साधनो पर नियन्त्रण रखा जा सके और श्रमिको के शोषण एव कुछ थोडे से हाथो मे धन के केन्द्रीयकरण को रोका जा सके। परन्तु निदेशक सिद्धान्तो मे निहित लक्ष्यो की पूर्ति करना राज्य के लिए उस समय तक असम्भव है जब तक कि वह उत्पादन एव वितरण के क्षेत्र मे स्वय प्रवेश न करें। भारत की विशाल जनसख्या के रहन-सहन एव राष्ट्रीय आय के स्तर को राज्य तब तक कैसे ऊँचा उठा सकता है जब तक कि वह स्वय हिस्सा लेकर देश का तीव्रगति से औद्योगीकरण न करे।

अत. भारत मे राज्य समाजवादी ढग के ऐसे समाज की स्थापना के लिए वचन वद्ध है जिसमे कि धन की वर्तमान तीव्र असमानताएँ न्यूनतम हो जाएँ। पर इसके लिए सरकार उस निजी उद्यम व्यवस्था को समाप्त नही करेगी, जो कि अपनी अनेक कमियो के बावजूद, उत्पादन तथा वितरण के क्षेत्र मे बड़ा महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। इस प्रकार, हमारी मिश्रित अर्थव्यवस्था लोकतन्त्र (democracy) तथा समाजवाद (socialism) के प्रति हमारी भक्ति का परिणाम है। फलस्वरूप, भारत में सरकारी व गैर-सरकारी दोनो ही क्षेत्र साथ-साथ बढ रहे हैं।

भारत में सरकारी तथा गैर-सरकारी क्षेत्र (Public and Private Sectors in India).

यह आवश्यक है कि इन दोनों ही क्षेत्र के बीच उद्योगो का जो विभाजन किया गया है, उसका संक्षेप मे उल्लेख किया जाए। सन् १९५६ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी वक्तव्य के अनुसार, उद्योगो को तीन वर्गों मे बांटा गया है। प्रथम वर्ग मे वे उद्योग है जिनके विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य पर डाला गया है। इस वर्ग मे ये उद्योग हैं - अस्त्र-शस्त्र व गोला बारूद, अणु-शक्ति, लोहा व इस्पात, भारी यन्त्र व मशीनरी जो लोहा व इस्पात के उत्पादन के लिए आवश्यक

हो, भारी विद्युत यन्त्र जिनमें जलशक्ति और भाप से चलने वाले टरबाइन इंजिन भी सम्मिलित हैं कोयला तथा लिगनाइट, खनिज तेल, वायुयान, वायु तथा रेल परिवहन, जलयान-निर्माण, टेलीफोन, बिजली का उत्पादन तथा वितरण आदि। इन उद्योगों में सभी नई इकाइयों की स्थापना सरकार द्वारा ही की जायेगी। परन्तु इन उद्योगों में जो निजी इकाइयाँ चालू है, उन्हे न केवल चालू ही रहने दिया जायेगा बल्कि विस्तार के लिए भी सभी सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी।

दूसरे वर्ग मे जो उद्योग सम्मिलित किये गये है वे भविष्य मे अधिकाधिक सरकारी स्वामित्व मे ही खुलेंगे परन्तु निजी उद्यम कर्ताओं को भी यह अवसर प्राप्त होगा कि वे राज्य के प्रयत्नो मे हाथ बटा सके। इनमे ये उद्योग सम्मिलित हैं : "गौण खनिज पदार्थों को छोडकर सारे खनिज पदार्थ, एलम्यूनियम तथा अन्य अलोह धातुयें, मशीनी औजार, मूल तथा ऐसे उत्पादक पदार्थ जिनका रासायनिक उद्योगों मे जैसे कि दवाइयों, रगो तथा प्लास्टिक के निर्माण में उपयोग हो सके जीवाणुद्वेषी (antibiotics) तथा अन्य आवश्यक औषधियाँ, रासायनिक खाद, कृत्रिम रबड, सडक परिवहन, समुद्र-परिवहन आदि। इस वर्ग के उद्योगो मे सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनो ही उद्योगो की समान रूप से पहुँच है। किन्तु फिर भी सरकारी क्षेत्र को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, इन उद्योगो पर अधिकाधिक रूप में राज्य का ही स्वामित्व होता जायेगा।

अन्त मे, **तीसरे वर्ग** मे वे उद्योग हैं जो प्रथम तथा द्वितीय वर्ग मे सम्मिलित नही है। इन उद्योगो के विकास तथा विस्तार का कार्य निजी उद्यम पर छोड दिया गया है। सामान्य रूप से तो सरकार इस क्षेत्र मे प्रवेश नही करेगी, किन्तु यदि देश-हित की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक हुआ तो बात दूसरी है। परन्तु सरकार सन् १९५१ के उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम (सन् १९६६ मे सशोधित) के द्वारा सभी निजी उद्यमो पर नियन्त्रण रखती है। सरकार वित्त की व्यवस्था करके निजी क्षेत्र के उद्योगो की सहायता भी करती है।

यहाँ इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि देश के आर्थिक ढाँचे को तीन भिन्न क्षेत्रो मे विभाजित कर देने का अर्थ यह नही है कि उनके बीच कोई बडी रेखा खींची है। यह वर्गीकरण तो केवल प्रशासनिक सुविधा के लिए तथा अतिव्यापन (overlapping) के कारण उत्पन्न भ्रम को दूर करने के लिए है। वास्तव मे, एक क्षेत्र की छाया दूसरे पर प्रतिबिम्बित होती है। जैसाकि योजना आयोग ने कहा है कि "आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था मे, सरकार तथा गैर-सरकारी क्षेत्र के बीच का अन्तर आपेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से है। वैसे दोनो ही क्षेत्र एक ही शरीर के अग हैं और उसी रूप मे कार्य करते है।"

भारत के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था को उपयुक्तता (Suitability of Mixed Economy to India)

भारतीय उद्योगो के आयोजनाबद्ध विकास के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था उपयुक्त है या नही—इसका पता निम्नलिखित तीन बातो से लगाया जा सकता है (क) अर्थव्यवस्था के विकास की गति, (ख) विकास के लाभो का वितरण, और (ग) उत्पादन क्षमता मे वृद्धि करने के प्रति लोगो का उत्साह।

(क) अर्थव्यवस्था के विकास की गति (the peace of growth of the economy)—जो लोग नियोजन तथा आर्थिक मामलो म राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करते है, उनका विश्वास है कि यदि सरकार ने गैर-सरकारी क्षेत्र पर नियन्त्रण न लगाया होता तो अर्थव्यवस्था के विकास की गति और भी तेज होती। तथापि सामान्यत स्वीकृत मत यह है कि उस स्थिति मे राज्य की विकास योजनाओ के विकास की दर अवश्य सम्भवत धीमी होती। एक दशाब्दी (decade) मे ही तीन इस्पात कारखानो की स्थापना, तथा रेल इ जिन के कारखाने, रेल के सवारी डिब्बो के कारखाने, मशीनी औजार जीवाणु द्वेषी (antibiotics) व तेलशोधन कारखानों, भारी विद्युत सयन्त्रो के कारखाने, अणुशक्ति तथा विद्युत प्रयोजनाओं आदि की स्थापना—ये सब राज्य की क्रियाओ की वाञ्छनीयता के स्पष्ट प्रमाण हैं। राज्य ने पिछडे क्षेत्रो के विकास की कार्यवाहियाँ को आगे बढाने मे काफी मदद की है और परिवहन व सचार साधनो का तेजी से विकास करके देश के औद्योगीकरण को गति प्रदान की है। सरकारी क्षेत्र के उद्योगो के विस्तार का प्रत्यक्ष परिणाम

यह हुआ है कि निजी क्षेत्र के उद्योगो मे भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इस तथ्य को सभी प्रेक्षकों ने स्वीकार किया है।

(ख) **विकास के लाभो का वितरण** (the distributions of fruits of growth)—मिश्रित अर्थव्यवस्था का औचित्य इस बात से भी आँका जाता है कि उसके अन्तर्गत विकास के लाभो का वितरण किस प्रकार होता है। उत्पादन के साधनों पर जब राज्य का स्वामित्व तथा नियन्त्रण होता है तो गैर-सरकारी हाथो मे आय के केन्द्रीयकरण की गुंजाइश कम होती है। परन्तु निजी उद्यम के तीव्र विस्तार के कारण आय तथा धन के केन्द्रीयकरण की स्थिति खराब हो जाती है। तथापि, सरकार बहुसख्या मे लोगो का रु० सयुक्त पूँजी कम्पनियो के साधारण शेयरो मे लगवाकर इस केन्द्रीयकरण को कम करने का प्रयास करती है। कुछ जिम्मेदार प्रेक्षको का मत है कि आर्थिक विकास के लाभ भारत मे अब तक निम्न आय वाले वर्गों को प्राप्त नही हुए है। परन्तु इसका दोष मिश्रित अर्थव्यवस्था को नही दिया जा सकता, अपितु इसके लिए उत्तरदायी है वह राजकोषीय नीति (fiscal policy) जो आय का श्रेष्ठतर वितरण करने मे असफल रही है।

(ग) **राष्ट्रीय उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि को प्रोत्साहन** (incentives to raise national productive capacity)—भारत मे मिश्रित अर्थव्यवस्था की उपयुक्तता इस बात से भी आँकी जा सकती है कि क्या इस व्यवस्था के द्वारा लोगो मे राष्ट्र की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि करने के प्रति उत्साह जगा है? सरकारी खर्च मे वृद्धि के कारण जो मांग उत्पन्न हुई है उसकी पूर्ति के लिए पिछले १५ वर्षों मे निजी ने अपना काफी विस्तार किया है। उधर किसानो तथा मजदूरो मे भी काफी उत्साह पाया जाता है। सामान्य एव तकनीकी की शिक्षा मे भी भारी रुचि दिखाई जा रही है। ये सब बातें इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि भारत मे मिश्रित अर्थव्यवस्था से आजकल राष्ट्रीय उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हो रही है।

अत मिश्रित अर्थव्यवस्था का यह विचार भारत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था यह प्रयत्न करती है कि निजी उद्यम की सस्थाओ के सभी समाज-विरोधी लक्षणों को दूर करके उसका अस्तित्व बनाये रखे। राज्य के नियमन, नियन्त्रण तथा पर्यवेक्षण (supervision) मे निजी उद्यम देश के तीव्र आर्थिक विकास मे सहायक होंगे, परन्तु अकेले निजी उद्यम ही निवेश (investment) की उस ऊँची दर तक नही पहुँच सकते जो कि आज देश के लिए आवश्यक है, अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य देश के औद्योगीकरण मे स्वय भी हिस्सा लें।

भावी सम्भावनाएँ (Future Prospects)

पूँजीवाद तथा समाजवाद के मध्य हुए समझौते पर आधारित मिश्रित व्यवस्था की स्वाभाविकता यह हुआ करती है कि वह इन दोनो मे से किसी एक ओर झुकने लगती है। भारत मे इस सम्बन्ध मे मिश्रित अर्थव्यवस्था से क्या अपेक्षा की जा सकती है? भारत मे निजी क्षेत्र काफी शक्तिशाली है और वह अनेक क्षेत्रो मे सरकार को प्रभावित करता रहा है। इसके साथ ही इसका क्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित है और इसके विकास एव विस्तार को भी सरकार पर निर्भर बना दिया गया है अनेक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष नियन्त्रण निजी क्षेत्र के उद्योगो के कार्यों पर लगे हुए है। दूसरी ओर, सरकारी क्षेत्र के उद्योगो का भी लगातार विस्तार हो रहा है। राष्ट्र के मामलो का प्रबन्ध जब तक वर्तमान राजनैतिक नेतृत्व के हाथो मे रहेगा तब तक तो दोनो ही क्षेत्रों का अस्तित्व साथ-साथ ही अवश्य बना रहेगा।

परन्तु इस सम्बन्ध मे दो अन्य सभावनाएँ भी मौजूद है। एक तो यह कि वामपक्षी शक्तियाँ लोगो के कष्टो तथा उनकी गरीबी का शोषण करके अपना राजनैतिक आधिपत्य स्थापित कर सकती हैं और उस राजनैतिक शक्ति का उपयोग उत्पादन के सभी साधनो का समाजीकरण करने मे कर सकती हैं। परन्तु इन शक्तियों को अभी हाल मे बड़ा धक्का लगा है। अत फिर से सभलने मे उन्हे काफी समय लग सकता है। दूसरी ओर, दक्षिणपन्थी राजनैतिक शक्तियाँ भी पिछले कुछ वर्षों से काफी जोर मार रही है और असन्तुष्ट राजनीतिज्ञ तथा एकाधिकारी पूँजीपति आर्थिक जीवन मे 'योजना-विरोध' तथा 'राज्य हस्तक्षेप के विरोध' के नाम पर एक साथ मिल रहे हैं। यदि

ये शक्तियाँ सफल हो गईं, तथा समाजवादी रुझान यदि पलटा नही गया तो अवरुद्ध तो हो ही जायेगा। परन्तु जब तक कि वामपन्थी अथवा दक्षिणपन्थी शक्तियाँ अपने को स्थिर बनायें, तब तक यह हो सकता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था अपने को काफी मजबूत बना ले और गहराई से अपनी जड़े जमा ले। उस स्थिति मे यह बड़ा कठिन होगा कि निजी क्षेत्र को समाप्त कर दिया जाये या सरकारी क्षेत्र को कमजोर कर दिया जाए।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. George Steiner : Government Role in Economic Life, Chapter 4 and 9.
2 First, Second and Third Five-Year Plan Reports
4. R B Gregg : A Philosophy of Indian Economic Development.

UNIVERSITY QUESTIONS

१ मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षणो को समझाइए। मिश्रित अर्थव्यवस्था के लाभ-दोषो की विवेचना कीजिए।

Explain the characteristics of mixed economy Discuss the advantages and disadvantages of mixed economy

२. मिश्रित अर्थव्यवस्था मे सरकारी योगदान का परीक्षण कीजिए।

Examine the role of the Government in mixed economy.

३. "भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक उदाहरण है।" समझाइए। भारत के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था की उपयुक्तता की विवेचना कीजिए।

"India is an example of mixed economy" Explain Discuss the suitability of mixed economy to India

३

अल्पविकसित देशों का आर्थिक विकास
(Economic Development of Underdeveloped Countries)

सुप्रसिद्ध इतिहासकार अरनोल्ड टोइनबी (Arnold Toynbee) ने लिखा है कि "इतिहास के पृष्ठो मे २०वी शताब्दी का काल बडा ही उल्लेखनीय काल माना जायेगा, उल्लेखनीय इसलिये नही कि इस अवधि मे बड़े-बडे विश्वयुद्ध हुए अथवा एटमबम बने, अपितु इसलिए कि सभ्यता के प्रारम्भ से अब तक यह सबसे पहला काम था······ जिसमे कि लोगो ने इस विचार को व्यावहारिक समझा कि सभ्यता (civilisation) के लाभ सम्पूर्ण मानव-जाति को उपलब्ध कराये जायें।"[1] गत दो दशाब्दियो (decades) मे अल्पविकसित देशो की समस्याओं के प्रति बडा जागरण उत्पन्न हुआ है और इस बात की बडी जरूरत महसूस की गई है कि इन देशो के आर्थिक विकास के प्रयत्नो मे इनकी मदद की जाये। आजकल आर्थिक विकास जहाँ सभी अल्पविकसित देश की सरकारो की नीति का अंग बन गया है, वहाँ ससार के औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशो ने भी अपने कम भाग्यशाली पडोसियो की सहायता करने की जिम्मेदारी अपने कन्धो पर ली है। वास्तव मे, यह आवश्यक हो गया है कि प्रत्येक उन्नत देश अपनेआपको विश्वव्यापी आर्थिक विकास से सम्बद्ध कर ले। विशेष रूप से इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की स्थापना की गई है। यहां हम सक्षेप मे अल्पविकसित देशो की आर्थिक व्यवस्था की विवेचना करेंगे।

अल्पविकसित देश की परिभाषा (Definition of an Underdeveloped Country) :

प्रारम्भ मे यह कहा जा सकता है कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की सही तथा वैज्ञानिक रीति से कोई परिभाषा देना बडा कठिन है। बौर तथा यामी (Bauer and Yamey) के अनुसार "अल्पविकसित देशो से आशय उन देशो अथवा क्षेत्रो से होता है जिनकी प्रति व्यक्ति आय तथा पूँजी का स्तर उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी योरोप तथा आस्ट्रेलिया के स्तरो से नीचा होता है।"[2] सयुक्त राष्ट्र सघ की एक ऐजेन्सी के अनुसार, अल्पविकसित देश वह होता है जिसमे "सम्पूर्ण रूप मे, उत्पादन कार्य प्रति व्यक्ति वास्तविक पूँजी की अपेक्षाकृत थोडी मात्रा से और ससार के अन्य

1. Quoted by Villard in "*Economic Development*" p. 10.
2. Bauer and Yamey : "*Economics of Underdeveloped Countries,*" p 3. "The term underdeveloped countries usually refers loosely to countries or regions with levels of real income and capital per head of population which are low by the standards of North America, Western Europe and Australia."

देशों की तुलना में अपेक्षाकृत पिछड़ी विधियों से किया जाता है।''[3] इस परिभाषा में वास्तविक पूँजी की कमी तथा उत्पादन की पिछड़ी तकनीकों के लागू होने पर बल दिया गया है। हिक्स ने भी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की अपनी परिभाषा में शिल्पकला अथवा उद्योगविद्या सम्बन्धी तत्त्व पर ही जोर दिया है। उनके अनुसार, "अल्पविकसित देश वह होता है जिसमें तकनीकी और मौद्रिक सीमायें इतनी नीची होती हैं कि वे उत्पादन तथा बचतों के वास्तविक स्तर के साथ समरूप हो जाती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि प्रति श्रमिक औसत पारिश्रमिक उससे कम होता है जितना कि तब होता जबकि ज्ञात उद्योगविद्या (known technology) को ज्ञात साधनों (known resources) में लागू किया जाता।"

कुछ लेखकों ने अल्पविकसित देश को निम्न आमदनियों के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। एक प्रकार से, सभी निर्धन देशों को अल्पविकसित देश माना जा सकता है। बेरेन्सटीन (Berenstein) का विश्वास था कि 'एक अल्पविकसित देश की सर्वोत्तम कसौटी उसकी वास्तविक आय का स्तर है और वह दर है जिस पर प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही है। संक्षेप में एक अल्पविकसित देश वह है जिसमें प्रति व्यक्ति उत्पादन अपेक्षाकृत कम है और जिसमें उत्पादन क्षमता में बहुत शनै-शनै वृद्धि होती है।''[4] बरेन्सटीन की परिभाषा में, देशों की आमदनियों के निम्न स्तर को ही अल्पविकास की मुख्य कसौटी माना है। बारबरा वार्ड (Barbara Ward) ने यह तर्क दिया कि 'अल्पविकसित देश' शब्द सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि इनमें अनेक प्रकार के अल्प-विकास सम्मिलित है, अत उसके अनुसार 'निर्धनता (poverty) की व्याख्या करने की सबसे अधिक सन्तोषजनक नीति यह है कि उसे प्रति व्यक्ति आय (per capita income) के रूप में अर्थात् व्यक्तियों को उपलब्ध औसत आय के रूप में व्यक्त किया जाये।'[5] के० के० कुरीहारा (K K. Kurihara) ने भी ऐसा ही विचार प्रकट किया, "अल्पविकसित अर्थव्यवस्था प्रकट करने के लिए चाहे और कुछ भी कहा जाय, पर ऐसी अर्थव्यवस्था की सबसे अधिक व्यावहारिक सूचक नीती प्रति व्यक्ति वास्तविक आय है।"[6]

और जरा शिथिल रूप में, एक अल्पविकसित देश की परिभाषा हम एक ऐसे देश के रूप में कर सकते हैं जो कृषि तथा उद्योग के क्षेत्र में वैज्ञानिक तथा उद्योगविद्या सम्बन्धी सुधारों (scientific and technological improvements) का बहुत कम उपयोग करता है, जिससे उत्पादन केवल जीवन-निर्वाह लायक ही होता है और जिसकी बहुसंख्यक जनता का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। इस प्रकार, ऐसे सभी पिछड़े देशों को अल्पविकसित कहा जा सकता है जिनमें लोगों का जीवन स्तर नीचा हो और जिनकी कृषि-अर्थव्यवस्था का बहुत कम औद्योगीकरण हुआ हो। कुशल कर्मचारी वर्ग का अभाव, पूँजीगत सामग्री की कमी, असन्तुलित उत्पादन, पिछड़ी कृषि पद्धति, प्रति व्यक्ति कम आय, अधिकांश लोगों का दयनीय निम्न स्तर, समर्थ माँग (effective demand) की कम मात्रा, बड़ी मात्रा में श्रमिकों की बेकारी—ये ही अल्पविकसित देशों के प्रमुख लक्षण तथा उनकी आर्थिक प्रगति के मार्ग में आने वाली मुख्य बाधायें हैं। अल्पविकसित देशों की पंक्ति में जापान को छोड़कर सम्पूर्ण एशिया, सम्पूर्ण अफ्रीका, अर्जेन्टाइना को छोड़कर लैटिन

---

3. United Nations *"Methods of Financing Development in Underdeveloped Countries"* 1949, p 90. An underdeveloped country is one in which "on the whole production is carried on which a relatively small amount of real capital per head and relatively backward techniques in the broadest sense of the word"

4 Quoted by Raja Chelliah *Fiscal Policy in Underdeveloped Countries*, p 24 "The best test of an underdeveloped country is its level of real income and the rate at which per capita real income is increasing In short an under developed country is one in which output per capita is relatively low and in which productive efficiency is increasing very slowly, if at all"

5. Barbara Ward. *Rich Nations and Poor Nations.*"

6 K K Kurihara *The Keynesion Theory of Economic Development*, p 26 "The most serviceable single indicator of an underdeveloped economy is low per capita real income whatever else may be said to characterise such an economy."

अमेरिका और पूर्वी तथा दक्षिणी योरोप के कुछ भाग रखे जा सकते है। इन दोनो मे ससार की कुल जनसख्या का तीन चौथाई से भी अधिक भाग रहता है।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के विशिष्ट लक्षण
(Characteristics of an Underdeveloped Economy)

यद्यपि अल्पविकसित देशो के बीच भी अन्तर पाये जाते है, किन्तु फिर भी उन सभी मे निम्नलिखित विशिष्ट लक्षणो मे कुछ अथवा सब थोडी-बहुत मात्रा मे अवश्य पाये जाते है।

(I) जनांकिकीय लक्षण (Demographic Features) -

अधिकाश अल्पविकसित देशो मे, विशेष रूप से एशिया के देशो मे घने बसे क्षेत्र (densely populated areas) पाये जाते हैं। उनमे जन्म दर या मृत्यु दर ऊँची होती है और प्रत्याशित आयु (expectation of life) कम पाई जाती है। ऊँची जन्म दर से आश्रितो (dependents) की बडी सख्या उत्पन्न हो जाती है और जब ऊँची जन्म दर के साथ मृत्यु दर नीची होती है तो जनसख्या में तेजी से वृद्धि हो जाती है। जनसख्या की तीव्र वृद्धि, अपर्याप्त पौष्टिक भोजन, आहार सम्बन्धी कमियाँ, अपूर्ण स्वास्थ्य विज्ञान, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा ग्रामीण व शहरी क्षेत्रो मे भारी भीड—ये अल्पविकसित देशो के सामान्य लक्षण है।

यह उल्लेख करना बडा महत्त्वपूर्ण है कि विशाल जनसख्या की विद्यमानता एकदम देयता (liability) भी है और परिसम्पत्ति (asset) भी—देयता इन मानो म कि उनके भोजन व वस्त्र की व्यवस्था करने की जरूरत होती है, और परिसम्पत्ति इन मानो मे कि उनको अन्य साधनो के साथ ही देश की राष्ट्रीय आय के स्तर को ऊँचा करने मे लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि अर्थव्यवस्था के औद्योगिक क्षेत्र का विकास होता है तो यह क्षेत्र अर्थव्यवस्था के कृषि-क्षेत्र से बडी सख्या मे मजदूरो को अपनी ओर खीच सकता है और विशेष बात यह है कि बिना कृषि क्षेत्र को प्रभावित किय तथा बिना वास्तविक मजदूरी मे वृद्धि किए ही यह ऐसा कर सकता है। जनसख्या की तीव्रवृद्धि, बेरोजगारी तथा अपूर्ण रोजगारी उत्पन्न करने वाला जनसख्या का भारी दबाव और निम्न प्रत्याशित आयु—ये अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण जनांकिकीय लक्षण है।

(II) आर्थिक लक्षण (Economic Characteristics) :

(१) **कृषि पर निर्भरता** (dependence on agriculture)—अल्पविकसित देशो मे कृषि यदि एकमात्र नही तो मुख्य व्यवसाय अवश्य है। कृषि सम्बन्धी कच्चे माल तथा खाद्य सामग्री के उत्पादन से राष्ट्रीय आय के बडे प्रतिशत का निर्माण होता है। अन्य उद्योगो मे विशेष रूप से वे ही बने रहते है। जिनकी निर्यात के लिए आवश्यकता होती है। अल्पविकसित देशो मे जनसख्या का एक बडा प्रतिशत कृषि में लगा होता है। यह प्रतिशत सामान्यत ७० से ९० तक के बीच रहता है। अन्य क्षेत्रो मे रोजगार की सुविधाओं का अभाव होने के कारण कृषि में पूर्णतया जनसख्या का बहुलस (over population) रहता है। श्रम का प्रति व्यक्ति उत्पादन कम होता है। यह समझा जाता है कि अल्पविकसित देश के मुख्य व्यवसाय कृषि मे श्रम की सीमान्त उत्पादिता (marginal productivity) शून्य और कभी-कभी नकारात्मक (negative) भी होती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि भूमि पर बहुत अधिक लोग कार्य करते हैं और यह सम्भव होता है कि बिना कृषि उत्पादन को कम किये ही उनमे से काफी लोगो को कृषि से हटाकर अन्य धन्धों मे लगाया जा सकता है। कृषि क्षेत्र मे काफी छिपी हुई बेरोजगारी (disguised or concealed unemployment) वर्तमान होती है और इसके साथ ही यह तथ्य सम्बद्ध होता है कि उत्पादन की इकाई तथा श्रम की पूर्ति-स्थान वह परिवार होता है जिसके सदस्य मजदूरी के लिए नहीं अपितु स्वय अपने लिये ही कार्य करते है। इसके अतिरिक्त, भूमि की ही स्थिति यह होती है कि बिना खाद व पानी के ही खेती जारी रखने से उसका शोषण हो चुका होता है और उत्पादन की अकुशल विधियो द्वारा ही लोग उस पर खेती करते रहते हैं। फिर, किसानों को न तो उत्पादन के अच्छे तरीको की ही जानकारी होती है और न उनका कृषि-सगठन ही कुशल होता है। इन सभी कारणो

का परिणाम होता है। कृषि की निम्न उत्पादिता, जिसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति निम्न आय अर्थात आय रहन-सहन का स्तर केवल गुजारे लायक ही होता है।

(२) **कृषि पदार्थों का निर्यात तथा निर्मित माल का आयात** (export of agriculture products and imports of finished products)—एक अल्पविकसित देश आमतौर पर खाद्य सामग्री और कच्चे माल का निर्यात किया करता है और पक्के माल का आयात। उन्नत देशो की तुलना मे देशी व विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत थोडी होती है। इसके अतिरिक्त, प्रति व्यक्ति व्यापार की मात्रा तो विशेष रूप से कम होती है। इसका कारण उधार व बाजार की सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा मे न होना है। वास्तव मे, अनेक पिछड़े देशो मे द्रव्य व बैंकिंग की व्यवस्था इतनी प्रारम्भिक दशा मे होती है कि वह व्यापार व वाणिज्य के लिये कोई सुविधाएँ उपलब्ध नही करती। इस सम्बन्ध मे, अल्पविकसित देशो मे परिवहन व सचार साधनो की कमी का उल्लेख करना भी महत्वपूर्ण होगा जो कि आर्थिक प्रगति व विकास के मार्ग मे एक गभीर बाधा है।

(३) **बचत की शून्यता** (the savings are almost zero)—अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, बहुसख्या मे लोगो की बचत (saving) व्यावहारिक रूप मे शून्य ही होती है। जो कुछ भी बचत उपलब्ध होती है वे अधिकाशत भू-स्वामी वर्ग तथा व्यवसायी वर्ग से प्राप्त होती हैं। इन बचतो का उपयोग "सामान्यतः फिजूलखर्ची उपभोग मे होता है और उत्पादक-निवेश की बजाय परिकल्पित निवेश मे किया जाता है।" उदाहरण के लिए, भारत मे भारी धनराशियाँ मन्दिरो, तीर्थस्थानो व स्मारको आदि के बनाने मे खर्च कर दी जाती है। सामान्य आदमी जेवरों तथा घरेलू बर्तनो के रूप मे बचत करता है। चूँकि पूँजी का सचय बहुत कम—अर्थात राष्ट्रीय आय का ३ से ४% तक है, अत वास्तविक आय भी बहुत कम है और इसी कारण निर्मित माल की माँग भी कम है।

(४) **आय का असमान वितरण** (un equal distribution of income)—अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे, आय का वितरण बडा असमान होता है और उसके साथ ही साथ दयनीय गरीबी अपनी चरम सीमा पर होती है। थोडे से धनी जमीदार तथा व्यवसायी (businessmen) ऐसी सभी सरकारी नीतियो का विरोध किया करते है जो कि आर्थिक परिवर्तनो तथा आय के पुर्नवितरण के लिए लागू की जाती हैं क्योकि उन्हे भय होता है कि इन आर्थिक नीतियो से कही उनकी सामाजिक एव आर्थिक स्थिति खतरे मे न पड जाए। इसके अतिरिक्त इन देशो मे सरकार कमजोर होती है, यद्यपि उसकी शक्ति वृद्धि पर होती है जैसा कि भारत मे है, जिसके फलस्वरूप आवश्यक भूमि-सुधारो एव अन्य कार्यवाहियो को लागू करने मे उसके सामने कठिनाइयाँ आती है क्योंकि ऐसे सुधारो का उन लोगो द्वारा विरोध किया जाता है जिन्हे काफी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा आर्थिक शक्ति प्राप्त होती है।

(५) **निर्धनता** (poverty)—छोटे-छोटे किसान तथा भूमि-धारक अत्यधिक निर्धन होते हैं और उनके पास वित्त के पर्याप्त तथा सस्ते स्रोत उपलब्ध नही होते। वे स्थानीय महाजनो के अत्यधिक कर्जदार होते हैं और व्यापार करने के लिए उनके पास बहुत थोडी ही वेशी (surplus) बचती है। भारत मे ग्रामीण महाजन (village money-lenders) तथा साहूकार "भारतीय कृषि की स्थिर प्रकृति का आशिक कारण है।" ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर इन महाजनो का ही अधिकार होता है जो कि लोगो की गरीबी मे से धन कमाते है, वे ऐसा उत्पादक निवेश द्वारा नही, अपितु किसान की सनातन निर्धनता का पूँजीकरण करके करते हैं, और विशेष रूप से ऐसे सकटकालीन अवसरो पर जबकि मानसून धोखा दे जाता है या बाढ़ें आ जाती है अथवा कृषि मूल्य गिर जाते हैं। ग्रामीण महाजन की प्रतिष्ठा तथा शक्ति बडी व्यापक होती है।

(६) **कृषि के अतिरिक्त कुछ अन्य उद्योगो का भी होना** (existence of some other industries besides agriculture)—कृषि के अतिरिक्त, अल्पविकसित देशो मे कुछ अन्य उद्योग भी हो सकते हैं। भारत मे ही, स्वतन्त्रता से पूर्व, चाय बागान, सूती वस्त्र तथा जूट की मिलें: चीनी, कागज, व सीमेंट के कारखाने तथा कोयला खानें थी। परन्तु इन सगठित उद्योगो मे कुल श्रम-शक्ति का केवल १० प्रतिशत से भी कम भाग लगा था। परन्तु एक विकसित देश मे औद्योगीकरण का जो अर्थ लिया जाता है, वैसा ही औद्योगीकरण अल्पविकसित देश मे करना बडा कठिन हो जाता है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. "समान त्याग का सिद्धान्त या आर्थिक विषयगत समतुल्य प्रगतिशील करो का औचित्य उसी प्रकार प्रदर्शित नही करता जिस प्रकार वस्तुगत समतुल्य आनुपातिक करारोपण का औचित्य स्पष्ट नहीं करता है।" (डी मार्को) विवेचना कीजिए।

"The principle of equality of sacrifice or subjective economic equivalence does not demonstrate the validity of progressive transaction just as the principle of objective economic equivalence does not demonstrate the validity of proportional taxation." (De Marco) Discuss.

२. योग्यता के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। एक व्यक्ति की करो को अदा करने की योग्यता को मापने मे आप किन-किन विचारो को ध्यान मे रखेंगे ?

Examine the principle of ability ? What considerations would you keep in mind while measuring the ability of an individual to pay taxes ?

३. कराधान का कुल न्यूनतम त्याग सिद्धान्त समझाइए। क्या यह प्रगतिशील कराधान की ओर ले जाता है ?

Explain the least aggregate sacrifice principle of taxation. Does it lead to progressive taxation ?

४. न्यूनतम त्याग सिद्धान्त और समान त्याग सिद्धान्त के औचित्य पर दृष्टिपात कीजिए कि ये दोनो किस प्रकार करारोपण के वास्तविक आधार माने जा सकते है।

Discuss the rival claims of least aggregate sacrifice and equal sacrifice to serve as ultimate principles of taxations.

५. "प्रगतिशील करारोपण की नीति सैद्धान्तिक दृष्टि से सही है और यह करारोपण मे न्याय के आदर्श के अनुरूप है, परन्तु इस नीति की व्यावहारिक अपूर्णताएँ है।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

"The policy of Progressive Taxation is theoritically valid, it is in conformity with the ideal of justice in taxation, but the policy also has practical imperfection." Examine critically.

६. कराधान सिद्धान्तो मे 'करदान योग्यता' सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। 'आय' किस सीमा तक करदान योग्यता का सन्तोषजनक माप है ?

Discuss the concept of 'ability to pay' in the theory of taxation To what extent is 'Income' a satisfactory test of ability to pay ?

७. कराधान मे न्याय की समस्या क्या है ? इस सम्बन्ध में वित्तीय सिद्धान्त, लाभ सिद्धान्त, सेवा का लागत सिद्धान्त और डिमार्को के आय सिद्धान्त को समझाइए।

What is the problem of justice in taxation ? In this connection point out the Financial Theory, Benefit Theory, Cost of Service Theory and De-Marco's Income Theory

८. "प्रत्येक राज्य के नागरिको को, जितना सम्भव हो सके, अपनी-अपनी क्षमताओ के अनुसार राज्य की सहायता के लिए अंशदान करना चाहिए।" विभिन्न क्षमताओ के निर्धारण की कठिनाइयो के विशेष सन्दर्भ मे व्याख्या कीजिए।

"The subjects of every state ought to contribute towards the support of the Government, as nearly as possible, in proportion to their respective abilities." Discuss with special reference to the difficulties in determining respective abilities.

अफ्रीका के अनेक अल्पविकसित देशों में (एशिया में चीन में भी) पिछली कुछ दशाब्दियों में बहुत थोडी वृद्धि अनुभव की गई है, वहाँ एशिया के अन्य अधिकांश देशों में तथा लेटिन अमेरिका में जनसख्या में बहुत तीव्र वृद्धि दर्ज की गई है। दूसरे, जहाँ एशिया के अल्पविकसित देश घने बसे हैं और वहाँ काफी मात्रा में फालतू श्रमिक भूमि से ही अपना जीवन निर्वाह कर रहे है वहाँ अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के देश विरले अथवा छीदे बसे है और वहाँ कोई जनसख्या की समस्या नही है।

(४) **कृषि के निश्चित तरीके** (settled methods of agriculture)—अनेक अल्पविकसित देशों ने तो कृषि के तरीके निश्चित कर लिये है वहाँ कुछ थोडे से देशों में अभी तक खानाबदोशी (nomadic agriculture) अपनाई जा रही है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि एशिया के अल्पविकसित देश तो सास्कृतिक दृष्टि से उन्नत है, वहाँ अफ्रीका के अधिकाश देश अभी भी इस दृष्टि से बहुत पिछडे है।

(५) **आर्थिक विकास की परिपक्वता अथवा उपयुक्तता के सम्बन्ध मे अन्तर** (difference in the ripeness or suitability for economic development)—अल्पविकसित देशों मे उनकी परिपक्वता (ripeness) अथवा आर्थिक विकास के लिए उनकी उपयुक्तता (suitability) की दृष्टि से भी अन्तर पाया जाता है। इनमें अनेक देश परिवहन व सचार साधनो की दृष्टि से बहुत पिछडे होते है जिससे देश के विभिन्न भागो के बीच आर्थिक एव सास्कृतिक आदान-प्रदान में बडी बाधा पडती है। अनेक देशों मे निवेश करने के विरुद्ध अनेक राजनैतिक तथा अन्य रोकें लगा दी जाती है जिसके कारण उनके तत्कालीन ढाँचे के अन्तर्गत उनका तेजी से आर्थिक विकास नही हो सकता।

(६) **राजनैतिक व आर्थिक मशीनरी के उपयोग की रीतियो मे अन्तर** (difference in the use of politics-economic power)—अनेक अल्पविकसित देशो मे तीव्र आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राजनैतिक व आर्थिक मशीनरी के उपयोग की रीतियो मे अन्तर पाया जाता है। अधिकाश एशियाई देशों ने वाञ्छित आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए सरकार का उपयोग करने की रूसी-पद्धति को अपनाया है, वहाँ लेटिन अमेरिका के देशों ने वाछित आर्थिक परिवर्तनों के लिए सामान्यत निजी उद्यम पद्धति का आश्रय लिया है।

अल्पविकास के कारण
(Causes of Underdevelopment)

(१) प्राकृतिक साधनो का अभाव (Lack of Natural Resources)

प्राकृतिक साधनो को आर्थिक विकास से सम्बन्धित करने का प्रयास किया गया है। यह कहा जाता है कि सभी उन्नत देशो के पास प्रचुर मात्रा मे प्राकृतिक साधन रहे है। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में पाये जाते है और इसी कारण उसने उन्नति की है। परन्तु फिर दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका के देश भौतिक साधनो मे धनी होते हुए भी विकसित क्यो नही है? उधर, पश्चिमी योरोप के अनेक देशों के पास उपजाऊ भूमि तथा खनिज पदार्थ बहुत सीमित मात्रा मे है किन्तु फिर भी उनकी आर्थिक प्रगति का स्तर बडा ऊँचा है। इस प्रकार केवल प्राकृतिक साधनो के अस्तित्व मात्र से अधिक विकास की गारण्टी नही हो सकती। प्राकृतिक साधनो का जब तक उपयोग न किया जाए तब तक उनसे कोई आर्थिक सिद्धि नही हो सकती। इस प्रकार, स्पष्ट है कि प्राकृतिक साधनो तथा देश के आर्थिक विकास मे सम्बन्ध तो है, परन्तु है वह बहुत सीमित मात्रा मे।

(२) पूँजी का अभाव (Lack of Capital).

आर्थिक पिछडेपन का एक महत्त्वपूर्ण कारण पूँजी की कमी को माना जाता है। कहा जाता है कि एक अल्पविकसित देश के पास पूँजीगत माल की कमी होती है। यह भी कहा जाता है कि इन देशों मे पूँजीगत माल (capital goods) की मात्रा सभवत बिल्कुल न्यूनतम होती है—न्यूनतम इन मानो मे कि आवश्यक पदार्थों के उत्पादन के लिए वह अपर्याप्त होती है। इसके अतिरिक्त, पूँजीगत माल की मात्रा श्रम की दृष्टि से भी न्यूनतम होती है जिसके परिणामस्वरूप ही

अनेक अल्पविकसित देश विदेशी व्यापार की ओर झुके होते है। एक अल्पविकसित देश में, आयात तथा निर्यात का संचालन सम्भवत. सबसे अधिक सुसगठित होता है। विदेशी व्यापार मे बैंकिग तथा बीमा कम्पनियो द्वारा अच्छी सहायता की जाती है। इसके अतिरिक्त, परिवहन व सचार के आन्तरिक साधन तथा साथ ही साथ बैंकिग का उपयोग बन्दरगाहो तथा कच्चा माल भिजवाने व आयात किया हुआ विनिर्मित माल देश के आन्तरिक भागो मे पहुँचाने के लिए किया जाता है। निर्यात मुख्यत. कच्चे माल का और आयात अधिकाशत. पक्के माल का होता है। अल्पविकसित देश आयातों पर अत्यधिक निर्भर रहा करते हैं और प्रदर्शनकारी प्रभावों के कारण यह निर्भरता प्रतिवर्ष बढती ही जाती है।

(III) सांस्कृतिक व राजनैतिक लक्षण (Cultural and Political Features) :

अल्पविकसित देश शिक्षा की दौड मे बडे पीछे रहते हैं और उनके निवासी अज्ञानता एव अन्ध-विश्वासो में डूबे रहते हैं। लोग विभिन्न वर्गों मे बँटे रहते है और उनके बीच परस्पर या बिल्कुल सम्पर्क नही होता अथवा बहुत थोड़ा होता है। स्त्रियो को समाज मे सामान्यत नीचा दर्जा प्राप्त होता है और बच्चो से मेहनत कराना बहुत ही सामान्य बात होती है। भारत के प्रत्येक वर्ग का कार्य परपरागत रूप मे निश्चित होता है और कहीकही तो, जैसा कि भारत मे है, धन्धा अथवा व्यवसाय भी निश्चित होता है। इन देशो मे ऐसा मध्यम वर्ग नही होता जो कि उद्यमकर्त्ताओ, प्रशासको तथा ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति प्रदान करे जिन पर कि आर्थिक प्रगति तथा विकास मुख्यतया निर्भर होता है। कुछ देशो मे मध्यम वर्ग होता है परन्तु वह कमजोर होता है। समाज रूढिवादी तथा अव्यक्तिवादी होता है और उसमे आर्थिक व्यक्तिवाद (economic individualism) को कोई महत्त्व नही दिया जाता। इसके अतिरिक्त, सामाजिक ढाँचा भौतिक सफलताओ तथा परिवर्तनों को बहुत कम महत्त्व प्रदान करता है। चूँकि समाज जातिभेद व रगभेद आदि से ग्रसित होता है अत उद्यमकर्त्ता के कार्यों मे विशेष रूप से बाधा पडती है। उधर उद्यमकर्त्ताओ का कार्य सरकार की ओर से भी इसलिए नही किया जा सकता क्योंकि वह पिछडी तथा अकुशल होती है।

इस प्रकार, ये सभी जनांकिकीय, आर्थिक, राजनैतिक तथा सास्कृतिक तत्त्व अल्पविकसित देशो के पिछडेपन तथा अल्पविकास के सूचक है।

अल्पविकसित देशों मे अन्तर (Differences between Underdeveloped Countries) :

अल्पविकसित देशो के बीच भी स्वय काफी अन्तर पाये जाते हैं। यह आवश्यक है कि इन अन्तरों का सावधानी से अध्ययन किया जाए क्योकि ये अन्तर उस आर्थिक नीति की किस्म को प्रभावित करते है जो कि उनकी तीव्र आर्थिक प्रगति तथा विकास करने के लिये अपनाई जाती है।

(१) प्राकृतिक साधनो के सम्बन्ध में अन्तर (difference in the matter of natural resources)—सर्वप्रथम, तो अल्पविकसित देशो मे प्राकृतिक साधनो के सम्बन्ध मे अन्तर पाया जाता है। कुछ देश प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से धनी होते है तो कुछ निर्धन। जहाँ कुछ देश पूर्णतया कृषि प्रधान होते हैं वहाँ अन्य देशो मे किसी न किसी प्रकार का औद्योगिक क्षेत्र भी पाया जाता है।

(२) कुल आय तथा प्रति व्यक्ति की आय, आदि के दर से अन्तर (difference in the rate of total and per capita income etc)—अल्पविकसित देश कुल तथा प्रति व्यक्ति आय की दर तथा देश के विभिन्न भागो मे आर्थिक विकास व तकनीकी प्रगति की दर के मामलो मे एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। जहाँ कुछ अल्पविकसित देश तेजी से विकास की ओर बढ रहे होते हैं वहाँ अन्य देश अनेक कारणो से इस सम्बन्ध मे स्थिर बने रहते हैं। इसी कारण अर्थशास्त्रियो ने ऐसे देशो के लिए 'अल्पविकसित देशो' से भिन्न 'विकासोन्मुख अथवा विकासशील देश" (developing countries) शब्द का प्रयोग किया है।

(३) जनसंख्या के आँकड़ों के सम्बन्ध में अन्तर (difference on demographic features)—कुछ अल्पविकसित देश जनसख्या के आँकड़ो मे एक-दूसरे से भिन्न है। प्रथम तो,

कहा जाता है कि ऊँची उत्पादन-लागत मे, तथा उपज के श्रम के उच्च अनुपात मे व पूँजी निम्न अनुपात मे टैक्नोलोजी की पिछडी दशा स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त टैक्नोलोजी अथवा उद्योगविद्या सम्बन्धी पिछडेपन के फलस्वरूप, सामान्यत. पूंजी तथा श्रम की निम्न उत्पादिता (low productivity) पाई जाती है। उधर ऐसे देशो मे अकुशल श्रमिकों की भी बहुतायत होती है। परन्तु यहाँ इस बात को नही भूलना चाहिये कि उद्योगविद्या सम्बन्धी पिछड़ापन आर्थिक पिछडेपन का केवल कारण नही है, अपितु उनका परिणाम भी है।

(६) आवश्यक संस्थाओ का अभाव (Absence of Essential Institutions) :

कुछ सस्थाओ का अभाव भी आर्थिक पिछडेपन के लिए उत्तरदायी होता है। यहाँ हमे इस बात को नही भूलना चाहिये कि पिछली दो शताब्दियो मे योरोप और अमेरिका के आर्थिक विकास के लिए धन की व्यवस्था वैंकिग तथा अन्य सस्थाओ के विकास द्वारा ही गई थी। अनेक अल्पविकसित देशो मे, वैंकिंग व्यवस्था अभी भी अविकसित है। अनेक देशो से तो अभी तक ऐसे औद्योगिक एव ग्रामीण बैंक भी नही हैं जिन्होने कि योरोप के अनार्थिक विकास मे बडा महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है।

वैंकिंग के अलावा, अल्पविकसित देशो मे सामान्यत. पूंजी बाजार भी नही पाया जाता, और यदि पाया जाता है तो वह इतना विकसित नही होता जहाँ कि शेयर तथा स्टाक का क्रय-विक्रय हो सके। बीमा कम्पनियों जैसे सस्थागत निवेशकर्त्ता बहुत थोडे होते हैं और कम महत्वपूर्ण होते हैं। पिछडे देशो मे, मौद्रिक वित्तीय पद्धतियो की कमजोरी के कारण पूंजी की गतिशीलता तथा उसका समुचित निवेश एक बडा कठिन कार्य हो जाता है।

(७) अनार्थिक कारण (Non-economic Factors) :

आर्थिक पिछडेपन के लिए कुछ अनार्थिक कारण भी जिम्मेवार होते हैं। ये कारण आर्थिक विकास को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, ये अनार्थिक कारण उत्पादन के उपादानो (factors of production) को, उनकी कार्यक्षमता की मात्रा को तथा आर्थिक क्रियाओ की विभिन्न शाखाओ के बीच उनके बँटवारे को प्रभावित करते हैं। कभी-कभी ये कारण आर्थिक विकास मे सहायक होते हैं परन्तु अधिकतर वे इसके लिये बाधक ही सिद्ध होते हैं।

उदाहरण के लिए, भारत मे जाति-प्रथा (caste system), श्रम की व्यावसायिक तथा सामाजिक गतिशीलता के लिये उत्तरदायी है। उधर किसान भी अपनी भूमि मे बँधा सा रहता है जिसके कारण भौगोलिक गतिशीलता (geographical mobility) कम पाई जाती है। जैसा कि एक लेखक ने लिखा है कि "कठोर जातिगत भेदभाव, ज्ञान की कमी तथा परिवहन व सचार के अल्प साधन श्रम की समस्तर तथा उदग्र गतिशीलता (horizontal and vertical mobility) को रोकते हैं।" फिर भारत जैसे अनेक अल्पविकसित देशो मे सामाजिक प्रतिष्ठा तथा शारीरिक श्रम (manual labour) का कोई मेल नही बैठता। अत. लोगो मे ऐसे व्यवसायों के प्रति घृणा पाई जाती है जिनमे शारीरिक श्रम या हाथ से कार्य करना पडता है और जो व्यक्तियो की 'प्रतिष्ठा' को गिराते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक प्रतिष्ठा को अधिक महत्त्व प्रदान किये जाने का परोक्ष प्रभाव खर्च के माध्यम से आय तथा उपज की मात्रा पर भी पडता है। उदाहरण के लिए, विदेशो मे बनी प्रतिष्ठा की वस्तुओ (prestige goods) की माँग अधिक रहती है और इन वस्तुओं को अधिक महत्त्व प्रदान करने का देश मे उत्पन्न वस्तुओं पर घातक प्रभाव पडता है।

यहाँ हमने उन अनेक कारणों का जिक्र किया है जिनके बारे मे कहा जाता है कि देश के आर्थिक पिछडेपन के लिये वे कारण उत्तरदायी होते है। कुछ लोग उनमे से किसी एक कारण को ही पिछडेपन के लिये पूर्णतया उत्तरदायी ठहरा सकते हैं जबकि कुछ अन्य लोग सभी को सम्मिलत रूप से पिछड़ेपन के लिये जिम्मेदार मान सकते हैं।

वहाँ बडी मात्रा मे छिपी बेरोजगारी पाई जाती है। तथापि, यह हो सकता है कि अनेक अर्थशास्त्री हमारी इस बात को स्वीकार करें। बहुत से लोग यह तर्क देते है कि अनेक अल्पविकसित देशो मे, सभावित पूँजी की मात्रा कही उससे अधिक है जितनी कि सामान्यत स्वीकार की जाती है। परन्तु होता यह है कि बडी-बडी धनराशियाँ अनुत्पादक भूमि मे या निम्न प्राथमिकता के भवनो मे निवेश की हुई होती हैं अथवा नकदी या जेवरात आदि के रूप मे निसचित (hoarded) हुई रहती हैं। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से ऐसी पूँजी को निर्जीव माना जाता है, अत वह बकार होती है। कुछ स्थितियो मे, राजनैतिक अस्थिरता अथवा मुद्रा का मूल्य उठन के कारण बडी-बडी रकमे बाहर विदेशो मे रखी जाती है। अत यह मानना गलत है कि अल्पविकसित देशो के पास पर्याप्त पूँजी नही होती। वास्तविकता यह है कि यहाँ पूँजी तो होती है परन्तु यह इस रूप मे होती है कि विकास कार्यो की दृष्टि से उसकी कोई उपयोगिता नही होती। यदि पूँजी को अनार्थिक साधनो मे लगा दिया जाए अथवा यदि अच्छी प्रयाजनाओ को गलत तरीके से लागू किया जाए तो उसका परिणाम सकारात्मक नही, नकारात्मक ही होगा।

(३) **उपनिवेशवाद** (Colonialism) :

कुछ अर्थशास्त्री, विशेष रूप से वामपक्ष मे सम्बन्ध रखने वाले, यह तर्क देते हैं कि उपनिवेशवाद ही अधीनस्थ देशो के अल्पविकास के लिये उत्तरदायी रहा है। इस कथन मे सचाई का अश विद्यमान है। उदाहरण के लिये, साम्राज्यवादी शक्तियो ने जब तक भी सम्भव हुआ, अपने अधीनस्थ उपनिवेशो को कभी इस बात की अनुमति नही दी कि वे अपना औद्योगीकरण कर सके। उन्होने अधीनस्थ देशो मे ऐसे उद्योगो की स्थापना पर बराबर रोक लगाई जो उन उद्योगो से प्रतियोगिता कर सके जो कि "मातृ" देशो मे पहले से ही स्थापित है। अत उपनिवेशवाद को अल्पविकास का एक कारण माना जा सकता है। परन्तु उन देशो के बारे मे क्या कहा जायेगा जो कि लम्बे काल से स्वय अपने मालिक रहे हैं किन्तु फिर भी उनका आर्थिक विकास नही हुआ? इन देशो का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि उपनिवेशवाद कोई ऐसा बहुत बडा अथवा प्रमुख कारण नही है जो कि देशो के अल्पविकास के लिए उत्तरदायी रहा हो।

(४) **आधुनिक उद्यम का अभाव** (Absence of Modern Enterprise) :

विकास न होने का एक कारण आधुनिक उद्यम का अभाव भी है। यह उद्यमकर्त्ता (enterpreneur) ही होता है जो कि आर्थिक क्रियाओ के लगातार पुन वर्गीकरण के लिए और उत्पादिता तथा वास्तविक आय मे ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति लाने के लिये जिम्मेवार होता है। १९वी शताब्दी मे इगलैड और १९वी और २०वी शताब्दी मे सयुक्त राज्य अमेरिका के विकास के लिए मुख्यत जिम्मेवार उद्योगो के वे "कप्तान" अर्थात् वे उद्यमकर्त्ता ही थे जो कि किसी भी समय ऐसे किसी भी व्यवसाय का आरम्भ और सचालन करने के लिए तैयार रहते थे जिनसे उन्हे बडे लाभ प्राप्त होने की आशा होती थी। किन्तु एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे, शुम्पीटर का "विचित्र" उद्यमकर्त्ता तो शायद ही कही पाया जाता हो। अल्पविकसित देशो मे ऐसा शक्तिशाली मध्यम वर्ग नही पाया जाता, जो उन्नत देशो के समान, औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक उद्यमी नेतृत्व प्रदान करता हो। एक अल्पविकसित देश मे, जो भी उद्यमीय प्रतिभा (entrepreneurial talent) उपलब्ध होती है, वह अर्थव्यवस्था के कुछ विशेष क्षेत्रो मे चली जाती है। व्यापार और वाणिज्य मे बडी मात्रा अर्जन-शक्ति (earning power) पाई जाती है और इसी कारण अनेक लोग इसमे धृष्टता से प्रवेश करते हैं। दूसरी ओर, मुख्य तथा गौण उत्पादन अधिक कठोर होता है, अतः अधिकाश अल्पविकसित देशो मे यह उत्पादन-कार्य विदेशी उद्यमकर्त्ताओ द्वारा सम्पन्न किया जाता है, और कम से कम प्रारम्भिक काल मे तो अवश्य होता है। अत अनेक अर्थशास्त्रियो का मत है कि ऐसे देशो मे आर्थिक विकास की कमी का कारण एक ऐसे उद्यमी वर्ग का अभाव है जो जोखिम उठाने को तथा नये-नये उद्यम चालू करने को इच्छुक एव तत्पर हो।

(५) **उद्योग विद्या सम्बन्धी पिछड़ापन** (Technological Backwardness) .

उद्योगविद्या अथवा शिल्पकला सम्बन्धी पिछडेपन को भी विकास की कमी के लिए मुख्य रूप मे उत्तरदायी ठहराया जाता है। कृषि मे तथा अन्य उद्योगो मे पिछड़ी टैक्नोलौजी लागू ।

उस समय तक बेकार होगा जब तक कि आर्थिक विकास की आवश्यक अन्य परिस्थितियाँ वर्तमान न हो। उनके अनुसार, आर्थिक विकास का अर्थ केवल यह ही नही है कि केवल पूँजी की मात्रा मे वृद्धिमात्र कर दी जाए परन्तु यह भी आवश्यक है कि सामाजिक दृष्टिकोणो तथा आर्थिक सस्थाओ मे परिवर्तन हो। तथापि, इंग्लैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे उन्नत देशो का इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यो, सस्थाओ तथा दृष्टिकोणो मे व्यापक परिवर्तन आर्थिक विकास के साथ-साथ ही लाये जा सकते हैं, उससे पूर्व नही। अतः आर्थिक विकास की एकमात्र पूर्व-शर्त यही है कि ऐसे लोगो का एक वर्ग वर्तमान हो, जो आर्थिक विकास मे वास्तव मे रुचि लेता हो, जिसमे अल्प व्यय करने की इच्छा हो और जिसमे आर्थिक एव सामाजिक परिवर्तन लाने की जानकारी व शक्ति भी विद्यमान हो। ऐसे लोगो के वर्ग का अस्तित्व इस सम्भावना पर निर्भर होगा कि पूँजी निर्माण की दर उनकी राष्ट्रीय आय की वर्तमान दर ५ से ६% से बढकर उस १२ से १५% के बीच होनी है या नही जो कि उन्नत देशो मे पाई जाती है। परन्तु दर की इतनी वृद्धि के लिए भारी धनराशियो की आवश्यकता होगी। एक अनुमान के अनुसार, १० करोड की जनसख्या वाले देश मे हल्के औद्योगीकरण के लिए भी प्रति वर्ष लगभग ९२ करोड डालर का निवेश करना होगा।[8] यह धनराशि निश्चित रूप से बहुत बडी है और अनेक अल्पविकसित देश इतनी बडी धनराशि का प्रबन्ध नही कर सकते। परन्तु जैसा कि ल्यूइस का कहना है कि यदि कोई देश वास्तव मे चाहे तो उसके लिए निवेश की उक्त ऊँची दर को प्राप्त करना कठिन नही होगा। "निर्धनता ने राष्ट्रो को क्या कभी युद्ध छेड़ने से अथवा उनके साधनो को अन्य तरीको से अपव्यय करने से रोका है?"[9]

पूँजीगत माल तथा अन्य सामान या तो देश के अन्दर ही उन्नत करना होगा या विदेशो से आयात करना होगा। अल्पविकसित देशो की स्थिति मे, यह माल विदेशो से ही मँगाना होता है। विदेशी पूँजी तीन प्रकार से आयात की जा सकती है (क) उसका भुगतान निर्यात द्वारा किया जा सकता है, (ख) वह कर्ज के रूप मे प्राप्त की जा सकती है, और (ग) वह उन्नत देशो से उपहारो के रूप मे प्राप्त हो सकती है। इनमे पहला विकल्प तो सर्वोत्तम है क्योकि इसमे आयातो का भुगतान निर्यातो द्वारा कर दिया जाता है। परन्तु दूसरे व तीसरे विकल्प का आमतौर पर उपयोग किया जाता है क्योकि उन्नत देश (advanced countries) कम विकसित देशो की सहायता के इच्छुक रहते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे एक खतरा यह है कि जो देश उपहार अथवा कर्ज के रूप मे पूँजीगत माल तथा मशीनरी का आयात करता है, यह हो सकता है कि उनका सर्वोत्तम उपयोग न कर सके, अपितु उन्हे बर्बाद कर दे। फिर, किसी भी मात्रा मे पूँजी का उपयोग कर की योग्यता भी विकास के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होती है। यदि पूँजीगत सामान तथा शक्ति व परिवहन के साधन प्रशिक्षित (trained), पढ़ेलिखे तथा सामाजिक रूढियो से मुक्त व्यक्तियो के हाथो मे सौंप दिये जाएँ, तो निश्चित रूप से वे उत्पादक बन जायेंगे। परन्तु उनकी उत्पादनशीलता उस स्थिति मे अनिश्चित ही बनी रहेगी जबकि उक्त पूँजीगत सामान तथा साधन आदि ऐसे लोगों को सौंप दिये जायें जो अज्ञानता तथा अन्ध-विश्वासो की दुनियाँ मे भटक रहे हों अथवा जो पिछड़े सामाजिक रीति-रिवाजो के गुलाम हो।

(४) उन्नत तकनीक अथवा टैक्नोलोजी (Successful Technique or Improved Technology):

चौथे, आर्थिक विकास के लिए उन्नत टैक्नोलोजी अथवा उन्नत उद्योगविद्या की आवश्यकता होती है। पूँजी के अतिरिक्त, जो कि एक पिछडा देश उन्नत देशो से आयात कर सकता है, यह भी आवश्यक है कि वह विदेशो से टैक्नोलोजी अथवा उद्योगकला भी उधार ले। परन्तु टैक्नोलोजी का उधार लेना एक बडा नाजुक मामला है। यह आवश्यक है कि कोई भी अल्पविकसित देश केवल वही टैक्नोलोजी उधार ले जो कि उसके लिए वाञ्छनीय तथा सभव हो, वह नही जो

---

8. FAO Estimate, mentioned in Economic Bulletin for Asia and Far East, Vol. I. No. I [August, 1950]
9. W.A. Lewis: "The Theory of Economic Growth," p. 236, "Poverty has never prevented nations from launching upon wars, or from wasting their substance in other ways."

आर्थिक विकास के लिए आवश्यक बातें
(Requirements of Economic Development)

कोई भी अल्पविकसित देश यदि आर्थिक प्रगति की दिशा में चरण रखना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह आर्थिक विकास की कुछ अनिवार्य शर्तों को पूरा करे। प्रो० ल्यूइस का कहना था कि आर्थिक विकास के लिये तीन बातो की पूर्ति एकदम आवश्यक है, अर्थात् (क) मितव्ययता के लिये प्रयत्न, (ख) ज्ञान का सचय तथा उसका प्रयोग, और (ग) पूँजी का सचय (accumulation of capital)।[7] उनके मतानुसार, एक अल्पविकसित देश को आर्थिक विकास की इन पूर्व शर्तों को पूरा करने के लिए कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए। यहाँ हम केवल इन महत्वपूर्ण बातो पर ही विचार नही करेंगे, अपितु कुछ अन्य ऐसी आवश्यक बातो पर भी विचार करेंगे जिन पर कि इस विषय के अन्य राजनैतिक व आर्थिक अधिकारियो ने जोर दिया है।

(१) अच्छा एवं कुशल प्रशासन (Good and Efficient Administration) :

एक अल्पविकसित देश के लिए सबसे पहली आवश्यकता एक सरकार की होती है जो कि प्रशासन कार्य चला सके। सरकार का रग-रूप क्या होना चाहिये—अर्थात् वह समाजवादी हो या अन्य किसी प्रकार की—यह बात प्रत्येक देश की प्रतिभा (genius) पर छोड देनी चाहिये। परन्तु सरकार को स्थायी रूप से शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योकि राजनैतिक जीवन मे स्थिरता आये बिना निरन्तर आर्थिक प्रगति करना सम्भव नही है। यह आवश्यक है कि देश मे एक काफी ईमानदार व प्रभावशाली लोक प्रशासन (public administration) हो। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि अधिकाश अल्पविकसित देशो मे, सरकारी दफ्तरो मे रिश्वतखोरी भ्रष्टाचार तथा भाई भतीजावाद विद्यमान है जिसके कारण इन साधनो का भारी अपव्यय होता है जो कि विकास मे लगने चाहिए थे। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि भ्रष्टाचार आदि केवल अल्पविकसित देशो मे ही विद्यमान है। तथापि, भ्रष्टाचार धनी देशो की अपेक्षा निर्धन देशो के लिए अधिक विनाशकारी सिद्ध होता है। आर्थिक विकास के मार्ग मे एक महत्वपूर्ण बाधा है—अनुभव (experience), प्रशिक्षण (training) तथा योग्यता (ability) का अभाव, जिसके कारण सरकारी अधिकारी शीघ्र निर्णय लेने मे असमर्थ रहते हैं।

(२) शिक्षा (Education) :

आर्थिक विकास की दूसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता है शिक्षा। जैसा कि गैलब्रेथ (Galbraith) ने एक लेख मे लिखा है कि "पिछली शताब्दी मे, आर्थिक एव सामाजिक विकास की आवश्यकताओ मे इतना महत्वपूर्ण स्थान और किसी को नही मिला जितना कि शिक्षा तथा ज्ञान को मिला है।" लौकिक शिक्षा कुछ थोडे से नहीं बल्कि बडी मात्रा मे लोगो की मानसिक शक्तियो का विकास करती है और उनके लिए तकनीकी ज्ञान का द्वार खोलती है। जब तक कि अल्पविकसित देशो मे ऐसे शिक्षित तथा जागृत लोग नहीं होंगे जो कि पश्चिम के औद्योगीकरण की उन्नत तकनीको का प्रयोग करने मे रुचि रखते हो, तब तक केवल मशीनो का आयात करने मात्र से ही उनके यहाँ औद्योगीकरण नहीं हो जायेगा। लौकिक एव प्रचलित शिक्षा लोगो के मस्तिष्क को खुला रखती है जिससे वे नई-नई विधियो तथा नई-नई तकनीको को अपनाने को तैयार रहते है। अन्य किसी उपाय द्वारा यह कार्य करना सभव नही है। लौकिक शिक्षा (popular education) लौकिक जागरण उत्पन्न करती है जिससे जनता आर्थिक क्रियाओं मे भाग लेने मे समर्थ होती है। लौकिक शिक्षा ही लौकिक महत्वाकाक्षा का आधार है और यह लोगो मे विकास के प्रति तीव्र भावना एव इच्छा उत्पन्न करती है।

(३) पूँजी निर्माण (Capital Formation) :

विकासशील देश की तीसरी आवश्यकता है—पूँजी। हम इस बात पर पहले भी प्रकाश डाल चुके हैं कि अल्पविकसित देशो के लिए पूँजी के सचय का भारी महत्त्व है जिसका कि इन देशो में अभाव पाया जाता है। कुछ लोगो का यह कहना है कि पूँजी का निर्माण अथवा सभरण

7. W. A. Lewis : "*The Theory of Economic Growth.*" p. 11.

इस प्रकार एक अल्पविकसित देश को अनेक आवश्यक कार्य स्वयं अपने हाथ मे लेने चाहिए और औद्योगीकरण मे स्वयं अपनी मदद करनी चाहिए। उसे उन्नत राष्ट्रो की भी सहायता अवश्य ही प्राप्त होगी क्योकि ये राष्ट्र आर्थिक प्रगति मे अपनी सहायता का हाथ सदा ही आगे बढाने के इच्छुक रहे हैं।

पूंजी का निर्माण तथा अल्पविकसित देश
(Capital Formation and Underdeveloped Countries)

विकसित अर्थव्यवस्था में पूंजी का आशय उत्पादन के ऐसे टिकाऊ साधनो से होता है जैसे कि मशीनरी, भवन, परिवहन सामग्री आदि, जिनमे से प्रत्येक का जीवन काफी लम्बा होता है। इन वस्तुओ को सामान्यत अचल पूंजी (fixed capital) कहा जाता है। कच्चे माल, मजदूरी की निधियो, चालू स्थापना व्यय आदि को चल पूंजी (variable capital) कहा जाता है। किन्तु अल्पविकसित देश के मामले मे, हमे 'पूंजी' शब्द का विस्तार करके इसमे काफी मात्रा मे पाई जाने वाली "अदृश्य पूंजी" (invisible capital) को भी सम्मिलित करना होगा, जैसा कि मानवीय स्वास्थ्य, तथा चतुराई और भोजन भी। अन्य शब्दो मे, ऐसी सभी वस्तुएँ तथा सेवाएँ पूंजी मे सम्मिलित की जानी चाहिए जिनकी प्राप्ति आर्थिक विकास के लिए आवश्यक होती है और जिनके अभाव से आर्थिक प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। भारत जैसे देश मे, खाद्यान्न की कमी देश के आर्थिक विकास के मार्ग मे बाधा खडी करती है, अतः खाद्यान्न की बेशी पूंजी का भाग अदा करती है और अर्थव्यवस्था के विकास मे सहायता होती है। इसी प्रकार मानवीय कुशलता (human skill) का अभाव एक पिछडे देश के आर्थिक विकास को गम्भीर रूप से अवरुद्ध कर सकता है। उदाहरण के लिए, भारत किसी उद्योग के लिए विदेशो से बड़ी मात्रा मे मशीनें तो प्राप्त कर सकता है परन्तु यह हो सकता है कि कुशल कारीगरो के न होने के कारण वह उनका बिल्कुल भी उपयोग न कर सके। इस प्रकार, "पूंजी" शब्द मे भवन मशीनें, परिवहन, बिजली, कच्चा माल, श्रम-प्रशिक्षण और इसके साथ ही, कुछ मात्रा मे श्रमिक वस्तुओं की बेशी भी सम्मिलित करनी होगी। अतः यह उल्लेखनीय है कि एक अल्पविकसित देश के संदर्भ मे "पूंजी" की परिभाषा उन्नत देश के मुकाबले अधिक विस्तृत होगी।

सभी समयो मे और लगभग सभी अर्थव्यवस्थाओ के अन्तर्गत, पूंजी का संचय किया जाता है और वह इन मानो मे कि उनका कुल उत्पादन कुल उपभोग के काफी मात्रा मे बढ गया होता है। प्रत्येक अल्पविकसित देश मे, भूतकाल मे तथा आजकल भी, मन्दिरो तथा गिरजो, सरकारी इमारतो, सडको, नहरो तथा किलो आदि का निर्माण किया जाता रहा है, यह इस बात का सूचक रहा है कि चालू आय का पूर्णतया उपभोग नही किया जा सका है और इन विभिन्न रूपो मे पूंजी का सचय किया गया है। परन्तु ये पूंजीगत वस्तुएँ एक विशिष्ट प्रकार की हैं—इनका सम्बन्ध किसी समाज विशेष की संस्कृति व सभ्यता के सामाजिक, धार्मिक अथवा उत्सव पक्ष से है। अन्य शब्दो मे, अनेक अल्पविकसित देशो ने पूंजीगत वस्तुओ का सचय उत्पादन कार्यो के लिए नहीं बल्कि अनार्थिक कार्यो के लिए किया है।[10] यदि सच कहा जाये तो इन वस्तुओ को पूंजीगत वस्तुएँ ही नही कहा जा सकता, क्योकि पूंजीगत वस्तुएँ वे होती हैं जो और उत्पादन के लिए काम मे लाई जाती है।

उपलब्ध साधनो मे पूंजी निर्माण के द्वारा वृद्धि करके और वर्तमान उत्पादकीय साधनो का अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से उपयोग करके वास्तविक आय की सम्भावित मात्रा मे वृद्धि करना ही अल्पविकसित देशो के आर्थिक विकास का सार है। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की समस्या द्विमुखी होती है। (क) उत्पादक पूंजी-निर्माण को किस प्रकार प्रेरित किया जाये और उसमे कैसे वृद्धि की जाये, और (ख) इस बढ़े हुए पूंजीनिर्माण का विभिन्न सम्भावित उपयोगो मे किस प्रकार बँटवारा किया जाये ?

---

10. Buchanan and Ellis, "Approaches to Economic Development," p. 51. They call such goods as "collective consumer's durable goods."

कि उन्नत देशों में प्रचलित हो। उदाहरण के लिए, अधिक उपज देने वाली शंकर मक्का, चावल बोने की जापानी विधि, उन्नत उर्वरक का उपयोग, इस्पात तथा उत्पादन की एल० डी० कीमतें—मैं सामान्य रूप से अपनाई जाने वाली प्रगतियां हैं। इनसे साधनों का मितव्ययी उपयोग होता है और ये विधियां पिछड़े तथा विकसित, दोनों ही प्रकार के देशो के लिए उपयुक्त तथा महत्वपूर्ण हैं। परन्तु उन्नत देशो मे जिस टैक्नोलौजी का अधिक विकास हुआ है, वह श्रम बचाने वाले उपायो के रूप मे है जो कि अधिक उन्नत देशों की विशिष्ट आवश्यकताओं की प्रतीक है। उदाहरणार्थ, कपास चुनने का यन्त्र अथवा आधुनिक भारी कृषि ट्रैक्टर इस किस्म की आवश्यकताओ के ही सूचक हैं। इन यन्त्रों का आविष्कार इस बात का सूचक है कि संयुक्त राज्य अमेरिका मे भाड़े पर मिलने वाले श्रमिको की भारी कमी है। परन्तु पिछड़े देश इस टैक्नोलौजी को इसलिये नहीं अपना सकते, क्योंकि इससे न केवल साधनो का ही अपव्यय होगा, बल्कि बेरोजगारी भी फैलेगी।

(५) विकास के लिए योजना बनाना (Development Planning) :

अल्पविकसित देशो की पांचवी आवश्यकता है उनके विकास के लिए योजना बनाना। बाजार से बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है परन्तु बाजार ही सब कुछ नही दे सकता। यह मनुष्य को आन्तरिक्ष मे नही बिठा सकता, और न यह करोडो रु० की लागत वाले विशाल बांध को ही अस्तित्व मे ला सकता है अथवा यह ऐसे स्थान पर इस्पात उद्योग का निर्माण भी नहीं कर सकता जहाँ कि इस्पात उत्पादन करने की क्षमता पहले से बहुत थोडी चली आ रही हो अथवा बिल्कुल नही हो। बाजार-व्यवस्था ने उन्नत देशो के विकास मे तो सहायता पहुँचाई है परन्तु एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे सहायता के लिए इस पर निर्भर नही रहा जा सकता, जहाँ कि न केवल विकास की आवश्यकता होती है, अपितु विकास की, तीव्र मांग होती है। तीव्र गति से आर्थिक विकास करने के लिए बाजार-शक्तियों (market forces) पर विश्वास करने का अर्थ अनावश्यक तथा अनुपेक्षणीय (unavoideble) जोखिम उठाना है। अत नियोजन एक विकासशील देश की निरपेक्ष एव पूर्ण आवश्यकता है और इस सम्बन्ध मे दो मत नही हैं।

एक अच्छी योजना मे तीन बातें होनी चाहिए। प्रथम, यह कि योजना आर्थिक विकास के लिए युद्ध स्तर जैसा कार्य करे अर्थात् यह उन तत्वो पर जोर दे जो महत्त्वपूर्ण हो और उन तत्वो के मुकाबले उनमें अन्तर करे जो कि लाभदायक अथवा निष्क्रय हो। उदाहरण के लिए, कृषि मे अनेक चीजें लाभदायक हैं परन्तु कुछ उसके लिए अपरिहार्य (indispansable) है, सिचाई, रासायनिक खाद तथा उन्नत किस्म के बीज कृषि में क्रान्तिकारी सुधार कर सकते हैं परन्तु कुछ और भी कृषि सेवाएं ऐसी हैं जो कि उसमे केवल मामूली परिवर्तन ला सकते हैं। दूसरे, एक अच्छी योजना को औद्योगिक सफलता के दृश्य और अदृश्य, दोनों ही अशो पर जोर देना चाहिए। विकास सम्बन्धी नियोजन की दृश्य सफलताएं अथवा उपलब्धियां हैं—इस्पात कारखानो की स्थापना, रेलवे लाइनो का बिछाना, कोयला खानो तथा तेल शोधक कारखानो की स्थापना आदि। विकास-नियोजन की अदृश्य सफलताएं हैं, वस्तु की लागतो मे कमी करना, वस्तु की कोटि मे सुधार, पुनर्स्थापना (replacement) के लिए पर्याप्त कमाई, श्रम तथा प्रबन्धनीय उत्पादिता मे वृद्धि आदि। यह आवश्यक है कि एक अल्पविकसित देक मे विकास सम्बन्धी योजना, औद्योगिक सफलता के दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही पहलुओ की दृष्टि से पूर्ण होनी चाहिए। तीसर, अच्छी योजना ऐसी होनी चाहिए जो उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ को यथेष्ट रूप मे पूरी कर सके।

(६) आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) :

अन्त मे, सतत् आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि एक अल्पविकसित देश मे यथेष्ट मात्रा मे वित्तीय स्थिरता बनी रहे। ऐसे अनेक सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं जो आर्थिक विकास करने वाले एक साधन के रूप मे स्फीति (inflation) का समर्थन करते हैं। स्फीति मे तो यह एक गुण है कि यह आर्थिक क्रियाओ को गतिशील करती है परन्तु इसकी हानियां भी कम नही हैं। भूतकाल मे, स्फीति ने सरकारो को उखाड़ा है, आय के वितरण को अत्यधिक अस्त-व्यस्त किया है, निर्धनो को भूखो मारा है और धनियो को और धनी बनाया है। अतः घाटे की वित्त-व्यवस्था तथा कीमतो की स्फीतिजनक वृद्धि मे तो जहां तक भी हो बचना चाहिए।

वृद्धि मे केवल पूँजीगत वस्तुएँ ही शामिल होगी (और उपभोग्य वस्तुओ की मात्रा यथापूर्व रहेगी)। इस स्थिति मे, पूँजी के प्रवाह मे जो वृद्धि हुई है वह उपभोग्य वस्तुओ के पूर्व प्रवाह (previous flow) के अलावा है।

एक अल्पविकसित राष्ट्र देश के अन्दर से ही पूँजी का सचय तीन प्रकार से कर सकता है (क) छिपी हुई बेरोजगारी अथवा कृषि की मौसमी बेरोजगारी का उपयोग करके, (ख) श्रम तथा अन्य उत्पादकीय माधनो को अनार्थिक पूँजी-निर्माण से उत्पादकीय पूँजी-निर्माण की ओर को स्थानान्तरित करके, और (ग) उपभोग मे कटौती करके, जिससे कि उत्पादन के उपादान पूँजीगत वस्तुओ के निर्माण मे लगाये जा सकें। आगे चलकर यह बताया जायेगा कि इसमे प्रथम सम्भावना मे तो कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। परन्तु दूसरी और तीसरी सम्भावनायें स्पष्ट रूप से सरल तथा सुविधाजनक हैं।

तीव्र पूँजी-निर्माण अथवा आय में तीव्र वृद्धि (Rapid Capital Formation or Rapid Increase in Income) :

चूँकि पूँजी निर्माण की पहचान उत्पादन वस्तुओ अथवा निवेश वस्तुओ की उत्पत्ति से होती है, अत यह बात इस खोजपूर्ण निर्णय पर निर्भर है कि निवेश-योग्य बेशी का कितना भाग निवेश वस्तुओ के उत्पादन मे लगाया जाता है और कितना उपयोग्य वस्तुओ के उत्पादन मे ? मान लीजिए, निवेश-योग्य वेशी (investible surplus) का उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन मे लगाया जाने वाला भाग Pc है और निवेश वस्तुओ के उत्पादन में लगने वाला भाग Pk है, तो Pk का कार्य पूँजी का सचय करना होगा। एक उन्नत अर्थव्यवस्था मे, Pk की मात्रा अधिक होती है और पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया लगभग स्वयचालित होती है परन्तु एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की समस्या यह होती है कि Pk की मात्रा और उसके फलस्वरूप पूँजी निर्माण की दर मे कैसे वृद्धि की जाये ?

एक अल्पविकसित देश पूँजी निर्माण की ऊँची दर तथा आय की वृद्धि की ऊँची दर की प्रकटत विवादास्पद दिखाई देने वाली समस्याओ को हल करना होता है। यदि निवेश-योग्य पूरी की पूरी वेशी को उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन मे लगाया जाता है तो उससे आय मे तात्कालिक वृद्धि होती है, वस्तुत आय मे यह वृद्धि उस वृद्धि से भी अधिक होगी, जो कि इस निवेश-योग्य बशी को पूर्णतया उत्पादक वस्तुओ के उद्योगो मे लगा दिए जाने पर प्राप्त होती। यह कथन इस मान्यता पर आधारित है कि पूँजीगत उपज का अनुपात उपभोग्य-वस्तुओं के क्षेत्र के मुकाबले उत्पादक वस्तुओ के क्षेत्र मे नीचा होता है। अल्पविकसित देश मे अल्पावधि मे आय की वृद्धि की दर Pc की ऊँची मात्रा के साथ ऊँची होगी किन्तु Pk की ऊँची मात्रा के साथ नीची होगी। इसके साथ ही, हम यह पहले बतला चुके हैं कि पूँजी का निर्माण Pk की मात्रा पर निर्भर होता है अत Pk का मूल्य अथवा उसकी मात्रा जितनी अधिक होगी, पूँजी-निर्माण की दर भी उतनी ही ऊँची होगी। इस प्रकार, अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को एक बड़ी दुविधा का सामना करना होता है।

(क) यदि वह अल्पावधि मे आय की उत्पत्ति की दर को बढाने का इच्छुक है तब तो उसे निवेश-योग्य वेशी का एक बडा अनुपात उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन मे लगाना चाहिए।

(ख) यदि वह चाहता है कि पूँजी-निर्माण की दर मे वृद्धि हो, तब उसे Pk की मात्रा मे वृद्धि करनी चाहिए और इस स्थिति में अल्पकाल मे आय की वृद्धि की दर अपेक्षाकृत नीची होगी।

इस दुविधा का अन्त यही नही होता। दीर्घावधि मे स्थिति बिल्कुल इससे उल्टी हो जायेगी। दीर्घावधि मे, Pk के ऊँचे मूल्य के साथ ही आय की वृद्धि की दर भी ऊँची होगी किन्तु Pc के ऊँचे मूल्य के साथ नीची होती जायेगी। ऐसा इसलिये होता है क्योकि—

(क) Pk की ऊँची मात्रा का अर्थ होगा पूँजी-निर्माण की ऊँची दर (क्योकि इससे निवेश वस्तुओ का उत्पादन होगा), और पूँजी वृद्धि की इस दर का कार्य होगा, आय मे वृद्धि करना, और

पूँजी का सचय (Capital Accumulation) :

पूँजी के सचय के लिए तीन बातें आवश्यक हैं :—

(क) वास्तविक बचतों की मात्रा मे वृद्धि हो जिससे कि वे साधन जो अब तक उपभोग-कार्यों में लगे रहे थे, अन्य कार्यों मे लगाये जा सकें,

(ख) एक बैंकिंग वित्तीय व्यवस्था की स्थापना जो कि जनता की बचतों को गतिशील करती है और निवेश कर्ताओं को इस योग्य बनाती है कि वे अपनी रकम माँग सके, और

(ग) उसका निवेश करना जिसका अर्थ है, पूँजीगत माल (capital goods) का उत्पादन।

पूँजी का सचय केवल वित्तीय सस्थाओं की स्थापना करके तथा मुद्रा का विस्तार करके ही नही किया जा सकता। वित्तीय ढाँचा महत्वपूर्ण तो है परन्तु केवल वित्त की धाराओ के अस्तित्व मात्र से ही पूँजी-निर्माण के स्तर मे वृद्धि की आशा नही की जा सकती। वास्तव मे, बिना अतिरिक्त वास्तविक बचतो के यदि मुद्रा का विस्तार होता है तो उससे स्फीति (inflation) उत्पन्न होती है। चूँकि पूँजी का अर्थ द्रव्य पूँजी (money capital) से नही, अपितु वास्तविक पूँजी (real capital) से होता है अतः पूँजी के सचय का अर्थ है, वास्तविक परिसम्पत्तियो (real assets) का निर्माण। और इसके लिए आवश्यकता होती है—अतिरिक्त बचतों की और उत्पादकीय निवेश (productive investment) की।

पूँजी निर्माण की प्रक्रिया (The Process of Capital Formation).

पूँजी निर्माण की प्रक्रिया के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय उपभोग के स्तर से आगे बढ़ जाये। यदि Y को आय माना जाये, C को उपभोग (Consumption) माना जाए, S को बचत (Saving) माना जाए और I को निवेश (Investment) माना जाए तो समीकरण (equation) इस प्रकार बनता है :

$$Y - C = S$$

सन्तुलन की स्थिति में, बचतें निवेश अथवा विनियोग के बराबर होंगी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपयोग (C) पर राष्ट्रीय आय (Y) की अधिकता से समाज की बचतो (S) का निर्माण होता है जिसे कि निवेश (I) भी कहा जा सकता है। अतः निवेश का ठोस मूल्य ही पूँजी-निर्माण की पूर्ववत् है।

तथापि, यह आवश्यक है कि निवेश तथा पूँजी निर्माण के बीच के सम्बन्ध का उल्लेख किया जाये। जहाँ कि निवेश (I) का अर्थ है निवेश योग्य वेशी (investible surplus), वहाँ पूँजी निर्माण का अर्थ है, अर्थव्यवस्था की पूँजी की मात्रा में निवल वृद्धि। मान लीजिए अर्थव्यवस्था की निवेश योग्य वेशी (I) उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन मे विनियोग पर दी जाती है तो इसका अर्थ है कि पूँजी का निर्माण बिल्कुल नही हुआ; क्योंकि ऐसा करने से केवल उपभोग्य वस्तुओं का ही उत्पादन होगा, अर्थव्यवस्था की पूँजी में कोई वृद्धि नही होगी। अतः यह आवश्यक नहीं है कि किसी निश्चित अवधि मे पूँजी निर्माण का मूल्य निवेश-योग्य वेशी के मूल्य के बराबर ही हो। अतः यह कहना सही है कि पूँजी-निर्माण के लिए निवेश-योग्य वेशी (I) का होना आवश्यक तो है परन्तु केवल इससे ही इस बात की गारण्टी नही मिल जाती कि पूँजी का निर्माण हो ही जायेगा।

इस स्थिति मे, किसी अर्थव्यवस्था मे पूँजी के संचय के दो तरीके है। प्रथम यह है कि ऐसे साधनो को, जो कि उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन मे लगाये जा रहे हैं, पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे लगा दिया जाये। इस स्थिति में उपभोग्य वस्तुओ (consumption goods) की मात्रा घट जायेगी और पूँजीगत वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो जायेगी। यहाँ पूँजी के प्रवाह मे जो वृद्धि हुई है वह उपभोग्य वस्तुओ के प्रवाह के एक भाग की स्थानापन्न (substitute) है। दूसरे, यह किया जा सकता है कि अर्थव्यवस्था की कुछ उपज में वृद्धि कर दी जाये। इस स्थिति मे उपज की

४

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर अथवा अप्रत्यक्ष कर

(Direct and Indirect Tax)

प्रारम्भिक : प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो का अर्थ एवं व्याख्या (Introduction—Meaning and Definition of Direct and indirect Taxes)

मध्ययुग (middle age) से ही अर्थशास्त्री तथा लेखक करो का वर्गीकरण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के रूप मे करते रहे है। परन्तु प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनो ही शब्द बडे अस्पष्ट रहे हैं और कभी भी इनकी कोई प्रामाणिक व्याख्या नही की गई। प्रो० बुलक (Prof Bullock) ने अपने वित्तीय साहित्य मे इन शब्दो की लगभग एक दर्जन विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। उनमे से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं "उत्पादन पर लगाये जाने वाले कर प्रत्यक्ष कर और उपभोग पर लगाये जाने वाले कर परोक्ष कर हैं", 'आय पर लगाये जाने वाले कर प्रत्यक्ष और व्यय पर लगाये जाने वाले कर परोक्ष है", "जो कर सुस्पष्ट रूप मे लागू किये जायें वे प्रत्यक्ष और जो कर छिपे रूप में लागू हो वे परोक्ष कर हैं", आदि आदि। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच सबसे अधिक प्रसिद्ध भेद वह है जो जे० एस० मिल (J S. Mill) ने किया है। "प्रत्यक्ष कर वह है जो केवल उसी व्यक्ति से मांगा जाता है जिससे सरकार चाहती है कि वह भुगतान करे और परोक्ष कर वह है जो किसी व्यक्ति से इस आशा व इच्छा से मांगा जाता है कि वह दूसरे के व्यय पर अपनी हानिपूर्ति कर लेगा।"[1] मिल के अनुसार, करो का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष होना इस तथ्य पर निर्भर है कि वे वास्तव मे उन व्यक्तियो द्वारा अदा किये गये हैं या नही जिन पर कि उनका भार डाला गया था। इस परिभाषा के अनुसार, वैयक्तिक आय-कर (personal income tax) अथवा ऐसे मकान पर लगाया जाने वाला कर, जिसमे कि उसका मालिक रहता हो, इसलिए प्रत्यक्ष कर माना जायेगा क्योकि उसके भार (burden) का अन्तरण (shifting) नही होगा, और बिक्री कर तथा सीमा कर (customs duty) इसलिए परोक्ष कर समझे जायेंगे क्योकि यह कहा जाता है कि उनका भार विक्रेता द्वारा खरीददार पर डाल दिया जायेगा।

---

1. J. S Mill : Principles of Political Economy, p 822, "A direct tax which is demanded from the very persons who it is intended or desired should pay it Indirect taxes are those which are demanded from one person in the expectation and intention that he shall indemnify himself at the expense of another"

(ख) दीर्घकाल मे, उपभोग्य वस्तुओ की आय उत्पादन करने की क्षमता शून्य हो जायेगी क्योंकि उन वस्तुओं का उपभोग कर लिया जायेगा।

अत यह स्पष्ट है कि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से एक अल्पविकसित देश के लिए यही अच्छा होगा कि वह अपनी निवेश योग्य वेशी का एक बड़ा भाग पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन (अर्थात् पूँजी निर्माण) की ओर मोड दे। परन्तु अल्पकालीन दृष्टिकोण से, सामान्य जनता (जो कि अपनी आय मे वृद्धि की आशा कर रही होती है) अपनी आय बढाने की इच्छुक हो सकती है। और यदि ऐसा है तो नियोजन अधिकारी इस बात के लिए बाध्य हो जायेंगे कि वे निवेश-योग्य वेशी का एक बड़ा भाग उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन मे लगा दें। इस प्रकार, एक अल्पविकसित देश की दुविधा यह है कि वह (क) आय मे अल्पकाल मे बडी वृद्धि करे, या (ख) आय मे अल्पकाल मे थोड़ी वृद्धि करे, इस स्थिति मे दीर्घकाल से आय की दर मे वृद्धि करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप दीर्घकाल मे आय मे तेजी से वृद्धि होती है। इनमे से किस विकल्प को चुना जायेगा, यह बात मुख्यतः सरकार की प्रकृति और राज्य के स्वरूप पर निर्भर है। लोकतन्त्रीय पद्धति मे, आमतौर पर प्रथम विकल्प को पसन्द किया जाता है किन्तु सत्तावादी व्यवस्था (authoritarian system) मे, जहाँ कि जनता की इच्छाओ को अधिक महत्त्व नही दिया जाता, सामान्य दूसरा विकल्प ही चुना जाता है।

अन्य अनुकूल तत्त्व (Other Favourable Factors) ·

यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि पूँजी का निर्माण मुख्यतया बचत की दर पर निर्भर हुआ करता है। सीमान्त बचत प्रवृत्ति (marginal propensity to save) जितनी अधिक होती है देश मे पूँजी निर्माण की दर भी उतनी ही ऊँची होती है। परन्तु बचत की सीमान्त प्रवृत्ति तथा पूँजी निर्माण की दर के बीच कोई आवश्यक सह-सम्बन्ध (correlation) हो ही, ऐसी बात नहीं है। वास्तव मे, यदि बचतों का उपयोग उत्पादन पूँजीगत परिसम्पत्तियों के निर्माण मे नही किया गया तो अधिक बचत करने की प्रवृत्ति से हानिकारक आर्थिक परिणाम सामने आने की आशका है। बचतो का यदि उपयोग न किया जाये, कम उपयोग किया जाये, अथवा उनका दुरुपयोग किया जाये तो उनसे कभी भी पूँजी का निर्माण नही हो सकता। दूसरे, यदि बचतों को अशत अथवा पूर्णत· बेकार रखा गया तो उससे समर्थ माँग (effective demand) घटेगी और उससे कोई मतलब हल नही होगा। तीसरे, यदि बचतो का उपयोग बेकार की दिखावटी मदो अथवा ऐसी चीजो मे किया जाये जो कि सत्ता या शक्ति के प्रदर्शन के लिए होती है, जैसे कि स्वर्ण, जवाहरात अथवा कोई जायदाद खरीदना, तो उससे भी पूँजी निर्माण की प्रक्रिया मे सहायता नही मिल सकती। चौथे, उपयोग की एक उपयुक्त सीमान्त दर भी पूँजी-निर्माण का एक आवश्यक पहलू है क्योंकि इससे श्रम की कार्य-क्षमता अधिकतम होती है और उपभोग्य वस्तुओ की माँग मे वृद्धि होती है। अत यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया वह कार्य है जो चालू आय के सर्वोत्तम उपयोग द्वारा सम्पन्न किया जाता है ताकि भावी आय मे वृद्धि हो सके। यह कार्य दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता है (क) कुशलता वृद्धि की दृष्टि से चालू आय को उपभोग मे लगाकर, और (ख) निवेश के लिए बचत करके जिससे कि सर्वाधिक उपयोगी उत्पादक परिसम्पत्तियो का निर्माण किया जा सके।

पूँजी का बँटवारा (Allocation of Capital) :

अब तक हमने अल्पविकसित देशों मे पूँजी के सचय से सम्बन्धित समस्याओ एवं कठिनाइयों का विवेचन किया है। अब हम नये निवेश (new investment) के बँटवारे की समस्या पर विचार करेंगे। पूँजी के बँटवारे की समस्या कई बातों की ओर सकेत करती है, जैसे कि संचय की गई पूँजीगत सामग्री की प्रकृति तथा किस्म, वे क्षेत्र जिनमे· कि निवेश किया जाना है, पूँजी का बँटवारा करते समय अपनाया जाने वाला सिद्धान्त आदि-आदि।

पूँजी के बँटवारे पर अल्पविकसित देशों मे चूँकि श्रम की बहुलता और पूँजी की कमी रहती है, अतः इस बात की भारी आवश्यकता है कि यदि उत्पादन की रीतियों मे चुनाव का

अवसर उपलब्ध हो तो श्रम की अपेक्षा पूँजी का उपयोग अधिक मितव्ययता से किया जाना चाहिए। उदाहरणत. कृषि मे, यदि अधिक पूँजी का भी उपयोग किया जाये तो भी उसमे उत्पादन की रीतियाँ श्रम-प्रधान ही बनी रहेगी। फिर, कृषि का यन्त्रीकरण करने के लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है, उसका अर्थव्यवस्था मे यदि और कही निवेश किया जाये तो वह पूँजी अधिक उत्पादक सिद्ध हो सकती है।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओ मे निवेश अधिकाशत· छोटे-छोटे उद्यमो के रूप में किया जाना है। इसका आशिक कारण तो पूँजी तथा कुशल श्रमिको का कम मात्रा मे पाया जाना है और आशिक कारण यह है कि छोटे उद्यमो मे जोखिम कम रहता है। छोटे पैमाने के उद्यमो के अन्य लोगो के अलावा इनसे ये लाभ भी प्राप्त होते है उत्पादन की श्रेष्ठ रीतियो का अधिक फैलाव, उत्पादन की नई-नई तक्नीकों मे अधिक सख्या मे व्यक्तियो का भाग लेना तथा प्रबन्ध प्रशिक्षण के लिए अधिक अवसर। परन्तु छोटे पैमाने की इकाइयो के लाभो की सीमायें भी हैं। इसके अतिरिक्त अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के लिये यह भी आवश्यक होगा कि वह कुछ किस्म के निवेश को कुछ विशिष्ट क्षेत्रो मे केन्द्रित करे और अन्य क्षेत्रो को इस बात की छूट दे कि वे नई-नई उत्पादन तक्नीको को अपना सकें।

कभी-कभी यह हो सकता है कि किसी विशेष उद्योग मे उत्पादन की केवल एक ही तक्नीक (technique) उपलब्ध हो। उदाहरण के लिए, इस्पात उत्पादन अथवा रासायनिक खाद की स्थिति मे, केवल पूँजी-प्रधान रीतियाँ (capital intensive methods) ही उपलब्ध होती हैं। अत इस स्थिति मे, कम मजदूरी के अस्तित्व की कोई उपयोगिता नही है। इसके अतिरिक्त, यह हो सकता है कि इतना बडा वाणिज्यिक उद्यम रोजगार की दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध न हो।

निवेश की अन्य कसौटी पूरकता (complementarity) की है। अनेक उद्योग एक-दूसरे के पूरक (comlementary) होते हैं अतः उन्हे एक साथ ही विकसित होना होता है। इस स्थिति मे सन्तुलित विकास की विचारधारा के आधार पर निवेश की ऊँची दर तथा औद्योगीकरण की तीव्रगति की वकालत की जा सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध मे बडी सावधानी बरतने की आवश्यकता है कि सभी मोर्चों का तेजी से विकास साथ साथ ही हो सके, क्योंकि तक्नीकी श्रमिको की कमी के कारण इस कार्य मे बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

अन्त मे, एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे, निवेश के विकल्पो मे से चुनाव करने की महत्त्वपूर्ण कसौटी विदेशी अदायगियो का सन्तुलन भी है। उदाहरण के लिए, यदि निवेश को निर्यात् उद्योगो के व्यय पर देशी वस्तुओ के उद्योगो पर केन्द्रित कर दिया गया, तो अदायगी-शेष (balance of payments) मे घाटे हो जायेंगे। और स्थिति उस समय और भी खराब हो जायेगी जबकि द्रव्य-आय मे वृद्धि होगी और माँग मे भी वृद्धि होगी और माँग मे भी वृद्धि की सभावना होगी क्योकि इससे अधिक मात्रा मे आयात करना आवश्यक हो जायेगा।

पूँजी-संचय की दर (Rate of Capital Accumulation):

इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद पाये जाते हैं कि पूँजी के सचय की वह दर कौनसी होनी चाहिए जो अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को आर्थिक प्रगति के मार्ग पर आगे बढने मे मदद दे सके। इस प्रश्न पर दो स्पष्ट दृष्टिकोण पाये जाते हैं—एक तो "तेजी से बढने वाली दर का दृष्टिकोण" और दूसरा "शनैं शनैं बढने वाली दर का दृष्टिकोण।"

विचारकों का एक वर्ग ऐसा है जो अत्यन्त तीव्र दर से पूँजी के सचय का समर्थन करता है जिससे कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को युगो पुराने आर्थिक दुश्चक्र (vicious circle) से एक झटके मे ही बाहर निकाल लिया जाए। इस मत के समर्थन मे जो तर्क दिये जाते हैं वे निम्न प्रकार हैं:—

सर्वप्रथम, पिछडी तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की आर्थिक प्रगति के मार्ग मे बाधाएँ हैं उनके पुराने रीति-रिवाज तथा परम्परायें रूढ़िवादी सांस्कृतिक संस्थाएँ और विशाल जनसख्या जो कि तीव्रगति से बढ रही होती है। अतः आर्थिक विकास के पथ को प्रशस्त करने के

लिए यह आवश्यक है कि बड़े-बड़े निवेश किये जाएँ और बड़ी मात्रा में पूँजी का संचय किया जाए। दूसरे, कुछ लोगों का मत यह है कि आर्थिक विकास के मार्ग में आने वाली वास्तविक बाधाएँ सामान्यत. ये हैं—गिरा हुआ स्वास्थ्य, छूत की बीमारियों का फैलना, अपर्याप्त सफाई, अपूर्ण तथा असन्तुलित भोजन, अपर्याप्त आवास व्यवस्था, तथा शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव आदि। इन सब समस्याओं को हल करने का अर्थ है सरकार द्वारा बडी मात्रा में पूँजी का निवेश। इसके अतिरिक्त, राज्य को कुछ ऐसे बडे आर्थिक उद्यम और भी हाथ में लेने पड़ सकते हैं। जैसे कि परिवहन तथा सचार, पोर्ट तथा बन्दरगाह (ports and harbours), सिंचाई तथा विद्युत प्रयोजनाएँ आदि। अतः यह स्पष्ट है कि "तीव्र दर वृद्धि के दृष्टिकोण" वाले विचारकों के अनुसार पूँजी मे वृद्धि की दर काफी तेज होनी चाहिए "जिससे कि अल्पविकसित क्षेत्रों को निर्धनता तथा निराशा के उस गर्त से एक झटके में ही बाहर निकाला जा सके जिसमे पड़े-पड़े वे आर्थिक दृष्टि से जड और सामाजिक दृष्टि से उत्तेजित बने हुए हैं।" इस संदर्भ में अल्पविकसित देशों के लिए विदेशो से वित्त तथा तकनीकी ज्ञान की सहायता प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

तीव्र गति से पूँजी-सचय के मत के विरुद्ध, दूसरे दृष्टिकोण मे इस बात पर जोर दिया गया है कि पूँजी-सचय की दर में शनैः शनैः वृद्धि किये जाने की आवश्यकता है। "शनैः-शनैः वृद्धि के दृष्टिकोण के विचारक" इस बात पर जोर देते है कि एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे बड़ी मात्रा मे पूँजियो के इन्जैक्शन लगाये गये तो उससे या तो ये इन्जैक्शन बेकार जायेंगे अथवा अर्थव्यवस्था के लिए वे प्राणलेवा सिद्ध होंगे।

"शनैः शनैः दृष्टिकोण के विचारकों" के अनुसार, धन तथा तकनीकी ज्ञान को विदेशी सहायता प्राप्त करके यदि क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये तो उससे देश के अन्दर ही क्रमिक आर्थिक विकास की एक सुदृढ नीव नही रखी जा सकेगी। जब भी विदेशी सहायता बन्द हो जायेगी तभी अर्थव्यवस्था अपनी पूर्व जड स्थिति पर वापिस लौट आयेगी। दूसरे, लोगो की आदतें, विचार करने का ढंग तथा रहन-सहन का तरीका आदि बदलने मे समय लगता है। और जब तक ये परिवर्तन नही होंगे तब तक अर्थव्यवस्था की आर्थिक दृष्टि से प्रगति करने की आशा नही की जा सकती। केवल धन की बडी-बडी रकमो के इन्जैक्शन लगा देने मात्र से कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि उपर्युक्त परिवर्तनो को अस्तित्व मे आने मे काफी समय लगेगा। तीसरे, यह नही माना जा सकता कि अपनी सभी प्रशासकीय समस्याओ से युक्त केन्द्रीय नियोजन (central planning) ही अल्प-विकसित देशो के विकास का एकमात्र अथवा श्रेष्ठ हल है।

इस प्रकार "शनैः शनैः वृद्धि के दृष्टिकोण" के अर्थशास्त्री यह तर्क देते हैं कि आर्थिक विकास के कार्य मे अधिक भीड-भाड़ नही होनी चाहिए और यह कि पूँजी-वृद्धि की ऊँची दर पर अधिक निर्भर रहने तथा विदेशी सहायता पर अधिक आश्रित रहने का मार्ग, हो सकता है कि देश के लिए सर्वोत्तम मार्ग सिद्ध न हो। दूसरी ओर, वे पूँजी-सचय की हल्की दर का, विदेशी ऋण तथा अनुदानों की अपेक्षा देशी पूँजी पर ही अधिक निर्भर रहने का व अहिंसक सामाजिक परिवर्तनो की दशाओ का समर्थन करते है।

निष्कर्ष (Conclusion).

इन दोनों ही मतो मे से किसी भी एक के लिए हाँ कर देना बड़ा कठिन है। दोनो ही पक्षों के तर्कों मे काफी बल है। इन दोनो ही परस्पर विरोधी मतो मे, सही स्थिति यही दिखाई देती है कि इन दोनो के बीच का कोई मार्ग खोजा जाए। एक ओर तो, पूँजी-सचय की दर भी यथेष्ट रूप मे ऐसी ऊँची होनी चाहिए कि जिससे अर्थव्यवस्था (economy) को निर्धनता और

कष्टों के दलदल से बाहर निकाला जा सके। परन्तु साथ ही साथ, यह दर इतनी अधिक ऊँची भी नही होनी चाहिए जो देश की क्षमता से बाहर हो अथवा जो देश को विदेशों पर निर्भर बना दे।

छिपी हुई बेरोजगारी तथा पूंजी का निर्माण[11]
(Disguised Unemployment and Capital Formation)

यह हम पहले भी बतला चुके हैं कि अल्पविकसित देशों मे भूमि पर जनसख्या का अधिक दबाव पडने तथा सम्मिलित कुटुम्ब व्यवस्था के कारण यह हो सकता है कि अनेक लोग एक ही पारिवारिक फार्म पर बिना इस बात का विचार किये ही कार्य कर रहे हो कि उनके अतिरिक्त काम पर लगने से अतिरिक्त उपज भी हो रही है या नही। अन्य शब्दो मे, कृषि की सीमान्त उपज (marginal output) शून्य अथवा नकारात्मक (negative) भी हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि मे कार्य करने वाले श्रमिको के एक भाग को हटाकर अन्य धन्धो मे लगाया जा सकता है और इस शर्त के साथ कि उनके हटने के बाद भी अर्थव्यवस्था कृषि मे उतना ही अथवा उससे भी अधिक उत्पादन दे सकती है। नर्को ने इस स्थिति को छिपी हुई बेरोजगारी अथवा अतिरिक्त मानवीय-शक्ति का नाम दिया है। उसने लिखा है कि "ये देश बड़े पैमाने की छिपी हुई बेरोजगारी से ग्रसित हैं और वह इन मानो मे कि कृषि की विधियो मे कोई परिवर्तन किये बिना ही कृषि में लगी हुई जनसख्या के एक बडे भाग को वहाँ से हटाया जा सकता है और ऐसा करने से कृषि उत्पादन में भी कोई कमी नही होगी.......। उतनी ही कृषि-उपज, कृषि के तरीको मे कोई परिवर्तन किये बिना ही, अपेक्षाकृत कम श्रम शक्ति (labour force) से प्राप्त की जा सकती है।"[12]

नर्को (Nurkse) का कहना है कि छिपी हुई बेरोजगारी के रूप मे जो श्रम की बर्बादी हो रही है, उससे बचना चाहिये और उसका उपयोग पूंजी निर्माण के लिए करना चाहिये क्योकि अल्पविकसित देशो मे पूंजी के निर्माण की भारी आवश्यकता है। ऐसा करना दो प्रकार से सम्भव है। वे सीमान्त श्रमिक (marginal workers), जिनकी उत्पादिता (productivity) या तो शून्य है या नकारात्मक, अब ग्रामीण क्षेत्र की बचतो का उपयोग कर रहे हैं—अर्थात् ग्रामीण क्षेत्र की बचतें उन सीमान्त श्रमिको द्वारा उडाई जा रही हैं जिनकी उत्पादिता शून्य है। सीमान्त श्रमिक—छिपे हुए बेरोजगार श्रमिक—कुछ ऐसी पूंजीगत प्रयोजनाओं मे काम करने के लिए कृषि से निकालकर लाये जा सकते हैं, जैसे सिंचाई, नाली-निर्माण, सडकें, रेलें, गृहनिर्माण तथा फैक्टरियो विशेष रूप से सामूहिक उद्यमो एव सस्थाओ में काम करने के लिए।

चूंकि, अनुमानत, पूंजीगत् वस्तुओ के क्षेत्रो मे श्रम की सीमान्त उत्पादिता सकारात्मक (positive) होती है, अत उस क्षेत्र की श्रम-शक्ति मे उपर्युक्त बेरोजगार श्रमिको को जोड देने से पूंजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि ही होगी। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि ग्रामीण अर्द्ध रोजगार मे छिपी हुई सम्भावित बचते अब "प्रभावी बचते" (effective savings) बन जायेंगी। इस प्रकार, कृषि मे विद्यमान फालतू श्रम-शक्ति को अन्य पूंजीगत प्रयोजनाओ के निर्माण मे स्थानान्तरित कर देने से जो कृषि-बेशी (agricultural surplus) उत्पन्न होगी उससे पूंजी का निर्माण सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार नर्को का यह मत था कि श्रम के केवल पुन. बँटवारे मात्र

---

11 अल्पविकसित देशो मे पूंजी-निर्माण के एक साधन के रूप मे छिपी हुई बेरोजगारी के प्रयोग करने की सम्भावना कुछ लेखको ने प्रकट की है। इनमे से प्रसिद्ध लेखक है

James S. Duerenberry in the Theory of Economic Development in Explorations in Entrepreneverial History, Ragnar Nurkse in Problems of Capital Formation in Underdeveloped Cocntries and Buchanan and Ellis in Approaches to Economic Development

12. Ragnar Nurkse. Problems and Capital Formotion in Underdeveloped Countries, p. 32, "These countries suffer from large scale disguised unemployment in the sense that even with unchanged techniques of agriculture a large part of population engaged in agriculture could be removed without reducing agricultural output... The same farm output could be obtained with a smaller labour force without any change in methods."

से ही पूँजी का निर्माण किया जा सकता है और इस कार्य के लिए न तो कर लगाने की आवश्यकता है और न उपभोग को सीमित करने की। बुचनन तथा ईलिस ने इसी विचार को और भी अधिक स्पष्ट किया है "……इन श्रमिकों को कृषि उपज में कमी किये बिना ही कुछ किस्म की पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिए संगठित किया जा सकता है। उनसे अब उपज में कोई वृद्धि नहीं हो रही थी, अत: उनके हटने से कृषि-उपज के विद्यमान स्तर में कोई कमी नहीं होगी। उधर पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में उनके कारण वृद्धि होगी और यह वृद्धि उपभोग के व्यय पर नहीं होगी बल्कि इसलिए क्योंकि कुल उत्पादन बढ़ गया है।"[13] इस प्रकार, "यह प्रभाव डाला जाता है कि छिपी हुई बेरोजगारी औद्योगीकरण पर एक भार होने की बजाए छिपे हुए वेश में एक वरदान है।"[14]

कठिनाइयाँ (Difficulties) :

नर्कों के विचारों ने इस प्रश्न पर काफी विवाद उत्पन्न कर दिया है। नर्को के इस विचार से तो कोई असहमत नहीं है कि अल्पविकसित देशों में छिपी हुई बेरोजगारी पाई जाती है। परन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या इस छिपी हुई अथवा निहित बेरोजगारी को इतनी आसानी से पूँजी निर्माण के एक स्रोत में बदला जा सकता है ? इस सम्बन्ध में हर स्थिति में कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं।

(१) नर्को ने न तो "छिपे हुए बेरोजगार श्रमिकों" की प्रकृति को स्पष्ट किया है और न उन श्रमिकों की प्रकृति को, जिनकी पूँजी-निर्माण के लिए आवश्यकता है। छिपे हुए बेरोजगार श्रमिक (disguisedly unemployed labour) जहाँ अनिवार्यतः अकुशल तथा तकनीकी ज्ञान से रहित होते हैं, वहाँ पूँजी-निर्माण की प्रक्रिया के लिए स्पष्टतः कुशल एवं तकनीकी श्रमिकों की आवश्यकता होती है। नर्को की योजना को तब तो ठीक माना जा सकता है जबकि पूँजीगत प्रयोजनाओं का निर्माण अकुशल श्रमिकों द्वारा तथा न्यूनतम मात्रा में कुशल श्रमिकों द्वारा करना सम्भव हो।

यदि छिपे हुए बेरोजगार श्रमिकों को ऐसी "निवेश" (investment) प्रयोजनाओं में स्थानान्तरित करना सम्भव भी हो जाए जिनमें कि किसी विशेष कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है, फिर भी श्रम प्रधान प्रकृति की ऐसी निवेश प्रयोजनाओं से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उतनी मात्रा में तथा उस किस्म की अचल पूँजी (fixed capital) जुटा सकेंगी, जिसकी कि औद्योगीकरण के लिए तत्काल आवश्यकता होगी। कुरिहरा के अनुसार, "इन श्रम प्रधान प्रयोजनाओं से अधिक से अधिक यदि कुछ आशा की जा सकती है तो यह कि ये बहुत सीमित मात्रा में प्रारम्भिक पूँजी का निर्माण कर सकती है (उदाहरण के लिए, फैक्टरी क्षेत्रों की भूमि की सफाई, आधुनिक राष्ट्रीय सड़कों के लिए कच्ची सड़कों का निर्माण और मशीन-निर्मित माल के लिए कच्चे माल के रूप में दस्तकारी कार्य)। परन्तु तीव्र गति से औद्योगीकरण करने के लिए काफी मात्रा में बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा मशीनों के निर्माण की आवश्यकता होती है। परन्तु ऐसी मशीनों के स्थान पर उक्त बेरोजगार श्रमिकों को लगा देने से मशीनों का निर्माण नहीं होगा।"[15]

इस सम्बन्ध में, आर्थिक विकास के अनुज्ञात्मक (permissive) तथा बाध्यताकारी (compulsive) तत्वों के बीच हिर्समैन द्वारा किया गया भेद महत्त्वपूर्ण है।[16] नर्को के अनुसार, छिपे हुए बेरोजगार श्रमिकों का उपयोग कुछ ऐसे निर्माण कार्यों में करना होगा, जैसे कि सड़कें, भवन, जल-कल (water works) तथा भूमि-सुधार आदि जिन्हें कि सामान्यतः सामाजिक बन्धी

---

13. Buchanan and Ellis : *op cit.*, p. 56.
14. K.K. Kurihara · *The Keynesian Theory of Economic Development* p. 119 "An impression is created that disguised unemployment is, after all, a blessing the disguise instead of being a drag on industrialisation."
15. K K. Kurihara : *op. cit.*, p. 119.
16. Hirschman : *The Strategy of Economic Development.*

पूँजी कहा जाता है। नर्को का तर्क यह है कि इन कार्यों से पूँजी का निर्माण होगा जिसके फल स्वरूप आर्थिक विकास होगा। परन्तु हिर्समैन के अनुसार, सामाजिक बंधी पूँजी यद्यपि विकास के लिए मूलत. महत्त्वपूर्ण है परन्तु यह केवल अनुज्ञात्मक तत्त्व है और वह इन मानों मे कि यह निजी निवेश को आगे बढने की अनुमति देता है। दूसरी ओर, "प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक पूँजी" (directly productive capital) का अस्तित्व आर्थिक विकास मे एक बाध्यताकारी तत्त्व है। प्रत्यक्ष उत्पादक पूँजी अथवा क्रिया मे अन्य के अलावा मशीनी औजार उद्योग तथा लोहा व इस्पात उद्योग सम्मिलित किये जाते है। छिपे हुए बेरोजगार श्रम को पूँजी-निर्माण के रूप मे बदल देने के नर्को के सिद्धान्त का मेल सामाजिक बंधी पूँजी (social overhead capital) के सम्बन्ध मे ही ठीक बैठता है, उस प्रत्यक्ष उत्पादक पूँजी के सम्बन्ध मे नही, जो कि आर्थिक विकास की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(२) नर्को का तर्क है कि छिपे हुए बेरोजगार श्रमिको के स्थानान्तरण से मजदूरियो मे वृद्धि करने की आवश्यकता नही होगी। "किन्तु छिपी हुई बेरोजगारी" की उसकी परिभाषा उसके निष्कर्ष के विरुद्ध होगी। छिपे हुए बेरोजगार व्यक्तियो को व्यक्तिगत रूप मे नही पहचाना जा सकता। वे तो श्रम-बाजार (labour market) की प्रक्रिया द्वारा ही ग्रामीण क्षेत्र से स्थानान्तरित होगे। अत इस स्थिति मे उन्हें मजदूरियाँ देनी ही होगी, और इसके अलावा मजदूरियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक होगी जिसके निम्नलिखित दो कारण हैं —

(क) अब तक के छिपे हुए बेरोजगार श्रमिक यह सोच सकते हैं कि वे तो उत्पादक श्रमिक हैं। अत: उन्हे श्रम-बाजार मे प्रवेश के लिए प्रेरित करने को ऊँची मजदूरियाँ प्रस्तुत करनी होगी।

(ख) अर्थव्यवस्था मे स्फीतिजनक दबाव (inflationary pressure) प्रकट होते ही नकद मजदूरियाँ (money wages) बढने लगती हैं। चूँकि वे पूँजीगत प्रयोजनाएँ, जिनमे कि छिपे हुए बेरोजगार मनुष्य लगे होते है, फल देने मे कुछ समय लेती हैं, अतः स्फीतिजनक दबाव की उत्पत्ति अनिवार्य ही हो जाती है। और यह भी निश्चित है कि यदि स्फीतिजनक दबाव को बढने की अनुमति दे दी जाती है, तो उससे स्वय पूँजी-निर्माण का लक्ष्य ही समाप्त हो जाता है।

(३) नर्को का तर्क यह है कि ग्रामीण क्षेत्र मे छिपे हुए बेरोजगार श्रमिको के स्थानान्तरण से आप से आप ही प्रभावी बचतें (effective savings) उत्पन्न होगी, और वह इस अर्थ मे कि अब तक के बेरोजगार श्रमिक जिस खाद्यान्न का उपभोग करते थे, वह अब बचतो का रूप ले लेता है। यह कथन सतत् उपभोग की मान्यता पर आधारित है। ये प्रभावी बचतें पहले उस निर्वाह कोष (sudsistance fund) के रूप मे थी जो कि उन तत्कालीन बेरोजगार श्रमिको का पेट भरने के काम मे आता था जो अब पूँजीगत प्रयोजनाओ मे उत्पादक श्रमिक के रूप मे कार्य कर रहे हैं। परन्तु इस सम्बन्ध मे अनेक कठिन प्रश्न सामने आ खडे होते हैं। एक तो यह कि (छिपे हुए बेरोजगार श्रमिको का अन्य धन्धो मे स्थानान्तरण होने के पश्चात्) जो लोग ग्रामीण क्षेत्र मे शेष बच रहे वे हो सकता है कि अधिक उदारता से उपभोग करने का निश्चय कर लें। इस स्थिति मे, वह निर्वाह-कोष सभवत पर्याप्त न हो जो कि पूँजीगत प्रयोजनाओ मे नये स्थानान्तरित किये गये श्रमिको के पोषण के लिए उपलब्ध था। दूसरे, छिपी हुई बेरोजगारी से सम्बन्धित श्रमिक जब पूँजीगत प्रयोजनाओ मे स्थानान्तरित हो जाते हैं, तो हो सकता है कि उनकी उपभोग की आदतें तेजी से विकसित हो जाएँ और वे अधिक उपभोग करने लगें—यह सोचकर क्योकि अब वे स्वतन्त्र रूप से रोजगार मे लगे हुए हैं। इस स्थिति मे भी परिणाम वही होगा, अर्थात् निर्वाह-कोष अपर्याप्त हो जायेगा। इस प्रकार, "छिपी हुई बेरोजगारी से सम्बन्धित श्रमिको का, जो पहले अनुत्पादक थे किन्तु अब उत्पादक उपभोक्ता बन गये, शहरीकरण होने के परिणामस्वरूप, यह हो सकता है कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे ही उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume) मे वृद्धि हो जाए। इस स्थिति मे उन साधनो को भी उपभोग्य वस्तुओ के निर्माण मे लगाने का दबाव बढ जायेगा जो कि अन्य दशा मे पूँजीगत वस्तुओ का उत्पादन बढाने मे लगाये जा सकते थे।"[17]

17. K K. Kurihara: *op. cit* p 120, "Propensity to consume for the whole economy may well rise in consequence of urbanising the previously unproductive but presently productive consumers—the disguised unemployed. In this event the pressure will increase for allocating to the consumer good sector those resources which might otherwise be used to increase output of capital goods."

परन्तु उपभोग को निर्वाह-कोष तक ही सीमित रखने का एक तरीका है और वह यह कि ग्रामीण क्षेत्रों के निकट ही पूँजीगत प्रयोजनाएँ आरम्भ की जाएँ ताकि छिपी हुई बेरोजगारी से सम्बन्धित श्रमिक पुराने ढाँचे में ही निवास करते रहें और अपना स्थान न छोड़ें। इसका यह भी अर्थ होगा कि पुरानी सामाजिक संस्थाएँ, जिनके अन्तर्गत कि एक परिवार के सभी सदस्य एक साथ ही रहते थे, अब बराबर बनी रहेंगी, परन्तु इस सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाई यह है कि छिपे हुए बेरोजगार श्रमिकों का प्रयोग करके पूँजी निर्माण करने का क्षेत्र इसलिए सीमित रहेगा क्योंकि श्रमिकों का उपयोग केवल गाँव में अथवा उसके आसपास ही किया जा सकेगा।

(४) टैक्नोलोजी के प्रति उदासीनता (technological neutrality) की नर्की की मान्यता अव्यावहारिक तथा बेकार है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया में उद्योगों से यही आशा की जाती है कि वे श्रम बचाने के साधनों (labour-saving devices) का अधिकाधिक उपयोग करेंगे, जिसके कारण विभिन्न क्षेत्रों में फालतू अकुशल श्रमिकों का आवागमन सीमित हो जायेगा। इसके अतिरिक्त, पूँजीगत सामग्री की मात्रा में भी तेजी से वृद्धि करनी होगी जिससे कि श्रमिक को उत्पादिता-वृद्धि के लिए सुसज्जित किया जा सके। इस प्रकार, टैक्नोलोजी सम्बन्धी प्रगति अनिवार्य है। फिर, एक अल्पविकसित देश में जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होने से दो प्रकार से स्थिति और उलझ जाती है। प्रथम तो इससे छिपी हुई बेरोजगार श्रम-शक्ति में लगातार वृद्धि होती रहती है, श्रमिकों का यह वर्ग उन सम्भावित ग्रामीण बचतों का उपयोग करता रहता है जिनको कि फालतू श्रमिकों का निर्वाह-योग्य कृषि से अन्य क्षेत्रों की ओर को स्थानान्तरण करके उत्पन्न किया जाता है। दूसरे, "पूँजी के सचय का अतिक्रमण करके जनसंख्या वृद्धि की जो प्रवृत्ति पाई जाती है, इसका अर्थ यह है कि छिपी हुई बेरोजगारी की मात्रा उस संख्या से अधिक तेजी से बढ रही है जो पूँजी की उस मात्रा के द्वारा उत्पादकीय तरीके से खपाई जा सकती है जिसके बारे में कि यह माना जाता है वह (मात्रा) छिपी हुई बेरोजगारी से सम्बन्धित श्रमिकों ने बढाई है।"[18]

(५) नये-नये उद्योगों तक धन्धों में मानव-शक्ति की बेशियों का बँटवारा करने से पारस्परिक हितों के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न होता है। छिपी हुई बेरोजगारी से सम्बन्धित श्रमिकों को काम देने से उपलब्ध निर्वाह-साधनों (means of subsistance) के पुनर्वितरण का प्रश्न उठ खडा होता है और इस समस्या का हल बाजार की यान्त्रिक रचना द्वारा करना होता है। परन्तु इस स्थिति में, कुछ लोगों के पारस्परिक हितों के सम्बन्ध में विवाद उठ खडा होता है। ऐसे लोगों में एक ओर तो वे हैं जिनको पहले से ही जीविका के साधन प्राप्त हैं और दूसरी ओर वे हैं जिनको रोजगार देकर जीविका के साधन उपलब्ध कराये जा रहे हैं।[19]

निष्कर्ष (Conclusion) ·

निष्कर्ष के रूप से कहा जा सकता है कि अल्पविकसित देशों में बचत तथा पूँजी-निर्माण के एक स्रोत के रूप में मानव-शक्ति की बेशियों (man-power surpluses) का अस्तित्व अत्यधिक सदेहास्पद तथ्य है और इसका व्यावहारिक महत्त्व बहुत कम है। "यह उत्तर, कि अप्रयुक्त श्रम का अस्तित्व स्वय ही भविष्य में उपलब्ध हो सकने योग्य बचतों का प्रमाण है, उस समस्या का सही मूल्यांकन नहीं है जिसमें कि व्यावहारिक कार्यवाही के लिए बहुत कम आधार विद्यमान है।"[20]

---

18 K.K. Kurihara : *op. cit*, P. 120, "The tendency of population growth to outstrip capital accumulation implies that the volume of disguised unemployment grows faster than can be absorbed productively by the very stock of capital that the disguised unemployed are supposed to help expand"

19. K. N. Raj : *Employment Aspects of Planning in Underdeveloped Countries*. pp. 22-23.

20. *Ibid*, p. 24, "The answer that the existence of unutilised labour is itself evidence of a saving potential which is available for being drawn upon, is a hardly correct appraisal of the problem much less a basis for practical action."

प्रो० कुरिहरा (Prof Kurihara) ने और भी नेक कदम आगे बढ़कर कहा है कि "छिपी हुई बेरोजगारी से पूँजी के संचय तथा आर्थिक विकास में मदद मिलना तो दूर रहा, और सम्भावना यह है कि ऐसी सन्देहास्पद प्रयोजनाओ को सहारा देकर, जो कि क्षमता वृद्धि के स्थान पर रोजगार वृद्धि की प्रकृति की हैं, इससे पूँजी के संचय और आर्थिक विकास मे बाधा ही उत्पन्न होगी।"[21]

UNIVERSITY QUESTIONS

१ अल्पविकसित अर्थव्यवस्था से क्या आशय है ? अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।

What is meant by underdeveloped economy ? Discuss the characteristics of underdeveloped economy

२. अल्प विकास के कारणो की विवेचना कीजिए। आर्थिक विकास के लिए किन-किन बातो की आवश्यकता होती है ?

Discuss the causes of underdevelopment. What are the requirements of economic development ?

३. अल्पविकसित देशो मे पूँजीनिर्माण प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।

Discuss the process of capital formation in underdeveloped countries.

४. छिपी हुई बेरोजगारी तथा पूँजी के निर्माण पर एक टिप्पणी लिखिए।

Write a note on disguised unemployment and capital formation.

---

21. K K Kurihara *op cit*, p. 120 Italics Supplied, "Disguised unemployment, far from helping capital accumulation and economic development is more *likely to* hinder them by giving aid and comfort to dubious projects of an unemployment generating rather than a capacity increasing nature."

४

आर्थिक विकास की कुछ समस्याएँ
(Some Problems of Economic Growth)

किसी भी अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास की दर कुछ घटको पर निर्भर करती है। इन घटको को एक समीकरण के रूप मे जिसे आर्थिक विकास के नमूने कहते हैं, प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत ऐसे ही कुछ नमूनो का अध्ययन करेंगे जिनका कि प्रतिपादन विख्यात अर्थशास्त्रियो द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त भी हम आर्थिक विकास से सम्बन्धित कुछ अन्य समस्याओं का अध्ययन करेंगे। इन समस्याओ का अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओ के साथ विशेष सम्बन्ध है।

(I) आर्थिक विकास के आदर्श नमूने
(Models of Economic Growth)

आर्थिक आदर्श की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह किसी अर्थव्यवस्था की घटनाओ की तर्कपूर्णता के बारे मे किसी सिद्धान्तविज्ञ द्वारा चित्रित किया गया एक "क्षण-चित्र" (snapshot) है। इस प्रकार आर्थिक विकास का आदर्श और कुछ नही, अपितु उन विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धो का सार मात्र है जो एक निश्चित प्रत्याशित नमूने का विकास करने के सन्दर्भ से अस्तित्व मे आते हैं। विकास के आदर्श अथवा नमूने का उद्देश्य उन तरीको तथा उपायो का पता लगाना है जो कि एक सदा बढते हुए रूप मे वस्तुओ व सेवाओ के एक ऐसे निरन्तर प्रवाह का आश्वासन दे सके जिसके मार्ग मे ऐसी सामयिक बाधाएं (periodic obstacles) उत्पन्न न हो जो कि (व्यवसाय चक्र के कारण) उक्त प्रवाह को विघटन की दशा मे ला छोडती है। हेरोड तथा डोमर ने आर्थिक प्रगति के ऐसे आदर्शों अथवा नमूनो का निर्माण किया है जो कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशो की आर्थिक समस्याओ के विशेष सन्दर्भ मे मुख्यत: उनके अनुभव पर आधारित है। ये आदर्श उन परिवर्तनो पर आधारित हैं जो कि पूंजीवादी व्यवस्था के सरल सचालन के लिए आवश्यक हैं।[1] और यही इन आदर्शों की मुख्य कमजोरी भी है—अर्थात यह कि जो नमूना विशेष रूप से उन्नत अर्थव्यवस्थाओ की प्रगति की व्याख्या करने के लिए बनाया

---

1. Hirschman : The Strategy of Economic Development, p. 29, Prof. Hirschman shows how "Economic of growth" grew directly out of the stagnation and post war slump fears of the late 1930's and the secood World War. "Economic of Development" (of Under Developed Countries) has benefitted from the advances of "economics of growth" (of advanced countries).

गया है, उसका उपयोग अल्पविकसित देशों के विकास की प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए किया जाता है।

स्थायी अथवा सतत् विकास की आवश्यक बातें (Requirements of Steady Growth) :

हेरोड तथा डोमर (Herrod and Domar) दोनों ने ही अर्थव्यवस्था मे सतत् एवं स्थायी विकास की आवश्यकताओं का अध्ययन किया। ये दोनों ही आय-वृद्धि की ऐसी दर का पता लगाने के लिए प्रयत्नशील थे जो कि एक गतिशील अर्थव्यवस्था (dynamic economy) को वर्ष के वर्ष सन्तुलन (equilibrium) के मार्ग पर बनाये रखने के लिए आवश्यक हो। उनके आदर्श अथवा नमूने मे निवेश (Investment) को जो कि आय की वृद्धि और विकास की प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण भाग लेता है, दोहरा रोल अदा करना होता है—(क) यह आय उत्पन्न करता है, और (ख) यह पूँजी के स्टॉक में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता (productive capacity) को बढाता है।[2] इसमे पहले को सभरण प्रभाव (supply effect) माना जा सकता है। निवेश का कोई भी भाग निश्चित रूप से दोनो ही प्रभाव डालेगा। माँग प्रभाव (demand effect) (नये निवेशो के कारण) अतिरिक्त आमदनियो की उत्पत्ति के द्वारा अपना कार्य सम्पन्न करता है और सभरण प्रभाव उस अतिरिक्त उत्पादन क्षमता की उत्पत्ति के द्वारा अपना कार्य सम्पन्न करता है जो (क्षमता) उत्पन्न की गई परिसम्पत्ति के जीवन काल मे, बाजार मे उपज के वार्षिक प्रवाहो को अस्तित्व मे ला सकता है। इस प्रकार, यदि निबल निवेश किया जाता है जो अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता की वृद्धि के द्वारा और आय की उत्पत्ति के द्वारा अर्थव्यवस्था का विकास बराबर जारी रहेगा।

विकास की समस्या का जटिल पहलू यह है कि उत्पादन क्षमता तथा आय की उपज के बीच बढते हुए उच्च स्तरो पर सन्तुलन कैसे बनाये रखा जाय ? यह महत्त्वपूर्ण है कि जब पूँजी के स्टॉक की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो रही है तो वास्तविक आय का परिमाण (volume) तथा उसकी उत्पत्ति भी उसी दर से बढ़े। अन्यथा तो, फालतू क्षमता उत्पन्न हो जायेगी और वह उद्यम-कर्त्ताओं को इस बात के लिये बाध्य करेगी कि वे अपने निवेश व्यय मे कटौती करें। इसका अंतिम परिणाम यह होगा कि आय मे और आगे चलकर रोजगार मे भी कटौती हो जायेगी तथा अर्थ-व्यवस्था सतत् एव स्थायी विकास के सन्तुलित मार्ग (equilibrium path) से भटक जायेगी।

इस प्रकार दीर्घकाल मे रोजगार प्रदान करना निवेश तथा आय को वृद्धि की दर का कार्य है। यदि बेरोजगारी को दूर करना है और दीर्घकालीन असन्तुलन से बचना है तो यह आव-श्यक है कि आय इतनी पर्याप्त दर से बढे कि जिससे बढते हुए पूँजी स्टॉक की पूर्ण क्षमता का उपभोग हो सके। इस दृष्टि से आय की वृद्धि की दर वह होनी चाहिए जिससे वृद्धि की पूर्ण क्षमता दर (full capacity rate of growth) अथवा वृद्धि की समाश्वासित दर (warranted rate of growth) कहा जा सके।

हेरोड-डोमर के समीकरण[3] (Harrod-Domar's Equations) :

हैरोड के अनुसार, अर्थव्यवस्था मे वृद्धि की जो दर होनी चाहिये, वह निम्न समीकरण मे दी गई है :—

2. In this, Harrod Domer models are on improvements over the Keynesian theory which assumes the stock of capital as given and discusses only the income creating effects of investment See General Theory of Employment, Interest and Money, p. 245.

3. Harrod developed this equation in an Essay in Dynamic Theory. Economic Journal (March 1939) and Towards a Dynamic Economics, Domar developed his model in different articles which he has brought together in "Essays in the Theory of Economic Growth" Of special importance are articles 1, 3, 4 and 5 A Critical summary of the two theories is given by Kenneth Kurihara in "The Keynesian Theory of Economic Development," Chap. 4.

बेस्टबिल (Bastable) के मतानुसार "प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो स्थायी तथा बार-बार उत्पन्न होने वाले अवसरो पर लगाये जाते है और परोक्ष कर वे है जो कभी-कभी उत्पन्न होने वाले अवसरों तथा विशिष्ट घटनाओं के समय लगाये जाते है।"[2] बेस्टेबिल का यह भेद बड़ा अस्पष्ट तथा संदिग्ध (ambiguous) है और अनेक भ्रम उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए बेस्टेबिल की परिभाषा के अनुसार, मृत्यु कर को परोक्ष कर ही माना जायेगा क्योंकि यह कभी-कभी उत्पन्न होने वाली अथवा प्रासंगिक घटना (occassional event) के समय लगाया जाता है, किन्तु मृत्यु-कर को आमतौर पर प्रत्यक्ष कर ही माना जाता है। प्रो० डि मार्को (Prof De Marco) ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो में आय के मूल्याकन अथवा माप करने की विधियो के आधार पर भेद किया है।[3] यदि किसी व्यक्ति की कर अदा करने की राशि का निश्चय करने के लिए उसकी आय का मूल्याकन अथवा निर्धारण प्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है तो वह कर प्रत्यक्ष कर कहा जायेगा। इसके विपरीत, जो आय प्रत्यक्ष माप से बच जाती है उसका मूल्याकन परोक्ष रूप से उस समय किया जा सकता है जबकि व्यक्ति उसे खर्च करता है। इस प्रकार की आय पर लगाये जाने वाले कर को परोक्ष कर कहते हैं। डि मार्को ने इसे करो का आर्थिक वर्गीकरण कहा है किन्तु वास्तव मे तो यह एक प्रशासनिक वर्गीकरण है। मार्को का वर्गीकरण इसलिये कमजोर है क्योंकि यह करो को छिपाने की एक नकारात्मक विचारधारा पर आधारित है।

प्रो० फिण्डले शिराज (Prof Findlay Shirras) के अनुसार, "वे कर जो तुरन्त ही व्यक्तियों की आय अथवा सम्पत्तियो पर लगाये जाते है और जिनका भुगतान उपभोक्ताओं द्वारा सीधा सरकार को होता है प्रत्यक्ष करो मे सम्मिलित किये जाते है, जबकि अन्य सभी कर जैसे—व्यवसाय कर, मनोरंजन कर आदि परोक्ष कर के समूह मे रखे जाते हैं।"[4] प्रस्तुत परिभाषा मे भुगतान करो की विधि को ही करो को प्रत्यक्ष और परोक्ष करने का आधार माना गया है जो कि सर्वथा अवास्तविक है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक कर का भुगतान सीधे सरकार को ही किया जाता है, अतएव इस दृष्टिकोण से तो प्रत्येक कर प्रत्यक्ष कर हो जाता है।

डा० डाल्टन (Dr Dalton) के अनुसार, "एक प्रत्यक्ष कर वास्तव मे उसी व्यक्ति द्वारा दिया जाता है जिस पर कि वैधानिक रूप से वह लगाया जाता है, जबकि परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कर एक व्यक्ति पर लगाया जाता है तथा पूर्णत अथवा अशत: अन्य एक व्यक्ति द्वारा भुगतान किया जाता है, जोकि पक्षकारो के मध्य कुछ अनुबन्ध अथवा सौदा करने की शर्तों मे परिवर्तन किये जाने के परिणामस्वरूप होता है।"[5] प्रस्तुत परिभाषा मे यह माना गया है कि प्रत्यक्ष कर का विवर्तन नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए आयकर एव आयात कर को प्रत्यक्ष कर माना गया है जबकि प्राचीन समय मे फ्रास मे आयात कर को परोक्ष कर में सम्मिलित किया गया था। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय मे कर निर्धारण के आधार पर करों का वर्गीकरण किया जाता है किन्तु इसे डा० डाल्टन ने स्वीकार नही किया है।

वर्तमान समय में, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के रूप में करो का वर्गीकरण निर्धारण (assessment) के आधार पर किया जाता है बजाए इसके कि निर्धारण के बिन्दु पर (on the point of assessment) किया जाय।[6] उदाहरण के लिए, कर प्राप्त की हुई आय पर भी लगाये जा सकते है अथवा किये गये खर्च पर भी लगाए जा सकते है। जो कर आय की प्राप्ति

2. "Direct taxes are those which are levied on permanent and recurring occasions and indirect taxes as charge on occassional and particular events." —*Bastable.*
3. De Vitti de Marco : First Principle of Public Finance p. 131.
4. Prof Findlay Shirras : Public Finance, page 119.
5. "A direct tax is really paid by the person on whom it is legally imposed, while an indirect tax is imposed on one person but paid partly or wholly by another, owing to a consequential change in the terms of some contract or bargain between them" —*Dr. Dalton.*
6. A. R. Prest : Public Finance, p. 24

$$Y' = Y \times \frac{S}{K}$$

$$\therefore \quad \frac{Y'}{Y} = \frac{S}{K};$$ जिसमे $\frac{Y'}{Y}$ समय की प्रति इकाई आय में वृद्धि की दर।

इस समीकरण का आशय यह है यदि क्षमता का पूर्णतया उपयोग किया जाना है और यदि बचत-निवेश का सन्तुलन पूरी तरह बनाये रखना है तो समय की प्रति इकाई आय (income per unit of time) मे ऐसी दर से वृद्धि करनी होगी जो बचत प्रवृत्ति (propensity to save) को पूँजी-उपज के अनुपात से भाग देने के बाद आने वाले भजनफल (quotient) के बराबर हो।

हेरोड तथा डोमर के समीकरणों की तुलना (Harrod and Domar Equations Compared):

यह स्पष्ट है कि हेरोड तथा डोमर के समीकरण एक से ही हैं और उनसे समान निष्कर्ष निकलते हैं। हेरोड की आय वृद्धि की समाश्वासित दर (warranted rate) वही है जो कि समय की प्रति इकाई आय मे वृद्धि की दर है। शेष सकेतों का भी समान अर्थ तथा महत्व है। परन्तु दोनों समीकरणों मे कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर भी पाये जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम, जहाँ डोमर निवेश (Investment) को आय की उस वृद्धि से सम्बद्ध करने मे आगे रहे हैं जो कि प्राप्त की जानी है, वहाँ हेरोड ने उस तरीके पर जोर दिया है जिसके द्वारा निवेश की उपज मे आय की दर पर लाया जा सके, उस आय की दर पर जिसे कि उद्यमकर्त्ता अनुभव कर रहे हैं।

दूसरे, डोमर ने जहाँ पूँजी के निर्माण तथा पूर्ण क्षमता की क्रमिक उत्पादन वृद्धि के बीच तकनीकी एव शिल्पी सम्बन्ध प्रदर्शित किया है वहाँ हेरोड ने उसके साथ ही, एक ओर तो माँग और उसके परिणामस्वरूप चालू उपज और दूसरी ओर पूँजी-निर्माण के बीच व्यावहारिक सम्बन्ध प्रदर्शित किया है।

कुछ लेखकों ने टेक्नोलौजी अथवा शिल्प के प्रति डोमर के रुख की आलोचना की है।[5] डोमर ने चूँकि समर्थ माँग (effective demand) की अकुशलता को पहले से ही मान लिया है, अत उनका विचार है कि टैक्नोलौजी सम्बन्धी प्रगति ही निवेश के अवसर उत्पन्न करती है। परन्तु एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे, टैक्नोलौजी सम्बन्धी प्रगति की आवश्यकता मुख्यत. इसके उत्पादक प्रभाव (productive effect) के कारण होती है, समर्थ माँग की वृद्धि तो केवल एक प्रासगिक घटना मात्र है।

तीसरे, हेरोड ने प्रेरित तथा स्वाधीन निवेश के बीच भी भेद किया है। प्रेरित निवेश (induced investment) का जन्म, आय की और उसके फलस्वरूप माँग की वृद्धि से होता है और इससे अधिक होता है पिछले लाभो से। दूसरी ओर, स्वायत्त निवेश (autonomous investment) नई खोजो, आविष्कारो, प्रत्याशाओं, व सरकारी बँधे निवेश (public overhead investment) आदि के द्वारा प्रभावित होता है। माँग के चालू उतार-चढ़ावो से इसका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नही होता। निवेश के प्रेरित भाग की व्याख्या पूँजी-निर्माण तथा पूर्ण क्षमता की उपज वृद्धि के बीच के कार्यात्मक सम्बन्ध (functional relationship) द्वारा की जाती है। डोमर ने स्वय को इसी विचारधारा तक सीमित रखा है क्योकि उनकी राय है कि निवेश के स्वायत्त भाग की व्याख्या आर्थिक परिवर्तनों द्वारा सन्तोषजनक रूप से नही की जा सकती। परन्तु हेरोड ने स्वायत्त भाग को भी छूट दी है और उनके विचार से निवेश के इस भाग को आय के स्तर पर निर्भर बनाया जा सकता है, बजाए इसके कि आय की दर पर निर्भर रखा जाए। इस विचार को सम्मिलित करके हेरोड ने व्यावहारिक सम्बन्ध की खोज की जो कि अर्थव्यवस्था के पूर्ण रोजगार तथा पूर्ण क्षमता वृद्धि के अनुरूप है।

---

5. K.K. Kurihara : op. cit., p 72.

$$G_w = \frac{S}{Cr}$$; जिसमे

G_w=वृद्धि की समाश्वासित दर (warranted rate of growth)।
S =दी हुई आय Y मे बचत की सीमान्त प्रवृत्ति (propensity to save)।
Cr=पूँजी की वह मात्रा जो उपज की इकाई वृद्धि के लिए आवश्यक हो।

हैरोड ने विभिन्न प्रकार की तीन वृद्धि दरों का उल्लेख किया है, अर्थात वृद्धि अथवा विकास (growth) की वास्तविक दर (G), वृद्धि की समाश्वासित दर (the warranted rate of growth) (G_w) और वृद्धि की पूर्ण रोजगार अथवा स्वाभाविक दर (G_n)। ऊपर दिये गये समीकरण के अनुसार, यदि क्षमता के पूर्ण तथा निरन्तर उपयोग के विषय मे आश्वस्त होता है तो आय मे $\frac{S}{Cr}$ की वार्षिक दर से अवश्य वृद्धि होनी चाहिए अर्थात् पूँजी की उपज के अनुपात पर बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति की दर से।[4]

कीन्स (Keynes) के समान ही, हेरोड ने ऐसे विश्व की कल्पना की है जिसमे बचत की प्रवृत्ति या रुझान (propensity to save) निवेश की प्रेरणा (Inducement to invest) से अधिक होने लगती है और जिसमे स्थिरता (stagnation) की ओर निरन्तर प्रवृत्ति पाई जाती है। हेरोड ने तीन बचतो पर जोर दिया है : (क) उत्पादन-क्षमता (productive capacity) की समर्थ माँग (effective demand) से आगे बढ़ जाने का खतरा, (ख) प्रेरित निवेश (induced investment) का मुख्य योगदान, और (ग) क्रमवर्धी सन्तुलन (progressive equilibrium) की अस्थिरता।

डोमर का आदर्श (model) का सामान्य पूर्व धारणा पर आधारित है कि सन्तुलन मे:

$$Y = C + S$$
$$= C + I,$$
$$\therefore \quad I = S,$$ जिसमे

Y=समाज की आय (income of community)
C=उपभोग (consumption)
S=दी हुई आयी (या SY) मे से बचतें, और
I=निवेश (Investment)

सन्तुलन (equilibrium), निवेश (I) बचतों के अथवा दी हुई आय (SY) मे से बचत की सीमान्त-प्रवृत्ति के बराबर होगा। यदि K को पूँजी-उपज के अनुपात (capital output ratio) की सज्ञा दी जाए, तो उत्पादन की वृद्धि और उसके फलस्वरूप समय की प्रति इकाई आय $(Y') = \frac{I}{K}$ अर्थात समय की प्रति इकाई आय मे वृद्धि निवेश की उस मात्रा के बराबर होगी जो उसको (निवेश को) पूँजी-उपज के अनुपात से भाग देने पर बचेगी। यदि I=SY, तो भिन्न निकाल कर यह स्थिति होगी :

$$Y' = \frac{I}{K} = \frac{SY}{K} = Y \times \frac{S}{K}$$

---

4. पूँजी की उपज के अनुपात (cepital output ratio) से आशय पूँजी के प्रवेश (input) तथा उत्पादित पदार्थों की निकासी (output) के अनुपात मे है। यह अनुपात भिन्न होना है और उद्योगो की प्रकृति पर निर्भर होता है—अर्थात् इस बात पर कि वे पूँजी प्रधान उद्योग हैं या श्रम-प्रधान।

इसके साथ ही, आय का स्तर भी एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्व है जो कि बचतों की पूर्ति का निश्चय करता है। अतः उन्नत अर्थव्यवस्था मे, बचत तथा निवेश की समानता को एक सन्तुलन की स्थिति माना जाता है। किन्तु एक पिछड़ी तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में, बचत तथा निवेश सम्बन्धी निर्णय आमतौर पर व्यक्तियो के एक ही वर्ग द्वारा लिये जाते हैं अतः वे अधिकतर परस्पर-निर्भर होते हैं। इसके अतिरिक्त, बचतें चूँकि अधिकतर अच्छे खाते-पीते लोगों के पास से आती हैं, अतः बचतो की वृद्धि इस बात पर निर्भर होगी कि निवेश की सुविधाएँ कहाँ तक उपलब्ध कराई जा रही हैं और निवेश-क्रियाओं की विभिन्न बाधाओ को कहाँ तक दूर किया जा रहा है। इस प्रकार, बचतें जहाँ उन्नत अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आय के स्तर पर निर्भर होती है, वहाँ अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं मे ये निवेश के अवसरों पर निर्भर रहती हैं।

इसके अतिरिक्त, उन्नत तथा पिछड़े देशो के बीच पूँजी की उपज के अनुपात (capital output ratio) के सम्बन्ध मे भी अन्तर पाया जाता है। एक उन्नत देश (advanced country) मे, पूँजी-उपज के अनुपात को सामान्यतः, टैक्नोलौजी सम्बन्धी गुणाक (technological coefficient) के रूप मे लिया जा सकता है; किसी भी विशेष अवधि मे, उद्यमकर्त्ता विभिन्न प्रयोजनाओं मे से चुनाव कर सकते हैं और पूँजी-गुणाको (capital coefficients) का किसी न किसी प्रकार से सन्तुलित वितरण कर सकते हैं। किन्तु एक अल्पविकसित देश मे, पूँजी-उपज के अनुपात की विचारधारा को लागू करना बडा कठिन है क्योकि अभावो और बाधाओं के कारण "सामान्य उत्पादिता" (normal productivity) अक्सर पिछड़ जाती है और जब तक ये बाधाएँ दूर की जाती हैं तब तक पहले से ही निवेश की गई पूँजी की उत्पादिता मे काफी वृद्धि हो चुकी होती है।

निष्कर्ष स्पष्ट है: एक ऐसा आदर्श (model) जो बचत की प्रवृत्ति (propensity of save) पर, पूँजी-उपज के अनुपात पर और राजकोषीय तटस्थता (fiscal neutrality) पर आधारित हो, एक उन्नत देश मे तो लागू हो सकता है किन्तु अल्पविकसित देश मे नही। ऐसे आदर्श का क्रियात्मक मूल्य बहुत कम है क्योकि यह उन यन्त्र-रचनाओं (mechanisms) की कोई व्याख्या नही करती जिनके द्वारा एक अल्पविकसित तथा पिछडी अर्थव्यवस्था मे आर्थिक प्रगति के कार्य का पथ-निर्धारण होता है और उसको आगे बढाया जाता है। हिर्समैन ने लिखा है कि "पिछड़े देशो की अर्थव्यवस्था के विकास के लिए उन्नत अर्थव्यवस्था से बहुत अधिक उधार लेने की हिम्मत नहीं करनी चाहिए, अल्पविकसित देशों के समान ही, उसे अपने ही पैरों पर खड़े होने का अभ्यास करना चाहिए जिसका अर्थ है कि उसे अपने ही साधनो का हिसाब लगाना चाहिए।"[9]

परन्तु प्रो० कुरिहरा ने विकास-आदर्शों का मूल्यांकन इस प्रकार किया है: "हैरोड-डोमर के आदर्श केवल इसलिये ही महत्त्वपूर्ण नही हैं कि वे उन प्रेरक प्रयत्नो के प्रतीक हैं जो कीन्स के स्थिर अल्पकालीन बचत-निवेश सिद्धान्त को गतिशील एव व्यावहारिक बनाते हैं, अपितु इसलिए भी क्योकि उनमे ऐसा सशोधन किया जाना भी सम्भव है जिससे कि राजकोषीय नीति को अल्पविकसित देश के आर्थिक विकास में होने वाले स्पष्ट परिवर्तनो के रूप मे लागू किया जा सके।"[10]

---

9. Hirshman: op cit., p 33. "The economics of development dare not therefore borrow too extensively from the economics of growth; like the underdeveloped countries themselves, it must learn to walk on its own feet, which means that it must work out its own abstraction."

10. K.K. Kurihara: op. cit, p 154, "The Harrod—Domar models are important not only because they represent a simulating attempt to dynamise and secularise Keynes, static short run saving-investment theory, but also because they are capable of being modified so as to introduce fiscal parameters as explicit voriables in the economic growth of an underdeveloped country."

विकास आदर्शों का लागू होना (Application of Growth Models) :

उन्नत अर्थव्यवस्थाओ द्वारा प्रतिपादित विकास सिद्धान्त तीन मुख्य विचारो पर आधारित है, अर्थात् बचत-कार्य, प्रेरित बनाम स्वायत्त निवेश और पूँजी की उत्पादिता। परन्तु इस सिद्धान्त का विकास उस पुरानी निश्चेष्टता को समाप्त करने के लिए किया गया था जो कि, अर्थशास्त्रियो के अनुसार, उन्नत अर्थव्यवस्थाओ के समक्ष एक धमकी के रूप मे उपस्थित थी। युद्धोत्तर कालीन मन्दी, जैसा कि अर्थशास्त्रियो ने आशा की थी वैसी नही हुई और वह टाल दी गई। इसके बाद अल्पविकसित देशो के लिए "अल्प प्रयुक्त" विकास सिद्धान्त (underutilised growth theory) का उपयोग किया गया।[6]

इस सम्बन्ध मे, डोमर का आदर्श अधिक अस्थिर सिद्ध हुआ, यद्यपि वह सरल था। डोमर के आदर्श मे अर्थव्यवस्था की वह प्रगति दर दिखाई गई है जिसके अन्तर्गत नये निवेश द्वारा उत्पन्न क्षमता का पूरा उपयोग किया जा सकता है। लेकिन इसके विरुद्ध इसने यह भी प्रदर्शित किया है कि वाञ्छित बचतो को तथा आय के पूँजी-उपज अनुपातो को एक निश्चित विकास दर तक पहुँचना है। पूँजी-उपज के अनुपातो की कुल मात्रा—सामान्यत. २ ५ से ५ तक—निर्धारित करके अर्थशास्त्रियो ने अनेक वैकल्पिक प्रतिरूप निश्चित किये। इसके अतिरिक्त, कुछ निश्चित विकास दरो तथा निश्चित जनसख्या प्रतिरूपो के आधार पर, उन्होने पाँच या दस वर्षों की योजनाओ के लिए कुल पूँजी की आवश्यकताओ का अनुमान लगाया। इस प्रकार, विकास-आदर्श अल्पविकसित देशो के विकास की योजनाओ पर लागू किये जाते हैं।

विकास आदर्शों की सीमाएँ (Limitations of Growth Models) :

हैरोड-डोमर—समीकरणो की मूल कमजोरी यह है कि एक विशेष समय मे उत्पन्न विशिष्ट समस्याओ को सुलझाने के लिए कुछ विशेष परिस्थितियो मे उनका निर्माण किया गया था, परन्तु अब उन्हे लागू किया जा रहा है। बिलकुल भिन्न परिस्थितियो मे और भिन्न समस्याओं पर। ये समीकरण कीन्सवादी सिद्धान्त की उपज थे और उनका उद्देश्य उन्नत औद्योगिक देशो के विकास-प्रक्रिया की व्याख्या करना था। उनका उद्देश्य एक ऐसी प्रक्रिया की खोज करना था जिसके द्वारा कि उन्नत अर्थव्यवस्था को पुरानी निश्चेष्टता (stagnation) के प्रभावो से बचाया जा सके। परन्तु जिस चीज की उत्पत्ति 'उन्नत देशो के अर्थशास्त्र' के रूप मे हुई थी वह 'पिछड़े देशो का अर्थशास्त्र' बन गया, यद्यपि उन्नत तथा पिछडी अर्थव्यवस्थाओ के लक्षणो के मूलभूत अन्तर थे। यह आधारभूत तथ्य ही विकास प्रगति के आदर्शों की एक मर्यादा है।

दूसरे, हैरोड की "समाश्वासित वृद्धि" (warranted growth) का विचार (और डोमर का प्रतिरूप) पूँजी के पूर्ण उपयोग की तो गारण्टी देता है परन्तु श्रमिको के पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध मे कोई आश्वासन नही देता। यह अपर्याप्त समर्थ माँग से उत्पन्न बेरोजगारी को तो सुलझा सकता है। परन्तु अल्पविकसित देश सरचनात्मक अपूर्ण बेरोजगारी (structural under-employment) से ग्रसित होते हैं जिसका मुकाबला केवल समर्थ माँग मे वृद्धि करके नही किया जा सकता। सरचनात्मक बेरोजगारी इसलिए उत्पन्न होती है क्योकि पूँजी का सचय जनसख्या की वृद्धि से पिछड जाता है और जनसख्या की वृद्धि के साथ ही उत्पादिता नही बढ पाती।[7]

तीसरे, ये आदर्श (models) विकास-प्रक्रिया की सही व्याख्या नही करते, अतः जैसा कि प्रो० हिर्समैन का विश्वास है, वे "अल्पविकसित देशों की वास्तविकता को समझने मे सहायक होने की बजाय बाधक ही सिद्ध हो सकते हैं।"[8] वृद्धि अथवा विकास समीकरण के दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन—अर्थात् बचत की सीमान्त प्रवृत्ति और पूँजी उपज का अनुपात—एक उन्नत अर्थ-व्यवस्था पर तो लागू हो सकते हैं परन्तु एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था पर नही।

उन्नत अर्थव्यवस्था मे, बचत तथा निवेश सम्बन्धी निर्णय सामान्यत व्यक्तियो तथा सस्थाओ के विभिन्न वर्गों द्वारा लिये जाते है, अतः वे एक-दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र होते हैं।

6. Hirschman : op. cit , p. 31,
7. K K. Kurihara : op cit , p 64
8. Hirschman : op. cit , p. 32.

लिये उत्पादन के बीच समुचित सन्तुलन बनाये रखा जा सके.......। तथ्य यह है कि सभी क्षेत्रों (sectors) का साथ-साथ विस्तार होना चाहिये और तार्किक दृष्टि से यह प्रस्ताव जितना सरल है उतना ही आलोचनाविहीन भी है।"[13]

माँग पक्ष में (on the demand side)—सन्तुलन विकास की विचारधारा पर माँग पक्ष की दृष्टि से भी विचार किया जाता है। एक अल्पविकसित देश में जब कोई नया उद्यम चालू किया जाता है, (जैसे कि ऊनी मिल) तो वह इस कारण असफल हो सकता है चूँकि उसके मालिक तथा श्रमिक उसकी सम्पूर्ण उपज खरीदने में समर्थ न हो सकें, साथ ही, शेष समाज भी उस माल को खरीदने में इसलिये असमर्थ रहता है क्योंकि उनका आय तथा धन का स्तर बहुत नीचा होता है (वास्तव में, वे तो केवल अपनी निजी उपज ही खरीदने में समर्थ होते हैं)। अतः यह कहा जाता है कि अनेकों उद्योग एक साथ चालू किये जाने चाहिए ताकि उनमें से प्रत्येक उद्योग अपने श्रमिकों व मालिकों की खरीद के माध्यम से एक दूसरे के ग्राहक बन सकें। मार्क्स ने लिखा है कि "अधिकांश उद्योग जो बड़ी जनसख्या के लिए उपभोग की वस्तुओं का निर्माण करते हैं, एक दूसरे के पूरक (complementary) होते हैं, और वह इन मानों में कि वे एकदूसरे के लिए बाजार की व्यवस्था करते हैं और इस प्रकार एकदूसरे की सहायता करते हैं।"[14] इसीलिए उसने "पूँजी को विभिन्न प्रकार के अनेकों उद्योगों में एक साथ ही लगाये जाने की वकालत की।" यही बात आजकल 'बड़ी धकेल के सिद्धान्त' (theory of the big push) के नाम से प्रचलित हो गई है। बड़ी धकेल एक या दो प्रकार से की जा सकती है : (क) एक या कुछ बड़ी प्रयोजनाओं (project) द्वारा, अथवा (ख) विभिन्न आकार-प्रकार की अनेकों ऐसी प्रयोजनाओं के द्वारा जो एकदूसरे की पूरक हों। सन्तुलित विकास का बड़ी धकेल का सिद्धान्त इस दूसरे विकल्प का प्रतीक है। पी० एन० रोसेन्टाइन रोडन तथा रेगनर नर्क्स ने सन्तुलित विकास के सिद्धान्त के इसी रूप का समर्थन किया है।

इस विचारधारा का उद्‌गम (The Origin of the Concept) :

अल्पविकसित देशों को गरीबी के दुष्चक्र (vicious circle) की जिस जटिल समस्या का सामना करना पड़ रहा था और इस चक्र को प्रभावपूर्ण तरीके से तोड़ने की जो आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, उसी की प्रतिक्रियास्वरूप सन्तुलित विकास की विचारधारा का जन्म हुआ हिर्समैन का विश्वास है कि यह विचारधारा उस कीन्सवादी सिद्धान्त पर आधारित है जिसका प्रतिपादन मूल रूप मे एक उन्नत अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की स्थिति का सामना करने के लिए किया गया था।[15] कीन्सवादी सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह है कि मन्दी की अवधि को—जिसमें कि बड़े पैमाने पर बेरोजगारी वर्तमान होती है—किसी एक फर्म की उत्पादन-वृद्धि से नहीं उलटा जा सकता क्योंकि माँग, जो कि उत्पादन में वृद्धि से उत्पन्न होती है, उसके गुणक प्रभाव (multiplier effects) उस एक फर्म पर केन्द्रित नहीं हो सकते। इसलिए आवश्यकता इस बात की होती है कि एक साथ अनेकों फर्मों के उत्पादन को आगे बढ़ाकर लोगों में आशावादी वातावरण उत्पन्न किया जाये। कीन्स का कहना था कि उपभोक्ता तथा उसकी खर्च करने की प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए राजकोषीय नीति का उपयोग किया जाए। उसके अनुसार ऐसा करने से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को सामान्य स्वस्थता प्राप्त होगी। कीन्स ने उन्नत अर्थव्यवस्था के लिए आर्थिक क्रियाओं की सन्तुलित पुन: प्राप्ति की जो वकालत की, उसे ही कुछ अर्थशास्त्रियों ने एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के लिए सन्तुलित विकास के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत कर दिया।

---

13. *Ibid*, p 283, "In development programmes all sectors of economy should grow simultaneously, so as to keep a proper balance between industry and agriculture, and between production for home consumption and production for export......the truth is that all sectors should be expended simultaneously but the logic of this proposition is as unassailable as its simplicity."

14. Nurkse, Problems of capital Formation in Underdeveloped Countries, p 11, "Most industries catering for mass consumption are complementary in the sense that they provide a market for and then support each other."

15. A O Hirschman, *The Strategy of Economic Development*," p. 54.

(II) सन्तुलित विकास की विचारधारा और अल्पविकसित अर्थव्यवस्था
(The Concept of Balanced Growth and Underdeveloped Economy)

सन्तुलित विकास के सिद्धान्त के, जिसे कि कभी-कभी एक साथ बहुविधि विकास (simultaneous multiple growth or development) भी कहा जाता है, अनेक प्रवर्तक तथा पहलू हैं।[11] सार रूप में, यह सिद्धान्त बतलाता है कि निवेश विभिन्न प्रकार के अनेक उद्योगों मे एक साथ होना चाहिए; यह एक साथ होने की बात इसलिये है कि जिससे पृथक्-पृथक् उद्यमों की सफलता के बारे मे आश्वस्त हुआ जा सके। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे, निवेश-क्रियायों का निर्देशन, विकास के विभिन्न चरणो मे, ऐसे क्षेत्रों मे किया जाना चाहिए जो परस्पर एक-दूसरे के पूरक हों। विकास का प्रत्येक चरण पूरक क्रियाओं (complementary activities) के विभिन्न समूहो मे बँटा होना चाहिए और प्रत्येक समूह को जब *सम्पूर्ण रूप मे एक योजनाबद्ध तरीके से* क्रियान्वित किया जायेगा तो निश्चित ही वह सफलता का अधिक अवसर प्रस्तुत करेगा। इसके अतिरिक्त, सन्तुलित विकास की विचारधारा के अनुसार निवेश ऐसे क्षेत्रो मे नही किया जाना चाहिए जहाँ इसके सफल होने की सभावना न हो। इस विचारधारा के दो महत्वपूर्ण परिणाम मे हैं : (क) राज्य एक साथ निवेश किये जाने के सम्बन्ध मे आश्वासन दे, और (ख) सन्तुलित विकास के लिए केन्द्रीय नियोजन की व्यवस्था हो।

संभरण पक्ष में (on the supply side)—यद्यपि ऊपर हमने सन्तुलित विकास की विचारधारा के सामान्य तत्वों का वर्णन किया है, किन्तु इस सम्बन्ध मे दो महत्वपूर्ण पहलुओं को अवश्य स्पष्ट किया जाना चाहिए। संभरण पक्ष मे, सन्तुलित विकास का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि एक विकासशील अर्थव्यवस्था के विभिन्न भाग संभरण की कठिनाइयों को दूर करने के लिये कोई भी कदम उठाने को तत्पर रहे; अर्थात् आर्थिक विकास के क्रम में विभिन्न क्षेत्रों के बीच सन्तुलन बना रहना चाहिये। उदाहरण के लिये, उद्योग तथा कृषि साथ-साथ चलने चाहिये, उद्योग कृषि से बहुत अधिक दूर नही होने चाहिये; अथवा आधारभूत बँधी सुविधाएँ (basic overhead facilities), जैसे कि परिवहन व बिजली आदि, इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि वे उद्योग के विकास की सहायता तथा उसको प्रेरित कर सकें। डब्लू० ए० ल्यूईस ने इस को बात को निम्न शब्दो मे स्पष्ट किया है : "विनिर्माण अथवा निर्माणी उद्योग (manufacturing industry) की (चाहे वह लघु उद्योग हो या फैक्टरी उद्योग) उत्पादित मे वृद्धि करने के लिये की जाने वाली कार्यवाहियों के साथ ही साथ विनिर्मित माल (manufactured products) की माँग मे वृद्धि के लिये भी आवश्यक पग उठाये जाने चाहिये। ऐसी माँग औद्योगिक उत्पादको की ओर से तो बहुत थोडी होती है क्योकि ये लोग ऐसे देशों की जनसख्या के बहुत थोड़े ही भाग होते हैं। यह माँग समाज के अन्य वर्गों की ओर से अधिक मात्रा मे आती है जिनमे भी सबसे बड़ा वर्ग किसानो का होता है। यदि पूँजी केवल विनिर्माण उद्योगो के विकास मे ही लगाई जाये और देश की कृषि पूर्णवत् निश्चेष्ट व जड़ बनी रहे, तो विनिर्माण क्षेत्र के लिये उसका परिणाम दु:खदायी होगा। इसका कारण यह है कि इस स्थिति मे फैक्टरी तथा लघु उद्योगों को सीमित मांग के लिये प्रतियोगिता करनी होगी। किन्तु यदि कृषि व उद्योग, दोनों ही क्षेत्रो का सन्तुलित विकास किया जाये, जिससे साथ-साथ कृषि उत्पादिता मे भी वृद्धि हो तो विनिर्मित माल की माँग से वैसी ही समवर्ती वृद्धि अवश्य होगी और उस स्थिति मे उद्योग मे निवेश की पर्याप्त गुंजाइश रहेगी। इसके अतिरिक्त, जनसंख्यातिरेक वाले देशों मे, कुछ सीमा तक औद्योगीकरण विनिर्मित माल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास पर निर्भर होता है। अधिकाश विकास सम्बन्धी समस्याओ के कराधान का रहस्य इसी बात मे निहित होता है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो के बीच समुचित सन्तुलन बनाये रखा जाये।"[12] प्रो० ल्यूईस ने फिर लिखा है : "विकास कार्यक्रमों मे अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को साथ-साथ आगे बढने का मौका मिलना चाहिये, जिससे कि उद्योग तथा कृषि के बीच उपभोग के लिये उत्पादन व निर्यात के

---

11. Prof. Singer has used the term, "*Simultaneous Multiple Developments*" in his book "Economic Progress in Underdeveloped Countries." Prof. Lewis uses the term "balanced development."

12. W.A. Lewis : *Theory of Economic Growth*, p. 141.

पिछले देश मे, जहाँ श्रम के सभरण (supply) की बहुलता होती है, यह संभव हो सकता है कि उत्पादन के अनेक ऐसे श्रम-प्रधान क्षेत्रो को एक साथ आरम्भ कर दिया जाये जो कि परस्पर एक-दूसरे के पूरक होते हैं। इसके लिए अवश्य ही कुछ पूँजी की आवश्यकता होगी परन्तु वह विदेशी सहायता के रूप मे विदेशो से प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार, कम पूँजी तथा अधिक श्रम के द्वारा श्रम-प्रधान उत्पादन पर जोर देकर सन्तुलित विकास करना सम्भव हो सकता है।

इस सम्बन्ध मे, हिर्समैन ने सन्तुलित विकास के समर्थको द्वारा प्रस्तुत तर्कों मे विद्यमान विरोधाभास की ओर ध्यान दिलाया है। एक ओर तो उनका मत है कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओ में आर्थिक विकास के लिए आवश्यक क्षमतायें नही होती अतः सफलता के लिए उन्हें एक या दो उद्योगो पर ही निर्भर रहना चाहिये, बल्कि उन सभी का विकास साथ-साथ होना चाहिये। दूसरी ओर, उनका यह विचार भी है कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओ के पास सतुलित विकास करने के लिये आवश्यक कुशलता (skill) तथा अन्य साधन होते हैं। हिर्समैन के अनुसार ये दोनो ही विचार तथा पूर्वधारणायें गलत हैं।

गलत पूर्व धारणाएँ (wrong assumptions)—यह मानना गलत है कि एक अल्पविकसित देश के रहने वाले लोग चूँकि परिवर्तन मे कोई रुचि नही रखते अतः वे परिवर्तन के विरुद्ध होते हैं और वे अपने भाग्य पर ही सन्तुष्ट रहते हैं। यह मान्यता अथवा पूर्वधारणा ऐतिहासिक रूप मे झूँठी है। इस तथ्य के समर्थन मे अनेक ऐतिहासिक प्रमाण दिये जा सकते हैं कि ऐसे देशो मे अनेक नये उद्योग अस्तित्व मे आये हैं और चालू दस्तकारी (handicrafts) से उन्होंने सफलतापूर्वक प्रतियोगिता की है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि पहले तो नया माल विदेशो से आयात किया गया और बाद मे जब लोगो का इस ओर ध्यान गया तो उसका उत्पादन देश मे ही किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त अल्पविकसित देशो मे कार, स्कूटर, रेडियो, ट्राजिस्टर; टेरेलिन आदि अनेक आधुनिक सभ्यता एव फैशन की वस्तुओं की माँग अधिकाधिक बढती जा रही है और लोग इन नई वस्तुओ को खरीदने के लिये प्राय. कड़ा श्रम करते हैं और परम्परागत वस्तुओ के अपने उपभोग मे कमी करते हैं। इस प्रकार, सन्तुलित विकास के सिद्धान्त की यह पूर्व धारणा सही नही है कि अल्पविकसित देशो मे लोग बदलते नहीं या बदलना नही चाहते।

इसके साथ ही, इस सिद्धान्त के समर्थको की यह धारणा भी सही नही है कि पिछडी अर्थव्यवस्था के लोग, जिनके पास आर्थिक विकास के लिये आवश्यक क्षमतायें नही होती, "एक साथ अनेक ऐसे उद्योगो का विकास करने के लिये पर्याप्त साधन तथा प्रबन्धकीय क्षमता जुटा सकते हैं जो कि एक-दूसरे की उपज खरीद लेते हैं।"[16] सन्तुलित विकास के सिद्धान्त की मूल आलोचना यह है कि एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को ये साधन, विशेष रूप से उद्यमीय एव प्रबन्धीय कुशलता, कैसे पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त कर सकते हैं जबकि वहाँ इन साधनों की पहले ही भारी कमी होती है। इस विषय मे प्रो० सिन्गर का यह कथन उल्लेखनीय है कि "बहुमुखी विकास के लाभ अर्थशास्त्रियो के लिए रुचि का विषय हो सकते हैं परन्तु अल्पविकसित देशो के लिए तो वे मातमी खबरो के समान हैं। इन देशो मे अनेक मोर्चों का एक साथ विकास करने के लिए प्रारम्भिक साधन सामान्यत. कम होते हैं।"[17] किसी भी समय मे, किसी देश को विकास सम्बन्धी जो कुशलताएँ उपलब्ध होती हैं, एक साथ आरम्भ की जाने वाली प्रयोजनाओ की सख्या को देखते हुये उनकी भी एक सीमा होती है और यदि किसी अर्थव्यवस्था मे पर्याप्त मात्रा मे साधन, तकनीकी कुशलता एव ज्ञान वर्तमान हैं तो फिर उस देश को अल्पविकसित ही क्यो कहा जायेगा।[18]

---

16 Hirschman : op. cit., p 53.

17 Singer : *Economic Progress in Underdeveloped Countries*, p. 7-8, "The advantages of multiple development may make interesting readings for economists but they are gloomy news indeed for the underdeveloped countries The initial resources for simultaneous developments on many fronts are generally lacking "

18 Hirschman : *op. cit*, p. 54.

सन्तुलित विकास में राज्य का योगदान (The Role of the State in Balanced Growth) :

सन्तुलित विकास के सिद्धान्त के अनुसार, एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे विकास कार्यों का नियोजन, निर्देशन तथा समन्वय करने मे राज्य का योगदान उचित होता है। सन्तुलित विकास का सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि सरकार को इस बात का आश्वासन देना चाहिए कि निवेश अनेक प्रकार के विभिन्न उद्योगो मे एक साथ किया जायेगा जिससे कि सभी की सफलता निश्चित हो सके। इस बात के दो महत्त्वपूर्ण कारण दिये जाते है कि सन्तुलित विकास करने के लिए अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय नियोजन तथा निर्देशन करना आवश्यक है। सर्वप्रथम, स्वतन्त्र उद्यमो की अर्थव्यवस्थाओ मे, व्यक्तिगत उद्यमकर्त्ता लाभ तथा हानि की स्वय अपनी गणनाओ के अनुसार ही उद्यम मे पहल करते है। इस स्थिति मे, बाजार-दशाओं की अनिश्चितता के कारण साधनो के बँटवारे मे सदा ही भूल की सभावना रहती है, और फिर अर्थव्यवस्था मे सुधार केवल उस भूल का परिमार्जन करके ही किया जा सकता है। अतः स्वतन्त्र उद्यम अर्थव्यवस्था एक साम्यावस्था (equilibrium) से दूसरी साम्यावस्था मे आसानी से नही पहुँच पाती, बल्कि बडे कमजोर व लड-खडाते कदमो से आगे बढती है जिससे व्यवसाय मे काफी उतार-चढाव आते रहते हैं। इस स्थिति मे जो सन्तुलन प्राप्त होता है वह सदा ही अनिश्चित सन्तुलन होता है जिससे सदा ही असन्तुलन का भय चारो ओर मँडराता रहता है चूँकि स्वतन्त्र उद्यम की दशाओं के अन्तर्गत यह सभव नही होता कि एक साथ अनेक एक दूसरे पर निर्भर उद्योगो को चालू किया जाए, अत यह आवश्यक हो जाता है कि राज्य विकास कार्यो का नियोजन, निर्देशन तथा समन्वय करने के लिए स्वय आगे बढ़े।

दूसरे, स्वतन्त्र उद्यम की दशाओं मे अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के उद्यमकर्त्ता उससे काफी कम निवेश करते हैं जो कि समाज के दृष्टिकोण से लाभदायक होता है। ऐसा इसलिये होता है क्योकि बाह्य मितव्ययिताओ (external economies) के अस्तित्व के कारण निजी उत्पादकों के लाभ समाज को प्राप्त होने वाले लाभो से कम होते है। जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था विकसित होती है, अनेक बाह्य किफायतो मे भी वृद्धि होती है जैसे कि परिवहन तथा बाजार के विस्तार से लाभ, तकनीकी श्रम की उपलब्धता, सहायक उद्योगों की उत्पत्ति, बैंकिंग की विशेष सुविधाएँ, तथा बीमा व अन्य वित्तीय सस्थाओ की सुविधाएँ आदि। ये वे लाभ हैं जो कि औद्योगिक तथा अन्य उद्यमो के चालू होने के फलस्वरूप उत्पन्न हो जाते है। निजी उद्यमकर्त्ता जब अपने लाभो की गणना करते है तो उसमे इन लाभो को सम्मिलित नहीं करते, परिणामस्वरूप, वे कुल रूप मे वास्तविक सामाजिक लाभो का कम मूल्याकन करते हैं। इस स्थिति मे, यह आवश्यक है कि उत्पादन केन्द्र द्वारा नियोजित हो और एकीकृत हो और वह इस प्रकार कि मानो सम्पूर्ण उत्पादन कार्य एक ही ट्रस्ट के अधीन चल रहा है—इस दशा मे सभी बाह्य किफायतें एक ही व्यवस्था का अग बनी रहेगी।

सन्तुलित विकास की विचारधारा की आलोचना (Criticism of the Concept of Balanced Growth) :

अनेक उत्पादकीय उद्यमों को साथ-साथ आरम्भ करने अथवा उद्योगो व कृषि आदि का साथ-साथ विकास करने के लिए स्वभावतः बडे पैमाने पर निवेश करने की आवश्यकता होती है। एक अल्पविकसित देश की स्थिति मे, जहाँ कि पूँजी, तकनीकी ज्ञान प्रबन्धकीय कुशलता की भारी कमी होती है, सन्तुलित विकास के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए पर्याप्त साधन खोजने की समस्या बड़े विकट रूप मे सामने आती है। सन्तुलित विकास केवल तभी सभव हो सकता है जबकि पूँजी तथा तकनीकी कुशलता इतनी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जिसके द्वारा कि उत्पादन के अनेक परस्पर-निर्भर क्षेत्रो का विकास एक साथ हो सके। इसके विपरीत अल्प-विकसित देशो मे पूँजी, तकनीकी ज्ञान तथा प्रबन्धकीय कुशलता की इतनी कमी होती है कि उनके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे अपनी पूँजी तथा अन्य साधनों का बँटवारा प्राथमिकताओ (priorities) के योजनाबद्ध कार्यक्रम के आधार पर केवल कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे ही करें। आवश्यक साधनो की जितनी अधिक कमी होगी, सन्तुलित विकास को व्यावहारिक रूप देने मे उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ सामने आयेंगी।

किन्तु सन्तुलित विकास के समर्थको का कहना यह है कि पूँजी तथा कुशल श्रमिको के अभाव के कारण सन्तुलित विकास की पूर्ति पूर्णतया अवरुद्ध नही होगी। उदाहरण के लिए, एक

की अनुसूची को भी अस्त-व्यस्त कर दें और देश की मानवीय भौतिक परिसम्पत्तियो के भाग एक के मूल्य के लिए ही खतरा बन जायें।" इस प्रकार निवेश निर्णयों का केन्द्रीयकरण हो सकता है ऐसे परिवर्तनो के प्रति पूर्वाग्रही (biased) हो जाये जिनके लागू होने से वर्तमान प्रवर्तकों (operators) को हानि होने की सम्भावना हो। दूसरी ओर, नियोजन-सत्ता ऐसे बिल्कुल नये पदार्थों के उत्पादन के प्रति उदासीन नही होगी जो कि किसी वर्तमान पदार्थ के स्थानापन्न (substitutes) न हो। इस प्रकार, यदि सरकार अर्थव्यवस्था के नियोजन व निर्देशन का कार्य अपने हाथ मे लेती है तो यह देश के विकास की गति पर कुछ क्षेत्रों मे तो अनुकूल प्रभाव डाल सकता है और कुछ क्षेत्रो मे प्रतिकूल—किन्तु उसका निबल प्रभाव क्या होता है; यह स्पष्ट नही है।

उत्पादन के उपादानो की अनुपात-हीनता (disproportionality of factors of production)—पिछडे देशो मे सन्तुलित विकास की सबसे बडी बाधा है—उत्पादन के उपादानों की अनुपातहीनता। कुछ देशों मे, यदि श्रम अधिक होता है तो पूँजी व प्रबन्धकीय कुशलता बहुत थोडी मात्रा होती है। अन्य देशो मे जहाँ पूँजी व श्रम बहुत थोडी मात्रा मे होता है वहाँ और साधनो की भरमार होती है जो सन्तुलित विकास की विचारधारा को क्रियात्मक रूप देते समय सामने आ खडी होती है।

केवल उन्नत अर्थव्यवस्थाओ के लिए उपयुक्त (suitable only for advance economises)—अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि व्यवसाय-चक्र (trade cycle) के कीन्सवादी सिद्धान्त की एक शाखा के रूप मे सन्तुलित विकास का सिद्धान्त उन्नत तथा पिछडी अर्थव्यवस्थाओ के वास्तविक अन्तरो को कोई मान्यता नही देता। कीन्सवादी सिद्धान्त का सम्बन्ध आर्थिक क्रियाओ के सन्तुलित विकास से है—वास्तव मे, उद्योग, मशीन, प्रबन्धक तथा श्रमिक आदि सब इस प्रतीक्षा मे रहते हैं कि अपने अस्थायी रूप से स्थगित कार्यों को पूरा करे। किन्तु अल्पविकसित देशो मे, स्थिति यह नही होती और वहाँ इन मानो मे सन्तुलित विकास असम्भव है (चाहे उसमे सरकार का हाथ हो या नही)।

निष्कर्ष (Conclusion)

यद्यपि सन्तुलित विकास का "विशुद्ध" सिद्धान्त तो व्यावहारिक नही है किन्तु उसका कुछ उदार रूप अवश्य वास्तविकता के निकट कहा जा सकता है। यदि आर्थिक विकास को अवरुद्ध नही होने देना है तो अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रो को कुछ अनुपात मे—भले ही समान अनुपात मे न सही—एक साथ बढने देना होगा। किसी को क्षेत्र की माँग के कारण नही, अपितु सभरण अथवा रचना सम्बन्धी तत्त्वों के कारण लक्ष्य से अधिक दूर नही रहने देना चाहिए। यदि गौण तथा तृतीय श्रेणी के उद्योगो को आगे बढने देना है तो आवश्यक होगा कि उनके साथ ही साथ खाद्य तथा कच्चे माल उद्योगो को भी आगे बढाना होगा क्योकि जब तक खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल की बढती हुई माँग सन्तुष्ट नहीं होगी तब तक वे गौण उद्योग भी नही बढ सकते। इस अर्थ मे, यह आवश्यक नही है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न भाग एक ही गति से बढें। बल्कि उनमे से प्रत्येक अपने तरीके से विकसित हो सकता है। यह हो सकता है कि अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र मे उपज मे असन्तुलित वृद्धि हो। माँग पक्ष मे तो, अर्थव्यवस्था उपज की ऐसी असन्तुलित वृद्धि को लागत मे कमी करके तथा नई उत्पादित वस्तुओ आदि के द्वारा खपा सकती है। और सभरण पक्ष में, उत्पादन सेवाओ के पुनर्वितरण द्वारा, अस्थायी अभावो द्वारा तथा अदायगी शेष के असन्तुलन आदि के द्वारा कोई भी एक आगे बढ़ाया जा सकता है। इतिहास बतलाता है कि सभी जगह आर्थिक विकास सदा ही इस तरह हुआ है कि विकास फर्म से दूसरी फर्म मे, एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे और अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे बढ रहा है। सभी क्षेत्रो मे सन्तुलित विकास नही हुआ बल्कि एक क्षेत्र की असमान प्रगतियो का अन्य क्षेत्रो मे अनुसरण किया। यदि इस अनुसरण मे कोई क्षेत्र लक्ष्य से भी आगे बढ गया तो अन्य क्षेत्रों मे फिर उसका अनुसरण होने लगता है। इस प्रकार का विकास एक प्रकार से 'सी-सा' (see saw) के खेल के समान है और "सन्तुलित विकास" से निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

यह सिद्धान्त विकास का सिद्धान्त नहीं है (not a theory of development)—हिर्समैन के अनुसार मुख्य आलोचना यह है कि सन्तुलित विकास का सिद्धान्त विकास के सिद्धान्त के रूप में असफल रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार, आर्थिक विकास का अर्थ है, अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में एक साथ परिवर्तन करना, जिससे कि एक निश्चेष्ट तथा स्वयं में पूर्ण परम्परा क्षेत्र के एक स्थान पर एक पूर्णतया नई स्वय मे पूर्ण आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था स्थापित की जा सके। परन्तु इसे आर्थिक विकास बिल्कुल नही कहा जा सकता क्योंकि आर्थिक विकास का आशय होता है—एक किस्म की अर्थव्यवस्था को दूसरी अधिक उन्नत अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन करने की सतत् प्रक्रिया (process), किन्तु सन्तुलित विकास के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक विकास का अर्थ है कि एक घटिया अर्थव्यवस्था के स्थान पर एक बढ़िया अर्थव्यवस्था की स्थापना कर देना। हिर्समैन ने लिखा है कि "यह प्रगति नही है, यह किसी पुराने स्थान पर कुछ नया रख देना भी नही है, यह तो विकास का ठीक दोहरा प्रतिरूप है, ठीक वैसा ही जिसे कि बालमनोविज्ञान वेत्ता समान्तर खेल कहते है।"[19]

वस्तुतः यह बड़ी कड़ी आलोचना है और प्रो० हिर्समैन ने ऐसी आलोचना करके न्यायोचित कार्य नही किया है। सन्तुलित विकास के सिद्धान्त के किसी भी समर्थक ने एक किस्म की अर्थव्यवस्था के स्थान पर दूसरी किस्म की अर्थव्यवस्था रखने की बात नही कही। इसके विपरीत प्रत्येक समर्थक इस बात का इच्छुक है कि अर्थव्यवस्था के सभी भागों का एक साथ विकास किया जाए जिससे कि माँग व सम्भरण की कठिनाइयाँ दूर की जा सकें। जैसा कि प्रो० ल्यूईस ने कहा है कि "सभी क्षेत्रों का साथ-साथ विस्तार होना चाहिए।" परन्तु जैसा कि हिर्समैन समझ रहे हैं, इसका यह अर्थ तो नही है कि एक किस्म को अर्थव्यवस्था के स्थान पर दूसरी अर्थव्यवस्था रखी जा रही है।

केन्द्रीय नियोजन व निर्देशन की भी आलोचना की जाती है (central planning and direction criticised)—सन्तुलित विकास के सिद्धान्त की अन्य आलोचना यह की जाती है कि इसमे विकास कार्यों में सरकार के हस्तक्षेप, निर्देशन तथा समन्वय का समर्थन किया गया है। सरकारी निर्देशन तथा केन्द्रीय नियोजन के विरुद्ध तीन आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं।

(१) जो चीज निजी उद्यम व्यवस्था प्राप्त न कर सकी, उसकी उपलब्धि सरकारी अधिकारियों को आसानी से हो जायेगी यह कोई आवश्यक नही है। कहा जाता है कि कुछ कार्य ऐसे हैं जो समाज की क्षमता से बाहर होते हैं और वे कार्य किसी के द्वारा, यहाँ तक कि राज्य द्वारा भी पूरे नही किये जा सकते, सन्तुलित विकास एक ऐसा ही कार्य है।

(२) निवेश निर्णयों का केन्द्रीयकरण केवल कुछ परिस्थितियों में ही सफल हो सकता है। केन्द्रीकृत निवेश-नियोजन से आर्थिक विकास तभी सम्भव हो सकता है जबकि केवल बाहरी मितव्ययिताओं (external economics) का ही आन्तरीकरण किया जाए किन्तु सभी बाहरी अमितव्ययितायें (external diseconomies) और सामाजिक लागतें (social costs) या तो नगण्य हों अथवा केन्द्रीय नियोजन सत्ता के लिए बाहरी रहे। परन्तु चूँकि एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे आर्थिक विकास का अर्थ होना है शनैः शनैः रूपान्तरण (gradual transformation) सृजन (creation) नही, अतः उससे आवश्यक ही सामाजिक व्यय तथा अमितव्ययितायें सम्बद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, पुरानी निपुणता तथा नौकरियों की हानि, गन्दी बस्तियों की उत्पत्ति, भीड़-भाड़, बेरोजगारी, वायु का दूषित होना आदि सब सामाजिक व्ययों (social costs) तथा बाहरी मितव्ययिताओं (external diseconomies) के ही उदाहरण हैं।

(३) फिर, केन्द्रीकृत उद्योग में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि उपभोक्ता वस्तुओं को कोटि अथवा किस्म मे या उनकी ऐसी स्थानापन्न वस्तुओं में बार-बार परिवर्तन न किये जाएँ, जो कि न केवल उपभोग करने वाली जनता की मूर्खतापूर्ण सनक की प्रतीक हों बल्कि "उत्पादन

---

19. *Ibid*, p. 52. "This is not growth, it is not even the grafting of something new *onto* something old : it is a perfectly dualistic pattern of development, akin to what is known to child psychologists as parallel play."

पर लगाये जाते हैं वे प्रत्यक्ष कर कहे जाते हैं और जो कर व्यय पर लगाये जाते हैं वे परोक्ष कर कहलाते हैं। इस आधार पर, आयकर, लाभ कर (profits tax) तथा पूँजीगत लाभकर (capital gains tax) प्रत्यक्ष कर के उदाहरण माने जायेंगे और उत्पादन कर (excise tax) सीमा कर तथा बिक्री कर (sales tax) (अथवा वस्तुकर 'commodity tax' जैसा कि उन्हें सामान्यत कहा जाता है) परोक्ष कर होंगे। इस वर्गीकरण में भी दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं। प्रथम कठिनाई यह है कि इस वर्गीकरण के अन्तर्गत, अर्थव्यवस्था (economy) मे धन के प्रवाह (flow) की बहुत ही सरल विचारधारा को अपनाया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार, कुछ मदें तो आय की होती हैं और कुछ होती हैं व्यय की—माना कि ये दोनो ही मदें एक दूसरे से पृथक् की जा सकती हो, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नही है, क्योकि प्रत्येक मद आय व व्यय, दोनो की ही होती है। कोई भी मद हमें आय की प्रतीत होगी या व्यय की—यह इस बात पर निर्भर है कि हम उस मद को किस दृष्टिकोण से देखते हैं। एक आदमी की आय दूसरे आदमी का व्यय है। अत किसी व्यक्ति की आय पर लगाये गये कर को किसी अन्य व्यक्ति के व्यय पर लगाया गया कर भी माना जा सकता है। परन्तु जैसा कि प्रो० प्रैस्ट ने कहा है कि आय पर लगाये गये कर तथा व्यय पर लगाये गए कर में किया गया भेद तभी सही होगा जबकि हम व्यवसाय-गृहों से पृथक् केवल परिवार अथवा गृहस्थ पर ही विचार करें। एक गृहस्थ अथवा परिवार (house hold) के दृष्टिकोण से, एक व्यक्ति के वेतन पर लगाया गया कर 'आय पर कर' (a tax on income) होगा, अत प्रत्यक्ष कर होगा और फलो आदि के उपभोग पर लगाया गया कर 'व्यय पर कर' (a tax on expenditure) होगा, अत: परोक्ष कर होगा। परन्तु ऐसा कोई कारण प्रतीत नही होता कि जिसकी वजह से व्यावसायिक उद्यमो को इस भेद से बाहर रखा जाए। आय तथा व्यय के आधार पर प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के इस आधुनिक वर्गीकरण की अन्य कठिनाई यह है कि यह वर्गीकरण पूँजी के स्टाक पर आधारित करो को अपने से पृथक् रखता है तथा इन करो को पूँजी के स्टॉक में होने वाले परिवर्तनो (changes) से सम्बन्धित करो से भिन्न मानता है।

इस प्रकार, प्रतीत होता है कि करो का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में भेद किये जाने का कोई वैज्ञानिक अथवा तार्किक आधार नही है। जैसा कि अमेरिकी उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई व्यवस्थाओं (rulings) से स्पष्ट है, इन शब्दो का कानूनी उपयोग बडा भ्रमोत्पादक था।[7] सयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय (supreme court) ने व्यक्तिगत आमदनियो पर लगाये गये गृह-युद्ध कर (civil war tax) को उत्पादन कर अथवा परोक्ष कर माना किन्तु सन् १८६४ के आय कर को इसी सस्था ने प्रत्यक्ष कर माना। सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान (constitution) के १६वें सशोधन मे यह बात स्पष्ट की गई थी कि वास्तविक एव व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अन्य स्रोतो से होने वाली आय पर लगाये जाने वाले कर परोक्ष कर हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच भेद के सम्बन्ध मे काफी भ्रम रहा है। सैलिगमैन ने तो इस सम्बन्ध मे यहाँ तक कहा कि "आधुनिक विज्ञान ने तो करो के बीच भेद करने की इस कसौटी का परित्याग कर दिया है।"[8] तथापि, ऐसा कहना सही नही है क्योकि वर्तमान समय के अधिकाश लेखक अभी भी इसका व्यापक रूप से उपयोग करते हैं।[9] और वस्तुस्थिति यह है कि इस भेद का विवेचन तो साधारणत इसलिये किया जाता है कि जिससे कि करो के परम्परागत सुपरिभाषित वर्गों का उल्लेख किया जा सके।

---

7 Buehler · Public Finance, p. 269,

8. E R. H Seligman : Essays in Taxation, pp, 690 691, "This criterian of distinction has been abandoned by modern science

9. ए० आर० प्रैस्ट ने परोक्ष कराधान के ढाँचे का विवेचन करने के लिए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (public finance) मे एक पूरा अध्याय इस कार्य के लिए दिया है। कम विकसित अर्थव्यवस्थाओ के सभी अध्ययनो मे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच भेद को प्रमुख स्थान दिया गया है। "Public Finance in Underdeveloped Countries" नामक अपनी नई पुस्तक में प्रैस्ट ने कम विकसित देशो में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कराधान के योगदान (role) का वर्णन किया है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Bauer and Yamey · Economics of Underdeveloped Countries.
2. W.S. Lewis : Theory of Economic Growth, Chapters V-VII.
3 Hirschman . The Strategy of Economic Development, Chapter 2-5,
4 Buchanan and Ellis · Approaches to Economic Development, Chapter 3.
5 Ranger Nurkse Problems of Capital Formation in Under-developed Countries.
6 Kenneth Karihara . The Keynesion Theory of Economic Development.
7. Raja Chelliah Fiscal Policy in Underdeveloped Countries, Chapters I & II.
8. Evsey Domar Essays in the Theory of Economic Grawth, Chapters 1, 3, 4 and 5.

UNIVERSITY QUESTIONS.

१ हैरोड-डोमर द्वारा प्रतिपादित अर्थव्यवस्था मे वृद्धि दर समीकरण की विवेचना कीजिए।
Discuss the Harrod—Domar Equation concerning to increase in the rate of growth in an economy.

२ सन्तुलित विकास की विचारधारा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
Examine critically the concept of balanced growth

३ विकास आदर्शों की सीमाओं को बतलाइए।
State and explain the limitation of growth models.

५

आर्थिक आयोजन अथवा आर्थिक नियोजन
(Economic Planning)

आर्थिक आयोजन अथवा आर्थिक नियोजन की विचारधारा ने वर्तमान समय मे अर्थशास्त्रियो, शासको तथा साधारण मनुष्यो सभी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। वास्तव मे, आधुनिक विश्वमत नियोजन या आयोजन (planning) के विचार से इतना अधिक प्रभावित हुआ है, कि एक प्रकार से, आयोजन युद्धोत्तर काल का एक आर्थिक नारा, वर्तमानकाल का एक राजनैतिक धर्म और सभी आधुनिक बुराइयो की एकमात्र औषधि बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीयवादी और साम्राज्यवादी, राष्ट्रवादी और साम्यवादी, रूढिवादी और समाजवादी, सभी इस बात पर एकमत हैं कि अर्थ व्यवस्था के नियोजन की आवश्यकता है, यद्यपि नियोजन के सभी के उद्देश्य तथा उसके लिए प्रस्तुत किये जाने वाले कारण भिन्न-भिन्न हैं। यहां तक कि सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशो मे भी, सिद्धान्त तथा व्यवहार मे, रुख आयोजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था के पक्ष मे होता जा रहा है।

आर्थिक आयोजन क्या है? (What is Economic planning)?

योजना का अर्थ है—सुनिश्चित एव पूर्वनिर्धारित उद्देश्यो के अनुसार कार्य करना और उत्पादन के उपादानो का रूप-निर्धारण तथा उपयोग इस प्रकार करना जिससे कि निर्धारित लक्ष्यो की प्राप्ति उसी अवधि मे की जा सके जो कि योजनानिर्माताओ ने उसके लिए की हुई है। विशुद्ध तार्किक दृष्टि से, आयोजन का सार है कुछ लक्ष्य निर्धारित करना और एक निश्चित अवधि मे उनको पूरा करना। अर्थशास्त्रियो के मतानुसार, आयोजन का अर्थ है कि राष्ट्र के साधनो पर केन्द्रीयकृत नियन्त्रण रखना और एक सुनिश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए उनकी एक ऐसी विचारपूर्ण योजना बनाना जिसमे सभी आर्थिक पहलुओ का एक ऐसा एकीकरण एव समन्वय किया गया हो ताकि किसी भी प्रकार के दोहराव तथा अपव्ययी प्रतियोगिता से बचा जा सके। प्रो० डिकिन्सन ने आयोजन की व्याख्या इस प्रकार की है, "आर्थिक नियोजन का अर्थ है कि निर्धारित सत्ता के विचारयुक्त निश्चयानुसार सम्पूर्ण रूप मे अर्थव्यवस्था के विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर मुख्य आर्थिक निर्णय करना—अर्थात् क्या और कितना उत्पादन किया जाये और इसका बँटवारा किस किस मे किया जाए?"[1] ल्यूईस लाविन ने लिखा है कि "आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था आर्थिक

1. H D. Dickinson : Economics of Socialism, p 41, "Economic planning is the making of major economic decisions—what and how much is to be produced, and to whom it is to be allocated—by the conscious decision of a determinate authority on the basis of a comprehensive survey of the economy as a whole."

संगठन की एक ऐसी योजना है जिसमें व्यक्ति तथा अन्य संयन्त्र उद्यम तथा उद्योग एक ही प्रणाली की समन्वित इकाइयाँ मानी जाती हैं जिससे कि एक निश्चित अवधि में लोगों की आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि करने के लिए उपलब्ध साधनों का समुचित उपयोग किया जा सके।"[2] अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के अनुसार "विकास कार्यक्रम बनाने की तकनीक का सार, रूप मे, अर्थ है किसी अर्थव्यवस्था मे कुल उपलब्ध साधनो का हिसाब लगाना और फिर इस बात का निश्चय करना कि उपलब्ध साधनो की सीमाओं मे रहते हुए उन्हे विभिन्न विकास प्रयोजनाओं मे किस क्रम से लगाया जाये·········। सम्पूर्ण विकास का मुख्य अस्त्र तीव्रगति से किया जाने वाला पूँजीनिर्माण है।"[3] इस दृष्टि से नियोजन का अर्थ है, साधनो का सर्वेक्षण करना, उनके उपयोग की प्राथमिकताओं की एक सूची बनाना और पूँजीनिर्माण मे वृद्धि करने के उपाय खोजना। इसे आयोजनाबद्ध औद्योगीकरण कहा जा सकता है, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का विस्तृत आयोजन नही। डा० डाल्टन के अनुसार, "व्यापक अर्थ मे आर्थिक नियोजन, विशाल साधनो के सरक्षक व्यक्तियो द्वारा निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आर्थिक क्रियाओ का इच्छित निर्देश है।"

१. आयोजनाबद्ध तथा आयोजनारहित अर्थव्यवस्थाएँ—एक तुलना

(Planned and Unplanned Economies—A Comparison)

यदि हम आयोजनाबद्ध तथा आयोजनारहित अर्थव्यवस्था को आमने-सामने रखकर विचार करें तो आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के लक्षण अधिक अच्छी प्रकार समझे जा सकते हैं तथा उनका सही मूल्यांकन भी किया जा सकता है। मुक्त उद्यम वाली अर्थव्यवस्था अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को, जहाँ कि सरकार आर्थिक कार्यों मे न्यूनतम हस्तक्षेप करती है, आयोजनारहित अर्थव्यवस्था माना जा सकता है।[4]

आयोजनारहित अर्थव्यवस्था मे उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा उपभोग का निर्धारण बाजार-शक्तियो पर छोड़ दिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए स्वतन्त्र होता है कि वह अपने साधनो का अपने सर्वोत्तम लाभ की दृष्टि से उपयोग करे। इसमे व्यक्ति को पहल करने का पूरा अवसर प्राप्त होता है और सभी आर्थिक क्रियाओं का नियन्त्रण एवं निर्देशन आत्महित तथा लाभ के दोहरे उद्देश्य से किया जाता है। मांग और संभरण के अन्तर्गत कार्य करने वाली बाजार-व्यवस्था (market mechanism) विविध के माध्यम से लोगों की पसन्द का पता लगाकर, समाज के लिए आवश्यक विभिन्न वस्तुओ एव सेवाओं के संभरण (supply) मे परिवर्तन करती है। आयोजनारहित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की मूलभूत मान्यता तथा इसका मूल सिद्धान्त यह है कि अपने निजी लाभ के लिए कार्य करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने निजी कल्याण मे ही अधिकतम वृद्धि करता है, अपितु सम्पूर्ण रूप मे समाज के कल्याण मे भी।

एक आयोजना रहित अर्थव्यवस्था में, पूँजी तथा निवेश का बाजार दोनों ही कार्य

---

2. Quoted by George Frederick in "*Readings in Economic Planning*," p. 153. Planned Economy is "A scheme of economic organisation in which individual and separate plants, enterprises and industries are treated as coordinate units of one single system for the purpose of utilising available resources to achieve the maximum satisfaction of the people's needs within a given time "

3. International Bank for Reconstruction and Development : *Sixth Annual Report*, (1950-51), p. 12, "The technique of development-programming consists in essence of making an inventory of the sum total of resources available to each economy, and then deciding the order in which various development projects should be undertaken within the limits of available resources.........The main instrument of all development is accelerated capital formation "

4. Dickinson admits the theoritical possibility of unplanned collectivism i e. a system in which public bodies act without further unification, but believes that unplanned collectivism, "Would almost side, into a planned system." Referto Deckinson, Economics of Socialism, p. 233. Paul Sweezy also speaks of collectivist unplanned economics. Refer to his book Socialism, p. 234.

करता है; यह लोगो की बचतो को भी गतिशील करता है और उनको विभिन्न वैकल्पिक उपयोगो मे लगाता भी है। इस व्यवस्था मे केन्द्रीय सत्ता यह निश्चय नही करती कि (क) राष्ट्रीय आय के कितने भाग का उपभोग किया जाये और कितना भाग बचाया जाय और (ख) बचतो का कितना भाग पूंजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे लगाया जाये और कितना उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे। निवेश के आधार तथा उसकी मात्रा को और उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय को प्रभावित करने वाले ये अन्य निर्णय व्यक्तियों तथा फर्मों द्वारा बिना किसी सरकारी नियन्त्रण के लिए जाते हैं।

यद्यपि पूंजीवाद के समर्थको का दावा यह है कि बाजार व्यवस्था और मूल्यपद्धति सभी आर्थिक क्रियाओ के नियोजन एव समन्वय के सम्बन्ध मे आश्वासित करती हैं, परन्तु वस्तुतः पूंजीवाद के अन्तर्गत कोई नियोजन नही किया जाता है और वह इन मानो मे कि इसमे ताल-मेल बैठाने वाली ऐसी कोई सर्वोपरि एजेन्सी नही होती जो कि गणनाओ सम्बन्धी भूलो को उनके घटित होने के पूर्व ही दूर कर सके। आयोजनारहित अर्थव्यवस्था मे, जोखिम उठाने तथा साहस को निर्णायक महत्त्व प्राप्त होता है। लाभ-प्राप्ति की अन्धदौड़ तथा प्रतियोगिता के अस्तित्व से एकाधिकारी शक्तियाँ पनपती हैं और धन का कुछ लोगो के हाथो मे केन्द्रीयकरण हो जाता है। कीमतो द्वारा व लाभो द्वारा निर्देशित उत्पादन समर्थ (effective demand) पर आधारित होता है, व्यक्तिगत एव सामाजिक आवश्यकताओ पर नही। अनुमानो मे प्राय. गलतियाँ होती हैं जिनके कारण अत्युत्पादन (over production) तथा न्यून-उत्पादन (under production) होता रहता है। अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत व्यावसायिक दशाओ, रोजगार तथा उत्पादन मे उतार-चढाव आते रहते हैं। सामाजिक व्यवस्था मे दो विभिन्न वर्ग होते हैं। एक वर्ग होता है, समृद्ध लोगो का जो उत्पादन के साधनो पर अपना अधिकार रखते हैं और उत्पादित कुल राष्ट्रीय आय के काफी बडे भाग पर अपना कब्जा रखते हैं। दूसरा वर्ग होता है निर्धनों का, जिसमे मजदूर होते हैं और समाज का एक बडा भाग होते हैं। पाल स्वीजी ने आयोजनारहित अर्थव्यवस्था मे भूलो को इन शब्दो मे एकत्र किया है "एक आयोजनारहित अर्थव्यवस्था मे—चाहे वह पूंजीवादी हो अथवा समूहवादी—निवेश सम्बन्धी निर्णय अनेक स्वतन्त्र इकाइयो द्वारा किये जाते हैं। यही वह कारण है जो आयोजनारहित अर्थव्यवस्था के अयुक्तिसगत व्यवहारो के लिये उत्तरदायी है: अर्थात् मन्दी तथा तेजी का बार-बार उत्पन्न होना बहुलताओ एव अभावो का सहअस्तित्व तथा असन्तुष्ट आवश्यकताओं वाले बेरोजगार श्रमिको का पाया जाता.......।"[5] यही आयोजनारहित अर्थ-व्यवस्था का एक छोटा सा चित्र है। तथापि, चित्र में कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया गया है क्योकि ऐसी अर्थव्यवस्था का होना बडा कठिन है जहाँ कि सरकार का कोई नियन्त्रण ही न हो, हाँ यह अवश्य हो सकता है कि विचारपूर्ण सरकारी नियोजन न हो।

आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (Planned Economy)

केन्द्र द्वारा नियोजित अर्थव्यवस्थाओ मे, नियोजन करने वाली सत्ता अथवा आयोग उन सब कार्यों को पूरा करते हैं जो कि आयोजना रहित अर्थव्यवस्था मे बाजार की यन्त्र रचना द्वारा पूरे किये जाते हैं। यह आयोग ही इस बात का निश्चय करता है कि बचतो की दर तथा उसका रूप क्या हो। आन्तरिक बचतो तथा पूंजीनिर्माण की दर की उच्च सीमा का निर्धारण एक ऐसे न्यूनतम स्तर द्वारा किया जाता है जहाँ पर कि कुल उपयोग को घटातेघटाते ले आया जाता है और मानवीय क्षमता पर भी उसकी कोई खतरनाक प्रतिक्रिया नही होती।

आयोजाबद्ध अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, योजना आयोग (planning commission) समाज की आवश्यकताओ तथा उसके साधनो का इस उद्देश्य से सर्वेक्षण करता है जिससे निवेश-योग्य धनराशियो को विकास की विभिन्न योजनाओ मे, प्राथमिकताओ एव आवश्यकताओ की

---

5. Paul Sweezy. *Socialism*, p. 234, "In an unplanned economy—whether capitalist or collectivist—investment decisions are made by many independent units......It is this circumstance that accounts for the irrational behaviour of an unplanned economy: the alteration of booms and slumps, the coexistence of gluts and shortages, the paradox of unemployed workers with unsatisfied wants."

तीव्रता के क्रम मे लगाया जा सके। आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था एक युक्तिसंगत तथा समन्वित तरीके से आयोजना रहित अर्थव्यवस्था की भूलों को दूर करने का प्रयत्न करती है। उदाहरण के लिए, योजना-निर्माता सम्पूर्ण रूप में समाज की आवश्यकताओं को देखकर ही इस बात का फैसला करते हैं कि किन-किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाना है। ऐसा करते समय वे समर्थ माँग का कोई ध्यान नही रखते क्योंकि उसका अर्थ होता है कि निर्धन लोगों की माँग की लागत पर धनी लोगों की माँग को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसी प्रकार, निवेश का निर्धारण समाज की आवश्यकताओं एवं तीव्रताओं को देखकर किया जाता है, उन व्यक्तिगत निवेशकर्ताओं की पसन्द तथा सनक के अनुसार नही जो लाभ के उद्देश्य से प्रेरित करते है। चूँकि कुल उपलब्ध साधन सीमित होते हैं, अत यह आवश्यक है कि उनका सर्वोत्तम सम्भव तरीके से उपयोग किया जाए और ऐसा केवल तभी हो सकता है जबकि विचार का पूर्ण नियोजन किया जाए।

आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के लक्ष्य निम्न प्रकार गिनाये जा सकते हैं :—

(क) आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के लक्षण अथवा उद्देश्य सुनियोजित एव विचार पूर्ण होते हैं।

(ख) इसमे नियोजन करने वाली केवल एक केन्द्रीय सत्ता होती है जो विभिन्न कार्य-क्रमों का समन्वय तथा उनको क्रियान्वित करती है।

(ग) इसमे सभी क्षेत्रों का व्यापक नियोजन किया जाता है जिससे कि किसी एक क्षेत्र मे नियोजन के अभाव के कारण अन्य किसी क्षेत्र का नियोजन बेकार न हो जाए।

(घ) अर्थव्यवस्था सभी उपलब्ध साधनों का बड़ी किफायत के साथ तथा प्राथमिकताओं, लक्ष्यो व उद्देश्यों की एक सुसगठित पद्धति के अनुसार उपयोग करने का प्रयत्न करती है।

(ङ) नियोजन का कार्य सख्याविदों (statisticians), वैज्ञानिकों तथा शिल्पियों की एक सेना द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसलिए इस व्यवस्था तक लोकतन्त्र भी कहा जाने लगा है।

(च) नियोजन केवल उत्पादन का ही नही होता अपितु वितरण का भी होता है—अर्थात् क्या और कितना उत्पादन किया जाय और किसके बीच उसका वितरण किया जाए ?

२ आर्थिक आयोजन की युक्तिपूर्णता
(Rational of Economic Planning)

आर्थिक आयोजन अथवा आर्थिक नियोजन की आवश्यकता का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। प्रत्येक देश मे जनता तथा सरकार दोनो का ही आर्थिक आयोजन के प्रति जो विश्वास बराबर बढ़ता जा रहा है उसके अनेक कारण हैं। यहां दो कारणों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है : एक १९वीं शताब्दी की अबन्ध नीति की अर्थव्यवस्था की असफलता जिस पर कि उदारवादी अर्थशास्त्री बडा विश्वास करते थे और दूसरे आयोजन जहाँ भी लागू किया गया, वही इसको प्राप्त होने वाली तुलनात्मक सफलता।

आर्थिक आयोजन के पक्ष मे तर्क (Arguments for Economic Planning) :

मुक्त उद्यमवाली आयोजना रहित अर्थव्यवस्था ऐसे तरीके से कार्य नही करती जो समाज के आर्थिक कल्याण की दृष्टि से वाञ्छनीय हो। कीन्स ने सरकारी हस्तक्षेप के द्वारा स्वतन्त्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था की जीवन-वृद्धि के लिए बहुत कुछ किया किन्तु बाद मे इस अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध मे उसे भी यह कहना पडा : "ससार का सचालन किसी ऊपरी शक्ति द्वारा इस प्रकार नही किया जाता कि जिससे निजी हित तथा सामाजिक हित सदा एक-दूसरे के अनुरूप रहे। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से निकाला गया यह निष्कर्ष सही नही है कि प्रबुद्ध स्वार्थ (enlightened self-interest) सदा ही जनहित मे सचालित होता है और न ही यह सत्य है कि स्वार्थ अथवा स्वहित सामान्यतः प्रबुद्ध होता है। व्यक्ति अक्सर स्वय अपने ही हितो की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं और सामाजिक हितो की पूर्ति के लिये अत्यधिक न जानकार अथवा

अत्यधिक कमजोर होते हैं। अनुभव से यह सिद्ध नही होता कि व्यक्तियों को जब सामाजिक इकाई बना दिया जाता है तो वे सदा ही कम दूरदर्शिता से काम करते हैं बमुकाबले उस स्थिति के जबकि वे पृथक्-पृथक् कार्य करते।"[6] आत्म-हित तथा व्यक्तिगत लाभो पर आधारित आयोजनारहित अर्थव्यवस्था समय-समय पर व्यावसायिक मन्दी का और कभी-कभी तो भारी बेरोजगारी का शिकार होती रहती है। इन दोषो को दूर करने के लिए ही नियोजन की वकालत की जाती है।

आत्म-हित तथा लाभ की प्रेरणा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के स्वतः समजन (self adjustment) से अब लोगो का विश्वास उठ गया है जो चीज व्यक्तिगत उद्यमकर्ता के दृष्टिकोण से सर्वाधिक लाभकारी है वह सामाजिक हित तथा समाज-कल्याण की दृष्टि से भी सदा ही सर्वोत्तम नही होती, बल्कि कभी-कभी तो वह समाज से आर्थिक कल्याण के लिए पूर्णतया हानिकारक सिद्ध होती है। समाज केवल व्यक्तियो के एक झुण्ड का ही नाम नही है बल्कि इससे कुछ अधिक है। इसके अतिरिक्त यह सस्यापक मान्यता भी व्यावहारिक कसौटी पर खरी नही उतरती कि "सभरण अपनी माँग स्वय उत्पन्न कर लेता है" इसलिए विचारपूर्ण नियोजन के अभाव मे, बाजार मे सदा ही बहुतायत अथवा अभाव बना रहा है। स्वतन्त्र उद्यम व्यवस्था की कार्य प्रणाली के विरुद्ध यही एक ऐसा असन्तोष रहा है जिसने इस सामान्य विश्वास को जन्म दिया कि किसी न किसी प्रकार का नियोजन पूर्णतया आवश्यक है।

फिर, आर्थिक शक्तियो को स्वतन्त्र एव स्वयचालित कार्य प्रणाली से यह हो सकता है कि देश के आर्थिक साधनों का अनुकूलतम वितरण न हो सके। **सर विलियम बेवरीज** ने लिखा है कि "सभावना यह नही है कि छोटी-छोटी पृथक् व्यावसायिक इकाइयो की वृद्धि से एक ऐसा उद्योग स्थापित होगा जो अधिकतम कुल क्षमता के आधार पर काम करेगा, बल्कि संभावना यह है कि छोटे-छोटे अगणित सम्पत्ति के स्वामियों की अस्त-व्यस्त एव अनियन्त्रित क्रियाओ से एक ऐसा नियोजित कस्वा अवश्य बन जायेगा जहाँ कि फालतू जगह नही होगी, दोहरी सडकें तथा यातायात की भीड-भाड़ नही होगी।"

आर्थिक नियोजन ने तीव्र आर्थिक विकास को प्रेरणा दी है। अनेक देशो मे, स्वतन्त्र उद्यम व्यवस्था के द्वारा जो प्रगति दो शताब्दियो मे सम्पन्न हुई, आर्थिक नियोजन के द्वारा वह प्रगति कुछ वर्षों में हो गई। सन् १९२८ के बाद का रूस आर्थिक नियोजन को सिद्ध करने वाले सर्वाधिक सन्तोषजनक उदाहरण हैं। रूस के अलावा जापान, स्वीडन, इटली तथा जर्मनी मे आर्थिक नियोजन को मिलने वाली सफलताएँ बडी प्रभावपूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण रही हैं और अल्पविकसित देशो मे आर्थिक आयोजन की आवश्यकता को सिद्ध करती हैं।

नियोजन की वकालत केवल इसलिए नहीं की जाती कि उन व्यापार चक्रो की बारम्बारता को रोका जा सके जो कि सम्पूर्ण समाज के लिए बडी गम्भीर प्रकृति के विनाश खडे करते हैं बल्कि इसलिये भी कि एक पिछड़े देश मे तीव्र गति से सन्तुलित आर्थिक विकास किया जा सके और आर्थिक विकास के प्रतिफल जो सामान्यपूर्ण रीति से बाँटा जा सके। वर्तमान समय मे नियोजन की अनिवार्यता के विषय मे जैसा कि एक प्रेक्षक (observer) ने कहा है: "निजी पूँजीवाद की पुरानी पैतृक व्यवस्था तथा अनियन्त्रित प्रतियोगिता अब गतावधि की चीज बना चुकी है और अब प्रत्येक व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण तथा अपने विचार नए दृष्टिकोण के अनुसार ही बनाने होंगे।"

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे आयोजन की आवश्यकता (Need for planning in an Under-developed Economy):

एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे आर्थिक आयोजन की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए। जैसा कि हम पहले ही बतला चुके हैं। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था कई विशेष लक्षणो से ग्रसित होती है, जैसे कि कम उत्पादन क्षमता, कृषि तथा अन्य प्रारम्भिक उद्योगो

---

6. J. M. Keynes: *The End of Laissez-faire.*

पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव, बेरोजगारी तथा अपूर्ण रोजगार, उत्पादन की पुरानी विधियाँ गौण तथा तृतीय श्रेणी के उद्योगो का अभाव, प्रतिव्यक्ति कम आय, तथा नीचा जीवनस्तर। अल्पविकसित देश जहाँ निर्धनता के दुष्चक्र मे पडा रहता है और स्वय को गरीबी तथा कष्टो के गर्त से बाहर निकालने मे कठिनाई अनुभव करता है, वहाँ उन्नत अर्थव्यवस्था वाले देश विकास सम्बन्धी अनुकूल परिस्थितियो के कारण तीव्र गति से प्रगति कर रहे है। परिणामस्वरूप, अल्पविकसित तथा उन्नत अर्थव्यवस्थाओ के बीच की खाई बराबर चौडी होती जा रही है, और अल्पविकसित अर्थव्यवस्था वाले देशो के लोगो के मनो मे असन्तोष की मात्रा बढती जा रही है। इस बात की बडी जरूरत है कि निर्धनता के इस दुष्चक्र (vicious circle) को तोड़ा जाये ताकि विकास की गति को तेज किया जा सके और आर्थिक प्रगति की दर अधिकतम की जा सके। अत एक अल्पविकसित देश में आर्थिक प्रगति की दर को अधिकतम करने के लिए आर्थिक नियोजन की आवश्यकता होती है जिससे कि निर्धनता के दुष्चक्र को एक बार ही सदा के लिये तोडा जा सके।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे नियोजन की आवश्यकता का मूल्यांकन करने के लिए यह जरूरी है कि विकास की दशाओं का विश्लेषण किया जाये। विकास की पूर्व शर्ते हैं—बड़े पैमाने पर बचतें, निवेश तथा पूँजीनिर्माण करना, उत्पादन की विधियो मे सुधार, गौण एव तृतीय श्रेणी के उद्योगो का विकास तथा अर्थव्यवस्था का अनेकीकरण (deversification) जिससे कि प्रारम्भिक उद्योगो पर जनसख्या के दवाव को कम किया जा सके। यह भी बडा आवश्यक होता है कि कुछ ऐसे सामाजिक एव आर्थिक कार्यों पर भारी मात्रा मे निवेश किया जाये जैसे कि शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य, सडको तथा रेलो का निर्माण और विद्युत-सयन्त्रो आदि की स्थापना। इन सब कार्यो के लिए न केवल विशाल साधनो की आवश्यकता होती है, अपितु उनको गतिशील करने तथा विभिन्न प्रवाहो मे उनका वितरण करने के लिए व्यापक सगठन की भी आवश्यकता है जिससे कि अर्थव्यवस्था के विकास की अधिकतम दर प्राप्त की जा सके। उन्नत देशो मे, अनेक कारणो से प्रवन्धकीय एव साहसीय क्षमता बहुलता मे पाई जाती है। अल्पविकसित देशो मे ऐसा प्रबन्धकीय वर्ग नहीं पाया जाता जिसमे कि पहल करने की क्षमता एव साहस हो। इसके अतिरिक्त, उसमे ऐसी आवश्यक परम्पराएँ भी नही पाई जाती जिनके द्वारा निजी उद्यम के अन्तर्गत साहसपूर्ण औद्योगीकरण किया जा सके। इस स्थिति मे राज्य से यह माँग की जाती है कि वह निजी उद्यम की कमी की इतनी मात्रा मे क्षतिपूर्ति करे जिससे कि अर्थव्यवस्था गरीबी के गर्त से बाहर निकल सके। इस प्रकार कुशल सगठन की आवश्यकता के साथ ही साथ, प्रबन्धकीय वर्ग के अभाव के कारण यह भी आवश्यक हो जाता है कि राज्य इस दिशा मे कदम आगे बढाये और एक अल्पविकसित देश मे आर्थिक नियोजन की यही स.से पहली युक्तिपूर्णता है।

परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि औद्योगिक विकास मे सरकार द्वारा भाग लेने के लिए यह आवश्यक नही है कि उद्योगो मे सदा ही राज्य का स्वामित्व तथा सचालन हो। इसके विपरीत, राज्य के भाग लेने के अनेक रूप हो सकते हैं जिनमे कुछ तो बाजार की स्वाधीनता के बिल्कुल अनुरूप होते हैं और उनमे से कुछ रूप ऐसे हो सकते हैं जो निजी उद्यम के क्षेत्र तथा प्रभाव को बढाने के लिये बनाये गये हो। समाजवादी लेखक जहाँ राज्य को उद्यमकर्त्ता बनाने की आवश्यकता पर जोर देते हैं, वहाँ उदार अर्थशास्त्री यह तर्क देते हैं कि राज्य निजी उद्यम के लिये ऐसी अनुकूल परिस्थितियो का निर्माण करे तथा उसे ऐसी प्रेरणाएँ प्रदान करे जिससे कि वह आयोजन के लक्ष्यो को पूरा कर सके।

दूसरे, आर्थिक विकास पूँजी-निर्माण की दर पर निर्भर होता है जिसके लिये आवश्यकता होती है बडे पैमाने पर बचत तथा निवेश करने की। अल्पविकसित देशों मे, सामान्यतः आय के निम्न स्तरो तथा बैंकिग एव वित्तीय सस्थाओं के अभाव के कारण बचत की दर बहुत नीची होती है। फिर, परिवहन व सचार तथा बिजली आदि की आर्थिक सुविधाओ के अभाव के कारण निजी उद्यमकर्त्ताओं को भी इस बात की पर्याप्त प्रेरणा नही मिलती कि वे समाज की बचतों को गतिशील तथा निवेश कर सकें। अत. उपलब्ध बचतें या तो बेकार के अनुत्पादक निवेश मे लग जाती हैं अथवा प्रत्यक्ष उपभोग मे खर्च कर दी जाती हैं। इस स्थिति मे यह बड़ा आवश्यक हो जाता है कि राज्य उपयोगी निवेश की दिशा मे बचतो को तेजी से गतिशील करे। राज्य या तो वित्तीय

संस्थाओ की स्थापना करके ऐसा कर सकता है अथवा विकास को प्रोत्साहन देकर तथा बैंकिंग व्यवस्था का विस्तार करके ऐसा कर सकता है। परन्तु सबसे अधिक वह कराधान तथा ऋण-नीति का उपयोग करके ऐसा कर सकता है क्योकि ये नीतियाँ ही पूँजी के निर्माण तथा आर्थिक विकास के अस्त्र हैं। चूँकि निजी उद्यम सामाजिक तथा आर्थिक ऐसी उच्च सुविधाओ के विकास मे कोई रुचि नही लेते जो कि आर्थिक विकास के लिये अत्यावश्यक होती हैं, अतः राज्य को ही ऐसी अनेक सुविधाओ की व्यवस्था के लिए निवेश करना होता है—जैसे कि सडको, रेलो तथा सचार-सेवाओ की व्यवस्था, तकनीकी व सामान्य शिक्षा की व्यवस्था तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ, आदि। चूँकि आर्थिक साधन सीमित होते है और चूँकि आवश्यकता इस बात की होती है कि उनका उपयोग प्राथमिकताओ के क्रम के अनुसार सर्वाधिक आर्थिक रीति से किया जाये, अत आर्थिक आयोजन एक अल्पविकसित देश के लिए अनिवार्य बन जाता है।

इस प्रकार, राज्य द्वारा बडे पैमाने के आयोजन को अनिवार्य माना जाता है और यह समझा जाता है कि एक अल्पविकसित देश के तीव्र आर्थिक विकास का यह सबसे अधिक प्रभावशाली अस्त्र है। देश के साधनो का सर्वेक्षण करने के लिए, बचतो की वृद्धि तथा निवेश के लिए उनको गतिशील करने के लिए, सामाजिक एव आर्थिक उच्च सुविधाओ की व्यवस्था करने के लिए, उत्पादन की तकनीक मे सुधार करने के लिए, पर्याप्त निजी उद्यम के अभाव मे पहल तथा उद्यम की व्यवस्था करने के लिए और देश के साधनों का पूर्ण उपयोग करने के लिए आर्थिक नियोजन की आवश्यकता होती है। अल्पविकसित देश मे नियोजन के अलावा इन कार्यों की पूर्ति का अन्य कोई विकल्प नही होता। एक अल्पविकसित देश मे आर्थिक नियोजन की आवश्यकता इसलिये होती है जिससे कि राष्ट्रीय आय मे तेजी से वृद्धि हो सके और प्रतिव्यक्ति आय मे वृद्धि की दर जनसख्या वृद्धि की दर से अधिक आगे रह सके।

३ लोकतन्त्रीय आयोजन तथा समग्रवादी आयोजन
(Democratic Planning and Totalitarian Planning)

लोकतन्त्र तथा आयोजन प्रकट रूप मे एक दूसरे के विरुद्ध दिखाई देते हैं। लोकतन्त्र (democracy) अधिक से अधिक व्यक्तिगत स्वाधीनता का समर्थन करता है और प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की अधिकतम स्वतन्त्रता देता है कि वह अपने समय तथा साधना का उपयोग अपने सर्वोत्तम हितो के अनुसार उस समय तक कर सके जब तक कि किसी अन्य व्यक्ति के साथ उसका कोई हिंसात्मक टकराव न हो। यह कथन इस मान्यता पर आधारित है कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपने स्व-हित को पूरा करने के लिए पूर्ण परिश्रम एव चातुर्य से काम करता है तभी उससे समाज के कुल हित की भी सर्वोत्तम पूर्ति होती है। इसके विपरीत, आयोजना अथवा नियोजन (planning) का आधार यह होता है कि सरकार बडे पैमाने पर देश की अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण करे। सभी आर्थिक मामलो मे बडी मात्रा मे सरकारी नियन्त्रण लागू किये जाने के कारण आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्ति की स्वाधीनता पर बडे दूरगामी प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। इसी कारण यह कहा जाता है कि 'लोकतन्त्रीय नियोजन' परस्पर-विरोधी शब्द हैं।

तथापि, "लोकतन्त्रीय नियोजन" की विचारधारा का आमतौर पर उपयोग किया जाता है। योजना को बनाने तथा उसको लागू करने का कार्य या तो राज्य द्वारा शक्ति प्रयोग करके पूरा किया जा सकता है अथवा लोगो के ऐच्छिक सहयोग तथा सक्रिय सहायता द्वारा। लोकतन्त्रीय आयोजन एक ऐसी स्थिति का सूचक होता है जिसमे कि लोग योजना का निर्माण तथा उसके कार्यान्वयन (execution) से सम्बद्ध होते हैं। लोकतन्त्रीय आयोजन मे, योजना के उद्देश्य तथा लक्ष्य ऊपर से निर्धारित नही किये जाते अपितु इसके विपरीत ससद अथवा विधान मण्डलो मे बैठे हुये अपने प्रतिनिधियो द्वारा लोग स्वय नियोजन की आवश्यकता, नियोजन के लक्ष्य एव तकनीकों तथा उत्पादन के लक्ष्यो आदि का निर्धारण करते हैं। ससद को यह अधिकार होता है कि वह योजना के सम्बन्ध मे प्रशासन द्वारा बनाये गये किसी भी प्रस्ताव को स्वीकार अथवा रद्द कर सके। यहाँ तक कि यदि योजना के क्रियान्वयन के सम्बन्ध मे सरकार को अन्तिम रूप से अधिकृत करने के पश्चात् भी ससद यदि चाहे तो योजना के क्रियान्वयन को रद्द अथवा निलम्बित कर सकती है। ससद अर्थात् जनता को निर्माण तथा क्रियान्वयन के सम्बन्ध मे अन्तिम अधिकार प्राप्त होता है।

नियोजन के किसी भी चरण मे, राज्य द्वारा दबाव डालने या बल-प्रयोग करने की नौबत नही आती। इस प्रकार लोकतन्त्रीय नियोजन का अर्थ है जनता की सहमति द्वारा नियोजन, और लोकतन्त्र की लिन्कन की परिभाषा के अनुसार तो यह कहा जा सकता है कि लोकतन्त्रीय नियोजन का अर्थ है—जनता द्वारा नियोजन, जनता का नियोजन और जनता के लिए नियोजन।

लोकतन्त्रीय नियोजन की विधियाँ (Techniques of Democratic Planning) :

लोकतन्त्रीय नियोजन की विधियो का विकास अन्य लोकतन्त्रीय सस्थाओ के समान ही 'परीक्षण तथा भूल' के सिद्धान्त के आधार पर शनै -शनै. हुआ है। लोकतन्त्रीय नियोजन का एक सही रूप वह होता है जिसमें नियोजन की छोटी-छोटी इकाइयाँ एक बडी सख्या मे ग्राम्य-स्तर तक फैली रहती हैं। इस विधि के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव अपने लक्ष्य निर्धारित करता है, उसके लिए अपने साधनो की खोज करता है, अपनी निजी आवश्यकताओ के अनुसार प्राथमिकताओ का निर्धारण करता है और योजना को लागू करने वाले उसके अपने ही अधिकारी होते है। बाद मे गाँवो के एक समूह को मिला लिया जाता है और उनकी योजनाओ को ब्लाक-स्तर पर मिला लिया जाता है। विभिन्न ब्लाको की योजनाओ का जिला-स्तर पर और जिलो की योजनाओ को राज्य-स्तर पर सगठित कर लिया जाता है। अन्त मे, सभी राज्यो की योजनाओ को केन्द्र-स्तर पर एक कर लिया जाता है। योजना का यह रूप ऊपर से नही लादा जाता बल्कि नीचे से ऊपर की ओर चलता है; इसका उद्गम स्थान स्वय जनता ही होती है। जैसा कि हम पिछले गद्याश मे बता चुके है, योजना पर ससद मे जनता के प्रतिनिधियो द्वारा विचार किया जाता है और वही इसको अन्तिम रूप देते हैं।

प्रश्न यह है कि लोकतन्त्रीय नियोजन मे राज्य को क्या योग देना होता है? लोकतन्त्रीय नियोजन मे, जो कि सभी दृष्टियो से जनता का नियोजन होता है, राज्य अथवा उसकी एजेण्ट सरकार का कोई पृथक् अस्तित्व नही होता बल्कि वह जनता के प्रतिनिधि के रूप मे ही सामने आती है। सरकार विभिन्न स्तरो पर तैयार की गई योजनाओ का समन्वय करती है, उनमें काँट-छाँट करती है, उसके कम महत्त्वपूर्ण तथा असम्भव भागो को बाद के लिए छोडती है और इस प्रकार उसकी अन्तिम रूपरेखा तैयार करती है जिस पर ससद विचार करती है और तत्पश्चात् अपना अनुमोदन देती है। एक अन्य सम्भावना यह होती है कि राज्य योजना का एक ढाँचा तैयार करता है और उस पर लोगों की राय जानने के लिये उसका व्यापक प्रचार करता है। तत्पश्चात् राज्य उस पर लोगो का हार्दिक सहयोग एव सक्रिय समर्थन प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। लोकतन्त्रीय नियोजन मे मुख्य घटक जनता ही होती है, राज्य नही।

लोकतन्त्रीय नियोजन की कमजोरी (Weakness of Democratic Planning) .

एक प्रश्न यह है कि लोकतन्त्रीय नियोजन कहाँ तक प्रभावशाली रहा है? अनेक लोगो ने लोकतन्त्रीय नियोजन की सफलता मे सन्देह प्रकट किया है। यह कहा जाता है कि लोकतन्त्रीय नियोजन मे निहित लोकतन्त्र तथा नियन्त्रण कभी भी पहले एक साथ नही रहे। इसके अतिरिक्त, सम्पूर्णरूप मे लोग अज्ञानी तथा अनपढ होते हैं और उन्हे इस बात का ज्ञान नही होता कि वे अपने क्षेत्र अथवा सम्पूर्ण देश के नियोजन की समस्याओ एवं कठिनाइयो को समझें। या तो वे उत्साहातिरेक से भर जाते हैं अथवा उसके प्रति निराशावादी होते हैं और असहयोग करते है। इसके अतिरिक्त, लोकतन्त्रीय नियोजन मे, सत्यनिष्ठा (integrity), गम्भीरता तथा सामाजिक उत्तरदायित्वो के प्रति पूर्ण जागरूकता और शीघ्र नियान्वयन पर्याप्त मात्रा मे नही पाये जाते। यही नही, लोकतन्त्रीय नियोजन मे, तकनीको के चुनाव तथा प्राथमिकताओ के निर्धारण मे शीघ्र निर्णय का अभाव होता है, और योजना को दृढता से लागू नही किया जाता जबकि ऐसा करके योजना के लक्ष्यो की पूर्ति के सम्बन्ध मे आश्वस्त हुआ जा सकता है। इससे भी बढकर, इसमें लोग त्याग करने को तत्पर नही होते; और बचत तथा निवेश की दर मे वृद्धि करने के लिए त्याग अत्यावश्यक होता है। परिणामस्वरूप, लोकतन्त्रीय नियोजन मे प्रगति की रफ्तार धीमी रहती है और लोकतन्त्रीय नियोजन की तकनीको का निर्माण परीक्षण एव भूल की प्रक्रिया के द्वारा होता है।

सत्तावादी अयवा समग्रवादी नियोजन की प्रकृति (Nature of Authoritarian or Totalisation Planning) :

सत्तावादी अथवा समग्रवादी नियोजन (authoritarian or totalisation planning) की व्यवस्था के अन्तर्गत—जिसे की समाजवादी केन्द्रीय नियोजन भी कहा जाता है—सरकारी सत्ता उच्चस्तर के राजनैतिक हाकिमो (political bosses) की थोड़ी सख्या मे केन्द्रीकृत रहती है। इसका मार्ग-दर्शन एक पूर्णत सम्पन्न तथा पूर्ण-जानकर तानाशाह द्वारा होता है जो अपने मनुष्यो एव साधनो को उन लक्ष्यो की पूर्ति मे लगाता है जो नियोजन-सस्था द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। योजनाआयोग अथवा सर्वोच्च आर्थिक परिपद् एक शक्तिशाली सस्था होती है। योजना के लक्ष्य क्या रखे जाते हैं, उनकी पूर्ति के लिए क्या-क्या उपाय किये जाने हैं, किन-किन साधनो की बजत तथा निवेश किया जाना है, पूर्व निर्धारित प्राथमिकताओ के अनुसार साधनो का बँटवारा किस प्रकार होना है—ये तथा ऐसे ही अन्य अनेक आधारभूत निर्णय सर्वोच्च आर्थिक परिपद (supreme economic council) द्वारा किये जाते हैं और एक बार जब परिपद् द्वारा निर्णय कर लिया जाता है फिर जनता बिना किसी रुकावट के उन्हे स्वीकार करती है और लागू करती है। केन्द्रीय निर्देशो की अवहेलना पर कडे दण्ड दिये जाते हैं। समग्रवादी अथवा एक दलीय नियोजन मे, देश के प्राकृतिक साधन तथा समाज एक ही शरीर के रूप मे संगठित होते हैं, सर्वोच्च आर्थिक परिपद उसका मस्तिष्क होता है और शेप सामान्य जनता को उस शरीर के विभिन्न अंगो के रूप मे माना जाता है।

सत्तावादी नियोजन मे, जब तक कुछ लक्ष्यो की प्राप्ति सम्मुख रहती है तब तक प्रयोग की जाने वाली विधियो का विशेप महत्त्व नही होता। निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति के लिए जो उपाय बरते जाते हैं वे सदा ही ठीक माने जाते है, यदि सामाजिक महत्त्व की कोई विचारणीय बात हो तो दूसरी चीज है। समग्रवादी नियोजन की ये बातें विशेप उल्लेखनीय हैं समाज द्वारा प्राप्त किये जाने वाले सामाजिक एव आर्थिक लक्ष्यो से सम्बन्धित निर्णयो का केन्द्रीयकरण, प्राप्त किये जाने वाले लक्ष्यो का निर्धारण, प्राथमिकताओ का शीघ्र निर्धारण तथा साधनो का बँटवारा, योजना को दृढता से लागू करना और सर्वशक्ति सम्पन्न राज्य के मार्ग मे आने वाली प्रत्येक बाधा को कुचल देना। चूँकि उत्पादन के सभी साधनो पर राज्य का स्वामित्व होता है और चूँकि श्रमिक अपनी नौकरी के लिए प्रत्यक्ष रूप से राज्य पर निर्भर रहते है अत राज्य इस स्थिति मे होता है कि साधनो का बँटवारा अपनी इच्छानुसार कर सके। इस व्यवस्था को एक मशीन समझा जाता है। लोगो को किसी भी प्रकार की स्वाधीनता प्राप्त नही होती, न उपयोग की और न धन्धे के चुनाव की ही। सोवियत रूस तथा चीन मे प्राप्त व्यापक सफलता तथा उत्पादन की आश्चर्यजनक वृद्धि नियोजन की समग्रवादी विधियो की कट्टर निर्दयता के ही प्रमाण हैं।

एक प्रकार से, नियोजन का यदि कोई अर्थ है तो वह इसका सत्तावादी होना। सरकार का नियन्त्रण यदि पग-पग पर उन लोगों की इच्छाओ द्वारा किया जाता है जो कि अधिकाश मामलों में स्वार्थी राजनीतिज्ञो द्वारा दबाये एव सताये रहते हैं, तो साहसपूर्ण नियोजन करना बडा कठिन है। निर्धनता एव कष्टो के विरुद्ध युद्ध करने मे और उत्पादन एव उपभोग का स्तर ऊँचा करने के प्रयत्न मे कुछ मात्रा मे दृढ-निश्चितता और कठोरता की भी आवश्यकता हो सकती है किन्तु समाजवादी केन्द्रीय नियोजन इतना कठोर तथा निर्दयी हो सकता है कि यह उन माननीय मूल्यो को ही उखाड फेंके जिनके लिए कि समाज का अस्तित्व कायम है। समग्रवादी नियोजन की ऐसी व्यवस्था, जिसका लक्ष्य अधिकतम सामाजिक एव आर्थिक कल्याण करना हो, कुछ निश्चित दशाओं के बिना सफल नही हो सकती। सर्वप्रथम, नियोजन करने वाली सत्ता, जो कि देश मे साहसिक निर्णय लेने की एकमात्र अधिकारी होती है, इतनी मजबूत होनी चाहिए जो देश मे उत्पन्न होने वाली किसी भी प्रकार की आलोचना तथा विरोध को कुचल दे। दूसरे, केन्द्रीकृत नियोजन मे अर्थव्यवस्था का पूर्ण सैनिकीकरण करने की आवश्यकता होती है और यह व्यक्ति को एक मशीन के स्वय चलने वाले एक पुर्जे के रूप मे बदल देती है। तीसरे, इसमे लोगो मे कोई सहयोग का भाव अथवा उत्साह नही पाया जाता और इसमे जो भी सफलता प्राप्त होती है वह लोगो के मन मे उत्पन्न किये गये भय तथा उन पर डाले गये दबाव का ही परिणाम होती है। तथापि, सर्वोच्च आर्थिक परिपद यदि चाहे तो योजना के लक्ष्यो का व्यापक प्रचार कर सकती है और लोगो को यह

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर : तुलना[10]
(Direct and Indirect Taxes : Comparison)

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो की तुलना विभिन्न दृष्टिकोणो से की जा सकती है—(I) साधनों के बँटवारे (allocation of resources) के दृष्टिकोण से, (II) प्रशासनिक दृष्टिकोण से (Administrative point of view), और (III) वितरणात्मक प्रभावो (distributional effects) के दृष्टिकोण से।

(1) साधनो के आवंटन अथवा बँटवारे का दृष्टिकोण (Allocation of Resources Aspect) :

प्रारम्भ से ही अर्थशास्त्रियो का यह कहना है कि प्रत्यक्ष कर परोक्ष करो से अधिक अच्छे होते हैं, क्योंकि यदि किसी निश्चित राशि को परोक्ष करो की सहायता से सग्रह किया जाय तो उसका भार समाज पर अधिक पडेगा। इसके विपरीत यदि उक्त राशि को प्रत्यक्ष करो द्वारा सग्रह किया जायतो उसका प्रभाव समाजपर कमपडेगा। इसे बँटवारे सम्बन्धी प्रभाव (allocation effects) कहते है। निम्न रेखाचित्र मे इसी बात को समझने के लिए 'उदासीन वक्र तकनीक' (indifference curve technique) का उपयोग किया गया है।
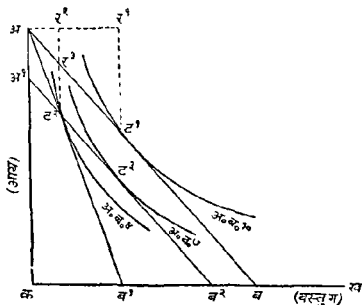
इस रेखाचित्र मे पडी रेखा कख वस्तु ग को प्रदर्शित करती है और खड़ी रेखा कअ व्यक्ति की आय की प्रतीक है। इसमे कअ उसकी आय है और अब उसकी मूल्य रेखा (price line) है। किसी भी कर के लगने से पूर्व, विन्दु ट¹ सन्तुलन की स्थिति (equilibrium position) का सूचक है जिस पर कि मूल्य रेखा अब उदासीन वक्र (indifference curve) अ० व० को स्पर्श करती है। मान लीजिए वस्तु पर उत्पादन-कर (excise duty) लगाया जाता है और इसमे कर की पूर्ण राशि के बराबर वस्तु महँगी हो जाती है, तो वस्तु की इस बढी हुई कीमत के परिणाम-स्वरूप, क अ आय अब केवल वस्तु की कब¹ मात्रा ही खरीद सकती है। फलत: उत्पादन कर लगने के बाद अब अब नई मूल्य रेखा हो जायगी। उपभोक्ता को अब सन्तुलन की निम्न स्थिति तक जाना होगा जो ट² द्वारा प्रदर्शित की गई है। इस स्थिति मे अब उपभोक्ता अर¹ की बजाय वस्तु की केवल अर² मात्रा ही खरीद सकता है और इसे खरीदने के लिए वह धन की र²ट² मात्रा

---

10. प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के गुण व दोषो का विवेचन, जो कि इन करो की तुलना का ही एक भाग है, एक अन्य स्थान पर पृथक रूप से किया गया है।

की यह रीति उन देशों द्वारा बहुत पसन्द की जाती है जो लोकतन्त्रीय मूल्यों को भारी महत्व देते हैं।

प्रेरणा द्वारा नियोजन के दोष (Defects of Planning by Inducement) :

परन्तु प्रेरणा द्वारा किया जाने वाला नियोजन उतना सफल नहीं हो सकता जितना कि निर्देशन द्वारा किया जाने वाला नियोजन होता है। एक तो इसलिए, क्योंकि इसमें सरकार समुचित प्रेरणाएं प्रदान करके परोक्ष रूप में लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयत्न करती है। इन स्थिति में यह सम्भव हो सकता है कि प्रेरणाएं पर्याप्त न हों और उपभोक्ता तथा उत्पादक सरकार द्वारा वाञ्छित मात्रा में तथा रीति से कार्य न करें। यदि एक क्षेत्र में सरकारी नियोजन असफल होता है तो अन्य क्षेत्रों पर भी उसका प्रभाव पड सकता है। दूसरे, विकास के लिए जो आर्थिक साधन उत्तरदायी होते हैं, सरकार वास्तव में उनको अपने अधिकार में नहीं लेती और न वाञ्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्नशील है। यह भी सम्भव है कि प्रेरणा द्वारा नियोजन से प्राप्त अन्तिम परिणाम निर्धारित लक्ष्यों से कम हो। चूंकि बाजार व्यवस्था में मांग और संभरण पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया जाता, अपितु उन्हें केवल सरकार की बजट तथा मुद्रा सम्बन्धी नीति से प्रभावित मात्र किया जाता है। अत यह कोई जरूरी नहीं है कि योजना के लक्ष्य पूरे हो ही जायें। वास्तव में नियोजन के समर्थक प्रेरणा द्वारा किये जाने वाले नियोजन को बिल्कुल नियोजन ही नहीं मानते। नियोजन के अन्तर्गत यह आवश्यक होता है कि निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से आवश्यक नियन्त्रण तथा नियमन लागू किया जाए और साधनों का प्रत्यक्ष बंटवारा किया जाए।

निर्देशन द्वारा नियोजन के गुण व दोष (Merits and Demerits of Planning by Direction) .

गुण (merits)—निर्देशन द्वारा किया जाने वाला नियोजन साधनों का प्रत्यक्ष रूप में बंटवारा करता है और सर्वाधिक कुशल रीति से वाञ्छित लक्ष्य प्राप्त करता है। अधिकारीगण उत्पन्न होने वाली समस्याओं तथा बाधाओं को तुरन्त हल कर लेते हैं। श्रमिक वर्ग की ओर से नियोजन का विरोध तथा सहयोग का अभाव सहन नहीं किया जाता, अतः चाहे कुछ भी हो, योजना के लक्ष्य पूरे कर लिये जाते हैं। एक बार जब प्राथमिकताओं का निर्धारण हो जाता है तथा लक्ष्यों पर सहमति हो जाती है फिर उसमें कोई काँट-छाँट या परिवर्तन की गुंजाइश नहीं रहती। इसके अन्तर्गत, कठिनाइयों का पता लगाना, कमियों को ढूंढना तथा गलतियों को निश्चित व्यक्तियों पर केन्द्रित करना सरल होता है। यदि पिछले अनुभव से मार्ग-दर्शन प्राप्त करना है तो कहा जा सकता है कि नियोजन की दोनों ही रीतियों में निर्देशन द्वारा नियोजन की रीति निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

दोष (demerits)—परन्तु प्रेरणा द्वारा नियोजन के समर्थक निर्देशित नियोजन के कुछ दोषों का उल्लेख करते हैं। सर्वप्रथम आदेश तथा निर्देश द्वारा प्रत्यक्ष नियोजन केवल एक सत्तावादी अथवा समग्रवादी ढांचे में ही सम्भव हो सकता है क्योंकि ऐसे नियोजन में सरकार को उपभोक्ताओं की प्रभुता पर नियन्त्रण करना होता है अतः उत्पादन को भी प्रतिबन्धित करना होता है।[7] इसके अतिरिक्त इसमें श्रमिकों को धन्धों का चुनाव करने की कोई स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती। प्रत्यक्ष नियोजन व्यक्ति की मूलभूत स्वतन्त्रता को सीमित करता है अत. यह लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अनुरूप नहीं है।

दूसरे, आधुनिक आर्थिक व्यवस्था इतनी जटिल होती है कि सभी क्षेत्रों का प्रत्यक्ष रूप से नियोजन करना लगभग कठिन होता है। प्रत्येक वस्तु का नियोजन करना, चाहे वह कितनी ही बडी या छोटी क्यों न हो, एक बडा ही कठिन कार्य है। अत यह कहा जाता है कि लाखों वस्तुओं और उनके लाखों विकल्पों को प्रभावित करने वाले निर्णय करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हैं। यह भी दावा किया जाता है कि सही तथा शीघ्र निर्णय लेना समस्याओं को सर्वाधिक कुशल रीति से समझाना भी लगभग असम्भव होता है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता

---

7. सत्तावादी नियोजन के दोष इसी अध्याय में पीछे दिये गये है।

समझा सकती है कि इन लक्ष्यो की पूर्ति किस प्रकार जनता के ही अधिकाधिक हित में होगी तथा इस प्रकार उनमे आवश्यक उत्साह पैदा कर सकती है। इसके अतिरिक्त, लोगो मे रुचि जगाने के लिए अनेक प्रेरणाएं दी जा सकती है। यही नहीं, सोवियत रूस का अनुभव तो यह बताता है कि सत्तावादी नियोजन को लोकतन्त्रीय रग भी दिया जा सकता है और वह इस प्रकार की सर्वोच्च विधायी सस्था तथा राज्यों के विधानमण्डलो मे जनता के प्रतिनिधियो द्वारा योजना पर विचार-विमर्श किया जा सकता है।

४. प्रेरणा द्वारा नियोजन तथा निर्देशन द्वारा नियोजन
(Planning By Inducement And Planning By Direction)

प्रो० आर्थर ल्यूईस ने "Principles of Economic Planning" नामक अपनी पुस्तक मे आर्थिक साधनो को उत्पादन की वाञ्छित दिशाओ मे गतिशील करने की दो रीतियो के बीच भेद किया है। यदि नियोजन करने वाली सत्ता व्यक्तिगत उत्पादको एव उपभोक्ताओ को प्रेरणाएं एव प्रोत्साहन देकर परोक्षरूप से योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है तो उसे प्रेरणा द्वारा नियोजन कहा जाता है। प्रेरणा द्वारा किये जाने वाले नियोजन के अन्तर्गत बाजार-व्यवस्था (market mechanism) का अस्तित्व होता है किन्तु वह स्वतन्त्र नही होती अपितु वह नियोजन करने वाली सत्ता के नियन्त्रण एव नियमन के अधीन कार्य करती है। दूसरी ओर, यदि नियोजन करने वाली सत्ता (planning authority) अर्थव्यवस्था को पूर्णतया अपने अधिकार मे लेती है और वाञ्छित लक्ष्यो की पूर्ति के लिए उसका नियन्त्रण तथा नियमन करती है तो उसे निर्देशन द्वारा नियोजन कहा जाता है। प्रेरणा द्वारा नियोजन को प्रोत्साहन द्वारा नियोजन भी कहा जा सकता है और यह सिद्धान्त तथा व्यवहार रूप मे लोकतन्त्रीय होता है किन्तु निर्देशन द्वारा किये जाने वाले नियोजन को आदेश द्वारा नियोजन कहा जा सकता है और इसका व्यावहारिक रूप समग्रवादी अथवा सत्तावादी होता है।

उदाहरण (Illustration) द्वारा स्पष्टीकरण

नियोजन के इन दोनो रूपों को स्पष्ट करने के लिए हम काल्पनिक उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए, योजना आयोग यह अनुभव करता है कि लोगों को अधिक मछलियां खानी चाहिए जिससे कि उनके स्वास्थ्य मे सुधार हो, तो यह उत्पादकों को आर्थिक सहायता देकर मछली की कीमतें कम करा सकता है और इस कार्य को अधिक मछलियो के उत्पादन तथा उपभोग के लिए प्रदान की जाने वाली अतिरिक्त प्रेरणा कहा जा सकता है। अथवा सरकार कानून बनाकर प्रत्येक परिवार के लिए यह अनिवार्य कर सकती है कि वह प्रतिदिन या प्रति सप्ताह निर्धारित मात्रा मे मछलियां अवश्य खाये, अथवा सरकार प्रत्येक उत्पादक के लिए अनिवार्य कर सकता है कि वह निर्धारित मात्रा मे मछलियाँ अवश्य पकड़े और बाजार मे लाये। प्रथम स्थिति मे, सरकार ने मछलियां सस्ती कर दी हैं और वह लोगो को अधिक मछलियां खाने को प्रेरित करती है। मछलियाँ सस्ती करना अतिरिक्त उपभोग के लिए एक प्रेरणा है और मछली पकड़ने के लिए आर्थिक सहायता अथवा उपादान (subsidies) देना अतिरिक्त उत्पादन के लिए एक प्रेरणा है। ये दोनों ही, मूल्य-व्यवस्था या बाजारव्यवस्था या प्रोत्साहन एव प्रेरणा द्वारा किये जाने वाले नियोजन हैं। इसके विपरीत, दूसरी विधि आदेश अथवा निर्देशन द्वारा किये जाने वाले नियोजन का उदाहरण है जिसमे उपभोक्ताओ को अधिक उपभोग करने का और उत्पादकों को अधिक उत्पादन करने का आदेश दिया जाता है अथवा सरकार स्वय अधिक उत्पादन तथा बिक्री करने की व्यवस्था करती है।

लोकतन्त्रीय देशों मे, प्रेरणा द्वारा नियोजन अधिक प्रचलित है और यह उनके लिए उपयुक्त भी रहता है। इसमे सरकार की ओर से कोई बल प्रयोग नहो किया जाता किन्तु बाजार व्यवस्था द्वारा ही लक्ष्यो की पूर्ति का प्रयास किया जाता है। यदि आर्थिक तथा अनार्थिक प्रेरणा काफी अधिक होती है तभी यह सम्भव होता है कि प्रेरणा द्वारा किया जाने वाले नियोजन प्रत्याशित परिवर्तन ला सके। इसके अतिरिक्त, इसमे उपभोक्ताओ तथा साथ ही साथ उत्पादकों की स्वाधीनता का सम्मान किया जाता है। श्रमिको को धन्धों के चुनाव की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। प्रेरणाओ द्वारा किये जाने वाला नियोजन सामाजिक एव आर्थिक मूल्यों की न्यूनतम मात्रा से वह सब प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जो कि सरकार प्राप्त करना चाहती है। इन्हीं कारणो से नियोजन

के अनुसार, भौतिक नियोजन से आशय है—वास्तविक साधनो, जैसे श्रम, मशीनरी व कच्चे माल आदि का बँटवारा और इस वितरण मे किस प्रकार परिवर्तन किया जाये जिससे कि निर्धारित लक्ष्य पूरे हो सकें। "यह उपादानो के बँटवारे तथा उत्पादित उपज के रूप मे विकास के परिणामो का हिसाब लगाने का एक प्रयत्न है जिससे आय तथा रोजगार अधिकतम किये जा सकें।[8] दूसरी ओर, वित्तीय नियोजन कुछ ऐसी समस्याओ का प्रतीक होता है जैसे कि उत्पादन के उपादानो को देने के लिये आवश्यक वित्त प्राप्त करना, प्रयोजनाओ तथा योजनाओ के लाभो तथा लागतो की द्रव्य के रूप मे गणना, और द्रव्य की माँग तथा द्रव्य के सभरण मे ताल-मेल बैठाना ताकि वित्तीय अस्त-व्यस्तता उत्पन्न न हो। योजना आयोग ने लिखा है कि "वित्तीय योजना का सार यह है कि माँग और सभरण मे इस प्रकार से ताल-मेल बैठाया जाए जिससे कि मूल्यो के ढांचे मे बिना कोई बड़े तथा आयोजना रहित परिवर्तन किये ही भौतिक शक्तियो का अधिकतम सभव शोषण किया जा सके।[9]

भौतिक नियोजन (Physical Planning)

वास्तविक बात यह है कि नियोजन का अर्थ केवल भौतिक नियोजन से ही हो सकता है। जहाँ तक वित्त का प्रश्न है, वह और, कम से कम, देशी वित्त नियोजन के मार्ग मे बाधा नही बन सकता क्योकि सरकार को खुली छूट होती है कि वह इसमे चाहे जितनी वृद्धि कर ले और यदि आवश्यक समझे तो नोट जारी करके ऐसा करे। परन्तु केवल धन की बहुतायत से ही इस बात का आश्वासन नही मिल सकता कि आवश्यक वास्तविक साधन प्राप्त हो जायेंगे। आर्थिक विकास के नियोजन मे वास्तविक प्रश्न यह होता है कि देश के उपलब्ध वास्तविक साधनो को किस प्रकार प्राप्त किया जाये और किस प्रकार उनका बँटवारा किया जाये। अर्थव्यस्था के विभिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न प्रयोजनाओ की योजना बनाते समय, योजनानिर्माताओ को इस विषय मे आश्वस्त होना होगा कि क्या आवश्यक मशीनरी उपलब्ध हो सकेगी, क्या आवश्यक श्रमिक, कुशल तथा प्रबन्धकीय दोनो प्रकार के श्रमिक प्राप्त हो सकेंगे, क्या यह आवश्यक होगा कि विदेशो से कुछ सामग्री और तकनीकी ज्ञान का आयात किया जाये?—और यदि ऐसा है तो क्या समाज इतना निर्यात कर सकेगा कि उन आयातो का भुगतान किया जा सके, और क्या इन सब भौतिक प्रयत्नो से राष्ट्रीय आय के रूप मे प्रत्याशित प्रतिफल प्राप्त हो सकेगा, आदि आदि। भौतिक नियोजन का अर्थ है कि उन सब वस्तुओ का हिसाब लगाया जाए तथा नियोजन किया जाये जिन पर कि आर्थिक विकास निर्भर होता है। यहाँ तक कि जब द्रव्य के रूप मे अनुमान तथा गणनाएँ कर ली जाती हैं तब भी माँग यह होती है कि इतनी मशीनरी चाहिए, इतने श्रमिक, इतनी भवन सामग्री तथा इतना कच्चा माल आदि चाहिए। इसके अतिरिक्त जब लक्ष्य प्राप्त कर लिये जाते हैं और प्रयोजनायें पूरी हो जाती हैं तब भी भौतिक नियोजन का सम्बन्ध केवल मौद्रिक लाभो से ही नही होता बल्कि यह देखना होता है कि अर्थव्यवस्था पर सम्पूर्ण रूप मे, वास्तविक प्रभाव क्या पड़े। उदाहरण के लिए, जब कोई सिचाई प्रयोजना पूर्ण हो जाती है, तब यह देखा जाता है कि इससे कृषि उत्पादन मे अनुमानत कितने अनाज की वृद्धि होगी, रोजगार के अवसरो मे कितनी वृद्धि होगी और उससे प्राप्त नये लाभो का किस प्रकार उपयोग किया जायेगा, आदि। इस प्रकार, भौतिक नियोजन के अन्तर्गत केवल किसी क्षेत्रविशेष के ही नही अपितु सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास के लिए ही वास्तविक साधनों को गतिशील किया जाता हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि योजना के प्रयत्नो को ठोस रूप देने के लिए भौतिक नियोजन पूर्णतया आवश्यक है।

---

8. *Second Five Year Plan*, p 15, Physical planning "Is an attemt to work out the implication of the development effect in terms of factors allocations and product yields, so as to maximise income and unemployment"

9. *Ibid*, p. 16. "The essence of financial planning is to ensure that demands and supplies are matched in a manner which exploits physical potentialities as fully as possible without major and unplanned in the price structure."

कि इस आलोचना मे जान है परन्तु रूस जैसे देशो मे योजनाआयोगो ने यह सिद्ध कर दिया है कि नियोजन की समस्याओ की चुनौती का सफलतापूर्वक सामना किया जा सकता है।

तीसरे, एक शिकायत यह की जाती है कि निर्देशन द्वारा नियोजन का एक बडा दोष इसमे लचक का अभाव है। नियोजन करने वाली सत्ता योजना के कार्यक्रम को जब एक बार अन्तिम रूप दे देती है फिर उसमे सशोधन के लिए दिया जाने वाला कोई भी सुझाव इसलिये रद्द कर दिया जाता है क्योकि योजना के किसी एक भाग मे तब तक परिवर्तन नही किया जा सकता जब तक कि सम्पूर्ण योजना मे ही परिवर्तन न किया जाये और सम्पूर्ण योजना मे परिवर्तन करना एक बडा टेढा काम होता है। अत नियोजन अधिकारियो का रुख यह रहता है कि योजना का क्रियान्वयन जारी रखा जाए, चाहे उसके मार्ग मे जितनी ही कठिनाइयाँ क्यो न आयें। परन्तु फिर तो इसे दोष क्यो गुण कहना चाहिए। वह नियोजन ही क्या है जिसको लागू करने के सम्बन्ध मे दृढता न पाई जाए।

चौथे, यह कहा जाता है कि निर्देशन द्वारा नियोजन का कार्य बहुत कम मामलो मे पूरा हो पाता है और इसके साथ ही इसे अत्यधिक मँहगा भी बताया जाता है। आलोचको का कहना है कि जैसे-जैसे योजना का कार्य आगे बढता है, परिस्थितियो मे परिवर्तन होने के कारण इसकी पूर्ति का कार्य अत्यधिक कठिन होता जाता है (क्योकि अब जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उनको योजना को तैयार करते समय दृष्टिगत नही रखा गया था)। फिर, निर्देशन द्वारा नियोजन की कठिनाइयो को जितना दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, साधनो की दृष्टि से योजना के लक्ष्यो की पूर्ति उतनी ही अधिक मँहगी हो जाती है। इस आलोचना मे सार तो है, परन्तु सोवियत रूस का अनुभव पुन. इस तथ्य की पुष्टि नही करता कि योजना के लक्ष्य बहुत कम स्थितियों मे पूरे होते हैं। जहाँ तक मँहगेपन की बात है, नियोजन मँहगा इसलिये होता है क्योकि यह एक बड़ी सख्या मे अर्थशास्त्रियो, सख्याविदो, वैज्ञानिको तथा अन्य विशेषज्ञो को रोजगार देता है। परन्तु योजनाआयोग जब एक बार अपने कार्य का निर्धारण कर लेता है, फिर उसका सर्वेक्षण नियोजन तथा क्रियान्वन करने की लागत अधिक नही होती। और इस प्रकार यह अच्छा ही है कि पूर्ण जानकारी के पश्चात् योजना बनाई जाये और फिर विभिन्न उद्योगो तथा धन्धो के बीच साधनो का बँटवारा किया जाये, बजाय इसके कि अधाधुन्ध तरीके से सब काम किया जाये, वैसे ही जैसे कि योजनाविहीन अर्थव्यवस्था मे अथवा प्रेरणा द्वारा नियोजन के अन्तर्गत होता है। निर्देशन द्वारा नियोजन के मार्ग मे आने वाली प्रारम्भिक असफलताओ पर समय बीतने और अनुभव प्राप्ति के साथ साथ काबू पाया जा सकता है। मौरिस डौब (Maurice Dobb) जैसे निर्देशित नियोजन के समर्थक इस बात को स्वीकार करने को तैयार थे कि सोवियत रूस मे प्रथम पचवर्षीय योजना असफल हुई थी। कृषि लक्ष्यो की असफलता के बारे मे डौब ने लिखा है कि "असफलता का कारण यह था कि सभावनाओं के प्रारम्भिक अनुमान अत्यधिक ऊँचे लगा लिये गये थे।" इस प्रकार, निर्देशित योजना के बारे मे सम्भावना यह हो सकती है कि यह अत्यधिक उच्च महत्त्वाकांक्षा से ग्रसित हो सकती है। इससे निर्देशन द्वारा नियोजन की निरर्थकता सिद्ध होती है जिसमे कि कुछ क्षेत्रों मे अत्युत्पादन और न्यून-उत्पादन अनिवार्यत होता है। इसका कारण यह होता है कि योजना-निर्माता एक बडी सख्या मे विद्यमान आर्थिक शक्तियो के परिणामो का अग्रिम रूप मे प्रारम्भिक अनुमान नही लगा सकते।

चूँकि दोनो ही रीतियो द्वारा किये जाने वाले नियोजन मे लाभ भी है और हानियाँ भी, अतः सर्वोत्तम मार्ग यह है कि दोनो ही की अच्छाइयाँ और सारसार ले लिया जाये। भारत मे, योजनाआयोग ने यही मार्ग अपनाया है—अर्थात् सरकारी क्षेत्र के उद्योगो मे निर्देशन द्वारा नियोजन और गैर-सरकारी क्षेत्र के उद्योगो मे प्रेरणा द्वारा नियोजन।

५. भौतिक तथा वित्तीय नियोजन
(Physical and Financial Planning)

आयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था मे, नियोजन के लिए भौतिक तथा वित्तीय, दोनो ही प्रकार के उपाय काम मे लाये जाते है। सक्षेप मे, भौतिक नियोजन का अर्थ है, भौतिक साधनों का बँटवारा, और वित्तीय नियोजन से आशय है, द्रव्य (money) के रूप मे नियोजन। भारतीय योजनाआयोग

लक्ष्य निश्चित किये जायें और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए नियन्त्रण तथा नियमन की एक व्यापक व्यवस्था लागू की जाये। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार, योजनाआयोग को उपलब्ध वित्तीय साधनों की बजाय उपलब्ध भौतिक साधनों से अपना कार्य आरम्भ करना चाहिए। परन्तु यदि द्रव्य को गौण समझा जाये और भौतिक नियोजन को नियोजन का वास्तविक सार समझा जाये, तो भी वित्तीय नियोजन अनिवार्य तथा आवश्यक है। वित्तीय नियोजन की असफलता से भौतिक नियोजन भी निश्चित रूप से सफल नही होगा—चाहे वह असफलता आवश्यक वित्त प्राप्त करने के सम्बन्ध मे ही अथवा माँग तथा समरण का तुलनात्मक अनुमान लगाने मे हो। योजना मण्डल द्वारा निर्धारित भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करना उस समय तक असम्भव है जब तक कि विचारपूर्ण वित्तीय नियोजन के द्वारा मूल्य के ढाँचे मे होने वाले बड़े एव अनियोजित परिवर्तनों को न रोका जा सके।

अत अत्यन्त आवश्यक है कि योजनाअधिकारी भौतिक तथा वित्तीय साधनों का एकीकरण करें। उदाहरण के लिए, यदि वे निश्चय करते हैं कि इतना निवेश किया जाये कि जिससे एक निश्चित अवधि मे राष्ट्रीय आय दुगुनी हो जाये, तो उन्हें यह भी देखना होगा कि उक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु भौतिक साधन भी वर्तमान हैं और क्या वे प्राप्त भी हो जायेंगे ? यदि भौतिक साधनों की प्राप्ति मे कुछ कमी दिखाई दे तो वित्तीय योजना मे कटौती कर देनी चाहिये। इसके साथ ही, पृथक्-पृथक् क्षेत्रों के लिए वित्तीय साधनों का बँटवारा इस बात पर निर्भर होगा कि प्रत्येक क्षेत्र को कौन-कौन से विशिष्ट साधनों की आवश्यकता है और नियोजित क्षेत्रों मे सामान्य साधनों का स्थानान्तरण करने की सम्भावना कहाँ तक है ?

इस प्रकार, नियोजन के भौतिक तथा वित्तीय पहलू परस्पर विरोधी नही हैं। जैसा कि योजनाआयोग ने कहा है . "कोई भी व्यक्ति चाहे भौतिक नियोजन की बात सोचे अथवा वित्तीय नियोजन की, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों का ही उद्देश्य है कि अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निरन्तर उच्च स्तरों को कायम रखते हुए विभिन्न सन्तुलन बनाये रखे जा स ॅ।"[11]

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. W A Lewis — *The Principles of Economic Planning.*
2. E F M Durbin — *Problems of Economic Planning.*
3. Five Year Plans — *Reports.*
4. A C. Pigou — *Capitalism Versus Socialism.*

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. आर्थिक नियोजन किसे कहते हैं ? आर्थिक नियोजन के पक्ष तथा विपक्ष मे अपने तर्क दीजिए।

What is meant by economic planning ? Give your arguments in favour and against economic planning.

२ "एक विकसित अर्थव्यवस्था मे आर्थिक नियोजन आवश्यक हो अथवा नही भी हो, किन्तु एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे द्रुतगति से आर्थिक विकास हेतु आर्थिक नियोजन एक आवश्यक शर्त हो गया है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

---

11. *Ibid*: p 17, "Whether one thinks in terms of physical planning or of financial planning—the two are complementary the object is to secure the various balances in the economy of continually higher levels."

वित्तीय नियोजन की आवश्यकता (Necessity of Financial Planning) :

किन्तु इन सबके बावजूद, वित्त ही भौतिक साधनों को गतिशील करता है अत: यह आवश्यक होता है कि वित्त का भी नियोजन किया जाये। सर्वप्रथम तो योजना अधिकारियों को उन वित्तीय साधनो की कुल मात्रा का पता लगाना होता है जिन्हे कि वे प्राप्त कर सकते है और उसके बाद उन स्रोतो का निर्धारण करना होता है जहाँ से कि वे वित्तीय साधन प्राप्त किये जाते हैं। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है क्योकि वित्तीय साधनो के आकार पर ही वास्तविक साधनों का गतिशील होना निर्भर होता है। उदाहरण के लिए, कौन-कौन सी प्रयोजनाएं हाथ मे ली जाएं, कितने श्रमिक, कितनी मशीनरी, कितनी भवन-सामग्री आदि आवश्यक होगी—ये सब बातें द्रव्य की उस मात्रा पर ही निर्भर होती है जिसे कि योजना अधिकारी प्राप्त कर सकते है। दूसरे, योजना अधिकारियों को यह भी देखना होता है कि कही वित्तीय साधनों मे असन्तुलन न हो जाये क्योंकि ऐसा होने से भौतिक नियोजन ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि योजनाबद्ध निवेश तथा आर्थिक विकास के कारण समाज की द्रव्य आय मे प्रत्यक्ष वृद्धि होती है। द्रव्य आय मे वृद्धि होने से वस्तुओ तथा सेवाओ की द्रव्य-माँग मे और उसके साथ ही सभरण मे भी समवर्ती वृद्धि होती है। वित्तीय नियोजन मे यह भी आवश्यक होता है कि द्रव्य-आय के प्रवाह मे ऐसा सशोधन तथा हेरफेर किया जाए जिससे कि उपभोक्ता वस्तुओं के सभरण तथा खर्च की जा सकने योग्य क्रयशक्ति की मात्रा के बीच, द्रव्य-बचतो तथा निवेशो के बीच, प्राप्तियो और अदायगियों के बीच सन्तुलत रखा जा सके। ये सन्तुलन कीमतो तथा उपादानो की लागतो मे हेर-फेर करके, मुद्रा तथा बजट सम्बन्धी नीतियो का उपभोग करके, कीमतो पर भौतिक नियन्त्रण लगाकर तथा राशनिंग का उपयोग करके भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

भौतिक तथा वित्तीय नियोजन की पूरकता (Complementarity of Physical and Financial Planning) .

परन्तु केवल अकेले वित्त से कुछ प्राप्त नही हो सकता। आर्थिक विकास का सम्बन्ध वास्तविक वस्तुओं की वृद्धि से होता है, द्रव्य की वृद्धि से नही। आर्थिक विकास श्रम, पूँजी तथा प्राकृतिक साधनों के सयुक्त प्रयास से किया जाता है। द्रव्य तो केवल एक बीच का एजेन्ट मात्र होता है जो उत्पादन के विभिन्न उपादानो को एक साथ लाने मे सहायता करता है। भारतीय योजनाआयोग ने ठीक ही कहा है : "वित्त—देशी वित्त किसी भी रूप मे विकास के मार्ग मे बाधा नही बन सकता क्योकि इसमे कभी-कभी वृद्धि की जा सकती है, परन्तु अदायगियो के साधनों की बहुलता से इस बात का कोई आश्वासन नही मिलता कि आवश्यक भौतिक साधन उपलब्ध हो जायेंगे, यदि वास्तविक भौतिक साधन नही प्राप्त होते है तो अदायगियो के साधनो की वृद्धि से अर्थव्यवस्था में केवल अस्त-व्यस्तता ही उत्पन्न होगी।'[10] अतः यह स्पष्ट है कि भौतिक साधनो के अनुपात से यदि अधिक वित्त उपलब्ध है तो या तो उसका उपयोग नही हो सकेगा अथवा उससे स्फीति (inflation) उत्पन्न हो जायेगी।

जो लोग भौतिक साधनो को ही अधिक महत्त्व देते है और वित्तीय पहलू की उपेक्षा करते है, वे इस बात पर जोर देते है कि अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उत्पादन के स्थायी

---

10. *Second Five Year Plan*, p 16, "Finance—domestic finance—can not, in any literal seuge. be a bottleneck in development, since it can always be increased but plentitude of means of payment is no assurance of the necessary rosources forth coming ; if real resources are not forth comming an increase in the means of payments can only cause *farther upsets in the system*."

६

कल्याणकारी राज्य
(The Welfare State)

प्रारम्भिक (Introduction)

कल्याणकारी राज्य की चर्चा आज सर्वत्र सुनी जाती है। यही नही, लोग इसके विषय मे कुछ अधिक जानने को भी उत्सुक हैं।। भारत सहित अनेक देशों ने यह घोषणा की है कि उनकी राजनैतिक नीति का लक्ष्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। किन्तु अभी तक भी, यह स्पष्ट नही है कि कल्याणकारी राज्य का वास्तविक रूप क्या है और उसे प्राप्त करने के उपाय क्या-क्या है? इस अध्याय मे हम इस बात पर विचार करेंगे कि कल्याणकारी राज्य का अर्थ तथा क्षेत्र क्या है, इसके उद्देश्य क्या-क्या हैं? सामान्य नागरिक के लिए इसका क्या महत्त्व है और ऐसे राज्य की स्थापना करने मे किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पडता है?

कल्याणकारी राज्य की परिभाषा (Definition of a Welfare State)

कल्याणकारी राज्य के सम्बन्ध मे आज दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। पश्चिमी देशो मे कल्याणकारी राज्य उसे कहा जाता है जो बडी मात्रा मे कुछ ऐसी सामाजिक सेवाओ की व्यवस्था करता है जैसे कि—शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोजगारी भत्ता तथा वृद्धावस्था पेंशन आदि। अन्य शब्दो मे, कल्याणकारी राज्य अपने नागरिको को विशेषरूप से श्रमिक वर्ग तथा निम्न-स्तर आय वाले वर्गों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करता है। इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक श्रमिक के जीवन मे तीन प्रकार की अनिश्चितताएँ पाई जाती हैं—अर्थात् बीमारी बेरोजगारी तथा वृद्धावस्था के कारण उसकी आय का स्रोत अवरुद्ध हो जाता है। कल्याणकारी राज्य, साप्ताहिक अथवा मासिक रूप से, ऐसे सभी नागरिको को एक निश्चित आय प्रदान करने की गारण्टी देता है जो अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये उपर्युक्त किसी भी कारण से आय कमाने मे असमर्थ रहते हैं। ये अदायगियाँ सामाजिक बीमे के नाम से की जाती हैं—अर्थात् दुर्घटना तथा बीमारी का बीमा, बेरोजगारी का बीमा तथा वृद्धावस्था पेंशन।

इस सामान्य सामाजिक सेवाओ के अतिरिक्त, कल्याणकारी राज्य कुछ और सेवाओ की भी व्यवस्था करता है जिन्हे 'राष्ट्रीय सहायता' कहा जाता है। ये लाभ ऐसे सभी व्यक्तियों को प्रदान किये जाते हैं जो कि निर्धनता से अत्यधिक पीड़ित होते हैं और जिन्हे ऊपर उल्लेख की

"In a developed economy planning may or may not be necessary but in an *under-developed economy* planning has *become a necessary* condition for rapid economic development." Discuss this statement.

३. नियोजित तथा अनियोजित अर्थव्यवस्था मे अन्तर कीजिए।
Distinguish between planned and unplanned economy.

४. निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :

(i) लोकतन्त्रीय नियोजन (Democratic Planning)
(ii) समग्रवादी नियोजन (Totalitarian Planning)
(iii) प्रेरणा द्वारा नियोजन (Planning by Inducement)
(iv) निर्देशन द्वारा नियोजन (Planning by Direction)
(v) वित्तीय नियोजन (Financial Planning)
(vi) भौतिक नियोजन (Physical Planning)

---

(६) बीमारी, दुर्घटना एवं बेरोजगारी आदि के समय नागरिकों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है।

(७) देश के नागरिकों के लिए चिकित्सा की निःशुल्क व्यवस्था की जाती है तथा देश के सभी बच्चों को एक न्यूनतम स्तर तक निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती है।

(८) उद्योगों की स्वतन्त्रता बनाये रखते हुए नागरिकों को न्यूनतम जीवनस्तर प्रदान करने की व्यवस्था की जाती है।

कल्याणकारी राज्य की विचारधारा का विकास-क्रम (Evolution of the Concept) :

यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य उन विचित्र परिस्थितियों की उपज है जो कि १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों के औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न हुई थीं। कुछ अंशों में यह सत्य भी है। परन्तु राज्य ने तो सदा ही लोगों के कल्याण में कुछ न कुछ रुचि ली है। मध्य काल में, योरोप में, ईसाई चर्च द्वारा गरीबों की देखभाल की जाती थी परन्तु ऐसा इसलिये होता था क्योंकि उन दिनों में राज्य का वह रूप नहीं था जैसा कि सामान्यतः आजकल समझा जाता है। जैसे ही पुरानी सामन्त प्रथा में से आधुनिक राज्य का उदय हुआ, वैसे ही गरीबों की देखभाल का उत्तरदायित्व चर्च से राज्य पर आ गया। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड में लगभग ४०० वर्ष पूर्व एलिजाबेथ प्रथम के समय में देश के निर्धनों की देखभाल करने के लिए सबसे पहले निर्धन कानून (poor laws) बनाये गये थे।

१८वीं शताब्दी के अन्त तक, योरोप के देशों में निरंकुश सरकारें थीं परन्तु वे सदा यह अनुभव अवश्य करती थीं कि लोगों, विशेष रूप से निर्धन लोगों के हितों की देखभाल करने का उनका कुछ न कुछ उत्तरदायित्व अवश्य है। केवल १९वीं शताब्दी में, अहस्तक्षेपनीति (laissez fair) के सिद्धान्त के प्रभाव के अन्तर्गत, राज्य ने लोगों की देखभाल का काम स्वयं उनके ऊपर ही छोड़ दिया था। जोर इस बात पर दिया जाता था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को यदि पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान की जाए, तो उससे उत्पादन और उसके परिणामस्वरूप समाज का आर्थिक कल्याण अधिकतम हो जाता है। यह तो सत्य था कि १९वीं शताब्दी में इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में पूँजीवाद की स्थापना के पश्चात् उत्पादन में व्यापक वृद्धि हुई थी। अशान्ति उत्पन्न करने वाले एकमात्र तत्व थे समय-समय पर व्यवसाय में होने वाले उतार चढ़ाव और लोगों के विभिन्न वर्गों के बीच आय की असमानताएं। इस व्यवस्था के द्वारा जहाँ पश्चिम में तकनीकी दृष्टि से उन्नत देशों में तीव्र औद्योगिक विकास हुआ, वहाँ अधिक सामाजिक न्याय प्राप्ति के लिये एक समानान्तर आन्दोलन भी चालू हुआ। परन्तु इस आन्दोलन को अधिक बल न मिल सका, अंशतः तो इस कारण कि समाज के प्रत्येक वर्ग के वास्तविक कल्याण में भारी वृद्धि हुई थी और अंशतः निहित स्वार्थों के प्रतिरोध के कारण।

१९वीं शताब्दी में तथा २०वीं शताब्दी के प्रथम २० या ३० वर्षों में यद्यपि सामाजिक न्याय-प्राप्ति के लिये किया जाने वाले आन्दोलन काफी धीमा रहा परन्तु इससे यह समझ लेना चाहिये कि गरीबों की दशा सुधारने की दिशा में कोई महत्वपूर्ण काम नहीं किया गया। १९वीं शताब्दी के अन्त में, जर्मनी के लोहशासक, बिस्मार्क के नेतृत्व में सामाजिक सुरक्षा की एक योजना लागू की गई। यही योजना आगे चलकर विश्व भर में सामाजिक अथवा धार्मिक सुरक्षा योजनाओं का आधार बनी। एक-एक करके पश्चिमी देशों ने अनेक ऐसी योजनाएँ लागू करना आरम्भ कर दिया, जैसे कि बीमारी का बीमा, वृद्धावस्था पेन्शन और बेरोजगारी बीमा।

इस शताब्दी में दो ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएं घटित हुईं जिन्होंने मानवीय दृष्टिकोण में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन किया कि वैसा सम्भवतः इतिहास की और किसी घटना ने नहीं किया

गई तीन प्रकार की सहायताओं मे से कोई भी प्राप्त नही होती है। इसके अलावा, कल्याणकारी राज्य सभी व्यक्तियो को नि.शुल्क चिकित्सा सेवाएं प्रदान करता है (क्योकि जो व्यक्ति बीमार पडता है, उसे न केवल अपने परिवार के पोषण के लिए आय की आवश्यकता होती है बल्कि डाक्टरी चिकित्सा की भी आवश्यकता है जो कि कभी-कभी उसके लिये बडी महँगी पड सकती है। अन्त मे, कल्याणकारी राज्य बच्चो की भी विशेष देखभाल करता है। वह शिक्षा को अनिवार्य तथा एक निश्चित स्तर तक निःशुल्क कर देता है। कभी-कभी, यह ऐसा भी कर सकता है कि माता-पिता को उनके बच्चो की संख्या के अनुसार नकद सहायता दे, इसलिये नही कि उन्हे बच्चो की संख्या बढाने को और प्रोत्साहन मिले, अपितु इसलिये कि न्यूनतम आलाभदायक आवश्यकताओ के साथ उनका भरण-पोषण करने मे सहायता मिले।

इस प्रकार के कल्याणकारी राज्य का विकास पश्चिमी योरोप, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटिश डोमिनियम विशेष रूप से आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा कनाडा मे हुआ है।

भारत मे तथा अनेक अन्य अल्पविकसित देशो मे कल्याणकारी राज्य की कल्पना अनेक महत्वपूर्ण दृष्टियो मे उससे भिन्न है जो कि पश्चिमी देशो मे प्रचलित है। भारत मे कल्याणकारी राज्य का कुछ व्यापक अर्थ किया गया है। ऊपर बताई गई कल्याणकारी सेवाओ की व्यवस्था के अतिरिक्त यहाँ राज्य से यह आशा की जाती है कि वह ग्रामीण विकास मे भाग ले, श्रम-कल्याण मे वृद्धि करे, लोगो के बीच वर्तमान आर्थिक असमान्यताओ को कम करे और सामान्य जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए कार्यवाहियाँ करे। उन्नत देशो मे जहाँ अर्थव्यवस्थाओ ने स्वय ही कृषि तथा औद्योगिक क्रियाओ का उच्च स्तर कायम कर लिया है, वहाँ भारत तथा अन्य अल्पविकसित देश अपनी आर्थिक क्रियाओ का स्तर ऊँचा उठाने के लिए अभी भी अथक प्रयास कर रहे है। इन देशो मे चूँकि तीव्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक दशाओ का अभाव होता है अतः यह बिलकुल स्वाभाविक ही है कि लोग राज्य से आर्थिक विकास के क्षेत्र मे भी अग्रसर होने की आशा करें। पूर्वी देशो में कल्याणकारी राज्य की विचारधारा मे इस पहलू को भी सम्मिलित किया गया है। पश्चिमी देशो मे, राज्य उन लोगो की भी मदद करता है जिनके सम्मुख वर्तमान औद्योगिक अर्थव्यवस्था द्वारा उत्पन्न कठिनाइयाँ समस्या पैदा करती है। भारत मे, सरकार उस निर्धनता के कारण भी लोगों की मदद को आगे आई है जिसके अन्तर्गत कि लोग युगो से रहते चले आ रहे है। इस प्रकार पश्चिमी तथा पूर्वी देशो मे कल्याणकारी राज्य की परिभाषा तथा उसके क्षेत्र के सम्बन्ध मे जो अन्तर पाया जाता है वह मुख्यतः पर्यावरण (environment) तथा परिस्थितियो की विभिन्नता के कारण ही है।

कल्याणकारी राज्य के लक्षण (characteristics of a welfare state)

कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित है—

(१) जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह जनकल्याण पर बल देता है।

(२) देश के आधारभूत उद्योगो का सचालन राज्य के द्वारा होता है तथा वह जन उपयोगी सेवाओ की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व लेता है।

(३) आय के वितरण की असमानताओ को दूर करने के लिए *प्रगतिशील करों* की पद्धति लागू की जाती है।

(४) कल्याणकारी राज्य मे देश की अर्थव्यवस्था मे पूर्ण रोजगार लाने का प्रयास किया जाता है।

(५) देश के प्रत्येक नागरिक के लिए सामाजिक बीमा तथा अन्य योजनाओ की व्यवस्था की जाती है।

खर्च करता है। उपभोक्ता द्वारा खर्च की गई कुल धनराशि र²ट² मे से र²ट³ राशि उत्पादन कर के रूप मे सरकार के पास चली जाती है।[11]

मान लीजिए उक्त र²ट² धनराशि सरकार द्वारा वैयक्तिक आय कर (personal income tax) के रूप मे ली जाती है। इस स्थिति मे, उपभोक्ता की आय मे से अअ' घटकर कअ' ही रह जायेगी (क्योंकि अ अ¹ = र²ट²)। चूंकि वस्तु का मूल्य पूर्ववत् ही है अत नई मूल्य रेखा अ¹ब² पहली मूल्य रेखा अ ब के समानान्तर (parallel) होगी (अर्थात् चूंकि आय-कर लगाये जाने के बाद भी वस्तु का मूल्य पूर्ववत् ही रहेगा, अत रेखा अ ब तथा रेखा अ¹ब² के ढाल एक समान ही होंगे)। इस स्थिति मे, उपभोक्ता, बिन्दु ट³ की नई सन्तुलन स्थिति पर पहुँचेगा जो कि अनधिमान वक्र (indifference curve) (अ०ब०⁴) के मुकाबले, जिस पर कि उपभोक्ता उत्पादन कर लगने के कारण पहुँचा था, उच्चतर अनधिमान वक्र (अब⁷) पर स्थित है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता के दृष्टिकोण से वस्तु कर के मुकाबले उतनी ही धनराशि का आय-कर अधिक श्रेष्ठ है। अन्य शब्दो मे, साधनो के बँटवारे पर एक परोक्ष कर के मुकाबले एक प्रत्यक्ष कर के कम हानिकारक प्रभाव होते है।[12]

(II) प्रशासनिक दृष्टिकोण (Administrative point of view) :

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच प्रशासनिक व्यय एव क्षमता के दृष्टिकोण से भी तुलना की जा सकती है। प्रशासनिक दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष कर थोडी आमदनियो (low incomes) पर नही लगाये जाते और आय-कर के लिए उपयुक्त छूट की सीमाएँ प्रदान की जाती हैं। उदाहरण के लिए, भारत मे अधिकाश जनसख्या को इसलिए आय कर से मुक्त कर दिया गया है क्योंकि उनकी आमदनियो का स्तर अत्यधिक नीचा है। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व, उन्नत देशो तक मे यह माना जाता था कि मजदूरो पर आय-कर नही लगाया जा सकता। अन्य शब्दो मे, प्रशासनिक दृष्टि से परोक्ष कर प्रत्यक्ष करो से श्रेष्ठ माने जाते थे। इनका कारण यह था कि उनको एकत्र करना सरल है, वे सुविधाजनक हैं और उनको छिपाना कठिन है।

किन्तु इस सबके बावजूद, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच इस प्रकार की तुलना करना सही नही है। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, आमदनियो के वे वर्ग जो कि समता और न्याय के आधार पर प्रत्यक्ष करो से मुक्त कर दिये जाते हैं वे परोक्ष करो की अदायगी मे मुक्त नही किये जाते। दूसरे, करो का निर्धारण एव करो का सग्रह करने वाली प्रशासनिक मशीनरी मे आजकल इतने अधिक परिवर्तन हो गये हैं कि अब आय-कर तथा अन्य प्रत्यक्ष कर थोडी से थोडी आय वाले वर्गों पर भी लगाये जा सकते है। यहाँ हम इगलैण्ड का उदाहरण दे सकते हैं जहाँ कि आयकर लगाये जाने वाले व्यक्तियो की सख्या, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व ४० लाख थी, अब बढकर १६० लाख हो गई है, जिनमे कि एक बडी सख्या मजदूरो की ही है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच प्रशासनिक व्यय और क्षमता के आधार पर उचित तुलना नही की जा सकती।

---

11. यहाँ हमने यह मान लिया है कि वस्तु के मूल्य मे ठीक उतनी ही वृद्धि हुई है जितनी कि उस पर कर लगा है, अत पहली मूल्य रेखा अब और नई मूल्य रेखा अब¹ के बीच का अन्तर उस कर का द्योतक है जो सरकार को दिया जाता है।

12. ए० आर० प्रैस्ट ने अपनी पुस्तक "Publ c Finance" के पृष्ठ ३५-४६ के मध्य यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि परोक्ष कराधान के भी अधिक अच्छे बँटवारे सम्बन्धी प्रभाव पड सकते है। ऐसा उस स्थिति मे हो सकता है जबकि साधनो का बँटवारा सर्वोत्तम सम्भव रीति से न हो। ऐसी मामलो मे, आय कर बँटवारे मे परिवर्तन नही कर सकता किन्तु वस्तु कर ऐसा कर सकता है और साधनो का यदि आदर्श बँटवारा नही तो कम से कम लगभग आदर्श बँटवारा तो कर ही सकता है।

था। एक घटना तो थी सन् १९१७ को रूसी राज्य क्रान्ति और दूसरी थी १९२९-३३ की बड़ी मन्दी। पहली घटना तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध श्रमिकों तथा किसानों द्वारा की जाने वाली क्रान्ति थी जिसके द्वारा रूस में मजदूर-वर्ग की तानाशाही की स्थापना हुई। इस क्रान्ति के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभावों का अनुमान आसानी से नहीं लगाया जा सकता। उन्नत देश तो यह सोचते थे कि साम्यवाद के बढ़ाव को रोकने का सबसे विश्वस्त तरीका यह था कि सामाजिक न्याय प्रदान करने वाली कार्यवाहियाँ तेज की जाएं और आय की तीव्र असमानताएं कम की जाएं। दूसरी ओर, अल्पविकसित देशों ने रूस के उदाहरण से इस बात की प्रेरणा ली है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिए समुचित पग उठाये जाएं।

बड़ी मन्दी (great depression) ने एक अन्य प्रकार की क्रान्ति को जन्म दिया, अर्थात् पूंजीवाद की सामर्थ्य में विश्वास की समाप्ति। मन्दी ने यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी कि पूंजीवादी व्यवस्था सम्भवतः पूर्ण उत्पादन की दशा प्राप्त करने तथा सामान्य जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए तकनीकी विकास का उपयोग नहीं कर सकती। जहां पूंजीवाद के दावे तो बहुत बड़े बड़े तथा अधिकतम सम्भव आर्थिक कल्याण करने के थे, वहां बड़ी मन्दी ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे सब दावे वस्तुतः खोखले ही है। फैक्टरियां खाली पड़ी थीं, लाखों व्यक्ति बेरोजगार हो गये थे; पूंजीपतियों को अत्युत्पादन (over-production) की शिकायत थी अत. उन्होंने उत्पादन बन्द कर दिया था; यही नहीं, उन्होंने उत्पादन को सीमित करने के लिए समझौते किये और अनेक चरम मामलों में उन्होंने फालतू उपज को नष्ट तक कर दिया।

उस समय यह अनुभव किया गया कि पूंजीवादी पद्धति स्वयं आधुनिक अर्थव्यवस्था की समस्याओं को हल नहीं कर सकती और यह कि वास्तविक समस्या उत्पादन की नहीं अपितु वितरण की है। यह अनुभव किया गया कि सामाजिक सुधार बिना उत्पादन में किसी कमी के भय के तथा सम्पूर्ण समाज को कोई हानि पहुँचाये ही लागू किये जा सकते हैं। यह समझा गया कि अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार-युक्त बनाने तथा सामान्य जीवन-स्तर में सुधार करने के लिए अधिक सामाजिक न्याय तथा अधिक आर्थिक स्वाधीनता का होना अत्यावश्यक है। बड़ी मन्दी के कारण विचारों में जो परिवर्तन हुआ था, विभिन्न देशों में शनैः शनैः उसे लागू किया जाने लगा। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सामाजिक सेवाओं का तीव्र गति से विस्तार प्रारम्भ हो गया।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की दृष्टि से आधुनिक कल्याणकारी राज्य उस पैतृक निरंकुशता (paternal despotism) के विचारों की प्रतिक्रिया है जो कि १८वीं शताब्दी के अन्त तक योरोपियन सरकारों पर छाई रही। कल्याणकारी राज्य की आधुनिक विचारधारा मात्रा में इसकी मूल विचारधारा से भिन्न है। परन्तु कुछ देशों में कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं का क्षेत्र इतना अधिक तथा इतनी शीघ्रता से बढ़ा है कि आधुनिक राज्य को एक नये किस्म का कल्याणकारी राज्य कहना ठीक ही है।

अन्त में उन अर्थशास्त्रियों, राजनैतिक विचारकों तथा अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी कुछ कहना उचित होगा जो कि कल्याणकारी राज्य की उत्पत्ति तथा विकास के लिए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से उत्तरदायी रहे हैं। कार्ल मार्क्स सबसे पहले अर्थशास्त्रियों में से एक थे जिन्होंने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की कमजोरियों की ओर ध्यान दिलाया और इसके स्थान पर अन्य कोई व्यवस्था लागू करने पर जोर दिया। बाद में, कल्याणकारी राज्य अपनी उत्पत्ति तथा विकास के लिये अनेक अन्य अर्थशास्त्रियों की कृतियों व लेखों का ऋणी रहा जिनमें मुख्य थे—मार्शल, पीगू, कीन्स विलियम बैवरिज, बर्गसन आदि।

कल्याणकारी राज्य और आर्थिक पद्धतियाँ (The Welfare State and Economic Systems) :

कल्याणकारी राज्य की विचारधारा यद्यपि समानता एवं न्याय के समाजवादी सिद्धान्तो के प्रभाव के अन्तर्गत विकसित हुई, फिर भी यह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विपरीत नही है। संयुक्त राज्य अमरीका मे आजकल सामाजिक बीमे की विस्तृत योजनाएँ लागू हैं और उसे कल्याणकारी राज्य कहा जा सकता है। "संयुक्त राज्य अमेरिका इन माना मे कल्याणकारी राज्य है कि यह अपने नागरिको के लिए बडी व्यापक मात्रा मे अनेक ऐसी सामाजिक सेवाओ की व्यवस्था करता है—जैसे कि शिक्षा, वृद्धावस्था पेन्शन, बेकारी भत्ता और जन सहायता।"[1] परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका मे चूँकि विशेष रूप से एक पूँजीवादी व्यवस्था वर्तमान है। अतः वहाँ आय की काफी असमानताएँ पाई जाती जो कि ब्रिटेन मे नही पाई जाती जिसे कि कल्याणकारी राज्य का एक आदर्श माना जाता है। इसके साथ ही, एक समाजवादी अर्थव्यवस्था के लिए भी यह कोई आवश्यक नही है कि वह आप से आप ही कल्याणकारी राज्य बन जायेगी। उदाहरण के लिए, रूस सरकार यद्यपि अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक सेवाओ की व्यवस्था करती है, फिर भी रूस को एक कल्याणकारी राज्य नही कहा जा सकता। मुख्य कारण यह है कि रूस मे, व्यक्ति को सामाजिक लाभ उस प्रकार एक अधिकार के रूप मे नहीं मिलते जिस प्रकार कि इंगलैण्ड मे मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, वहां बेकारी-भत्ते की भी कोई व्यवस्था नही है, और यदि सरकार चाहे तो किसी भी रूसी श्रमिक को कहीं काम करने को भेज सकती है और अर्द्ध-मानवीय दशाओ मे काम करने को बाध्य कर सकती है।

इस प्रकार, कल्याणकारी राज्य कोई ऐसा पृथक् आर्थिक संगठन नही है जैसी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अथवा समाजवादी अर्थव्यवस्था होती है। यह तो केवल उन सेवाओ की किस्मो की ओर संकेत करता है जो कि राज्य नागरिको को प्रदान करता है, और ये सेवाएँ सरकार द्वारा पूँजीवादी, समाजवादी अथवा मिश्रित किसी भी अर्थव्यवस्था मे प्रदान की जा सकती हैं। सभी देशो की व्यवस्थाओ मे कल्याणकारी राज्य के तत्व पाये जाते हैं, अन्तर होता है तो केवल मात्रा का।

कल्याणकारी राज्य के मूलभूत उद्देश्य (Basic Aims of a Welfare State) :

आधुनिक कल्याणकारी राज्य से यह आशा की जाती है कि वह कुछ मूलभूत उद्देश्यो को पूरा करेगा। इसके मूलभूत उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) न्यूनतम अनिवार्यताओं की पूर्ति (providing minimum necessities to all)—कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य यह होता है कि वह सभी नागरिको के लिए न्यूनतम अनिवार्य आवश्यकताओं की व्यवस्था करे। औद्योगीकरण के कारण निर्धनता, अनिश्चितता तथा असुरक्षा उत्पन्न होती है। अधिकांश मामलो मे, श्रमिको एवं उनके परिवारो के कष्ट उन कारणो से होते हैं जो कि श्रमिको के नियन्त्रण से बाहर होते हैं। सामाजिक बीमा योजनाओ का मुख्य उद्देश्य यही होता है कि दयनीय निर्धनता को समाप्त किया जाय और प्रत्येक नागरिक के लिए न्यूनतम जीवन निर्वाह की व्यवस्था की जाए।

(२) आय का समान वितरण (equitable distribution of income)—कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य होता है कि देश की जनता के विभिन्न वर्गों के बीच आय का अधिक समान वितरण किया जाय। धनियो की ओर से निर्धनो की ओर को आय का स्थानान्तरण करके ऐसा

1. T.W. Kent : The Welfare State, p 4, "The United States is a welfare state in the sense that it provides for its citizens a considerable range of social services, education, old-age pensions, unemployment pay and public assistance"

किया जाता है। ऐसा स्थानान्तरण इस प्रकार किया जा सकता है कि ऐसी राजकोषीय नीति का उपयोग किया जाय जिसके अन्तर्गत धनियो पर कर लगाए जाएँ और कराधान के लाभ अनेक ऐसी सामाजिक सेवाओं के रूप मे निर्धनो तक पहुँचा दिये जाएँ, जैसे कि सस्ता आवास अथवा निःशुल्क शिक्षा आदि। सामाजिक सेवाओ की व्यवस्था का प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि निर्धनो की क्रय-शक्ति की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। बीमारी के समय दी जाने वाली नक्द सहायता, दुर्घटनाओ की स्थिति मे आर्थिक क्षतिपूर्ति वृद्धावस्था पैन्शन तथा बेकारी-भत्ता आदि सेवाएँ निर्धन लोगो की आय मे प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि करती है अथवा उनकी आय को पूर्ववत् बनाये रखती हैं, जो कि अन्य किसी भी स्थिति मे सम्भव नही होता।

यहां यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि सामाजिक सेवाओ की व्यवस्था से वास्तव मे धनियो की ओर से निर्धनो की ओर को धन का स्थानान्तरण नही होता। सामाजिक बीमे की अधिकांश योजनाओ के अन्तर्गत श्रमिको को स्वयं भी योजना की लागत मे अपना अंशदान देना होता है। उधर मालिक भी उसमे अपना अशदान देते हैं। परन्तु जैसे-जैसे सामाजिक सेवाओ का क्षेत्र बढ़ता जाता है—उदाहरणत: निःशुल्क शिक्षा, सहायता प्राप्त आवास-व्यवस्था, निःशुल्क चिकित्सा सुविधाएँ आदि—वैसे-वैसे ही कराधान का भार भी बढ़ता जाता है और यह भार समाज के अधिक समृद्ध वर्गो द्वारा ही वहन किया जाता है। जब भी और जहां भी कल्याण-सेवाओं की लागत का बोझ करदाताओं को उठाना होता है, तो उस स्थिति मे समाज के एक वर्ग से अन्य वर्ग की ओर को क्रय-शक्ति का स्थानान्तरण अवश्य होता है। जैसा कि कैण्ट ने कहा है, "यह जान लेना बड़ा महत्वपूर्ण है कि क्रय-शक्ति का स्थानान्तरण अनिवार्य रूप से एक वर्ग से दूसरे वर्ग की ओर को, धनियो मे निर्धनो की ओर को और व्यवसायियों से मजदूरो व किसानो की ओर को ही होता हो, ऐसी बात नही है। सरकार ऐसी भी व्यवस्था कर सकती है कि क्रय-शक्ति का स्थानान्तरण एक ही सामाजिक वर्ग के अन्तर्गत, स्वस्थ मनुष्यो की ओर से बीमार मनुष्यो की ओर को, काम पर लगे लोगो की ओर से बेरोजगार लोगों की ओर को और युवको की ओर से वृद्ध-जनो की ओर को हो।"[2]

(३) अधिक उत्पादन (greater production)—कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य अधिक उत्पादन करना होता है। भारत मे विशेष रूप से ऐसा है। परन्तु पश्चिमी देशो मे, "आधुनिक कल्याणकारी राज्य का निर्माण इस विश्वास पर आधारित है कि उत्पादन कोई महत्व की बात नही है जिसका ध्यान रखा जाए।"[3] इसका एक विशेष कारण था। इंगलैण्ड तथा पश्चिमी योरोपीय देशो मे, उत्पादन को अधिकतम करने की दृष्टि से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कार्यक्षमता मे लोगों का भारी विश्वास था। वहां तो समस्या केवल यह थी कि वितरण मे सुधार किया जाए और लोगो के उन वर्गो की मदद के लिए आगे आया जाए जो कि आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं तथा जिनसे स्वयं ही अपनी आर्थिक स्थिति मे सुधार की आशा नही की जा सकती है। इसके विपरीत, पूर्वी देशों मे, कल्याणकारी राज्य की विचारधारा उत्पादन-वृद्धि के प्रश्न से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। बिना उत्पादन बढाये गरीबी का अभिशाप नही मिटाया जा सकता। एक प्रकार से वितरण से उत्पादन अधिक महत्वपूर्ण है। जब तक कि वस्तुओ व सेवाओ के उत्पादन को ही अधिक-

2 T W Kent *op cit*, p 6 "It is important, however, to realise that this shift is not necessary from one class to another, from rich to the poor, from businessmen to the proletariat and peasants The State may arrange the shift to be from healthy to the sick from the employed to the unemployed, from the young to the old, *within the same* social class"

Ibid, p 18. "The modern welfare state has been fashioned on the belief that production does not matter"

तम नही किया जायेगा तब तक वस्तुओ के श्रेष्ठतर वितरण के द्वारा आर्थिक कल्याण मे वृद्धि करना कैसे सम्भव हो सकता है। इसीलिए, एक कल्याणकारी राज्य अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ करता है जैसे कि सिंचाई की व्यवस्था, अच्छे बीज व रासायनिक खाद की व्यवस्था, ऋण की सुविधाएँ, उत्पादित माल के विक्रय की सुविधाएँ आदि। ये सभी कार्यवाहियाँ कृषि-उत्पादन मे वृद्धि के लिए की जाती है। छोटे पैमाने के एव कुटीर उद्योगो के विकास मे भी कल्याणकारी राज्य सक्रिय रुचि लेता है और उनके लिए अनेक सुविधाओं की व्यवस्था करता है, जैसे कि सस्ती ऋण-सुविधाओ की व्यवस्था देश के अन्दर तथा बाहर अधिक अच्छे बाजार की व्यवस्था, उत्पादन की नई-नई विधियो को लागू करना आदि। यह बडे पैमाने के उद्योगो की भी सहायता करता है और इस उद्देश्य के लिए वह मुख्यत. वित्तीय सस्थाओ का सगठन करता है और सामान्य रूप मे उनके शीघ्र विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। इससे भी बढकर, कल्याणकारी राज्य सामाजिक व आर्थिक उच्च सेवाओं की व्यवस्था करता है जिनके बिना आर्थिक विकास करना असम्भव होता है। ऐसी सेवाओ से हमारा आशय परिवहन सचार सेवाओ की व्यवस्था तथा शिक्षा एव सार्वजनिक स्वास्थ्य की सुविधाओं आदि से है। भारत जैसे अल्पविकसित देश मे, यह हो सकता है कि सरकार केवल उपर्युक्त कार्यवाहियाँ करके ही अपने कार्य की इतिश्री न समझे बल्कि वह औद्योगिक उद्योगो को प्रारम्भ एवं सचालित करने का कार्य भी अपने हाथ मे ले, निजी उद्योगो से प्रतियोगिता करने के लिए नही अपितु उनके पूरक बनने के लिए।

एक पिछडी तथा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे कल्याणकारी राज्य की और भी अधिक आवश्यकता होती है। जहाँ कि लोग अनपढ होते हैं और निर्धनता एवं कष्टों का अम्बार लगा होता है। कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यो को सक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त किया जाता है :—

(१) उत्पादन बढाना तथा दी हुई टैक्नोलोजी सम्बन्धी दशाओ मे उसे अधिकतम करना।

(२) प्रचलित असमानताओ को दूर करना और उत्पादित आय का अपेक्षाकृत अधिक समान वितरण करना।

(३) सभी नागरिकों को एक निम्नतम जीवन स्तर का आश्वासन देना।

कल्याणकारी राज्य की समस्याएँ
(Problems of a Welfare State)

इगलैण्ड तथा अन्य अनेको देशो मे, कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने मे कई महत्वपूर्ण समस्याएं उत्पन्न हुई है। इनमे से कुछ समस्याएँ इन देशो मे वर्तमान दशाओ की दृष्टि से असाधारण है और अन्य देशो मे भी उनके उत्पन्न होने की आशा की जा सकती है।

(१) कराधान में वृद्धि (Increase in Taxation)

सबमे पहली समस्या करो मे क्रमिक वृद्धि की है, दोनो ही प्रकार की-वृद्धि, करो की मात्रा मे भी और उनके क्षेत्र मे भी। ऐसे देशो मे चूँकि सामाजिक सेवाओ के लिये धन की आवश्यकता होती है और कराधान ही धन-प्राप्ति का एकमात्र स्रोत होता है, अतः कराधान मे वृद्धि अनिवार्य होती है। यहाँ हम इंगलैण्ड का उदाहरण लेते है। इंगलैण्ड मे सरकार द्वारा किया जाने वाला प्रत्यक्ष कल्याण-व्यय अब लगभग २०० करोड पौण्ड है जबकि युद्ध से पूर्व के वर्षों मे ३० करोड पौण्ड ही था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यदि इस व्यय की लागत को ब्रिटिश जनसंख्या के सभी कार्य करने वाले सदस्यो के बीच समान रूप से बाँट दिया जाए तब प्रत्येक व्यक्ति को केवल सामाजिक सेवाओं के लिए लगाये जाने वाले करो के रूप मे प्रतिवर्ष लगभग ८० पौण्ड

देने होंगे। परन्तु, चूँकि निम्न वर्गों में श्रमिकों की सामान्य आय कम होती है अतः उन्हें कर-मुक्त रखना होता है। परिणामस्वरूप, अन्य लोगों पर भार अनुपातिक रूप से अधिक हो जायेगा। ब्रिटेन में, एक सामान्य कुशल श्रमिक १ पौण्ड में ७ शि० ६ पैं० कर के रूप में अदा करता है जो कि उसकी कमाई के अन्तिम खण्ड पर लगभग ३८%बैठता है। ब्रिटिश मध्यम वर्गों के लिए, कर अभी भी अधिक तीव्र है। उदाहरण के लिए, २००० पौण्ड से अधिक की वार्षिक कमाई पर ५० प्रतिशत कर के रूप में दे देना होता है (अर्थात् प्रत्येक पौण्ड में १० शि०)। आय की वृद्धि के साथ ही साथ, कर बढ़ता है और बढ़ कर एक पौण्ड में १६ शि० ६ पैं० तक हो जाता है। इसका मतलब यह होगा कि व्यक्ति की कमाई के प्रत्येक अतिरिक्त १ पौण्ड का मूल्य उसके लिए केवल ६ पैंस ही होगा। इस प्रकार, कल्याणकारी राज्य की स्थापना के कारण कर-भार में वृद्धि करनी आवश्यक हो जाती है। अल्पविकसित देशों में, चूँकि लोगों की करदेय क्षमता कम होती है और लोग कराधान वृद्धि का काफी विरोध करते हैं, अतः कराधान की वृद्धि एक समस्या बन जाती है।

(२) उत्पादन की समस्या (The Problem of Production):

दूसरी समस्या, वस्तुतः जो प्रथम की ही उपज है, उत्पादन से ही सम्बन्ध रखती है। फॅण्ट ने चालू उत्पादन पर पड़ने वाले तात्कालिक प्रभावों और उन अन्तिम प्रभावों में भेद किया है जो दशाब्दियों में आर्थिक प्रगति पर पड़ते हैं।

कल्याणकारी योजनाओं के चालू उत्पादन पर पड़ने वाले तात्कालिक प्रभाव (immediate effects) दो कारणों से प्रतिकूल रहने की आशा की जा सकती है। सर्वप्रथम, राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सामाजिक सेवाएँ व्यक्ति को जीवन के एक न्यूनतम स्तर के विषय में आश्वस्त करती है और उसकी उन कठिन परिस्थितियों को टाल देती है जिनके कारण कुछ लोग काम करने को प्रेरित हो सकते थे। उदाहरण के लिए, निम्नतम श्रेणी के श्रमिक जो कि बेरोजगार हो गये होते हैं, यह हो सकता है उस समय तक काम करना पसन्द न करें जब तक कि उन्हें सरकार से कुछ सहायता मिलती है। इसी प्रकार वृद्धावस्था पैंशन कुछ बूढ़े लोगों को रिटायर होने के लिए प्रेरित कर सकती है, इसके बावजूद भी कि वे काम करने के पूर्णतया योग्य हो अथवा यदि ऐसी पैंशन न मिलती तो वे अवश्य काम करते। बीमारी-भत्ते लोगों को इस बात के लिए प्रेरित कर सकते है कि वे लोग बीमारी का बहाना बनाकर अपनी नौकरी से दूर रहें। सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली सामाजिक सेवाओं के सम्बन्धी चाहे कितनी ही दृढ़ता एवं प्रशासन में *सावधानी बरते जाए, उनके सम्भावित दुरुपयोगों को पूर्णतया रोक सकना सम्भव नहीं है।* परिणामस्वरूप, चालू उत्पादन पर उसका निश्चय ही प्रतिकूल प्रभाव होगा।

दूसरे, पिछले गद्यांश में कराधान-वृद्धि का जो उल्लेख किया गया है, उसका भी उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। आय-कर की दरों में वृद्धि से व्यावसायिक तथा मध्यम वर्ग के लोगों में अधिक धन कमाने की प्रेरणा काफी कम हो जाती है। अतिरिक्त कार्य करने अथवा अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर कार्य करने का पुरस्कार आय-कर के कारण आधा अथवा तीन चौथाई या उससे भी अधिक तक कम हो सकता है। इस स्थिति में, यह सम्भव है कि व्यक्ति अधिक एवं कठिन काम करने को अथवा भारी उत्तरदायित्वों का बोझ उठाने को तैयार न हो।

इन दोनों ही प्रवृत्तियों से चालू उत्पादन में कमी होती है जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण रूप में देश का जीवन-स्तर भी नीचा होता है। परन्तु उत्पादन की हानि का अनुमान लगाना तथा कल्याणकारी सेवाओं के लाभों से उसकी तुलना करना बड़ा कठिन है। पर इस सबके बावजूद

ब्रिटिश अनुभव तो यही बतलाता है कि सामाजिक सेवाओं के विस्तार से उत्पादन कुछ न कुछ वृद्धि ही हुई है। किन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि का कारण यह भी है कि कल्याणकारी सेवाओ की व्यवस्था के कारण लोगों ने शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से उन्नति की है।

यदि इस बात को भी सत्य मान लिया जाय कि सामाजिक सेवाओं के विस्तार का चालू उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, तो भी यदि दीर्घकालीन औद्योगिक प्रगति के आधार पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जाए तो वह हर प्रकार से अनुकूल ही रहती है। सामाजिक सेवाएँ शनै. शनैः एवं निश्चित रूप से (चिकित्सा सुविधाओं के माध्यम से श्रमिक वर्ग के सामान्य स्वास्थ्य मे सुधार करती है) ऐसे योग्य तथा अधिक जानकार श्रमिक उत्पन्न करती हैं जो आधुनिक कारखानो की जटिल परिस्थितियों मे काम करने के लिए अधिक सुसज्जित तथा तैयार होते हैं, पूर्णतया प्रशिक्षित ऐसे मनुष्य प्रदान करती है जैसे कि वैज्ञानिक तकनीशियन, लेखाकार, तथा मैनेजर आदि, और इन सबसे बढकर ये सेवाएँ रोजगार तथा अपने उत्तरदायित्वों के प्रति श्रमिक के दृष्टिकोणो मे मौलिक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन करती है। सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ (social security schemes) श्रमिकों म सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है जिससे उनकी औद्योगिक कार्य-कुशलता मे वृद्धि होती है और मालिको की समस्याओं को भी वे अधिक अच्छी प्रकार समझने लगते हैं। इन सब बातो मे यह स्पष्ट होता है कि दीर्घकाल मे सामाजिक सेवाओ का प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि होती है।

इस निष्कर्ष की पुष्टि इस तथ्य मे भी होती है कि काम करने तथा बचत करने की इच्छा तथा क्षमता पर करो के प्रतिकूल प्रभाव केवल अस्थायी ही होते हैं। सामाजिक सेवाओ के कारण लोगो की आय मे जो वृद्धि होगी और उसके फलस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति मे जो सुधार होगा उससे उनकी सामर्थ्य मांग मे वृद्धि होगी। अत इससे उत्पादन वृद्धि का क्षेत्र भी बढेगा। इस संदर्भ मे आवश्यकता इस बात की होती है कि बिजली, परिवहन व सचार सेवाओं तथा अन्य मूलभूत सेवाओ की व्यवस्था करने मे सरकारी विनियोग पर जोर दिया जाए। सभी प्रेक्षकों का विचार है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिए सरकारी निवेश न केवल वान्छनीय है अपितु पूर्ण तथा आवश्यक है। इस प्रकार सामाजिक सेवाओं की लागत पूर्ति के लिए कराधान मे वृद्धि करने के जो भी अप्रेरणात्मक प्रभाव होंगे उनकी क्षतिपूर्ति उत्पादन पर, विशेष से दीर्घकाल मे, पडने वाले सामाजिक सेवाओ के अनुकूल प्रभावों से हो जायेगी।

(२) स्फीति का खतरा (The Danger of Inflation)

कल्याणकारी राज्य की स्थापना से देश मे स्फीति सम्बन्धी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। श्रमिको तथा कम आय वाले वर्गों को जो सामाजिक सेवाएँ नकद अदायगियाँ उपलब्ध करायी जाती हैं उससे स्वभावत. ही लोगों के हाथों मे क्रय शक्ति की मात्रा बढ जाती है। इससे वस्तुओ व सेवाओ की मांग मे वृद्धि होती है। परन्तु मांग को इस वृद्धि से उस समय कोई स्फीति सम्बन्धी दवाव उत्पन्न नही होगा, यदि वस्तुओं के संभरण मे भी वैसी ही समवर्ती वृद्धि हो जाए। किन्तु कुछ लेखकों का यह विचार है कि वस्तुओ के सभरण (supply) मे वास्तव में कमी हो जाती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि करो की ऊँची दरो से धनी वर्ग के लोगो की वचतो का स्तर नीचा हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप निवेश कम हो जाता है और उत्पादन भी घटने लगता है। इसके साथ ही, निम्न आय वाले वर्गों की वचतों मे जो वृद्धि होती है। वह उपर्युक्त कमी की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त नही होती। यह विश्लेपण औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर तो

लागू होती ही है। अल्पविकसित देशों पर भी यह उतना ही लागू होता है। भारत जैसे देश में जहाँ कि कृषि ही मुख्य उद्योग है, बढ़ती हुई द्रव्य माँग की पूर्ति के लिए तथा कीमतों की वृद्धि को रोकने के लिए कृषि उत्पादन में वृद्धि करना औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि से भी कठिन है। इस प्रकार, एक ओर तो माँगें बढ़ने के कारण और दूसरी ओर संभरण में कमी होने के कारण स्फीति की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि स्फीति उत्पन्न हो जाती है तो कल्याण सेवाओं के लाभों का प्रभाव भी घटने लगता है क्योंकि स्फीति आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है। यह द्रव्य की क्रय शक्ति को कम कर देती है जिसके परिणामस्वरूप, सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाएँ तथा नगद अदायगियाँ बेकार सिद्ध होती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से स्फीति उस उद्देश्यों को ही समाप्त कर देती हैं जिनके लिए एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना जाती है और यह नियन्त्रण तथा नियोजन की उन आर्थिक व्यवस्थाओं पर भारी दबाव डालती है जो कि कल्याणकारी राज्य में कार्यान्वित की जाती है। अत. निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य की स्थापना का कार्य शनैं-शनैं होना चाहिए और जब स्फीति सम्बन्धी दबाव प्रकट होने लगे, स्फीति विरोधी कार्यवाहियाँ करने के सम्बन्ध में सरकार को सावधान एवं तत्पर रहना चाहिए।

किन्तु इसके बावजूद भी हमें स्फीति के भय से घबराना नहीं चाहिये। स्फीतिजनक स्थिति केवल तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि वस्तुओं के संभरण के मुकाबले उनकी माँग अधिक हो जाए। और माँग अधिक होने की सम्भावना इसलिए नहीं है क्योंकि मुद्रा की कोई अचानक एकदम बाढ़ थोड़े ही आयेगी। फिर, यह विश्वास करने का भी कोई कारण नहीं है कि बचत तथा निवेश में कमी होने के कारण वस्तुओं का संभरण भी कम हो जायेगा। यदि निजी बचतें तथा निवेश कम भी हो जायेंगे तो सरकार स्वयं अपने पूँजी निर्माण में वृद्धि करके उसकी कमी पूरी कर सकती है। इसके अतिरिक्त, कीमतों की क्रमिक वृद्धि आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण तत्व बन सकती है। अत इस तर्क को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है कि कल्याणकारी राज्य की स्थापना से स्वयमेव स्फीतिजनक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। तथापि यह बात अवश्य महत्वपूर्ण है कि कल्याणकारी सेवाओं का विस्तार शनैः शनैं होना चाहिए जिससे कि उससे कोई अनावश्यक एवं असुखद परिस्थितियाँ उत्पन्न न हों।

(४) स्वतन्त्रता की कटौती तथा नियन्त्रणों का खतरा (The Danger of Controls and Curtailment of Freedom)

यह पहले ही बताया जा चुका है कि कल्याणकारी राज्य में किसी न किसी प्रकार का आर्थिक नियोजन अवश्य करना पड़ता है और आर्थिक नियोजन से विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण अनिवार्य रूप से सम्बद्ध होते है। कीमतों पर और इसी प्रकार उत्पादन तथा वितरण पर भी नियन्त्रण लगाने होते हैं। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी स्वभावत. ही नियन्त्रण तथा नियमन के अधीन आ जाते हैं। श्रमिकों, मालिकों तथा अन्य वर्ग के लोगों पर भी अनेक प्रकार से नियन्त्रण लगाने होते है जैसे कि धन्धों के चुनाव के सम्बन्ध में तथा निवेश की गतिशीलता आदि के सम्बन्ध में। ये नियन्त्रण प्रत्यक्ष रूप से लगाये जायेंगे या अप्रत्यक्ष रूप से, यह सरकार की प्रकृति पर निर्भर होता है। सत्तावादी राज्य में, प्रत्यक्ष नियन्त्रण लगाये जाते है किन्तु लोकतन्त्रीय नियोजन में नियंत्रण परोक्ष रूप में लगाये जाते है। कोई भी स्थिति क्यों न हो, कल्याणकारी राज्य की स्थापना से सरकार द्वारा कुछ न कुछ हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक स्वतन्त्रता में भी कुछ कमी अवश्य होती है। परन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि उन लाभों को देखते हुए जो कि एक कल्याणकारी राज्य सम्पूर्ण समाज को प्रदान करता है क्या व्यक्तिगत स्वाधीनता में कुछ कटौती करना न्यायोचित नहीं है? कल्याणकारी राज्य अपने प्रत्येक नागरिक

को न्यूनतम निर्वाह-स्तर की गारण्टी देने का प्रयत्न करता है, यह असंख्य लोगों को निर्धनता, बेरोजगारी, बीमारी, दुर्घटना तथा वृद्धावस्था के सकटों से मुक्त करता है और अनेक ऐसी आवश्यक सेवाएँ प्रदान करता है जैसे कि नि:शुल्क शिक्षा, नि:शुल्क चिकित्सा, सस्ता आवास आदि आदि। जब ऐसा करता है तब कल्याणकारी राज्य कुछ मात्रा में व्यक्तिगत प्रेरणा तथा स्वतन्त्रता में अवश्य कटौती करता है। परन्तु अधिकांश लोगों का सही मत है कि कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए यह कीमत अधिक नहीं है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1	T W Kent	The Welfare State (a pamphlet)
2	D L Hobman	The Welfare State
3	Five Year Plan	Reports
4	India (Reference Annual)	Latest Edition

UNIVERSITY QUESTIONS

१ कल्याणकारी राज्य से क्या आशय है? इसके प्रमुख लक्षण बताइए। कल्याणकारी राज्य के मूलभूत उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

What is meant by a Welfare State? Explain its main characteristics Describe the basic aims of a Welfare State

२ कल्याणकारी राज्य की प्रमुख समस्याओं का वर्णन कीजिए।

Describe the main problems of a Welfare State

३ कल्याणकारी राज्य के विकास की विवेचना कीजिए। क्या आपकी दृष्टि में भारत एक कल्याणकारी राज्य है?

Discuss the evolution of the Welfare State Do you think that India is a Welfare State?

७

एकाधिकार का नियन्त्रण एवं नियमन
(Control and Regulation of Monopoly)

प्रारम्भिक—एकाधिकार से आशय (Meaning of Monopoly) ·

परम्परागत दृष्टि से, एकाधिकार से आशय बाजार की उस स्थिति से होता है जहां कि केवल एक विक्रेता होता है और जिसे वस्तु संभरण (supply) पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण प्राप्त होता है। एकाधिकार जब किसी उद्योग मे होता है तो फिर उस उद्योग मे अन्य लोगों का प्रवेश प्रतिबन्धित हो जाता है। कानूनी शब्दों मे, एकाधिकार उस एजेन्सी को कहते है जिसका कि किसी वस्तु के संभरण पर काफी नियन्त्रण होता है और इसलिए जो उस वस्तु की कीमत को प्रभावित करने की स्थिति मे होती है।

एकाधिकार की विद्यमानता के चिह्न (Indications of the Presence of Monopoly) :

जहाँ तक वास्तविकता का प्रश्न है, असल मे न तो पूर्णतया एकाधिकार की ही स्थिति विद्यमान होती है और न पूर्ण प्रतियोगिता की ही। इसके अतिरिक्त, व्यवहार मे एकाधिकारी शक्ति के अस्तित्व की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है और इस भिन्नता का निर्धारण लगभग पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति से एकाधिकार की स्थिति की ओर को होने वाले विचलन की मात्रा पर निर्भर होता है। विभिन्न उद्योगों के बीच कोई ऐसी सीमा-रेखा खींचना बड़ा कठिन है कि ये उद्योग एकाधिकारी है या नहीं। परन्तु फिर भी, कुछ ऐसे चिह्न अवश्य हैं जो बिना किसी भूल के व्यक्ति को इस बात के संकेत दे सकते हैं कि किसी उद्योग मे एकाधिकारी शक्ति विद्यमान है या नही।

एक प्रतिस्पर्धी बाजार (competitive market) मे, उदाहरण के लिए, किसी वस्तु की माँग और उसके संभरण में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ ही उस वस्तु की कीमत भी बदलती रहती है। इस प्रकार, बाजार जितना अधिक प्रतिस्पर्धी होता है बाजार दशाओ से कीमत उतनी ही अधिक प्रभावित होती है; और अत्यधिक संगठित प्रतिस्पर्धी बाजारों मे, जैसे कि सुसंगठित वस्तु या प्रतिभूति बाजारों में, यह कोई असाधारण बात नहीं है कि मूल्यनिर्ख (price quotations) मे छोटे सा छोटे परिवर्तन होने पर भी लगभग स्थायी रूप से कीमतो मे परिवर्तन होते हैं। किन्तु एकाधिकारी (*monopolist*) अपनी वस्तु की चाहे कितनी ही कीमत निर्धारित कर सकता है और उपभोक्ताओ को अपनी खरीद उस कीमत मे ही फिट करनी होती है। इस प्रकार, एक प्रतियोगी

उत्पादक के लिये जहाँ यह असम्भव होता है कि वह अपनी वस्तु की कीमत पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण करे, वहाँ एकाधिकारी उत्पादक को यह विशेषाधिकार प्राप्त होता है। कीमत पर नियन्त्रण की मात्रा जितनी अधिक होती है, एकाधिकार भी उतना ही अधिक पूर्ण होता है। इस प्रकार, एकाधिकार के अस्तित्व का सबसे पहला चिह्न किसी उद्योग की वस्तु की स्थिर कीमत तथा उसके उत्पादन के उतार-चढ़ावों से प्रकट होता है।

संभावित एकाधिकारी शक्ति का दूसरा चिह्न किसी एक ही फर्म या केवल थोड़ी सी ही फर्मों के हाथों में वस्तु की कुल उपज के एक बड़े अनुपात का केन्द्रीयकरण है। बड़ी संख्या में फर्मों की उपस्थिति के बावजूद, यदि उनमें से अनेकों का सचालन तथा स्वामित्व थोड़े से मालिकों के हाथों में है तो एकाधिकार के अस्तित्व के विषय में सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है।

यद्यपि कीमत की असामान्य स्थिरता और उत्पादन का बड़ी मात्रा में केन्द्रीयकरण सम्भावित एकाधिकार के ही चिह्न हैं किन्तु कुछ बातें ऐसी भी हैं जो एकाधिकार के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न करती हैं। ये बातें हैं अनेकों तथा कथित स्वतन्त्र एवं प्रतियोगी फर्मों द्वारा किसी ठेके पर एक समान बोली लगाना, एक ही वस्तु अथवा सेवा के लिये विभिन्न ग्राहकों से भिन्न-भिन्न कीमतें लेना, बाजार को ऐसे क्षेत्रों में बाँट लेना जो पृथक्-पृथक् उत्पादकों के लिए नियत हों तथा व्यापार सभा का अस्तित्व आदि।

एकाधिकार की उत्पत्ति
(The Growth of Monopoly)

एकाधिकार शक्ति की उत्पत्ति की व्याख्या करते समय हमें निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण पहलुओं पर जोर देना होगा —

(क) कोई फर्म किस प्रकार एकाधिकारी शक्ति का रूप ले लेती है ? और

(ख) वह अपनी उस शक्ति को कैसे दीर्घकाल तक बनाये रखती है ?

प्रारम्भ में हमें इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना होगा कि कोई एकाधिकारी फर्म केवल उस समय तक ही बनी रह सकती है जब तक कि वह अपने सम्भावित प्रतियोगियों एवं प्रतिस्पर्द्धियों के प्रवेश पर रोक लगाये रखने में समर्थ हो सके। यदि किसी एक फर्म को एकाधिकार के रूप में बने रहना है तो प्रतियोगियों के प्रवेश पर कुछ बाधाएँ तो लगानी ही होंगी। इस दृष्टि से, एकाधिकार पूर्ण प्रतियोगिता से मौलिक रूप में भिन्न है जहाँ कि किसी भी फर्म के प्रवेश पर कोई बाधा नहीं होती। नीचे कुछ महत्वपूर्ण तत्व दिये गये हैं जो कि किसी उद्योग में एकाधिकारी शक्ति की उत्पत्ति तथा केन्द्रीयकरण को प्रेरित करते हैं —

(१) कच्चे माल के स्रोतों पर एकाधिकार का होना (monopoly on the sources of raw-material)—कभी-कभी किसी एक फर्म के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह ऐसे महत्वपूर्ण कच्चे माल के सम्पूर्ण अथवा अधिकांश संभरण पर नियन्त्रण कर ले जो कि किसी व्यवसाय के लिये आवश्यक होता है। एकाधिकारी फर्म को उस समय प्रकृति द्वारा सुविधा उपलब्ध हो जाती है जबकि कच्चे माल के वे पदार्थ अथवा साधन के एक ही स्थान पर केन्द्रित होते हैं या एक ही क्षेत्र में पाये जाते हैं। दक्षिणी अफ्रीका का हीरा उद्योग इसका उदाहरण है। हीरों की अधिकांश खानें दक्षिणी अफ्रीका एक छोटे से क्षेत्र में ही केन्द्रित है इसी कारण डी बियर्स ने हीरे की इन खानों पर सरलता से अधिकार कर लिया और संसार भर को हीरों की पूर्ति करने

प्रोफेसर प्रेस्ट (Prof. Prest) ने कुछ ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमे कि परोक्ष करो के समर्थन मे दिया गया प्रशासनिक तर्क बलशाली प्रतीत होता है।[13] उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि छोटे-छोटे और स्वतन्त्र उत्पादको की एक बहुत बडी सख्या हो अथवा अधिकाश लोग अशिक्षित हो तथा हिसाब-किताब रखने मे असमर्थ हो, अथवा यह भी हो सकता है कि अर्थव्यवस्था मे अदल-बदल (batter) करने वाले तथा केवल निर्वाह मात्र करने वाले वर्ग अधिक महत्वपूर्ण एव उल्लेखनीय हो। ये कारण विशेष रूप से कम विकसित देशों में पाये जाते हैं और इन देशो मे परोक्ष कराधान के प्रबल प्रभाव के लिए भी ये ही उत्तरदायी है।

निष्कर्ष (Conclusion) .

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच प्रशासन (administration) के आधार पर की जाने वाली ऐसी तुलना, कि परोक्ष कर प्रत्यक्ष करो से श्रेष्ठ है, दोषपूर्ण है।

(III) वितरणात्मक दृष्टिकोण (Distribution point of view) .

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के वितरणात्मक पहलुओ (distributional aspects) के आधार पर भी इन दोनो की तुलना की जा सकती है। यह कहा जाता था कि पूँजीवादी व्यवस्था मे आय की असमानता को कम करने के लिए प्रत्यक्ष कर विशेष रूप से उपयुक्त थे। अत प्रत्यक्ष करो को अधिक आरोही (very progressive) माना जाता था। साथ ही, परोक्ष कर चूँकि सभी आमदनियो पर पड़ते है, अत उनको सामान्यत अवरोही अथवा प्रतिगामी (regressive) माना जाता है।

तथापि, जहाँ तक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करो के वितरणात्मक प्रभावो का सम्बन्ध है, यदि इन का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि दोनो ही प्रकार के कर एक से ही सिद्धान्तो से प्रशासित होते है तथा वे आधार रूप मे एक दूसरे से भिन्न नही है। यह भी कहा जाता है कि आय के पुनर्वितरण की ऐसी कोई भी योजना, जिसे कि वाञ्छनीय समझा जाय, दोनो मे से किसी भी प्रकार के कराधान द्वारा पूरी की जा सकती है। हाँ यह अवश्य है कि दोनो प्रकार के करो द्वारा ऐसा पुनर्वितरण करने की प्रक्रिया (process) भिन्न होगी। प्रत्यक्ष करो की स्थिति मे आय का समायोजन (adjustment) घुणक बाजार (factor market) द्वारा होता है, क्योंकि व्यक्ति की आय की मात्रा तथा अदा किये जाने वाले कर की मात्रा के बीच एक व्यवस्थित सम्बन्ध पाया जाता है। परोक्ष करों की स्थिति मे, आय के समायोजन की प्रक्रिया वस्तु बाजार (commodity market) द्वारा सम्पन्न होती है। इस आधार पर यह कहना कठिन है कि प्रत्यक्ष कर आरोही होते है और परोक्ष कर अवरोही। वास्तविकता यह है कि यदि एक प्रत्यक्ष कर भी उपभोक्ता पर पड़ता है तो वह अवरोही (regressive) कहलायेगा। इसी प्रकार, विलासिता की वस्तुओं पर लगाया जाने वाला परोक्ष कर उत्पादन के साधनो का अन्तरण (shifting) उत्पादन के उन क्षेत्रो की ओर कर सकता है जो कि सामान्य जनता की मांग को पूरा करते हैं। इस स्थिति मे, एक परोक्ष कर भी उतना ही आरोही (Progressive) हो सकता है जितना कि एक प्रत्यक्ष कर।

करो का परस्पर पूरक होना—डि मार्को के विचार (Complementarity—De Marco's Views)

दोनो ही प्रकार के करों का किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है यह बात विशिष्ट परिस्थितियो मे उस कर की उपयुक्तता (suitability) तथा क्षमता पर निर्भर है। कुछ परिस्थितियो मे, प्रत्यक्ष करो के मुकाबले परोक्ष कर लगाना अधिक अच्छा हो सकता है। उदाहरण के लिए, एक सीमा ऐसी आ सकती है कि उससे आगे प्रत्यक्ष कर लगाना उपयुक्त न हो, क्योंकि उस स्थिति मे कर को करदाता की अपेक्षाकृत अधिक प्रतिरोध का सामना करना होगा। ऐसे मामलो मे स्पष्टत. परोक्ष करो को चूँकि श्रेष्ठ क्रमवर्धन (fine graduation) में नही ढाला जा सकता, अत: ये कर सरल आरोही पद्धति का निर्माण नही करते। इसी प्रकार, साधनो के बँटवारे के मामले मे भी, एक

13. A. R. Prest op. cit, p 142.

परन्तु चूँकि बाजार मे एक से अधिक फर्मों को खपाने की क्षमता नहीं होती अतः केवल सबसे बडी तथा सबसे अधिक कुशल फर्म को छोड़कर अन्य सभी फर्मों को वह उद्योग छोडना होता है। यहाँ यह उल्लेख करना भी सामयिक होगा कि उत्पादन के कुछ क्षेत्रो मे बड़े पैमाने की व्यवस्थाओ की विद्यमानता के कारण बड़े पैमाने पर ही उत्पादन होता है और इससे एक फर्म के एकाधिकरण की उत्पत्ति संभव हो सक्ती है। या तो अनुकूलतम फर्म ही इतनी बडी हो अथवा बाजार ही इतना छोटा हो कि उक्त परिस्थितियों के अन्तर्गत केवल एक ही फर्म ही केवल काम कर सके।

(६) एक ही कम्पनी द्वारा उत्पादन की गुप्त प्रक्रिया पर नियन्त्रण होने पर (contract compect process of a single Co.)—एकाधिकारी फर्म तब भी उत्पन्न हो जाती है जबकि किसी एक ही कम्पनी द्वारा उत्पादन की किसी गुप्त प्रक्रिया पर नियन्त्रण कर लिया जाता है। किसी महत्वपूर्ण वस्तु का उत्पादन किसी ऐसी प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है जिसका ज्ञान केवल किसी फर्म या किसी व्यक्ति को ही हो। किसी कम्पनी का भाग्यशाली मालिक बड़ी मात्रा में धनोपार्जन करने मे समर्थ हो सकता है परन्तु ऐसे एकाधिकार अधिक सख्या में नही पाये जाते।

(७) संयुक्तीकरण द्वारा एकाधिकार (monopoly through combination)—संयुक्तीकरण के फलस्वरूप भी एकाधिकारो का जन्म होता है। यह हो सकता है कि किसी उद्योग की बहुत सी प्रतियोगी फर्में वस्तुओ की कीमतो तथा उपज के सम्बन्ध मे प्रतियोगिता समाप्त करने और बाजार का विभाजन करने के सम्बन्ध मे परस्पर कोई ऐच्छिक समझौता कर लें। इस स्थिति मे, या तो यह हो सकता है कि उनमे से सभी फर्में अपना पृथक् अस्तित्व समाप्त कर दें और एक ट्रस्ट (trust) के रूप मे संगठित हो जाएँ, अथवा यह कि वे पूर्ववत् अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखें, जिसके उदाहरण हैं व्यापार संघ, पूल (pool), तथा उत्पादक सघ आदि। उत्पादन तथा बिक्री मे एकाधिकार या तो प्रतियोगी फर्मों के ऐच्छिक एकीकरण द्वारा हो सकता है अथवा अनिवार्य एकीकरण द्वारा भी। दूसरे प्रकार का एकीकरण तब होता है जबकि कोई शक्तिशाली कम्पनी अपने कम शक्तिशाली प्रतियोगियो को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वे अपने हित उसे बेच दें और उद्योग से बाहर हो जाएँ अथवा पहली कम्पनी मे अपना विलय कर लें। अनेक मामलो मे, शक्तिशाली फर्म, अपने विशाल वित्तीय साधनो के बल पर घातक प्रतियोगिता (cut-throat competition) का सहारा ले सकती है और प्रतियोगी फर्मों को उद्योग से बाहर निकाल सकती है अथवा उन्हें अपने साथ विलय के लिए बाध्य कर सकती है।

प्रश्न यह है कि ऊपर जिन विभिन्न प्रकार के एकाधिकारो का वर्णन किया गया है, उनमे से किसमे अपने को स्थिर रखने की स्वाभाविक प्रवृति पाई जाती है? कच्चे माल के स्वामित्व पर अथवा उत्पादन की किसी गुप्त प्रक्रिया (secret process) के अधिकार पर आधारित एकाधिकार अधिक समय तक जारी नही रह सकते। जिस क्षण भी कच्चे माल के अन्य स्रोतो की खोज कर ली जाती है अथवा किसी वस्तु के निर्माण की गुप्त प्रक्रिया या कोई वैकल्पिक प्रक्रिया का आविष्कार कर लिया जाता है, तभी ऐसे एकाधिकार भंग हो जाते हैं। बड़े पैमाने की व्यवस्था वाली बडी फर्म के अस्तित्व से अथवा एक से अधिक फर्मो को खपा सकने की बाजार की असमर्थता से भी स्थायी एकाधिकार का निर्माण नही होता क्योंकि यह सम्भव हो सकता है कि कोई प्रतिद्वन्द्वी (rival) किसी न किसी चरण मे, बाजार मे प्रवेश कर जाए, विशेष रूप से तब जबकि बाजार का विस्तार होता है। कानूनी एव संस्थागत प्रकृति के एकाधिकार भी अधिक लम्बे नहीं चलते क्योंकि पेटेन्ट, कापीराइट या ट्रेड मार्क, जिन पर कि वे आधारित होते हैं, कुछ निश्चित वर्षों के बाद समाप्त हो जाते हैं। एकीकरण या विलय आदि के द्वारा बनने वाले ऐच्छिक एकाधिकार भी या तो उस समय समाप्त हो जाते हैं जबकि उनमे भाग लेने वाली कुछ फर्में स्वतन्त्र हो जाती

का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। इस उदाहरण मे, एकाधिकारी शक्ति अपके सभी प्रतियोगियो को इच्छानुसार बाहर रखने मे समर्थ हुई।[1]

(२) सार्वजनिक हित का होना (emergency of public interest)—एकाधिकारो की उत्पत्ति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण सार्वजनिक हित (public interest) है। ऐसे एकाधिकारो को जनोपयोगी एकाधिकार कहा जाता है। बिजली, टेलीफोन तथा रेलवे परिवहन आदि की स्थिति मे यदि संभरण (supply) की व्यवस्था एक से अधिक कम्पनियो द्वारा की जाती है तो उससे भारी आर्थिक अपव्यय तथा असुविधा होती है और उपभोक्ताओ को ऊँची लागतें देनी पडती हैं। यह समाज के हित में होता है कि इन सेवाओ की व्यवस्था किसी एक ही कम्पनी द्वारा की जाए। अतः इन्हें सामाजिक एकाधिकार (social monopolies) कहा जाता है। इन्हे प्राकृतिक एकाधिकार भी कहा जा सकता है क्योकि ये प्राकृतिक रूप से ही उभर आते हैं और इन क्षेत्रो मे प्रवेश की एक संरक्षात्मक बाधा होती है—अर्थात् सरकार सामान्यतः ऐसे एकाधिकारो को नई कम्पनियों का प्रवेश रोकने का विशेषाधिकार प्रदान करती है।

(३) राज्य द्वारा एकाधिकार (Govt. monopolies)—सरकारी एकाधिकार भी होते हैं जिनका संचालन स्वय राज्य करता है। इसके सामान्य उदाहरण हैं—पोस्ट आफिस, सिक्के ढालना और कागजी मुद्रा छापना आदि। ये वे सेवाएँ हैं जो अत्यावश्यक हैं और जिनका संचालन संभवतः निजी कम्पनियाँ नही कर सकती अथवा जो प्राइवेट पार्टियो को नही सौंपी जा सकती। किन्तु कुछ देशो मे, सरकार ने मुख्यतः लाभोपार्जन के उद्देश्य से कुछ वस्तुओ पर नियन्त्रण लगाया है। इसके उदाहारण हैं नमक अथवा तम्बाकू पर सरकारी एकाधिकार। ये एकाधिकार राजकोषीय एकाधिकार कहे जाते हैं और आजकल इनकी संख्या मे वृद्धि हो रही है।

(४) कानून द्वारा संरक्षण होने पर एकाधिकार (monopolies as a result of legal backing)—कानून सरक्षण प्राप्त होने पर भी एकाधिकार उत्पन्न होते हैं तथा बराबर बने रहते हैं। ऐसे एकाधिकारो को कानूनी एकाधिकार कहा जाता है। पेटेन्ट व ट्रेडमार्क कानूनो के अन्तर्गत, प्रत्येक सरकार नये-नये लेख लिखने वालो, नई वस्तुओ की खोज करने वालो, नई-नई प्रक्रियाओ एवं विधियो का आविष्कार करने वालो के लिए पेटेन्ट, ट्रेडमार्क तथा कापीराइट आदि स्वीकार करती है। जब कोई फर्म किसी विशेष वस्तु के उत्पादन के लिये पेटेन्ट अधिकार प्राप्त करती है तो उसे उत्पादन मे पूर्ण एकाधिकार प्राप्त हो जाता है और अन्य उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन-कार्य से बाहर रहते हैं। इसमे प्रतिद्विन्द्वी उत्पादको द्वारा नकल करने के विरुद्ध भी कानूनी संरक्षण प्रदान किया जाता है। कानूनी एकाधिकारो के दो विशिष्ट लक्षण उल्लेखनीय हैं। एक तो, यह कि पेटेन्ट अधिकार तथा ट्रेडमार्क आदि धारको को सदा के लिए नही दे दिये जाते, अपितु केवल कुछ निश्चित वर्षों के लिए ही दिये जाते हैं। दूसरे, पेटेन्ट अधिकार और ट्रेडमार्क से, हो सकता है कि पूर्ण एकाधिकार उत्पन्न न हो, वल्कि एकाधिकारी शक्ति के विकास की प्रवृत्ति उत्पन्न हो।

(५) सम्पूर्ण मांग की पूर्ति के लिए एक ही फर्म की आवश्यकता होने पर (need of only one firm to serve the entire market)—कभी-कभी किसी फर्म को एकाधिकार तब भी प्राप्त हो जाता है जबकि किसी वस्तु के बाजार की सम्पूर्ण मांग केवल किसी एक ही फर्म द्वारा पूरी कर दी जाती है। प्रारम्भ मे, यह हो सकता है कि किसी उद्योग मे दो या दो से अधिक फर्मे हो

1. The term "natural monopoly" has been used differently sometimes to refer the monopoly of natural resources, sometimes to refer to monopoly to resources of the inability of a market to accomodate more term"

नियन्त्रक कम्पनी : संघ के सम्बन्ध मे उठाई गई आपत्तियो को दूर करने की दृष्टि से नियन्त्रक कम्पनी (Holding Company) का सुझाव दिया गया। नियन्त्रक कम्पनी एक ट्रस्ट के समान होती है जो कि अनेक सहायक उद्यमो पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से बनाई जाती है और यह उद्योगो के अधिकांश स्टॉक को अपने अधिकार मे लेकर ऐसा करती है।

विलय · आजकल अधिकाश देशो मे, विलय करने की पद्धति का प्रयोग एकाधिकारी शक्तियो वाली विशाल सुपर-निगम के निर्माण के लिए किया जाता है। विलय (marger) का अर्थ है अनेक प्रतियोगी फर्मो का एक इकाई के रूप मे संगठित होना और पहली सभी इकाइयो का पृथक् अस्तित्व समाप्त होना। प्राय: ऐसा होता है कि एक बडी कम्पनी छोटी-छोटी कम्पनियों को उस समय तक खरीदती रहती है जब तक कि वह एक सुपर कम्पनी न बन जाए।

उपर्युक्त प्रकार के एकाधिकारी सगठनो के अतिरिक्त, जो कि औपचारिक तथा पूर्ण होते हैं, कुछ ढीले किस्म के सगठन भी होते हैं। उदाहरण के लिए, प्रतियोगी फर्मों के बीच **अनौपचारिक समझौते अथवा करार** (Informal Agreement) हो जाते हैं जिन्हे कि **"भद्र करार"** (Gentlemen's Agreements) भी कहा जाता है। इन करारो के अनुसार, मूल्यो की प्रतियोगिता तथा अन्य प्रकार की प्रतियोगिताओ को समाप्त कर दिया जाता है और परस्पर "जियो और जीने दो" की नीति अपनाई जाती है। जहाँ अनेक प्रभावशाली व्यक्ति अनेको स्वतन्त्र कम्पनियो के डायरेक्टर बने होते हैं वहां अन्तर्ग्रथित निदेशालय (interlocking directorates) स्थापित हो जाते हैं। यद्यपि कम्पनियाँ परस्पर कोई औपचारिक करार या समझौता नही करती परन्तु समान डायरेक्टरो की विद्यमानता के कारण वे परस्पर सामान्य समझ एव प्रभावपूर्ण सहयोग से काम लेते हैं। आजकल **व्यापार संघ** (Trade Association) बहुत अधिक लोकप्रिय हो रहा है। यह उद्योग की किसी भी शाखा मे व्यवसायियो अथवा उद्यमकर्त्ताओ का एक सगठन होता है जिसके द्वारा वे अपनी स्वतन्त्रता को समाप्त किये बिना तथा प्रकट रूप से प्रतियोगिता को भी समाप्त किये बिना अपने सामान्य हितो की वृद्धि करते है। व्यापार सघ व्यापारिक ज्ञान के आदान-प्रदान को सुविधाजनक बनाता है, उद्योग के लाभार्थ अनुसन्धान करता है तथा विज्ञापन का राष्ट्रीय पैमाने पर अभियान चलाता है। सक्षेप मे, सम्बन्धित उद्योग के हितो की रक्षा तथा उनमे वृद्धि करने के लिए यह सब कुछ करता है। इसका उपयोग ऐसी कीमतें निर्धारित करने के लिए किया जा सकता है जिससे कि घातक प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न न हो। अन्त मे, मूल्य-नेतृत्व (price leadership) जो कि किसी उद्योग की प्रमुख फर्म मे निहित होता है, उसका भी उपयोग एक अधिकारी सगठन के निर्माण मे किया जा सकता है। **मूल्य नेता** (Price Leadership) का बाजार के एक बडे भाग पर अधिकार होता है और उसके व्यापक वित्तीय साधन होते हैं। यदि यह चाहे तो, उद्योग की प्रतिद्वन्द्वी फर्मो को प्रतियोगिता से बाहर तथा समाप्त तक भी कर सकता है। परन्तु यह छोटी फर्मों को उस समय तक बनी रहने देता है जब तक कि वे नेता-फर्म की मूल्य-नीतियो का अनुसरण करती है। वास्तव मे, बडी सख्या मे छोटी-छोटी फर्मों की उपस्थिति मूल्य-नेता के लिए इसलिये अच्छी होती है क्योकि इसके द्वारा वह अधिकारियो के सम्मुख प्रतियोगिता का एक कृत्रिम ढांचा बनाये रखता है।

राष्ट्रीय संगठनो के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। सन् १६३० की मन्दीकाल तथा युद्धोत्तरकाल मे, सामाजिक महत्व के कच्चे माल तथा अन्य पदार्थों के उत्पादन एव वितरण पर नियन्त्रण रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूल करार (international pool agreements) किये गये। कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय पूल करार राष्ट्रीय एकाधिकारो के

है अथवा तब जबकि बाजार मे ऐसे नये तथा शक्तिशाली प्रतियोगियों का उदय हो जाता है जो कि एकाधिकार संघ मे सम्मिलित होने से इन्कार कर देते हैं। सरकार के लिए भी यह सम्भव होता है कि कानूनी कार्यवाहियाँ करके एकाधिकारो को भंग कर दे। किन्तु एक प्रकार का एकाधिकार ऐसा अवश्य है जिसमे कि लम्बे समय तक जारी रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है और सामाजिक एकाधिकार अथवा जनोपयोगी एकाधिकार (public utility monopoly)। न केवल जनोपयोगी फर्म ही सम्भावित प्रतियोगिता को दूर रखने का प्रयत्न करती है, बल्कि कार्य-कुशलता एवं मितव्ययता के नाम पर स्वयं समाज भी एकाधिकार का बने रहना पसन्द करती है। यह समाज के हित में ही होता है कि उद्योग का नियन्त्रण किसी एक ही फर्म द्वारा किया जाय।

एकाधिकारी संयुक्तीकरण के रूप
(Forms of Monopolistic Combination)

एकाधिकारो का संयुक्तीकरण अनेक प्रकार से हो सकता है कुछ संयुक्तीकरण (combinations) तो लिखित तथा औपचारिक (formal) समझौतों पर आधारित होते हैं जबकि कुछ अन्य अलिखित एवं अनौपचारिक समझौतो पर। कुछ समझौतो से तो राष्ट्रीय एकाधिकार उत्पन्न होते हैं किन्तु कुछ स्थितियो मे, अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार संयुक्तीकरण की भी उत्पत्ति हो सकती है।

एकाधिकारी सगठन का एक सबसे प्राचीन रूप है संघ (pool)। इसके अन्तर्गत अनेक स्वतन्त्र कम्पनियाँ परस्पर समझौता करती है जिसके अनुसार व्यवसाय को किसी पूर्वनिर्धारित तरीके से अपने बीच बाँट लेती हैं। संघ समझौता विभिन्न प्रकार का होता है: (क) प्रत्येक भाग लेने वाली फर्म के लिए एक भौगोलिक क्षेत्र नियत कर दिया जाता है और वह फर्म बिना किसी बाहरी फर्म के प्रवेश के उस क्षेत्र का उपयोग करती रहती है, (ख) उत्पादन करने के लिए कुल उपज का एक निश्चित कोटा प्रत्येक फर्म के लिए नियत कर दिया जाता है; और (ग) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि संघ मे सम्मिलित सभी फर्मों के लाभ एकत्र कर लिये जाते हैं और फिर एक स्वीकृत आधार पर वे सभी के बीच बाँट दिये जाते हैं। योरोप मे, उत्पादक संघ (cartel) होते हैं जो कि अनेक बातों मे संघ से मिलते हैं। संघ की तरह ही उत्पादन-संघ समझौते मे भी बाजार का भौगोलिक विभाजन कर दिया जाता है, विभिन्न फर्मों के लिए उत्पादन का कोटा नियत कर दिया जाता है, कीमतें निर्धारित कर ली जाती हैं और पेटेन्ट का बँटवारा कर लिया जाता है आदि-आदि। सिंडीकेट (Syndicates) भी वैसे ही कार्य सम्पन्न करते हैं जैसे कि उत्पादक-संघ तथा पूल समझौते के अन्तर्गत सम्पन्न किये जाते हैं। इन समझौतो का सामान्य प्रभाव यह होता है कि प्रतियोगिता प्रतिबन्धित हो जाती है, उत्पादन सीमित हो जाता है और अपेक्षाकृत ऊँची कीमतें बनाये रखी जाती हैं। किन्तु संघ समझौते संगठन का एक कमजोर स्वरूप है क्योकि ये कानूनी रूप से लागू नही किए जा सकते।

प्रन्यास (trust)—संभवत. संगठन की सबसे प्रसिद्ध किस्म है और विश्व भर मे प्रचलित है, विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमरीका मे प्रन्यास। अनेक कम्पनियो को मिलाकर बनाया जाता है जिसके शेयरधारियो की बहुसंख्या अपने शेयर न्यासधारियो या प्रन्यासियो के एक बोर्ड को सौंप देते है। बदले मे, उन्हें प्रन्यास प्रमाण-पत्र मिल जाते है जिनके द्वारा वे संघ के लाभो मे एक हिस्से के अधिकारी बन जाते हैं। उद्योग का नियन्त्रण ऐसे व्यक्तियों के एक छोटे से वर्ग के हाथ मे होता है जिनके विभिन्न निगमो को बहुसंख्या मे शेयर होते हैं और जिनको इस सम्बन्ध मे आवश्यक अधिकार प्राप्त होते हैं कि वे सभी कम्पनियो को एक इकाई के रूप मे चला सकें। अमेरिका मे, संगठन का यह रूप बहुत ही शक्तिशाली एवं निष्ठुर था और जनता इससे बहुत परेशान हो चुकी थी। ऐसे प्रन्यास अब वहाँ अवैध घोषित कर दिये गये हैं।

भाग जाता है और प्रतियोगी उद्योगो मे वाञ्छनीय मात्रा से अधिक भाग पहुँच जाता है। विभिन्न उद्योगों के बीच आर्थिक साधनो का यह गलत वितरण है और इससे राष्ट्र को सामूहिक हानि होती है।

(३) **निवेशकर्त्ताओं का दुरुपयोग** (abuse of investors)—एकाधिकारो की वृद्धि से आमतौर पर निवेशकर्त्ताओ का दुरुपयोग होता है। ऊँचे लाभों का आकर्षण एवं प्रलोभन दिखाकर तथा बाजार का स्थायी शोषण करके, एकाधिकारी सघों के संयोजक स्वतन्त्र व्यवसायियों तथा निवेशकर्त्ताओं को सघ मे सम्मिलित होने की प्रेरणा दिया करते हैं। कुछ मामलो मे, एकाधिकारी संघ बनाने की पहल आयोग की किसी ऊँची फर्म अर्थात् मूल्य नेता (price leader) द्वारा की जाती है। यद्यपि इन सगठनो एवं सघो को ऐच्छिक कहा जाता है, तथापि, छोटी-छोटी स्वतन्त्र व्यावसायिक इकाइयों को संघ मे सम्मिलित करने के लिए अनेक उचित-अनुचित तरीके अपनाये जाते हैं और गला-काट प्रतियोगिता अथवा घातक प्रतियोगिता करने आदि की भी धमकियां दी जाती हैं। एकाधिकारी इकाई के निर्माण की प्रक्रिया मे जब मूल इकाइयो की परिसम्पत्तियों (assets) तथा देयताओं (liabilities) को लिया जाता है तो इन इकाइयों की सम्पत्ति का पूँजीकरण उससे अधिक किया जाता है जितने मूल्य की वे वस्तुएँ होती हैं। संघों के निर्माता काफी मात्रा मे शेयर अपने लिये ले लेते हैं। अधिकाश मामलो में, जब एकाधिकारी सगठनो का निर्माण किया जाता है तो शेयरधारियों के हितो को हानि पहुँचाई जा सकती है।

(४) **आविष्कारों को रोकते हैं** (prevents inventions)—एकाधिकारो की एक महत्वपूर्ण आलोचना इसलिए की जाती है कि वे इस बात की कभी परवाह नहीं करते कि उत्पादन की नई-नई प्रक्रियाओ एव नई-नई विधियों की खोज की जाय या नये-नये आविष्कार किये जाएँ। इसका कारण यह है कि उनके लाभ उत्पादन की निरन्तर प्रगति पर निर्भर नहीं होते। बल्कि यहाँ तक भी सभव हो सकता है कि उचित अथवा अनुचित साधनो से वे नये आविष्कारो पर नियन्त्रण तक लगाने का प्रयत्न करें, जिससे कि वे आविष्कार कोल्ड स्टोरेज मे ही पड़े रहें और उद्योग की चालू स्थिति को अस्त-व्यस्त न करें। इस प्रकार, एकाधिकार नियोजित आर्थिक विकास के लिए एक बाधा के रूप में कार्य कर सकते हैं।

(५) **आर्थिक पद्धति की अस्थिरता** (instability of the economic system)—एकाधिकारो पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि ये आर्थिक व्यवस्था मे अस्थिरता उत्पन्न करते हैं। *अच्छे व्यवसाय के दिनों म एकाधिकार सामान्यत अपनी वस्तुओ की स्थिर कीमतें ही बनाये* रखते हैं बमुकाबले इसके कि उत्पादन बढाये और प्रति इकाई लागत घटायें—और ऐसी नीतियाँ निश्चित रूप से व्यावसायिक विनाश तथा मन्दी उत्पन्न करती है। उधर, मन्दी काल मे भी, एकाधिकारी फर्में अपनी ऊँची कीमतो को बनाये रखना चाहती हैं, और कम कीमत पर अधिक बेचने की बजाए स्थिर कीमत पर कम बेचना चाहती हैं। इस नीति से श्रमिको तथा उत्पादन के अन्य उपादानों मे बेकारी फैलती है, उपभोक्ताओ की क्रय शक्ति कम हो जाती है जिसका सभी उद्योगो पर प्रभाव पडता है और मन्दी का एक आधोगामी चक्र उत्पन्न हो जाता है। अनेक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, चक्रीय मन्दी उस समय तक न तो समाप्त ही की जा सकती है और न उसकी कठोरता को ही कम किया जा सकता है, जब तक कि अनेको उद्योगो का नियन्त्रण एकाधिकारो द्वारा अपने कठोर एव स्थिर मूल्यों के माध्यम से किया जाता रहेगा।

(६) **अनुचित साधनों का प्रयोग** (use of unfair means)—हम यह पहले भी बतला चुके है कि एकाधिकारी फर्में किस प्रकार अनुचित साधनों का प्रयोग करती हैं जिससे कि अन्य व्यावसायियों को हानि पहुँचती है। इनमे सबसे अधिक सामान्य तरीका मूल्य-विभिन्नता का

बीच भी सम्पन्न हुए हैं जिससे कि प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र मे उनके अपने-अपने एकाधिकारो की रक्षा की जा सके।

एकाधिकारों के आर्थिक परिणाम
(Economic Consequences of Monopoly)

अनेक देशो मे पूर्ण अथवा आंशिक एकाधिकारों के प्रति जनता का दृष्टिकोण अनेक वर्षो तक तीव्र विरोध का रहा है इस विरोध का मुख्य कारण एकाधिकार का दुरुपयोग रहा है।

एकाधिकार के दुरुपयोग (Abuses of Monopoly) :

(१) ऊँची कीमतें और सीमित उपज (high prices and restricted output)—एकाधिकार के सम्बन्ध मे एक मुख्य आपत्ति कीमतो तथा उपज पर इसके प्रभाव के सम्बन्ध मे तथा उस भार के सम्बन्ध मे की जाती है जो कि यह उपभोक्ताओ पर डालता है। एकाधिकारो की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वे उच्च एकाधिकारी कीमतें वसूल करें और उत्पादन को सीमित रखें। वास्तव मे, उच्च एकाधिकारी कीमत वसूल करने तथा लाभ की गुन्जाइश होने का प्रलोभन ही है जो कि प्रतियोगी फर्मों को एक साथ मिलने तथा एकाधिकार का निर्माण करने को प्रेरित करता है। जब कोई एक संगठन किसी वस्तु की सम्पूर्ण उपज पर अपना नियन्त्रण रखता है तो वह वस्तु की ऐसी कोई भी कीमत निर्धारित कर सकता है जिसे कि वह सर्वाधिक लाभप्रद समझे और उपभोक्ताओ के सम्मुख, जो कि उस वस्तु के बिना नही रह सकते, इसके अलावा और कोई चारा नही होता कि वे एकाधिकारी फर्म द्वारा निर्धारित कीमत ही अदा करें। किन्तु व्यवहार में, वस्तु की मनचाही कीमतें निर्धारित करने तथा वस्तु का मनमाना उत्पादन करने तथा उत्पादित वस्तु का मनमाना भाग बाजार मे लाने की भी कुछ सीमाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी कोई स्थानापन्न वस्तु हो सकती है जिसकी ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं। अथवा, यह हो सकता है कि एकाधिकारी फर्म एकमात्र फर्म न हो और उसके वास्तविक अथवा सम्भावित प्रतियोगी वर्तमान हा। यदि अन्य प्रतियोगी वर्तमान हैं तो खुले या छिपे रूप मे मूल्यो की काँट-छाँट शुरू हो जायगी। फिर, इस बात की भी सम्भावना होती है कि यदि एकाधिकारी कीमतें अधिक ऊँची हुई तो सरकारी हस्तक्षेप सम्भव हो सकता है। इस कारण भी एकाधिकारी फर्में अधिक ऊँची कीमतें निश्चित नही करती। इन सब कारणो के बावजूद भी, जब एकाधिकार का निर्माण होता है तो कीमतें ऊँची जाती ही हैं। इस प्रकार, एकाधिकार का एक गम्भीर दुरुपयोग यही है कि यह ऊँची कीमतें वसूल करने के लिए वस्तु की उपज को सीमित करके उपभोक्ताओ का शोषण करता है।

(२) साधनों का गलत बँटवारा (wrong allocation of resources)—एकाधिकार की एक महत्वपूर्ण आलोचना यह की जाती है कि आर्थिक साधनो का गलत बँटवारा करता है। कुल उपज को सीमित करके, एकाधिकारी फर्म अपने ही लाभो को बनाये रखती है और बराबर अतिरिक्त लाभ प्राप्त करती रहती है। उत्पादन के जो अन्य उपादान उद्योग मे प्रवेश करना चाहते हैं उनके आवागमन को रोककर यह ऐसा करती है। चूँकि एकाधिकारी उद्योग उत्पादनों (factors) को उससे थोड़ी संख्या मे ही काम पर लगाता है, अतः इसका परिणाम यह होता है कि एकाधिकारी उद्योगो मे लगे उपादान अधिक पारिश्रमिक प्राप्त करते हैं और प्रतियोगी उद्योगो मे लगे उपादान कम पारिश्रमिक प्राप्त करते हैं। अन्य शब्दो मे, उद्योगों के बीच साधनो के वितरण मे सामान्य कुरूपता पाई जाती है, अर्थात् एकाधिकारी उद्योगो मे तो साधनो का वाञ्छनीय मात्रा से कम

इन्ही कारणों से एकाधिकार को एक सामाजिक बुराई समझा जाता है और सभी देशों मे ऐसे अनेक उपायो का सुझाव दिया जाता है जिनके द्वारा इसको नियन्त्रित एवं नियमित किया जा सके और कुछ स्थितियो मे इसे पूर्णतया समाप्त भी किया जा सके। परन्तु इन उपायों की विवेचना करने से पूर्व यह अच्छा होगा कि एकाधिकारो के महत्वपूर्ण गुणो का भी उल्लेख किया जाए। वास्तव मे, अभी हाल के वर्षो मे, ऊपर बताये गये एकाधिकारो के दोषो के मुकाबले इन गुणो को अधिक महत्व प्रदान किया गया है।

एकाधिकार के गुण (Merits of Monopoly) :

(१) **विश्वास के साथ मन्दी का मुकाबला करने की क्षमता** (ability to meet depression confidently)—एकाधिकार का सबसे महत्वपूर्ण गुण विश्वास के साथ मन्दी का मुकाबला करने की इसकी क्षमता है। अपने विशाल एवं विस्तृत वित्तीय साधनो के बल पर, एक एकाधिकारी फर्म गिरती हुई कीमतो तथा होने वाले नुकसानो के विरुद्ध वर्षों तक खडी रह सकती है, जबकि उसी अवधि मे, प्रतियोगी फर्में अपने छोटे आकार एवं सीमित वित्तीय साधनो के कारण बुरी तरह असफल हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त, कीमतो की सामान्य गिरावट का सामना करते समय, एकाधिकारी फर्म कीमतो के अपने चालू स्तर को ही बनाये रखने का प्रयत्न नही करेगी बल्कि माल उत्पादन तथा विक्रय भी कम करेगी ताकि कीमतो को ऊपर उठाया जा सके। इस प्रकार, एकाधिकार का सबसे बडा गुण इसकी वित्तीय शक्ति है और व्यावसायिक मन्दी से सफलतापूर्वक लड़ने की इसकी दृढता एवं स्थिरता है।

(२) **विशाल भौतिक साधन** (enormous physical resources)—एकाधिकारी फर्म काफी बडी होती है और उनके पास व्यापक मात्रा मे भौतिक साधन विद्यमान होते हैं। वे ऐसे किसी भी आविष्कार तथा उत्पादन की नई विधि का पता लगा सकते हैं जिसके कि वाणिज्यिक दृष्टि से सफल होने की आशा हो। एकाधिकारी फर्में आन्तरिक तथा वाह्य दोनो ही प्रकार की किफायतो का लाभ उठा सकती हैं, जिनके फलस्वरूप, उनकी प्रति इकाई उत्पादन-लागत कम हो सकती है और जब उत्पादन लागत कम होगी तो कीमतें भी कम ही होगी। इसलिए कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि एकाधिकारी कीमतें प्रतियोगी कीमतो से अधिक होंगी ही, यह कोई आवश्यक नही है। इसके अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि प्रतियोगी फर्में, परस्पर समन्वय न होने के कारण, तथा उत्पादन का आकार छोटा होने के कारण, व्यवहार मे अधिक कुशल सिद्ध न हो। एक अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था मे बडी फर्मों के लाभ वास्तव मे बहुत अधिक होते हैं क्योकि बड़े पैमाने के उत्पादन के कारण उन्हें आन्तरिक और विशेष रूप से बाह्य किफायतें भारी मात्रा मे प्राप्त हो जाती हैं।

(३) **विदेशी प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए** (to meet foreign competition)—फर्मो का संयुक्तीकरण इसलिये भी आवश्यक समझा जाता है ताकि विदेशी प्रतियोगिता से कारगर ढग से मुकाबला किया जा सके। इटली, जर्मनी, तथा अनेक योरोपियन देशो ने इसी कारण के आधार पर, प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तथा उसके पश्चात् एकाधिकारो के निर्माण को प्रोत्साहन दिया। यह भी देखा गया कि विदेशी बाजारो पर अधिकार करना और बाद मे उस अधिकार को बनाये रखना तब अधिक सरल होता था जबकि सब फर्में एक साथ मिल जाती थी।

(४) **बाजार में मन्दी का रुख होने की दशा में** (*in case if the market is depressed*)—एकाधिकार उस समय भी आवश्यक होते हैं जबकि बाजार मे मन्दी का रुख होता है और उद्योग में सभी प्रकार की फर्में विद्यमान होती है, अकुशल फर्में भी तथा परस्पर प्रतियोगिता

है। ट्रस्ट कम्पनियाँ तथा विलय होने वाली कम्पनियाँ विभिन्न क्षेत्रों में एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतें निश्चित करती हैं जिससे कि स्थानीय प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त किया जा सके। वे प्रायः लागत से भी नीची कीमतें तक निश्चित कर देते है जिससे कि स्थानीय प्रतियोगी अपना व्यवसाय बन्द कर दें अथवा एकाधिकारी ट्रस्ट कम्पनी के साथ अपना विलय स्वीकार कर लें। कुछ क्षेत्रों मे अत्यधिक नीची कीमतें निर्धारित करने से जो हानि होती है उसकी पूर्ति वे उन क्षेत्रों मे ऊँची कीमतें वसूल करके कर लेते हैं जहाँ कि कम्पनी को बिना किसी प्रतिद्वन्द्वी के पूर्ण एकाधिकारी शक्ति प्राप्त होती है। घातक प्रतियोगिता के रूप मे की जाने वाली ऐसी मूल्य-विभिन्नता को पसन्द नही किया जाता। अमेरिकन कम्पनियो द्वारा भूतकाल मे एक और अनुचित तरीका काम मे लाया जाता था और वह था गुप्त छूट (secret rebate) का तरीका। शक्तिशाली एकाधिकारी ट्रस्ट रेलवे कम्पनियो को इस बात के लिए बाध्य करते थे कि वे उनके प्रतियोगियो से ली जाने वाली भाडे की दरो के मुकाबले कम दरें वसूल करें। वे भाडे की नीची दरें वसूल करने के लिए या तो रेलवे कम्पनियो पर अपना नियन्त्रण रखकर जोर डाल सकती है अथवा उनको संरक्षण न देने की धमकी देकर। परिवहन की नीची दरो के द्वारा बड़े ट्रस्ट अनुचित रीति से छोटी-छोटी व्यावसायिक इकाइयो से प्रतियोगिता करते हैं। अनुचित प्रतियोगिता की एक और रीति अपनाई जाती है और वह यह कि ट्रस्ट व्यापारियो से इस बात का ठेका कर लेते हैं कि वे प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा उत्पादित वस्तुओ मे लेन-देन न करें। इस रीति के द्वारा एक व्यापारी को बाध्य किया जाता है कि वह केवल ट्रस्ट द्वारा उत्पादित वस्तुओं का ही लेन-देन करे। इसी प्रकार, कुछ अन्य अनुचित साधनो का भी प्रयोग किया जाता है जैसे प्रतिद्वन्द्वियों (rivals) के ट्रेड मार्कों का अतिलंघन करना तथा प्रतिद्वन्द्वी के उत्पादन की लोकप्रिय किस्मो को बदनाम करने के लिए "लडाकू ब्रॉण्ड" वस्तुओ का उपयोग करना आदि। इस प्रकार, एकाधिकार (monopolies) अनेक प्रकार के अनुचित साधनो का प्रयोग करते है, जिससे कि उद्योग के प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायियो को हानि पहुँचाई जा सके और यदि सम्भव हो तो उन्हे समाप्त किया जा सके। प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायियो की इस प्रकार समाप्ति अन्ततः एकाधिकारी संस्था के हित मे ही होती है।

(७) **भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी** (corruption and bribery)—एकाधिकारो के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण शिकायत यह की जाती है कि वे राजनैतिक भ्रष्टाचार उत्पन्न करते हैं और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशो मे इन्होने ऐसा किया भी है। विधायको (legislators) को इसलिये रिश्वत देना कि वे विधान मण्डलो को एकाधिकारो के विरुद्ध कानून पास करने से रोकें और जजो को इसलिए रिश्वत देना ताकि वे एकाधिकार-विरोधी कानूनो की उनके अनुकूल व्याख्या करें--ये अमेरिकन इतिहास के पिछले ५० वर्षों की अत्यन्त सामान्य घटनायें हैं। इसके अतिरिक्त राजनैतिक भ्रष्टाचार तब भी उत्पन्न होता है जबकि एकाधिकारी उच्च आयात-करो के रूप मे सरकार से विशेष रियायतें प्राप्त करने का प्रयास करते हैं ताकि विदेशी प्रतियोगिता से उनका बचाव हो सके और बिना बाहरी प्रतियोगिता ही उन्हे देशी बाजार का शोषण करने की अनुमति मिल जाए। आम चुनावो मे बडी-बडी धनराशियाँ व्यय की जाती है। राजनैतिक दलो को ये धनराशियाँ देकर एकाधिकारी विधायको पर अपना एहसान थोपते हैं। इस स्थिति मे, विधायक स्पष्टतः ही, अपने मतदाताओ के हितो की देखभाल करने की अपेक्षा अपने वित्तीय सहायको के आर्थिक हितो की वृद्धि करने मे ही अधिक रुचि लेते हैं। इस प्रकार, सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशो मे, एकाधिकार की समस्या कुछ विशिष्ट उद्योगो के एकाधिकारी नियन्त्रण तक ही सीमित नही रही है, अपितु इसका विस्तार सरकार की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के नियन्त्रण तक और समाचार-पत्र द्वारा-जनमत पर भी नियन्त्रण लागू करने तक हो गया है।

(ख) यदि वे अस्तित्व मे आ गये हो तो उनको भंग करना और अनेक प्रतियोगी फर्मों के रूप मे बिखरा देना; और

(ग) एकाधिकारी फर्मों को ऐसे अनुचित साधन अपनाने से रोकना जैसे कि गला-काट अथवा घातक प्रतियोगिता (cut throat competition) व "पूर्ण रेखीय दबाव" (full line forcing) आदि।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि विधान मण्डल द्वारा ट्रस्ट-विरोधी अधिनियम बडी सख्या मे पास किये जाने के बावजूद, एकाधिकारो को भग करने और उद्योगो मे प्रतियोगिता लागू करने की अमेरिकन नीति कोई विशेष रूप से सफल नही हुई है। कुछ एकाधिकारो ने तो कानून की बिल्कुल ही उपेक्षा कर दी और कुछ ने केवल अपनी क्रियाओ के लिए मिलने वाले दण्ड से बचने का प्रयास किया। यदि कभी सरकार किसी एकाधिकार को भग करने मे सफल भी हुई, तो भी वह पूर्ण प्रतियोगिता से युक्त बाजार-दशाएँ उत्पन्न करने मे समर्थ नही हुई। वास्तव मे, जब किसी एकाधिकार को भग करने का आदेश दिया जाता है, तो वह अपने को छोटी-छोटी प्रकट रूप मे पृथक् दिखाई देने वाली कई कम्पनियो मे बिखरा लेती है जिससे अल्पाधिकार (oligopoly) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है परन्तु अल्पाधिकार की स्थिति एक फर्म के एकाधिकार (monopoly) की स्थिति से किसी प्रकार भी श्रेष्ठ नही होती। इसके अतिरिक्त, अभी हाल के वर्षो मे एकाधिकारो पर नियन्त्रण करना और भी कठिन हो गया है क्योंकि उनमें से अनेको का जन्म व्यापार सघो की क्रियाओ के फलस्वरूप होता है अथवा बडी-बडी फर्मो के गुप्त एव औपचारिक सहयोग के कारण होता है। इन फर्मो के बीच एकीकरण के सम्बन्ध मे कोई वास्तविक करार नही होता। अन्त मे, एकाधिकारो के विनाश का अर्थ होगा उनके लाभो से भी हाथ धोना। एकाधिकार की समस्या का एक समुचित हल यह हो सकता है कि केवल इसकी हानियां को समाप्त किया जाए और कुछ ऐसे लाभों को ज्यों का त्यों बनाये रखा जाए जैसे कि बडे पैमाने का उत्पादन, वित्तीय शक्ति, उत्पादन में निरन्तरता एव स्थिरता और मन्दी का सामना करने की क्षमता आदि। अतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एकाधिकारो को भंग करना समस्या का कोई हल नही है और यह कि इसके लिए किसी वैकल्पिक नीति की तलाश की जानी चाहिए।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि "ट्रस्ट-विरोधी कानूनो के घर" संयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रारम्भ मे बनाये गये विधान का उद्देश्य एकाधिकारो के निर्माण को रोकना था, परन्तु बाद के कानूनो का उद्देश्य था एकाधिकारो की अनुचित कार्यवाहियां को समाप्त करके स्वस्थ एव उचित प्रतियोगिता बनाये रखना।

(२) उचित प्रतियोगिता को स्थापना (Maintenance of Fair Competition):

एकाधिकारी की शक्ति वस्तुतः इस तथ्य मे निहित होती है कि उसके सम्मुख किसी वास्तविक अथवा सम्भावित प्रतियोगिता का अभाव होता है अथवा उसे यह विश्वास होता है कि वह प्रतिद्वन्द्वी फर्मों के प्रभावपूर्ण कार्य संचालन को रोक सकता है। एकाधिकारी फर्मों के दुरुपयोगो के अन्तर्गत हम उन विभिन्न उपायो का जिक्र कर चुके हैं जिनके द्वारा कि एकाधिकारी फर्में प्रतिद्वन्द्वी फर्मों को नुकसान पहुँचाने और उन्हे नष्ट तक करने का प्रयत्न करती हैं। ऐसा करते समय वे अवैधानिक एवं अनैतिक तरीको का आश्रय लेने मे कोई सकोच नही करतीं। अनेक देशो मे, कानून इसीलिये बनाया गया है कि जिससे उचित प्रतियोगिता बनाये रखी जा सके और प्रतियोगी व्यापार के अनुचित तरीको को रोका जा सके। परन्तु एकाधिकारो पर रोक लगाने तथा सम्भावित प्रतियोगिता को बनाये रखने के मार्ग मे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आती

करने वाली फर्में भी। इस स्थिति मे, फर्मो का एकीकरण, अकुशल इकाइयो की समाप्ति, उन्नत उत्पादन-विधियो का विकास, उत्पादन-लागत का होना और देशी तथा विदेशी बाजार का विस्तार करने के लिए विज्ञापन तथा प्रचार करना अत्यावश्यक हो जाता है। विकासशील देश में, प्रत्येक वस्तु का बाजार छोटा तथा विस्तारशील होता है। इस स्थिति मे, यह अच्छा होगा कि प्रतियोगी फर्में बाजार का विस्तार करने के उद्देश्य से एक साथ मिल जाएँ। यहाँ एकीकरण का उद्देश्य यह नही होता है कि अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने के लिए उपज को सीमित किया जाए, बल्कि यह होता है कि बाजार के विस्तार के द्वारा अधिक उत्पादन किया जाए।

ये एकाधिकारो के ठोस लाभ हैं और सन १९२९-३३ की बडी मन्दी के समय से ही इनको अधिकाधिक महत्व प्रदान किया जा रहा है जिसके कारण अब एकाधिकारो के नियंत्रण एवं नियमन के सम्बन्ध मे काफी विचार-परिवर्तन हो गया है। पश्चिमी देशो मे एकाधिकारो के लाभो को भारी महत्व प्रदान किया जाता है और व्यापार संघो आदि के रूप मे फर्मों के एकीकरण की ओर रुझान बढ़ रहा है।

एकाधिकार का नियन्त्रण तथा नियमन
(Control and Regulation of Monopoly)

१६वी शताब्दी की अन्तिम तिमाही तक, सरकारो को किसी एकाधिकारी समस्या का ज्ञान नहीं था। यह समस्या इंगलैण्ड जैसे देशो मे भी वर्तमान नही थी, जहाँ कि प्रत्येक उद्योग मे अनेक प्रमुख फर्में विद्यमान थी। लगभग एकाधिकारी एकीकरण पहले रेलवे कम्पनियों का हुआ। ये कम्पनियाँ आम यातायात आदि के लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से परस्पर मिल गई थी। एकाधिकारी एकीकरण की समस्या केवल संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा ऐसे नये देशो मे उत्पन्न हुई जहाँ कि निवेश के काफी अवसर विद्यमान थे और जहाँ एकाधिकारी संघो के लाभ भी काफी अधिक थे। इसके साथ ही, प्रत्येक व्यक्ति व्यवसाय को आरम्भ तथा संचालन करने के अवसर की तलाश मे था और पहले से ही स्थापित फर्मों के धमकीपूर्ण रुख तथा घातक प्रतियोगिता का सामना करने की स्थिति मे नही था।

(१) एकाधिकार-विरोधी विधान (Anti-monopoly Legislation) :

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिका, कनाडा, पश्चिमी जमनी तथा अन्य अनेक देशो में एकाधिकारो को रोकने और यहाँ तक कि उनको भंग करने के लिए भी कानून बनाये गये। संयुक्त राज्य अमेरिका मे, सन् १८८० का शर्मन ट्रस्ट-विरोधी अधिनियम तथा संघीय आयोग अधिनियम (Federal Commission Act), तथा सन् १९३६ को रोबिन्सन पैटमैक अधिनियम आदि सब कानून के लिए ही बनाये गये थे। वास्तव में, संयुक्त राज्य अमेरिका मे एकाधिकार के नियन्त्रण को ऐसी महत्वपूर्ण समस्या समझा जाने लगा कि राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च पद के चुनाव-अभियान मे भी इसको प्राय. सम्मिलित किया गया। उदाहरण के लिए, सन् १९१२ मे जन वुडरोविल्सन प्रेसीडैन्सी के लिए चुने गये चुनाव सम्बन्धी एक मच पर माँग की गई कि एकाधिकार पर अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण लगाया जाए, और उनके राष्ट्रपति चुने जाने के एकदम पश्चात् ही शर्मन अधिनियम में संशोधन करने का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया गया था। इसके पश्चात् अमेरिका मे ट्रस्ट-विरोधी विधान को लागू करने के निरन्तर प्रयास किये जाते रहे और इस अवधि में, सरकार ने व्यापार-संघो से सम्बन्धित सैकडो मुकद्दमे सफलापूर्वक लड़े। एकाधिकार-विरोधी कानूनो द्वारा तीन कार्य करने का प्रयत्न किया गया :—

(क) एकाधिकारी फर्मों को अस्तित्व मे आने से रोकना;

कर दूसरे कर से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। प्रो० प्रेस्ट का कहना है कि "प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर, काफी व्यापक रूप में, आय के ऐसे किसी भी विशिष्ट पुनर्वितरण के वैकल्पिक साधन हैं जिस ओर कि *तत्कालीन सरकार का झुकाव हो।*"[14]

करो की दोनो ही प्रकार की व्यवस्थाएँ एक दूसरे की पूरक (complementary) है। वाञ्छनीय यह है कि राष्ट्रीय आय की सभी श्रेणियों तथा उसके सभी भागो का यथासम्भव समान मूल्याकन किया जाना चाहिए और समान रूप मे ही उन सभी पर कर लगाये जाने चाहिये और यह कार्य सर्वोत्तम रीति से तब किया जा सकता है जबकि प्रत्येक नागरिक के राजकोषीय दायित्व (fiscal obligation) को प्रत्यक्ष एव परोक्ष करो के बीच विभाजित कर दिया जाय। किसी भी आय पर प्रत्यक्ष कर लगाये जाने से पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका सही-सही मूल्याकन किया जाए। किन्तु व्यक्ति की आय का सही मूल्याकन (correct appraisal) तो कभी-कभी ही सभव होता है। प्राय ऐसा होता है कि कुछ आय तो मूल्याकन से बिल्कुल ही बच जाती है और कुछ का कम मूल्याकन हो जाता है। मूल्याकन का आधार चाहे कुछ भी क्यो न हो, कुछ आय तो निश्चय ही पूर्णत अथवा आशिक रूप से निर्धारण से बच ही जाती है। प्रत्यक्ष मूल्याकन में पाई जाने वाली अशुद्धियाँ तथा कमियाँ तथा प्रत्यक्ष करो का छिपाया जाना एव उनसे बचना—ये सब बातें परोक्ष करो की पद्धति द्वारा मालूम की जा सकती है और ठीक भी की जा सकती हैं। अन्य शब्दो में, जो आय प्राप्ति के समय प्रत्यक्ष मूल्याकन में पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से, सफलता पूर्वक बचा ली जाती है, वह परोक्ष कराधान की रीति द्वारा आगे चलकर उस समय फिर ली जा सकती है, जबकि व्यक्ति उसको व्यय करता है। इस प्रकार, करदाता का कर अदा करने का राजकोषीय दायित्व या तो पूर्णत प्रत्यक्ष कराधान द्वारा अथवा पूर्णत परोक्ष कराधान द्वारा, अथवा अशत प्रत्यक्ष और अशत परोक्ष कराधान द्वारा पूरा कराया जा सकता है। वह राजकोषीय पद्धति (fiscal system) जिसमे कि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष, दोनो ही प्रकार के कर साथ-साथ लागू किये जाते हैं अथवा केवल परोक्ष कर। इन मानो मे, ये दोनो ही प्रकार के कर एक दूसरे के पूरक हैं।[15]

इसके अतिरिक्त करो का ऐसा विभाजन इस बात को भी सभव बनाता है कि आय की उन असमानताओ को कम किया जा सके जो कि तब उत्पन्न हो जाती है जबकि करो की दोनो मे से केवल एक ही व्यवस्था वर्तमान होती है अथवा जब इन दोनो मे से केवल एक ही उन्नत हो जाती है। दोनो ही प्रकार के करो का उपयोग करने से करो की एक अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण व्यवस्था की स्थापना हो जाती है व मुकाबले उस व्यवस्था के जो कि किसी एक प्रकार के करो का उपयोग करने से स्थापित होती, और करो की ऐसी पूर्ण व्यवस्था चूंकि अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागो पर समान दबाव डालती है, अत कराधान मे अपेक्षाकृत अधिक समानता लाने के साथ ही साथ इस बात के विषय मे भी आश्वस्त करती है कि उससे राजस्व की अधिकतम सभव प्राप्ति हो सके। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों की समन्वयपूर्ण कार्रवाई (coordinated action) से एक अधिक लोचपूर्ण कर-पद्धति की स्थापना सभव हो जाती है जो कि करो का अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ वितरण करने मे समर्थ होती है।

एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करने के अतिरिक्त, दोनो ही करो की पद्धतियाँ उन संघर्षोत्पादन शक्तियो (frictional forces) को भी न्यूनतम करती हैं जो कि दोनो ही करो के सग्रह मे सामने आती हैं। परोक्ष कराधान की पद्धति सघर्ष करने वाली शक्तियो को इसलिये न्यूनतम करती है क्योकि (१) कर ठीक उसी समय एकत्र किया जाता है जबकि आय खर्च की जाती है, और (२) भुगतान की राशि को ऐसी छोटी-छोटी किस्तो मे विभाजित कर दिया जाता

14 A R Prest op cit, p 123 "Over a wide range, direct and indirect taxes are alternative methods of achieving any particular redistribution of income on which the government of the day may be bent"

15. बहुत से अर्थशास्त्री दोनो ही प्रकार के करो के परस्पर पूरक होने की बात को स्वीकार तो करते हैं परन्तु अनिवार्यत उस रूप मे नही जैसा कि हिमार्को ने वर्णन किया है और जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है।

है। सबसे महत्वपूर्ण कठिनाई कानून से बचने की सम्भावना की है। उदाहरण के लिए, एकाधिकारी व्यक्ति व्यापारियो तथा प्रतियोगियों से मिल सकते हैं और मिलकर कीमतो तथा कुल उपज की मात्रा का निर्धारण कर सकते हैं। इस स्थिति मे, सरकार के लिए उनका पता लगाना बड़ा कठिन होता है। फिर, यह भी हो सकता है कि कोई एकाधिकारी घटी हुई लागतो तथा बढ़ी हुई कार्यक्षमता के आधार पर कीमतों मे कटौती कर दे, यद्यपि उसका वास्तविक उद्देश्य यही होता है कि प्रतियोगियो को समाप्त किया जाए अथवा संभावित प्रतियोगियों को समाप्त किया जाए अथवा संभावित प्रतियोगियो को बाजार मे प्रवेश करने से रोका जाए। एकाधिकारियों द्वारा की गई ऐसी कार्यवाही सरकार को बड़ी खराब स्थिति मे ला पटकती है। सरकार एकाधिकारी के विरुद्ध कोई कार्यवाही इसलिये नही कर सकती क्योंकि एकाधिकारी यह कह सकता है कि कीमत मे की गई कमी उचित है और वह उपभोक्ताओ की सहायता के लिए है। कोई कार्यवाही न कर सकने का परिणाम यह होगा कि एकाधिकारी वास्तविक एवं संभावित प्रतियोगिता को समाप्त कर देगा और अपनी शक्ति बढ़ा लेगा। फिर, एकाधिकारी विभिन्न नामो से अपनी और ऐसी फर्में स्थापित कर सकता है जो कि उसके प्रतिद्वन्द्वियो की उत्पादित वस्तुओं को कम बेचें। जब प्रतिद्वन्द्वी उखाड़ दिये जाते हैं अथवा मुख्य फर्म मे विलीन हो जाते हैं तो एकाधिकारी अपनी फर्जी फर्मों को बन्द कर सकता है। इस प्रकार, अनेक ऐसे उपाय है जिनके द्वारा एकाधिकारी व्यक्ति या फर्में स्वस्थ प्रतियोगिता की स्थापना को कठिन बना सकते हैं।

इस सबके अलावा, आजकल अनेक व्यावसाय ऐसे हैं जिनमे बड़े पैमाने का उत्पादन होता है जिसके फलस्वरूप उनमे केवल थोड़ी सी फर्में ही खप सकती हैं। इसके बावजूद कि सरकार स्वस्थ प्रतियोगी वातावरण की स्थापना करना चाहती है, किन्तु फिर भी ऐसा करना बड़ा कठिन होता है। नई फर्मों के लिए यह बड़ा कठिन होता है कि वे चालू फर्मों से प्रतियोगिता करें अथवा उन्हें बाजार मे कोई स्थान नहीं मिलता क्योंकि बाजार मे अधिक फर्मों को खपाने की क्षमता नहीं होती। इसके अतिरिक्त, यह भी हो सकता है कि चालू फर्मों की प्रतिष्ठा इतनी ऊँची हो कि नई फर्मों के लिए उनसे प्रतियोगिता करना अत्यन्त कठिन हो जाए। अतः उचित एवं स्वस्थ प्रतियोगिता की स्थापना की बात यदि संभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

(३) कीमत तथा उपज-नियन्त्रण की कार्यवाहियाँ (Price and Output Control Measures) :

एकाधिकार की आलोचना इसलिए की जाती है कि यह ऊँची कीमत वसूल करता है और उपज को प्रतियोगी-स्तर से नीचे ले आता है। इसलिये यह सुझाव दिया जाता है कि एकाधिकारियो को इस बात के लिए बाध्य किया जाना चाहिए कि वे प्रतियोगी कीमतें तथा उपज की मात्रा निर्धारित करें। यह नीति जनोपयोगी एकाधिकारो के सम्बन्ध मे अपनाई जाती है। परिणामस्वरूप, यह रीति जनोपयोगी संस्थाओं के नियन्त्रण के सम्बन्ध मे लागू की जाती है। यहाँ यह बात भी ध्यान रखनी आवश्यक है कि कीमत तथा उपज के निर्धारण की बात सभी एकाधिकारो के लिए सम्भव एव उचित नही है।

(४) क्रेताओं के संघ (Purchasers' Association) :

कुछ लोगो ने विक्रेताओं के संघ बनाने का सुझाव दिया है। इसका उद्देश्य क्रेताओ की सौदा करने की स्थिति मे सुधार करना होता है। यह सुझाव इस मान्यता पर आधारित है कि एकाधिकारी (monopolist) को क्रेताओ की सौदा शक्ति से और विक्रेताओ मे प्रतियोगिता का अभाव होने से शक्ति प्राप्त होती है और उक्त सुझाव के द्वारा उपभोक्ताओ की सौदा शक्ति बढ़ाई जा सकती है और उनमे परस्पर प्रतियोगिता को दूर किया जा सकता है जब क्रेता किसी संघ के रूप

मे संगठित होते जाते हैं, तो उनकी सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है, परिणामस्वरूप मूल्य निर्धारण पर एकाधिकार (monopoly) तथा एकक्रमण (monopsony), दोनो की ही शक्ति का प्रभाव पड़ता है, क्रेता संघ के बनने के कारण केवल एकाधिकारी शक्ति का ही प्रभाव नही पडता।

सिद्धान्त रूप मे तो क्रेता संघ संभव है परन्तु व्यवहार मे इसके निर्माण मे अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। एक तो इसलिए क्योंकि क्रेता या उपभोक्ता देश भर मे फैले होते हैं। और कुछ मामलो मे तो विश्व भर मे फैले होते हैं। यह तो सरल है कि कुछ फर्मों को संगठित कर लिया जाए और उनको एकाधिकारी संघ मे परिवर्तित कर लिया जाए, परन्तु देश के फैले हुए उपभोक्ताओ को किसी प्रभावपूर्ण रीति से एक साथ मिला लेना बडा कठिन होता है। और यदि ऐसा संघ बन भी जाए तो भी मूल्य तथा उपज का निर्धारण विशुद्ध प्रतियोगी शक्तियो द्वारा नही होगा बल्कि एकाधिकार-एकक्रमण (monopoly-monopsony) की शक्तियो द्वारा ही होगा।

(५) प्रचार (Publicity) :

पीगू तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने यह सुझाव दिया है कि एकाधिकारो पर नियन्त्रण करने के एक उपाय के रूप मे प्रचार का उपयोग किया जाए। यदि एकाधिकारी फर्मों से सम्बन्धित अनेक ऐसी विस्तृत बातो का खूब प्रचार किया जाए, जैसे कि प्रतिद्वन्दियो से उनका बल प्रयोग, अनुचित साधनो का उपयोग, घातक या गला-काट प्रतियोगिता, कीमत तथा उपज सम्बन्धी करार, विधायको एवं जजो को उनके द्वारा रिश्वत देना, राजनैतिक दलो को उनके द्वारा चन्दा देना तथा उनके द्वारा भारी लाभ कमाना आदि, तो एकाधिकारी फर्में सरकार तथा जनता, दोनो से ही डरेंगी और यह हो सकता है कि वे अधिक तर्कयुक्त तथा कम आपत्तिजनक उपाय काम मे लाएँ। इस प्रकार, प्रचार एक बडा अच्छा उपाय है किन्तु फिर भी वाञ्छित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल यह स्वयं ही पर्याप्त नहीं है।

(६) उपादान तथा कर (Subsidies and Taxes) :

श्रीमती जोन रोबिन्सन ने यह स्पष्ट किया है कि प्रतियोगी मूल्य तथा प्रतियोगी उपज की प्राप्ति के लिए उपादान तथा कर किस प्रकार मिल कर कार्य कर सकते हैं। मान लीजिए,
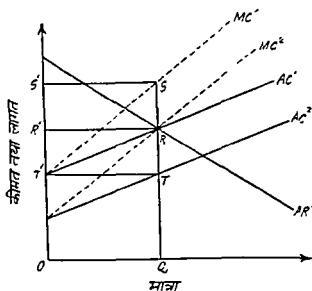
सरकार ने अधिकतम कीमत के रूप में कोई प्रतियोगी-कीमत निश्चित कर दी है जिसे कि कोई एकाधिकारी वसूल कर सकता है। इस स्थिति में सरकार सीमान्त लागत तथा औसत लागत के अन्तर का हिसाब लगा सकती है और अन्तर की उस धनराशि को एकाधिकारी फर्म के प्रति इकाई उत्पादन के उपादान के रूप में निश्चित कर सकती है। इसका अर्थ यह होगा कि एकाधिकारी की औसत एवं सीमान्त लागतें समान रूप से इस राशि के बराबर कम हो जायेंगी। इसके साथ ही, सरकार एकाधिकारी उत्पादन की एक अनिवार्य शर्त के रूप में, सम्पूर्ण उपादान के बराबर कोई एक मुश्त कर लगा सकती है। जैसा कि पीछे के रेखा-चित्र में यही दिखाया गया है।

इस रेखाचित्र में, AR, रेखा एकाधिकारी उत्पादन की औसत आय अथवा माँग वक्र (demand curve) को प्रदर्शित करती है। AC', और MC' रेखाएँ उपादान की स्वीकृति से पूर्व की औसत और सीमान्त उत्पादन-लागतें हैं। QR प्रतियोगी कीमत है (अर्थात् जहाँ AR', और AC' एक दूसरे को काटती हैं)। यदि सरकार प्रतियोगी कीमत निश्चित करती है तो एकाधिकारी को प्रति इकाई जो हानि होगी वह RS के बराबर होगी। मान लीजिए, सरकार उपज की प्रति इकाई पर RS के बराबर उपदान देकर उस हानि को पूरा करने को तैयार हो जाती है। तो चूँकि उत्पादन की हुई सभी इकाइयों को एक समान उपादान (subsidy) प्राप्त होगा, अतः AC' और MC' निम्न स्तर पर आ जायेंगी और वे AC^2 तथा MC^2 बन जायेंगी। सरकार द्वारा दिये जाने वाले कुल उपादान की राशि S'R' RS के बराबर होगी। इसके साथ ही सरकार यह भी कर सकती है कि कुल उँपादान के बराबर एक मुश्त कर (R'T' TR) लगा दे और एकाधिकारी उत्पादन के लिए उसकी अदायगी आवश्यक कर दे। जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध है, उसे कोई हानि नहीं होगी क्योंकि उपादान की पूर्ति कर-आय से हो जायेगी। किन्तु उपभोक्ता को इससे एक निश्चित लाभ होगा और वह यह कि प्रतियोगी कीमत तथा प्रतियोगी उपज का निर्धारण हो जायेगा। रोबिन्सन का कहना है कि यह रीति कभी भी व्यवहार में नहीं लाई गई।

एकाधिकारी नियन्त्रण की नीतियों में नये परिवर्तन
(Recent Changes in Monopoly Control Policies)

यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि सन् १९३० के मन्दी-काल से ही एकाधिकारों की समस्या के सम्बन्ध में सरकार तथा जनता के रुख में निश्चित परिवर्तन हुआ है। यह प्रवृत्ति केवल योरोप में ही नहीं प्रकट हुई बल्कि संयुक्त राज्य अमेरिका में भी पाई गई जो कि सदा ही अपनी दृढ़ एकाधिकारी-विरोधी नीति के लिये विख्यात रहा है। सन् १९२९-३३ की बड़ी मन्दी इस सम्बन्ध में बड़ी आखें खोलने वाली थी जिसने लम्बी मन्दी का मुकाबला करने के लिए एकाधिकारी फर्मों की श्रेष्ठता को और प्रतियोगी फर्मों की कमजोरी को स्पष्ट किया। अब यह माना जाने लगा है कि ऊँची कीमतें वसूल किये जाने तथा उपज को सीमित किये जाने की अपेक्षा फर्म की स्थिरता बड़े, महत्व की चीज है। इसके अतिरिक्त, अब लोग एकाधिकार के गुणों की भी बखान करने लगे जबकि मन्दी से पूर्व की अवधि में वे केवल एकाधिकार के दोषों का ही उल्लेख किया करते थे। एकाधिकारी नियन्त्रण एवं नियमन की समस्या के प्रति लोगों के रुख में परिवर्तन लाने के लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे, जैसे कि विदेशी प्रतियोगिता का मुकाबला अथवा विदेशी बाजार पर कब्जा करने के लिए एकीकरण की आवश्यकता, जब मन्दे बाजार का सामना करना हो तो उपज को सीमित करने की आवश्यकता, विशाल वित्तीय एवं अन्य साधनों के लाभ, बड़ी पूँजी वाली फर्म को उपलब्ध होने वाली आन्तरिक किफायतों के कारण अधिकतम लाभ प्राप्त करने की आवश्यकता, और अनावश्यक प्रतियोगिता को समाप्त करने की आवश्यकता जिससे कि कीमतों एवं उपज के उतार-चढ़ाव को रोका जा सके। योरोप में, अनेक सरकारों ने एकाधिकारी

संगठनो के निर्माण को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया । इंगलैण्ड मे, मन्दी से उत्पन्न जागरण के कारण अनेक प्रसिद्ध सगठनो का निर्माण हुआ जैसे कि इम्पीरियल केमिकल्स आदि । सयुक्त राज्य अमेरिका मे, सरकार का विरोध शनैः कम हो गया और उसने व्यावसायिक फर्मों के बीच औपचारिक तथा अनौपचारिक करार सम्पन्न कराने मे सहायता की ताकि व्यावसायिक इकाइयो की शक्ति मे वृद्धि हो ।

भारत जैसे अल्पविकसित देश मे, एकाधिकारो के पक्ष तथा विपक्ष मे कभी भी कोई दृढ एव जागरूक जनमत उत्पन्न नही हुआ । ऐसे देशो मे एकाधिकारी सगठनो का विशेष महत्व होता है क्योंकि प्रतियोगी फर्मों के मुकाबले मे ऐसे देशो के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं । इनके सभी लाभ और विशेष रूप से आन्तरिक एव वाह्य किफायतो का पूर्ण रूप से शोषण करना बडे महत्व की चीज है । फिर, उन्नत देशो की प्रतियोगिता का सामना करने के लिए भी एकाधिकारो के दुरुपयोग विधायी तथा अन्य उपायो द्वारा दूर करने होंगे किन्तु एकाधिकारो के निर्माण को प्रोत्साहित करेंगे । और क्या कहा जाय, अधिकाश विकासशील देशो मे, उत्पादन के अनेक क्षेत्रो मे विद्यमान सरकारी उद्यम भी एकाधिकार के ही रूप लेते जा रहे हैं ।

कुछ चुने हुए सदर्भ ग्रन्थ

1	E A G Robinson	Monopoly
2	Joan Robinson	Economics of Imperfect Competition—Chapter 13
3.	Bye and Hewett	*Applied Economics, Chapter 3.*
4	Gemmil and Blodgett	Economic Principles and Problems, Chapter 49

UNIVERSITY QUESTIONS

१ एकाधिकार से क्या आशय है ? एकाधिकारी शक्ति की उत्पत्ति के तत्वो की विवेचना कीजिए ।

What is meant by monopoly ? Discuss the elements for the growth of monopoly power

२ एकाधिकार के आर्थिक परिणामो की विवेचना कीजिये ।
Discuss the economic consequences of Monopoly

३ एकाधिकार क्या है ? एकाधिकार के नियन्त्रण तथा नियमन की विधियो का वर्णन कीजिये ।

What is monopoly ? Describe the devices of control and regulation of monopoly

४ एकाधिकार की उत्पत्ति के क्या-क्या कारण है ? इसके गुण-दोषो की विवेचना कीजिये ।

What are the causes for the growth of monopoly ? Discuss its merits and demerits

८

जनोपयोगी उद्यम
(Public Utilities)

प्रारम्भिक—जनोपयोगी उद्यम से आशय .

'जनोपयोगी उद्योग' शब्द का प्रयोग ऐसे उद्योगों के वर्ग के लिए किया जाता है जो कि जल, गैस, बिजली, टेलीफोन व अन्य संचार साधनों तथा सभी प्रकार के परिवहन (transport) के साधनों की व्यवस्था करते है। ये उद्योग जनहित अथवा सार्वजनिक हित से प्रभावित कहे जाते है। इसका कारण यह है कि ये ऐसी वस्तु या सेवा प्रदान करते है जो कि समाज के आर्थिक जीवन के लिए अत्यावश्यक होती है और जिसे सार्वजनिक आवश्यकता माना जा सकता है। इन उद्योगों की अपनी कुछ विशिष्टताएँ होती हैं जिनके कारण यह आवश्यक हो जाता है कि उनका अध्ययन भी एक विशिष्ट प्रकार एवं दृष्टिकोण से किया जाए।

जनोपयोगी उद्यमों के विशिष्ट लक्षण
(Peculiarities of Public Utilities)

जनोपयोगी उद्यमों के अपने कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं। उत्पादन का उद्देश्य तथा उत्पादन की दशाएँ, इन दोनों के ही दृष्टिकोण से ये उद्योग अन्य उद्योगों से भिन्न होते हैं। जनोपयोगी उद्यम अधिकांशत प्राकृतिक एकाधिकारों (natural monopolies) के रूप में पाये जाते हैं। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि किसी विशेष सेवा व्यवस्था करने के लिए समाज के दृष्टिकोण से किसी एक ही फर्म के अस्तित्व को न्यायोचित ठहराया जाता है। चूँकि इन उद्यमों को एकाधिकारों के रूप में कुछ शक्तियाँ (powers) प्राप्त होती है, अत. इन पर किसी न किसी प्रकार का सरकारी नियन्त्रण अवश्य लगाना होता है ताकि उनको जनता का शोषण करने से रोका जा सके।

(अ) उत्पादित माल के विशिष्ट लक्षण (Peculiarities of the Product) :

(१) माल की बजाय सेवाओं में व्यवहार (dealing in services rather than goods)—जनोपयोगी उद्यमों का उत्पादन अन्य प्रकार के उद्योगों के उत्पादन से उल्लेखनीय रूप से भिन्नता रखता है। जनोपयोगी उद्यमों का सम्बन्ध वस्तुओं (goods) की अपेक्षा सेवाओं (services)

से होता है परिवहन तथा संचार की सुविधाओ को निश्चय ही सेवाएँ और ऐसी सेवाएँ कहा जाना चाहिए जो कि अमूर्त (intangible) तथा अभौतिक (non material) होती हैं, । गैस जल तथा बिजली वस्तुएँ अवश्य हैं, परन्तु अन्तिम विश्लेषण (last analysis) करने पर हम यह पाते है कि इस सम्बन्ध मे यदि कोई चीज महत्वपूर्ण है तो वह वस्तुएँ (goods) नही अपितु घर मे उनकी निरन्तर एवं विश्वस्त रूप से होने वाली पूर्ति (supply) है। इसलिए उन्हें सेवा-पदार्थ (service products) कहा जाता है।

(२) **उत्पादित माल संग्रह के योग्य नहीं** (products are not storable)—जनोपयोगी उद्यमो के उत्पादित माल का अन्य महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उनका संग्रह एवं संचय नहीं किया जा सकता। परिवहन, संचार तथा बिजली का बिल्कुल भी संग्रह नही किया जा सकता। जल तथा गैस को यदि किसी प्रकार संग्रह किया भी जाए अथवा उसको भण्डार मे एकत्रित किया भी जाए तो यह कार्य इतना मँहगा सिद्ध होगा कि उसमे उत्पादित वस्तुओ में स्थायित्व बनाये रखना संभव नही है। सेवाओ का उत्पादन मांग मे होने वाले परिवर्तनो के साथ ही बदलता रहता है। अतः इन सेवाओं की मांग मे भी समय, ऋतु तथा अवसरो के अनुसार व्यापक परिवर्तन होने निश्चित हैं। इन सेवाओ की मांगे विविध प्रकार की होती हैं जैसे अधिक काम के घण्टो के समय की मांग, अवकाश काल की मांग, अधिक मात्रा की मांग तथा मौसमी मांग। चूँकि उद्यम को जब भी और जहाँ भी आवश्यकता हो, तुरन्त ही सेवा प्रदान करने के लिए प्रस्तुत रहना होता है अतः अनिवार्य रूप से इन सेवा-पदार्थों को अधिक मात्रा मे सुरक्षित रखना होता है। इसका प्रभाव सेवा-पदार्थों के संभरण (supply) की लागत पर पड़ता है।

(३) **जनोपयोगी सेवाओं की निरन्तर मांग का होना** (continuous demand of public utility services):—जनोपयोगी सेवाओ की आवश्यकता तथा मांग निरन्तर चौबीस घण्टे रहती है। जल, गैस, बिजली, टेलीफोन, सेवा, रेल तथा वायु परिवहन आदि की सेवाओ की आवश्यकता क्या दिन तथा क्या रात हर समय बनी रहती है केवल सडक यातायात ही नगरो तथा उप-नगरो मे रात्रि को कुछ घण्टो के लिए स्थगित रहता है। अतः जनोपयोगी उद्यमो को तमाम दिन तथा रात थोड़ी बहुत मात्रा अवश्य ही अपना कार्य-संचालन करते रहना होता है।

(४) **समान किस्म की सेवायें** (services are of uniform quality)—इसके अतिरिक्त, जनोपयोगी उद्यम द्वारा जो सेवा प्रदान करनी होती है उसकी किस्म अथवा कोटि (quality) बिल्कुल समान रखनी होती है; और कम से कम किसी भी एक उद्यम अथवा संस्था के क्षेत्र की सीमा में तो ऐसा करना आवश्यक ही होता है। किसी क्षेत्र-विशेष मे बिजली की व्यवस्था एक समान विद्युत दाब (voltage) पर करनी होती है और पानी एक समान दवाव (same pressure) पर देना होता है। इन सेवाओ मे ऐसी कोई सम्भावना या गुंजाइश नही होती कि भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओ अथवा उपभोक्ताओ के वर्गों को प्रदान की जाने वाली सेवाओ की किस्म अथवा कोटि मे अन्तर रखा जा सके।

(५) **सेवाओं का स्थानान्तरण सम्भव नहीं** (services are not transferable)—अन्त मे, जनोपयोगी उद्यम द्वारा जो सेवा प्रदान की जाती है, उसका स्थानान्तरण नही किया जा सकता। खरीदार अपनी मांग एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता को स्थानान्तरित नही कर सकता। यदि वह किन्ही दो स्थानों के बीच रेल द्वारा प्रदान की गई सेवा से सन्तुष्ट नही है तो वह इस सेवा को अन्य किसी कम्पनी से नही खरीद सकता। इसी प्रकार, यदि किसी नगर मे बिजली के संभरण की व्यवस्था असन्तोषजनक है, तो ग्राहक अन्य किसी उद्यम से उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए नहीं कह सकते।

जनोपयोगी उद्यमो द्वारा उत्पादित माल की इन विशेषताओ के कारण, एकाधिकारी संस्था द्वारा ही उनका व्यवस्था सर्वोत्तम रीति से की जाती है। बडी मात्रा मे स्थायी पूँजीनिवेश (capital investment) तथा व्यापक साजसज्जा के कारण, आर्थिक दृष्टि से यह उचित नही होता कि दो या दो से अधिक कम्पनियाँ एक ही सेवा के संभरण (supply) की व्यवस्था करें।

(व) प्राकृतिक एकाधिकारों के रूप में जनोपयोगी उद्यम (Public Utilities as Natural Monopolies) :

जनोपयोगी उद्यमो के उत्पादित माल की ऊपर उल्लेख की गई विशिष्टताओ के कारण उनके संभरण की सर्वोत्तम व्यवस्था एकाधिकारी संस्थाओ द्वारा ही की जाती है। जनोपयोगी उद्यम अधिकांशतया एकाधिकारी संस्थाओ के रूप मे कार्य करते हैं और उनमे प्रतियोगिता का प्रायः अभाव पाया जाता है। कुछ मामलो मे, सरकारी अधिकारियो द्वारा जन-सुविधा की दृष्टि से इन उद्यमो के एकाधिकारी रूप को ही प्रोत्साहन दिया जाता है। उदाहरण के लिए, एक ही कस्बे मे टेलीफोन कम्पनियाँ नही हो सकती क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो टेलीफोन लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को दो टेलीफ़ोन लगवाने होगे। इसके अतिरिक्त, टेलीफोन के तार बिछाने तथा प्रशासनिक स्टाफ आदि रखने मे भी दोहराव (duplication) होगा। इसी प्रकार, दो कस्बो के बीच रेलवे लाइन के मामले मे तथा किसी नगर की बिजली व्यवस्था के सम्बन्ध मे एकाधिकार का निर्माण करके काफी मात्रा मे दोहरे खर्चो से बचा जा सकता है। यही कारण है कि जिसकी वजह से सरकारें एकाधिकारो को विशेष सुविधाएँ प्रदान करती हैं और किसी विशेष क्षेत्र मे ऐसी सेवायें प्रदान करने के लिये एक कम्पनी से अधिक को अनुमति देने से इन्कार कर देती हैं।

फिर, जनोपयोगी सेवाओ की व्यवस्था यदि केवल एक ही कम्पनी द्वारा की जाती है तो उत्पादन-लागत कम की जा सकती है और इस प्रकार समाज को सस्ती दरो पर सेवायें प्रदान की जा सकती है। इसका कारण यह है कि स्थिर लागतें अथवा बँधी लागतें (overhead costs) बड़ी महत्वपूर्ण होती है और कुल लागतो मे उनका अनुपात भी अधिक होता है। उदाहरणार्थ, रेल की लाइनें बिछाना और रेलवे स्टेशन आदि बनवाना, अथवा टेलीफोन की स्थिति मे तार बिछवाना या जलपूर्ति व्यवस्था की स्थिति मे पानी के पाइप बिछवाना आदि ये सब ऐसे कार्य हैं जिनमे भारी मात्रा मे निवेश करने की आवश्यकता होती है। अतः जितनी अधिक सेवायें प्रदान की जाती हैं प्रति इकाई स्थिर लागत (fixed costs) भी उतनी ही कम होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन-लागत मे घट-बढ़ अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। अन्य शब्दो मे, जब एक बार संयन्त्र की स्थापना हो जाती है, फिर उसके संचालन का व्यय अपेक्षाकृत अधिक नही होता। इसका अर्थ यह हुआ कि एक बार संयन्त्र (plant) की स्थापना हो जाने के बाद, एक जनोपयोगी फर्म स्थिर लागतो तथा घटती-बढ़ती लागतो (variable costs) मे अधिक वृद्धि किये बिना ही अपना संचालन-कार्य जारी रख सकती है और क्रमशः अधिकाधिक मात्रा मे सेवाएँ प्रदान कर सकती है। इसके अतिरिक्त स्थिर लागतो को उपज की बहुसंख्यक इकाइयो के बीच बाँटा जा सकता है। इसके परिणाम-स्वरूप, उपभोक्ता अधिकाधिक नीची दरो से वस्तु प्राप्त कर सकते हैं बशर्ते कि वस्तु का उत्पादन बढाया जा सके। उत्पादन की किफायतो की विद्यमानता के कारण, चालू जनोपयोगी फर्म निम्नतर कीमतो पर अतिरिक्त व्यवसाय की व्यवस्था कर सकती है, फलतः यह एक नई कम्पनी की आवश्यकता को समाप्त कर सकती है। किन्तु यदि नई कम्पनी की स्थापना की जाती है तो जहाँ उसे भारी मात्रा मे निवेश करना होगा वहाँ उसके ग्राहकों की संख्या थोडी होगी जिन्हे ऊँची स्थिर लागतो का भार उठाना होगा। इसी प्रकार, इन उद्यमो के क्षेत्र मे जो फर्म पहले से काम कर रही होती है उसको एक बडा उल्लेखनीय लाभ यह रहता है कि कोई अन्य कम्पनी उससे प्रतियोगिता नही

कर सकती । अन्य शब्दो मे, जनोपयोगी उद्यमो की स्थिति मे, इकाई का अनुकूलतम आकार इतना बडा होना है कि प्रत्येक क्षेत्र मे केवल एक ही अनुकूलतम फर्म (optimum firm) की गुंजाइश होती है । सरकारी अधिकारी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और इसी कारण प्रतियोगी दशाएँ उत्पन्न करने के लिए कोई कार्यवाही नही करते; वे तो केवल इन एकाधिकारी फर्मों के अत्यधिक दुरुपयोग को रोकने का प्रयत्न करते हैं । इसके विपरीत, सरकारी अधिकारी उक्त क्षेत्रो मे नई फर्मों के प्रवेश को रोकते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय करना उचित होगा कि जनोपयोगी उद्यमो को यद्यपि ऐसे क्षेत्रो मे प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त होता है जहां कि वे अपनी वस्तुओ व सेवाओ या उत्पादन एवं संभरण (supply) करते हैं, किन्तु फिर भी उन्हे स्थानापन्न वस्तुओं के रूप मे प्रतियोगिता का सामना करना पडता है । उदाहरण के लिए, बिजली कम्पनियो को गैस कम्पनियों की प्रतियोगिता का सामना करना पडता है । रेलवे को रोडवेज तथा लारी सेवाओ की प्रतियोगिता का सामना करना होता है; और जहाँ तक अधिक दूरी के यातायात का सम्बन्ध है उन्हे वायु परिवहन की प्रतियोगिता का भी सामना करना पडता है । उपभोक्ताओं के तथा सम्बन्धित जनोपयोगी उद्यम के दृष्टिकोण से इस प्रतियोगिता का परिणाम अच्छा भी हो सकता है अथवा बुरा भी । उदाहरण के लिए, सडक तथा वायु-मार्ग की तीव्र प्रतियोगिता के कारण रेलें इस बात के लिए बाध्य हो सकती हैं कि वे अपनी सेवाओ मे सुधार करें अपनी सामान्य कार्य-क्षमता मे वृद्धि करें और ऐसा करना उपभोक्ताओ के हित मे होगा । इसके विपरीत, यह भी हो सकता है कि रेलवे सेवाओ को प्रश्रय देने वाले उपभोक्ताओ की संख्या घट जाए और उसके फलस्वरूप रेलो को हानि होने लगे । चूँकि रेलें (तथा इसी प्रकार अन्य जनोपयोगी उद्यम भी) स्थायी पूँजीगत परिसम्पत्तियो मे बडी-बडी रकमें निवेश करते है, अत: लगातार हानि होने के स्थिति मे उनके लिए यह बडा कठिन होगा कि इन सम्पत्तियो (assets) को अन्य किसी उद्योग मे स्थानान्तरित कर सकें। भारत मे, सन् १९३० के मन्दीकाल मे, सडक मार्ग से प्रतियोगिता होने के कारण रेलो को भारी हानि उठानी पडी, अत: रेलो का पुर्नगठन करने तथा सडक मार्ग से होने वाली प्रतियोगिता को रोकने के लिए अनेक उपाय खोजने पडे । ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका मे, ऐसे अनेको उदाहरण पाये जाते हैं कि एकाधिकार होने के बावजूद रेलें असफल तथा दिवालिया हो गई । इस प्रतियोगिता को रोकने के लिए, रेलें कुछ अनुचित साधनो का प्रयोग कर सकती हैं, या कुछ उद्योगो के लिए भेदमूलक दरो (discriminatory rates) की व्यवस्था कर सकती है अथवा प्रतिस्पर्धी ऐजेन्सियो से करार या समझौते भी कर सकती हैं ।

जनोपयोगी उद्यमो द्वारा एकाधिकारी शक्ति का दुरुपयोग (Abuse of Monopoly Power by Public Utilities) :

पिछले अध्याय मे हमने एकाधिकारी के जिन सामान्य दोषों का जिक्र किया या उनमे से कुछ जनोपयोगी एकाधिकारो मे भी पाये जाते हैं । जनोपयोगी उद्यमों के कुख्यात दुरुपयोगो मे मुख्य हैं : सेवाओ की ऊँची कीमतें, अनुचित प्रतियोगिता, अपर्याप्त सेवा, अनुचित वित्तीय ढाँचा तथा ग्राहको से चालाकी का व्यवहार करना आदि । हम यहां इनका संक्षेप मे उल्लेख करेंगे ।

(१) प्रदान की गई सेवाओं का अधिक मूल्य—जनोपयोगी उद्यमो को चूँकि प्राकृतिक अथवा सामाजिक एकाधिकार प्राप्त होता है और चूँकि उन्हे यह विश्वास होता है कि उनके विरुद्ध कोई भी सम्भावित अथवा वास्तविक प्रतियोगिता उत्पन्न नही हो सकती, अत: वे समाज को प्रदान की जाने वाली सेवाओ को अत्यधिक ऊँचे दाम वसूल करने लगते हैं । यह देखा गया है कि अनेक मामलो मे बिजली तथा रेलवे जैसे जनोपयोगी उद्यमो ने ऐसी दरें वसूल की हैं जो कि उनसे बहुत

अधिक थी जितनी कि निवेशकर्त्ताओं को उनके उचित प्रतिफल के रूप मे देनी आवश्यक थी। जनोपयोगी उद्यमों तथा प्रतिद्वन्द्वी माल के उत्पादकों के बीच अनुचित मेल-जोल भी हो सकता है। यह मेल-जोल इसलिये किया जाता है ताकि प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सके और उपभोक्ताओं को प्रतियोगिता के कारण कीमतों की कमी की सम्भावनाओं से वंचित किया जा सके। इस प्रकार, यह हो सकता है कि जनोपयोगी उद्यम बहुत ऊँची कीमतें वसूल करे और उन उपभोक्ताओं का शोषण करें जिनके पास उस वस्तु या सेवा को प्राप्त करने का अन्य कोई वैकल्पिक स्रोत नहीं होता।

(२) **भेद मूलक दरें**—जनोपयोगी उद्यमों का एक गम्भीर दुरुपयोग यह है कि ये अनेक बार अतर्कपूर्ण एवं अनुचित भेद मूलक दरों का आश्रय लेते हैं। यद्यपि आजकल कीमतों के नियन्त्रण एवं नियमन के लिये अनेक कानून बने हुये हैं किन्तु एक समय था जबकि रेलों ने सेवाओं का उपयोग करने वालों के बीच काफी भेदभाव किया। भेदमूलक दरें दो प्रकार की हो सकती हैं। प्रथम यह कि विभिन्न प्रकार के उपभोक्ताओं (users) से विभिन्न प्रकार की दरें वसूल की जा सकती हैं—अर्थात् बड़े उपभोक्ताओं के लिये अधिक अनुकूल दरें निश्चित की जा सकती हैं। दूसरे, विभिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न दरें हो सकती हैं। भारत में, रेलें निर्यात को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से बन्दरगाहों को जाने वाले कच्चे माल पर नीची दरों से भाड़ा वसूल करती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में, रेलों द्वारा कुछ बड़े-बड़े ऐसे ग्राहकों को गुप्त छूटें (secret rebates) प्रदान की गई थी जो कि उन्हें छोटे ग्राहकों के मुकाबले लाभकारी स्थिति में ला रखते थे। यह एक अनुचित एवं अन्यायपूर्ण किस्म का भेद भाव था।

(३) **नियन्त्रण के अभाव में अत्यधिक लाभों की कामना**—जनोपयोगी उद्यमों पर जब कोई नियन्त्रण नहीं लगाया जाता तो उनके क्रिया-कलाप एक मात्र लाभ के विचार से ही प्रेरित होने लगते हैं। इस स्थिति में, वे सेवा की केवल उतनी मात्रा की व्यवस्था करने के ही इच्छुक रहते हैं जो कि उनकी दृष्टि में लाभकारी (profitable) होती है। ऐसी दशा में यह हो सकता है कि समाज के उस निर्धन वर्ग को सेवा ही प्रदान न की जाय जो कि उद्यम द्वारा निर्धारित कीमत देने में असमर्थ हो। एक विद्युत संस्था (electricity concern) के लिए यह सम्भव है कि ऐसे ग्रामीण अथवा उपनगरीय क्षेत्रों में बिजली प्रदान करना न चाहे जहाँ कि निर्धन लोग रहते हों। इसी प्रकार, एक रेल कम्पनी भी, सम्भव है पिछड़े क्षेत्रों में लाइन बिछाने तथा वहाँ रेल सुविधाएं प्रदान करने के लिए प्रेरित न हो। दीर्घ काल में होने वाले लाभ का विचार उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता और इसी कारण ये उद्यम देश के दीर्घकालीन विकास के लिए सेवा प्रदान करने की कोई इच्छा नहीं रखते।

(४) **वित्तीय अनाचार अथवा घूटाला**—संयुक्त राज्य अमेरिका में, जनोपयोगी उद्यम साधारणतः गैर-सरकारी एकाधिकारी संस्थाओं के रूप में हैं और उनके कार्य-संचालन में वित्तीय अनाचार (financial malpractices) एक सामान्य-सी बात हो गई है। ये संस्थायें बहुत थोड़ी पूँजी से कार्य करती हैं और कुछ स्थितियों में तो अनेकों ऐसी नियन्त्रण कम्पनियाँ (holding companies), जिनकी पूँजी बहुत थोड़ी होती है, बड़ी संख्या में जनोपयोगी उद्यमों पर अपना अधिकार कर लेती हैं। अनेक मामलों में थोड़े से चालाक वित्त-प्रबन्धक पहले तो इन नियन्त्रक कम्पनियों पर नियन्त्रण कर लेते हैं और उनके माध्यम से फिर जनोपयोगी उद्यमों को नियन्त्रित करते हैं। भारत में भी ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं।

एकाधिकारी शक्ति के दुरुपयोग के कारण ही, जनोपयोगी उद्यमों पर सरकारी नियमन एवं नियन्त्रण को आवश्यक समझा जाता है। कुछ देशों में, अनेक जनोपयोगी उद्यमों का

राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है और वे सरकारी एकाधिकारों (public monopolies) के रूप में कार्य करते हैं।

जनोपयोगी उद्यमों की मूल्य-नीति
(Public Utility Price Policy)

जनोपयोगी उद्यमो द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओ की विशिष्ट प्रकृति के कारण, इस तथ्य के कारण कि खरीदार द्वारा सामान्यतः उनका सग्रह तथा पुर्नविक्रय नही किया जा सकता, उद्यमो द्वारा प्रयोग की जाने वाली स्थिर पूँजी की मात्रा अधिक होने के कारण और उनकी वस्तुएं तथा सेवायें संयुक्त रूप से उत्पादित होने के कारण, इन उद्यमो की वस्तुओ एवं सेवाओ की कीमतो में अनिवार्यतः अन्तर पाया जाता है। बिजली तथा गैस के सम्बन्ध मे सामान्यतः यह होता है कि ये बड़े उपयोक्ताओ (users) को छोटे उपयोक्ताओ के मुकाबले नीची दरो से प्रदान की जाती है। इसी प्रकार, शक्ति (power) घरेलू उपयोक्ताओ के मुकाबले औद्योगिक उपयोक्ताओ को कम कीमतो पर प्राप्त हो जाती है। इसी तरह, रेलो द्वारा यात्री यातायात तथा माल यातायात (goods traffic) से भिन्न-भिन्न दरें ली जा सकती हैं और माल मे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के माल पर भिन्न-भिन्न दरें वसूल की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त, प्रातःकालीन भीडभाड़ के पश्चात् अथवा विशिष्ट यात्री रेलो से सफर करने वाले यात्रियो को अन्यो के मुकाबले कम भाडा देना होता है। कभी-कभी व्यस्त घण्टो (peak hours) के पश्चात् सेवा का उपयोग करने वालो को कम दरें अदा करनी होती हैं। इस प्रकार, जनोपयोगी उद्यम एक भेदमूलक किस्म (discriminating type) का एकाधिकार होता है।

अन्य उद्यमों के समान ही जनोपयोगी उद्यमो द्वारा भी इस सामान्य सिद्धान्त को लागू किया जाता है कि उद्यम से प्राप्त कुल आय (total revenue) इतनी अवश्य होनी चाहिए कि जो उसमे लगी कुल लागत को पूरा कर दे। लागत (cost) मे साज-सज्जा (equipment) के मूल्य पर सामान्य दर से लगाया गया प्रतिफल (return) सम्मिलित होता है। साज-सज्जा का मूल्यांकन उसकी पुनरुत्पादन (reproduction) करने की लागत के आधार पर किया जाता है। इस स्थिति मे, विभिन्न बाजारो मे दरो का निर्धारण "बाजार कितना सहन कर सकता है" (what the market will bear), के आधार पर किया जाता है।

जनोपयोगी उद्यमो की सेवाओ की दरो मे तर्कपूर्ण एवं समुचित प्रकार के अन्तर का होना पूर्णतः न्यायोचित है। यह अन्तर क्रेताओ की किस्म, खरीदी गई सेवा की मात्रा तथा उसकी खरीदारी के समय के आधार पर किया जाता है। माँग और उसकी लोच भेदमूलक दरो के वास्तविक आधार हैं और जब किसी बाजार मे माँग (demand) बेलोच (inelastic) होती है, तो उस सेवा की ऊँची दर न्यायोचित कही जाती है। अत्यधिक लोचदार माँग (highly elastic demand) की स्थिति मे, जनोपयोगी उद्यम नीची दर वसूल करके अपनी बिक्री मे वृद्धि कर सकता है।

दो अन्य विचारणीय बातें भी हैं जो दरो के निर्धारण मे जनोपयोगी उद्यमो का मार्ग दर्शन करती हैं। स्थायी निवेश (fixed investment) का एक बडा अनुपात होने के कारण, जनोपयोगी उद्यम बडी मात्रा मे सेवाओ का उत्पादन करके प्रति इकाई लागत मे कमी कर सकता है। अतः सेवा की कुल माँग मे वृद्धि करने के लिए कुछ श्रेणियो के ग्राहको से नीची कीमतें वसूल करना एक न्यायोचित किस्म का भेदभाव है। जनोपयोगी उद्यमो का सेवाओं के मूल्य-निर्धारण मे, सेवाओ की माँग मे वृद्धि को प्रोत्साहन देना एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसके अतिरिक्त, जनोपयोगी

जोकि खर्च की जाने वाली आय को एक-एक पैसे तक बिखरी होती है। यही नहीं, भुगतान की राशि को ऐसी रीति से वसूल किया जाता है जिससे कि वह व्यक्ति की आवश्यकता की सन्तुष्टि के साथ समरूप हो सके। उदाहरणत तम्बाकू, नमक अथवा चीनी की इच्छा को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता कर की अदायगी की प्रेरणा देती है। प्रत्यक्ष कराधान में, यदि कर न अदा किया जाय तो उसके लिए अर्थदण्ड (fine) तथा अन्य दण्डो की व्यवस्था की जाती है किन्तु परोक्ष कराधान में तो कर न अदा करने की स्थिति मे व्यक्ति अपनी आवश्यकता की सन्तुष्टि का ही त्याग करने को बाध्य होता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के बीच का आर्थिक आधार केवल पूरक (complementary) ही नही है बल्कि उसकी विशेषता यह भी है कि वह दोनो ही करों के संग्रह के बीच उत्पन्न होने वाली संघर्षोत्पादक शक्तियो को न्यूनतम करता है।[16]

प्रत्यक्ष करों के गुण व दोष
(Merits and Demerits of Direct Taxation)

प्रत्यक्ष करों के गुण :

प्रत्यक्ष करो के निम्नलिखित महत्वपूर्ण गुण अथवा लाभ है —

(१) समता एवं न्यायपूर्ण (Equity and Equitability)—ये अदा करने की सामर्थ्य के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं और इनमे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो एव सस्थाओ पर करो के भार का वितरण समन्यायपूर्ण रीति से किया जाता है। ये श्रेष्ठ क्रमवर्धन (fine graduation) अथवा आरोहण (progression) के अनुसार ढाले जा सकते है। जो अधिक बचाता है वह अधिक कर देता है, जबकि जिसकी आय कम होती है वह कम कर देता है। इस प्रकार इसमे समता का गुण होता है।

(२) निश्चितता (Certainty)—प्रत्यक्ष कर निश्चितता के सिद्धान्त (canon of certainty) को भी सतुष्ट करते हैं। करदाता को इस बात की निश्चितता होती है कि उसे कर के रूप मे कितना अदा करना है और राज्य इस विषय मे निश्चित होता है कि वह प्रत्यक्ष करो से होने वाली अपनी आय का सही और ठीक ठीक अनुमान लगा सके तथा उसके अनुसार ही अपनी आय व व्यय का समायोजन कर सके।

(३) लोचपूर्णता (Elasticity)—प्रत्यक्ष कर इस अर्थ मे लोचपूर्ण होते हैं कि लोगो की आय तथा उनके धन मे वृद्धि के साथ ही साथ प्रत्यक्ष करो की प्राप्तियो मे भी स्वत. वृद्धि हो जाती है। लोचपूर्ण से आशय यह भी है कि केवल करो की दरो मे वृद्धि करने मात्र से ही सरकारी राजस्व मे वृद्धि की जा सकती है। आधुनिक सरकारो के लिए, जिनकी आवश्यकताओ मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। ऐसे लोचपूर्ण कर निश्चय ही बड़े उपयोगी है।

16 डि मार्को ने "First Principles of Finance" नामक अपनी पुस्तक मे कराधान मे अथवा कराधान के प्रतिरोध मे संघर्ष उत्पन्न करने वाली शक्तियो को काफी महत्व प्रदान किया है। ऐसी संघर्षोत्पादक शक्तियो (frictional forces) के उदाहरण है—करो का अन्तरण (shifting), प्रसरण (diffusion), पूँजीकरण (capitalisation), उनको छिपाना तथा उनसे बचना। ये शक्तियाँ अर्थव्यवस्था के सन्तुलन (equilibrium) को ही बिगाड़ देती है। यह आर्थिक सन्तुलन जितना अधिक बिगडता है, अन्तरण आदि की प्रक्रिया द्वारा उसकी पुन स्थापना करने मे उतना ही अधिक समय लगता है। इसी कारण डि मार्को ने यह तर्क दिया कि "कर का वितरण प्रारम्भ से ही इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे चालू आर्थिक सन्तुलन से या तो बिल्कुल बिगाड उत्पन्न न हो अथवा यथासम्भव कम से कम बिगाड उत्पन्न हो।" किन्तु क्रियाशील वित्त (functional finance) के वर्तमान समय मे डि मार्को की तटस्थ कराधान (neutral taxation) की विचारधारा स्वीकार नही की जाती और यह कहा जाता है कि यह अत्यावश्यक तथा वाञ्छनीय भी हो सकता है कि कुछ वाञ्छित लक्ष्यो की पूर्ति के लिए प्रचलित आर्थिक सन्तुलन मे परिवर्तन किया जाए।

किसी सेवा की माँग की लोच या मूल्य सापेक्षता ग्राहको के विभिन्न वर्गों के लिए तथा उस सेवा के विभिन्न प्रकार के उपयोगो के लिए भिन्न-भिन्न ही होती है। यह लोच विभिन्न प्रकार के ग्राहकों के लिए उनकी आय के अनुसार भिन्न होती है। प्रथम और द्वितीय श्रेणी की रेल यात्रा के लिए जो भिन्न-भिन्न प्रकार के किराये वसूल किये जाते हैं, उसका आंशिक कारण यह तो है ही कि दोनो श्रेणियो मे उपलब्ध सुविधाओं मे अन्तर होता है। उससे बडा कारण यह तथ्य है कि प्रथम श्रेणी की यात्रा का उपयोग केवल धनी व्यक्तियां द्वारा किया जाता है। यदि किसी सेवा के लिए कोई अन्य स्थानापन्न (substitute) सेवा उपलब्ध होती है तो उससे उसकी माँग लोचदार (elastic) बन जाती है और फिर उस सेवा की कीमत भी कम वसूल करनी होती है। उदाहरण के लिए, हल्के अल्प दूरी के यातायात के लिए सडक परिवहन रेलो से प्रतियोगिता करता है। अतः रेलें ऐसे यातायात (traffic) से नीची दरों से भाडा वसूल करती हैं। औद्योगिक उपयोग (industrial use) की स्थिति मे बिजली को भाप (steam) से प्रतियोगिता करनी होती है, अतः घरेलू उपयोग (domestic use) की तुलना मे उसकी दरें नीची रखी जाती हैं। एक ही सेवा के विविध उपयोगो के कारण, यात्रा विशेष यात्री ट्रेनो से व साधारण ट्रेनो से करने के कारण तथा बिजली की रोशनी के लिए घरेलू उपयोग तथा औद्योगिक उपयोग करने कारण उनकी दरो मे जो अन्तर होते हैं, उनका हिसाब केवल इस बात से लगाया जाता है कि उनकी माँग की लोच मे कितना अन्तर है। कुछ सेवाओ की व्यस्त समय को दरो तथा खाली समय की दरो मे जो अन्तर होता है, उसका भी यही कारण है।

किसी सेवा की प्रति इकाई कीमत इतनी अवश्य होनी चाहिए कि जो उसकी एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन मे लगने वाली सीमान्त लागत (marginal cost) के बराबर हो। सेवा की एक छोटी इकाई की सीमान्त लागत का निर्धारण करना तो सम्भव नही होता, परन्तु बाजार मे उस सेवा की पूर्ति मे साधारण उतार-चढाव होने की स्थिति मे यह अवश्य सम्भव हो जाता है। सीमान्त लागत के सिद्धान्त के लागू होने से उत्पादन अपनी अनुकूलतम स्थितियों (optimum conditions) मे पहुंच जाता है। सीमान्त लागत के अतिरिक्त, बाजार की प्रति इकाई दर मे भी ऊपरी लागतें (overhead costs) उतनी मात्रा मे सम्मिलित होती हैं जितनी मात्रा मे कि वे आसानी से शामिल की जा सकती हैं। इन ऊपरी लागतो का निर्धारण उस लोच (elasticity) से होता है जो बाजार मे उस सेवा की माँग के लिए पाई जाती है। माँग की लोच जितनी कम होती है, स्थिर या ऊपरी लागतो के लिए वसूल की जाने वाली राशि भी उतनी ही अधिक होती है। इस प्रकार, जब माँग मूल्य निरपेक्ष या बेलोच होती है तो उस सेवा की दरें ऊँची होती हैं और माँग लोचदार होने की स्थिति मे दरें नीची होती हैं। उस स्थिति मे विभिन्न बाजारो मे दरें इस प्रकार निर्धारित होती है जिससे कि सेवा से प्राप्त कुल आय कुल लागत के बराबर हो जाए। बाजार में बेलोच माँग की स्थिति मे जो ऊँची दरें वसूल की जाती हैं, वे लोचदार माँग की स्थिति मे वसूल की जाने वाली नीची दरो की क्षतिपूर्ति करती है और कुल प्राप्त आय कुल लगी लागत की पूर्ति कर देती है।

कभी-कभी बाजार मे जनोपयोगी उद्यम द्वारा वसूल की गई कीमतें सीमान्त लागत से कम होती हैं। ऐसा तब किया जाता है जबकि किसी अन्य सेवा द्वारा की जाने वाली प्रतियोगिता बहुत तीव्र होती है। यदि कुछ किस्म के यातायात के सम्बन्ध मे सडक परिवहन कड़ा प्रतियोगी बन जाता है तो रेल भाडे की दरें असाधारण रूप से नीची रखनी होती हैं। कभी-कभी प्रतियोगिता बढ़ जाने की स्थिति मे, उन दशाओं के अन्तर्गत भी दरें नीची रखने के लिए बाध्य होना पड़ता है जबकि सेवा की माँग बेलोच होती है। इस प्रकार, कभी-कभी किसी जनोपयोगी उद्यम

उद्यमो से यह भी आशा की जाती है कि वे समाजिक कल्याण मे वृद्धि करेंगे । अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हे कुछ श्रेणियों के उपभोक्ताओं (users) के पक्ष में मूल्यों मे भेदभाव बरतना पडता है । इस प्रकार, मूल्य निर्धारण का सामाजिक पहलू भी काफी महत्वपूर्ण है ।

दरों का निर्धारण (Determination of Rates) :

सेवा की लागत (cost of service) के सिद्धान्त को, जो कि मूल्य-निर्धारण का एक वास्तविक प्रतियोगी सिद्धान्त है तथा सर्वाधिक न्यायपूर्ण दरें प्रस्तुत करता है, जनोपयोगी उद्यमों की दरों के निर्धारण के लिए लागू करना कठिन होता है । इस आधार पर सेवाओं को वर्गीकृत कर दिया जाता है । उदाहरण के लिए, रेल-सेवा की सुविधाएँ प्रदान करना मैदानो की अपेक्षा पहाड़ो पर अधिक मँहगा होता है और इसी कारण उनकी दरो मे भी अन्तर रखना होता है । दूध तथा कुछ अन्य शीघ्र खराब हो जाने वाले पदार्थों के यातायात के लिए शीत भण्डार वाली मोटर गाडियों की व्यवस्था की जाती है । फलतः इन वस्तुओं पर अधिक ऊँची दरें वसूल की जाती हैं । इसी प्रकार साधारण गाडियों की अपेक्षा वातानुकूलित (airconditioned) डिब्बो मे यात्रा करने पर अधिक भाडा देना होता है ।

किन्तु सभी मामलो मे इस सिद्धान्त को लागू करने से भारी स्वेच्छाचारिता (arbitrariness) उत्पन्न होने का भय रहता है । कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब स्थिर लागतों का बँटवारा करने का प्रयास किया जाता है । कुल लागत (total cost) मे स्थिर लागत (fixed cost) का अनुपात अधिक होने के कारण तथा सेवाओं का संयुक्त उत्पादन होने के कारण प्रत्येक किस्म की सेवा की स्थिर लागत का पृथक्-पृथक् निर्धारण करना कठिन होता है। किसी सेवा के कुछ भागो की विशिष्ट लागतो का माप तो हो सकता है किन्तु प्रदान की जाने वाली प्रत्येक इकाई के बारे मे ऐसा करना संभव नही होता । उदाहरण के लिए, बिजली प्रदान करने मे इस बात का निर्धारण किसी निश्चित आधार पर नही किया जा सकता कि संयंत्र (plant), तारो, उप-केन्द्रो (sub-stations) तथा वितरण लाइनों आदि मे लगी लागत का कितना भाग औद्योगिक उपभोक्ताओ के हिस्से मे डाला जाए और कितना घरेलू उपभोक्ताओ के हिस्से में । स्थायीमार्ग, स्टेशनों, उच्च अधिकारी वर्ग तथा अन्य स्थिर लागतो का वितरण यदि यात्री यातायात तथा माल यातायात के बीच किया जाता है तो ऐसा केवल मनमाने ढंग से ही किया जा सकता है, किसी निश्चित आधार पर नही । अतः जनोपयोगी उद्यमो की सेवाओ के मूल्य निर्धारण मे लागत सिद्धान्त को लागू करना कठिन होता है ।

इस सम्बन्ध मे यदि कोई सिद्धान्त सर्वाधिक सामान्य रूप मे लागू हो सकता है तो वह है सेवा के मूल्य का सिद्धान्त (value of service principle) । इस सिद्धान्त के अनुसार, उपभोक्ताओ के प्रत्येक वर्ग से ऐसी कीमत वसूल की जाती है जो कि वह सेवा की अपनी माँग के अनुसार देने मे समर्थ होता है । जनोपयोगी उद्यम अपने उपभोक्ताओं का विभाजन माँग के प्रति उनकी लोच के अनुसार कर लेता है और उसी के अनुसार उनसे कीमतें वसूल कर लेता है । सबसे अधिक कीमत उस उपभोक्ता से वसूल कर ली जाती है, जिसकी माँग की लोच (elasticity of demand) सबसे कम होती है और सबसे अधिक माँग की लोच वाले उपभोक्ता से न्यूनतम कीमत वसूल की जाती है । प्रत्येक सेवा की माँग की औसत लोच के अनुसार भिन्न-भिन्न बाजारो मे सेवा की पृथक्-पृथक् कीमतें वसूल की जाती हैं । इस विवेचन से पता चलता है कि भेद मूलक दरो (discriminating rates) का सिद्धान्त, जो कि पूर्णतः एक एकाधिकारी सिद्धान्त है, किस प्रकार जनोपयोगी उद्यमों की सेवाओं के कीमत-निर्धारण मे प्रविष्ट होता है ।

का दृष्टिकोण भी रखती है, जो कि बडा महत्वपूर्ण है। दरो का निर्धारण करते समय सरकारी उद्यम इस बात से भी प्रेरित होते हैं कि सेवा की माँग में वृद्धि हो।

उपनगरीय क्षेत्रो मे जब नीची दरो से बिजली देने की व्यवस्था की जाती है तो उसके पीछे उपभोग मे वृद्धि करने का उद्देश्य ही निहित होता है ताकि अधिक उत्पादन किया जा सके। रेलें अधिक यातायात को सम्भव बनाने के लिए ही विशेष यात्री गाडियाँ चलाती हैं। उपनगरीय लाइनो पर नीची दरें वसूल किये जाने के पीछे यही उद्देश्य छिपा रहता है कि मुख्य लाइनो के लिए अधिक यातायात उपलब्ध हो सके। मौसमी टिकट इसलिये जारी किये जाते हैं ताकि लम्बे समय की यात्रा के लिए लोगो को प्रोत्साहित किया जा सके। शक्ति (power) के बडे उपभोक्ताओ से नीची दरें वसूल करने के पीछे भी लोगो को उसका अधिक उपयोग करने को प्रोत्साहन देना होता है। इस प्रकार, सेवा की कुल माँग मे वृद्धि करने के लिए उसकी दरो मे घटा-बढ़ी की जाती है।

जनोपयोगी उद्यमो की सेवाओ की प्रकृति कुछ ऐसी है कि आवश्यकता वृद्धि के समय उनकी व्यवस्था अवश्य ही करनी होती है और उधर उनका संग्रह भी नहीं किया जा सकता। इससे चरम अथवा अधिकतम माँग (peak demand) की समस्या उत्पन्न होती है। दिन के किसी समय मे, अथवा सप्ताह के कुछ दिनो मे तथा वर्ष के कुछ महीनो मे अन्यो के मुकाबले माँग अधिक रहती है। सेवाएँ प्रदान करने वाला स्थिर संयन्त्र (fixed plant) इतना पर्याप्त अवश्य होना चाहिए कि वह अधिकतम माँग की पूर्ति कर सकें; किन्तु गैर-व्यस्तता के घण्टो मे अथवा खाली समय की अवधि मे उसका अधिकांश भाग बेकार पडा रहता है। मूल्य नीति का उन्नतिशील दृष्टिकोण केवल इस बात से ही प्रेरित नही होता कि कुल माँग को पूर्ण उत्पादन क्षमता तक पहुँचा दिया जाए, अपितु इससे भी कि माँग को अधिक समान रूप मे फैला दिया जाए, और गैर-व्यस्त समयो मे उसे (माँग को) बढाकर तथा व्यस्तता की अवधियो (peak periods) मे उसे कम रख कर ऐसा किया जा सकता है। व्यस्तता की अवधियों मे सेवा का उपयोग करने वाले व्यक्तियो से ऊँची दरें वसूल करके ऐसा किया जा सकता है। किन्तु व्यवहार मे प्राय. ऐसा करना सम्भव नही होता, या तो इस कारण क्योकि अधिक माँग तथा कम माँग मे अन्तर करना सम्भव नही होता, जैसा कि बिजली की माँग के सम्बन्ध मे पाया जाता है, अथवा सामाजिक कारणो की वजह से भी ऐसा करना संभव नही होता, जैसा कि सरकारी परिवहन द्वारा काम (work) के लिए जाने तथा वहाँ से वापिस आने की यात्रा की स्थिति मे होता है। इससे उल्टी स्थिति अधिक आसानी से लाई जा सकती है। गैर-व्यस्त समयो की माँग (off peak demand) निम्न दरें वसूल करके बढा दी जाती है। इसका प्रभाव यह होता है कि ऊपरी लागतें (overhead costs) अपेक्षाकृत अधिक उत्पादित सेवाओ मे फैल जाती हैं और इस प्रकार प्रति इकाई औसत लागत कम हो जाती है। इससे व्यस्तकाल की अधिक मात्रा की माँग के एक भाग को गैर-व्यस्त समयो मे स्थानान्तरित करने मे भी सहायता मिलती है, परिणामस्वरूप भाग अधिक समान रूप से वितरित हो जाती है।

सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aspect) :

जनोपयोगी उद्यम चूँकि अत्यावश्यक मूलभूत सेवाओ की व्यवस्था करते है, अतः उनकी मूल्य-नीतियाँ उपभोक्ताओं के कल्याण तथा उद्योग की लागतों, दोनो को ही प्रभावित करती है। चूँकि ये उद्यम या तो सामाजिक स्वामित्व के अधीन संचालित किये जाते है अथवा सरकारी नियन्त्रण के अधीन कार्य करते हैं, अतः उनकी मूल्य-नीतियो मे कुछ सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति की दृष्टि से प्रायः हेर-फेर होती रहती है। सामाजिक कल्याण मे वृद्धि करने के लिए जनता के कुछ

को सीमान्त लागत से भी नीची दरें इसलिये नियत करनी होती हैं ताकि वह उद्यम की अन्य सेवाओ की माँग को आकर्षित कर सके। रेलें अपनी शाखा-लाइनो पर दरें प्रायः इसलिए नीची रखती हैं ताकि मुख्य लाइनो के लिए यातायात (traffic) उपलब्ध कर सकें। मुख्य लाइनों की दरें अवश्य इतनी ऊँची रखी जाती हैं जो कि शाखा लाइनों पर होने वाली क्षति को पूरा कर देती है। इसके अतिरिक्त, सेवा आरम्भ करने के प्रारम्भिक काल मे प्रायः नीची दरें इसलिये रखी जाती हैं ताकि उस सेवा की माँग उत्पन्न हो सके और जब उस सेवा की माँग उत्पन्न हो जाती है तब वे दरें बढा दी जाती हैं। यही नही, सामाजिक कल्याण मे वृद्धि करने का जनोपयोगी उद्यमो का दायित्व उनके लिए यह आवश्यक बना देता है कि उन निर्धन ग्राहको को अत्यन्त नीची दरो पर सेवा प्रदान करें जिनकी अदा करने की क्षमता बहुत कम होती है। उदाहरण के लिए, कुछ निर्धन बस्तियो में सरकारी नलो द्वारा अत्यन्त नीची दरो से पानी उपलब्ध कराया जाता है।

इसके विपरीत, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जो कि जनोपयोगी उद्यमो के लिए यह अनिवार्य बना देती हैं कि वे काफी लोचदार माँग होने की स्थिति मे भी ऊँची दरें निर्धारित करें। व्यस्त समयो की अवधि मे माँग को हतोत्साहित करने लिए कभी-कभी ऐसा किया जाता है। यह वह समय होता है जबकि उद्यम अतिरिक्त सेवा की व्यवस्था करने मे सबसे कम समर्थ होता है; उस अवधि के लिए ऊँची दरें निर्धारित करके सेवा के उपयोग को हतोत्साहित किया जाता है। ऐसा तब भी किया जाता है जबकि अतिरिक्त सेवा की पूर्ति करने मे विशेष सामग्री अथवा कौशल (skill) का उपयोग करना होता है। अन्य शब्दो मे, अतिरिक्त सेवा प्रदान करने मे और अतिरिक्त (फालतू) मूल लागत (prime cost) लगाई जाती है जो कि निर्धारित कीमत द्वारा वसूल कर ली जाती है।

इस प्रकार, जनोपयोगी उद्यमो की दरें भेद मूलक कीमतो का एक स्पष्ट उदाहरण है। सेवा की लागत का सिद्धान्त केवल उस सीमा तक ही लागू होता है जहाँ तक कि कुल राजस्व द्वारा कुल लागतो को सन्तुलित करना होता है। ग्राहको के विभिन्न वर्गों के लिए, सेवा के विभिन्न उपयोगो के लिए तथा विभिन्न समयो मे सेवा के उपयोग के लिए दरो का निर्धारण करने मे जो सिद्धान्त मुख्य रूप से भाग अदा करता है, वह यही है कि "उतनी रकम वसूल की जाए जितनी कि यातायात वहन कर सकता है।" यह सबसे स्पष्ट किस्म की भेदमूलक स्थिति है। जनोपयोगी उद्यमो द्वारा भेदमूलक दरें (discriminating rates) वसूल करने के अन्य भी अनेक उदाहरण हैं जैसे कि शक्ति (power) तथा गैस के बड़े तथा छोटे उपभोक्ताओ से विभिन्न दरें वसूल करना, शक्ति के औद्योगिक तथा घरेलू उपयोग के लिए विभिन्न दरें, बिजली के घरेलू उपयोग मे रोशनी तथा शक्ति के लिए अलग-अलग दरें, विभिन्न मूल्यो के वस्तुओ के लिए रैल-यातायात की विभिन्न दरें तथा विशेष यात्री रेलो और साधारण रेलो द्वारा सफर करने पर दरो मे अन्तर होना आदि।

उन्नति का दृष्टिकोण (Promotional Aspect) :

सरकारी उद्यमों मे लगी कुल लागत मे स्थिर लागत का एक बड़ा अनुपात उनके लिए इस बात को सम्भव बनाता है कि वे घटती लागत पर सेवा की अधिकाधिक मात्रा प्रदान करें। इस स्थिति मे, सेवा की पूर्ति या संभरण (supply) जितनी अधिक मात्रा मे होती है, सेवा की प्रति इकाई लागत उतनी ही कम होती है। अतः उत्पादन मे मितव्ययता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि माँग अधिक हो। इस प्रकार, सरकारी उद्यमो की मूल्य नीति अपने सम्मुख उन्नति

सेवाओं के लिए उचित मूल्य-अनुसूचियाँ तैयार करें। भारत, इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में रेलवे दर न्यायाधिकरण (Railway Gates Tribunal) तथा संयुक्त राज्य अमरीका में अन्तर्राज्य वाणिज्य आयोग (Interstate Commerce Commission) आदि सरकारों द्वारा इसीलिये नियुक्त किये गये हैं ताकि जनोपयोगी उद्यमों की मूल्य तथा दर अनुसूचियों का नियमन कर सकें। जनोपयोगी उद्यमों द्वारा वसूल किये जा सकने योग्य उचित मूल्यों का निर्धारण करने में इन संगठनों को अनेक महत्वपूर्ण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, एक कठिनाई सेवाओं की औसत लागत का हिसाब लगाने में आती है विशेष रूप से ऐसी सेवाओं की जिनमें सम्मिलित लागत (joint cost) होती है। इसके बाद, एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि उस लाभ की गुन्जाइश का निर्धारण कैसे किया जाय, जनोपयोगी उद्यमों को जिनके अर्जन की अनुमति दी जानी है लाभ की गुन्जाइश का हिसाब लगाते समय यह भी निश्चय करना होगा कि लाभ की गुन्जाइश का हिसाब लगाते समय यह भी निश्चय करना होगा कि लाभ की गुन्जाइश (margin of profit) पूँजी के मूल निवेश के लिए होनी चाहिए अथवा निवेश के वर्तमान किताबी मूल्य के लिए। अन्त में, अच्छे और बुरे वर्षों के लिए भी कुछ छूट अवश्य रखनी होगी; अच्छे वर्षों के लिए जो लाभ की गुन्जाइश रखी जाए उसमें बुरे वर्षों के सम्भावित लाभों की छूट को भी सम्मिलित करना होगा। अनेक देशों के विभिन्न नियन्त्रण आयोगों का अनुभव यह बतलाता है कि ये कुछ ऐसी व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिनका समाधान आसानी से नहीं खोजा जा सकता।

यदि यह मान भी लिया जाय कि जनोपयोगी उद्यमों का नियन्त्रण करने वाले आयोग एकाधिकार की लागत एवं कीमत के ढांचे से परिचित होते हैं, तो भी दो या तीन ऐसी वैकल्पिक नीतियाँ हैं, आयोग द्वारा जिनका अनुसरण किया जा सकता है। आगे दिया हुआ रेखाचित्र समस्या को अच्छी प्रकार समझने में हमारी सहायता करता है।

कीमत पर सरकार के नियन्त्रण एवं नियमन के अभाव में, जनोपयोगी उद्यम अपनी कीमत Q^1P^1 तथा मात्रा (quantity) OQ^1 निश्चित करेगा। प्रतियोगी कीमत तथा उपज क्रमशः
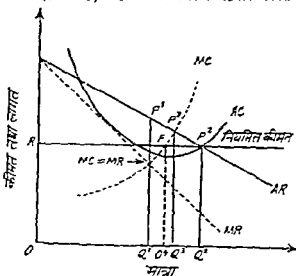
Q^2P^2 और OQ^2 है। मान लीजिए, सरकार द्वारा नियुक्त नियामकीय आयोग (regulatory commission) ऐसी प्रतियोगी कीमत (competitive price) का निर्धारण करता है जिसका कि जनोपयोगी उद्यम को अनुसरण करना है। अब नियमित कीमत (regulated price) वह पड़ी रेखा

वर्गों को मूल्य सम्बन्धी रियायतें प्रदान की जाती हैं। उदाहरणार्थ, परिवहन सेवाएं प्रायः ऐसे समयो मे सस्ती दरों पर सुविधाएं प्रदान करती है जबकि कर्मचारी तथा मजदूर काम पर जाते हैं और वहां से वापिस आते हैं। यदि विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह एक हानि है क्योंकि यह केवल व्यस्त समयों में ही अतिरिक्त यातायात को प्रोत्साहन करता है; परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से यह अवश्य एक लाभ ही है।

सस्ती दरो पर सेवा की व्यवस्था प्रायः उन उद्यमो द्वारा की जाती है जो नगरपालिकाओ द्वारा संचालित होते हैं। परिवहन सेवाएं उन नये इलाको के लिए विशिष्ट दरो पर प्रदान की जाती है जो गन्दी बस्तियो को साफ करके बनाये जाते हैं। बिजली तथा गैस निर्धन उपभोक्ताओ को ऐसी समान नीची दरो से उपलब्ध कराये जाते है जो कि उनको दी जाने वाली सेवाओं की रख-रखाव की स्थिर लागतो (fixed costs of maintaining) को भी पूरा नहीं करती। कुछ बस्तियों मे पानी ऐसी निश्चित मासिक दरो से उपलब्ध कराया जाता है जो कि उपयोग किये गये जल की मात्रा के अनुसार न होकर मकान के कर योग्य *मूल्य (rateable value) पर आधारित होती है, ताकि समाज के कमजोर वर्गों द्वारा उसे सेवा के* अधिक उपभोग के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। इन सब उदाहरणो मे, सभी बाजारो का पूर्ण विकास करने के लिए भेदभावमूलक कीमतो को प्रयोग करने का जो विशुद्ध आर्थिक लक्ष्य सामने रखा गया है उसमे कमजोर उपभोक्ताओ को सरक्षण देने का सामाजिक उद्देश्य भी निहित है।

इस प्रकार, जनोपयोगी उद्यम अपनी मूल्य नीति को भेदभावमूलक दरो पर आधारित करते हैं। ऐसा करना इसलिये संभव हो जाता है क्योंकि ये उद्यम विभिन्न प्रकार के बाजारो मे अपनी सेवाएं प्रस्तुत करते है और अनेक मामलो मे अपने किस्म की वस्तुएं व सेवाएं उत्पन्न करते हैं। भेदभावमूलक दरो का उद्देश्य यही होता है कि उद्यम को इस योग्य बनाया जाए कि कि वह अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्णतम उपयोग कर सके और उद्यम की ऊपरी लागतो (overhead costs) को अधिक से अधिक उत्पादित माल मे वितरित कर सके। जब प्रत्येक बाजार में कीमत सेवा को प्रदान करने की सीमान्त लागत की पूर्ति करती है तो उद्यम अपने साधनो का इष्टतम अथवा अनुकूलतम उपयोग (optimum use) कर रहा होता है। व्यवहार मे, जनोपयोगी उद्यमो को अपनी मूल्य-नीतियो मे सामाजिक दृष्टिकोणो के कारण कुछ संशोधन भी करना होता है। ऐसा करते समय उद्देश्य यही होता है कि उद्यम के लाभ मे कुछ कमी करके भी सामाजिक कल्याण मे वृद्धि की जाए।

जनोपयोगी उद्योगों का नियन्त्रण व नियमन
(Control And Regulation of Public Utilities)

मोटेतौर पर जनोपयोगी उद्योगो पर तीन प्रकार से नियन्त्रण किया जा सकता है—उनकी कीमतो एवं दरो का नियमन (regulation), उनके खातो (accounts) का नियमन और उनकी सेवाओ का नियमन। नियमन के विरुद्ध, कुछ लोग यह कहते हैं कि जनोपयोगी उद्योगो पर सरकार का स्वामित्व होना चाहिए।

(१) कीमतो व दरों का नियमन (Regulation of Prices and Rates) :

जनोपयोगी उद्यमों को अधिक ऊँची कीमतें वसूल करने से रोकने के लिए तथा इन उद्यमो के शोषण के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करने के लिए, सभी जगह सरकारों ने दर तथा कीमत न्यायाधिकरणो (rates and prices tribunals) *की स्थापना की है। इन न्यायाधिकरणो अथवा* आयोगों को यह अधिकार दिया जाता है कि वे जनोपयोगी एकाधिकारो द्वारा प्रदान की जाने वाली

जनोपयोगी उद्यमों का सरकारी स्वामित्व
(Government Ownership of Public Utilities)

कीमत तथा उपज के नियमन मे चूँकि अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ सामने आती हैं अत: अनेक लोगो का कहना यह है कि जनोपयोगी उद्यमो का, जो कि स्वयं प्राकृतिक एकाधिकार हैं, स्वामित्व एवं संचालन सरकार द्वारा ही होना चाहिए और तथ्य यह है कि अनेक देशो मे ऐसा किया भी गया है। आजकल सबसे अधिक रूढिवादी देशो तक मे यह बात सामान्य हो गयी है कि अनेक जनोपयोगी सेवाओ जैसे कि रेलवे, रोडवेज, तथा टेलीफोन आदि स्वामित्व एवं प्रबन्ध केन्द्र या राज्य सरकारो द्वारा, नगर-पालिकाओ द्वारा और अन्य स्थानीय निकायो (local bodies) द्वारा किया जाने लगता है। जहाँ भी सरकारें इस कार्य मे कुशल सिद्ध हुई हैं, वहाँ प्राकृतिक एकाधिकारो के सरकार द्वारा सचालन को समस्या का सर्वोत्तम वाञ्छनीय हल समझा जाता है। यह हल कुल सामाजिक कल्याण की मात्रा को अधिकतम करता है। यहाँ यह बात स्पष्ट की जानी आवश्यक है कि सोवियत रूस तथा अन्य साम्यवादी देशो मे सरकारी उद्यमों को जो तुलनात्मक सफलता मिली है, उसके कारण गैर साम्यवादी देशो मे भी सरकारी स्वामित्व के विस्तार को भारी प्रोत्साहन मिला है।

किन्तु जनोपयोगी उद्यमो मे सरकारी स्वामित्व के विस्तार से बडा गर्मागरम विवाद उठ खडा हुआ है। यह विवाद केवल सयुक्त राज्य अमेरिका मे ही नही है जो कि स्वतन्त्र उद्यम का तथाकथित घर है, अपितु भारत जैसे देशो मे भी छिडा हुआ है जहाँ कि पिछले कुछ वर्षों मे निजी उद्यम बडा कोलाहलकारी हो गया है।

पक्ष के तर्क जनोपयोगी उद्यमों के सरकारी स्वामित्व का पक्ष मजबूत दिखाई देता है। **सर्वप्रथम**, निजी स्वामित्व तथा सरकारी नियन्त्रण व नियमन के बीच उत्पन्न वर्तमान विवाद को सरकारी स्वामित्व एव सचालन के द्वारा आसानी से सुलझाया जा सकता है। दूसरे, सरकारी स्वामित्व से लाभ का प्रयोजन समाप्त हो जायेगा और उपयुक्त दरो पर पर्याप्त सेवाओ की व्यवस्था की गारन्टी मिलेगी। सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत लाभ के प्रयोजन (profit motive) का स्थान कल्याण-प्रयोजन (welfare motive) लेगा जिसके फलस्वरूप, जनोपयोगी उद्यमो का संचालन उपभोक्ताओं को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने की दृष्टि से किया जायेगा। तीसरे, जनोपयोगी उद्यमो का लाभ प्राइवेट शेयरधारियो पर नही जायेगा, बल्कि राष्ट्रीय राजकोष मे जायेगा और यह इस सीमा तक करो का भार कम करने मे सहायता करेगा। चौथे, सरकार द्वारा अधिकृत उद्यम अपेक्षाकृत नीची दरो से बाजार से आवश्यक धन प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है क्योंकि सरकार ब्याज की अपेक्षाकृत नीची दरो से धन प्राप्त कर सकती है। इससे उत्पादन लागत कम करने मे मदद मिलेगी। इसके अतिरिक्त, सरकार के लिए यह भी सम्भव हो सकता है कि वह योग्यता एवं निष्ठा वाले व्यक्तियो को अपनी ओर आकर्षित करे और उनको कार्य-क्षमता बढाने और उत्पादन-लागत घटाने का उत्तरदायित्व सौंपे। अन्त मे, सरकारी स्वामित्व से राजनैतिक भ्रष्टाचार भी काफी मात्रा मे समाप्त हो जायगा। ऐसा भ्रष्टाचार संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशो मे विद्यमान है जहाँ कि जनोपयोगी उद्यम प्रतिकूल विधानो तथा विरोधी मूल्य-नियन्त्रण आयोगो से अपनी रक्षा करने के लिए रिश्वत खोरी तथा अन्य गैर कानूनी तरीको का आश्रय लेते हैं। ये तर्क बड़े वजनदार हैं विशेष रूप से वह तर्क जो कि लाभ-प्रयोजन की समाप्ति और उसके स्थान पर कल्याण-प्रयोजन की स्थापना से सम्बन्धित है।

है जो कि यह सूचित करती है कि जनोपयोगी उद्यम चाहे कितनी ही मात्रा में उत्पादन तथा विक्रय कर सकता है परन्तु वह विक्रय केवल इसी कीमत पर कर सकता है। अतः यह कीमत OR ($=Q^2P^2$) जनोपयोगी उद्यम के लिए MR भी है। लाभ को अधिकतम करने के सिद्धान्त MC=MR का अनुसरण करके जनोपयोगी उद्यम OQ^4 के बराबर उत्पादन करने का निश्चय करेगा जिसे कि बिन्दु F द्वारा प्रदर्शित किया गया है (जिस पर MC=MR) यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम, यह कि जनोपयोगी उद्यम यद्यपि अब नियमित कीमत पर माल बेचेगा, फिर भी उसे लाभ प्राप्त होगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि बिन्दु F पर नियमित कीमत औसत लागत से अधिक है। दूसरे, जनोपयोगी उद्यम प्रतियोगी उपज नहीं पैदा कर रहा है बल्कि उससे कुछ कम कर रहा है (अर्थात् OQ^4)। नियामकीय सत्ता को न केवल प्रतियोगी कीमत ही निश्चित करनी चाहिए, अपितु प्रतियोगी उत्पादन पर भी जोर देना चाहिए।

(२) खातों का नियमन (Regulation of Accounts) :

जब दरों का निर्धारण मूल्य-आयोग द्वारा किया जाता है तो जनोपयोगी एकाधिकार लागतों को उससे अधिक दिखाने का प्रयत्न कर सकता है जितनी कि वे वास्तव में हैं। ऐसा करने का उद्देश्य यह होता है कि मूल्य-आयोगों द्वारा ऊँची कीमतें निश्चित करा दी जाएँ। ऊँची लागतें कई प्रकार से दिखाई जा सकती हैं, जैसे कि अधिक मूल्य-ह्रास प्रभार (depreciation charges) दिखाकर, खरीदी हुई मशीनरी एवं संयन्त्र की अधिक कीमत दिखाकर अथवा सहायक उद्यम दिखाकर, आदि। ऐसी किसी भी सम्भावना से उपभोक्ताओं को संरक्षण प्रदान करने के लिए, मूल्य-आयोग को ऐसे अधिकार भी दिये जाने चाहिए कि वह इन उद्यमों के खातों का भी नियमन कर सके। अन्तर्राज्य वाणिज्य आयोग को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं।

(३) सेवाओं का नियमन (Regulation of Services) :

यह हम बतला चुके हैं कि अनेक स्थितियों में किस प्रकार जनोपयोगी उद्यम उपभोक्ताओं को पर्याप्त मात्रा में सेवाएँ प्रदान करना नहीं चाहते, विशेष रूप से तब जबकि उन्हें यथेष्ट मात्रा में लाभ प्राप्त होने की आशा नहीं होती। किन्तु उपभोक्ताओं के कल्याण की दृष्टि से, यह हो सकता है कि इन सेवाओं की व्यवस्था करना पूर्णतया आवश्यक हो। इसके अतिरिक्त, जनोपयोगी उद्यम सम्भव है, पर्याप्त सुरक्षा एवं सफाई सम्बन्धी कार्यवाहियाँ न करें। अनेक देशों में स्वतन्त्र मूल्य आयोगों को इस सम्बन्ध में भी विशेष शक्तियाँ प्रदान की गई हैं कि वे जनोपयोगी संस्थाओं को सेवाओं में वृद्धि करने तथा विशेष सुरक्षात्मक कार्यवाहियाँ करने आदि के लिए बाध्य कर सकें।

सरकार द्वारा नियुक्त आयोगों द्वारा कीमत तथा उपज को नियमित करने का कार्य यद्यपि सिद्धान्त रूप में बड़ा सरल दिखाई देता है, किन्तु व्यवहार में, उसके समक्ष अनेक समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। लागत का हिसाब लगाना एक बड़ा कठिन कार्य है विशेष रूप से संयुक्त लागतों (joint costs) की स्थिति में। इसी प्रकार निबल लाभ की गणना में भी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। फिर, एक समस्या यह होती है कि केवल एक ही कीमत नहीं; बल्कि विभिन्न प्रकार के उपभोक्ताओं के लिए कीमतों की एक पूरी सूची कैसे तैयार की जाए? इन सबसे भी बढ़कर एक समस्या तब उत्पन्न हो सकती है जबकि जनोपयोगी उद्यम सरकार द्वारा नियुक्त मूल्य आयोगों को अनुचित साधनों द्वारा प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं यदि ऐसा होता है—जैसा कि कहा जाता है कि अमेरिका में ऐसा होना एक बिल्कुल सामान्य बात है—तो उपभोक्ताओं के लिए जनोपयोगी उद्यमों के शोषण से बचने का कोई मार्ग शेष नहीं रहता। इसीलिए अनेक लोगों का विश्वास यह है कि समुचित नीति यही होनी चाहिए कि इन जनोपयोगी उद्यमों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Bye and Hewett : Applied Economics, Chapter V.
2 Gemmill and Blodgett Economic Principle and Problems Chapter 48.
3. Thomson : Economics of Public Utilities, Chapters 5 & 6.
4 Sleeman : British Public Utilities, Chapters I to III

UNIVERSITY QUESTIONS ·

१ जनोपयोगी उद्यमो से क्या आशय है? जनोपयोगी उद्यमो के प्रमुख लक्षणो का वर्णन कीजिए।

What is meant by public utilities? Describe the main characteristics of public utilities

२ जनोपयोगी उद्यम की मूल्य नीति की विवेचना कीजिए।
Discuss the public utilities price policy.

३. जनोपयोगी उद्यमो के नियन्त्रण तथा नियमन का वर्णन कीजिए।
Describe the control and regulation of public utilities.

४. जनोपयोगी उद्यमो के सरकारी स्वामित्व के पक्ष तथा विपक्ष मे अपने तर्क दीजिए।
Give your arguments in favour and against the Government ownership of public utilities

विपक्ष के तर्क : जनोपयोगी उद्यमों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे दिये गये तर्क यद्यपि काफी शक्तिशाली है, किन्तु राष्ट्रीयकरणों के विरुद्ध दिये जाने वाले तर्क भी कमजोर नही है। क्षतिपूर्ति की समस्या को छोड भी दिया जाए—जो कि सरकार द्वारा अपने अधिकार मे ली जाने वाली अनेक जनोपयोगी उद्यमो का एक सरदर्द बन जायेगी—तो भी निजी स्वामित्व के जनोपयोगी उद्यमो द्वारा अदा किये जाने वाले करो की हानि को फिर अन्य सेवाओ के द्वारा पूरा किया जायेगा। दूसरे, यह हो सकता है कि सरकारी प्रबन्ध अकुशल सिद्ध हो। यह कहा जाता है कि सरकारी अधिकारियों मे पहलशक्ति का अभाव होता है और वे आमतौर पर दैनिक कार्य एवं लालफीताशाही के अभ्यस्त होने हैं। इसके अतिरिक्त, लाभ-प्रयोजन के अभाव के कारण अकुशलता तथा सुस्ती उत्पन्न हो सकती है जिसका परिणाम उदासीन सेवा, अपव्ययी कार्य-कुशलता तथा ऊँची उत्पादन-लागत के रूप मे सामने आ सकता है। अल्पविकसित देशों मे, यह समस्या अधिक गम्भीर रूप मे वर्तमान होती है। इसके अन्तर्गत, राजनैतिक व्यवस्था प्राय: भ्रष्टाचारी बन जाती है और अधिकांश मामलो मे अबुद्धिमत्तापूर्ण तथा अकुशल बन जाती है। सिविल अधिकारियो मे इतना पर्याप्त व्यावसायिक अनुभव तथा उतनी नैतिक निष्ठा नही होती जितनी कि राष्ट्रीयकृत उद्योगो के कुशल प्रबन्ध के लिए आवश्यक होती है। अतः उन्नत देशो की स्थित चाहे कुछ भी क्यो न हो, अल्पविकसित देशों को जनोपयोगी उद्यमों मे सरकारी व्यक्तित्व का विस्तार करने मे शनैः-शनैः आगे बढ़ाना चाहिए। तीसरे, एकाधिकार सेवाओ के सरकारी स्वामित्व के कारण साधनों का दुरुपयोग भी संभव हो सकता है। चूँकि इन सेवाओ का उत्पादन माँग की प्रत्याशा मे किया जाता है, अतः सरकारी अधिकारियो द्वारा अच्छे प्रतिफल की प्रत्याशा मे निवेश किया जा सकता है। परन्तु यह प्रत्याशा (anticipation) गलत सिद्ध हो सकती है और इस स्थिति मे हानि का बोझ सामान्य जनता को उठाना होता है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि सरकारी उद्यम की हानि तो समाज को उठानी पडती है किन्तु निजी उद्यमो की हानि केवल प्राइवेट शेयरधारियो को ही प्रभावित करती है। परन्तु समाजीकरण के समर्थक बड़ी शीघ्रता के साथ यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जनोपयोगी उद्यमो मे जोखिम या तो बिल्कुल नही होती या बहुत ही कम होती है। अन्त मे, जनोपयोगी उद्यमो का सरकारी स्वामित्व सरकार को इस बात के लिए प्रेरित कर सकता है कि वह अन्य उद्योगों मे भी सरकारी स्वामित्व का विस्तार करे। इससे आर्थिक शक्ति राज्य के हाथो मे ही केन्द्रित होने लगती है और व्यक्तिगत स्वाधीनता की दृष्टि से यह उचित नही होता। प्राइवेट एकाधिकारी के शोषण से बचने के लिए तो उपभोक्ता, सरकार का संरक्षण प्राप्त करने का प्रयास करता है, परन्तु सरकारी उद्यम द्वारा ही यदि उसका शोषण आरम्भ हो जाय तो वह किससे संरक्षण प्राप्त करेगा और क्या संरक्षण उसे मिलेगा ?

निष्कर्ष (Conclusion) :

प्रश्न यह है कि इन दोनो ही प्रकार के तर्कों मे अधिक वजनदार कौन से हैं ? इस प्रकार का कोई ठोस उत्तर बना बड़ा कठिन है। यह बात व्यक्ति के राजनैतिक विचारों तथा दल-विशेष से उसकी सम्बद्धता पर निर्भर होती है। परन्तु जनमत का झुकाव सरकारी स्वामित्व के पक्ष मे ही प्रतीत होता है। किन्तु सरकारी विभागो के अंग के रूप मे जनोपयोगी उद्यमो का प्रबन्ध व संचालन कार्यकुशलता बढाने वाला नही हो सकता। अतः सरकारी उद्यमों से सम्बन्धित कमजोरियो पर काबू पाने के लिए ही सरकारी निगमो का उपयोग किया जाता है। सरकारी निगम, जिसमे पूँजी का सरकारी स्वामित्व किन्तु निदेशको का अर्धस्वतन्त्र बोर्ड होता है, जनोपयोगी उद्यम का संचालन लाभ के वाणिज्यिक प्रयोजन (commercial motive) के आधार पर करता है।

(४) **नागरिक चेतना** (Civil consciousness)—प्रत्यक्ष कर नागरिक जागरण उत्पन्न करते हैं, अर्थात् चूंकि इन करो के अन्तर्गत करदाताओं को करो के भार का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कराया जाता है, अत वे इस बात मे बडी गहरी रुचि लेते हैं कि सरकारी आय किस प्रकार से खर्च की जा रही है। करदाता राज्य के नागरिकों के रूप में अपने अधिकारो एव उत्तरदायित्वो के प्रति अधिक सावधान एव सचेत हो सकते हैं।

(५) **उत्पादकता** (Productivity)—प्रत्येक करो मे उत्पादकता का भी गुण है क्योकि जैसे-जैसे देश की सम्पत्ति मे वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे प्रत्यक्ष करो से होने वाली आय मे भी वृद्धि होती जाती है।

(६) **योग्यता एव न्यायशीलता** (Ability and Equitability)—**प्रो० जे० के० मेहता** "प्रत्यक्ष कर न्यायोचित है क्योकि वे करदाना की योग्यता के आधार पर वसूल किये ..[17] धनी व्यक्तियो पर अधिक कर तथा निर्धनो पर कम कर लगाकर आय के वितरण की .. को काफी हद तक दूर किया जा सकता है। इसी कारण इसे अधिक न्यायसगत कहा है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष करो के लाभ हैं—(१) **समता एव न्यायपूर्णता** (equity) (२) **निश्चितता** (certainty) (३) **लोचपूर्ण अथवा लचीलापन** (elasticity) (४) **नागरिक चेतना** (civil conciousness) (५) **उत्पादकता** (Productivity) तथा (६) **योग्यता एव न्यायशीलता** (Ability and Equitability)।

प्रत्यक्ष करों के दोष

प्रत्यक्ष करो के दोषो मे चार बातो पर विशेष जोर दिया जा सकता है

(१) **मनमानापन** (Arbitrariness)—प्रत्यक्ष करो मे मनमानापन आने लगता है क्योकि कर अदा करने की सामर्थ्य का कोई वस्तुनिष्ठ (objective) एव न्यायपूर्ण आधार प्राप्त करना वास्तव मे बडा कठिन है। उदाहरण के लिए, आय-कर की दर इस बात पर निर्भर होगी कि सरकारी राजनैतिक गठन किस प्रकार का है। एक दक्षिणपथी अथवा अनुदारदलीय सरकार, यह हो सकना है कि करो की निम्न दरें लागू करें, किन्तु एक वामपथी सरकार करो की कठोर दरें लागू कर सकती है। परन्तु अनुभव के द्वारा तथा सावधानी बरत कर कराधान मे न्यायपूर्णता लाई जा सकती है और मनमानापन भी यदि पूर्णतया समाप्त नही किया जा सकता, तो कम तो किया ही जा सकता है।

(२) **ईमानदारी पर कर तथा चोरी को प्रोत्साहन**—प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर आधारित कर हैं। वे लोगो को इस बात का प्रलोभन देते है कि वे अपनी आय अथवा अपने धन को पूर्णत. अथवा अशत छिपा लें और कर देने से बच जायें। परन्तु समय की गति के साथ ही साथ, प्रशासनिक मशीनरी को निरन्तर मजबूत बनाया जा रहा है और कर की चोरी (tax evasion) तथा कर-परिहार (tax avoidance) को न्यूनतम किया जा रहा है।

(३) **असुविधाजनक**—प्रत्यक्ष कर इन मानो मे असुविधाजनक होते हैं कि करदाताओं को अपनी आय के सभी स्रोतो का हवाला देते हुए आय के विवरण तैयार कराने होते हैं और वे कर अधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत करने होते है। फिर लेखा रखने की विधियाँ (accounting procedures) इतनी अधिक है तथा उनका अनुसरण करना इतना कठिन है कि अधिकाश मामलो मे, व्यक्तिगत करदाताओं को अपने आय-विवरण (income returns) तैयार करने मे पेशेवर आय-कर वकीलो की मदद लेनी पडती है।

---

17. "Direct taxes are equitable because they are charged according to the ability of tax payer" *Prof J K Mehta*

९

कीमतों व संभरण का नियन्त्रण
(Control of Prices and Supply)

बाजार की माँग और संभरण की शक्तियो मे सरकार का हस्तक्षेप प्राचीनकाल से ही होता चला आया है और विभिन्न देशों मे समय-समय पर सरकारी अधिकारियो द्वारा वस्तुओं की कीमतो का नियमन करने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि मे, कुछ देशो में कुछ वस्तुओ की कीमतो पर नियन्त्रण भी लगाया गया था। कुछ देशा मे आयोजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्थाओ के आरम्भ के साथ ही साथ, मूल्य-नियमन (price regulation) वहाँ के आर्थिक कार्यक्रमो का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मे, अनेक देशो मे अपेक्षाकृत बडे पैमाने पर मूल्य-नियन्त्रण लागू किये गये और उनमे काफी सफलता मिली। सन् १९३० की मन्दी के काल मे, संयुक्त राज्य अमेरिका मे, मूल्य-स्थिरीकरण (price stabilisation) का एक कार्यक्रम, विशेषतः कृषि-मूल्यो के सम्बन्ध मे लागू किया गया। चूँकि उस अवधि में, कृषि-पदार्थों की कीमतें तेजी से गिर रही थी अतः "कीमतो की टेकबन्दी" (price support) का कार्यक्रम लागू करके ही उनकी सहायता की जा सकती थी।

इस अध्याय मे, हम इस बात की विवेचना करेंगे कि विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत सरकार द्वारा कीमतो का नियमन किस प्रकार किया जाता है। कीमतो के नियन्त्रण का एक रूप संयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रचलित कीमतो की टेकबन्दी का वह कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत कीमतों को उचित निश्चित स्तरो से नीचे नही गिरने दिया जाता। युद्धकाल मे, जब स्फीतजनक शक्तियाँ (inflationary forces) प्रबल हो गई थी, कीमत-नियन्त्रण द्वारा कुछ कीमतो के सम्बन्ध में उनकी उच्चतम सीमा नियत कर दी गई थी और इस प्रकार कीमतो को अधिक ऊँची चढ़ने से रोका गया था। नियोजित अर्थव्यवस्था मे, कीमतो का नियमन इसलिए करना होता है ताकि साधनो का वितरण योजना के उद्देश्यो के अनुसार किया जा सके। मूल्य-नियन्त्रण के अन्तर्गत सामान्यतः संभरण या माँग या दोनों पर ही कुछ न कुछ नियन्त्रण लगाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति राशनिंग द्वारा वस्तुओं के वितरण पर नियन्त्रण लगाकर की जाती है। अतः राशनिंग कीमतो के नियन्त्रण की नीति का एक अभिन्न अंग है।

इस अध्याय में हम जिस प्रकार मूल्य अथवा कीमत-नियन्त्रण पर विचार करेंगे उसे प्रत्यक्ष नियन्त्रण कहा जा सकता है। कभी-कभी मौद्रिक नियमन अथवा राजकोषीय उपायों द्वारा कीमतों पर परोक्ष रूप में भी नियन्त्रण लगाया जाता है। संभरण का नियमन करके तथा बैंक साख का निर्देशन करके मौद्रिक अधिकारी कीमतों के सामान्य स्तर में वांछित परिवर्तन ला सकते हैं। इसी प्रकार, कर लगाकर अथवा उपादान (subsidies) स्वीकृति करके कुछ वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन लाया जा सकता है। किन्तु ये सब कीमतों के नियमन के परोक्ष तरीके हैं। पर इस अध्याय में हमारा सम्बन्ध कीमतों के केवल प्रत्यक्ष नियन्त्रण से है। यह नियन्त्रण वस्तुओं की माँग या संभरण या दोनों में ही घटा-बढ़ी करके किया जाता है। इस अध्याय में हमारा अध्ययन-विषय किसी बाजार में कार्यशील शक्तियों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से ही है।

कृषि पदार्थों की कीमतों के समर्थन के कार्यक्रम
(Farm Support Programmes)

मन्दी के समय में जब कीमतें गिर रही होती हैं तो प्रायः सरकार पर इस बात का भारी दबाव पड़ता है कि वह न्यूनतम कीमतें निश्चित करने के लिए कार्यवाही करे। सन् १९३० की बड़ी मन्दी के काल में, विश्वभर में ऐसी कार्यवाहियाँ की गई थीं कि जिनसे विभिन्न वस्तुओं की कीमतों को नीचे गिरने से रोका जा सके। किन्तु इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता मुख्यतः कृषि-पदार्थों के सम्बन्ध में ही उत्पन्न हुई थी, अतः यहाँ हम केवल कृषि-पदार्थों के मूल्यों की टेकबन्दी के कार्यक्रमों का ही अध्ययन करेंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका इस प्रकार की नीति अपनाने की दिशा में अग्रसर रहा अतः हम मुख्यतः इस बात का ही उल्लेख करेंगे कि उस देश में सरकार ने कृषि-सहायता के लिए क्या-क्या किया। सन् १९२९ में, हूवर प्रशासन के अन्तर्गत, **संघीय फार्म बोर्ड** (Federal Farm Board) की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य था कुछ कृषि-पदार्थों की कीमतों को ऊँची बनाये रखने के लिए कृषि की फालतू उपज की खरीद करना। बाद में इस बोर्ड को समाप्त कर दिया गया और अन्य एजेन्सियों ने ले लिया। इस प्रकार कीमतों की टेकबन्दी (price support) की नीति बराबर जारी रही और अब भी जारी है। भारत में अभी हाल में ही, सरकार ने अपनी इस इच्छा की घोषणा की है कि वह कुछ आवश्यक कृषि-पदार्थों की कीमतों को घोषित स्तरों से नीचे नहीं गिरने देगी।

उपाय (Methods) :

कीमतों को नीचे गिरने से रोकने के लिए अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक तरीका यह काम में लाया गया था कि कृषि की सम्पूर्ण फालतू पैदावार निश्चित न्यूनतम मूल्यों पर सरकारी एजेन्सी द्वारा खरीद ली जाती थी और कीमतों को उन स्तरों से नीचे गिरने से रोका जाता था। इस प्रकार एकत्र माल को बाद में विश्व-बाजारों में बेच दिया जाता था और इससे होने वाली हानि को सामान्य राजस्व में से पूरा किया जाता था। यह रीति कृषि-उत्पादक को सामान्य कर-दाता द्वारा प्रदान की जाने वाली एक प्रकार की आर्थिक सहायता थी। सर्वप्रथम, गेहूँ व कपास के लिए इस रीति का उपयोग किया गया। किन्तु यह योजना इन पदार्थों की तेजी से गिरती हुई कीमतों पर काबू पाने में असफल रही और छोड़ दी गई। कुछ कृषि-पदार्थों की कीमतों की टेकबन्दी की ऐसी ही नीति अभी हाल के वर्षों में भारत में काफी सफल रही है। जब किसी वस्तु की कीमतें तेजी से गिरती हुई दिखाई देती हैं तब सरकार न्यूनतम घोषित मूल्य पर वस्तु को खरीद कर किसानों की सहायता करती है और इस प्रकार कीमतों को उस स्तर से और नीचे गिरने से रोकती है। किन्तु इस प्रकार की नीति तेजी

से गिरती हुई कीमतो की अवधि के मुकाबले उस स्थिति मे अधिक सफल हो सकती है जबकि बढ़ती हुई कीमतो की अवधि मे अस्थायी रूप से कीमते नीचे गिर जाती हैं।

कृषि पदार्थों की कीमतो को नीचे न गिरने देने का एक उपाय यह है कि किसानों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाए कि वे अपने कुल कृषि योग्य भूमि के कुछ भाग मे रेशेदार फसलें न बोयें और इस प्रकार बचाये गये भू-भाग को भूमि-संरक्षण के लिए अलग रखें। इसके अतिरिक्त, पृथक्-पृथक् किसानो के लिए बाजार के कोटे निश्चित कर दिये जाते हैं ताकि सम्बन्धित वस्तुओ के संभरण को नियन्त्रित रखा जा सके। यही नही, अधिक पैदावार के वर्षों मे जबकि संभरण की मात्रा अधिक होने लगती है तो उपादानो (subsidies) तथा कर्जों के द्वारा किसानो को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे फालतू पैदावार को रोक लें और कमी के वर्षों मे उसको बाजार मे ले आएँ। इन सभी कार्यवाहियो का उद्देश्य यह है कि संभरण को कम किया जाए और कीमतो को गिरने से रोका जाए। परन्तु यह रीति केवल तभी सफल हो सकती है *जबकि किसानो के बीच सहयोग हो और सरकारी एजेन्सियों द्वारा प्रभावपूर्ण* रीति से मार्ग-दर्शन किया जाए। जब तक किसान बोये जाने वाले कृषि-क्षेत्र को सीमित करने को तैयार न हो और अपने लिए निर्धारित कोटे को स्वीकार न करें तब तक वस्तु का संभरण नही घटाया जा सकता।

इस सम्बन्ध मे एक तीसरी रीति यह अपनाई जा सकती है कि किसानो को उनकी सम्पूर्ण उपज पर प्रत्यक्ष नकद उपादान (direct cash subsidy) दिया जाय। किसान को इस बात की अनुमति दे दी जाती है कि वह सामान्य दिनो मे जितना उत्पादन कर सके और उसे इस बात की भी छूट होती है कि वह उसे उस कीमत पर बेच सके जो वह बाजार मे विद्यमान माँग और संभरण की दशाओ के अन्तर्गत प्राप्त करता है। लेकिन उत्पादक को न्यूनतम कीमत की गारन्टी दी जाती है और उसे इतनी धनराशि दे दी जाती है जो कि बाजार कीमत पर उसकी उपज के द्रव्य-मूल्य तथा गारन्टीकृत न्यूनतम कीमत के अन्तर के बराबर होती है। इस प्रकार उत्पादक को गारन्टीकृत कीमत प्राप्त हो जाती है और उपभोक्ता को बाजार-कीमत पर वस्तु प्राप्त हो जाती है तथा अन्तर की पूर्ति सामान्य करदाता द्वारा कर ली जाती है। इस सब क्रिया मे निर्णायक तत्व यह होता है कि करदाता कितना भार वहन कर सकता है। यदि यह भार बहुत अधिक होता है तो हो सकता है कि यह योजना क्रियान्वित न हो सके।

न्यूनतम कीमत-नियन्त्रण का मूल्यांकन (Appraisal of Minimum Price Control):

कीमतो के समर्थन का कार्यक्रम उस समय के लिए तो ठीक रहता है जबकि कोई उद्योग अपने उत्पादित माल को ऐसी कीमत पर न बेच सके जो कि उसे सामान्य लाभ प्रदान करे। किन्तु जब किसी उद्योग की उत्पादन-क्षमता बहुत अधिक बढ़ी हुई हो तो स्वाभाविक कार्य विधि मे हेर-फेर करने की प्रक्रिया अनावश्यक रूप से लम्बी तथा कठोर हो जाती है। कुछ उद्योगो मे, स्थिति का सामना केवल कुछ उत्पादकों को ही करना होगा जो कि व्यवसाय के बाहर कर दिये जायेंगे। यह समाधान विस्थापित उत्पादकों के लिए बड़ा कठोर होगा। इस स्थिति मे, यदि सरकार हस्तक्षेप करके उत्पादकों को व्यवसाय मे बनाये रखने तथा न्यूनतम सामान्य लाभ प्राप्त कराने मे सहायता करती है तो निश्चय ही यह न्यायोचित है। जब उत्पादकों की संख्या सामान्यतः कम होती है और वे इस मन्दी के तूफान का सामना करने की स्थिति मे नहीं होते, तो राज्य की सहायता बड़ी आवश्यक एवं उपयोगी होती है। कृषक तो सामान्यतः एक छोटा सा व्यावसायी होता है अतः उसमे बिना किसी सहायता के दीर्घकालीन मन्दी का सामना करने

की सामर्थ्य नही होती। इस स्थिति मे, सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता कृषि उत्पादकों के इस वर्ग को इस योग्य बनाती है कि वे मन्दी का सामना करने की अपनी क्षमता को उस समय तक बनाये रख सकें जबकि उनकी उपज की माँग बढ़े।

गारन्टीकृत न्यूनतम कीमत उद्योग के उत्पादन की अनुकूलतम लागत (optimum cost) पर आधारित होती है। किन्तु उद्योग की बदलती हुई उत्पादन-विधियो तथा बदलते हुए संगठन के अन्तर्गत इसका निर्धारण करना बडा कठिन होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे काम मे लाई गई समता-मूल्य रीतियां (parity price methods) भी न्यायोचित नही कही जा सकती। इस रीति के अन्तर्गत, एक निश्चित अवधि की कृषि और गैर-कृषि कीमतो के पारस्परिक सम्बन्ध को सामान्य मान लिया गया था और मन्दी की अवधि मे कृषि-पदार्थों की गारन्टीकृत कीमतें वे थी जो कि गैर-कृषि कीमतो के प्रति आधार-वर्ष जैसा ही अनुपात रखती थी। यह पूर्णतया एक अन्यायपूर्ण कार्यविधि थी। मूल्य-सम्बन्ध (price relationships) सदा ही एक समान नही रहा करते और तकनीकी एवं संगठन सम्बन्धी परिवर्तनो के साथ ही उनमे भी परिवर्तन हुआ करते हैं। इसमे कोई उचित तर्क नही दिखाई देता कि किसी निश्चित अवधि की कृषि और गैर-कृषि कीमतो के पारस्परिक सम्बन्ध को सामान्य (normal) मान लिया जाए। अतः गारन्टीकृत कीमत सभी प्रकार से केवल एक मनमानी कीमत-मात्र होती है जो कि कभी-कभी बहुत अधिक हो सकती है और अकुशल उत्पादकों को संरक्षण दे सकती है।

किसी उद्योग को उपादान देना असाधारण परिस्थितियों मे ही उचित हो सकता है। ऐसा उपादान उद्योग को विशेष सकटों का सामना करने मे समर्थ बनाने के लिए दिया जाता है। तथापि, ऐसा उपादान केवल तभी तक दिया जाना चाहिए जब तक कि ऐसा करना पूर्णतया आवश्यक हो। ऐसी सहायता को अधिक लम्बे समय तक चलाते रहना सामाजिक दृष्टि से हानि-कारक होता है। वास्तविकता यह है कि ऐसी सहायता के सम्बन्ध मे एक खतरा सदा यह रहता है कि उद्योग उस समय भी इसकी माँग करते रहते हैं जबकि संकटकाल समाप्त हो जाता है।

जब किसी उद्योग की मूल्य उत्पादन क्षमता बहुत अधिक बढी हुई होती है तो उसके संभरण के एक भाग को बाजार मे न ले जाकर उसकी कीमत को ऊँचे बनाये रखने का प्रयत्न असफल हो सकता है किसी भी वस्तु की कीमत स्थायी रूप से उस समय तक ऊँचे नही बनाई रखी जा सकती जब तक कि सामान्य सभरण की दशाएँ ही ऐसा करने को विवश न कर दें। संयुक्त राज्य अमेरिका मे कृषि बोर्ड का टेकबन्दी का कार्यक्रम इसी परिस्थिति के कारण असफल हुआ था।

कीमतो के समर्थन के कार्यक्रमो का महत्व केवल अल्पावधि मे ही होता है। जिस समय वस्तु का सभरण (supply) उसकी माँग से अधिक होता है, उस समय उत्पादकों को अस्थायी रूप से सहायता देना बिल्कुल न्यायोचित होता है। परन्तु जब यह स्थिति स्थायी रूप धारण कर लेती है, जैसा कि कृषि मे होता है, तब तो समस्या का दीर्घकालीन हल केवल यही होता है कि उत्पादन के उपादानों को उद्योग से बाहर निकाला जाय और उनको कही अन्यत्र काम मे लगा दिया जाय। इस स्थिति मे यदि राज्य की सहायता प्रदान की जाए तो उसका उद्देश्य यही होना चाहिए, न कि असन्तुलन की स्थिति को लम्बा खींचे चलना। कृषि मे फालतू भूमि का उपयोग अनेक ऐसे कार्यों के लिये किया जा सकता है जैसे कि वन लगाने मे, भू-सरक्षण की फसलें उगाने मे तथा सार्वजनिक पार्क आदि बनाने मे। तथापि, भूमि का यह अन्तरण (diversion) ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे कि भूमि ऐसे समय मे भी बेकार पडी रहे जबकि साधारण फसलो के लिये उस पर खेती करना सामाजिक दृष्टि से वाञ्छनीय हो।

कृषि पदार्थों की कीमतो के समर्थन की नीति को अपनाने मे सरकार को जो वित्तीय बोझ उठाना पडता है, उसे इसके विरुद्ध एक प्रबल तर्क के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। फालतू उपज को खरीदना और भविष्य मे बेचने के लिये उसको सुरक्षित रखना—ये ऐसे कार्य हैं जिनके लिये धन की आवश्यकता होती है और कभी-कभी बहुत अधिक धन की। फिर, यह भी हो सकता है कि जमा की हुई फालतू उपज को बाजार मे बेचने की नौबत ही न आये और उसे नष्ट करना पड जाए। यदि ऐसा हुआ तो उसका अर्थ होगा कि फालतू उपज को क्रय करने मे सरकार ने जो भी धनराशि खर्च की है उसे ऐसे खर्च की श्रेणी में रखा जायेगा जिसका कि कुछ भी प्रतिफल प्राप्त नही होना है। जब इस प्रकार की नीति काफी लम्बे समय तक जारी रखी जाती है तो यह हो सकता है कि करदाता पर पडने वाला उसका भार बहुत अधिक हो और वही उस नीति के असफल होने कारण बन जाए।

अतः निष्कर्ष के रूप मे हम यह कहते हैं कि कीमतो के समर्थन के कार्यक्रम अस्थायी कार्यवाहियो के रूप मे तो बड़े सहायक सिद्ध होते है किन्तु उन्हे सरकारी नीति का स्थायी लक्षण नहीं बनाया जाना चाहिए। भारत मे, योजना आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि कृषि पदार्थों के उचित दाम नियत किये जाएँ और कृषि उत्पादन के कार्यक्रमो की सफलता के लिए ऐसा करना बडा आवश्यक है। विकासशील अर्थव्यवस्था मे, वस्तुओ के उचित दाम बनाये रखने के लिए कोई अधिक लम्बे प्रयत्नो की आवश्यकता नहीं होती क्योकि स्फीतिजनक शक्तियाँ वहाँ पहले से ही काफी बलवती होती हैं। जबकि कीमतें सामान्य रूप से स्थिर हो, तो आय कीमतो के मुकाबले कुछ कीमतो को कृत्रिम रूप से उच्च स्तर पर बनाये रखने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्नो की आवश्यकता होती है और ऐसे प्रयत्न सभी परिस्थितियो मे आसानी से नही किये जा सकते।

युद्धकालीन मूल्य-नियन्त्रण
(War Time Price Control)

युद्ध काल मे कीमतो पर जो नियन्त्रण लगाया जाता है उससे कुछ अन्य प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती है। मुद्रा स्फीति की स्थिति मे कीमतो को बहुत अधिक बढ़ने से रोका जाता है। जब कीमतें उन स्तरो से नीचे पहुँचने लगती हैं जो कि उस समय कायम होते जबकि बाजार पूर्णतया स्वतन्त्र होता, तो आवश्यकता इस बात की होती है कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे उत्पादन की सामग्री तथा उसके अन्य साधनो के प्रवाह पर नियन्त्रण लगाने के उपाय खोजे जाएँ। इसके अतिरिक्त, राशनिंग तथा अन्य उपायो के द्वारा उपभोक्ता की माँग को भी नियमित करना होता है।

आधुनिक युद्ध मूल्य-व्यवस्था पर दो प्रकार के दबाव डालता है। प्रथम, इसके कारण कुछ पदार्थों की माँग मे भारी वृद्धि हो जाती है। इससे उन वस्तुओ की कीमतें उत्पादन लागत से तथा अन्य वस्तुओ की कीमतो से बहुत आगे बढ़ जाती है। यदि कीमतो की इस वृद्धि को बिना किसी रोक-टोक के जारी रहने दिया जाये तो उन वस्तुओ के संभरण मे बिना इतनी वृद्धि किये ही, जिससे कि युद्ध की आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ, उत्पादको को भारी लाभ होने लगते हैं। इसके साथ ही जरूरतमन्द नागरिक उपभोक्ताओ को भी उससे बडा कष्ट होता है। अतः ऐसी स्थिति में, कीमतों की इस वृद्धि को रोकने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। दूसरे, आधुनिक युद्धो के लिए वित्त की व्यवस्था विभिन्न प्रकार की मुद्राओ का विस्तार करके की जाती है। इससे भी कीमतें ऊपर चढ़ती हैं और साथ ही कीमतो का पारस्परिक सम्बन्ध भी विकृत हो जाता है। सरकार कराधान तथा उधार के द्वारा लोगो को फालतू क्रय-शक्ति लेने का प्रयत्न करती है परन्तु

प्रयास मे पूर्ण सफलता शायद ही कभी प्राप्त होती है। इस स्थिति मे भिन्न कीमतो पर पृथक्-पृथक् नियन्त्रण लगाने की कार्यवाहियाँ करनी होती है।

मूल्य-नियत्रण के उद्देश्य (Objects of Price Control) :

युद्धकाल मे, मूल्य-नियन्त्रण से निम्न तीन उद्देश्य पूरे होते हैं :—

(१) कीमतो की स्फीतिजनक वृद्धि को रोकना (to check the inflationary rise of prices)—इसका प्रमुख उद्देश्य कीमतो की स्फीतिजनक वृद्धि को रोकना होता है। युद्ध कार्यों के लिए सरकार द्वारा जो भारी मात्रा मे व्यय किये जाते हैं उससे लोगो की द्रव्य-आय मे बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप, कीमतो में तेजी से बढने को प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। साधनो को युद्ध-सम्बन्धी उद्योगो की ओर मोड देने के फलस्वरूप उपभोक्ता-वस्तुओ के उत्पादन मे जो कमी आती है उससे स्फीतिजनक दबावो (inflationary pressures) मे वृद्धि हो जाती है और यदि उन पर नियन्त्रण नही लगाया जाए तो मजदूरियों और कीमतो मे वृद्धि की एक होड सी लग जाती है। ऐसे अवसरो पर स्फीति का उत्पन्न होना न केवल उपभोक्ता के लिए ही बुरा होता है बल्कि उससे युद्ध को जारी रखने के द्रव्य-भार मे भी वृद्धि हो जाती है जिससे युद्ध-प्रयत्नो मे गभीर बाधा उत्पन्न हो सकती है। ऐसी दशाओ मे कीमतो एवं मजदूरियो की वृद्धि पर प्रत्यक्ष रोक लगानी होती है।

(२) न्यूनतम मूल आवश्यकताओ की पूर्ति (satisfaction of minimum basic necessities of life)—कीमतों के नियन्त्रण का दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह होता है कि सभी नागरिको को जीवन की न्यूनतम मूल आवश्यकताओ को पूरा करने के योग्य बना दिया जाए। भोजन तथा वस्त्र जैसे पदार्थो की कीमतो मे बढने की तीव्र प्रवृति पाई जाती है और ऐसे पदार्थो की कीमतो को लगातार बढने के लिए स्वतन्त्र छोड दिया जाता है तो यह हो सकता है कि कुछ लोग इन वस्तुओ को बिल्कुल ही न खरीद सके। अधिक आय वाले व्यक्ति तो इस योग्य होते हैं कि वे वस्तुएँ चाहे जितनी मात्रा मे खरीद सकें किन्तु निर्धन व्यक्ति, सम्भव है, उसकी थोडी सी मात्रा भी न खरीद सकें, वस्तुओ की कमी की स्थिति मे दूकानो पर लम्बी लाइनें लगी रहती हैं अत लाइन मे जो लोग आगे लगे होते हैं उन्हें तो सब कुछ मिल जाता है किन्तु अन्त मे लगे व्यक्तियो को जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त होने का अवसर नही मिलता। कोई भी जिम्मेदार सरकार इस स्थिति को अधिक लम्बे समय तक जारी रहने नही दे सकती। इस प्रकार राशनिंग की योजना के साथ कीमतों की छतबन्दी की जाती है।

(३) साधनो को गतिशील बनाने का साधन (instrument of resource mobilisation)—युद्धकाल मे कीमतो का नियन्त्रण साधनो को गतिशील करने का एक आवश्यक अस्त्र होता है। मूल्य-नियन्त्रण से वस्तुओ के संभरण की अपेक्षा उनकी माँग लगातार अधिक बनी रहती है जिससे इस बात की गुंजाइश रहती है कि काम करने की प्रेरणा को कोई क्षति पहुँचाये बिना ही साधनो का युद्ध-कार्यों के लिए उपयोग किया जा सके। साराश यह है कि नियन्त्रणा के द्वारा उपभोग पर किए जाने वाले व्यय तथा आय का फासला बढ जाता है जिसे अन्य प्रकार से कहा जा सकता है कि इसके द्वारा बडी मात्रा मे बचत सम्भव होती है। मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत आवश्यक पदार्थों के राशनिंग के द्वारा उपभोग पर किये जाने वाले व्यय को न्यूनतम सम्भव स्तर पर और कुल आय से काफी नीचे रखा जाता है। किन्तु खर्च न करने की बात पूर्णतया ऐच्छिक होती है तथा काम करने व आय कमाने की प्रेरणा उतनी ही बलवती होती है जितनी कि वह तब होती जबकि नियन्त्रण अथवा कन्ट्रोल न होते। जब श्रमिकों को यह पता होता है कि वे अब जो भी बचत करेंगे, उसका उपयोग वे अपने मन चाहे तरीके से आगे चलकर

कर सकते हैं तो निश्चय ही वे काफी कठिन श्रम करेंगे। इसके अतिरिक्त, इस संदर्भ में नियन्त्रण इसलिए भी आवश्यक है कि जिससे द्रव्य के भावी मूल्यों में लोगों का विश्वास बना रहे। और इस विश्वास से बचत करने की इच्छा और बलवती होती है। इस नीति के परिणामस्वरूप, युद्ध-सामग्री तथा अन्य आवश्यक पदार्थों के उत्पादन के लिए साधन उपलब्ध हो जाते हैं।

मूल्य-नियंत्रण की रीतियाँ (Methods of Price Control) :

कीमतों का नियन्त्रण अनेक प्रकार से किया जा सकता है। नियन्त्रण की पहली रीति यह है कि किसी मूल्य-विशेष का कोई स्तर निश्चित कर दिया जाता है। इस विषय में, अधिकारीगण वस्तु का या तो वास्तविक मूल्य अथवा अधिकतम मूल्य या विक्रय-मूल्य निश्चित कर देते हैं। वास्तविक मूल्य (actual price) वस्तु की लागत के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। वस्तु की लागत का हिसाब लगा लिया जाता है और उसी स्तर पर कीमत निर्धारित कर दी जाती है। किन्तु इस पद्धति में लागत का अनुमान लगाने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इस परिवर्तनशील जगत में, जबकि कीमतें और मजदूरियाँ स्थिर नहीं रहतीं, किसी वस्तु की वास्तविक लागत का अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। फिर, जब कुछ वस्तुओं का उत्पादन संयुक्त रूप में होता है तो उस स्थिति में प्रत्येक वस्तु की लागत का पृथक्-पृथक् निर्धारण करना बड़ा कठिन होता है। इस प्रकार, वास्तविक कीमत के निर्धारण का सम्पूर्ण आधार ही अनिश्चित बना रहता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए विभिन्न वस्तुओं की उच्चतम कीमतें निर्धारित करने की पद्धति अपनाई जाती है। प्रत्येक वस्तु की अधिकतम कीमत निश्चित कर दी जाती है और उस उच्चतम सीमा के अन्तर्गत विक्रेता कोई भी कीमत वसूल कर सकता है। इस स्थिति में, लागतों (costs) के विस्तृत एवं सही अनुमानों की आवश्यकता नहीं होती। इसमें, वसूल की जाने वाली कीमत में लचक बनी रहती है जिससे बदलती हुई परिस्थितियों में कीमतों में हेर-फेर करने की काफी गुंजाइश रहती है। तथापि, विक्रेताओं में प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि वे केवल अधिकतम कीमत ही वसूल करते हैं और वही उनकी वास्तविक कीमत बन जाती है।

कभी-कभी अधिकारीगण लागतों का हिसाब लगाने का भी कष्ट नहीं उठाते, बल्कि उन स्तरों पर कीमतों का निर्धारण कर देते हैं जहाँ कि वे कुछ निश्चित तिथियों को पहुँच जाती हैं। किसी निश्चित समय पर प्रचलित वास्तविक कीमतों को ही नियंत्रित कीमतें (controlled prices) घोषित कर दिया जाता है। यहाँ प्रयत्न यही अधिक होता है कि कीमतों के उतार-चढ़ाव को रोका जाए, बमुकाबले इसके कि ऐसी कीमतें निश्चित की जाएँ जो उपभोक्ता के लिए उचित हों। कीमतें एक विशेष स्तर पर स्थिर कर दी जाती हैं। किन्तु इसमें बदलती हुई परिस्थितियों का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। जब तक कि सभी कीमतें निश्चित नहीं होतीं, लागतों में निश्चय ही परिवर्तन होते रहते हैं। चूँकि वस्तु की लागत में घट-बढ़ होती रहती है अतः उसकी कीमत के परिवर्तन को रोकने से उस वस्तु का उत्पादन न्यूनाधिक रूप में लाभदायक ही बन जाता है। उसकी लागत युद्धकालीन उच्च स्फीति के काल में बढ़ने की सम्भावना रहती है, तब उत्पादकों को नियन्त्रित मूल्यों पर वस्तुएँ बेचने में हानि रहती है। इससे विभिन्न वस्तुओं में चोर-बाजारी करने को प्रोत्साहन मिलता है। व्यवहार में, प्रायः ऐसा होता है कि अधिकारीगण अपने द्वारा निश्चित की गई कीमतों में हेर-फेर करने को बाध्य हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आज की चोर-बाजार की कीमतें कल की नियन्त्रित कीमतें बन जाती हैं। यह तथ्य, कि कीमतें समय-समय पर बदलती रहती हैं, लोगों को वस्तुओं की जमाखोरी करने को प्रोत्साहित करता है। विक्रेता वस्तुओं को इसलिये जमा करते हैं ताकि उन्हें भविष्य में उनको ऊँचे दामों पर बेचने का अवसर मिल सके। उधर उपभोक्ताओं को यह प्रलोभन होता है कि वे आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ खरीदें

और उन्हें जमा करें ताकि बाद में उन्हें बढ़ी हुई नियन्त्रित कीमतों पर वे वस्तुएँ न खरीदनी पड़ें। वस्तुओं की जमाखोरी की इस बहुमुखी प्रवृत्ति से कीमतों को नियंत्रित स्तरों (controlled prices) पर बनाये रखने का कार्य और भी अधिक कठिन हो जाता है।

अतः कीमतों को निर्धारित करने में लागतों का कुछ न कुछ अनुमान लगाना बड़ा आवश्यक होता है। उत्पादक के सहयोग से ये गणनाएँ सम्भव हो सकती हैं बशर्ते कि उत्पादक ईमानदार और विश्वस्त हो। *वास्तविकता यह है कि लोकतन्त्रीय देश में जब मूल्य-नियन्त्रण लागू* किया जाता है तो यह आवश्यक होता है कि मूल्य-नियंत्रण अधिकारियों तथा वस्तुओं के उत्पादकों व व्यापारियों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क बना रहे। उत्पादकों व व्यापारियों की समितियाँ बना दी जाती हैं जो इस बात पर विचार विमर्श करती हैं कि क्या कीमतें निश्चित की जाएँ। फिर इन समितियों से यह आशा की जाती है कि वे सरकार द्वारा निर्धारित कीमत को लागू करें। कभी-कभी सरकार उत्पादकों के बीच मूल्य सम्बन्धी करारों (agreements) को भी प्रोत्साहन देती है और व्यापारियों को इस बात का बढ़ावा दिया जाता है कि वे उद्देश्य के लिए अपने संघ बनायें।

परन्तु नियन्त्रित कीमतों को लागू करने का काम यदि पूर्णतया *व्यापारियों के संघों* पर ही छोड़ दिया जाए तो उसमें कठिनाइयाँ आ सकती हैं। इस सम्बन्ध में कभी-कभी प्रशासनिक कार्यवाही बड़ी आवश्यक हो जाती है। सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह वस्तु की माँग एवं उसके सभरण पर कुछ न कुछ नियंत्रण लगाये। सरकार नियंत्रित वस्तुओं के कुछ भण्डारों को अनिवार्य रूप से अपने हाथ में ले सकती है और फिर लाइसेंसशुदा दूकानों के जरिए से उन्हें सामान्य जनता तक पहुँचा सकती है। भारत में, खाद्यान्न तथा वस्त्र जैसी जीवनोपयोगी वस्तुओं के नियंत्रण के सम्बन्ध में इस प्रकार की कार्यवाही की गई थी। इन वस्तुओं पर नियंत्रण लगाने का एक महत्वपूर्ण रूप यह था कि सरकार द्वारा खाद्यान्न की अनिवार्य वसूली की जाती थी और फिर अधिकृत व्यापारियों द्वारा उनकी बिक्री की जाती थी। चीनी के सम्बन्ध में भी ऐसी ही रीति अपनाई गई थी। राशनिंग के द्वारा उपभोग को प्राय. नियन्त्रित कर लिया जाता है। राशनिंग कई प्रकार से किया जाता है। एक ओर जहाँ राशनिंग वस्तु की प्रत्येक परिवार को दी जाने वाली मात्रा के स्थूल निर्धारण के रूप में हो सकता है, वहाँ दूसरी ओर इसके अन्तर्गत यह भी किया जा सकता है कि प्रत्येक परिवार के आकार, उसमें बालिगों तथा नाबालिगों की संख्या तथा परिवार के सदस्यों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं के आधार पर उनके लिए वस्तुओं की मात्रा का सूक्ष्म एवं विस्तृत निर्धारण कर दिया जाए। युद्धकाल में, अनेक देशों में सभी आधारभूत जीवनोपयोगी वस्तुओं के सम्बन्ध में व्यापक राशनिंग किया गया था और कम आवश्यक पदार्थों का स्थूल रूप से वितरण किया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के सम्बन्ध में, कीमतों पर नियन्त्रण लगाना अपेक्षाकृत कम कठिन होता है। ऐसी वस्तुओं की कीमतें निश्चित करना सरल होता है। लोचशील टैरिफ, कोटे तथा उपादानों (subsidies) की पद्धति के द्वारा कीमतों के स्तर बदले जा सकते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में, खाद्य पदार्थों के मूल्यों का नियंत्रण भारत के मुकाबले ब्रिटेन में अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ था क्योंकि ब्रिटेन में बाहर से आयात होने के कारण खाद्य पदार्थों की कीमतों तथा उनकी पूर्ति पर अधिक आसानी से नियन्त्रण किया जा सकता था।

नियंत्रणों की व्यवस्था के अन्तर्गत, वस्तुओं की कीमतों का सामना उनके लिए प्राथमिकताओं का निर्धारण करके तथा बँटवारे एवं राशनिंग द्वारा किया जाता है। औद्योगिक *संस्थाओं की अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही उनमें उत्पादन के उपादानों* (factors of production) का वितरण कर दिया जाता है। विभिन्न उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की महत्ता के

अनुसार ही प्राथमिकताओं (priorities) का निर्धारण कर दिया जाता है। जो उद्योग युद्धोपयोगी वस्तुओ का निर्माण करते है उन्हे उच्च प्राथमिकता प्रदान की जाती है और अन्य को निम्न प्राथमिकता। राशनिंग सामान्यत. उपभोग के पदार्थो का किया जाता है।

चोर या काला बाजार (The Black Market) :

युद्धकालीन मूल्य-नियंत्रण का एक लक्षण यह होता है कि विभिन्न वस्तुओ की चोर-बाजारी होने लगती है। कुछ विक्रेता अपने माल का कुछ भाग नियंत्रित मूल्यो पर इसलिये बेचना नही चाहते क्योकि वे उन्हे अवैधानिक रूप से ऊँची कीमतो पर बेचने मे समर्थ होते है। और जब मूल्यो के नियत्रण को दृढता के साथ लागू नही किया जाता तब तो चोर-बाजारी बडे व्यापक रूप मे पाई जाती है। विक्रेता इस अवैधानिक क्रिया मे इसलिए सलग्न होते हैं क्योकि उन्हे अधिक लाभ प्राप्ति की आशा होती है और क्रेता चोर-बाजार मे से वस्तुएँ इसलिये खरीदते हैं क्योंकि राशनिंग के कारण उनकी कुछ माँगे अपूर्ण रहती हैं अथवा क्योकि वे नियत्रित वस्तुओ को खरीदने के लिए लाइन मे खडे रहने की असुविधा से बचना चाहते है।

किसी वस्तु की चोर-बाजारी कीमत स्पष्टतः उनकी नियन्त्रित कीमत से अधिक होती है। चोर-बाजार मे सम्भरण मूल्य इसलिये अधिक होता है क्योकि उसके सचालन की लागत अधिक होती है तथा उसमे जोखिम ज्यादा होता है। सभरणकर्त्ता (suppliers) चोर-बाजार मे प्रत्येक कीमत पर उतना माल बेचना नही चाहते जितना कि स्वतन्त्र बाजार मे बेचा जाता है चोर-बाजार के संचालन की लागत जितनी अधिक होती है, वहाँ बिकने वाली वस्तु की प्रत्येक मात्रा का सभरण मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। कानूनी बाजार की सन्तुलन कीमत के मुकाबले चोर-बाजार की सन्तुलन कीमत अधिक होती है।

चोर-बाजार की कीमत नियन्त्रित कीमत से कितनी अधिक होगी, यह इस बात पर निर्भर होता है, कि ऐसे बाजार मे वस्तु को खरीदने व बेचने का व्यय तथा जोखिम कितना है। चोर-बाजार मे वस्तु को बेचने मे जितना अधिक व्यय तथा खतरा होता है, वस्तु का सम्भरण-मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। दूसरी ओर, चोर-बाजार से वस्तु के खरीदने मे जितना अधिक जोखिम तथा कठिनाइयाँ होती हैं, वहाँ वस्तु का माँग-मूल्य उतना ही कम होता है इसका अर्थ यह हुआ कि चोर-बाजारी के संचालन से सम्बन्धित अधिकाश कठिनाइयाँ तथा दण्ड यह विक्रेताओ से सम्बन्धित हैं और क्रेता वस्तु खरीदने को अपेक्षाकृत स्वतन्त्र है तो उस वस्तु की कीमत ऊँची होगी। इसके विपरीत, यदि चोर-बाजारी की क्रिया मे क्रेताओ के ही अधिक दण्डित होने की सम्भावना है तो वस्तु की कीमत अपेक्षाकृत नीची होगी। इससे यह पता चलता है कि विक्रेता की अपेक्षा क्रेता को दण्डित करके चोर-बाजारी पर अधिक अच्छी तरह रोक लगाई जा सकती है। परन्तु क्रेता की अपेक्षा विक्रेता को रगे हाथो पकडना अधिक आसान है और विक्रेता को ही दण्डित करने का राजनैतिक पक्ष भी प्रायः अधिक मजबूत होता है। अत स्थिति की आर्थिक हानियो का भी ध्यान रखना होता है।

मूल्य नियन्त्रण को प्रभावी रीति से लागू करने की एक अनिवार्य शर्त यह है कि चोर बाजारी को समाप्त किया जाय। चोर-बाजारी जितनी अधिक विस्तृत होती है, नियन्त्रण अथवा कन्ट्रोल भी उतने ही कम सफल होते हैं। चोर-बाजारी की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया स्वयं बडी हानि-कारक होती है ऐसे बाजार की विद्यमानता से लोगो का विश्वास शिथिल हो जाता है और सरकारी घोषणाओ तथा कानूनो के सम्बन्ध मे सरकार के प्रति उनका सम्मान कम हो जाता है। जब एक वस्तु की चोर-बाजारी आरम्भ हो जाती है तो फिर अन्य वस्तुओ की कीमतो पर नियन्त्रण लगाना भी कठिन हो जाता है। अत. यह एक ऐसी बुराई है जिसे कि आरम्भ मे ही समाप्त कर दिया

जाना चाहिए क्योंकि जितनी अधिक इसे बढने की छूट दी जाती है, प्रशासन की कार्यक्षमता उतनी ही अधिक घटती है और नियन्त्रणो की सम्पूर्ण व्यवस्था भी उतनी अधिक बेकार हो जाती है।

मूल्य-नियन्त्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Price Control) :

कीमतों पर नियन्त्रण लगाने का कार्य एक ऐसा कार्य है जिसको पूरा करने मे काफी प्रशासनिक कठिनाई सामने आती है। सबसे पहले तो इसमे उन वस्तुओं की स्पष्ट परिभाषा करनी होती है जिनकी कीमतें निश्चित की जानी होती हैं। एक वस्तु की अनेक प्रकार की किस्मे होती हैं और जब अधिकारीगण उनमे से कुछ किस्मो की कीमतो का निर्धारण करते हैं तो उन किस्मो का विवरण एव स्पष्टीकरण अवश्य देना होता है। कभी-कभी किसी वस्तु की सभी किस्मो एवं कोटियो की कीमतें निर्धारित कर दी जाती हैं और वह इसलिये ताकि उत्पादक तथा उपभोक्ता वस्तु की एक किस्म से हटकर दूसरी किस्म पर न जाएँ। इसका अर्थ यह हुआ कि अनेक मूल्य-अनुसूचियाँ तैयार की जाती हैं और प्रत्येक मे वस्तु की किस्म-विशेष का विस्तार से उल्लेख किया जाता है तथा इस प्रकार कीमतों का निर्धारण किया जाता है। वस्तुओ की विभिन्न किस्मो की कीमतों के बीच बडी सावधानी से सम्बन्ध निश्चित करना होता है अन्यथा विभिन्न किस्मो के बीच बड़ी असुविधापूर्ण अदल-बदल आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर तथा विभिन्न दशाओं में उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं के लिए अनेक अनुसूचियाँ (schedules) बनाना आवश्यक होता है। भारत के विभिन्न राज्यो मे उत्पन्न किये गये गेहूँ की उत्पादन लागत भी भिन्न होती है इसी कारण विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादित गेहूँ की कीमतें भी भिन्न-भिन्न ही होंगी। फिर, कीमतें वर्ष भर तक एकसी नही रह सकती। अत: कीमतो का निर्धारण करते समय इन मौसमी परिवर्तनो का भी ध्यान रखना होता है। कीमतों के क्षेत्रीय तथा मौसमी परिवर्तनों के सम्बन्ध मे यदि निश्चित नियम नही बनाये जाते हैं तो कीमतो मे अधिक उच्चावचन संभव हो सकते हैं।

एक अन्य कठिनाई इसलिये उत्पन्न होती है क्योंकि अधिकाश वस्तुएँ अनेक चरणो से गुजरती है। प्रत्येक चरण अथवा स्तर की कीमत का बडा सावधानी से हिसाब लगाना तथा उसका निर्धारण करना होता है। प्राय, प्रतिशतो अथवा निश्चित धनराशियो के रूप मे अधिकतम अन्तरो का निर्धारण करके विभिन्न स्तरो की कीमतों को सम्बन्धित किया जाता है। जब कोई वस्तु विभिन्न स्तरो पर गुजरते समय अपना रूप-परिवर्तन कर लेती है, अर्थात् यह कहिये कि वह कच्चे माल से अर्ध-निर्मित माल और अर्ध-निर्मित माल से पूर्ण निर्मित माल मे परिवर्तित हो जाती है तो उसकी कीमत मे कुछ प्रतिशत अन्तर रखने की अनुमति दे दी जाती है। कीमतो पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण केवल तभी संभव होता है जबकि वस्तु के विभिन्न रूपो पर समुचित नियन्त्रण लागू किया जाता है। यह सुझाव दिया जाता है कि इस प्रकार के मामले से निबटने के लिए सरकार के लिए यह काफी है कि वह किसी एक स्तर पर, मान लीजिए खुदरा स्तर पर, कीमत निश्चित कर दे और फिर अन्य सभी स्तरो की कीमतें प्राकृतिक शक्तियो (natural forces) द्वारा ही नियमित हो जायेंगी। तथापि, ऐसा कहना सही नही है क्योंकि आर्थिक व्यवस्था काफी संघर्षमयी होती है और यदि मूल्य-नियन्त्रण किसी एक ही स्तर पर लागू किया तो यह आशा नही की जा सकती कि विभिन्न स्तरो के मूल्यो मे समुचित सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा। अत. वस्तु के सभी चरणो अथवा स्तरो पर निश्चित नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और इसके लिए यह जरूरी होता है कि प्रत्येक वस्तु के लिए विस्तृत अनुसूचियाँ बनाई जाएँ।

इसके अतिरिक्त भी समस्याएँ इसलिये उत्पन्न होती हैं क्योंकि नियन्त्रणो को पृथक्-पृथक् वस्तुओ तक ही सीमित नही रखा जा सकता। माँग अथवा संभरण के द्वारा वस्तुएँ एक

(४) संग्रह करने मे खर्चीले—प्रत्यक्ष कर प्राय सग्रह करने की दृष्टि से खर्चीले माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि कर अधिकारियो को प्रत्येक करदाता मे पृथक्-पृथक् रूप से सम्पर्क स्थापित करना पडता है। करदाताओ से सम्पर्क स्थापित करने एव उनके करो का निर्धारण करने के लिए तथा साथ ही कर की चोरी को रोकने के लिए एक बडी प्रशासनिक मशीनरी की रचना करनी होती है।

(५) अलोकप्रिय—प्रत्यक्ष कर अलोकप्रिय होते है, क्योकि इनका प्रत्यक्ष रूप मे भुगतान होने के कारण करदाता इनको अच्छा नही समझते।

(६) धनी वर्ग के साथ अन्याय—अधिकाश प्रत्यक्ष कर सम्पूर्ण समाज पर नही लगाकर अपितु समाज के धनी वर्ग पर ही लगाये जाते है, जबकि इन करो से प्राप्त आय को सार्वजनिक हित मे विशेषत गरीबो के उत्थान पर ही व्यय किया जाता है। इस प्रकार इस व्यय से धनी वर्ग को लाभ होने की सम्भावनाएँ कम ही रहती हैं। आखिर यह कौन-सा न्याय है कि कर तो वसूल किये जाएँ धनी वर्ग से और उसके व्यय का लाभ मिले निर्धन वर्ग को। यह तो धनी वर्ग के साथ अन्याय ही हुआ। ऐसी स्थिति मे धनी वर्ग निर्धनो से जलने लगता है, कर से बचने का प्रयास करता है और कभी-कभी कर को बचा भी लेता है।

प्रत्यक्ष करो के दोषों का मूल्याकन करने से जो एक महत्वपूर्ण तथ्य सामने आता है वह यह है कि उनकी उत्पत्ति मुख्यत प्रशासनिक कठिनाइयो के कारण हुई है, इसलिये नही कि किन्ही आर्थिक सिद्धान्तो के लागू न हो सकने के कारण ऐसा हुआ हो। आजकल तो ये सभी दोष इगलैण्ड जैसे उन्नत देशो मे या तो पूर्णतया दूर कर दिये गये हैं अथवा काफी मात्रा मे कम कर दिये गये है।

परोक्ष करों के गुण-दोष
(Merits and Demerits of Indirect Taxation)

परोक्ष करों के गुण (Merits of Indirect Taxation) :

परोक्ष कराधान के लाभो मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं—(i) सुविधा (convenience), (ii) करो को छिपाने मे कठिनाई, (iii) लचीलापन (elasticity), (iv) सामाजिक हित (social benefit)।

(१) सुविधा (convenience)—परोक्ष कर इसलिए सुविधाजनक समझे जाते है क्योकि वे ऐसे समय लगाये जाते है जबकि व्यक्ति वस्तु खरीदता अथवा सेवा का उपभोग करता है, इससे करदाता कर के भार को महसूस नहीं करता। इसके अतिरिक्त, परोक्ष करो का भार इसलिए भी बिलकुल महसूस नही किया जाता क्योकि वास्तव मे करो की राशि खरीदी गई वस्तु के मूल्य में ही छिपी होती है। ये कर इसलिए भी सुविधाजनक होते है क्योकि वे साधारणत एक मुश्त रकम के रूप मे अदा न होकर छोटी-छोटी राशियो के रूप मे और वह भी थोडे-थोड़े समयान्तरों के पश्चात अदा किये जाते है। ये सरकार के दृष्टिकोण से भी सुविधाजनक होते हैं क्योकि कर की राशि, आमतौर पर, विनिर्माता (manufacturer) अथवा आयातकर्त्ता (importer) से एकमुश्त रकम के रूप मे एकत्र की जाती है। सुविधाजनक होने के अतिरिक्त, परोक्षकरो को इस योग्य भी बनाया जा सकता है कि वे सामर्थ्य सिद्धान्त को सन्तुष्ट कर सके, विशेष रूप से उस स्थिति मे ऐसा हो सकता है जबकि ये कर ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाये जिनकी माँग मुख्य रूप से उच्च आय वाले वर्गों द्वारा की जाती है।

(२) करो को छिपाने मे कठिनाई (Difficult for Evasion)—परोक्षकर, सामान्यतया खरीदी गई वस्तु की कीमत मे ही सम्मिलित होने हैं अत: इनको छिपाना भी कठिन है। परोक्षकर को छिपाने का अर्थ होगा—अपनी आवश्यकता की सन्तुष्टि का त्याग करना। तथापि, कभी-कभी परोक्ष कर ऐसे तरीको द्वारा छिपाये जा सकते हैं, जैसे कि झूठे हिसाब-किताब बनाना तथा तस्कर व्यापार (smuggling) आदि।

(३) लचीलापन (Elasticity)—कुछ परोक्ष कर ठीक उसी प्रकार लचीले बन सकते है, जैसे कि प्रत्यक्ष कर होते है। अर्थात् इन करो से प्राप्त होने वाली आय मे जब भी आवश्यक हो, तभी

उनमे कमी हो सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे, जब कन्ट्रोल लगाये गये तो प्रारम्भ मे तो वे बडे निष्प्रभावी तथा कभी-कभी हानिकारक भी सिद्ध हुए परन्तु जैसे-जैसे अनुभव प्राप्त होता गया, व्यवस्था मे सुधार होता गया और फिर युद्ध के अन्त में जाकर ही सम्पूर्ण नियन्त्रण व्यवस्था ठीक हो सकी।

भारत में कीमतों अथवा मूल्यों का युद्धकालीन नियन्त्रण (War Time Control of Price in India):

भारत मे, युद्धकाल मे मूल्य-नियन्त्रण की व्यवस्था मे बहुत धीमी प्रगति हुई। युद्ध के प्रारम्भिक दिनो मे, प्रान्तीय सरकारों को ये अधिकार प्रदान किये गये कि वे खाद्य-पदार्थ, नमक तथा अन्य सस्ती किस्म की वस्तुओ की कीमतें निश्चित कर सके। परन्तु प्रारम्भ मे लगाये गये सभी नियन्त्रण न्यूनाधिक रूप मे कागजी नियन्त्रण ही साबित हुए। हुआ यह कि प्रान्तीय सरकारें कीमतो के नियन्त्रण के सम्बन्ध मे आदेश तो जारी करती रही किन्तु उन आदेशों को लागू करने के लिए उन्होंने कोई कार्यवाही नही की। शनैः-शनैः नियन्त्रण के क्षेत्र का विस्तार हुआ। नियन्त्रणों अथवा कन्ट्रोलो को प्रभावी बनाने के लिए अनेक आदेश (orders) तथा अध्यादेश (ordinances) जारी किये गये। कुछ वस्तुओ की जमाखोरी तथा मुनाफाखोरी को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। सन् १९४३ मे, बडे कस्बो तथा नगरो मे खाद्यान्न, वस्त्र, चीनी तथा मिट्टी के तेल का राशनिंग कर दिया गया। नियन्त्रित वस्तुओं का वितरण लायसेंसशुदा तथा अधिकृत व्यापारियों द्वारा किया जाने लगा। प्रशासनिक मशीनरी को शनैः-शनैः कसा गया और फिर राशनिंग व्यवस्था के लागू होने के पश्चात् ही कही जाकर नियन्त्रण वास्तव मे प्रभावशाली सिद्ध हुए।

खाद्य-समस्या ही ऐसी सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या थी जिसको युद्धकाल मे हल किया जाना था। खाद्यान्नो की कीमतें सन् १९४१ से ही बढनी आरम्भ हो गई थी अतः उनकी अधिकतम कीमतें निश्चित की गयी। युद्ध मे जापान के कूद पडने के साथ ही स्थिति अधिक बिगड गई जिससे कन्ट्रोल और अधिक कडे किये गये। सन् १९४३ मे खाद्यान्न नीति समिति (Foodgrains Policy Committee) ने सभी प्रमुख खाद्यान्नो की कीमतो पर कानूनी नियन्त्रण लगाने की सिफारिश की। सन् १९४३ के उत्तरार्ध मे बडे नगरो मे गेहूँ और चावल का राशनिंग लागू कर दिया गया और बाद मे शनैः-शनैः इसका और भी विस्तार कर दिया गया। सरकार ने गेहूँ और चावल की अनिवार्य वसूली शुरू कर दी और फिर लाइसेंसशुदा दुकानों के द्वारा उनका वितरण किया जाने लगा। राशनिंग का जो आधार निश्चित किया गया वह प्रारम्भ मे तो काफी उदार रखा गया किन्तु जैसे जैसे अन्न की वसूली का कार्य कठिन होता गया राशनिंग का आधार भी कडा कर दिया गया। क्षेत्रीय स्थितियो में सुधार लाने के लिए अनाज के अन्तर्प्रान्तीय यातायात को भी नियन्त्रित किया गया।

वस्त्र पर लगाया जाने वाला नियन्त्रण भी आरम्भ मे तो केवल कागजी-नियन्त्रण ही बना रहा किन्तु सन् १९४३ मे इसने व्यावहारिक एव वास्तविक रूप धारण किया। कपडे पर नियन्त्रण लगाने के सभी मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ थी। कपडे अनेक किस्मो के थे, वस्त्र का आयात पूर्णतया बन्द कर दिया गया था और उत्पादित वस्त्रो का एक बडा भाग सरकार द्वारा सैनिक उपभोग के लिये ले लिया जाता था। सन् १९४३ मे, सूती वस्त्र तथा सूत (नियन्त्रण) आदेश पास किया गया जिसके द्वारा खुदरा तथा थोक कीमतों पर नियन्त्रण लगाया गया, जमाखोरी पर रोक लगाई गई और वितरण-व्यवस्था करने वाले प्रशासन को और कडा किया गया। उलझनो से बचने के लिए, उत्पादको को ये आदेश दिये गये कि वे वस्तुओं की सीमित किस्मो का ही उत्पादन करें। कन्ट्रोल को वास्तव मे प्रभावी बनाने के लिए सन् १९४४ मे राशनिंग लागू किया गया।

दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं। कुछ वस्तुएँ अन्य वस्तुओ के साथ संयुक्त रूप से उत्पन्न की जाती है। फिर कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके उत्पादन के लिए उन्ही उपादानो (factors) की आवश्यकता होती है जो कि अन्य पदार्थों के उत्पादन के लिए आवश्यक होते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो कि परस्पर इसलिए सम्बन्धित होते हैं क्योंकि वे उपभोग मे एक-दूसरे के स्थानापन्न (substitutes) होते हैं; और दूसरे इसलिए क्योंकि वे एक-दूसरे के पूरक होते है। इस प्रकार, वस्तुओ की कीमतें परस्पर सम्बन्धित होती है। अतः कीमतो का नियन्त्रण किसी एक अथवा थोडी सी वस्तुओ के सम्बन्ध मे लागू नही हो सकता। जब किसी एक वस्तु की कीमत पर नियन्त्रण लगाया जाता है तो अन्य अनेक वस्तुओ की कीमतें भी निश्चित करनी होती हैं क्योंकि वे वस्तुएँ उपभोग या उत्पादन मे या तो उस वस्तु की स्थानापन्न या पूरक होती है। गेहूँ की कीमत पर यदि नियन्त्रण लगाया जाता है तो अन्य खाद्यानो की कीमतो पर और यहाँ तक कि गैर-अन्न के खाद्य पदार्थों पर नियन्त्रण लगाना आवश्यक हो जाता है। जूतो की कीमत चमडे के अन्य पदार्थो की कीमतो से सम्बन्धित होती है अतः यह जरूरी है कि इन सभी कीमतो पर एक साथ नियन्त्रण लगाया जाए। अतः नियन्त्रण की व्यवस्था को यदि सफल बनाना है तो यह आवश्यक है कि इस व्यवस्था मे अनेक प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित की जाएँ। कभी-कभी विभिन्न वस्तुओ के मूल्यो मे समुचित सम्बन्ध बनाये रखने के लिए भी नियन्त्रण की व्यवस्था का विस्तार करना आवश्यक हो जाता है। एक वस्तु पर लगाया जाने वाला नियन्त्रण अन्य वस्तुओ को इस व्यवस्था के अन्तर्गत ले आता है।

कीमतो का निर्धारण उस समय तक प्रभावी नही हो सकता जब तक कि माँग अथवा संभरण पर नियन्त्रण न लगाया जाए। किसी वस्तु की कीमत को नियमित करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वस्तुओं की माँग तथा उनके संभरण पर कुछ न कुछ नियन्त्रण लगाया जाए। किसी वस्तु के संभरण (supply) का नियमन (regulation) केवल तभी किया जा सकता है जबकि किसी न किसी प्रकार का सरकारी एकाधिकार स्थापित किया जाय। द्वितीय युद्धकाल मे भारत मे खाद्यान्नो की वसूली सरकारी एकाधिकार के रूप मे की गई थी और फिर वे वस्तुएँ लायसेंसशुदा व्यापारियो के माध्यम से बेची गईं थी। इस प्रकार, सरकार ने बाजार मे प्रतियोगिता को प्रतिबन्धित करके संभरण पर नियन्त्रण किया था। दूसरी ओर, माँग पर नियन्त्रण राशनिंग, वितरण तथा प्राथमिकताओं के द्वारा लगाया जाता है। सरकार द्वारा एकाधिकारी खरीद, खुदरा व्यापारियो द्वारा वितरण, राशनिंग, परमिट जारी करना आदि सब ऐसे कार्य हैं जिनके लिए एक बडी तथा कुशल प्रशासनिक मशीनरी की आवश्यकता होती है। देश की मानव-शक्ति का एक बडा भाग इस कार्य मे जुटाना होता है। अतः युद्ध के समय मे जबकि युद्ध-कार्यों की जरूरतों के कारण मानव शक्ति का अभाव होता है, मूल्य-नियन्त्रण की मशीनरी मे लगाने के लिए मानव शक्ति के एक बडे भाग का उपयोग करने से निश्चय ही देश के मानवीय साधनो पर भारी बोझ पडता है।

इस प्रकार, मूल्य-नियन्त्रण की व्यवस्था को यदि सफल बनाना है तो यह आवश्यक होता है कि वह काफी जटिल तथा विस्तृत हो। इसके लिए एक ऐसी व्यापक प्रशासनिक मशीनरी की आवश्यकता होती है जिसमे बडी संख्या मे निरीक्षक तथा अन्य कर्मचारीगण होते हैं। विस्तृत अनुसूचियो का निर्माण करना, बाजार मे माँग और संभरण की शक्तियो की कार्य-प्रणाली मे हस्तक्षेप करना और वस्तुओ को खरीदने व बेचने के सम्बन्ध मे लोगो की स्वतन्त्रता को सीमित करना—ये सभी कार्य नियन्त्रण को सफल बनाने के लिए आवश्यक होते हैं। प्रारम्भ मे नियन्त्रण लगाने वाले अधिकारियों से गलतियाँ संभव हो सकती हैं किन्तु बाद मे अनुभव के साथ-साथ क्रमशः

लगते हैं। इस प्रकार का रद्दोबदल केवल मूल्य-व्यवस्था के स्वतन्त्र संचालन मे ही संभव होता है। मूल्य-नियन्त्रण मूल्य व्यवस्था के स्वतन्त्र संचालन में हस्तक्षेप करता है और उस सीमा तक इसकी उपयोगिता को घटा देता है। यदि वस्तु की कीमत को निश्चित स्तर से ऊपर बढने की अनुमति नही दी जाती, तो साधनो को दुर्लभ वस्तुओ के उत्पादन की ओर मोड़ देने की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है और इस प्रकार एक स्वाभाविक दोष-निवारण की व्यवस्था समाप्त हो जाती है। भारत मे युद्धकाल मे, अन्न उत्पादन पर मूल्य-नियन्त्रण का बडा प्रतिकूल प्रभाव पडा था। किसानो को अधिक अन्न उपजाने के लिए ऊँची कीमतों की स्वाभाविक प्रेरणा न दी जा सकी। युद्धकाल मे, हमारी खाद्यान्न सम्बन्धी कठिनाइयां सरकार की मूल्य-नीति का ही परिणाम थी।

किन्तु यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि युद्धकाल मे साधनों का वितरण जिस तरीके से करना होता है वह तरीका शान्ति-काल के वितरण से भिन्न होता है। कुछ विशेष दिशाओ की ओर से साधनो का प्रवाह रोकना होता है, विशेषकर उपभोग्य-वस्तुओ के उद्योगो की ओर से। स्वतन्त्र मूल्य-व्यवस्था के द्वारा साधनो का वितरण ऐसी रीति से नही होता जो कि युद्ध के कुशल संचालन के लिए उपयुक्त हो। इसी कारण, युद्धकाल मे मूल्य-व्यवस्था को नियमित करना होता है। उपभोक्ता को वस्तुओं की कीमतें इसलिये नीची रखनी होती हैं ताकि साधनों के प्रवाह को इन वस्तुओ के उद्योगो की ओर जाने से रोका जा सके। दूसरी ओर, कुछ ऐसे उद्योगो को प्रोत्साहन देना होता है जो कि युद्ध-सम्बन्धी उत्पादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। यही कारण है कि युद्ध-काल मे मूल्य-नियन्त्रण को न्यायोचित ठहराया जाता है। प्रतियोगिता की शक्तियो मे हस्तक्षेप करने को शान्ति-काल मे तो न्यायोचित नही कहा जा सकता किन्तु युद्धकालीन अर्थव्यवस्था मे ऐसा करना उचित होता है।

चोर बाजार के विकास से कन्ट्रोल लाभकारक होने के स्थान पर हानिकारक बन जाते है। जब व्यापारियों द्वारा भारी मात्रा मे वस्तुओ की जमाखोरी की जाने लगती है और वस्तुओ के भण्डार का एक बडा भाग चोर बाजार मे चला जाता है, तो उपभोक्ताओं को वस्तुएं उससे भी अधिक कीमतों मे मिलती है जितने मे कि उन्हे स्वतन्त्र बाजार में मिलती। परिणाम यह होता है कि नियन्त्रण सम्बन्धी प्रशासनिक कठिनाइयाँ बढ जाती हैं और सरकार मे लोगों का विश्वास कम होने लगता है। परन्तु नियन्त्रणो के विरुद्ध दिया जाने वाला यह कोई मजबूत तर्क नही है। समाज मे व्यवस्थित जीवन की स्थापना करने के लिए कानून आवश्यक होता है। कानून किसी भी बात को दृढता से लागू करने को आवश्यक बना देता है। मूल्य-नियन्त्रण के सम्बन्ध मे भी स्थिति यही होती है। यदि कन्ट्रोल आवश्यक है, जैसा कि युद्धकाल मे होता है, तो उसे दृढता से लागू किया जाना चाहिए और उसको लागू करने की मशीनरी मे सुधार होना चाहिए।

नियन्त्रणो के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं, उनमे इनकी प्रशासनिक कठिनाइयों का उल्लेख किया जाता है। इसके लिए नियुक्त एव विशेषज्ञ कर्मचारियो की आवश्यकता होती है जो कि प्राय उपलब्ध नही होते। कर्मचारियो के व्यक्तित्व एव दृष्टिकोण मे जो विभिन्नता होती है उसके कारण भी कन्ट्रोल का सचालन प्राय कठिन हो जाता है। भ्रष्टाचार की संभावनाएं भी कन्ट्रोल को अवांछनीय बना देती हैं। फिर किसी कार्यवाही के बुरे लक्षणो को उस कार्यवाही के लागू करने के विरुद्ध तर्क के रूप मे नही प्रस्तुत किया जा सकता। यदि निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति के लिए कन्ट्रोल आवश्यक है तो उन्हें अवश्य लागू किया जाना चाहिए और उनके क्रियान्वयन को यथासम्भव कुशल बनाना चाहिए तथा जहाँ तक व्यावहारिक हो, उनके दोष दूर किये जाने चाहिए।

सन् १९४२ मे चीनी पर नियन्त्रण लागू किया गया जिससे इसका उत्पादन, यातायात तथा इसकी कीमतें सभी नियन्त्रण-व्यवस्था के अन्तर्गत आ गईं। युद्ध के अन्तिम वर्षों मे चीनी का भी राशन कर दिया गया।

युद्धकाल मे अन्य जिन वस्तुओ पर नियन्त्रण लगाया गया—उनमे सीमेण्ट, कोयला तथा अन्य अनेक पदार्थ थे इन वस्तुओ का उत्पादन, वितरण तथा इनकी कीमतें सभी नियन्त्रित कर दिये गये। नियन्त्रणो (controls) का बराबर विस्तार होता गया और एक नियन्त्रण अन्य नियन्त्रण को जन्म देता रहा।

कुछ नियन्त्रण तो युद्ध के एकदम पश्चात समाप्त कर दिये गये किन्तु आवश्यक पदार्थों पर लगे नियन्त्रण अनेक वर्षों तक जारी रहे। सन १९४७ के अन्त में खाद्यान्न पर से नियन्त्रण हटाने का प्रयत्न किया गया। परन्तु ऐसा करने मे चूँकि खाद्यान्न की कीमतें बढने लगी अत: कन्ट्रोल पुन लागू कर दिया गया। फिर तो सन् १९५२ मे ही स्थिति ऐसी हुई कि अनाज की फसलें अच्छी होने के कारण सरकार ने खाद्य स्थिति मे सुधार पाया जिससे उसे खाद्यान्न पर से नियन्त्रण हटाने को प्रोत्साहन मिला।

इस देश मे नियन्त्रणो को बिलकुल सफलता नही मिली—ऐसा नही कहा जा सकता। कुछ कन्ट्रोलो ने तो निश्चय ही सुधार किया और वे काफी प्रभावशाली सिद्ध हुए। कुछ अन्य नियन्त्रण जहाँ आशिक रूप मे सफल हुए, वहाँ कुछ असफल भी रहे। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे। नियन्त्रणों की असफलता का एक कारण तो यह था कि इस देश मे कन्ट्रोल टुकडो मे तथा तितर-बितर रूप मे लागू किये गये थे और नियन्त्रणों की कोई व्यापक एवं समन्वित (coordinated) योजना नही बनाई गई थी। जब भी जरूरी समझा गया, कन्ट्रोल लागू किये गये, किन्तु वे लागू किये आधे मन से ही। इसके अतिरिक्त, उत्पादन-वृद्धि की योजनाएँ बडी अकुशलता से लागू की गई और उनका कोई फल नही निकला। उदाहरण के लिए, "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन असफल रहा। मांग और सभरण के बीच की खाई अधिकाधिक चौडी होती गई। जैसे-जैसे युद्ध लम्बा खिचता गया, मुद्रा-स्फीति की स्थिति अधिकाधिक खराब होती गई और कन्ट्रोल भी अधिकाधिक कठिन होते गये। फिर, जनमत भी नियन्त्रणो के पक्ष मे नही था। नियन्त्रणों को लागू करने मे सरकार को जनता का सहयोग नही मिला। इसी कारण, जमाखोरी (hoarding) तथा चोरबाजारी मे तेजी मे वृद्धि हुई। इन नियन्त्रणो के कार्य मे सम्बद्ध जो सरकारी कर्मचारी थे उनकी अकुशलता एवं बेईमानी ने इन नियन्त्रणो को और भी निष्प्रभावी बना दिया। अन्त मे, इन नियन्त्रणों को लागू करने के लिए कोई सगठित व्यवस्था नही थी। केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारो के बीच जिम्मेदारी बँटी हुई थी और उनके मध्य पूर्ण समन्वय का अभाव था। भारत मे भी कोई ऐसा ही एकीकृत सगठन अधिक उपयोगी सिद्ध होता जैसा कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे मूल्य-प्रशासन (Price Administration) था। परन्तु ऐसा सगठन बनाया नही गया। अत: नियन्त्रणो को भारत मे केवल आशिक एव सीमित सफलता ही मिली।

मूल्य-नियन्त्रण के विरुद्ध आपत्तियाँ (Objections to Price Control) :

उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो के बीच साधनो का बँटवारा करने मे मूल्य-व्यवस्था (price-mechanism) बडा महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। जब लोगो का वस्तुओं को प्राथमिकता (preference) देने का क्रम बदलता है तो कुछ अन्य वस्तुओ के मुकाबले किसी वस्तु विशेष की उनकी माँग भी बढ जाती है और अन्य कीमतो की तुलना मे उस वस्तु की कीमत भी बढ जाती है तथा साथ ही, उत्पादन के उपादान भी अन्य उद्योगो के मुकाबले इस उद्योग की ओर को आकर्षित होने

सरकारी क्षेत्र मे, निवेश (investment) की दिशा का निर्धारण लाभ प्रेरणा से नही किया जाता। किन्तु जब राज्य आर्थिक व्यवस्था के सम्पूर्ण निर्देशन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है और निवेश का व्यापक कार्यक्रम लागू करता है, जैसा कि इस देश मे किया गया है, तो उसे वस्तु की लागतो एव होने वाले लाभो के बीच बडी सावधानी मे सन्तुलन बनाये रखना होता है। इस स्थिति मे, एक उपयुक्त मूल्य-ढांचे को यहाँ भी उतना ही महत्व प्राप्त होता है जितना कि उसे निजी क्षेत्र मे प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त, जब राज्य द्वारा निवेश की अग्रिम योजनाएँ बना ली जाती हैं तो कुछ कीमतो को अवश्य ही ऐसी गणनाओं का अधार बनाया जाता है और उसके परिणामस्वरूप कीमतो तथा लागतों मे समुचित स्थिरता बनाये रखने की आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है। कीमतें यदि प्रत्याशित स्तरो से ऊपर नीचे हो जाती हैं तो उससे न केवल सारी गणनाएँ ही गडबडा जाती हैं अपितु योजना का मूल स्वरूप ही बदल जाता है।

मूल्य-सम्बन्धो के नियमन के अतिरिक्त, नियोजित अर्थव्यवस्था की कीमतो के स्तर का नियन्त्रण भी आवश्यक होता है। एक अल्पविकसित देश मे विकास-योजना के कार्य-संचालन से ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो स्फीतिजनक शक्तियों को बलवान बनाती है। योजना मे जितनी उत्पादन वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया जाता है उसकी पूर्ति के लिए बडी मात्रा मे निवेश-व्यय करना आवश्यक होता है। उत्पादन-क्षमता का विस्तार करने के लिए अर्थ-व्यवस्था के पूँजी-आधार (capital base) को भी व्यापक बनाना होता है। इन सब खर्चो मे कोई तात्कालिक फल प्राप्त नही होता, अतः बडी मात्रा मे स्फीति की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पूँजी-निर्माण के लिए प्राय. घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) आवश्यक हो जाती है जिससे स्फीतिजनक दबाव और भी तेज हो जाते हैं। सापेक्षिक कीमतो के ढांचे मे परिवर्तनो के साथ ही साथ सामान्य मूल्य-स्तर मे वृद्धि हो जाती है। इसके लिए एक ऐसी मूल्य-नीति की आवश्यकता होती है जिसका उद्देश्य कीमतो को ऊपर जाने से रोकना हो और वर्गीय अथवा क्षेत्रीय कीमतो मे समता बनी रहे। स्फीति (inflation) नियोजन मे भी उतनी ही गम्भीर समस्या हो सकती है जितनी कि यह युद्ध-काल मे होती है। अत एक ठोस मूल्य-नीति अपनाने की आवश्यकता होती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, नियोजित अर्थव्यवस्था मे मूल्य-नियन्त्रण की जो कार्य-पद्धति अपनाई जाती है उससे युद्धकालीन नियन्त्रणों और नियोजन के अन्तर्गत लगाये जाने वाले नियन्त्रणो के बीच के दो महत्वपूर्ण अन्तर प्रकाश मे आते है। प्रथम, जहाँ युद्धकालीन कन्ट्रोलो का मुख्य उद्देश्य स्फीतिजनक दशाओ के विस्तार को रोकना और साधनो को युद्ध के लिए गति-शील करने मे सहायता करना होता है, वहाँ एक नियोजित अर्थव्यवस्था मे मूल्य-नियन्त्रण को अधिक व्यापक उद्देश्य पूरे करने होते है तथा साधनो का वितरण इस प्रकार करना होता है जिससे कि योजना मे निर्धारित किये गये लक्ष्य पूरे हो सकें। किसी योजना के अन्तर्गत जब कोई मूल्य-नीति अपनाई जाती है तो वह कीमतो की वृद्धि को रोकने का प्रयत्न तो करती ही है किन्तु वहाँ उसका मुख्य उद्देश्य मूल्य-सम्बन्धो मे होने वाले अवाञ्छनीय परिवर्तनो को रोकना होता है। दूसरे, नियोजन के अन्तर्गत अपनाया जाने वाला मूल्य-नियन्त्रण युद्धकालीन मूल्य-नियन्त्रण की अपेक्षा अधिक समन्वित तथा व्यापक होता है। नियोजित अर्थव्यवस्था मे जो चीज महत्वपूर्ण होती है वह यह कि विभिन्न वस्तुओ के मूल्य-स्तरा मे एक सन्तुलन बनाये रखना होता है जिससे कि उत्पादन-क्रिया का मार्ग-दर्शन योजना से उल्लिखित नियमो के अनुसार किया जा सके। इस स्थिति मे मूल्य-नियन्त्रण तो नियन्त्रणो की उस व्यापक व्यवस्था का एक अंग मात्र होता है जो कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो तक फैली होती है। अतः योजना की सफलता के

योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में कीमतों का नियन्त्रण
(Price Control in a Planned Economy)

एक ऐसी अर्थव्यवस्था में जिसमें किसी न किसी प्रकार को केन्द्रीय नियोजन होता है, मूल्य-नियन्त्रण महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। मूल्य-व्यवस्था (price mechanism) किसी भी अर्थव्यवस्था (economy) मे महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है और एक नियन्त्रित अर्थव्यवस्था में तो इस मूल्य-पद्धति पर भी नियन्त्रण लगाना होता है। कीमतें आर्थिक गणनाओ का मुख्य आधार होती हैं और वान्छित परिणाम प्राप्त करने के लिए नियन्त्रित मूल्य-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, एक नियोजित अर्थव्यवस्था मे मुद्रा-स्फीति के उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। जब देश की उत्पादन-क्षमता को तेजी से बढाने के लिए बडी मात्रा मे निवेश किये जाते है तो अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे स्फीति सम्बन्धी दबाव उत्पन्न हो जाते है। और यदि स्फीति को बिना रोक-टोक बढने दिया जाता है तो उससे योजना की सभी गणनाएँ ही गडबडा जाती हैं। अत. केन्द्रीय रूप मे नियोजित अर्थव्यवस्था मे एक प्रभावपूर्ण मूल्य-नीति की आवश्यकता स्थायी रूप से बनी रहती है।

मूल्य-नियमन का योगदान (The Role of Price Regulation) :

नियोजित अर्थव्यवस्था मे मूल्य-नीति को दो उद्देश्य प्राप्त करने होते है : **(क) एक तो इसे इस** विषय मे आश्वस्त करना होता है कि सापेक्षित कीमतों मे कमी-बेशी उन प्राथमिकताओ एवं लक्ष्यो के अनुसार हो जो कि योजना में निर्धारित किये गये हैं, और (ख) दूसरे, इसे कीमतों मे होने वाली वृद्धि को रोकना होता है, और विशेष रूप से उपभोग के आवश्यक पदार्थों की कीमत-वृद्धि को। प्रथम पचवर्षीय योजना मे कहा गया है कि "योजना मे उल्लिखित लक्ष्यो की पूर्ति के लिए यह जरूरी है कि एक ऐसी मूल्य नीति अपनाई जाए जो इन लक्ष्यो के अनुसार ही साधनों का वितरण कर सके।" एक आर्थिक योजना कुछ लक्ष्यो का निर्धारण करती है अत बाजार मे प्रचलित कीमतें ऐसी होनी चाहिए जो उन लक्ष्यो द्वारा निर्देशित दशाओ मे साधनो को प्रवाहित कर सके। ये लक्ष्य ऐसे नही होते कि योजना के बिना ही निश्चित समय के अन्दर उनको सामान्य रूप से प्राप्त किया जा सके। अत. मूल्य-नियमन ही इन लक्ष्यों तक पहुँचने का आवश्यक साधन होता है। इसके साथ ही, उन स्फीतिजनक शक्तियो (inflationary forces) को भी नियन्त्रण के अन्तर्गत रखना होता है जो कि योजना के विशाल निवेश-व्यय द्वारा उत्पन्न हो जाती हैं। कीमतो को तेजी से बढने से रोकना अत्यावश्यक होता है, अंशतः तो इसलिये ताकि निम्न आय वाले वर्गों को जीवनोपयोगी वस्तुएँ उचित दामो पर मिल जाएँ और अंशतः इसलिए क्योंकि तेजी से बढ़ता हुआ मूल्य-स्तर इस बात को आवश्यक बना देता है कि निश्चित परिणाम प्राप्त करने के लिए द्रव्य का अधिकाधिक निवेश किया जाए।

भारत मे, अर्थव्यवस्था मे निजी अथवा गैर-सरकारी क्षेत्र एक महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। इस क्षेत्र में निवेश (investment) पर तथा साधनो की दिशाओ पर कीमतो का तथा कीमतो के परस्पर सम्बन्धो का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस क्षेत्र मे जो भी निर्णय लिये जाते हैं वे प्रचलित तथा प्रत्याशित कीमतों के आधार पर ही लिये जाते हैं। कीमतो के परिवर्तन से अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण रूप-रंग ही बदल जाता है। इस व्यवस्था मे निर्धारित लक्ष्य तब तक प्राप्त नही किये जा सकते जब तक कि सापेक्षिक कीमतें (relative prices) लक्ष्यो द्वारा निर्धारित दिशाओ मे ही साधनो के उपयोग को प्रोत्साहित न करें। मूल्य-सम्बन्धो मे यदि कोई रददोबदल होती है तो साधनो के वितरण पर उसका प्रभाव पडता है। अत: निजी क्षेत्र मे नियोजन की सफलता के लिए एक उपयुक्त मूल्य-ढांचे का निर्माण अत्यावश्यक होता है।

तत्वों के बीच सन्तुलन अन्तरित तथा अनिश्चित होने लगता है। इस सन्तुलन को बनाये रखना एक विकासशील अर्थव्यवस्था में आर्थिक नीति का एक अंग होता है। इसकी सभी सीमाओं के बावजूद, कीमतों में समुचित स्थिरता बनाये रखने के लिए एक उपर्युक्त मूल्य-नीति का सुझाव दिया जा सकता है।

एक समुचित मूल्य-नीति का निर्माण मुख्यतः राजकोषीय एवं मौद्रिक नियन्त्रणों द्वारा होता है। राजकोषीय नीति (fiscal policy) का निर्माण इसलिये किया जाता है ताकि व्यापक निवेश के द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त क्रय-शक्ति को लिया जा सके। कराधान की मात्रा भी इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि उपभोग को योजना में निर्धारित सीमाओं की परिधि में रखा जा सके और सरकारी क्षेत्र के निवेश कार्यक्रमों की आवश्यकताओं की पूर्ति जनता के पास से वास्तविक साधनों का स्थानान्तरण करके की जानी चाहिए, नई क्रय-शक्ति का निर्माण करके नहीं। अन्य शब्दों में, राजकोषीय नीति का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उपभोग को सीमित किया जाए और बचतों को सही ढंग से गतिशील किया जाए। राजकोषीय नीति को लागू करने में उपयुक्त मौद्रिक उपायों की भी सहायता ली जानी चाहिए। बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख-निर्माण का नियन्त्रण ऐसी रीति से किया जाना चाहिए जिससे कि विकास-कार्यक्रमों की आवश्यकताएँ तो पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाएँ किन्तु न तो फालतू साख का निर्माण हो और न साख (credit) का प्रवाह ऐसी क्रियाओं की ओर को हो जो कि योजना की दृष्टि से अनावश्यक हों। इस प्रकार, साख के समस्त सम्भरण को सीमित करने के लिए की जाने वाली कार्यवाहियों के साथ ही साख-नियन्त्रण की भी सहायता लेनी होगी है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में, साख की मात्रा के नियन्त्रण का क्षेत्र सामान्यतः सीमित होता है क्योंकि इसमें ब्याज की दरों में अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती किन्तु नैतिक प्रोत्साहन दिया जा सकता है तथा निश्चित सीमाओं से परे बैंकों द्वारा दिये गये उधार पर दण्डनीय दरों (penal rates) की व्यवस्था लागू की जा सकती है। वस्तुओं के अपेक्षी जमाव (speculative holding) को रोकने के लिए चुनीदा नियन्त्रण (selective control) लागू किया जा सकता है। निजी क्षेत्र के विस्तार को उन क्षेत्रों से बाहर जाने से रोका जा सकता है जो योजनाओं द्वारा निर्धारित किये गये हैं।

अन्य आवश्यक कार्यवाहियों की सफलता के लिए पर्याप्त राजकोषीय एवं मौद्रिक अनुशासन आवश्यक है। किन्तु अकेली राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियाँ ही इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती कि वे विभिन्न कीमतों के बीच ठीक सम्बन्ध बनाये रखें और कुछ कीमतों को अधिक ऊपर चढ़ने से रोके रखें। इस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ क्षेत्रों में प्रत्यक्ष नियन्त्रण लागू किये जाएँ और भौतिक बँटवारा किया जाय। कुछ कीमतें विशेष रूप से जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थों की कीमतें काफी स्थिर बनाये रखनी होती हैं। अन्य मामलों में जब वस्तुएँ दुर्लभ होती हैं तो उनकी कीमतों को बढ़ने दिया जाता है। परन्तु समुचित उपभोक्ताओं (users) के बीच वस्तु की उपलब्ध मात्रा के वितरण की व्यवस्था कर दी जाती है। दुर्लभ वस्तुओं की कीमत में होने वाली कुछ वृद्धि को तो उचित माना जा सकता है परन्तु यह वाञ्छनीय नहीं है कि सबसे अधिक बोली लगाने वाला ही वस्तु की अधिकांश मात्रा प्राप्त कर ले। इस्पात तथा सीमेण्ट जैसे कुछ आवश्यक पदार्थ प्रतियोगी उपभोक्ताओं (competing users) के बीच स्वीकृत प्राथमिकताओं के आधार पर बाँटे जाते हैं। किन्तु आरामदायक एवं विलासिता के पदार्थों की कीमतों को इसलिये बढ़ने दिया जाता है क्योंकि उनकी वृद्धि से सामान्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होना। मूल्य-नियमन की विधियाँ विभिन्न वस्तुओं के लिये भिन्न-भिन्न होती हैं। कुछ मामलों में, समीकरण भण्डार (buffer stocks), वितरण व्यवस्थाओं का पुनर्गठन तथा कुछ प्रत्यक्ष नियन्त्रण आवश्यक

लिए यह आवश्यक होता है कि अन्य नियन्त्रणो के साथ ही मूल्य-नियन्त्रण की व्यवस्था एवं समन्वय बड़ी सावधानी से किये जाएँ।

विकासशील अर्थव्यवस्था में मूल्य नीति (Price Policy in a Developing Economy) :

नियोजित अर्थव्यवस्था मे मूल्य-नीति वास्तव मे सम्पूर्ण आर्थिक नीति का एक पहलू मात्र है। कीमतों का स्तर तथा ढांचा अनेक मूल आर्थिक निर्णयो से सम्बन्धित होते हैं और योजना इन निर्णयो मे ही ताल-मेल बिठाने का प्रयत्न करती है। किन्तु वे सभी निर्णय सरकार द्वारा नही लिये जाते, बल्कि उनमे से कुछ उन उत्पादकों, उपभोक्ताओं तथा निवेशकर्ताओं द्वारा दिये जाते हैं जो कि दूर-दूर तक फैले होते हैं और जो व्यक्तिगत लाभ की इच्छा से प्रेरित होते हैं। अत: अल्पावधि में कीमतो मे कितना परिवर्तन हो सकता है, इसकी भी सीमाएँ होती है। इस प्रकार, सभी बड़े नीति सम्बन्धी निर्णय—जैसे कि कितनी मात्रा मे निवेश किया जाए, अल्पकालीन व दीर्घकालीन प्रयोजनाओ के बीच साधनो का वितरण, आवश्यक साधन प्राप्त करने के वैकल्पिक उपायो का चुनाव आदि—अन्य अनेक पराधीन निर्णयो से भी सम्बद्ध होते है। इन निर्णयो के निश्चित हो जाने पर, मूल्यो के ढांचे मे परिवर्तन का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, विकासशील अर्थव्यवस्था मे कीमतो पर पड़ने वाले कुछ ऊर्ध्वमुखी दबावो की पूर्णत उपेक्षा नही की जा सकती। निवेश मे वृद्धि होने से द्रव्य-आय उससे अधिक मात्रा मे उपलब्ध हो जाती है जितनी मात्रा मे कि वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध होती हैं। दीर्घकाल मे फल देने वाली प्रयोजनाएँ जितनी ही अधिक हाथ मे ली जाती है, अर्थव्यवस्था मे द्रव्य-आय (money income) और वास्तविक आय (real income) के बीच की खाई भी उतनी ही चौड़ी होती जाती है व परिणामस्वरूप मूल्य-व्यवस्था पर उतना ही अधिक दबाव पड़ता है। ये दबाव कम तो किये जा सकते हैं परन्तु इन्हे पूर्णतया समाप्त नही किया जा सकता।

कीमतो मे लगातार अथवा अत्यधिक वृद्धि होने के खतरे स्पष्ट हैं। जब कीमतें बढ़ जाती है तो योजना के निर्धारित लक्ष्यों को वास्तविक अर्थ मे पूरा करने के लिए योजना के व्यय मे भी तीव्र वृद्धि करनी होती है। स्फीति (inflation) साधनो के कुशल उपयोग मे हस्तक्षेप करती है। स्फीति सापेक्षिक कीमतो का रूप बिगाड़ देती है और साधनो को ऐसे उपयोगो से दूर हटाने लगती है जो कि सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होते हैं। इससे निश्चित आय वाले वर्गों के साथ जो अन्याय होता है, वह सामाजिक एव आर्थिक, दोनो ही दृष्टियों से हानिकारक होता है। अतः यह आवश्यक है कि नियन्त्रण के कुछ उपयुक्त तरीके खोजे जाएँ और अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण तत्वो का नियमन किया जाए।

जहाँ तक ऊर्ध्वमुखी दबावों का का सम्बन्ध है, कुछ तत्व ऐसे अवश्य है जो सीमित प्रभाव डालते है, अत स्फीति की स्थिति को नियन्त्रण मे रखने के लिए उनका उपयोग किया जा सकता है। बेकार पड़े साधनों को प्राप्त करने से और ऐसे क्षेत्रों म उनका उपयोग करने से, जैसेकि कृषि जहाँ उत्पादन अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ाया जा सकता है, मुद्रा के विस्तारवादी दबाव कम हो जाते है। फिर, पहले किये गये कुछ निवेश भी चालू उत्पादन की वृद्धि मे अपना अंशदान देने लगते है और तकनीकी ज्ञान के स्तर तथा संगठन सम्बन्धी क्षमता मे जैसे-जैसे सुधार होते है, वैसे-वैसे ही लागतों मे आनुपातिक वृद्धि किये बिना ही उत्पादन मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि की जा सकती है। ऐसे ही तत्व होते हैं जो कि उच्च स्तर की मूल्य स्थिरता के साथ तीव्रगति से प्रगति करने मे किसी देश को सहायता करते हैं। इन तत्वो की सहायता से विकास के द्वारा उत्पन्न स्फीतिकारी दबावो को सफलतापूर्वक रोका जा सकता है। किन्तु विस्तारकारी तथा सीमितकारी

निर्धारण इसी उद्देश्य को सामने रख कर किया जाता है। सरकारी भण्डारों (buffer stocks) का निर्माण करना और निरन्तर क्रय तथा विक्रय करके उनका संचालन करना—उस नीति का आवश्यक अंग होता है। खाद्यान्नों के आयात सरकार द्वारा ही किये जाते हैं और उधर देशी खरीद द्वारा भी सरकारी भण्डारों में वृद्धि की जाती है। जब कीमतें गिरने लगती हैं तो सरकारी खरीदों में वृद्धि कर दी जाती है और इसके विपरीत, जब कीमतें बढ़ने लगती हैं तो सरकार अपने भण्डार से माल बेचना आरम्भ कर देती है। कीमतों में जो क्षेत्रीय अन्तर पाये जाते हैं उनको कुछ क्षेत्रों से खरीद करके और अन्य क्षेत्रों को बेचकर समाप्त कर दिया जाता है। दीर्घकालीन खाद्य नीति के एक अंग के रूप में, सरकारी नियन्त्रण के लिए अन्तर्गत भण्डार तथा मालगोदाम की सुविधाओं का विस्तार किया जा रहा है। उद्देश्य यह है कि निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत कीमतों में समुचित मात्रा में लचक भी बनाये रखी जाए।

राशनिंग
(Rationing)

हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि मूल्य-नियन्त्रण के साथ ही साथ यह भी आवश्यक होता है कि उपभोक्ताओं में कन्ट्रोलशुदा पदार्थों के वितरण की भी कुछ न कुछ व्यवस्था की जाए। अधिकतम कोटे निर्धारित करके कुछ आवश्यक उपभोग्य पदार्थों एवं सामग्रियों का वितरण उपयोग करने वालों के बीच किया जाता है। मूल्य-नियन्त्रण बिना राशनिंग सफल नहीं हो सकता, विशेष रूप से प्रतियोगी बाजार में। इस स्थिति में जो कीमत निश्चित की जाती है वह सदा ही सन्तुलन कीमत (equilibrium price) से कम होती है और नियन्त्रित मूल्य पर किया जाने वाला सम्भरण (supply) सदा ही माँग (demand) से कम होता है। अतः मूल्य नियन्त्रण का परिणाम लाइनों में लगने तथा असमान वितरण के रूप में सामने आता है और उच्च आय वाले वर्गों के लोग इससे अधिक अनुकूल स्थिति में रहते हैं। इस प्रकार राशनिंग न केवल इसलिये आवश्यक है क्योंकि यह मूल्य-नियन्त्रण को अधिक निश्चित बना देता है, अपितु यह उपलब्ध सम्भरण का अधिक समान वितरण भी करता है।

एकाधिकार (monopoly) की स्थिति में तो बिना राशनिंग के मूल्य नियन्त्रण काफी प्रभावशाली हो सकता है। एकाधिकारी बाजार में, यदि कीमत ऐसे स्तर पर निश्चित की जाती है कि वह एकाधिकारी सन्तुलन कीमत से तो नीची हो किन्तु उस कीमत से ऊँची हो जो उत्पादन को सामान्य लाभ प्रदान करती है तो उत्पादन में वृद्धि संभव होती है। चूँकि मूल्य-नियन्त्रण से वस्तुओं की कोई कमी उत्पन्न नहीं होती, बल्कि इसके विपरीत उसके संभरण में और वृद्धि होती है, अतः उपलब्ध संभरण के वितरण की कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। अतः राशनिंग केवल पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में ही मूल्य-नियन्त्रण का एक आवश्यक अंग होता है।

सिद्धान्त रूप में राशनिंग बिना किसी मूल्य-निर्धारण के ही सम्भव है। स्वतन्त्र बाजार में प्रचलित मूल्यों पर ही उपभोक्ताओं को माल के कोटे दिये जा सकते हैं। 'वितरण के नियन्त्रण से यह हो सकता है कि उत्पादन कम हो जाए परन्तु यदि उत्पादन बढ़ती लागत पर किया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत में कमी होगी। राशनिंग के अन्तर्गत, वस्तु की गरीबों को उपलब्ध होने वाली कुल मात्रा तो बढ़ जाती है और धनियों को उपलब्ध होने वाली मात्रा घट जाती है। परन्तु कुल उत्पादन में कमी का अर्थ यह होगा कि धनियों के उपभोग में प्रति व्यक्ति कमी के मुकाबले निर्धनों के उपयोग में होने वाली प्रति व्यक्ति वृद्धि बहुत थोड़ी होगी। और सम्पूर्ण रूप में समाज की दृष्टि से सोचें तो व्यावहारिक रूप में शुद्ध लाभ (net gain) कुछ भी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, बिना मूल्य निर्धारण वाले राशनिंग में जो असुविधा तथा उत्तेजना होती

हो जाते हैं। अन्य स्थितियों में, यह हो सकता है कि कीमतो का समुचित स्तर बनाये रखने का एकमात्र रास्ता उत्पादन मे वृद्धि करना ही हो।

भारत मे, सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह कीमतों पर नियन्त्रण लगा सके और अनेक वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था कर सके। आवश्यक वस्तु अधिनियम (Essential Commodities Act) तथा औद्योगिक विकास व नियमन अधिनियम (Industrial Development and Regulation Act) इसीलिये बनाये गये हैं ताकि सरकार को कीमतों का नियमन करने तथा विभिन्न वस्तुओ के वितरण की व्यवस्था करने के अधिकार दिये जा सकें। इस्पात, सीमेण्ट, कपास, चीनी, कोयला तथा रासायनिक खाद आदि वे पदार्थ हैं जिन पर इन अधिनियमों के अन्तर्गत नियन्त्रण लगाये गये हैं। सरकार उत्पादन-शुल्क लगाये जाने वाले सभी पदार्थों के करों की दरों में भी समय-समय पर इसलिये हेर-फेर करती रहती है ताकि विभिन्न कीमतो के पारस्परिक सम्बन्धो मे उपयुक्त परिवर्तन किया जा सके। किन्तु ऐसे सभी हेर-फेर वर्ष में केवल एक बार उस समय किये जाते हैं जबकि बजट प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार के पदार्थों पर लगाये जाने वाले नियन्त्रण का ठीक-ठीक स्वरूप क्या होगा और कीमतो मे अधोमुखी अथवा ऊर्ध्वमुखी परिवर्तन किस सीमा तक किया जायेगा—इस बात का निर्धारण समय-समय पर उत्पन्न होने वाली माँग तथा उत्पादन की प्रवृत्तियो को ध्यान मे रख कर किया जाता है। कुछ मामलो में, कीमतो मे ऊर्ध्वमुखी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है और वह इसलिये ताकि उत्पादन मे वृद्धि करने की प्रेरणाएँ दी जा सकें और निर्यात बढाने के लिए आन्तरिक उपभोग मे कमी की जा सके। उदाहरण के लिए, कपास के मामले मे ही, यह आवश्यक है कि इसके उत्पादन मे वृद्धि करने के लिए मूल्य-सम्बन्धी प्रेरणा प्रदान की जाए ताकि कपास के आयात मे खर्च की जाने वाली विदेशी मुद्रा बचाई जा सके। तिलहन के मामले भी यह जरूरी है कि इसकी कीमतो का इस प्रकार नियमन किया जाए कि जिससे उसका अधिकाधिक निर्यात संभव हो सके। इस प्रकार, मूल्य-नियन्त्रण ऐसी ही अनेक बातो पर निर्भर होता है।

मूल्यो मे समुचित समता बनाये रखने का प्रश्न उस समस्या से भी सम्बन्धित है कि क्या उपभोक्ता द्वारा अदा की जाने वाली कीमतों के लाभ सदा उत्पादक को ही प्राप्त होते हैं अथवा वे मध्यस्थो द्वारा छीन लिये जाते हैं। इस बात की काफी सम्भावना है कि अभाव के समय मे उपभोक्ता द्वारा दी जाने वाली और उत्पादक प्राप्त की जाने वाली कीमतो के बीच का अन्तर काफी बढ जाय। यही स्थिति आयात किये जाने वाले पदार्थों के सम्बन्ध मे होती है जिनकी माँग उनकी उपलब्ध मात्रा से अधिक होती है। कीमतो के इन अन्तरो को कम करने के लिए भारत मे राजकीय व्यापार का आश्रय लिया गया है। राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) कुछ पदार्थों का काफी मात्रा मे आयात कर लेता है और फिर उन्हे वास्तविक उपभोक्ताओं के हाथो बेच देता है। इसी प्रकार सरकारी तथा सहकारी एजेन्सियो द्वारा वस्तुओ का व्यापार करके भी मध्यस्थो के लाभो को कम किया जा सकता है।

खाद्य पदार्थों की कीमतो की समस्या अन्य कीमतो से कुछ भिन्न है। इस सम्बन्ध मे मे आवश्यकता इस बात की है कि अधिकतम और न्यूनतम, दोनो ही प्रकार के मूल्यो की गारण्टी दी जाए। यह जरूरी है कि उपभोक्ता को खाद्य-पदार्थ उचित दामो पर मिल जाएँ। इसके साथ ही, उत्पादक को भी ऐसी न्यूनतम कीमत का आश्वासन दिया जाए जिसके द्वारा कि उसे उचित प्रतिफल मिल सके। किसानो को इस बात की प्रेरणा मिलनी चाहिए कि वे उर्वरक तथा उन्नत कृषि विधियो मे निवेश करें और अधिक परिश्रम करें। खाद्यान्नो के सम्बन्ध मे सरकारी नीति का

वृद्धि की जा सकती है। ऐसे कर लचकहीन मांग (inelastic demand) वाली वस्तुओं पर लगाये जाने चाहिए। किन्तु ऐसे परोक्ष कर समता अथवा न्याय के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं होंगे। उदाहरण के लिए, लचकहीन आय वाली वस्तुएँ सामान्यत अनिवार्य आवश्यकता की वे वस्तुएँ हुआ करती है जिनका उपभोग अधिकतर थोडी आय वाले वर्गों के लिए करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाने वाले कर अवरोही (regressive) होंगे।

(४) **सामाजिक हित** (Social Benefit)—परोक्ष कर प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अवसर प्रदान करते है तथा इस योग्य बनाते है, यहाँ तक कि गरीब से गरीब नागरिक को भी, कि वह राज्य के खर्चों मे अपना कुछ न कुछ अशदान (contribution) दे सके। प्रत्यक्ष कर तो थोडी आय वाले वर्गों के लोगो को अपने क्षेत्र से बाहर ही छोड देते है परन्तु परोक्ष कर उनको भी राज्य के [illegible] मे अपना हिस्सा देने का अवसर प्रदान करते है। परोक्ष कर जब औषधि तथा मदिरा पदार्थो के उपभोग को प्रतिबन्धित करते हैं तो वस्तुत सामान्य रूप मे समुदाय [illegible]) की तथा विशेष रूप से निर्धन वर्ग के लोगो की बडी सामाजिक तथा आर्थिक सेवा
।

(५) **कर का आधार विस्तृत होना** (Exhaustive Basis of Taxation)—अप्रत्यक्ष परोक्ष करो के कारण किसी देश की कर प्रणाली का आधार व्यापक एव विस्तृत हो जाता है।

(६) **लोकप्रिय** (Popular)—प्रत्यक्ष करो की तुलना मे परोक्ष कर अधिक लोकप्रिय होते हैं क्योकि इनका भुगतान करने मे करदाता को कोई कष्ट नही होता है।

(७) **मादक वस्तुओं के उपयोग पर रोक**—मादक वस्तुओ जैसे—शराब, अफीम आदि पर ऊँची दर से परोक्ष कर लगाकर उनके उपयोग अथवा उपभोग पर रोक लगायी जा सकती है अथवा उसमें कमी की जा सकती है।

(८) **न्यायपूर्ण**—परोक्ष कर न्यायपूर्ण होते हैं क्योकि ये वस्तुओ व सेवाओ पर लगाये जाते है जिनको सभी व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार खरीदते हैं और कर का भुगतान करते हैं। इस दृष्टि से ये कर आनुपातिक हुए किन्तु विलासिता की वस्तुओ पर अधिक ऊँची दर से कर लगा कर उन्हे प्रगतिशील बनाया जा सकता है।

परोक्ष करों के दोष (Demerits of Indirect Taxation)

परोक्ष करो की आलोचना निम्न बातो के आधार पर की जाती है —

(१) **अन्याय एवं असमानपूर्ण** (unjust and inequitable)—चूँकि परोक्ष कर बिना किसी भी प्रकार का भेद किये, यहाँ तक कि व्यक्तियों की अदा करने की योग्यता का ध्यान किये बिना ही, सभी व्यक्तियो पर पडते हैं अत उनको अन्यायपूर्ण तथा असमतापूर्ण माना जाता है। जब ऐसी वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं जिनका उपभोग एक बडी जनसख्या करती है तो उस स्थिति मे उन करो का भार धनियों के मुकाबले निर्धनो पर ही अधिक पडता है। यह सत्य है कि परोक्ष करो को आरोही (progressive) बनाया जा सकता है और इनमे क्रमवर्धन (graduation) भी लागू किया जा सकता है। परन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि वस्तु कर लोगों के बीच उनकी अदा करने की योग्यता के अनुसार विभिन्नता भी करते हैं।

(२) **अत्यधिक अनिश्चित** (extremely uncertain)—परोक्ष कर अत्यधिक अनिश्चित होते हैं। लचीली माँग वाली वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर विशेष रूप से अनिश्चित होते है क्योकि करो के लगने से ऐसी वस्तुओ की माँग की मात्रा प्रवाहित होती है। वास्तव मे, किसी विशेष वस्तु पर यदि उच्चतर दरो से कर लगाया जाए तो हो सकता है कि उससे प्राप्त होने वाली आय की मात्रा मे अपेक्षाकृत वृद्धि न हो। जैसा कि डाल्टन ने व्यग करते हुए कहा है कि यह तो ऐसा मामला हुआ कि दो और दो को जोडा जाए और योगफल केवल तीन या तीन से भी कम ही आए।

(३) **सामाजिक चेतना का अभाव** (Lack of social consciousness)—परोक्ष कर किसी भी प्रकार की सामाजिक चेतना अथवा जागरण (social consciousness) उत्पन्न नही

है वह भी इसके विरुद्ध पडती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राशनिंग तो केवल मूल्य-नियंत्रण के साथ ही चलता है।

सिद्धान्त (Principle) :

राशनिंग की व्यवस्था मे राशन निश्चित करने के सिद्धान्त क्या हो, इसके बारे मे अनेक सुझाव दिये जाते है। निम्न सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं :—

(१) **समान त्याग का सिद्धान्त** (the principle of equal sacrifice)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक उपभोक्ता को समान रूप से कष्ट उठाना चाहिए। इसके अनुसार निर्धनों सहित प्रत्येक व्यक्ति के उपभोग मे समानुपाती कमी की जाती है, अतः धनी व्यक्ति निर्धनों के मुकाबले उपलब्ध संभरण मे से प्रति व्यक्ति अधिक भाग प्राप्त करते रहते हैं। यह स्थिति अलोकतन्त्रीय तथा बडी उत्तेजनात्मक है। अतः राशन निश्चित करने का एक अनुपयुक्त आधार मानकर इसको अस्वीकार कर दिया जाता है।

(२) **न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धान्त** (the principle of minimum aggregate sacrifice)—इसके अनुसार कोटे (quotas) इस प्रकार निश्चित किये जाने चाहिये कि प्रत्येक स्थिति मे त्याग की सीमान्त मात्रा समान ही रहे। सीमान्त पर त्याग की समानता से समाज का कुल त्याग न्यूनतम हो जाता है। परन्तु सीमान्त त्याग को समान करने की बात कोयले तथा खाद्यान्न जैसे कुछ पदार्थों की स्थिति मे ही सम्भव हो सकती है, प्रत्येक स्थिति मे नही। व्यवहार मे, इस सिद्धान्त को लागू करना बडा असुविधाजनक तथा कठिन है। अतः राशन की मात्रा निश्चित करने के लिए यह सिद्धान्त उपयुक्त नही है।

(३) **समान राशन का सिद्धान्त** (the principle of equal ration)—एक सिद्धांत, जिसे सर्वाधिक सुविधाजनक तथा कम से कम अन्तोषजनक पाया गया है, समान राशन का है। उपभोक्ता का केवल अस्तित्व मात्रा ही उसकी आवश्यकता की कसौटी है और उसका यह अस्तित्व ही उसे उपलब्ध संभरण से समान भाग प्राप्त करने का अधिकारी बना देता है। अतः प्रति व्यक्ति समान राशन का सिद्धान्त ही सर्वाधिक सुविधाजनक है और इसके अनुसार परिवारो को उनके आकार के हिसाब से कोटे दिये जाते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध मे एक कठिनाई उत्पन्न होती है और वह इसलिये क्योकि खाद्य जैसी जीवनोपयोगी वस्तुओं की विभिन्न परिवारो की आवश्यकताएँ आयु, लिंग (sex) तथा व्यवसाय आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। केवल परिवार के आकार पर निर्भर रहने वाला राशन परिवारो की आवश्यकताओ को देखते हुए समान नही कहा जा सकता। अतः समान राशन मे इस बात की भी आवश्यकता होती है कि विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के राशन देकर कुछ न कुछ मात्रा मे उनकी आवश्यकताओ को भी सन्तुष्ट किया जाए। उदाहरण के लिए, मजदूरो को खाद्य का और बच्चो तथा गर्भवती माताओ को दूध का अतिरिक्त राशन दिया जा सकता है।

स्वीकृत प्राथमिकताओ के आधार पर उत्पादन के लिए सामग्री का सामान्य वितरण किया जाता है। सामाजिक आवश्यकताओं को देखते हुये, समान कच्चा माल प्रयोग करने वाले कुछ पदार्थों के मुकाबले कुछ अन्य पदार्थ अधिक मात्रा मे उत्पन्न किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, बढिया किस्म के कपडे के मुकाबले मोटे क़िस्म के कपड़े के उत्पादन के लिए कपास का अधिक कोटा दिया जा सकता है। इसी प्रकार, कुछ किस्म के औजारो एवं मशीनों के उत्पादन के लिए अन्य की तुलना मे इस्पात अधिक मात्रा मे दिया जा सकता है। ऐसे मामलो मे जो वितरण

या बँटवारा किया जाता है वह न केवल व्यक्तियो, अपितु उपयोगों की दृष्टि से भी किया जाता है।

राशनिंग की कुछ समस्याएँ (Some Problems of Rationing) :

ऐसे किसी सिद्धान्त-विशेष को स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी, जिस पर राशन आधारित होता है, कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनका अधिकारीगण को सामना करना होता है। इनमे सबसे पहली समस्या व्यक्तियो के लिए राशन की मात्रा निश्चित करने की होती है। व्यक्ति को दी जाने वाली राशन की मात्रा इतनी अवश्य होनी चाहिए कि जिससे राशन की परिधि मे आने वाली सभी आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जाएँ। किन्तु किसी व्यक्ति की आवश्यकताओ के निर्धारण करने का कार्य कठिन हो सकता है। यह हो सकता है कि लोगो को राशन की आवश्यकता से अधिक या कम मात्रा दे दी जाए और इससे स्पष्टत: कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। यदि कुछ व्यक्तियो को अधिक राशन दे दिये जाते हैं तो यह हो सकता है कि अन्य लोगो को उतना राशन न मिल सके जितने की उन्हें आवश्यकता हो। इस प्रकार वस्तुओ की कमी हो जायेगी और लोगों को लम्बी लाइनो मे प्रतीक्षा करनी होगी। जब राशन समान मात्रा मे दिये जाते हैं तो यह कठिनाई हल हो जाती है और वस्तु की उपलब्ध मात्रा को व्यक्तियो की संख्या से भाग देकर लोगो के राशन की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। किन्तु इसे अन्यायपूर्ण वितरण कहा जा सकता है।

कठिनाइयाँ उस समय भी उत्पन्न होती हैं जबकि राशन का कुछ भाग उपभोक्ताओं द्वारा खरीदा ही नही जाता। अधिकारियो द्वारा विक्रेताओ को वस्तुओ की जो मात्रा प्रदान की जाती है वह सामान्यत पूर्ण राशन की दर से मांग के अनुसार होती है। किन्तु जब कुछ खरीदार अपना पूरा राशन नही खरीदते तो विक्रेताओ के जो बिना बिका माल पडा रहता है वह एक समस्या बन जाता है। इन परिस्थितियो मे विक्रेताओ को यह प्रलोभन मिल सकता है कि वे वस्तुओ की उस मात्रा को चोर बाजार मे बेचें। इस स्थिति को अवश्य रोका जाना चाहिए जिसके लिये और भी कडे नियन्त्रणों की आवश्यकता होती है। कभी-कभी, जब वस्तुएँ अतिरिक्त मात्रा मे उपलब्ध होती है तो क्रेताओ को उनके नियत राशन से भी अधिक खरीदने की अनुमति दे दी जाती है। किन्तु इससे अन्य कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। इससे निर्धन जिलो मे रहने वाले धनी व्यक्ति धनी जिलों मे रहने वालों की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति मे रहेंगे जिससे एक प्रकार की असमानता उत्पन्न होगी। इससे जहाँ कुछ क्षेत्रो मे माल की वेशियाँ (surpluses) बनी रहेंगी, वहाँ अन्य क्षेत्रों मे अभाव रहेगा और यह हो सकता है कि वेशी के क्षेत्रो के उत्पादक अन्य क्षेत्रो मे माल भेजने के इच्छुक न हों। अन्य कठिनाइयो के अलावा, ये असमानताएँ राशनिंग की व्यवस्था को अलोकप्रिय बना देती हैं।

जल्दी नष्ट होने वाली वस्तुओ की स्थिति मे, फालतू माल की बिक्री एक अत्यावश्यक समस्या बन जाती है। इस कार्य के लिये विभिन्न जिलो के बीच माल के वितरण की व्यवस्थाएँ बडी सावधानी से की जानी चाहिए और एक जिले मे दूसरे जिले को वस्तुओं का शीघ्र स्थानान्तरण होना चाहिये। यदि ऐसी व्यवस्थाएँ पर्याप्त मात्रा मे नही की जायेंगी तो काफी माल नष्ट होने की सम्भावना है। यह हो सकता है कि कीमतें कम करके शेष बचे हुये फालतू माल को बेचा जाय परन्तु इससे लोगो के मन मे यह लालच उत्पन्न होता है कि जब कीमतें गिरेंगी, तभी खरीदेंगे। इस प्रकार, समस्या का एकमात्र हल तो यही है कि उत्पन्न माल के वितरण मे पूरी सावधानी बरती जाए।

एक और समस्या यह हल करनी होती है कि जब विभिन्न किस्म की अनेक वस्तुएँ बाजार मे हो तो राशन की मात्रा का निर्धारण किया जाय। इस स्थिति मे राशन का निर्धारण भौतिक मात्रा द्वारा नही, बल्कि खर्च द्वारा किया जाता है। व्यक्ति को कुछ रुपयो के मूल्य की वस्तुएँ खरीदने की अनुमति दे दी जाती है। विभिन्न किस्मो की कितनी-कितनी वस्तुएँ खरीदी जायँगी इसका निर्णय खरीददार पर ही छोड़ दिया जाता है। परन्तु इस स्थिति मे केवल कम महँगी किस्म की वस्तुएँ ही खरीदी जाती हैं, विशेष रूप से तब जबकि अधिक महँगी किस्म की वस्तुएँ केवल रुचि या प्रदर्शन के कारण ही होती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अधिक महँगी किस्म की वस्तुएँ काफी मात्रा मे बिना बिकी पडी रहती हैं और कम महँगी किस्म की वस्तुओ का अभाव बना रहता है। इसके अतिरिक्त, चूँकि विभिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न किस्मो की वस्तुओ की कीमत बदलते रहने की सम्भावना रहती है, अतः समय-समय पर खर्च के आधार पर दिये जाने वाले राशन मे भी परिवर्तन की आवश्यकता होती है।

एक और कठिनाई तब उत्पन्न होती है जबकि किसी वस्तु का लेन-देन मुख्यतः प्राइवेट व्यापारियों द्वारा किया जाता है। इस स्थिति मे विक्रेता स्वयं अपने ही राशन मे वृद्धि करने को प्रेरित हो सकते हैं और यह हो सकता है कि इसे रोकना आसान न हो। परन्तु यह समस्या वस्तुतः उस समय इतनी बडी नही होती जबकि ये व्यापारी जनसंख्या का केवल एक बहुत थोडे भाग ही होते है। इसके अतिरिक्त, जब अन्य क्रेता अपने राशन का कुछ भी भाग बिना खरीदा हुआ नही छोडते, तब व्यापारी के लिए इसकी अधिक गुंजाइश नही होती कि वह अपनी नियत मात्रा से अधिक राशन ले सके।

राशन की मात्रा का निर्धारण करने तथा राशनिंग व्यवस्था का प्रबन्ध करने मे अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं जिनके कारण उच्च स्तर की कार्य-कुशलता को बनाये रखना सम्भव हो जाता है। माल की बर्बादी तथा असमानताएँ अनुपेक्षणीय हो जाती हैं और पूर्णतया सन्तोषजनक व्यवस्थाओं की सम्भावना कम रहती है। व्यापारियो की ओर से होने वाली गलत कार्यवाहियों को रोकने के लिए कडे नियम बनाना, निरीक्षण करना तथा अपराधियो को दण्ड देना आवश्यक बन जाता है। ऐसे नियमो तथा ऐसी व्यवस्थाओ के अभाव मे, राशनिंग पूर्णतया बेकार सिद्ध होता है। राशनिंग को तो बड़ी ही कडाई के साथ लागू किया जाना चाहिए, अन्यथा तो यह ऐसी खराब दशाएँ उत्पन्न कर देगा जो कि इसकी अनुपस्थिति मे भी उत्पन्न नही होती हैं।

प्राथमिकताएँ (Priorities) :

सामूहित माँग (composite demand) वाली वस्तुओ की स्थिति मे, केवल व्यक्तियो के बीच ही नहीं, उपयोगो के बीच होने वाले वितरण का भी नियन्त्रण होना आवश्यक है। इसीलिए प्राथमिकताओं का निर्धारण कर दिया जाता है ताकि वस्तु का प्रयोग अधिक महत्वपूर्ण उपयोगो मे ही किया जा सके। ऐसे मामलो मे अमहत्वपूर्ण उपयोगो पर पूर्णतया प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, यह हो सकता है कि मनोरंजन यात्राओ के लिए पैट्रोल के उपयोग की अनुमति न दी जाय अथवा पैकिंग के लिए लकडी का उपयोग करने की आज्ञा न प्रदान की जाए। जब वस्तु का संभरण बहुत कम न हो, तो उस स्थिति मे कम महत्वपूर्ण उपयोगो मे केवल बहुत थोडी मात्रा मे ही वस्तु का प्रयोग करने की अनुमति दी जा सकती है। दूसरी ओर, अधिक महत्वपूर्ण उपयोगो के लिए परमिट स्वीकार किये जाते हैं परन्तु प्राथमिकता प्रमाण-पत्र (priority certificates) उपयोगो की तीव्रता एवं महत्ता के अनुसार ही जारी किये जाते हैं। महत्वपूर्ण सरकारी कार्य तथा आवश्यक राष्ट्रीय कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की जाती है। वस्तु

के निजी उपयोग को सामान्यतः निम्न प्राथमिकता दी जाती है। उदाहरण के लिए, सीमेन्ट की उपलब्धि का काफी भाग महत्वपूर्ण सरकारी योजनाओं की ओर को मोड़ दिया जाता है और निजी निर्माण के लिए बहुत थोड़ी ही मात्रा दी जाती है।

प्राथमिकताओं के निर्धारण के विरुद्ध इस आधार पर आपत्ति उठाई जाती है कि उपयोगों (uses) के महत्व का निश्चय करने की कोई आदर्श व सामान्य रीति नहीं है। उपभोग की अतिशीघ्रता या महत्ता का सम्बन्ध वस्तु की उस मात्रा से होता है जो कि पहले से ही वर्तमान होती है और ऐसे उपयोगों में फिर वितरण की क्या आवश्यकता है जिनमे कि वस्तुओं की बड़ी मात्राएँ पहले से ही लगी हुई हैं। अतः वस्तुओं का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए सामान्य नियमों से विचलन आवश्यक हो जाता है। किन्तु उपयोगों की महत्ता अथवा शीघ्रता को अमान्य कर दिया गया तो कुल बर्बादी और भी अधिक होगी। फिर, नियन्त्रित वितरण की व्यवस्था में अधिकारीगण के लिए यह कठिन होता है कि लोगों को किसी वस्तु का उपयोग उस कार्य में करने से रोक सकें जिसके लिए कि वह वस्तु खरीदी गई थी। जिन कार्यों के लिए कोटे दिये गये थे उनको छोड़कर यदि अन्य कार्यों की ओर को बड़ी मात्रा में वस्तु का अन्तरण (diversion) करना सम्भव है, तो अधिकारियों द्वारा नियत की गई प्राथमिकताओं के आवेश का क्या अर्थ रह जाता है। इस कठिनाई से ऐसी वस्तुओं की स्थिति में तो बचा जा सकता है जिनका उपयोग मुख्यतः बड़े उत्पादकों द्वारा किया जाता है, क्योंकि उस हालत में ऐसे अन्तरणों की सम्भावना कम ही होती है। अतः इस सम्बन्ध में नियमों का संचालन सामान्यतः उत्पादकों द्वारा किया जाता है, उपभोक्ताओं द्वारा नहीं।

किसी वस्तु का कोटा बाँटने की पद्धति में भी यही होता है कि किसी उद्योग की विभिन्न फर्मों के बीच वस्तु का वितरण करने के नियम बना दिये जाते हैं। किसी वस्तु की मात्रा किसी उद्योग के लिए तो नियत की जा सकती है परन्तु उस मात्रा का कितना-कितना भाग विभिन्न फर्मों को दिया जाना चाहिए, यह भी कम महत्वपूर्ण बात नहीं है। कुछ स्थितियों में, पहली तिथियों में घटी घटनाओं के आधार पर वितरण किया जाता है। विभिन्न फर्मों के लिए इस आधार पर कोटे तय कर दिये जाते हैं किसी विशिष्ट समय में उन्होंने कितनी सामग्री का उपयोग किया था। इस आधार पर किया जाने वाला वितरण उच्च संगठित व्यापारों की स्थिति में तो सरल होता है परन्तु कम संगठित उद्योगों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। फिर, भूतकाल में क्या हुआ है, हो सकता है कि कुशलता तथा प्रगति की दृष्टि से उसका कोई महत्व न हो और उसमें परिवर्तन वाञ्छनीय हो। इससे तो अधिकारियों का कार्य और भी कठिन हो जाता है। जब इस सम्बन्ध में नियन्त्रण केवल अल्पकाल के लिये ही किया जाता है तब तो कार्य अधिक कठिन नहीं होता। परन्तु जब लम्बी अवधि के लिए नियम बनाने होते हैं तो एक उपयुक्त आधार की खोज का कार्य कठिन हो जाता है।

चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. A. C. Pigou : Economics of Welfare, Part II, Chapter XII and XIII and Part IV, Chap. VI.
2. R. I. Bye and W.W. Hewett : Applied Economics, Ch. XX.
3. K. E. Boulding : Economic Analysis, pp. 149-156.
4. Third Five Year Plan : Ch. VII pp. 667-669.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. मूल्य नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं ? मूल्य नियन्त्रण की विधियों का वर्णन कीजिए।
What are the objects of price control ? Describe the methods of price control.

२ युद्धकालीन मूल्य नियन्त्रण से क्या आशय है ? भारत में मूल्यों का युद्धकालीन नियन्त्रण की विवेचना कीजिए।
What is meant by war-time price control ? Discuss the war-time price control in India.

३ नियोजित अर्थव्यवस्था में कीमतों के नियन्त्रण पर प्रकाश डालिए।
State and explain the price control in a planned economy.

४ राशनिंग से क्या आशय है ? इसके सिद्धान्तों को समझाइए। राशनिंग की समस्याओं की विवेचना कीजिये।
What is meant by rationing ? Explain its principles. Discuss the problems of rationing

१०

आय की असमानता
(Inequality of Incomes)

प्रारम्भिक (Introduction) :

समाज में धन और आय के वितरण का सर्वोत्तम विश्लेषण (best analysis) दो भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्तों के अन्तर्गत किया जा सकता है वे सिद्धान्त हैं—व्यक्तिगत वितरण का सिद्धान्त (theory of personal distribution), और कार्यात्मक वितरण का सिद्धान्त (theory of functional distribution)।

व्यक्तिगत वितरण का सिद्धान्त (theory of personal distribution)—व्यक्तिगत वितरण का सम्बन्ध व्यक्तियों के बीच आय के विभाजन से है। लोगों के बीच धन एवं आय का वितरण किस आधार के द्वारा किया जाता है? क को १००० रु० मासिक की आय क्यों है जबकि ख केवल ५० रु० मासिक ही पाता है? कुछ लोग धनी और अन्य लोग निर्धन क्यों हैं? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो कि व्यक्तिगत वितरण के सिद्धान्त की विषय सामग्री का निर्माण करते हैं। जब हम इन प्रश्नों के उत्तर की खोज करते हैं तो कुछ अन्य प्रश्न भी हमारे सामने आ खड़े होते हैं, जैसे कि भूमि के इस टुकड़े का किराया क्या है? क को १००० रु० महीना क्यों दिया जाता है? कुछ ऋण-पत्रों (securities) पर ब्याज की दर ५% क्यों है? आदि-आदि। ये सब वे प्रश्न हैं जो कि आय के कार्यात्मक अथवा कार्यानुसार वितरण के सिद्धान्त से सम्बन्ध रखते हैं।

क्रियात्मक वितरण का सिद्धान्त (theory of functional distribution)—क्रियात्मक वितरण का सम्बन्ध आय के उस बँटवारे से होता है जो कि उत्पादन की प्रक्रिया में लगाये गये उत्पादन के उपादानों अर्थात् भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन के स्वामियों के बीच किया जाता है। कार्यात्मक वितरण का अर्थ है कि उत्पादन के प्रत्येक उपादान (factor) को, उसके द्वारा सम्पन्न कार्यों अथवा सेवाओं के अनुसार अथवा उत्पादन की प्रक्रिया में किये गये अंशदान के अनुसार, कुल उत्पादित आय में से उसका भाग मिल जाए। भूमि के स्वामी को भूमि का किराया मिल जाता है; श्रमसेवा के स्वामी को मजदूरी मिल जाती है आदि-आदि। भूमि का किराया, श्रम की मजदूरी

और पूँजी का ब्याज—ये सब वे कीमतें हैं जो कि उपादान-सेवाओं के स्वामी उत्पादन मे अपने निश्चित आर्थिक अंशदान के बदले मे प्राप्त करते है। चूँकि उत्पादन के विभिन्न उपादानों को भिन्न-भिन्न अदायगियाँ की जाती हैं, इसी कारण इन उपादान सेवाओ के स्वामियो को भिन्न-भिन्न मात्रा मे आय प्राप्त होती है। इस प्रकार आय का कार्यात्मक या कार्यानुसार वितरण आय की वैयक्तिक असमानता उत्पन्न करता है।

चूँकि आय की असमानता को पूँजीवाद का सम्भवतः सबसे बुरा लक्षण माना जाता है और चूँकि यह लक्षण ही पूँजीवादी समाज के स्थान पर समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहा है, अतः अब हम उन कारणो का विश्लेषण करेंगे जो कि स्वतन्त्र समाज में आय की असमानता तथा इसके निरन्तर जारी रहने के लिए उत्तरदायी रहे हैं और तत्पश्चात् इस समस्या का एक उपयुक्त समाधान खोजने का भी प्रयास करेंगे।

आय की असमानता के कारण
(Causes of Inequality of Incomes)

आय की असमानता के लिए उत्तरदायी कारणो को तीन भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच बांटा जा सकता है। सर्वप्रथम, कुछ कारण तो ऐसे है जो कि बडी तथा छोटी समृद्धि की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी होते है। दूसरे, कुछ कारण ऐसे होते हैं जो कि धनी तथा निर्धन के बीच की खाई को और चौड़ा करते हैं। अन्त मे, तीसरे प्रकार के कारण वे होते है जो आय की असमानता को पीढी-दर पीढी तक के लिए स्थायी बनाने के लिए उत्तरदायी होते हैं। अब हम इन तीनो ही प्रकार के कारणों की क्रमशः विवेचना करेंगे।

(१) पदो में अन्तर होना (differences in jobs)—आय मे अन्तर इसलिए पाये जाते हैं क्योकि पदो मे अन्तर होते हैं। कुछ कामो अथवा धन्धो से तो बडे-बडे वेतन प्राप्त होते हैं जबकि अन्य धन्धो मे थोडी सी मजदूरियाँ मिलती हैं। जिन कार्यों अथवा नौकरियों (jobs) मे उच्च प्रशासनिक योग्यता की आवश्यकता होती है, जिनमे भारी जिम्मेदारी उठानी होती है, जिनके लिए उच्च शैक्षिक योग्यता तथा अनुभव की आवश्यकता होती है और जिनके लिए कुछ विशिष्ट गुणों एव विशेष प्रतिभा की आवश्यकता होती है, उनमे ऊँचे वेतन मिलते है और ऐसी नौकरियाँ केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों को ही प्राप्त होती है। दूसरी ओर, अधिकाश धन्धो अथवा कार्यो के लिए कोई विशेष योग्यता अथवा क्षमता की आवश्यकता नही होती और वे सभी वर्गों के लोगो के लिए खुले होते है तथा इसी कारण उसमे बहुत थोडे वेतन होते है।

अधिकांश नवयुवक अच्छे वेतन वाले कार्यों एवं पदो को पाने मे असमर्थ रहते हैं, या तो इसलिये क्योकि वे आवश्यक अथवा निर्धारित योग्यताएँ नही रखते अथवा इसलिए क्योकि उनमे कोई प्रच्छन्न गुण तथा प्रतिभा नही होती है (जैसा कि अभिनेताओ की स्थिति मे आवश्यक होता है) या क्योकि उनमे आवश्यक सामाजिक आधार या सम्पर्क मे कमी होती है अथवा क्योकि वे भाग्य के कमजोर होते हैं।

इस सम्बन्ध मे, हम दो ऐसे सामान्य तत्वो पर जोर दे सकते हैं जो कि व्यक्ति की आय मे पाये जाने वाले अन्तरो पर गहरा प्रभाव डालते हैं। ये दो तत्व हैं आनुवंशिकता (heredity) और पर्यावरण या परिस्थिति (environment)। यह कहना सही नही है कि सभी मनुष्य जन्म से ही एक समान हैं। शारीरिक एवं बौद्धिक दृष्टि से विभिन्न लोगो मे भिन्न-भिन्न गुण पाये जाते हैं। कुछ बड़े बुद्धिमान होते हैं तो कुछ बुद्धू, कुछ मे सगीतात्मक एवं कलात्मक प्रतिभा पाई जाती है

तो अन्य विज्ञान तथा यान्त्रिक कलाओं मे विशेष योग्यताएँ रखते हैं। ये अन्तर अधिकतर उनमे आनुवाशिक या पैतृक रूप से पाये जाते हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक ही है कि ऐसे अन्तर आय की असमानताएँ उत्पन्न करें। समाज के अधिक सुविधा प्राप्त सदस्य अपने कम सुसज्जित साथियो की अपेक्षा सामान्यतः अधिक सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

(२) **अवसरों की असमानता** (un-equal opportunities)—लोगों मे केवल जन्म के समय से ही अन्तर नही पाये जाते, बल्कि उस पर्यावरण अथवा उन परिस्थितियो मे भी, जिनमें कि वे रहते हैं, उन्हे समान लाभ एवं सुविधाएँ प्राप्त नहीं होती। जिनका जन्म अच्छे समृद्ध परिवारो मे होता है, उनके जीवन का आरम्भिक निर्माण अच्छी शिक्षा से, अच्छी ट्रेनिंग से तथा सामाजिक सम्पर्क से होता है। इसके अतिरिक्त इन युवको को पैतृक धन भी प्राप्त होता है जिससे उन्हे अपना व्यवसाय आरम्भ करने के लिए आवश्यक पूँजी उपलब्ध हो जाती है। लेकिन जो व्यक्ति दुर्भाग्यवश निर्धन परिवारों मे पैदा होते हैं, उन्हे पर्याप्त शिक्षा के प्रशासकीय पदो पर पहुँचने के लिए आवश्यक सामाजिक जरियो के समुचित लाभ प्राप्त नही होते और ना ही उन्हे पैतृक रूप मे कोई ऐसी सम्पत्ति ही प्राप्त होती है जो उन्हे आवश्यक पूँजी प्रदान कर सके। इस प्रकार, ये अवसरो की असमानताएँ ही हैं जो आय की भारी असमानताओ को उत्पन्न करती हैं। इस स्थिति का एक ऐसा दुश्चक्र चालू हो जाता है जिसमे आर्थिक असमानताएँ तो अवसरो की असमानताएँ उत्पन्न करती हैं और अवसरो की असमानताएँ फिर आर्थिक स्तर मे असमानताएँ उत्पन्न करती हैं। "acquistive society" नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मे टौनी (Tawney) ने इस दुश्चक्र (vicious circle) का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है : "वर्तमान समाज मे अवसरो एव कार्यों के अनुसार ही धन का वितरण किया जाता है और अवसर (opportunity) जहाँ अशत. तो मनुष्य के गुणो व उनकी शक्ति पर निर्भर होता है, वहाँ उससे भी अधिक वह जन्म पर सामाजिक स्थिति पर, प्राप्त शिक्षा पर तथा मौरूसी धन पर और एक शब्द मे कहा जाए तो सम्पत्ति पर निर्भर होता है" क्योकि गुण व शक्ति तो अवसर उत्पन्न कर सकते हैं परन्तु सम्पत्ति (property) को तो उसकी कोई प्रतीक्षा नही करनी होती। टौनी ने ठीक ही कहा है कि एक निर्धन व्यक्ति का लड़का अपने गुणो और अपनी शक्ति से अवसर प्राप्त करता है किन्तु एक धनी व्यक्ति पर तो अवसर थोपे जाते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न पारिश्रमिक वाले विभिन्न प्रकार के कार्यों (job) की विद्यमानता से ही आय की असमानताओ का जन्म होता है। अनुवंशिकता (heredity) और परिस्थिति (environment) मे पाये जाने वाले अन्तर इस विषय मे महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं कि लोग किन भिन्न-भिन्न कार्यों को अपनाएँ।

परन्तु अब तक, हमने इस पर तो विचार किया है कि आमदनियो मे अन्तर क्यो होते हैं, परन्तु इस बात की कोई व्याख्या नही की है कि बडी-बडी सम्पत्तियो का जन्म कैसे होता है। यह तो स्पष्ट है कि बडे-बडे धन अथवा बडी-बडी सम्पत्तियो का निर्माण वेतन अथवा ब्याजो द्वारा नही हुआ करता या कभी-कभी ही हुआ करता है। उच्च वेतन पाने वाले सिनेमा अभिनेताओ (cinema stars) को छोड़कर, अन्य लोगो की मजदूरियाँ या वेतन इतने ऊँचे नहीं होते जिससे उनके पास धन मे तेजी से वृद्धि हो जाए। ब्याज के मामले मे भी आमदनियाँ अधिक नही हुआ करतीं। बड़े-बड़े धन आमतौर पर भूमि के किरायो तथा लाभो से हुआ करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे नये देशो मे अथवा भारत जैसे पुराने देशों मे, कस्बे तथा नगर बराबर बसते ही रहते हैं। इन देशों मे भूमि का मूल्य बढ़ता है और केवल प्रतीक्षा करने तथा उसे ऊँची कीमतो पर बेचने से बड़े-बड़े लाभ प्राप्त हो जाते हैं। बडी-बड़ी धनराशियाँ या सम्पत्तियाँ उन लोगो द्वारा भी प्राप्त कर ली जाती हैं जिनका कोयला तथा तेल जैसे प्राकृतिक साधनो पर अधिकार होता है।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद पिछले २०० वर्षों में सदा निर्माण एवं व्यापारिक लाभों के द्वारा ही बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों का निर्माण हुआ है। व्यावसायिक लाभ कई प्रकार से प्राप्त होते है—पेटेन्ट तथा ट्रेडमार्क के रूप मे एकाधिकारी शक्ति का उपयोग करके, तेल जैसे प्राकृतिक साधनों पर एकाधिकारी नियन्त्रण स्थापित करके एवं उक्त साधनों का शोषण करके तथा वित्तीय हेर-फेर एवं सट्टे के सौदो द्वारा। कुछ मामलो मे, ये धन विशाल व्यक्तिगत त्याग एवं ईमानदारी से भी प्राप्त होते हैं। कुछ अन्य मामलो मे ये धन संदिग्ध तरीको तथा लुटेरेपन की कार्यवाहियों द्वारा भी प्राप्त किये जाते हैं।

इस प्रकार, आय की असमानता का जन्म तो लोगो के बीच वर्तमान अवसरो की असमानता से होता है कि किन्तु उसमे वृद्धि उस निजी सम्पत्ति की विद्यमानता से होती है जो कि सभी पूँजीवादी समाजो मे पाई जाती है। सम्पत्ति के स्वामी को, चाहे वह सम्पत्ति भूमि के रूप मे हो या फैक्टरी अथवा खान के रूप मे, कुछ विशिष्ट लाभ तथा विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। वह भूमि के किरायों, पूँजी के ब्याज तथा लाभों के द्वारा देश मे उत्पन्न की गई आय का एक बडा भाग प्राप्त कर लेता है। जहाँ मजदूरियाँ या तो स्थिर रहती हैं अथवा बहुत थोडी दर से बढती है, वहाँ लाभ तथा किराये विज्ञान एवं शिल्पकला की प्रगति के साथ ही साथ तीव्र गति से बढते हैं। सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय मे यदि कोई बुरी बात है तो यह है कि वे अधिकाशतया अनार्जित (unearned) होती हैं।

(३) उत्तराधिकार का नियम (law of inheritance)—तीसरा कारण जो कि असमानता के लिए उत्तरदायी है, उत्तराधिकार (inheritance) का नियम है। यह कारण वस्तुतः असमानता की उत्पत्ति के लिए नही बल्कि उसकी निरन्तरता के लिए उत्तरदायी है। सम्पत्ति की मूलभूत विशेषता यह होती है कि उत्तराधिकार के रूप मे इसका हस्तान्तरण हुआ करता है। उत्तराधिकार की यह व्यवस्था आर्थिक असमानताओ की स्थिरता का मुख्य कारण होती है। सभी पूँजीवादी देशो मे आम प्रथा यह रही है कि उत्तराधिकार की व्यवस्था के द्वारा, सम्पत्ति बिना किसी प्रतिबन्ध के ही बाप से बेटे के पास को स्थानान्तरित कर दी जाती है और इस प्रकार आज की असमानताएँ कल की असमानताएँ बन जाती हैं। इस प्रकार, उत्तराधिकार की प्रथा असमानता उत्पन्न नही करती—क्योंकि धन का तो पहले ही संचय कर लिया गया है—बल्कि उसको स्थिर रखती है। टाजिग ने लिखा है : "यह प्रथा उस आय की स्थिरता की व्याख्या करती है जो पूँजी, भूमि तथा सभी प्रकार की आय देने वाली सम्पत्तियो से प्राप्त होती है और इस प्रकार समृद्ध तथा निर्धन व्यक्तियों के बीच बराबर बनी रहने वाली खाई की व्याख्या करती है।"[1]

उत्तराधिकार-प्रथा पर इस कारण आपत्ति की जाती है क्योंकि यह धनी व्यक्तियों के उत्तराधिकारियो को ऐसा लाभ प्रदान करती है जिसे कि वे अन्य किसी प्रकार नही प्राप्त कर सकते थे। धन के मूल संग्रहकर्ता ने सम्भव है उक्त धन की पाई-पाई को इकट्ठा करने मे पसीना बहाया हो परन्तु उनके उत्तराधिकारियों को धन प्राप्त करने मे कोई योग नही देना पड़ता। उत्तराधिकारी तो केवल इस घटना मात्र से ही धन का उपभोग करने लगते हैं कि उन्होंने एक धनी परिवार मे जन्म लिया है। उत्तराधिकार-प्रथा एक ऐसे आराम पसन्द वर्ग की उत्पत्ति के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार है जिसके सदस्य आलस्य और विलासिता का जीवन बिताते हैं और समाज की कोई उत्पादकीय सेवा नही करते।

---

1 Taussig: Principles of Economics, Vol II, p 298, "It is this which explains the perpetuation of the incomes derived from capital, land, income yielding property of all sorts, and so explains the great continuing gulf between the haves and the have-nots"

उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे यहाँ एक और बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है। उत्तराधिकार-प्रथा के द्वारा असमानताएँ न केवल जारी रहती हैं और स्थिर बनी रहती हैं, बल्कि अधिकाश मामलों मे उनमे भारी वृद्धि भी हो जाती है क्योंकि बडी सम्पत्तियों मे गुणक-प्रवृत्ति पाई जाती है। अमेरिका मे रौकफैलर, फोर्ड्स तथा ड्यूपोन्ट्स और भारत मे टाटा, बिडला अनेक पीढियों से अपनी विशाल सम्पत्तियो का उपभोग कर हैं और ये सम्पत्तियाँ (fortunes) प्रत्येक अगली पीढी मे बढ रही हैं। इनमे से कुछ सम्पत्तियाँ या धन-सग्रह तो इतने विशाल हो गये है कि आगे उनके नष्ट या व्यय होने का कतई कोई खतरा नही है। जितनी तेजी से धन का केन्द्रीयकरण हो रहा है, समय गुजरने के साथ ही धन की असमानताएँ और भी तेजी से बढती हैं। इस प्रकार, उत्तराधिकार की प्रथा इन असमानताओ को स्थिर करने तथा बढाने का मुख्य साधन है।

आय की असमानताएँ गुणो तथा पर्यावरण के सम्बन्ध मे व्यक्तियो मे पाई जाने वाली भिन्नताओं के कारण उत्पन्न होती हैं। निजी सम्पत्ति के अस्तित्व के कारण उनमे स्थिरता आ जाती है उत्तराधिकार की प्रथा द्वारा भी वे असमानताएँ स्थायी हो जाती है क्योंकि इस प्रथा के द्वारा धन एक पीढी से दूसरी पीढी को स्थानान्तरित किया जा सकता है। ये तीन विभिन्न कारण स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था मे साथ-साथ कार्यशील होते है, अतः आय की असमानताओ को समाप्त या कम करने के किसी भी प्रयास मे इन सभी कारणो का ध्यान रखा जाना चाहिए।

आय की असमानता के परिणाम
(Consequences of Inequality of Incomes)

विभिन्न व्यक्तियो के जीवन-स्तर मे अन्तर के लिये आर्थिक असमानता ही जिम्मेदार रही है। एक ओर तो कुछ लोग पूरे ऐशो-आराम का जीवन गुजारते हैं, दूसरी ओर अन्य लोग निर्धनता के गर्त मे अपना जीवन बिताते हैं। कहा जा सकता है कि प्रचुरता के बीच मे भारी निर्धनता विद्यमान रहती है। किसी ने कहा है कि आजकल धनी तथा निर्धन दोनो ही समान रूप से पेट के दर्द से पीडित रहते हैं, धनी तो इसलिए क्योंकि उन्होने बहुत अधिक खा लिया है और निर्धन इसलिये क्योंकि उनके पास खाने को कुछ भी नही है और उनके खाली पेट मे चूहे कूदते हैं। भारत मे, लोगो की एक बडी सख्या अपना तथा अपने आश्रितो का ऐसा जीवन-स्तर नही बनाये रख सकती कि जिसके द्वारा वे शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह सकें और अपने व्यवसाय तथा धन्धो मे स्थायी रूप से बने रह सके तथा अपने समाज मे प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ रहकर कार्य कर सकें।

आर्थिक असमानता ही उपभोग मे होने वाली भारी बर्बादी के लिए जिम्मेदार है। लोगो मे, विशेष रूप से धनी व्यक्तियों मे यह स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे इसलिये अनाप-शनाप खर्च करते हैं जिससे कि उन लोगो द्वारा उनकी प्रशसा की जा सके जो ऐसी मात्रा मे खर्च नही कर सकते। "दूसरे भिन्न रहने की इच्छा" अर्थात् "दिखावटी उपभोग की इच्छा" सभी देशो में, सभी समयो मे तथा सभी वर्ग के लोगों मे पाई जाती है और यह इच्छा सभी मानवीय आकाक्षाओं एवं भावनाओ मे सबसे अधिक तीव्र होती है। भेद रखने तथा दिखावट करने की यह इच्छा सामान्यत. प्रतियोगी व्यय का रूप ले लेती है और इस स्थिति मे उपभोग अपव्यय होना अनिवार्य हो जाता है। भारत मे जहाँ लाखो व्यक्तियो के स्तर पर मकान की छाया तक नही होती, वहाँ महाराजाओं तथा बड़े व्यवसायियो एव पूँजीपतियो के पास रहने को बडे-बडे महल तथा बंगले होते हैं। जहाँ लाखो व्यक्तियों को रहने को मकान प्राप्त नही हैं और लगातार घूमते-घूमते ही अपना जीवन गुजार देते हैं तथा उन्हें यह तक पता नही होता कि मोटे अनाज की रोटी और मिर्च का

करते इसका कारण यह है कि अधिकांश मामलों मे करदाता जो कर अदा करते है, उनका भार अनुभव नही करते ।

(४) अमितव्ययता (Un-economical)—परोक्ष करो मे अमितव्ययता होती है क्योंकि इनको वसूल करने मे सरकार को प्रत्यक्ष करों की तुलना मे अधिक व्यय करना पडता है ।

(५) प्रतिगामी (Regressive)—परोक्ष कर प्रतिगामी भी होते हैं क्योंकि इनका भार गरीब लोगो पर अधिक पडता है ।

(६) प्रभावी मांग का कम होना (Low Effectiveness of Demand)—चूँकि परोक्ष कर वस्तुओं के उत्पादन पर लगते हैं , अतएव इससे वस्तुओ की कीमत अधिक हो जाती है । जिसके कारण उपभोग कम हो जाता है । वस्तुओ की मांग कम होने से बेकारी फैलती है ।

(७) अनेक मध्यस्थों का होना—परोक्ष करो मे सरकार तथा अन्तिम उपभोक्ता के मध्य अनेक मध्यस्थ कार्य करते है जिसके परिणामस्वरूप मूल्यो मे वृद्धि होना प्रारम्भ हो जाता है ।

(८) मन्दी काल में आय मे कमी होना—मन्दीकाल मे परोक्ष करो से होने वाली आय मे पर्याप्त कमी हो जाती है क्योंकि इसमे लोगों की आय मे कमी हो जाने के कारण वे कम मात्रा मे वस्तुओं का क्रय करते हैं जिसके कारण कर के रूप मे होने वाली आय मे पर्याप्त कमी हो जाती है । जब लोग वस्तुओं को कम मात्रा मे खरीदेंगे तब सरकार को वस्तुओ पर लगने वाले करो के रूप मे होने वाली आय मे पर्याप्त कमी हो जायेगी ।

परोक्ष करो की श्रेष्ठता (Superiority of Indirect Taxes)

परोक्ष करो के उपर्युक्त दोषो के बावजूद, साधनो के बँटवारे के दृष्टिकोण से परोक्ष कर सर्वोत्तम समझे जाते है । उदाहरण के लिये, वे परोक्ष कर सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं जो ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाते हैं जिनमे मांग की मूल्य सापेक्षिता अथवा मांग का लचीलापन (elasticity of demand) बिलकुल नही होता अथवा बहुत थोडा होता है । इसके अतिरिक्त, परोक्ष कराधान वहाँ भी लाभदायक रहता है जहां कि उत्पादन पक्ष अथवा, उपभोग पक्ष मे बाहरी अपार्थ (external diseconomies) वर्तमान होते है । उत्पादन पक्ष में ऐसे अपार्थों के उदाहरण है । गध अथवा धूम्र अपदूषण (smell or smoke nuisance) और उपभोग के पक्ष मे मदाशक्ति अथवा मदोन्मत्तता (drunkenness) इसका उदाहरण है । परोक्ष कराधान इस दृष्टि से भी उपयोगी है कि यह लोगों को शराब तथा भेपज (drugs) जैसे हानिकारक पदार्थों के उपभोग के प्रति हतोत्साहित करता है ।

यही नही, परोक्ष कर प्रत्यक्ष करो से इस कारण भी श्रेष्ठ समझे जाते हैं कि कार्य करने तथा बचत करने की प्रेरणा पर उनके उतने हानिकारक प्रभाव नही पडते (बशर्ते कि वे पूँजीगत माल पर ही न लगा दिये जाएँ) ।

इसके अतिरिक्त, परोक्ष कर आय मे सुधार करने की दृष्टि से भी उपयुक्त (suitable) होते हैं । यदि वे ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाते हैं जिनकी मांग की आय सापेक्षता (income elasticity of demand) उच्च होती है तो उनके अत्यधिक सन्तोषजनक परिणाम सामने आते हैं । इस स्थिति मे विशिष्ट करो (specific duties) की बजाए मूल्यवार कर (ad valorem taxes) लगाना अधिक अच्छा होता है क्योंकि उससे वस्तु की कीमत तथा उसके उपभोग मे परिवर्तन होने पर कर-राजस्व मे भी परिवर्तन होते हैं ।

अन्त मे, परोक्ष कराधान के समर्थन मे एक रूढिवादी तर्क भी दिया जाता है, और वह यह कि निम्न आय वाले वर्गों पर प्रत्यक्ष कर लगाना यदि अनुचित भी नही है तो कठिन तो अवश्य ही है । परन्तु भारी प्रशासनिक सुधार एव कार्य-कुशलता के वर्तमान दिनो मे इस तर्क की महत्ता कुछ रही नहीं है और निम्न आय वाले वर्गों पर कर लगाने सम्बन्धी कठिनाइयो पर विजय पा ली गई है ।

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों का अनुपात
(Proportion of Direct and Indirect Taxation)

ऊपर दोनों ही प्रकार के करो के गुणो व दोषो का वर्णन किया गया है । प्रश्न यह है कि सामान्य ढाँचे (general tax structure) मे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो का अनुपात क्या हो ?

अस्थायी रूप से बन्द करने को बाध्य हो सकता है परन्तु उसके रहन-सहन का तरीका अथवा उसके परिवार का रहन-सहन का स्तर बिल्कुल भी नही बदलता। इक्के-दुक्के मामलो मे ही यह हो सकता है कि वह अपनी कुछ व्यर्थ की विलासिताओ का त्याग कर दें, उदाहरण के लिये अतिरिक्त कार का। परन्तु अपनी अनिवार्य अथवा आरामदायक आवश्यकताओ मे कोई कटौती नही करता। दूसरी ओर मन्दी काल मे वे श्रमिक, जिनके रोजगार ही समाप्त हो जाते हैं, स्वयं को बडी असहाय अवस्था मे पाते हैं। बेरोजगार लोग काम की तलाश मे फिरते हैं जबकि काम कही नजर नही आता। वे तथा उनके परिवार भूखे रहते हैं और अन्त मे निराशापूर्ण स्थिति मे जागृत तथा समर्थ सरकारें इन श्रमिकों की सहायता के लिये आगे आती हैं। धमार्थ संस्थाएं भी उनको अस्थायी रूप से मदद करती हैं। परन्तु ये बेरोजगार लोग—जिनकी संख्या कभी-कभी लाखों मे होती है—बिना किसी कसूर के ही जीवन के असंख्यो अभावों से पीडित रहते हुए अपना जीवनयापन करते हैं।

बेरोजगारी के कारण उत्पन्न असुरक्षा के अलावा कुछ अन्य समस्यायें भी होती हैं, जैसे कि व्यवसाय सम्बन्धी बीमारियां, औद्योगिक दुर्घटनायें तथा वृद्धावस्था की अनिश्चितताएं आदि, और इन समस्याओं का बोझ अधिकतर मजदूर वर्ग के लोगो पर ही अधिक पडता है। यद्यपि यह सत्य है कि अधिकाश देशो मे अनेक ऐसी धार्मिक सुरक्षा योजनाएं लागू की गई हैं जो कि श्रमिकों एव कारीगरो को उस समय सहायता पहुंचाती हैं जबकि वे धन्धे सम्बन्धी बीमारियो से ग्रसित होते हैं, जब वे बिना काम के होते हैं अथवा जब वे वृद्धावस्था को पहुँच जाते हैं। परन्तु इन बीमा योजनाओं के द्वारा गरीबो की कठिनाइयां पूरी तरह-दूर नहीं हो सकी हैं और अभी भी पहले की तरह विकराल रूप धारण किये हुये हैं।

यहां हमे धनी तथा निर्धन की कमाई के मूल अन्तर को समझ लेना चाहिए। धनी लोग सामान्यत अपनी आय भूमि के किराये से, ऋण पत्रो के ब्याज एव लाभ के रूप मे अथवा किसी व्यवसाय के स्वामित्व से प्राप्त करते हैं। ये आमदनियां उन्हे प्राप्त होती ही हैं चाहे उनके स्वास्थ्य की दशा कैसी ही क्यो न हो। धनी व्यक्ति स्वस्थ हो चाहे बीमार, कार्य कर रहा हो अथवा बीमार पडा हो परन्तु इससे उसको आय की मात्रा अथवा नियमितता पर कोई प्रभाव नही पडता। इसके विपरीत, मजदूरी से प्राप्त होने वाली आमदनियां मजदूर के स्वास्थ्य पर निर्भर होती हैं और वह इन मानो मे कि उनकी आमदनियो का प्रवाह उसी समय रुक जाता है जैसे ही उनका स्वास्थ्य उत्पादकीय प्रयत्नो मे लगने की उनकी क्षमता मे हस्तक्षेप करता है।

इस प्रकार, आमदनियो की असमानता का सबसे बडा आर्थिक प्रभाव संभवतः वह आर्थिक असुरक्षा ही है जो कि यह उन मध्यम तथा श्रमिक वर्गों पर डालता है जो पूर्णतया अपनी निजी कमाई पर ही निर्भर रहते हैं।

यहां इस बात का उल्लेख करना भी सामयिक ही होगा कि एक पूंजीवादी समाज मे धन तथा आय की असमानता के क्या सामाजिक एवं राजनैनिक परिणाम होते हैं। सबसे पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि शैक्षणिक अवसर (education opportunity) पर आय की असमानता का क्या प्रभाव पडता है जो कि स्वय आय की असमानता पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है।

शिक्षा बडी मंहगी है और गरीबो के लिए तो निःशुल्क शिक्षा तक बडी मंहगी है। निर्धनो के अनेकों लडके व लडकियां, जिनके मस्तिष्क बडे अच्छे होते हैं तथा जिनकी ऊंची महत्वाकांक्षाएं होती हैं, आर्थिक तंगी के कारण शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। भारत जैसे देश मे,

अगला भोजन उन्हे कहाँ तथा कब मिलेगा, वहाँ धनी लोगो के कुत्तो को आयात किये हुए बिस्कुट और ताजा माँस खिलाया जाता है। धनी लोग अपनी फालतू आय का काफी भाग बेकार ही खर्च करते है जिससे उनमे लम्पटता एवं अनैतिकता उत्पन्न होती है। बड़े-बड़े धनी परिवारो की अनेक महिलाएँ अपना काफी समय और धन अनाप-शनाप दावतो, गहनों व कपडो आदि पर खर्च करती हैं। वे व्यक्ति तथा साधन, जो कि धनी व्यक्तियो को व्यर्थ की विलासिता की वस्तुएँ प्रदान करने मे लगे रहते हैं, सामाजिक उत्पादन मे अपना कोई विशेष योगदान नही देते। इसके साथ ही, दूसरी ओर निर्धन लोग होते हैं जिन्हे न पूर्ण व पौष्टिक भोजन मिलता है, पर्याप्त वस्त्र पहनने को नही मिलते, घर रहने को नही मिलता और न समुचित शिक्षा ही मिलती है। निर्धनता जन्म देती है बीमारियो को, दुराचार को, बुराइयो और अपराधों को जिससे व्यक्ति की उत्पादन-शक्ति और उत्पादन-क्षमता दोनो ही नष्ट होती हैं। इसके अतिरिक्त उपभोग की बर्बादी के लिए अकेले धनी ही उत्तरदायी नही है। अनेक निम्न आय वाले वर्गो के लोग भी इसके लिए जिम्मेदार हैं क्योकि वे धनिको की तथा उनके रंग-ढंग की मूर्खतापूर्ण नकल करते हैं। ये उपभोग के व्यक्तिगत अपव्यय के उदाहरण हैं। परन्तु पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे, उपभोग का सामाजिक अपव्यय (social wastes) भी होता है। उस समय होता है जबकि समाज उत्पादित वस्तुओं से कुल अधिकतम तुष्टिगुण प्राप्त करने मे असफल हो जाता है। ऐसी स्थिति मे, जबकि व्यक्तिगत आमदनियो मे काफी अन्तर पाये जाते हो, व्यक्ति यदि ये प्रयत्न करें कि उनकी द्रव्य-आय अधिकतम तुष्टिगुण (maximum utility) प्राप्त कर सकें तो उससे उपभोग मे सामाजिक अपव्यय ही होगा।

यह हम जानते है कि कीमतें उत्पादन को ऐसे प्रवाहो की ओर मोड देती है जहाँ कि वे उपभोक्ताओं की इच्छाओ को सर्वोत्तम रीति से सन्तुष्ट करती है। इसमे केवल एक ही बाधा उत्पन्न हो सकती है और वह है आय की असमानता। मूल्य-पद्धति के अन्तर्गत, उत्पादन माँग के अनुसार चलता है। परन्तु किसी भी वस्तु की माँग इस बात पर निर्भर होती है कि उस वस्तु के प्रति लोगो की इच्छा कैसी और कितनी तीव्र है तथा उस इच्छा को पूरा करने के लिए उनके पास यथेष्ट क्रयशक्ति है या नही। निर्धनो के मुकाबले धनी व्यक्तियो के पास तो स्पष्टत: क्रयशक्ति अधिक मात्रा मे होती है। अत. इस स्थिति मे जिन वस्तुओ की सामान्यत. धनिक लोग चाहते हैं उनका ही अधिक उत्पादन होने की सम्भावना रहती है क्योंकि वे उनकी अधिक कीमतें देने की स्थिति मे होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निर्धनो के सस्ते घरो और सस्ती वस्तुओ के उत्पादन के मुकाबले क्यो महगी कारो का उत्पादन और कीमती बगलो का निर्माण पहले किया जाता है? जब कभी उत्पादन के उपादान (factors of production) निर्धनों की अनिवार्य आवश्यकताओ से हट कर धनियों की विलासिता की वस्तुओ मे लगने लगते है तो उनसे स्वभावत. ही अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ की कीमतें ऊपर जाने लगती है, परिणामत. आय वाले वर्गो के लोगो को अपने द्रव्य का कम सामान प्राप्त होता है इसके विपरीत जब सभी व्यक्तियो की आय लगभग समान होती है तो महगी विलासिता की वस्तुओ का उत्पादन बिल्कुल नही होता। इस स्थिति मे सम्भावना यही रहती है कि उत्पादन के साधन उन्ही वस्तुओ व सेवाओं के उत्पादन मे लगेंगे जो सामान्य जनता के लिए आवश्यक होती हैं। परिणामस्वरूप, इन वस्तुओं का संभरण अधिक होता है जिससे उनकी कीमतें भी कम होती हैं।

धन तथा आय की असमानता का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव उन लाखो करोडो श्रमिको की आर्थिक असुरक्षा के रूप मे सामने आता है जो समाज का एक महत्वपूर्ण अंग होते हैं। व्यावसायिक उतार-चढावो को ही ले लीजिये जो कि हमारे वर्तमान औद्योगिक जीवन मे घुल-मिल गये हैं। औद्योगिक मन्दी के काल मे, एक सफल व्यवसायी अपनी दूकान या फैक्टरी को

आय की असमानता में कमी
(Reduction of Inequality of Incomes)

मोटे तौर पर, आय की असमानताओं को कम करने के सम्बन्ध में दो सुझाव दिये जाते हैं। एक तो मार्क्सवादी समाधान (Marxian solution) है जिसे कि समस्या का तीव्र समाधान कहा जा सकता है। इस समाधान में कहा गया है कि—आय के वितरण की वर्तमान कार्यात्मक पद्धति की समाप्ति के साथ ही साथ, निजी सम्पत्ति रखने तथा उत्तराधिकार-प्रथा की व्यवस्था को भी पूर्णतया समाप्त कर दिया जाये और वितरण की ऐसी नई व्यवस्था लागू की जाये जिससे आय की समानता उत्पन्न हो। मार्क्सवादी समाधान के विकल्प के रूप में एक अन्य हल्का समाधान प्रस्तुत किया जाता है जो कि वितरण की वर्तमान व्यवस्था को जारी रखने पर जोर देता है परन्तु साथ ही कुछ ऐसे पगों का भी सुझाव देता है जो कि जनता के विभिन्न वर्गों के बीच पाई जाने वाली असमानताओं को दूर करेंगे। अब हम इन दोनों ही समाधानों पर क्रमशः विचार करेंगे।

जो लोग पहले समाधान का समर्थन करते हैं, उनका विश्वास है कि असमानता की समस्या कार्यात्मक वितरण (functional distribution) की वर्तमान पद्धति के कारण ही उत्पन्न हुई है अतः वे इसे समाप्त करना चाहते हैं। वर्तमान समय में, उत्पादन के प्रत्येक उपादान (factor) को जो अदायगी की जाती है वह उत्पादन की प्रक्रिया में उसके योगदान के अनुसार होती है। परन्तु पूँजीवादी संगठनकर्त्ता तथा जमींदार राष्ट्रीय लाभांश में से सदा ही गैर-अनुपाती रूप से अधिक भाग प्राप्त करने में समर्थ होते रहे हैं। भूमि तथा पूँजी के अधिकार ने उनके स्वामियों को सदा ही इस योग्य बनाया है कि वे राष्ट्रीय आय में से अतिरिक्त भाग प्राप्त कर सकें। इसके तिरिक्त, उत्तराधिकार नियम के द्वारा ये कारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास को स्थानान्तरित होते रहते हैं और इस प्रकार एक बार उत्पन्न हुई असमानता को स्थायी बना देते हैं। अतः उत्तराधिकार की प्रथा को समाप्त करना ही होगा। इस प्रकार सभी वामपंथी लेखकों ने इस प्रश्न पर सहमति प्रकट की है कि कार्यात्मक वितरण, निजी सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार की प्रथा को समाप्त किया जाये। अन्य शब्दों में, वे वितरण की वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति का समर्थन करते हैं।

परन्तु वर्तमान व्यवस्था की समाप्ति मात्रा से ही समस्या का पूरा समाधान नहीं निकल सकता। फिर समस्या यह होगी कि राष्ट्रीय आय को व्यक्तियों के बीच कैसे बाँटा जाए? अथवा वितरण का विकल्प क्या हो? वितरण की वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध, वितरण के दो अन्य रूप हो सकते हैं, अर्थात् सभी व्यक्तियों को समान आय चाहे उसका धन्धा कुछ भी क्यों न हो और आवश्यकता के अनुसार आय का विभाजन।

(१) आय का समान वितरण (Equal Distribution of Income).

आय के वितरण की सबसे पहली प्रस्तावित रीति अर्थात् देश के सभी वयस्क सदस्यों के लिये समान आय रीति—एक सामान्य व्यक्ति को भी बड़ी सुन्दर लगती है। जिस प्रकार कि राजनैतिक लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को एक वोट देने का अधिकार दिया जाता है, उसी प्रकार आर्थिक लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को समाज की कुल आय में समान भाग प्राप्त होता है। आय के विभाजन की यह रीति बड़ी सरल है किन्तु इसको व्यावहारिक रूप देना सरल नहीं है।

आय के विभाजन की इस रीति का सबसे महत्वपूर्ण दोष यह है कि कुल उत्पादित आय पर इसका निश्चित ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और इस प्रकार लोगों में बाँटने के लिए कम आय

बड़ी संख्या मे ऐसे लोग विद्यमान होते हैं जो अपने लड़के व लडकियों को कम से कम प्राइमरी स्तर से ऊपर की पढ़ाई के लिये स्कूलों मे नही भेज पाते। हाई स्कूल तक की शिक्षा भी केवल उन थोड़े से परिवारो के लिये सम्भव होती है जो कि इस मंहगी शिक्षा की व्यवस्था अपने केवल एक या दो लडकों के लिये ही कर पाते हैं। कालिज की शिक्षा प्राप्त करना तो कुछ थोड़े से असाधारण लोगो का ही विशेषाधिकार समझना चाहिए। देश मे बड़े पैमाने पर बाल-श्रम (child labour) का अस्तित्व इस बात का प्रतीक है कि प्रारम्भिक शिक्षा तक जनसंख्या के एक बडे भाग की पहुँच से बाहर है।

जहाँ निर्धन अपने बच्चो को प्रारम्भिक शिक्षा देने मे भी समर्थ नही होता, वहाँ एक व्यावसायी अथवा प्रशासक का लडका देश के सर्वोत्तम स्कूलो मे पढने जाता है, सामान्य तरीके से कालिज मे प्रवेश पा लेता है और वर्ष भर मे कालिज मे इतनी धनराशि व्यय कर देता है जो कि देश के एक निपुण श्रमिक की कुल पारिवारिक आय से भी अधिक होती है।

शिक्षा के समान अवसरो के अभाव का अर्थ है कि उन परिवारो के सदस्य, जिनकी *आय तथा शैक्षिक योग्यताएँ कम होती हैं, सामान्यत धन्धो के चुनाव के मामले मे प्रतिबन्धित ही* रहते हैं—अर्थात् यह कि एक क्लर्क का बेटा अधिक से अधिक एक क्लर्क ही बन सकता है और *कुछ नही। एक धनी का लडका अच्छी शिक्षा, सामाजिक आधार तथा अन्य सुविधाओ के कारण* सदा सिविल सेवा तथा विदेशी संस्थाओ मे अधिशासी पदो जैसे ऊँचे धन्धो मे लग जाता है। इस *प्रकार कहा जा सकता है कि आय तथा धन की असमानता ही शिक्षा तथा धन्धो के असमान* अवसरो के लिये जिम्मेवार है और ये अवसर पुन. आय तथा धन की असमानता मे स्थिरता *उत्पन्न करते हैं।*

अन्त मे, पूँजीवादी देश मे आय तथा धन की असमानता आर्थिक तथा राजनैतिक शक्ति को व्यक्तियो के एक छोटे से वर्ग के हाथो मे केन्द्रित करती है और अधिकाश मामलों में तो इसने राजनैतिक लोकतन्त्र का एक मजाक बना कर रख दिया है। समाचार पत्रो, रेडियो तथा प्रचार के अन्य साधनो पर धनी लोगो का ही स्वामित्व तथा नियन्त्रण होता है और इन्ही के द्वारा वे जनमत को प्रभावित करके राजनैतिक शक्ति प्राप्त कर लेते हैं इसके अतिरिक्त, राजनैतिक दलो को चन्दा देकर वे सामान्यतः उन दलो पर अपना नियन्त्रण रखते हैं जो देश मे सत्ता प्राप्त करते हैं। ऐसे दलो की सरकारें जिन नीतियों का अनुसरण करती हैं वे आमतौर पर धन व्यक्तियो द्वारा प्रेरित होती हैं।

निष्कर्ष (Conclusion) :

अध्याय के इस भाग का निष्कर्ष इस प्रकार निकाला जा सकता है कि आय असमानता ने मध्यम एवं श्रमिक वर्ग के लोगो मे आर्थिक असुरक्षा उत्पन्न की है, यह उपभोग के व्यक्तिगत एवं सामाजिक अपव्यय के लिये उत्तरदायी रही है और शैक्षिक अवसरो की असमानता के द्वारा इसने अपने स्थायित्व मे वृद्धि की है। आर्थिक असमानता का एक उल्लेखनीय परिणाम यह होता है कि थोड़े से धनी व्यक्तियों के हाथो मे आर्थिक एव राजनैतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हो जाता है जिसके फलस्वरूप यही लोग देश पर शासन करते हैं, देश की नीति का निर्देशन करते हैं और अपने उद्देश्यों की पूर्ति एव वृद्धि के लिये निर्धनो का शोषण करते हैं। इसी कारण आय की असमानता को पूँजीवाद का सबसे अधिक आपत्तिजनक लक्षण माना जाता है, जिसे या तो पूर्णतया समाप्त करना होगा अथवा उसमे कुछ न कुछ कमी करनी होगी। पिछले १०० वर्षों मे इस सम्बन्ध मे अनेक सुझाव दिये गये हैं जिनमे कुछ सुझावो मे तो पूँजीवादी व्यवस्था जो पूर्णतया समाप्त करने का प्रस्ताव किया गया है और कुछ मे धन तथा आय की असमानताओ को दूर करने की बात कही गई है।

कहना है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि सभी को समान वेतन देने की स्थिति मे उत्पादन घटने *की भविष्यवाणियां सत्य ही सिद्ध होंगी, तो भी समाज लाभ मे ही रहेगा; क्योंकि* सम्पूर्ण उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करना ही है और आर्थिक वस्तुओ की थोडी मात्रा भी यदि अच्छी प्रकार वितरित है, तो वह आसानी से अधिक सन्तुष्टि प्रदान कर सकती है, बमुकाबले उस बडी आय के जो कि कुछ थोडे से हाथो मे ही केन्द्रित होकर रह गई हो।

यह बतलाना तो कठिन है कि ये विरोधी तर्क कहाँ तक ठीक हैं। परन्तु एक बात अवश्य स्पष्ट है और वह यह कि यदि हम उन अन्तरो का विचार करें जो कि परिवारो के आकार तथा उनके उपभोग की आदतों आदि के सम्बन्ध मे लोगो के बीच वर्तमान हैं, तो आमदनियो की पूर्ण समानता को अधिक समय तक बनाये नही रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त, उपादानो (factors) द्वारा उत्पादन-प्रक्रिया मे दिये गये योग के अनुसार यदि उन्हें अदायगियां नहीं की गई तो इस बात की काफी संभावना है कि कुल आय कम हो जायेगी।

(२) आवश्यकता के अनुसार आय (Income According to Need) :

*आय की असमानता की समस्या का अन्य समाधान है आवश्यकता पर आधारित आय-*विभाजन की पद्धति को लागू करना। इस रीति के अनुसार, भोजन वस्त्र, आवास तथा अन्य क्षेत्रो के विशेषज्ञ इस बात का फैसला करते हैं कि समाज के पृथक्-पृथक् व्यक्तियो की उचित आवश्यकताएँ क्या हैं और फिर उन आवश्यकताओ के आधार पर ही आय का वितरण किया जाता है।

मार्क्स (Marx) सबसे पहले लेखक थे जिन्होंने वितरण की रीति का प्रतिपादन किया और इस नारे को लोकप्रिय बनाया कि "प्रत्येक को योग्यता के अनुसार नहीं बल्कि आवश्यकता के अनुसार दो।" अत आवश्यकताओ के अनुसार आय की अदायगी की रीति में यह मान लिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय आय को अधिकतम करने के लिए यथाशक्ति अधिकतम काम करेगा। इस रीति को वितरण की आदर्श पद्धति माना जाता है और वह इसलिये क्योंकि यह एक ओर तो व्यक्तियों पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए अधिकतम योग देने पर जोर देता है और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अधिकतम आवश्यकता के अनुसार आय प्रदान करता है। इस बात पर कोई भी आपत्ति नही कर सकता कि समाज के प्रत्येक सदस्य को इतनी आय प्रदान की जाए जिससे कि वह *अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे समर्थ हो सके।* परन्तु दो ऐसी वास्तविक कठिनाइयाँ हैं जिन्होने कि इस रीति को अव्यवहारिक बना दिया है।

सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि विभिन्न व्यक्तियो की आवश्यकताओं का निर्धारण कैसे किया जाए। जैसाकि हम जानते हैं, आवश्यकताएँ व्यक्तिपरक (subjective) होती हैं और वस्तुपरक रीति (objective manner) से व्यक्तियो की आवश्यकताओ का पता लगाना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। जिन वस्तुओ का संभरण (supply) काफी अधिक होता है उनके बँटवारे के मामले मे तो कोई कठिनाई नही होती। परन्तु जिन वस्तुओ व सेवाओ का संभरण कम होता है जैसे कि मकान, कारें तथा शीत भण्डार आदि, उनके वितरण मे काफी मनमानेपन और उसके फलस्वरूप अन्याय होने की सम्भावना रहती है।

दूसरे, एक समस्या यह होती है कि लोगो को किस प्रकार काम करने को प्रेरित किया जाए ताकि सामाजिक उत्पादन अधिकतम हो सके। वास्तविकता यह है कि आवश्यकता के अनुसार वितरण करने मे उत्पादन की असीमित मात्रा की आवश्यकता होती है, जो कि असंभव

प्राप्त होगी । जो व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए बड़ा परिश्रम करते है, उन्हे जब यह पता लगेगा कि उनका पारिश्रमिक न्यूनतम कुशल, अत्यधिक लापरवाह तथा आलसी श्रमिको से किसी प्रकार भी अधिक नहीं होगा तो वे निश्चय ही स्वयं को कठिन श्रम के कार्यों में नही लगायेंगे । अन्य शब्दो में, आर्थिक लाभ काम करने के लिए बड़ी शक्तिशाली प्रेरणा प्रदान करता है और यदि समान वेतन का नियम लागू करके किये गये काम की परवाह किये बिना ही इसे समाप्त कर दिया गया तो राष्ट्रीय आय घट जायेगी और उसके साथ ही घट जायेगा आर्थिक कल्याण ।

एक अन्य आपत्ति यह की जाती है कि कुछ काम या पद ऐसे हैं जिनके लिए उनसे अधिक वेतन की आवश्यकता होती है जितना कि वितरण की समानता के रूप मे प्राप्त होता है । यहाँ हमारा तात्पर्य ऐसे पदो से है जिनमे बड़े मानसिक श्रम, केन्द्रीयकरण तथा भारी उत्तरदायित्व की आवश्यकता होती है । मन्त्रिमण्डल के स्तर के एक मन्त्री या भारत सरकार के किसी विभाग के इन्चार्ज, सचिव अथवा किसी बड़ी-बड़ी फर्म के उच्च प्रशासनिक अधिकारी को अच्छे भोजन, वस्त्र तथा आवास आदि के रूप में उससे अधिक सुविधाओ की आवश्यकता होती है जितनी कि एक क्लर्क या चपरासी को होती है ।

फिर, आय के वितरण में कठोर समानता अपनाने से विभिन्न धन्धो के बीच दुर्लभ साधनो के बँटवारे मे बड़ी कुरूपता उत्पन्न होगी । सामान्यत. उत्पादन के वे साधन जो दुर्लभ होते हैं और साथ ही साथ जिनकी मांग बहुत अधिक होती है ऊँची कीमतें रखते है । उत्पादन के किसी उपादान की ऊँची कीमत इस बात की सूचक होती है कि उत्पादक उस उपादान का उपयोग सीमित मात्रा मे करेगा और उत्पादन के केवल ऐसे क्षेत्रो मे ही करेगा जहाँ कि उसकी उत्पादकता (productivity) काफी अधिक होगी । परिश्रमिक के अन्तरो के अभाव मे, अवश्य ही कोई अन्य ऐसा उपाय ढूँढना होगा जिससे कि उत्पादन के उपादानो (factors of production) को सबसे अधिक कुशल उपयोग का आश्वासन मिल सके ।

अन्त मे, आय की समानता को स्थायी रूप से नही बनाये रखा जा सकता; हाँ समय-समय पर आय का पुनर्वितरण अवश्य किया जा सकता है । जैसा कि परेटो (Pareto) ने कहा है, "आय की जिन असमानताओं को हम नष्ट कर देते हैं, कुछ समय बाद वे फिर प्रकट हो जाती हैं । समानता यदि बनाये रखी जा सकती है तो केवल थोड़े-थोड़े समय बाद आय का पुनर्वितरण करके ही ।"[2]

परन्तु जो अर्थशास्त्री पूँजीवाद के विरुद्ध समूहवाद (collectivism) का समर्थन करते हैं वे इन आलोचनाओ मे से अनेकों को स्वीकार नही करते । इन लेखकों के अनुसार, ऐसे अनेक व्यवसाय या पद हैं, जैसे कि सैनिक तथा राजनयिक सेवाएँ व सिविल सेवाएँ आदि अनेक अभौतिक लाभ—जैसे कि सत्ता, प्रतिष्ठा तथा समाज को उपयोगी सेवा प्रदान करने की भावना —इस बात के लिए पर्याप्त होते हैं कि लोगो को उत्साह तथा निष्ठा के साथ इन धन्धो को अपनाने के लिए प्रेरित करें । फिर, यह भी सम्भव है कि एक ऐसे समाज मे जहाँ कि असमानता अधिकांशत: दूर कर दी गई हो, लाभ की आर्थिक प्रेरणा निश्चय ही अन्य ऐसी प्रेरणाओ को जन्म देगी जो कि आर्थिक वस्तुओ के लिए समान रूप से उत्पादक सिद्ध हो । अन्त मे, इन लेखको का

2. Quoted by Dalton : *Inequality of Incomes*, "After a short time, the inequalities, which had been destroyed, would reappear. Equality could only be maintained by periodic redistributions at short intervals

की कार्यात्मक व्यवस्था का प्रत्यक्ष परिणाम है। नरमपंथी अथवा अनुगुतावादी कार्यक्रम मे उन सभी कारणो को दूर करने की व्यवस्था की जाती है जो कि आय की असमानताओ को उत्पन्न करते हैं अथवा उनमें वृद्धि करते हैं और एक ऐसी अर्थव्यवस्था को करने का प्रयत्न किया जाता है जहाँ कि आय की समानता यदि पूर्णरूप मे नही, तो सापेक्षिक रूप मे अवश्य वर्तमान हो। नरमपथी कार्यक्रम काफी मात्रा मे सरकारी हस्तक्षेप तथा मार्ग दर्शन पर विश्वास करता है और विशेष रूप से इस बात पर कि सरकार एक ओर तो ऊँची आमदनियो को कम करने लिए तथा दूसरी ओर नीची आमदनियो को बढाने के लिए राजकोषीय नीति का उपयोग करे।

(क) अवसरों को समानता (Equality of Opportunities) ·

वास्तविकता यह है कि न तो हम आय की पूर्ण समानता ही ला सकते हैं और न आय तथा धन की वर्तमान मे प्रचलित भारी असमानताओ को ही जारी रहने दिया जा सकता है। आय की सापेक्षिक समानता (relative equality) की पहली पूर्वशर्त है अवसरो की समानता। इससे हमारा आशय यह है कि देश के प्रत्येक बच्चे का यह अधिकार है कि उसे भोजन मिले, वस्त्र मिले तथा शिक्षा मिले। कोई परवाह नही, चाहे उसके माता पिता कि आर्थिक दशा कैसी ही क्यों न हो, और प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसने किसी जाति या परिवार मे जन्म लिया हो, वह कोई सा भी धन्धा करता हो, उसकी सामाजिक स्थिति कैसी भी हो, उसे कागजो रूप मे नही बल्कि यथार्थ रूप मे ऐसे समान अवसर प्राप्त हो जिनमे वह अपने शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक गुणो एवं क्षमताओ का पूर्ण उपयोग कर सके। अवसरो की समानता के मार्ग मे कुछ बाधाएँ अवश्य आती हैं और उन बाधाओ को राज्य द्वारा दूर किया जाना चाहिए। सबसे बड़ी बाधा है निजी सम्पत्ति की विद्यमानता जो कि उत्तराधिकार प्रथा के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी (generation) को हस्तान्तरित कर दी जाती है। अन्य कठिनाई यह है कि कुछ कार्यों के लिए तो बहुत ऊँची मजदूरियाँ तथा वेतन दिये जाते हैं जबकि कुछ अन्य कार्यों के लिए बहुत थोड़े। सभी को समान अवसर प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार इन बाधाओ को दूर करे।

जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, बढते हुए भूमि के मूल्यो के द्वारा, वास्तविक सम्पत्ति के सट्टे द्वारा, और अत्यधिक तथा अनर्जित लाभो के द्वारा बडी-बडी सम्पत्तियाँ तथा बडे-बडे विशाल धन एकत्र कर लिये जाते हैं। स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था मे भूमि का किराया महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है जिसके अन्तर्गत यह सबसे अधिक उत्पादक उपयोगो मे भूमि का बँटवारा करने मे सहायता करता है। परन्तु नये तथा पुराने दोनो ही प्रकार के देशो मे बडी-बडी सम्पत्तियो (large fortunes) का सग्रह कुछ थोडे से ही ऐसे भू-स्वामियो द्वारा किया गया है जिन्होंने कि उसे प्राप्त करने के लिए कुछ भी श्रम नहीं किया। भूमि का किराया भू-स्वामियो के लिए अनर्जित आय है और शहरी मकानो के स्थानो की स्थिति में यह अनर्जित तत्व विशेष रूप से स्पष्ट हो होता है। "Progress and Poverty" नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मे हेनरी जार्ज ने सभी करों को समाप्त कर केवल एक कर लगाने की वकालत की—एक ऐसा कर जो कि भूमि के किराये को भू-स्वामियों के पास से सरकार के पास को स्थानान्तरित कर दे और सरकार समाज के लाभ के लिए उसका उपयोग कर सके। इस सुझाव मे जहाँ अनेक गुण हैं वहाँ अनेक दोष भी हैं। वास्तविकता यह है कि कभी भी इसको गम्भीरता से लागू ही नही किया गया। परन्तु अनेक नरपंमथी अर्थशास्त्री एक ऐसे कर को लगाने का समर्थन अवश्य करते हैं अर्थात् ऐसा अनर्जित वृद्धि कर (unearned increment tax) जो कि भूमि के मूल्यों की भावी वृद्धि पर पड़े। समाज की प्रगति तथा अन्य कारणो के साथ ही साथ, भूमि का किराया देने की क्षमता भी बढ जाती है और वार्षिक अथवा सर्वाधिक कर लगा कर इस अनर्जित वृद्धि को सरकार द्वारा लिया जा सकता है।

है। लोगों से यह आशा करना बड़ा कठिन है कि वे समाज को अपना अधिकतम योग देंगे जब तक कि समाज उनको आवश्यक प्रेरणाएँ न दे। इसके अतिरिक्त, जब प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का आश्वासन मिल जायेगा तो उसकी सभी आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जायेंगी तो अधिक नही तो थोड़े लोग अवश्य ऐसे होंगे जो उत्पादन के सम्बन्ध मे समाज के प्रति अपने दायित्वो को पूरा करने की चिन्ता नही करेंगे।

इस प्रकार, आवश्यकताओं पर आधारित वितरण का सिद्धान्त यद्यपि एक आदर्श सिद्धान्त है किन्तु प्रयोगात्मक दृष्टि से यह व्यावहारिक नही है।

ऊपर बताये गये सिद्धान्तों के अलावा, वितरण के दो सिद्धान्त और हैं। वे हैं : किये गये त्याग के अनुसार आय और सामाजिक उपयोगिता के अनुसार आय। इन सिद्धान्तो मे तो वे प्रकट गुण भी नही पाये जाते जो कि अन्य रीतियो मे पाये जाते हैं। अतः उनसे आय की असमानताएँ क्या दूर होंगी और उनकी उत्पत्ति एवं स्थिरता को बढ़ावा मिलेगा।

मार्क्सवादी समाजवाद के समर्थकों द्वारा आय के कार्यानुसार वितरण की वर्तमान पद्धति मे दोष निकालना तथा उसे इस आधार पर रद्द करना ठीक ही सकता है कि यह आय की सम्पूर्ण असमानताओं के लिए उत्तरदायी है। परन्तु वे आय के वितरण का कोई ऐसा तरीका बताने मे असफल रहे जो कि किसी देश मे आय की पूर्ण समानता उत्पन्न कर दे। अतः नरम पंथी (moderates) इतना आगे नही जाते और वे वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को रद्द करने तथा अन्य किसी वैकल्पिक व्यवस्था को लागू करने की बात नही सोचते; बल्कि वे प्रचलित व्यवस्था के ही उन सभी अवाञ्छनीय तत्वो को दूर करने का प्रयत्न करते हैं जो कि आय की सम्पूर्ण असमानता के लिए उत्तरदायी रहे हैं। वे इस बात मे विश्वास नही करते कि किसी भी समय पूर्ण समानता संभव है। वे तो अधिक समान समाज की स्थापना के लिए कार्य करते है।

(३) साधारण अथवा नरमपंथी कार्यक्रम (Moderate Programme) :

साम्यवादी लेखक जहां वितरण की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को रद्द करने की बात कहते हैं, वहाँ नरमपंथी लेखक वर्तमान व्यवस्था एवं उसके लाभो के समर्थन से आरम्भ करते हैं। आय के विभाजन की वर्तमान व्यवस्था चूँकि उत्पादन के उपादानो की सीमान्त उत्पादकता के अनुसार आय का विभाजन करती है अतः इसके तीन महत्वपूर्ण गुण हैं। सर्वप्रथम, इस व्यवस्था मे उत्पादन के उन उपादानो की कीमतें तो ऊँची रहती हैं जो कि दुर्लभ होते हैं और उनकी नीची जो बहुतायत में होते हैं। इससे दुर्लभ साधनो के संभरण मे तो वृद्धि होने लगती है और बहुतायत वाले साधनो के संभरण मे कमी। दूसरे, उत्पादन के साधनो की दुर्लभता के अनुसार कीमतो का निर्धारण करके यह व्यवस्था उनके उपयोग मे मितव्ययता लाती है और अपव्यय को रोकती है। तीसरे, अतिरिक्त लाभो के द्वारा, जो कि उद्योग के गतिशील परिवर्तनो के अनुसार घटते बढ़ते रहते हैं, यह व्यवस्था उद्यमकर्ता के सन्मुख यह सम्भावना प्रस्तुत करती है कि यदि वह व्यवसाय का कुशलता से संचालन करेगा तो उसे बड़ी मात्रा मे लाभ प्राप्त हो सकते हैं और अकुशलता की स्थिति मे हानियो के रूप मे वह दण्डित भी हो सकता है। यह व्यवस्था उसको इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह अपने व्यवसाय की बड़ी सावधानी से देखभाल व व्यवस्था करे, उत्पादन लागत को कम रखें, अपव्यय को रोके, उन वस्तुओं का उत्पादन करे जिन्हें उपभोक्ताओं का समर्थन प्राप्त हो और सामान्य उत्पादिता मे वृद्धि करे।

उत्पादिता के अनुसार आय का विभाजन की वर्तमान व्यवस्था के इन ठोस लाभो के विरुद्ध, हमे आय की असमानता की उस बड़ी बुराई को भी दृष्टिगत रखना होगा जो कि वितरण

कर (जिसे कि आस्ति-कर कहा जाता है) और दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति को उत्तराधिकार मे प्राप्त भाग पर कर (जैसे उत्तराधिकार कर कहा जाता है)। मृत्यु करो को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इन करो द्वारा व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी सम्पदा का काफी भाग ले लिया जाय और सीधे उत्तराधिकारियो के लिये बहुत थोड़ा ही शेष छोडा जाय तथा इस प्रकार व्यक्तियो के उपभोग के लिये धन के संग्रह को रोका जाय। मृत्यु करो को एक स्वर से सभी अर्थशास्त्रियो का समर्थन प्राप्त हुआ है। इस कारण यह है कि ये कर धन की बढती हुई असमानता की प्रवृत्ति पर रोक लगाते हैं, बडी-बडी सम्पत्तियो को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जाने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, माता-पिता की मोहान्धता एवं अनुचित लाड-प्रदर्शन से बच्चो की रक्षा करते हैं और राज्य को इस योग्य बनाते हैं कि वह प्रत्येक व्यक्ति के धन-संग्रह मे से कुछ भाग प्राप्त कर सके। राज वित्त के दृष्टि-कोण से इन करो मे एक अच्छे कर की बातें निहित हैं। परन्तु उत्तराधिकार करो के आलोचको का यह कहना है कि ऐसे कर निजी सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकार मे हस्तक्षेप करते हैं तथा व्यक्ति की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं और इसके द्वारा पूँजी-निर्माण तथा राष्ट्रीय आय दोनो पर ही प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। परन्तु इन आलोचनाओं मे कोई जान नही है। एक तो इसलिये, क्योकि निजी सम्पत्ति के तथाकथित "प्राकृतिक" अधिकार को कल्याणकारी राज्यो मे कोई मान्यता नही दी जाती है। निजी सम्पत्ति को केवल कुछ सीमाओ के अन्दर तथा कुछ निश्चित दायित्वो एवं अधिकारो के साथ ही स्वीकार किया जाता है। वास्तव मे, निजी सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार की पद्धति को पूर्णतया समाप्त नही किया जाना चाहिये। किसी भी व्यक्ति को इस बात की अनुमति होनी चाहिये कि वह अपने आश्रितों (dependents) की उचित एवं न्यायपूर्ण आवश्यकताओं की व्यवस्था कर सके। प्रत्येक व्यक्ति का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने जीवन-काल मे अपनी पत्नी तथा अपने बच्चो की देखभाल व उनका पालन-पोषण करे। इस स्थिति मे यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है कि वह अपने बच्चो की शिक्षा के लिये तथा आराम से उनका पोषण करने के लिये यथेष्ट मात्रा मे धन छोड जाए। परन्तु इस सीमा से अधिक उत्तराधिकार के रूप मे कुछ भी छोडने को न्यायोचित नही कहा जा सकता। दूसरे, यह बात भी अभी अन्तिम रूप से सिद्ध नही हो सकी है कि उत्तराधिकार कर धनी लोगों को आय तथा धन का अपव्यय करने तथा इधर-उधर खर्च करने को प्रोत्साहित करते हैं और वे पहले से कम मितव्ययी हो जाते हैं तथा कम बचाते है क्योकि वे जानते हैं कि उनकी मृत्यु के समय उनकी जायदाद या सम्पदा भारी कर लगाकर ले ली जायेगी। फिर, उत्तराधिकार-करो के कारण धनी लोगों द्वारा पूँजी का निर्माण करने पर जो प्रतिकूल प्रभाव पडेगा उसकी उससे भी अधिक पूर्ति तब हो जायेगी जबकि सरकार द्वारा स्वय पूँजी का निर्माण किया जायेगा।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यदि उत्तराधिकार करो से धन की असमानताओ को कम करना है तो ये कर अत्यधिक आरोही (highly progressive) होने चाहिये। अन्य शब्दो मे, कर की दरो में तेजी से वृद्धि होनी चाहिये ताकि छोटी-छोटी सम्पत्तियाँ तो पूर्णतया कर-मुक्त हो जाएँ और बड़ी-बड़ी सम्पत्तियो पर अधिकाधिक ऊँची दरो से कर लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त उत्तराधिकारियो के सम्बन्धों की दूरी के साथ ही साथ कर की दर भी बढ़नी चाहिये। ऐसे तीन तरीके हैं जिनके द्वारा उत्तराधिकार कर किसी भी देश में आय की असमानता को कम करते हैं। सर्वप्रथम, चूँकि बड़ी-बड़ी सम्पत्तियो का संग्रह कम हो जाता है अतः ऊँची आमदनियाँ कम हो जाती हैं। दूसरे, निर्धनो पर कर का भार इस सीमा तक कम हो जाता है कि करो का भारी बोझ धनियो पर डाला जाता है। अन्त में, सरकार के राजस्व मे वृद्धि होनी है जिसका उपयोग निर्धनो तथा मध्यम वर्ग के लोगो के लिये वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन करने मे तथा

ऐसा कर भूमि के वर्तमान मूल्य मे तथा उससे प्राप्त होने वाली आय मे कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा।

विशाल सम्पत्तियो के संग्रह का अन्य तथा अधिक महत्वपूर्ण स्रोत है व्यावसायिक लाभ। अतः नरमपंथी कार्यक्रम मे कुछ ऐसे प्रस्ताव सम्मिलित किये गये हैं जो व्यावसायिक लाभों में से अनार्जित तत्वों की समाप्त करें और अत्याधिक बड़े आकार के लाभो मे कटौती करें। जैसा कि हम जानते हैं लाभ को कुछ महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने होते है। यह व्यावसायियो को व्यवसाय की जोखिम उठाने के लिए आवश्यक प्रेरणा प्रदान करता है। कार्यकुशलता तथा औद्योगिक सफलता का भी प्रेरक होता है। इस बात की कोई सीमा नहीं है कि एक योग्य व्यवसायी कहाँ तक लाभोपार्जन कर सकता है बशर्ते कि भाग्य उसका साथ दे और यह संभावना निःसन्देह अनेक व्यक्तियो को साहसिक क्रियाएँ करने का प्रोत्साहन देती है। परन्तु प्रदान की गई सेवा की मात्रा तथा प्राप्त लाभो की मात्रा के बीच कोई सह-सम्बन्ध (correlation) हो ही, यह आवश्यक नहीं है। ऐसे उदाहरणो मे जहाँ कि लाभ एकाधिकारी नियन्त्रण और उपज को सीमित कर देने के कारण होते है, या वित्तीय सट्टेबाजी तथा धोखेबाजो की चालाकी से पूर्ण कार्यवाहियो के कारण होते हैं अथवा जहाँ रद्दी अथवा मिलावटी माल को अच्छे माल के रूप मे जनता पर थोप कर प्राप्त किये जाते है, वहाँ लाभ कार्यकुशलता को कोई प्रेरणा प्रदान नहीं करते और न ही उनका सम्बन्ध समाज को प्रदान की जाने वाली किसी सेवा से ही होता है। इस प्रकार के सभी लाभ अनार्जित आय की प्रकृति के होते हैं। जो लोग आय की असमानताओ को कम करने की वकालत करते हैं वे यह सुझाव देते हैं कि सरकार को ऐसे उपाय खोजने चाहिए कि जिनसे लाभो मे विद्यमान अनार्जित तत्व कम हो सके। एक उपाय, जिसे अनेक सरकारें अपनाती है, यह है कि व्यावसायिक उद्यमो के अतिरिक्त लाभो पर कर लगाये जाएँ। दूसरा उपाय यह है कि व्यावसायिक गति विधि को स्थिर रखने के लिए लगातार पग उठाये जाएँ—ऐसे पग जो माँग, संभरण तथा कीमतो को स्थिर करें और ऐसी स्थिरीकरण करके अत्यधिक लाभो को तथा साथ ही हानियो को भी कम किया जाए। अन्त मे, अनेक अनुचित व अवैधानिक कार्यवाहियाँ, जिनसे कि बडी-बडी सम्पत्तियों का सग्रह होता है जैसा कि वित्तीय सट्टेबाजी तथा मिलावटी व बेकार वस्तुओ का उत्पादन आदि—स्वय व्यवसायियो द्वारा ही दूर की जाएँ। हाँ, विशेष कानून बनाकर सरकार भी उन पर आवश्यक नियन्त्रण लगा सकती है।

इस प्रकार, नरमपंथी कार्यक्रम का उद्देश्य उन अनार्जित आमदनियों को कम या समाप्त करना है जो कि भूमि के किरायो तथा व्यावसायिक लाभो मे निहित होती है क्योंकि यही दो ऐसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं जिनसे कि बडी-बडी आमदनियो की उत्पत्ति होती है। अनार्जित आय को कम करके बडी-बडी सम्पत्तियों की वृद्धि को रोकना सम्भव हो सकता है।

(ख) उत्तराधिकार पर प्रतिबन्ध (Restriction on Inheritance) :

अवसरो की समानता लाने के लिए, न केवल बडी-बड़ी सम्पत्तियों को अस्तित्व मे आने से रोकना ही जरूरी है बल्कि यह भी आवश्यक है जो विशाल धन एवं बडी-बडी सम्पत्तियो का सग्रह पहले से विद्यमान है उसे भी समाप्त किया जाए। हम जानते हैं कि उत्तराधिकार प्रथा के अन्तर्गत सम्पत्ति बाप से बेटे को स्थानान्तरित की जाती है। अतः यह प्रथा असमानता को और स्थायी बनाती है। इस बुराई को दूर करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि उत्तराधिकार कर लगाया जाय। ऐसे कर दो प्रकार के होते हैं जो कि स्वामी की मृत्यु होने पर सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाये जाते हैं अर्थात् उत्तराधिकारी को हस्तान्तरण किये जाने से पूर्व कुल जायदाद पर

ग्लेडस्टोन (Gladstone) के समय से ही, अनेक लोगों का यह विश्वास रहा है कि प्रत्यक्ष एवं परोक्ष करों के बीच सन्तुलन कायम होना चाहिए और यह सन्तुलन पचास पचास के आधार पर होना चाहिए। परन्तु दोनों के बीच किसी भी विशिष्ट सन्तुलन की कोई विशेष महत्ता नहीं है। यह तो निश्चित है कि प्रत्यक्ष कर परोक्ष करों के मुकाबले श्रेष्ठ होते हैं विशेष रूप से तब, जबकि सामान्य जनता राजनैतिक दृष्टि से जागृत हो और जबकि हम यह मानें कि प्रत्यक्ष कर आरोही होते हैं और परोक्ष कर अवरोही। एक समय था जबकि परोक्ष करों के अनुपात में क्रमश गिरावट की प्रवृत्ति पाई जाती थी। परन्तु यदि देश की जनता अधिकाशतया गरीब है और उसमें नागरिकता जागरण भी अधिक नहीं है तो परोक्ष कर ही अनिवार्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, आधुनिक सरकारों को प्रतिरक्षा (defence) तथा राष्ट्र निर्माण कार्यों के लिए इतने अधिक धन की आवश्यकता होती है कि सभी प्रकार के करों का लगाना आवश्यक हो जाता है। एक कम विकसित देश के सामने में, जैसा कि आगे बताया गया है, कम से कम विकास के प्रारम्भिक चरणों में तो परोक्ष कराधान प्रमुख स्थान पाता ही है।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में परोक्ष कराधान का योग
(Role of Indirect Taxation in an Underdeveloped Economy)

परोक्ष कराधान अथवा वस्तु कराधान अल्पविकसित देशों की वित्तव्यवस्था में महत्वपूर्ण भाग अदा करता है परन्तु परोक्ष करों को लागू करने का उद्देश्य भी वही होता है जो कि प्रत्यक्ष करों का होता है। यह सरकारी विनियोग (public investment) के साधनों की प्राप्ति में, उपभोग में कटौती कराकर देश में विनियोग की दर को बढ़ाने में तथा वृद्धिशील बचत-अनुपात की प्राप्ति में सहायता करता है। वस्तु कर जो महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं उसको कई बातों के आधार पर उचित ठहराया जा सकता है।

एक औचित्य (justification) तो यह है कि एक अल्पविकसित देश में आय तथा रहन सहन के नीचे स्तरों के कारण आय तथा धन पर प्रत्यक्ष करों का क्षेत्र सीमित होता है। इस स्थिति में, सरकार को अधिकाधिक साधनों की प्राप्ति कराधान की किसी वैकल्पिक व्यवस्था अर्थात् वस्तु कराधान से ही हो सकती है। व्यापक रूप से उपभोग की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये गये करों को जिस आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है, वह यही है कि ऐसे करों से कम से कम अनिवार्य सरकारी सेवाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए तो साधन प्राप्त हो ही जाते हैं। यही नहीं, राजकोषीय विद्वान यह भी तर्क देते हैं कि परोक्ष करों को समता एव आरोहण (progression) की विचारधाराओं के अनुरूप भी बनाया जा सकता है। यदि निम्न आय वाले वर्गों द्वारा सामान्य रूप से उपभोग की जाने वाली वस्तुओं के मुकाबले विलासिता की वस्तुओं पर करों को प्रमुखता दी जाए और यदि विलासिता की वस्तुओं पर ऊँची दरों से तथा सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर नीची दरों से कर लगाये जाएँ तो परोक्ष कराधान समता एव न्याय के सिद्धान्त को भी सन्तुष्ट कर सकेगा तथा इस प्रकार उसमें आरोहण का तत्व भी सम्मिलित हो सकेगा।

तथापि, परोक्ष कराधान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण औचित्य आर्थिक विकास की तीव्रता के आधार का दिया जा सकता है। यहाँ वस्तु करों का उचित योगदान यह होता है कि ये उपभोग की सम्भावित वृद्धि में कटौती करते हैं (वर्तमान उपभोग की कटौती नहीं करते)। एक अल्पविकसित देश में, चूँकि लोगों की आय तथा उनके रहन-सहन का स्तर नीचा होता है अत उनमें प्रत्येक इकाई के लिए सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) पाई जाती है (अर्थात् यह कि प्राप्त की हुई अतिरिक्त आय की प्रत्येक इकाई उपभोग पर खर्च कर दी जाती है)। विकास योजनाओं के कारण राष्ट्रीय आय में जो वृद्धि होती है उसके साथ ही साथ निम्न आय वाले वर्गों के उपभोग में भी लगभग उतनी ही वृद्धि होने लगती है जितनी कि उनकी आय बढ़ती है। अत यदि इस अतिरिक्त उपभोग (additional consumption) को न रोका गया तो उत्पादन में होने वाली वृद्धि पूर्णतया इस बढ़े हुए उपभोग द्वारा ही खपा ली जायेगी। इस स्थिति में वस्तु कराधान बड़ा प्रभावपूर्ण असर डाल सकता है। यह उपभोग में होने वाली वृद्धि को रोक सकता है इस बात में मदद कर सकता है कि बढ़ी हुई आय का कुछ भाग विनियोग

उनके लिए अधिक वस्तुऐं उपलब्ध कराने मे किया जा सकता है। समय बीतने पर अर्थात् कुछ दशाब्दियों (decades) या अधिक से अधिक एक शताब्दी (century) के बाद, नगरो की सभी भूमियाँ सरकार के हाथों मे आ जायेंगी जो कि सबसे अधिक बोली लगाने वालो को किराये पर दे देगी और इस प्रकार राज्य के लिये एक बडी तथा स्थायी आय प्राप्त कर सकेगी।

(ग) आय कर (Income Taxes) :

उत्तराधिकार कर उन असमानताओ को दूर करने का प्रयास करते हैं जो कि सम्पत्ति के कारण उत्पन्न होती हैं। परन्तु असमानताएँ पारिश्रमिक के अन्तरो के कारण भी उत्पन्न होती हैं। कुछ कार्य या पद ऐसे हैं जिन पर ऊँचे वेतन प्राप्त होते हैं। आय-कर इन ऊँची आमदनियो को कम करने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार आय का अधिक समानीकरण करते हैं। एक अत्यधिक आरोही आय-कर को यदि समुचित रूप से लागू किया जाय तो वह थोड़े समय मे ही असमानताओं को दूर करने मे समर्थ हो सकता है। आय-कर अत्यधिक आरोही होने चाहिये अर्थात् ये छोटी आमदनियो को या तो कर-मुक्त कर दें या उनसे थोडा भाग ही कर के रूप मे ले, और लाखों-करोडो की आय पर इनका अधिक बोझ पडे। इसके अतिरिक्त, आय-कर दरो की अनुसूचियाँ इस प्रकार से व्यवस्थित होनी चाहिये कि "अनार्जित आमदनियो" पर विशेष रूप से भारी बोझ पडे—अर्थात् वे आमदनियाँ जो कि सम्पत्ति के स्वामित्व से प्राप्त हो—और मजदूरियो व वेतनो के साथ अधिक उदारता का व्यवहार किया जाय। सभी देशो मे आय-करों का अधिकाधिक उपयोग केवल इसलिये ही नही किया गया है क्योकि ये राज्य को राजस्व प्रदान करते हैं बल्कि इसलिये भी क्योकि ये आय की असमानता की समस्या का समाधान करते हैं, तथापि, हमे यह बात भी दृष्टि से ओझल नहीं करनी चाहिये कि आय-कर असमानता के लक्षणो का तो इलाज करते हैं किन्तु उसके कारणो को दूर नही करते। अधिक मौलिक पग तो यह होगा कि बडी आमदनियो की उत्पत्ति को ही रोका जाय।

आय के कराधान के विरोध मे एक प्रमुख आलोचना यह की जाती है कि ये कर काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं और इसके द्वारा देश मे आय के उत्पादन को प्रभावित करते हैं। किसी व्यक्ति की काम करने की योग्यता उस आय पर निर्भर होती है जो कि वह कमा सकता है और अपने तथा अपने परिवार के भोजन, वस्त्र, आवास तथा विशेष रूप से शिक्षा पर खर्च कर सकता है। किसी निर्धारित आय से सरकार कर के रूप मे जितने ही बड़े-बडे टुकडे लेने मे समर्थ होती है, व्यक्ति को भोजन, वस्त्र व शिक्षा आदि पर आवश्यक व्यय करने के लिए उतनी ही कम आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, बचत करने तथा पूँजी का संग्रह करने की योग्यता, अन्य बातो के अलावा, अर्जित आय की मात्रा पर भी निर्भर होती है। आय की मात्रा जितनी अधिक होगी। उस आय में से बचत करने की सामर्थ भी उतनी ही अधिक होगी। वास्तव मे, स्वतन्त्र देशो मे, पूंजी का निर्माण सदा ही बडी आय कमाने वाले कुछ थोड़े से व्यक्तियो से हुआ करता है और काम करने, बचत करने तथा निवेश करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव पडने के फलस्वरूप, उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय मे कमी हो जायेगी और उसके साथ कम ही जायेगा आर्थिक कल्याण। यह एक बडी गम्भीर आलोचना है। परन्तु उत्तराधिकार करों के विरुद्ध पहले की गई ऐसी ही आलोचना का जो उत्तर हमने दिया है, वही इस आलोचना का भी उत्तर है। सर्वप्रथम, काम करने की योग्यता पर जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, उसकी क्षति-पूर्ति सरकार द्वारा निर्धन तथा मध्यमवर्गों के लोगो पर किये जाने वाले उस खर्च से हो जायेगी जो उनके आय तथा उपभोग स्तरो को ऊँचा उठाने के लिए तथा उनके लिए अच्छे आवास तथा अच्छी शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए किये जाते हैं। दूसरे, कुछ थोड़े से धनी व्यक्तियो द्वारा

पूँजी का निर्माण किया जाने पर जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ेंगे उनकी पूर्ति उससे भी अधिक मात्रा में मध्यम तथा श्रमिक वर्गों की बचत करने की बढ़ी हुई योग्यता से हो जायेगी। तृतीय, सरकार स्वयं भी पूँजी-निर्माण का एक मुख्य स्रोत होगी क्योंकि वह कर-प्राप्तियों का एक भाग अवश्य ही उद्योगो मे तथा परिवहन व संचार साधनो आदि मे निवेश करेगी। इस प्रकार, उत्तराधिकार तथा आय-करो के आलोचक जब इन करो की बुराइयों का विश्लेषण करते हैं तो वे सरकारी खर्च के आर्थिक लाभो पर विचार करना बिल्कुल भूल जाते हैं। इस बात से तो कोई इन्कार नही करेगा कि करदाताओ से जो कर लिये जाते हैं वे उन पर एक भार होते हैं और उत्पादन-क्षमता पर उनका प्रतिकूल प्रभाव पडता है। परन्तु इन करो से प्राप्त आय राष्ट्रनिर्माण के कार्यों मे लगायी जा सकती है, व्यावसायिक क्रियाओ मे वृद्धि करने तथा उनके उतार-चढ़ावो को रोकने में लगाई जा सकती है और इस प्रकार राष्ट्रीय आय की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव तो केवल उसी स्थिति मे पडता है जबकि करो से प्राप्त सरकारी आय को सेना तथा विशाल पुलिस दल के निर्माण व रखरखाव मे बेकार खर्च कर दिया जाता है।

(घ) मजदूरियों का स्तर ऊँचा उठाने के लिए कार्यवाही (Measure to Raise the Level of wages) :

जहाँ बडी-बडी सम्पत्तियो का सग्रह भूमि के किरायो तथा व्यावसायिक लाभो का परिणाम है, वहाँ कम आमदनियो का कारण नीची मजदूरियाँ भी हैं। निम्न मजदूरियो के अलावा, निर्धनता का आंशिक कारण तो कुछ ऐसी आपत्तियाँ हैं जैसे कि बेरोजगारी, बीमारी, वृद्धावस्था तथा दुर्घटनाएँ आदि, और आंशिक कारण है अज्ञानता तथा आय का अबुद्धिमत्ता पूर्ण उपयोग। अतः कानून द्वारा न्यूनतम मजदूरियाँ निश्चित करके, श्रमिक सघो को उचित बढ़ावा देकर और श्रम की पूर्ति को नियन्त्रित करके मजदूरियो मे वृद्धि करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, लगभग सभी कल्याणकारी राज्यो ने बेरोजगारी, बीमारी दुर्घटनाएँ तथा वृद्धावस्था जैसे सकटो का सामना करने के लिए सामाजिक बीमे की पद्धति की व्यवस्था की है। यही नही, सरकार द्वारा बेरोजगारी को कम करने के लिए अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ भी की जानी चाहिए, जैसे कि सरकारी रोजगार कार्यालयो की व्यापक राष्ट्रीय व्यवस्था करके, मन्दीकाल मे सार्वजनिक निर्माण कार्यों की व्यवस्था करके, बेरोजगारो को खपाने के लिए सरकारी खर्च का व्यापक कार्यक्रम लागू करके तथा उपज की गारन्टी शुदा बिक्री की व्यवस्था करके आदि। इन सब कार्यवाहियो से भी बढकर, शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए और शिक्षा भी दोनो प्रकार की—सामान्य भी तथा तकनीकी भी। इससे एक ओर तो अज्ञानता तथा अन्धविश्वास कम होंगे, दूसरी ओर श्रमिक अधिक आयोपार्जन करने मे समर्थन होगे। ये सभी कार्यवाहियाँ निर्धनता के कारणो को दूर करेंगी और आय की असमानताओ को कम करेंगी।

(ङ) समाज सेवाओं का विस्तार (Extension of Social Services) :

प्रत्येक सरकार को अपने साधनो का एक अच्छा भाग सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था एवं उनका विस्तार करने मे लगाना चाहिए। इन सेवाओ मे जो कार्य सम्मिलित हैं उनमें ये मुख्य हैं बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के संकटो का सामना करने के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ (Social Security Schemes) तथा कुछ ऐसी सेवाओं की व्यवस्था जैसे कि चिकित्सा व अस्पताल सेवाएँ, कम आय वालो के लिए निःशुल्क अथवा सहायता प्राप्त आवास व्यवस्था, सभी के लिए नि.शुल्क शिक्षा की व्यवस्था जिसमे निःशुल्क ट्यूशन फीस तथा किताबों के लिए नकद सहायता आदि सम्मिलित हैं। कुछ इक्के-दुक्के मामलो को छोडकर, सरकार को कभी भी नकद अदायगियाँ नहीं करनी चाहिए क्योंकि नकद रकमो को तो लोग व्यर्थ ही खर्च कर देते हैं। यहाँ

समानता दो प्रकार से लाई जाती है। एक ओर तो, करों के माध्यम से धनी लोगों से उनकी फालतू आय ले ली जाती है और दूसरी ओर समाज सेवाओं की व्यवस्था के माध्यम से इन करों के लाभ निर्धनों तथा निम्न आय वाले वर्गों को पहुंचाये जाते हैं।

इस प्रकार, नरमपंथी अथवा अनुग्रतावादी कार्य मे जहां एक ओर ऊँची आमदनियों को करने के लिए कर सम्बन्धी कार्यवाहियाँ की जाती हैं, वहां दूसरी ओर निम्न आय वाले वर्गों की आय मे वृद्धि करने के लिए अन्य कार्यवाहियाँ भी की जाती है। सभी समाजवादी देशों मे ऐसे कार्यक्रम चालू किये गये हैं और इंगलैण्ड जैसे देशो मे तो काफी मात्रा मे सफलता भी प्राप्त की गई है। अनुग्रतावादी कार्यक्रम इस मान्यता पर आधारित है कि आय की पूर्ण तथा निरपेक्ष समानता लाना सम्भव नही है, हां कराधान तथा सरकारी खर्च की राजकोषीय नीति के द्वारा सापेक्षिक समानता (relative equality) अवश्य लाई जा सकती है।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. Dalton : Inequality of Incomes.
2. Taussig : Principles of Economics, Vol II
3. Bye and Hewett : Applied Economics, Chapters 21 to 23.

UNIVERSITY QUESTIONS.

१ आय की असमानताओ के क्या कारण है ? आय की असमानता के कारणो की विवेचना कीजिए।

What are the causes of inequality of incomes ? Discuss the consequences of inequality of incomes

२. आय की असमानता क्यो होती है ? आय की असमानता मे कमी करने की विधियों का वर्णन कीजिए।

What there is inequality of income ? Describe the methods of reducing inequality of incomes

सरकारी उद्यम अथवा लोक उपक्रम
(Public Enterprises)

प्रारम्भिक—(Introduction) :

उद्योगो का सरकारी सचालन ऐसी अर्थव्यवस्थाओ के लिए भी कोई नई बात नही है जो कि मुख्यतः स्वतन्त्र उद्यमो पर आधारित होती हैं। डाक, तार तथा टेलीफोन जैसे कुछ उद्यम ऐसे हैं जो सभी देशो मे सदा राज्य द्वारा ही संचालित किये जाते हैं। नगरपालिकाओ तथा अन्य स्थानीय निकायो द्वारा जल, गैस तथा बिजली आदि की पूर्ति की व्यवस्था करना कोई असाधारण बात नही है। अभी हाल की कुछ दशाब्दियो मे, कुछ देशो मे सरकारी क्षेत्र (public sector) का और भी विस्तार हुआ है। बहुत से देशो मे अनेक ऐसे जनोपयोगी उद्यमो का राष्ट्रीयकरण किया गया है जैसे कि—रेलवे, खान जैसे राष्ट्रीय महत्व के कुछ उद्योग, मूलभूत तथा आधारभूत उद्योग आदि। ब्रिटेन मे, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मजदूर-दलीय सरकार के अन्तर्गत सरकारी क्षेत्र का काफी विस्तार किया गया और यद्यपि सन् १९५२ मे अनुदारदलीय सरकार द्वारा लोहा व इस्पात उद्योग का पुनः अराष्ट्रीयकरण (denationalisation) कर दिया गया, फिर राष्ट्रीयकरणकृत क्षेत्र अभी तक देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था का एक बडा भाग बना हुआ है। भारत मे जब से आर्थिक नियोजन का सिलसिला आरम्भ हुआ है तब से इस देश मे भी सरकारी क्षेत्र का तेजी से विस्तार हुआ है। जहां कुछ पुराने उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया गया है, वहां अनेक नये उद्योग भी सरकारी क्षेत्र के लिए ही सुरक्षित कर दिये गये हैं। ऐसे उद्योगो मे भी, जो कि सामान्यतः निजी क्षेत्र मे आते हैं, सरकार द्वारा नई इकाइयो के आरम्भ तथा संचालन की अनुमति दे दी गई है। यही कारण है कि उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यो तथा ऐसे उद्यमो की समस्याओ को ऐसा विशिष्ट महत्व प्राप्त हो गया है कि राजकीय अर्थशास्त्र के किसी भी पाठ्यक्रम मे इसका अध्ययन आवश्यक हो गया है।

राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य अथवा प्रयोजन
(Motives for Nationalisation)

राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य विभिन्न दशाओ के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न होते हैं। एक समाजवादी सरकार तो सिद्धान्त के आधार पर ही उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनो के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करती है। ब्रिटिश मजदूर दल ने सदा ही इस नीति का समर्थन किया है। भारत

मे, कांग्रेस दल ने "समाजवादी ढंग की समाज" की स्थापना का निश्चय किया है जिसका अर्थ है कि सरकारी क्षेत्र की स्थापना और उसका तीव्रगति से विकास करना। इसके अतिरिक्त, उद्योगो के सरकारी संचालन का एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे विशेष महत्व होता है जहाँ कि तीव्र प्रगति के इस साधन के द्वारा ही सम्भव है। पूँजीवादी देशो मे, युद्ध जैसे गम्भीर संकट के अवसरो पर कभी-कभी उद्योगो का संचालन राज्य द्वारा ही किया जाता है। एकाधिकारो द्वारा जनता के शोषण को रोकने के लिए प्रायः राष्ट्रीयकरण ही एकमात्र प्रभावशाली साधन सिद्ध होता है। इसमे कोई सन्देह नही है कि उद्योगो के सरकारी संचालन से अनेक हानियाँ भी हैं और अनेक अर्थशास्त्रियो ने इसी कारण इसकी कडी आलोचना भी की है, किन्तु फिर भी अनेक देशो मे इसके क्षेत्र का विस्तार होता जा रहा है। राष्ट्रीयकरण के मूल उद्देश्य निम्न है :—

(१) समाजवादी लक्ष्य (socialist objectives)—लोकतन्त्रीय देशो तक मे भी समाजवादी पार्टियाँ सदा ही उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनो के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करती रही हैं। ऐसा निम्न दो प्रकार से किया जाता है। एक तो किसी उद्योग को राज्य द्वारा अपने अधिकार मे लेकर, जिसके अन्तर्गत वह समाज के अधिकार मे रहता है और समाज के लिए उसका प्रबन्ध तथा नियन्त्रण किया जाता है। दूसरे, सरकारी स्वामित्व (public ownership) द्वारा, जिसका अर्थ होता है औद्योगिक तथा अनौद्योगिक किसी भी प्रकार की सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व, चाहे वह सम्पति सम्पूर्ण उद्योग से सम्बन्ध रखती हो अथवा केवल उसके किसी भाग से। ऐसे राष्ट्रीयकरण की वकालत अनेक कारणो से की जाती है।

समाजवादियों की दृष्टि मे, राष्ट्रीयकरण का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य वितरण मे समता लाना और उसे बढ़ाना है। मूल्य के मार्क्सवादी श्रम सिद्धान्त के अनुसार, स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीवादी तथा सम्पत्तिधारी वर्गों की ओर को अनर्जित आय का प्रवाह जारी हो जाता है। इससे ही यह पता चलता है कि श्रमिक किस सीमा तक अपनी उचित कमाई से वंचित हो जाते है। यह अनर्जित आय (unearned income) जहाँ स्वयं मे बुरी होती है, वहाँ स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रक्रिया द्वारा यह वितरण भी अधिकाधिक असमान होता जाता है। इस प्रकार, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे, बहुलता के बीच निर्धनता का तमाशा होता है। पूँजी के निजी अधिकार से पूँजी के स्वामियो को अत्यधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की विशेषता है कडी प्रतियोगिता का होना और सहयोग एवं सहकारिता के स्थान पर योग्यतम का ही जीवित रहना (survival of the fittest) आदि। ये सब वे बुराइयाँ हैं जिनका उन्मूलन केवल राष्ट्रीयकरण द्वारा ही किया जा सकता है। राष्ट्रीयकरण से उद्योगों मे लोकतन्त्र पनपता है और शक्ति का विकेन्द्रीकरण होता है। इस प्रकार, धन तथा आर्थिक शक्ति का अधिक समान वितरण संभव हो जाता है। लोकतन्त्रीय समाजवाद वितरण के समानता की अधिक गहन वकालत न करके काफी मात्रा मे अनुपाती न्याय (distributive justice) का समर्थन करता है।

जहाँ कम्युनिस्ट तथा मार्क्सवादी समाजवाद के समर्थक इस बात की वकालत करते है कि निजी सम्पत्ति और स्वतन्त्र उद्यम का पूर्ण उन्मूलन कर दिया जाए और उत्पादन के सभी साधनो का समाजीकरण कर दिया जाए, वहाँ लोकतन्त्रीय समाजवादी पार्टियाँ इतनी दूर तक नही जाती। जहां तक वितरण की समानता का प्रश्न है, वह कुछ सीमा तक राजकोषीय कार्यवाहियो से, समाज सेवाओ से और श्रमिको को अच्छी मजदूरी देकर प्राप्त की जा सकती है। अतः सभी उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की क्या आवश्यकता है? हाँ, ऐसे उद्योगो को अवश्य सरकारी नियन्त्रण मे लाया जा सकता है जिनमे कि निजी लाभो की मात्रा अत्यधिक हो और जिनमे निजी एकाधिकारी

शक्ति के अस्तित्व से जनता का शोषण होने की सम्भावना हो। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक क्षमता द्वारा समाज के जीवन मे सुधार का अपना उद्देश्य केवल तभी पूरा किया जा सकता है जबकि मूलभूत तथा आधारभूत उद्योगों का सचालन सरकार द्वारा ही किया जाए। इस प्रकार, लोकतन्त्रीय समाजवाद ईंधन, शक्ति, परिवहन तथा अन्य ऐसे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की सिफारिश करता है जो कि समाज के जीवन, सुरक्षा तथा सरल एवं तीव्र आर्थिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों। यदि किसी ऐसे उद्योग मे एकाधिकार उत्पन्न हो जाए जो व्यापक माँग की पूर्ति करता हो, तो अवश्य उसके राष्ट्रीयकरण का पक्ष प्रबल हो जाता है।

यही नही, कुछ चुने हुए उद्योगो का राष्ट्रीयकरण अर्थव्यवस्था मे आर्थिक क्रियाओ के स्तर पर सरकारी नियन्त्रण की स्थापना करता है। निवेश की दिशा सरकारी क्षेत्र के उद्योगो की ओर को मोडकर सरकार द्वारा निवेश (investment) की दर को नियमित किया जा सकता है। अर्थव्यवस्था मे मन्दी आने की स्थिति मे निजी उद्यमकर्त्ता द्वारा निवेश के प्रति अनिच्छा प्रकट करना एक बडी गम्भीर बात है। राजकोषीय प्रेरणाएँ प्राय: इस समस्या के हल के लिए पर्याप्त सिद्ध नही होती। सरकारी अधिकारी राष्ट्रीयकरणकृत उद्योगो मे निवेश की मात्रा बढाकर इसकी दर मे सरलता से वृद्धि कर सकते हैं। इसके लिए स्वभावत. ही कुछ न कुछ मात्रा मे नियोजन (planning) की आवश्यकता होती है। परन्तु नियोजन सदा ही राष्ट्रीयकरण के साथ रहता है और समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक आवश्यक लक्षण होता है। इस प्रकार, राष्ट्रीयकरण और नियोजन द्वारा सरकार को आर्थिक क्रियाओं की गति पर बडी मात्रा में नियन्त्रण स्थापित करने का अवसर मिलता है और अधिकारियों को अधिक स्थिरता लाने मे सहायता मिलती है। अर्थव्यवस्था मे स्थिरता लाने के लिए रोजगार का ऊँचा स्तर बनाये रखना अत्यावश्यक है जो कि स्वय भी श्रमिक को अबाधित आय और न्यूनतम जीवन-स्तर का आश्वासन देने के लिए आवश्यक होता है।

(२) विकासशील अर्थव्यवस्था में सरकारी उद्यम (Public Enterprises in a Developing Economy)

उद्योगो के राष्ट्रीयकरण को आयोजनाबद्ध आर्थिक विकास के कार्यक्रम का एक आवश्यक अग समझा जाता है। एक अल्प विकसित देश मे नियोजित विकास के अन्तर्गत कुछ उद्योग सदा ही सरकारी स्वामित्व तथा नियन्त्रण के अन्तर्गत लाये जाते हैं क्योंकि ऐसा किये बिना अर्थव्यवस्था का सुगम एव तीव्र विकास सम्भव नही हो सकता। ऐसे देश तक मे भी, जहाँ कि नियोजन (planning) प्रोत्साहन एव प्रेरणा द्वारा किया जाता है, यह अत्यावश्यक होता है कि सरकारी क्षेत्र का अधिकाधिक विकास किया जाए। एक ऐसा देश, जहाँ कि लोकतन्त्रीय सरकार स्थापित होती है, केवल यही कर सकता है कि लोगों को प्रोत्साहन देकर तथा निजी उद्योगो के लिए उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न करके अर्थव्यवस्था का विकास करे। किन्तु इससे विकास की गति काफी धीमी रहेगी। यदि कुछ अत्यावश्यक मूलभूत एव आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए तो उससे आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने मे बडी मदद मिलेगी। अतः राष्ट्रीयकरण देश के आर्थिक कार्यक्रमों का अभिन्न अग है।

कुछ प्रयोजनाएँ (projects) तथा उद्योग ऐसी आधारभूत प्रकृति के होते हैं जिनमे कि भारी मात्रा मे प्रारम्भिक निवेश करने की आवश्यकता होती है परन्तु उनमे प्रतिफल की प्राप्ति बहुत देर मे होती है। निजी उद्यमकर्त्ता ऐसे उद्यमों मे हिस्सा लेने के लिए आगे आने मे हिचकिचाते हैं। अत. इस सम्बन्ध मे राज्य को ही पहल करनी होती है और अर्थव्यवस्था के हित की दृष्टि से उन उद्योगो की स्थापना करनी होती है। बडी-बडी सिंचाई तथा विद्युत प्रयोजनाएँ निजी

पूँजी तथा साहस को आकर्षित नहीं कर पाती। परन्तु अर्थव्यवस्था के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि ऐसी प्रयोजनाओं की स्थापना की जाए। इस स्थिति में राज्य को ही अपनी पूँजी से तथा अपने प्रबन्ध के अन्तर्गत उनकी स्थापना तथा विकास करना होता है। कुछ अन्य भी ऐसे मूलभूत एवं आधारभूत उद्योग हैं जो अपनी पूँजीगत आवश्यकताओं एवं दीर्घ परिपक्वता (long maturity) के कारण इसी प्रकृति के होते हैं। कुछ सीमा तक, बड़े इस्पात संयन्त्र, मशीनों औजार की फैक्टरियाँ तथा पोत-निर्माण यार्ड आदि ऐसे ही उद्योगों की श्रेणी में आते हैं। यही कारण है जिसकी वजह से एक नियोजित अर्थव्यवस्था में ये उद्योग राज्य को ही स्थापित एवं संचालित करने होते हैं।

इसके अतिरिक्त, प्रायः यह होता है कि निजी उद्यमकर्त्ता इतनी मात्रा में निवेश के लिए आगे नहीं आते जितनी मात्रा में कि योजना-निर्माता चाहते हैं। यह बात ऐसे सभी प्रकार के उद्योगों पर लागू होती है जहाँ निर्धारित समय में निजी निवेश किया तो जाता है परन्तु इतनी तेजी से नहीं जितना कि योजना की दृष्टि से आवश्यक होता है। अतः राज्य को ही इस दिशा में पहल करनी होती है और पूँजी की व्यवस्था तथा उनका विकास करना होता है। इस प्रकार, सरकारी उद्यम अर्थव्यवस्था में विकास की गति के निर्माता के रूप में कार्य करते हैं। ये ही विकास के स्वरूप का भी निर्धारण करते हैं। जब जोर भारी उद्योगों पर दिया जाता है तो निजी उद्यमकर्ता सामान्यतः आगे आने में संकोच करते हैं। इस स्थिति में, सरकारी क्षेत्र को विशेष महत्व प्राप्त हो जाता है क्योंकि उसके बिना अर्थव्यवस्था का स्वरूप तथा ढाँचा वैसा नहीं बन पाता जैसा कि योजना द्वारा निर्धारित किया जाता है।

यही नहीं, सरकारी क्षेत्र विकास के लिए धन-प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन जाता है। सभी सरकारी उद्यमों से तो बेशियाँ (surplus) प्राप्त होने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु उनमें से कुछ में मूल्य-नीति इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है कि उनसे काफी ठोस लाभ प्राप्त होने लगे। इन लाभों का उपयोग या तो उन्हीं उद्यमों में पुनर्निवेश के लिए किया जा सकता है जिनमें कि वे प्राप्त हुए हैं अथवा अन्य उद्योगों के विस्तार के लिए किया जा सकता है। इस समस्या पर इसी अध्याय में आगे विवेचन किया गया है कि इन उद्यमों से कहाँ तक लाभ प्राप्त होने चाहिए तथा कहाँ तक लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। जैसा कि हम देखेंगे कि सम्भावनाएँ इस बात की हैं कि इनसे काफी बड़ी मात्रा में लाभ कमाये जा सकें। और इनसे प्राप्त ये लाभ ही आर्थिक विकास के लिए वित्त की प्राप्ति के एक लाभदायक स्रोत बन जाते हैं।

एक बड़े तथा बढ़ते हुए सरकारी क्षेत्र की विद्यमानता की प्रायः निजी अथवा गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा कड़ी आलोचना की जाती है। निजी क्षेत्र को सदा यह भय बना रहता है कि समाजवाद को लाने के नाम पर कहीं उसे बाहर न ढकेल दिया जाए। फिर, अर्थव्यवस्था के सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग पर तो सरकारी उद्यम कब्जा कर लेते हैं जिससे निजी अथवा गैर-सरकारी निवेश का क्षेत्र बड़ा सीमित हो जाता है। इसके अतिरिक्त, सरकारी क्षेत्र में निवेश करने हेतु धन प्राप्त करने के लिए यदि भारी कर लगाये जाते हैं तो गैर-सरकारी क्षेत्र पर उसका अप्रेरणात्मक प्रभाव पड़ता है। इस समस्या के समाधान के लिए जो सुझाव दिया जाता है, वह यह कि राज्य द्वारा प्रेरित उद्यमों में निजी पूँजी को भी भाग लेने की छूट दे दी जाए। यह भी प्रस्ताव किया जाता है कि ऐसी औद्योगिक वित्त व विकास निगमों की स्थापना की जानी चाहिए जो उद्यमों को अपने अधिकार में लें और उद्यम सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करें। फिर बाद में, एक उपयुक्त स्तर पर पहुँचने के पश्चात् वह कार्य प्राइवेट उद्यमकर्ताओं को सौंप दें। किन्तु इस नीति से तो यह प्रकट होता है कि प्राइवेट उद्यमकर्ता उद्योगों को आरम्भ करने तथा जोखिम उठाने के

कार्यों को पूरा करने मे असमर्थ हैं ज्बकि उनका असली काम ही यह है। यही नही, इसका यह मतलब भी होगा कि निजी सम्पत्ति के क्षेत्र मे जानबूझ कर वृद्धि करना जबकि उससे समाज को कोई प्रतिफल प्राप्त होने वाला नही है। ऐसी नीति के अपनाने से असमानताओ मे जो वृद्धि होगी उसका अधिकाश जनसंख्या पर बडा अनैतिक एवं हतोत्साहक प्रभाव पड़ेगा। अतः ऐसी नीति का समर्थन करने का कोई आधार नही है। अतः हमे सरकारी क्षेत्र के महत्वपूर्ण योगदान को बिना किसी न किसी विरोध के स्वीकार कर लेना चाहिए और राज्य को इस बात की अनुमति देनी चाहिए कि वह इसके द्वारा नियोजन को प्रभावशाली एवं शक्तिशाली बना सके।

यह तर्क बडा पुराना तथा आधारहीन है कि निजी उद्यम राजनैतिक समानता तथा लोकतन्त्र के लिए बडा आवश्यक है, विशेषकर ऐसे देशो मे जो इन बातो मे विश्वास करते हैं। कहा जाता है कि ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे कुछ देश मुख्यतः निजी उद्यम द्वारा ही अपनी अर्थव्यवस्थाओ का विकास करने मे समर्थ हुए हैं और केवल इसी रीति से वे अपनी लोकतन्त्रीय संस्थाओ का अनुरक्षण तथा विकास करने मे समर्थ हुए हैं। परन्तु यह अर्थ तो नही है कि अन्य देशो को भी अनिवार्यतः ऐसा ही करना चाहिए। राजनैनिक समानता का क्या अर्थ है जब आर्थिक असमानताएँ व्यापक रूप से विद्यमान हो। यदि लोकतन्त्र की स्थापना सही मानो मे करनी है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार को उद्यमो के द्वारा आर्थिक न्याय भी प्रदान किया जाए।

राष्ट्रीयकरण के अन्य उद्देश्य (Other Object of Nationalisation) :

(१) **युद्ध एवं संकट की स्थिति में**—युद्ध जैसे राष्ट्रीय सकट के अवसरा पर भी प्रायः विवश होकर सरकार द्वारा कुछ आवश्यक उद्योगो का संचालन किया जाता है। रेलो तथा युद्ध सामग्रियो के कारखानो का राष्ट्रीयकरण ऐसे ही अवसरो पर किया जाता है। ऐसा करने का उद्देश्य यह होता है कि सरकार ऐसे उद्योगो मे उत्पादित वस्तुओं एव सेवाओ को उचित दामो पर प्राप्त करने मे समर्थ हो सके। युद्धकाल मे, सरकारी यातायात तथा युद्ध सामग्री की सरकारी माँग बढ जाया करती है। इन उद्योगो के गैर-सरकारी सचालन का अर्थ यह होता है कि सरकार को इन चीजों के लिए ऊँची कीमतें अदा करनी होगी। कीमतो को बढने से रोकने के लिए कीमतो पर नियन्त्रण भी लगाया जाता है परन्तु निजी उद्यमकर्ताओ के शोषण को रोकने के लिए वह पर्याप्त सिद्ध नही होता। अतः सरकार उन उद्योगो को अपने हाथ मे ले लेती है अथवा इस प्रकार का नियन्त्रण लगाती है जो लगभग उन उद्योगो को अपने हाथ मे लेने के ही बराबर होता है। ऐसा करने का अर्थ यह नही है कि इन उद्योगो का सरकारी सचालन अधिक कुशल होता है, अपितु केवल यह कि सरकार को वस्तुएं तथा सेवाएं वाञ्छित मात्रा मे मन्दे दामो मे मिल जाती हैं। युद्धकाल मे किया जाने वाला राष्ट्रीयकरण सामान्यतः केवल एक अस्थायी कार्यवाही होता है और वह इस वायदे के साथ किया जाता है कि युद्ध के बाद वह समाप्त कर दिया जायेगा।

(२) **एकाधिकार की स्थिति में**—एकाधिकार (monopoly) की स्थिति मे भी उद्योगो के सरकारी सचालन का विशेष महत्व होता है। जब किसी उद्योग मे निजी एकाधिकार स्थापित हो जाता है तो उसका परिणाम यही होता है कि एकाधिकारी सामान्य जनता का शोषण करने लगते है। ऐसे एकाधिकार जब जनोपयोगी तथा अन्य आवश्यक उद्योगो मे स्थापित हो जाते है तो विशेष रूप से वे हानिकारक होते हैं। एकाधिकारी की प्रेरणा का इसके अलावा और कोई स्रोत नही होता कि वह अपने निजी लाभो की मात्रा अधिकतम करे। इसी उद्देश्य को सामने रखकर वह अपनी मूल्य तथा मजदूरी की नीतियो का निर्धारण करता है और इसी कारण अपनी

उत्पादित वस्तु के सम्भरण (supply) पर तथा श्रम की माँग पर तदानुसार प्रतिबन्ध लगाता है। उसके हाथों मे धन तथा आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण के हानिकारक आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम सामने आते है। एकाधिकार पर सरकारी नियन्त्रण लगाकर इनमे से कुछ बुराइयो को दूर किया जा सकता है। परन्तु इस नियन्त्रण से सारी बुराइयाँ दूर नही हो सकती क्योकि एकाधिकारी प्राय: उनमे से कुछ नियन्त्रणो से अपने को बचा ले जाते हैं और विभिन्न बातों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि जिससे उनका वास्तविक उद्देश्य एवं प्रभाव निष्फल हो जाय। इस सम्बन्ध मे अपनाया जाने वाला सबसे उपयुक्त पग प्राय: यही होता है कि उन उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। गैर-सरकारी एकाधिकार को सरकारी एकाधिकार मे बदलने का परिणाम सदा ही उद्योग के अधिक कुशल संचालन के रूप मे सामने आता हो, ऐसी बात तो नही है, हाँ यह अवश्य है कि इससे निजी उत्पादको द्वारा उपभोक्ताओ तथा श्रमिको का किया जाने वाला शोषण अवश्य समाप्त हो जाता है। जनोपयोगी उद्यमो के सम्बन्ध मे, एक निश्चित लाभ यह होता है कि समुचित मूल्यो पर सेवाओं की प्राप्ति सम्भव हो जाती है। और जब उद्योग मूलभूत उद्योग होता है तो चूँकि उसकी उपज अन्य उद्योगो को उचित मूल्य पर प्रदान की जाती है अत: अन्य उद्योगो को उससे बड़ा लाभ होता है।

(३) प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा के हेतु—राष्ट्रीयकरण का अन्य उद्देश्य होता है देश के प्राकृतिक साधनो का रक्षण। ऐसे साधन विशेष रूप से खनिज साधन प्रकृति द्वारा सीमित मात्रा मे ही प्रदत्त होते हैं दीर्घकाल मे देश के कल्याण की दृष्टि से यह अत्यावश्यक होता है कि उनके उपयोग मे फिजूलखर्ची न हो। खनिज उद्योगो का संचालन जब निजी उद्यमकर्ताओ द्वारा किया जाता है तो प्राय: उनके उपयोग मे कुछ न कुछ फिजूलखर्ची होती ही है। अत: खानो का सरकारी स्वामित्व एवं सरकार द्वारा ही उनका सचालन बडा महत्वपूर्ण है। अनेक देशो मे, कोयला व अन्य खनिज उद्योगो का तथा तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण इसी कारण से किया गया है। कुछ देशो मे, उदाहरणत: ईरान मे, तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण मुख्यत: इसको विदेशी प्राइवेट कम्पनियो के नियन्त्रण से छुटकारा दिलाने के लिये ही किया गया था। अन्य खनिज पदार्थों की तरह ही तेल भी एक ऐसा पदार्थ है जो कि किसी भी देश के पास सीमित मात्रा मे ही होता है, अत: उसका प्रबन्ध व नियन्त्रण विदेशी हितो पर नही छोडा जा सकता। दीर्घकाल मे इन साधनो का उपयोग एवं शोषण देश के हितो के अनुसार ही होना चाहिए। अत. विदेशी सरकारो एव विदेशी हितो के प्रबल विरोध के बावजूद उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है।

(४) उद्योगों का सरकारी स्वामित्व एव सरकारी संचालन अन्य भी अनेक कारणों से किया जाता है—सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी प्रकृति की वित्तीय संस्थाएँ प्राय: सरकार द्वारा अपने हाथ मे ले ली जाती हैं। केन्द्रीय बैंक अनेक देशो मे एक राष्ट्रीयकरणकृत संस्था के रूप मे कार्य करता है। उद्योगों के लिए जो वित्त निगम बनाये जाते हैं वे सरकार द्वारा ही अच्छी प्रकार संचालित किये जाते हैं। वे व्यापारिक संस्थायें जिनका उद्देश्य सार्वजनिक हितो मे एकाधिकारी व्यापार करना होता है, सरकारी उद्यमो के रूप मे ही कार्य करती है जैसे कि भारत मे राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation)। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक देशो मे पुनर्निर्माण के लिए स्थापित किये जाने वाले उद्यम सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत ही थे, उदाहरणत: संयुक्त राज्य अमेरिका मे पुनर्निर्माण वित्त निगम (Reconstruction Finance Corporation)। कभी-कभी सरकार उद्योगो को इसलिये भी अपने हाथ मे ले लेती है कि जिससे कुछ हानिकारक पदार्थों के उपभोग को प्रतिबन्धित किया जा सके। अफीम के उत्पादन तथा विक्रय के सम्बन्ध मे भारत मे यही किया गया है।

(५) **आवश्यक सेवाओं के हेतु**—कुछ सरकारी सेवाएँ होती हैं जिनका संचालन सदा सरकार द्वारा ही किया जाता है, उदाहरण के लिए डाक, तार व टेलीफोन आदि। वैसे ये वाणिज्यिक उद्यम है परन्तु इनका सचालन यदि सार्वजनिक हित मे किया जाना है तो केवल सरकार द्वारा ही किया जा सकता है। नगरो तथा कस्बो मे जल-पूर्ति का कार्य सामान्यत: नगर-पालिकाओ द्वारा किया जाता है। अनेक देशों मे बिजली के सम्भरण की व्यवस्था भी इसी प्रकार की जाती है। ये सेवायें ऐसी प्रकृति की है कि उनकी कुशलतापूर्ण व्यवस्था केवल सरकारी अधिकारियो द्वारा ही की जा सकती है।

सरकारी उद्यमों के विरुद्ध तर्क (Arguments Against Public Enterprises) :

कुछ परिस्थितियो मे सरकारी उद्यम को न्यायोचित कहा जा सकता है, उदाहरणत: युद्धकाल मे अथवा एकाधिकार की स्थिति मे। किन्तु उद्योगों के संचालन के लिये यह सर्वोत्तम कुशल तरीका नही है। इसमे कोई सन्देह नही है कि एक सरकारी उद्यम निजी उद्यम के मुकाबले उतने ही वेतन पर एक अधिक कुशल तथा योग्य मैनेजर अथवा इंजीनियर प्राप्त कर सकता है। इसका कारण सरकारी नौकरी के प्रति लोगो का अधिक आकर्षण उसका जनसेवी प्रयोजनो के प्रति झुकाव है। परन्तु यदि सभी बातो पर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि एक सरकारी उद्यम निजी उद्यम के मुकाबले अच्छी प्रकार सगठित नही होता। सरकारी उद्यमो का प्रबन्ध प्राय: उन सस्थाओ (bodies) द्वारा किया जाता है जो कि राजनैतिक आधारो पर चुनी जाती है। इन उद्यमो के कर्मचारी इन चुनावो के मतदाताओ मे से ही होते हैं। इसी कारण कार्य के सम्बन्ध मे इन उद्यमों के प्रबन्ध संस्थाओं का मार्गदर्शन व्यावसायिक आधार पर न किया जाकर राजनैतिक आधार पर किया जाता है। कभी-कभी प्रबन्ध-व्यवस्था उन सिविल सेवको से सम्बद्ध होती है जो कि एक ऐसी सत्ता के अधीन होते है जो कि चुनी जाती है। इन लोगो मे व्यावसायिक साहस नही होता और न ही ये व्यावसायिक सिद्धान्तों का पालन करते हैं। यहाँ तक कि जब किसी उद्यम का प्रबन्ध व्यावसायिक आधार पर संगठित की गई विशेष सत्ता द्वारा किया जाता है तब भी स्थिति काफी भिन्न होती है। जब सरकारी उद्यम की तुलना एक नियन्त्रित निजी उद्यम से की जाती है तो हो सकता है कि सरकारी उद्यम की कार्यकुशलता अधिक हो, परन्तु स्वतन्त्र एवं अनियन्त्रित निजी उद्यम से तुलना करने की स्थिति मे ऐसा नही होता।

कभी-कभी सरकारी उद्यमो के सम्बन्ध मे ऐसा प्रतीत होता है कि समृद्ध, उन्नत तथा उच्च क्षमता वाले हैं। ऐसा प्राय. इसलिये होता है क्योकि उन्हें कुछ ऐसे लाभ तथा सुविधाएँ प्राप्त होते है जो कि प्राइवेट उद्यमों को उपलब्ध नही होते। कभी-कभी ऐसा होता है कि इनको भूमि मुफ्त मिल जाती है अथवा प्राइवेट उद्यमो के मुकाबले अधिक अच्छी शर्तो पर मिल जाती है या वे इस स्थिति मे होते हैं कि अधिक आसान शर्तों पर बॉण्ड जारी कर सकें। अत: उनकी लागतें (costs) उससे कम दिखाई देती है जितनी कि वे वास्तव मे होती है। इन उद्यमो की स्थिति मे प्राय: बहुत से खर्चे अन्य खातो मे डाल दिये जाते है, उदाहरण के लिए किसी नगर की ट्रॉम्वे सडको पर होने वाले खर्चों को सडक खाते मे डाल सकती हैं। इस प्रकार, उनकी स्थिति का एक गलत चित्र जनता के सामने प्रस्तुत किया जाता है। इसके अतिरिक्त, कभी-कभी सरकारी उद्यम यह चाहते हैं कि गैर-सरकारी क्षेत्र मे उनके प्रतिद्वन्द्वी कुछ ऐसी शर्तों को पूरी करें जो कि प्रतिबन्धात्मक होती हैं। उदाहरण के लिए, प्राइवेट बस सेवाओं को रास्तो तथा ले जाये जाने वाले यात्रियो आदि के सम्बन्ध मे कुछ ऐसी शर्तो के अन्तर्गत काम करना पड सकता है जो सरकारी बस सेवाओ पर लागू न होती हो और जिनसे प्राइवेट सेवाएँ हानिप्रद स्थिति मे रहती हो। इस प्रकार, सरकारी उद्यमो का कुशल सचालन पूर्णतया झूठा तथा दिखावटी होता है।

मे लगा दिया जाए। इसी प्रकार आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन मे भी वृद्धि की आशा की जा सकती है। किन्तु यदि कृषको ने खाद्यान्नो के अपने उपभोग मे वृद्धि कर दी तो उसका परिणाम यह होगा कि बिकाऊ फालतू खाद्यान्न जो कि बढती हुई शहरी जनसख्या को खिलाने के लिए आवश्यक होगा, कम पड जायेगा। अत. परोक्ष कराधान का उपयोग कृषि की बढती हुई फालतू उपज को ग्रामीण क्षेत्रो से शहरी क्षेत्रो की ओर को स्थानान्तरित करने मे किया जाता है।

क्या अनिवार्यताओं पर कर लगाया जाये ? :

इस प्रश्न के बारे मे अवश्य कुछ भ्रम है कि वस्तु कर अनिवार्य आवश्यकताओ पर लगाये जायें या नही। भारत के कराधान जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) का तो इस सम्बन्ध मे यह कहना है कि "वस्तु करो से ठोस प्राप्तियाँ होने के लिए तथा अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण रूप मे (as a whole) उपभोग पर उल्लेखनीय रोक लगाने के लिए, यह अत्यन्त आवश्यक है कि *उत्पादन कर तथा बिक्री करो का विस्तार थोडी आय वाले वर्गों द्वारा उपभोग* की जाने वाली वस्तुओ तथा ऐसी वस्तुओ तक भी किया जाए जिन्हे कि सामान्यत अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएँ कहा जाता है।.........यदि साधनो के अन्तरण (diversion of resources) द्वारा सरकारी विनियोग के लिए यथेष्ट मात्रा मे धनप्राप्ति के सम्बन्ध मे आश्वस्त होना है तो अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ तक करो का विस्तार करना ही होगा।"[18] आयोग ने आगे कहा है कि "इसीलिए यह सुझाव दिया जाता है कि विलासिता तथा अर्ध-विलासिता की वस्तुओ की विस्तृत सख्या पर अच्छी ठोस दरो से अतिरिक्त कर लगाये जाएँ और उसके साथ-साथ सामूहिक उपभोग (mass consumption) के पदार्थों पर अपेक्षाकृत नीची दरों से व्यापक आधार वाले कर लगाये जाएँ।"[19] इस प्रकार इस सम्बन्ध मे एक उच्चाधिकार समिति (high power committee) की अधिकृत राय (authoritative opinion) प्राप्त है कि अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ पर वस्तु-कर लगाये जाएँ। इसके विपरीत, कुछ राजकोषीय सिद्धान्त वेत्ताओ[20] (fiscal theorists) का मत यह है कि आर्थिक विकास की उद्देश्यपूर्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ पर कर लगाने की वस्तुतः कोई आवश्यकता नही है। कारण यह है कि चूँकि अधिकाश जनता ऐसे देशो मे पहले से ही केवल गुजारा मात्र करके अपना जीवनयापन कर रही होती है अत यह अत्यन्त आवश्यक है कि अनिवार्य वस्तुओ (necessaries) के उत्पादन मे तीव्रगति से वृद्धि की जाए, और यही नही उन गैर-अनिवार्य वस्तुओ का भी उत्पादन बढाया जाए जो मजदूर वर्ग के उपभोग की श्रेणी मे आती हैं। इन वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि इसलिए भी आवश्यक है चूँकि कुछ जनसख्या कृषि व्यवसाय से उद्योगधन्धो मे काम पाने के लिए स्थानान्तरित होगी। अत उसके परिणामस्वरूप, मजदूर वर्ग द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओ की माँग मे वृद्धि होगी, इस वृद्धि के दो कारण हैं : (क) एक तो यह कि नये काम पर लगे हुए व्यक्ति अब उस समय की अपेक्षा अधिक उपभोग करेंगे जबकि वे केवल आशिक रूप से काम पर लगे हुए थे और (ख) दूसरा यह कि उन लोगो के उपभोग मे भी वृद्धि की आशा की जा सकती है जो कि कृषि मे रह गये हैं। फिर एक बात यह है कि वस्तु करो का मूल उद्देश्य यह नही है कि अनिवार्य वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग मे कमी की जाए बल्कि उनका लक्ष्य तो यह है कि बचत के अनुपात मे क्रमश. वृद्धि की जाए। इस लक्ष्य

---

18. Taxation Enquiry Commission Report, Vol I p 149, "For any substantial receipts from commodity taxation and appreciable rest raint on Consumption in the economy as a whole, it will be necessary to extend excise and sales taxation to the consumpt on of lower income groups and of goods which are commonly classed as necessaries . ... An extension of the taxation of necessaries appears unavoidable, if significant results by way of *diversion of resources for financing public investment, are to be secured*"

19. Ibid. p 149, "Additional taxation of a well rage of luxury or semi-luxury products at fairly substantial rates, accompanied by broad-based taxation of articles of mass consumption at comparatively low rates, is, therefore, indicated."

20. Raja Chelliah ; op. cit., pp. 87-89.

उद्योगो का राष्ट्रीयकरण इसलिये भी महत्वपूर्ण होता है क्योंकि यह यथाभाग न्याय अथवा अनुपाती न्याय (distributive justice) प्रदान करता है। आय तथा धन की असमानताओं को समाप्त करने का समाजवादी लक्ष्य सर्वोत्तम रूप मे तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि उत्पादन विनिमय तथा वितरण के साधना का समाजीकरण कर दिया जाय। अतः यह आवश्यक है कि कुछ उद्योग विशेषकर मूलभूत एव आधारभूत उद्योग, राज्य के ही स्वामित्व मे रहे और उसके द्वारा ही उनका सचालन किया जाय। इससे सरकार को एक कार्य मे और सहायता मिलती है और वह यह कि सरकारी क्षेत्र मे निवेश को नियमित करके सरकार आर्थिक क्रियाओ का एक स्थिर स्तर बनाये रख सकती है।

सरकारी उद्यमों की कुछ समस्याएँ
(Some Problems of Public Enterprises)

अर्थव्यवस्था मे सरकारी क्षेत्र की विद्यमानता से कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका समाधान उस क्षेत्र के कुशल कार्य-सचालन की दृष्टि से आवश्यक होता है। इन समस्याओ का सम्बन्ध सरकारी उद्यमो के संगठन से, उनकी मूल्य-नीतियों से और श्रम-सम्बन्धों से है। सरकारी उद्यमो मे, संगठनात्मक ढांचा ऐसा बनाना होता है कि जिससे उत्पादन मे अधिकतम क्षमता प्राप्त की जा सके। सगठन के अनेक रूप है जो कि अपनाये जा सकते हैं परन्तु देखना यह होता है कि कौन से उद्योग के लिए कौन-सा रूप ठीक रहेगा। मूल्य-नीति के अन्तंगत न केवल लागत के आधार पर कीमतों का निर्धारण करना होता है, अपितु यह प्रश्न भी विचाराधीन होता है कि सरकारी उद्यम लाभ कमाएँ या नही। सरकारी क्षेत्र के कुछ उद्योगो मे तो लाभोपार्जन न्यायोचित हो सकता है किन्तु अन्य मे नही। अत. इस सम्बन्ध मे नीति का सावधानी के साथ निर्धारण करना आवश्यक होता है। राज्य द्वारा प्रबन्धित उद्यमो मे श्रम सम्बन्धो का रूप भी बडा विचित्र होता है। एक एकाधिकारी की स्थिति मे होने के कारण, सरकारी उद्यम को श्रमिको के साथ ऐसे सम्बन्ध रखने होते है जिससे ऐसा प्रतीत न हो कि श्रमिको का शोषण किया जा रहा है और साथ ही श्रमिकों को सगठन मे भाग लेने का अवसर दिया जाता है।

राष्ट्रीयकरण किये गये उद्यमो का संगठन
(The Organisation of Nationalised Enterprises)

सरकारी उद्यमों के सगठन के तीन मुख्य रूप हैं। सबसे पहला रूप है विभागीय संगठन का, जिसके अन्तंगत सरकारी उद्यम सरकार के एक विभाग के रूप मे सचालित किया जाता है। डाकघर, तार व टेलीफोन की व्यवस्था अनेक देशो मे सरकारी विभागों के रूप में की जाती है। इस रीति मे, सामान्य नीति तथा प्रबन्ध व्यापक सम्बन्धी बाते विधानसभा के प्रत्यक्ष नियन्त्रण के अन्तर्गत होती हैं। प्रबन्ध का दूसरा रूप सरकारी निगम (public corporation) है जिसका निर्माण एक विशेष कानून द्वारा किया जाता है। निगम को सगठन के सम्बन्ध मे कुछ विशिष्ट कार्य सौंपे जाते हैं और उद्यम के प्रबन्ध के सम्बन्ध मे उसे पूर्ण स्वायत्तता (autonomy) प्राप्त होती है। सरकार तो केवल सामान्य नीति का निर्धारण करती है। निगम के खाते पृथक् होते है जिनका सरकार द्वारा निरीक्षण नही किया जाता। प्रबन्ध का यह रूप संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा भारत मे अनेक सरकारी उद्यमों मे अपनाया गया है। पुनर्निर्माण वित्त निगम (Reconstruction Finance Corporation) तथा टेनेसी घाटी सत्ता (Tennessee Vallay Authority) सयुक्त राज्य अमेरिका मे ऐसे निगमो के उदाहरण है। भारत मे दामोदर घाटी निगम (Damodar Vallay Corporation), विभिन्न वित्त तथा विकास निगम तथा जीवन बीमा निगम ऐसे सरकारी निगम (statutory corporations) हैं जो सरकारी उद्यमों का प्रबन्ध करते है।

सरकारी उद्यम जोखिम उठाने से हिचकते हैं और उधर ये जोखिम निजी ही उद्यमो की सफलता का मुख्य कारण होते है। सरकारी अधिकारियों द्वारा लाभ की आशा से जो क्रय-विक्रय किये जाते हैं वे उनको अलोकप्रिय बना देते है। गलत जोखिम उठाने के राजनैतिक परिणाम बड़े हानिकारक होते हैं। राजनैतिक दलो द्वारा उनकी लगातार आलोचना तथा टीका-टिप्पणी की जाती है और उनके द्वारा यदि कोई गलत कदम उठाया जाता है तो उससे उनके सामने विनाशात्मक प्रवृत्ति की रुकावटें खडी कर दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त, यह हो सकता है कि सरकारी उद्यम अनुसन्धान व खोज पर कोई ध्यान न दें और पुराने तरीको पर ही जमे रहे। अतः वे केवल सुरक्षित एवं गैर-जोखिम वाले उद्योगो मे ही सफल हो सकते हैं, सब मे नही।

जो सरकारी उद्यम सरकारी विभागो के रूप मे कार्य करते हैं अथवा नगरपालिका जैसे राजनैतिक संगठनो द्वारा संचालित किये जाते है। वे कभी भी अनुकूलतम आकार पर नहीं पहुँच पाते। नियन्त्रण का जो क्षेत्र एक उद्योग के कार्य-सचालन की दृष्टि से मितव्ययी होता है, यह आवश्यक नहीं है कि राजनैतिक संगठन द्वारा अधिकृत क्षेत्र के अनुरूप ही हो। यहाँ तक कि जब किसी उद्योग का प्रबन्ध एक स्वायत्तता प्राप्त निगम द्वारा किया जाता है तब भी यह हो सकता है कि उसके सचालन का क्षेत्र नगर अथवा कस्बे की म्युनिसिपल सीमाओं तक सीमित हो। उदाहरण के लिए, एक राष्ट्रीयकरण कृत बस सेवा अथवा बिजली, गैस तथा जल की पूर्ति, यह हो सकता है कि नगर की सीमाओं के अन्तर्गत ही संचालित की जाएँ। संचालित इकाई के लिए, सम्भव है यह सर्वाधिक आर्थिक आकार न हो। इस प्रकार, सरकारी उद्यम सदा ही सर्वाधिक कुशल परिस्थितियों मे काम करते हो, ऐसी बात नहीं है।

निष्कर्ष (Conclusion) :

अनेक परिस्थितियो मे सरकारी उद्यमो का पक्ष अधिक प्रबल नहीं होता। वे प्रायः ऐसी दशाओ के अन्तर्गत कार्य करते है जो सर्वोच्च कुशलता उत्पन्न नहीं करती। उनके प्रबन्धको मे पहल तथा साहस का अभाव होता है जिसके बिना उनका सफल सचालन नहीं हो सकता। परन्तु इन दोषों के बावजूद कुछ उद्योगो मे सरकारी उद्यम महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। इन उद्योगो मे सरकार का भाग लेना अर्थव्यवस्था मे एक महत्वपूर्ण योगदान करता है।

जैसा कि हम बतला चुके है, सरकारी उद्यम देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण भाग अदा करते है। निजी उद्यमी कुछ उद्योगो मे आगे नहीं आते और चूँकि वे मूलभूत तथा आधारभूत उद्योग होते हैं अतः सरकार को ही आगे बढकर उनकी स्थापना करनी होती है। सरकारी उद्यम अर्थव्यवस्था की प्रगति की दर का निर्धारण करते है और इस प्रकार वे आर्थिक विकास के गति-निर्माता है। उद्योगो के सरकारी सचालन के चाहे कितने भी दोष क्यों न हों, फिर भी इन दशाओं के अन्तर्गत वे अनिवार्य हैं।

फिर, एकाधिकार की स्थिति मे उद्योगो के सरकारी सचालन का विशेष महत्व है। जनोपयोगी सेवाएँ तथा अन्य अनेक उद्योग केवल एकाधिकारी आधार पर ही स्थापित किये जा सकते है। इन मामलो मे निजी एकाधिकार का अर्थ है उपभोक्ताओं एवं श्रमिको का एकाधिकारियो द्वारा शोषण और उनके हाथों मे धन तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण। अतः ऐसी दशाओ को उत्पन्न होने से रोकने के लिये यह आवश्यक है कि इन उद्योगो का स्वामित्व एवं प्रबन्ध सरकार द्वारा ही हो। इन मामलो मे यदि निजी उद्यमों पर केवल सरकारी नियन्त्रण लगा दिया गया तो वह प्रायः सफल नहीं होता है।

किन्तु इस प्रकार के संगठन से सरकार एक विभाग तथा एक व्यावसायिक उद्यम के बीच आवश्यक भेद करने मे असमर्थ रहती है और सरकार को जनता के साथ सामान्य करदाताओ के रूप मे नही बल्कि उन उपयोक्ताओं और उपभोक्ताओ (users and consumers) के रूप मे व्यवहार करना होता है जो कि सेवाओं के लिए अदायगी करते हैं। किन्तु सरकारी विभाग तो लाल फीताशाही और विलम्बों के लिए प्रसिद्ध होते हैं और वे उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के प्रति द्रुतग्राही (sensitive) नही हो सकते। इसके अतिरिक्त, सरकारी अधिकारियों का चुनाव एवं प्रशिक्षण सामान्यत: ऐसे उद्देश्यों के लिए किया जाता है जो कि उद्योगों एवं सेवाओ के संचालन से पूर्णतया भिन्न होते हैं। वे निर्धारित नियमों की दृढ व्यवस्था के अन्तर्गत और एक ऐसे वातावरण मे काम करते हैं जहां कि हर एक व्यक्ति निर्णयों को स्थापित करने तथा जिम्मेदारी अन्य लोगों पर डालने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अत: इस प्रकार की प्रबन्ध-व्यवस्था वाले उद्यम मे लोचशीलता का अभाव पाया जाता है। और इसमें उतनी मात्रा मे कार्यक्षमता नही उत्पन्न की जा सकती जो अपने उत्तरदायित्वो को समझते है। विभाग के अधिकारियों को उद्यम की समस्याओ के अलावा अन्य मामलो से भी निपटना होता है, अत. वे उद्यम के प्रति पूर्ण रूप से ध्यान नही दे सकते और यही वह तत्व है जो गैर-सरकारी उद्यमो की सफलता का मुख्य कारण है। अधिकारियों मे जो व्यावसायिक अनुभव तथा चातुर्य का अभाव होता है उसे प्रशिक्षण (training) से भी नही दूर किया जा और प्रशासकीय एव वित्तीय स्वायत्तता के न होने से वे शीघ्र निर्णय करने में असमर्थ रहते हैं। ससद मे अनेक कार्यो के सम्बन्ध मे जो विवाद होता है तथा जो प्रश्न पूछे जाते हैं उसके कारण उनकी जोखिम उठाने की प्रेरणा मर जाती है। इसके अतिरिक्त, उद्यम से प्राप्त होने वाले लाभ विभाग के राजस्व में तथा सरकार के सामान्य राजस्व मे मिला दिये जाते हैं और उन लाभो का उपयोग शायद ही कभी विकास के लिए किया जाता हो।

इन कठिनाइया एव कमजोरियों को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक है कि संगठन के इस रूप को यथा सभव थोड़े उद्यमों तक ही सीमित रखा जाए। यह व्यवसाय के निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार पहलशक्ति (initiative), लोचशीलता, प्रशासन तथा सचालन को हतोत्साहित करता है। यह हो सकता है कि सरकारी विभागो का प्रबन्ध कुशलता से किया जाए परन्तु जो चीज एक विभाग के लिए अच्छी है, सभव है एक व्यावसायिक सस्था के लिए उपयुक्त न हो। एक विभाग का दैनिक प्रशासन, इसके नियम, विनिमय, तथा कार्य पद्धतियां एक उद्यम के लिए अनुकूल नही बैठती जिसका कार्य कि केवल उत्पादन एव विक्रय करना ही होता है।

लोक निगम अथवा सरकारी निगम (The Public Corporation) :

सरकारी निगम एक ऐसी सामूहिक संस्था होती है जिसका निर्माण विशेष विधान बना कर किया जाता है और जिसे एक विशेष प्रकार का औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक कार्य सम्पन्न करने के लिए सुस्पष्ट शक्तियां, कार्य तथा अधिकार-क्षेत्र प्रदान किये जाते हैं। सरकार द्वारा नियुक्त निदेशक-मण्डल द्वारा इसका प्रशासन होता है और यह मण्डल सरकार के प्रति ही उत्तरदायी होता है। पूंजी प्रदान करने अथवा हानियां की पूर्ति करने के अलावा वित्तीय मामलो मे यह पूर्ण स्वतन्त्र होता है। नीति सम्बन्धी बातो के अतिरिक्त प्रबन्ध से सम्बन्धित मामलों में यह काफी सीमा तक संसदीय जांच से मुक्त होता है। हां, मन्त्रिमण्डलीय नियन्त्रण के अवश्य यह अधीन होता है। केवल कुछ स्थितियो को छोड़कर, इसके अधिकारी वर्ग मे सिविल सेवा के लोग नही होते और उनकी भर्ती करने तथा पारिश्रमिक देने का कार्य स्वयं निगम के अनेक नियमो द्वारा ही किया जाता है।

किन्तु एक निगम मे ठीक वैसे ही लक्षण नही पाये जाते जैसे कि ऊपर बताये गये हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक निगम की प्रकृति तथा उसके लक्षणो का निर्धारण पृथक्-पृथक् रूप

संगठन का तीसरा रूप है मिश्रित पूँजी कम्पनी (joint stock company) का सरकारी उद्यम भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत एक ऐसा मिश्रित पूँजी कम्पनी के रूप मे पंजीकृत किये जा सकते हैं जिसमें सारे अथवा अधिकांश शेयर सरकार के हों। मिश्रित पूँजी कम्पनी अनेक मामलो मे बहुत कुछ सरकारी निगम के ही समान होती है किन्तु उसके निर्माण के लिए विशेष कानून बनाने की आवश्यकता नहीं होती।

इसके अतिरिक्त, संगठन के कुछ अन्य रूप भी हैं जो कि विशेष उद्योगो के लिए कार्य मे लाये जाते हैं। नगरपालिकाएँ जल, बिजली व गैस की पूर्ति तथा शहरी परिवहन जैसे, कुछ जनोपयोगी उद्यमो का संचालन करती हैं। इन सेवाओं का संचालन समितियो के माध्यम से स्थानीय अधिकारियों द्वारा किया जाता है। उद्यमो के संचालन के लिए स्थायी अधिकारीगण इन्हीं समितियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं, कभी-कभी जब किन्हीं भौगोलिक अथवा कार्य सम्बन्धी कारणों से किसी एक नगरपालिका द्वारा उद्यम का कार्य-संचालन कठिन हो जाता है, तो सम्मिलित सत्ताओं अथवा सार्वजनिक बोर्डों की स्थापना की जाती है। भारत मे, नदी घाटी प्रयोजनाओ के प्रबन्ध के लिए सरकार ने नियन्त्रण बोर्डों, (control boards) की स्थापना की है। सरकारी उद्यमो के प्रशासन का एक और भी उपाय अपनाया जाता है, विशेष रूप से संयुक्त अमेरिका मे, और वह है 'संचालन ठेके' (operating contract) का इस उपाय के अनुसार उद्यम के प्रबन्ध संचालन का प्राइवेट कम्पनी को ठेका किया जाता है जिसके अन्तर्गत सरकार ठेकेदार द्वारा व्यय किये गये सभी खर्चे तथा उसकी सेवाओ की कुछ फीस उसको देने को सहमत हो जाती है। इस रीति से सरकार गैर-सरकारी उद्यम का प्रबन्ध-चातुर्य एवं तकनीकी ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ हो जाती है। सरकार इस रीति द्वारा किसी उद्यम को आरम्भ करा सकती है जिसे कि अन्त मे वह स्वय अपने हाथो मे ले लेती है।

सरकारी विभागीय संगठन (Government Departmental Organisation) :

सरकारी उद्यमो के प्रबन्ध की यह सबसे पुरानी रीति है और डाक, तार, रेलवे व टेलीफोन जैसे कुछ सर्वप्रथम चालू किये गये उद्यम अनेक देशों मे विभागीय आधार पर ही चलाये जाते हैं। उनका संगठन तथा उनकी वित्तीय व्यवस्था सामान्यतः वैसे ही की जाती है जैसे कि अन्य सरकारी विभागों को होती है और उनके मामले मे परम्परागत सरकारी कार्यों तथा सरकारी उद्यमो के बीच कोई अन्तर नही होता। संगठन के इस रूप का उपयोग सामान्यतः या तो ऐसे उद्यमो मे होता है जिनका उद्देश्य सरकार को राजस्व प्रदान करना होता है अथवा प्रतिरक्षा उद्योगो मे होता है जहाँ कि उत्पादन-क्षमता तथा उत्पादन की रीतियों आदि के सम्बन्ध मे भारी गोपनीयता बरतने की आवश्यकता होती है। इस स्थिति मे सरकारी उद्यम बजट, लेखाकन तथा नियन्त्रणो के अधीन उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार अन्य सरकारी विभाग रहते हैं। इसमे भी अन्य विभागो की तरह सिविल सेवको का एक स्थायी स्टाफ होता है जिनकी भर्ती तथा सेवा की शर्तें वैसी ही होती हैं जैसी कि अन्य सिविल सेवकों के लिए होती हैं। ऐसे उद्यम का संगठन आमतौर पर सरकार के किसी बड़े विभाग के एक उप-प्रभाग (sub-division) के रूप मे किया जाता है और विभागाध्यक्ष (head of the department) द्वारा उसका नियन्त्रण किया जाता है।

इस प्रकार का संगठन राजनैतिक दृष्टि से उत्तरदायी अफसरों द्वारा उद्यम के नियन्त्रण के विषय में आश्वस्त करता है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई काम गलत होता है अथवा यदि उद्यम की कार्य-प्रणाली से जनता असन्तुष्ट होती है तो मामला संसद मे उठाया जा सकता है। इस स्थिति मे सरकार अपने उत्तरदायित्व को समझती है और अपनी जिम्मेदारियो को पूरा करने को इच्छुक एवं तत्पर रहती है।

यह तथ्य कि सरकारी निगम के स्टॉफ मे सिविल सेवा के लोग नही होते, दो प्रकार से बढा लाभप्रद है। सर्वप्रथम तो इसलिए क्योकि इसमे नियुक्त अधिकारीगण वाणिज्यिक उद्यम के कार्य मे प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए होते हैं किन्तु एक सरकारी विभाग मे नियुक्त अधिकारी वर्ग के सम्बन्ध मे ऐसा नही कहा जा सकता, सरकारी निगम के अधिकारीगण को भी काफी मात्रा में सुरक्षा प्राप्त होती है परन्तु उनके कार्य तथा वेतन वृद्धियाँ आदि ऐसे सामान्य नहीं होते जैसे कि सिविल सेवा मे होते हैं। निजी उद्यम के समान सरकारी निगम मे भी कठिन तथा कुशल श्रम के लिए सामान्य व्यापारिक प्रेरणाएँ प्रदान की जाती हैं। दूसरे, सरकारी निगम मे पारिश्रमिक, सेवा की शर्तों तथा स्थापना से सम्बन्धित प्रश्नो के बारे मे ऐसा राजकोषीय नियन्त्रण नही होता जैसा कि एक विभागीय सगठन मे होता है। यद्यपि यह सत्य है कि सेवा सम्बन्धी *मामलो* मे प्रायः मन्त्रियों का हस्तक्षेप होता रहता है किन्तु सिविल सेवको पर जो व्यापक राजकोषीय नियन्त्रण लागू होता है उससे यह बिल्कुल भिन्न होता है। इससे राजकोष (treasury) के कार्य-भार में कमी होती है और निगम को अधिक स्वाधीनता प्राप्त होती है।

सरकारी निगम यद्यपि वाणिज्यिक आधार पर काम करता है परन्तु यह आवश्यक नही है कि उसका उद्देश्य लाभोपार्जन का ही हो। निगम सदा ही अपने कार्यों का प्रबन्ध ऐसी रीति से करता है जिससे हानियाँ न हो, किन्तु लाभ कमाना उसका मुख्य उद्देश्य नहीं होता। कानून सामान्यतः उस सार्वजनिक उद्देश्य का निर्धारण कर देता है जिसका कि प्रत्येक निगम को अनुसरण करना होता है। सरकारी निगम के बोर्ड तथा उसके अधिकारियो (officers) से यह आशा की जाती है वे अपने को सार्वजनिक हितो के रक्षक समझें, प्राइवेट उद्यम के अधिकारियों की तरह नही जो कि अपने मालिकों के निवेश के लिए उपयुक्त प्रतिफल प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते है। इस प्रकार, सरकारी निगम के सचालन मे लाभोपार्जन के मुकाबले सेवा तथा राष्ट्रीय कल्याण की प्रेरणाएँ अधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करती हैं।

मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी (The Joint Stock Company).

निगम प्रकृति के संगठन का एक अन्य रूप है मिश्रित पूँजी कम्पनी, जिसे भारत तथा अन्य अल्पविकसित देशो मे विशेष रूप से लोकप्रियता प्राप्त हुई है। अनेक स्थितियो मे एक सरकारी उद्यम को कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप मे पजीकृत कर लिया *जाता है और अधिनियम की धाराओ के अन्तर्गत उसे सरकारी कम्पनी माना जाता है। अधिनियम* के अनुसार सरकारी कम्पनी उसे कहा जाता है जिसमे शेयर पूँजी का कम से कम ५१ प्रतिशत भाग सरकार द्वारा अधिकृत हो। कुछ मिश्रित आर्थिक उद्यम ऐसे होते हैं जिसमे सरकारी तथा *गैर-सरकारी दोनो के ही हित भागीदार होते हैं किन्तु उसमे शेयर पूँजी का आधे से अधिक भाग* सरकार का होता है। ऐसे उद्यमो को भी सरकारी कम्पनियों के रूप मे पंजीकृत किया जा सकता है। एक सरकारी कम्पनी मे विदेशी गैर-सरकारी हित भी भाग ले सकते हैं।

सगठन का कम्पनी-रूप कुछ दशाओं मे उपयुक्त रहता है। जब सरकार किसी प्रचलित गैर-सरकारी उद्यम को अपने हाथों मे लेती है तो वह उसके बहुसंख्यक शेयर खरीद कर ऐसा करता है। इस दशा मे सगठन के स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही किया जाता और उद्यम को सरकारी कम्पनी के रूप मे पंजीकृत कर लिया जाता है। इसी प्रकार, जब सरकार किन्ही देशी या विदेशी गैर-सरकारी हितो के साथ मिलकर किसी उद्यम को आरम्भ करना चाहती है तो संगठन का कम्पनी-रूप (company form) ही उसके लिए सर्वोत्तम होता है। किन्तु भारत सरकार ने अनेक पूर्णतया सरकारी उत्तम प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों के रूप मे चालू किये हैं। इस रीति मे इन

से विधान मण्डल द्वारा किया जाता है और जिन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उसका निर्माण किया जाता है उन्ही के अनुरूप उसकी रचना की जाती है। ऊपर जिन लक्षणो का उल्लेख किया गया है, वह तो निगम की विशेषताओ का एक सामान्य विवेचन है; जबकि तथ्य यह है कि विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट प्रकार के निगमो की रचना की जाती है। तथापि, सरकारी उद्यमो के सम्बन्ध मे, सरकारी कार्य के प्रशासनिक साधन के रूप मे निगम का चुनने का एक सामान्य उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य है लोचशीलता (flexibility) तथा स्वायत्तता (autonomy)। किन्तु यह स्वायत्तता केवल आन्तरिक प्रबन्ध के मामलो तक ही सीमित रहती है। सरकार को इस सम्बन्ध मे व्यापक अधिकार प्राप्त होते हैं कि वह राष्ट्रीय हित के मामलो मे मैनेजरो को अनुदेश (instruction) जारी कर सके और आन्तरिक प्रबन्ध की कुछ बातो सहित अन्य मामलो मे हस्तक्षेप कर सके। आन्तरिक मामलो मे सरकारी हस्तक्षेप कितनी मात्रा मे होगा यह कुछ तो विभिन्न समयो मे प्रचलित परिस्थितियो पर निर्भर होता है और कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि निगम से सम्बन्धित कानूनो तथा विनियमो (regulations) का सरकार किस प्रकार विश्लेषण करती है। अतः मैनेजर अपने कार्यों का कुशलता से सम्पादन कर सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकारी अधिकारी तथा मन्त्रीगण (ministers) अपनी शक्तियो तथा अधिकारो का विवेक एवं सयम के साथ प्रयोग करें।

निगम के मामलो मे सरकारी नियन्त्रण की मात्रा देश-देश मे और एक ही देश मे भी निगम-निगम मे भिन्न होती है। कुछ देशो मे तो यह नियन्त्रण इस प्रकार होता है कि सम्बन्धित उद्योग के लिए जिम्मेदार मन्त्री को कानून द्वारा कुछ शक्तियाँ प्रदान कर दी जाती हैं। मन्त्री सामान्यतया निगम के लिए एक प्रबन्ध-मण्डल (governing board) अथवा प्रबन्ध-संस्था की नियुक्ति कर देता है। यह मण्डल अपने पूंजी-निवेश के कार्यक्रमो की रूप रेखा बनाने में तथा अनुसधान व प्रशिक्षण की योजनाओं का निर्माण करने मे मन्त्री से प्रायः विचार-विमर्श करता है। अधिकाश मामलों मे, निगम को उस पूंजी के सम्बन्ध में, जो कि वह बाहर से प्राप्त करना चाहता है, मन्त्री की अनुमति लेने की आवश्यकता होती है। मन्त्री निगम की वार्षिक रिपोर्ट तथा उसका हिसाब-किताब प्राप्त करता है और उसे ससद के समक्ष रखता है। वह निगम के मण्डल को सामान्य प्रकृति के निर्देश दे सकता है। वह निगम से उसके कार्यों से सम्बन्धित मामलो की कोई भी ऐसी सूचना माँग सकता है जिसे कि वह निगम की सामान्य नीति पर अपना नियन्त्रण लागू करने के लिए आवश्यक समझे।

सरकारी निगम स्वय को बिना किसी प्रकार राजनीति से सम्बद्ध किये ही वाणिज्यिक उद्यम का कार्य सम्पन्न करती है। सरकार केवल सामान्य नीति का निर्धारण करती है और आमतौर पर आन्तरिक मामलो मे कोई हस्तक्षेप नही करती। मन्त्री को यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह अनेक मामलो के सम्बन्ध मे मैनेजरो को हिदायतें दे। इन मामलो मे कभी-कभी दिन प्रतिदिन के प्रबन्ध से सम्बन्धित मामले भी होते है। परन्तु जब मन्त्री सरकारी निगम के वास्तविक उद्देश्य को मान्यता प्रदान करते हैं तो दिन प्रतिदिन के मामलो मे सरकार का हस्तक्षेप कम होता है। उस स्थिति मे, निगम राजनीतिक बातो से दूर रहकर एक सच्ची व्यावसायिक संस्था के रूप मे कार्य कर सकता है। एक सरकारी उद्यम उतना ही वाणिज्यिक उद्यम होता है जितना कि अन्य कोई। किन्तु सरकारी विभाग के रूप मे उसका प्रबन्ध करना कार्य-सम्पादन का सर्वोत्तम तरीका नही है। यह माल का उत्पादन करता है तथा उसे बेचता है अत. यह आवश्यक है कि बाजारो से उसका सम्पर्क बना रहे। यह उस कार्य को कुशलतापूर्वक केवल तभी सम्पन्न कर सकता है जबकि उसका प्रबन्ध पूर्णतः व्यावसायिक आधार पर ही किया जाए।

बचत होती है अथवा घाटा, और अनेक स्थितियो मे इनमे से एक न्यायोचित नही होता। इसके अतिरिक्त उद्यम के कुछ क्षेत्रो मे, एक और इकाई को उत्पन्न करने की अतिरिक्त लागत या तो नगण्य (negligible) होती है या शून्य (zero)। उदाहरण के लिए, परिवहन (transport) की स्थिति मे, एक और यात्री को ले जाने की सीमान्त लागत शून्य होती है। ऐसे उद्यमो मे जहां कि उपयुक्त क्षमता शेष होती है, वस्तु अथवा सेवा की अतिरिक्त इकाई का उत्पादन व्यवहारत: नहीं के बराबर होता है। जब निश्चित लागतें (fixed costs) कुल लागतो का एक बडा भाग होती हैं, तो सीमान्त लागत बहुत कम होती है और उस स्थिति मे उसे मूल्य-निर्धारण का आधार नहीं बनाया जा सकता।

चूंकि सीमान्त लागत मूल्य-निर्धारण की एक उपयुक्त कसौटी नही बन सकती, अत: इस उद्देश्य के लिए किसी अन्य आधार का उपयोग करना होगा। लागू होने वाला सिद्धान्त ऐसा होना चाहिए जो कीमतो को इस प्रकार निश्चित करे कि जिससे कुल लागत कुल आय के बराबर हो जाए और उद्यम को न लाभ हो न हानि। दो कारणो के आधार पर ऐसा करना न्यायोचित है। सर्वप्रथम तो, केवल लागतो की ही पूर्ति करके, सरकारी उद्यम अपनी मूल्य-नीतियो के स्फीतिकारी (inflationary) तथा अवस्फीतिकारी (deflationary) प्रभावों से बच सकते हैं। उद्यम अपने द्वारा प्रयोग किये गये उत्पादन के उपादानो को भुगतान करके तो द्रव्य का चलन (circulation) मे रखता है और अपनी उत्पादित वस्तुओं का मूल्य वसूल करके द्रव्य को चलन से बाहर करता है। इसमे होने वाली किसी भी कमी अथवा घाटे का प्रभाव स्फीतिकारी होता है बशर्ते कि आर्थिक व्यवस्था के किसी अन्य भाग मे कुछ बचत करके उसकी पूर्ति न कर ली जाए। इसी प्रकार, बेशी (surplus) का प्रभाव अवस्फीतिकारी होता है। तथापि, यह हो सकता है कि एक निगम का लाभ अन्य निगम की हानि से सन्तुलित हो जाए, परन्तु ऐसा सयोग कभी ही होता है। दूसरे, केवल लागतो की पूर्ति करके, न उससे अधिक न कम सरकारी उद्यम अत्यधिक अथवा न्यून-विस्तार (over or under-expansion) की सम्भावना को भी समाप्त कर देते हैं। यदि वस्तु की कीमतें अधिक नीची निश्चित की जाती है तो उसके उत्पादन का अत्यधिक विस्तार हो जाता है, और यदि कीमत अधिक ऊँची रखी जाती है तो उसका उत्पादन अनुचित रूप से सीमित हो जाता है। यह तर्क उन वस्तुओं के सम्बन्ध मे विशेष रूप से लागू होता है जिनकी मांग की मूल्य-सापेक्षता (price-elasticity of demand) ऊँची होती है।

ऐसा ही सिद्धान्त उन विभिन्न वस्तुओ की कीमतो को निश्चित करने के लिए लागू किया जा सकता है जबकि किसी उद्यम द्वारा एक से अधिक वस्तु या सेवा का उत्पादन किया जाता है। इस नियम को समानता एव साधनो के समुचित बँटवारे के आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है। इस सिद्धान्त को लागू करने मे कठिनाई तब उत्पन्न होती है जबकि विभिन्न उत्पादित पदार्थों की एक समान ऊपरी लागतें (overhead costs) होती हैं। ऐसे मामलो मे ऊपरी लागतो का विभिन्न पदार्थों मे समुचित रूप से वितरण करना होता है। जब विभिन्न पदार्थ प्रतियोगी होते हैं तो निश्चित रूप से उनकी सीमान्त लागतो के अनुरूप होती हैं। इस स्थिति मे ऊपरी लागतो का उपयुक्त बँटवारा यही हो सकता है कि सीमान्त लागत मे इतना व्यय और जोडा जाए जिससे एक स्थिति मे ऊपरी लागतो की पूर्ति हो जाए और जो ठीक उतने ही व्यय के बराबर हो जितना कि अन्य प्रतियोगी स्थिति (competing case) मे जोडा गया हो। जब सेवा के विभिन्न भाग प्रतियोगी नही होते, तो उस स्थिति मे यह भी जरूरी नही होता कि विभिन्न कीमतें भिन्न-भिन्न लागतो को सीमान्त पर पूर्णतया यथार्थ रूप मे प्रभावित करें और तब ऊपरी लागतो का बँटवारा 'यातायात जितना वहन करेगा' के सिद्धान्त के अनुसार किया जा सकता है।

उद्यमो का संचालन विशुद्ध वाणिज्यिक उद्यमो के रूप मे करना सम्भव हो जाता है और उसमे संसद का कोई अनुचित हस्तक्षेप नही होता।

इस रूप (form) के बावजूद, सरकारी कम्पनियाँ सरकार तथा संसद के प्रति अपने सवैधानिक उत्तरदायित्वों से मुक्त नही हो सकती। कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत सरकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह संसद (parliament) के दोनो सदनो के समक्ष प्रत्येक सरकारी कम्पनी के कार्यो से सम्बन्धित रिपोर्ट रखे और उसके साथ ही आडिट रिपोर्ट की एक प्रति तथा उस पर भारत के नियन्त्रक व महालेखा-परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) की टिप्पणी भी प्रस्तुत करे। नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह एक सरकारी कम्पनी के खातो के लेखा-परीक्षण (audit) के तरीके के बारे मे निर्देश जारी करे और स्वयं नियुक्त व्यक्तियों द्वारा उसका अनुपूरक लेखा-परीक्षण भी करा सके। इसके अतिरिक्त, लेखा-परीक्षण की रिपोर्ट नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक को भेजनी होती है।

इस प्रकार, कम्पनी मे सरकार सबसे बडी शेयरधारी होती है और एक सरकारी कम्पनी मे निदेशको (directors) की नियुक्ति सरकार द्वारा ही की जाती है। निदेशको से यह आशा की जाती है कि वे जनता के हितो के अनुसार ही कम्पनी के कार्यों का प्रबन्ध करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि इस स्थिति मे गैर-सरकारी कम्पनी के समान शेयरधारियो द्वारा चुनाव नही किया जाता, परन्तु यह कहना भी गलत है कि सरकार के निर्णय किसी एक ही व्यक्ति द्वारा किये जाते हैं। वस्तुतः वे निर्णय उन सभी लोगो के होते हैं जिनसे मिलकर सरकार का निर्माण होता है। यही नही, ये निर्णय शेयरधारियो के बेमेल संगठन के मुकाबले अधिक परिपक्व तथा ठोस होते हैं।

यदि समुचित स्वायत्तता प्रदान की जाए तो सरकारी कम्पनी उसी तरह कार्य कर सकती है जैसे कि कोई भी वाणिज्यिक उद्यम करता है। स्वायत्तता से उद्यम स्वाभावित हितो के अनुसार कार्य करता है और साथ ही साथ इससे उसकी प्रशासनिक स्वाधीनता तथा प्रबन्ध सम्बन्धी उत्तरदायित्व बना रहता है। उधर संसदीय नियत्रण तथा लेखा-परीक्षण (audit) के सम्बन्ध मे नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक की शक्तियाँ कम्पनी को बहुत अधिक स्वतन्त्र होने से रोकती हैं।

सरकारी निगम के मुकाबले सगठन के कम्पनी रूप मे अधिक लोचशीलता पाई जाती है। परन्तु भारत मे सगठन के इन दोनो ही रूपो के बीच चुनाव का सामान्य सिद्धान्त यह रहा है कि मिश्रित पूँजी कम्पनी को तो वहाँ उपयुक्त माना जाता है जहाँ कार्य की प्रकृति ठोस रूप मे वाणिज्यिक होती है और सरकारी निगम को वहाँ महत्वपूर्ण समझा जाता है जहाँ कि उद्यम ऐसे कार्य सम्पन्न करता है जिन्हे कि सरकार के कामो का ही विस्तार मात्र कहा जा सकता है, उदाहरण के लिए, सिंचाई जल विद्युत् शक्ति, नदी घाटी योजनाएँ आदि।

सरकारी उद्यमों को मूल्य-नीति (The Price Policy of Public Enterprises) :

सिद्धान्त रूप मे, सरकारी उद्यमो को अपनी कीमते सीमान्त उत्पादन-लागत के आधार पर निश्चित करनी चाहिए। इस विधि से साधनों के अनुकूलतम उपयोग का आश्वासन मिलता है। सीमान्त लागत के सिद्धान्त (marginal cost principle) को लागू करके मूल्य-व्यवस्था (price machanism) का उपयोग किया जाता है जिससे साधनो का आर्थिक वितरण करना सम्भव होता है। परन्तु व्यवहार मे, सीमान्त लागत का सिद्धान्त कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। सीमान्त लागत का निर्धारण प्रायः अनिश्चित तथा मनमाना होता है। जब किसी उद्योग को घटती या बढ़ती लागतो के बीच से गुजरना होता है तो उस स्थिति मे सीमान्त लागतें औसत लागत से अधिक कम होती है, और यदि कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है तो उद्यम को या तो

उपायों में से कौन-सा उपाय अपनाया जाए, यह एक विवाद का विषय है और इस मामले पर विचारकों के अलग-अलग विचार हैं।

सरकारी उद्यमों के लिए लाभों की नीति को मुख्यत. इस आधार पर *न्यायोचित* ठहराया जाता है कि लाभों से राजकोष को साधन प्राप्त होते हैं। अल्पविकसित देशों में, विशेष रूप से वहाँ जहाँ कि सरकारी क्षेत्र के विस्तार को आर्थिक विकास की प्रक्रिया का एक अंग माना जाता है चूँकि निजी क्षेत्र के विस्तार की मात्रा कम हो जाती है अत. *करारोपण से प्राप्त होने वाली सरकारी आय भी कम हो जाती है।* सरकारी क्षेत्र के उद्योग यदि निजी अथवा गैर-सरकारी क्षेत्र में होते तो अवश्य लाभोपार्जन करते और उन लाभों का कुछ भाग करों के रूप में सरकार के पास आता। कभी-कभी, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण इसलिये किया जाता है कि जिससे उनके विशाल लाभों को निजी व्यक्तियों के पास जाने में रोक कर सरकारी खजाने की ओर को मोड़ा जा सके। इसके अतिरिक्त जब आर्थिक विकास के लिए विशाल साधनों की आवश्यकता होती है तो सामान्य साधन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। सामूहित बचतें, वर्तमान समय में, व्यवसाय के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान करती हैं, अत *सरकारी क्षेत्र के उद्यमों को भी ऐसी ही नीति का अनुसरण करना चाहिए।* उद्यमों में होने वाले लाभों का उपयोग या तो उन्हीं उद्योगों में पुनर्निवेश के लिए किया जा सकता है अथवा कहीं अन्यत्र विकास के लिए।

फिर, सरकारी उद्यमों का एक सामाजिक कार्य यह होता है कि वे श्रमिकों के लिए कल्याणकारी सेवाओं की व्यवस्था करें। श्रमिकों को निर्वाह निधि, बेरोजगारी सहायता, वृद्धावस्था पेन्शन तथा कार्मिक सुरक्षा योजनाओं की अन्य सुविधाएँ प्रदान किये जाने के अतिरिक्त, एक सरकारी उद्यम से यह भी आशा की जाती है कि वे बेशी-श्रम (surplus labour) बनाये रखें। अतः *मूल्य-नीति इस प्रकार की बनानी होती है जिससे कि उद्यम का उक्त उद्देश्य के लिए यथेष्ट मात्रा* में धन प्राप्त हो सके। ऐसा करने से उद्यम इस योग्य नहीं बनता कि वह सामान्य अर्थ में बेशी प्राप्त कर सके, बल्कि इससे उसे एक महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य के लिए साधन प्राप्त हो जाते हैं।

(२) **प्रबन्धकीय कुशलता में वृद्धि** (promotes managerial efficiency)—लाभों की नीति के पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि बेशी (surplus) प्राप्त करने के लक्ष्य से प्रबन्ध सम्बन्धी क्षमता में वृद्धि होती है। प्रबन्धकों को यह अवसर मिलता है कि वे अनुकूलतम उत्पादन और निम्न लागतों के रूप में अपनी सफलताओं का प्रदर्शन कर सकें। जब लाभों को अधिकतम करने की नीति अपनाई जाती है तो लागतों को न्यूनतम करने के अधिकतम प्रयत्न किये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि एकाधिकारी स्थिति में होने के कारण सरकारी उद्यम काफी उच्च स्तर पर कीमतों का निर्धारण करके इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर सकता है परन्तु *जब लाभ ही मुख्य उद्देश्य बन जाता है, तब तो सम्पूर्ण दृष्टिकोण ही भिन्न हो जाता है* और प्रबन्धकों पर इस बात का मनोवैज्ञानिक दबाव पड़ता है कि वे लागत सम्बन्धी क्षमता को अधिकतम करने के लिए कार्य करें। ऐसी परिस्थितियों में लाभ उद्यम के आर्थिक संचालन का सूचक होता है *और लाभों का न होना साधनों के अपव्ययी उपयोग का चिन्ह होता है।*

विपक्ष में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्क:

(१) **लाभ मूल्य नीति के एकमात्र लक्ष्य नहीं बन सकते** (profits can not be sole intenation of price policy)—लाभों की नीति के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण यह है कि लाभ वहाँ पर मूल्य-नीति एकमात्र लक्ष्य नहीं बन सकते जहाँ कि वे देशभाल

'जितना यातायात वहन करेगा' (what the traffic will bear) का सिद्धान्त सरकारी उद्यमो द्वारा भेदमूलक एकाधिकार के आधार पर प्रायः भिन्न-भिन्न कीमतें निश्चित करने मे लागू किया जाता है। प्रायः यह आवश्यक हो जाता है, विशेष रूप से जनोपयोगी सेवाओ के मामले मे कीमतें उतनी निश्चित की जाएँ जितनी कि ग्राहकों के विभिन्न वर्ग अदा कर सकते हो। रेलवे तथा बिजली उद्यम के मामले मे, दरें यह देखते हुए निर्धारित की जाती हैं कि विभिन्न व्यक्तियो ने कितने मूल्य की सेवाओ का उपयोग किया गया है। दरें निर्धारित करते समय बिजली के घरेलू तथा औद्योगिक उपयोगो के बीच, सेवाओं के अधिकता तथा कमी के समय मे और व्यस्त काल तथा मन्दे काल मे अवश्य भेदभाव किया जाता है। ये सब बातें दो कारणों के आधार पर और न्यायोचित मानी जाती हैं, एक तो समता के आधार पर और दूसरे साधनो के अधिकतम उपयोग के आधार पर। वसूल किये जाने वाले मूल्य का आधार होता है 'जो भी यातायात वहन करेगा'। 'जो वहन नही करेगा' को आधार नहीं बनाया जाता। फिर, कुछ ग्राहको को कम मूल्य पर सेवा प्रदान करके उद्यम अपने सयन्त्र (plant) तथा अपनी क्षमता का अधिक विस्तृत उपयोग सम्भव बनाता है और इस प्रकार ऊपरी लागतो का अधिक व्यापक वितरण करता है। कीमतो मे भेदभाव अपनाने का मतलब अनिवार्यतः यह नही होता कि 'न लाभ न हानि' के सामान्य सिद्धान्त को छोड दिया गया है। ग्राहकों के विभिन्न वर्गों के लिए उनको उपलब्ध होने वाली सेवाओ के आधार पर दरें निश्चित की जा सकती है किन्तु कुल आय फिर भी इतनी हो सकती है जो कुल लागत की पूर्ति करे।

किन्तु स्मरणीय बात यह है कि 'न लाभ न हानि' सिद्धान्त को सभी स्थितियो मे सदा ही दृढ़ता से लागू नही किया जा सकता। राष्ट्रीय हितों से सम्बन्धित बातें प्रायः बीच मे आ जाती हैं और सरकारी उद्यमो के लिए यह जरूरी बना देती हैं कि वे या तो लाभ के आधार अपना संचालन करें अथवा हानि के आधार पर। प्राय उद्यमों मे इसलिए बेशियाँ उत्पन्न करनी होती हैं जिससे कि उद्यमो को विस्तार के लिए साधन प्राप्त हो जाएँ। उधर अन्य मामलो मे; ग्राहको को इसलिये आर्थिक सहायता अथवा उपादान दिया जाता है जिससे कि कुछ उद्योगो के विस्तार को प्रोत्साहन मिले। उदाहरण के लिए, इस्पात भारी उद्योगों को कम लागत पर इसलिये बेचा जा सकता है कि औद्योगिक विस्तार को प्रोत्साहन मिले। इसी प्रकार हाथ करघो (handlooms) को सूत इसलिए सस्ती दरों पर दिया जा सकता है जिससे कि उस उद्योग को बढ़ने मे सहायता मिले।

लाभों की नीति क्या हो? एक महत्वपूर्ण समस्या (Policy of Profits)

पक्ष में दिये जाने वाले तर्क

(१) राजकोषों के लिए साधन (resources for the public exchequer)—सरकारी उद्यम अधिकांशतः चूँकि एकाधिकारी उद्यम होते हैं अतः वे इस स्थिति मे होते हैं कि अपनी कीमतो मे विभिन्नता रखें और इस प्रकार यदि चाहें तो लाभ कमा सकें। वे लाभ प्राप्त करें या 'न लाभ न हानि' के सिद्धान्त के आधार पर काम करें अथवा सरकारी सहायता के बल पर अपना संचालन जारी रखें—इसके निर्णय ने बडे गम्भीर विवाद को जन्म दिया है। निजी उद्यमो की तरह सरकारी उद्यमो का लक्ष्य भी यही होना चाहिए कि वे कार्य-कुशलता के न्यूनतम स्तर प्राप्त करें और यथा सम्भव अपनी कार्य-कुशलता बढाने का प्रयत्न करें। लागत की क्षमता की किसी भी वृद्धि से होने वाले लाभो को या तो निम्न कीमत के रूप में उपभोक्ता को दिया जा सकता है अथवा अपने लाभों मे वृद्धि करके वह स्वयं उद्यम द्वारा अपने पास ही रखा जा सकता है। इन दोनो

को यदि प्राप्त करना है तो वस्तु कराधान का उद्देश्य यह होना चाहिए कि गैर-अनिवार्य वस्तुओं (non necessaries) तथा विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग पर कुछ रोक लगाई जाए। इसके अतिरिक्त वस्तु कराधान के द्वारा यह भी प्रयत्न किया जाता है कि अनिवार्य वस्तुओं के बढ़े हुए उत्पादन के कुछ भाग को ग्रामीण क्षेत्र से औद्योगिक तथा शहरी क्षेत्र की ओर को स्थानान्तरित कर दिया जाए। और यह कार्य केवल सामूहिक उपभोग की अनिवार्य वस्तुओं पर कर लगाकर पूरा नहीं किया जा सकता, क्योंकि उदाहरण के लिए, यदि कृषि पदार्थों पर कर लगाये जाएँ तो इससे किसानों को इस बात के लिए, बाध्य नहीं किया जा सकता कि उन पदार्थों की पैदावार को अपने से पृथक् करें। इसके विपरीत, इस लक्ष्य की पूर्ति तब हो सकती है जबकि कराधान से किसानों द्वारा उपयोग किये जाने वाले गैर-कृषि पदार्थों की कीमतों में वृद्धि कर दी जाए। इस स्थिति में चूँकि किसानों को गैर-कृषि पदार्थों की एक नियत मात्रा के लिए कृषि पदार्थों की अपेक्षाकृत एक बड़ी मात्रा देनी पड़ेगी, अत वह अनिवार्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करेगा और इस विनिमय के द्वारा फिर ये वस्तुएँ शहरी क्षेत्रों की ओर को स्थानान्तरित भी हो जायेंगी। **यदि यह विश्लेषण (analysis) सही है तब तो निष्कर्ष यही निकलता है कि अनिवार्य वस्तुओं पर कर लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है।**

परोक्ष कराधान के प्रभाव
(Effects of Indirect Taxation)

परोक्ष करों के द्वारा व्यवहार में साधनों के तथा क्रय-शक्ति के जो अन्तरण (diversions) किये जाते हैं उस दृष्टि से भी उनका महत्व है। इस बात की महत्ता इसलिये है क्योंकि परोक्ष करों का मुख्य लक्ष्य है सरकारी विनियोग के लिए साधन प्राप्त करना, विनियोग की दर में वृद्धि करना और अन्तत वृद्धिशील बचतों के अनुपात को ऊँचा करना। अत सर्वप्रथम तो वस्तु कर (commodity taxes) गैर-सरकारी क्षेत्र से सरकारी क्षेत्र की ओर को साधनों का अन्तरण करने में सहायता करते हैं।[21] ऐसा स्थानान्तरण दो चरणों (stages) से होकर गुजरता है—राज्य द्वारा कराधान के माध्यम से क्रय शक्ति (purchasing power) का अर्जन (acquisition) और राज्य द्वारा उत्पादन के उपादानों (factors of production) की खरीद। यहाँ इस बात पर जोर देना भी आवश्यक है कि राज्य को अपने पास के साधनों का अन्तरण इस प्रकार करना चाहिए कि उससे मुद्रा स्फीति (inflation) जैसे अवाञ्छनीय प्रभाव उत्पन्न न हों। वस्तु कराधान द्वारा एक दूसरे प्रकार का अन्तरण भी सम्भावित है और वह है गैर-सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत ही उपभोग वस्तुओं के उद्योगों से विनियोग वस्तुओं के उद्योगों की ओर को साधनों का अन्तरण। साधनों का ऐसा अन्तरण भेद मूलक कराधान (differential taxation) के द्वारा प्राप्त किया जाता है। विलासिता की वस्तुओं तथा गैर-अनिवार्य वस्तुओं पर कर लगाकर और पूँजीगत पदार्थों (capital goods) को कर-मुक्त करके ऐसा अन्तरण (diversion) किया जा सकता है। परोक्ष कराधान एक तीसरे प्रकार के अन्तरण में भी सहायता करता है और वह है आयात पदार्थों की ओर से देश में ही उत्पन्न पदार्थों की ओर माँग का अन्तरण। ऐसा अन्तरण आयात करों की व्यवस्था द्वारा लाया जाता है जिनके द्वारा कि विदेशी वस्तुओं की माँग कम हो जाती है और देश में ही उत्पन्न वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। इन तीनों ही प्रकार के अन्तरण का उद्देश्य आर्थिक विकास को तेज करना है।

परोक्ष करो के दूसरे प्रकार के प्रभाव को मूल्य-प्रभाव (price effect) की संज्ञा दी जा सकती है। यदि किसी वस्तु पर कर लगाया जायेगा तो यह स्वाभाविक है कि उसकी कीमत में वृद्धि होगी और उसके परिणामस्वरूप उसकी माँग में कुछ कमी हो जायेगी। इस स्थिति में, उत्पादन के साधन, कर लगी वस्तु की ओर से अन्य वस्तुओं की ओर स्थानान्तरित हो जायगे।

---

21. किन्हीं विशिष्ट वस्तु करों के ठीक-ठीक अन्तरणात्मक प्रभाव (diversion effects) माँग और सम्भरण के सापेक्षिक लचीलेपन पर निर्भर होते हैं।

पर आधारित होते है। सरकारी उद्यम अधिकांश मामलो मे एकाधिकारी संगठन होते हैं अत: वे इस स्थिति मे होते हैं कि कीमतो मे भेदभाव या अन्तर रख सकें। किन्तु भेदभाव (discrimination) मे भेदमूलक कराधान का तत्व पाया जाता है जिसे कि प्राय: अलोकप्रिय माना जाता है। फिर, लाभ प्राप्ति के लिए बरते जाने वाले भेदभाव का सरकार की आर्थिक नीति से टकराव हो सकता है। वे बातें जिन पर आधारित भेदभाव उद्यम के लिए सर्वाधिक लाभकारी हो, सम्भवत: उन तत्वो के अनुकूल न हो जिन्हे सामाजिक कारणो से वान्छनीय समझती है। यह हो सकता है कि उद्यम बडे ग्राहकों तथा अधिक विकसित क्षेत्रों का पक्ष लेने को लाभप्रद समझे, किन्तु उधर सरकारी नीति छोटे ग्राहको तथा अल्पविकसित क्षेत्रो का पक्ष लेने की हो सकती है। इस स्थिति मे लाभो की नीति सफल नही हो सकती।

(२) *संभरण को सीमित करना (limitation of supply)*—लाभो के विरुद्ध एक अन्य तर्क यह है कि उनमे वस्तु के सम्भरण को सीमित की बात निहित होती है। किन्तु बढते हुए प्रतिफल वाले उद्योगो मे विशेष रूप से उत्पादन को सीमित करना अवान्छनीय होता है। इसके अतिरिक्त, जब उद्योग अन्य किन्ही उद्योगो का आधार होता है तब भी यह चीज हानिकारक होती है, उदाहरण के लिये, रासायनिक खाद, मशीनरी तथा परिवहन आदि की स्थिति मे। ऐसे उद्योगो मे यदि ऊँची कीमतो तथा लाभो की नीति अपनाई जाती है तो अन्य उद्योगो के विकास पर निश्चित ही उसका प्रतिकूल प्रभाव पडता है। मूल उद्योगों द्वारा जो वेदियां प्राप्त की जाती हैं, वे निर्भर उद्योगो की लागत पर होती हैं। ऐसी नीति से आर्थिक विकास निश्चित रूप से पिछड जाता है।

(३) **अधिक मजदूरी की मांग होने की दशा में लाभों की समाप्ति** (profits disappear when there is a demand for higher wages)—जब किसी सरकारी उद्यम मे होने वाले लाभों के कारण अधिक मजदूरियो की मांग उत्पन्न हो जाती है तो उसके अधिकाश लाभो का महत्व समाप्त हो जाता है। अधिक मजदूरियो की मांग केवल तभी न्यायोचित कही जा सकती है जब कि लाभ श्रम की बढी हुई उत्पादिता के कारण प्राप्त हुए हो। अत श्रमिकों के दावों को स्वीकर करने से पूर्व इसका स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होना चाहिये। फिर यदि लाभों का उपयोग अन्य कार्यों मे भी किया जाना है तो ऐसे दावो को स्वीकार करने की कुछ सीमाएँ होनी चाहिये।

(४) **उपभोक्ताओं को शोषण से बचाने की दशा में लाभ न्यायोचित नहीं**—कुछ उद्यम सरकारी क्षेत्र मे इसलिये लाये जाते हैं ताकि उपभोक्ताओ को प्राइवेट एकाधिकारी के शोषण से बचाया जा सके। ऐसे उद्योगो मे अधिक मात्र, मे लाभ प्राप्त करना न्यायोचित नही होता, किन्तु उसका अर्थ तो केवल यही होगा कि गैर-सरकारी शोपण का स्थान सरकारी शोपण ने ले लिया है। इसमे कोई सन्देह नही है कि प्राइवेट उद्योगपतियो तथा सरकारी उद्यमो द्वारा कमाये जाने वाले बडे लाभो के बीच अन्तर है। पहले प्रकार के लाभ जहां प्राइवेट उत्पादको को धनी बनाते है और आय व धन की असमानताओ को बढाते हैं, वहां दूसरे प्रकार के लाभ सरकारी खजाने को उपलब्ध साधनो मे वृद्धि करते है और सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिये काम मे लाये जाते हैं। परन्तु जब उद्देश्य यह होता है कि उपभोक्ताओ को कुछ विशिष्ट वर्गों की सहायता की जानी है, तो नीची कीमत तथा कम लाभ की नीति ही सर्वोपयुक्त रहती है। भारत के कुछ नगरो मे राष्ट्रीयकरणकृत दुग्ध योजनाएं ऐसे उद्यमो के सुन्दर उदाहरण हैं।

(५) **कम लाभकारी उद्यम की दशा मे लाभ नीति न्यायोचित नहीं**—कुछ उद्यमो मे सरकारी प्रवेश इसलिये आवश्यक होता है क्योंकि कम लाभो के कारण उनका गैर-सरकारी संचालन सम्भव नही होता है। ऐसे मामलो मे लाभों की नीति सफल नही हो सकती। अनेक उद्योगो मे लाभो की प्राप्ति केवल दीर्घकाल मे ही सम्भव होती है और जहां भी ऐसा होता है वहाँ प्रबन्धको

को इस बात का प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नही होती कि वे कार्यक्षमता बढाएँ और उद्यमो से यथासम्भव शीघ्र लाभ प्राप्त करें।

निष्कर्ष (conclusion) :

अतः इन सभी तर्कों का निचोड इस निष्कर्ष के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है कि सभी सरकारी उद्यमो के सम्बन्ध मे कोई एक नीति नही अपनाई जा सकती। कुछ उद्योग ऐसे भी होते हैं जिनको आर्थिक सहायता प्राप्त करके चलाना ही सर्वाधिक वाञ्छनीय होता है। कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिनका राष्ट्रीयकरण मुख्यतः उपभोक्ताओं को संरक्षण प्रदान करने के लिये ही किया जाता है। ऐसे मामलो मे लाभ तो सरकार संचालन का सबसे कम महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है। अन्य उद्योग ऐसे भी होते हैं जिनमे 'न लाभ न हानि' अथवा कम लाभो की नीति सबसे अधिक उपयुक्त रहती है। कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जो अन्य उद्योगो का आधार बने होते हैं। ऐसे मामलो मे उनका सरकारी सचालन देश के चतुर्मुखी आर्थिक विकास मे केवल तभी सहायक हो सकता है जबकि उनकी कीमतें बिना ऊँचे लाभो का ध्यान किये ही निश्चित की जाएँ। सरकारी उद्योगो का एक तीसरा वर्ग ऐसा भी है जिसमे ऊँचे लाभो को उन मूल्य-नीतियो का मुख्य लक्ष्य बिना किसी कठिनाई से बनाया जा सकता है। कुछ उद्योग सरकारी क्षेत्र मे मुख्यतः इसलिये लाये जाते हैं ताकि ऊँचे लाभो को गैर-सरकारी उद्यमकर्त्ताओ से सरकारी कोष की ओर को मोडा जा सके। ऐसे मामलो मे ऊँचे लाभो की नीति बिल्कुल न्यायोचित होती है। अतः इस आधार पर सभी सरकारी उद्यमो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता। इस स्थिति मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रशासनिक समस्या इस बात का निश्चय करने मे होती है कि कौन से उद्योग को किस वर्ग मे रखा जाय। ऐसे निर्णयो के लिए बडी सतर्कता और गम्भीर सोच विचार की आवश्यकता होती है और यह आवश्यक होता है कि ऐसे निर्णयो मे परिस्थितियो के अनुसार समय-समय पर सशोधन किया जाता रहे।

सरकारी उद्यमों में श्रम सम्बन्ध
(Labour Relations in Public Enterprises)

सरकारी उद्यमो मे, श्रम-सम्बन्धो का भी एक विशिष्ट रूप होता है। सरकारी उद्यमो पर ऐसे श्रम-नीतियों को अपनाने का एक विशेष दायित्व होता है जो कि एक योग्य एवं सन्तुष्ट श्रम-शक्ति उपयुक्त कीमत पर प्राप्त करने तथा उसको बनाये रखने मे सहायक हो। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि मजदूरी की एक उपयुक्त एवं प्रेरणादायक नीति अपनाई जाय, श्रमिको का बडी सावधानी से चुनाव किया जाय, सभी स्तरों पर श्रमिको की कुशलता बढाने के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान की जाएँ और श्रमिको को इस सम्बन्ध मे सक्रिय प्रोत्साहन दिया जाय ताकि वे स्वयं अपनी कार्य की दशाओं के सम्बन्ध मे तथा उद्यम के संचालन के सम्बन्ध मे सुझाव दें। इस प्रकार, यह जरूरी होता है कि श्रमिको की कार्य की दशाएँ सन्तोषजनक हो और उनमें उद्यम के साथ लगाव की भावना हो।

सरकारी उद्यमो को मजदूरी की प्रेरणाओ की ऐसी व्यवस्थाएँ करनी होती हैं जो श्रम की उत्पादिता बढाने मे, लागत घटाने मे और कार्य-क्षमता का विकास करने मे महत्वपूर्ण भाग अदा करती हैं। वे व्यवस्थाएँ (systems) जिनका लक्ष्य उक्त उद्देश्यो की पूर्ति करना होता है, उद्यमो की विशिष्ट परिस्थितियो के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं और इन व्यवस्थाओं का निर्माण उद्योगो की आवश्यकताओ को देख कर ही किया जाता है। इन सब बातो को एक वाक्य मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो श्रमिको तथा उद्योगो, दोनो के ही पारस्परिक लाभो पर आधारित हो। सरकारी उद्यमो की कार्य-क्षमता अन्ततः बहुत हद तक इस बात

पर निर्भर होती है कि राष्ट्रीयकरण किये हुये उद्योग अपने कर्मचारियों को अच्छी प्रकार तथा हृदय से काम करने के लिए कहाँ तक प्रेरित कर सकते हैं। सरकारी उद्यमों से यह आशा की जाती है कि वे ऐसी नीतियाँ अपनाये जिनके द्वारा कि वे अपने अन्य कार्यों को पूरा करने के साथ ही साथ अपने कर्मचारियों की सुरक्षा, उनके स्वास्थ्य तथा कल्याण मे भी वृद्धि कर सकें।

यह सुझाव दिया जाता है कि यदि कर्मचारियों को उद्यम की क्रियाओं के लिए उत्तरदायी बनाना है और उन क्रियाओं में उनको पूर्ण भागीदार बनाना है तो यह आवश्यक है कि उनके साथ संयुक्त रूप से विचार-विमर्श किया जाय। भारत मे इस उद्देश्य के लिए संयुक्त उत्पादन समितियाँ अथवा संयुक्त प्रबन्ध परिषदें स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। ऐसी संस्थाएँ बनाई जाती हैं जिनमे प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों के प्रतिनिधि होते हैं। इन संस्थाओं का कार्य होता है कठिनाइयों एवं समस्याओं के बारे में और उत्पादन के तरीकों मे सुधार लाने के सम्बन्ध मे पारस्परिक विचार-विमर्श करना। ये संस्थाएँ विचारों तथा सूचनाओं का आदान-प्रदान करने की साधन मात्र होती हैं और श्रमिकों तथा प्रबन्धकों के बीच उनके पारस्परिक हित के लिए, मित्रतापूर्ण सम्बन्ध एवं सहयोग उत्पन्न करती हैं। ये परिषदें अथवा संस्थाएँ सलाहकार समितियाँ होती हैं जो स्वतन्त्र एवं स्पष्ट विचार विनिमय के बाद कुछ नतीजों पर पहुँचती हैं और तत्पश्चात् प्रबन्धकों के समक्ष अपनी सिफारिशें रखती है। कुछ गैर-सरकारी उद्यमों मे भी इस प्रकार के संयुक्त विचारविमर्श की पद्धति को अपनाने का प्रयास किया गया है किन्तु सरकारी उद्यमों में इस पद्धति को विशिष्ट महत्व प्राप्त है।

सरकारी क्षेत्र के उद्योगों मे श्रम-सम्बन्धों की समस्या एक जटिल समस्या है। इसके अन्तर्गत अंशतः तो संगठन के अन्तर्गत काम करने वाले सभी लोगों मे लोक सेवा की भावना पैदा करनी होती है और अंशतः उद्योग के निम्न तथा उच्च पदक्रम के लोगों मे दृष्टिकोण की समानता उत्पन्न करनी होती है। यह कार्य ऐसे उद्योगों मे तो अपेक्षाकृत सरल होता है जहाँ कि प्रबन्धकों एवं श्रमिकों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क होता है किन्तु ऐसे उद्योगों में सरल नही होता जहाँ नीति निर्धारण करने वालों तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने वालों मे दूरी वर्तमान होती है। इस स्थिति मे यदि प्रबन्ध का छोटे-छोटे भागों मे विभाजन अथवा विकेन्द्रीकरण कर दिया जाय और प्रत्येक भाग एक मैनेजर के अधीन रहे तो उससे बड़ी सहायता मिलती है। स्थानीय विभागों तथा ऐसे लोगों को यदि सत्ता का अधिकाधिक हस्तान्तरण कर दिया जाय जिन तक सभी श्रमिकों की पहुँच होती है, तो अच्छे श्रम सम्बन्धों के लिए यह व्यवस्था बड़ी सहायक होती है।

भारत में सरकारी उद्यम
(Public Enterprises in India)

उद्योगों का सरकारी स्वामित्व तथा प्रबन्ध भारत मे भूतकाल मे भी कोई अनजानी बात नही थी। ब्रिटिश काल मे भी रेलवे, डाक व तार, टेलीफोन, प्रसारण (broadcasting) तथा सिंचाई योजनाएँ आदि सब सरकारी उद्यमों के रूप मे ही विद्यमान थे। किन्तु उस समय सरकार अबन्ध नीति (laissez-faire) का अनुसरण करती थी और औद्योगिक क्षेत्र में राज्य मे राज्य का हस्तक्षेप बहुत ही कम मात्रा में होता था। स्वतन्त्रता के पश्चात, देश को गम्भीर आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। सरकार ने नियोजित आर्थिक विकास की नीति अपनाई और उद्योगों मे सरकार प्रवेश की रीति को अत्यधिक आवश्यक समझा गया।

उद्योगों की स्थापना तथा उनके संचालन मे सरकार की गतिविधि को अनेक कारणों से आज विशेष महत्व प्राप्त है। अनेकों ऐसे मूलभूत उद्योग हैं जिनमे बड़ी मात्रा मे निवेश करने होते हैं और जिनके सम्बन्ध मे विदेशी फर्मों अथवा सरकारों से विस्तृत सहयोग की आवश्यकता होती

है; यही नही, जिनमे तात्कालिक लाभ की गुंजाइश नही होती और उन्हें तो केवल भावी सम्भावनाओ की आशा पर ही चालू किया जाता है। ऐसे उद्योगों को चलाने की बात यदि पूर्णतया निजी उद्यम पर छोड दी जाय तो सम्भवतः उनका आरम्भ ही न हो। ऐसे उद्योगों को एक दम स्थापित करने की आवश्यकता है और देश के विकास की वर्तमान गति मे ऐसा होना अनिवार्य है। अतः ऐसे उद्योगो को सरकारी क्षेत्र में सम्मिलित करना अनिवार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र के तीव्र विस्तार से निवेश के लिये सरकारी बचतें अधिकाधिक मात्रा मे प्राप्त होंगी जिससे विकास की दर में वृद्धि होना सम्भव हो सकेगा। बढते हुये लाभ, जो कि गैर सरकारी क्षेत्र मे केवल असमानताओ का ही निर्माण करते, सरकारी क्षेत्र मे प्रत्यक्ष रूप मे पूँजी के संचय के लिए काम मे लाये जा सकते हैं। फिर, भारत चूँकि अपने यहाँ समाजवादी ढंग की समाज की स्थापना के प्रयत्नो मे लगा है अतः इसके लिये यह जरूरी है कि आर्थिक क्रियाओ की एक विस्तृत परिधि मे सरकारी क्षेत्र का प्रवेश हो।

पिछले कुछ वर्षों में, सरकारी क्षेत्र में अनेक बड़े औद्योगिक उद्यमों की स्थापना की गई है। अनेको की स्थापना पिछली तृतीय पंच वर्षीय योजना के काल मे हुई थी और इसी प्रकार आने वाली क्रमिक योजनाओ की अवधि मे अनेको नये उद्यमों की स्थापना होगी। सरकारी क्षेत्र निश्चित रूप से बढ़ेगा और देश की अर्थव्यवस्था मे इसे एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा।

भारत में सरकारी उपक्रमों अथवा उद्यमों का संगठन (Organisation of Public Enterprises in India):

भारत मे सरकारी उद्यमो का सगठन सामान्यतः तीन प्रकार से किया गया है: विभागीय सगठन, सरकारी निगम और मिश्रित पूँजी कम्पनी। पुराने सरकारी उद्यम, जैसे कि डाकघर, तार, टेलीफोन तथा प्रसारण आदि सरकारी विभागो के रूप में चलाये जाते हैं। दो विनिर्माण उद्योग, अर्थात् चितरंजन का रेलवे इंजिन का कारखाना और रेल के सवारी डिब्बों का कारखाना, विभाग के रूप संगठित हैं। सरकारी निगम को भारत मे उतना महत्व प्राप्त नहीं है जितना कि ब्रिटेन मे है परन्तु फिर भी कुछ उद्यम निगमो के रूप मे सगठित हैं। इनके उदाहरण हैं—दामोदर घाटी निगम, भारतीय वायु यातायात निगम, अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय वायु निगम तथा तेल व प्राकृतिक गैस आयोग। औद्योगिक क्षेत्र मे अन्य सभी सरकारी उद्यम मिश्रित पूंजी कम्पनी के रूप सगठित हैं।

अभी हाल तक, प्रत्येक विनिर्माण इकाई की स्थापना एक स्वतन्त्र कम्पनी के रूप मे की जाती थी। जब भी विभिन्न उद्यमो के बीच कुछ समन्वय या तालमेल की आवश्यकता होती थी और वह भी इसलिये क्योंकि उनका संचालन क्षेत्र एक ही होता था अथवा उनके बीच परस्पर विशेष तकनीकी अथवा वाणिज्यिक सम्बन्ध होते थे, तो उन इकाइयो के एक समान निर्देशक बनाकर समस्या का हल खोज लिया जाता था। किन्तु अब यह समझा जाने लगा है कि छोटी या बडी प्रत्येक इकाई के लिए पृथक् सगठन की बात समाप्त होनी चाहिए और इन संगठनो का एकीकरण करने की एक निश्चित नीति अपनाई जानी चाहिए ताकि मुख्यतः एक ही क्षेत्र में कार्य कर रहे उद्यमो को एक साथ लाया जा सके। इससे पृथक्-पृथक् इकाइयो को कुछ समान सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी। तब उस स्थिति मे एक साथ सगठित हुए तथा एक क्षेत्र मे काम कर रहे अनेको उद्यम क्रय तथा विक्रय के एक बड़े आकार के सगठन का उपयोग कर सकते हैं, वैज्ञानिक एवं तकनीकी अनुसंधान के लिए सुविधाओ की व्यवस्था करते हैं, रूपांकन (design) तथा विकास संगठन की स्थापना कर सकते हैं, समान आधार पर कर्मचारियो के चुनाव एवं उनकी भर्ती की उपयुक्त पद्धतियाँ तय कर सकते हैं और तकनीकी प्रशिक्षण के कार्यक्रमो को लागू कर सकते हैं। किन्तु यह बात ध्यान रखी जानी चाहिए कि एक कम्पनी के अन्तर्गत विभिन्न इकाइयो को एक

साथ लाने से कही अत्यधिक केन्द्रीयकरण न हो जाय और कम्पनी के दिन प्रतिदिन के मामलों मे निर्देशक मण्डल (Board of Directors) की ओर से कही अधिक हस्तक्षेप न होने लगे। संगठन मे यह परिवर्तन ऐसी बड़ी कम्पनियो की स्थापना करके लाया गया है, जैसे कि हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड, हैवी इंजीनियरिंग कारपोरेशन, हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड, हिन्दुस्तान कीटनाशी (इन्सैक्टिसाइड्स) लिमिटेड, उर्वरक निगम तथा राष्ट्रीय कोयला विकास निगम आदि। इनमे से प्रत्येक कम्पनी किसी विशिष्ट उद्योग के अनेकों पृथक्-पृथक् उद्यमो का नियन्त्रण करती है।

भारत मे नियोजन के प्रारम्भिक चरणों मे प्रयोजनाओ (projects) का प्रारम्भ विभागीय रूप मे ही किया गया था। बाद मे, यह निश्चय किया गया कि वाणिज्यिक प्रकृति के सरकारी उद्यमों को कम्पनियो के रूप मे संगठित किया जाना चाहिए। वर्तमान समय मे, अधिकांश नई प्रयोजनाओं के मामले मे, प्रारम्भिक चरणो तक ही देखभाल के लिए कम्पनी का निर्माण किया जाता है। प्रचलित कम्पनियों को भी इस बात का प्रोत्साहन दिया जाता है कि वे अपने क्षेत्र मे नई इकाइयो की स्थापना करें। इसका उदाहरण यह है कि हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड ने दुर्गापुर मे मिश्रधातु तथा इस्पात संयन्त्र (Alloy and Steel Plant) की और बोकारो मे नये एकीकृत इस्पात कारखाने की स्थापना की है तथा हिन्दुस्तान मशीन टूल कम्पनी को एक अथवा अधिक मशीनो औजार की फैक्टरियों की स्थापना का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

तीसरी पंच वर्षीय योजना मे कुछ समस्याओ का विवेचन किया गया था। व्यवसाय तथा औद्योगिक उद्यमों मे कुशलता लाने के लिए यह आवश्यक है कि उनके संचालन सम्बन्धी निर्णयो मे शीघ्रता होनी चाहिए और ऐसा तब हो सकता है जबकि उद्यम के संचालन में काफी मात्रा मे स्वायत्तता (autonomy) तथा लोचशीलता वर्तमान हो। अत: यह जरूरी है कि बडी मात्रा में सत्ता का हस्तान्तरण किया जाए और कार्य प्रणाली मे लोच बना रहे। इसी कारण जहाँ तक भी सम्भव हो सके अत्यधिक केन्द्रीयकरण तथा मन्त्रियो का हस्तक्षेप कम होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, स्वयं उद्यम के अन्दर भी उसके संचालन में कुशलता लाने की एक अन्य अनिवार्य शर्त यह है कि प्रबन्धक से नीचे के अफसरों को सत्ता का हस्तान्तरण किया जाए। प्रत्येक अफसर को यह पता होना चाहिए कि उसे क्या करना है और उससे किन-किन उपलब्धियो एवं सफलताओं की आशा की जाती है। जब अधिकारियों के कार्यों एवं उत्तरदायित्वो की स्पष्ट व्याख्या नही होती है तो उसके परिणामस्वरूप उसकी क्रियाएँ शिथिल हो जाती हैं और वे निर्णय लेने मे शीघ्रता नही कर पाते।

सरकारी उद्यमो के सफल संचालन में बाधा-उत्पन्न करने वाला अन्य तत्व यह है कि मैनेजर तथा अन्य ऊँचे पदो के लिए योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति नही मिल पाते। एक उद्यम तो सफलतापूर्वक केवल तभी चल सकता है जबकि मैनेजर तथा वैसे ही अन्य पदो के लिये पर्याप्त मात्रा मे योग्य व्यक्ति उपलब्ध हों। भारत मे स्थिति यह है कि समुचित योग्यता एवं प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नहीं हैं। अधिकांश मामलो में, सरकारी उद्यमों मे ऊँचे पदो पर ऐसे लोग धरे हुए हैं जिन्हें न तो समुचित ट्रेनिंग ही मिली है और न उन्हें अनुभव ही है। अत: इस स्थिति मे उद्यमो का कुशल संचालन कैसे सम्भव हो सकता ?

भारतीय सरकारी उद्यमों में आधुनिक लागत-लेखे (cost accounting) की तथा प्रबन्ध सम्बन्धी तकनीकों का उपयोग भी अधिक प्रचलित नही है। यही कारण है कि मैनेजर प्राय: लागतो पर नियन्त्रण पाने में असमर्थ रहते हैं। आर्थिक कुशलता काफी मात्रा मे लागत सम्बन्धी ज्ञान पर निर्भर होती है परन्तु अधिकांश मैनेजर लागत-लेखे से पूर्णतया परिचित भी नही होते। कर्मचारियो

का चुनाव, उनका प्रशिक्षण और उनको अधिकतम सन्तुष्टि देकर उनसे अधिकतम काम लेने जैसी बातें केवल तभी संभव हो सकती हैं जबकि मैनेजरों को आधुनिक तरीकों का ज्ञान हो और वे उनका उपयोग भी करें। सरकारी उद्यमों के संचालन मे कुशलता लाने के लिए यह आवश्यक है कि इस दिशा मे प्रयत्न किये जाएँ।

राजकीय व्यापार (State Trading):

समाजवादी देशों मे राज्य द्वारा व्यापार करना एक सामान्य बात है। युद्धकाल मे तो अनेक लोकतन्त्रीय देशों ने भी राज्य-व्यापार का आश्रय लिया। युद्धजन्य परिस्थितियों ने यह आवश्यक बना दिया कि विदेशी व्यापार पर कड़ा नियन्त्रण लगाया जाए। ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में, वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करने के लिए राज्य की ओर से विशेष संगठन बनाये गये। भारत ने भी इन्हीं देशों के पद चिह्नों का अनुसरण किया और राज्य-व्यापार का आश्रय लिया। उस समय राज्य-व्यापार का उद्देश्य यह था कि सरकार को इस योग्य बनाया जाय कि आवश्यक पदार्थों का आयात कर सके और अन्य देशों के साथ प्रभावपूर्ण तरीके से ऐसे समझौतों के अनुसार व्यापार कर सके, जो कि युद्ध जन्य परिस्थितियों की दृष्टि से आवश्यक हो।

भारत मे राज्य व्यापार युद्धोत्तर काल मे भी रहा। अब राज्य-व्यापार के उद्देश्य इस प्रकार हैं: सर्वप्रथम विकास के लिए किये जाने वाले नियोजन ने व्यापार के नियन्त्रण तथा राजस्व के अतिरिक्त, स्रोत दोनों को ही आवश्यक बना दिया है। विदेशी मुद्रा की समस्या, जो कि आयोजनाबद्ध विकास का ही प्रत्यक्ष परिणाम है, आयात तथा निर्यात पर कड़ा नियन्त्रण लगा कर ही सुलझाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त, कीमतों मे जो स्फीतिजनक वृद्धि हुई है उसने आयात-व्यापार को विशेष रूप से लाभप्रद बना दिया है। व्यापार के राष्ट्रीयकरण ने इन लाभों को प्राइवेट व्यक्तियों की जेबों से निकालकर सरकारी कोष मे डाल दिया है इससे सरकार को विकास कार्यों के लिए राजस्व का एक अतिरिक्त स्रोत प्राप्त हुआ है। दूसरे, विकास के लिए कुछ आवश्यक पदार्थों की जरूरत हुआ करती है जैसे कि सामग्री, मशीनें तथा उनके पुर्जे पर्याप्त मात्रा मे किन्तु एक नियन्त्रित तरीके से आयात करने होते हैं। ऐसा राज्य-व्यापार द्वारा सम्भव हो सकता है। तीसरे, भारत ने अनेक ऐसे कम्युनिस्ट देशों से समझौते किये हैं जहाँ व्यापार पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण लगा हुआ है। भारत ऐसे देशों के साथ सौदाकारी मे केवल तभी समानता बनाये रख सकता है जबकि इस तरफ भी ऐसा ही कोई एकाधिकारी संगठन हो। और ऐसा *एकाधिकारी संगठन केवल तभी सम्भव हो सकता है जबकि सरकार स्वयं व्यापार को अपने हाथ* मे ले। अन्त मे, बड़े संगठन के संचालन सम्बन्धी लाभ प्राप्त करना केवल राज्य व्यापार के द्वारा ही सम्भव है।

युद्ध के एकदम बाद के दिनों मे, इस प्रश्न पर विचार किया था कि देश मे राज्य व्यापार के लिए किस प्रकार की मशीनरी स्थापित की जाए। दो समितियाँ स्थापित की गईं—एक सन् १९४९ मे और दूसरी सन् १९५३ मे। दोनों ही समितियों ने इस कार्य के लिए एक निगम की स्थापना की सिफारिश की। समितियों का कहना था कि केवल एक स्वायत्तता प्राप्त निगम ही पूर्णतया वाणिज्यिक आधार पर व्यापार का संचालन कर सकती है तथापि समितियों ने निगम के कार्यों के सीमित क्षेत्र की ही सिफारिश की। उनके विचार मे ऐसा होना इसलिये आवश्यक था क्योंकि सरकार का अत्यधिक हस्तक्षेप व्यापार के लिए हानिकारक था। सरकार ने इस बात का निश्चय करने मे काफी समय लिया कि राज्य व्यापार के संगठन का स्वरूप क्या हो। फिर कहीं 'सन् १९५६ मे' जाकर, संसद के एक अधिनियम (Act) द्वारा 'राज्य व्यापार निगम' (State

Trading Corporation) की स्थापना की गई। निगम की आरम्भिक अधिकृत पूँजी १ करोड रु० थी जो कि बाद मे बढकर ५ करोड रु० हो गई थी। निगम की चुकती पूँजी (paid-up capital) की मात्रा अब २ करोड रु० है। निगम के कार्य अधिनियम द्वारा निर्धारित किये गये है।

निगम देश के अन्दर किसी अनुपाती व्यापार (distributive trade) मे सम्मिलित नही होता यद्यपि यह रसायन, कच्चा रेशम, रसायनिक खाद तथा अखबारी कागज जैसे कुछ आवश्यक पदार्थो का आयात करके 'समीकरण भण्डार' (buffer stocks) बना सकता है। ऐसे ही भण्डार यह कच्ची खनिज धातुओं, कच्चे जूट, जूतो, दस्तकारी के समान चाय तथा काफी आदि जैसी कुछ वस्तुओ के निर्यात के लिए भी बना सकता है। इसने सीमेन्ट मे भी व्यापार किया है। इस कार्य के लिए सीमेन्ट, इसने कुछ तो विदेशा से आयात किया और कुछ भारत मे उत्पादित सीमेन्ट प्राप्त किया, फिर उसका वितरण घरेलू उपभोक्ताओ के बीच किया। सन १६५६ मे, इससे कहा गया था कि खाद्यानो का सम्पूर्ण थोक व्यापार अपने हाथ में ले ले। ऐसा किया जाने का उद्देश्य यह था कि ऐसी कीमतो के बारे मे आश्वासन हुआ जा सके जो उत्पादको एवं उपभोक्ताओ, दोना की दृष्टि से उचित हा। प्रभावशाली सगठन, भण्डार करने की सुविधाओं तथा पर्याप्त समीकरण भण्डारो के अभाव के कारण केवल एक अन्तरिम योजना का निर्माण किया गया। यह योजना केवल तभी तक चलनी थी जब तक कि पूर्ण राज्य व्यापार की स्थापना न हो जाए। इस योजना के अन्तर्गत, थोक व्यापारियो को लायसेंसधारी व्यापारियों के रूप मे अपना कार्य जारी रखने की अनुमति दी गई। सरकार को भी अपनी निजी एजेन्सिया स्थापित करनी थी जिसे कि वह किसान से प्रत्यक्ष रूप से खरीद कर सके। योजना को प्रारम्भ मे ही कठिनाइया मे से गुजरना पडा। सयुक्त राज्य अमेरिका से पी० एल० ४८० के अन्तर्गत गेहूँ के आयात के समझौते से और देश मे अच्छी फसल होने से खाद्य स्थिति मे सुधार हो गया जिससे यह योजना समाप्त कर दी गई।

निगम की कार्यवाहियों की अनेक कारणो के आधार पर आलोचना की गई है। कहा गया है कि निगम ने स्वय मे कोई ठोस काय सम्पन्न करके नहीं दिया है अपितु और, देश के सामान्य व्यापार स्रोतों को ही नष्ट कर दिया है। इस प्रकार के सगठन मे ऐसी अनुकूलनीयता (adaptability) तथा लोचशीलता की आवश्यकता नही थी। इसके अतिरिक्त, इसकी कार्यवाहियाँ आशा से अधिक मँहगी सिद्ध हुई। परन्तु यदि इसी आकार और प्रकृति का एक नया सगठन खडा किया जाए तो निश्चित ही उसे पूर्णतया जमने मे तथा कुशलता के आशानुकूल स्तर तक पहुँचने मे समय लगेगा। निगम एक नया सगठन है जिसके सम्बन्ध मे अभी अनुभव की भी कमी है। समय बीतने के साथ ही, सम्भावना यही है कि इसके कार्य मे सुधार होगा और यह अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। वर्तमान परिस्थितियों मे भी, यह अनेक वस्तुओ मे व्यापार जारी रखे हुए है और इसने अपने शेयरधारियो तथा सरकार के लिए अच्छे लाभांश घोषित किये हैं तथा सरकार को अनेक उपयोगी निधियाँ प्रदान की हैं।

जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Life Insurance) :

भारत मे सन् १६५६ में जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण किया गया। ससद के एक अधिनियम द्वारा एक "जीवन बीमा निगम" (Life Insurance Corporation) की स्थापना की गई और सभी जीवन बीमा कम्पनियाँ इसमे मिला दी गई। जीवन बीमे के अलावा अन्य प्रकार के बीमे अभी भी प्राइवेट कम्पनियाँ द्वारा किये जाते है।

जीवन बीमे के राष्ट्रीयकरण का मुख्य कारण यह था कि कुछ बीमा कम्पनियो द्वारा अपने क्षेत्र का विस्तार करने की धुन मे अनुचित वित्तीय कार्यवाहियाँ की जाने लगी थी। बीमा कम्पनियों का बडी-बडी निधियो (funds) पर नियन्त्रण था, ऐसी निधियो पर जो अन्य व्यवसायों की नियन्त्रित इकाइयों से भी अधिक थी। इन निधियो का उपयोग प्राय: ऐसे उद्यमो की पूँजीगत आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए किया जाता था जिसमें बीमा कम्पनियो के निर्देशक (directors) रुचि लेते थे, ऐसे कार्यों मे नही किया जाता था जो कि पॉलिसी-धारको के लिए लाभदायक हो। इन अनुचित कार्यवाहियो को तथा अनुचित कम्पनियो के निर्माण को रोकने के लिए बनाया गया विधान अपर्याप्त सिद्ध हुआ और इसी कारण सरकार को इस व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण का तीव्र पग उठाना पडा।

ऐसा पग उठाने का अन्य कारण यह था कि बीमा कम्पनियो को प्राप्त बडी-बडी धनराशियाँ अब देश के विकास के लिए काम मे लाई जा सक्ती थी। इसका अर्थ था लोगों की बचतों को अधिक कारगर ढग से गतिशील करना। बीमे के राष्ट्रीयकरण के द्वारा लोगो के बचत प्रयत्नों मे वृद्धि होनी सम्भव थी और उन बचतों का उपयोग निजी हितो के लिए न होकर राष्ट्र की भलाई के लिए करना संभव था।

तथापि, तत्कालीन वित्त मन्त्री ने गैर-सरकारी क्षेत्र से यह वायदा किया था कि जीवन बीमे की जो धनराशियां पहले से ही प्राइवेट क्षेत्र मे निवेश की हुई हैं उन्हे किसी बडी मात्रा मे सरकारी क्षेत्र की ओर को नही मोडा जायेगा। ऐसी धनराशियां निजी उद्यमो मे पूर्ववत् लगी रहेंगी यद्यपि उन उद्यमो की किस्म के बारे मे अवश्य परिवर्तन किया जा सकता है जहाँ कि ये धनराशियाँ लगी हैं। इस प्रकार, ऐसे निवेशों में केवल गुणात्मक परिवर्तन ही होंगे तथा सरकारी उद्यमों की ओर को धनराशियों का बडी मात्रा मे स्थानान्तरण नही होगा। तथापि, जब जीवन बीमे के व्यापार मे ठोस वृद्धि होगी और उपलब्ध धनराशियो की मात्रा बढ़ेगी, तो सरकारी क्षेत्र को प्राप्त होने वाले साधनो मे भी वृद्धि हो जायेगी।

राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध दिया जाने वाला मुख्य तर्क यह था कि जीवन बीमे के व्यवसाय के लिए उच्चकोटि की प्रेरणाशक्ति, कुशलता तथा नमनीयता की आवश्यकता होती है और राष्ट्रीयकरण की हुई सस्था मे, सम्भव है, ये बातें न पाई जाएँ। तथापि सरकार इस विषय मे सावधान एवं सतर्क थी कि राष्ट्रीयकरण से ये अच्छाइयां किसी प्रकार भी कम न हो जाएँ। विधान बनाते समय भी इन बातो का ध्यान रखा गया। राष्ट्रीयकरणकृत बीमे से यह आशा की गई थी कि प्राइवेट कम्पनियो के बीमे की तुलना मे यह जनसख्या के, विशेष रूप मे ग्रामीण जनसख्या के एक बडे भाग तक पहुँचेगा।

जीवन बीमा निगम ने प्रशसनीय कार्य किया है और इसके व्यवसाय मे तेजी से वृद्धि हो रही है। बीमे का विस्तार करने के लिए इसने कई बडे आदर्श तरीके अपनाये हैं, जैसे कि कुछ वर्गों के लोगो के लिए बिना डाक्टरी का बीमा, वर्गीय बीमा, चलती फिरती बीमा गाडियाँ आदि। कुछ बातो के सम्बन्ध मे आवश्यक निगम को पूरा करने मे असफल रहा है, फिर भी इसने जितना जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भारत में प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. A C. Pigou — Economics of Welfare, Part II, Ch XXII.
2. A. H. Hansen — : Nationalisation, Ch II & X

३. "परोक्ष कर न केवल प्रत्यक्ष करो के पूरक हैं वरन् उन विरोधी शक्तियो को कम करते हैं जो कि आय के निर्धारण तथा प्रत्यक्ष करो की वसूली को प्रभावित करते हैं।" विवेचना कीजिए।

"Indirect taxes are not merely complementary to direct taxes but also reduce frictional forces which operate to the ascertainment of incomes and collection of direct taxes" Discuss

४ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो मे भेद कीजिये। क्या परोक्ष करो के विरोध मे कोई सैद्धान्तिक कारण है ?

Distinguish between direct and indirect taxes. Is there a theoretical cause against indirect taxation ?

५. क्या प्रत्यक्ष कर परोक्ष करो की अपेक्षा अच्छे हैं ? कारण दीजिए।

Do you think that direct taxes are superior to indirect taxes ? Give reasons.

इसके परिणामस्वरूप उस वस्तु की मांग तथा उसका सम्भरण (supply) दोनों ही प्रभावित होंगे और उस वस्तु की नई कीमत क्या होगी—यह कीमत वही होगी जैसी कि पहली कीमत थीअथवा वस्तु की कीमत मे उतनी ही अथवा उससे कम या अधिक वृद्धि हो जायेगी जितना कि कर लगा है। —यह बात कर लगी वस्तु की मांग एवं उसके सम्भरण की मूल्य सापेक्षता अथवा लोच (elasticity) पर निर्भर होगी। कर लगने के कारण वस्तु मांग एव उसके सम्भरण मे परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप, यह सम्भव है कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे ही कुछ परिवर्तन तथा उथल-पुथल हो जाए। इसके विपरीत, सामान्य बिक्री कर (general sales-tax) के मूल्य-प्रभावों के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों मे कुछ मतविभिन्नता तथा अनिश्चितता पाई जाती है।

अन्त मे, अब हम वस्तु कराधान के वितरण सम्बन्धी प्रभावो (distributive effects) को लेते है। उदाहरण के लिए, यदि सरकारी व्यय से प्राप्त होने वाले लाभो की उपेक्षा कर दी जाए तो एक सामान्य बिक्री कर को अवरोही (regressive) कहा जा सकता है बशर्ते कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओ पर भिन्न-भिन्न दरो से ही कर न लगा दिये जाएँ। परन्तु सामान्य बिक्री कर को आर्थिक विकास के एक अस्त्र के रूप मे भी प्रयोग किया जा सकता है और आर्थिक प्रगति से होने वाले लाभो का विस्तार आरोही (progressive) हो सकता है। इन लाभो का वितरण कैसे किया जाए, यह बात सरकारी विनियोगो (government investments) की प्रकृति पर निर्भर होती है। परन्तु स्थिति यह है कि परोक्ष कराधान के वितरण सम्बन्धी प्रभावो का सर्वोत्तम विश्लेषण तब किया जा सकता है जबकि करवाह्यता (incidence of taxation) की समस्या का ही सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया जाए।

कुछ चुने हुए संदर्भ ग्रन्थ

1. A. R. Prest : Public Finance.
2. A. R. Prest : Public Finance in Underdeveloped countries.
3. Buchler : Public Finance.
4. De Marco : First Principles of Finance.
5. J. S. Mills : Principles of Political Economy.
6. Raja Chelliah : Fiscal Policy in Underdeveloped countries.
7. Taxation Enquiry Commission Report. Vol. I.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. "प्रत्यक्ष करों का भुगतान अमीर करते हैं और परोक्ष करो का भुगतान गरीब करते है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष करो के लाभ-दोष समझाइए।

"Direct taxes are paid by the rich and indirect taxes are paid by the poor." Comment on this statement and explain the advantages and disadvantages of direct and indirect taxes

२. "एक न्यायपूर्ण तथा पर्याप्त कर प्रणाली के लिए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनो प्रकार के करो की आवश्यकता है।" इस कथन की विवेचना एक अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्था मे करारोपण नीति के मुख्य उद्देश्यों के सन्दर्भ मे कीजिए।

"Both direct and indirect taxes are needed to evolve equitable and adequate tax system" Discuss this statement with reference to the main objectives of taxation policy in an under-developed economy.

(अ) आवधिक उपभोग प्रवाह की विचारधारा के अनुसार उन वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य को आय कहते है जिसका उपभोग किसी व्यक्ति द्वारा एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत किया जाता है। आय अस्थायी वस्तुओं (non-durable goods) के व्यक्तिगत एव पारिवारिक उपभोग के लिए किये गये द्रव्य-व्यय (money expenditures) तथा स्थायी अथवा टिकाऊ उपभोक्ता-वस्तुओं (durable consumers' goods) द्वारा प्राप्त होने वाली सेवाओं के द्रव्य-मूल्य (money value), और परिवार के सदस्यों द्वारा अपने निजी आराम तथा कल्याण के लिए किये गये अवैतनिक श्रम के द्रव्य-मूल्य के सम्मिलित योग की प्रतीक है। इस परिभाषा के अनुसार, स्थायी पूँजीगत अथवा उपभोग्य वस्तुओं पर किये गये व्यय बचत (savings) कहलायेंगे और उन पर कर नही लगेगा। इस विचारधारा का प्रतिपादन इविंग फिशर (Irving Fisher) द्वारा किया गया था। परन्तु इसका मुख्य दोष यह है कि उच्च आय वाले वर्गों की चालू द्रव्य आय (current money incomes) का एक बड़ा भाग वैयक्तिक आय-कर से बच जायेगा क्योंकि व्यक्तिगत बचतें इन्हीं वर्गों पर केन्द्रित रहती हैं। किन्तु ऐसी बचतें आर्थिक शक्ति मे वृद्धि तथा कर अदा करने की योग्यता के तत्वों की प्रतीक होती हैं। अत इन पर कर लगाया जाना चाहिए।

(आ) आवर्ती प्राप्तियों (recurrent receipts) के रूप मे आय की विचारधारा Carl Plehn के नाम से सम्बद्ध है, जिन्होंने आय की तीन विशेषताओं पर जोर दिया है (१) प्राप्ति (receipt), (२) प्रत्याशित आवृत्ति (anticipated recurrence), और व्ययशीलता (expendability)। इस अर्थ मे, आय के अन्तर्गत मजदूरियाँ तथा वेतन, ब्याज तथा किराया, वार्षिकी (annuities) तथा पेंशन और एक कारपोरेशन मे स्टॉक के लाभाश भी सम्मिलित होंगे। इस विचारधारा की मुख्य कमी यह है कि पूँजीगत लाभ (capital gains) तथा अन्य आकस्मिक आमदनियाँ कर-योग्य आय (taxable income) मे सम्मिलित नही की जायेंगी।

(इ) आय की शुद्ध अभिवृद्धि विचारधारा (net accretion concept of income) के अनुसार, एक निश्चित अवधि मे होने वाली सभी प्रकार की प्राप्तियाँ तथा व्यक्ति की क्रयशक्ति मे होने वाली वृद्धियाँ आय के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती है किन्तु उस आय को प्राप्त करने मे जो आवश्यक खर्चे होते हैं वे उनमे से घटा दिये जाते हैं। आय की शुद्ध अभिवृद्धि (net accretion) मे निम्नलिखित तत्व सम्मिलित होंगे :—

(१) आय की आवर्ती प्राप्तियाँ (recurrent receipts of income)।

(२) उत्तराधिकारों (inheritances) व उपहारों (gifts) से होने वाली प्राप्तियाँ, तथा पूँजीगत परिसम्पत्तियों (capital assets) मे होने वाला मूल्य-वृद्धि (appreciation) और मूल्यह्रास (depreciation)।

(३) अनेक प्रकार की असल आयों (real incomes) का द्रव्य-मूल्य (money value)।

उपरोक्त सभी विचारधाराओं मे, कर-योग्य आय (taxable income) की यह विचारधारा सर्वाधिक मान्य है। इसका कारण यह है कि यह व्यक्ति द्वारा एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत प्राप्त की गई सभी प्रकार की आमदनियों को इसमे सम्मिलित करती है। किन्तु इसके बावजूद, इसमे एक वास्तविक कठिनाई यह सामने आती है कि अमौद्रिक अथवा वस्तुओं मे आमदनी (income in kind) के मूल्य को कैसे मापा जाय ?

कर सम्बन्धी विधानों मे सब जगह आय की परिभाषा धन के प्रवाह (flow of wealth) के रूप मे की गई है अर्थात् एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत करदाताओं की ओर होने वाला द्रव्य अथवा वस्तुओं की प्राप्तियों का प्रवाह। आय की ऐसी परिभाषा के अन्तर्गत —

(क) यह आवश्यक है कि करदाता की ओर का धन का वास्तविक प्रवाह (actual flow) हो, अर्थात् कर तभी लगाया जा सकेगा जबकि करदाताओं तथा अन्य व्यक्तियों के बीच कोई सौदा सम्पन्न हो। इस स्थिति मे ऐसे उपयोग के मूल्य पर कोई कर नही लगेगा जो कि व्यक्ति द्वारा बिना विनिमय सौदे के सम्पन्न हुए ही किया गया हो। ऐसे उपभोग के उदाहरण हैं मालिक द्वारा अपने मकान का उपयोग-मूल्य (use value) तथा व्यक्ति द्वारा अपने बाग मे उगाई गई सब्जियों का मूल्य आदि।

५

आय का कराधान
(Taxation of Income)

प्रारम्भिक (Introduction)

आय का कराधान सभी देशो मे प्रत्यक्ष कराधान की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विधि बन गयी है। आर्थिक कल्याण के अर्थ मे, सामान्यतया आय को ही कर अदा करने की सामर्थ्य का सर्वोत्तम माप माना जाता है। इसका कारण यह है कि आय ही किसी परिवार के जीवन निर्वाह के स्तर का प्रमुख निर्धारक तत्व है। इस अध्याय मे हम आय के कराधान के कुछ सामान्य पहलुओ का अध्ययन करेंगे। भारतीय आय-कर व्यवस्था का विस्तृत विवेचन अन्यत्र पृथक् रूप से किया गया है।

आय की परिभाषा
(Definition of Income)

विस्तृत अर्थ मे, आय उस आर्थिक लाभ (economic gain) की प्रतीक होती है जो कि कोई व्यक्ति समय की किसी नियत अवधि के अन्तर्गत प्राप्त करता है। इसके अन्तर्गत एक विशिष्ट अवधि का व्यक्ति का उपभोग तथा साथ ही साथ उसी अवधि (period) के अन्तर्गत उसके वैयक्तिक धन मे होने वाली शुद्ध वृद्धि (net increase) भी सम्मिलित होती है। आय के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन प्रमुख मदें सम्मिलित की जाती है :—

(क) अन्य व्यक्तियों से प्राप्त की गई कुल आय मे से उन खर्चों को घटाने के बाद बची हुई धनराशि, जो कि उस आय को प्राप्त करने मे प्रत्यक्ष रूप से किये गये हो [किन्तु इन खर्चों मे निर्वाह-खर्च (living costs) सम्मिलित नहीं हैं]

(ख) व्यक्ति द्वारा उपभोग की जाने वाली उन वस्तुओ का मूल्य, जिनका कि वह स्वय स्वामी हो, जैसे कि अपने निजी मकान का उपयोग-मूल्य (use value) तथा घर मे उत्पन्न की गई वस्तुओ का मूल्य जैसे—साग सब्जी, और

(ग) उन सम्पत्तियो (assets) के मूल्य मे होने वाली वृद्धि, जो कि उस अवधि के बीच उक्त व्यक्ति के पास रही हो।

तथापि, अर्थशास्त्रियों ने सामान्यतः कर-योग्य आय (taxable income) की तीन विचार-धाराओ के बीच अग्रांकित भेद किया है —

हैं। परन्तु ये आमदनियाँ (incomes) चूँकि असाधारण रूप में अनियमित हैं, अत: यह कहा जाता है कि इनके साथ विशिष्ट व्यवहार किया जाना चाहिए। चौथे, संसार की लगभग सभी आय-कर पद्धतियों ने अर्जित (earned) तथा अनर्जित (unearned) आय के बीच सुविचारपूर्ण भेद किया है। श्रम से प्राप्त होने वाली आय को अर्जित आय कहा जाता है और सम्पत्ति अथवा विनियोग से प्राप्त होने वाली आय को अनर्जित आय की संज्ञा दी जाती है। अन्त में कुछ किस्म की आमदनियाँ ऐसी भी होती हैं जो अंशत: तो आय की प्रकृति की होती हैं और अंशत: पूँजी का प्रतिफल होती हैं। ऐसी आमदनियों के उदाहरण हैं—वार्षिकी (annuity), बीमा, पेंशन सम्बन्धी लाभ, सामाजिक सुरक्षा योजनाओं से सम्बन्धित लाभ आदि। इन उदाहरणों में प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले विनियोग (investment) का प्रतीक है और आय की प्राप्ति वस्तुत: पूँजी का ही प्रतिफल है। साथ ही, यह प्रतिफल (return) आंशिक रूप में आय की प्रकृति का भी है। अत: इस स्थिति में आय का वह भाग तो कर-मुक्त कर दिया जाना चाहिए जो कि पूँजी का प्रतिफल हो और जो भाग आय का प्रतीक हो, उसको कर-योग्य आय में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

कुल आय बनाम शुद्ध आय (Gross Income verses Net Income)

आय के कराधान की दृष्टि से, यह आवश्यक है कि व्यक्ति द्वारा प्राप्त की जाने वाली कुल आय तथा उस धनराशि के बीच स्पष्ट भेद किया जाए जो कि शुद्ध आर्थिक लाभ (net economic gain) के रूप में वास्तव में उनको उपलब्ध हुई है। उदाहरण के लिए, बिक्री से होने वाली कुल प्राप्तियों को किसी व्यवसायी की आय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे उनमें से कच्चे माल तथा मजदूरी आदि के भुगतान के लिए कुछ कटौतियाँ (deductions) भी करनी होती हैं। इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति किसी भवन को किराये पर उठाता है तो उसके किराये से प्राप्त सम्पूर्ण धनराशि उसकी आय नहीं बन जाती, क्योंकि किराये की उस धनराशि में से उसे उस भवन की देखभाल व मरम्मत आदि पर भी खर्च करना होता है। आय के कराधान की दृष्टि से, शुद्ध आय की कल्पना प्रासंगिक (relevant) है और शुद्ध आय का हिसाब लगाने के लिए कुल आय में से कुछ कटौतियाँ अवश्य करनी होती हैं। ये घटौतियाँ अथवा कटौतियाँ आय को प्राप्त करने के लिए ही की जाती हैं और इस प्रकार ये व्यक्तिगत उपयोग के लिए उपलब्ध नहीं होतीं।

आय कमाने के व्यय तथा उपभोग व्यय (Expenses of earning an income and Consumption expenses)

किसी आय को कमाने में जो खर्च हो, उनमें तथा उपभोग के लिए किये जाने वाले खर्चों में स्पष्ट भेद किया जाना चाहिए। यदि लोगों पर उनकी उस शुद्ध आय के आधार पर कर लगाये जाते है जो कि उस अवधि के अन्तर्गत उनके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले शुद्ध आर्थिक लाभ के प्रतीक हों, तो यह आवश्यक है कि उन्हें इस बात की अनुमति प्रदान की जाए कि वे अपनी कुल आय में से उन धनराशियों को घटा सकें जो कि उन्हें अपनी उस कुल आय को प्राप्त करने में व्यय करनी पड़ी हों। सामान्यत: व्यय की ये मदें ऐसी होती हैं कि उनमें तथा उपभोग के व्ययों में स्पष्ट रूप से अन्तर किया जा सकता है। एक व्यावसायिक उद्यम में, व्यवसाय को चलाने के लिए तथा आय की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक होता है कि कुछ व्यय किये जायें, जैसे—कि मजदूरियाँ, कच्चे माल, ईंधन तथा यातायात के लिए किये जाने वाले भुगतान तथा उधार लिये गये धन पर ब्याज आदि। दूसरी ओर, किसी व्यक्ति द्वारा अपने भोजन, वस्त्र, मकान तथा मनोरंजन आदि पर किये जाने वाले व्यय उसके व्यक्तिगत उपभोग-व्यय की श्रेणी में आते हैं। इस श्रेणी के व्ययों से आशय है—अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए आय का उपयोग करना। ये व्यय कुल आय में से उस प्रकार नहीं घटाये जाते जिस प्रकार कि वे व्यय घटाये जाते हैं जो आय की प्राप्ति के लिए आवश्यक होते हैं।

सम्मिलित व्यय-व्यावसायिक व्यय भी और उपभोग व्यय भी :

किन्तु इसके बावजूद, व्यय की कुछ मदें इस प्रकार की होती हैं जो कि इन दोनों ही प्रकार के व्यय की सीमा पर स्थित होती है और उन्हें व्यावसायिक व्यय भी माना जा सकता है तथा उपभोग-व्यय भी। कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती हैं जो कि अंशत: व्यवसाय (business) के लिए

(ख) कर आय की वसूली के आधार पर लगाया जाता है, आय की वृद्धि के आधार पर नहीं। उदाहरणार्थ, पूँजीगत सम्पत्तियों के मूल्य में होने वाली वृद्धि पर कर केवल तभी लगाये जाते हैं जबकि सम्पत्ति बेची जाती है। इस प्रकार सम्पत्ति का बढ़ा हुआ मूल्य धन के प्रवाह के रूप में स्वामी के पास को आता दिखाई देता है, ऐसा नहीं है कि सम्पत्ति का वर्ष के वर्ष मूल्यांकन करके प्रतीत होने वाली वृद्धि पर ही कर लगा दिया जाता हो।

अनेक कर सम्बन्धी कानूनों में दी गयी आय की यह परिभाषा—कि आय धन का प्रवाह है—समय की उपयुक्तता अथवा कालोचितता (expediency) का परिणाम है। इसमें कई बड़ी कमियाँ हैं। प्रथम, प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण यह आय की ऐसी मदों को छोड़ देती है जिनके सम्बन्ध में बाजारू सौदे (market transactions) सम्पन्न नहीं होते। परन्तु एक परिवार द्वारा स्वयं उत्पन्न की गई वस्तुओं एवं सेवाओं का स्वयं ही उपभोग करने से उत्पन्न वास्तविक आय को परिभाषा में सम्मिलित न करने का अर्थ यह है कि ऐसे परिवार तथा उन व्यक्तियों के बीच भेद-भाव किया जा रहा है जो कि स्वयं ऐसा उत्पादन तथा उपभोग करने में या तो असमर्थ है अथवा ऐसा करना चाहते ही नहीं। द्वितीय, धन के प्रवाह की यह विचारधारा मकानों तथा अन्य स्थायी उपभोग्य वस्तुओं के किराया मूल्य (rental value) को परिभाषा में सम्मिलित नहीं करती। अन्तः इन सूत्रों से होने वाली आमदनियों पर कर नहीं लगाये जाते हैं। इस प्रकार जो लोग मकानों में धन लगाते हैं उनसे तो अनुकूल और जो लोग अन्य प्रकार के विनियोग कार्यों में धन लगाते हैं उनसे प्रतिकूल भेदभाव किया जाता है। करदाताओं के मध्य इस प्रकार का किया जाने वाला भेद-भाव उस स्वीकृत समता सिद्धान्त (equity principle) के विरुद्ध है जो कि "समान लोगों के साथ समान व्यवहार" करने का आदेश देता है। इस समस्या का तर्कपूर्ण हल यही है कि स्वामी द्वारा अधिकृत मकानों के किराया मूल्य (rental value) को तथा वस्तुओं (kind) के रूप में प्राप्त होने वाली आमदनियों को भी कर-योग्य आय में सम्मिलित किया जाय।

कुछ किस्म की आयों के साथ विशिष्ट व्यवहार
(Special Treatment of Certain forms of Income)

समता का सिद्धान्त (Principle of Equity) अर्थात् समान लोगों के साथ समान व्यवहार का सिद्धान्त :

यह माँग करता है कि कर सभी आमदनियों पर लगाये जाने चाहिए और वह भी सब पर एक समान दर से केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर जबकि कुछ किस्म की आमदनियों के साथ भेदमूलक व्यवहार (differential treatment) करने के विषय में काफी औचित्य (justification) वर्तमान हो।

सर्व प्रथम, कर-योग्य आय की कसौटी होनी चाहिए उसकी आवृत्ति अथवा उसकी नियमित बारम्बारता (recurrens), और इसके अनुसार अनावर्ती आय (non-recurring income) या तो कर-मुक्त होनी चाहिए अथवा उसके साथ भेदमूलक व्यवहार किया जाना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार नियमित आय (regular income) से व्यक्ति को आर्थिक लाभ प्राप्त होता है, उसी प्रकार अनियमित आय से भी करदाता को आर्थिक लाभ की प्राप्ति होती है। अतः आय की कुछ विशिष्ट मदों को केवल इस कारण पूर्णतया कर-मुक्त कर देना कि वे अनियमित (irregular) है, किसी प्रकार भी तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। पर इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि अनावर्ती आमदनियों की अनियमितता आरोही दरों के अन्तर्गत करदाता पर तब तक कर का अनुचित रूप में भारी बोझ डालती है जब तक कि आय का औसत निकालने की पद्धति ही न अपनाई जाय। दूसरे, पूँजीगत लाभों (capital gains)[1] के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं। अतः उनके साथ कुछ विशिष्ट व्यवहार किया जाना चाहिए, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि उनके साथ अनिवार्य रूप से अनुकूल (favourable) व्यवहार ही किया जाए। तीसरे, उपहार (gifts) तथा उत्तराधिकार में प्राप्त धन प्राप्तकर्ता के लिए चूँकि आर्थिक लाभ के प्रतीक है, अतः ये आय का निर्माण करते

1 अगले अध्याय में पूँजीगत लाभों का पृथक् रूप से विवेचन किया गया है।

तब तक तो कोई भी गम्भीर समस्या उत्पन्न न होगी, किन्तु इन बातों में से किसी में भी यदि परिवर्तन हुये तो उनसे उलझनें उत्पन्न हो जायेंगी।

उदाहरण के लिए, पुनर्विक्री के लिए खरीदी गई वस्तुओं तथा सामग्रियों में सम्बन्धित आविष्कार अंशतः एक वर्ष से आगे वर्षों तक जारी रहते हैं, किन्तु जब इनकी कीमतों में परिवर्तन होते हैं तो उनसे कई गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न होंगी। इस स्थिति में, समय बीतने पर यह भी सम्भव है कि लाभों के स्थान पर हानियां हो जांय अथवा इससे उल्टा हो जाय। फिर मूल्य-ह्रास की स्वीकृत धनराशि भी ऐसी होनी चाहिए कि विनियोग की गई समस्त पूंजी कर-मुक्त रूप में प्राप्त हो सके। परन्तु वास्तविक रूप में मूल्य-ह्रास नीची दरों से लगाया जा सकता है। अथवा यह हो सकता है कि कम्पनियाँ मूल्य-ह्रास प्रभारों (depreciation charges) को उन वर्षों में केन्द्रित करने का प्रयत्न करें जिनमें कि लाभ अथवा करों की दरें विशेष रूप से ऊँची हों। एक फर्म में सामान्य प्रवृत्ति यह हुआ करती है कि वह अनेक प्रकार के व्ययों के आवर्तन अथवा उनकी बार-म्बारता (recurrence) एक वर्ष से दूसरे वर्ष को स्थानान्तरित करती रहे जिसमें कि कुल कर-देयता (over-all tax liability) में कमी की जा सके।

आय की अनियमितता की समस्या (The Problem of Irregularity of Income) :

सभी आमदनियाँ नियमित रूप से प्राप्त नहीं होतीं। उनमें से अनेक आकस्मिक (casual) रूप से प्राप्त होती हैं। व्यावसायिक इकाइयों तथा व्यावसायिक व्यक्तियों की आमदनियाँ चूँकि अनेक परिस्थितियों पर निर्भर होती हैं अतः अत्यधिक अनियमित होती हैं। अनियमित आमदनियों की वर्तमानता से भी कर-योग्य आय का अनुमान लगाने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है। अनिय-मित (irregular) आय में निपटने के कई हल सुझाये जाते हैं। सबसे सरल हल यह सुझाया जाता है कि गतिमान औसत (moving average) उदाहरण के लिए, पाँच वर्ष के गतिमान औसत के आधार पर प्रति वर्ष कर की गणना कर ली जाय। एक अन्य हल है जिसे औसत पुनर्गणना (average recalculation) कहा जाता है। यह हल करदाता को इस बात की छूट देता है कि वह पिछले कुछ वर्षों, उदाहरणतः ५ से १० वर्षों की अपनी कर-देयता का फिर से हिसाब लगाये और उसके औसत को प्रत्येक वर्ष की कर-योग्य आय का आधार बनाये। इसके अतिरिक्त, इस समस्या के हल की एक तीसरी रीति भी है जिसे संचयी औसत रीति (cumulative average method) कहा जाता है। इस रीति का मूल प्रस्ताव विलियम विक्रे (William Vickrey) ने किया था।

आय का कराधान तथा सामर्थ्य सिद्धान्त अथवा क्षमता का सिद्धान्त
(Income Taxation and the Principle of Ability)

ऊपर हमने इस बात का विवेचन किया कि कराधान की दृष्टि से, कुल आय में से व्याव-सायिक व्ययों को घटाने के बाद किस प्रकार शुद्ध आय (net income) की गणना की जाती है। शुद्ध आय का हिसाब लगा लेने के बाद भी उसमें से कुछ छूटों (exemptions) तथा कटौतियों की अनुमति दे दी जाती है। मूल प्रश्न यह है कि क्या कर की दर आय की सम्पूर्ण राशि पर लगाई जाय अथवा इस धनराशि में से करदाता को कुछ कटौतियाँ करने की अनुमति दे दी जाय?

दे दी जाय? प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि कुछ समायोजन (adjustments) किये जाने की अवश्य अनुमति होनी चाहिए। ऐसा करने के निम्नलिखित तीन प्रमुख कारण हैं —

(अ) ताकि कर के आधार को कर अदा करने की योग्यता के अनुकूल बनाया जा सके (to bring the base of the tax into line with tax paying ability.)

(ब) ताकि कुछ किस्म के व्ययों (spending) को प्रोत्साहन प्रदान किया जा सके, और

(स) प्रशासन (administration) को सरल बनाया जा सके।

आय कर की आधार शिला : सामर्थ्य सिद्धान्त—शुरू से ही, आय-कर को सदैव एक ऐसा कर माना जाता है जो कि सामर्थ्य सिद्धान्त (principle of ability) पर आधारित है। इस कर का इस प्रकार समायोजन (adjustment) किया जा सकता है कि निम्नतम आय वाले वर्गों

और अंशतः उपभोग के लिए खरीदी गई हो। ऐसी खरीदें छोटे-छोटे व्यापारियो, किसानो तथा पेशेवर अथवा व्यावसायिक व्यक्तियो की स्थिति मे सम्मिलित रूप से की जाती है। उदाहरण के लिए, एक किसान अपने ट्रक का उपयोग अपने व्यवसाय के लिए भी कर सकता है और अपने व्यक्तिगत सौदो की खरीदारी के लिए भी। एक लेखक किसी यात्रा का उपयोग अशत. तो मनोरंजन एव आनन्द के लिए कर सकता है और अशत अपने अगले उपन्यास के लिए सामग्री प्राप्त करने के लिए। ऐसे मामलो मे, इन व्ययों को व्यावसायिक एव व्यक्तिगत श्रेणियो मे पृथक्-पृथक् करना एक बडा कठिन कार्य होता है।

व्यावसायिक व्ययो के लिए की जाने वाली कटौतियो के सम्बन्ध मे उत्पन्न कुछ कठिनाइयां (Some Difficulties in Making Deductions for Business Expenses)

एकाकी व्यक्ति जो मजदूरी तथा वेतन के रूप मे आय प्राप्त करते है, उनके सम्बन्ध मे तो इस बात का पता लगाने मे अधिक कठिनाई नही होती कि उन्होंने अपनी आय को प्राप्त करने मे कौन-कौन से व्यय किये है। किन्तु एक व्यवसाय के अन्तर्गत व्यावसायिक व्ययो की गणना करने मे अवश्य कुछ कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। यह हो सकता कि एक व्यवसायी (businessman) अपनी कर-सम्बन्धी देयता (tax liability) को कम करने के लिए, व्यावसायिक व्ययो को बढा चढा कर दिखलाये। उदाहरण के लिए, वह अपने परिवार के किसी सदस्य को ऐसे कार्य के लिए भुगतान कर सकता है जो कि पता नही कि हुआ भी है कि नही। इस स्थिति मे, यह सम्भव है कि कुछ व्यावसायिक व्यय ऐसे किये जायं जिन्हे वैध (legitimate) न कहा जा सके।

इसके अतिरिक्त, कुछ व्यावसायिक व्यय ऐसे भी हो सकते है कि जिनका हिसाब लगाने मे कुछ यथार्थ कठिनाइयां सामने आएँ। उदाहरण लिए, कुछ व्यय ऐसी वस्तुओं पर किये जाते हैं जो कि एक वर्ष से भी अधिक लम्बी अवधि तक व्यवसाय के सचालन मे उपयोगी सिद्ध होती हैं। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है—यन्त्र (machinery)। यन्त्रो की खरीद पर होने वाला व्यय उन अनेक वर्षो के बीच बांटा जाना चाहिए जिनमे कि व्यवसाय का सचालन करना लाभकारी हो—ऐसे व्यय को मूल्य ह्रास प्रभार (depreciation charge) कहा जाता है। यह वह धनराशि होती है जो फर्म की पूंजी को अक्षुण्ण (intact) बनाये रखने के लिए आवश्यक होती है। इस धनराशि से चूंकि करदाता को कोई आर्थिक लाभ नही होता अत यह आय नही है बल्कि व्यय ही है। व्यवहार मे वार्षिक मूल्य-ह्रास प्रभार का निर्धारण करना एक बडा ही कठिन कार्य होता है।

शुद्ध आय का अनुमान लगाने में समय की समस्या (The Problem of Time in Estimating Net Income)

कराधान के लिए शुद्ध आय का अनुमान लगाने मे तथाकथित (so-called) समय की समस्या के कारण कुछ उलझन पैदा होती है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि किसी व्यक्ति अथवा व्यावसायिक इकाई (business unit) की आय उस समय से ही निरन्तर जारी रहने वाला एक प्रवाह होता है जब से कि वह व्यक्ति कर अदा करने वाली इकाई बन जाता है, बशर्ते कि सेवा-निवृत्ति (retirement) अथवा मृत्यु आदि के कारण वह उस आय से वचित ही न हो जाय। आय के इस प्रवाह को समय के सुविधाजनक हिस्सो मे, सामान्यत एक वर्ष की अवधियो मे बाँट लिया जाता है। ऐसा विभाजन करने मे, सम्भव है कि उस व्यक्ति के लिए तो कोई समस्या उत्पन्न न हो जो कि अपनी आय, मजदूरी व वेतन तथा ब्याज व किरायो के रूप मे प्राप्त करता है परन्तु व्यावसायिक लाभो के सम्बन्ध मे अवश्य कठिनाई उत्पन्न होती है।

व्यवसाय मे, उस समय जबकि फर्मों (firms) द्वारा व्यय किये जाते है, और उस समय के बीच, जबकि वे उत्पादित वस्तुओ की बिक्री से आय प्राप्त करती है, काफी अन्तर पाया जाता है। जो वस्तुएं बेची गई है उनका कुछ भाग उस कच्चे माल से बनाया गया था जो कि उससे पहले की अवधियो मे खरीदा गया था और जो कच्चा माल तथा अन्य सामान अब खरीदा गया है उसका उपयोग भविष्य मे वस्तुओ का उत्पादन करने मे किया जायेगा। ऐसी दशाओ में, जब तक व्यवसाय की मात्रा, मूल्य-स्तर, फर्मों के लाभ तथा करो की दरें आदि सब स्थिर रहेंगे,

चाहिए। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा जैसे देशों मे चिकित्सा व्यय की छूट दी जाती है बशर्ते कि ये व्यय एक न्यूनतम (minimum) मात्रा (जो कि न्यूनाधिक रूप मे सामान्य मात्रा होती है) से अधिक हो और अधिकतम (maximum) मात्रा से ज्यादा न हो।

आकस्मिक हानियों के लिए छूट (Allowances for Casualty losses)—करदाता को, आमतौर पर, आकस्मिक हानियों के लिए भी छूटें प्रदान की जाती हैं—ऐसी आकस्मिक हानियों के उदाहरण हैं—कि आग लगने से सम्पत्ति का विनाश, चोरी अथवा दुर्घटना आदि। इन छूटों को इसलिए तर्क सगत (reasonable) माना जाता है क्योंकि ऐसी आकस्मिक हानियाँ शुद्ध धन (net wealth) मे कमी की सूचक होती हैं और इस प्रकार इस अवधि की वास्तविक आय का हिसाब लगाने मे आवश्यक घटत (substraction) किये जाने की प्रतीक होती है।

अदा किये गये अन्य करो के लिए शुद्ध आय मे से कटौती—अन्त मे, कुछ देशो मे, आय कर लगाने के उद्देश्य से शुद्ध आय मे से अन्य कर की अदायगियो को घटाने की अनुमति दी जाती है। ऐसी घटौती का समर्थन दोहरे कराधान (double taxation) की भ्रान्त धारणा (mistaken notion) के आधार पर किया जाता है और इस आधार पर कि कर के ऊपर कर नही लगाया जाना चाहिए। परन्तु यह एक विवादास्पद मसला (controversial issue) है।

कुछ किस्म की क्रियाओं को प्रोत्साहन देने के लिए घटौतियाँ (Deductions to Encourage Certain Activities)—सभी देशो मे, आय-कर कानून कुछ कटौतियों की अनुमति देते हैं। इनका उद्देश्य कुछ किस्म की क्रियाओ को प्रोत्साहन देना होता है। कुछ क्रियाएँ इस प्रकार की होती है जिन्हे कि यदि गैर-सरकारी व्यक्ति या सस्थाएँ नही करती है तो व सरकार को करनी होती है। अन्य मामलो मे, सरकार कुछ ऐसी क्रियाओ को भी प्रोत्साहित कर सकती है जो कि सम्पूर्ण समाज के हित मे हो। प्रथम श्रेणी मे वे अशदान (contributions) आते हैं जो कि करदाता धर्मार्थ सस्थाओ (charitable institutions) तथा प्रन्यासो (trusts) और कुछ सीमा तथा धार्मिक सस्थाओ (religious bodies) को देता है। दूसरी श्रेणी म, कुछ ऐसी अदायगियाँ आती हैं—जैसे कि बीमे की किश्तें, सभी किस्म की बचतें तथा ऐसी धनराशिया जो कि विशेष रूप से सयन्त्र-विस्तार (plant expansion) के लिए निकाली गई हो।

छूट तथा समता का सिद्धान्त (Exemption and the Principle of Equity).

इस बात पर सामान्य रूप से सहमति पाई जाती है कि आय-कर का वितरण आरोही रीति (progressive manner) से किया जाना चाहिए और निम्नतम आय वाले वर्ग को इससे पूर्णतया मुक्त रखा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे यहाँ दो मसले खडे होते हैं—एक तो यह कि छूट की मात्रा क्या हो, और दूसरे यह कि आरोहण का स्वरूप क्या हो, ये दोनो ही मसले समता अथवा न्याय के सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। आय-कर के क्षेत्र से न्यूनतम आमदनियो की मुक्ति के सम्बन्ध मे कई उपयोगी कार्य सम्पन्न करने होते हैं। **सर्वप्रथम** ऐसी मुक्ति अथवा छूट (exemption) उन सब परिवारो को आय-कर से पृथक रखती है जिनकी आय न्यूनतम निर्धारित मात्रा स कम होती है। **दूसरे**, यह उन सबके लिए आरोहण (progression) प्रस्तुत करती है जिन पर कि कर लगाया जाता है। **तीसरे**, यह विभिन्न परिवारो पर लगाये गये करो के भार का उनके आश्रितो की सख्या के अनुसार ही समायोजन करती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो मुक्ति अथवा छूट प्रदान की जाये उसमे कम से कम निर्वाह-मात्र (bare subsistence) के बराबर धनराशि तो अवश्य सम्मिलित हो, इसका कारण यह है कि यदि किसी व्यक्ति की आय निर्वाह मात्र से भी कम होती है तो उसमे कर अदा करने की सामर्थ्य नही होती। अत यह कहना तर्क सगत है कि छूट की न्यूनतम सीमा आय के निर्वाह मात्र-स्तर के बराबर निश्चित की जानी चाहिए। तथापि, ऐसी सामान्य रूप से स्वीकृत न्यूनतम सीमा का निश्चय करना बडा कठिन है।

आरोहण का सिद्धान्त तथा दर-रचना
(The Principle of Progression and the Rate Structure)

यह बात तो व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है कि आय-कर आरोही होना चाहिए—अर्थात् यह कि सबसे निर्धन वर्गो को कर मुक्त करने के पश्चात् कर की दर आय की प्रत्येक वृद्धि

को कर से मुक्त रखा जा सके और अपेक्षाकृत धनी वर्गों पर उनकी अपनी-अपनी आमदनियों के अनुसार ही कर का भार डाला जा सके। राजस्व-उत्पादकता (revenue productivity) जैसे कुछ विचारणीय तत्वों के अतिरिक्त समता के दृष्टिकोण से भी आय-कर को आदर्श कर (ideal tax) माना जाता रहा है।

निश्चित न्यूनतम व्यय का आय-कर मुक्त होना—आजकल आय को आर्थिक कल्याण का सामान्यत सबसे अधिक सन्तोषजनक माप माना जाता है। किसी व्यक्ति की आय जितनी अधिक होगी उतने ही अधिक आर्थिक कल्याण का वह उपभोग कर सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आय (income) अदा करने की योग्यता का एक अच्छा मापदण्ड है। परन्तु एक तथ्य यह भी है कि प्रत्येक परिवार को भोजन, वस्त्र, विश्राम तथा मनोरजन आदि के लिए कुछ न्यूनतम निर्वाह व्ययों (living costs) की आवश्यकता होती है। इन कार्यों के लिए उसे जितनी आय की आवश्यकता होती है उसे कर अदा करने की योग्यता का प्रतीक नहीं माना जा सकता क्योंकि यह धनराशि तो उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए किसी प्रकार व्यय करनी ही होगी। यही कारण है कि सभी देशो मे, एक निश्चित न्यूनतम धनराशि से सभी व्यक्तियो को मुक्त कर दिया जाता है।

परिवार के आकार के अनुसार कर भार—परिवार का आकार (size of the family) दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है जिस पर कर-अधिकारियो को विशेष ध्यान देना चाहिए। किसी परिवार का आकार जितना बडा होता है, अपनी निश्चित आय के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला उसका जीवन-स्तर भी उतना ही नीचा होता है। अत करो से छूट की न्यूनतम सीमायें भी, जिनका कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, इस बात पर निर्भर होती हैं कि परिवार मे व्यक्तियों की सख्या कितनी है और आय के एक निश्चित स्तर पर अदा किये जाने वाले कर की राशि कितनी है। इस सम्बन्ध मे हमे निम्नलिखित चार प्रमुख प्रश्नो का निपटारा करना है —

(क) छूट (exemption) की मात्रा क्या हो ?

(ख) करो की छूट किस प्रकार प्रदान की जाए ? क्या यह छूट आय मे से कटौती (deduction) के रूप मे दी जाये अथवा यह कर की धनराशि मे से घटौती के रूप मे हो ? सामान्यतया यह आय मे से घटौती के रूप मे ही प्रदान की जाती है,

(ग) छूट की मात्रा मे एकरूपता (uniformity)—क्या छूट की मात्रा सभी आश्रितो (dependents) के लिए एक समान हो, बिना इस बात का ध्यान किये कि उनकी आयु कितनी है और उनकी सख्या कितनी है, और

(घ) आश्रित कौन है ? कर-परिहार (tax-avoidance) को कम करने के लिए आश्रितो की परिभाषा देना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार, आय-कर का एक सबसे बडा गुण यह है कि यह परिवार के आकार के अनुसार ही कर का भार डालने मे समर्थ होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में निम्न बातो के विषय मे पर्याप्त सावधानी रखनी चाहिए, जैसे—परिवार तथा उसके आश्रितो की उचित परिभाषा क्या हो, छूट किस रूप मे प्रदान की जाये, आदि आदि।

चिकित्सा व्ययों (Medical Expenses) की छूट—अनेक देशों मे कर लगाने के उद्देश्य से आय का निर्धारण करने के हेतु चिकित्सा-व्ययो (medical expenses) की छूट दी जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि चिकित्सा व्यय यदि काफी मात्रा मे हो तो उस वास्तविक जीवन-स्तर मे निश्चय ही कमी हो जायेगी जिसे कि एक निश्चित आय द्वारा प्राप्त करना सम्भव था। यदि दो परिवारो की आय एक समान हो तथा उनके आश्रितो की सख्या भी बराबर हो, किन्तु यदि उनमे से एक परिवार मे न तो कोई बीमारी हो और न ही किसी प्रकार के चिकित्सा व्यय हो जबकि दूसरे परिवार मे चिकित्सा सम्बन्धी व्यय की मात्रा काफी अधिक हो तो इस स्थिति मे, स्पष्ट है कि पहला परिवार दूसरे परिवार की तुलना मे ऊँचा जीवन-स्तर व्यतीत करेगा। दूसरे परिवार की आर्थिक कल्याण की मात्रा तथा उसकी कर अदा करने की सामर्थ्य निश्चय ही कम होगी। आय-कर लगाने के उद्देश्य से आय मे हेर-फेर करते समय तथ्य पर भी विचार किया जाना

यदि नगरपालिका (municipality) द्वारा किसी मकान के सामने पार्क बना दिया जाय तो इसमे उस मकान की कीमत बढ जायेगी। उसका किराया मूल्य (rental value) भी अधिक प्राप्त होगा। इसी प्रकार, यदि किसी क्षेत्र मे महत्वपूर्ण औद्योगिक इकाइयाँ कायम कर दी जायँ तो उसके फलस्वरूप वहाँ की भूमि के मूल्य मे वृद्धि हो जायेगी। फिर, शहरी क्षेत्रो मे जब जनसख्या बढती है तो उससे उन क्षेत्रो मे मकानो की माँग मे वृद्धि हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप शहरी भूमि के मूल्यो मे भी निरन्तर वृद्धि होती जाती है। इन सभी स्थितियो मे, सम्पत्ति के स्वामी अपेक्षाकृत अधिक आय प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं, परन्तु ऐसा इसलिए नही होता क्योकि उन्होने कुछ कार्य किया है अथवा कुल उत्पादकता (total productivity) मे अपना कुछ अशदान किया है। वे ऐसा लाभ प्राप्त करने मे उन बाह्य परिस्थितियो के कारण सफल हो जाते है जिन पर कि उनका अपना कोई नियन्त्रण नही होता। ऐसी आमदनियो को अप्रत्याशित आय (wind falls) अथवा अनर्जित आय कहा जाता है। इस भेद के अनुसार उत्पादन के उपादानो द्वारा प्राप्त होने वाली साधारण आमदनियाँ "अर्जित आय" कही जाती है और केवल ऐसी असाधारण आमदनियो को "अनर्जित आय" की सज्ञा दी जाती है जो कि कुछ परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियो के कारण प्राप्त होती हैं।

अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच एक और अन्तर भी किया जाता है। ऐसी सभी आमदनियाँ जो कि श्रम से प्राप्त होती हैं श्रम-आय (labour incomes) अथवा अर्जित आय कही जाती हैं और सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आमदनियाँ सम्पत्ति आय (property incomes) अथवा अनर्जित आय कही जाती हैं। सही अन्तर का आधार यह है कि अर्जित आमदनियो मे तो व्यक्ति को त्याग, असुविधा तथा कष्ट सहन करना होता है किन्तु अनर्जित आमदनियो की स्थिति मे ऐसा कोई त्याग अथवा कष्ट सहन नही करना होता।

अर्जित तथा अनर्जित आय मे भेद के पक्ष मे तर्क (Arguments in favour of Distinction) :

लोकवित्त के सैद्धान्तिक विवेचन मे, यह एक सर्व स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता है कि अनर्जित आय के मुकाबले अर्जित आय पर अपेक्षाकृत नीची दरो से कर लगाये जायें। इस सिद्धान्त के समर्थन मे अनेक कारण प्रस्तुत किये जाते हैं —

(१) **अवकाश का त्याग** (Sacrifice of Leisure)—जिन लोगो को काम करना पडता है उन्हे अपने अवकाश अथवा फुरसत (leisure) का त्याग करना होता है किन्तु वे लोग जो अनर्जित आमदनियो पर जीवन यापन करते हैं उन्हे अपने अवकाश अथवा फुरसत का कोई त्याग नही करना होता। अतएव इन दोनो मे भेदभाव होना स्वाभाविक ही है।

(२) **कार्य से सम्बन्धित होना**—अर्जित आय केवल तभी प्राप्त होती है जबकि व्यक्ति काम करने मे समर्थ होता है किन्तु सुरक्षित विनियोग (safe investments) सम्बन्धित व्यक्ति की स्थिति अथवा हैसियत (status) की परवाह किये बिना ही आय प्रदान करते हैं। कमाई से होने वाली आय व्यक्ति की अशक्तता (disability) या मृत्यु के कारण बन्द हो सकती है अथवा बीमारी के कारण अवरुद्ध हो सकती है। कमाई से होने वाली आय, स्वस्थ्य व्यक्तियो की स्थिति मे भी, जहाँ अधिक घट-बढ सकती है, वहाँ सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय, जैसे कि सरकारी बाँण्ड से प्राप्त आय अपेक्षाकृत स्थिर रहती है। इसके अतिरिक्त, सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय अनेक मामलो मे अत्यधिक सुरक्षित अथवा अक्षय हो सकती है।

(३) **अनिश्चितता** (Uncertainty)—कहा जाता है कि अनर्जित आय के मुकाबले अर्जित आय अधिक अनिश्चित होती है। अनिश्चित इन मानो मे कि अर्जित आय के सम्बन्ध मे तो उन वर्षों की सख्या की एक निश्चित सीमा होती है जिनमे कि वह प्राप्त होती है किन्तु सरकारी ऋण-पत्रो एवं भूसम्पत्ति से प्राप्त होने वाली अनर्जित आय के सम्बन्ध मे यह आशा की जा सकती है कि वह अनिश्चित समय तक चलती रहेगी। अर्जित आय इसलिए अनिश्चित होती है क्योकि वह व्यक्ति की अशक्तता अथवा असमर्थता तथा मृत्यु के कारण बिल्कुल बन्द हो जाती है और बीमारी के कारण इसमे बाधा पड सकती है। इसके विपरीत, सम्पत्ति तथा सरकारी ऋण-पत्रो (government securities) से प्राप्त होने वाली आय अपेक्षाकृत स्थायी होती है।

के साथ बढ़नी चाहिए। किन्तु इस सम्बन्ध में, आरोहण के विषय पर जहाँ सहमति पाई जाती है, वहाँ उसकी प्रकृति तथा उसकी उपयुक्त मात्रा के सम्बन्ध मे कुछ असहमति पाई जाती है। वास्तविक समस्या कर की दर-रचना के सम्बन्ध मे है। ऐसी उपयुक्त दर-रचना का निश्चय, जिसमे कि आरोहण के सिद्धान्त का समावेश हो, निम्नलिखित दो विचारणीय बातो के आधार पर किया जायेगा—

(क) किसी विशिष्ट समाज मे आय के वितरण में समता अथवा न्याय के प्रति लोगो का सामान्य दृष्टिकोण; और

(ख) आरोहण के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले किन्ही आर्थिक प्रभावो की महत्ता।

जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, लोगो के दृष्टिकोणों मे विभिन्नता पाई जाती है परन्तु एक सामान्य विचार इस सिद्धान्त के समर्थन का दिखाई देता है कि न्याय के हित मे ऐसा तीव्र आरोहण (rapid progression) वाछनीय है जिसमे कर की दरें आगे चलकर अत्यधिक ऊँची हो जायें। किन्तु कुछ लोगो का विश्वास है कि आरोहण अत्यधिक हल्का होना चाहिए। इसका कारण वे ये देते है कि यदि आय-कर अत्यधिक आरोही दरो से लगाया गया तो लोगो की काम करने तथा बचत करने की इच्छा एव क्षमता पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और उसके फलस्वरूप उत्पादकता (productivity) पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। परन्तु अर्थशास्त्रियो ने यह बात अनुभव की है कि आरोहण का वर्तमान क्रम यद्यपि बडा कठोर है, तथापि उसने विनियोग की अधिक मात्रा को तथा सामान्य समृद्धि (general prosperity) को कम नही किया है।

अर्जित तथा अनर्जित आय

(Earned and Unearned Income)

अर्जित तथा अनर्जित आय में अन्तर :

अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच पाये जाने वाले अन्तर को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। आय-कर की सभी पद्धतियो मे, श्रम से प्राप्त होने वाली आय तथा सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय के बीच दरो की पृथक्-पृथक् सूचियाँ लागू की जाती हैं। लोकवित्त मे अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच मे जो भेद किया जाता है उसका आधार वह सम्बन्ध है जो कि व्यक्ति की आय तथा उस आय को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति द्वारा किये गये प्रयत्नो के बीच पाया जाता है। पूँजीवादी समाज मे, व्यक्ति द्वारा प्राप्त की जाने वाली आय या तो उन सेवाओ पर निर्भर होती है जो कि व्यक्ति प्रदान करता है अथवा उन उपादानो (factors) पर जो कि वह उत्पादन (production) मे अपने अशदान के रूप मे लगाता है।[2] व्यक्ति अपने निजी श्रम के द्वारा अथवा अपनी सम्पत्ति के द्वारा जो प्रयत्न करता है, उनकी मात्रा एव किस्म तथा उस आय के बीच जो कि उसी नियत अवधि के अन्तर्गत प्राप्त की गई हो, एक प्रत्यक्ष (direct) तथा निश्चित (definite) अनुरूपता पाई जाती है। उदाहरण के लिए, मजदूरी श्रम की सेवाओं का पुरस्कार है, ब्याज पूँजी की सेवाओ का पुरस्कार है, आदि आदि। उत्पादन के उपादान (factor of production) की कोई इकाई जब तक कि इतनी आय प्राप्त करती है जिसे उसकी सेवाओ की सामान्य अदायगी कहा जा सके, तो ऐसी आय अर्जित आय कही जायेगी और जिस क्षण भी वह इकाई (unit) अपने सामान्य प्रतिफल (normal return) से अधिक आय प्राप्त करने मे सफल हो जायेगी तो आय की उस अधिक मात्रा को अनर्जित आय कहा जायेगा। अनर्जित आय की स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि उत्पादन के किसी उपादान की माँग कुछ बाह्य कारणो से बढ जाती है और कमी होने के कारण वह उपादान बाजार से उस आय के मुकाबले अधिक आय प्राप्त करने मे सफल हो जाता है जो कि वह अपने निजी अशदान से प्राप्त करने का अधिकारी था। उदाहरण के लिए,

---

2. इस सामान्य नियम का एक मात्र अपवाद (exception) तब होता है जबकि कोई व्यक्ति सरकार अथवा धर्मार्थ सगठन से बेकारी अनुदान (dole) या अनुदान (grant) अथवा उपदान (subsidy) के रूप मे आय प्राप्त करता है अथवा किसी से मुफ्त उपहार प्राप्त करता है।

जाँय ? करो की विशिष्ट दरो की व्यवस्था की ही क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऊपर जो तर्क दिये गये है वे सभी सारयुक्त है ।

अर्जित व अनर्जित आय मे भेद के विपक्ष में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्क (Arguments against Distinction) ·

ऊपर यह दिखाया गया है कि आय-कर कानूनो के अन्तर्गत किस प्रकार अर्जित आय के साथ प्राथमिकता का व्यवहार (preferential treatment) किया जाने लगा। किन्तु इसके बावजूद, कुछ ऐसे तर्क भी हैं जो इन दोनो प्रकार की आय के बीच भेद के विरुद्ध पड़ते हैं। ये तर्क निम्नलिखित हैं —

(१) कर की निम्न दर बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहित करती है (Lower rate of Tax Promotes Saving and Investment)—भेद के विरुद्ध दिया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है कि विनियोग आय (investment income) पर लागू किये जाने वाले करो की दर यदि कम कर दी जायेगी तो ऐसा करने मे बचत तथा विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा। ऐसा इसलिए होता है क्योकि अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच भेद को समाप्त कर देने से स्पष्टतः करो की दरें कम हो जाती हैं और करो की दरें कम हो जाने से बचत को प्रोत्साहन मिलता है। और आजकल तो, अधिक बचत करना ही समाज के हित मे है, क्योकि जितनी अधिक बचत होगी, आर्थिक विकास की गति भी उतनी ही तेज होगी।

(२) निम्न कर दर का पूँजीगत साधनों के वितरण पर लाभकारी प्रभाव (Beneficial effects on the Distribution of Capital Resources)—एक अन्य तर्क यह है कि अर्जित तथा अनर्जित, दोनो ही प्रकार की आमदनियो पर कर यदि अपेक्षाकृत नीची दरो से लगाये गये तो विभिन्न प्रकार के उद्योगो के बीच पूँजीगत साधनो के वितरण पर उनके लाभकारी प्रभाव होंगे। अन्य शब्दो मे, पूँजी जोखिम वाले उद्योगो की ओर को भी प्रवाहित होगी।

(३) बचत करना राष्ट्रीय हित मे है (Saving is in the National Interest)—सम्पत्ति-आय (property income) तथा श्रम-आय (labour income) के बीच भेद के विरुद्ध सबसे प्रबल तर्क इस बात पर आधारित है कि बचत करने की प्रेरणा पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। सम्पत्ति-आय पर कर की नीची दर से निश्चय ही बचत को प्रोत्साहन मिलता है और यदि यह स्थिति राष्ट्रीय हित मे होती है।

क्या अर्जित व अनर्जित आय के भेद को समाप्त किया जा सकता है ? (Can this Distinction be Abolished ?)

यदि अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच किया जाने वाला भेद कठिनाइयो से भरा है, और यदि दोनो प्रकार की आय मे से किसी के साथ भी विशिष्ट व्यवहार के पक्ष को प्रबल रूप मे नही रखा जा सकता, तो फिर क्या यह उचित नही होगा कि इस भेद को ही समाप्त कर दिया जाए ?

इस सम्बन्ध मे व्यावहारिक कठिनाई यह है कि अर्जित आय के पक्ष मे किये जाने वाले भेद को समाप्त करने के पश्चात् आय से उतना ही राजस्व (revenue) कैसे प्राप्त किया जाए जितना कि पहले प्राप्त होता था ? यदि अर्जित आय को प्राप्त होने वाली छूट को समाप्त किया जाय तो इसका अर्थ होगा कि निम्न आय वाले वर्गों को नुकसान उठाना होगा, यहाँ तक कि यदि करो की दरें अपरिवर्तित भी रहें, तो भी उनके करो के प्रभावो एव सीमान्त दरों (effective and marginal tax rates) मे वृद्धि होने से उनको हानि उठानी होगी। इस स्थिति मे प्रवृत्ति यह होगी कि आयकर से होने वाली कुल सरकारी आय बढने लगेगी। करो की दरें घटाकर सरकार को इस प्रवृत्ति को रोकना होगा (यहाँ हमने यह मान लिया है कि सरकार को उतना ही राजस्व प्राप्त करना चाहिए जितना कि इसको समाप्त करने से पहले प्राप्त करती है)। पर तब प्रश्न यह पैदा होता है कि करो की दरो मे कमी कैसे की जाय। करो की दरें कम करने के सम्बन्ध मे कई सम्भावनाएँ प्रकट की जा सकती हैं और उनके अग्रलिखित विभिन्न परिणाम हो सकते हैं :—

(४) **आय कमाने के लिए व्यय** (Expenses for Earning)—अर्जित आय के कमाने मे कुछ व्यय करने होते है जबकि अनर्जित आमदनियो पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियो को ऐसे व्यय नही करने पडते । प्रथम तो, शारीरिक तथा मानसिक प्रयत्नो से सम्बन्धित कुछ ऐसे वास्तविक व्यय होते है जो आय कमाते समय करने होते हैं किन्तु जो लोग अपनी आय के लिए सम्पत्ति पर निर्भर रहते हैं, स्पष्टत. उन्हे ऐसे व्यय नही करने होते । दूसरे, अर्जित आय एक बडे अश मे उस निवेश (investment) का प्रतिफल होती है जो कि व्यक्ति की शिक्षा (education) तथा उसके प्रशिक्षण (training) पर किया जाता है और यदि ऐसी आय के साथ तरजीही व्यवहार (preferential treatment) न किया जाय तो सभव है लोग ऐसा विनियोग करना ही बन्द कर दें ।

(५) **उत्पादन क्षमताओ का ह्रास** (Depreciation of Production Capacities)—जो लोग काम करते है (अर्थात् अर्जित आय कमाते हैं) और काम करते रहने मे उनकी उत्पादन-क्षमताओं (productive capacities) का जो ह्रास होता है उसका उन्हे कोई भत्ता प्राप्त नही होता । और भी अधिक विशिष्ट रूप से कहा जाए तो श्रमिको अथवा कर्मचारियो को वृद्धावस्था के लिए बचत करनी होती है । इसके विपरीत, जो लोग अनर्जित आमदनियो पर निर्भर होते हैं वे पहले ही अपने लिए कोषो का निर्माण कर लेते हैं और उन्हे वर्तमान अथवा भविष्य के बारे मे चिन्तित होने की आवश्यकता नही होती ।

(६) **सम्पत्ति के अधिकार एवं सम्बन्धी लाभ** (Advantages of possession of property)—यह बात सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है कि सम्पत्ति के अधिकार से उसके स्वामी को कुछ लाभ पहुँचते है, ये लाभ उन लाभों के अलावा होते है जो कि उस सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली वार्षिक आय के रूप मे उसे उपलब्ध होते है । सुरक्षा तथा शक्ति से सम्बन्धित अनेक मनोवैज्ञानिक लाभ हैं जो सम्पत्ति के स्वामी को प्राप्त होते है । यही नही, सम्पत्तिशाली लोगो को इस बात की भी आवश्यकता नही होती कि वे अपने उपभोग-व्यय को पूर्णत. अपने वार्षिक आय तक ही सीमित रखे । ये लाभ अनर्जित आय मे सम्मिलित होते है, न कि अर्जित आय मे ।

(७) **सतत परिश्रम के लिए प्रेरणा** (Incentive to hard work)—अर्जित आय पर यदि नीची दरो से कर लगाया जाय तो उससे स्वभावत: ही कठिन श्रम करने की अधिक प्रेरणा प्राप्त होगी, और ऐसा न होना व्यक्ति तथा समाज दोनो के ही हित मे होगा । इसके विपरीत, करो की भारी दरो से लोगो की काम करने तथा बचत करने की प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगे । अनर्जित आमदनियो के मामले मे ऐसा नही होता । अनर्जित आमदनियो पर यदि ऊँची दरो से कर लगाये जाते है तो उसका कोई अप्रेरणात्मक प्रभाव (disincentive effect) नही पडता । साथ ही, यह व्यक्ति को और अधिक विनियोग करने के प्रति भी हतोत्साहित नही करता, क्योकि भारी करो के बावजूद भी उसे जो प्रतिफल प्राप्त होता है वह उससे काफी अधिक होता है जो कि वह सामान्य परिस्थितियो मे प्राप्त करता है ।

निष्कर्ष (Conclusion) :

अनर्जित आय के मुकाबले अर्जित आमदनियो के साथ प्राथमिकता प्रदान करने के समर्थन मे अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते है । परन्तु ये सभी तर्क वास्तव मे ठोस नही कहे जा सकते और उनमे से कई का आसानी से खण्डन किया जा सकता है । उदाहरण के लिए, इस तर्क को कि अर्जित आमदनियाँ अनिश्चित तथा सदिग्ध होती हैं और सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय लम्बे समय तक प्राप्त होती रहती है, सदा ही प्रामाणिक नही माना जा सकता । जैसा कि जे० एस० मिल ने १९वी शताब्दी मे ही बताया था कि अस्थायी आय पर अस्थायी रूप से ही कर लगाये जाते हैं जबकि स्थायी आय पर अनिश्चित समय तक कर अदा किये जाते रहते हैं । यदि ऐसी बात है तो फिर अर्जित आमदनियो की "सदिग्धता अथवा अनिश्चितता" को उनके साथ विशिष्टता तथा प्राथमिकता दिये जाने का आधार बनाने की क्या आवश्यकता है ? फिर क्या सरकार बीमे की किश्त के लिए विशेष कटौती की व्यवस्था नही करती, और क्या सरकार स्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक बीमा की सुविधाएँ प्रदान नही करती ? इसके अतिरिक्त इस तर्क मे भी कोई वजन नही है कि अर्जित आय की प्राप्ति मे कुछ वास्तविक व्यय करने होते है । यदि आय का अर्जन करने मे कुछ वास्तविक व्यय होते ही हैं तो छूट तथा कटौती की सुविधाएँ क्यों न प्रदान कर दी

के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण धन पर लगाया जाने वाला कर दोनों ही प्रकार की आय को प्रभावित करेगा—सम्पत्ति से होने वाली आय (अर्थात् अनर्जित आय) को भी और श्रम से होने वाली आय (अर्थात् अर्जित आय) को भी। अत यह समझा जाता है कि अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच किया जाने वाला भेद उस समय तक अनावश्यक ही होगा जब तक कि वार्षिक सम्पत्ति अथवा धन कर अर्जित तथा अनर्जित दोनों ही आमदनियों को कमाने की व्यक्ति की शुद्ध (net) क्षमता को कम करता है।

यहाँ यह जान लेना भी उचित ही है कि प्रो० प्रैस्ट (Prof. Prest) ने भी अर्जित तथा अनर्जित आय के वर्तमान भेद को बनाये रखने की बजाय शुद्ध योग्यता कर (net worth tax) की वकालत की है। उसके अनुसार, "**इस सम्बन्ध में सही हल यही है कि अनर्जित आय के विरुद्ध किए जाने वाले भेद को समाप्त कर दिया जाय...... और इसके स्थान पर वार्षिक शुद्ध योग्यता पर एक कर लगाया जाय।**"[4] (यह कर वैसा ही है जैसा कि वार्षिक धन कर है।) ऐसे कर का एक लाभ यह होगा कि यह व्यक्ति द्वारा अधिकृत पूँजी पर आक्रमण करेगा और उसको तथा साथ ही उससे प्राप्त होने वाली आय को कम करेगा। इसके अतिरिक्त, यह विनियोग (investment) के जोखिमपूर्ण तथा बिना जोखिम वाले स्रोतों के बीच और तरल (liquid) तथा ठोस (non-liquid) सम्पत्तियों (assets) के बीच भेद नहीं करेगा। इसके अन्य अनेक लाभ हैं जिनका वर्णन सम्पत्तियों का कराधान नामक अध्याय में आगे चलकर किया जायेगा।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अनेक सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच भेद को समाप्त करने का और उसके स्थान पर एक वार्षिक धन कर (annual wealth tax) अथवा शुद्ध योग्यता कर (net worth tax) लगाने का समर्थन किया है।

अर्जित तथा अनर्जित आय के भेद को बनाए रखा जा सकता है........ के पक्ष का समर्थन (The distinction can be maintained)

परन्तु उपरोक्त कथन के होते हुए भी, अर्जित तथा अनर्जित के बीच किया जाने वाला भेद एक बड़े लाभदायक उद्देश्य की पूर्ति करता है। धन का सचय अर्जित आय के मुकाबले अनर्जित आय से अधिक तीव्र गति से होता है क्योंकि अनर्जित आय की स्थिति में बचतों में शीघ्रता के साथ वृद्धि होती है। युद्धकाल में लोग जल्दी धनी बन जाते हैं और एक सटोरिये (speculator) अथवा चोर बाजारिये (black-marketer) द्वारा युद्धकाल में प्राप्त किया गया धन उस धन की तुलना में पूर्णतया पृथक् श्रेणी का होता है जो कि एक कठिन परिश्रम करने वाले उद्योगपति अथवा व्यवसायी द्वारा कमाया जाता है। इसी प्रकार, एक तीव्र गति से विकास करने वाले औद्योगिक नगर की भूमि के मूल्यों में यदि इस कारण वृद्धि हुई है कि वहाँ पर कोई महत्वपूर्ण औद्योगिक इकाई, उदाहरणत भारी विद्युत सयत्र (heavy electrical plant) अथवा लोहा व इस्पात आयोग की स्थापना हुई है तो निश्चय ही इस वृद्धि का श्रेय भूमि के स्वामियों के प्रयत्नों को नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार, जैसे कि अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच एक मान्य भेद किया जा सकता है। ठीक वैसे ही अर्जित तथा अनर्जित धन के बीच भी मान्य भेद किया जा सकता है। किन्तु व्यवहार में, इस बात में स्पष्ट अन्तर करना बड़ा कठिन है कि कहाँ तो अर्जित भाग (earned portion) समाप्त हुआ है और कहाँ से अनर्जित भाग आरम्भ हुआ है, पर इसके बावजूद अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच भेद को कायम रखा जा सकता है और समता अथवा न्याय के दृष्टिकोण से उचित ठहराया जा सकता है।

---

4. Ibid, p 28, "The right sort of solution is to abandon the discrimination against unearned income sand to ubstitute a tax on annual nat worth in its place"

(क) करो की दरो मे कमी आय के सभी स्तरो के लिए अनुपाती (proportional) हो सकती है। इस स्थिति मे आय के उच्चतर वर्गो पर करो के भार मे अपेक्षाकृत अधिक कमी होगी (क्योंकि आय के उच्चतर स्तरो पर अर्जित आय के मुकाबले विनियोग का अनुपात बहुत अधिक होता हैं।)

(ख) करो की दरो मे की जाने वाली कमी को आय के केवल उच्चतर कोष्ठको (higher brackets) पर ही केन्द्रित किया जा सकता है जिससे कि कर-भार (tax burden) मे की जाने वाली कमी को आय के इन्ही वर्गों पर स्पष्ट रूप से अंकित किया जा सके।

(ग) करो की दरो मे की जाने वाली कमी को आय के निम्नतर स्तरो (*lower levels*) पर भी केन्द्रित किया जा सकता है जिससे कि कर-भार की कमी के लाभ केवल इन वर्गों को ही पहुँचाये जा सकें। इस स्थिति मे, मध्यम तथा उच्चतम आय वाले वर्गों को पहले की अपेक्षा अधिक कर-भार वहन करना होगा।

यह बताना अधिक कठिन नही है कि उपर्युक्त तीनो विकल्पो (alternatives) मे से किसका चुनाव किया जाना चाहिए। आधुनिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे, जनता द्वारा चुनी गई ससद (Parliament) से अथवा उस मन्त्रिमण्डल (Cabinet) से, जो कि उस ससद के प्रति उत्तरदायी हो, यह आशा करना बडा कठिन है कि वे तीसरे (ग) के अतिरिक्त अन्य किसी विकल्प को चुनेंगे। यदि प्रथम दो विकल्पो मे से किसी को चुना गया तो, स्पष्ट है कि उसका परिणाम अवरोही कराधान (regressive taxation) के रूप मे ही सामने आयेगा। जैसा कि प्रो० प्रेस्ट ने कहा है कि "जहाँ कोई व्यक्ति इस विषय मे बिल्कुल निश्चिन्त नहीं हो सकता कि करो मे परिवर्तनो के ठीक-ठीक वितरणात्मक प्रभाव क्या होंगे, वहां यह भी बिल्कुल असम्भव है कि कोई वित्तमन्त्री ऐसी नीति को अपनाकर जो कि स्पष्टतया अवरोही प्रतीत होती हो, अपनी राजनैतिक आत्महत्या करने की जोखिम उठायेगा। अतः व्यावहारिक सुझाव के रूप मे हम यही पायेंगे कि *अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच भेद को यदि समाप्त कर दिया जाए तो उससे उच्च आय वाले वर्गों के मध्य* प्रेरणाओ (incentives) की समस्याएँ और भी तीव्र हो जायेंगी।"[3]

प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में आधुनिक सम्मतियाँ (Modern Opinions on the Subject) ·

प्रो० कैल्डोर (Prof Kaldor) का मत है कि अर्जित तथा अनर्जित आय का भेद भारत जैसे देश के लिए बिल्कुल अनावश्यक है। ऐसा उस स्थिति मे होगा जबकि एक बार वार्षिक सम्पत्ति अथवा धन कर (annual wealth tax) लागू कर दिया जाय। उन्होंने लिखा है. "भारत मे यदि एक बार वार्षिक सम्पत्ति अथवा धन कर लागू कर दिया जाता है तो उस स्थिति मे मुझे अर्जित तथा अनर्जित आय के बीच भेद को बनाये रखने मे कोई लाभ नही दिखाई देता है—*इसका अर्थ होगा एक ही लक्ष्य के लिए दो पृथक् अस्त्रो का उपयोग किया जाना।*" किसी व्यक्ति के धन (wealth) मे उसकी देयताओ (liabilities) की व्यवस्था करने के पश्चात् उसकी समस्त सम्पत्तियाँ (assets) सम्मिलित होगी। धन जहाँ आय के एक विशिष्ट बिन्दु पर मूल्य का भण्डार (*stock of value*) है, वहाँ *आय मूल्य-सरिता (valuestream)* का एक प्रवाह (flow) है जो कि समय की विभिन्न अवधियो मे फैला हुआ है। यदि धन पर प्रतिवर्ष कर लगाया जाय तो इसका निम्न दोहरा प्रभाव होगा —

(क) यह व्यक्ति की कमाने की क्षमता (earning capacity) को कम कर देगा, और

(ख) यह आय कमाने वाली सम्पत्तियो के मूल्य को कम कर देगा। धन तथा आय

---

3. A. R. Prest : op cit p 280 281 "Whilst no one can be certain about the exact distributional effects of tax changes It is unlikely that any chancellor would run the risk of political suicide by adopting a policy which appeared to be markedly regressive. Therefore, as a practical proposition one would expect to *find that the abandonment* of differentiation would intensify the problems of incentives among high income groups"

मजदूरी तथा वेतन (Wages and Salaries)	६५%
कृषि के अतिरिक्त उद्यम सम्बन्धी आय (Non-farm Entrepreneurial Income)	८७%
लाभांश (Dividends)	७६%
किराया अथवा लगान (Rent)	४५%
ब्याज (Interest)	३७%
कृषि-आय (Farm Income)	३६%

उपरोक्त आँकडो के विषय मे काफी मात्रा मे न्यून सूचना (under-reporting) फार्मों (*farms*) *तथा छोटी व्यावसायिक इकाइयों की आय के सम्बन्ध में प्राप्त हुई है। यह कहा गया* कि बडी-बडी कम्पनियो एव निगमो द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले विवरण-पत्रों की तो आसानी से जाँच की जा सकती है परन्तु छोटे व्यवसायियो (businessmen) तथा फार्मों के विवरण-पत्रो की पूर्णतया ठीक-ठीक जांच करना सम्भव नही हुआ है। लाभांश तथा ब्याज की आय के विषय मे जो न्यून-सूचना प्राप्त हुई है उसका एक बडा भाग निम्नतर आय वाले वर्गों से सम्बन्धित है। *किन्तु इस सबके होते हुए भी, आय-कर को लागू करने की प्रशासन व्यवस्था मे निरन्तर सुधार* किया जा रहा है और उसको मजबूत बनाया जा रहा है। ऐसी किस्म के विवरण-पत्रो की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है जिनमे फि.गलतियो की अधिक सम्भावना हो सकती है। पर फिर भी कर-वचन जारी है, यद्यपि जैसा कि जॉन डयू (John Due) ने ठीक ही कहा है, कि—"संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा कनाडा मे यह (कर-वचन) इतनी अधिक मात्रा मे नहीं होता कि कर की आधारभूत समता (equity) ही समाप्त हो जाये।"[7] *भारत जैसे अल्पविकसित देशों मे,* कर-वचन अधिक मात्रा मे होता है—अशत तो आय-कर विभाग की अकुशलता एव उसमे व्याप्त भ्रष्टाचार (corruption) के कारण अशत देश मे वर्तमान अत्यन्त निम्न कोटि की व्यावसायिक नैतिकता (business morality) के कारण, और अशत राजस्व संग्रह के सम्बन्ध मे सरकार की रुचि की कमी के कारण। परन्तु योजनाओ के कारण राजस्व (revenue) की बढती हुई आवश्यकताओ के साथ ही साथ, सरकारी प्रशासन-व्यवस्था मे सुधार किया जा रहा है और इस बात के भी प्रयत्न किये गये हैं कि सरकारी विभागों की अकुशलता (inefficiency) तथा उनमे व्याप्त भ्रष्टाचार कम हो। परन्तु कर-वचन को अनुपेक्षणीय न्यूनतम मात्रा तक पहुँचाने मे अभी काफी समय लगेगा।

कर-परिहार अथवा कर से बचना (Tax Avoidance)

अपनी आय को कम बतलाकर अथवा छिपाकर जहाँ लोग आय-कर के उन उपबन्धो (provisions) से बच जाते हैं, जबकि तर्क की दृष्टि से उन्हे उन उपबन्धो के अधीन रहना चाहिए था, वहाँ यह भी हो सकता है कि स्वय आय-कर की व्यवस्था मे ही ऐसी अनेक कमियाँ अथवा छिद्र वर्तमान हो जो कर-परिहार को सम्भव बनाते हों। करदाता कर की उपेक्षा करने मे इसलिये समर्थ हो जाता है क्योंकि उसका मामला कर के सामान्य क्षेत्र के अन्तर्गत ही *विचाराधीन होना है। अनेक बार, कर का वास्तविक भार बहुत कम कठोर होता है बमुकाबले* उसके जैसा कि वह आय-कर अनुसूची से प्रकट होना है। कर-परिहार के कुछ महत्वपूर्ण स्रोत निम्नलिखित हैं —

(१) **आय की स्पष्ट एव व्यापक परिभाषा का अभाव**—कर-परिहार का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत (source) कर की दृष्टि से आय की एक स्पष्ट एव व्यापक परिभाषा का न होना है। कुछ देशों मे, *पूँजीगत लाभो (capital gains) को पूर्णतया कर-मुक्त कर दिया जाता है।* परिणामस्वरूप, अन्य आमदनी को, विशेषकर अत्यन्त निकट रूप से सचालित व्यावसायिक इकाइयो की कमाई को पूँजीगत लाभो मे परिवर्तित कर दिया जाता है और इस प्रकार पूँजीगत लाभ काफी

---
7 John Due: op cit P 201 "It would not appear to be sufficiently great either U S A. or Canada to destroy the basis equity of the tax"

कर-वंचन अथवा कर का छुपाव तथा कर-परिहार[5]
(Tax Evasion and Avoidance)

यदि किसी कर को उच्च कोटि की कुशलता के साथ लागू नही किया जा सकता और यदि स्थिति यह है कि लोग कानूनी अथवा गैरकानूनी तरीको से कर को छिपा लेते है तो यह नही कहा जा सकता कि कर समता और न्याय के स्वीकृत सिद्धान्तो के अनुरूप है। आय-कर को सामान्यत. ईमानदारी पर लगाया गया कर माना जाता है। यह बहुसख्यक कर दाताओं से यह आशा करता है कि वे अपनी आय घोषित करें। परन्तु यह सम्भव है कि उनमें से कुछ लोग अपनी आय बिल्कुल घोषित ही न करें और इस प्रकार कर से बच जायें अथवा यह हो सकता है कि वे अपनी आय का कुछ भाग छिपा लें और इस प्रकार कर का कुछ भाग देने से बच जाये। अत स्पष्ट है कि कर को यदि अत्यन्त प्रभावपूर्ण रीति से लागू न किया जाए तो यह हो सकता है कि कर सैद्धान्तिक समता एक बडी सीमा तक केवल नाम मात्र की ही वस्तु रह जाये।

कर वंचन अथवा कर का छुपाव (Tax Evasion)

आय कर की मुख्य सीमा यह है कि जनता के कुछ वर्गों की आमदनियो की तथा छूटो एव कटौतियो के दावो की उच्चकोटि की यथार्थता (accuracy) के साथ जाँच नही की जा सकती। कुछ आमदनियाँ तो ऐसे स्रोतो से प्राप्त की जाती हैं जिनकी जाँच आसानी से हो सकती है—उदाहरणत मजदूरी तथा वेतन, ब्याज तथा वेतन, ब्याज तथा लाभाश। इनमे करो को छिपाने की गु जाइश कम ही होती है। परन्तु जब आमदनियाँ वस्तुओ की बिक्री से अथवा व्यक्तिगत सेवाओ के माध्यम से प्राप्त होती है तो उनकी ठीक-ठीक जाँच कर सकना सम्भव नही होता। उदाहरण के लिए, किसान, छोटे-छोटे व्यापारी तथा व्यवसायी साधारणत आय को काफी कम बतलाकर तथा व्यावसायिक खर्चों को अधिक दिखा कर करो से बच जाते है आय की ठीक-ठीक जाँच पडताल न हो सकने की कठिनाई के कारण ही इन लोगों के लिए कर को छिपाना सम्भव हो जाता है।

कर वंचन के प्रमुख स्रोत :

कर-वचन अथवा करो को छिपाने के विभिन्न प्रमुख स्रोत निम्नलिखित है —

(क) प्राप्तियों (receipts) को कम दिखाकर,

(ख) समायोजित कुल आय का क्रम विवरण प्रस्तुत करके,

(ग) वैयक्तिक खर्चों को व्यावसायिक खर्चे बताकर और उनको आय मे से घटा कर,

(घ) अनियमित स्रोतो से प्राप्त होने वाली फुटकर आकस्मिक आय का विवरण न देकर आदि आदि।

यद्यपि यह सत्य है कि कर-वचन सामान्यत सभी देशो मे होता है परन्तु यह बताना कठिन है कि किस-किस देश मे कितनी-कितनी मात्रा मे कर-वचन होता है। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे उन्नत देश राजस्व के सग्रह की अपनी प्रशासन-व्यवस्था मे निरन्तर सुधार कर रहे है और कर वचन की मात्रा को कम कर रहे हैं। एक अनुमान के अनुसार, द्वितीय विश्व-युद्ध तुरन्त समाप्ति—की अवधि मे सयुक्त राज्य अमेरिका के आय-कर विवरण-पत्रो (income-tax returns) मे अग्रलिखित आंकडे दिखाये गये थे[6] —

---

5. इस सम्बन्ध मे जिन बातो पर यहाँ विचार किया गया है वे समान रूप से सभी प्रत्येक्ष करो पर लागू होती हैं।

6. सम्बन्धित आँकडे जॉन ड्यू द्वारा लिखित 'सरकारी वित्त' (Government Finance) नामक पुस्तक की पृष्ठ सख्या १६६ से लिये गये है।

हस्तान्तरण (blank transfer) की व्यवस्था आदि। इन सबका परिणाम यह होता है कि अवैधानिक प्रकृति का कर-परिहार सम्भव हो जाता है।

कर परिहार के उपर्युक्त स्रोतों का यदि सावधानी के साथ अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि कर-परिहार के अवसर अशतः तो आय-कर कानूनों की कमियों के कारण उत्पन्न हो जाते हैं और अशतः इसलिए उत्पन्न होते हैं क्योंकि कर-योग्य आय (Taxable income) की कोई सन्तोषजनक व्याख्या करने में कुछ अन्तर्निहित कठिनाइयाँ है। कारण चाहे कुछ भी क्यों न हो, यह तो स्पष्ट है कि यदि करवचन और कर-परिहार (Tax evasion on tax avoidance) व्यापक रूप में वर्तमान रहे तो लोगों पर उसका बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। जैसा कि प्रो० कैल्डोर (Keldor) ने कहा है, "मेरा यह दृढ़ मत है कि पिछले १५-२० वर्षों की विनिविधियाँ—जिनके अन्तर्गत कि मनमानी तरीके से जहाँ कर की ऊँची सीमान्त दरें लागू की गई, वहाँ कर-परिहार के व्यापक द्वार पूर्ववत् खुले रहे—अत्यधिक हानिकारक प्रवृत्ति की हैं।"[8] सम्पूर्ण व्यवस्था में "एक विलक्षण किस्म की नैतिक एवं बौद्धिक बेईमानी की झलक मिलती है।" जैसा कि हैनरी साइमन्स (Henry Simons) ने कहा है, "यहाँ कोई भी व्यक्ति धोखेबाजी की एक विशाल योजना देख सकता है जिसके द्वारा कि अत्यधिक तथा असाधारण मात्रा में अधिकर (surtaxes) इन वायदों के साथ लगाये जाते हैं कि उन्हें प्रभावपूर्ण रीति से कार्यान्वित नहीं किया जायेगा। इस प्रकार, राजनीतिज्ञ (politicians) जहाँ करों की ऊँची दरों का गर्व के साथ उल्लेख करते हैं, वहाँ धनी मित्रों को उन करों में मौजूद व्याप्त छिद्रों एवं कमियों के शक्तिशाली अंशों को भी चुपचाप स्मरण भी करा देते हैं।"[9] ऐसी स्थिति में, लोगों के मन में सरकार तथा कर संग्रह करने वाली प्रशासन-व्यवस्था के प्रति बहुत कम सम्मान रह जायेगा और यहाँ तक कि ईमानदार व्यक्ति भी अपने करों की देयता को कम करने अथवा उसे पूर्णतः समाप्त करने के लिए सदिग्ध तरीकों का आश्रय लेने लगेंगे। इस सबके अतिरिक्त, एक विशेष बात यह होगी कि समता (equity) तथा न्याय (Justice) के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप से लागू किया नहीं जा सकेगा।

कैल्डोर का सिद्धान्त—कैल्डोर (Keldor) ने यह सुझाव दिया है कि कर-वचन तथा कर-परिहार को रोकने के लिए आय-कर तथा सम्पत्ति कर, दोनों का ही साथ-साथ उपयोग किया जाय। यदि एक ही सत्ता (authority) इन दोनों ही करों को लागू करे तो उससे प्रशासनिक कार्य कुशलता में वृद्धि होगी। "किसी व्यक्ति की सम्पत्ति के स्वामित्व की जाँच करने से निश्चय ही उसकी छिपी हुई आय का पता चलेगा और इसी प्रकार उसकी आय की प्राप्तियों की जाँच करने से निश्चित रूप से उसकी छिपी हुई सम्पत्ति प्रकाश में आयेगी। अत किसी एक कर को लगाने की बजाए यदि आय तथा सम्पत्ति दोनों पर ही कर लगाया जाए तो उससे कर वचन तथा करों को छिपाने की अपेक्षाकृत अधिक रोकथाम हो सकेगी।"[10]

आय के कराधान के प्रभाव
(Effects of Income Taxation)

प्रश्न उठता है कि किसी देश के करों के ढाँचे में आय-कर का क्या योग होता है? इस

8 N Kaldor Indian Tax Reform, p 11, "I am strongly of the view that the developments of the last 15-20 years which imposed (nominally) fantastically high marginal rates of tax while permitting the continuance of wide loopholes for tax avoidance are highly pernicious in character"

9 Quoted by Kaldor op cit p 11, "One senses here a grand scheme of deception whereby enormous surtax are voted exchange for promises that they will not be made effective Thus the politicians may point with pride to the rates While quietly reminding their wealthy constituents of the loopholes"

10 Ibid p 21, "The examination of a man's property ownership is bound to lead to the discovery of his concealed income, and similarly the examination of his income receipts is bound to lead to the discovery of concealed property V tax on both, therefore, should provide a better check on evasion and concealment than a tax on either"

मात्रा मे कर-परिहार का मार्ग प्रशस्त करते है। यद्यपि सुविधाओ के कुछ अधिक महत्वपूर्ण दुरुपयोगो की रोकथाम के लिए प्रयत्न किये गये है, तथापि जब तक पूँजीगत लाभो को पक्षपात-पूर्ण अनुकूल व्यवहार प्राप्त होता रहेगा, तब तक काफी मात्रा मे कर-परिहार अनिवार्य-सा ही रहेगा।

(२) **कटौती योग्य व्ययो की लोचदार परिभाषा** (Elastic definition of Deductionable Expenses)—उन व्ययो (expenses) की परिभाषा बडी लोचदार है जिनको आय में से घटाने की आज्ञा दे दी जाती है। इसके अतिरिक्त, "हानियो" (losses) की छूट की व्यवस्था भी अत्यधिक उदार होती है। परिणामस्वरूप, व्यवसायी अनेक प्रकार की छूटो एव कटौतियो के दावे करते है और कभी तो "निर्माण सम्बन्धी हानियो" (manufacture losses) को भी कर की दृष्टि से आय मे से घटाने की माँग करते है।

(३) **आय अथवा सम्पत्ति का सही योग मिलने मे कठिनाई** (Failure to secure true aggregate of total Income or Property)—आय अथवा सम्पत्ति का सही कर-परिहार का एक अन्य स्रोत यह है कि कर लगाने की दृष्टि से एक व्यक्ति (अथवा उसके परिवार) की कुल सम्पत्ति अथवा आय का सही सही पूर्ण योग प्राप्त करने मे सफलता नही मिल पाती है इसका आशिक कारण है परिवार की आय अथवा सम्पत्ति के पूर्ण योग को बतलाने की अनिवार्यता के सम्बन्ध मे दोषपूर्ण प्रावधानो (defective provisions) का होना। इन दोषपूर्ण प्रावधानो के कारण कर परिहार को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) **सदस्यों के बीच सम्पत्ति का विभाजन** (Division of Property among Members)—परिवार के सदस्यो के बीच सम्पत्ति का विभाजन एक ऐसा प्रचलित उपाय है जिसे आरोहण (progression) के प्रभावो से बचने के लिये सब जगह अपनाया जाता है। इस आधार पर कर-परिहार को रोक सकना लगभग असभव-सा ही प्रतीत होता है।

(५) **सरकारी बॉण्डो का क्रय** (Purchase of Govt Bonds)—सरकार यह कर सकती है कि सरकारी बॉण्डो की खरीद को अथवा कम से कम उससे होने वाली आय को आय कर के क्षेत्र से मुक्त (Exempt) कर दे। इस स्थिति म, अपेक्षाकृत ऊँची आमदनियों वाले लोगो को कर से बचने का एक सुरक्षित साधन मिल जाता है। ऐसे धनी लोग सरकारी अधिकारियो को ऊँची दर से आय-कर देने की बजाए इन बॉण्डो पर नीची दर से ब्याज लेना अधिक पसन्द करते है।

(६) **प्रन्यासो का विवेकपूर्ण उपयोग** (Judicious use of Trusts)—न्यासो अथवा प्रन्यासो के विवेकपूर्ण उपयोग से भी कर-देयता मे कमी की जा सकती है। ऐसा इसलिये होता है क्योकि प्रन्यासो की आमदनियाँ या तो पूर्णतया कर-मुक्त होती हैं अथवा उन पर हल्के (Lightly) कर लगाये जाते हैं। इस स्थिति में, एक धनी कर-दाता, जो कि आय-कर से बचना चाहता है, यह हो सकता है कि वह अपनी सम्पत्ति को एक प्रन्यास अथवा ट्रस्ट के रूप मे परिवर्तित कर ले स्वय अपने आप को उसका न्यासधारी अथवा प्रन्यासी बना ले और तत्सम्बन्धी सामान्य लाभो का उपभोग करे ताकि उसे कर या तो बिल्कुल ही अदा न करने पडे अथवा काफी नीची दरो से अदा करने पडे।

(७) **आय अथवा सम्पत्ति का पूर्ण विवरण मिलने मे कठिनाई** (Failure to Secure full Reporting of Property and Income)—अधिकारीगण आय अथवा सम्पत्ति का पूर्ण विवरण प्राप्त करने मे असफल रह सकते हैं। ऐसा अनेक कारणो से हो सकता है, जैसाकि (क) सम्पत्ति सम्बन्धी आय तथा सम्पत्ति सम्बन्धी सौदो का विवरण प्रस्तुत करने वाली किसी ऐसी स्वयचालित पद्धति का अभाव, जैसी कि रोजगार (Employment) से होने वाली आय के सम्बन्ध मे अपनाई जाती है, (ख) करदाताओ से विस्तृत विवरण-पत्र प्राप्त करने मे असफलता, (ग) कुछ ऐसी सुविधाएँ प्रदान किया जाना जिनसे आय तथा सम्पत्ति का छिपाया जाना सम्भव हो जाता है—जैसे कि जाली नामो से सम्पत्ति का पजीकरण (रजिस्ट्रेशन) अथवा अज्ञात नाम से भूमि अथवा निधि-पत्र रखना जैसे वाहक बॉण्ड (bearer bonds), अथवा शेयरो के मामले मे रिक्त-

मुखी ढालू (downward slopping) है—अर्थात् यह प्रदर्शित करती है कि उच्चतर कीमतों के मुकाबले निम्नतर कीमतो पर उपादान की अपेक्षाकृत अधिक इकाइयाँ उपलब्ध होगी—तो आय-कर का प्रभाव यह होगा कि बिक्री के लिए उपलब्ध उपादान-सेवाओं की मात्रा बढ जायेगी।

श्रम का संभरण तथा आय-कर का प्रभाव (Supply of Labour and effect of Income-tax) —सबसे पहले हम **श्रम के सभरण** (supply of labour) का लेते हैं। श्रमजीवी अथवा मजदूर (wage-earner) पर यदि आय-कर लगाया जाता है तो उससे काम (work) के लिए मिलने वाले उसके पुरस्कार में कमी होती है और इस प्रकार फुरसत की लागत (cost of leisure) घटती है (फुरसत की लागत से आशय काम से होने वाला लाभ है)। इस स्थिति मे, स्पष्ट है कि मजदूर अधिक फुरसत (more leisure) और कम काम (less work) चाहेगा, क्योंकि इनमें से प्रथम द्वितीय के मुकाबले अधिक लाभकारी है। यही वह स्थिति है जिसे कि सामान्यत (आय-कर लगने के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली) निम्नतर मजदूरियों का प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) कहा जाता है। अन्य शब्दों मे, श्रमिक काम (work) के स्थान पर फुरसत (leisure) को प्रतिस्थापित करता है क्योंकि निम्नतर मजदूरियों के कारण काम की अपेक्षा फुरसत अधिक लाभकारी है। इसके साथ ही साथ, मजदूरियो (wages) मे होने वाली कमी से चूँकि श्रमिक को उपभोग के लिए प्राप्त होने वाली आय में भी कमी होती है, अत उसको इस बात की भी प्रेरणा मिलती है कि वह आय-कर से होने वाली हानि को पूरा करने के लिए अधिक घण्टो तक काम करे। यह घटी हुई मजदूरियो का आय प्रभाव (income effect) है—यह श्रमिक को इस बात की प्रेरणा देता है कि वह अधिक काम करे और अपनी फुरसत मे कटौती करे। यहाँ यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि फुरसत का तब तक न तो कोई अर्थ है और न व्यक्ति को इससे कोई ठोस सन्तुष्टि ही मिल सकती है जब तक कि उस फुरसत के समय का उपयोग करने के लिए व्यक्ति के पास पर्याप्त आय न हो। इसी कारण, सामान्यत अधिक काम (more work) के पक्ष मे पडने वाला सकारात्मक आय प्रभाव (positive income effect) कम काम (less work) के पक्ष मे पडने वाले नकारात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव (negative substitution effect) को निष्प्रभावी करने के साथ साथ उस पर और अधिक असर डालेगा।

कुछ अन्य भी विचारणीय बातें हैं जो इस समस्या से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए, करो की दरों की प्रकृति तथा न्यूनतम छूट सीमाओ आदि को भी व्यक्ति को अधिक या कम काम करने की इच्छा पर असर पडता है। इसी प्रकार, इस बात की भी सम्भावना है कि आय-कर कुछ ऐसी अनुपूरक क्रियाओ (supplementary activities) को भी प्रभावित करेगा, जैसे कि समयोपरि कार्य (overtime work) अथवा मुख्य कार्य तथा सामान्य रोजगार को छोडकर अन्य अतिरिक्त काम। यही नही, यदि आय-कर व्यक्ति के उस सामान्य जीवन स्तर मे कटौती करता है जिसका कि वह अभ्यस्त है तो इससे उसे और कठिन श्रम करने की प्रेरणा मिलेगी जिससे कि वह अपने जीवन स्तर को बनाये रख सकें। इसके साथ ही साथ, इस बात का भी महत्व है कि काम (work) तथा फुरसत (leisure) के प्रति लोगों का सामान्य दृष्टिकोण क्या है। उदाहरण के लिए, युद्ध काल में, भारी करो के बावजूद श्रमिक अधिकतम कार्य करते है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आय-कर के लगने से यह आवश्यक नही है कि श्रम-सेवाओं (labour services) के सम्भरण (supply) में कमी हो। यही नही, श्रम-सेवाओं के सम्भरण म कोई भी उल्लेखनीय परिवर्तन इसलिए नहीं होगा क्योंकि अधिकाश मामलो मे काम के घण्टो का निर्धारण पृथक्-पृथक् श्रमिक द्वारा नही किया जाता है बल्कि श्रमिक सघो (trade unions) से बातचीत के बाद मालिको (employers) द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत, कुछ किस्म के श्रम पर आयकर का प्रतिकूल प्रभाव भी पड सकता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की नौकरियों अथवा कामो (Jobs) मे अनुभवाश्रित खोजों के पश्चात् जो सामान्य निष्कर्ष निकाले गये हैं वे निम्न प्रकार है —

(क) आय-कर श्रमिकों तथा वेतन भोगी मनुष्यो के काम तथा प्रयास (effort) को गम्भीर रूप से कम नही करते, अपितु वे तो उन्हे कठिन श्रम करने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए उत्तरदायी होते हैं।

प्रश्न पर विचार करते समय दो बातें मुख्य रूप से सामने आती है, अर्थात् (१) कर में साम्य अथवा समता (equity) का पहलू और (२) कर के आर्थिक परिणामों (economic consequences) का पहलू।

कर के समता-पक्ष पर हम पहले ही विचार कर चुके है। हम बतला चुके हैं कि आय-कर को सामर्थ्य सिद्धान्त (principle of ability) पर आधारित किया जा सकता है। निम्नतम आय (lower income) वाले वर्गों को इस कर से पूर्णत मुक्त किया जा सकता है और कर का भार उच्चतर आय वाले वर्गों पर आरोही क्रम से (progressively) बढाया जा सकता है। एक अत्यधिक आरोही आय-कर (steeply progressive income-tax) की प्रवृत्ति यह होती है कि वह एक नियत स्तर से ऊपर की आमदनियों की छाँट कर देता है और इस प्रकार आय की असमानताओं को कम करने का प्रयत्न करता है। चूंकि सामान्य जनता का दृष्टिकोण आज इसी पक्ष म दिखाई देता है कि सभी व्यक्तियो की आमदनियाँ एक समान स्तर पर लाई जाएँ और एक समाजवादी समाज की स्थापना हो, अत आयकर के सम्बन्ध मे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि यह समता एव न्याय के वर्तमान उद्देश्यो की पूर्ति कर सकेगा। किन्तु यहा पर हम आय के कराधान के आर्थिक प्रभावो पर ही विचार करेंगे।

आय-कर अर्थव्यवस्था (economy) के कार्य-सचालन को निम्न तीन प्रकार से प्रभावित कर सकता है —

(क) यह व्यावसायिक फर्मो के निर्णयो को और इस प्रकार उत्पादन के उपादानो (factors of production) के लिए उनकी माग को प्रभावित कर सकता है,

(ख) यह उत्पादन के उपादानो के उस सम्भरण (supply) को बदल सकता है जो कि व्यावसायिक इकाइयों को उपलब्ध हो, और

(ग) यह उद्योगो के बीच उपादान-सेवाओ (factor services) का फिर से बँटवारा कर सकता है।

इस प्रकार, माँग और सम्भरण (supply) दोनों उपादानों (factors) को प्रभावित कर के आय कर राष्ट्रीय आय के स्तर राष्ट्रीय आय की रचना, अथवा गठन (composition) और उसके वितरण को बदल सकता है। ये प्रभाव आर्थिक कल्याण (economic welfare) की दृष्टि से स्वय बडे महत्वपूर्ण है परन्तु साथ ही ये आय-कर के वितरण के प्रारूप (pattern) को भी बदल सकते हैं।

आय-कर और उपादान-सेवाओ का सम्भरण (Income-tax and the Supply of Factor Services)

आय-कर की स्थिति का प्रभाव यह होता है कि उत्पादन के लिए उत्पादन-सेवाओं के सभरण (supply) के समय उपादान के स्वामियो को प्राप्त होने वाला आर्थिक लाभ कम हो जाता है। उदाहरण के लिए, मजदूरी पर आय-कर लगाने की स्थिति मे श्रमिक को अपने कार्य से कम आय प्राप्त होती है। अब प्रश्न उठता है कि मौद्रिक पुरस्कार (monetary reward) की इस कमी का उपादान-सेवाओ के सभरण पर क्या प्रभाव पडेगा ? इस प्रश्न के उत्तर पर ही उत्पादन का स्तर, राष्ट्रीय आय तथा देश का आर्थिक कल्याण निर्भर करेगा। सामान्य रूप मे, यह कहा जा सकता है कि किसी सभरण (supply) के उपादान पर आय-कर का प्रभाव इस बात पर निर्भर करेगा कि उस उपादान (factor) की सभरण अनुसूचियाँ (supply schedules) किस प्रकृति की है। यदि उपादान की संभरण अनुसूची (factor supply schedule)—अर्थात् विभिन्न मूल्यों पर उपादान की उपलब्ध होने वाली मात्राओ की सूची—पूर्णतया निरपेक्ष अथवा लोचहीन (perfectly inelastic) है, तो उस उपादान की सभरण की मात्रा पर आय-कर के लगने का कोई प्रभाव नही पडेगा। यदि उपादान की सभरण अनुसूची ऊर्ध्वमुखी ढालू (upward slopping) है—अर्थात् यह प्रदर्शित करती है कि उच्चतर कीमतो पर उपादान की अपेक्षाकृत अधिक इकाइयाँ बिक्री के लिए उपलब्ध होगी—तो कर लगाने के कारण मौद्रिक पुरस्कार मे कमी हो जाने के परिणामस्वरूप उपादान की मात्रा घट जायेगी। अन्त मे, यदि उपादान की सभरण-अनुसूची अधो-

प्रथम तो, आय-कर उपभोग पर किये जाने वाले निजी खर्च मे कटौती करता है। दूसरे, चूँकि यह व्यावसायिक इकाइयों की आय को कम करता है, अत इस प्रकार उपादान-मात्राओं के लिए उनकी माँग मे भी कमी करता है। तीसरे, इसमे व्यावसायिक विस्तार (business expansion) के लिए धन के सचय मे कमी होगी और इस प्रकार उत्पादन बढाने की व्यवसायियों की इच्छा पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। व्यवसाय का विस्तार करने की इच्छा मे तब और भी कमी होगी यदि व्यवसायी यह अनुभव करने लगेंगे कि व्यवसाय के विस्तार से प्राप्त लाभो का काफी भाग सरकार द्वारा करो के रूप में ले लिया जायेगा। इसके साथ ही, व्यवसायी (businessmen) यह भी जानते हैं कि व्यवसायो मे किये जाने वाले सभी विस्तार (expansions) सफल नही होते। अत इस स्थिति मे वे इस बात के लिए तैयार नही होंगे कि व्यावसायिक क्रियाओ के विस्तार की जोखिम उठायें और फिर स्वय की आय के कराधान की परिधि मे ला रखें। कुछ देशो मे यह देखा गया है कि आय-कर ने लोगों को अपना धन तरल रूप (liquid form) मे रखने को प्रोत्साहित किया है और नये व्यवसाय को प्रारम्भ करने के प्रति हतोत्साहित किया है।

नि सन्देह यह सब स्थिति का अन्धकारमय पहलू है, परन्तु इसके साथ ही हमे इस बात को भी दृष्टि से ओझल नही करना चाहिए कि सरकारी व्यय उत्पादन के उपादानो की माँग की वृद्धि मे सहायक होता है और अर्थव्यवस्था (economy) पर सामान्यत इसका विस्तारात्मक प्रभाव (expansionary effect) होता है। यह सम्भव हो सकता है कि उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय पर आय-कर का जो प्रतिकूल प्रभाव पडता है उसे सरकारी व्यय के द्वारा सामान्य रूप से बे असर कर दिया जाए। किन्तु इसके बावजूद, यदि सरकारी व्यय सेना पर तथा अन्य अनुत्पादक मदो पर किया जाता है तो सरकारी व्यय के विस्तारात्मक प्रभाव की तुलना मे उत्पादन दर आय-कर के प्रतिकूल प्रभाव की मात्रा अधिक भी हो सकती है।

आयकर और साधनो का बँटवारा (Income tax and Resource Allocation)

ऊपर के कथन मे यह स्पष्ट है कि उत्पादन तथा रोजगार पर आय के कराधान का प्रतिकूल प्रभाव पडेगा ही, यह आवश्यक नही है। परन्तु हमे इस बात पर भी विचार करना है कि आय-कर का विभिन्न उद्योगों के बीच साधनो के बँटवारे पर क्या प्रभाव पडेगा। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि अत्यधिक आरोही आय-कर के लगने मे वस्तुओं का उत्पादन कम हो जायेगा और विशेष रूप मे ऐसी वस्तुओं का जो कि उच्चतर आय वाले वर्गों के काम आती है। इसके अतिरिक्त, आय-कर स धनी व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली बचत मे कमी होगी और उसके परिणामस्वरूप पूँजी के निर्माण मे भी कमी होगी। दूसरी ओर, सम्भावना यह है कि अधिकाश सरकारी व्यय उपभोग कार्यों पर ही होगा। इसका अर्थ होगा—पूँजीगत वस्तुओं की ओर से उपभोग्य वस्तुओं की ओर को साधनो का अन्तरण (diversion)। इस स्थिति मे पूँजी-निर्माण की दर नीची हो जायेगी और इससे दीर्घकाल मे आर्थिक कल्याण प्रभावित हो सकता है। क्योंकि पूँजी-निर्माण की ऊँची दर से रहन सहन के स्तर म तीव्रगति से सुधार होता है, यद्यपि यह हो सकता है कि थोडी अवधि के लिए इसमे उपभोग्य वस्तुओ (consumption goods) की कमी हो जाये। परन्तु यह कह सकना बडा कठिन है कि किसी भी देश मे किसी विशेष समय मे पूँजी निर्माण (capital formation) की ऊँची दर होनी चाहिए या नीची।

तथापि, एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था (developing economy) मे, उपादानो (factors) की माँग मे जो वृद्धि होगी उसके अधिकाश भाग की आवश्यकता कुछ प्रमुख आर्थिक एव सामाजिक मदो, जैसे परिवहन, बिजली, शिक्षा व जन स्वास्थ्य आदि के उत्पादन एव विकास के लिए होगी। अत ऊपरी पूँजी (overhead capital) की व्यवस्था पे अत्यधिक अनुकूल प्रभाव होंगे और उसमे औद्योगीकरण की गति तीव्र करने में सहायता मिलेगी। इस प्रकार, इस बात मे विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि प्राइवेट व्यक्तियों के पास से सरकार की ओर को साधनो का अन्तरण होने मे राष्ट्रीय आय की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगे। वास्तविकता तो यह है कि ऐसा अन्तरण करदाताओ सहित सम्पूर्ण समाज के लिए ही अत्यधिक लाभदायक होगा।

आय के कराधान के वितरणात्मक प्रभाव (Distributional Effects of Income Taxation)

यह आमतौर पर कहा जाता है कि आर्थिक कार्यों (economic functions) पर आधारित

(ख) कुछ मामलों में, जब व्यक्ति ऐसी पदोन्नतियों (promotions) अथवा नौकरियों को स्वीकार करने से इन्कार कर देते है जिनमें जिम्मेवारी तो अधिक होती है। परन्तु आय-कर के पश्चात् वेतन में शुद्ध वृद्धि थोडी ही होती है तो ऐसी अस्वीकृति के लिए निश्चित रूप से कर ही उत्तरदायी होते है।

(ग) सामाजिक सम्मान (social esteem) जैसे कुछ गैर-वित्तीय लाभ इतने महत्वपूर्ण होते है कि सामान्यत ऐसे व्यक्ति यथेष्ट मात्रा में मिल जायेंगे कि जो भारी करो के बावजूद उत्तरदायी नौकरियों अथवा कार्यों को स्वीकार करें।

पूंजी का सम्भरण और आयकर का प्रभाव (Supply of Capital and effect of Income-tax)—अब हम पूंजी के सम्भरण को लेंगे और इस बात पर विचार करेंगे कि इस पर आय-कर का क्या प्रभाव पडता है। आय-कर उच्चतर आय वाले ऐसे वर्गों की आय को कम कर देता है जो कि सामान्यत किसी भी देश में सबसे महत्वपूर्ण बचत करने वाले होते है। परिणामस्वरूप, यदि अत्याधिक आरोही आय-कर लगाया जाये तो उससे बचत की मात्रा और इसके फलस्वरूप द्रव्य-पूंजी (money capital) में कमी हो जाती है। परन्तु अनुभव पर आधारित प्रमाणो से तो यही प्रकट होता है कि ऐसी अनेक रीतियाँ हैं जिनके द्वारा उच्चतर आय वाले वर्ग आय-कर की पूरी दरो के लागू किये बिना ही पूंजीगत निधियों (capital funds) का सचय कर सकते है। अन्य शब्दों में, उच्चतर आय वाले वर्गों से सम्बन्धित व्यक्तियों पर करो के ढांचे (tax structure) का इतना कठोर भार नही पडता जितना कि यह आरोहण (progression) के आधार पर दरो की तालिकाओं (rate tables) में प्रतीत होता है।

इसके साथ ही, चूंकि कराधान (taxation) के कारण पूंजी का मौद्रिक पुरस्कार (monetary reward)—या तो पूंजी को उधार देने में अथवा सामान्य अश पूंजी (equity capital) के रूप में—कम हो जाता है। अत इस स्थिति में स्वाभाविक प्रवृत्ति यह होगी कि विभिन्न कार्यों के लिए पूंजी का सम्भरण कम हो जायेगा। इसलिए सिद्धान्त रूप में तो आय-कर का विनियोग (investment) पर और इस प्रकार उपज और आय पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। परन्तु यदि हम पुन अनुभवाश्रित प्रमाणो (empirical evidence) पर दृष्टि डाले तो ज्ञात होता है कि इसके बावजूद भी, उच्चतर आय वाले वर्गो द्वारा व्यावसायिक फर्मो को अशो और ऋण-पत्रो (shares and debentures) के रूप में काफी ठोस मात्रा में द्रव्य-पूंजी प्रदान की जाती है। ऐसे विनियोगकर्त्ता (investors), जो कि अपनी पूंजी की सुरक्षा तथा चालू आय में रुचि रखते है, आय-कर द्वारा सामान्यत ऐसे विनियोगो को पसन्द करते है जिनसे यद्यपि आय तो अपेक्षाकृत कम प्राप्त होती है किन्तु उनमें जोखिम कम होती है। इसके विपरीत जो विनियोगकर्त्ता पूंजीगत लाभो द्वारा लाभान्वित होना चाहते है वे आय-कर के कारण जोखिम वाले विनियोगो को चुनते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)

इस प्रकार यद्यपि उपादान-सेवाओ के सम्भरण पर आय-कर के सम्भावित प्रभावों के बारे में अर्थशास्त्रियों के बीच मत-विभिन्नता पाई जाती है तथापि यह कहा जा सकता है कि उपादान-सेवाओ के सम्भरण पर—विशेष रूप से काम करने तथा बचत करने की इच्छा एव क्षमता पर—आय-कर प्रतिकूल प्रभावो का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि मजदूरों और वेतन भोगी वर्गों पर आय-कर लगने का परिणाम, साधारणत, अधिक प्रयत्नो और श्रम के बढ़े हुए सम्भरण के रूप में सामने आता है। इसी प्रकार, व्यवसाय (business) तथा अन्य उद्यमो में द्रव्य-पूंजी के सम्भरण (supply) पर भी आय-कर का प्रभाव सदा ही प्रतिकूल नही होता है।

आय-कर तथा उत्पादन-सेवाओ की मांग (Income-tax and the Demand for Factor Services) ·

आय का कराधान केवल उपादान-सेवाओ के सभरण में परिवर्तन करके ही नही, अपितु इन सेवाओ की माँग में भी हेर-फेर करके राष्ट्रीय आय तथा रोजगार को प्रभावित करता है। क्योंकि

लक्ष्य की पूर्ति के लिए आय-कर को अत्यधिक आरोही (highly progressive) बनाया जाता है, और जब निम्न आय वाले वर्गों की सहायता करने का उद्देश्य सामने होता है तो ऐसे वर्गों को कर की परिधि से पूर्णतया बाहर कर दिया जाता है। किन्तु व्यवहार में, आय-कर सम्बन्धी कानूनों में अनेक कमियाँ वर्तमान होती हैं जिनके कारण कर-परिहार तथा कर-वचन सम्भव होता है। हाँ, यह अवश्य है कि कुशल कर-प्रशासन के द्वारा कर-वचन तथा कर-परिहार की मात्रा न्यूनतम (minimum) की जा सकती है।

कुछ चुने हुए सन्दर्भ ग्रन्थ

1. A. R Prest — Public Finance, Chapter 14.
2. J F Due — Government Finance, Chapters 8—12
3. W. Vickrey — Agenda for Progressive Taxation
4. N Kaldor — Indian Tax Reform, Chapters 1 and 9.

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. आय किसे कहते हैं ? कुछ विशिष्ट प्रकार की आयों के साथ विशिष्ट व्यवहार की विवेचना कीजिए।
What is meant by Income ? Discuss the special treatment of certain forms of income.

२. आय का कराधान तथा सामर्थ्य सिद्धान्त को समझाइए।
State and explain the income taxation and the principle of ability.

३. अर्जित आय तथा अनर्जित आय में अन्तर को समझाइए। इस अन्तर के पक्ष एवं विपक्ष में अपने तर्क दीजिए। क्या इस अन्तर को समाप्त किया जा सकता है ?
Explain the difference between earned and un-earned income Give your arguments in favour and against this distinction Can this distinction be abolished ?

४. कर-वचन तथा कर-परिहार पर एक टिप्पणी लिखिए।
Write a note on tax evasion and avoidance.

५. आय-कर के समता तथा आर्थिक प्रभावों की विवेचना कीजिए।
Discuss the equity and economic effects of Income-tax.

आय के वितरण की वर्तमान व्यवस्था से आय के वितरण मे असमानताएँ उत्पन्न होती है। अत यदि आय की असमानता को कम करने के लिए कार्यवाइयाँ की जाएँ तो ऐसा करना सम्पूर्ण समुदाय (community) के हितो के अनुकूल होगा। यही कारण है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्य प्रत्यक्ष करो के साथ ही साथ आय कर को विशेषरूप से प्राथमिकता (preference) दी जाती है। एक अत्यधिक आरोही आय-कर (highly progressive income-tax) का प्रभाव यह होता है कि वह सबसे ऊपर की आमदनियो को छाँट कर देता है। इस रीति से अर्जित आय (earned income) से उत्पन्न होने वाली आमदनियो की असमानताएँ आय-करो का उपयोग करने से कम की जा सकती है। इसके अतिरिक्त बचत की दर को कम करके, आय-कर उच्च आय वाले वर्गो द्वारा किये जाने वाले पूँजी के सचय (accumulation of capital) की गति को धीमी कर देता है। इस प्रकार, अनर्जित आमदनियो (unearned incomes) को कम करने मे भी इसका प्रभाव कार्यशील होता है। यदि सरकारी धन का लाभदायक कल्याणकारी प्रयोजनाओ मे विवेकपूर्ण उपयोग किया जाय तो उससे आय का वितरण अपेक्षाकृत अच्छा हो सकता है और उससे सम्पूर्ण समुदाय के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि भी हो सकती है।

पर इसके बावजूद, व्यवहार मे, आय-कर आय के पुनर्वितरण मे अधिक सफल नही हुआ है। हाँ, स्वीडन जैसे देश मे अवश्य हम यह पाते हैं कि उसे धन तथा आय के पुनर्वितरण मे आवश्यक मात्रा मे सफलता प्राप्त हुई है। "आय-कर द्वारा आय के पुनर्वितरण मे प्राप्त असफलता के लिए उत्तरदायी कारण इस तथ्य मे निहित है कि आय-कर कानून मे विद्यमान किसी न किसी प्रकार की ऐसी अनेक कमियो के कारण, जिन्हे कि विधानमण्डल (legislatures) सहन कर लेते हैं (और कुछ मामलो मे तो जानबूझकर वे ऐसी कमियो का पोषण करते है), तथा साथ ही साथ लोगो को अपनी आय अथवा धन के पूर्ण प्रकटीकरण (full disclosure) के लिए बाध्य करने मे कर-प्रशासन की असफलता के कारण, सम्पत्ति के स्वामियो पर कराधान का वास्तविक भार उस मात्रा से बहुत कम होता है जो कि आय पर कराधान की साकेतिक अथवा सामान्य दरो (nominal rates) मे प्रदर्शित की जाती है।"[11] वेतनभोगी कर्मचारियो को जहाँ अपनी सम्पूर्ण आय प्रकट करनी पड़ती है, वहाँ सम्पत्ति के स्वामियो तथा व्यवसायियो को इस बात की मौन अनुमति दे दी जाती है कि वे अपनी आय का एक काफी महत्वपूर्ण भाग छिपा लें। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आरोही आय-कर ने तथा साथ ही साथ अन्य प्रत्यक्ष करो ने पेशेवर अथवा वृत्तिक वर्गो (professional classes) के लोगो, प्रशासको तथा दिमागी काम करने वाले व्यक्तियो पर गैर-अनुपाती भार (disproportionate burden) डालकर नई असमानताएँ उत्पन्न करने मे सहायता की है।

साधारण रूप मे, वे सब कारण जो कि कर-परिहार तथा कर-वचन के निए उत्तरदायी है, वही आय-कर को इस असफलता के लिए उत्तरदायी हैं कि यह आय के पुनर्वितरण के अपने प्रारम्भिक लक्ष्य को भी न प्राप्त कर सका। अत व्यवहार मे, आय-कर का अनुकूल वितरणात्मक प्रभाव (favourable distributional effect) अथवा प्रतिकूल उत्पादन प्रभाव (adverse production effect) नही होता।

निष्कर्ष (Conclusion) ·

वैयक्तिक आय-कर (personal income tax) को देश मे जनता के विभिन्न वर्गो मे सरकार के व्यय के भार को वितरण करने का सबसे अधिक समता एव न्यायपूर्ण उपाय माना जाता है। कर के भार को उपभोग की जाने वाली आय पर आधारित बनाया जाता है क्योंकि आय को ही मानव-कल्याण (human welfare) का सर्वश्रेष्ठ सूचक माना जाता है। आय के पुनर्वितरण के

---

11. Nicholas Kaldor Indian Tax Reform, p 8 "The reasons are to be sought in the fact that owing to the numberous loopholes of one sort or another that are tolerated (and in some cases deliberately nurtured) by the legislatures, as well as the failure of the tax administration to force a full disclosure of income or wealth, the true burdens of taxation on the owners of property is far below that, indicated by the nominal rates of taxation on "income"